इकाई–1 हठयोग का अर्थ, परिभाषा, उददे्श्य व महत्व

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना–

हठयोग की प्रारम्भिक और महत्वपूर्ण जानकारी देने वाली इस प्रथम इकाई को पढ़ने से पूर्व आपने योग के सन्दर्भ में सुना व पढ़ा होगा। आपने जाना होगा कि योग वास्तव में पढ़ने, सुनने मात्र तक नहीं वरन् नहीं अधिक गहरा है अनुभवात्मन है। हठयोग का महत्व समझते हुये ऋषियों व विद्वान जनों ने इसके सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण जानकारियां कई ग्रन्थों में लिखी है उन्हीं का संकलन इस इकाई में आप पाऐंगे। इस इकाई व अध्ययन के बाद आप हठयोग के अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य व महत्व का सम्यन विश्लेषण कर पाऐंगे।

1.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई में आप जान सकेंगे –

- हठयोग से तात्पर्य एवं विभिन्न ग्रन्थों एवं विद्धानों की दृष्टि में हठयोग को जानेंगे
- हठयोग के मुख्य उद्देश्य के विषय में जानेंगे
- वर्तमान में हठयोग का किस प्रकार उपयोगी है यह जानेंगें।

1.3 हठयोग का अर्थ व परिभाषाऐं –

योगविद्या भारतीय ऋषि मुनियों की जीवन चर्या रही है। योगविद्या का स्थान युगों पूर्व भी शीर्ष पर था और आज भी शीर्ष पर ही है और भविष्य में भी रहेगा, इसमें किंचित भी संदेह नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से योग से तात्पर्य 'समाधि' है। अर्थात् समाधिपूर्वक आत्मसाक्षात्कार एवं आत्मसाक्षात्कारपूर्वक स्वरूपस्थिति को प्राप्त कर लेना ही योग है। लौकिक दृष्टि से योग शब्द का अर्थ संयोग अथवा मेल से है। वस्तुतः योग अस्मिता वृत्ति से निरोध भी है, यह योग के वियोग की घटना है। गूढ़ अर्थो में, यही संयोग का वियोग ही योग है। योग के विषय में ज्ञान कराने वाले अनेक मार्ग हैं यथा, राजयोग, हठयोग, लययोग, मंत्रयोग, भक्तियोग आदि योग की महत्ता और इसमें बताई गई प्रक्रियाओं का वर्णन, श्रुति, स्मृति, व पुराणों में पर्याप्त रूप से मिलती है। ऋग्वैदिक काल को भारतीय संस्कृति के साथ–साथ समस्त मानव सभ्यता का उद्गमकाल माना जाता है। वस्तुतः साधना चाहे किसी भी ढंग से की जाये, जब तन दैहिक आसाक्ति से छुटकारा नहीं मिल जाता, मन की चंचलता तिरोहित नहीं हो जाती, तबत क योग मार्ग में प्रगति, आत्म साक्षात्कार संभव नहीं। मन का विज्ञान 'राजयोग' है और आज के युग में मानव कल्याण का समाचीन साधन जो है वह राजयोग को उच्च्व स्थिति को प्राप्त कराने में सहायक हठयोग है। अति प्राचीन काल से ही अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक छवि को बनाये रखने के कारण भारतवर्ष एक अध्यात्म–प्रधान देश के रूप में विख्यात रहा है। चौदहवीं–15वीं शताब्दी में योग का पक्ष धूमिल हो चला था और इसी समय में 'श्रीस्वात्माराम' ने हठयोग के सही पक्ष को जन सामान्य एवं विद्वानों के समक्ष रखा। स्वात्माराम जी के अनुसार

हठयोग व राजयोग अलग–अलग पक्ष नहीं वरन एक दूसरे के लिये ही है दोनों की चरम परिणति समाधि में ही होती है।

हठयोग– हठ + योग – हठयोग

यौगिक साहित्य के अनुसार हठ दो शब्दों 'हं' और 'ठं' से बना है ।

हकांरेण तु सूर्यरू स्यात् ठकारेणोन्दुरूच्यते।

सूर्य चन्द्रमसौरेक्यं हठ इत्यभिधीयते।। (योग शिखोपनिषद्)

जिनमें 'हं' से तात्पर्य हकार अर्थात सूर्य स्वर तथा 'ठं' से तात्पर्य ठकार अर्थात् चन्द्र स्वर। हठयोग, अर्थात् सूर्य स्वर व चन्द्र स्वर का एकीकरण या संयोग है

इन दो दिव्य विग्रहों के लिये संस्कृत में कई नाम हैं यथा

	हठ	
'ह'	+	'ठ'
हंम्		ठंम्
पिंगला		इडा नाड़ी
सूर्य स्वर		चन्द्र स्वर
ग्रीष्म		शीत
पित्त		कफ
दिन		रात्रि
शिव		शक्ति
ब्रहम		जीव
दक्षिण		वाम

हठयोग

हठयोग में जब इड़ा और पिंगल नाड़ी, वाम और दक्षिण स्वर जब एक समान चलने लगें तो सुषुम्ना का जागरण होता है। जब सुषुम्ना निरन्तर चलने लगती है तो शरीर में सूक्ष्म रूप में विद्यमान कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। जब कुण्डलिनी छरूचक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में जाकर परमशिव से मिलती हैं तो आध्यत्मिक अर्थों में यही हठयोग का तात्पर्य है।

शरीर में विद्यमान पॉच प्राण प्राव, अपान, व्यान, समान, उदान, है। प्राण हृदय में, तथा गुहय प्रदेश में निवास करती है। प्राण तथा अपान का समान में मिल जाना ही हठयोग है।

परिभाषायें–

सिद्ध सिद्धान्त पद्धति के अनुसार,

हकाररूकथितरूसूर्य ठकारचन्द्र उच्यते।

सूर्य चन्द्रमसोर्योगात् हठयोग निगधते।।

अर्थात् हकार सूर्य स्वर और ठकार से चन्द्र स्वर चलते हैं। इन सूर्य और चन्द्र स्वरों को प्राणयाम आदि के विशेष अभ्यास से प्राण की गति को सुषुम्ना में प्रवाहित करना ही हठयोग है।

गीता के अनुसार,

अपाने जुह्हति प्राणं प्राणेअपानं तथा परे।

प्राणपानगती रूद्धवा प्राणायामपरायणाः।।

(श्रीमद्भगवदगीता 4/29)

अर्थात प्राण और अपान वायु को प्राणायाम के अभ्यास के द्वारा मिलाकर सम कर लेना (हठयोग है)।

शिवसंहिता के अनुसार,

प्राणपानौ नाद बिन्दु जीवात्मा, परमात्मनौ।

मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद् वै घट उच्यते।। (शिव संहिता 3/63)

अर्थात जिसमें प्राण और अपान, नाद और बिन्दु, जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाता है। उसी को घट अवस्था या हठयोग कहते हैं। जब प्राणायाम और बंध का अभ्यास कर अपान को ऊपर खींचकर प्राण में मिलाया जाता है तो यह हठयोग साधना कहलाती है।

योग ग्रन्थों में पॉच प्राणों की चर्चा है उदान, प्राण, समान, अपान, और व्यान पॉच प्राण हैं एवं ये शरीर में अलग–अलग स्थानों के कार्यो एवं ऊर्जाओं का नियन्त्रण व नियमन करते हैं। उदान मुख में, प्राण हृदय में, समान नाभि, अपान गुहय प्रदेश एवं व्यान सम्पूर्ण शरीर के क्रिया कलापों व ऊर्जा का नियन्त्रण नियमन करता है। हठयोग में इसी प्राण को प्राणायाम के माध्यम से मिलाकर मन को नियन्त्रित किया जाता है।

नाद ब्रह्माण्ड में व्याप्त और विलग ब्रहम का ही रूप है। कहा भी गया है 'नाद' ब्रह्म सृष्टि का आरम्भ नाद से ही माना जाता है। नाद वह ऊर्जा है जो सभी तत्वों को उत्पन्न करने वाली है। ऊर्जा न कभी जन्मती है और न नष्ट होती है। इसी नाद का ज्ञान हो जाना ही हठयोग की साधना है।

परिभाषाओं में जीवात्मा और परमात्मा के एक होने की प्रक्रिया को हठयोग कहा गया है। वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं परन्तु अविद्या, अज्ञान के कारण वह अलग–अलग दिखाई पड़ते हैं। अज्ञानवश जीवात्मा शरीर, इन्द्रियों को अपना स्वरूप समझ लेता है एवं दुरूख भोगता है। हठयोग के माध्यम से जब अज्ञान हटता है तो उनके एक होने का आभास हो जाता है। आत्म तत्व के बाहर अनेकों परतों में शरीर, पंचकोश व पंच भौतिक शरीर विद्यमान रहता है। त्रिशरीर में स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर होते हैं। पंचकोशों में अन्नमय शरीर जो अन्न जल आदि से बना है, प्राणमय कोष प्राण तत्व से बना है, मनोमय कोश मन, विचारों से बना है एवं विज्ञानमय कोश संकल्प, विचारों से बना है। सबसे भीतर आत्मा के सबसे नजदीक का कोश आनन्दमय कोश है यह भावों से बना है, संस्कार यही से निर्मित होते हैं। इन सभी कोशों के कारण व शरीरों के कारण आत्म तत्व स्वयम् को भुलाये रखता है। हठयोग में जीवात्मा और परमात्मा के बीच के सारे बन्धन व उनके कारण हट जाते हैं। योग और आयुर्वेद विज्ञान में डॉ0 शिवचरण योगी कहते हैं– ''स्थूल शरीर के माध्यम से सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करके चित्तवृतियों का निरोध करना ही हठयोग है''

उपरोक्त परिभाषा से निम्न तथ्य सामने आते हैं–

- **सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर के माध्यम से प्रभावित किया जा सकता है।**
- **चित्त वृत्तियों का निरोध सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करके किया जा सकता है।**

परिभाषा के प्रथम भाग को यदि और अधिक स्पष्ट किया जाये तो कहा जा सकता है कि स्थूल शरीर अर्थात इन्द्रिय शरीर का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर अर्थात विचार शरीर से है। इन्द्रियां चक्षु, स्वाद, कर्ण, घ्राणेन्द्रिय एवं जननेन्द्रियां हैं। इन पॉचों में दो इन्द्रियां मुख्य रूप से योग में मुख्य भमिका निभाती हैं वे हैं स्वादेन्द्रिय एवं जननेन्द्रिय। यदि दोनों को संयमित किया जाता है तो योग सिद्ध होने में आसानी हो जाती है। यदि विचार सात्विक हों तो इन्द्रियां संयमित रहती हैं एवं यदि सात्विक आहार–विहार किया जाये तो मन संयमित रहता है। दोनों ही ओर से संयम किया जा सकता है। हठयोग की यही विशेषता है कि यह सरल मार्ग बताता है यह पहले शरीर के मलों को दूर करता है एवं फिर मन तक पहुंचने की बात करता है।

यहां यह बात स्पष्ट कर दें कि शरीर और मन के बीच में एक कड़ी है जो दोनों से जुड़ी है वह है प्राण। प्राण यदि सध जाये तो मन भी सध जाता है जैसा कि हठप्रदीपिका में वर्णन मिलता है–

चले वाते चलं चित्तम् निश्चले निश्चलं भवेत्

अर्थात वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चंचल होता है एवं वायु के स्थिर होने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है।स्थूल शरीर पर प्रयोग करके प्राण प्रभावित होता है एवं प्राण के माध्यम से सूक्ष्म शरीर प्रभावित किया जा सकता है। चित्त वृत्तियों का वर्णन करते हुये योग दर्शन में कहा गया है–

वृत्तयों पच्चतयरू क्लिष्टाअक्लिष्टाः।।

अर्थात वृत्तियां पॉच प्रकार की हैं जो दुरूख एवं सुख प्रदान करने वाली हैं।

प्रमाणविपर्ययोविकल्पनिद्रास्मृतयरू वृत्तयः।

अर्थात् प्रमाण (इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान), विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), विकल्प, निद्रा और स्मृति वृत्तियां हैं।

परिभाषा में इन्हीं चित्तवृत्तियों के निरोध की बात हठयोग के माध्यम से करने की बात की गई है।

योग शिखोपनिषद के अनुसार,

हकारेण तु सूर्यरूस्यात् ठकारेणोन्दुसच्यते।

सूर्य चन्द्रमसौरेक्यं हठ इत्यभिधीयते।।

अर्थात् सूर्य नाम दक्षिण स्वर का है और चन्द्र नाम वाम स्वर का है। इन दोनों स्वरों को समस्वर अर्थात् एक कर लेना, समान बना लेना चाहिये। इस प्रकार से एक समान किये गये समस्वर को या प्राणवायु को पूरक, कुम्भव तथा रेचक प्राणायाम द्वारा अपान वायु के साथ समान कर लेना हठयोग है।

तंत्र शास्त्र के अनुसार, '

''मूलाधार में स्थित शक्ति का सहस्रार में स्थित शिव से मिलन ही हठयोग है।''

योग शास्त्रों की यह धारणा है कि मूलाधार में शिवलिंग के चारों ओर शक्ति 3½ फेरे लपेटे हुये सोई हुई है एवं योग के माध्यम से उसे जगाकर षट्चक्रों का भेदन कर जब सहस्रार में शिव से मिलेगी तो ही मानव मोक्ष को प्राप्त होगा।

घेरण्ड संहिता में हठयोग को घटस्थ योग के नाम से परिभाषित कर कहा गया है कि, *शोधनम् दृढ़ताचौव स्थैर्य धैर्य च लाघवम्*

प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं घटस्थ सप्त साधनम्।

(घेरण्ड संहिता 1/9)

अर्थात् शरीर शुद्धि के सात माध्यम शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष व निलिप्तता है।

शोधनम्– शुद्धि करण। शरीर व मन को विकार रहित बनाने के लिये शुद्धिकरण अत्यन्त आवश्यक है।

दृढ़ता– मानसिक, विचारात्मक तथा शारिरिक दृढ़ता योग को प्राप्त करने में सहायक हैं।

स्थैर्य– शारीरिक एवं मानसिक स्थिरता

धैर्य– परिस्थितियों से अप्रभावित रहने का गुण

लाघव– हल्कापन प्रत्यक्षम्–प्रत्यक्षं से तात्पर्य ग्रहणशीलता, अर्थात् ग्रहण करने की क्षमता से है। योग में जितने भी सूक्ष्म या आन्तरिक अनुभव होते हैं उन्हें ग्रहण करने की क्षमता

प्रति + अक्ष्म्

सम्मुख देखना

निर्विप्तम् – मन की अनासक्त अवस्था। महर्षि घेरण्ड ने घटस्थ योग अर्थात् हठयोग को प्राप्त करने के लिये साधक के लिये ये सात सोपान आवश्यक माने हैं।

1.4 हठयोग का उद्देश्य –

इसके पूर्व आपने हठयोग का अर्थ एवं परिभाषा के विषय में जाना। अब आप हठयोग के उद्देश्य के विषय में जानेंगें।

हठयोग के विषय में स्वात्माराम जी 'हठयोग प्रदीपिका' में कहते हैं –

''केवलं राजयोगाय हठविघोपदिक्यते'' अर्थात् केवल राजयोग (समाधि) के लिये ही हठयोग का उपदेश दिया जा रहा है। हठयोग में अन्यत्र भी कहा गया है कि आसन, प्राणायाम, मुद्रायें आदि राजयोग की साधना तक पहुंचने के लिये है–

पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधिः

हठप्रदीपिका 1/67

यह हठयोग मानसिक एवं आध्यत्मिक विकास के लिये जिज्ञासु लोगों के लिये है एवं भवताप से त्रस्त लोगों के लिये है–

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः।।

हठप्रदीपिका 1/10

इस हठ विद्या का अभ्यास करने के पश्चात् सभी प्रकार के ताप एवं त्रिद्वंद समाप्त हो जाते हैं ताप आदि दैविक, आदि भौतिक एवं आध्यात्मिक ताप है एवं द्वद–सर्दी, गर्मी एवं भूख प्यास आदि द्वंद है। ये सभी हठयोग के साधकों को नहीं सताते हैं एवं स्वतः ही इनसे

मुक्ति मिल जाती है। हठयोग काया साधन–प्रधान पद्धति है। इसे राजयोग के प्राप्ति के उपाय के रूप में स्वीकार किया गया है–

सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि।
सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।

(हठयोगप्रदीपिका 1/69)

वस्तुतः हठयोग को राजयोग का पूर्वाभ्यास कहा गया है। आचार्य जितेन्द्र कुमार पाठक कृत 'योगव्यायाम' में कहा गया है कि सिद्धाचार्यों ने जिस कायासाधन पर विशेष बल दिया था, उसी को नाथ सम्प्रदाय के योगियों ने और अधिक विकसित करके उसे हठयोग नाम से प्रचारित किया, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'नाथ–सम्प्रदाय' के अनुसार हठयोग का प्रयोजन उस अवस्था में उल्लेखनीय हैं जब किसी अन्य साधन से समाधि प्राप्त न हो रही हो।

'यदा न सिद्धयते बोधिहठयोगेन साधयेत' अर्थात जिन्हें बोधि प्राप्त न हो रही हो वे हठयोग का साधन करें। उनके लिये बोधि अवस्था प्राप्त करने का साधन हठयोग है।

हठविद्या को अत्यन्त गोपनीय विद्या भी कहा गया है क्यों कि इसका अभ्यास करने से सहज ही प्राणों का उत्थान होने लगता है।

हठविद्या परं गोप्यं योगिनां सिद्धिमिच्छता।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निवीर्या तु प्रकाशिता।।

(हठप्रदीपिका 1/11)

इसलिये इस विद्या का अभ्यास एकांत में करना चाहिये जिससे अधिकारी साधन को देखकर अनाधिकारी इसका अभ्यास करने से हानिग्रस्त न हो जाये। जिस काल में 'हठयोग' प्रकाश में आया उस काल में बाह्य आडम्बर चरम पर थे अतरू इस विद्या को भी मात्र आडम्बर न समझ लिया जाये इस हेतु इसे गुप्त रूप से करने के लिये कहा जाता रहा। आज स्थिति बदल गई है, लोग इसका महत्व समझने लगें हैं। हठयोग के उद्देश्य के दृष्टिकोण पर विचार करने पर हम देखते हैं कि राजयोग के लिये तो यह आवश्यक है ही साथ ही स्वास्थ्य संरक्षण, रोग से मुक्ति, सुप्त चेतना की जागृति, व्यक्तित्व विकास तथा आध्यात्मिक उन्नति इस विद्या के उददेश्य हैं।

स्वास्थ्य संरक्षण–

शरीर पूर्ण रूप से स्वस्थ एवं सभी संस्थान ठीक प्रकार से कार्य करते रहने से ही आगे बढ़ सकता है। हठयोग में 'आसनेन भवेत् दृढ़म्', 'षट्कर्मणा शोधनम्' आदि कहकर आसनों के द्वारा मजबूत शरीर तथा षट्कर्मों के द्वारा सभी दोषों का शमन करने की बात कही गई है। आसनों के माध्यम से शरीर में दबाव व खिंचात पड़ते हैं शरीर पर +ve व –ve दबाव पड़ने से शरीर की मांसपेशिया लचीली व पुष्ट होती हैं। रक्तवय संस्थान ठीक

होता है व पूरे शरीर की homeostasis बरकरार रहती है। आज के युग में हठयोग की विधाओं द्वारा शरीर पर हो रहे प्रभावों को विभिन्न शोधों के अध्ययन से जाना जा सकता है एवं इसका अभ्यास करके शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है। हर व्यक्ति जन्मता तो साधारण मनुष्य के नाते है परन्तु कालान्तर में उसकी जीवन शैली ही उसे समाज में स्थान दिलाती है।

स्वास्थ्य संरक्षण के दृष्टिकोण से हठयोग दो प्रकार से कार्य करता है

1. Improvement (उन्नति)
2. Maintenance (संरक्षण)

1. Improvement के दृष्टिकोण से शारिरिक शुद्धि के उपाय के विषय में जाना जाता है।स्वास्थ्य की दृष्टि से इस पक्ष पर विचार किया जाता है कि हठयोग में कौन–कौन सी ऐसी क्रियायें है जिनसे स्वास्थ्य संरक्षण हो सके।

घेरण्ड संहिता में सप्त साधनों का वर्णन इसी पक्ष को लेकर किया है एवं सप्त साधनों में षट्कर्म स्वास्थ्य में उन्नति लाने के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण कदम है –

धौतिर्वस्ति स्तथा नेति लौलिकी त्राटकं तथा।।
कपालभातिश्चौतानि षट्कर्माणि समाचरित्।

घेरण्ड संहिता 1/12)

अर्थात् धौति (सफाई करना), वस्ति (उपस्थ क्षेत्र की सफाई), नेति (ऑख, नाक, गले की शुद्धता के लिये), लौलिकी (ऑतों की सफाई हेतु) एवं त्राटक और कपालभाति छः कर्म है।

2. Maintenance या संरक्षण प्राणायाम एवं आसनों के माध्यम से किया जा सकता है।

प्राणिक ऊर्जा एवं प्रतिरोधक क्षमता का विकास हठयौगिक क्रियाओं (आसन, प्राणायाम, मुडा, बन्ध आदि) से होता है। आसनों से शरीर में दृढ़ता है। उपनिषदों में जो आसन कहे गये हैं वे ध्यानात्मक आसन हैं चाहे सिद्धासन हो या पद्मासन, भद्रासन या सिंहासन ये आसन उच्चतर अभ्यासों के लिये प्रयुक्त होते हैं। आसन मात्र अंगों का अभ्यास नही हैं वरन् इससे कहीं अधिक हैं, आसनों के साथ सजगता एक अनिवार्य पहलू है।

स्वास्थ्य संरक्षण हठयोग के माध्यम से आज के युग की मांग बनती जा रही है। आपा–धापी से भरा जीवन शारीरिक व मानसिक रूप से थका देने वाला है। मन और शरीर को सही रखना व उनसे सामन्जस्य पूर्ण काम लेना स्वास्थ्य संरक्षण का महत्वपूर्ण पहलू है जिसे हठयोग के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

रोग मुक्ति– हठयोग का उद्देश्य शरीर व मन को रोगमुक्त करना है। कहा भी गया है– *कुर्यान्तदासनं स्थैर्यमारोगयं चाङ्.गलाघवम् ।*

हठप्रदीपिका 1/17

आसन शरीर व मन की स्थिरता लाता है, आरोगयता व हल्कापन लाता है।

विभिन्न हठयौगिक अभ्यासों का शरीर व मन दोनों पर प्रभाव पड़ता है। मनोकायिक रोगों में हठयोग मुख्य भूमिका निभाता है। मन से शरीर का सीधा सम्बन्ध है एवं हठयोग शरीर को साधकर मन को साधने की कला है। उदर विकारों के लिये हठप्रदीपिका कहती है–

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरूग्मं

अभ्यासतरूकुण्डलिनीप्रबोधं चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम्।

ह0प्र0 1/27

मत्स्येन्द्रासन का अभ्यास करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यह रोगों को नष्ट करने में अस्त्र के समान है। इससे कुंडलिनी जाग्रत होती है तथा चन्द्रमंडल स्थिर होता है। इसी प्रकार षट्कर्मों से रोग निवारण कहा गया है–

कासश्वासप्लीहकुष्टं कफरोगाश्च विशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः।

ह0प्र0 2/25

धौति से कास, श्वास, प्लीहा सम्बन्धी रोग, कुष्ठ रोग, कफदोष का निवारण होता है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में जैसे–जैसे विज्ञान उन्नत हो रहा है रोग भी जटिल होते जा रहे हैं। ये मानसिक समस्याओं से ग्रस्त युग है इस युग के लिये हठयोग से बेहतर साधन नहीं है। सुप्त

चेतना की जाग्रति–

हठयोग की साधनाऐं शरीर से मन पर नियंत्रण स्थापित करने की विधा है। संसार में व्याप्त प्रत्येक वस्तु की अपनी चेतना है परन्तु चेतना का स्तर अलग–अलग होने से क्रिया– कलाप एवं बहुत कुछ बदल जाता है। मानव की चेतना निश्चित रूप से अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक विकसित है। हठयोग प्राणों का उत्थान कर चेतना के नये आयामों को सामने लाता है व मानव मन को शक्तिशाली व प्रतिभावान बनाता है। प्राणायाम, धारणा, ध्यान के अभ्यास से सुप्त चेतना की जाग्रति होती है।

व्यक्तिव विकास–

हठयोग के विभिन्न अभ्यासों को सामान्य जीवन में अपनाकर व्यक्तित्व का बहुआयामी विकास किया जाना ही हठयोग का उद्देश्य है।

व्यक्तित्व विकास के अन्तर्गत शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति सम्मिलित है। मानवीय गुणों का विकास व्यक्तित्व विकास का ही द्योतक है।

आध्यात्मिक उन्नति–

किसी मनुष्य के पास ताकतवर शरीर, आश्चर्यजनक सृजनशक्ति, प्रखर बुद्धि और अत्यन्त संवेदनशील भावनात्मक पकड़ हो सकती है। फिर भी यह हो सकता है कि उसमें आध्यात्मिकता का लेशमात्र भी न हो। हठयोग का उद्देश्य आध्यात्मिक उत्थान है। यह शारीरिक, मानसिक रूप से सम्पन्न तो करता ही है परन्तु सर्वोच्च उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति ही है। सम्पूर्ण हठयोग को हं और क्षं(ठं) का सन्तुलन कहा जाता है। यही सन्तुलन आध्यात्मिक विकास की सीढ़ी है।

1.5 हठयोग का महत्व–

अभी तक आपने जाना कि हठयोग क्या है और इसका मुख्य उद्देश्य क्या है अब आप हठयोग का महत्व जानेंगें।

हम सभी इस बात से सहमत हैं कि हमेशा से मानव सुख की खोज करता आया है। वह पढ़ता है, नौकरी करता है, परिवार बनाता है क्यों ?........ इसका जबाव है सुख के लिये। सुख ही वह motivation है वह driving factor है जो इन्सान को कुछ करने के लिये प्रेरित करता है।

आधुनिक युग में, चारों ओर हमने जो विश्व के ज्ञान और विश्लेषण का विषय बनाया है, वही विज्ञान है। भारत के प्राचीन ऋषि–मुनियों ने मनुष्य का और जगत का पूरा परिपेक्ष्य समझने के लिये योग को साधन चुना, मन को विज्ञानशाला बनाया, उन्होने स्वयम् पर प्रयोग किये एवं आन्तरिक व बाह्य प्रकृति के रहस्यों को प्रकट किया। ऋषियों ने जीवन के निष्कर्ष को जानने के लिये जिन विधाओं का प्रयोग किया उनमें योग की वे समस्त धाराऐं हैं जो ज्ञात व अज्ञात हैं। उन धाराओं में एक अति महत्वपूर्ण धारा है 'हठयोग'। हठयोग शरीर को साधकर मन को नियंत्रित करने की कला सिखाता है। यह प्राणों के माध्यम से शरीर व मन अर्थात् स्थूल व सूक्ष्म दोनों से जुड़ा है। प्राण दोनों के बीच की कड़ी है जिसको हठयोग के माध्यम से साधा जा सकता है। हठयोग शारीरिक, मानसिक और प्राणिक शक्तियों को परस्पर सन्तुलित करना सिखाता है। हठयोग अन्य योग साधनाओं की पृष्ठ भूमि तैयार करता है। हठयोग यौगिक चिकित्सा पक्ष के तीनों आयामों को उन्नत करता है।

यौगिक चिकित्सा के आयाम–

1. उपचारात्मक– रोग से पीडित व्यक्ति यौगिक अभ्यास द्वारा स्वास्थ्य प्रति करता है।
2. निरोधक– यह वह संदेह है कि 'रोग होने वाला है' और खतरे की घंटी से सजग होकर योगाभ्यास प्रारम्भ किया जाता है।
3. स्वास्थ्य वर्धक– कोई बीमारी न होने पर भी योगाभ्यास शारीरिक, मानसिक क्षमताओं को बढ़ाता है, उनमें वृद्धि करता है।

हठयोग तीनों आयामों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कोई भी प्रक्रिया या प्रणाली तब स्वीकार होती है जब साधारण आदमी द्वारा उस प्रक्रिया को अपनाकर दिन–प्रतिदिन के कार्यो में सुविधा देखता है व उन्हें वह उपयोगी समझता है। हठयोग को क्रियाऐं मानव चेतना को इस प्रकार से प्रभावित व उन्नत करता है कि वह साधारण व विशिष्ट कार्यो को इनके अभ्यास से आसानी से कर सकता है व उत्कृष्ट कर पाता है। हठयोग की खूबी यह है कि यह मानव की क्षमताओं को आध्यात्मिक प्रगति के साथ एकतान करता हुआ आगे बढ़ाता है और एक सुनिश्चित आकार गढ़ता है। आध्यत्मिक प्रगति के साथ व्यक्तित्व के समग्र विकास के आयामों का विकास होता है। आयुर्वेद में कहा गया है–

''धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुन्तमम्।''

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरूषार्थों को सिद्ध करने के लिये सर्वतोभावेन शरीर निरोगी होना नितान्त आवश्यक है। रोगी शरीर के द्वारा कोई भी पुरूषार्थ सिद्ध नही होता है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है और एक स्वस्थ मानव ही स्वस्थ परिवार, समाज और राष्ट का निर्माण कर सकने में सक्षम हो सकता है। शरीर नियन्त्रण से मन का नियंत्रण हठयोग से ही सम्भव है।

अभ्यास प्रश्न

सही / गलत

1. हठयोग हठपूर्वक किया जाने वाला योग है।
2. हम् से तात्पर्य दक्षिण स्वर व ठम् से तात्पर्य वाम स्वर से है।
3. शरीर पन्च प्राणों का निवास स्थान है।
4. स्थूल शरीर सूक्ष्म से सम्बन्धित नहीं है।
5. हठयोग राजयोग की सीढ़ी है।
6. मानव उत्कर्ष हठयोग का मूल उद्देश्य है।

रिक्त स्थानों की पूर्ति–

1. योग से तात्पर्य .... से है।
2. गूढ़ अर्थो में संयोग का .... ही योग है।
3. हठयोग व राजयोग अलग–अलग पक्ष नहीं वरन् एक दूसरे के लिये ही है यह कथन .... ने कहा है।
4. हठयोग में वर्णित पंच प्राण .... हैं।
5. हठयोग .... को साधने का विज्ञान है।

6. यौगिक चिकित्सा के आयाम .... हैं।

7. धर्मार्थ .... आरोग्यं मूलमुन्तमम्।

1.6 सारांश

शरीर के माध्यम से प्राण पर नियंत्रण करके संतुलित इच्छा की ओर ले जाना हठयोग का मूल उद्देश्य है। हं और ठं का योग अर्थात् दाहिने और बायें स्वर को समस्वर कर लेना, शिव और शक्ति का मिलन, नाड़ी संतुलन के पश्चात् सुषुम्ना जागरण ही हठयोग है। इस अवस्था में इच्छा सकारात्मक, रचनात्मक, तथा आत्मोन्नति का कारण बनती है। इस प्रकार हठयोग सवर्तोमुखी उन्नति की प्रक्रिया है।

1.7 शब्दावली–

किंचित – तनिक भी, थोड़ा भी
समाधि – कैवल्य, मोक्ष, निर्वाण, बोधत्व आत्मसाक्षात्कार– स्वयं को जान लेना
गूढ़– छिपा हुआ
श्रुति – गुरू द्वारा सुने गये ज्ञान पर आधारित ग्रन्थ
स्मृति – स्मृति पर आधारित ग्रन्थ
सुषुम्ना – नाड़ी विशेष कोश– आवरण
वृत्ति – जो गोल–गोल घुमाए अर्थात् जीवन मरण के चक्र में फसानें वाली इच्छा
कायसाधन – शरीर को साधने वाली विधा
नाथ सम्प्रदाय – 10 वीं 11 वीं सदी में प्रचलित सम्प्रदाय विशेष जिसे आदि नाथ भगवान शिव ने स्थापित किया
बोधि – निर्वाण, मोक्ष, समाधि
कास – खांसी

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. गलत
2. सही
3. सही
4. गलत
5. सही
6. सही

रिक्त स्थानों की पूर्ति–

1. समाधि
2. वियोग
3. स्वात्माराम जी
4. उदान, प्राण, समान, अपान, व्यान
5. प्राण
6. उपचारात्मन, निरोधक एवं स्वास्थ्यवर्धक
7. काममोक्षणं

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ह0 प्रदीपिका– स्वात्माराम कृत कैवल्यधाम, लोनावला
2. घेरण्ड संहिता– स्वामी निरंजनानंद बिहार योग भारती, मुंगेर, बिहार
3. योग विज्ञान–स्वामी विज्ञागनेद सरस्वती, योग निकेतन टस्ट मुनि की रेती, ऋषिकेश
4. योग का आधार और उसने प्रयोग– डॉ0एच0आर0 नागेन्द्र, कैवल्यधाम, लोनावाला

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. हठयोग से आप क्या समझते हैं? विभिन्न ग्रन्थों एवं विद्धानों के विचार इस विद्या के सम्बन्ध में क्या हैं समझाइये।
2. हठयोग के उद्देश्यों के विषय में विस्तार पूर्वक समझाइये।
3. वर्तमान में हठयोग की प्रासंगिकता पर विचार कीजिये, व इसे अपने शब्दों में लिखिये।

इकाई – 2 हठयोग का उदभव एवं विकास क्रम

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना–

पूर्व की इकाई में आपने जाना कि हठयोग प्राणों को साधने की अचूक प्रक्रिया है। इसके द्वारा पिंगला और इड़ा नाड़ियों का समन्वय स्थापित होता है। हठयोग न केवल शरीर पर आधारित साधना है बल्कि यह राजयोग तक पहुँचने की सीढ़ी है। यह शरीर, मन, प्राण और भावनाओं को साधने की प्रक्रिया है। शरीर में विद्यमान पाँचों प्राणों का समन्वय ही हठयोग है। आने जाना कि सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर के माध्यम से प्रभावित किया जा सकता है और चित्त वृत्तियों का निरोध सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करके किया जा सकता है। आगे आप हठयोग के उद्भव एवं विकास क्रम, अर्थात कौन–कौन से सम्प्रदाय आते हैं, का अध्ययन करेंगे।

2.2 उद्देश्य–

इस इकाई से आप–

- हठयोग के उत्पत्ति काल की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- हठयोग के विकास क्रम के अन्तर्गत आने वाले सम्प्रदायों के विषय में जानेंगे।
- नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तन एवं सम्प्रदाय विषयत्न जानकारी प्राप्त करेंगे।
- नाथ सम्प्रदाय के विषय में प्रचलित कथाओं के विषय में जानेंगे।
- हठयोग में वर्णित योग साधनाओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर पाएँगे।
-

2.3 हठयोग का उद्भव–

हठयोग के उद्भव से पूर्व पाठक के मन में सहज ही योग के उद्भव की बात आ जाती है। हठयोग योग की ही एक महत्वपूर्ण विधा है। यहाँ हठयोग के उद्भव और विकासक्रम से पूर्व योग के उद्भव और विकासक्रम के विषय में जान लेने पर हठयोग के विषय में जानना आसान हो जायेगा।

योग का आरम्भ कब और किसके द्वारा हुआ यह बता पाना अत्यन्त कठिन है। योग के विषय में आगे आप विभिन्न जानकारियां प्राप्त करेंगे।

2.3.1 योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि–

ऋग्वेद के मंत्रों में यह कहा गया है कि ''कौन जानता है और कौन यह बता सकता है कि जगत कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुआ और कहाँ जा रहा है'' ;)ग्वेद, नासदीय

सूक्त, मन्त्र6द्ध। विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेदों में सर्वप्रथम योग का संकेत मिलता है। वेदों का विषय ब्रहम ज्ञान रहा है। वेदों में प्रणव शब्द ओडम् ;ऊँद्ध का विवेचन कई बार मिलता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि योग–विद्या का प्रारम्भ काल वैदिक काल से ही आरम्भ हुआ है। परन्तु यह प्रश्न भी सम्मुख आता है कि वेद के)षियों को यह ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ होगा। तो यह कहना अधिक ठीक होगा कि योग का आरम्भ सृष्टि के आरम्भ से ही हुआ है। वेद को अअपोरूषेय भी कहा जाता है एवं)षि को मंत्र दृष्य कहा जाता है। इससे सि(होता है कि योग का आरम्भ वैदिक काल से भी पूर्व में हो गया था।

हिरण्यगर्भ को योग के आदिवक्ता कहा जाता है।

यहां आपने योग के विषय में, उसके ऐतिहासिक प्रमाण के विषय में अल्प जानकारी अर्जित की। यहां उद्देश्य हठयोग के विषय में विस्तृत जानकारी देने से है अतः अब आगे आप योग के विभिन्न सम्प्रदायों की सूक्ष्म जानकारी प्राप्त करेंगे।

2.3.2 योग सम्प्रदाय अथवा प्रकार–

विभिन्न योग ग्रन्थों में भिन्न–भिन्न प्रकार की योग साधनाओं का वर्णन मिलता है। साधन भेद से योग के विभिन्न प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है यथा–

1. ज्ञान योग
2. कुण्डलिनी योग
3. अष्टांग योग
4. भक्ति योग
5. मंत्र योग
6. नाद योग
7. राजयोग
8. कर्मयोग एवं
9. हठयोग आदि

ज्ञान योग विशुद्ध ज्ञान के माध्यम से परमतत्व तक पहुँचने का मार्ग है। मूलाधार में सुप्त सोई हुई कुण्डलिनी को जगाने का मार्ग कुण्डलिनी योग है। कुण्डलिनी योग में शक्ति का शिव से मिलन ही योग कहा गया है। अष्टांग योग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के मार्ग पर चलकर परमात्म तत्व को जानने का मार्ग है। भक्ति योग भक्ति के द्वारा ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त कराता है एवं मंत्र के द्वारा आत्म तत्व तक मंत्र योग पहुंचाता है। ''नाद ब्रहम्'' के सि(ान्त पर कार्य करने वाली

योग की यह विधा स्वर और नाद के द्वारा योग की प्राप्ति कराती है। राजयोग मन का विज्ञान है ध्यान, समाधि के द्वारा आत्म साक्षात्कार राजयोग से ही सम्भव है। कर्म जवा योग बन जायें तो ही कर्मयोग कहलाते है। बिना फल की इच्छा के कर्तव्य पालन करना ही कर्मयोग है। एवं हठयोग प्राणों का विज्ञान है। प्राणों पर नियन्त्रण प्राप्त करना ही हठयोग की साधना है।

2.3.3 हठयोग–का उद्भव–

हठयोग प्राणों को साधने की कला है। प्राणों को साधकर मन पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। हठयोग शरीर पर आधारित योग है। अन्नमय एवं प्राणमय कोष, जिसे देह और प्राण कहा जाता है इन्हीं की शुि(हठयोग का लक्ष्य है। हठयोग के सम्बन्ध में पिछली इकाई में आपने विस्तारपूर्वक चर्चा पढ़ी है। हठयोग शब्द से कुछ लोग इसके स्थूल अर्थ का चिन्तन करते हैं परन्तु यह मात्र शरीर तक ही सीमित नहीं है और न ही जबरदस्ती करने वाला योग है। यह विधा आध्यात्मिक चिन्तन से ओत–प्रोत विधा है।

श्रीआदिनाथाय नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोदुमिच्छोरधिरोहिणीव।। (हठप्रदीपिका 1/1)

अर्थात्, उन सर्वशक्तिमान् आदिनाथ को नमस्कार है जिन्होंने हठयोग विद्या की शिक्षा दी, जो राजयोग के उच्चतम शिखर पर चढ़ने की इच्छा रखने वाले अभ्यासियों के लिये सीढ़ी के समान है।

उपरोक्त श्लोक के आधार पर कहा जा सकता है भगवान शिव जिन्हें यहां पर आदिनाथ कहा गया है, ने हठयोग की शिक्षा दी। श्रीमत् स्वात्माराम जी ने हठप्रदीपिका के माध्यम से हठयोग के आदिवक्ता परमशिव को माना है।

हठयोग की विषय वस्तु पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि हठयोग योग के ही विशाल सागर से निकली हुई शात्वा है जिसे नाथ सम्प्रदाय के योगियों ने पुष्पित पल्लवित किया। हठयोग का उद्भव तंत्र योग से ही हुआ है। तंत्र शास्त्र में बिखरे हुये योग के ज्ञान को विशिष्ट शात्वा के रूप में नाथ योगियों ने अलग पहचान दी। नाथ योग परम्परा पर दृष्टिपात करने पर हठयोग के उद्भव व विकासक्रम का ज्ञान ठीक–ठीक ज्ञात हो सकता है आगे आप नाथ योग के उद्गम व विकासक्रम को हठयोग के सन्दर्भ में जानेंगे।

2.4 हठयोग का विकास क्रम–

संसार में जितने भी धर्म–सम्प्रदाय हैं, उनका कोई न कोई संस्थापक रहा है। बिना संस्थापक के कोई भी धर्म अथवा सम्प्रदाय अथवा धारणा उत्पन्न नहीं हो सकती और न ही टिक सकती है। किसी भी धारणा के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है और उसका कोई निश्चित समय व काल भी होता है। भारतीय योग परम्परा के उन्नायक के संबंध में अनेक धारणाएँ हैं। यह एक सनातन परम्परा कही जाती है क्योंकि इसके आदि और अंत के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। भारतीय संस्कृति की यह विलक्षण विशेषता है कि यहाँ अनेकों धर्म–सम्प्रदायों का उदय हुआ जिनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय ने अलग–अलग मार्गो में एक मार्ग हठयोग का मार्ग है।

हठयोग के अर्थ, परिभाषा, महत्व व उद्देश्य के संबंध में आपने पिछले अध्याय में विस्तारपूर्वक पढ़ा है। हठयोग की उत्पत्ति के संबंध में यह बात सर्वमान्य है कि स्वयं आदिनाथ भगवान् शिव के द्वारा यह कही गई। हठयोगियों के अनुसार भगवान् शिव ने जो कि आदिनाथ भी कहे जाते हैं, ने माँ पार्वती को योग का उपदेश दिया। यही कारण है कि अधिकांश हठयोग के ग्रन्थ शिव–पार्वती संवाद के रूप में मिलते हैं।

योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से इसके आदि और अंत का कुछ पता नहीं चल पाता। हम ऐसा मान सकते हैं कि योग सृष्टि के आरम्भ से ही विद्यमान रहा है। जैसे–जैसे मानव सभ्यता पुष्पित पल्लवित हुई, योग का ज्ञान भी पुष्पित–पल्लवित होता गया। स्वामी मुक्तिबोधानंद की पुस्तक–हठयोग प्रदीपिका के अनुसार, सिन्धु घाटी सभ्यता के खुदाई से प्राप्त भिन्ती चित्रों में योगासन करते हुये देवी–देवताओं की मुद्राऐं इस बात की ओर संकेत करते हैं कि सिन्धुघाटी सभ्यता से पूर्व भी योग का प्रचार–प्रसार रहा होगा। किसी भी सभ्यता में जो धारणा प्रचारित–प्रसारित होती है तो उसका कोई पूर्व कारण अवश्य होता है। अतः हम कह सकते हैं कि मानव सभ्यता की ये सर्वप्रथम ज्ञात सभ्यताऐं जब योग का प्रचार करती दिखाई देती हैं तो निश्चित ही उससे पूर्व भी योग की जानकारी रही होगी।

प्राचीन ग्रन्थों एवं साहित्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि इस संबंध में पर्याप्त मतभेद हैं। परन्तु फिर भी यह एक मत है कि भगवान् शिव योग के गुरू और आदिवक्ता हुए। प्राचीन काल में भगवान् शिव को आराध्य देव मानकर अनेकों सम्प्रदायों, पंथों एवं मतों का उदय हुआ जिन्होंने योग के ज्ञान को भिन्न–भिन्न प्रकारों से प्रचारित व प्रसारित किया। प्रत्येक पंथ और सम्प्रदाय के साधकों ने सर्वप्रथम स्वयं समाधि में जाकर ज्ञान प्राप्त किया एवं लोक कल्याण की दृष्टि से इस ज्ञान को अपने–अपने तरीके से प्रचारित–प्रसारित किया। इन्हीं सम्प्रदायों में से एक नाथ सम्प्रदाय हुआ।

नाथ सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव योग के उद्धार के लिए हुआ। नाथ सम्प्रदाय के उद्भव के पूर्व बौद्ध सम्प्रदाय का प्रचार–प्रसार पूर्वी देशों चीन, जापान एवं दक्षिण में श्री लंका में जोरों पर था। अंतिम गुप्त राजाओं के समय में, जो कि सन् 750 के आसपास का समय माना जा सकता है, बिहार में पाल वंशीय राजाओं के शासनकाल का समय था। पाल राजा बौद्ध थे और उन्होंने इसी समय बौद्ध विश्वविद्यालय विक्रमशिला की स्थापना की। विक्रमशिला में तंत्र संबंधी ग्रन्थों का अध्ययन–अध्यापन होता था। वाम मार्गीय तांत्रिक उपासना भी इन दिनों बहुत प्रचलित हो चुकी थी। परन्तु वाम मार्गीय गूढ़ साधना का रहस्य समझकर उसका आचार करना सहज काम नहीं था। सामान्य बु(जीवियों के लिए यह एक दुष्कर कार्य था। जिसके कारण अल्पज्ञ लोगों में दुराचार, व्यभिचार जैसे दुष्कर्म फैलने लगे। साधारण बु(वाला साधक गूढ़ रहस्यों को न समझकर भटक गया। तंत्र के ग्रंथों में यह बात बहुत स्पष्अ शब्दों में मिलती है कि वाम मार्ग में आने से पूर्व योग मार्ग का अनुसरण कर निम्न वृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करना एक अनिवार्य शर्त है। परन्तु बौ(धर्म के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि इस शर्त पर किसी का भी ध्यान नहीं गया।

भगवान् बुद्ध के शरीर त्यागने के पश्चात् यह उच्च कोटि का दर्शन कई छोटे–छोटे समूहों में बँट गया और उनकी धारणाएँ भी उसी अनुरूप अलग–अलग हो गयीं। इतिहास गवाह है कि कोई धर्म तब नष्ट हो जाता है जब वह कई शाखाओं–उपशाखाओं में बँटकर

अपने–अपने अनुसार व्याख्या व आचार करने लगता है। यही परिनीति बौद्ध दर्शन की भी हुयी।

नाथ सम्प्रदाय के उद्भव के सम्बन्ध में डा0 कल्याणी मलिक की यह बात ध्यान देने योग्य है कि ''नाथ सम्प्रदाय की उत्पत्ति उस समय हुई जिस समय बौद्ध धर्म का पतन तथा शैव धर्म का उत्कर्ष ऊँचाई पर था। यह काल लगभग 7 वीं शताब्दी माना जाता है। आगे चलकर इसी शैव सम्प्रदाय की पाँच सम्प्रदाय की पाँच शाखाएँ हुयीं जो कि कारूणिक, कापालिक, पाशुपत, माहेश्वर एवं लकुलीश के नाम से जाने जाते हैं। सभी शाखाओं में शिव को आदि संस्थापक माना गया है तथा सभी शाखाओं के योगियों को सिद्ध कहा गया है। इन्हीं सिद्धों की परम्परा में नाथ सम्प्रदाय का उद्भव हुआ।

विभिन्न शास्त्रों में वर्णित चौरासी सिद्धों की नामावली

नाथ सिद्ध		सहजयानी सिद्ध	
1.	मीननाथ	1.	लूहिया
2.	गोरक्षनाथ	2.	लीलापा
3.	चौरंगीनाथ	3.	विरूपा
4.	चामरीनाथ	4.	डोम्भीपा
5.	तंतिपा	5.	शबरीपा
6.	हालिपा	6.	सरहपा
7.	केदारिपा	7.	कंकालीपा
8.	धोंगपा	8.	मीनपा
9.	दारिपा	9.	गोररक्षपा
10.	विरूपा	10.	चौरंगीपा
11.	कपाली	11.	वीणापा
12.	कमारी	12.	शान्तिपा
13.	कान्ह	13.	तन्तिपा
14.	कनखल	14.	चमरिपा
15.	मेखल	15.	खड्ग्पा
16.	उन्मन	16.	नागार्जुन
17.	काण्उलि	17.	कराहपा
18.	धोबी	18.	कर्णरिपा (आर्यदेव)
19.	जालंधर	19.	थगनपा
20.	तोंगी	20.	नारोपा
21.	मवह	21.	शालिपा (शीलपा)
22.	नागर्जुन	22.	तिलोपा
23.	दौली	23.	छत्रपा
24.	भिषाल	24.	भद्रपा
25.	अचिति	25.	दोखधिपा (द्विखंडिपा)
26.	चम्पक	26.	अजागिपा
27.	ढेण्डस	27.	कालपा

28. भुम्बरी
29. बाकलि
30. तुजी
31. चर्पटी
32. भादे
33. चांदन
34. कामरी
35. करवत
36. धर्मपापतंग
37. भद्र
38. पातलिभद्र
39. पलिहिह
40. भानु
41. मीन
42. निर्दय
43. सवर
44. सांति
45. भर्तृहरि
46. भीषण
47. भटी
48. गगनपा
49. गमार
50. मेनुरा
51. कुमारी
52. जीवन
53. अधोसाधव
54. गिरिवर
55. सियारी
56. नागवालि
57. विभवत्
58. सारंग
59. विविकिधज
60. मगरधज
61. अचित
62. विचित
63. नेचक
64. चाटल
65. नाचन
66. भीलो
67. पाहिल

28. धोम्भिपा
29. कंकणपा
30. कमरिया (कंबलपा)
31. डेंगिपा
32. भदेपा
33. तंधेपा (तंतिपा)
34. कुकुरिया
35. कुचिया (कुसूलिपा)
36. धर्मपा
37. महीपा(महिलपा)
38. अचिन्तिपा
39. भलहपा (भवपा)
40. नलिपा
41. भूसुकपा
42. इन्द्रभूति
43. मेकोपा
44. कुड़लिपा (कुद्दलिपा)
45. कमरिपा (कम्मरिपा)
46. जालंधरपा (जालंधारक)
47. राहलपा
48. धर्मरिया (धर्मरि)
49. धोकरिपा
50. मेदनीपा (हालीपा)
51. पंकजा
52. घंटा (बज्रघंटा)
53. जोपीगा (अजोजिपा)
54. चेलुकपा
55. गुंडरिया (गोरूरपा)
56. लुपिकपा
57. निर्गुणपा
58. जयाननत
59. चर्पटापा (पचरीपा)
60. चम्पकपा
61. भिखनपा
62. भलिपा
63. कुभरिया
64. चवरि (जवरि) अजपालिया
65. मणिभद्रा (योगिनी)
66. मेखलापा (योगिनी)
67. कनखलाप (योगिनी)

68.	पासल	68.	कलकलपा
69.	कमल–कंगारि	69.	कन्ताली (कन्थाली) पा
70.	चिपिल	70.	धहुलि (रि) पा (दबड़िया)
71.	गोविंद	71.	उधनि (उधलि) पा
72.	भीम	72.	कपाल (कमल) पा
73.	भैरव	73.	किलपा
74.	भद्र	74.	सागरपा
75.	भमरी	75.	सव्रभक्षपा
76.	मुयकुटी	76.	नागबोधिया
77.	दारिकपा		
78.	पुतुलिपा		
79.	पनहपा		
80.	कोकलिया		
81.	अनंगपा		
82.	लक्ष्मीकरा		
83.	समुदपा		
84.	भलि (ब्यालि) पा		

नाथ सम्प्रदाय की परम्परा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस सम्प्रदाय के उद्गम एवं विकास का कोई एक स्त्रोत निश्चित करना अत्यन्त कठिन कार्य है। प्राचीन ग्रंथों एवं नाथ साहित्यों का अवलोकन करने से अनेक नाथ सिद्धों का परिचय प्राप्त होता है। श्री राजेशी दीक्षित की कृति नवनाथ चरित्र के अनुसार उपर्युक्त वर्णित नव नाथ ही नाथ सम्प्रदाया के महान् प्रतिनिधि हैं। परन्तु यह बात निर्विवाद रूप से कह पाना बहुत कठिन है कि इन नव नाथों के पहले भी कोई नाथ सिद्ध हुए। इस सन्दर्भ में विद्वानों में र्प्याप्त मत–भेद प्रचलित है। वस्तुततः नाथ सम्प्रदाय का ऐतिहासिक विवेचन करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। नाथ सम्प्रदाय के साथ नाथ शब्द के जुड़े होने से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध की जा सकती है कि सबसे पहले नाथ तो स्वयं भगवान् शंकर ही हैं। जिन्हें आदिनाथ कहा जाता है। भगवान् शिव को अपना अराध्य देव मानकर ही नाथ सम्प्रदया का प्रादुर्भाव हुआ। ये नाथ भगवान शिव के मानस पुत्र थे या इन्होंने किसी मानवी स्त्रियों के गर्भ से जन्म लिया, कुछ कहा नहीं जा सकता। गोरखनाथ जी के ग्रन्थों में उनके पा अपने अनेक गुरूओं का नामोल्लेख मिलता है जिनमें मत्स्येन्द्रनाथ या मीननाथ का नाम प्रमुख है।

नाथ शब्द का वास्तविक स्वरूप

नाथ का शाब्दिक अर्थ– नाथ शब्द की उत्पत्ति नाथृ धातु में अ प्रत्यय लगाने से होती है। सिद्ध सिद्धांत पद्धति में नाथृ धातु मुख्यता चार अर्थों में प्रयुक्त होता है– याक, उपतापक, ईश्वर और आशीर्वाददाता। नाथ शब्द का अर्थ गोरक्षसिद्धांत संग्रह के पृष्ठ 26 के अनुसार–

नकारो नाद रूपं थकारः स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रयमेवैकः श्री गोरक्ष नामोऽस्तुते।।

(गो.सि.सं.पृ.26)

अर्थात्–ना शब्द का अर्थ है अनादि रूप और धा का अर्थ है भुवनत्रय का स्थापित होना। अतः नाथ का अर्थ है वह अनादि धर्म जो भुवनात्रय की स्थिति का कारण हे। इसी प्रकार गोरक्ष सिद्धांत संग्रह के पृ. 26 शक्ति संगम तंत्र में ना शब्द का अर्थ नाथ ब्रह्म भी है।

श्री मोक्षदानक्षत्वान्नाथ (द) ब्रह्मानुबोधनात्।
स्थागिताज्ञानविभवाच्दीनाथ इति गीयते।।

(गोरक्ष सिद्धांत संग्रह)

अर्थात्– जो मोक्ष का दान देने में दक्ष है और उसकाा ज्ञान कराता है। एवं थ का अर्थ है अज्ञान के सामर्थ्य को स्थापित करने वाला । चूंकि नाथ के आश्रयगण से इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरूद्ध होती है। इसलिये नाथ शब्द का व्यवहार किया जाता है।

नाथ शब्द का अर्थ शिव जी का प्रतीक है परन्तु यह अकेला नहीं है, अर्थात यह शक्ति युक्त शब्द है। ना शब्द पुरूषवाची है और थ का अर्थ है शक्ति। ना पुराण पुरूष शिव है और उनकी अन्तरंग शक्ति का नाम ध है तंत्र शास्त्र में कहा गया है–

अकारः शिव इत्युक्तः थकारः शक्तिर्उज्यते। (तंत्रशास्त्र)

इस प्रकार शिव–शक्ति अभेद, महेश्वर भी स्वयं शक्ति से रहित हो कुछ नहीं कर सकते। ऐसा श्रीनाथ जी कहते हैं–

शिवोऽपि शक्ति रहितः कर्तुं शक्तों न किंचना।। (सिद्धसिद्धांत पद्धति पृ.15)

यहां शिव को शक्ति वाचक माना गया है इसके अभाव में शिव भी शव के समान है। इसलिए शिव से उसकी शक्ति कभी अलग नहीं हो सकती । इसी कारण श्री गोरक्षनाथ जी ने मंगल श्लोक में शक्तियुक्त ऐसा विशेषण दिया है। इस प्रकार नाथ शिव और शक्ति के सामरस्य का द्योतक हैं। देह में शिव ब्रह्मरन्ध्र में निवास करते हैं तथा मूलाधार में शक्ति निवास करती है जो साधक के द्वारा शिव और शक्ति का मेल कराने में समर्थ होते हैं, यथार्थ में वे ही सच्चे नाथ कहलाते हैं। अतः नाथ सम्प्रदाय में योग साधना शिव और शक्ति के संयोग की अंतिम परिणती है।

नाथ सम्प्रदाय के मूलभूत सिद्धांत–

भारतीय धर्म और दर्शन मनुष्य की भौतिक उपब्धियों से लेकर अध्यात्मिक सिद्धि तक जीवन के प्रत्येक स्तर पर कल्याण कारी रहे हैं। योग विद्या धर्म और दर्शन दोनों को चरितार्थ करता है क्योंकि यह व्यक्ति के जीवन की हर परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने वाला धर्म तथा परम्परागत आध्यात्मिक विचार–प्रवाह को अपने अनुकूल बनाने वाला धर्म तथा परम्परागत आध्यात्मिक विचार–प्रवाह को मथकर उसके भी तर से सर्वयुगीन तत्व को प्रकट करने वाला व्यवहारिक दर्शन है।

योग सम्मत जीवन पद्धति प्राचीन काल से ही सदेश में विद्यमान थी। शास्त्रों के अनुसार योग– दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि माने जाते हैं और उन्होंने यह योग विद्या हिरण्यगर्भ से प्राप्त कर शास्त्र रूप में ग्रंथबद्ध की। श्री अक्षय कुमार बनर्जी के अनुसार

गोरखनाथ ने पातंजल योग दर्शन को युग–सम्मत बनाकर एक सशक्त एवं जीवंत मत के रूप में प्रतिष्ठित किया। ऐसी मानयता है कि गोरखनाथ स्वयं शिव का अवतार थे।

इसी कारण भक्त उन्हें ओम् शिवगोरक्ष कहकर भी सम्बोधित करते हैं। गोरखपंथ की बाहर शाखाओं में छः स्वयं भगवान् शिव द्वारा और छः गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् शिव को अपना आराध्य देव मानकर कुछ योगी सम्प्रदाय पहले से विद्यमान थे। गोरखनाथ के व्यायापक प्रभाव को स्वीकार कर ये सम्प्रदाय उनके द्वारा प्रवर्तित नवीन जीवंत सम्प्रदाय के अंग बन गये। गुरू गोरखनाथ ने जिस योग–मार्ग का संघटन किया था उसे नाथयोग कहते हैं और नाथयोगियों के अनुसार योग के उत्पत्तिकर्ता स्वयं आदिनाथ स्वयं भगवान् शंकर है। नाथ–योग को सिद्धमत एवं अवधूत मत भी कहते हैं।

नाथ सम्प्रदाय के मूलभूत सिद्धांतों ने समस्त तार्किक विश्लेषण से ऊपर उठकर समतत्व की प्रतिष्ठा की। इस समतत्व को ही परमतत्व, परासंवित , परब्रह्म, परमपद, परमशून्य, परशिव आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यह समतत्व तर्क–वितर्क का विषय नहीं है। यह व्यक्ति के बौद्धिक एवं मानसिक उत्कर्ष की चरम स्थिति है जो कि सामरस्य दशा में ही अनुभूत हो सकती है। नाथ सम्प्रदय के अनुसार व्यष्टिपिण्ड (शरीर) ब्रह्माण्ड का ही लघु संस्करण है। मनुष्य के किस अंग में ब्रह्माण का कौन सा अंग है इसका अनुभव करने के लिए षडयंत्र योग साधना का विधान बताया गया है। और इस षड्ंग योग साधना के लिए नाथ सम्प्रदाय में शरीर को अत्यधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि शरीर के माध्यम से ही योगी ध्यान एवं चिन्तन के द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड को अपने शरीर में अनुभव कहा उससे स्वयं का एकाकार कर सकता है। अतः पिण्ड (शरीर) एवं ब्रह्माण्ड की समरसता ही नाथ सम्प्रदाय का मूलभूत सिद्धान्त है। नाथ पंथी इस समरसता की सिद्धि के लिए गुरू की कृपा को अत्यन्त आवश्यक मानते है।

नाथ सम्प्रदाय में योग का तात्पर्य प्राण–अपान, रज एवं वीर्य, एवं चन्द्र तथा जीवात्मा एंव परमात्मा (शिव–शक्ति) के संयोग को योग कहा गया है। चन्द्र एवं सूर्य के संयोग का तात्पर्य अपान एवं प्राण का संयोग रूप हठयोग है। हठयोग की साधना का मुख्य लक्ष्य शक्ति रूप कुण्डलिनी को जागृत कर षट्चक्र भेदन द्वारा सहस्रार चक्र में में शिव के साथ योगी सामरस्थ स्थापित कर परमपद कैवल्य की प्राप्ति करता है।

षड्ंग योग साधना

नाथ सम्प्रदाय में मुख्य में षड्ंग योग साधना प्रचलित है। इस षड्ंग योग साधना में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि ये छः अंग है। गोरक्ष शरत–7 में षड्ंग योग का उल्लेख इस प्रकार हुआ है –

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्य धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाड़गानि वदन्ति षट्रै।।

(गोरक्षशतक–7)

यद्यपि नाथ सम्प्रदाय में हठयोग की साख्ना प्रचलित है और इस हठयोग की साधना का उद्देश्य ''राजयोग'' की प्राप्ति नाथ सम्प्रदाय के साहित्य स्रोतों में से एक ''हठयोग प्रदीपिका'' में स्वात्माराम योगी ने यही बात इस प्रकार कही है।

श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठ विद्या।

विभ्राजते प्रोन्नत राजयोगामारोदुमिच्छोरधिरोहिणीव।।

(हठ प्रदीपिका–1:1)

तथापि नाथ साहित्यों में कहीं–कहीं योग के चार अंग, सात अंग, आठ अंग तथा पन्द्रह अंग तक माने गये हैं। नाथ सम्प्रदाय में षड्ंग योग साधना का विधान है तथा ''सिद्धसिद्धान्त पद्धति'' एवं ''दत्तात्रेय'' संहिता आदि ग्रंथों में यम–नियम का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु यम–नियम को योगांग के रूप में संयुक्त न करके केवल षंड्ंग योग का ही निरूपण हुआ है। इसका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है।

आसन– आसन नाथ योग–साधना का प्रथम अंग है। सि.सि.–2:34 में उल्लेख मिला है कि–

आसनमिति स्वरूवरूपे समानसन्नता। (सि.सि.पं.–2:34)

अर्थात् सदा निज स्वरूप अर्थात चेतन आत्मा में स्थित हो जाने को आसन कहते हैं। गोरक्षशतक – 9 में भगवान शिवाजी ने 84 लाख आसनों का उल्लेख नाथ सम्प्रदाय की उत्पत्ति एवं विकास किया है उनमें भी चौरासी आसन ही मुख्य हैं –

चतुरशीश्शतिलक्षाणामेकैकं समुदाहतम्।

ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम।।

(गोरक्षशतक–9)

इन चौरासी आसनों में भी केवल दो आसन सिद्धासन व पद्मासन को ही प्रमुख माना गया है –

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।

एक सिद्धासनं तत्र द्वितायं कमलासनम्।।

(गोरक्षशतकं–10)

योग साधना की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों आसनों का अत्यधिक महत्व है। आसनों के द्वारा साधक में दृढ़ता एवं शरीर अरोग्यता को प्राप्त होता है।

प्राणायाम नाथ योग साधना में प्राणायाम का विशेष महत्व है। नाथ सम्प्रदाय के अनुसार हमारे शरीर में 72000 नाड़ियां हैं जिनका उद्गम स्थल मूल कंद है। इनमें स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होने वाले प्राण को विशेष प्रयास पूर्वक संयम करना ही प्राणायाम है तथा प्राण संयम की चार विधियां बताई गई हैं रेचक, पूरक कुम्भक और संघटकरण अर्थात प्राण–अपान वायुओं का प्राणायाम के द्वारा मेल कराना। रेचक–प्राणवायु

को बाहर निकालना, पूरक–प्राण वायु को भरना और कुम्भक प्राणवायु को अन्दर रोकना व प्राण और अपान वायु को आपस में मिला देना। यही प्रकार के प्राणयाम का लक्षण है।

प्रत्याहार – प्रत्याहार को परिभाषित करते हुए सिद्धसिद्धांत पद्धति (2/36) में कहा गया है–

प्रत्याहारमिति चैतन्यचुतरड.गाणां प्रत्याहारणं विकारग्रसन।

उत्पन्नविकारस्यापि निवृत्तिर्निर्भातीति प्रत्याहारलक्षणम्।।

(सि.सि.पं.–2:26)

अर्थात् – देहरूपी रथ के स्वामी चैतन्य आत्मा के (चछु, श्रोत, घ्राण, रसना आदि इन्द्रिय रूपी घोड़ों के) अपने–अपने विषयों से हटाकर आत्मा में लगाना ही प्रत्याहार कहलाता है।

धारणा – धारणा विषयक लक्षणों का उल्लेख सि.सि.प. में इस प्रकार किया गया है।

धारणेति सा बाह्याभ्यन्तर एकमेवनिजतत्वस्वरूपमेवान्तः करणेन साधयेद् यथा यद्यदुल्पद्यते तत्तन्निराकरो धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव संधारयेदिति धारणालणम्। (सि.सि.प. – 2:37)

अर्थात – शरीर से बाहर और भीतर सब जगह (भौतिक प्रपंच) तथा आन्तरिक ब्रह्माण्ड में एक ही निजतत्व रूप (परम शिव) व्याप्त है ऐसी मानसिक भावना करना धारणा है।

ध्यान – आगे ध्यान को बताते हुए हुए सि.सि.प. में कहा है –

अथ ध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावः स एवाव्मेति तथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वमेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यानलक्षणम्।

(सि.सि.प.–2:38)

अर्थात–अद्वैतस्वरूप परमात्मा ही आत्मा है। सब जगह आत्मा रूप जानकार यह भावना करें कि जो वस्तु जैसी प्रतीत हो यह भी मेरा ही आत्मा है। ब्रह्मा से लेकर समस्त जीव जन्तु पर्यन्त सब प्राणियों में समदर्शी, आत्मदृष्टि, आत्मस्वरूप ही भावना ही ध्यान है।

समाधि – समाधि अवस्था का वर्णन करते हुए सि.सि.प. में उल्लेख किया है –
अथ समाधिलक्षणं सर्वतत्वानां समावस्था निरूद्यमत्वभनायाससिथतिमत्वमिति समाधिलक्षणम्। (सि.सि.प.–2:39)

अर्थात–सब पदार्थो में समान अवस्था अर्थात सबको आत्म स्वरूप से देखने और जिस अवस्था में अनायास ही अखण्ड आत्म स्वरूप की स्वाभाविक स्थिति हो यही समाधि है।

अभ्यास प्रश्न–

सही/गलत

(i) हठयोग प्राण पर आधारित योग है।

(ii) हठयोग राजयोग तक जाने का मार्ग है।

(iii) हठयोग के आदिवक्ता आदिनाथ अर्थात् भगवान शिव माने जाते हैं।

(iv) मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के शिष्य थे।

(v) हठयोग का उदीयमान काल बौद्ध धर्म के बाद का है।

(vi) नाथ योग परम्परा हठयोग के उद्धार के लिये जन्मी।

रिक्त स्थानों की पूर्ति–

(i) नाथ सम्प्रदाय के योगाश्रम .... स्थानों पर अधिक मात्रा में हैं।

(ii) हठयोग का प्रसिद्ध ग्रन्थ .... स्वात्माराम जी द्वारा रचित है।

(iii) नाथ परम्परा में .... सिद्धों की परम्परा प्रसिद्ध है। एवं .... नाथ प्रसिद्ध हैं।

2.5 सारांश–

आपने जाना कि हठयोग का उद्‌भव काल प्रारम्भ से ही रहा है। हठयोग की विषय वस्तु पारम्परिक योग से ही ली गई है। अतः इसका आरम्भ योग के आरम्भ से ही हो गया था। हठयोग की विषय वस्तु को योग और तंत्र से नाथ परम्परा के अनुयायियों ने अलग किया एवं इसे एक अलग योग का नाम दिया गया। स्वात्माराम जी कृत हठप्रदीपिका में स्पष्ट रूप से आदिनाथ भगवान शिव को इसका आदिवक्ता कहा गया है। हठयोग परम्परा के फलस्वरूप 84 सिद्धों के पश्चात् सौ नाथों की परम्परा ने हठयोग की परम्परा को आगे बढ़ाया। इनमें आदिनाथ के पश्चात् मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गोपीचंद आदि प्रसिद्ध नाथ हुये। हठयोग का उद्‌गम व विकासक्रम का स्रोत निश्चित कर पाना कठिन है। यही कहा जा सकता है कि हठयोग का वर्तमान स्वरूप अनेक सम्प्रदाय एवं पन्थों व साधनाओं का मिश्रण है।

2.6 शब्दावली –

1. पांच प्राण –– हठयोग ग्रन्थों में 5 प्राणों की चर्चा है जो शरीर के विभिन्न क्रियाओं के लिए उत्तरदायी होते हैं। ये प्राण, अपान, समान, त्याग ओर उदान प्राण है।

2. कुण्डलिनी –– मूलधार चक्र में स्थित चेतना

2.7अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

सही/गलत

(i) सही (ii) सही (iii) सही (iv) गलत

(v) सही (vi) सही

रिक्त स्थानों की पूर्ति

(i) नेपाल और गोरखपुर (ii) हठ प्रदीपिका (iii) 84, 9

2.8सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम, डा. राजकुमारी पाण्डेय (2008), राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली
2. उपनिषदों में योग विज्ञान, आचार्य पूर्णचन्द्र पंत (2008), प्रिटपाइॅण्ट, आगरा
3. नाथ सम्प्रदाय योग का स्वरूप, डॉ. नरेश कुमार, घास, प्रो. गणेश शंकर सत्यम पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. हठयोग के उद्भव व विकास क्रम पर प्रकाश डालिये।
2. नाथ योग परम्परा पर प्रकाश डालिये।

इकाई–3 हठाभ्यास हेतु उचित समय, ऋतु काल एवं आहार–विहार

इकाई का संरचना

3.1 प्रस्तावना

पूर्व में आपने हठयोग का अर्थ, परिभाषा, हठयोग का उद्देश्य, महत्व, हठयोग का उद्भव व विकास क्रम के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त की। हठयोग वास्तव में पुरातन विद्या व विज्ञान का अतुल भण्डार है। यह जहाँ एक ओर शरीर को साधती है, वहीं यह प्राण पर कार्य कर मन को साधती है, व शरीर, प्राण और मन को आपस में जोडती है।

इस इकाई में आप हठाभ्यास हेतु उचित स्थान, आहार– विहार तथा ऋतु काल के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगें व जानेंगे कि कौन–कौन से स्थान पर योग का अभ्यास किया जाना चाहिये । सही समय, ऋतु एवं आहार के विषय में जानकारी प्राप्त होने से कई कठिनाइयों से बचा जा सकता है व अभ्यास में हो रही असुविधाओं को कम करके साधना को प्रबल किया जा सकता है ।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई से आप–

- हठाभ्यास हेतु उचित स्थान के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे ।
- मठ क्या है व मठ का वातावरण कैसा होना चाहिये यह जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- मठ का निर्माण कहॉ नहीं होना चाहिये यह जानकारी प्राप्त करेंगे।
- योगाभ्यास हेतु ऋतु काल के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- योगाभ्यासी को कैसा आहार करना चाहिये यह जानेंगे।
- योगारंभ में निषिद्ध आहार–विहार के विषय में जानेंगे।

3.3 उचित स्थान

योगाभ्यास एक साधना है और साधना में सफल होने के लिये उचित स्थान की महत्ता का वर्णन कई ग्रन्थों में किया गया है। हठयोग क्योंकि शरीर के माध्यम से मन को साधने की प्रक्रिया है, अतः हठाभ्यास की साधना हेतु भी हठयौगिक ग्रन्थों जैसे गीता, घेरण्ड संहिता, हठ प्रदीपिका आदि में वर्णन मिलता है। योगाभ्यास में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिये उचित स्थान, वातावरण, रहन–सहन, विचारों आदि का ख्याल रखना नितांत आवश्यक है। शोरगुल से दूर, खुली हवा में, सुरम्य वातावरण में, प्रकृति की गोद में जो आनन्द एवं सुविधा होगी वह कहीं और ढूंढना मुश्किल है। उचित समय एवं वातावरण का भी योगाभ्यास में महत्वपूर्ण स्थान है। आहार का महत्व तो सर्वविदित है ही।

वह स्थान जहाँ साधक साधना प्रारम्भ करता है वह मठ कहलाता है। साधनात्मक जीवन में स्थान का बहुत महत्व है। पुरातन काल में मनीषि ऋषियों ने ऐसे स्थान का चुनाव किया जहाँ उच्च साधनात्मक भावनाओं, उच्च आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रभाव था। हिमालय क्षेत्र में स्थित मठ, मंदिर, साधना स्थल आदि इसी कारण अधिक हैं। हिमालय पर्वत श्रंखलाओं में सुदूर गुफाएं आज भी साधकों के लिये उचित स्थान हैं। इन गुफाओं में उच्च साधकों ने अपार ऊर्जा संचित की एवं साधना का परम लक्ष्य प्राप्त किया। हिमालय क्षेत्र में जाकर साधना करना आज के युग में, वातावरण में सम्भव नहीं है, परन्तु खुले एवं शान्त स्थान का चुनाव निश्चित ही उपयोगी एवं आवश्यक है।

हमने मठ की चर्चा की है। यह मठ क्या है, इस विषय पर चर्चा आवश्यक है। क्योंकि हठाभ्यास हेतु स्थान के सम्बन्ध में घेरण्ड संहिता में चर्चा आती है –

सुदेशे धार्मिक राज्ये सुभिक्षे निरूप्रद्रवे।

कृत्वा तमैकं कुटीरं प्राचीरैः परिवेष्टितम् ।।

– घेरण्ड संहिता 5/5

ऐसे सुन्दर, धार्मिक स्थान जहाँ भोजन के लिए खाद्य पदार्थ सहजता से उपलब्ध हों, और वहाँ किसी प्रकार का उपद्रव न हो और कुटी के चारों तरफ चारदीवारी हो।

अभ्यास सुन्दर धार्मिक स्थान पर करना चाहिये, दूर देश, अथवा जंगल आदि में अथवा राजधानी में कोलाहल पूर्ण वातावरण में नहीं करना चाहिये और नये साधक को इसका कडाई से पालन भी करना चाहिये। दूर जंगल में अभ्यास करने से असुविधा होगी। जंगली जानवरों आदि का भय बना रहेगा। अतः महर्षि घेरण्ड ने सुन्दर धार्मिक स्थल की बात कही है। भोजन के लिए बहुत अधिक परिश्रम करने पर कहीं पूरा ध्यान केवल भोजन को अर्जित करने पर ही न जाये, अतः कहा गया है कि भोजन की सुलभता पर भी ध्यान दिया जाये।

हठप्रदीपिका में भी योगी स्वात्माराम जी ने स्थान के सम्बन्ध में कहा है –

सुराज्ये धार्मिक देशें सुभिक्षे निरूपद्रवे।

धनु प्रमणपर्यतं शिलाग्नि जल वर्जिते।

एकान्ते मण्किामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ।।

– हठप्रदीपिका 1/12

अर्थात अच्छे राज्य में, धार्मिक तथा बिना उपद्रव वाले देश में एक छोटी कुटी बनाकर योगी को रहना चाहिये, जिसके चारों और चार हाथ दूरी तक पत्थर, अग्नि तथा जल न हो।

सुराज्ये से तात्पर्य वह स्थान है जहाँ प्राकृतिक सम्पदा हो तथा वन्य सम्पदा पूर्ण स्थान हो। धार्मिक देश से तात्पर्य है, वहाँ की जनता भले मन वाली तथा सहज भाव वाली तथा धर्म का ज्ञान रखनेवाली हो। सुभिक्षे अर्थात् अन्न, जल, फल, मूल आदि का अभाव जहाँ न हो।

निरूपद्रवे से तात्पर्य समाज में नियम पालन की व्यवस्था हो। नागरिक अपने कर्तव्य व अधिकार जानते व समझते हों।

गीता में योग हेतु उचित स्थान की चर्चा करते हुये वर्णन मिलता है –

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

नात्युच्छितं नातिनीचं चैलाजिनम्योत्तरम्।।

– ***श्रीमद्भगवद्गीता 6/11***

आगे कहा गया है –

तत्रैकाग्रंमनःकृत्वा यत्वित्तेन्द्रियः क्रियः।

उपविश्यासने युञ्ज्स्याधोगमात्मविशुद्धये।।

यहाँ पर शुचौ देशे की बात की गई है। शुचौ देशे से तात्पर्य शुद्ध स्थान से है। शुद्ध स्थान दो तरह के हो सकते हैं –

1. प्राकृतिक शुद्ध–स्थान
2. शुद्ध किया हुआ स्थान

प्राकृतिक शुद्ध स्थान, जैसे गंगा नदी आदि पवित्र नदियों का किनारा, तुलसी, आँवला, पीपल आदि वृक्षों के पास का स्थान आदि।

शुद्ध किया हुआ स्थान से तात्पर्य भूमि का गाय के गोबर, मूत्र आदि से लीपकर अथवा शुद्ध जल छिडक कर शुद्ध किया हुआ स्थान। योगांक में योग हेतु उचित स्थान की चर्चा करते हुये कहा गया है," योग के लिये एकान्त और पवित्र स्थान होना चाहिये। जहाँ हिंसा, चोरी, मैथुन, छल आदि न होते हों । जहाँ जप, तप, यज्ञ, पूजन, हवन भजन, स्वाध्याय, भगवत् चर्चा आदि होते हों। परन्तु ध्यान के समय जहाँ कोई न हो, एकान्त नदी तट, देव मंदिर, जहाँ शोरगुल न होता हो, जो उत्तम और मनोरम वायु से संचित हो, गीला या गरम न हो, जहाँ भगवान के सुन्दर चित्र लगे हों।" जहाँ कंकड़ और बालू न हों, पुष्प धपादि से सुगन्धित हो।

स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वति के अनुसार – योग के लिये एकान्त एवं पवित्र स्थान का प्रबन्ध होना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो अभ्यास एक ही जगह पर करना चाहिये।

ऐसा करने से वहाँ के वातावरण के परमाणु बदल जाते है। एक शान्तिमय एवं प्रभावशाली स्पन्दन फैल जाता है जो साधक को जल्द ही प्रगति पथ पर आगे ले जाता है।

योगमठ कहाँ न बनाऐं –

घेरण्ड संहिता में वर्णित है –

दूरदेशे तथाऽरण्ये राजधान्यां जनांतिके।
योगारम्भं न कुर्वीतं कृतश्चेत्सिद्धहा भवेत्।।

– घेरण्ड संहिता 5/3

अर्थात, दूर देश में, जंगल के बीच में, राजधानी में जहाँ लोगों का शोरगुल हो, आना जाना अधिक हो, ऐसे स्थान पर योगाभ्यास करने से सिद्धि नहीं होती।

अविश्वासं दुरदेशो अरण्ये रक्षिवर्जितम्।
लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात्त्राणि विवर्जियेत्।।

– घेरण्ड संहिता 5/4

अर्थात, परदेश में किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता, जंगल में असुरक्षा है, राजधानी में अत्यन्त भीड एवं शोरगुल होता है। अतः इन तीन स्थानों पर अभ्यास वर्जित है। योगाभ्यास न अधिक भीड. में, न दूर देश या जंगल में सधता है। वांस्तव में योगाभ्यास करने वाले साधक को अपनी सुरक्षा का ध्यान रखते हुये अभ्यास के लिये स्थान चुनना चाहिये और इसके लिये यदि कोई योग मठ सुलभ हो सके तो अति उत्तम होगा। यह योगमठ क्या है ? योगमठ वह स्थान है जहाँ मन की निम्नगामी शक्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है। योगमठ दो शब्दों से मिलकर बना है – योग+मठ। योग से तात्पर्य स्वयम् को जानने के प्रयास की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, और मठ अर्थात जहाँ मन का ठहराव हो, जहाँ चित्त की चंचलता पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके।

योग मठ वह स्थान है जहाँ स्वयम् को जानने के लिये, चित्त की चंचलता को रोकने के लिये प्रयास किया जाता है। वह स्थान जो आध्यात्मिक शक्तियों को जागृत करने के लिये उच्च ऊर्जा से भरा हो और सहज ही साधक का मन जिसमें रंम जाये। वह महान आत्माओं की तप स्थली हो जहाँ उस महान आत्मा की सकारात्मक ऊर्जा मन को एकाग्र करने मे सहायक सिद्ध हो सके।

घेरण्ड संहिता में वर्णन मिलता है –

वापी कूपतड़ागं च प्रचीर मध्यवर्त्ति च।

नात्युच्चं नातिनिम्नं च कुटीरं कीट वर्जितम्।।

साम्यग्गोमयलिप्तं च कुटीरं तत्र निर्मितम्।

एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामम् सम्भ्पसेत्।।

– घेरण्ड संहिता 5/6, 7

अर्थात् कुएं एवं तालाब अथवा जलाशय वाले स्थान पर चारों तरफ घिरा हुआ है। कुटी की भूमि न अधिक ऊँची हो और न अधिक नीची। गोबर से लिपी हुई, कीट आदि से रहित एवं एकान्त स्थान में हो।

'वापी कूप तडागं च प्राचीर मध्यवर्ति च' – उस घेरे के भीतर जल प्राप्ति के लिये कुएं या पोखर की व्यवस्था रहनी चाहिये। साधक को अन्य वस्तुओं की आवश्यकता उतनी नहीं जितनी जल व्यवस्था की है। स्थान से अधिक अन्तर नहीं वरन् जल की व्यवस्था प्रचुर मात्रा में होनी चाहिये। पानी से प्यास भी बुझाती है और मन भी तृप्त होता है। जल वाले स्थान पर वायु भी शुद्ध बहती है। जल को 'अमृत' की संज्ञा दी गई है। "रसो बे सः" कहा गया है।

"नात्युच्चनातिनिम्नं च कुटीरं कीटवर्जितम्" – कुटीर की भूमि न तो अधिक ऊँची हो न बहुत नीची। उस स्थान में जीव जन्तुओं का उपद्रव न हो, भूमि गोबर से लिपी हो। गौ से प्राप्त सभी वस्तुऐं पवित्र मानी जाती हैं एवं गौ के गोबर से लिपा हुआ स्थान कीट–पतगों से भी सुरक्षित हो जाता है। वहां पर सांप बिच्छू आदि का भय भी नहीं रहता। अतः योगाभ्यास के लिये हठयौगिक ग्रन्थों में स्थान का चुनाव एक अहम् भूमिका निभाता है।

हठप्रदीपिका नामक महान ग्रन्थ के ग्रंथकार स्वात्माराम जी कुटीर के विषय में कहते हैं –

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतम्।

साम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजन्तूज्झितम्।।

अर्थात् कुटीर अथवा योगमठ का दरवाजा न अधिक छोटा हो न बडा हो, वहां छिद्र न हो, बिल या सुरंग न हो एवं कीड़े–मकौड़े से रहित हो । महर्षि आगे कहते हैं –

बाहये मण्डपवेदिकूपसचिरं प्रकारसंवेष्टितम्।

प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः।।

– हठप्रदीपिका 1/13

अर्थात् मठ के बाहर, वेदि, मंडपशाला हो और बगल में कुआं जिसमें स्वच्छ जल हो, वहां प्रकाश का आवागमन हो, वहां घेरा लगा हुआ हो। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त योग मठ में साधक को सिद्धि अवश्य ही मिल जाती है।

तात्पर्य यह है कि जो भी स्थान चुना जाये वह विघ्नों से रहित होना चाहिये। जिससे सारी शक्ति योग साधना में लगे न कि व्यवस्थाओं को करने में अथवा विघ्न–बाधाओं को दूर करने में लगे।

स्थान का सम्बन्ध आसन से भी है। यहाँ पर आसन से तात्पर्य 'स्थिरसुखमासनम्' से है अर्थात स्थिरतापूर्वक जिसमें सुख की अनुभूति हो (पातञजल योग सूत्र 2/46)। आसन शारीरिक स्थिति भी है और जिस पर बैठा जाये वह भी है। जिस पर बैठा जाये से तात्पर्य बिछावन से है।

श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णन मिलता है –

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युचित्तं नतिनीचं चैलाजिनम्योन्तरम्।।

शुद्ध भूमि पर (जिस पर क्रमशः) कुश, मृगछाल और वस्त्र बिछे हों। जो न अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा हो।

चैलाजिवनुशेन्तरम्

तदन्तर काठ की या पत्थर की चौकी पर क्रमशः कुश, मृगछाला और पात्र बिछा देना चाहिये क्योंकि काठ या पत्थर का आसन कड़ा होता है। जिस पर मुलायम करने हेतु उपरोक्त वस्तुएँ बिछाकर आरामदायक कर लेना चाहिये।

नात्युचित्तं नतिनीचम्

समतल शुद्ध भूमि पर जो चौकी रखी जाये वह न अधिक नीची हो और न अधिक ऊँची हो। अधिक नीची होने से भूमि के कीड़े–मकोड़े आदि शरीर पर चढ़कर ध्यान में बाधक बन सकते हैं एवं अधिक ऊँचे आसन से गिरने का भय रहता है। वास्तव में कभी–कभी ध्यान के दौरान नींद आ जाती है और इस स्थिति में यदि आसन ऊँचा रहा तो साधक नीचे गिर सकता है। अतः समस्थिति में आसन होना चाहिये।

आत्मनः

योग का साधन करने के लिये किसी अन्य का आसन उपयोग में नही लाना चाहिये। आसन अपना ही उपयोग करना चाहिये।

स्थिर प्रतिष्ठाप्य

जो आसन लगाया जाये वह हिलने–डुलने वाला नहीं होना चाहिये। ऐसा होने पर असुविधा एवं भय दोनों ही साधन के दौरान बने रहते है।

उपनिषदों में योगाभ्यास की भूमि के विषय में वर्णन मिलता है यथा –

समे शुचौ शर्करा बह्निषालुका,
विवर्जिते शब्दजलाश्रयद्भिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षु पीडने,
गुहनिषाताश्रयणे प्रयोजयेत्।।

– श्वेताश्वतर उपनिषद 2/10

योगाभ्यास करने वाले साधक को ऐसी जगह आसन लगाना चाहिये जहाँ की भूमि समतल हो तथा सब प्रकार से शुद्ध हो। जहाँ कंकड़ या बालू आदि न हो, अग्नि तथा धूप की गर्मी न हो। जहाँ किसी प्रकार का शोरगुल न हो। आवश्यक जल प्राप्त होता हो तथा शरीर रक्षा हो सकती हो। ऐसी गुफा आदि वायु रहित स्थान में बैठकर मन को परमात्मा में लगाने का अभ्यास करना चाहिये।

इस प्रकार उपर्युक्त लक्षणों से युक्त 'योग मठ' में अभ्यास करने से सिद्धि निश्चित ही प्राप्त होती है। वर्तमान परिस्थिति में घर पर अभ्यास के साथ ही वर्ष में एक बार कुछ दिनों अथवा सप्ताह के लिये किसी योग मठ अथवा तीर्थ स्थान अवश्य जाना चाहिये।

3.4 ऋतुकाल

हठाभ्यास हेतु अथवा किसी भी प्रकार की योग साधना के लिये काल एवं ऋतु का बहुत महत्व है। किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के लिये एक उपयुक्त सही समय होता है। उसी प्रकार योग साधना को प्रारम्भ करने के लिये भी ऋतु एवं समय का ज्ञान होना आवश्यक है। कहा भी गया है –

काली हि नाम भगवान् स्वयंभूरनादि मध्यनिहाने।।

अर्थात् काल (समय) ही स्वयंभू, अनादि, मध्यरहित एवं अनन्त है। महर्षि घेरण्ड ने प्रथम स्थान और काल के चुनाव पर ही बल दिया है। सामान्य रूप से योग हेतु जो स्थान और समय के नियम बताये हैं, वे निम्नवत् हैं –

1. योगाभ्यास का सर्वोत्तम समय सूर्योदय से पूर्व 1 से 1)) घण्टे तक का है। एवं ध्यान का अभ्यास तो ब्रह्म मुहूर्त में ही लाभकारी बताया गया है।

2. सम वातावरण होना चाहिये, अर्थात् अधिक ठण्ड एवं गर्मी युक्त वाला वातावरण नहीं होना चाहिये। हठाभ्यास में ऐसे बहुत से अभ्यास है जो अधिक ठण्ड में नहीं किये जा सकते, जैसे कुंजल, शंख प्रच्छालन, आदि।
3. खुले स्थान में अधिक हवादार, तेज हवा, वर्षा ऋतु आदि में अभ्यास प्रारम्भ नहीं करना चाहिये।
4. बन्द कमरे में, खिड़की–दरवाजे बन्द कर के भी अभ्यास नहीं किये जाना चाहिये।
5. भोजन के तुरन्त पूर्व एवं तुरन्त बाद में भी हठाभ्यास वर्जित है। इससे न अभ्यास फलीभूत होगा और न ही खाना पचेगा।

3.4.1 योगाभ्यास के लिए उचित समय

प्रारम्भिक अभ्यासियों को विशेष रूप से काल निर्णय एवं ऋतु निर्णय कर के ही योगाभ्यास प्रारम्भ करना चाहिये, नहीं तो उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। ऋतु के सम्बन्ध में महर्षि घेरण्ड कहते हैं –

बसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।

तदा योगी भवेत्सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद्ध्रुवम्।।

– घेरण्ड संहिता 5/9

अर्थात् बसन्त और शरद ऋतु में अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिये। इन ऋतुओं में अभ्यास प्रारम्भ करने से सिद्धि मिलती है और रोगों से निवृत्ति होती है।

बसन्त ऋतु अर्थात "बसन्त चैत्र बैशाखौ" चैत्र और बैशाख में बसन्त ऋतु आती है। "शरदश्विनकार्तिकौ" शरद ऋतु आश्विन और कार्तिक में आती है। इन महिनों में ऋतुऐं शरीर के अनुकूल रहती हैं। न अधिक ठण्ड ही होती है, और न अधिक गर्मी। अधिक वायु वेग एवं वर्षा का वेग भी नहीं होता है। शरीर के लिये यह आवश्यक है कि वह जो भी अभ्यास करें और उसके द्वारा शरीर और मन पर जो प्रतिक्रिया हुई है, जो परिवर्तन हुआ है, उसे हम सह सकें। सामन्जस्य विठाना अत्यन्त आवश्यक है। यदि सामन्जस्य नहीं बैठ पाता है तो शरीर और मन दोनों को तकलीफ एवं पीड़ा सहनी पड़ती है। सही मौसम में यदि योगाभ्यास प्रारम्भ किया जाता है तो योगाभ्यास के द्वारा शरीर में होने वाले परिवर्तनों को साधक सहन कर लेता है एवं साथ ही साथ सहनशीलता एवं सामर्थ्य में वृद्धि होती है एवं अगले कठिन अभ्यासों के लिये मन और शरीर दोनों ही तैयार हो जाते हैं।

3.4.2 योगाभ्यास के लिये अनुचित समय

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा।

योगारम्भं न कुर्वीत कृते योगे हि रोगदः।।

– घेरण्ड संहिता 5/8

अर्थात् हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में योगाभ्यास आरम्भ नहीं करना चाहिये। यह अभ्यास रोग प्रदायक होता है।

सामान्य रूप से देखा जाय तो ये मौसम स्वास्थ्य की दृष्टि से कष्ट प्रदायक होते ही हैं। और यदि इन ऋतुओं में योगाभ्यास किया जाये तो शारीरिक समस्यायें जैसे सर्दी, अत्यधिक पसीना आना, फोड़े–फुन्सी, बुखार आदि की समस्यायें उत्पन्न हो सकती है। अतः ऋतु का ख्याल शुरूआती अभ्यासियों को अवश्य ही रखनी चाहिये।

पुराने अभ्यासियों हेतु

'तदायोगोभवतेत्सिद्धो विनायाऽऽसने कथ्यते' – अर्थात अभ्यासी साधकों के लिये अभ्यास में कोई ऋतु बाधक नहीं हो सकती है। पुराने अभ्यासियों का शरीर व मन पूर्ण रूप से परिवर्तनों के लिये तत्पर रहता है एवं अभ्यास द्वारा शरीर व मन पूर्णरूपेण सिद्ध हो चुका होता है। अतः पुराने अभ्यासियों के लिये ऋतु बाधा नहीं है।

मुख्य रूप से योगाभ्यासों में भी प्राणायाम के अभ्यास शरीर पर अधिक एवं जल्दी प्रभाव डालते हैं। प्राणायाम के प्रभाव गर्म, ठण्डे एवं समकारी होते हैं। ठण्ड के मौसम में गर्म प्रभाव वाले एवं गर्मी में ठण्डे प्रभाव वाले प्राणायाम करने से शरीर व मन सन्तुलित अवस्था में रहते हैं। समकारी प्रभाव वाले अभ्यास किसी भी ऋतु में किये जा सकते हैं।

3.5 आहार–विहार

स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से आहार–विहार का शरीर पर गहरा एवं दूरगामी प्रभाव पड़ता है। यौगिक परम्परा में आहार–विहार का अत्यधिक महत्व है। प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो अच्छा स्वास्थ्य एवं मन चाहता है, उसे इन दोनो तथ्यों का ख्याल रखना अत्यन्त आवश्यक है। योग साधक एवं सामान्य व्यक्ति दोनों के लिये उचित आहार जो पौष्टिक, सुपाच्य तथा सात्विक हो की आवश्यकता होती है। चयापचय को सुदृढ़ एवं नियमित रखने के लिये आहार–विहार का सन्तुलित होना नितान्त आवश्यक है।

योग ग्रन्थों एवं आयुर्वेद में मिताहार का वर्णन मिलता है। मिताहार अर्थात् अल्पाहार, मात्रा में कम एवं पचने में आसान भोजन।

ज्योत्सना टीका में वर्णित है –

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत्।
वायोः सन्चरणार्थाय चतुर्थभवशेषयेत्।।

अर्थात दो चौथाई ठोस आहार, एक चौथाई द्रव पदार्थ तथा एक चौथाई वायु पदार्थ से भरना चाहिये।

3.5.1 मिताहार का महत्व

आहार शरीर का पोषण करता है एवं यौगिक ग्रन्थों के अनुसार यह मन का भी पोषणकर्ता है। स्थूल अन्न के स्थूल भाग से शरीर का पोषण होता है एवं सूक्ष्म भाग से मन का पोषण होता है। योग साधना शरीर के द्वारा ही की जाती है। योग साधना का आधार शरीर ही है। अतः शरीर की रक्षा हमारा कर्त्तव्य है।

आचार्य चरक ने चरक सूत्र में कहा है –

आहारसम्भवं वस्तु रोगाश्चहारसम्भवाः।

– चरक सूत्र 28/45

अर्थात शरीर आहार से ही उत्पन्न हुआ है और सभी रोग भी आहार के दोष से ही होते हैं। किसी व्यक्ति के लिये जो आहार लाभप्रद होता है वह पथ्याहार कहलाता है। और जो आहार लाभप्रद नहीं होता वह अपथ्याहार कहलाता है। पथ्य अर्थात् हितकर एवं अपथ्य अर्थात अहितकर। हितकर भोजन मन के लिये प्रसन्नता का कारण बनता है, शरीर को पुष्टि प्रदान करता है।

निम्नलिखित संगठन किसी भोजन को पथ्यकारी बनाते हैं –

1. मात्रा
2. काल
3. क्रिया
4. भूमि
5. देह
6. देश

मात्रा अर्थात् कितनी मात्रा हो कि भोजन पथ्यकारी हो, समय दूसरी महत्वपूर्ण शर्त है प्रातः, सायं, अपराह्ण। क्रिया से तात्पर्य भोजन बनाते समय रसोइये के भाव हैं, भूमि अर्थात् किस स्थान, मौसम में भोजन बनाया जा रहा है। देह से तात्पर्य उस व्यक्ति के शरीर से है जो भोजन ग्रहण करने वाला है, देश से तात्पर्य व्यक्ति और समाज दोनों से है, व्याष्टि और समष्टि दोनों का समावेश है।

उपरोक्त संगठन यदि सही हैं, तो आहार शरीर व मन को स्वास्थ्य एवं आनन्द प्रदान करने वाला होता है। आहार हमारे शरीर के लिये उतना ही आवश्यक है जितना गाड़ी के लिये ईंधन। ईंधन में खराबी, मिलावट होने की स्थिति में गाड़ी में खराबी आना स्वाभाविक है, ठीक उसी प्रकार भोजन अथवा आहार के विषय में भी सत्य है।

आयुर्वेद के अनुसार, ''शरीर का हम पोषण करते हैं तो शरीर हमारा पोषण करता है।'' अन्यत्र भी कहा गया है – ''जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन''।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी वर्णन मिलता है कि ''यह योग न तो बहुत अधिक खाने वाले को और न बिल्कुल न खाने वाले को, न बहुत शयन करने वाले को और न सदा जागने वाले स्वभाव के व्यक्ति को सिद्ध होता है।''

– गीता 6/16

आहार की शुद्धि से ही चित्त की शुद्धि होती है।

यौगिक साहित्यों में मिताहार का वर्णन

आचार्य शंकर के अनुसार, ''जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाये, वह आहार है।''
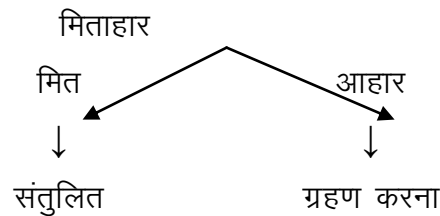
अर्थात संतुलित मात्रा में जो ग्रहण किया जाये, वह मिताहार है। यह न अधिक मात्रा में लिया जाये और न कम ही लिया जाये। हठाभ्यास में शरीर को संतुलित रखने के लिये आहार पर विशष ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

मिताहार के विषय में अर्जुन को उपदेश करते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते हैं –

युक्ताहारविहारस्य

युक्तश्रेष्टस्यकर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य

योगो भवेत् दुःखहा।।

(श्रीमद्भगवद्गीता 6/17)

अर्थात् दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार–विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्ठा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का सिद्ध होता है।

युक्त आहार–विहार का तात्पर्य है कि – ''खाने–पीने की वस्तुएें ऐसी होनी चाहिये जो अपने वर्ण और आश्रम धर्म के अनुसार सत्य और न्याय के द्वारा प्राप्त हो। रजोगुण

और तमो गुण को बढ़ाने वाला न हो तथा योगसाधन में सहायता देने वाला हो। उसी प्रकार घूमना, टहलना भी उतना ही होना चाहिये जितना अपने लिये आवश्यक व हितकारी हो।''

3.5.2 मिताहार का वर्गीकरण

पूर्व वर्णित छः भावों को समाहित करते हुए मिताहार को तीन भागों में बांटा जा सकता है–

1. मात्रा के दृष्टिकोण से
2. गुणवत्ता के दृष्टिकोण से
3. मनःस्थिति के दृष्टिकोण से

1. मात्रा के दृष्टिकोण से

मिताहार का तात्पर्य कम और सुपाच्य भोजन से है। घेरण्ड संहिता में कहा भी गया है –

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धमधुरार्धविवर्जितम्।
भुज्यते सुरसम्प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः।।21।।
अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम्।
उदरस्य तृतीयांशं संरक्षेद्वायुचारण।।22।।

अर्थात् शुद्ध, सुमधुर, स्निग्ध भोजन को सन्तोषपूर्वक आधा पेट भरना और आधा खाली रखना चाहिये। विद्वानों ने इसे मिताहार कहा है। पेट के आधे भाग को अन्न से, तीसरे भाग को जल से भरना और चौथे भाग को वायु संचलन के लिये खाली रखना चाहिये। 'अष्टांग योग' में चरणदास जी मिताहार को परिभाषित करते हुए कहते हैं – ''प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति ने तृप्तता के भाव को दिया है। प्रत्येक व्यक्ति का तृप्तता का पैमाना अलग–अलग है। किसी को कम एवं किसी को अधिक भूख लगती है, अथवा कम एवं अधिक खाने से तृप्तता का एहसास होता है। मिताहार के अभ्यास द्वारा इस गुण को विकसित किया जा सकता है।''

कहीं–कहीं प्रत्येक आश्रम के अनुसार भोजन के ग्रास अथाव कौर की व्यवस्था की गई है। दर्शनोपनिषद में वर्णन मिलता है कि ''भाग्य में रखे गये भोजन के एक चौथाई भाग को छोड़कर भोजन ग्रहण करना चाहिये।''

हठप्रदीपिका में कहा गया है, स्निग्ध तथा मधुर भोजन भगवान को अर्पित कर अपने पूर्ण आहार का चतुर्थांश कम खाया जाये, उसे मिताहार कहते हैं।

भोजन की मात्रा वास्तव में व्यक्ति के पाचन शक्ति पर निर्भर करती है। अतः अलग–अलग व्यक्तियों के हिसाब से भोजन की मात्रा भी अलग–अलग होती है।

2. गुणवत्ता के दृष्टिकोण से

गुणवत्ता के दृष्टिकोण से भोजनअथवा आहार दो वर्गों में बांटा गया है –

A. पथ्याहार – जो पचाया जा सके।
B. अपथ्याहार – जो न पचाया जा सके।

A. पथ्याहार

पथ्यं पथोऽपनेत पद्यच्चोक्तं मनसः प्रियम्

यच्चाप्रियमपथ्यं च नियतं तन्न लक्षयेत्।।

– चरक सूत्र 25/44

अर्थात पथ्य वह है जो सर्वशरीर के हितकर हो तथा मन के लिये प्रसन्नता व आनन्दकर हो और साथ–साथ पचभौतिक संगठन की दृष्ठि से भी सही हो।

महर्षि चरक ने (चि0वि01) में निम्न नियमों का निर्देश दिया है –

1. आहार को ऊष्ण/गर्म अवस्था में ग्रहण करें।
2. स्निग्ध आहार का ही सेवन करें।
3. आहार को उचित मात्रा में ही सेवन करें।
4. पूर्व भोजन के पचने के बाद ही पुनः भोजन करें।
5. विरूद्धाहार न करें।
6. उपयुक्त स्थान तथा उपयुक्त यन्त्र से ही आहार लें।
7. बहुत तेजी से भोजन न करें।
8. अत्यधिक सुस्ती से भोजन न करें।
9. शान्तिपूर्वक, एकाग्रचित्त एवं बिना वार्तालाप के भोजन करें।
10. स्वमूल्यांकन के साथ ही भोजन करें।

घेरण्ड संहिता में पथ्यकारी भोजन के सम्बन्ध में महर्षि घेरण्ड कहते हैं – साधक को चावल, जौं का सत्तू, गेहूँ का आटा, मूँग, उड़द, चना आदि का भूसी रहित, स्वच्छ कर के भोजन ग्रहण करना चाहिये। परवल, कटहल, ओल मानकन्द, कंकोल, करेला, कुन्दस, अरबी, ककड़ी, केला, गुलर और चौलाई आदि का शाक भक्षण करें। कच्चे या पक्के केले के गुच्छे का दण्ड और उरूका मूल, बैंगन, ऋद्धि, कच्चा शाक, ऋतु का शाक, परवल के

पत्ते, बथुआ और हुरहुर का शाक खा सकते हैं। उस स्वच्छ, सुमधुर, स्निग्ध और सुरस द्रव्य से सन्तोषपूर्वक आधा पेट भरना और आधा खाली रखना चाहिये। (घेरण्ड संहिता 5/17–20)

हठप्रदीपिका में पथ्य के विषय में चर्चा मिलती है कि योगाभ्यासी को सुमधुर, स्निग्ध, गाय के दूध से बनी वस्तु, धातु को पुष्ट करने वाला, मनोनुकूल तथा विहित भोजन करना चाहिये। उत्तम योग साधकों के लिये महर्षि ने चावल, जौं, दूध, घी, मक्खन, मिश्री, शहद, सूंठ, परवल जैसे फल, पाँच प्रकार के साग (जीवती, चौलाई, बथुआ, मेघनाथ पुनर्नवा) मूँग, हरा चना, आदि तथा वर्षा का जल (वर्तमान में यह जल प्रदूषण के कारण उपयोगी नहीं है।)

B. अपथ्याहार

जो आहार सर्व शरीर के लिये हितकर न हो, मन को आनन्द और प्रसन्नता देने में असमर्थ हो और साथ ही साथ पंच भौतिक संगठन की दृष्टि से भी ठीक न हो, वह आहार अपथ्यकारी कहलाता है।

विरूद्धाहार के सम्बन्ध में हमारे शास्त्रों में वर्णित है कि निम्न तीन पक्षों का ध्यान रखते हुए आहार को विषमाहार मान लेना चाहिये –

I- आहार के विभिन्न घटकों अर्थात विभिन्न प्रकार के आहार द्रव्य जो साथ लिये जा रहे हों, उनका आपस में जैविक या रासायनिक विरोध।

II- लिये जा रहे आहार का ग्रहण करने वाले व्यक्ति की प्रकृति, स्वभाव तथा सात्म्यासात्म्यता अर्थात सात्म्य और असात्म्य मात्रा से विरोध,

III- लिये जा रहे आहार का तात्कालिक देश–काल–जलवायु आदि से विरोध।

आहार के विभिन्न घटकों में षड्रस, त्रिदोष तथा पंच महाभूत आते हैं।

षड़ रस
1. मधुर
2. अम्ल
3. लवण
4. कटु
5. तिक्त
6. कषाय

त्रिदोष –
1. वात
2. पित्त

3. कफ

पंच महाभूत – 1. आकाश
2. वायु
3. अग्नि
4. जल
5. पृथ्वी

षड्रस, त्रिदोष एवं पंचमहाभूत आपस में सम्बन्ध रखते हैं। वास्तव में षड्रसों की पंचभौतिक प्रकृत शरीर पर अत्यधिक मात्रा में प्रभाव डालते हैं। इसी प्रभाव को हम निम्न तालिका द्वारा समझ सकते हैं –

षड्रस	चभौतिक प्रकृति	शारीरिक प्रभाव		
		कफ	पित्त	वात
1. मधुर	जल + पृथ्वी	↑↑	↓↓	↓
2. अम्ल	पृथ्वी + अग्नि	↑↑	↑↑	↓
3. लवण	अग्नि + जल	↑↑	↑↑	↓
4. कटु	वायु + अग्नि	↓	↓	↑↑
5. तिक्त	आकाश + वायु	↓	↑↑	↑
6. कषाय	वायु + पृथ्वी	↓↓	↓	↑

उपरोक्त तालिका के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि मधुर, अम्ल और लवण तीनों ही कफ, पित्त की वृद्धि के लिये उत्तरदायी हैं, कहीं ये वात के शमन के लिये भी उत्तरदायी हैं। कटु जहाँ वात प्रधान है, वहीं कफ, पित्त शामक भी है। तिक्त पित्त वर्धक है व कषाय कफ शामक है।

अपथ्य के विषय में हठयौगिक ग्रन्थों में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि कडुवा, अम्ल, लवण और तीखा ये चार रस वाली वस्तुऐं भुने हुए पदार्थ, दही, तक्र (मट्ठा), शाक, उत्कट, मद्य, ताल, और कटहल का त्याग करें। कुल्थी, मसूर, प्याज, कुम्हड़ा, शाक–दंड, गोया, कैथ, कंकोल, ढाक, कंदवा, नींबू, बड़हड़, लहसुन, कमरख, पियार, हींग, सेम, बंडा आदि

का भक्षण योगारम्भ में वर्जित है। मार्ग गमन, स्त्री गमन तथा अग्निसेवा (ताप) भी योगी के लिये उचित नहीं। मक्खन, धृत, दूध, गुड़, शक्कर, दाल, आंवला, अम्ल रस आदि से बचें।

(घेरण्ड संहिता 5/23–26)

हठप्रदीपिका 1/59 में अपथ्य में करेला आदि कटु और इमली आदि खट्टा और मिर्च जैसी तिक्त तीक्ष्ण, लवण और गुड आदि ऊष्ण और हरित साग सब्जियों का साग, तिल का तेल, मदिरा, मांस, दही, मट्ठा, हींग, लहसुन आदि वस्तुओं को रखा है।

3. मनःस्थिति के दृष्टिकोण से

एक विशिष्ट मनःस्थिति के साथ ही भोजन करना चाहिये। भोजन का सीधे प्रभाव मन एवं अन्तःकरण पर भी पड़ता है। कहा भी गया है कि –

''जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन'', अर्थात मन के स्वस्थ रहने या न रहने के पीछे अन्न का बहुत बड़ा योगदान है। और मन स्वस्थ, स्वस्थ शरीर का कारण है। कहा भी गया है कि मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही अन्न उसके देवता भी खाते हैं।

आयुर्वेद में वर्णन मिलता है ''भोजन स्वयं को सन्तुष्ट करने के लिये नहीं करना चाहिये, वरन् शरीर के अन्दर विद्यमान भगवान को प्रसन्न करने के लिये करना चाहिये।'' आहार से ही सत्, रज और तामसिक गुण विशेष कमी अथवा वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

सात्विक भोजन सात्विक मन को उद्दीप्त करता है और तामसिक या राजसिक भोजन उसके अनुसार ही मन को कार्यों के लिये प्रेरित करेगा। अतः किसी भी योग के अभ्यास में अथवा सामान्य दिनचर्या में आहार–विहार का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

अभ्यास प्रश्न

सही/गलत

1. प्राकृतिक शुद्ध स्थान से तात्पर्य गाय के गोबर, मूत्र आदि से लीपकर शुद्ध किया हुआ स्थान है।
2. भोजन के तुरन्त पूर्व एवं तुरन्त बाद में हठाभ्यास हितकर है।
3. ग्रीष्म और शिशिर ऋतु में योगाभ्यास प्रारम्भ करना चाहिये।
4. कटु रस अग्नि व वायु महाभूत से मिलकर बना है।
5. तिक्त रस पित्त वर्धक होता है।
6. कषाय रस कफ शामक होता है।

रिक्त स्थानों की पूर्ति

1. वह स्थान जहाँ साधक प्रारम्भ करता है, वह .... कहलाता है।
2. योगाभ्यास का सर्वोत्तम समय .... से पूर्व 1 से 1,1/2 घण्टे तक का है।
3. अल्पाहार को .... भी कहते हैं।
4. आहार की शुद्धि से ही .... की शुद्धि होती है।
5. गुणवत्ता के दृष्टिकोण से भोजन .... और .... दो वर्गों में बांटा गया है।
6. मधुर रस .... और .... प्रकृति से मिलकर बना है।

3.6 सारांश

योग मार्ग में अग्रसर होने के साथ–साथ एक सामान्य व्यक्ति यदि जीवन में आगे बढ़ना चाहता है तो उसे अपने आसपास के वातावरण, रहन–सहन एवं आहार का विशेष ध्यान रखना चाहिये। भोजन केवल शरीर ही ग्रहण नहीं करता वरन् हमारी ज्ञानेन्द्रियां भी आहार के सूक्ष्म अंश का ग्रहण करती है। अतः हर व्यक्ति को जो योग मार्ग में आगे बढ़ना चाहता है, अथवा स्वस्थ व समृद्धशाली जीवन यापन करना चाहता है, स्थान, काल व आहार–विहार का ज्ञान अति आवश्यक है।

3.7 शब्दावली

हठप्रदीपिका–स्वात्माराम जी कृत हठ योग पर लिखा गया एक अनुपम ग्रन्थ

घेरण्ड संहिता–हठयोग का एक अनुपम ग्रन्थ

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

सही/गलत

1. गलत
2. गलत
3. गलत

4. सही

5. सही

6. सही

रिक्त स्थानों की पूर्ति

1.मठ 2.सूर्योदय 3.मिताहार 4.चित्त 5.पथ्याहार, अपथ्याहार 6.जल, पृथ्वी

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता – गीता प्रेस, गोरखपुर
2. पातन्जल योग सूत्र – गीता प्रेस, गोरखपुर
3. घेरण्ड संहिता – स्वामी निरंजनानेद सरस्वती विहार, योग भारती, मुंगेर, बिहार
4. हठप्रदीपिका – स्वरकावन कृत, कैवल्यधाम, लोनावला
5. स्वस्थवृत्त विज्ञान – प्रो0 राम हर्ष सिंह, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
6. योग एवं यौगिक चिकित्सा – प्रो0 राम हर्ष सिंह, चौखम्बा प्रकाशन, दिल्ली
7. श्वेताश्वतर उपनिषद
8. चरक सूत्र

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. एक योग मठ प्रारम्भिक योगभ्यासी के लिये कितना आवश्यक है यह समझाइये।
2. योगाभ्यास के लिये उचित समय की चर्चा विभिन्न ग्रन्थों में किस प्रकार दी गई है, व्याख्या कीजिये।
4. मिताहार से क्या समझते हैं।

इकाई– 4 हठप्रदीपिका के अनुसार विविध आसनों की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना

वैदिक काल से ही सदैव मनुष्य अपने शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयास करता था और उसी प्रयास के अन्तगर्त प्राचीन ऋषि मुनियों, मनिषियों ने अपनी साधना के दौरान अपने शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए और मन को स्थिर करने के लिए कुछ विशेष स्थितियों का अविष्कार किया, जिसे हम आसनों के रूप में जानते हैं। आसन मूलतः ऋषि मुनियों के ध्यान को आकृष्ट करने का प्रमुख कारण इसलिए बने क्योंकि उन्होनें अपनी साधना के दौरान यह महसूस किया कि कोई भी पशु पक्षी या वृक्ष किसी भी प्रकार से असवस्थ होने पर किसी भी प्रकार के अप्राकृतिक साधनों का प्रयोग नहीं करते, वह किसी प्रकार की शल्यचिकित्सा पर विश्वास नहीं करते और ना ही स्वस्थ रहने के लिए किसी भी प्रकार की औषधि का उपयोग करते हैं। इसीलिए हठयोग में आसनों को शरीर का संवर्द्धन करने वाले और शक्तिशाली बनाने वाले अभ्यास के रूप में जाना जाता है।

4.2 उद्देश्य

1. प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप हठयोग प्रदीपिका का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

2. आसन शब्द का अर्थ एवं परिभाषा की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

3. आसनों के उद्देश्य के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

4. हठप्रदीपिका में वर्णित 15 आसनों की विधि का विस्तार से अध्ययन कर सकेंगे।

5. हठप्रदीपिका में वर्णित 15 आसनों के लाभ एवं सावधानियों का अध्ययन कर सकेंगे।

4.3 हठयोग प्रदीपिका का सामन्य परिचय–

हठयोग प्रदीपिका हठयोग का एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना स्वामी स्वात्माराम जी ने की थी। इस ग्रंथ में चार उपदेश दिए गए हैं।

प्रथम उपदेश में सिद्ध हठयोगियों की लम्बी परम्परा का वर्णन किया गया है साथ ही हठयोग के उच्च अभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान तथा अभ्यास में साधक–बाधक तत्वों का वर्णन किया गया हैं। इसके बाद हठयोग के प्रथम अंग के रूप में 15 आसनों (स्वस्तिकासन, गोमुखासन, वीरासन, कूर्मासन, कुक्कुटासन, उत्तानकूर्मासन, धनुरासन, मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, मयूरासन, शवासन, सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन, भद्रासन) का वर्णन किया गया है। इस उपदेश के अंत में स्वामी स्वात्माराम जी ने अभ्यासीयों के लिए आहार का विस्तृत वर्णन किया है।

द्वितीय उपदेश में स्वामी स्वात्माराम जी ने 8 प्राणायामों (सूर्यभेदी, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भ्रस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी) का वर्णन किया है। तथा साथ ही साथ छह शोधन क्रियाओं (धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति) का भी उल्लेख किया है।

तृतीय उपदेश में कुण्डली जागरण का महत्व बताते हुए स्वामी स्वात्माराम जी ने 10 मुद्राओं (महामुद्रा, महाबन्ध मुद्रा, महावेध मुद्रा, खेचरी मुद्रा, उड्डीयान, मूल बन्ध, जालन्धर, विपरीतकरणी, वज्रोली मुद्रा, शक्तिचालन) का भी विस्तृत वर्णन किया है।

अंतिम चतुर्थ उपदेश में समाधि का वर्णन कुण्डली जागरण तथा उसके परिणाम, लय की परिभाषा तथा अंत में नादानुसंधान का वर्णन किया गया है। जिसमें नादानुसंधान के चारों स्तरों आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था, निष्पत्त्यवस्था में विभक्त किया गया है।

4.4 आसन का अर्थ एवं परिभाषा

आसन शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है जैसे शरीर के द्वारा बनाये गये विशेष स्थिति, बैठने का विशेष तरीका, हाथी के शरीर का अगला भाग, घोड़े का कन्धा आदि परन्तु हठयोग में आसन शब्द का अर्थ मन को स्थिर करने हेतु बैठने की विशेष स्थिति माना जाता है। महर्षि पतंजलि आसन की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि –

''स्थिरसुखमासनम्'' योगसूत्र 2/46

अर्थात् जिस स्थिति में व्यक्ति स्थिरता एवं सुखपूर्वक लम्बे समय तक बैठे उसे आसन कहते हैं।

4.5 आसनों का उद्देश्य

आसनों का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति का शारीरिक तथा मानसिक विकास करना हैं। आसनों का नियमित अभ्यास शरीर एवं मन को सन्तुलित रखता है, शरीर को लचीला बनाता है, मांसपेशियों में खिंचाव उत्पन्न करता है, आन्तरिक अंगों की मालिश करता है, तथा अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को सक्रिय बनाता है। इसके अभ्यास से शरीर में स्थित सभी तन्त्रों पर सकरात्मक प्रभाव पड़ता है, जिससे सभी तन्त्र सुचारू रूप से कार्य करते रहते हैं। आसनों के अभ्यास से शरीर निरोगी रहता है साथ ही साथ आसनों का अभ्यास शरीर को दृढ़ता भी प्रदान करता है। हठयोग के ग्रन्थों में कहा भी गया है कि **''आसनेन रूजो हन्तिः''** , **''आसनेन भवेद् दृढ़म्''** ।आसन करने से शरीर में स्थित विषैले पदार्थ जल्दी ही बाहर निकल जाते हैं। आध्यात्मिक पक्ष से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि आसनों का अभ्यास शरीर में स्थित कुण्डलिनी शक्ति जों कि मूलाधार चक्र में सोयी हुई हैं उसे भी जाग्रत करने में सहायक होता है। शरीर में स्थित सुषुम्ना नाड़ी (प्रमुख नाड़ी) को क्रियाशील बनाता हैं, जिससे साधक की आध्यात्मिक उन्नति होती हैं।

4.6 हठयोग प्रदीपिका में वर्णित आसन

हठयोग प्रदीपिका के प्रथम उपदेश में ही **15 आसनों** का विस्तृत वर्णन मिलता है। साधक–बाधक तत्वों के वर्णन के बाद आसनों का वर्णन करते हुए स्वामी जी कहते है कि–

हठस्य प्रथामड्.गत्वादासनं पूर्वमुच्यते।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाड्त्रगलाघवम्।।

ह0प्र0 1/17

अर्थात् आसन हठयोग का प्रथम अंग है, इसलिए सबसे पहले आसनों का ही वर्णन करते है। आसनों का अभ्यास निरंतर करते रहने से शरीर में स्थिरता आती है। सम्पूर्ण शरीर को आरोग्यता प्राप्त होती है तथा शरीर हल्का हो जाता है क्योंकि शरीर में स्थित विषैले पदार्थ शरीर से बाहर निकल जाते हैं।

सर्वप्रथम स्वस्तिकासन का वर्णन करते हुए कहा गया है कि–

4.6.1 स्वस्तिकासन–

विधि–

जानुर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते।।

ह0प्र0 1/19

अर्थात् सर्वप्रथम दोनों पैरों को सीधे सामने, फैलाकर दण्डासन की स्थिति में आ जाएँ। धीरे से बाएं पैर को मोड़कर उसके तलवों को दांए पैर के घुटने और जंघा के मध्य स्थित करे तथा ठीक उसी तरह दांए पैर को मोड़कर उसके तलवों को भी बाएं पैर के घुटने और जंघा के मध्य में स्थित करें। कमर, गर्दन को सीधा रखें। यह स्वस्तिकासन है।

लाभ– यह एक ध्यानात्मक आसन है, इसके निरंतर अभ्यास से अभ्यासी को शारीरिक तथा मानसिक स्थिरता प्राप्त होती है। मन शान्त होता हैं । घुटने, जंघा पुष्ट होते हैं। मन की चंचलता समाप्त होती है।

सावधानी–स्वस्तिकासन को घुटने में सूजन, दर्द अदि रोगों से पीड़ित रोगी न करें। साइटिका से ग्रस्त रोगी भी इसका अभ्यास न करें।

4.6.2. गोमुखासन–

इस आसन को करते समय शरीर की स्थिति गाय के मुख के समान प्रतीत होती है। इसलिए इसे गोमुखासन कहते हैं।

विधि–

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति।।

ह0प्र0 1/20

अर्थात् सर्वप्रथम दण्डासन में बैठे जाए। दांए पैर को मोड़कर कटि (कमर) के बांए ओर रखें तथा बाएं पैर को मोड़कर कटि (कमर) के दांई ओर रखें। दोनों घुटनों को एक के ऊपर एक रखने का प्रयास करें। यह स्थिति गाय के मुख के समान बनती हैं इसलिए इसका नाम गोमुखासन है।

लाभ– इस आसन के नियमित अभ्यास से अण्डकोष की वृद्धि की समस्या दूर हो जाती है। पैरों, हाथों, तथा नितम्बों में जमा अतिरिक्त चर्बी कम होती है। छाती का विस्तार होता है। अस्थमा आदि श्वास सम्बन्धी रोगों के साथ–साथ प्रजनन तंत्र सम्बंधी रोगों का भी निदान होता है। इसका अभ्यास कन्धों की जकड़न को भी दूर करता है।

सावधानी– जिन व्यक्तियों को स्लिप डिस्क, साइटिका, घुटनों का दर्द हो वो इसका अभ्यास न करें।

4.6.3. वीरासन–

इस आसन का नियमित अभ्यास करने से अभ्यासी के अंदर धैर्य की वृद्धि होती है। इसलिए इस आसन का नाम वीरासन है।

विधि–

एकं पादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुणि स्थिरम्।
इतरस्मिंस्तथा चोरूं वीरासनमितीरितम्।।

ह0प्र0 1/21

सर्वप्रथम दण्डासन में बैठ जाएं तथा एक पैर को मोड़कर दूसरी पाँव की जँघा के ऊपर रखें तथा दूसरे पैर को मोड़कर पहली जंघा के नीचे रखें। इसे वीरासन कहते हैं।

लाभ– इस आसन के अभ्यास से पैर तथा घुटने पुष्ट एवं लचीले बनते हैं। मन धैर्यवान तथा दृढ़ बनता है।

सावधानी– जिन व्यक्तियों को स्लिप डिस्क, साइटिका घुटनों कूल्हें का दर्द हो। वो इसका अभ्यास न करें।

4.6.4 कूर्मासन–

कूर्म का अर्थ है कछुआ, जिस आसन में शरीर की स्थिति कछुए के सामान सी प्रतीत होती है उसे कूर्मासन कहते हैं।

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः।।

ह0प्र0 1/22

विधि– सर्वप्रथम दण्डासन में बैठे। धीरे से बाएँ पैर को मोड़कर बाएं नितम्ब के नीचे रखे तथा दाएँ पैर को भी मोड़कर दाएं नितम्ब के नीचे रखें। दोनों पैरों की एड़िया नितम्बों (गुदा) पर दबाव बनाएं। इसे कूर्मासन कहते है।

लाभ– इस आसन से घुटने, तथा एड़ी के जोड़ मजबूत व लचीले बनते हैं। जंघाएं पुष्ट होती है। शरीर में उष्णता तथा इन्द्रिय निग्रह की स्थिति प्राप्त होती है।

सावधानी–जिन व्यक्तियों को घुटने तथा एड़ी के जोड़ो में दर्द हो अथवा साइटिका दर्द हो वो इसका अभ्यास न करें।

4.6.5. कुक्कुटासन–

इस आसन में शरीर की स्थिति मुर्गे के समान **प्रतीत** होती है इसलिए इसे कुक्कुटासन कहते है।

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम्।।

ह0प्र0 1/23

विधि– सर्वप्रथम पद्मासन लगाएं । तत्पश्चात् धीरे से जंघाओं तथा पिण्डलियों के बीच अपने दोनों हाथों को डाले तथा दोनों हाथ की हथेलियों को भूमि पर अच्छी तरह से जमा लें (टिका दें)। धीरे से श्वास ले तथा शरीर को ऊपर उठा लें।

लाभ– इस आसन के नियमित अभ्यास से हाथ, पैर तथा कन्धे की मांसपेशियां पुष्ट होती हैं। निचले उदर के अंग पुष्ट होते हैं।

सावधानी– जोड़ो के दर्द से ग्रस्त व्यक्ति इसका अभ्यास न करें। जिन व्यक्तियों के हाथ तथा कन्धे कमजोर हो वे इसका अभ्यास सम्भल कर करें।

4.6.6. उत्तानकूर्मासन–

कूर्मासन को उठाना ही उत्तानकूर्मासन की स्थिति है। उत्तान शब्द का अर्थ उठाने से हैं।

विधि–

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्य कन्धराम्।
शेते कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम्।।

ह0प्र0 1/24

सर्वप्रथम कुक्कुटासन लगा ले तत्पश्चात् दोनों हाथों से गर्दन को अच्छी तरह/भली प्रकार से पकड़ ले तथा कछुएं के समान भूमि पर पीठ के बल लेट जाने को ही उत्तानकूर्मासन कहते हैं।

लाभ– इस आसन के अभ्यास से हाथ, पैर पुष्ट होते हैं। जोड़ लचीले बनते हैं। मेरूदण्ड की हल्की मालिश होती है।

सावधानी– जिन व्यक्तियों को घुटने, एड़ी के जोड़ो के दर्द हो या रीढ़ की हड्डी में कोई विकार हो, साइटिका हो वो इस आसन का न करें।

4.6.7. धनुरासन–

इस आसन में शरीर की स्थिति धनुष के समान हो जाती है। इसलिए इसे धनुरासन कहते है।

विधि–

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि।
धनुराकर्षणं कुर्यात् धनुरासनमुच्यते।।

ह0प्र0 1/25

सर्वप्रथम पेट के बल भूमि पर लेट जाए। फिर दोनों पैर के अंगूठों को हाथों से पकड़े तथा पैरों को खींचकर कानों तक लेकर आएं। यहीं धनुरासन है।

लाभ– इसके नियमित अभ्यास से हाथ, पैर एंव कन्धों के जोड़ मजबूत तथा लचीले होते हैं। पेट की मासपेशियां बलिष्ठ होती है तथा पेट के आन्तरिक अंगों की मालिश होती है। नाभी टलना तथा मेरूदण्ड के रोग दूर होते हैं। यह आसन छाती का भी विस्तार करता है।

सावधानी– कमर दर्द, साइटिका, स्लिप डिस्क, जोड़ों में दर्द वाले रोगी इसका अभ्यास न करें। इस आसन का अभ्यास किसी योग्य गुरु के निर्देशन में ही करें।

4.6.8. मत्सेन्द्रासन–

इस आसन का नाम मत्सेन्द्रनाथ नामक प्रसिद्ध हठयोगी के नाम पर रखा गया है। इसलिए इस आसन को मत्सेन्द्रासन कहते हैं।

विधि–

वामोरुमूलार्पित दक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामदाम्।

प्रगृह्य तिष्ठेत् परिवर्तितताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात्।।

ह0प्र0 1/26

सर्वप्रथम दाएं पैर को मोड़कर बायीं जंघा के मूल पर रखें तथा बाएं पैर को मोड़कर दाएँ पैर के घुटने के बाहर रखते हुए विपरीत हाथ से बाएं पैर को पकड़े तथा बाएं हाथ को पीछे घुमाकर पीठ पर रखें तथा बाएं ओर गर्दन व कमर मोड़कर पीछे की ओर देखें। यही मत्सेन्द्रासन है।

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचण्डरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम्।

अभ्यासतः कुण्डलिनीप्रबोधं चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम्।।

ह0प्र0 1/27

लाभ– हठप्रदीपिकानुसार मत्सेन्द्रासन का नियमित अभ्यास करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। इससे सभी रोगों का नाश होता है। इसके अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है तथा चन्द्रमण्डल में स्रावित होने वाला अमृत सूर्य में भस्म नहीं होता अर्थात् अमृत का बहाव रूक जाता है। इस आसन से पेट के आंतरिक अंगों की मालिश होती है। महुमेह के रोगियों के लिए यह रामबाण है। हाथ, पैर पुष्ट होते हैं। इसका अभ्यास मेरूदण्ड को भी लोचवान बनाता है।

सावधानी– जोड़ो की समस्या से ग्रस्त, साइटिका, स्लिप डिस्क आदि से पीड़ित रोगी इस आसन का अभ्यास न करें। जिन लोगों का पेट आदि का ऑपरेशन हुआ हो वो भी इसका अभ्यास न करें।

4.6.9. पश्चिमोत्तानासन–

पश्चिम का अर्थ पीछे और तान का अर्थ है खींचाव। इस आसन में शरीर के पृष्ठ भाग को खींचा जाता है। यहीं पश्चिमोस्तानासन है।

विधि–

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा।
जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः।।

ह0प्र0 1/28

सर्वप्रथम दोनों पैरो को फैलाकर दण्डासन में बैठ जाएं। आगे झुकते हुए दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे पकड़ लें, तथा अपने माथे को घुटनों से लगा ले यह पश्चिमोस्तानासन कहलाता है।

लाभ–

इति पश्चिमतानमासनाग्रयं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति।
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम्।।

ह0प्र0 1/29

हठ प्रदीपिका के अनुसार इस आसन को करने से प्राण का प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी में होता है। शरीर में स्थित जठराग्नि प्रदीप्त होती है। पेट की अतिरिक्त चर्बी कम होती है तथा शरीर के सभी रोग समाप्त हो जाते हैं। मेरुदण्ड लचीला होता है। जंघाए पुष्ठ होती है।

सावधानी– किसी भी तरह का कमर दर्द, स्लिप डिस्क, साइटिका से ग्रस्त रोगी इसका अभ्यास बिल्कुल न करें।

4.6.10. मयूरासन– इस आसन में शरीर की स्थिति मोर के समान हो जाती है। इसलिए इसे मयूरासन कहते हैं।

विधि–

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे मायूरमेतत् प्रवदन्ति पीठम्।।

ह0प्र0 1/30

सर्वप्रथम दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि पर अच्छी तरह टिका लें फिर दोनों कोहनियों को नाभि के दोनों ओर (दाएं तथा बाएं) लगाकर पूरे शरीर को ऊपर उठा लें। पूरे शरीर का संतूलन दोनों हथेलियो पर रहेगा।

लाभ–

हरतिसकलरोगानाशु गुल्मोदरादीन्
अभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम्।
बहु कदशनभुक्तं भस्मकुर्दिशेषं
जनयति जठराग्निं जारयेत् कालकूटम्।।

ह0प्र0 1/31

इसके लाभों का वर्णन करते हुए हठप्रदीपिका में कहा गया है कि इस आसन का नियमित अभ्यास करने से शीघ्र ही सारे रोगों का नाश हो जाता है। इससे गुल्म तथा उदर आदि के रोग भी दूर हो जाते हैं। यह शरीर में स्थित जठराग्नि को इतना प्रदीप्त करता है कि अधिक तथा विषाक्त भोजन भी आसानी से पच जाता है। इससे हाथ, कन्धें तथा छाती पुष्ट होती है। एंड्रिनल ग्रंथि से स्रावित होने वाले हारमोन संतुलित होते हैं।

सावधानी– इस आसन का अभ्यास करते हुए हथेलियों पर संतुलन बनाना अति आवश्यक है अन्यथा व्यक्ति आगे की ओर गिर सकता है। हाथ या कंधे कमजोर होने पर इसका अभ्यास सावधानीपूर्वक करें।

4.6.11. शवासन–

इस आसन में शरीर की स्थिति शव के समान होती है, (बिना किसी हलचल के) इसलिए इसे शवासन कहते हैं।

विधि–

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम्।

शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिकारकम्।।

ह0प्र0 1/32

पीठ के बल भूमि पर बिना शरीर को हिलाएं डुलाएं लेट जाएं। यही शवासन है।

लाभ– इस आसन का अभ्यास करने से शारीरिक तथा मानसिक थकान मिट जाती है। यह उच्चरक्तचाप, अनिद्रा तथा मानसिक रोगों में अत्यंत लाभकारी आसन है।

सावधानी– निम्नरक्तचाप से पीड़ित रोगी इसका अभ्यास ज्यादा देर तक न करें, या किसी योग्य गुरु के निर्देशन में ही इसका अभ्यास करें।

4.6.12. सिद्धासन–

इस आसन के नाम से ही पता चलता है कि ये सभी सिद्धियों को प्रदान करने वाला है, इसलिए इसे सिद्धासन कहा जाता है।

विधि–

पहली विधि

योनिस्थानकमङ्.घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरम्
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते।।

ह0प्र0 1/35

सर्वप्रथम दण्डासन में बैठे। बाएँ पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को सींवनी नाड़ी में लगाएँ तथा दूसरे पैर की ऐड़ी को शिशन के ऊपर रखे। अपनी ठुड्डी को छाती पर लगाए तथा अपनी दृष्टि के दोनो भोहो के मध्य पर लगाते हुए इन्द्रियों को संयमित कर निश्चल बैठे। यही सिद्धासन है।

दूसरी विधि–

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत्।।

ह0प्र0 1/36

हठप्रदीपिका में सिद्धासन की दो विधियाँ बताई है। दूसरी विधि के अनुसार– सर्वप्रथम दण्डासन में बैठे तत्पश्चात् बाएँ पैर को मोड़कर उसकी एडी को शिशन के ऊपर रखे तथा दाएँ पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को बाएँ पैर की एड़ी के ठीक ऊपर रखे। यह भी सिद्धासन कहलाता है।

लाभ–

यमेष्विव मिताहरा अहिंसा नियमेष्विव।
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः।।
चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेंव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम्।।
तथैकस्मिन्नेव दृढ़े बद्धे सिद्धासने सदा।
बन्धत्रयमनायासत् स्वयमेवोपजायते।।
नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः।।

ह0प्र0 1/38–39–42–43

यह सभी आसनों में सबसे महत्वपूर्ण है यह सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला एकमात्र आसन है। इस आसन के अभ्यास से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। साधक का मन विषय वासना से विरक्त हो जाता है, प्राण का प्रवाह उर्धगामी होता है। शरीर में स्थित 72000 नाड़ियों का शोधन होता है। इसके अभ्यास से निष्पत्ति अवस्था, समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इसके अभ्यास से स्वतः ही तीनों बंध लग जाते है। इसके महत्व को और अधिक बताते हुए स्वामी स्वात्माराम जी कहते है कि जिस प्रकार केवल कुम्भक के समय कोई कुम्भक नहीं, खेचरी मुद्रा के समान कोई मुद्रा नहीं, नाद के समय कोई लय नहीं उसी प्रकार सिद्धासन के समान कोई दूसरा आसन नहीं है।

सावधानी– इस आसन का अभ्यास गृहस्थ लोगों को लम्बे समय तक नहीं करना चाहिए। साइटिका, स्लिप डिस्क वाले व्यक्तियों को भी इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। जोड़ों आदि के दर्द से पीड़ित रोगी भी इसका अभ्यास न करें। गुदा सम्बन्धित रोगों से पीड़ित रोगी भी इसका अभ्यास न करें।

4.6.13. पद्मासन –

इस आसन में पैरों की स्थिति कमल के फूल की पंखुड़ियों के समान होती है, इसलिए इसे पद्मासन कहते हैं।

पहली विधि–
वमोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि, पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
अड्गुष्ठौ, हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रामलोकयेत्।
एतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते।।

ह0प्र0 1/44

सर्वप्रथम दण्डासन में बैठे तत्पश्चात् बाएँ पैर को मोड़कर दाईं जंघा के ऊपर तथा दाएँ पैर को मोड़कर बाई जंघा के ऊपर रखे। फिर दोनों हाथों को कमर के पीछे ले जाते हुए बाएँ हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा तथा दाएँ हाथ से बाएँ पैर के अंगूठे को दृढ़तापूर्वक पकड़े। अंत में ठुड्डी की हृदय प्रदेश में लगाते हुए नासग्र दृष्टि रखे। यही पद्मासन है।

दूसरी विधि –
मतान्तरे तु
उत्तानौ चरणौ कृत्वा उरुसंस्थौ प्रयत्नतः।
उरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ।।
नासाग्रे विन्यसेद्वाजदन्तमूले तु जिह्वया।
उत्तम्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः।।

ह0प्र0 1/45–46

सर्वप्रथम दण्डासन में बैठे, बाएँ पैर को मोड़कर दाहिनी जंघा के ऊपर तथा दाएँ पैर को मोड़कर बाई जंघा के ऊपर रखें। ठुड्डी को हृदय प्रदेश में लगाएँ तथा ब्रह्माज्जली मुद्रा बनाकर जंघाओं के मध्य में रखें। धीरे–धीरे श्वास ले तथा नासाग्र दृष्टि रखते हुए जीभ को तालु के अग्र भाग में लगाएँ।

लाभ –
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि।।

ह0प्र0 1/47

पद्मासन एक ध्यानात्मक आसन है। यही सभी प्रकार के रोगों को दूर करने वाला है। मानसिक शान्ति प्रदान करने वाला है। इसके अभ्यास से प्राण तथा अपान का मिलन होता है। इसके अभ्यास से विचित्र ज्ञान की प्राप्ति होती है।

सावधानी – जिस व्यक्तियों को जोड़ों का दर्द हो, साइटिका या स्लिप डिस्क की समस्या हो उन्हें ये अभ्यास नहीं करना चाहिए। जो लोग मोटे हो या जंघाएँ अत्यधिक चर्बीयुक्त हो उन्हें यह अभ्यास सावधानी से करना चाहिए।

4.6.14. सिंहासन –

इस आसन के नियमित अभ्यास से साधक सिंह के समान बलवान, निड़र हो जाता है। उसका चेहरा सिंह के समान कान्तिवान हो जाता है इसलिए इसे सिंहासन कहते हैं।

विधि
गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके।।
हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः सम्प्रसायं च।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं तु समाहितः।।

ह0प्र0 1/50–51

दोनों पैरो को मोड़कर अण्डकोष के नीचे सीवनी नाड़ी के दोनो ओर (बाएँ से दाएँ), पैरों की एड़ियों को लगाएँ। तत्पश्चात दोनों हथेलियों को दोनों पैरों के घुटनों पर टिकाएँ तथा सभी अंगुलियों को फैला ले। मुँह को पूरा खोले तथा जिह्व को पूरा बाहर निकालते हुए नासाग्रदृष्टि रखें। यही सिंहासन है।

लाभ –
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिपुङ्गवैः।
बन्धत्रियतयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम्।।

ह0प्र0 1/52

हठप्रदीपिका में इस आसन को श्रेष्ठ बताया गया है। इस आसन के अभ्यास से तीनों प्रकार के बंधों को करने में सरलता होती है। गले में स्थित थायराइड

तथा पैराथायराइड ग्रंथि क्रियाशील होती है। चेहरे की माँसपेशियों की मसाज होती है, जिससे चेहरा सिंह के समान कान्तिवान होता है। इसके अभ्यास से जंघाएँ पुष्ट होती है।

सावधानी– घुटने, टखने एवं पंजे में दर्द की स्थिति में, अर्थराइटिस से पीड़ित व्यक्ति सावधानी से इसका अभ्यास करें।

4.6.15.भद्रासन–

इस आसन का अभ्यास महान् हठयोगियों तथा भद्र पुरुषों ने किया इसलिए इसका नाम भद्रासन पड़ा। इसी भद्रासन को कुछ लोग गोरक्षासन भी कहते हैं।

विधि–

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे।।
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्।

ह0प्र0 1/53

सर्वप्रथम दण्डासन में बैठें। फिर धीरे–से दोनों पैरों को मोड़े तथा दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोष के नीचे सीवनी नाड़ी के दोनों ओर (बाएं एवं दाएं) रखें। प्रयास करें की दोनों पैरों के अग्र भाग आपस में मिले रहें। पैरों के अग्र भाग को हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़े रहें। यही भद्रासन है।

लाभ–

भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम्।
गेरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः।।

ह0प्र0 1/54

इस आसन के अभ्यास से सभी रोग दूर हो जाते हैं। मूत्र–प्रणाली के रोग, प्रजनन संबधी दोष, मासिक धर्म सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं। जोड़ लचीले एवं मजबूत बनते हैं। जंघाएँ मजबूत होती है तथा वहाँ जमी अतिरिक्त चर्बी कम हो जाती है।

सावधानी– जो व्यक्ति जोड़ों में दर्द की समस्या से ग्रस्त हों वे इसका अभ्यास न करें।

4.7 सारांश

हठयोग प्रदीपिका हठयोग का एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना स्वामी स्वात्माराम जी ने की थी। इस ग्रंथ में चार उपदेश दिए गए हैं। प्रथम उपदेश में के प्रथम अंग के रूप में 15 आसनों (स्वस्तिकासन, गोमुखासन, वीरासन, कूर्मासन, कुक्कुटासन, उत्तानकूर्मासन, धनुरासन, मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, मयूरासन, शवासन, सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन, भद्रासन) का वर्णन किया गया है। वर्तमान समय में इन आसनों की उपादेयता सिद्ध हो रही है।

4.8 शब्दावली

1. कटि–कमर
2. नितम्ब–कुल्हा
3. पुष्ट–मजबुत
4. जठराग्नि–पाचक अग्नि
5. प्रदीप्त–बढ़ाना
6. विषाक्त–जहरीला
7. उदर–पेट
8. उष्णता–गर्मी

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हठयोग प्रदीपिका– स्वामी स्वात्माराम–कृत, संस्करण कर्ता– स्वामी दिगम्बर जी, प्रकाशक कैवल्यधाम।
2. आसन, प्राणायाम, मुद्राबंध– स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

4.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. आसन किसे कहते हैं ? हठप्रदीपिका में वर्णित बैठकर किये जाने वाले किन्हीं दो आसनों कि विधि,लाभ एवं सावधानियों का वर्णन किजिए।
2. आसन शब्द की परिभाषा देते हुए हठप्रदीपिका में वर्णित किन्हीं दो आसनों की विधि, लाभ, एवं सावधानियों का वर्णन किजिए।
3. हठप्रदीपिका में वर्णित मेरूदण्ड को प्रमुख रूप से प्रभावित करने वाले किन्हीं दो आसनों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई–5 नाड़ी शोधन, सूर्यभेदन तथा उज्जायी प्राणायाम की विधि लाभ एवं सावधानियाँ

इकाई की संरचना

5.1 प्रस्तावना

हठयोग के पांचवे अंग के रूप में प्राणायाम एक अत्यधिक प्रचलित अंग हैं। प्राणायाम वैदिक काल से ही साधना की उच्चतम अवस्था तक पहुंचने का एक महत्वपूर्ण मार्ग रहा है, परन्तु इसके चिकित्सकीय प्रभावों से भी हम अनभिज्ञ नहीं रहे। प्राचीन काल में मनीषियों ने अपने अथक शोधों द्वारा यह जानकारी प्राप्त की कि प्राणायाम एक ऐसा माध्यम हैं जिसके द्वारा हम शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं। इसके साथ ही साथ प्राणायाम हमारे समस्त रोगों को दूर करता है ऐसा हठयोग के ग्रन्थों में वर्णन मिलता हैं।

5.2 प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप ''प्राण'' शब्द का अर्थ एवं उसके भेदों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्राणायाम की परिभाषा एवं उसके प्रकारों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्राणायामों के उद्देश्य के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

- हठप्रदीपिका में वर्णित प्राणायाम–नाड़ी शोधन, सूर्यभेदन तथा उज्जायी प्राणायाम की विधि,लाभ एवं सावधानियों की विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

5.3 प्राणायाम का अर्थ एवं परिभाषा

'प्राण' शब्द शरीरस्थ जीवनी शक्ति का बोधक है। श्वास–प्रश्वास में उपयोग होने वाली वायु उसका स्थूल स्वरूप हैं, प्राण के स्थान एवं कर्म (कार्य) के अनुसार दस भेद हैं–

1.प्राण 2. अपान 3.समान 4.व्यान तथा 5.उदान को मुख्य तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंन्जय गौण प्राण कहा गया है।

प्राणायाम दो शब्दों से मिलकर बना है– प्राण+आयाम अर्थात् प्राणों का आयाम, प्राणों का नियंत्रण ही प्राणायाम है। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में कहा है कि

'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतविच्छेदः प्राणायाम'

(योग सूत्र 2/49)

अर्थात श्वास तथा प्रश्वास की गति को अवरूद्व करना ही प्राणायाम है। कहा भी गया है कि प्राणायामों को करने से अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है तथा धारणा में मन लगता है, जिससे समाधि एवं कैवल्य की प्राप्ति होती है।

5.4 हठयोग प्रदीपिका में वर्णित प्राणायाम

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः।।

ह0प्र0 2/44

अर्थात् सूर्यभेद, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी मूर्च्छा और प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक हैं।

5.4.1. नाड़ी शोधन– नाड़ी शोधन प्राणायाम को हठप्रदीपिका के आठ प्राणायामों के अंतर्गत नहीं रखा गया है किन्तु इस प्राणायाम को अन्य 8 प्राणायामों से पूर्व तथा नियमित करने को बताया गया है। इस प्राणायाम को करने से साधकों के नाड़ी समूह तीन मास से कुछ अधिक समय में स्वच्छ एवं निर्मल हो जाते हैं। प्राण का प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी में होने लगता है। इस प्राणायाम को एक दिन में चार बार करना चाहिए (प्रातः, मध्याह्न, सांय तथा अर्धरात्रि) तथा कुम्भकों की संख्या धीरे–धीरे 80 तक करनी चाहिए। कहा भी गया है कि बिना नाड़ी शुद्धि के अन्य 8 प्राणायाम सिद्ध नहीं होते। इसलिए इस प्राणायाम का अभ्यास साधक को नियमित एवं नियम से करना चाहिए।

विधि–

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत्।।
प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः।
विधिवत् कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्।।
येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदनिरोधतः।
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः।।

ह0प्र0 2/7–8–9

नाड़ी शुद्धि की विधि को बताते हुए स्वात्माराम जी ने लिखा है कि– सर्वप्रथम पद्मासन में बैठे। तत्पश्चात् चन्द्रनाड़ी (बाएँ नासारन्ध्र) से गहरी लम्बी श्वास लें यथासम्भव कुम्भक (श्वास को रोके) करें तथा सूर्य नाड़ी (दाएँ नासारन्ध्र) से श्वास को धीरे–धीरे बाहर छोड़े। पुनः श्वास को सूर्यनाड़ी से भरें पुनः कुम्भक करें तथा चन्द्रनाड़ी से प्रश्वास करें। इसी प्रक्रिया को धीरे–धीरे दोहराते रहें। विद्धानों ने इसका अभ्यास तीन महीने तक करने का निर्देश दिया है।

लाभ– नाड़ी शोधन जैसा की इसके नाम से ही विधित है– यह प्राणायाम शरीर में स्थित 72000 नाड़ियों का शोधन करता है। इड़ा तथा पिंगला की बीच संतुलन स्थापित करता है जिससे प्राण का प्रवाह सुषुम्ना में होता है। शरीर को निर्मल करता है। शरीर कान्तिवान तथा कृष होता है। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, नाद का अनुभव होता है तथा शरीर कभी भी रोग ग्रस्त नहीं होता।

सावधानी–जिन व्यक्तियों को उच्चरक्तचाप, हृदय संबधी विकार हो वो इस प्राणायाम में कुम्भक का अभ्यास न करें। साइटिका, स्लिप डिस्क आदि से पीड़ित व्यक्ति नीचे जमीन पर न बैठें, वे लोग इसका अभ्यास कुर्सी पर या गद्दे में बैठकर करें। सामान्य व्यक्ति यथासम्भव ही कुम्भक करें परेशानी होने पर कुम्भक को छोड़कर धीरे–धीरे रेचक कर दें। श्वास–प्रश्वास को धीरे–धीरे करें, वेग से न करें।

नाड़ी शुद्धि के बाद ही स्वामी स्वात्माराम जी ने आठ प्राणायामों को करने का निर्देश दिया है। वे आठ प्राणायाम इस प्रकार हैं–

अथ कुम्भकभेदाः
सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः।।

ह0प्र0 2/44

अर्थात् सूर्यभेद, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी मूर्च्छा और प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक हैं।

5.5.2.सूर्यभेदन– सूर्यभेदन हठप्रदीपिका में पहला प्राणायाम है। इस प्राणायाम में बार–बार सूर्यनाड़ी का भेदन किया जाता है इसलिए इसे सूर्यभेदन या सूर्यभेदी कहा जाता है।

विधि–

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः।
दक्षनाडया समाकृष्य बहिस्थं पवनं शनैः।।
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्।।
ततः शनैः सव्यानाडया रेचयेत् पवनं शनेः।।
ह0प्र0 2/48–49

सर्वप्रथम किसी उर्प्युक्त स्थान (समतल) पर आसन बिछा लें, फिर किसी भी ध्यानात्मक आसन जैसे सिद्धासन, पद्मासन आदि लगा ले। कमर तथा गर्दन को सीधा रखते हुए दाएं हाथ से प्राणायाम की **प्रणव मुद्रा*** बना लें तथा बाएं हाथ से ज्ञान या चिन मुद्रा बनाकर उसको दूसरे पैर के घुटने के ऊपर रख लें। तत्पश्चात् दाएं नासारन्ध्र से धीरे–धीरे लम्बा श्वास ले यथासम्भव कुम्भक (जालन्धर बन्ध) लगाएं तथा गर्दन को सीधा कर कुम्भक को खोले और बाएं नासारन्ध्र से धीरे–धीरे प्रश्वास करें। इसी क्रिया को बार–बार दोहराएँ।

लाभ–

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहत्।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम्।।
ह0प्र0 2/50

इस प्राणायाम के नियमित अभ्यास से मस्तक की शुद्धि होती है, सभी प्रकार के वातरोग दूर होते है। पेट में होने वाले कृमि दोष नष्ट हो जाते हैं। सर्दियों में इसे करने से सर्दी नहीं लगती क्योंकि यह शरीर को उष्णता देता है।

सावधानी– इस प्राणायाम को ग्रीष्म ऋतु में नहीं करना चाहिए। जिन लोगों को पित्त सम्बन्धी दोष हो एवं नकसीर फटने की समस्या हो उनके लिए यह अभ्यास वर्जित है।

5.5.3 उज्जायी

विधि–
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्।।
पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया ततः।
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम्।।

ह0प्र0 2/51–52

सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठे। कमर, गर्दन को सीधा रखें। दोनों नासारन्ध्रों से कण्ठ को संकुचित करते हुए श्वास ले जिससे धीमे–धीमे आवाज(छोटे बच्चे के खरांटे, लहरों की ध्वनि) उत्पन्न हो तत्पश्चात् यथासम्भव कुम्भक करें फिर प्राणायाम की प्रणव मुद्रा बनाएं तथा बाएं नासारन्ध्र से धीरे–धीरे प्रश्वास करें। इस क्रिया को बार–बार दोहराएं, यहीं उज्जायी प्राणायाम हैं।

लाभ–

नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम्।

गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाव्याख्यं तु कुम्भकम्।।

ह0प्र0 2/53

उज्जायी प्राणायाम के लाभों का वर्णन करते हुए हठप्रदीपिका में लिखा है कि इसका नियमित अभ्यास से सभी प्रकार के कफ सम्बंधी कण्ठदोष नहीं होते। शरीर में स्थित जठराग्नि प्रदीप्त होती है। इससे नाड़ी सम्बन्धी, जलोदर, धातु सम्बन्धी सभी दोष दूर हो जाते हैं। कहा गया है कि इस प्राणायाम को उठते–बैठते हमेशा करना चाहिए।

सावधानी– हृदय से सम्बन्धित किसी रोग या उच्च रक्तचाप वाले रोगियों को इस प्राणायाम में कुम्भक नहीं करना चाहिए। गले को (श्वास नली) अत्यधिक संकुचित न करें।

5.5 सारांश

मानव जीवन के उद्धार के लिए हमारे महान ऋषि, मुनियों ने अनेक उपाय बताए हैं, उनमें से प्राणायाम साधना एक महत्वपूर्ण साधन हैं। प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण शरीर में प्राणीक ऊर्जा के प्रवाह को नियन्त्रित करना हैं। प्राणायाम के नियमित अभ्यास से शरीर में स्थित समस्त नाड़ियों का शोधन होता है जिससे प्राण का प्रवाह नाड़ियों में सुचारू रूप से होता है जिसके परिणामस्वरूप साधक को भौतिक एवं मानसिक स्थिरता प्राप्त होती हैं। प्राणायाम के अभ्यास से सभी रोगों का नाश होता है साथ ही श्वसन संस्थान पूर्ण रूप से सक्रिय होता है। प्राणायाम के अभ्यास से केवल शारीरिक एवं मानसिक लाभ ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक उन्नति भी प्राप्त होती है। इसके अभ्यास से शरीर में सोयी हुयी शक्तियां भी जाग्रत होती हैं।

5.6 शब्दावली

1. पूरक– श्वास को अन्दर लेना।
2. कुम्भक– श्वास को रोकना।

3. रेचक– श्वास को बाहर छोड़ना।
4. प्रश्वास– सांस छोड़ना।
5. कृष– छोटा, हल्का।
6. सूर्यनाड़ी– दांयास्वर।
7. चन्द्रनाड़ी– बायांस्वर।
8. कण्ठ– गला।
9. नकसीर फटना– नाक से खून बहना।
10.

5.7 सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. हठयोग प्रदीपिका– स्वामी स्वात्माराम–कृत, संस्करण कर्ता– स्वामी दिगम्बर जी, प्रकाशक कैवल्यधाम।
2. आसन, प्राणायाम, मुद्राबंध– स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

5.8 निबंधात्मक प्रश्न–

1.हठयोग प्रदीपिका के अनुसार नाड़ी शोधन प्राणायाम, एवं उज्जायी प्राणायाम की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ का विस्तार से वर्णन कीजिए।

2.प्राण के प्रकारों का वर्णन करते हुए सूर्यभेदन प्राणायाम की विधि लाभ एवं सावधानियों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई–6 सीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा एवं प्लावनी प्राणायाम की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ

इकाई की संरचना

6.1 प्रस्तावना–

पिछली इकाई में आपने हठप्रदीपिका में वर्णित नाड़ी शोधन, सूर्यभेदन तथा उज्जायी प्राणायाम की विधि लाभ एवं सावधानियॉ के बारे में अध्ययन किया। प्रस्तुत इकाई में आप हठप्रदीपिका में वर्णित सीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा एवं प्लावनी प्राणायाम की विधि, लाभ एवं सावधानियो के बारे में अध्ययन करोगें। हठयोग के ये अभ्यास देखने में अवश्य सरल लगते है पर जिज्ञासु साधकों को चाहिए कि एक उचित मार्गदर्शन में इन अभ्यासो को करें।

6.2 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप हठप्रदीपिका में वर्णित प्राणायाम–सीत्कारी, शीतली, भ्रस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा एवं प्लाविनी की विधियों के बारें में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप हठप्रदीपिका में वर्णित प्राणायाम–सीत्कारी, शीतली, भ्रस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा एवं प्लाविनी के लाभों के बारें में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप हठप्रदीपिका में वर्णित प्राणायाम–सीत्कारी, शीतली, भ्रस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा एवं प्लाविनी की सावधानियों के बारें में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

6.3 हठयोग प्रदीपिका में वर्णित प्राणायाम

6.3.1 सीत्कारी– सीत्कारी प्राणायाम की विधि का वर्णन हठप्रदीपिका में इस प्रकार है।

विधि–

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः।।

ह0प्र0 2/54

अर्थात् सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठे। दोनों हाथों को ज्ञान या चिन मुद्रा में रखें। मुख को खोले, दोनों जबड़ों को (दांतों को) आपस में मिला ले तथा सीत्कार की आवाज उत्पन्न कर श्वास अंदर ले तत्पश्चात् यथासंभव कुम्भक करें तथा दोनों नासारन्ध्रों से प्रश्वास करें।

लाभ–

योगिनीचक्रसम्मान्यः सृष्टिसंहारकारकः।
नक्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते।।
भवेत् स्ऽ वच्छन्ददेहस्तु सर्वोपद्रववर्जितः।
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले।।

ह0प्र0 2–55–56

इसका नियमित अभ्यास करने से साधक कामदेव के समान सुंदर हो जाता है। साधक योगिनी समूहों द्वारा प्रशंसित होता है। वह सृष्टि और संहार करने योग्य हो जाता है। इसके अभ्यास से भूख–प्यास संतुलित होती है तथा साधक को निद्रा या सुस्ती नहीं सताती। साधक का अपने शरीर पर पूरा नियंत्रण हो जाता है। वह सभी प्रकार के उपद्रवों से बचा रहकर इस पृथ्वी पर एक महान योगी होता है। इस प्राणायाम के अभ्यास से अम्ल–पित्त आदि की समस्याएं दूर होती है। मुख की दुर्गन्ध एवं पायरिया आदि रोग नहीं होते हैं।

सावधानी– जिन व्यक्तियों को अत्यधिक ठण्ड लगती हो या कफ सम्बन्धी दोष हों उन्हें इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। यह शीत प्रकृति प्राणायाम है इसलिए इसका अभ्यास सर्दियों में नहीं करना चाहिए।

6.3.2 शीतली

विधि–

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुम्भसाधनम्।
शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत् पवनं सुधीः।।

ह0प्र0 2/57

अर्थात् किसी भी ध्यानात्मक आसनं में बैठे, धीरे से मुँह खोलें और जीभ को बाहर निकालें तत्पश्चात जीभ को इस प्रकार मोड़े की वह पक्षी की चोंच के समान हों जाए फिर धीरे–धीरे जीभ से ही श्वास अन्दर खींचे, जीभ को अंदर कर यथासम्भव कुम्भक करें तथा दोनों नासारन्ध्रों से धीरे–धीरे प्रश्वास करें। इस क्रिया को बार–बार दोहराए, यही शीतली प्राणायाम है।

लाभ–

गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वारं पित्तं क्षुधा तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च।।

ह0प्र0 2/58

इस प्राणायाम के नियमित अभ्यास से वायुगोला, तिल्ली जैसे भंयकर रोग नहीं होते। बुखार और पित्त सम्बन्धी विकार दूर हो जाते हैं। भूख–प्यास नियंत्रित हो जाती हैं। इससे सभी रोग तथा विष का प्रभाव भी, नष्ट हो जाता है। मुँह के छाले, दुर्गंध, दांतो के रोग दूर हो जाते हैं।

सावधानी– जिन लोगों को अत्यधिक ठण्ड लगती हो, कमजोर हो, कफ सम्बन्धी रोग हो उन्हें यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

6.3.3 भस्त्रिका

विधि–
ऊर्वोरूपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे।
प्द्मासनं भवेदेतत् सर्वपापप्रणाशनम्।।
सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राण घ्राणेन रेचयेत्।।
यथा लगति हत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम्।
वेगेन पूरयेच्चापि हत्पद्मावधि मारुतम्।
पुनर्विरेचयेत्तद्वत् पूरयेच्च पुनःपुनः।।
यथैव लोहकरेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते।
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत् पवनं धिया।।

यदा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत्।।
यथोदरं भवेत् पूर्ण पवनेन तथा लघु।
धारयेत्रासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम्।
विधिवत् कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्।।

ह0प्र0 2—59—60—61—62—63—64

अर्थात् भस्त्रिका प्राणायाम को करने से पूर्व सर्वप्रथम साधक पद्मासन में बैठे तथा गर्दन एवं शरीर को बिल्कुल सीधा रखें, मुंह को बन्द रखें तथा नासिका द्वारा श्वास को यत्नपूर्वक बाहर छोड़े। इससे साधक वायु स्पर्श का अनुभव हृदय, कण्ठ और कपाल तक करेगा। इसके बाद साधक तेजी से वायु को पूरित (अन्दर ले) करे तथा तेजी से ही छोड़े। इस क्रिया को वेग से बार—बार करें, जैसे लुहार धौंकनी को तेजी से चलाता है। जब शरीर थकान का अनुभव करें तो दाएं हाथ से प्रणव मुद्रा बनाकर, दाएं नाक से श्वास अन्दर लें, यथासम्भव कुम्भक करें (जालंधर बंध के साथ) तथा धीरे—धीरे बाएं नाक से श्वास को बाहर छोड़ दे।

लाभ—

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्।।
कुण्डलीबोधकं क्षिग्रं पवनं सुखदं हितम्।
ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थकफाद्यर्गलनाशनम्।।
सम्यग्गात्रसमुद्भूतगन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकंत्विदम्।।

ह0प्र0 2/65—66—67

यह प्राणायाम त्रिदोष नाशक है अर्थात् वात—पित्त—कफ से होने वाले सभी रोगों का दूर करता है। जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। यह प्राणायाम कुण्डलिनी को जागृत करता है, शरीर में स्थित तीनों ग्रन्थियों का भेदन करता है। यह शरीर को ऊष्मा प्रदान करता है। इसलिए इसका अभ्यास सर्दियों में करना चाहिए। जिन लोगों को सर्दी, खांसी, जुखाम ज्यादा या बार—बार लगता हो उन्हें इसका अभ्यास नियमित करना चाहिए।

6.3.4 भ्रामरी

विधि—

वेगाद् घोषं पूरकं भृङ्गनादम्
भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम्।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगात्
चित्ते जाता काचिदानन्दलीला।।

ह0प्र0 2/68

अर्थात् किसी भी ध्यानात्मक आसन में शान्त भाव में बैठे । फिर भ्रमर (नर) के समान वेग से गुंजन करते हुए श्वास अंदर ले तत्पश्चात कुंभक करे फिर भ्रमरी (मादा) के समान गुंजन कर धीरे—धीरे प्रश्वास करें।

लाभ– भ्रामरी के अभ्यास से मन शान्त होता है, आनंद का अनुभव होता है। सभी प्रकार के मानसिक रोग दूर होते हैं। गले में स्थित ग्रंथियों की मसाज होती हैं।

सावधानी– पूरक तथा रेचक करते हुए धीरे–धीरे ही श्वास–प्रश्वास करें। गुंजन करते हुए स्वर को मध्यम तथा एक स्वर में रखें। अत्यधिक तेज स्वर या वेग का प्रयोग न करें। एक चक्र पूरा होना पर एक–दो सामान्य श्वास प्रश्वास करे तभी दूसरा चक्र प्रारम्भ करें।

6.3.5 मूर्च्छा

विधि–
पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा।।

ह0प्र0 2/69

अर्थात् सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठे। कुछ देर सामान्य श्वास–प्रश्वास कर शरीर–मस्तिष्क को शान्त करें (आराम दें), फिर पूरक करें तत्पश्चात् दृढ़ता से जालन्धर बंध लगाएं तथा कुछ देर बाद बहुत धीमे–धीमे श्वास को बाहर छोडे।

लाभ– इस प्राणायाम के अभ्यास से अत्यधिक मन को मूर्च्छा प्रदान करने वाले परमानंद की प्राप्ति होती है। यह स्थिति साधक के लिए बहुत ही आनंदकारी होती है।

सावधानी– जो लोग अत्यधिक कमजोर हो, मिर्गी, उच्चरक्तचाप या हृदय आघात से पीड़ित हो उन्हें यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

6.3.6 प्लाविनी

विधि–
अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः।
प्यस्यगाधेऽपि सुखात् प्लवते पद्मपत्रवत्।।

ह0प्र0 2/70

अर्थात् किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठें। गहरा, लम्बा पूरक करते हुए उदर को अत्यधिक मात्रा में वायु से पूरी तरह से भर कर कुम्भक करना ही प्लावनी प्राणायाम कहलाता है।

लाभ– हठप्रदीपिका के अनुसार इसका नियमित अभ्यास करने वाला साधक कभी भी जल में नहीं डूबता वह तो जल में कमल के पत्ते के समान तैरता रहता है।

सावधानी– इस प्राणायाम का अभ्यास नियमित प्राणायाम करने वाले साधकों को ही करना चाहिए, अर्थात् जिन साधकों ने पूर्व के प्राणायामों को सिद्ध कर लिया हो। यह अभ्यास प्रारम्भिक या सामान्य साधक के लिए नहीं है।

6.4 सारांश

प्राणायाम हठयोग का एक महत्वपूर्ण अंग है। कई प्राणायाम त्रिदोष नाशक होते है अर्थात् वात–पित्त–कफ से होने वाले सभी रोगों का दूर करते है। कई जठराग्नि को प्रदीप्त करते है। कई प्राणायाम कुण्डलिनी को जागृत करते है तो कई शरीर में स्थित तीनों ग्रन्थियों का भेदन करते है। कई शरीर को ऊष्मा प्रदान करता है। इसलिए ऐसे प्राणायामों का अभ्यास सर्दियों में करना चाहिए। जिन लोगों को सर्दी, खांसी, जुखाम ज्यादा या बार–बार लगता हो उन्हें गरम प्राणायामों का अभ्यास नियमित करना चाहिए। जिज्ञासु पाठको को चाहिए कि एक उचित मार्गदर्शन में ही इनका अभ्यास करें।

6.5 शब्दावली

1. निद्रा–नींद
2. शीत–ठंडा
3. त्रिदोष– तीन दोष(वात,पित्त,कफ)
4. परमानन्द–अत्यधिक आनन्द
5. विकार–रोग या दोष
6. विष– जहर

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हठयोग प्रदीपिका– स्वामी स्वात्माराम–कृत, संस्करण कर्ता– स्वामी दिगम्बर जी, प्रकाशक कैवल्यधाम।
2. आसन, प्राणायाम, मुद्राबंध– स्वामी सत्यानन्द सरस्वती।

6.7 निबंधात्मक प्रश्न

1. हठयोग प्रदीपिका में वर्णित भ्रस्त्रिका एवं शीतली प्राणायाम की विधि, लाभ एवं सावधनियों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

2. हठयोग प्रदीपिका में वर्णित भ्रामरी एवं मूर्च्छा प्राणायाम की विधि, लाभ एवं सावधानियों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई–7 धौति, वस्ति, नौलि की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ

इकाई की संरचना

7.1 प्रस्तावना

हठयोग साधना में षटकर्मों का विस्तार से वर्णन मिलता है, क्योंकि हठयोग के मनीषियों इस बात पर बल देते हैं कि शरीर में स्थित 72,000 नाड़िया मलविहिन बनी रहें, और उनमें प्राण शक्ति बिना रूके गति से चलती रहें। यदि शरीर में वात, पित्त, कफ असन्तुलित हो जाए तो साधक सर्वप्रथम षटकर्मों का अभ्यास कर शरीर में स्थित वात, पित्त, कफ को साम्यवस्था में लाएं जिससे वह योग साधना को आसानी से करने में समर्थ हो जाएं।

7.2 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप षटकर्मों का अर्थ एवं उद्देश्यों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- षटकर्मों के प्रकारों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

- धौति, वस्ति, नौलि की विधि , लाभ एवं सावधानियों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

7.3 षटकर्म का परिचय एवं अर्थ

षट्कर्म शब्द का अर्थ है, छः ऐसी क्रियायें जिनके माध्यम से शरीर का शोधन किया जाता है। षट्कर्म दो शब्दों से बना है– षट्+कर्म, षट् का अर्थ छ, कर्म का अर्थ क्रियायें। हठयोग प्रदीपिका में शरीर की शुद्धि के लिए जिन छः क्रियाओं का वर्णन किया गया है उन्हें षट्कर्म कहा जाता है। यह शोधन क्रियायें कपाल प्रदेश से गुदा द्वार तक की आन्तरिक शुद्धि के प्रयोग में लायी जाती है। जिस प्रकार आर्युवेद में शरीर के शोधन के लिए पंचकर्म चिकित्सा का वर्णन है, उसी प्रकार हठयोग के साधकों के लिए आन्तरिक शुद्धि एवं वात, पित्त, कफ को सन्तुलित करने के लिए षट्कर्मों का वर्णन मिलता है। योगी स्वात्माराम जी ने भी अपने ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका में भी इन शुद्धि क्रियाओं का वर्णन किया है और शरीर शुद्धि (आन्तरिक शुद्धि) के लिए इनके प्रयोग को अत्यन्त आवश्यक माना है।

7.4 हठयोग प्रदीपिका में वर्णित षट्कर्म

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते।।

ह0प्रदीपिका 2/22

अर्थात–धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एवं कपालभाति ये छः शोधन क्रियाएँ कही गई हैं।

7.5.1 धौति

हठप्रदीपिका में शरीर में स्थित 72000 नाड़ियों का शोधन करने के लिए षट् क्रियाओं का भी उल्लेख किया गया है। इन षट् क्रियाओं से आन्तरिक शोधन होता है। धौति सबसे पहला षट्कर्म है। इसकी विधि बताते हुए कहा गया है कि–

विधि–
चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।।

ह0प्र0 2/24

अर्थात् सर्वप्रथम उत्कट आसन में बैठकर, चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा, स्वच्छ कपड़ा, गुनगुने जल में भली प्रकार से भिगोकर किसी गुरू के निर्देशन के अनुसार धीरे–धीरे निगले। पूरा निगलने के बाद लगभग आधा हाथ कपड़ा मुंह के बाहर ही

छोड़े तत्पश्चात् कपड़े (निगले हुए) को धीरे–धीरे मुँह से बाहर निकालें। यही धौति क्रिया है।

लाभ–
कासश्वासप्लीहकुष्टं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्तयेव न संशयः।।

ह0प्र0 2/25

अर्थात् धौति के लाभों का वर्णन करते हुए हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है कि जो साधक धौति का अभ्यास करता है उसे विभिन्न प्रकार के रोग जैसे खाँसी, दमा, तिल्ली तथा कुष्ठ आदि रोग नहीं होते। बीस प्रकार के कफ विकार दूर हो जाते हैं। इससे पूरी आहार नाल, आमाशय आदि की पूरी सफाई हो जाती है।

सावधानी– धौति करते समय बहुत सी सावधानी बरतनी चाहिए। सर्वप्रथम धौति करते समय गुरू का होना अति आवश्यक है। धौति खाते समय अत्यधिक धैर्य की आवश्यकता होती है, मन को दृढ़ करना पड़ता है। धौति निकलने में दिक्कत होने पर गुनगुना नमकीन जल पीएं। धौति को निकालते हुए धीरे–धीरे निकाले, तेजी से निकालने पर खून आदि निकल सकता है। जो लोग धौति को पहली बार कर रहे हैं वह धौति पर घी या शहद लगा सकते हैं। धौति करने से पूर्व रात्रि हल्का भोजन या भोजन न करें।

7.5.2 वस्ति– वस्ति शरीर की बड़ी आंत की सफाई करती है। इसको करने की विधि इस प्रकार हैं–

विधि–
नाभिदघ्नजले पायुन्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुंचन कुर्यात् क्षालनं बस्तिकर्म तत्।।

ह0प्र0 2/27

अर्थात् सर्वप्रथम साधक को नाभिपर्यन्त किसी स्वच्छ जल में जाकर गुदा में एक स्वच्छ नली डालकर उत्कटासन में बैठना चाहिए। तत्पश्चात् साधक को अपने गुदा को संकुचित कर जल को गुदामार्ग से अन्दर प्रविष्ट कराकर अन्दर के अंगों को धोना चाहिए। यही वस्ति क्रिया है।

लाभ–
गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः।।
धात्विन्द्रियान्तः करणाप्रसादं दद्याच कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म।।

ह0प्र0 2/28–29

वस्ति के लाभों का वर्णन करते हुए हठप्रदीपिका में लिखा है कि– इसके अभ्यास से शरीर के विभिन्न रोग जैसे वायुगोला, तिल्ली, जलोदर तथा त्रिदोषों (वात, पित्त कफ) के विकृत होने से होने वाले सभी दोष दूर हो जाते हैं। शरीर की धातुएं पुष्ठ होती हैं। मन को प्रसन्नता मिलती हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होती हैं तथा शरीर कान्तिवान तथा इन्द्रियां बलिष्ठ होती हैं।

सावधानी– जल वस्ति करते हुए ध्यान रखें कि जल रूका या प्रदूषित न हों। गुदा में जो नली डालनी हो वह शुद्ध हो। किसी भी प्रकार के गुदा के इनफैक्शन में इसका अभ्यास न करें।

7.5.3 नौलि

विधि–

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसवयतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते।।

ह0प्र0 2/34

अर्थात् सर्वप्रथम श्वास को बाहर छोड़कर हाथों को घुटनों पर रखें। कन्धों को सामने झुकाए तत्पश्चात् उड्डियान बंध लगाकर नलों को सामने की ओर इकठ्ठा करे फिर तेज गति से उदर को दाएं से बाएं तथा बाएं से दाएं घुमाएं। इसे ही नौलि कहा गया है।

लाभ–

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधायिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः।।
ह0प्र0 2/35

इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा है कि इससे उदर प्रदेश की सभी व्याधियां जैसे मन्द–जठराग्नि, पाचन सम्बन्धी दोष आदि नष्ट हो जाते हैं। यह उदर के सभी अंगों की मालिश करता है तथा उदर की मांस पेशियों को पुष्ट करता है।

सावधानी– यह अभ्यास थोड़ा कठिन है इसलिए इसका अभ्यास संभल कर करना चाहिए। हार्निया या अल्सर आदि रोगों में इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। जिन व्यक्तियों का पेट अत्यधिक कमजोर हो उन्हें धीरे–धीरे ही इसका अभ्यास करना चाहिए। नौलि को घुमाने से पहले धीरे–धीरे घुमाएं वेग से नहीं।

7.5 सारांश

षट्कर्मों का मुख्य उद्देश्य है शरीर का आन्तरिक शोधन। षट्कर्मों का नियमित अभ्यास शरीर को आन्तरिक रूप से शुद्ध करके मलों का नाश करता है, जिससे शरीर रोग मुक्त,

स्वस्थ एवं दीर्घायु होता है। षट्कर्म के द्वारा शरीर कपाल से गुदाद्वार तक की शुद्धि को प्राप्त करता है। षट्कर्मों के अभ्यास से शरीर में स्थित वात, पित्त, कफ साम्यवस्था में रहते हैं। इसके नियमित अभ्यास से नाड़ियों निर्मल एवं स्वच्छ होती है। जिसके फलस्वरूप प्राण का प्रवाह नाड़ियों में आसानी से होता रहता है और साधक अपनी साधना को बिना किसी रूकावट के पूरा करता है।

7.6 शब्दावली

1. अमाशय–पेट
2. नाभि पर्यन्त– नाभि तक
3. प्रविष्ट– प्रवेश
4. कान्तिवान– चमक
5. विकृत– बिगड़ जाना
6. बलिष्ठ– मजबूत

7.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.हठयोग प्रदीपिका– स्वामी स्वात्माराम–कृत, संस्करण कर्ता– स्वामी दिगम्बर जी, प्रकाशक कैवल्यधाम।

2.आसन, प्राणायाम, मुद्राबंध– स्वामी सत्यानन्द सरस्वती।

7.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. षट्कर्म का परिचय देते हुए हठयोग प्रदीपिका में वर्णित नौलि की विधि, लाभ एवं सावधानियों का वर्णन कीजिए।

2. हठयोग प्रदीपिका में वर्णित धौति, एवं वस्ति की विधि, लाभ एवं सावधानियों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई–8 नेति, त्राटक एवं कपालभाति की विधि लाभ एवं सावधानियाँ

इकाई की संरचना

8.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने हठप्रदीपिका में वर्णित षटकर्मो (धौति, वस्ति, नौलि) की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ का अध्ययन किया। प्रस्तुत इकाई में आप नेति, त्राटक एवं कपालभाति की विधि लाभ एवं सावधानियों का वर्णन किया जा रहा है। यौगिक षटकर्म योग का एक अभिन्न अंग है। स्वात्माराम जी ने शरीर शुद्धि एवं राजयोग की प्राप्ति के लिए विविध षटकर्मो का वर्णन किया है।

8.2 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप नेति, त्राटक एवं कपालभाति की विधि की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप नेति,त्राटक, कपालभांति के लाभों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

- प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप नेति,त्राटक, कपालभांति को करते हुए किन–किन सावधानियां को ध्यान में रखना चाहिए। उनकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

8.3 हठयोग प्रदीपिका में वर्णित षट्कर्म

8.3.1 नेति

विधि–

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेच्चैष नेतिः सिद्धैर्निगद्यते।।

ह0प्र0 2/30

अर्थात् स्वात्माराम जी यहाँ सूत्र नेति का ही वर्णन किया है। उन्होनें कहा है कि लगभग 9 इंच लम्बी एवं चिकनी सूत्र जो कि विशेष रूप में तैयार की गई हो, को किसी एक नासिका में डाले तथा धीरे–धीरे उसे मुख से बाहर निकालें । इसी क्रिया को पुनः दूसरी नासिका से भी करें। इसे योगीजन नेति कहते हैं।

लाभ–

कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगोघं नेतिराशु निहन्ति च।।

ह0प्र0 2/31

नेति के लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि नेति करने से कपाल का शोधन होता है। इससे आंखों की रोशनी तेज होती है, साधकों को दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। कन्धे के ऊपर के सभी रोग दूर हो जाते हैं जुकाम, एलर्जी, साइनोसाइटिका आदि सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। नाक की बढ़ी हुई हड्डी भी सूत्रनेति के बिल्कुल ठीक हो जाती है।

सावधानी– सूत्र नेति को नासिका में धीरे–धीरे डालें, जल्दी न करें अन्यथा नाक कें अंदर से खून निकल सकता हैं। घाव होने पर नेति न करें। सूत्र को अच्छी तरह घी आदि से चिकना कर लें। सूत्र नेति करने से पूर्व हाथ के नाखून आदि काट ले अन्यथा सूत्र को मुंह से बाहर निकालते हुए घाव हो सकता है। सूत्र को गरम पानी से धोए।

8.3.2 त्राटक–

विधि–

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्येस्त्राटकं स्मृतम्।।

ह0प्र0 2/32

अर्थात् सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में स्थिर होकर बैठें। तत्पश्चात् अपने से तीन–चार फुट दूर कोई भी सूक्ष्म वस्तु जैसे मोमबत्ती की लौ, दीपक की लौ आदि को लगातार देखते रहें जब तक की दोनों आंखों से आंसू न आ जाए। इसके बाद दोनों हाथों को रगड़कर दोनों आंखों पर लगाएं। कुछ देर आंखों को बंद कर आराम करें उसके बाद पुनः इसी क्रिया को दोहराएं। विद्वानों ने इसे ही त्राटक कहा है।

लाभ–

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्।।

ह0प्र0 2/33

इसका नियमित अभ्यास करने वाले साधक को कभी भी नेत्र सम्बन्धी रोग नहीं होता है। यह तन्द्रा आदि को भी दूर करता है। आंखों की रोशनी बहुत तेजी से बढ़ती है। साधक को भूत–भविष्य सभी अर्थात् दिव्य दृष्टि प्राप्त होती हैं। वह त्रिकालदर्शी हो जाता है। विद्वानों ने इसे स्वर्ण की पेटी के समान मूल्यवान बताया है अतः इसकी रक्षा करना अति आवश्यक है।

सावधानी– त्राटक का अभ्यास धीरे–धीरे बढ़ाना चाहिए। वस्तु की उचित दूरी बनाए रखना अति आवश्यक है। आंखें थकने पर उनकों आराम देना भी बहुत जरूरी है।

8.3.3 कपालभाति

विधि–

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी।।

ह0प्र0 2/36

सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में स्थिर होकर बैठें। तत्पश्चात् वेग से लोहार की धौकनी के समान श्वास–प्रश्वास (रेचक–पूरक) करें। यहीं कपालभाति हैं।

लाभ– कपालभाति का अभ्यास कफ सम्बन्धी विकारों को दूर करता हैं। कफ बढने पर कफ को तुरंत नासिका मार्ग से बाहर फेंकता है। कपाल प्रदेश का शोधन कर उसे कान्तिवान बनाता है तथा चेहरे पर चमक लाता है।

सावधानी– कपालभाति करते हुए केवल नाक का ही प्रयोग करें। मुंह को विकृत न करें। होठों को समान्य रहने दें। उच्च रक्तचाप , हृदय आघात वाले व्यक्ति इसका अभ्यास न करें।

8.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने हठप्रदीपिका में वर्णित नेति, त्राटक एवं कपालभाति की विधि लाभ एवं सावधानियाँ का अध्ययन किया। नेति के बारे में स्वात्माराम जी कहते है 9 इंच लम्बी एवं चिकनी सूत्र जो कि विशेष रूप में तैयार की गई हो, को किसी एक नासिका में डाले तथा धीरे–धीरे उसे मुख से बाहर निकालें । इसी क्रिया को पुनः दूसरी नासिका से भी करें। इसे योगीजन नेति कहते हैं। त्राटक के बारे में स्वात्माराम जी कहते है सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में स्थिर होकर बैठें। तत्पश्चात् अपने से तीन–चार फुट दूर कोई भी सूक्ष्म वस्तु जैसे मोमबत्ती की लौ, दीपक की लौ आदि को लगातार देखते रहें जब तक की दोनों आंखों से आंसू न आ जाए। इसके बाद दोनों हाथों को रगड़कर दोनों आंखों पर लगाएं। कुछ देर आंखों को बंद कर आराम करें उसके बाद पुनः इसी क्रिया को दोहराएं। विद्वानों ने इसे ही त्राटक कहा है। कपालभाति के बारे में स्वात्माराम कहते है वेग से लोहार की धौकनी के समान श्वास–प्रश्वास (रेचक–पूरक) करें।

8.5 शब्दावली

1. तन्द्रा–आलस्य।
2. त्रिकालदर्शी– तीनों कालों को देखने वाला।
3. स्वर्ण–सोना।
4. वेग–तेजी से।
5. विकार– बिमारी।

8.6 सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. हठयोग प्रदीपिका– स्वामी स्वात्माराम–कृत, संस्करण कर्ता– स्वामी दिगम्बर जी, प्रकाशक कैवल्यधाम।
2. आसन, प्राणायाम, मुद्राबंध– स्वामी सत्यानन्द सरस्वती।

8.7 निबंधात्मक प्रश्न

1.नेत्र की ज्योति बढ़ाने के लिए हठयोग प्रदीपिका में वर्णित षट्कर्म की विधि,लाभ, एवं सावधानियों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

2.हठयोग प्रदीपिका के अनुसार कपालभांति का विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई–9 बन्ध एवं मुद्रा का अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य एवं महत्व

इकाई की संरचना

9.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई से हम हठयोग के महत्वपूर्ण विविध पक्षों का अध्ययन किया। हठयोग के ग्रन्थ कहते हैं कि मुद्रा बहुमूल्य साधन है जो कुण्डलिनी का जागरण करके साधक को लक्ष्य तक पहुँचाती है इसे सोने की पिटारी की तरह गुप्त रखना चाहिए। वर्तमान में मुद्राओं पर भी शोध अनुसंधान उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। मुद्राओं का सम्बन्ध शारीरिक स्वास्थ्य से है पर इसके सूक्ष्म प्रभाव हमारे मन पर भी पड़ते हैं। मुद्राओं की सिद्धि होने पर साधक कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है।

9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- मुद्रा का अर्थ व परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे।
- मुद्रा व बंध के उद्देश्यों को समझ सकेंगे।
- मुद्रा व बन्ध के महत्व को जान सकेंगे।
- नाद को जान सकेंगे।

9.3 बंध का अर्थ एवं परिभाषा

योगाभ्यास का यह छोटा परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग है। यह अन्तः शारीरिक प्रक्रिया है। इस अभ्यास के द्वारा व्यक्ति शरीर के विभिन्न अंगों तथा नाडियों को नियंत्रित करने में समर्थ होता है। बन्ध–बन्धने धातु में धञ् प्रत्यय करके बंध शब्द बनता है जिसका अर्थ है बाँधना या नियंत्रित करना। जिस प्रक्रिया द्वारा शरीर के विभिन्न आन्तरिक अवयवों को बांधकर अथवा नियंत्रित करके साधना में प्रवृत्ति होती है। वह क्रिया बंध कहलाती है। बंध का मतलब होता है बंद करना, बांधना, बद्ध करना, जैसे ताला लगा देना। शरीर के विशेष भाग का नाड़ी–स्नायुपेशी जाल आंकुचित किया जाता है। शरीर के भिन्न–भिन्न अंगों को धीरे से, परन्तु शक्तिपूर्वक संकुचित एवं कड़ा किया जाता है। इससे आन्तरिक अंगों की मालिश होती है।

योग के दृष्टिकोण से बंध का प्रयोग प्राणायाम के समय अति आवश्यक है। इसके द्वारा प्राण को नियंत्रित किया जाता है जिससे वह अनिच्छित जगह न जा सके। जहाँ प्राण पहुँचेगा, उसी अंग पर उसका प्रभाव पड़ेगा। अतः बन्ध का प्रयोग करके प्राण को नियंत्रित करके इच्छित स्थान पर उसको ले जाना सम्भव हो जाता है। कहा जा सकता है कि शरीर के अंगो को संकुचित करके प्राण को नियंत्रित करने के लिए वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने की प्रक्रिया का नाम बंध है। जिससे आन्तरिक अंग व स्नायु स्वस्थ तथा क्रियाशील होते हैं। बंध शारीरिक अभ्यास हैं। बंध आध्यात्मिक शक्ति की उत्पत्ति का सूचक है।

9.4 मुद्रा का अर्थ एवं परिभाषाए

हठयोग के ग्रंथो में मुद्रा शब्द हर स्थान पर मिलता है। हठयोग के महत्त्वपूर्ण अभ्यासों में मुद्राओं का अभ्यास महत्वपूर्ण है। सर्वप्रथम मुद्रा का ज्ञान आदि गुरु शिवनी ने अपनी प्रथम शिष्या पार्वती जी को दिया।

'मुद्रा' शब्द का निर्वचन उपादि कोष में इस प्रकार किया गया है–

मोदन्ते हष्यन्ति यया सा मुद्रा यन्त्रिता सुवर्णादि धातुमया वा'

अर्थात् जिसके द्वारा सभी व्यक्ति प्रसन्न होते है। वह मुद्रा है जैसे सुवर्णादि बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त करके व्यक्ति प्रसन्न होता है। 'मुद हर्षे' धातु में 'रक्' प्रत्यय लगाकर मुद्रा शब्द की उत्पत्ति होती है। जिसका अर्थ है प्रसन्नता को प्रदान करने वाली स्थिति।

कोष में मुद्रा शब्द के अनेक अर्थ मिलते है। जैसे मोहर, छाप, मुहरबंद करना, नामांकित अंगूठी, प्रतिभा चिन्ह, पदक, रूपया, रहस्य, अंगो की विशेष स्थिति (हाथ, या मुख की मुद्रा), नृत्य की मुद्रा आदि।

योग के विषय में मुद्रा शब्द को रहस्य तथा अंगों की विशिष्ट स्थिति के अर्थ मे लिया गया है। हठयोग के ग्रन्थों में भी इसकी चर्चा की गई है। यह उच्च अभ्यास है तथा गुरु के निर्देशन में ही इसे करना चाहिए। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में मुद्राओं का अभ्यास अत्यधिक सहायक है। अतः यह अभ्यास आसनों एवं प्राणायामों के अभ्यास से अधिक शक्तिशाली माना जाता है। यह रहस्यमयी है इसलिए देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताई गई है। गोपनीय होने के कारण सार्वजनिक नहीं की जाने वाली है। अतः रहस्य अर्थ उचित है।

आसन व प्राणायाम के साथ बन्धों का प्रयोग करके विशिष्ट स्थिति में बैठकर 'मुद्रा' का अभ्यास किया जाता है। इसलिए इसे अंगों की विशेष स्थिति के रूप में भी लिया जा सकता है। इनमें हाथो तथा मुख की विशेष स्थिति को भी सम्मिलित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ – जानुशिरासन के बैठकर प्राणायाम (कुम्भक) तथा बंधो का प्रयोग करके महामुद्रा का अभ्यास किया जाता है।

'मुद्रा' अत्यन्त बहुमूल्य साधन है जो कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करके साधक को लक्ष्य तक पहुँचाती है। अतः 'सुवर्ण या धन या रूपया' का भाव भी इसमें निहित है। इसकी बहुमूल्यता निःसन्देह सिद्ध होती है।

मुद्रा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि आसन, प्राणायाम की सम्मिलित विशिष्ट स्थिति जिसके द्वारा कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है, मुद्रा कहलाती है।

चित्त को प्रकट करने वाले किसी विशेष भाव को मुद्रा कहते हैं।

उच्च श्रेणी के भारतीय नृत्यों में मुद्रा हाथों की विशेष अवस्था है जो आंतरिक भावों या संवेदनाओं का संकेत करती है। योनिमुद्रा, चिन्मुद्रा आदि अनेक मुद्राएँ हाथ की विशेष

स्थितियाँ है। नृत्य प्रक्रियाओं की भाँति इनका उद्देश्य भी अंतरंग भावों का प्रकटीकरण या साधक के अध्यात्मिक भावों की ओर संकेत करना है।

आसन एवं प्राणायाम की अपेक्षा यह सम्मिलित अभ्यास (मुद्रा) शीघ्र फल प्रदान करता है। मुद्राओं के अभ्यास से साधक सूक्ष्म शरीर या अनैच्छिक शरीरगत प्रक्रियाओं पर और प्राणशक्ति को नियंत्रित कर लेता है। फलस्वरूप उसकी विभिन्न वृत्तियाँ अर्न्तमुखी हो जाती है तथा साधक को साधना में सफलता प्राप्त होती है। साधक अपने प्राणमय कोष और मनोमय कोष को स्वच्छ व निर्मल बना लेता है जिससे चित्त एकाग्र हो जाता है तथा कुण्डलिनी जागरण व समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

9.5 मुद्रा एवं बंध का उद्देश्य

योगशास्त्र में जिन मुद्राओं और बंधो का वर्णन किया गया है। वे तन्त्रिका तंत्र की संवेदनाओं और उत्तेजनाओं को शान्त एवं संयत करने में सहायक सिद्ध होती है। हठयोग में मुद्राओं व बंधो का कार्य साधक को साधना पथ पर अग्रसर करना है जिसके लिए कुण्डलिनी जागरण आवश्यक है। इन मुद्राओं व बंधो के अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है जो हठयोगी की साधना का मुख्य उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक अवयवों को नियंत्रित करके साधक की अन्तःस्त्रावी गन्थियों तथा प्राणशक्ति को प्रभावित करती है। इनके संतुलित रहने पर शारीरिक व मानसिक सुदृढ़ता प्राप्त होती है। मुद्रा के अभ्यास में 'स्थिरता' की बात घेरण्ड संहिता में कही गई है और कहा गया है कि– "मुद्रया स्थिरता चैव"। स्नायु संस्थान को वशीभूत करके इच्छित ऊर्जा का उत्पादन एवं प्रयोग करके स्थिरता का भाव प्राप्त किया जा सकता है। यह भाव साधक को साधना के पथ पर अग्रसर करता है क्योंकि इससे शारीरिक एवं मानसिक स्थिरता या संतुलन प्राप्त होता है। इससे इन्द्रियों में भी स्थिरता आती है और वह अन्तर्मुखी हो जाती है।

इन मुद्राओं के अभ्यास संतंत्रिका तंत्र के द्वारा मस्तिष्क को भेजे जाने वाले संदेश चेतना को जागृत करने में सफल हो जाते हैं।

बन्ध का प्रयोग तंत्रिकाओं को प्रभावित करता है। गले, उदर अथवा गुदाद्वार पर जो तंत्रिकांए कार्यरत है, उन्हें सक्रिय करके अवरोध उत्पन्न कर दिया जाए तो प्राण के लिए ऊर्ध्व, अधो या मध्य मार्ग बंद हो जायेगे और प्राण का सुषुम्ना में गमन होने लगेगा। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने तथा प्राण पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

मुद्राएँ व बंध साधक की बाह्यवृति को समाप्त कर अन्तःवृत्ति को जाग्रत करते हैं जिससे वह संसार की ओर से विमुख होकर साधना पथ पर बढ़ता रहे। इनके अभ्यास से वीतराग होकर साधक लक्ष्य प्राप्ति के प्रति सजग हो जाता है। ऐसा एकाग्रचित्त साधक साधकों की श्रेणी में सम्मान का अधिकारी होता है। स्वामी कुवलयानन्द कहते हैं– 'मुद्रा तथा बंध हठयोग की खास विशेषताएँ है। ये अनेक तंत्रिकापेशी, बंध लगाकर किए जाते हैं। इनमें आन्तरिक दबाव से शरीर में बहुत अधिक परिवर्तन होते है। बंध के अभ्यास से विभिन्न अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। साथ ही साथ कुछ तंत्रिका समूहों को

भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। प्राचीन पुस्तकों में यह दावा किया गया है कि इस प्रकार के यौगिक व्यायाम से पेशाब तथा पाखाने की मात्रा कम हो जाती है।

9.6 मुद्रा तथा बंध का महत्त्व

हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा तथा बंध के महत्त्व को बताते हुए कहा है कि मुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी जागरण में अत्यधिक लाभकारी सिद्ध होता है। मुद्राओं का अभ्यास साधक को सूक्ष्म शरीर स्थित प्राण–शक्ति की तरंगों के प्रति जागरूक बनाता है। अभ्यासी इन शक्तियों पर चेतन रूप से नियंत्रण प्राप्त करता है। फलतः व्यक्ति अपने शरीर के किसी अंग में उसका प्रवाह ले जाने या अन्य व्यक्ति के शरीर में उसे पहुँचाने की क्षमता प्राप्त करता है। मुद्राओं के अभ्यास से बाह्य जगत से सम्बन्ध टूट जाता है, इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रत्याहार की स्थित निर्मित करती है। इसलिए ये अभ्यास आध्यात्मिक साधको के लिए अत्यधिक उपयोगी है। चित्त को एकाग्र करने में भी ये अभ्यास समर्थ है। यद्यपि मुद्राओं का प्रथम उद्देश्य आध्यात्मिक है परन्तु जैसा कि हम जानते हैं कि इनसे मानसिक एवं शारीरिक लाभ प्राप्त होते है। इसके साथ–साथ मुद्राओं के चिकित्सकीय लाभ भी हैं।

बंध योग का एक छोटा परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग है। यह अन्तः शारीरिक प्रक्रिया है, परन्तु अभ्यासी के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त विचारों एवं आत्मिक तरंगों में प्रवेश कर ये चक्रों पर सूक्ष्म प्रभाव डालते हैं। सुषुम्ना नाड़ी में प्राण के स्वतंत्र प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करने वाली ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि तथा रूप ग्रन्थि इसके अभ्यास से खुल जाती है। इस प्रकार आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है।

बंध के अभ्यास वास्तव में स्नायविक अवरोध है, जो शरीर और मस्तिष्क के भीतर जितनी तंत्र–तंत्रिकाए है, उनमें उत्पन्न हो रही संवेदनाओं को अवरुद्ध कर देते हैं और दूसरे प्रकार की संवेदना को जाग्रत करते है। आन्तरिक अंगों में जहाँ पर भी संकुचन या प्रसारण की क्रिया होती है, चाहे गर्दन में हो, चाहे कण्ठ में हो, चाहे जननेन्द्रिय के क्षेत्र में हो या गुदा द्वार के क्षेत्र में हो, वह आन्तरिक अंगों से सम्बन्धित प्रक्रियाओं को बदल देती है, संवेगो को बदल देती है। शरीर को अन्य प्रकार की उत्तेजनात्मक या शान्त अवस्था में ले जाती है, जिसके कारण आन्तरिक स्थिरता का आभास होता है।

बंध का महत्त्व आज चिकित्सा में भी है। योग चिकित्सा में बंधो द्वारा कई बीमारियों को ठीक किया जाता है जैसे मूलबंध के अभ्यास से कब्ज एवं बवासीर ठीक हो जाते हैं। यह बहुमूत्र तथा प्रजनन सम्बन्धी बीमारियों को ठीक करता है। ऐसा अनेको चिकित्सकीय लाभ है जो बंधो के निरंतर अभ्यास से शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं।

स्वामी निरंजनानन्द की मान्यता है कि योग शास्त्र में जिन मुद्राओं और बंधो का वर्णन किया गया है। वे तन्त्रिका तंत्र की संवेदनाओं और उत्तेजनाओं को शांत एवं संयत करने में सहायक सिद्ध होती है। कुण्डलिनी योग या क्रिया योग में जिन मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है जैसे अश्विनी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा, तडागी मुद्रा इत्यादि, उनका प्रभाव प्राणमय कोश पर पड़ता है और वे प्राण के प्रवाह को परिवर्तित करने का प्रयास करती है। उनका प्रभाव मस्तिष्क पर भी पड़ता है और वे चित्त के भीतर भाव विशेष को जाग्रत करने

में सहायक होती है ताकि हम पूर्णता अन्तर्मुखी हो सकें। इनका अभ्यास एकाग्रता प्राप्ति में सहायक होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि बंध एवं मुद्राएँ हमें ब्राह्म या भौतिक जगत से हटाकर अन्तर्गत में ले जाती है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोश पर विजय प्राप्त करने के बाद ही विज्ञानमय कोश में पहुँचने की स्थिति होती है। आसन, प्राणायाम, मुद्रा बंध के माध्यम से अन्नमय, प्राणमय व मनोमय कोश पर नियंत्रण किया जाना सम्भव है। अतः अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मुद्राओं का अभ्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

तस्मान् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।

ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।। ह०प्र० 3/4

अर्थात् ब्रह्मद्वार पर सोती हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए सब प्रयत्न करके मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि मुद्राएँ ही कुण्डलिनी को जगाने के लिए एकमात्र सर्वोत्तम उपाय है। इससे ही मुद्रा के अभ्यास की उपयोगिता सिद्ध होती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

सत्य असत्य बतायें—

1— (क) मुद्रा शब्द की उत्पत्ति मुद् धातु से हुई है।

(ख) मुद्रा से आनन्द की प्राप्ति नहीं होती।

(ग) मुद्राओं के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो सकती है।

(घ) बंध प्राणायाम के अभ्यास में आवश्यक है।

(ङ) नाद के अभ्यास से बाहरी ध्वनि लुप्त हो जाती है।

(च) साधक का मन नाद ध्वनियों में स्थिर भाव होकर आनन्द प्राप्त नहीं करता है।

9.7 सारांश

हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा व बंध की उपयोगिता को स्वीकार किया है। साथ ही नाद की उपयोगिता को भी स्वीकारा है। वास्तव में मुद्रा व बंध हठयोग के अभ्यास में अंतिम पराकाष्ठा को प्राप्त करने में नींव की ईट सिद्ध हो रहे हैं। मुद्रा, बंधों व नाद के अध्ययन से जिज्ञासु पाठक तथा जन सामान्य भी निश्चित हठयोग के अभ्यासों के प्रति रुचि बैठाकर

असीम आनन्द की प्रापित करेंगे और कुण्डलिनी शक्ति का जागरण कर समाधि की प्रापित करेंगे।

9.8 शब्दावली–

कोष	–	खजाना
विशिष्ट	–	विशेष
चित्त	–	मन बुद्धि तथा अहंकार का सम्मलित
अनैच्छिक	–	जो बिना इच्छा के हैं।
प्रवाह	–	गति
ध्वनि	–	आवाज

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

(क) सत्य
(ख) असत्य
(ग) सत्य
(घ) सत्य
(ङ) असत्य

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला
2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
4. भारद्वाज डॉ० ईश्वर (2005) सरल योगासन, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

9.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.मुद्रा व बन्धों से आप क्या समझते हैं? इनके उद्देश्यों की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।
2.मुद्रा व बंधों का अर्थ समझाते हुए इनके महत्व पर भी चर्चा कीजिए।
3.नाद की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

इकाई– 10 निम्नलिखित बन्धों की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ – मूल बन्ध, जालन्धर बंध, उड्डयान बंध, महाबंध

इकाई की संरचना

10.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में हम हठयोग के महत्वपूर्ण अभ्यासों बन्धों की जानकारी प्राप्त करेंगे। हठयोग प्रदीपिका में 10 बन्ध व मुद्राओं का वर्णन है लेकिन हम इस इकाई में केवल चार बन्धों का अध्ययन करेंगे। हठयोग के ग्रन्थ कहते हैं कि बन्ध बहुमूल्य साधन है जो साधक को लक्ष्य तक पहुँचाता है। प्राणायाम के अभ्यासों मे जब कुम्भक किया जाता है तो बन्धों का लगना अति आवश्यक है योग के दृष्टिकोण से बन्धों का प्रयोग प्राणायाम के समय अति आवश्यक है।

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- बन्धों की विधि व लाभों का जान सकेंगे।
- बन्धों की सावधानियों को भी समझ सकेंगे।
- हठयोग प्रदीपिका में वर्णित विविध चारों बन्धों का विश्लेषण कर सकेंगे।

10.3 हठप्रदीपिका के अनुसार मूल बन्ध प्रकरण

विधि–

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।। ह०प्र० 3/60

एडी से सीवनी नाड़ी, जो कि गुदा द्वार में स्थित है, पर दबाब बनकर उसे संकुचित करे तत्पश्चात् अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे। यही मूलबंध है।

लाभ–

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपिसततं मूलबन्धनात्।।
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्,
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा।। ह०प्र० 3/64 65 67 68

लगातार प्रतिदिन मूलबंध का अभ्यास करने से अपान और प्राण की एकता होती है, शरीर में मल–मूत्र की कमी आती है। बूढ़ा व्यक्ति भी जवान हो जाता है। शरीर की अग्नि प्रज्जवलित होती है। अग्नि, अपान प्राण को उष्ण बनाती है जिससे प्रभावित होकर सोई हुई

कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है। और ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट हो जाती है। इसलिए इसका अभ्यास नित्यप्रति आवश्यक है।

सावधानी– एड़ी का दबाव केवल सीवनी पर ही पड़ना चाहिए अन्य किसी स्थान पर नहीं। गृहस्थ व्यक्ति को इसका अभ्यास लम्बे समय तक नहीं करना चाहिए। ऋतुस्त्राव होने पर भी इसका अभ्यास न करे। जिस साधकों में अग्नि तत्त्व की अधिकता हो वो इसका अभ्यास गुरू के निर्देशन में ही करें।

10.4 हठप्रदीपिका के अनुसार जालन्धर बंध प्रकरण

विधि–

कण्ठमाकुंच्य ह्रदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः।।

किसी भी सुविधाजनक आसन में बैठे तथा कण्ठ को संकुचित कर ठुड्डी को ह्रदय (छाती) में दृढ़तापूर्वक लगाए। यह जालन्धर बंध है।

लाभ– बध्नाति हि शिराजालमधोगामिनभोजलम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः।।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।।
कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम्।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्।। ह०प्र० 3/70 71 72

इसके अभ्यास से जरा–मृत्यु का भय नहीं रहता। यह कण्ठ सम्बन्धी सभी रोगों को दूर करता है। यह सोम रस, जो प्रत्येक क्षण नाभी में भस्म होता है उसे भस्म होने से रोकता है। इससे ही शरीर के सोलह आधारों का नियंत्रण होता है। दूसरे वायु के प्रकोप नहीं होते।

सावधानी– सरवाइकल स्पांडिलाइटिस होने पर इसका अभ्यास न करें।

10.5 हठप्रदीपिका के अनुसार उड्डीयान बंध प्रकरण

विधि–

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।। ह०प्र० 3/54

सुषुम्ना नाड़ी के भीतर जो निरूद्ध प्राण प्रवाहित हो रहा है उसे इस अभ्यास द्वारा ऊपर उठाया जाता है इसलिए साधक इस अभ्यास को उड्डीयान बंध का नाम देते हैं।

आगे के सूत्रों में भी यही व्याख्या देखने को मिलती है।

लाभ– **उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।**
उड्डीयानो ह्यासौ बन्धों मृत्युमातङ्गकेसरी।।
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं यथा।
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः।
षण्माससमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डीयाने दृढे बद्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।। **ह०प्र० 3/56 57 58 59**

इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह बंध मृत्यु रूपी हाथी के सामने सिंह के समान है। यदि कोई वृद्ध व्यक्ति भी इसका अभ्यास गुरु के द्वारा बताई गई विधि से करे तो वह भी युवक के समान हो जाता है। कहा भी गया है कि यदि कोई साधक इसका छह महीने लगातार अभ्यास करें तो वह मृत्यु को जीत लेता है। इस बंध को सभी बंधों में श्रेष्ठ कहा गया है। इसके अभ्यास से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सावधानी–आंतों के रोग, हर्निया और उच्च रक्त चाप से पीडित रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही प्राण को ऊपर खींचे।

10.6 हठप्रदीपिका के अनुसार महाबंध प्रकरण

विधि–

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।
निष्पीड्य योनिमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत।।
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत्।। **ह०प्र० 3/18 19 20**

सर्वप्रथम बांये पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को सीवनी पर लगाए तत्पश्चात् दाएँ पैर को बाँयी जंघा पर रखे। धीरे से वायु का पूरक कर अपनी ठुड्डी को छाती से लगाए (जालन्धर बंध) और मूलस्थान (योनि) को संकुचित करे। अपना सारा ध्यान सुषुम्ना पर लगाए। यथाशक्ति कुम्भक् करे तथा धीरे–धीरे वायु का रेचक कर दें। पुनः इसी अभ्यास को पैर बदलकर दोहराए। यह अभ्यास महाबंध कहलाता है।

लाभ–

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः।।

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः।। ह०प्र० 3/22 23

महाबंध सभी महान् सिद्धियों को देने वाला है। यह साधक को मृत्यु के भय से दूर कर शरीर में स्थित तीनो नाडियाँ, इडा, पिंगला, सुषुम्ना का जो संगम स्थान है तथा दोनों भौहो के बीच का स्थान जो शिवस्थान है वहाँ मन को लगाती है अर्थात् यहाँ प्राणिक धाराएँ मिलती है।

सावधानी– सरवाईकल स्पाडिलाइटिस से पीड़ित रोगी, साइटिका या जोड़ो से पीड़ित रोगी इसका अभ्यास न करें। दोनों पैरो को बढ़कर इसका अभ्यास करें, समय सीमा को भी ध्यान में रखे।

अभ्यास प्रश्न–

एक शब्द में उत्तर दीजिए–

(1) (क) हठयोगप्रदीपिका के अनुसार बन्धों की संख्या कितनी है।
(ख) किस बन्ध के सिद्ध हो जाने पर अफन और प्राण की एकता होती है।
(ग) किस बन्ध के सिद्ध हो जाने पर कण्ड सम्बन्धी रोग दूर हो जाते हैं।
(घ) किस बंध के अभ्यास को हर्निया, उच्च रक्त चाप व आँतों के रोग से पीड़ित रोगियों को नहीं करना चाहिए।
(ङ) किस बंध के अभ्यास से सभी महान सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

10.7 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि हठयोग के गन्थों में बन्धों की उपयोगिता को स्वीकार किया है। वास्तव में बन्ध साधक को योग की अन्तिम पराकाष्ठा तक पहुँचानें में सहायक है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करेंगे।

10.8 शब्दावली

उष्ण – तेज
सिंह – शेर
वृद्ध – बुढ़ा
पूरक – श्वास लेना
कुम्भक – श्वास रोकना, प्राणायाम
रेचक – श्वास छोड़ना

10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

(क) 04 (ख) मूलबंध (ग) जालन्धर बंध
(घ) उड्डियान बंध (ङ) महाबंध

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला
2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
3. भारद्वाज डॉ० ईश्वर (2005) सरल योगासन, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.जालन्धर बंध व उड्डियान बंध की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

2.मूल बन्ध व महाबन्ध की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

इकाई–11 निम्नलिखित मुद्राओं की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ – महामुद्रा, महावेध, खेचरी,विपरीत करणी,वज्रोली, शक्तिचालिनी

इकाई की संरचना

11.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में हम हठयोगप्रदीपिका में वर्णित मुद्राओं का अध्ययन करेगे। साधक मुद्राओं को सिद्ध करके ब्रह्मद्वार (मूलस्थान) पर सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है अतः इनका अभ्यास गुप्तनीय बताया है योग के दृष्टिकोण से मुद्राओं का प्रयोग भी प्राणायाम के समय अति आवश्यक है। प्रस्तुत इकाई में आप मुद्रा की विविध अवधारणा का अध्ययन करेंगे।

11.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- मुद्राओं की विविधयाँ तथा लाभों को जान सकोगे।
- मुद्राओं की सावधानियों का भी अध्ययन करेंगे।

11.3 हठप्रदीपिका के अनुसार मुद्रा प्रकरण

हठप्रदीपिका में निम्नांकित मुद्राओं का वर्णन किया गया है।

11.3.1 महामुद्रा

विधि–

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वां कराभ्यां धारयेद्दृढम्।
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।।
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता।। ह०प्र० 3/9 12

सर्वप्रथम बाये पैर को मोड़कर उसकी एड़ी से सीवनी नाड़ी पर दबाव बनाए तथा दाहिने पैर को सीधा रखकर दोनों हाथों से पकड़े। जालन्धर बंध लगाकर वायु का पान कर, उसका कुम्भक करें। यथासम्भव कुम्भक करने के बाद श्वास को धीरे–धीरे बाहर छोड़े। श्वास को तेजी से न छोड़े। योगियों द्वारा यह महामुद्रा बताई है। इसका अभ्यास पैर बदलकर, समय की समानता रखकर ही करना चाहिए।

लाभ– महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।।
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।

तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।ह०प्र० 3/13 15 16 17

इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसके अभ्यास से सभी क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) दूर हो जाते है। मृत्यु का डर भी दूर हो जाता है। इस मुद्रा को योगीजन श्रेष्ठ कहते हैं। साधक के लिए किसी भी तरह का भोजन पथ्य या अपथ्य नहीं रहता। हर वस्तु रसयुक्त हो जाती है। उसकी पाचन शक्ति, क्षमता इतनी बढ़ जाती है कि भयानक से भयानक विष भी पच जाता है। इसका नियमित अभ्यास करने से क्षय (तपेदिक), कुष्ठरोग (चर्मरोग, कोष्ठबद्धता (कब्ज), वायुगोला, अजीर्ण तथा अन्य सभी रोग दूर हो जाते हैं। यह सभी महासिद्धियों को प्रदान करती हूँ, किन्तु इसके अभ्यास को गुप्त रखना चाहिए।

सावधानी– इसका मुद्रा का अभ्यास एकान्त में ही करने का निर्देश दिया है तथा साथ ही इसे गोपनीय रखने को भी कहा है। यह एक उच्च अभ्यास है साधारण जन मानस के लिए इसका अभ्यास उचित नहीं है। उच्च रक्तचाप से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। हृदय रोगियों को भी इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। कुम्भक यथासम्भव, यथाशक्ति ही करें, जबरदस्ती श्वास को न रोके। पूरक तथा रेचक करते हुए श्वास को धीरे–धीरे ही ले व छोड़े। फेफड़ों पर अत्यधिक दबाव न डाले।

11.3.2 महावेध मुद्रा

इस मुद्रा की विधि बताने से पूर्व इसकी विशेषता तथा महत्व के बारे में बताया गया है कि जिस प्रकार एक सुन्दर स्त्री का यौवन बिना पुरुष के बेकार, निष्फल है उसी प्रकार बिना महावेध के महामुद्रा तथा महाबन्ध दोनों बेकार है।

विधि

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः।।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्।। ह०प्र० 3/25 26 27

सर्वप्रथम साधक को दृढ़तापूर्वक महाबन्ध लगाकर मन को शान्त कर एकाग्र करना चाहिए। तत्पश्चात् जालन्धर बंध द्वारा, श्वास को पूरक कर कुम्भक लगाना चाहिए। दोनों हथेलियों को भूमि पर टिका दे (तुलासन की तरह) तथा शरीर का संतुलन बनाते हुए भूमि से नितम्बों को ऊपर उठाकर धीरे–धीरे भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से वायु दोनों स्वरो, नाड़ियों (इड़ा, पिंगला) को छोड़कर सुषुम्ना में बहने

लगती है। वायु के सुषुम्ना में बहने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। मृतावस्था की स्थिति उत्पन्न होने पर कुम्भक को खोल दे तथा वायु का रेचन कर दें (मृतावस्था का अर्थ है जन कुम्भक असहज होने लगें, बैचेनी की स्थिति)।

लाभ– महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः।।
एतत् त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्।।
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्।। ह०प्र० 3/ 28 29 30

इसके लाभों के विषय में कहा गया है कि इसके नियमित अभ्यास करने वाले साधक को अनेक महान् सिद्धियाँ प्राप्त होती है। इसके अभ्यास से शरीर में झुर्री पड़ना, बाल का असमय सफेद हो जाना तथा शरीर का कम्पन दूर होते है इसलिए यह बड़ा ही उत्तम अभ्यास है। आगे चर्चा करते हुए कहा गया है कि ये तीनों (महाबन्ध, महामुद्रा, महावेध) उच्च अभ्यास है इसलिए इनकी चर्चा नहीं करनी चाहिए, इन्हें गुप्त ही रखना चाहिए। ये जरा और मृत्यु का नाश करती है, शरीरस्थ जठराग्नि को प्रदीप्त करती है, अणिमा आदि अनेक सिद्धियों को देने वाली है। कहा भी गया है कि जो साधक नित्यप्रति तीन घंटे में आठ बार इनका अभ्यास करता है उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे सभी पुण्य प्राप्त होते हैं। किन्तु प्रारम्भ में इसका अभ्यास कम ही करें और धीरे–धीरे अपनी क्षमता अनुसार अभ्यास को बढ़ाए। इसके अतिरिक्त यह चेतना द्वारा शरीर में स्थित षट्चक्रों को बेधन करती है। इसके द्वारा आत्मा से सम्बन्ध भी स्थापित होता है। उदर सम्बन्धित सभी रोगों को दूर करती है। पूरे शरीर में प्राण के संचार को बढ़ाती है।

सावधानी– महावेध मुद्रा एक उच्च अभ्यास है और इसके अधिकारी भी उच्च कोटि के ही है। इसका अभ्यास एकान्त में गुप्त ही रखना चाहिए। यथासम्भव ही कुम्भक का प्रयास करें, फेफडों पर अतिरिक्त दबाव न डाले। सूत्र में भी कहा गया है कि नित्यप्रति इसका अभ्यास तीन घंटे में आठ बार करें किन्तु प्रारम्भ से ही ऐसा न करे, धीरे–धीरे ही अभ्यास को बढाए। मेरुदण्ड से सम्बन्धित रोगों में इसका अभ्यास वर्जित है। जोड़ों में दर्द होने पर भी इसका अभ्यास न करे। हथेलियों को भूमि पर अच्छी तरह टिकाए।

11.3.3 खेचरी मुद्रा

विधि– कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। ह०प्र० 3/31

सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन् में बैठे तथा जीभ को पलटकर, कपालकुहर के अन्दर लगाना चाहिए और दृष्टि को भूमध्य (दोनों भौहों के मध्य का स्थान) पर लगाना ही खेचरी मुद्रा है। पहले सूत्र में खेचरी मुद्रा की विधि बताने के बाद, आगे के सूत्रों में जीभ को लम्बा कैसे करे यह बताया गया है।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः।।
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्।।
ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्।।
एवं क्रमेण षण्मासं नित्ययुक्तः समाचरेत्।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति।। ह०प्र० 3/32 33 34

जीभ को किस प्रकार लम्बा करे कि वो सीधे कपाल कुहर में प्रवेश करे, इसके निम्नलिखित तरीके बताए गए हैं। काटना, चालन और दोहन इन तीन क्रियाओं द्वारा ही जीभ बढ़ती है, उसे इतना बढ़ाना है कि वह भूमध्य को स्पर्श करे। ऐसा करने से ही खेचरी सिद्ध होती है। थूअर (स्नुही) के धारदार पत्ते को लेकर, स्निग्ध तथा स्वच्छ (कीटानु रहित) शस्त्र लेकर उससे जिह्वा के तालु को बाल बराबर कॉंटे। कांटने के बाद उस स्थान (जिह्वा तालु) पर सेंधा नमक तथा हरणे का चूर्ण, सात दिन तक लगाए और फिर से बाल बराबर कॉंटे। इसी विधि को छह महीने लगातार करें, ऐसा करने से जिह्वा कामूल (तालु) का शिराबन्ध हट जाता है। इस प्रकार जिह्वा बढ़ जाती है और आसानी से कपालकुहर में प्रवेश करती है।

लाभ—

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः।।
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च।।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्।।

ह०प्र० 3/37—49

खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने वाला साधक विष, रोग, मृत्यु, बुढ़ापे से कभी पीड़ित नहीं होता। अतः वह इन सब पर विजय स्थापित करता है। आगे कहा गया है कि उसे तन्द्रा, निद्रा, भूख, प्यास, मूर्च्छा आदि भी नहीं सताती है। साधक किसी भी कर्म में आसक्त नहीं रहता उसका चित्त शून्य में विचरण करता है। जो साधक खेचरी मुद्रा को करता है उसका

बिन्दु सून्दर स्त्री के स्पर्श मात्र या आलिंगन से भी स्खलित नहीं होता। इस प्रकार का अभ्यास आधे महीने भर मात्र करने से मृत्यु नहीं आती। तक्षक सर्प जिसको सर्पो में बहुत भयानक सर्प माना गया है। कहा जाता है कि खेचरी सिद्ध होने पर अगर सर्प (तक्षक) साधक को काट ले तो उस भयंकर विष का भी साधक पर कोई असर नहीं होता है। साधक को सभी प्रकार के स्वाद जैसे नमकीन, तीखा, खट्टा, दूध, शहद तथा घी आदि अनुभव होते हैं। साधक के शरीर पर शस्त्र–प्रहार को कोई फर्क नहीं पड़ता, उसे अणिमा आदि अन्य आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

सावधानी– खेचरी मुद्रा का अभ्यास बहुत कठिन माना जाता है इसलिए इसे बिना गुरू के निर्देशन के नहीं करना चाहिए। जिह्वा को काटते वक्त बहुत सावधानी बरतें। पहले धीरे–धीरे ही काटे, काँटने के बाद उस पर सेंधा नमक तथा हरड़े के चूर्ण से अच्छी तरह घर्षण करें।

11.3.4 विपरीत करणी मुद्रा–

विधि–

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।। ह०प्र० 3/77

विपरीतकरणी मुद्रा की विधि बताने से पूर्व सोमरस की चर्चा की गई है तथा उसका महत्व बताया गया है। कहा गया है कि सोममण्डल से जो अमृत का स्त्राव होता है वो नाभि में स्थित सूर्य द्वारा भस्म हो जाता है। ऐसा होने से व्यक्ति को बुढ़ापा आ जाता है। इस प्रक्रिया को रोकने के लिए एक दिव्य क्रिया बताई गई है जिसे गुरु द्वारा ही सीखना चाहिए, यह क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा है। इसकी विधि इस प्रकार है–

ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।। ह०प्र० 3/78

पीठ के ऊपर (बल) लेटकर, दोनों पैरो को धीरे–धीरे उठाए जिससे नाभि ऊपर और तालु नीचे हो जाता है अर्थात् सूर्यमण्डल ऊपर और सोममण्डल नीचे होने की प्रक्रिया ही विपरीतकरणी कहलाती है। इसे केवल गुरु द्वारा ही सीखना चाहिए।

लाभ–

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्।।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित्।। ह०प्र०3/79 81

नित्य प्रति इसका अभ्यास करने वाले साधक की जठराग्नि बढ़ती है। इसके छह माह के अभ्यास से ही शरीर की झुर्री तथा सफेद बाल काले हो जाते हैं। जो साधक प्रतिदिन तीन घंटे तक इसका नियमित अभ्यास करे वह मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। उसे बुढ़ापा भी नहीं सताता।

इसके अतिरिक्त इससे शरीर में प्राण के प्रवाह में संतुलन आता है। मुख्यतः प्राण का प्रवाह मणिपुर चक्र से विशुद्धि चक्र की ओर होता है। इससे शरीर की शुद्धि होती है। जिससे शरीर में किसी भी प्रकार की व्याधी नहीं होती। यह ओज–शक्ति को ऊपर के केन्द्रों में ले जानी की एक महत्वपूर्ण मुद्रा है।

सावधानी–इसका नित्यप्रति अभ्यास करने वाले साधक को अभ्यास काल में पर्याप्त भोजन करना चाहिए क्योंकि इस अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है अगर भोजन कम किया जाए तो वह अग्नि शरीर को जलाने लगती है इसलिए भोजन को सही मात्रा में लेना जरूरी है। इसका अभ्यास धीरे–धीरे बढ़ाएँ।

उच्च रक्त चाप, हृदय की किसी बीमारी से पीडित, थाइराइड ग्रन्थि के बढ जाने पर इसका अभ्यास न करें। ऋतुस्त्राव होने पर भी इसका अभ्यास न करें। मेरूदण्ड से सम्बन्धित रोगों में भी इसका अभ्यास न करे। अत्यधिक स्थूल व्यक्ति को इसका अभ्यास (दीवार) किसी के सहारे से ही करना चाहिए।

11.3.5 वज्रोली

विधि बताने से पूर्व हठयोग प्रदीपिका में इसके महत्व को बताया गया है। योगशास्त्र के नियमों को न मानने वाला साधक यदि इस मुद्रा के विषय में जानता है तो वह योग में सफलता प्राप्त करता है। यहाँ दो दुर्लभ वस्तुओं का वर्णन किया है– सोममण्डल का स्त्राव, स्वाधीनाडी (चित्रा नाड़ी) वज्रोली की विधि बताते हुए कहा है–

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकंचनमभ्यसेत्।
पुरुषोप्यथावा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्।।
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात्।।
नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।। ह०प्र० 3/84–86

धीरे–धीरे अच्छी तरह से योनिमण्डल को संकुचित करने का अभ्यास करें। ऐसा करने से दोनों ही (पुरुष तथा नारी) वज्रोली का फल प्राप्त करते हैं। इस मुद्रा को करने के लिए सीसे या चाँदी से बनी नली को धीरे–धीरे मूत्र–नलिका (लिंग छिद्र) में प्रवेश कराए। इस नली की लम्बाई 12–14 इंच होनी चाहिए। पहले दिन 1 इंच या 1 अंगुल ही प्रविष्ट कराए, धीरे–धीरे अभ्यास परिपक्व हो जाने पर पूरी नली (12–14 इंच/अंगुल) को लिंग के भीतर डाले, फिर नली से वायु का प्रवेश कराएँ। इससे लिंग शुद्ध हो जाता है। वायु के बाद शुद्ध व थोड़ा उष्ण जल प्रवेश करवाएँ। तत्पश्चात् बिन्दु का आकर्षण करवाएँ। बिन्दु का आकर्षण हो जाने पर वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है। इसको सिद्ध कर लेने के अनन्तर योनिमण्डल में आकर गिरने वाले बिन्दु को अभ्यास के द्वारा ऊपर उठाए और उस चलायमान बिन्दु को ऊपर

खींच कर सुरक्षित रखें। स्त्रीयोगिनी के लिए भी कहा गया है कि अभ्यास की कुशलता के साथ नारी भी पुरुष के वीर्य का भली प्रकार आकर्षण कर अपने रज का वज्रोली मुद्रा के द्वारा रक्षण करती है तो ऐसी नारी योगिनी प्रशंसनीय है।
वज्रोली मुद्रा के बाद ही दो अन्य मुद्राओं का भी वर्णन किया गया है– सहजोली, अमरोली। सहजोली का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वज्रोली अभ्यास के प्रयोजन से की गई मैथुन प्रक्रिया के अनन्तर गाय के जले हुए गोबर की भस्म को जल में मिलाकर अपने अंग में लगाकर क्रियामुक्त हो विश्राम करने का नाम सहजोली है।

अमरोली का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वज्रोली साधक की पित्त की उत्कटना के कारण शिवाम्बु (स्वमूत्र) की प्रथम धारा तथा मूत्रोत्सर्ग की समाप्ति की धारा को छोड़ कर मध्य की शीतल व पित्त दोष से रहित धारा का पान करना चाहिए। इसी को अमरोली कहा गया है।

लाभ– एवं संरक्षयेद्‌बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।।
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद्‌बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुतः।।ह०प्र० 3/87 88

वज्रोली मुद्रा का लाभो का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो साधक अपने बिन्दु की रक्षा करता है वह अकाल मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है क्योंकि बिन्दु का क्षरण ही मृत्यु है और अगर बिन्दु की रक्षा करे तो जीवन की प्राप्ति होती है। जो साधक बिन्दु का क्षय होने से उसका बचाव करता है उसके शरीर से सुगन्ध पैदा होती है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। इसके अतिरिक्त यह वज्र नामक नाडी को, जो प्रजनन अंगो में प्राण शक्ति का प्रवाह करती है उसको प्रभावित करती है। ब्रह्मचर्य पालन के लिए भी यह बहुत उपयोगी हैं। इससे शरीर पर नियंत्रण स्थापित होता है।

सावधानी– वज्रोली मुद्रा साधारण अभ्यास नहीं है इसलिए इसका अभ्यास धैर्यपूर्वक तथा गुरू के सानिध्य में ही करें।

11.3.6 शक्ति चालिनी मुद्रा– इस मुद्रा की विधि को बताने से पूर्व कुण्डलिनी को कई नामों से सम्बोधित किया गया है जैसे– कुटिलाङ्गी, कुण्डलिनी, भुजङ्गी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरूंधती ये सभी एक ही शब्द के पर्यायवाची हैं– जिसे मार्ग से क्लेश रहित ब्रह्मपद को जाया जाता है। उस मार्ग को मुख से ढककर कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है। कन्द के ऊपरी भाग से सोई हुई यह कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष देने वाली होती है किन्तु मूढ़ लोगों के लिए यही बन्धन का कारण है। कुण्डलिनी सर्प के समान टेढ़ी–मेढ़ी आकार वाली बतायी गयी है। शरीर में इसकी उपस्थिति इड़ा व पिंगला के मध्य में मानी गयी है। शक्ति चालन की विधि बताते हुए कहा गया है।

विधि

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।

निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।।
अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्त्या प्रगृह्यनित्यं परिचालनीया।।
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्।।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।।
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।
भानोराकुंचनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित् सुषुम्नायां समुद्गता।। ह०प्र० 3/107–113

अर्थात् उस सोती हुई शक्ति को पूँछ पकड़ कर जगाना चाहिए। ऐसा करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर एकाएक ऊपर की ओर उठती है। मूलाधार में स्थित उस शक्ति को सुबह–शाम तीन घंटे तक सूर्य नाड़ी से वायु का पूरक कर प्रतिदिन करना चाहिए। शरीर के मूलस्थान से एक बिला (9 इंच) ऊँचाई पर तथा चार अंगुल (3 इंच) विस्तार वाला, कोमल, सफेद वस्त्र को कन्द पर लपटे और शक्ति का चालन करे। वज्रासन में बैठकर दोनों हाथों से टखनों को दृढ़ता से पकड़े और उससे कन्द को दबाए। तत्पश्चात् कुण्डलिनी को चलाने की क्रिया करें और भ्रस्त्रिका प्राणायाम करें। इसे करने से वह शक्ति शीध्र ही जागृत हो जाती है। नाभि प्रवेश में स्थित सूर्य–नाड़ी की आकुंचन करें, तब कुण्डलिनी को चलावें। इससे मृत्यु के मुख में गये हुए भी उस साधक को मृत्यु का भय कैसा? अर्थात् उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। ऐसा दो मुहूर्त तक करे जिससे वह शक्ति ऊपर की ओर खिंच जाती है।

लाभ– येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।।
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशनः।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः।। ह०प्र० 3/116–117

जो साधक इस शक्ति का चालन करता है, वही योगी सिद्धि प्राप्त करता है। वह साधक अनायास ही वह मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। सदैव ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, पथ्यकारक और परिमित भोजन करने वाले, कुण्डलिनी चालन के अभ्यासी साधक को एक मण्डल (40 दिन) में ही सिद्धि के चिन्ह दिखाई देने लगते हैं। इसके अभ्यास से शरीर में स्थित 72000 नाडियों का शोधन होता है, यह

मूलशोधन का श्रेष्ठ उपाय है। इस मुद्रा में भ्रस्त्रिका प्राणायाम से सभी लाभ मिलते हैं।

सावधानी–

यह मुद्रा अत्यन्त गोपनीय है इसका अभ्यास एकान्त में ही करें। इसका अभ्यास गुरु के निर्देशन में ही करें। जोड़ो में दर्द रहने वाले रोगियों, साइटिका से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास वर्जित हैं।

अभ्यास प्रश्न

(1) एक शब्द में उत्तर दीजिए–

(क) किस मुद्रा के अभ्यास से पंच क्लेश दूर हो जाते हैं।

(ख) किस मुद्रा के अभ्यास से झुर्री पड़ना, बालों का सफेद हो जाना तथा शरीर का कम्पन दूर हो जाता है।

(ग) किस मुद्रा के सिद्ध हो जाने पर साधक को भूख, प्यास, मूर्च्छा, तन्द्रा व निद्रा नहीं सताती।

(घ) किस मुद्रा के सिद्ध होने पर साधक के अकाल मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

(ङ) किस मुद्रा के अभ्यास में भस्त्रिाका प्राणायाम की क्रिया की जाती है।

11.4 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि हठयोगप्रदीपिका में मुद्राओं की उपयोगिता को स्वीकार किया है। मुद्रा हठयोग की एक महत्वपूर्ण साधन है। मुद्रा के अभ्यास से काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि कषायों की निवृत्ति होकर चित्त में पवित्रता आती है। साधक भाव से रहित होकर सम्पूर्ण सृष्टि में आत्मभाव देखता है तथा धीरे–धीरे साधक चरम लक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति मुद्रा के अभ्यास से सहज रूप से करता है।

11.5 शब्दावली–

कुम्भक – श्वास रोकना

विष – जहर

अभिनिवेश – मृत्यु का डर

तन्द्रा – आलस्य

व्याधी – रोग

11.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

(क) महामुद्रा (ख) महावेध मुद्रा (ग) खेचरी मुद्रा,

(घ) वज्ररोली मुद्रा (ङ) शक्ति चालिनी मुद्रा

11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला
2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
4. भारद्वाज डॉ० ईश्वर (2005) सरल योगासन, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

11.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. खेचरी व महावेध की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।
2. शक्तिचालिनी मुद्रा व वज्रोली की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।
3. महामुद्रा व विपरीतकरणी मुद्रा की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

इकाई–12 नाद की अवधारणा, नाद का स्वरूप एवं अवस्थायें

इकाई की संरचना

12.1 प्रस्तावना–

पिछली इकाई में आपने हठप्रदीपिका में वर्णित विविध मुद्रा एवं वंधो के बारे में जाना। नाद के स्वरूप के बारे में स्वामी स्वात्मा राम जी ने हठयोग के प्रमुख ग्रंथ हठयोग प्रदीपिका के चतुर्थ उपदेश या चतुर्थ अध्याय में चर्चा की है। नाद के विषय में केवल हठयोग में ही नहीं अपितु उपनिषद् में भी कहा गया है। गोरक्षनाद जी ने तत्त्वज्ञान को पाने में असमर्थ साधकों के लिए हठयोग में नाद की उपासना बताई है। प्रिय पाठकों संसार का माया मोह बंधन भी आत्मा के चारो ओर अन्धकार फैलाता है किन्तु साधना करने से, प्राणायाम का अभ्यास करने से, आत्मा में आवाज सुनाई देती है इसी का नाम नाद है जो परब्रह्म का देवीप्यमान स्वरूप है। प्रस्तुत इकाई में आप नाद तथा नादानुसंधान का अध्ययन करेगे।

12.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप

- नाद की अवधारणा को समझ सकेगे।
- विविध शास्त्रो के परिपेक्ष्य में नाद के अर्थ का विश्लेषण कर सकोगें।
- नाद की विविध अवस्थाओ को जान सकोगें।
- नाद के लाभो का अध्ययन करेगें।

12.3 नाद की अवधारणा

नाद के स्वरूप के बारे में स्वामी स्वात्मा राम जी ने हठयोग के प्रमुख ग्रंथ हठयोग प्रदीपिका के चतुर्थ उपदेश या चतुर्थ अध्याय में चर्चा की है। नाद के विषय में केवल हठयोग में ही नहीं अपितु उपनिषद् में भी कहा गया है। हठयोग प्रदीपिका में ज्योत्सना में ब्रह्मानन्द ने काँसे के घण्टे की ध्वनि की गूँज को नाद कहा है तथा नाद का अंशरूप आत्मा ही कला है।

12.4 विविध ग्रन्थो में नाद का स्वरुप

नाद बिन्दु उपनिषद् में कहा गया है कि–

ब्रह्मप्रणवसंधानं .... मेधापार्येऽशुमानिव।। (नाद बिन्दु उपनिषद) 3/30

अर्थात् आकाश में काले घने बादल फैलकर अन्धकार कर देते हैं किन्तु सूर्य इन काले बादलों से अन्धकार को दूर करता है। संसार का माया मोह बंधन भी आत्मा के चारो ओर अन्धकार फैलाता है किन्तु साधना करने से, प्राणायाम का अभ्यास करने से, आत्मा में आवाज सुनाई देती है इसी का नाम नाद है जो परब्रह्म का देवीप्यमान स्वरूप है।

हठयोगप्रदीपिका के चतुर्थ अध्याय मे नाद के बारे में कहा गया है कि–

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम्।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते।। ह०प्र० 4/65

अर्थात् तत्त्वज्ञान को पाने में असमर्थ साधकों के लिए हठयोगी गोरक्षनाद जी ने नाद की उपासना बताई है।

नाद के विषय में बनाते हुए आगे के सूत्रों में कहा गया है–

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय शाम्भवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः।। ह०प्र० 4/67

अर्थात् मुक्तासन (सिद्धासन) में स्थित होकर अर्थात् बैठकर, शाम्भवी मुद्रा करे, मन को एकाग्र एवं शांत करे साधक अपने दाहिने कान से शरीर के अन्तर्गत ध्वनि को सुनने का प्रयास करे।

नाद को सुनने और महसूस करने की विधि को स्वात्मा राम जी ने बताते हुए कहा है कि–

श्रवणपुटनयनयुगल घ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः।। ह०प्र० 4/68

दोनों हाथों की अंगुलियों से दोनों कानों को, दोनों आँखों, दोनों नासिका को तथा मुख को (षण्मुखी मुद्रा) बंद करने का प्रयास कर साधक को कुछ समय बाद सुषुम्ना जो प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से मलरहित हो चुकी है उसमें से स्पष्ट और पवित्र नाद सुनाई पड़ने लगता है।

12.5 नाद की अवस्थायें

महर्षि स्वात्माराम जी ने नाद की चार अवस्थाएँ बताई है– आरम्भावस्था घटावस्था, परिचयावस्था, निष्पत्ति अवस्था।

12.5.1 आरम्भावस्था – आरम्भावस्था में ब्रह्मग्रन्थि के भेदन के फलस्वरूप आनन्द का अनुभव होता है तथा शरीर अर्थात् अन्तः शरीर में शून्यसम्भूत असाधारण क्षण क्षण रूप अनाहत शब्द सुनाई पड़ता है। वह योगी तब दिव्य देह, ओजस्वी, दिव्यगंध वाला, निरोगी, प्रसन्नचेतस् एवं शून्यचारी हो जाता है।

12.5.2 घटावस्था– घटावस्था में योगी के आसन में दृढ़ होने पर विष्णुग्रन्थि के भेदन से निबद्धवायु का सुषुम्ना में संचार होता है तब अतिशून्य अर्थात् कपालकुहर में परमानन्द का सूचक भेरी (वाद्ययंत्र) एवं आघात जन्य शब्द सुनाई देते है तब योगी ज्ञानी तथा देवतुल्य हो जाता है।

12.5.3 परिचयावस्था– परिचयावस्था (तृतीय अवस्था) में साधक को भ्रूमध्याकाश में ढोल की ध्वनि जैसा नाद सुनाई देता है। और तब प्राण, सभी सिद्धियाँ प्रदान करने वो महाशून्य (अन्तराकाश) में पहुँचता है।

12.5.4 निष्पत्ति अवस्था– निष्पत्ति अवस्था (चतुर्थ अवस्था) में जब वायु रूप ग्रन्थि का भेदन कर आज्ञा चक्र – स्थित शिव के स्थान में पहुँचता है तब साधक की वीणा का झंकृत शब्द सुनाई देता है।

12.6 नाद के लाभ

नाद से उत्पन्न लय तत्क्षण ही आनन्द को देने वाला होता है। नाद के विषय में एवं उसकी ध्वनि के विषय में नाद बिन्दु उपनिषद में कहा है कि यह नाद कभी तेज तो कभी बहुत धीरे सुनाई देता है कभी यह नाद सुनाई देता है तो कभी बंद हो जाता है। नाद को सुनने का अभ्यस्त होने पर ही योगी समाधि अवस्था में पहुँचता है। जब नाद प्रथम बार सुनाई देता है तो यह तेज एवं अलग–अलग प्रकार का सुनाई देता है किन्तु जैसे –जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है यह ध्वनि हल्की और सूक्ष्म हो जाती है। पहली नाद, समुद्र में उठने वाली भयंकर लहरों की टकराहट से उत्पन्न ध्वनि जैसी प्रतीत होती है मध्य भाग में मांदल और घंटा ध्वनि जैसी सदृश होती है और अंत में यह बंसी की मधुर वाणी और भंवरो की गूँजने की आकर्षित ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है। जो साधक कर्करा आवज से घबरा जाते हैं उन्हें यह नाद बाद में सुनाई नहीं देता किन्तु जो साधक धैर्यपूर्वक इस कर्कश नाद को सुनते हैं उन्हीं को यह नाद मधुर से मधुरतम सुनाई पड़ता है। और धीरे–धीरे साधक का मन नाद ध्वनियों में स्थिर भाव होकर मन आनन्द प्राप्त करने लगता है।

हठप्रदीपिका में बताया गया है कि–

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्ममावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्।। ह०प्र० 4/83

इस नाद का अभ्यास करने से बाहरी ध्वनि लुप्त हो जाती है और 15 दिनो के अन्दर ही साधक सभी प्रकार के विघ्नों को जीत कर सुखी हो जाता है।

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः।। ह०प्र० 4/84

अर्थात् अभ्यास के प्रथम चरण में विविध प्रकार के गम्भीर नाद सुनाई देते हैं। बाद में अभ्यास बढ़ने पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर नाद सुनाई देते हैं। सर्वप्रथम समुद्र, मेघ, भेरी, झर्झर–नाद के समान, मध्य में ढोल, शंख, घण्टा तथा घड़ियाल से उत्पन्न के समान और अंत में किड्किणी, वणु, वीणा तथा भ्रमर गुंजार के समान सुषुम्ना में उद्भूत नाना प्रकार के नाद सुनाई देते हैं।

गम्भीर–ध्वनि बाद में सूक्ष्म से सूक्ष्म होती जाती है। मन भी स्थिर होने लगता है, जिस प्रकार मकरन्द (फूलों का रस) का पान कर भ्रमर उसके गंध की अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार नाद में लीन चित्त बाह्य–विषयों की अपेक्षा नहीं रखता।

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः।। ह०प्र० 4/91

अर्थात् विषय रूपी उद्यान में विचरण करने वाले इस चित्त रूपी मदोन्मल हाथी को वश में करने के लिए वह नाद रूपी अतितीक्ष्ण अंकुश सर्वथा समर्थ है।

नाद के स्वरूप को उदाहरण देते हुए कहा गया है कि नाद रूपी बन्धन से बंधा हुआ अर्थात् नाद में आसक्त हुआ चित्त सम्यक प्रकार से अपनी चंचलता को छोड़ देता है अर्थात् क्षण–क्षण में विषय ग्रहण एवं परित्याग रूप चंचलता छोडकर मन भली प्रकार से स्थिरता को प्राप्त होता है। जैसे उदाहरण के लिए आकाश में उड़ने वाले पक्षी के यदि पंख काट लिए जाए तो वह एक ही स्थान पर बैठा रहेगा, ठीक उसी प्रकार प्रतिक्षण विषय बदलते रहने वाला चित्त एकमात्र नाप में आसक्त होकर स्थिरता को प्राप्त होता है।

अभ्यास प्रश्न

एक शब्द में उत्तर दीजिए–

1– क. नाद की कितनी अवस्थायें है।

ख. नाद की किस अवस्था में ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है।

ग. नाद की किस अवस्था में विष्णुग्रन्थि का भेदन होता है।

घ. नाद की किस अवस्था में वीणा की आवाज सुनाई देती है।

12.7 सारांश

नद का हठयोग की साधना में बडा महत्व है। नाद से उत्पन्न लय तत्क्षण ही आनन्द को देने वाला होता है। नाद के विषय में एवं उसकी ध्वनि के विषय में नाद बिन्दु उपनिषद में कहा है कि यह नाद कभी तेज तो कभी बहुत धीरे सुनाई देता है कभी यह नाद सुनाई देता है तो कभी बंद हो जाता है। नाद को सुनने का अभ्यस्त होने पर ही योगी समाधि अवस्था में पहुँचता है। जब नाद प्रथम बार सुनाई देता है तो यह तेज एवं अलग–अलग प्रकार का सुनाई देता है किन्तु जैसे –जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है यह ध्वनि हल्की और सूक्ष्म हो जाती है। नाद की निम्न चार अवस्थायें है।

- आरम्भावस्था – ब्रह्मग्रन्थि का भेदन फल– आनन्द, दिव्य देह, ओजस्वी, दिव्यगंध वाला, निरोगी, प्रसन्नचेतस् एवं शून्यचारी हो जाता है।
- घटावस्था– विष्णुग्रन्थि का भेदन

  फल– वायु का सुषुम्ना में संचार कपालकुहर में परमानन्द का सूचक भेरी (वाद्ययंत्र) एवं आघात जन्य शब्द सुनाई देते है योगी ज्ञानी तथा देवतुल्य हो जाता है।

- परिचयावस्था– भ्रूमध्याकाश में ढोल की ध्वनि जैसा नाद सुनाई देता है। अ फल– सभी सिद्धियाँ प्रदान करने वो महाशून्य (अन्तराकाश) में पहुँचता है।
- निष्पत्ति अवस्था– वायु रूप ग्रन्थि का भेदन

  फल– वीणा का झंकृत शब्द सुनाई देता है।

12.8 शब्दावली

तत्त्वज्ञान– आत्मा का ज्ञान
अनाहत नाद – बिना आवाज के साथ
आहत नाद – आवाज के साथ
घट– घडा
देह– शरीर
मकरन्द– फूलों का रस
मेघ– बादल
भेरी– एक वाद्य यन्त्र

12.9 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

1– क. चार ख. आरम्भावस्था ग.घटावस्था घ. निष्पत्ति अवस्था

12.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला
2. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार।

12.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. नाद से आप क्या समझते है। विविध शास्त्रो के अनुसार नाद की अपधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. नाद की विविध अवस्थाओ का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।

इकाई–13 कुण्डलिनी का स्वरूप तथा कुण्डलिनी जागरण के उपाय

इकाई की संरचना

13.1 प्रस्तावना

पिछली इकाईयो में आपनें बन्ध व मुद्राओं के विविध पक्षों के साथ–साथ नाद की अवधारणा का अध्ययन किया तथा प्रस्तुत इकाई से हम हठयोग के ग्रन्थों में वर्णित कुण्डलिनी शक्ति की जानकारी प्राप्त करेंगे। हठयोग के सभी ग्रन्थों में इस शक्ति का सबसे अधिक वर्णन मिलता है। ग्रन्थकारों ने कुण्डलिनी को सर्प के समान टेढ़ी–मेढ़ी आकार वाली बताया है साधक का मुख्य लक्ष्य कुण्डलिनी जागरण ही है। हम उसे समाधि, निर्वाण, मोक्ष, कैवल्य या मुक्ति कुछ भी कह सकते हैं। इसलिए कुण्डलिनी शक्ति को सोने की पिटारी की तरह गुप्त रखना चाहिए। यह गोपनीय विद्या है।

13.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- कुण्डलिनी के उद्देश्य को समझ सकेंगे।
- कुण्डलिनी के स्थान और अत्कार को जान सकेंगे।
- कुण्डलिनी जागरण का अध्ययन करेंगे।
- हठयोग के ग्रन्थ में वर्णित कुण्डलिनी का विश्लेषण कर सकेंगे।

10.3 कुण्डलिनी शक्ति एक परिचय

हठयोग की परम्परा मे कुण्डलिनी शब्द सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। हठयोग के सभी ग्रंथो में इस शक्ति का सबसे अधिक वर्णन मिलता है। चाहे वह घेरण्ड संहिता हो चाहे शिव संहिता, सभी ग्रंथकारो ने इसका बड़े विस्तार से वर्णन किया है। जैसा कि हम सब जानते हैं कि हठयोग का मुख्य उद्देश्य कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करना है जिसके द्वारा साधक इस संसार के सभी प्रकार के माया–मोह छोड़कर परमात्मा के साथ एकाकार हो जाता है अर्थात् उच्च स्थिति को प्राप्त करता है। इस शक्ति को पश्चिमी विद्वान भी मानते हैं वह इसे सर्पवत् व लयान्विता अग्नि (Serpent Fire) कहते हैं।

मैडम बलैवेट्स्की ने इसे विश्वव्यापी विद्युत शक्ति (Cosmic Electricity) कहा है–

'Kundalini is called the serpentine or annular power, on account of its spiral - like working or progress in the body of the ascetic, developing the power in himself. It is an electric firy ocult for fohatic power, the great pristine force which underlines all organic and inorganic matter.'

(The Voice of the Silence, P. 27)

अर्थात् कुण्डलिनी सर्पाकार या बलयान्विता शक्ति कही जाती है क्योंकि इसकी गति वलयाकार सर्प की जैसे है। योगाभ्यासी के शरीर में यह चक्राकार चलती है और उसमें शक्ति का संचार बढ़ाती है। यह एक वैद्युत अग्निमय गुप्त शक्ति है। यह प्राक्तन शक्ति है जो सेन्द्रिय और निरीन्द्रय सृष्ट पदार्थ मात्र के मूल में है। (कल्याण योगांग पृष्ठ 203)

13.4 कुण्डलिनी का अर्थ

प्रत्येक व्यक्ति को कुण्डलिनी शक्ति के विषय में अवश्य जानना चाहिए क्योंकि यह मानव की उच्च चेतना का प्रतीत है। इस शक्ति को जानने के बाद कुछ और जानने को शेष नहीं रह जाता यही बन्धन और मोक्ष का कारण है।
संस्कृत में 'कुण्डल' का अर्थ होता है– घेरा बनाए हुए। 'कुण्डलिनी' शब्द 'कुण्ड' से बना है तथा इसका अर्थ – कोई गहरा स्थान, छेद या गढ्ढा है। यहाँ कुण्ड का अर्थ है– वह खोखला गढ्ढा जिसमें मस्तिष्क की स्थिति कुण्डली मार कर सोए हुए सर्प की भाँति हैं और यही कुण्डलिनी का वास्तविक अर्थ है।
'कुण्डलिनी' शब्द का तात्पर्य उस शक्ति से है जो गुप्त एवं निष्क्रय अवस्था में है। किन्तु इस शक्ति के प्रकट होने पर अपनी अनुभूति के आधार पर उसे देवी, काली, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी या अन्य किसी भी नाम से जाना जा सकता है। आध्यात्मिक जीवन में जो कुछ भी होता है, वह कुण्डलिनी जागरण से सम्बन्धित है। किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य कुण्डलिनी जागरण ही है। हम उसे समाधि, निर्वाण, मोक्ष, कैवल्य या मुक्ति कुछ भी कह सकते हैं।

13.5 कुण्डलिनी का स्वरूप

हठयोग के प्रत्येक/हर ग्रन्थ में कुण्डलिनी शक्ति को सर्प, सर्पिणी कहा है। हठयोग के ग्रन्थों में कुण्डलिनी शक्ति को एक ऐसी सर्पिणी के रूप में वर्णित किया गया है जिससे सुप्तावस्था में रहने से व्यक्ति को तत्वज्ञान नहीं होता तथा वह संसार के मोह–माया अर्थात् भव–बन्धन में ही फंसा रहता है। जैसे ही साधक इस विषय के बारे में जानता है उसमें तत्वज्ञान के साथ–साथ बहुत सी महान् सिद्धियाँ आ जाती है। वह संसार के सभी बन्धनों को पार कर/छोड़कर मोक्ष का भागी होता है–

> कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
> बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।। ह०प्र० 3/103

हठयोग के प्रमुख ग्रन्थ हठ प्रदीपिका में जहाँ शक्ति चालिनी मुद्रा का वर्णन प्रारम्भ किया है वहाँ पर ही इस शक्ति की विशेष चर्चा हुए है क्योंकि शक्तिचालिनी मुद्रा द्वारा भी इसका जागरण किया जा सकता है। वहाँ प्रारम्भ में इसके अनेक पर्यायवाची शब्द कहे हैं–

> कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी।
> कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः।। ह०प्र० 3/100

अर्थात् कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्ति ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती आदि शब्दों का प्रयोग सिर्फ इसी शक्ति के लिए किया गया है।
आगे चर्चा करते हुए बताया गया है कि–

> उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।
> कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।। ह०प्र० 3/101

अर्थात् जिस प्रकार चाबी द्वारा ही किवाड़ का ताला खोला जाता है उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष द्वार का भेदन करता है।

अन्य ग्रन्थों में भी कहा गया है कि यह शक्ति जागृत होने पर मूलाधार से प्रत्येक चक्र का भेदन करके सहस्रार में पहुँचकर शिव से मिलती है। यह स्थिति प्राप्त करके योगी

धन्य हो जाता है। "जब सहस्रार पूर्ण रूप से जग उठता है तब देहाभिमानी आत्मा में चाहे जब देह से अपने आपको खींच लेने और चाहे जब देह में लौट आने की शक्ति आ जाती है और यह सब करते हुए चित्त में चैतन्य बना रहता है।" (कल्याण योगांक, पृष्ठ 406)

इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद साधक का शरीर, चित्त आदि पर नियंत्रण प्राप्त करके रोग, शोक आदि से मुक्त हो जाता है। तब द्रष्टा की स्वरूपस्थिति हो जाती है– तदा द्रष्टुः स्वरूपे उवस्थानम।। (योग सूत्र – 1/3)

13.6 कुण्डलिनी का स्थान तथा आकार

कुण्डलिनी हमारे शरीर में रीढ़ की हड्डी के सबसे निचले हिस्से में सोई हुई एक गुप्त शक्ति है। पुरुष के शरीर में इसकी स्थिति मूत्राशय और मलाशय के बीच पेरीनियम में है। जबकि स्त्रियों के शरीर में यह गर्भाशय – ग्रीवा यानि सर्विक्स में स्थित है। वस्तुतः यह केन्द्र एक स्थूल संरचना है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं।

हठ योग प्रदीपिका में इसके स्थान को बताते हुए कहा गया है कि–

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः ह०प्र० 3/103

अर्थात् कन्द के ऊपर और उपस्थ के नीचे इस कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है।

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली।ह०प्र० 3/106

इड़ा भगवती गंगा है तथा पिंगला यमुना नदी हैं, इड़ा–पिंगला के बीच में स्थित बालरण्डा कुण्डली है।

योगयाज्ञवल्क्यम् में भी कहा गया है कि मूलाधार चक्र के ऊपन नाभि के पास इसका स्थान है–

तस्योर्ध्वं कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोध्वर्तः।। (योगयाज्ञ० 4/21)

भक्तिसागर में इसका स्थान नाभि को बनाया गया है–

नाभिस्थान नागिन रहै कुण्डल शशी अकार।
प्राणपियारा वही है आगे सुनौ विचार।। (भ०सा०अ०यो० – 106)

तथा

ब्रह्मनाडिका के छिद्र माँही।
रोकि रही मुख दे रही छाँही।।
लाय लपेटे नाभि ठाहीं।
दृढ छै बैठि सरकै नाहिं।। (भ०सा०अ० योग – 101)

अर्थात् सुषुम्ना से स्थित ब्रह्मनाड़ी के अंतिम छोर पर उसके छिद्र में मुँह लगाकर सोई हुई है। उसने नाभि में लपेट लगा रखी है जिससे ऊपर की तरफ नहीं जाती। तथा–

नाभिठौर ताका है वासा।। (वही – 107)

कुण्डलिनी शक्ति का आकार

कुण्डलिनी शक्ति के आकार के बारे में बताते हुए कहा गया है कि–

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः।। ह०प्र० 3/104

अर्थात् कुण्डलिनी सर्प के सामान टेढ़ी–मेढ़ी आकार वाली बतायी गई है।

आकार के सम्बन्ध में भक्ति सागर में कहा है–

सवाविलस्त की जाकी देही।
तामें अस्थित नीव सनेही।। (भ०सा०अ०यो० – 101)
नागिन सूक्ष्म जानिए बाल सहसवाँ भाग।
शुकदेव कहै आकार ही, रक्त चरण ज्योंनाग।। (वही – 108)
नाभिठौर ताका है वामा। पराग मणिज्यों परकासा।
आठ लपेटे वाई जानौ। तातै शक्ति कुण्डली मानौ।। (वही – 108)

अर्थात् सवा बालिश्त (लगभग एक फुट) लम्बी, बाल के हजारवें भाग के बराबर नागिन की तरह अत्यन्त सूक्ष्म लाल रंग की है। पराग मणि की तरह रक्तिम् प्रकाशयुक्त, कुण्डलिनी आठ लपेटे वेकर नाभिस्थान में सुप्तावस्था में स्थित है। योगयाज्ञवल्क्यम् में भी आठ प्रकृति रूप आठ कुण्डल (लपेट) की चर्चा की गई है। यहाँ सर्पिणी रूपी कुण्डलिनी द्वारा आठ लपेट लगाने की चर्चा की गई है तथा उसे नाभिस्थान में अवस्थित कहा है।

13.7 कुण्डलिनी शक्ति का जागरण

कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए योगाभ्यासो जैसे– आसन, प्राणायाम, मुद्रा, क्रिया योग और ध्यान के द्वारा तैयारी करनी पड़ती है। जब हम प्राणों के प्रवाह को कुण्डलिनी के निवास तक प्रेषित करने में सफल हो जाते हैं तो इस शक्ति का जागरण होता है तथा यह मुख्य नाड़ी, सुषुम्ना के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुँचती है। कुण्डलिनी अपनी उर्ध्व गमन के समय सभी चक्रो का भेदन करती है।

कुण्डलिनी जागरण के कई उपाए बताए गए है। स्वामी सत्यानन्द द्वारा लिखी गई पुस्तक कुण्डलिनी योग में निम्नलिखित उपायों का वर्णन किया है–

(1) जन्मजात कुण्डलिनी जागरण
(2) मंत्र द्वारा जागरण
(3) तपस्या द्वारा जागरण
(4) जड़ी–बूटियों द्वारा जागरण
(5) राजयोग साधना द्वारा जागरण
(6) प्राणायाम द्वारा जागरण
(7) क्रिया योग द्वारा जागरण
(8) तांत्रिका दीक्षा द्वारा जागरण
(9) शक्तिपात द्वारा जागरण
(10) आत्मसमर्पण द्वारा जागरण

इन उपायों में जन्मजात कुण्डलिनी जागरण पूर्वजन्म की साधना के संस्कारों से होता है। शक्तिपात द्वारा जागरण गुरु की इच्छा पर निर्भर होता है। अन्य उपायों में साधक स्वयं परिश्रम करता है। इनमें प्राणायाम द्वारा शक्ति जागरण हठयोग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है।

हठयोगप्रदीपिका में कुण्डलिनी जागरण को मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन माना है इसलिए इसके जागरण पर अत्यधिक बल दिया गया है–

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।। ह०प्र० 3/101
102

अर्थात् जैसे चाबी के द्वारा आसानी से द्वार को खोला जा सकता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर मोक्षद्वार का भेदन किया जा सकता है। जिस मार्ग से ब्रह्मस्थान को सुगमतापूर्वक जाया जा सकता है, उस द्वार को अपने मुख से ढककर यह परमेश्वरी शक्ति (कुण्डलिनी) सुप्त पड़ी है। इसको जगाने की विधि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस शक्ति की पूँछ पकड़कर जगाना चाहिए जिससे यह उर्ध्व गति करें–

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।

निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।। ह०प्र० 3/107

हठयोग प्रदीपिका में इस शक्ति को जगाने के लिए कन्दपीडासन करके भस्त्रिका प्राणायाम (शक्तिचालिनी भुद्रा) करने को कहा है–

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।

गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।। ह०प्र० 3/110

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।

कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।। ह०प्र० 3/111

उसे दो मुहूर्त (40 मिनट) तक इस विधि को करे। इससे वह शक्ति सुषुम्ना मुख को छोड़ देती है जिससे सुषुम्ना में प्राणसंचरण हो जाता है–

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित् सुषुम्नायां समुद्गता।। ह०प्र० 3/113
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः।। ह०प्र० 3/114

स्वामी चरणदास भस्त्रिका प्राणायाम की महत्ता बताते हुए कहते है–

कुण्डलिनी देवै जगाय यह कुम्भक सुखदाय।
करजु हित व्रत धारिकै चरणदास चितलाय।।
शिव शक्ति मेला भवै रहे न दूजो भाव।

कुण्डलिनी परबोधका जो कोई करै उपाव।।

अर्थात् यह भस्त्रिका प्राणायाम कुण्डलिनी को जगाने वाला है। मन में निष्ठा से व्रत धारण कर इसका अभ्यास करना चाहिए। इसके द्वारा ही शिव–शक्ति का मिलन होकर साधक को एकत्व भाव की प्राप्ति होती है। कुण्डलिनी शक्ति जागरण की प्रक्रिया में जब शक्ति जागृत होकर उर्ध्वगमन करती है तो क्रमशः चक्रों में चेतय व्याप्त हो जाती है। चेतना आने पर अधोमुख कमल (चक्र) उर्ध्व मुख हो जाते हैं। प्रत्येक चक्र में कुण्डलिनी शक्ति के पहुँचने पर तत्सम्बन्धी नाडियाँ प्रकाशमान होकर अत्यधिक गतिशील हो जाती है। आज्ञाचक्र पर पहुँचने पर ध्यान की स्थिति प्रगाढ़ होकर सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है तथा सहस्रार चक्र में पहुँचने पर असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती है। पूर्ण ज्ञान की स्थिति भी तभी प्राप्त हो जाती है तथा साधक में अनेकानेक योग्यताएँ (सिद्धियाँ) आ जाती है। किन्तु चक्र भेदन सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। इसके लिए ध्यान की प्रगाढ़ता आवश्यक है तथा महर्षि पतंजलि प्रणीत चतुर्थ प्राणायाम (बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी) को भली भाँति दृढ़ कर लेना चाहिए। भोजन शुद्ध, सात्विक, सुपाच्य, अल्पमात्रा में लेना चाहिए। अभ्यास की दृढ़ता तथा गुरु–निर्देशन आवश्यक है। यह गोपनीय विद्या है। अतः प्रकट नहीं करनी चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

एक शब्द में उत्तर दीजिए–

(क) किस वैज्ञानिक ने कुण्डलिनी को Cosmic Electricity कहा है।

(ख) किस ग्रन्थ में कुण्डिलनी का स्थान कन्द के ऊपर और उपस्य के नीचे बताया गया है।

(ग) किस ग्रन्थ में कुण्डलिनी का स्थान नाभि बताया गया है।

(घ) भक्ति सागर में कुण्डलिनी का आकार कितना बताया गया है।

(ङ) कुण्डलिनी जागरण के लिए किस प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

13.8 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके ळें कि हठयोग के ग्रन्थों में कुण्डलिनी की उपयोगिता को स्वीकार किया है। वाक्तव में कुण्डलिनी हठयोग के अभ्यास में अंतिम पराकाष्ठा को प्राप्त करने में सहायक है। कुण्डलिनी के अध्ययन से जिज्ञासु पाठक तािा जन सामान्य भी असीम आनन्द की प्रापित करेंगे और कुण्डलिनी शक्ति का जागरण कर समाधि की प्रापित करेंगे।

13.9 शब्दावली–

प्राक्तन शक्ति	–दैवीय शक्ति
निर्वाण	– मुक्ति,समाधि
कन्द	– जमीन के अन्दर का फल
इड़ा	–चन्द्र नाड़ी
पिंगला	–सूर्य नाड़ी
निष्ठा	– किसी चीज पर अखण्ड विश्वास
एकत्व भाव	– एक भाव
ऊर्ध्वगमन	– ऊपर की और जाना
सुपाच्य	– पचने योग्य
मुहूर्त	– शुभ समय

13.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

(क) मैडम बलैवेट्स्की
(ख) हठयोगप्रदीपिका
(ग) भक्तिसागर
(घ) सवा वालिश्त (लगभग एक फुट)
(ङ) भस्त्रिका प्राणायाम

13.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला

2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार

3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार

13.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कुण्डलिनी शक्ति से आप क्या समझते हैं? कुण्डलिनी का अर्थ तथा स्वरूप की विस्तार से चर्चा कीजिए।

2. कुण्डलिनी शक्ति के स्थान तथा आकार की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

3. कुण्डलिनी शक्ति जागरण का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

इकाई– 14 घेरण्ड संहिता में वर्णित धौति की विधि लाभ एवं सावधानियॉं

इकाई की संरचना

14.1 प्रस्तावना

योग वस्तुतः प्राचीनतम आर्ष ग्रन्थों से निकलना नवनीत है। योग की विविध विधाओं (ज्ञान, योग, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, हठयोग इत्यादि) के माध्यम से योगी अपने अभीष्ठ की प्राप्ति करता है। हठयोग योग की एक महत्वपूर्ण शाखा है। जिसमें शुद्धिकरण की क्रियाओं में षटकर्मो का उल्लेख किया गया है। महर्षि घेरण्ड ने घेरण्ड संहिता नामक पुस्तक में छ कर्म घट रूपी शरीर को शुद्धि के लिए बताये गये हैं जिनमें घौति कर्म सबसे पहला कर्म है। घौति का अर्थ धोने अर्थात शुद्धिकरण के रूप में प्रयुक्त होता है।

14.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप

- धौति कर्म क्या है समझ सकोगे।
- धौति के विविध प्रकारों का विश्लेषण करेंगे।

- धौति के विविध लाभों को जान सकोगे।
- धौति कर्म करते समय सावधानियों का अध्ययन करेंगे।

14.3 धौति

प्रस्तुत इकाई में धौति कर्म का विस्तार से वर्णन किया गया है। धौति षटकर्मो में सबसे पहला कर्म है। योग की अभीप्सा रखने वाले विद्यार्थियों में धौति के बारे में निम्न प्रश्नों के उत्तर जानने की अभिलाषा रहती है।

- धौति कर्म वस्तुत क्या है ?
- धौति कर्म की विधि क्या है और यह कैसे की जाती है ?
- धौति कर्म के शरीर पर क्या प्रभाव पढते हैं ?
- धौति करते समय मुख्यत कौन–कौन सी सावधानियॉ बरतनी चाहिए ?

अगले पृष्ठों का अध्ययन कर लेने के बाद आप उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर जान लेने में सक्षम हो जायेगें। धौति अर्थात धोना वाहय रूप से शरीर की शुद्धि के लिए हम तरह–तरह के उपाय करते हैं जैसे स्नान इत्यादि। पर अन्तःकरण की सफाई के लिए शरीर को शुद्ध करने के लिए महर्षि घेरण्ड ने घौति कर्म किया है। धौति कर्म के माध्यम से योगी विविध तत्वों जल, वायु, अग्नि, के माध्यम से घडे रूपी शरीर की सफाई करता है।

महर्षि घेरण्ड ने घर रूपी शरीर की शुद्धि के लिए निम्न चार प्रकार की धौतियों का वर्णन किया है और पहले अध्याय के 13 वें श्लोक में कहा है।

'अन्त धौंतिर्दन्त धौतिर्हद्धौतिर्मूलशोधनम
धौतिंचतुर्विद्यांकृत्वाघटं कुर्वन्ति निर्मलम्

घेरण्ड संहिता 1/13

अन्तः धौति,दन्त धौति, हृद धौति और मूलशोधन के भेद से धौति कर्म चार प्रकार का माना गया है। इसके द्धारा योगी जन अपने शरीर को स्वच्छ कर अच्छा स्वास्थ्य बनाते हैं।

14.3.1 अन्त धौति – वस्तुतः शरीर और मन को विकार रहित बनाने के लिए शुद्धिकरण अत्यन्त आवश्यक है। विविध रोग भी अशुद्धि की अवस्था में ही जन्म लेते हैं। अन्तः धौति का अर्थ है– अन्तः अर्थात आन्तरिक या भीतरी तथा धौति का कार्य है धोना अर्थात आन्तरिक सफाई के रूप में अन्तः धौति का प्रयोग किया जाता है। अन्त धौति के निम्न चार प्रकार हैं।

(क) वातसार अन्त धौतिः वात अर्थात हवा या वायु और सार का अर्थ है तत्व अर्थात वायु तत्व से अन्तःकरण की सफाई करना वातसार अन्तः धौति का प्रमुख उददेश्य है। महर्षि घेरण्ड ने घेरण्ड संहिता में वातसार धौति की निम्न विधि बताई है।

काकचक्ष्चु वदास्योन पिबेद्धायुं शनै शनै

अर्थात कौवे की चोंच के समान दोनों ओठों को करके शनैः शनैः वायु को पीयें। पूर्णरूप से पान कर लेने पर पेट में उसका परिचालन करें और फिर उस वायु को निकाल दे।

क्रियाविधि–

(1) सर्वप्रथम किसी अभ्यस्थ ध्यान के आसन में बैठ जाये। (2) कमर सिर व गर्दन को एकदम सीधा रखें। (3) मुंह से कौवे की चोंच सा आकार बनायें। (4) धीरे–धीरे वायु का पान करते हुए पेट में भरने का प्रयत्न करें। (5) जब पूरी श्वास से पेट भर जाये तब शरीर ढीला कर वायु को उदर में घुमायें (6) धीरे.धीरे श्वास को दोनों नासाछिद्रों से बाहर निकाल दें।

लाभ –

(1) इस गोपनीय क्रिया से शरीर निर्मल होता है। (2) यह कफ दोष को दूर करती है।

(3) सभी रोगों को नष्ट करती है। (4) पाचन शक्ति को बढाती है तथा जठराग्नि को भी तेज करती है।

(5) अम्लर पित्त में बेहद लाभकारी है।

सावधानियॉ –

(1) यह क्रिया हमेशा खाली पेट करें।

(2) यह अभ्यास अधिकतम पॉच बार ही करना चाहिए।

(3) अधिक वृद्ध व्यक्ति कमजोर व्यक्ति यह अभ्यास न करें।

(4) हृदय रोगी या कोई बडा आपरेशन हुआ हो तो वह व्यक्ति इस अभ्यास को न करे।

(ख) वरिसार अन्तः धौति : वारि अर्थात जल तथा सार का अर्थ है तत्व इस धौति में जल तत्व से अन्तःकरण की सफाई की जाती है अत इसे वारिसार अन्तः धौति कहा जाता है। महर्षि घेरण्ड ने घेरण्ड संहिता के 17 वें व 18 वें श्लोक में कहा है।

''आकण्यं पूरयेद्वारि वक्त्रेण च पिबेच्छदनै

चालये दुदरेणैव चोदराद्रेचयेदधः

वारिसारे पर गोप्यें देहनिर्मल कारकम्

साधयेन्तपत्र्र यलेन देवदेहं प्रपधते''

घेरण्ड संहिता 17,18

अर्थात :– मुख से धीरे–धीरे जल पीतें हुए कण्ठ तक जल से भर लेना है। इसके बाद उदर को चला कर जल को अधोमार्ग से निकाल देना है। यह वारिसार नामक धौति परम गोपनीय एवं शरीर को स्वच्छ करती है। इसका प्रयत्नपूर्वक साधन करने वाले योगी को देवताओं के समान शरीर की प्राप्ति होती है।

क्रियाविधि–

इस क्रिया को शंखप्रक्षालन भी कहते हैं।

(1) एक बाल्टी में गुनगुना पानी लें तथा उसमें स्वादानुसार नमक डाल दें।

(2) सर्वप्रथम दो गिलास गुनगुना पानी पीये फिर निम्न पॉच आसन त्वरित गति से करें।

- ताडासन
- तिर्यक ताडासन
- कटि चक्रासन
- तिर्यक भुजगांसन
- उदराकर्षण

(3) फिर पुनः 2 गिलास पानी पीकर उपरोक्त आसनों को करें।

(4) जब तक शौच की इच्छा न हो उन क्रिया दोहराते रहें।

(5) 10–15 गिलास पानी पीकर जब उक्त क्रिया हो जाये तो विश्राम करें।

(नोट– उक्त यौगिक क्रिया का वर्णन आपको सिर्फ अध्ययन करने के लिये बताया जा रहा है। इस क्रिया को कुशल मार्गदर्शन में ही करें।)

लाभ–

यह शरीर की शुद्धि की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है इसके मुख्य लाभ निम्नांकित है–

(1) इस क्रिया से समस्त पाचन संस्थान की सफाई होती है।

(2) शरीर में अपशिष्ट पदार्थ (मल) पूर्ण रूप से निकल जाता है।

(3) इस क्रिया से देव देह की प्राप्ति होती है।

(4) योगी देवता के समान दिव्य, कान्तिमान, ओजस्वी हो जाता है।

(5) मोटापे को कम करता है तथा शरीर हल्का हो जाता है।

सावधानियॉ –

(1) इस अभ्यास को हमेशा कुशल, योगगुरू के सलाह में ही करें।

(2) उच्च रक्तचाप ह्दय रोग में यह अभ्यास सोंफ के पानी के साथ उचित मार्गदर्शन में किया जाता है।

(3) गर्भवती स्त्री, हार्निया से पीडित व्यक्ति बिल्कुल इस अभ्यास को न करें।

(4) अभ्यास के बाद व पहले दिन से ही रसाहार पतली खिचडी का सेवन ही करना चाहिए।

(5) चूंकि वारिसार धौति (शंखप्रक्षालन) से शरीर नाजुक हो जाता है। अतः 40 दिनों तक कोई एलोपैथिक दवाइयों का सेवन ना करें।

(ग) अग्निसार अन्तः धौतिः– अग्नि शब्द से आप सर्वविदित होगें और सार का अर्थ है तत्व चूंकि इस अभ्यास से जठराग्नि बढती है तथा पाचन क्रिया बढती है इसलिए इसे अग्निसार अन्तः धौति कहा जाता है। महर्षि घेरण्ड कहते है।

'नाभिग्रन्थि मेरूपृष्ठ रूतवारं चकारयेत्
अग्निसारमियं धौतियागिनां योगसिद्धदा
उदरामयजं त्व क्यायिं जठराग्नि विवर्द्धियेत
एसा धौतिरूपरा गोप्या देवानापि दुर्लभा
केवलं धौतिमाद्त्रेण देवदेहं भवेद ध्रुवम्'
घेरण्ड संहिता 19–20

अर्थात प्राण वायु को रोक कर नाभि को पृष्ठ भाग में लगायें। इससे अग्निसार धौतिकर्म सम्पन्न होता है। इससे सभी उदर रोग नष्ट होते हैं जठराग्नि तीव्र होती है। यह धौति कर्म अत्यन्त गोपनीय और देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। केवल इस कर्म के करने मात्र से देवताओं जैसा शरीर हो जाता है। इसमें सन्देह नही है।

क्रियाविधि–

(1) वज्रासन, अर्धपद्मासन या सिंहासन में बैठें।

(2) रीढ की हडडी एक सीध में रखिए।

(3) दोनों हाथ को तानकर घुटनों में रखिए।

(4) मुंह खोलकर जीभ बाहर निकालकर पूरी श्वास को बाहर निकाल दीजिए।

(5) श्वास को बाहर रोककर पेट को जल्दी–जल्दी अन्दर–बाहर करें। यह प्रयास रहे कि नाभि प्रदेश पृष्ठ भाग पर लगे।

(6) कुछ पल आराम के बाद इस क्रिया को पुनः उचित मार्गदर्शन में दोहराये।

लाभ

(1) पाचन सम्बन्धी विकारों को नष्ट करता है।

(2) उदर गत मॉसपेशियों को मजबूत बनाता है।

(3) जठराग्नि को तेज कर पाचक रसों का नियंत्रण करता है।

(4) मानसिक रोंगों में अवसाद की अन्तर्मुखी अवस्था में लाभकारी है।

(5) योग के आध्यात्मिक लाभ कुण्डलीनी जागरण में भी सहायक है।

सावधानियॉ

(1) वस्तुतः योग की सभी क्रियायें खाली पेट की जानी हैं। अतः भोजन के बाद इसे नही करें।

(2) उच्चत चाप व ह्दय रोगी इस अभ्यास को बिल्कुल ना करें।

(3) अल्सर, हार्नियॉ, दमा के रोगियों के लिए वर्जित है।

(4) शारीरिक क्षमता के अनुसार गुरू के निर्देश में ही करें।

(घ) बहिष्कृत अतःधौतिः– बहिष्कृत का अर्थ त्यागने छोडने या निकालने के अर्थ में प्रयोग होता है। इस धौति में अन्त.करण से अवशिष्ट वायु को गुदा मार्ग से बाहर निकालते हैं। महर्षि घेरण्ड, घेरण्ड संहिता 1/21 में कहते है– अर्थात कौवे की चोंच के समान ओठों को करके उनके द्धारा वायु–पान करते हुए उदर को भर लें। उस पान की हुई वायु को आधे प्रहर (1) घंटे तक उदर में रोक कर परिचालित करते हुए अधोमार्ग से निकाल दें। यह परम गोपनीय वहिष्कृत धौति कहलाती है।

क्रियाविधि–

यह क्रिया सहज नही की जा सकती एक योग्य शिक्षक की देखरेख में करें अन्यथा परेशानियॉ हो सकती है। (1) ध्यान के कोई आसन में बैठ जाये

(2) दोनों हाथों को घुटने पर रखें।

(3) काकी मुद्रा (कोवे की चोंच के समान) में वायु का धीरे–धीरे पान करें।

(4) 1 घंटे वायु का परिचालन पेट पर होने दें। अन्त में अधोमार्ग से उसे बाहर निकाल दें।

लाभ–

(1) उदरगत विकार दूर होते है।

(2) शरीर हल्का, कान्तिमान हो जाता है।

(3) कुण्डलीनी शक्ति जागरण में लाभकारी है।

(4) प्रजनन संस्थान को बलिष्ठ बनाती हैं।

सावधानियॉ–

वही व्यक्ति इस अभ्यास को करे जिसे 1 घंटे श्वास रोकने का अभ्यास हो। इसे एक योगी ही कर सकता है। अतः इस अभ्यास में विशेष मार्गदर्शन की आवश्यकता है।

14.3.2 दन्त धौति–

सामान्य रूप से आप दन्ते धौति का अर्थ दॉतों की सफाई के रूप में समझ रहे होगें। लेकिन दन्त–धौति को महर्षि घेरण्ड ने शीर्ष प्रदेश की सम्पूर्ण स्वच्छता के रूप में प्रयुक्त है। इस धौति के निम्न प्रकार है।

(क) दन्त मूल धौतिः– दन्त मूल अर्थात दॉतों की जड और धौति का अर्थ है धोना। अर्थात इस अभ्यास में दॉतों की जड की स्वच्छता की जाती है। महर्षि घेरण्ड कहते हैं।

'खादिरेण रसेनाथं शुद्धमृक्तिकया तथा
मार्जयेदन्तामूलं च यावत्किल्विषमाहरेत्
दन्त मूलं पराधौतियोगिनां योग साधने
नित्यौं कुर्यात्प्रकभाते च दन्तसरक्षाच योगवित्

दन्त मूंल धावनादिकार्येष योगिनां मतम'

घेरण्ड संहिता 26/27

जब तक मैल न छूटे तब तक खादिर के रस अथवा विशुद्ध मिट्टी से दॉतों की जडों को मॉजना चाहिए। योगियों को यह साधन अपने दॉतों की रक्षा के लिए नित्या प्रातःकाल अवश्य करना चाहिए। योग को जानने वाले पुरूष इस दन्तमूल धौति को प्रमुख कर्म मानते हैं।

क्रियाविधि–

प्राचीन समय में दन्तमंजन चूर्ण बनाने की विधि आयुर्वेद में बताई गई है। दन्तमंजन चूर्ण के अलावा शुद्ध चिकनी मिट्टी (जिसे घर में लिपने में प्रयोग करते हैं) या खादिर (कत्थे) के रस को मिट्टी में मिलाकर तर्जनी अंगुली से दॉतों की जडों को साफ करते हैं। फिर शुद्ध पानी से कुल्ला कीजिए। यह क्रिया प्रातःकाल व सांय भोजन के बाद भी की जा सकती है।

लाभ–

नित्य इस अभ्यास को करने से दॉतों की सफाई तो होती ही है साथ ही साथ दॉतों मं फॅसा मल भोजन के टुकडे बाहर निकल जाते है। मुंह में कहीं छाले पडे हो तो खादिर का रस औषधि का काम भी करता है।

सावधानियॉ–

(1) जिस भी चूर्ण (दंत मंजन, खादिर, मिट्टी) का उपयोग कर रहे हो वह बारीक पीसा गया हो।

(2) दॉतों में पीब, कीडे या छेद हो तो आयुर्वेदिक औषधि चिकित्सा के बाद ही इस अभ्यास को करें।

विशेषः– दन्त मंजन चूर्ण बनाने की एक सस्ती व सरल प्रक्रिया है। बादाम के छिलकों को आग में जलाकर कोयला बना लें फिर उस कोयले का पाउडर बनाकर उसमें पीसी लोंग, सेंधा नमक, नीम के पत्तों का पाउडर मिला दें। इस चूर्ण का प्रयोग भी दॉतों के लिए लाभकारी है।

(ख) जिहवाशोधन धौतिः– जीभ के शोधन की यह प्रकिया जीभ की लम्बाई बढाने तथा अनेकानेक रोगों में लाभकारी है।
महर्षि घेरण्ड कहते है

'तर्जनीमध्य मानामा अंगगुलित्रययोगतः
वेशयेप्रलमध्येय तु मार्जयेल्ल, म्बिकामूलम्
शनैशनैः मार्जयित्वां कफदोषं निवारयेत्
मार्जयेन्नरतनीतेन दोहयेच्च्वं पुनः पुनः
तदगं लोहयन्त्रे ण कर्षयित्वान शनैःशनैः
नित्यं कुर्यात्प्रनयत्नेरून खेः दयकेइस्तरूके
एवं कृते च नित्यंर सा लम्बिका दीर्घना ब्रजेत'

घेरण्ड संहिता 29/30/31

अर्थात तर्जनी, मध्यमा और अनामिका, तीनों अंगुलियों को मिलाकर कंठ में डाल जिह्वा की जड को स्वच्छ करना चाहिए। धीरे–धीरे कोमलता से रगडने से कफ दोष का निवारण होता है। जब वह सफाई रगडना हो जाये तब जीभ में थोडा मक्खन लगा लें। पुनः दूध दोहने जैसी क्रिया करें। तद्पश्चात लोहे की चिपटी से जीभ को पकडकर बाहर खीचें। अभ्यास को प्रतिदिन सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय, करने से जिह्वा की लम्बाई बढ जाती है।

क्रियाविधि– यह एक सहज प्रक्रिया है दोहन क्रिया में जीभ में मक्खन डाल लें। बाजार में प्लास्टिक या स्टील की जिह्वा निर्लेखनी मिलती है उससे भी जीभ की सफाई की जा सकती है।

लाभ –

(1) इस क्रिया से जीभ की लम्बांई बढती है जिससे भाषा की स्पष्टता रहती है।
(2) जीभ के दोहन से गले व श्वास नली में एकत्र श्लेष्मा निकल जाता है।
(3) इससे व्याधि, बुढापा व मृत्यु को दूर भगाया जा सकता है।
(4) खेचरी मुद्रा की सिद्धि में लाभकारी है।

सावधानियॉ–

(1) जीभ में छाले हो तो इस अभ्यास को नही करें।

(2) अपनी अंगुलियों को मुंह के ज्यादा अन्दर ना डालें।

(3) नाखुन अवश्य कटे हो अन्यथा मैल तो जायेगा ही स्वर यंत्र या मुंह में चोट लग सकती है।

(ग) कर्णरन्ध्र धौतिः– चुंकि इससे कान के छिद्रों की सफाई की जाती है इसलिए इसे कर्णरन्ध्र धौति कहते हैं। महर्षि घेरण्ड कहते हैं।

तर्जन्यणनामिका योगान्मारर्जयेत्कइर्णरिध्रयोः

नित्याभ्यास योगेन नादान्त्र प्रकाशयेत्

घेरण्ड संहिता 1/32

अर्थात तर्जनी और अनामिका को मिलाकर योगी जन दोनों कानों के छिद्रों की सफाई करते हैं। इस विधि के नित्य अभ्यास से नाद की अनुभूति होती है।

क्रियाविधि–

(1) तर्जनी या अनामिका अंगुली को गीला कर लें। तद्पश्चात कान के अन्दर डालकर उसे घुमायें अंगुली को गीला करने के लिए सरसों के तेल में लहसुन डालकर उसका उपयोग भी कर सकते हैं।

लाभ– कानों की सफाई होती है दिव्यं नाद की अनुभूति होती है इसलिए इसके अध्यात्मिक लाभ भी हैं।

सावधानियॉ

(1) माचिस की तिल्ली से इस क्रिया को ना करें।

(2) अंगुलियों के नाखुन अवश्य कटें होने चहिए।

(घ) कलालरन्ध्र धौतिः– कपालरन्ध्र अर्थात नवजात बच्चे के सिर पर वह स्थान जो पिचकता महसूस होता है उस स्थान की इससे सफाई होती है। अतः इसे कपालरन्ध्र धौति कहते हैं।

महर्षि घेरण्ड कहते हैं।

वृद्धागुष्ठे न दक्षेण मार्जयेद्धालस्धु कम

एवमभ्या ससयोगेन कफदोष निवारयेत्

नाडी निर्मलतां याति दिव्यकदृष्टिरू प्रजायते

निद्रान्तेंभिजनान्त् च दिवान्तेय च दिने–दिने

घेरण्ड संहिता 1/33,34

अर्थात अपने दाहिने हाथ की अंगुलियों को समेटकर कप की आकृति बनानी चाहिए और उस कप की आकृति वाले हाथ में पानी भरकर अपने कपालरन्ध्र में थपकी देनी चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से कफ दोष से मुक्ति मिलती है। खोपडी के ऊपर जो नाडियॉ हैं वे निर्मल बनती हैं और दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है। निद्रा की समाप्ति पर भोजन करने के बाद और निद्रा के पहले तथा दिन की समाप्ति पर अपनी खोपड़ी को थपकी देनी चाहिए।

क्रियाविधि

इस धौति की विधि स्पष्ट है दाहिने हाथ का कटोरा बनाकर उसमें पानी भरे तथा शीर्ष प्रदेश (ब्रह्मरन्ध्र) पर धीरे–2 थपकी दें।

लाभ

(1) मस्तिष्क में शीतलता प्रदान होती है मोतियाबिन्द में लाभकारी है।

(2) दूर व निकट दृष्टि दोष दूर होते है।

(3) कफ दोषों (सर्दी, खांसी) में लाभकारी है।

(4) उच्चरक्त चाप में इस धौति से लाभ मिलता है।

(5) गर्मियों में इस अभ्यास को करने से शीतलता मिलती है।

सावधानियाँ

इस अभ्यास में विशेष सावधानी की जरूरत नही है फिर भी जाड़ों में इसका प्रयास वर्जित है। छोटे बच्चों को इस अभ्यास कराने के लिए योग शिक्षक से सलाह अवश्य लें।

14.3.3 ह्दधौति –

ह्द का अर्थ है ह्दय और धौति का अर्थ है धोना इस धौति से ह्दय प्रदेश, अन्न नलिका, आमाशय की सफाई होती है इसलिए इसे ह्दधौति कहते हैं इसके निम्न तीन भेद हैं।

(क) दण्ड धौतिः– दण्ड अर्थात ठंडा और धौति अर्थात धौना इस धौति में हल्दी केले के मृदु भाग के ठंडे से अन्तः प्रदेश की सफाई की जाती है। महर्षि घेरण्ड कहते हैंः–

रम्भा दण्ड हरिदण्डं वेबदण्डंश तथैव च

हन्मडध्ये चालयित्वाड तु पुनः प्रतयाहरेच्छ नैः

कफं पित्तं तथा क्लेमदं रेचयेदूर्ध्वंवर्त्मुना

दण्डतधौतिविधानेन ह्द्रोगं नाशयेद् ध्वम

घेरण्ड संहिता 1/36 दृ0 37

अर्थात केले के मृदु भाग के डण्डे हल्दी के डण्डे या बेंत को ह्दय के मध्य में बार–बार घुमा कर धीरे–2 निकालना चाहिए। फिर कफ पित्त, क्लेद का मुख द्वार से रेचन करना चाहिए। यह कर्म ह्दय रोग का भी निश्चित रूप से नाश कर देता है।

क्रियाविधि– परम्परागत रूप से दण्ड धौति के लिए केले, बेंत या हल्दी के मृदु भाग को लेते हैं पर आधुनिक समय में रबर की दण्ड भी बाजार में उपलब्ध रहती है। दण्ड धौति को प्रयोग करने से पहले अच्छी तरह उबाल लें।

(1) सर्वप्रथम 4–5 गिलास स्वच्छ जल (नमकीन) पी लें।

(2) शनैः शनैः रबर, हल्दी, बेंत की दण्ड (जो उपलब्ध हो) मुंह खोलकर आभाशय तक डालें।

(3) फिर थोड़ा आगे झुकें पूरा जल दण्ड के अगले छोर से आने लगेगा।

(4) तदुपरान्त धीरे–2 दण्ड को बाहर निकाले तथा इसके साथ कफ, पित्त, श्लेष्मा, जो भी निकले उसे बाहर थूक दें।

लाभ

(1) कफ, पित्त, क्लेद का निष्काषन इस क्रिया से होता है।

(2) अम्ल पित्त, दवा में यह अभ्यास लाभकारी है।

(3) फेफड़े की क्षमता बढ़ती है ह्दय रोग में भी लाभकारी है।

सावधानियॉ

(1) यहॉ पर दण्ड धौति का वर्णन मात्र एक विधि मानकर किया है हर व्यक्ति इस अभ्यास के योग्य नही है योग शिक्षक की देखरेख में ही इस अभ्यास को करें।

(ख) वमन धौति :– वमन का अर्थ उल्टी करने से है।

महर्षि घेरण्ड ने कहा है

भोजनान्ते पिबेद्रारि चाकण्ठंव पुरितं सुधीः
उर्ध्वा दृष्टि क्षण कृत्वां तज्जतलं वमयेत्पुहनः
नित्यनमभ्या सयोगेन कफपितं निवारयेत्

घेरण्ड संहिता 38 / 39

अर्थात ज्ञानी साधक को भोजन के उपरान्तय कण्ठ प्रर्यत्न जल पीना और फिर क्षण भर बाद ऊपर की ओर देखते हुए उसे वमन द्धारा निकाल देना चाहिए। इस प्रयोग से कफ व पित्त का निवारण होता है।

नोटः– उपरोक्त महर्षि घेरण्ड का विवेचन व्याघ्र क्रिया को अंगित करता है। वमन वस्तुतः दो प्रकार का होता है एक खाली पेट जिसे कुंजल नाम दिया है और दूसरा भोजन के उपरान्त किये जाने वाली व्याघ्र क्रिया।

क्रियाविधि–

(1) सर्वप्रथम बैठकर बिना रूके हुए गुनगुना नमकीन जल इच्छानुसार 5 / 7 / 10 गिलास तक दिये।
(2) फिर उठकर तर्जनी, मध्यमा व अनामिका ऊंगली को गले तक डालकर वमन करे।
(3) अंगुलियों को पुनः मुंह के भीतर ले जाये यह क्रिया तब तक दोहरायें जब तक पेट खाली ना हो।

लाभ–

(1) आभाशय को स्वच्छ कर विकार रहित बनाती है।
(2) कफ, पित्त, क्लेद को बाहर निकालती है।
(3) अत्रीर्ण, अम्लपित्त में लाभकारी है।
(4) दमा के रोगी को कफ के विरेचन हो जाने के कारण लाभ मिलता है।

सावधानियॉ–

(1) पानी गुनगुना नमक युक्त व स्वच्छ हो।

(2) हाथ के नाखुन पूरे कटे होने चाहिए।

(3) हार्निया व कमर दर्द में इस अभ्यास को ना करें।

(ग) वासन धौति (वस्त्र धौति) : – वासन अर्थात वस्त्र (कपडे) की पट्टी से इससे पाचन संस्थान की सफाई की जाती है। इसलिए इसे वस्त्र धौति कहते हैं। महर्षि घेरण्ड कहते हैं

चतुरअंगुल विस्ता रं सूक्ष्म्वस्बंत शनैर्ग्रसेत्
पुनरूप्रत्याकहरेदेतत्प्रोतच्य्ते धौतिकर्मकम्
गुल्म ज्व रालीहकुष्ठमकफपितं विनश्यरति
आरोगयं बलपुष्टिश्चक भक्तेस्यो दिने दिने

घेरण्ड संहिता 1/40/41

अर्थात महीन वस्त्र की चार अंगुल चौड़ी पट्टी लेकर धीरे–धीरे निगलना चाहिए। फिर इसे धीरे–2 ही बाहर निकालें। इस वस्त्र धौति के अभ्यास से गुल्म, ज्वर, कुष्ठ एवं कफ–पित्त के विकारों का शमन होता है। यह धौति आरोग्य, बल और पुष्टि की दिनों–दिन वृद्धि करती है।

क्रियाविधि

(1) चार अंगुल चौढ़ा व 3–4 मीटर लम्बा सूती कपड़ा लीजिए।

(2) उसे एक पात्र (लोहे गिलास, कटोरी) में रखकर भिगा दें।

(3) एक छोर को पकड़कर धीरे–धीरे उसे निगले बीच–बीच में स्वच्छ जल अवश्य पियें।

(4) जब अन्तिम छोर बचा हो फिर धीरे–धीरे उसे बाहर निकाल दें।

लाभ–

(1) कफ, क्लेद का निष्कासन होता है।

(2) दमा के रोगी के लिए यह क्रिया रामवाण है।

(3) वायु विकार, बुखार, चर्मरोग में लाभकारी है।

(4) उदरगत व्यांधियॉ दूर होती हैं। जठराग्नि बढ़ती है।

सावधानियॉ

(1) यह कठिन क्रिया है इसे योग्य योग शिक्षक के मार्गदर्शन में करे।

(2) अगर वस्त्र धौति करते हुए 5 मिनट हो जाये तो फिर उसे बाहर निकाल दें अन्यथा व ऑतों की ओर जा सकती है। (3) कपड़े को निगलते समय जीभ में सटाकर रखें।

(4) कोशिश यह करें कि निगलते समय कपड़े में लार अवश्य मिले जिससे निगलने में सुविधा होगी।

14.3.4 मूलशोधन–

मूल क्षेत्र अर्थात शरीर का मूल भाग (गुदा) की इस अभ्यास से सफाई होती है

महर्षि घेरण्ड कहते हैं

अपानक्रूरता तावद्यावन्मूषलं न शोधयेत्
तस्माात्सिर्वेप्रयत्न्ेन मूलशोधनमाचरेत्
पीतमूलस्यस दण्ड्ेन मध्येमाङगुलिनाऽपि वा
थलेन क्षालयेदगुछ वारिणा च पुनः पुनः
तारयेत्कोलष्ठगकाठिन्यरमामाजीर्ण निवारयेत्
कारणं कान्तिपुष्टवयोश्चय दीपनं बह्मिण्डनलम्

घेरण्ड संहिता 1/42–43–44

अर्थात मूल शोधन न होने तक अपान वायु की क्रूरता नष्ट नहीं हो पाती। इसलिए प्रयत्नपूर्वक मूल शोधन कर्म करना चाहिए। हल्दी की जड़ अथवा मध्यम अंगुली के द्वारा जलयोग से पुनः पुनः प्रक्षालन आवश्यक है। इस कर्म से कब्ज (मल की शुष्कलता मलावरोध) एवं अजीर्ण आदि का निवारण होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

क्रियाविधिः– हल्दी की नरम जड़ से या अनामिका अंगुली में घी लगाकर गुदा क्षेत्र में डालें हल्दी की जड़ रोगाणुरोधक होने के कारण उपयुक्त है दो–चार बार इस क्रिया को दोहरायें।

लाभ–

(1) उत्सर्जन तन्त्र को बलिष्ठ करता है इस क्रिया से नाड़ी और कोशिकाओं की ओर रक्त संचार तेज होता है।

(2) कब्ज में यह अभ्यास लाभकारी है।

(3) अपान वायु का संतुलन करती है।

(4) इस धौति से पाचन संस्थान के रोगों में भी लाभ मिलता है।

सावधानियॉ–

(1) अंगुली के नाखून अच्छी तरह काट लें।

(2) बवासीर के रोंगियो को अंगुली मूल प्रदेश में डालते समय बेहद सावधानी बरतनी चाहिए।

(3) योग्य गुरू की सलाह में ही इस अभ्यास को करें।

विशेषः– इस धौति को गणेश क्रिया या जल मूल शोधन के नाम से भी जानते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए

(क) धौति के कितने प्रकार है।

(ख) घेरण्ड संहिता के रचयिता कौन है।

(ग) वारि सार धौति को किस नाम से जाना जाता है।

(घ) वमन धौति के कितने प्रकार बताये है।

14.4 सारांश

हठयोग की क्रियाओं में धौति की क्रिया सबसे महत्वोपूर्ण है। धौति क्रिया से अन्तल प्रदेश विशेष रूप में पाचन संस्थान के भीतरी अंगों की पूर्ण रूप से सफाई होती है। इस क्रिया के शारीरिक लाभ तो है ही परन्तु कहीं न कहीं महर्षि घेरण्ड ने धौति क्रिया के अध्यात्मिक लाभ भी बताये हैं। वस्तुतिः हठयोग की क्रियायें राजयोग की प्राप्ति के लिए ही की जाती हैं। देखने मे भले ही यह क्रियायें सरल व सहज हो पर वास्तव में इन्हें एक कुशल मार्गदर्शन में ही करना उचित होगा।

14.5 शब्दावली

(1) आर्ष–प्राचीन ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त शब्द

(2) हठ–ह अर्थात अकार (सूर्य), ठ (ठकार) चन्द्र नाडी

(3) घेरण्ड संहिता–हठयोग का एक प्राचीनतम ग्रन्थ

(4) घट– घट अर्थात घड़ा जिसकी तुलना शरीर से की

(5) धौति– धौना, सफाई करना

(6) तात– हवा, वायु

(7) वारि – जल

(8) बहिष्कृत– निकाल देना

(9) सार– तत्व

(10) परिचालन–घुमाना, गोलाकार घुमाना

(11) अधोमार्ग– गुदा भाग

(12) अपशिष्ट– त्याज्य पदार्थ, जैसे मल

(13) देव देह– देवताओं का शरीर

(14) हार्निया– ऑतों की एक बीमारी

(15) जठराग्नि– जठर अर्थात पेट, पेट की अग्नि

(16) कुण्डिलीनी–3 फेरे लगाई मूल प्रदेश में स्थित एक

(17) खादिर– खैर जिससे पान का कत्था लगता है।

(18) खेचरी – एक मुद्रा, जिसके अध्यात्मिक लाभ है।

(19) जिह्वा निर्लेखनी– जीभ को साफ करने वाला एक यन्त्र

(20) रन्ध्र– छेद

14.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (क) चार (ख) महर्षि (ग) शंख प्रक्षालन (घ) दो

14.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सरस्वती निरंजनानन्द स्वामी – धेरण्ड संहिता (1997) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर, बिहार

14.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. घेरण्ड संहिता के अनुसार धौति क्रिवा का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए

2. निम्न पर टिप्पणी लिखिए।

(क) शंख प्रक्षालन (ख) कपालरन्ध्र धौति

(ग) कुंजल क्रिया (घ) गणेश क्रिया

इकाई– 15 घेरण्ड संहिता में वर्णित वस्ति, नेति, नौलि की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ

इकाई की संरचना

15.1 प्रस्तावना

महर्षि घेरण्ड ने राजा चण्डिकापालि के प्रश्नों के उत्तर को बड़ी सहजता व सरलता के साथ दिया और इस प्रश्न–उत्तर की श्रंखला घेरण्ड संहिता नामक पुस्तक बन गई। एक जिज्ञासा जिज्ञासु पाठकों की हमेशा रहती है कि षटकर्मो की श्रंखला में नेति, वस्ति व नौलि कैसे की जाती है इसके क्या लाभ है और क्या–क्या सावधानियॉ इनको करने में बरतनी चाहिए। षटकर्म हठयोग की माला के पिरोये मोती है प्रस्तुत इकाई में वस्ति, नेति, नौलि रूपी मनको का अध्ययन में वस्ति, नेति, नौलि रूपी मनको का अध्यसयन करेंगे और जिज्ञासु पाठक अपने प्रश्नों का उत्तर भी आगामी पृष्ठों में जान सकेंगे।

15.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप

- वस्ति के विविध विधियों, लाभ व सावधानियों का अध्ययन करेंगे।
- नेति के प्रकारों, लाभ व सावधानियों को जान सकेंगे।
- नौलि की विधियों, लाभों व सावधानियों का अध्ययन करोगे।

15.3 वस्ति

वस्ति नाम बड़ी ऑत के लिए प्रयुक्त होता है । इस अभ्यास में गुदा द्वारा वायु अथवा जल को खीचा जाता है जिससे बड़ी ऑत की सफाई होती है। चुँकि बड़ी आंत शरीर में अवशिष्ट पदार्थो का निष्काषन शरीर से बाहर करती है।

महर्षि घेरण्ड वस्ति के भेदों को बताते हुए कहते है–

जल वस्ति शुष्कुवस्तिर्वस्ती चद्विविथौस्मृतौ
जल वस्ति जल कुर्वाच्छुषकवस्तिं सदा क्षितौ
घेरण्ड संहिता 1/45

अर्थात वस्ति कर्म दो प्रकार का होता है।

(1) जल वस्ति (2) शुष्क वस्ति

जल वस्ति का अभ्यास जल में किया जाता है शुष्क वस्ति का अभ्यास भूमि पर, सूखे स्थल पर किया जाता है।
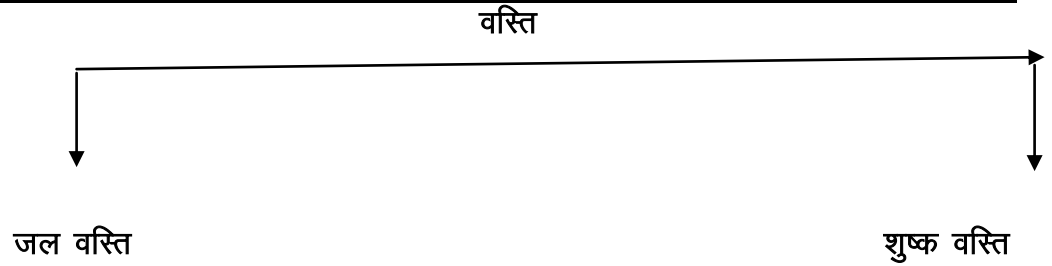
15.3.1 जल वस्ति– जल से बड़ी ऑतो की सफाई की यह क्रिया जल वस्ति के नाम से जानी जाती है।

महर्षि घेरण्ड ने जल वस्ति की विधि को इस प्रकार परिभाषित किया है।

नाभिमग्न जले पायुन्यजस्त नालोत्कायसन
आकुन्चंन प्रसारं च जल वस्तिं समाचरेत्

घेरण्ड संहिता 1/46

अर्थात जल में नाभिपर्यत्न बैठकर उत्कट आसन लगाये और गुह्य देश का आकुन्चन प्रसारण करे यह जल वस्ति है।

क्रियाविधि–

1. सरोवर, नदी में उत्कट आसन लगाकर खडे हो जाये।
2. पैरो को उत्कट आसन में इतना मोडे कि जल नाभि तक आ जाये।
3. दोनों हाथों को जंघाओं पर रख लीजिए।
4. गुदा द्वार का संकुचन व प्रसारण कीजिए।

नोट– जल वस्ति की वह प्राचीनतम प्रक्रिया के लाभ एनिमा द्वारा भी लिए जा सकते है।

लाभ –

1. मधुमेह के उपचार में सहायक है।
2. ऑतों के अनेकानेक रोगों विशेष रूप से कब्ज व बवासीर में लाभकारी है।
3. शरीर से दूषित वायु का निष्कासन कर शरीर की शुद्धि करती है।
4. तंत्रिका तंत्र पर इसका प्रभाव पड़ता है।
5. त्वचा सम्बनधित रोगों में भी लाभकारी है।

सावधानियॉं– हठयोग की प्राचीनतम यह क्रिया गुरू के मार्गदर्शन व निर्देश के अनुसार की जानी चाहिए। चूँकि वर्तमान में सरोवर तालाब का जल अशुद्ध देखा गया है। अतः योग गुरू के निर्देशानुसार इस क्रिया की जगह 'एनिमा' घर पर ही लिया जा सकता है।

15.3.2 स्थल वस्ति– चूँकि यह क्रिया स्थयल अर्थात जमीन पर की जाती है अतः यह क्रिया स्थल अर्थात जमीन पर की जाती है अतः यह क्रिया स्थल वस्ति के नाम से जानी जाती है। महर्षि घेरण्ड ने राजा चण्डिकापालि को स्थल वस्ति की क्रियाविधि व लाभ को समझाते हुए कहा –

पश्चिमोत्त्ानतो वस्तिं चालयित्वा शनैशनैः।

अश्विनीमुद्रया पायुमाकुंचयेत्प्र सारयेत्

ववमभ्यासयोगेन कोष्ठरदोषो न विद्यते

विवद्धेयेज्जवठराग्निमामवातं विनाशयेत्

घे0सं0 1/48,49

अर्थात – अश्विनी मुद्रा के द्वारा गुदा का आकुन्चन एवं प्रसारण करना चाहिए। पश्चिमोतान आसन में बैठकर नीचे के भाग में वस्ति का परिचालन करें। नीचे के भाग में वस्ति का इसके साधन से कोष्ठ के दोष एवं आमवात आदि रोगों का शमन और जठराग्नि का वर्धन होता है।

क्रियाविधि–

1. सर्वप्रथम दण्डासन में बैठ जाये।
2. दोनों हाथो से दोनों पैरों की अंगुलियों को पकड़ ले।
3. गुद्रा द्वार का आंकुन्चन एवं प्रसारण कीजिए।
4. श्वास लेते समय गुद्रा द्वारा का आंकुन्चन तथा श्वास छोड़ते समय गुदा द्वार का प्रसारण कीजिए।

लाभ–

1. बड़ी आंत की स्वछता की यह सर्वोत्तम विधि है।
2. इस अभ्यास को नियमित करने से कोष्ठ दोष से मुक्ति मिलती है।
3. भूख बढ़ाने में यह क्रिया सहायक है।
4. वायु विकार, अजीर्ण कब्ज, पित्त व कफ दोषों में लाभकारी है।

सावधानियॉं–

1. उच्च रक्त चाप व हार्निया में इस अभ्यास को न करें।
2. पाचन सम्बन्धी कोई गंभीर रोग हो तो वो व्यक्ति भी इस अभ्यास को न करे।
3. योग गुरू की सलाह इस अभ्यास को करना चाहिए।

4. इस अभ्यास को करने से पहले जल वस्ति का अभ्यास कर लें।

अभ्यास प्रश्न

1. बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) वस्ति का सम्बन्ध है–

(अ) बड़ी आंत से (ब) छोटी आंत से

(स) यकृत से (द) आमाशय से

(ख) महर्षि घेरण्ड ने घेरण्ड संहिता के किस अध्याय में वस्ति का वर्णन किया है।

(अ) प्रथम (ब) द्वितीय

(स) तृतीय (द) चतुर्थ

15.4 नेति

नेति षटकर्मों की तृतीय शुद्धिकरण की प्रक्रिया है। नेति क्रिया को आधुनिक समय में कान, नाक व गले से सम्बद्ध किया है। नेति क्रिया के माध्यम से मुख्य रूप से उपरोक्त् तीन अंगों (नाक, कान, गले) की सफाई होती है। शास्त्रीय विवेचन करे तो हठयोग के महत्वतपूर्ण ग्रन्थों हठ–प्रदीपिका व घेरण्ड संहिता में नेति की प्रक्रिया में सिर्फ सूत्र नेति का वर्णन मिलता है। परन्तु वर्तमान में नेति क्रिया अनेको रूपों में प्रयोग की जाती है। जैसे जल नेति, दुग्ध् नेति, घृत नेति, मूत्र नेति, रबर नेति, सूत्र नेति इत्याहदि। महर्षि घेरण्ड ने घेरण्ड संहिता में नेति की क्रिया को इस प्रकार परिभाषित किया है।

वितस्तिमानं सूक्ष्मिसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत

मुखानिर्गभयेत्श्चोसत प्रोच्यरते नेतिकर्मकम

साधनानेतिकार्यस्य् खेचरीसिद्धिमात्नुयात्

कफदोषाः विनश्ययन्ति दिव्द्‌ृष्टिरू प्रजायते्

घे0सं0 1/50,51

अर्थात,

वालिश्तभर (आधा हाथ) लम्बा डोरा लेकर नासिका में घुसायें और मुख से बाहर निकाल दें। इसे नेति कर्म कहते है। इसका साधन करने से खेचरी की सिद्धि कफ–दोषों की निवृत्ति और दिव्य दृष्टि की उपलब्धि होती है।

भलई उपरोक्त घेरण्ड संहिता के श्लोक मात्र सूत्र नेति की व्यायख्या की है पर आपको अध्ययन के लिए नेति की वर्तमान में प्रचलित विविध विधियों की व्याख्या की जा रही है।

15.4.1 जल नेति– जल द्वारा इसमें नासिका मार्ग का शुद्धिकरण किया जाता है।

क्रियाविधि–

(1) नेति पोट (टोटीं वाला लोटा) ले लीजिए।

(2) उकडूं बैठकर या बडे होकर सिर को आगे झुकाये।

(3) स्वच्छ जल शरीर के तापमान को बराबर जिसमें नमक (स्वादानुसार) डला हो उसे नेति पोट में भर लीजिए।

(4) जो स्वर चल रहा हो उसमें नेति पोट के टोटी को घुसाये।

(5) मुँह खोल जीजिए तथा गर्दन को थोड़ा झुकायें।

(6) जल दूसरे नाक से स्वतः आने लगेगा।

(7) 20–25 सेकण्ड तक जब पानी पूरा खत्म हो जाये नेति पोट की नाक से निकाल लेता या पुनः दूसरी नाक से इस क्रिया को दोहराये।

विशेष –

(1) नेति पोट वर्तमान में प्लाास्टिक व तॉबे, पीतल का बना बाजार में उपलब्ध रहता है।

(2) जल नेति में जल का तथा अन्य नेति में घृत, मूत्र (स्वःमूत्र–मध्य भाग का) प्रयोग गुरू के निर्देशानुसार किया जा सकता है।

15.4.2 रबर नेति– रबर नेति अर्थात कैथेडर द्वारा नासिका मार्ग की सफाई इस प्रक्रिया में की जाती है।

क्रियाविधि–

(1) लम्बी , पतली रबर की ट्यूब (कैथेडर) को (जो अच्छी तरह उबली हो) ले लीजिए।

(2) खडे होकर बिना तनाव लिये जो स्वर चल रहा हो उस ट्यूब को धीरे–धीरे नासिका मार्ग में डाले।

(3) थोड़ी देर बाद रबर नेति (कैथेडर) का दूसरा सिरा गले तक पहुँच जायेगा।

(4) अंगूठा व तर्जनी अंगुली मुँह में डालकर गले से उसके दूसरे सिरे को खीच लीजिए।

(5) थोडी देर दोनों छोरों को पकड़कर उसमें आगे–पीछे घर्षण करें।

(6) अन्त में धीरे–धीरे रबर नेति को बाहर निकाल दीजिए।

(7) पुनः इस प्रक्रिया को दूसरे नासाछिद्र में डालकर दोहराइये।

15.4.3 सूत्र नेति – 7.8 इंच लम्बे 8–10 महीन सूती धागों में मोम डालकर बॅट लीजिए। एक हिस्सेव को लगभग 6 इंच मोम में डालरक कडा होने दे। इस प्रकार सूत्र नेति बनाकर इस प्रक्रिया को किया जाता है।

क्रियाविधिः

1. एक सूत्र नेति लेकर सावधानी पूर्वक जो स्वर चल रहा हो उसमें सूत्र नेति धीरे–धीरे डालिए।
2. थोड़ी देर बाद सूत्र नेति का दूसरा सिरा गले तक पहुँच जायेगा।
3. अंगूठा व तर्जनी अंगुली को मुँह में डालकर गले से उसके दूसरे सिरे को खीच लीजिए।
4. थोड़ी देर सूत्र नेति के दोनों छोरों को पकड़कर घर्षण कीजिए।
5. अन्त में मुँह से सूत्र नेति निकाल दीजिए पुनः दूसरे नाक से इस प्रक्रिया को दोहराये।

नोट – वर्तमान में बाजार में सूत्र नेति बनाई हुए उपलब्ध रहती है। उसे प्रयोग हेतु खरीदा जा सकता है।

सभी प्रकार की नेति की लाभ व सावधानियाॅ इस प्रकार है।

लाभ –

1. नेति क्रिया का साइनस ग्रन्थि पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।
2. नाक से निकलने वाले श्लेरष्मा का नियंत्रण करती है।
3. श्वसन संस्थान के रोगों, साइनोसाइटिस, ब्रोकाइटिस, अस्थमा में लाभकारी है।
4. दूर व निकट दृष्टि में अतयन्त लाभकारी है।
5. ऑख, नाक व कानों के रोगों में लाभप्रद है ।
6. नासिका मार्ग में श्ले ष्माो झिल्ली की मालिश होने से उसकी क्रियाशीलता बढ़ती है तथा रक्त का प्रभाव तेज होता है।
7. नेति क्रिया से तनाव, चिन्ता, अवसाद के रोगियों को भी लाभ पहुँचता है।
8. मस्तिष्क में गर्मी, उत्ते जल, मिर्गी की बीमारी में भी इसका सार्थक प्रभाव पड़ता है।

सावधानियाॅ–

1. नासिका मार्ग एक नाजुक अंग है, रबर या सूत्र नाक में नहीं जाये तो जबरदस्ती ना करे।
2. रबर नेति या सूत्र नेति करने से पहले यह अवश्य साफ होनी चाहिए।
3. नेति करते समय हाथ स्वच्छ रहे तथा नाखुन कटे होने चाहिए।
4. एक कुशल मार्गदर्शन में नेति का अभ्यास करें।

15.5 नौलि

नौलि (लौलिकी) षटकर्मो में शुद्धिकरण की चौथी प्रक्रिया है। पिछली इकाई में धौति के प्रकारों में आपने अग्निसार क्रिया का अध्ययन किया। नौलि क्रिया अग्निसार का ही एक प्रकार है या यूँ कहे कि नौलि क्रिया अग्निसार अन्तः धौति की उच्च अभ्यास है। जठराग्नि को बढ़ाने वाली इस क्रिया में उदरगत मॉसपेशियों की मालिश होती है या पेट की समस्त मांसपेशियों की क्रियाशीलता त्वरित गति से बढ़ती है। महर्षि घेरण्ड ने नौलि की क्रियाविधि व लाभों को समझाते हुए कहा है।

अमन्दहवेगेन तुन्द्रि, भामयेदुभपार्श्वरयो
सर्वरोगान्निहन्तीनह देहानलविवर्द्धनम्
घे0सं0 1/52

अर्थात उदर को दोनों पार्श्वो में अत्यतन्त वेगपूर्वक घुमाना चाहिए। यह लौलिकी, अर्थात जठराग्नि का उद्धीपक है।

भलई महर्षि घेरण्ड ने नौलि क्रिया की विधि में उदर को दोनों पार्श्वो में घुमाने की बात कही है पर अध्ययन की सुविधा दृष्टि ने नौलि के निम्नं प्रकार की विधियों को समझना उचित है।

15.5.1 सामान्य या मध्यनम नौलि – इस नौलि में सामान्य रूप से पेट की मॉसपेशियों को समेट कर कुछ देर सिकोड कर रखते है।

क्रियाविधि

1. दोनों पैरो में कन्धे की दूरी के बराबर जगह बनाये।
2. दोनों हाथों को घुटने पर रखकर थोड़ा झुक जाये।
3. पूरा श्वास का रेचक कीजिए।
4. पेट को अन्दर की ओर खींच लीजिए।
5. दोनों हाथों से घुटने पर हल्का दबाब डाले उदर की मांसपे शियॉ बीच में स्वतः हो जायेगी।
6. यह मध्यम या सामान्य नौलि की एक आवृति है।

15.5.2 वाम नौलि – वाम अर्थात बायी और उदरगत मॉसपेशियों के समूह को ले जाना वाम नौलि कहलाती है।

क्रियाविधि –

1. दोनों पैरों में कन्धों की दूरी के बराबर जगह बनाये।
2. दोनों हाथों को घुटनों या जांघों पर रखकर थोड़ा झुक जाइये।
3. फिर उपरोक्त मध्यम नौलि कीजिए।
4. उदर की दाहिनी मॉसपेशियों को ढ़ीला कर दीजिए।
5. तदपश्चात् उदर की बायीं ओर की मांसपेशियों को संकुचित करें।
6. उदरगत मॉसपेशियों का पिण्डी बायी और स्वतः आ जायेगा।
7. यह बाम नौलि की एक आवृति है।

15.5.3 दक्षिण नौलि – दक्षिण अर्थात दाहिने ओर उदरगत मांसपेशियों के समूह को ले जाना दक्षिण नौलि कहलाता है।

क्रियाविधि–

1. दोनों पैरों में कन्धों् की दूरी के बराबर जगह बनाइये।
2. दोनों हाथों की घुटनों पर या जंघाओं पर रख लीजिए।
3. सामान्य नौलि की अवस्थाओ में आये।

4. उदरगत बाये भाग की मांसपेशियों की अन्दर की ओर संकुचित करें।
5. स्वगत मांसपेशियों का पिण्डी संकुचित होकर पेट के दाहिने ओर आ जायेगा।
6. यह दक्षिण नौलि की एक आवृति है।

15.5.4 भ्रमर नौलि – जब उपरोक्त तीनों नौलियों सामान्य, वाम व दक्षिण को एक साथ जोड़ देते है तो वह भ्रमर नौलि कहलाती है। इस नौलि की प्रक्रिया में गुरू के निर्देशानुसार 5–6 बार घड़ी की सुई की दिशा में व 5–6 बार उसकी विपरीत दिशा में उदरगत मांसपेशियों को घुमाते है। इसलिए इसे भ्रमर नौलि के नाम से जाना जाता है।

क्रियाविधि

1. सर्वप्रथम सामान्य (मध्यम) नौलि कीजिए।
2. तद्पश्चात वाम नौलि कीजिए।
3. फिर दक्षिण नौलि कीजिए।
4. जब वेगपूर्वक उपरोक्त क्रिया करेंगे तो भ्रमर नौलि स्वतः ही होने लगेगी।

लाभ –

1. नौलि क्रिया से कुण्डलीनी शक्ति जागृत होती है।
2. उदरगत मांसपेशियों की क्रियाशीलता बढ़ती है तथा वहॉ रक्त् का संचार तीव्र होता है।
3. मणिपुर चक्र की जागृति होती है।
4. तन्त्रिका तन्त्र के साथ–साथ शिराओं पर इस नौलि क्रिया का प्रभाव पड़ता है।
5. रक्त् परिसंचरण संस्थान पर इसका सार्थक प्रभाव पड़ता है।
6. भूख बढ़ती है जठराग्नि बढ़ती है।
7. अग्नाशय पर इसका सार्थक प्रभाव पड़ता है इसलिए मधुमेह में भी लाभकारी है।

सावधानियॉ–

1. नौलि का अभ्याास अगर पेट में दर्द हो तो न करें।
2. हार्निया, पथरी में यह अभ्यास वर्जित है।
3. उच्च रक्त चाप, पेप्टिक अल्सर, एसिडिटी के रोगी इस अभ्यास को नहीं करें।
4. गर्भवती महिलाये इस अभ्यातस को बिल्कुलि न करें।
5. वस्तुतः यौगिक षटकर्म गुरू के निर्देश में ही किये जाते है। इस बात का विशेष ध्यान रखे।
6. भोजन के बाद इस अभ्यास को नहीं करें।
7. नौलि क्रिया से पहले उड्डयान बन्ध और अग्निसार का अभ्यास कर लीजिए।

अभ्यास प्रश्न

2. निम्न् प्रश्नों का एक शब्द में उत्तर दीजिए–

(क) नौलि के कितने भेद बताये गये है।

(ख) नेति को षटकर्मों में किस स्थान पर रखा है।

15.6 सारांश

षटकर्मों में वस्ति, नेति व नौलि की प्रक्रिया के शारीरिक लाभ के साथ–साथ आध्यात्मिक लाभ भी है। इस इकाई में अपने षटकर्मों के तीन महत्वपूर्ण अभ्यासों (वस्ति, नेति व नौलि) का अध्ययन किया वस्ति का सम्बन्ध बडी ऑत की सफाई से, नेति का सम्बन्ध नाक, कान व गले की स्वच्छता से तथा नौलि का सम्बन्ध उदरगत मॉसपेशियों की क्रियाशीलता को बढ़ाने से था।उक्त तीन अभ्यास भलई शारीरिक स्वास्थ्य लाभ को दृष्टित करते है परन्तु इन अभ्यासों के आध्यातमिक लाभ भी है। मूलाधार में सुप्त पड़ी कुण्डलीनी शक्ति जो शक्ति के प्रतीक रूप में हैं उसकी जागृति षटकर्मों के अभ्यास में निहित है और इसका जागरण ही हठयोग का परम लक्ष्य है।

15.7 पारिभाषिक शब्दावली

नेति –नाक, कान, गले से सम्बन्धित

वस्ति – बड़ी ऑत

नौलि – उदरगत मांसपेशियों को घुमाना

निष्कासन– निकालना

उत्कट– आधा बैठी व आधी उठी स्थिति

प्रसारण– फैलाव

एनिमा – बड़ी ऑत की स्वठच्छवता की एक विधि

मधुमेय – मीठा अधिक लेने से होना बाया रोग, शुगर

बवासीर – बड़ी ऑत का एक रोग

कोष्ठर – कोढ या कुष्ठन रोग

शमन – नाश करना

अजीर्ण – अपच

धृत – घी

साइनस – नासिका की एक ग्रन्थि

ब्रोकाइटिस – श्वसन संस्थान का एक रोग

अग्निसार– अग्नि अर्थात आग, सार अर्थात तत्व

मणिपुर – यौगिक चक्रों में से एक चक्र जिसका स्थान नाभि प्रदेश है।

15.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (क) अ (ख) प्रथम
2. (क) चार (ख) तीसरे

15.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. घेरण्ड संहिता – महर्षि घेरण्ड प्रकाशक – योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार

15.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. वस्ति क्रिया के विविध प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
2. नेति क्रिया क्या है ? सूत्र नेति व जल नेति की क्रियाविधि बताये।
3. नौलि क्रिया के लाभ व सावधानियों की चर्चा कीजिए।
4. बाम नौलि व दक्षिण नौलि की क्रियाविधि बताये।
5. वस्ति क्रिया के क्याल लाभ है विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

इकाई–16 घेरण्ड संहिता में वर्णित त्राटक एवं कपालभाति की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ

इकाई की संरचना

16.1 प्रस्तावना

पिछली इकाईयों में आपने षटकर्म के चार महत्वपूर्ण अभ्यासों (धौति, वस्ति, नेति, नौलि) का अध्ययन किया तथा इन अभ्यासों की क्रियाविधि प्रकार, लाभ व सावधानियों को समझा। प्रस्तुत इकाई में आप त्राटक व कपालभॉति का अध्ययन करेंगे। ध्यान रहे कि शोधन की क्रियाये अतयन्त गोपनीय है जहॉ इनके लाभ वर्तमान में दृष्टित हो रहे है वही दूसरी ओर उचित मार्गदर्शन में इन अभ्यासों को अगर न करे तो व्यक्ति को नुकसान भी हो सकता है। अतः जिज्ञासु पाठक एक योग्य गुरू के संरक्षण में इन अभ्यासों को करें। वर्तमान में हर व्यक्ति त्राटक व कपालभॉति से सम्बन्धित निम्न प्रश्नो के उत्तर जानने के लिए उत्सुक रहता है।

- ❖ त्राटक कैसे किया जाता है ?
- ❖ त्राटक करने में क्याा सावधानियॉ बरतनी चाहिए ?
- ❖ त्राटक के शारीरिक मानसिक व आध्याात्मिक लाभ क्या है ?
- ❖ कपालभॉति कैसे की जाती है ?
- ❖ इसका शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

आगे के पृष्ठों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर जान लेने में सक्षम हो जायेंगे।

16.2 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको षटकर्मों की अन्तिम दो क्रियाओं त्राटक व कपालभॉति की जानकारी देना है। इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात आपको निम्नलिखित तथ्यो का ज्ञान हो जायेगा।

- ❖ त्राटक की क्रिया कैसे की जाती है और यह कितने प्रकार की है।
- ❖ त्राटक का शरीर व मन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
- ❖ कपालभाति वस्तुतः कितने प्रकार की होती है।
- ❖ कपालभॉति करने से क्या लाभ है ?

16.3 त्राटक

त्राटक शुद्धिकरण की पॉचवी प्रक्रिया है। त्राटक का अर्थ है किसी एक वस्तु या प्रतीक को लगातार देखते रहना। त्राटक का एक अर्थ है लक्ष्य को एकटक देखते हुए उसके प्रति सजग रहना। त्राटक की प्रक्रिया दिव्य नेत्रों को प्रदान करने वाली तो है ही साथ ही साथ इस प्रक्रिया के कई मानसिक व आध्यात्मिक लाभ भी है। व्यक्ति अपने मस्तिष्क को त्राटक के अभ्यास से प्रभावित कर सकता है। मस्तिष्क ही पूरे शरीर में स्थित तन्त्रों का नियंत्रक

है। हमारी सोच, विचारणा, संवेदना का केन्द्रबिन्दु है। मस्तिष्क में ही सृजन व रचनात्मकता का एक विचार उत्पन्न, होता है। सृजन का एक विचार सामान्य मानव को महामानव बना देता है। हमारे अन्दर अन्तरनिहित शक्तियों का जागरण त्राटक क्रिया से सम्भव होता है तथा साथ ही साथ त्राटक से मस्तिष्क के क्षेत्र को शान्त और निर्मल बनाया जा सकता है। त्राटक वास्तव में आन्तरिक सजगता की एक उच्च अवस्था है।

महर्षि घेरण्ड ने राजा चण्डिकापालि को त्राटक की क्रियाविधि व लाभ की ओर इशारा करते हुए कहा

निमेषोन्मेहषकं त्वरक्वापाल सूक्ष्मवलक्ष्यां निरीक्षयेत्
पतन्ति यावदश्रूणित्राटकं प्रोच्यवते बुधै
एवभभ्यायसयोगेन शाम्वी जायतेध्रुवम्
नेत्ररोगा विनश्य न्ति दिव्यतदृष्टिरू प्रजायते

घे०सं० १/५३–५४

अर्थात– निमेष–उन्मेष को रोककर जब तक ऑसू न गिरने लगे, तब तक किसी सूक्ष्म लक्ष्य की ओर टकटकी लगा कर देखते रहने को त्राटक कहते है। इसके अभ्यास से शाम्भवी मुद्रा की प्राप्ति होती है।

16.4 त्राटक के प्रकार

महर्षि घेरण्ड ने त्राटक की प्रक्रिया में एक सूक्ष्म लक्ष्य की ओर टकटकी लगा कर देखते रहने की बात की है। योग शास्त्रों में त्राटक की तीन महत्वपूर्ण प्रक्रियाये बताई है। पहली प्रक्रिया का नाम वहिःत्राटक है इसमें संसार में साकार रूप में जितनी वस्तुए दिखाई देती है जैसे– सूर्य चन्द्रमा, तारे, मूर्ति, वृक्ष, आराध्य का चित्र, महायोगियों का चित्र पर त्राटक किया जाता है। दूसरी प्रक्रियायें का नाम है अन्तरंग त्राटक। इस त्राटक में साधक अपनी कल्पना शक्ति का उपयोग कर ऑख बन्द कर प्रतीक पर त्राटक करता है। तीसरी प्रक्रिया का नाम है अधोत्राटक इसका अभ्यास ऑखों को आधा खुला और आधा बन्द कर किया जाता है। त्राटक की उपरोक्त तीनों अवस्थाओं की विस्तृत वर्णन इस प्रकार है।

16.4.1 वहिर्त्राटक – बहिर्त्राटक जैसा नाम से स्पष्ट है बहि अर्थात बाहर, त्राटक अर्थात एकटक देखना। इस प्रक्रिया में पूर्णिमा दृष्टि का प्रयोग किया जाता है संसार में हमें विविध वस्तु ,प्रतीक दिखाई देते है साधक सबसे पहले किसी एक प्रतीक का चुनाव करता है फिर पूर्णिमा दृष्टि का प्रयोग करते हुए उस लक्ष्य को एकटक तब तक देखता है जब तक ऑखों से ऑसू न निकले । तद्पश्चात उस प्रतीक का ऑख बन्द कर अवलोकन करता है। इस प्रक्रिया में जलती मोमबत्ती का प्रयोग भी किया जा सकता है जिसे वर्तमान में कई लोग (Candle light meditation) भी कहते है।

16.4.2 अन्तःरंग त्राटक –अन्तरंग त्राटक के नाम से ही स्पष्ट है है अन्तःरंग का मतलब है अन्तःकरण के अन्दर त्राटक का अर्थ है एकटक देखना। अर्थात ऑख बन्द कर लक्ष्य का काल्पनिक अवलोकन कर उसे देखते रहना। व्यक्ति ऑख खोलकर स्थूल रूप से विविध वस्तुओं को देख सकता है पर जो वस्तुव उसने स्थूल जगत में देखी है अगर व काल्पनिक अवलोकन करे तो अन्तः चक्षु से उसे वह वस्तुए ऑख बन्द कर भी दिखाई देती है।

उदाहरणार्थ ऑख बन्द करवाकर आपसे कहा जाये, आपके ईष्ट, आराध्य, गुरू, सूरज, चन्द्रमा, तारे तो आपको एक पल वह स्पष्ट दिखाई देने लगेंगे भलई आपकी अमा दृष्टि ही क्यो न हो। त्राटक की काल्पनिक अवलोकन की यह प्रक्रिया अन्तःरंग त्राटक का अन्तरत्राटक के नाम से जाती है।

16.4.3 अधोत्राटक – अधोत्राटक की इस प्रक्रिया में ऑखों को आधा खुला आधा बन्द किया जाता है। योग के ग्रन्थों में इस अवस्था को प्रतिपदा दृष्टि, नासिकाग्र मुद्रा या कही इसे शाम्भवी मुद्रा भी कहा जाता है। अधोत्राटक में लक्ष्य या प्रतीक को प्रतिपदा दृष्टि से देखा जाता है अभ्यास के क्रम में बीच में ऑख बन्द कर उसका काल्पनिक अवलोकन भी कर सकते है।

त्राटक भलई शास्त्रों में तीन प्रकार का बताया गया है पर त्राटक की सर्वसुलभ क्रियाविधि को गुरू के निर्देशानुसार निम्नानुसार किया जा सकता है।

16.4.4 त्राटक क्रियाविधि

1. ध्यान के किसी आसन (स्वस्तिक, पदमासन, सिद्धासन या सुखासन) में बैठ जाए।
2. सिर, कन्धे व रीढ की हड्डी एक सीध में रहे।
3. ऑखों के ठीक सामने २ फिट की दूरी पर एक जलती मोमबत्ती रख दीजिए।
4. ऑख बन्द कर काल्पननिक अवलोकन कर शरीर का ध्यान करें।
5. कायास्थैर्यम् का अभ्यास करे तो उचित होगा।
6. अब धीरे से ऑख खोलकर मोमबत्ती की लौ को अनवरत देखते रहे।
7. लौ को तब तक देखे जब तक ऑखों से ऑसू न निकले।
8. ४०–५० सेकण्डो से २–३ मिनट तक लगातार लौ पर त्राटक करे।
9. तद्पश्चात् ऑखे बन्दे कर चिदाकाश में उस लौ का अवलोकन कीजिए।

11. उचित मार्गदर्शन में २–३–४ बार यह प्रक्रिया दोहराई जा सकती है।

16.4.5 लाभ –

1. त्राटक की क्रिया नेत्र दोषों में लाभकारी है।
2. त्राटक के अभ्याास से ऑखों में जमा मल बाहर निकल जा सकता है।
3. दूरदृष्टि दोष, निकट दृष्टिदोष व मोतियाबिन्द में लाभकारी है।
4. त्राटक के आध्याात्मिक लाभ में दिव्यम दृष्टि की प्राप्ति होती है।
5. त्राटक के अभ्यास मात्र से साधक सभी अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति कर सकता है।
6. त्राटक के अभ्यास से आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है।
7. त्राटक के अभ्यास से शाम्भवी मुद्रा की भी सिद्धि प्राप्त होती है।
8. चित्त स्थिर व तनाव को दूर करता है।
9. त्राटक के अभ्या्स से पीनियल ग्रन्थि पर सार्थक व सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।
10. स्मरण शक्ति बढ़ाने, कल्पना शक्ति का विकास करने में त्राटक एक अचूक रसायन है।
11. आन्तरिक उत्तेजनाओं पर नियंत्रण होता है आत्मबल बढ़ता है मन शान्त होता है, तथा शक्ति प्रदान होती है।

16.4.6 सावधानियाँ

1. त्राटक का अभ्यास एक कुशल मार्गदर्शन में करना चाहिए।
2. माइग्रेन हो तो त्राटक न करें।
3. अवसाद के रोगियों को भी त्राटक नहीं कराना चाहिए।
4. ऑखों में अगर चश्मा (ज्यांदा पावर) का लगा है तो उचित देखरेख में करें।
5. मोतियाबिन्द का आपरेशन हुआ हो तो वह व्यक्ति भी इस अभ्यास को न करें।
6. इस अभ्यास को प्रातः काल या रात्रि के समय में ही करें।

अभ्यास प्रश्न

1.बहु विकल्पीय प्रश्न

(क) अमा दृष्टि का मतलब है

(अ) ऑखे बन्द रखना (ब) ऑखे खुली रखना

(स) अधखुली ऑखे (द) दिव्य दृष्टि

(ख) घेरण्ड संहिता में त्राटक शुद्धिकरण की कौन सी अवस्था है।

(अ) तीसरी (ब) चौथी

(स) पॉचवी (द) छठी

(ग) अधो त्राटक किया जात है।

(अ) अभा दृष्टि में (ब) प्रतिपदा दृष्टि में

(स) पूर्णिमा दृष्टि में (द) काल्पनिक अवलोकन में

16.5 कपालभॉति

कपालभाति षटकर्मों की अन्तिम क्रिया है। कपाल का अर्थ है मस्तिष्क, व भॉति का अर्थ होता है चमकाना, अर्थात प्रकासित करना। कपालभॉति की क्रिया में मतिष्क का का शोधन होता है। वस्तुतः कपालभाति शोधन की ही क्रिया है परन्तु कई जगह इसे प्राणायाम की क्रिया भी कहा गया है।

प्रिय विद्यार्थियों वास्तव में कपालभॉति नाम सुनकर आपके मानसिक पटल पर एक ही प्रक्रिया आ रही होगी जिसे आप कई बार टी०वी०, योग शिविरों में देख चुके है तथा जिस प्रक्रिया में जोर से (झटके से) श्वास को बाहर निकालते है। परन्तु आपको स्पष्ट कर दूँ कि वास्तव में कपालभॉति श्वास को जोर–जोर निकालने की प्रक्रिया मात्र नहीं है। महर्षि घेरण्ड ने कपालभॉति के अन्य प्रकार भी बताये है अब जिज्ञासु पाठकों के मन में निम्न प्रश्नों को जानने की उत्सुकता हो रही है।

❖ कपालभाति षटकर्म है या प्राणायाम
❖ कपालभाति के कितने प्रकार है।

- ❖ कपालभाति के लाभ क्या है।
- ❖ कपालभाति करने में क्या सावधानियॉ बरतनी चाहिए।

आगे के पृष्ठों का अध्ययन कर लेने के बाद आपको स्वतः ही उपरोक्तं प्रश्नो का उत्तर मिल जायेगा। अभी तक आपने षटकर्मों की पॉच प्रक्रियाओं (धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक) का अध्ययन किया है। उपरोक्त प्रक्रियाओं में पंच तत्वों के माध्यम से आपने शरीर व अन्ततःकरण की शुद्धि की है। षटकर्म की अन्तिम (कपालभाति) की प्रक्रिया में जल व वायु द्वारा शरीर का शुद्धिकरण किया जाता है विशेषतः कपालभॉति की प्रक्रिया में मस्तिष्क का शोधन होता है। शोधन की क्रिया होने के कारण इसे षटकर्म कहा जाता है।

कपालभॉति की एक प्रक्रिया में श्वाास–प्रश्वाोस को जोड़ा जाता है। चूँकि यह प्रक्रिया प्राणायाम (श्वास–प्रश्वास) पर आधारित है इसलिए इसे प्राणायाम भी कहा जाता है। शास्त्रीय मान्याता है कि प्राणायाम के माध्यम से श्वास क्रिया पर व्यक्ति नियंत्रण कर सकता है। प्राणायाम की तीन प्रक्रियाये पूरक, कुम्भक व रेचक मस्तिष्क को अनुप्राणित तो करती ही है साथ ही साथ हमारे रक्त का शोधन भी करती है। कपालभॉति की प्रक्रिया में योगी झटके से श्वास का रेचक करता है इसलिए श्वास के साथ जुड़े रहने के कारण इसे प्राणायाम कहा गया है।

महर्षि घेरण्ड ने कपालभॉति को परिभाषित कर कहा है।
वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः
भालभाति त्रिधा कुर्यात्ककफदोषं निवारयेत्

घे०सं० १/५५

अर्थात वातक्रम कपालभाति, व्युत्क्रम कपालभाति और शीतक्रम कपालभाति के भेद से कपालभॉति तीन प्रकार की होती है। इसका साधन करने से कफ से उत्पन्न दोषों का निवारण होता है।

उपरोक्त श्लोक में महर्षि घेरण्ड ने कपालभॉति के प्रकारों की व्यााख्या तो की है साथ ही साथ कपालभाति के लाभों की ओर इशारा करते कहा है कि ''कफदोष निवारयेत'' अर्थात कफदोषों का निवारण भी कपालभाति के अभ्यास से होना है।

16.6 कपालभॉति के प्रकार

महर्षि घेरण्ड ने राजा चण्डिकापालि को हठयोग की शिक्षा देते हुए कपालभॉति के तीन प्रकार बताये है।

16.6.1 वातकर्म कपालभॉति– वात का अर्थ है हवा, वायु कर्म का अर्थ है क्रिया। कपाल का अर्थ मस्तिष्क, भाति का अर्थ है धोंकनी या प्रकाशित इस प्रक्रिया में वायु में वायु तत्व से लोहार की धौकनी के समान शीघ्रता से रेचक करते हुए मस्तिष्क को प्रकाशित करते है। मस्तिष्क को प्रकाशित करने से तात्पर्य है कि मस्तिष्क के एक–एक कोश को अनुप्राणित करना। अगर मस्तिष्क का एक–एक कोश अनुप्राणित हो गया तो साधक सामान्य व्यक्ति से महामानव तक बन सकता है। साधक समाधि की अवस्था तक पहुँच सकता है।

वातक्रम कपालभाति की क्रियाविधि महर्षि घेरण्ड ने इस प्रकार बताई है–

इडया पूरयेद्वायुं रेचयेत्पिडलया पुनः

पिडलया पूरयित्वां पुनश्चडन्द्रेण रेचयेत्

पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु धारयेत्

एवमभ्यास योगेन कफ दोषं निवारयेत्

घे०सं० १/५६–५७

अर्थात – इडा नाडी या बायी नासिक से श्वास अन्दर लेनी है और पिंगला नाडी या दाहिनी नासिका से श्वांस छोड़नी है फिर पिंगला से श्वास अन्दर लेनी है और चन्द्र नाडी (बायी नासिका) से उसे बाहर निकाल देना है। पूरक और रेचक की जो क्रियायें होती है, उनकी गति तेज नहीं होनी चाहिए, इस क्रिया के अभ्यास से सर्दी खांसी से मुक्ति होती है।

क्रियाविधि –

1. ध्यान के किसी आसन में बैठ जाये।
2. कमर, गर्दन व रीढ की हड्डी को एक सीध में रखे।
3. दोनों हाथों को घुटनों पर रखें।
4. दानों नासाछिद्रों से श्वास को झटके के साथ बाहर निकाले तथा पेट को अन्दर पिचकायें।
5. तद्पश्चात् विश्राम कर पुनः प्रक्रिया को दोहराये।

नोट – वातक्रम कपालभॉति की यह प्रक्रिया वर्तमान में प्रचलित है। प्रारम्भ में १०–१५ राउण्ड से शुरू करते हुए गुरू के निर्देश में ४०–५० स्टोक इसके किये जा सकते है।

लाभ –१. पाचन संस्थान के रोगों में लाभकारी है।

२. मस्तिष्क का शोधन कर मानसिक विकारों से मुक्त करती है।

३. मोटापा को कम करता है तथा फेफड़ों की क्षमता को बढ़ती है।

४. कुण्डलिनी जागरण में लाभकारी अभ्यास है।

सावधानियॉ

१. गर्भवती महिलायें इस अभ्यास को न करें।

२. हार्निया या पेट का आपरेशन हुआ हो तो भी यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

३. उच्च रक्तचाप, हृदय रोग के रोगी इस अभ्यास को न करे।

४. अभ्यास के दौरान चक्कर आने लगे तो अभ्यास बन्द कर दे।

16.6.2 व्युत्क्रम कपालभॉति – व्युत का अर्थ है उल्टा तथा क्रम का अर्थ है क्रिया। व्युत्क्रम कपालभॉति की इस प्रक्रिया में नाक से पानी खींचकर मुँह से निकाला जाता है। महर्षि घेरण्ड व्युतक्रम कपालभॉति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहते है–

नाभाभ्यांर जलमाकृष्यक पुनर्वक्त्रेणरेचयेत्

पायं पायं व्युतत्क्र्मेण श्लेवष्मायदोषं निवारयेत्

घे०सं० १/५८

अर्थात नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा जल खींचे और मुख से निकाल दे तथा मुख से जल खींचकर नासिका से निकाल दें, यह व्युतक्रम कपालभॉति कफज दोषों का निवारण करती है।

क्रियाविधि– व्युतक्रम कपालभाति की वर्तमान प्रचलित क्रियाविधि का वर्णन इस प्रकार है–

1. सर्वप्रथम हल्का नमक डला हुआ गुनगुना पानी लें।
2. ग्लास, नेति पात्र या जग में उस पानी को डाल दे।
3. कागी गुद्रा में बैठे तथा दोनों नासाछिद्रोंको पानी में डुबा दे।
4. दोनों नासाछिद्रों से जल को अन्दर खीचें फिर श्वास छोड़ते हुए मुँह से पानी को बाहर निकाल दें।

लाभ –

1. नासिका मार्ग को स्वच्छ करने वाला अभ्यास है।
2. आज्ञा तथा बिन्दु चक्र पर इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।
3. खेचरी मुद्रा की सिद्धि में लाभकारी है।
4. श्वसन संस्थान को स्वच्छ करता है नेत्र रोगों में लाभकारी है।

सावधानियॉ – यह एक कठिन अभ्यास है योग्य गुरू के निर्देशानुसार ही इस अभ्यास को करना चाहिए।

16.6.3 शीतक्रम कपालभॉति – शीत का अर्थ है ठण्डा व क्रम का अर्थ है क्रिया चूँकि इस क्रिया से शीतलता प्रदान होती है इसलिए इसे शीतक्रम कपालभाति कहते है। महर्षि घेरण्ड शीतक्रम कपालभाति की प्रक्रिया तथा लाभों को बताते कहते है–

शीत्कार करता हुआ साधक मुख के द्वारा जल ग्रहण कर नासिका के द्वारा निकाल दें। यह क्रिया शीतक्रम कपालभॉति कहलाती है। इसके द्वारा साधक का शरीर कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है और वार्धक्य या बुढ़ापा नहीं सताता। शरीर में स्वदच्छता उत्पन्न होती है तथा कफदोष का निवारण होता है।

क्रियाविधि –

1. सर्वप्रथम हल्का नमक युक्त गुनगुना पानी ले।
2. पानी को गिलास की सहायता से मुँह में डालकर पूरा मुँह भर लें।
3. लम्बी् गहरी नाक से श्वास भरें।
4. पानी को गले तक घुटके तद्पश्चात ठोडी को कण्ठ कूप पर मिलाये।
5. श्वास को दोनों नासाछिद्रों से बाहर निकाले तो जल स्वतः ही दोनों नासिका से बाहर निकल जायेगा।

लाभ –

1. इस क्रिया से शरीर सुन्दर तथा कान्तिमय हो जाता है।
2. नासिका मार्ग तथा श्वसन संस्थान की गन्दगी बाहर निकल जाती है।
3. शीतक्रम कपालभाति करने से वृद्धावस्था, बिमारी छू नहीं सकती है।
4. मन शान्त रहता है मानसिक रोगों से मुक्ति मिलती है।

सावधानियॉ –

1. यह एक गोपनीय क्रिया है गुरू के संरक्षण में ही इसका अभ्यास करें।
2. प्रयोग किये जाने वाला जल स्वच्छ हो तथा उसमें नमक डला हुआ हो।

16.7 सारांश

त्राटक व कपालभॉति शोधन की एक महत्पूर्ण क्रियाये है। महर्षि घेरण्ड ने त्राटक व कपालभॉति को शोधन क्रिया के रूप में वर्णन किया है। त्राटक का सीधे–सीधे अर्थ व्यक्ति किसी वस्तु का प्रतीक को लगातार देखने के रूप में लेता है कई लोगों की मान्यता है कि त्राटक से दूर दृष्टि आती है व्यक्ति को सम्मोहित किया जा सकता है पर वास्तव में ऐसा नहीं है। हठयोग में त्राटक क्रिया को सिद्धि प्रदायक नहीं वरन एक शुद्धिकरण की क्रिया के रूप में देखा है। त्राटक से मस्तिष्क व नेत्रों का शुद्धिकरण होता है।

कपालभॉति को श्वास–प्रश्वास से होने वाली क्रिया समझकर व्यक्ति इसे प्राणायाम मानता है पर वास्तव में कपालभाति प्राणायाम न होकर एक शोधन की क्रिया है। कपालभॉति से मस्तिष्क का शोधन होता है तथा प्राणमय कोश की शुद्धि होती है।

अभ्यास प्रश्न

सत्य/असत्य बताइये–

2.

(क) घेरण्ड संहिता में कपालभाति को पॉचवे स्थान पर रखा है।

(ख) कपालभाति के तीन भेद है।

(ग) कपालभाति एक प्राणायाम है।

(घ) त्राटक का अर्थ है कि सूक्ष्म लक्ष्य की ओर एकटक देखे रहना।

(ड) शीतक्रम कपालभाति में मुँह से पानी पीकर नाक से निकालते है।

(च) हार्निया या पेट के आपरेशन में वातक्रम कपालभॉति लाभकारी है।

16.8 शब्दावली –

विचारणा – विचार करना, चिन्तन करना, सोचना
अन्तरनिहित – साधक के अन्दर विद्यमान
निमेष – ऑख खोलना
उन्मेष – ऑख बन्द करना
पूर्णिमा दृष्टि– ऑख खोले रखना
अभादृष्टि – ऑखे बन्द रखना
प्रतिपदा दृष्टि –ऑखों को आधा खुला रखना
दृष्टि दोष – ऑखों के विकार

कपाल – मस्तिष्क
भॉति – धौकनी, चमकाना
पूरक –श्वास लेना
कुम्भिक – श्वास रोकना
रेचक – श्वास छोड़ना
कुण्डिलिनी – मूलाधार चक्र के समीप सोई हुई एक शक्ति
नासाछिद्र –नाक के छेद
वात – हवा
हार्निया – आंतों का एक रोग
काग – कौवा
इड़ा –चन्द्र नाडी, वायॉ स्वर
पिंगला –सूर्य नाडी, दायॉ स्वर
व्यूत – उल्टा
शीत – ठण्डा

16.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१ (क) अ (ख) ग (ग) ब

२ (क) असत्य (ख) सत्य (ग) असत्य (घ) सत्य

(ड) सत्य (च) असत्य

16.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. सरस्वती निरंजनानन्द स्वामी घेरण्ड संहिता (१६६७) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुगेंर बिहार।
२. सरस्वती सत्यानन्द् स्वामी आसन प्राणायाम मुद्रा बंध (१६६६) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुगेंर बिहार ।
३. गौरे डॉ० एम०एम० – शरीर क्रिया विज्ञान एवं योगाभ्यामस (२०११) डोलिया पुस्तक भण्डार, हरिद्वार।

16.11 निबंधात्मक प्रश्न

१. घेरण्ड संहिता के अनुसार कपालभाति की सुदीर्घ व्याख्या करे।

२. त्राटक क्रिया की विधि लाभ व सावधानियॉ का वर्णन कीजिए।

३ कपालभाति क्या है इसके प्रकारों की लाभ सहित व्याख्या कीजिए।

इकाई– 17 घेरण्ड संहिता में वर्णित 1 से 16 आसनों की विधि लाभ एव सावधानियॉ।

इकाई की संरचना–

17.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों जैसा कि ''कि घेरण्ड संहिता'' हठयोग का एक प्रमुख ग्रन्थ है। जिसमें महर्षि घेरण्ड एवं राजा चण्डकपालि के संवाद के माध्यम से हठयोग के गूढ़ रहस्यों का विवेचन किया है। महर्षि घेरण्ड ने हास्य योग अर्थात हठयोग की सिद्धि के लिए सात प्रकार के साधनों की चर्चा की है। इन्हें सप्त साधना के नाम से भी जाना जाता है।

हठयोग के प्रथम अंश के रूप में घेरण्ड संहिता में षठकर्मो का विस्तार से वर्णन किया गया है। तथा द्वितीय अंग के रूप में 32 आसनों का विधि लाभ एवं सावधानियॉ के साथ विस्तृत विवचेन भी हमें प्राप्त होता है। पाठकों प्रस्तुत इकाई में हमारे अध्ययन का विषय है...घेरण्ड संहिता में वर्णित 1–16 आसनों की भी विधि उपयोगिता तथा इन आसनों को करते समय रखी जाने वाली सावधानियॉ।

तो आइये चर्चा करते हैं विभिन्न प्रकार के आसनों के बारे में।

17.2 उद्देश्य–

प्रिय विधार्थियों प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- घेरण्ड संहिता में वर्णित विविध आसनों की विधि को स्पष्ट कर सकेंगें।
- आसनों की व्यवहारिक जीवन तथा साधना की दृष्टि से महता हो स्पष्ट कर सकेंगे।
- आसन करते समय रखी जाने वाली सावधानियॉ का वर्णन कर सकेंगे।

17.3 घेरण्ड संहिता में वर्णित आसनों(1से16) की विधि लाभ एवं सावधानियॉ

1.सिहासन

विधिः–

सिहासन करने के लिए सबसे पहले अपने पैरो को सामने फैला लेते है। दाहिने पैर को मोड़कर दाहिनी एड़ी को ठीक गुदा ठारपर रखते है जिसमें गुदा हार पर दबाव पड़े। जब तक एड़ी का हलका दबाव सिवनी पर न पड़ने लने तथा जब तक सुविधा का अनुभव न हो तब तक अपने शरीर को हिला–डुला कर व्यवस्थित करें। पुनः बायें पैर को मोड़कर बायीं एड़ी को दाहिनी एड़ी के ऊपर इस प्रकार रखते है कि टखने एक–दुसरे को स्पर्श करते दबाव पड़े। पुरूष एड़ी को अपने मूत्र संस्थान के ऊपर रखते है तो वह दबती है। महिलायें एक एड़ी को दूसरी एड़ी के ऊपर योनि स्थान में रखती है। यदि अन्तिम अवस्था में कठिनाई का अनुभव हो तो अपनी बाँधी एड़ी को सरलतापूर्वक श्रोणी के अधिकतम निकट रखने का प्रयास करते है। इसके बाद पैरो को इसी स्थिति में बाँध दिया जाता है। दाहिने पैर की उंगुलियों को जो नीचे है, बाँयी जाँघ पिण्डली के बीच घुसा देते है। इस स्थिति में ताला सा लग जाता है।

सावधानियाँः–

इस आसन का अभ्यास सभी कर सकते है। केवल ऐसे व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए जिन्हें साइटिका हो या रीढ़ की हड्डी के निचले भाग में गड़बड़ी हो या अण्डकोष बढ़ा हुआ हो, क्योकि बहुत बार जब बिना अभ्यास के इस आसन को लोग करते है, तब यदि अण्डकोष बढ़ा हुआ हो तो फट जाता है, जिसके कारण पानी थैली में आ जाता है और दर्द होने लगता है।

लाभः–
सिहासन ध्यान का एक आसन है, जिससे मेरूदण्ड की स्थिरता को बनाए रखा जा सकता है, जो ध्यान के लिए आवश्यक है।

यह प्रजनक हार्मोनो के हाख को नियन्त्रित करता है, जो आध्यार्तमण्ड प्रगति के लिए आवश्यक है। जिन लोगों को स्वप्नदोष होता है, उनके लिए यह उत्तम आसन है, क्योकि इसमें हमारी मूत्रोन्हेय की नाड़ियाँ दबती है और उन पर लगातार तो दबाव पड़ता रहता है, उससे बाद में शरीर को आन्तरिक ग्रन्थियाँ सुहढ़ बनती है।
महिलाओं को जो श्वेत–पदर होता है वह भी इस अभ्यास से नियंत्रण में आ जाता है।
मूलाधार चक्र की जाग्रति भी इस आसना के सही अभ्यास से होती है।

2.पद्यासन

विधिः– सबसे पहले पैरो को सामने फैला कर एक पैर को दूसरे पैर की जाँच के ऊपर और दूसरे पैर को पहले पैर की जाँघ के ऊपर रख देना है तलव उर्ध्वमुखी रहे तथा एड़ी पेट के अग्रभाग के निचले हिस्से को स्पर्श करें। अन्तिम अवस्था में दोनो घुटने जमीन के सम्पर्क में रहेंगें। सिर एवं पीठ को बिना जोर लगाये सीधा रखने का प्रयास करें। आँखो को बन्द करें। इसे तो हम लोग पद्यासन कहतें है, लकिन महार्षे घेरण्ड ने जिस स्थिति का यहाँ वर्णन किया है वह है–बहपद्यासन शरीर के पृष्ठ भाग से अपने हाथो को ले जाकर दाहिने हाथ से दायें पैर के अँगूठे को और बायें हाथ से बायें पैर के अँगूठे को पकड़ लेना है। इसे कहते है बहपद्यासन।

सावधानियाँ– पद्यासन लगाने के पूर्व यदि पैरो को लचीला बनाने के लिए तितली आसन तथा घुटना घुमाने का अभ्यास करे तो यह सुविधा होती है। यदि पैर पर्याप्त लचीला नहीं है, तो जोर लगाकर पद्यासन करने का प्रयास न करें अपित पैर को लचीला बनाने वाले आसनों का नियमित अभ्यास तब तक करें जब तक पैर लचीले न हो जायें। साइटिका, सेक्रल इन्फेक्शन, तथा घुटनों के दर्द से पीड़ित व्यक्ति इस आसन को न करें।

लाभः– मानसिक शान्ति, शारीरिक स्वास्थ्य को बढ़ाने में सहायक। जठराग्नि तीव्र होती है भूख बढ़ती है। मन को एकाग्रचिप्त करने के लिए बहुत ही शक्तिशाली माध्यम।

3.उष्ट्रासन

विधिः–

वज्रासन में बैठते है। भुजाओं को बगल में रखते हुए घुटनो पर खड़े होते है। इस आसन में घुटनों से नीचे पैरो को जमीन पर टिकातें है। घुटने पैर आपस में मिले रहते है, किन्तु यदि उन्हें अलग–अलग रखने में सुविधा का अनुभव हो तो अलग–अलग भी कर सकते है। पीठ को पीछे की ओर मोड़ कर दायें हाथ से दायीं एड़ी तथा बायें हाथ से बायीं एड़ी को पकड़ते है।

इसमें एक बात का ध्यान रखियें कि जब इस प्रकार के आसन में खड़े होते है तब एड़ियों के बीच कमर की चौड़ाई जितनी दूरी होनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि जांघो को घुटनो से कमर तक सीधा ही रखना है और कमर से ऊपर शरीर को मोड़ना है। इस

स्थिति में आने के लिए अमाशय को जोर लगाकर सामने की ओर फैलाते हैं। इस अवस्था में सिर की पीछे की ओर ले जाते है। पूरे शरीर को विशेषकर मेरूदण्ड को शिथिल बनाने का प्रयास करते है। शरीर को भार समान रूप से हाथो एवं पैरो पर रहना चाहिए। पीठ को चपाकार आकृति में बनाए रखने के लिए भुजाए कन्धो को अवलम्ब प्रदान करती है।

जब तक सुविधा पूर्वक इस अन्तिम स्थिति में रह सकते है रहें। तत्पश्चात् हाथों को एक–एक कर एड़ियों से हटातें हुए प्राम्भिक स्थिति में आ जातें है। उष्ट्रासन का अभ्यास करते समय शरीर की आकृति ऊँट के कूबड़ के सदृश हो जाती है।

सावधानियाँः–
उच्च रक्तचाप से पीड़ित लोगों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।
जिनकी थायराइड गृन्थि बढ़ी हो उन्हें सावधानी रखनी चाहिए।
कटिवात से पीड़ित व्यक्तियों का विशेष निर्देशन में ही आसन को करना चाहिए।

4.भद्रासन

भद्र अर्थात् कल्याण कारी, यह भद्रासन सभी रोगों को दूर करता है। इसलिए इसे भद्रासन कहतें है।

विधिः–

सर्वप्रथम वज्रासन में बैठकर दोनो पैरों के अँगूठों को साथ–साथ रखते है। घुटनों को जितना हो सके दूर–दूर फैलते है। पैरों की अँगुलियों का सर्म्पक जमीन से बना रहे। एड़ियों को इतना फैलाते है कि नितम्ब फर्श पर जम जाये। फिर दोनों हाथों से टखने को पकड़ते है।

लाभः– यह आसन मुख्य रूप से आध्यात्मिक साधकों के लिए हैं, क्योकि इस स्थिति में आने मात्र से मूलाधार चक्र अत्तेजित होने लगता है। यह ध्यान का एक उत्तम आसन है।वज्र नाड़ी पर जोर पडने के कारण पाचन शक्ति तीव्र होती है। साथ ही साथ बिना प्रयास किये स्वाभाविक रूप से अश्विनी और वज्रोली मुद्रा का अभ्यास भी इसमें हो जाता है। मस्तिष्क एवं उसकी उत्तेजना को शान्त करने का उत्तम उपाय है।प्राण के प्रवाह की संयत और सन्तुलित बनाने के लिए, उर्ध्वगामी बनाने के लिए इसका अभ्यास किया जाता है।

5.मुक्तासन

यह मुक्तासन योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाला है। इसलिए इसे मुक्तासन कहतें है।

विधिः–

इसमें पहले पैरों को सामने फैला लेते है। बायें पैर को मोड़कर दायीं जांघ के नीचे रखतें है और जितना हो सके, शरीर के समीप लाने का प्रयास करते है। फिर दाहिने पैर को बायें पैर ऊपर रहे।

लाभः– सुखासन ध्यान का सरलतम तथा सबसे अधिक सुविधाजनक आसन है।

जो लोग ध्यान के अन्य कठिन आसनों में नहीं बैठ सकते, वे इस आसन का उपयोग कर सकते है।यह आसन किसी प्रकार का तनाव या दर्द उत्पन्न किये बिना शारीरिक एवं मानसिक सन्तुलन प्रदान करता है।

6.वज्रासन

इसमें दोनों जंघाएँ वज्र के समान हो जाती है इसलिए इसे वज्रासन कहा जाता है।

विधिः–दोनो पैरों को सामने फैलाकर बैठते है तथा बगल में हथेलियाँ जमीन पर रहेंगी। अब दाहिने पैर को घुटने से मोड़कर दाहिने नितंब के नीचे ले जाएँ, पैर के पंजे अंदर की तरफ रहेंगे। इसी तरह बाएँ पैर को मोड़कर बाएँ नितंब के नीचे ले जाएँ। दोनों हाथों को दोनो जंघाओं पर रखते है। आँखें बंद कर लेते है। यह वज्रसान होतो है। इसमें सिर, गरदन तथा रीढ़ तीनो एक सीध में रहना चाहिए।

लाभः– इस आसन से जंघाओं तथा पिंडलियों की मांसपेशियाँ मजबूत होती है। इसको करने से पाचन संस्थान तथा प्रजनन संस्थान पर प्रभाव पड़ता है। आमाशय के रोगों –अति अम्लता (Hyper Acidity) एवं पेप्टिक अलसर का निवारण करता है। पाचन की दर को तीव्र करता है। इसको खाना खाने के बाद किया जाना लाभदायक है। यह श्रेणि प्रदेश में रक्त प्रवाह एवं स्नायविक आवेगों में परिवर्तन करता है।मांसपेशियों को पुष्ट करता है। साधक की यौन भावनाएँ उसके नियंत्रण में आ जाती है। इसके अभ्यास से वज्र नाड़ी पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यह ब्रह्मचर्य पालन के लिए उत्तम अभ्यास है। ध्यान के लिए भी इस अभ्यास को उपयोगी माना गया है। साइटिका एवं सेक्रल इन्फेक्शन से पीड़ित व्यक्तियों के लिए यह ध्यान का सर्वोत्तम आसन है। इसमें प्राण प्रवाह सुचारू रूप से होता है। कुण्डलिनी योग में सुषुम्ना की जागृति के लिए भी इस आसन का अभ्यास किया जाता है।

सावधानियाँः– यदि जांघों में दर्द का अनुभव हो तो इसी आसन में घुटनों को थोड़ा अलग कर लें।घुटने के दर्द वाले व्यक्ति इसको ने करें। बवासीर की शिकायत वाले रोगी भी इसे न करें।

7.स्वस्तिकासन

विधिः– बायें घुटने को मोड़कर बायें पैर के तलवे को दायी जांघ के भीतरी भाग के पास इस प्रकार रखते है कि एड़ी सिवनी का स्पर्श न करें। बायें घुटने को मोड़कर दायें पैर को बायें पैर के ऊपर रखते है। जैसे सुखासन में बैठते है। अब केवल सुखासन में बैठना नहीं

है। जिस प्रकार सिहासन के अभ्यास में पैर के पंजे को जांघ और पिण्डली के बीच से निकाला जाता है, ठीक उसी प्रकार सुखासन में बैठकर, बायें पैर को मोड़कर पंजे को दाहिनी जांघ पिण्डली के बीच से ऊपर निकालना है और दाहिने पैर के पंजे को बायी जांघ पिण्डली के बीच से दबे रहते है और एड़ी से श्रेणि प्रदेश को स्पर्श न करें। घुटने जमीन के सर्म्पक में रहें। रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें। हाथो को ज्ञान मुहा में घुटनो के ऊपर रखें या फिर गोद में रखें। आँखें बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनायें। शरीर को व्यवस्थित कर आसन को आरामदायक बनायें शरीर को स्थिर बनाने के लिए या एक सरल अभ्यास है।

सावधानियाँः– साइटिका एवं रीढ़ के निचले भाग के विकारो से पीड़ित लोगों को यह आसन नहीं करना चाहिए।

लाभः– स्वास्तिकासन ध्यान का एक आसन है जिससे मेरूदण्ड की स्थिरता का बनाए रखा जा सकता है, जो ध्यान के लिए आवश्यक है। महिलाओं में जो श्वेत प्रदर होता है वह भी इस अभ्यास से नियंत्रण में आता है। मूलाधार चक्र की जागृति होती है। प्रजनक हार्मोनों के स्त्राव को नियन्त्रित करता है। स्वप्न– दोष वालो के लिए यह उत्तम आसन है।

8.योगासन

विधिः– एक पैर जांघ के ऊपर दूसरा जांघ के नीचे रहता है। इस अवस्था में हाथो को घुटने पर रखना है। नासिकाग्र हष्टि का अभ्यास करना है। यही योगासन है। यह एक सहज आसन है, जिसे कोई भी व्यक्ति कहीं पर भी बैठकर ध्यान के लिए, एकाग्रता के लिए जप के लिए अपने आपको स्थिर बनाने के लिए और सहज भाव से बैठने के लिए कर सकता है।

9.सिंहासन

यह सिंह गर्जना के आधार पर निर्मित किया गया है । यह सिंहासन नामक आसन सभी रोगों को नष्ट करने वाला है।

विधिः– सर्वप्रथम वज्रासन में बैठकर घुटनों को लगभग 45 सेन्टीमीटर फैलाते है। पैरो की अँगुलियाँ एक–दूसरे का स्पर्श करती रहें । सामने झुककर अपनी हथेलियों को घुटनों के मध्य जमीन पर रखते है। अँगुलियाँको शरीर की ओर रखते है। भुजाओं को एकदम सीधा रखते हुए पीठ को सीधा रखते है। शरीर का भार भुजाओं पर रहें। सिर का ऊपर उठाते हैं ताकि ग्रीवा का अधिकतम विस्तार हो और कण्ठ मार्ग खुला रहें। आँखों को खुला रखते हुए शाम्भवी मुद्रा में भूमध्य पर एकाग्र करते है।

लाभः– जो लोग ठीक से बोल नहीं पाते, बोलने में परेशानी होती है, या जिनकी आवाज कर्कश है, मधुर नहीं है, या हकलाते हैं, उनके लिए तथा गले के स्वर रज्जु, स्वर उत्पन्न करने वाली ग्रन्थी से समबद्ध रोगों में। टॉन्सिलाइटिस जिसमें मवाद भरता या खून निकलता है (गले में सूजन आ जाती है) दर्द होता है और मुँह के छालों के लिए इसका

अभ्यास उत्तम माना गया है। इससे वक्ष एवं मध्य पट का तनाव दूर होता है। निराश एवं अन्तर्मखी लोगों के लिए भी यह आसन उपयोगी है। इससे आवाज ओजस्वी एवं सुन्दर होती है। इसमें शाम्भवी मुद्रा के लाभ भी प्राप्त होते है।

10.गोमुखासन

शरीर की आकृति गाय के मुख के समान हो जाती है। इसलिए गोमुखासन कहतें है।

विधिः– सर्वप्रथम पैरों को फैला लेते है। इस आसन में इस प्रकार बैठते है कि एक पैर दूसरे पैर के ऊपर रहे तथा एड़ियाँ बगल में रहें। दाएँ पैर को मोड़कर एड़ी को बाएँ नितंब के समीप व दोनो घुटनों को एक–दूसरे पर रखते है दाएँ हाथ को पीठ के पीछे ल जाकर दोनों हाथों की अँगुलियाँ को परस्पर बाँध लेते है। कोहनी बगल के सीध में होनी चाहिए रीढ़ सीधी रहे तथा सिर पीछे की ओर व आँखें बंद होनी चाहिए।

लाभः–छाती का ऊपरी भाग, कंधे, गरदन तथा मेरूदण्ड की पेशियों का तनावयुक्त व्यायाम होता है। पेशियाँ मजबूत होती है। यह मधुमेह, स्पॉडिलाइटिस, स्वप्नदोष, निद्रादोष, धातुदौर्बल्य तथा प्रजनन संबंधित रोगों में लाभदायक है। फेफड़ो की कार्य क्षमता को बढ़ता है। ध्यान में प्रगति करने के लिए यह लाभदायक है। इसके अभ्यास से पुरूषों के अण्डकोष वृद्धि रोग में लाभ होता है।

सवाधानियाँः– जिनको बवासीर की शिकायत हो वे इसे न करें। इस आसन में जोर जबरदस्ती करने पर कंधों को हानि पहुँच सकती है।

11.वीरासन

यह आसन वीरता का प्रतीक होने के कारण इसे वीरासन कहते हैं।

विधिः– वज्रासन की स्थिति में बैठें। दाहिने घुटने को ऊपर उठाकर दायें पैर को बायें घुटने के भीतरी भाग के पास जमीन पर रखते है। दायी केहुनी को दायें घुटने पर रखते हैं तथा ठुड्डी को दायी हथेली के ऊपर रखतें है। आँखें बंद कर विक्षाम करतें है। शरीर पूरी तरह गतिहीन रहे। रीढ़ एवं सिर सीधे रहते है। फिर बायें पैर को दाहिने घुटने के पास रखकर इस अभ्यास को दोहराते हैं।

श्वास– यह कल्पना करते हुये कि श्वास भूमध्य से अन्दर बाहर आ–जा रहीं है, धीमा, गहरा श्वसन करें।

लाभः– जिन लोगों को ध्यान के आसन में बैठने में कठिनाई होती है वे इस अवस्था में ध्यान का अभ्यास कर सकते है। जब तक पैर पर बैठे–बैठे थक जायें तब पैर का बदल लें। शरीर को एक आरामदायक स्थिति में लाने के लिए और उसमें एकाग्रता का अभ्यास करने, पढ़ाई करने एवं मन को केन्द्रित करने के लिए उपयोगी आसन है। जो लोग

वज्रासन नहीं कर पाते, जिनकी जाँघ की मांसपेशियाँ कड़ी है या एड़ी अथवा घुटनों में दर्द होता है। वे इस आसन को कर सकतें है। स्नायविक विकार के लिए भी यह उपयोगी है।

12.धनुरासन

इसमें शरीर की आकृति तने हुए धनुष के समान हो जाती है। इसलिए इसे धनुरासन कहा जाता है।

विधिः– सर्वप्रथम इसमें पेट के बल लेट जाते हैं फिर पैरों को पीछे की ओर मोड़कर एड़ियों को नितंबों के समीप लाते हुए पैरों को हाथों से पकड़ लेते है। अब धीरे से पकड़े हुए पैरों को ऊपर की ओर खीचते हुए जांघें, सिर तथा छाती तीनों को एक साथ उठाते हैं। शरीर का आकार धनुष के समान हो जाता है। वापस आते समय छाती व जांघें टिकाऊँ व पाँव छोड़ दीजिए और पूर्व स्थिति में आ जाएँ।

लाभः– यह मेरूदण्ड तथा पीठ की मांसपेशियों को लछीला बनाता है तथा इससे स्नायु दुर्बलता दूर होती है। यह कब्ज तथा पित्त विकार दूर करने में सहायक है। जठराग्नि प्रदीप होती है। तथा पाचन क्रिया ठीक होती है। श्वास संबंधी रोगों को सुधरने में सहायक है। आमाशय व एड्रीनल ग्रन्थि से हारमोन के स्राव में संतुलन आता है। यह अपच, कब्ज, यकृत की मंद क्रियाशीलता, मधुमेह, इन्द्रिय संयम, मासिक धर्म संबंधित अवियमितताओं के अपचार में सहायक है। अंगों को सुडौल बनाता है।

सावधानियाँः–

जल्दी करने का प्रयास न करें। इसको खाली पेट करना चाहिए। हदृय विकार, उच्च रक्तचाप, हर्निया, कमर दर्द आदि होने पर इसको नहीं करना चाहिए।

13.शवासन

शव का अर्थ होता है–मृत शरीर इस आसन में शरीर की स्थिति मुर्दे के समान हो जाती है, अंग–अंग शिथिल हो जाता है इसलिए इस आसन का नाम शवासन है।

विधिः– सर्वप्रथम पीठ के बल सीधे लेट जाते हैं। दोनों पाँवों में लगभग डेढ़ फीट फासला रखते हैं। दोनों हाथों को शरीर से लगभग छः इंच दूर रखते हैं और हथेलियाँ आसमान की ओर रहती है। अंगुलियाँ हलकी सी मुड़ी हुई तथा आँखें बंद रहेंगी । गरदन सुविधानुसार किसी एक तरफ को कर देते है। कुछ समय इसी अवस्था में विश्राम करते है।

लाभः– यह आसन शरीर व मन को शांति तथा शिथिलता प्रदान कर तनाव जनित अन्य रोगों को दूर करता है। यह शरीर के प्रति सजगता प्रदर्शित करता है तथा थकान को दूर करता है।उच्च रक्तचाप, मधुमेह, तंत्रिका तंत्र दौर्बल्य, हदृय, रोगों से ग्रसित रोगी को यह

आसन बहुत लाभ पहुँचाता है। इस आसन को अन्य आसनों के बीच–बीच में और अंत में किया जाता है।

सावधानियाँः– जिन्हें डॉक्टर ने किसी कारणवश पीठ के बल सोने से मना किया हो वे इसे न करें।

इस आसन में मुँह बंद, आँखें बंद, सिर, मेरूदण्ड व गर्दन तीनों एक सीध में तथ चेंहरे पर किसी प्रकार का तनाव नहीं होना चाहिए ।सामान्यतः इस आसन में नींद नहीं लेनी चाहिए।

14.गुप्तासन

इस आसन में पैरों को जांघ के नीचे रखा जाता है। पंजो, एड़ियों और पिण्डलियों को जाँघ के नीचे छुपाकर रखने का प्रयास किया जाता है। इसी कारण इसे गुप्तासन कहतें है।

गुदा को दोनो पंजो के ऊपर रखते है। यह एक सरल आसन है और सभी व्यक्ति इसका अभ्यास कर सकते है।

15.मकरासन

विधिः– पेट के बल सीधा लेट जायें सिर और कन्धों को ऊपर उठायें तथा ठेहुसेयों को जमीन पर रखते हुए ठुड़ी को हथेलियों पर टिकायें। मेरूदण्ड को अधिक चापाकर स्थिति में करने के लिए केहुनियों को मिलाकर रखें। यदि गर्दन पर अतिरिक्त तनाव पड़ रहा हो तो केहुनियो को थोड़ा फैला ले। मकरासन में दो बिन्दुओं पर प्रभाव का अनुभव होता है– गर्दन एवं पीठ का निचला भाग। यदि केहुनिया आपस में बहुत दूर रहेगी तो गर्दन में तनाव का अनूभव होगा उन्हें वक्ष के बहुत पास लाये ंतो पीठ के निचले भाग में अधिक तनाव का अनुभव होगा। केहुनियों की स्थिति को इस प्रकार व्यवस्थित करें कि ये दोनों बिन्दु संतुलित हो जाए। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनायें।

सावधानियाँः– जिन व्यक्तियों की पीठ में दर्द रहता है, उन्हें यदि इस आसन में दर्द का अनुभव हो तो वे इसका अभ्यास न करें।

लाभः– छाती फेफड़ो का विस्तार करता है। जले को साफ करता है।जमा हुआ कफ साफ हो जाताह है और बन्द मार्ग खुल जाता है। स्लिपीडस्क, साइटिका, पीठ के निचले भाग में दर्द या मेरूदण्ड सम्बन्धी अन्य रोगों से पीड़ित लोगों के लिए यह आसन बहुत प्रभावकारी है।

16.मत्स्यासन

नामाकरणः– मछली की आकृति के समान होने के कारण इसे मत्स्यासन कहते है। यह रोगों को नष्ट करने वाला होता है।

विधिः— सर्वप्रथम पद्मासन में बैठकर केहुनियों के सहारे पीछे की ओर झुकाते है और सिर को ब्रह्मरंध्र को जमीन पर रखते हैं। फिर दोनों हाथों से पैरो के पंजों को पकड़ लेते है। केहुनियाँ जमीन पर रहती है। अतः पैर और जाँघ पद्मासन की अवस्था में जमीन पर मेरूदण्ड एक संतु की तरह चापाकर स्थिति में और सिर भूमि पर रहेगा। सिर की स्थिति को इस प्रकार व्यवस्थित करें कि मेरूदण्ड को अधिकतम विस्तार हो। शरीर का भार नितम्बों एवं पैरों पर डालकर भुजाओं एवं पुरे शरीर को शिथिल बनायें । आँखें बन्द करें तथा धीमा, गहरा श्वसन करें। फिर जिस क्रम से आप मत्स्यासन की स्थिति में आयें थे, उसके विपरीत क्रम से प्रारम्भिक स्थिति में लौट आयें। पैरों को बदलकर अभ्यास की पुनरावृत्ति करें। यह मत्स्यासन का अभ्यास है।

लाभः— इस आसन से आँतों तथा आमाशय के अंगों का विस्तार होता है। यह पेट के सभी रोंगों के लिए लाभकारी है।यह प्रदाही एवं खूनी बवासीर को भी दूर करता है। प्रजनन संस्थान के रोगों को दूर करने या उनसे बचाव में सहायता मिलती है। इस अभ्यास से फेफड़ों का विस्तार होता है और फेफड़ो तथा श्वसन से संबंधित रोग दूर होते है। हदृय रोग, पेप्टिक अलसर, हार्निया, मेरूदण्ड से संबंधित रोगों का किसी गंभीर रोग से पीड़ित व्यक्तियों को इस आसन का अभ्यास नहीं करना चाहिए। गर्भवती महिलाओं को भी इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न— सत्य/ असत्य कथन

1. पदमासन एक ध्यानात्मक आसन है।
2. बज्रासन का अभ्यास भोजन के उपरान्त किया जा सकता है।
3. सायटिका से ग्रस्त व्यक्ति का स्वस्तिकासन करना चाहिये।
4. धनुरासन में शरीर की आकृति तने हुये धनुष के समान हो जाती है।

17.4 सारांश—

प्रिय पाठकों उपर्युक्त विवेचन से आप खण्ड संहिता में वर्णित विभिन्न आसनों की विधि लाभ एवं सावधानियों को जान गये होंगे। वस्तुतः जिस साररिक स्थिति में एक लम्बे संयम स्थिरता के साथ सुखपूर्वक बैठा जा सके। उसे ही योग की भाषा में आसन की संज्ञा दी गई है। महर्षि घेरण्ड के अनुसार आसनों का अभ्यास शारीरिक दृढता की प्राप्ति के लिए किया जाता है। जिससे की साधक आगे की साधना में सहायता पूर्वक आगे बढ़ सकें।

17.5 शब्दावली

भद्र — कल्याणकारी

पदम्– कमल

चक्र – उर्जा केन्द्र नाड़ियों के गुद्दे भी गोलाकार रूप में पाये जाते हैं।

धातुदौर्बल्य – रस, खत, मॉस भेद, अस्थि एवं शुक्र इन सप्तधातुओं में कमजोरी।

17.6 –अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य 2. सत्य 3. असत्य 4. सत्य

17.7 – संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.निरंजनानंद सरस्वती, घेरण्ड संहिता, मुंगेर बिहार।

2.स्वामी विद्यानानंद सरस्वती। (2007) योग विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेष गढ़वाल।

17.8 – निबंधात्मक प्रश्न –

प्रश्न 5. – घेरण्ड संहिता में वर्णित किन्ही तीन ध्यानात्क आसनों की विधि लाभ एवं सावधानियों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2. – धनुरासन एवं उष्ट्रासन की विधि उपयोगिता एवं सावधानियों पर प्रकाश डालियें।

इकाई – 18 – घेरण्ड संहिता में वर्णित 17–32 आसनों की विधि लाभ एंव सावधानियॉ

इकाई की संरचना

18.1 – प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, इससे पूर्व की इकाई में आपने घेरण्ड संहिता में वर्णित प्रारंभिक 16 आसनों के बारे में विस्तृत अध्ययन किया हैं। प्रस्तुत इकाई में हम इसी क्रम को आगे बढ़ाने हुये आगे के सभी आसनों के बारे में चर्चा करेगें जिसमें इन आसनों को करने के तरीके उनसे होने वाले विभिन्न प्रकार के शारीरिक मानसिक एंव आध्यात्मिक लाभों तथा सावधानियों इत्यादि के बारे में प्रकाश डाला जायेगा।

18.2 – उददेश्य –

प्रिय विद्यार्थियों इस इकाई को पढने के बाद आप–

- विभिन्न आसनों की विधियों का विश्लेषण कर सकेगें।
- आसनों की उपयोगिता को स्पष्ट कर सकेंगे।
- आसन करते समय ध्यान रखने योग्य बातों का विवेचन कर सकेंगे।

18.3 – घेरण्ड संहिता में वर्णित (17 से 32) आसनों की विधि, लाभ एवं सावधानियॉं

मत्येन्द्रासन

विधिः–सबसे पहले अपने पैरो को पहले सामने फैला लेते है दाहिने पैर को मोड़कर जमीन पर बायें घुटने की बगल में बाहर की ओर रखते है। दायें पैर को उँगुलियाँ सामने की ओर रहंगी। बायें पैर को मोड़कर बायीं एड़ी को दाहिने नितम्ब के पास रखते है। इसमें एक पैर उठा हुआ रहता है। अब जो पैर उठा हुआ हो उसकी विपरीत भुजा को छाती घुटने के बीच से ले जाते है, इससे एक प्रकार का तनाव उत्पन्न होता है।

इस बाद केहुनी से घुटने को शरीर की तरफ दबाते हुए हाथ को सीधा करके पैर या टखने को इस प्रकार पकड़ते हैं कि दायीं घुटना काँख के पास रहे। दाहिनी भुजा को सामने की ओर फैलाकर हण्टि को उँगुलियो के अगुभाग पर केन्द्रित करते है।

सावधानियाँः– महिलाएँ दो–तीन महीने के गर्भ के बाद इस आसन का अभ्यास न करें।

जिन्हें छदय रोग है वह इसका अभ्यास नहीं करें। साइटिका स्लिप डिस्क से पीड़ित व्यक्तियों को इस आसन से बहुत लाभ हो सकता है।

लाभः– यकृत मूत्राशय को सक्रिय बनाता है। पाचन –संस्थान सम्बन्धी रोगों को निवारण होता है। यह आसन अधिवृक्क ग्रन्थि उपवृक्क गन्थि पित्त के स्त्राव का नियमन करता है। इसका उपयोग साइनासाइटिस, हे फीवर, ब्रोकांइटिस, कब्ज, कोलाइटिस, मासिक हार्म सम्बन्धी अनियमितताओं, मूत्र निष्कासन प्रणाली से सम्बन्ध रोगों तथा सखाइकल स्पॉण्डेलाइटिस के योगोपाचार के लिए किया जा सकता है।पैर के मांसपेशियों को लचीला बनाता है। तथा जोडों के कड़ेपन को दूर करता है।

दिल के मरीजों के लिए उत्तम आसन है। जिन लोगों को दिल की धड़कन बीच–बीच में बन्द होने लगती है, इस प्रकार के रोगों को ठीक करने के लिए यह आसन बहुत उपयोगी है।

यह आसन पाचन एवं प्रजनन प्रणलियों के लिए लाभकारी है। यह अमाशय का विस्तार करता है, कब्ज को दूर करता है। पीठदर्द कटिवात, कूबड़ झुके हुए कन्धों के उपचार में सहायक होता है।

इस आसन से थायराइड ग्रन्थि के कार्यो में नियमितता आती है।

गोरक्षासन

यह गोइक्षासन योगी गोइक्षनाथ द्वारा सिद्ध किया गया है, इसलिए इसे गोइक्षासन कहते हैं, यह गोइक्षासन योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाला है।

विधिः–दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठ जाते है। घुटनो को मोड़कर, तलवों को मिलाकर एड़ियों को ऊपर उठा देतें है। घुटने और पैर के पंजे जमीन पर रहते है। इसमें श्रेणि प्रदेश, नितम्ब और प्रजननेन्द्रियाँ एड़ी के पीछे रहती है। हाथों को नितम्बों के पीछे इस प्रकार रखते है कि उँगुलियाँ बाहर की ओर रहें शरीर को सामने की ओर झुकाते हुए इतना ऊपर उठाते है कि पाँव जमीन के लम्बवत् हो जायें। भाभि के सामने से दोनों कलाइयों को आर–पार करते हुए बायीं एड़ी को दायें हाथ से तथा दायीं एड़ी को बायें हाथ से पकड़ लेते हैं। मेरूदण्ड को सीधा रखते हुए सामने की ओर देखते हैं। इस अवस्था में जालन्धर बन्ध एवं नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास भी करते है। सामान्य श्वास लेते हुए जितनी देर तक आराम से बैठ सकते हैं, उतनी देर बैठियें।

लाभः– इस आसन से अभ्यास से प्रजनन इन्द्रियों, काम वासना और वीर्य स्खलन पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है।यह पैरे को बहुत अधिक लचीला बना देता हैं।यह आसन अपान के प्रवाह को उर्ध्वगामी बनाकर ध्यान की अवस्था लाने में सहायक होता है।इसमें मन तुरन्त एकाग्र होता हैं क्योंकि शरीर की अवस्था इस प्रकार की हो जाती है कि मन भटकता ही नहीं। गले के संकुचन की क्रिया से अनेक रोगों का नाश होता है।

पश्चिमोतासन

पृष्ठभाग को ताना जाता है इसलिए इसको पश्चिमोतासन कहा जाता है।

विधिः– दोनों पैरो को मिलाकर सामने की ओर फैलाकर बैठते है। दोनों हाथों से दोनों पैरों अँगूठे को पकड़ लेते है तथा सिर को घुटनो से स्पर्श कराते हैं। दोनों कोहनियाँ जमीन से स्पर्श करनी चाहिए। कुछ देर इसी स्थिति में रूकें फिर वापस आ जाएँ।

लाभः– इस आसन से प्राण का सुषुम्ना नाड़ी में संचार होता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। डायबिटीज के रोगियों के लिए आभदायक है। यह कब्ज, अजीर्ण तथा शुक्र दौर्बल्य को दूर करता है तथा साइटिका होने की संभावना को टालता है। पेट व कमर में लचीलापन आता है। मोटापे को घटाता है। मूत्र तथा प्रजनन संस्थान से रोगों को दूर करने में सहायक है। स्त्रियों के लिए बहुत अधिक लाभदायक है। यह बुद्धि को बढ़ाता है।

सावधानियाँः– आसन करते समय झटके के साथ कुछ नहीं करना चाहिए। उच्च रक्तचाप, हदृय रोगी, स्पॉडिलाइटिस से पीड़ित व्यक्ति को नही करना चाहिए। स्लिप डिस्क, मेरूदण्ड से संबंधित दोष तथा पेट मे अलसर की शिकायत होने पर इसे न क

उत्कटासन

इसका नाम उत्कट आसन इसलिए पड़ा है कि इसमें बैठने से उत्सुकता झलकती हैं, उत्सुकता के समय व्यक्ति इसी प्रकार बैठता है ताकि यदि जल्दी से कुछ काम करना हो तो तुरंत उठ जायें । पंजे और एड़ियाँ परस्पर जुड़ी हुई रहती है।

विधिः–सामान्य रूप से हम उत्कट आसन का अभ्यास इस प्रकार करते हैं– सीधे खड़े होकर पैरों के बीच कमर की चौड़ाई जितनी दूरी रखते है और घुटनों को मोड़ लेते हैं। हाथों को घुटनों पर रखते हैं। यह सबसे सरल तरीका है। लेकिन उसकी अन्तिम अवस्था दूसरी है। वह भी बहुत सरल है। अन्तिम अवस्था में दोनों पैरों को आपस में सटाकर रखते है। अब जिस प्रकार ताडासन में पंजों को ऊपर उठाते हैं, उसी प्रकार ऊपर उठाते है और उसी अवस्था में फिर घुटनों को फैलाते हुए इस प्रकार बैठते है कि एड़ी गुदा द्वार से लग जाये। घुटने ऊपर रहते है। दोनों हाथ घुटनों पर रहेंगे । घुटनों को जमीन से नहीं लगाना है, वे ऊपर रहेंगे। केवल पंजों पर शरीर का भार रहेगा और एड़ियाँ गुदा–द्वार से सटी हुई रहेंगी।

लाभः– यह बहुत सरल आसन है। इसमें केवल शारीरिक संतुलन का ध्यान रखना है। चाहे आगे गिरेया पीछे चोट लगेगी । जाँघों की मांसपेशियों को पुष्ठ बनाता है। यह शारीरिक संतुलन को पक्का बनाने के लिए, संतुलन समूह के आसनों में से एक है।

संकट आसन

नामाकरणः– यह एक कठिन आसन है। दोनों पैरों में दर्द होने पर पेशियों को आराम देने के लिए हम एक पैर को उस संकटमय स्थिति में ऊपर उठा लेते है।इस लिए इस संकटासन कहते है।

विधिः– खड़े होकर बायें पैर को जमीन पर रखते है और दाहिने पैर को मोड़कर बायें पैर को चारों तरफ लपेट लेते हे। दायीं जाँघ बायीं जाँघ के सामने रहेगी। हाथों को जाँघों पर दबा कर रखना है। इसके महर्षि घेरण्ड नक संकटासन कहा है।

लाभः– यह मांसपेशियों को पुष्ट बनाता है। यह मूलाधार चक्र को जाग्रत करता है। स्नायुओं को स्वास्थय प्रदान करता है। तथा पैर के जोड़ो को ढीला बनाता है। एकाग्रता बढ़ती है।

मयूरासन

मयूर के आकृति होने के कारण इस आसन को विशेषज्ञों ने मयूरासन कहा है। यह जठराग्नि को प्रदीप्त करता है।

विधिः–पहले वज्रासन में बैठ जाते है और घुटनों को अलग कर सिंहासन की स्थिति में आ जाते है, जिसमें दोनों हथेलियाँ अन्दर की तरफ मुड़ी रहती है। हाथों की स्थिति को सुविधा एवं लचीलेपन के अनुसार व्यवस्थित किया जा सकता है। भुजाओं के कुहनियों से नीचे के भाग तथा कुहनियों को आपस में सटाकर नाभि के समीप रखते है और सामने झुककर पेट को केहनियों पर तथा वक्ष को भुजाओं के ऊपरी भाग पर टिकाते हैं। पैरों को पीछे ले जाकर पहले जमीन पर ही रखते हैं, उसके बाद शरीर की मांसपेशियों को तानते हुए सिर और पैरों को उतना ऊपर उठाते हैं कि वे जमीन के समानान्तर हो जायें।

सावधानियाँः–

खाने के तत्काल बाद इसे नहीं करना चाहिए। केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो पूर्णरूपेरण स्वस्थ हो।किसी प्रकार के रोग में इस आसन का अभ्यास नहीं होता।

लाभः– इस अभ्यास के अनेक लाभ हैं, क्योंकि इसमें पूरे शरीर का भार कुहनियों पर पड़ता है और कुहनियाँ नाभि क्षेत्र को भीतर की ओर दबाती हैं, जिससे यकृत, मूत्राशय, आँतों अमाशय और तन्त्रिका–तन्त्र की भी नाड़ियाँ प्रभावित होती है। स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए यह बहुत ही अच्छा अभ्यास है। इसमें आन्तरिक अंगों की क्षमता में वृद्धि होती है और इसका वास्तविक प्रभाव पड़ता है। शरीर की अन्तः स्रावी ग्रन्थियों पर। चुल्लिका ग्रन्थि में अगर किसी प्रकार का दोष हो, हार्मोनों का उत्पादन बन्द हो गया हो अथवा काम या अधिक मात्रा में उत्पादन हो रहा हो, तो उस दोष का दूर करने के लिए, चुल्लिका ग्रन्थियों को संतुलित और नियन्त्रित रखने के लिए इसका अभ्यास किया जाता है।

कुक्कुटासन

कुक्कुट का अर्थ होता है मुर्गा।इस आसन में शारीरिक विन्यास एक मुर्गे की भाँति होता है।

विधिः– पद्यासन में बैठियें हाथों को पिण्डलियों एवं जाँघों के बीच घुटनों के पास से निकालते हुए धीरे–धीरे भुजाओं को कुहनियों तक पैरों के बीच से निकाल लें। हथेलियों को जमीन पर दृढ़ता से इस प्रकार रखें की अंगुलियाँ सामने की ओर रहे। हाथों को सीधा एवं आँखों को सामने के किसी बिन्दु पर स्थिर रखते हुए शरीर को जमीन से ऊपर उठायें। पुरा शरीर केवल हाथों पर सन्तुलित रहता है। पीठ को सीधा रखें जब तक आराम से रह सकते हैं, अन्तिम स्थिति में रहें, फिर जमीन पर वापस आ जायें और धीरे–धीरे भुजाओं, हाथों एवं पैरों को शिथिल बनायें पैरों की स्थिति बदलकर इस अभ्यास को दुहरायें।

लाभः– इस आसन से भुजाओं एवं कन्धों की मांसपेशियों को शक्ति प्राप्त होती है। वक्ष का विस्तार होता है।यह पैरों के जोड़ो को ढीला कर सन्तुलन एवं स्थिरता के भाव को विकसित करता है। कन्धों के रोग, भुजाओं, छाती, फेफड़ों और दिल से सम्बन्धित रोगों के निराकरण में यह विशेष उपयोगी अभ्यास है। मूलाधार चक्र के उद्दीपन के कारण इसका

उपयोग कुण्डलिनी जागरण के लिए किया जाता है। कुछ लोग तो काँख तक अपने शरीर को ऊपर उठा लेते हैं।

कूर्मासन

विधिः— पैरों को सामने की ओर फैलाकर बैठियें। पैरों को यथासंभव दूर—दूर रखियें। एड़ियों को जमीन के सम्पर्क में रखते हुए घुटनों को थोड़ा सा मोड़िये। आगे झुककर हाथो को घुटनो के नीचे रखिये, हथिलियाँ ऊपर या नीचे की ओर खुली रहें। आगे झुके तथा भुजाओं को धीर—धीरे पैरों के नीचे सरकायें। आवश्यकता पड़े तो घुटनो को थोड़ा मोड़ सकते है। घुटनो के नीचे से हाथों को इतना पीछे ले जायें कि केहुनियाँ घुटनों के पीछे के भाग के निकट आ जायें। पीठ की मांसपेशियों में तनाव न आने दे। एड़ियों को धीरे से आगे खिसकाते हुए पैरो को यथासम्भव सीधा करने का प्रयास करें। इससे शरीर भी अपने आप और आगे झुकेगा। श्वास एवं शिथिलता के प्रति सजग रहते हुए शरीर को धीरे—धीर आगे झुकाये जब तक ललाट पैरों के बीच जमीन का स्पर्श न करें। किसी प्रकार का जोर न लगाए। भुजाओं को मोड़कर नितम्बों के नीचे परस्पर बांध लें। यह अन्तिम स्थिति हैं। पूरे शरीर को शिथिल बनायें आँखों को बन्द करें तथा धीमी गहरी श्वास लें।जब तक इस अन्तिम स्थिति में आराम से रह सकते हो रहें। तत्पश्चात् श्वासन में विश्राम करें।

सावधानियाँः— स्लिपडिस्क, साइटिका, हार्निया या दीर्घकालिक गठिया से पीड़ित व्यक्ति इस आसन का अभ्यास न करें। यदि मेरूदण्ड पर्याप्त लचीला हो तभी इसका अभ्यास किया जाना चाहिए है।

लाभः— मधुमेह, कब्ज जैसे रोगों के उपचार में सहायक होता है। क्रोध को नियंत्रण में लाने के लिए उपयोगी। मानसिक उत्तेजना को शान्त करने के लिए, मन को अन्तर्मुखी बनाने के लिए मेरूदण्ड को लचीला बनाने के लिए इसका अभ्यास किया जाता है। इस आसन के अभ्यास से आत्म संयम, आन्तरिक सुरक्षा तथा समर्पण की भावना जाग्रत होती है। सुख—दुख का प्रभाव समाप्त हो जाता है। वासना एवं भय कम होते है तथा शरीर एवं मन को स्कुर्ति प्राप्त होती है।

उत्तान कूर्मासन

विधिः— उत्तान कूर्मासन का अभ्यास पद्मासन में किया जाता है। पद्मासन में हाथों को जांघों और पिण्डलियों के बीच से निकालकर कन्धों को पकड़ते है और उसके बाद जमीन पर सीधा लेट जाते है। यही उत्तान कूर्मासन है। कुक्कुटासन उत्तान कूर्मासन में यही भिन्नता है कि उत्तान कूर्मासन में हथेलियों को जमीन पर न टिकाकर उनसे कन्धों को पकड़ते है शरीर पद्मासन की अवस्था में जमीन पर ही रहता है।

लाभः— इस आसन के लाभ कुक्कुट आसन के लाभ के समान ही है। अन्तर इतना ही है कि इसमें शरीर ज्यादा संकुचित हो जाता है, एक आकृति में बन्ध जाता है। शरीर की संकुचित अवस्था में जब हम सिर को नीचे रखते है और पिण्डलियों को केहुनियों के ऊपर रहते है तब सभी अंगों में दबाव की उत्पत्ति होती है। इस आसन को करने से पूरे शरीर

में नये रक्त का संचार तीव्र गति से होता है, विशेषकर मांसपेशियों में जमे हुए रक्त को हटाने के लिए इस आसन का अभ्यास किया जाता है।

उत्तान मण्डूकासन

विधिः– उत्तान मण्डूकासन का अभ्यास सुप्त वज्रासन के समान किया जाता है। वज्रासन पीछे लेट जाना है। सिर को नीचे रख लेना है, दोनों जांघों एक साथ रहेगी। यह सुप्त वज्रासन है। इससे नितम्ब एड़ी के ऊपर रहते है, वज्रासन को ही तरह केवल पीठ धनुषाकार मुड़ी हुई रहती है। उत्तान मण्डूकासन में कमर को भी उठा दिया जाता है। कमर को उठाने से शरीर का भार केवल घुटनों और सिर पर रहता है। इसमें पैर अलग–अलग रहते है।

लाभः– इस आसन का अभ्यास छाती के विस्तार, श्वसन प्रणाली से सम्बन्धित रोगों के निदान, स्पाण्डिलाइटिस, स्लिपडिस्क, साइटिका इत्यादि के उपचार के लिए किया जाता है।

मण्डूकासन

यह आसन मेढक की आकशति कि होने के कारण इसे माण्डूकासन कहते है।

विधिः– मण्डूकासन की विधि बहुत सरल है। वज्रासन में बैठ कर घुटनों को यथासंभव दूर–दूर फैलाते हैं, फिर पैरों एवं एड़ियों को इतना फैलाते है कि नितम्ब आराम से भूमि पर टिक जायें। पैरों की अंगुलियाँ बाहर की और होती है तथा पैरों का भीतरी भाग भूमि के सम्पर्क में रहता है। यदि पैरों की अँगुलियों की बाहर की ओर रखते हुए आसन में बैठना सम्भव न हो तो उन्हें अन्दर की ओर भी रख सकते हैं, किन्तु नितम्ब भूमि पर टिके रहने चाहिए। हाथों को घुटनों के ऊपर रखें, सिर एवं मेरूदण्ड को सीधा रखें। आँखों को बन्द करें और पूरे शरीर को शिथिल बनाएँ। यह आसन 'मण्डूक' अर्थात् मेंढ़क की भाँति दिखने वाला आसन है।

लाभः– इस आसन के अभ्यास के बाद ताजगी प्राप्त होती है। वीर्य की रक्षा होती है।

उदर से सम्बन्धित रोगों के लिए भी लाभकारी है।

वृक्षासन

इस आसन में शरीर की आकृति वृक्ष के समान होने के कारण इस वृक्षासन कहते हैं।

विधिः– इस आसन में हम खड़े होकर आँखों की सीध में किसी बिन्दु पर दृष्टि को स्थिर करे हैं, दाहिने पैर को मोड़कर उसके पंजे को अर्ध पद्मासन की स्थिति में बायीं जाँघ पर रख लेना है और एक वृक्ष की भाँति स्थिर अवस्था में खड़े होना है। हाथों को प्रणाम की मुद्रा में छाती से लगा लेना है और दायें घुटने को मोड़ते हुए, शारीरिक सन्तुलन बनायें रखते हुए धीरे–धीरे नीचे आना है। दाहिने पैर के घुटने को जमीन पर रखना है। इस

अन्तिम स्थिति में कुछ देर रूकना है। फिर धीरे–धीरे शरीर को ऊपर उठाते हुएह दायें घुटने को सीधा कर प्रारम्भिक स्थिति में आ जाना है। बायें पैर को सीधा कर जमीन पर रख लेना है। यह है वातायनासन इसे महर्षि घेरण्ड ने वृक्षासन की संज्ञा दी है।

लाभः– इस आसन का अभ्यास अन्तुल की प्राप्ति के लिए, पैरों की मांसपेशियों और उदर क्षेत्र को मजबूत बनाने के लिए किया जाता है। यह वृक्क एवं मूत्राशय की अति क्रियाशीलता को कम करता है। यह ब्रह्मचर्य का पालन के लिए वीर्य रक्षा की क्षमता विकसित करता है।

गरूड़ासन

नामाकरणः– दोनों जाँघों और घुटनों से धरती को दबायें और देह को स्थिर रखें तथा दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रखकर बैठ जायें। यह गरूड़ासन कहलाता है।

विधिः– जमीन पर बैठकर पैरों को सामने जितना फैला सकते है, उतना फैला लेना है। जाँघों को हाथों से जमीन पर दबाना है। मेरूदण्ड को सीधा रखना है। और शरीर के भार को एड़ियों और नितम्बों से ऊपर करना है। ताकि पूरा भार जाँघों पर आ जाए। इस अभ्यास में मेरूदण्ड को जितना ऊपर उठाने का प्रयास करेंगे, उतना कम भार नीचे पैर में पड़ेगा और जितना कम भार नीचे पड़ेगा, उतने ही बल से शरीर का गुरूत्व केन्द्र जाँघों में आ जाएगा। फिर धीरे–धीरे ऊपर उठ सकते हैं।

लाभः– गरूड़ासन हाथों एवं पैरों की मांसपेशियों को शक्तिप्रदान करता है।स्नायुओं को स्वस्थ तथा जोड़ों को ढीला बनाता है। यह साइटिका, आमवात तथा हाइड्रोसिल से उपचार में सहायक होता है।यह अभ्यास कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में सहायक होता है।

शलभासन

विधिः– पैरों को सटाकर रखते हुए पेट के बल लेटते हैं, तलवें ऊपर की ओर रहे। प्रारम्भिक अवस्था में हाथों को जाँघों को जाँघों के नीचे भी रखा जा सकता है। जब हम हाथों को जाँघों के नीचे के नीचे रखते हैं, तब पैरों को उठाने के लिये हाथों की सहारा ले सकते हैं, लेकिन धीरे–धीरे जग अभ्यास पक्का हो जायें, तब हाथों को जाँघों के नीचे से निकाल कर बगल में रख देते हैं। हथेलियाँ नीचे की ओर रहती है। ठुड्डी को थोड़ा सामने की ओर ले जाकर जमीन पर रखते हैं। पूरे अभ्यास के दौरान जमीन पर ही रखते हैं। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथि बनाते हैं। यह आरम्भिक स्थिति है। पैरों को सटाकर रखते हुए धीरे–धीरे जितना संभव हो उतना ऊपर उठाते हैं। पैरों को ऊपर उठाने के लिए हाथों से जमीन पर दबाव डालते हैं और कमर के पीछे के भाग की मांसपेशियाँ को संकुचित करते है। बिना तनाव के जब तक आराम से अन्तिम में रह सकते हैं तब तक रहते हैं। फिर पैरों को धीरे–धीरे जमीन पर ले जाते हैं। यह एक आवृति हुई। प्रारम्भिक स्थिति में वापस आकर सिर को एक ओर मोड़ते हुए, श्वास एवं हृदय गति के सामान्य होन तक विश्राम करते हैं। श्वास–प्रारम्भिक स्थिति में गहरी श्वास लेते हैं। पैरों को ऊपर उठाते समय तथा अन्तिम स्थिति में श्वास रोकें रहें। पैरों को नीचे लाते हुए श्वास छोड़े।

आरम्भिक अभ्यासियों को पैरों को ऊपर उठाते समय श्वास लेने में अभ्यास में सुविधा होती है। उच्च अभ्यासी आरम्भिक स्थिति में लौटने के पश्चात् रेचक करें।

सावधानियाँः–

(1) शलभासन से लिए बहुत अधिक शारीरिक प्रयास की आवश्यकता होती है। अतः जिन लोगों की हृदय कमजोर हैं, हृदय धमनी घनास्त्रता या उच्च रक्तचाप हो, उन्हें यह अभ्यास नहीं करना चाहिये।

(2) पेस्टिक, अलसर, हार्निया, आँतों के यक्ष्मा तथा इस प्रकार के अन्य रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करनें का सुझाव दिया जाता है।

लाभः–

(1) परानुकम्पी तन्त्रिकाओं का प्रधान्य विशेष रूप से गर्दन, एवं श्रोणि प्रदेश में होता है।य

(2) शलभासन पूरे स्वेच्छिक तन्त्रिका तंत्र को विशेष परानुकम्पी निःस्त्राव को उद्दीप्त करता है।

(3) यह पीठ के नीचले भाग एवं श्रोणि प्रदेश के अंगों को पुष्ट बनाता है।

(4) यह यकृत तथा आमाशय के अन्य अंगों की क्रियाशीलता को समन्जित एवं सन्तुलित करता है।

(5) पेट एवं आँतों के रोगों को दूर कर क्षुधा बढ़ाता है।

भुजंगासन

नामाकरणः– इस आसन में शरीर का आकार भुजंग अर्थात् सर्प के समान होता है।

विधिः– इसको करने के लिए सर्वप्रथम पेट के बल जाते हैं, हाथों को कोहनी से मोड़कर सीने के पास रखते हैं, पीछे से पैर मिल रहते है।अब हाथों का सहारा लेकर शरीर को चेहरे से घीरे–धीरे ऊपर उठाते है। भाभि तक शरीर को ऊपर उठाते है। फिर कुछ समय तक इसी स्थिति में रूकते है। और धीरे –धीरे वापस आते है। भुजाओं पर सारा जो पड़ता है इसलिए इसे भुजंगासन कहते है।

लाभः– इसका प्रभाव शरीर की मांसपेशियों में गहराई से होता है। डिंब ग्रन्थि रीढ़ गर्भाशय को स्वस्थ बनाता है। दमा, मंदाग्नि तथा वायु दोषों पर इसका विशेष प्रभाव है तथा इससे रीढ़ की हड्डी लचीली बनी रहती है।भूख बढ़ाता है तथा कब्ज को दूर करता है।स्त्री रोगों में विशेष लाभकारी होता है।तंत्रिका तंत्र को सुदृढ़ करता है।?

सावधानियाँ– झटका देकर शरीर न उठाएं तथा नीचे के हिस्से को ऊपर न उठाएं। पेस्टिक, अलसर,हार्निया, आँतों के यक्ष्मा या थाइराइड से ग्रस्त व्यक्तियों की यह विशेष निर्देशन में ही करना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न – सत्य/असत्य

1. गोरक्षासन का नामकरण हठयोगी गोरक्षनाथ के आधार पर किया गया है।
2. पश्चिमोतानासन से जठराग्नि प्रदीप्त होती है।
3. अल्सर होने पर पश्चिमोतानासन करना चाहियें।

4. संकटासन मूलाधार चक्र को जागृत करता है।
5. मन को अन्तर्मुखी बनाने में कूर्मासन का अभ्यास अतयन्त उपयोगी है।

18.4 –सारांश

प्रिय विद्यार्थियो अब जान गये होंगे की घेरण्ड संहिता में कितने प्रकार के आसनों का वर्णन किया गया है। कुछ आसन बैठ कर किये जाने वाले हैं तो कुछ पेट या पीठ के बल लेटकर और कुछ खड़े होकर। शरीर की समस्त मॉस पेशियों के लचीलेपन के लिये सभी प्रकार के आसन अत्यन्त उपयोगी है। जैसे–जैसे इन आसनों का अभ्यास बढ़ता जाता है। वैसे–वैसे शरीर में स्थिरता आने लगती है। तथा साथ ही मन भी संतुलित एवं एकाग्रत होने लगता है।

18.5 – शब्दावली

कूर्म – कछुआ

कुटकुट – मुर्गा

मयूर – मोर

मण्डूक – मेंढ़क

18.6 – अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1. सत्य 2. सत्य 3. असत्य 4. सत्य 5. सत्य

18.7– संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. निरंजनानंद सरस्वती, घेरण्ड संहिता, मुंगेर बिहार।

2. स्वामी विद्यानानंद सरस्वती। (2007) योग विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश गढ़वाल।

18.8 – निबंधात्मक प्रश्न –

प्रश्न 1. मयूरासन एवं पश्चिमोतानासन की विधि, लाभ एवं सावधानियों का वर्णन कीजिये।

प्रश्न 2. कुर्मासन एवं मण्डूकासन की विधि, उपयोगिता एवं सावधानियों पर प्रकाश डालिये।

इकाई–19 घेरण्ड संहिता में वर्णित विभिन्न प्राणायामों की विधि लाभ एवं सावधानियॉ

इकाई की संरचना

19.1 प्रस्तावना–

प्रिय विद्यार्थियो, इसमें पूर्व की ईकाईयों में आपने हठयोग के द्वितीय अंग आसन का घेरण्ड संहिता के अनुसार विस्तृत अध्ययन किया है। प्रस्तुत इकाई में हम ''प्राणायाम'' के बारे विवेचन करेगें। पाठको आपके मन में यह प्रश्न उठ रहा होगा कि यह प्राणायाम वास्तव में क्या है साधना की दृष्टि से इसका क्या महत्व है प्राणायाम करते समय किन–किन बातों का ध्यान रखना चाहिए इत्यादि। वस्तुतः प्राणायाम, व्रह्माण्डीय प्राण उर्जा के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने की एक अत्यन्त वैज्ञानिक तकनीक है। अलग– अलग ग्रन्थो में प्राणायाम के अनेक प्रकारों तथा घेरण्ड संहिता के अनुसार प्राणायाम का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत इकाई में किया जा रहा है। दो जिज्ञासु विद्यार्थियों आइये विस्तार पूर्वक चर्चा करते हैं प्राणायाम तथा इसके भेद लाभ एवं सावधानियों के बारे में।

19.2 उद्देश्य –

इस इकाई के अध्ययन करने के बाद आप

–प्राणायाम के कार्य को स्पष्ट कर सकेगें।

–घेरण्ड संहिता के अनुसार प्राणायाम के विभिन्न भेदों का विश्लेषण कर सकेगें।

–प्राणायाम के महत्व को स्पष्ट कर सकेगें।

–प्राणायाम करते समय रखी जाने वाली सावधनियों को स्पष्ट कर सकेगें।

19.3 घेरण्ड संहिता में वर्णित प्राणायामों की विधि, लाभ एवं सावधानियॉ

1. **सहित प्राणायाम–** सहित प्राणायाम दो प्रकार के होते है– सगर्भ और निगर्भ। सगर्भ में बीच मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। और निगर्भ का अभ्यास बीज मऩ्त्र रहित होता है।

सगर्भ प्राणायामः–

पहले ब्रह्मा पर ध्यान लगाना है, उन पर सजगता को केन्द्रित करते समय उन्हें लाल रंग में देखना है यह कल्पना करनी है कि वे लाल है और रजस गुणों से परिपूर्ण है। उनका सांकेतिक वर्ण 'म' है फिर इड़ा नाड़ी अर्थात् बायीं नासिका से पूरक करते हुए वायु को अन्दर खींचना है और आकार की मात्रा को सोलह बार गिनना है पूरक के पश्चात् कुम्भक लगाना है और कुम्भक लगाकर उड्डियान बन्ध लगाना है अब यह बड़ा विचित्र लगता है, क्योकि पेट भरा है और उसके बाद पेट को अन्दर करना है यह सहन नहीं है।

सगर्भ प्राणायाम की यही विशेषता है, क्योकि सामान्य रूप से प्राणायाम की पहति में शिक्षा दी जाती है कि अगर व्यक्ति अन्तर्कुम्भक लगाता है, तो साथ में मूलबन्ध जाल–धल बन्ध का अभ्यास होना चाहिए यदि बहिर्कुम्भक का अभ्यास कर रहा है तो उड्डियान बन्ध लगाना चाहिए, क्योकि उस समय पेट खाली रहता है।

निगर्भ प्राणायामः–

इसके तीन विभाजन किए गए है– उत्तम मध्यम और अधम । इस प्राणायाम में बीज मन्त्र का सहारा नहीं लेना है और तत्व धरणा का अभ्यास भी नहीं करना है। केवल संख्या की गिनती करती है। पूरक कुम्भक और रेचक की कुल गिनती 112 तक की जा सकती है।

उत्तम निगर्भ प्राणायाम में 20 तक गिनती से पूरक आरम्भ होता है। अर्थात् 20 गिनने तक श्वास लेना। 80 गिनने तक रोकना 40 गिनने तक छोड़ना। मध्यम निगर्भ में 16 मात्रा का अभ्यास करना है अर्थात् पूरक कुम्भक रेचक में 16, 64, 32 का अनुपात रहे अधम निगर्भ में 12 तक गिनती से पूरक क्रिया की जाती है।

व्यावहारिक रूप से हम प्रथमा मध्यमा उत्तमा कह सकते है, क्योकि जो व्यक्ति 20 गिनने तक पूरक, 80 मात्रा तक कुम्भक 40 मात्रा तक रेचक करता है। उसके लिए स्यंम

पर, अपनी श्वास पर शारीरिक आन्तरिक बैचनी पर मानसिक उत्तेजना और मस्तिष्क की स्थिति पर बहुत संयम रखना आवश्यक हो जाता है।

उत्तम प्राणायाम की सिह होने पर भुमि व्याग होता है। मध्यम की सिहि की लक्षण है मेरूदण्ड में कम्पन अधम निगर्भ प्राणायाम से अगर शरीर से पसीना निकलने लगे तो यह मान लेना चाहिए कि इसकी भी सिहि हो गई प्राणों के क्षेत्र में स्पन्दन या जाग्रति प्रारम्भ हो रही है।

2.**सूर्यभेदन प्राणायाम–**

विधिः– ध्यान के किसी सुविधाजनक आसन में बैठते है सिर एवं मेरूदण्ड को सीधा रखें हाथों को घुटनों के ऊपर चित्र या ज्ञान मुद्रा में रखें आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनाए। जब शरीर शान्त, शिथिल एवं आरामदायक स्थिति में हो तो श्वास के प्रति तब तक संयम बने रहे जब एक यह धीमी गहरी न हो जाए। फिर दाहिने हाथ की तर्जनी मध्यमा को भ्रूमध्य पर रखें। दोनों उंगुलियाँ तनावरहित रहें अंगूठें को दायीं नासिकाके ऊपर तथा अनामिका को बायीं नासिका के ऊपर रखें इन उंगुलियों द्वारा क्रम से नासिका छिद्रा को बन्द कर श्वास के प्रवाह को नियन्त्रित किया जाता है।

पहली और दूसरी उंगुली हमेशा भ्रूमध्य में रहेगी । अनामिका से बायीं नासिका को बन्द कर दाहिनी नासिका से श्वास अन्दर खीचते है, गिनती के साथ ताकि श्वास पर नियन्त्रण रहे। पूरक की समाप्ति पर दोनों नासिकाओं को बन्द कर लेते है। कुम्भक करते हुए जलन्धर मूलबन्ध लगाते है पहली बार अभ्यास करते हुए कुछ ही क्षण रहे। फिर मूलबन्ध छोड़कर जालन्धर बन्ध को छोड़े। पूरक, कुम्भक रेचक का अनुपात 1:4:2 होता है। प्रारम्भ में 1:3:3 भी हो सकता है। फिर जालन्धर मूलबन्ध का अभ्यास करते है। चार के अनुपात में कुम्भक के पश्चात् पहले मूलबन्ध छोड़ते है, फिर जालन्धर बन्ध । सिर को सीधा करते है। दाहिनी नासिका से ही श्वास बाहर करते है। यह एक आवृति है। प्रारम्भ में इसकी 10 आवृतियाँ प्रर्याप्त है किन्तु धीरे–धीरे इस अवधि को 10,15 मिनट तक बढ़ाया जा सकता है।

सावधानियाँः– भोजन के पश्चात् कदापि न करें। इसका अभ्यास अधिक देर तक करने पर यह श्वसन चक्र में असन्तुलन उत्पन्न कर सकता है। ह्मदय रोग, उच्च रक्तचाप, मिर्गी से ग्रस्त व्यक्तियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभः– कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करता है। शरीर की अग्नि, ताप को उत्तेजित करता है। अन्तमुखी को बहिर्मुखी बनाने में उपयोगी है। वात–दोष का निवारण करता है। निम्न रक्तचाप, बाँझपन कृमि के उचार में भी सहायक है।

3.उज्जायी प्राणायाम

विधिः– दोनों नासिकाओं से पूरक करते हुए श्वास को अन्दर खींचना है और वायु को मुँह में ही रखनाहै। इसके बाद कण्ठ को सकांचित कर सूक्ष्म ध्वनि उत्पन्न करते हुए ह्मदय गले से वायु को खींचना है। इस वायु का योग पूरक के द्वारा खींची गई वायु से करना है। इस

प्रकार पूर्ण उज्जायी श्वास लेकर फिर अतेरंग कुम्भक जालन्धर बन्ध का अभ्यास करना है। इसके पश्चात् उसी मार्ग में वैसी ही ध्वनि करते हुए रेचक के द्वारा धीरे–धीरे श्वास को बाहर निकाल दिया जाता है।

सावधानियाँ:–

अन्तर्मुखी व्यक्ति इसका अभ्यास न करें। ह्रदय रोग से पीड़ित व्यक्तियों को उज्जायी के साथ बन्धो कुम्भक का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभः– अनिद्रा में लाभकारी अभ्यास है। उच्च रक्तचाप से पीड़ित व्यक्तियों के लिए भी सहायक होता है। इसका अभ्यास निरन्तर करने से कफ, कब्ज, आंव, आंत, का फोड़ा, जुकान, बुखार यकृत आदि के रोग नहीं होते। प्रत्याहार के अभ्यास में उच्चायी विशेष लाभप्रद है।

4. शीतली प्राणायाम

विधिः– जीभ को बाहर निकाल कर उसे एक नली के सहश बनाना उस नली के माध्यम से गहरी श्वास खींचकर उदर को वायु से भर देना है तथ छुछ क्षणों के लिए की कुम्भक का अभ्यास करना है।पूरक रेचक के बीच क्षणमात्र का अन्तराल होना चाहिए। तो क्षण भर कुम्भ्क के दौरान जीभ को अन्दर खींचा जाता है। मुँह को बन्द किया जाता है। फिर नासिका से श्वास बाहर निकाली जाती है यह एक आवृति हुई।

लाभः– इस अभ्यास से अजीर्ण कफ, पित्त की बीमारी नहीं होती है।यह मानसिक भवनात्मक उत्तेजनाओं को शान्त करता है।निद्रा के पूर्व प्रशान्तक के रूप में किया जा सकता है। भूख–व्यास पर नियन्त्रण होता है तुष्टि की भावना उत्पन्न होती है। रक्तचाप पेट की अम्लीयता को कम करने में सहायक।

5.भस्त्रिका प्राणायाम

विधिः– इस प्राणयाम में लोहार की धौकनी की भांति समान अन्तर से नासिका द्वारा बार–बार पूरक एवं रेचक की क्रिया की जाती है। नासिका से लययुक्त श्वास लेने छोड़ने की क्रिया जल्दी–जल्दी की जाती है। यहाँ एक नासिका से अभ्यास करने का निर्देश नहीं दिया गया है, लेकिन व्यावहारिक रूप से यही सिखलाया जाता है कि एक नासिका से 20 बार जल्दी–जल्दी श्वास को लेना छोड़ना है इसके पश्चात् 21 श्वास खींचकर कुम्भाक लगाना है। तत्पश्चात् जितनी देर तक कुम्भक लगा सकते है लगाइये। अन्य ग्रन्थों में इसके साथ जालन्धर मुवबन्ध का भी प्रयोग बतलाया जाता है। फिर जब श्वास को अन्दर नहीं रोक सकते तब उसी नासिका से श्वास को धीरे–धीरे बाहर किया जाता है। इसके बाद दूसरी नासिका से जल्दी–जल्दी लययुक्त श्वास लेनी छोड़नी है। इस नासिका से भी उक्त विधि को दुहराना है। फिर दोनों नासिकाओं से एक साथ इस अभ्यास को दुहराना है।

सावधानियाँः– उच्च रक्तचाप ह्रदय रोग, हार्निया, गेहिट्रक, अलसर, मिर्गो या भूमि से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। गरमी के दिनों में इसका अभ्यास कम करना चाहिए। क्योकि इस प्राणायाम से शरीर के तापमान में वृद्धि होती है।यदि भ्रस्त्रिका का अधिक अभ्यास करेंगें तो रक्त की गन्दगी तीव्र गति से बाहर आयेगी ओर शरीर में कोड़े कुन्सी घाव चर्म रोग इत्यादि को निकायत होने लगेगी। अतः धैर्यपूर्वक अभ्यास में आगे बढ़े। अशुद्धियों का निष्कासन धीरे–धीरे होने दें जिससें किसी बीमारी से ग्रस्त होने की ज्यादा सम्भावना न रहे।

लाभः– यह वात, पित्त, कफ का निवारण होता है।फेफड़ों के वायुकोशों को खोलता है।चपापचय की गति बढ़ जाती है।मल और विषाक्त तत्वों का निष्कासन होता है।पाचन संस्थान को स्वस्थ बनाती है।

प्राणिक शरीर को सामर्थ्यशाली बनाता है।यह प्राणायाम शरीर को नाड़ी संस्थान को पूर्ण प्रशिक्षण देने का उत्तम अभ्यास है।यह गले की सूजन जमा कफ को दूर करता है। तन्त्रिका तन्त्र को सन्तुलित शक्तिशाली बनाता है।

6.भ्रामरी प्राणायाम

प्रारम्भिक अवस्थाः–

ध्यान के किसी सुविधाजनक आसन में बैठते है। मेरूदण्ड एवं सिर को सीधा रखते है। दोनों हाथ चिन या ज्ञानमुद्रा में घुटनों के ऊपर रखतें है। इस अभ्यास के आदर्श आसन पद्यासन या सिंहासन है। जिसकी विधि इस प्रकार है– कम्बल को बेलनाकार मोड़कर उसके ऊपर इस प्रकार बैठते है कि एड़ियाँ नितम्बों के पास रहें, तलवे जमीन पर घुटने ऊपर उठे रहते है केहुनियों को घुटने के ऊपर रखते है। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनाते है। पूरे अभ्यास के समय दांतो को परस्पर अलग रखते तथा मुँह को बन्द रखते है इससे कम्पन को स्पष्ट सुना जा सकेगा तथा उसको मस्तिष्क में अनुभव भी किया जा सकेगा जबड़ो को ढीला रखें। हाथों को बगल में कन्धों के समानान्तर फैलाते है। फिर केहुनियों से मोड़कर होथों को कानों के पास लाते हुए तर्जनी या मध्यमा उँगनियों सें कानो को बन्द करते है। यदि नादानुसंधान के आसन में बैठतें है तो कानो को उंगूठों से बन्द कर शेष चार अँगुनियों को सिर के ऊपर रखें ताकि बाहर की आवाजें प्रवेश न करें। इसके बाद अपनी सजगता को मस्तिष्क के केन्द्र पर एकाग्र करें, जहाँ आज्ञा चक्र स्थित है। सम्पूर्ण शरीर को पूर्णतया स्थिर रखें। नासिका से पूरक कर रेचक के समय भ्रमर के गुंजन के समान आवाज करें। गूंजन की ध्वनि पूरे रेचक में स्थिर, गहरी सम अखण्ड होनी चाहिए। रेचक पूर्ण रूप से नियन्त्रित हो तथा उसकी गति मन्द हो। यह एक आवृति हुई। रेचक पूर्ण होने पर गहरी श्वाास लें और अभ्यास की पुनरावृत्ति करें।

दूसरी अवस्थाः– इस अभ्यास की अगली अवस्था में कानों को बन्द रखते हुए चुपचाप सामान्य श्वास लेते बैठे रहते है धीरे–धीरे अपनी सजगता को अन्तर्मुखी एवं सूक्ष्म बनाते हुए भीतर में उत्पन्न ध्वनियों को सुनने का प्रयास करते है। आरम्भ में श्वास की आवाज सुनाई पड़ती है। जैसे ही एक ध्वनि के प्रति सजग होते है, वैसे ही अन्य ध्वनियो को छोड़कर केवल उस ध्वनि के प्रति सजग रहने का प्रयत्न करते है। कुछ दिनों या सप्ताहों

के नियमित अभ्यास से आपको ऐसा प्रतीत होगा कि वह ध्वनि अधिक स्पष्ट तीव्र होती जा रही। पूर्ण सजगता से उस ध्वनि से सुनते जाए। केवल उस ध्वनि की ओर अपनी सजगता को प्रवाहित होने दे तथा अन्य सभी ध्वनियों एवं विचारों को भूल जायें।

सावधानियाँः– भ्रामरी का अभ्यास लेटकर नहीं करना चाहिए। कानों में संक्रमण होने पर इसका उपयोग न करें। ह्रदय रोग से पीड़ित व्यक्तियों को बिना कुम्भक इसका अभ्यास करना चाहिए।

लाभः– भ्रामरी क्रोध, चिन्ता, अनिद्रा का निवारण कर तथा रक्त चाप को घटाकर प्रमस्तिष्कीय तनाव परेशानी को दूर करता है। गले के रोगों का निवारण करता है। यह आवाज को सुधारता, मजबूत बनाता है।यह शरीर के ऊतकों के स्वस्थ होने की गति को बढ़ाता है।

7. मूर्च्छा प्राणायाम– मूर्च्छा प्राणायाम का अभ्यास किसी भी आरामदायक आसन में कर सकते है। इसके सिर सबसे उत्तम है। पद्मासन सिंहासन, सिंहयोनि आसन स्वास्तिकासन, वज्रसान या सुखासन में भी बैठ सकते है। सिर मेरूदण्ड की एकदम सीधा रखते हैं। सम्पूर्ण शरीर को शिथिल बनाते हैं आँखों बन्द कर श्वास अन्दर खीचते हैं फिर धीरे–धीरे सिर को ऊपर उठाया जाता है। एकदम छत की तरफ नहीं वस 45 अंश का कोण बनाते हुए सिर को उठाते हुए आँखों को धीरे–धीरे खोलते है 45 अंश के कोण तक सिर के पहुँचते–पहुँचते आँखें पूरी खुल जाती है और शाम्भवी दृष्टि का अभ्यास होता है। शाम्भवी दृष्टि में कुम्भक लगाया जाता है।

हाथो से घुटनों पर दबाव डालते हुए केहुनियों को सीधा रखते है। जब तक कुम्भक लगा सकते है तब तक शाम्भवी दृष्टि का अभ्यास करते जाइए। जब देर तक कुम्भक न लगा सकते हो तब धीरे धीरे श्वास छोड़ते हुए सिर को नीचे लाइये आँखों को सामने लाकर उन्हें बन्द कर लीजिये। भुजाओं को शिथिल कीजिए सामान्य श्वास लेते हुए सम्पूर्ण मन में प्रकाश शान्ति फैलाने का अनुभव करें। खोपड़ी में जो हलकेपन का अनुभव हो रहा है उसे देखते रहिए यह मूर्च्छा प्राणायाम है।

सावधानियाँः– उच्च रक्तचाप सिर में चक्कर आना या मस्तिष्क में चोट लगना ह्रदय या फेफड़े के रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को नहीं करना चाहिए।

लाभः– शरीर मस्तिष्क को विश्राम मिलता है। व्यक्ति का बहिर्मुखी मन स्वतः अन्तर्मुखी होने लगता है।

8. केवली प्राणायाम

विधिः–यह वास्तव में अजपाजप है। इसमें शरीर के तीन मुख्य केन्द्रों में श्वास की कल्पना की जाती है। जब से ऊपर चढ़ रही है अनाहत चक्र को पार करके नासिकाग्र तक पहुँच रही है। जब श्वास छोड़ते है तब अनुभव करना है कि श्वास की चेतना नासिका के अग्रभाग से नीचे मूलाधार की ओर जा रही है क्रमशः जैसे–जैसे इन श्वास केन्द्रों से गुजरती है, इस पर ध्यान को केन्द्रित करना है।

अभ्यास प्रश्न –

सत्य/असत्य

1. केवली प्राणायाम का विवेचन ह0 प्रदीपका में किया गया है।
2.प्लावनी प्राणायाम का वर्णन होरण्ड संहिता में किया गया है।
3.अन्तर्मुखी ब्यक्तियों को उज्जायी प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए
4.सूर्य भेदी प्राणायाम पिंगला नाड़ी को जागृत करता है।

19.4–सारांश–

प्रिय पाठको उपरोक्त वर्णन से आप जान गये होगें की व्यवहारिक एवं साधनात्मक दोनों दृष्टिकोणों से प्राणायाम का अभ्यास कितना लाभकारी है। वस्तुतः प्राणयाम के नियमित अभ्यास से मानसिक स्थिरता आने लगती है क्योकि प्राण के चंचल होने पर ही मन चंचल होता है तथा प्राण के नियमित होने पर मन स्वतः ही नियंत्रित होने लगता है। घेरण्ड संहिता में सगर्भ, निगर्भ, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली भ्रामरी, मस्त्रिका इत्यादि विभिन्न प्राणायामो का वर्णन किया गया है।

प्राणायाम का अभ्यास करते समय व्यक्ति को अपने आहार,शारीरिक स्थिति, समय, मौसम इत्यादि सभी का ध्यान रखते हुये समय परिस्थिति एंव अपने शारीरिक बल के अनुसार उपयुक्त प्राणायाम का चयन करना चाहिये।

19.5 शब्दावली

सूर्य भेदी– पिंगला या सूर्य नाडी का भेदन करने वाला।
भ्रामरी– जिसमें भ्रमर की गुंजन जैसी आवाज होती है।
शीतली– शीतलता प्रदान करने वाला।
टायाम– विस्तार करना, फैलाना

19.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला।
2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार।
3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार।

19.7 निबंधात्मक प्रश्न–

प्रश्न– भ्रामरी एंव उज्जायी प्राणायाम का विस्तृत विवेचन कीजिए।
प्रष्न– सगर्भ, निगर्भ एंव केवली प्राणायाम का विवेचन कीजिए।

इकाई–20 घेरण्ड संहिता में वर्णित मुद्राओं की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ

इकाई की संरचना

20.1 प्रस्तावना

घेरण्ड संहिता के तीसरे अध्याय में मुद्राओं का वर्णन किया गया है। घेरण्ड संहिता में 25 मुद्राओं का वर्णन मिलता है जिनमें 16 मुद्राएँ, 4 बन्ध तथा 5 धारणाएँ है। प्रस्तुत इकाई में हम मुद्राओं, बन्धों तथा धारणाओं की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करेंगे। महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि मुद्रा बहुमूल्य साधन है जो ब्रह्मद्वार अर्थात् मूलस्थान पर सोती हुई कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करके साधक को लक्ष्य तक पहुँचाती है परन्तु मुद्राओं को सोने की पिटारी की तरह गुप्त रखना चाहिए। अतः स्पष्ट होता है कि बन्ध व मुद्राएं हमें बाह्य या भौतिक जगत् से हटाकर अर्न्तजगत् में ले जाती है तथा लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है प्रस्तुत इकाई में आप मुद्राओं, बन्धों तथा धारणों की विधियों का अध्ययन करेंगे।

20.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई से आप–

- मुद्राओं की विधि तथा लाभ का अध्ययन करेंगे।
- मुद्रा व बन्धों की सावधानियों का अध्ययन करेंगे।
- मुद्रा व बन्धों के उद्देश्यों को समझ सकेंगे।
- घेरण्ड संहित में वर्णित विविध मुद्रा व बन्धों का विश्लेषण कर सकेंगे।

20.3 घेरण्ड संहिता में वर्णित मुद्राएँ

घेरण्ड संहिता में 25 मुद्राओं का वर्णन मिलता है। जिनमें 16 मुद्राएँ, 4 बंध तथा 5 धारणाएँ है। घेरण्ड संहिता के तीसरे अध्याय में मुद्राओं का वर्णन किया गया है। मुद्रा का अभ्यास मानसिक स्थिरता प्रदान करता है। योग में मुद्राओं एवं बन्धों का स्थान आसन और प्राणायाम से भी बढ़कर बताया गया है क्योंकि मुद्रा का अभ्यास हमारे प्राणमय कोश और मनोमय कोश को प्रभावित करता है।

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धो महाबन्धो महाबेधश्च खेचरी।।
विपरीतकरी योनिर्वज्रोणि शक्तिचालनी।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा।।
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पंचविंशतिमुद्राश्च सिद्धिया इह योगिनाम्।। घे०सं० 3/1 2 3

अर्थात् घेरण्ड मुनि कहते हैं– महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्यिान बंध, जालन्धर बंध, मूलबंध, महाबन्ध, महाबेध मुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, योनि मुद्रा, वज्रोणि मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, तडागी मुद्रा, माण्डुकी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवीय धारणा, आकाशी धारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी

और भुजंगिनी इत्यादि 25 मुद्राएँ हैं। इनका अभ्यास करने से योगी को कई प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

20.3.1 महामुद्रा

घेरण्ड मुनि ने महामुद्रा का वर्णन इस प्रकार किया है–

विधि–

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढ़यत्नतः।
याम्यपादं प्रासार्याथ करोपात्तपदाङगुलिः।।
कण्ठ संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत।
पूरकैर्वायुं सम्पूर्य महामुद्रा निगद्यते।। घे०सं० 3/29 30

बाँयी एडी से गुदा प्रदेश को दबाये तथा दाहिने पैर को सीधा रखे। गहरी श्वास ले तथा श्वास छोड़ते हुए आगे झुक कर दाहिने पैर के पंजे को दोनों हाथों से पकड़ ले। कण्ठ को संकुचित कर जालन्धर बंध लगाए तथा दोनों आँखों को भूमध्य (शाम्भवी मुद्रा) में केन्द्रित करें। पूरक की गई वायु को यथा सम्भव रोके (अन्तर्कुम्भक)। यह महामुद्रा कहलाती है।

लाभ– वलितं पलितं चैव जरा मृत्युं निवारयेत्।
क्षयकासं उदावर्तप्लीहाजीर्णज्वरं तथा।
नाशयेतत्सर्वरोगांश्च महामुद्राप्रसाधनात्।। घे०सं० 3/31

यह मुद्रा चित्त की चंचलता को समाप्त करती है, मन की एकाग्रता को बढ़ाती है। इस मुद्रा के अभ्यास से बुढ़ापे पर विजय प्राप्त होती है तथा मृत्यु का नाश होता है। चिकित्सा की दृष्टि से देखे तो कहा गया है कि यह मुद्रा यक्ष्मा, कफ तथा श्वास सम्बन्धित रोगों को ठीक करती हैं। साथ ही साथ प्लीहा के रोग, पाचन सम्बन्धी रोग तथा तन्त्रिका तंत्र में संतुलन की प्राप्ति होती है।

सावधानियाँ– मुद्रा हठयोग का उच्च अभ्यास है, इसलिए बिना शरीर शुद्धि के पूर्व इस मुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिए। उच्च रक्तचाप से पीड़ित रोगियों तथा हृदय रोगियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। इस मुद्रा के अभ्यास को गर्मीयों में नहीं करना चाहिए क्योंकि इसका अभ्यास शरीर के ताप में वृद्धि करता है।

20.3.2 नभो मुद्रा–

विधि– यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
उर्ध्वजिहः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा।
नभो मुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी।। घे०सं० 3/32

सभी कार्यों में लगे रहते हुए या कहीं भी स्थिर हुआ योगी इस मुद्रा में जीभ को उल्टा कर ऊपर तालु से सटा दे तथा कुम्भक लगाकर वायु को रोक दे यह नभो मुद्रा कहलाती है।

लाभ–

यह मुद्रा एक प्रकार से खेचरी का सरल अभ्यास है इसलिए इससे खेचरी मुद्रा के लाभ मिलते हैं। कहा गया है कि जो अभ्यासी इसका निरन्तर अभ्यास करते हैं उन्हें किसी भी प्रकार के रोग नहीं होते।

सावधानी–

उच्च रक्तचाप वाले व्यक्ति तथा हृदय रोग से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। जीभ को तालु से लगाते समय सावधानी रखे। बिना गुरू के इसका अभ्यास न करे।

20.3.3 खेचरी मुद्रा विधि

जिह्वाधो नाड़ी संछित्य रसनां चालयेत्सदा।
दोहयेत्रवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत्।।
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तदा सिध्यति खेचरी।।
रसना तालुमूले तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। घे०सं० 3/33 34 35

जिह्वा और जिह्वा मूल को मिलाने वाली नाड़ी का छेदन कर जिह्वा के आगे वाले भाग का निरन्तर चालन करें और मक्खन लगाकर निरन्तर दोहन करें साथ ही साथ लोहे की चिमटी से खीचें। इसका प्रतिदिन अभ्यास करने से जिह्वा बढ़ती है। जिह्वा को इस अभ्यास से इतना लम्बा कर लेना चाहिए कि वह भौहो के मध्य तक पहुँच सके। तत्पश्चात् जिह्वा को तालू मूल में धीरे–धीरे प्रविष्ट करें। जिह्वा को उलटकर कपालरन्ध्र में ले जाना चाहिए। दृष्टि को दोनों भौहों के मध्य भाग में रखे। यह खेचरी मुद्रा कहलाती है।

लाभ–

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते।।
नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारूतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दशेन्न भुजंगमः।।
लावण्यं च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्।।
नानारससमुद्भूतमानन्दं न दिने दिने।
आदौ च लवणं क्षारं च ततस्तिक्तकषायकम्।।
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम्।। घे०सं० 3/36 37 38 39 40

खेचरी सिद्ध होने पर साधक को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य आदि नहीं सताते। उसे रोग, जरा और मृत्यु का भय नहीं रहता। उसका शरीर आग में नहीं जलता और न ही पवन से सूखता है और न ही जल उसके शरीर को भिगो सकता है। उसके शरीर पर सर्प के विष का असर नहीं होता। साधक को निश्छल समाधि सिद्ध हो जाती है। तालू के ऊपर और कपाल कुहर में जो स्वाद ग्रन्थियाँ होती है साधक की उनके कई स्वादों का अनुभव होने लगता है तथा साथ ही साथ कई रस भी उत्पन्न होने लगते हैं। कई नवीन आनन्द की अनुभूति होती है। प्रारम्भ में लवण, क्षार, तिक्त और कषाय रस का अनुभव होता है तथा इसके बाद मक्खन, धृत, दूध, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा और अमृत आदि रसों का स्वाद उत्पन्न होता है।

सावधानी

खेचरी मुद्रा का अभ्यास उच्च तथा जटिल अभ्यास है जिह्वा को तालु को काटते समय सावधानी बरते तथा किसी योग्य गुरू के निर्देशन में ही इसका अभ्यास करे। जिह्वा व्रण तथा मुँह का अन्य किसी रोग में अभ्यास को न करे।

20.3.4 महाबेध मुद्रा

विधि– महाबेध की विशेषता बताते हुए घेरण्ड मुनि कहते हैं कि महाबेध के बिना मूलबंध तथा महाबंध दोनो ही निष्फल है, जिस प्रकार बिना पुरुष के स्त्री का रूप, यौवन और लावण्य व्यर्थ है।

महाबन्धंसमासाद्य कुम्भकं चरेदुड्डीन।
महाबेधः समाख्यातौ योगिनां सिद्धिदायकः।। घे०सं० 3/42

सर्वप्रथम महाबंध का अभ्यास करे तत्पश्चात् उड्डियान बंध कर वायु को कुम्भक द्वारा रोके। यही महाबेध मुद्रा है।

लाभ–

महाबन्धमूलबन्धौ महाबेधसमन्वितौ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः।। घे०सं० 3/43
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुंगवैः।। घे०सं० 3/44

जो साधक प्रतिदिन महाबेध के साथ महाबंध, मूलबंध का अभ्यास करता है वह सभी योगियों में श्रेष्ठ माना जाता है। उसे वृद्धावस्था नहीं आती, उसे मृत्यु का भय नहीं सताता। साधको को इसका अभ्यास गोपनीय रखना चाहिए।

सावधानी–

इस अभ्यास में तीनों बंधो (मूलबंध, उड्डियानबंध, जालंधर बंध) में निपूणता होनी चाहिए। बिना गुरू के निर्देशन के इसका अभ्यास न करे।

20.3.5 विपरीत करणी मुद्रा

विधि—

घेरण्ड मुनि कहते हैं कि नाभिमूल में सूर्य तथा तालू मूल में चन्द्र स्थित है। चन्द्र द्वारा अमृत का स्त्राव होता है, सूर्य इस अमृत का पान करता है जिससे प्राणी की मृत्यु होती है किन्तु अगर चन्द्र नाडी के अमृतपान करने पर मृत्यु नहीं आती। इसलिए सूर्य को ऊपर और चन्द्र को नीचे कर ले। यही विपरीतयकरणी है—

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः।
उर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता।। घे०सं० 3/47

सिर को भूमि पर रखे तथा दोनों हाथों से कमर को सहारा देकर दोनों पावों को ऊपर उठाएँ तत्पश्चात् कुम्भक द्वारा वायु को रोके, यही विपरीतकरणी मुद्रा है।

लाभ— मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरा मृत्युं च नाशयेत्।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति।। घे०सं० 3/48

इस मुद्रा का नित्यप्रति अभ्यास करने से वृद्धावस्था व मृत्यु नहीं आती। इसका अभ्यास करने वाला साधक सब लोकों में सिद्धि प्राप्त करता है तथा प्रलयकाल में भी दुखी नहीं होता है।

सावधानी—

शरीर के स्वस्थ होने पर ही इसका अभ्यास करना चाहिए। उच्च रक्तचाप, हृदय रोग से पीड़ित रोगियों को तथा थायराइड़ वृद्धि पर इसका अभ्यास न करे। मस्तिष्क चक्र के दौरान इसका अभ्यास वर्जित है। प्रारम्भ में इसका अभ्यास गुरू के निर्देशन में ही करे। मोटे व्यक्ति इसका अभ्यास दीवार या किसी अन्य सहारे से करे।

20.3.6 योनि मुद्रा

विधि—

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसामुखम्।
अङ्गुष्ठतर्जनी मध्यानामाद्यैः पिद्धीत वै।।
प्राणमाकृष्य काकीभिरपाने योजयेत्ततः।
षट् चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः।।
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिया या भुजंगिनी।
जीवेन सहितां शक्ति समुत्थाप्य पराम्बुजे।।

शक्तिमयो स्वयं भूत्वा परं शिवेन संगमम्।
नानासुखं विहारं च चिन्तयेत्परमं सुखम्।।
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुविभावयेत्।
आनन्दमानसो स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत्।। घे०सं० 3/49–53

सर्वप्रथम सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से आँखों को, मध्यमाओं से नासिका को तथा अनामिका से मुख को बन्द करें। काकी मुद्रा द्वारा प्राण खींचकर अपान में मिला दे। शरीर में स्थित छहः चक्रों पर ध्यान लगाते हुए "हूँ" अथवा "हंस" मन्त्र से कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर उसके साथ ही जीवात्मा को सहस्त्रार चक्र में ले जाए। इसी समय साधक को यह भावना करनी चाहिए कि "मैं शिव के साथ शक्ति सम्पन्न होकर सुखपूर्वक विहार कर रहा हूँ। शिव शक्ति के संगम से ही मैं आनन्दमय स्वयंभू व्रह्म हो गया हूँ।" यही योनिमुद्रा है।

लाभ–

ब्रह्महाभ्रूणहा चैव सुरापी गुरू तल्पगः।
एतैः पोपेर्न लिप्यते योनि मुद्रा निबन्धनात्।।
योनिमुद्रा परागोप्या देवानामपि दुर्लभा।
सकृत्तु लब्धसंसिद्धः समाधिस्थः स एव हि।।
यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रा निबन्धनात्।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यादि मुक्तिं समिच्छति।। घे०सं० 3/54 55 56

इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से ब्रह्म हत्या, भ्रूण हत्या, सुरापान, गुरुतल्प गमन आदि महापापो से मुक्ति मिलती है। इसके और अधिक लाभों को बताते हुए कहते हैं कि यह मुद्रा परम गोपनीय है इसलिए देवताओं के लिए भी यह दुर्लभ है। इसका नियमित अभ्यास करने वाला साधक समाधि को प्राप्त कर लेता है। संसार के जितने भी पाप है इसके निरन्तर अभ्यास से दूर हो जाता है। जो साधक मोक्ष को प्राप्त करना चाहते है। उनको इस मुद्रा का अभ्यास नित्यप्रति करना चाहिए।

सावधानी–

जो व्यक्ति अन्तर्मुखी हो वो इसका अभ्यास न करे। गृहस्थ आश्रम में रहने वाले सिद्धासन में ज्यादा देर न बैठे। साइटिका से पीड़ित व्यक्ति इसका अभ्यास न करे। जिन व्यक्तियों के कान बहते हो, वो भी इसका अभ्यास न करे।

20.3.7 वज्रोणि मुद्रा–

विधि– धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां उर्ध्वे क्षिपेत्पाद युगंशिरखे।
शक्ति प्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रा मुनयोः वदन्ति।।
घे०सं० 3/57

दोनों हथेलियों को भूमि पर रखे तथा दोनों पैरों को एवं सिर को आकाश की तरफ उठा ले। यह मुद्रा, ब्रह्मचर्य आसन की स्थिति जैसी है। योगियों ने इस मुद्रा को शक्ति संचार तथा जीवन प्राप्त कराने वाली कहा है। यही वज्रोणि मुद्रा है।

लाभ–

अयं योगे योग श्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः।।
एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम्।
सिद्धे विन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।।
भेगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्।
तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम्।। घे०सं० 3/58 59 60

इस मुद्रा के लाभो का वर्णन करते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि यह मुद्रा मुक्ति देने वाली तथा हितकारिणी है। यह मुद्रा श्रेष्ठ है तथा सिद्धि प्रदान करने वाली है। इससे बिन्दु सिद्धि होती है तथा बिन्दु सिद्ध होने पर पृथ्वी के सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। यदि भोग में लिप्त व्यक्ति भी इस मुद्रा का नियमित अभ्यास करे तो उसे भी सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

सावधानी–

जिन व्यक्तियों को भुजाएँ कमजोर हो उनको यह अभ्यास सावधानी से करना चाहिए।

20.3.8 शक्तिचालिनी मुद्रा

विधि– शक्तिचालिनी मुद्रा की विधि बताने से पूर्व महर्षि घेरण्ड कुण्डलिनी शक्ति के विषय में बताते हैं, वह इस शक्ति का वर्णन इसलिए कर रहे हैं क्योंकि इस मुद्रा के अभ्यास से वह गोपनीय शक्ति जो सभी मनुष्यों में सोई हुई है, जाग्रत हो जाती है।

कुण्डलिनी शक्ति जो मूलाधार चक्र में साढे तीन फेरा लगाए हुए सर्प के समान सोई पड़ी है, इस अवस्था में साधक पशु के समान है। इसलिए जब तक यह जाग्रत न हो जाए इसका अभ्यास करते रहना चाहिए। घेरण्ड मुनि कहते हैं कि नाभि को वस्त्र से लपेटे तथा अकेले में ही इसका अभ्यास करे। नग्न रहकर, सबसे सामने इसका अभ्यास बिल्कुल न करे।

विधि–

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम्।।
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत्।

संलिप्य भस्मनागात्रं सिद्धासनमाचरेत्।।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्याप्यपाने योजयेद्बलात्।
तवादाकुंचयेद् गुह्यमश्विनीमुद्रया शनैः।।
यावद्रच्छेत्सुषुम्णायां हठाद्वायुः प्रकाशयेत्।
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी।।
घे०सं० 3/65 66 67 68।।

एक कोमल वस्त्र लेकर जो कि एक बालिस्त लम्बा तथा चार अंगुल चौड़ा हो, नाभि पर लगाकर कटि में बाँधे। समस्त शरीर पर भस्म लगाएँ, सिद्धासन में बैठे तथा प्राण को अपान से मिलाने का प्रयास करें। अश्विनी मुद्रा द्वारा गुदा द्वार को संकुचित रखे, जब तक कि सुषम्ना द्वार से चलती हुई वायु प्रकाशित न हो। इस प्रकार कुम्भक द्वारा सर्प रूपिणी कुण्डलिनी जाग्रत हो ऊर्ध्वगामी हो जाती है।

लाभ–

बद्धश्वासस्ततो भूत्वा चोर्ध्वमार्ग प्रपद्यते।
विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति।।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां ततोऽभ्यसेत्।
इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी।।
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः।
नित्यंयोऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत्।। घे०सं० 3/69 70 71 72।।

इसके लाभों का वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं कि इसके अभ्यास के बिना योनिमुद्रा सिद्ध नहीं हो सकती। इसका अभ्यास नित्य प्रति करने को कहा है साथ ही इसे गोपनीय रखने को भी कहा गया है। इससे विग्रह–सिद्धि सहित सभी सिद्धियाँ मिलती है और सभी रोगों का भी निवारण होता है।

सावधानी– इस मुद्रा का अभ्यास गोपनीय ढंग से करना चाहिए। खुले बदन में इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। वस्त्र को लपेट कर, एकान्त में बैठ कर शक्तिचालनी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

20.3.9 तडागी मुद्रा–

विधि–

उदरंपश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिः।
ताडागी सा परामुद्रा जरा मृत्यु विनाशिनी।। घे०सं० 3/73

सर्वप्रथम पश्चिमोत्तासान में बैठे, पीठ को सीधा रखे। श्वास ले तथा पेट को ऐसे फुलाएँ जैसे उसके अन्दर पानी भरा हुआ हो। श्वास छोड़ते हुए पेट को अन्दर करे।

लाभ—यह एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है इसका अभ्यास करने से बुढ़ापा नहीं आता तथा मृत्यु का भय भी दूर हो जाता है।

सावधानी—

गर्भवती महिलाएँ, हर्निया या भ्रंश से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। श्वास लेते तथा छोड़ते हुए सावधानी बरतें।

20.3.10 माण्डूकी मुद्रा

विधि— मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीं मुद्रिकां विदुः।। घे०सं० 3/74

मुख को बन्द कर जिह्वा को तालु में पूरा घुमाएँ, जिससे जिह्वा के माध्यम से सहस्त्रार चक्र से टपकने वाले सुधा का पान (अमृत) हो सके। यही माण्डूकी मुद्रा है।

लाभ— वलितंपलितं नैव जायते नित्ययौवनम्।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डूकीम्।। घे०सं० 3/75

इसके अभ्यास से बालों का झड़ना, सफेद होना आदि सभी रोग दूर हो जाते है। इसके अभ्यास से शरीर में झुर्रियाँ नहीं पड़ती तथा युवावस्था बनी रहती है।

सावधानी— कमर, गर्दन को सीधा रखे। मूलाधार चक्र पर उचित दबाव डाले।

20.3.11 शाम्भवी मुद्रा

विधि—

नेत्रान्तरं समालोक्य चात्मारामं निरीक्षयेत्।
सा भवेच्छाम्भवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।। घे०सं० 3/76

दृष्टि को दोनों भौहों के मध्य स्थिर कर, ध्यान को स्वयं पर अर्थात् 'अपनी आत्मा' पर लगाए। यही शाम्भवी मुद्रा की विधि है। घेरण्ड मुनि ने इस मुद्रा को कुलवधू के समान बताया है।

लाभ— स एव ह्यादिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्।। घे०सं० 3/78

इसका अभ्यास करने वाले साधक स्वयं आदिनाथ नारायण और जगत स्रष्टा ब्रह्मा ही है। अर्थात् इसका अभ्यास करने वाला साधक या पुरुष साक्षात् ब्रह्मरूप ही होता है।

सावधानी– जिन व्यक्तियों की आँखे बहुत अधिक कमजोर हो वो इसका अभ्यास ज्यादा देर तक या सावधानीपूर्वक ही करें। आँखों के किसी भी तरह के ऑपरेशन के बाद इसका अभ्यास न करें।

20.3.12 अश्विनी मुद्रा

विधि– आकुंचयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।। घे०सं० 3/82

गुदा द्वार को बार–बार संकुचित और प्रसारित करें। इस प्रक्रिया को बार–बार करना ही अश्विनी मुद्रा है। कहा भी गया है कि इससे कुण्डलिनी शक्ति जो मूलाधार चक्र में सोई हुई है, जाग्रत हो जाती है।

लाभ– आश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत्।। घे०सं० 3/83

इस मुद्रा से गुदा सम्बन्धित सभी रोग नष्ट होते हैं। इसके नियमित अभ्यास से शारीरिक बल बढ़ता है, अकाल मृत्यु भी नहीं होती है।

सावधानी–

जब इस मुद्रा का अभ्यास करे तब ध्यान रखे कि केवल गुदा द्वार का ही संकुचन हो। संकुचन एवं प्रसार लयबद्ध होना चाहिए। गुदा नाल व्रण से पीड़ित व्यक्ति इसका अभ्यास न करे।

20.3.13 पाशिनी मुद्रा

विधि

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।। घे०सं० 3/84

दोनों पैरों को सिर के पीछे ले जाए तथा दोनों घुटनों को मोड़कर कण्ठ के पीछे ले जाए तथा दोनों पैरों को मिलाकर पाश के समान कठोरता से बाँधे, यही पाशिनी मुद्रा है।

लाभ–

पाशिनी महती मुद्रा वयपुष्टि विधायिनी।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः।। घे०सं० 3/85

पाशिनी मुद्रा के अभ्यास से शक्ति जाग्रत होती है। यह शरीर को बल और पुष्ट करने वाली मुद्रा है। इसके अभ्यास से साधक को सिद्धि प्राप्त होती है।

सावधानी–

जिन व्यक्तियों को हर्निया, स्लिपडिस्क, साइटिका, उच्च रक्तचाप या मेरूदण्ड से सम्बन्धित रोगों में इस मुद्रा का अभ्यास न करें।

20.3.14 काकी मुद्रा

विधि काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोग विनाशिनी।। घे०सं० 3/86

किसी भी सुविधाजनक आसन में बैठे तथा मुख को कौवे की चोंच के समान बनाकर, मुख से वायु का धीरे–धीरे पूरक करें। यही काकी मुद्रा है।

लाभ– काकी मुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत्।। घे०सं० 3/87

यह मुद्रा सभी रोगों का नाश करती है। इस मुद्रा के अभ्यास को गुप्त रखने को कहा है। इस मुद्रा के प्रभाव से साधक सभी बीमारियों से कौवे के समान मुक्त रहता है।

सावधानी– काकी मुद्रा का अभ्यास स्वच्छ वातावरण में ही करे, प्रदूषित वातावरण में न करें क्योंकि इसमें वायु का पान मुख से होता है। अत्यधिक ठण्ड में इसका अभ्यास न करे। विषाद, निम्नरक्तचाप तथा दीर्घकालिक कब्ज से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास वर्जित है।

20.3.15 मातंगिनी मुद्रा–

विधि–

कण्ठमग्नेजले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।।
नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी।। घे०सं० 3/88,89

गले तक पानी में स्थिरतापूर्वक बैठिये तत्पश्चात् नाक से पानी खींचकर मुँह से बाहर निकालिए तथा मुँह से जल खींचकर नाक से बाहर छोडिए। इसको बार–बार कीजिए। यही मातंगिनी मुद्रा है।

लाभ– विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।
कुर्यान्मातंगिनी मुद्रां मातंग इव जायते।।
यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकांपराम्।। घे०सं० 3/90,91

इसके लाभों का वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं कि यह एक परम मुद्रा है जिसके अभ्यास से जरा, मृत्यु का हरण होता है। किन्तु इसे एकान्त स्थान में एकाग्र होकर करना चाहिए। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर साधक हाथी के समान बलवान एवं शक्तिशाली बनता

है। साथ ही उसे आनन्द की अनुभूति होती है। इस मुद्रा को प्रयत्नपूर्वक सिद्ध करना चाहिए। इसकी सिद्धि थोड़े से अभ्यास से ही हो जाती है।

सावधानी– इस मुद्रा का अभ्यास लोगों, जन–साधारण के बीच में न करे। मन को एकाग्र करके ही इसका अभ्यास करे। नाक में पानी भरते हुए या मुँह में पानी भरते हुए सावधानी रखे।

20.3.16 भुजंगिनी मुद्रा

विधि

वक्त्रं किंचित्सुप्रसार्य चानिलं गलया पिवेत्।

सा भवेद् भुजंगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।। घे०सं० 3/92

किसी भी सुविधाजनक आसन में बैठे। मुख को पूरा खोलकर कण्ठ से वायु का पूरक करें। यही भुजंगिनी मुद्रा कहलाती है।

लाभ–

यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषतः।
तत्सर्वंनाश्येदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी।। घे०सं० 3/93

इसके अभ्यास सिद्ध होने पर जरा–मृत्यु का नाश होता है। यह उदर को स्वस्थ बनाकर उससे सम्बन्धित सभी रोगों को ठीक करता है। इससे अजीर्ण आदि रोगों में लाभ मिलता है।

सावधानी–इसे प्रदूषित वातावरण में न करें।

बंध

20.3.17 मूलबन्ध

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः।
नाभिग्रन्थि मेरुदण्डे सुधीः संपीड्य यत्नतः।।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फेन दृढ़बन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते।। घे०सं० 3/6,7

सर्वप्रथम दण्डासन में बैठे तथा बाएँ पैर को मोड़कर, बाँयी एड़ी को गुदा मार्ग में रख, उसे संकुचित करें और यत्नपूर्वक नाभि ग्रंथी को मेरूदण्ड में लगाकर दबाव बनाएँ। फिर दायी एडी को उपस्थ पर लगाकर उस पर दृढ़तापूर्वक दबाव बनाएँ। यही मूलबंध है।

लाभ–

संसारसागरं तर्तुमभिलषति यः पुमान्।
सुगुप्तो विरलो भूत्वा मुद्रामेतां समभ्यसेत्।।
अभ्यासाद्वन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम्।
साधयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः।। घे०सं० 3/8, 9

यह मूलबंध बूढापे पर आसानी से विजय प्राप्त करता है। इसके अभ्यास से मरूत् सिद्धि प्राप्त होती है। इसका अभ्यास अगर मौन रखकर व आलस्य से रहित होकर करे तो ज्यादा लाभकारी सिद्ध होगा। इसके अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है।

सावधानी

इसका अभ्यास मौन रहकर करना चाहिए। इसके अभ्यास के दौरान आलस्य नहीं होना चाहिए। कब्ज तथा बवासीर से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास बड़ी सावधानी से या किसी गुरु के परामर्श के बाद ही करना चाहिए। ऋतुस्त्राव के दौरान इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

20.3.18 जालन्धर बंध मुद्रा

विधि–

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरेकृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।। घे०सं० 3/10

किसी भी सुविधाजनक, ध्यानात्मक आसन में बैठे तथा कंठ को संकुचित कर ठुड्डी को छाती पर लगाने का प्रयास करें। यही जालन्धर बंध है। इसके अभ्यास से शरीर में स्थित 16 आधारों का नियंत्रण होता है।

लाभ–

जालन्धरमहामुद्रामृत्योश्च क्षयकारिणी।
सिद्धो जालन्धरो बन्धो योगिनां सिद्धिदायकः।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः।। घे०सं० 3/11

यह जालन्धर बंध नामक महामुद्रा मृत्यु का भय दूर कर उसे जीत लेती है। इसका अभ्यास सिद्धियों को प्रदान करने वाला होता है। कहा गया है कि इस बंध का अभ्यास निरन्तर छह माह करने से साधक सिद्ध हो जाता है।

सावधानी–

हृदय रोगो से पीड़ित, उच्च रक्त चाप से पीड़ित, भ्रमि मस्तिष्क से सम्बन्धित किसी सर्जरी वाले रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। सर्वाइकल स्पाडिलाइटिस वाले रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। घबराहट प्रारम्भ होने पर भी बंध को तुरन्त हटा ले और विश्राम करे।

20.3.19 उड्डियान बंध मुद्रा

विधि– उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्व तु कारयेत्।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी।। घे०सं० 3/12

किसी भी ध्यानात्मक आसन से बैठकर अपने उदर (पेट) को पीठ की तरफ पूरा संकुचित करें। ऐसा करते ही महाखग अर्थात् प्राण ऊपर की तरफ उठता है। यह स्थिति उड्डियान बंध कहलाती है।

लाभ–

समग्राद् बन्धनाद्धयेतदुड्डीयानं विशिष्यते।

उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।। घे०सं० 3/13

यह मृत्यु रूपी हाथी के सामने शेर (सिंह) के समान प्रकट होता है। अन्य सभी बंधों में यह सर्वश्रेष्ठ है। इसके अभ्यास से साधक को मोक्ष मिल जाता है। इसके अभ्यास से उदर के सभी रोग तथा सम्बन्धित अंग सुदृढ़ बनते हैं।

सावधानी–

वृहदान्त्रशोध, आमाशय या आन्त्रव्रण, हर्निया, उच्च रक्त या हृदय रोग से पीड़ित रोगी इसका अभ्यास न करे। गर्भिणी भी इसका अभ्यास न करें। प्रसव के बाद डॉक्टर की सलाह से ही इसका अभ्यास करें। पेट दर्द की स्थिति में इसका अभ्यास न करे।

20.3.20 महा बंध मुद्रा–

विधि–

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः।।
शनकैश्चालयेत्पार्ष्णि योनिमाकुंचयेच्छनैः।
जालन्धरे धरेत्प्राणं महाबन्धो निगद्यते।। घे०सं० 3/14 15

बॉये पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को गुदा द्वार पर रखे तथा फिर दाये पॉव की एडी से बॉयी एडी पर दबाव बनाए। धीरे–धीरे गुदा प्रदेश का चातन करे तथा उसे धीरे–धीरे ही संकुचित भी करें। साथ ही जालन्धर बंध द्वारा वायु को धारण करे। यह महाबंध है।

लाभ–

महाबन्धः परो बन्धो जरामरण नाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत्सर्ववांछितम्।। घे०सं० 3/16

महाबंध मुद्रा अन्य सभी मुद्राओं में उत्तम हैं। यह जरा–मृत्यु नाशिनी है। इस बंध के फलस्वरूप साधक की सभी मन की इच्छाएँ पूरी हो जाती है। इसमें तीनों बंध प्रयुक्त होते है इसलिए इसमें तीनों बंधो के लाभ निहीत है।

सावधानी–

उच्चरक्त चाप, हृदय रोग से पीडित, वृहदान्त्रशोध, गर्भिणी, सर्वाइकल स्पॉडिलाइटिस, ऋतुस्त्राव आदि वाले व्यक्ति इसका अभ्यास न करें।

20.3.21 पार्थिवी धारणा मुद्रा

विधि–

यत्तत्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं,
वेदास्रं कमलासनेनसहितं कृत्वा हृदिस्थापितम्।
प्राणंत्रय विलीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितां धारयेत्।
ऐषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा।। घे०सं० 3/17

घेरण्ड मुनि कहते हैं कि पृथ्वी तत्त्व का वर्ण हरताल के समान पीला रंग है। वह वर्गाकार है और यही ब्रह्म देवता है। उसके सभी छोर समान है। इसको योग की शक्ति द्वारा हृदय में धारण करें और उसके बीज मंत्र 'लं' पर ध्यान लगाए। प्राण का कुम्भक पाँच घड़ी तक करें। यही पार्थिवी धारणा है।

लाभ–

पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति तु नित्यशः।
मृत्युंजयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि।। घे०सं० 3/18

इसके अभ्यास से योगी पृथ्वी पर विजय प्राप्त करता है। साथ ही साथ वह मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। वह सिद्ध होकर पृथ्वी में विचरण करता है। वह पृथ्वी तत्त्व के गुणों एवं अवगुणों पर विजय प्राप्त करता है।

सावधानी– इसका अभ्यास बहुत धैर्य तथा धीरे–धीरे करें, किसी भी तरह की जबरदस्ती ठीक नहीं है। अभ्यास में काफी समय लग सकता है इसलिए धैर्य धारण करें।

20.3.22 आम्भसी धारणा मुद्रा–

विधि–

शङ्खेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं।
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विलीय पंच घटिकाश्चित्तान्वितां धारयेत्।
एषा दुःसहतापपापहरिणीस्यादाम्भसी धारणा।। घे०सं० 3/19

शुभ्र वर्ण का जलशंख, चन्द्र या कुन्द के समान है। जल का बीज मंत्र वकार या 'वं' और देवता विष्णु हैं। इस तत्व का हृदय में ध्यान कर मन को एकाग्र कर पाँच घड़ी तक कुम्भक कर प्राण को धारण करें। यही आम्भसी धारण है।

लाभ–

आम्भसीं परमां मुद्रा यो जानाति स योगवित्।
जले च घोरे गंभीरे मरणं तस्यनोभवेत्।।
इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः।
प्रकाशात्सिद्धिहानिःस्यात्सत्यं वच्मि च तत्त्वतः।। घे०सं० 3/20 21

इस धारणा द्वारा मनुष्य के सभी प्रकार के दुःख, ताप तथा सभी पाप खत्म हो जाते हैं। शरीर की अंदर की गर्मी और उत्तेजना आदि समाप्त हो जाती है। क्योंकि जल का गुण शीतलता प्रदान करना होता है। जो साधक इसको सिद्ध कर लेता है उसको पानी में डूबने पर भी किसी भी तरह से हानि नहीं पहुँचती। घेरण्ड मुनि ने श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण मुद्रा की संज्ञा दी है। साथ ही इसके अभ्यास को गोपनीय रखने को कहा है कहते हैं अगर इसका अभ्यास सबके सामने हो तो साधक की सिद्धि नष्ट हो जाती है।

सावधानी– घेरण्ड मुनि ने इस मुद्रा का वर्णन करते हुए ही कहा है कि इस मुद्रा का अभ्यास गोपनीय रूप से करना है किसी के सामने अभ्यास करने से साधक की सिद्धि नष्ट हो जाती है। इसका अभ्यास करने से पूर्व चित्त को शान्त करने का प्रयास करे। इसका अभ्यास किसी भी समय नहीं किया जाता।

20.3.23 आग्नेयी मुद्रा

विधि–

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं,
तत्त्वं वह्निमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम्।
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितं धारयत्
एषा कालगभीरभीतिहरिणी वैश्वानरी धारणा।। घे०सं० 3/22

अग्नि का स्थान नाभि है। अग्नि का रंग लाल है तथा इसका यंत्र त्रिकोण है। इसका बीज मंत्र 'रं' और देवता रुद्र है। यह अग्नि तत्व तेजपुंज युक्त, दीप्ति युक्त तथा सिद्धिदायक है। इसका अभ्यास मन को एकाग्र कर तथा पाँच घड़ी का कुम्भक धारण कर करें। यह आग्नेयी धारणा कहलाती है।

लाभ–

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधकः।
एतन्मुद्रा प्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक्।। घे०सं० 3/23

इसके लाभों का वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं कि निरन्तर इसका अभ्यास करने वाले साधक को काल का भय आदि नहीं सताता तथा उसे अग्नि से भी कोई हानि नहीं

होती। इसका अभ्यास करने वाला साधक अगर प्रदण्ड अग्नि में भी गिर जाए तो उसे कोई हानि नहीं होगी और साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है।

सावधानी

इसका अभ्यास धैर्य तथा संयम से करे क्योंकि अग्नि से खिलवाड़ करना साधक के लिए ठीक नहीं है।

20.3.24 वायवीय धारणा मुद्रा
विधि

यद्भिन्नांजनपुंजसंनिभमिदं धूम्रावभासं परं,
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।

प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकाश्चिन्तान्वितं धारयेत्।

एषा खे गमनं करोति यामिनां स्याद्वायवी धारणा।।घे०सं० 3/24

वायु का रंग धुएँ के रंग के समान हल्का काला होता है। इसका बीज मंत्र 'यं' या यकार है, इसका तत्व सत्व गुण का है। इसके इष्ट देवता ईश्वर हैं। मन को एकाग्र कर प्राण देवता ईश्वर हैं। मन को एकाग्र कर प्राण वायु को पाँच घड़ी तक कुम्भक कर धारण करें। इसे वायवीय धारणा कहा गया है।

लाभ–

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
वायुनाभ्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी।।
शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्यकस्यचित्।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वच्मि च चण्ड ते।। घे०सं० 3/25 26

इस अभ्यास से साधक को आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है साथ ही वह मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करता है। वह बुढ़ापे पर भी विजय हासिल करता है। साधक आकाश में उड़ने की सिद्धि प्राप्त कर आकाश में उड़ने लगता है। इससे अन्य सिद्धियाँ भी अपने आप प्राप्त हो जाती है।

सावधानी– इस धारणा के बारे में मूर्ख तथा अभक्त व्यक्ति को न बताएँ। ऐसा करने से सिद्धि नष्ट हो जाती है। इसका अभ्यास को करते हुए धैर्य धारण करें तथा धीरे–धीरे अभ्यास को करे व आगे बढ़ाएँ।

20.3.25 आकाशीय धारणा मुद्रा–

विधि

यत्सिन्द्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमाख्यमुद्भासते,
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम्।
प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेत्,
एषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा।। घे०सं० 3/27

यह आकाश तत्व को धारण करने की धारणा है, आकाश जिसका रंग समुद्र के नीले रंग जैसा, शुद्ध जल के समान है। आकाश तत्व का बीज मंत्र हकार या 'हं' है। इसके इष्ट देव सदाशिव है। मनु को शान्त एवं एकाग्र कर प्राण वायु को पाँच घड़ी का कुम्भक लगाएँ। यह आकाशी धारणा है।

लाभ– आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति स योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति।। घे०सं० 3/28

इसके लाभों को कहते हुए कहा गया है कि यह मोक्ष का द्वार खोलती है। इसका साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। उसे प्रलय आदि आने पर भी किसी भी प्रकार का दुख नहीं होता। वह शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है।

सावधानी– मन को शान्त तथा निर्मल कर ही इसका अभ्यास करें।

अभ्यास प्रश्न

1.एक शब्द में उत्तर दीजिए–

(क) किस मुद्रा के सिद्ध हो जाने पर साधक मूर्च्छा, तृष्णा, क्षुधा, आलस्य आदि नहीं सताते।

(ख) किस मुद्रा के अभ्यास से ब्रह्म हत्या, भ्रूण हत्या, सुरापन, गुरुतल्प गमन आदि महापापों से मुक्ति मिलती है।

(ग) किस मुद्रा के प्रभाव से साधक सभी बीमारियों से कौवो के समान मुक्त रहता है।

(घ) किस मुद्रा के सिद्ध हो जाने पर साधक हाथी के समान बलवान तथा शक्तिशाली बनता है।

(ङ) गुदा नाल व्रण से पीड़ित व्यक्ति को किस मुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

2.बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर दीजिए–

(क) घेरण्ड संहिता के अनुसार बन्धों की संख्या कितनी होती है?

(i) 04 (ii) 05 (iii) 16 (iv) 25

(ख) किस मुद्रा के अभ्यास को निरन्तर छः माह करने से साधक सिद्ध हो जाता है?

(i) मूलबन्ध मुद्रा (ii) जालान्धर बन्ध मुद्रा

(iii) उड्डियान बन्ध मुद्रा (iv) महाबन्ध मुद्रा

(ग) किस मुद्रा के अभ्यास से साधक मृत्यु रूपी हाथी के सामने शेर के समान प्रकट होता है।

(i) महावेध मुद्रा (ii) अश्विनी मुद्रा

(iii) उड्डियान बन्ध मुद्रा (iv) महाबन्ध मुद्रा

(घ) किस मुद्रा में मुख्य रूप से तीनों बन्धों का प्रयोग होता है?

(i) मूलबन्ध मुद्रा (ii) महाबन्ध मुद्रा

(iii) उड्डियान बंध मुद्रा (iv) जालन्धर बन्ध मुद्रा

3.सत्य असत्य बताइये–

(क) आम्भसी धारणा मुद्रा के अभ्यास से साधक को पानी में डूबने पर हानि नहीं पहुँचती।

(ख) आग्नेयी धारणा मुद्रा का बीज मंत्रा वकार या वं तथा देवता विष्णु है।

(ग) वामवीय धारणा मुद्रा का तत्व सत्व गुण का है।

(घ) वायवीय धारणा मुद्रा के सिद्ध होने से साधक आकाश में उड़ने लगता है।

(ङ) घेरण्ड संहिता में चार धारणाओं का वर्णन है।

(च) पार्थिवी धारणा मुद्रा से योगी पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर लेता है।

20.4 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके हैं, कि मुद्राएँ साधक की सिद्धि में कितना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। बंध मुद्राएँ जहाँ साधनापरक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, वहाँ उनका भौतिक दृष्टि से चिकित्सय प्रयोग भी हितकर है। मुद्राएँ शारीरिक स्थिरता देने वाली तथा चित्त को नियन्त्रित करने वाली है। इनका अभ्यास शरीर की अनैच्छिक क्रियाओं को वश में लाता है तथा प्राण ऊर्णा को जाग्रत कर साधना की उच्च भूमि की ओर अग्रसर करता है। अतः स्पष्ट होता है कि मुद्राओं का मुख्य उद्देश्य कुण्डलिनि जागरण कर समाधि की प्राप्ति करना है।

20.5 शब्दावली

यक्ष्मा	–	टी0वी0
कुम्भक	–	श्वास रोकना, प्राणायाम
क्षुधा	–	भूख
तृष्णा	–	चाह, राग
धृत	– घी	
तक्र	– मट्ठा	

20.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (क) खेचरी मुद्रा (ख) योनि मुद्रा (ग) काकी मुद्रा
   (घ) मातंगिनी मुद्रा (ङ) अश्विनी मुद्रा

2. (क) 04 (ख) जालान्धर बंध मुद्रा (ग)उड्डियान बंध मुद्रा
   (घ) महाबन्ध मुद्रा

3. (क) सत्य (ख) असत्य (ग) सत्य, (घ) सत्य
   (ङ) असत्य (च) सत्य

20.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला
2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
4. भारद्वाज डॉ० ईश्वर (2005) सरल योगासन, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

20.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. घेरण्ड संहिता में वर्णित मुद्राओं का नामोल्लेख करके केवल बन्धों का वर्णन करें?
2. महामुद्रा व महाबन्ध की व्याख्या करते हुए उद्देश्यों पर भी प्रकार डालिए?
3. निम्नलिखित में से किन्हीं तीन मुद्राओं की विधि, लाभ व सावधानियों का वर्णन करें?

   (i) महाबेध मुद्रा (ii) विपरीत मुद्रा (iii) खेचरी मुद्रा

   (iv) वज्रोणी मुद्रा (v) शक्तिचालिति मुद्रा

2. पार्थिवीधारणा तथा वायवीय धारणा की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए?

इकाई—21 घेरण्ड संहिता में वर्णित प्रत्याहार व ध्यान

इकाई की संरचना

21.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में घेरण्ड संहिता के चौथे अध्याय प्रत्याहार का वर्णन मिलता है तथा इसी इकाई में हम घेरण्ड संहिता के छठे अध्याय ध्यान का भी अध्ययन करेंगे। चौथे अध्ययन में घेरण्ड मुनि अपने शिषय राजा चण्डकपाणि को प्रत्याहार के बारे में विस्तार से बताते हैं कि मन या इन्द्रियों की अर्न्तमुखता ही प्रत्याहार है। इसके अभ्यास से योगी अपनी इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में कर लेता है। योगी प्रत्याहार को सिद्ध करके समाधि को प्राप्त करने में सश्रम हो जाता है। ध्यान योगी को लक्ष्य तक पहुँचाने का महत्वपूर्ण साधन है। ध्यान के माध्यम से योगी अनेक गुणों का विकास करके आत्मसाक्षात्कार की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

21.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- घेरण्ड संहिता में वर्णित प्रत्याहार का विश्लेषण कर सकेंगे।
- प्रत्याहार के उद्देश्य को समझ सकेंगे।
- स्थूल ध्यान का अध्ययन करेंगे।
- घेरण्ड संहिता में वर्णित ध्यान के तीनों प्रकार का विश्लेषण कर सकेंगे।

21.3 घेरण्ड संहिता में वर्णित प्रत्याहार प्रकरण

प्रिय पाठकों प्रत्याहार शब्द योग में जाना पहचाना है। अक्सर आम जिज्ञासु पाठक यह जानने की इच्छा रहती है कि प्रत्याहार क्या है। घेरण्ड संहिता में प्रत्याहार का वर्णन विस्तार पूर्वक किया है आगामी पृष्ठों का अध्ययन कर लेने के बाद आप उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर जाननें में सक्षम हो जावोगें। प्रत्याहार का वर्णन घेरण्ड संहिता के चौथे अध्याय या अंग के रूप में मिलता है। इस तरह चौथा अध्याय प्रत्याहार प्रकरणा के नाम से जाना जाता है। इस अध्याय में महर्षि घेरण्ड अपने शिष्य राजा चण्डकपालि को प्रत्याहार के बारे में बिस्तार से बताते हैं। प्रत्याहार का अभ्यास साधक को साधना की अन्तिम अवस्था जो कि समाधि है। उस तक पहुँचने में अत्यधिक मदद करता है। मन या इन्द्रियों की अर्न्तरमुखता ही प्रत्याहार है। यह बहुत जटिल प्रक्रिया है इसका निरन्तर अभ्यास ही इसमें विजय प्राप्त कराता है। इन्द्रियों के माध्यम से मन या चित्त को संयमित नियंत्रित करने की प्रक्रिया प्रत्याहार कहलाती है। कहा गया है कि अगर हम अपने मन को इन्द्रियों की अनुभूति से अलग कर दे तो इन्द्रियों का अपने विषयों की तरफ जाना बंद हो जाता है। कहा गया है कि इन्द्रियाँ ही मन में चंचलता उत्पन्न करती है। मन में किसी प्रकार की ब्राह्यय नकारात्मक या सकारात्मक भावना इन्द्रियों द्वारा ही उत्पन्न होती है। महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि मन का संतुलन नहीं बिगड़ना चाहिए अर्थात् किसी भी परिस्थिति में धैर्य नहीं

खोना चाहिए और सजगता का अभाव नहीं होना चाहिए। इसी धैर्य की प्राप्ति के लिए वे अपने शिष्य चण्डकपालि को कहते हैं–

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम्।।
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।
पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं वा भयानकम्।
मनस्तमान्नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।
सुगन्धे वाऽपि दुर्गन्धे मनो घ्राणेषु जायते।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्।।
मधुराम्लकातिक्तादिरसं गतं यदा मनः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्।। घे०सं० 4/1 2 3 4 5

अर्थात् महर्षि घेरण्ड ने कहा कि अब मैं प्रत्याहार का वर्णन प्रारम्भ करता हूँ। प्रत्याहार के करने से मनुष्य के शत्रुओं जैसे कामना, तृष्णा, इच्छा आदि का नाश होता है अर्थात् मान–अपमान आदि का मन में कोई प्रभाव न पड़े। मन का स्वभाव चंचल है इसलिए जब कभी यह चंचल मन इधर–उधर भागने का प्रयत्न करें और अपना मुख्य कार्य अर्थात् एकाग्रता को खोने लगे तो उसे प्रयास कर वापस लाना चाहिए अर्थात आत्मा के वश में करे। प्रिय तथा अप्रिय वचनों, सुगन्ध तथा दुर्गन्ध आदि से मन को हटाकर वश में करें। अर्थात् अपनी सीमा का ख्याल करते हुए उसे स्वयं के नियंत्रण में रखे उसे यहाँ–वहाँ भटकने न दे। किसी भी प्रकार के रस के स्वाद जैसे मधुर, अम्ल, तिक्क आदि की तरफ आकर्षित न हो। यही प्रत्याहार हैं।

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि बहुत से लोग, अपनी इन्द्रियों को भीतर समेटना, जिस प्रकार कछुवा अपने अंगों को कवच के अन्दर समेटता है, प्रत्याहार समझते हैं किन्तु यह प्रत्याहार नहीं है बल्कि प्रत्याहार विचारों को बाँधने की शक्ति है बाह्य विषयों की ओर विचारों का जो प्रवाह है उसे बाँध देना, रोक देना ही प्रत्याहार है। यह अवस्था अन्तर्मुखता की है। प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती है, तब मन स्वतः नियन्त्रण में आ जाता है। प्रत्याहार के अभ्यास से दुःख के मूल कारण का समूल नाश हो जाता है।

21.4 घेरण्ड संहिता में वर्णित ध्यान प्रकरण

प्रिय पाठकों आगे चलकर घेरण्ड मुनि छठे अध्याय में ध्यान का वर्णन अपने शिष्य चण्डकपालि के सामने करते हुए ध्यान की महिमा के बारे में बताते हैं। ध्यान को परिभाषित करते हुए महर्षि कहते हैं कि किसी विषय या वस्तु पर एकाग्रता या चिन्तन की क्रिया 'ध्यान' कहलाती है। जिस प्रकार हम अपने मन के सूक्ष्म अनुभवों को अन्तश्चक्षु के सामने, मनःदृष्टि के सामने स्पष्ट कर सके, यही ध्यान की स्थिति है। ध्यान साधक की कल्पना शक्ति पर भी निर्भर है। ध्यान अभ्यास नहीं है यह एक स्थिति है जो बिना किसी अवरोध के

अनवरत चलती रहती है। जिस प्रकार तेल को एक बर्तन से दूसरे बर्तन में डालने पर बिना रूकावट के मोटी धारा निकलती है, बिना छलके एक समान स्तर से भरनी शुरू होती है यही ध्यान की स्थिति है। इस स्थिति में किसी भी प्रकार की हलचल नहीं होती।

महर्षि घेरण्ड ध्यान के प्रकारों का वर्णन प्रथम सूत्र में करते हुए कहते हैं कि–

स्थूलं ज्योतिस्थासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
सूक्ष्मं विन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता।। घे०सं० 6/1

अर्थात् ध्यान तीन प्रकार का है– स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान, सूक्ष्म ध्यान। स्थूल ध्यान में इष्टदेव की मूर्ति का ध्यान होता है। ज्योतिर्मय ध्यान में ज्योतिरूप ब्रह्म का ध्यान तथा सूक्ष्म ध्यान में बिन्दुमय ब्रह्म कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान किया जाता है।

21.4.1 स्थूल ध्यान

स्वकीयहृदये ध्यायेत्सुधासागरमुत्तमम्।
तन्मध्ये रत्नद्वीपं तु सुररत्नवालुकामयम्।।
चतुर्दिक्षु नीपतरुं बहुपुष्पसमन्वितम्।
निपोपवनसंकुलैर्वेष्टितं परिखा इव।।
मालतीमल्लिकाजातीकैसरैश्चम्पकैस्तथा।
पारिजातैः स्थलपद्मैर्गन्धामोदितदिङ्मुखैः।।
तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम्।
चतुःशाखाचतुर्वेदं नित्यपुष्पफलान्वितम्।।
भ्रमराः कोकिलास्तत्र गुंजन्ति निगदन्ति च।
ध्यायेत्तत्र स्थिरो भूत्वा महामाणिक्यमण्डपम्।।
तन्मध्ये तु स्मरेद्योगी पर्यङ्कं सुमनोहरम्।
तत्रेष्टदेवतां ध्यायेद्यद्ध्यानं गुरुभाषितम्।।
यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम्।
तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानमिदं विदुः।।घे०सं० 6/2 3 4 5 6 7 8

स्थूल ध्यान की दो विधियाँ में पहले पहली विधि की चर्चा की है।

(अ) सर्वप्रथम अपने हृदय पर ध्यान केन्द्रित कीजिए। महसूस कीजिए की हृदय में एक बड़ा सागर अमृत से भरा है। उसके बीच एक द्वीप है जो रत्नों से भरा है वहाँ की बालू भी रत्नों के चूर्ण से मुक्त है। इस द्वीप का आकर्षण फलों से लदे वृक्ष है। वहाँ पर अनेक सुगन्धित पुष्प जैसे मालती, मल्लिका, चमेली, केशर, चम्पा, पारिजात स्थल पद्म आदि अपनी सुगन्ध चारो और फैला रहें हैं।

इस द्वीप के मध्य ही कल्पवृक्ष नामक वृक्ष है। इसकी चार शाखाएँ चार वेदो के बारे में बताती है। यह वृक्ष फल–फूलों से लदा है द्वीप में कोयल की मधुर बोली तथा भ्रमर का गुंजन सुनायी दे रहा है। ठीक यही एक चबूतरा है जो हीरे, नीलम आदि रत्नों से सजा है। इस चबूतरे के ऊपर कल्पना करें कि आपके इष्ट देव बैठे हैं। इन्हीं इष्ट देव पर ध्यान लगाएँ।इष्ट देव गुरु है उनके शरीर में जो वस्तुएँ हैं जैसे वस्त्र, माला आदि उन पर

एकाग्रता को केन्द्रित कीजिए। इस विधि द्वारा साधक अपने गुरु के स्थूल रूप पर ध्यान करें।

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकायां विचिन्तयेत्।
विलग्नसहितं पद्मं दलैर्द्वादशभिर्युतम्।।
शुक्लवर्ण महातेजो द्वादशैर्बीजभाषितम्।
ह स क्ष म ल व र युं ह स ख फ्रें यथाक्रमम्।।
तन्मध्ये कर्णिकायां तु अकथादिरेखात्रयम्।
ह ल क्ष कोण संयुक्तं प्रणवं तत्र वर्त्तते।।
नादबिन्दुमयं पीठं ध्यायेतत्र मनोहरम्।
तत्रोपरि हंसयुग्मं पादुका तत्र वर्तते।।
ध्यायेत्तत्र गुरुं देवं द्विभुजं च त्रिलोचनम्।
श्वेताम्बरधरं देवं शुक्लगन्धानुलेपनम्।।
शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितम्।
एवंविधगुरुध्यानात्स्थूल ध्यानं प्रसिध्यति।।
स्थूलध्यानं तु कथितं तेजोध्यानं श्रृणुष्व मे।
यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च।। घे०सं० 6/9 10 11 12 13 14 15

(ब) सहस्रार प्रदेश में महापक्ष है, जिसके एक हजार दल है उसके बीच में बारह दलो का एक छोटा कमल है। इन दलों का रंग सफेद है और यह तेज पूर्ण है। इनमें बारह बीज मंत्र है– "ह, स, क्ष, म, ल, व, र, यू, ह, ख और क्रें"। कमल के बीच में भाग में तीन रेखाएँ है। अ, क, थ वर्ण सहित। ये तीनों रेखाएँ मिलकर एक त्रिशूल की रचना करती है। इस त्रिभुज के कोणों का सांकेतिक शब्द 'हं, थं और लं' है। त्रिभुज के मध्य 'ऊँ' स्थित है। ध्यान के वक्त यह देखे कि सहस्र दल कमल के मध्य में हंसो का जोड़ा बैठा है, यह जोड़ा गुरु की पादुकाओं का चिह्न है। श्वेत पक्ष में बैठे हुए गुरू के दो हाथ तथा तीन नेत्र है। उन्होंने सफेद रंग के व्रस्त्र तथा सफेद फूलों की माला पहनी हुई है। उनके वाम भाग में लाल वस्त्र धारण किए उनके शक्ति सुशोभित है। इस प्रकार गुरू का ध्यान करने से स्थूल ध्यान सिद्ध होता है।

21.4.2 ज्योति ध्यान

मूलाधारे कुण्डलिनी भुजंगाकाररूपिणी।
तत्र तिष्ठति जीवात्मा प्रदीपकलिकाकृतिः।
ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानं परात्परम्।।
भ्रूवोर्मध्ये मनऊर्ध्वे यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेज्जवालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि।। घे०सं० 6/1617

मूलाधार चक्र में सर्प के आकार की कुण्डलिनी शक्ति हैं। उसी स्थान में दीपक की लौ के रूप में मनुष्य की आत्मा का निवास है। मूलाधार में आत्मा रूपी परम् ब्रह्म का ध्यान करे। यही ज्योति ध्यान है। भौहो के मध्य और मन के उर्ध्व भाग में जो ज्वालाग्ली युक्त

ज्योति है उसी पर ध्यान लगाना ज्योतिर्ध्यान कहलाता है। सूत्र के अनुसार आत्मा का निवास दो जगह है पहला मूलाधार तथा दूसरा भूमध्य में। मूलाधार में जो आत्मा है वह कुण्डलिनी के रूप में है और भूमध्य में जो रूप है वह प्रणव रूप में है।

21.4.3 सूक्ष्म ध्यान

तेजोध्यानं श्रुतं चण्ड सूक्ष्मध्यानं श्रृणुष्व मे।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डली जाग्रती भवेत्।।
आत्मना सह योगेन नेत्ररन्ध्राद्विनिर्गता।
विहरेद्राजमार्गे च चंचलत्वान्न दृश्यते।।
शाम्भवी मुद्रया योगो ध्यानयोगेन सिध्यति।
सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम्।।
स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं परात्परम्।।
इति ते कथितं चण्ड ध्यानयोगं सुदुर्लभम्।
आत्मसाक्षाद्भवेद्यस्मात्तस्माद्ध्यानं विशिष्यते।।घे०सं० 6/18 19 20 21 22

सूक्ष्म ध्यान को वर्णित करते हुए महर्षि कहते हैं कि यदि साधक का सौभाग्य रहा तो इस ध्यान के द्वारा आत्मा से एक होना सम्भव है और कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। यह शक्ति नेत्र–रन्ध्र से होकर ऊपरी मार्ग में स्थित राजमार्ग स्थान में विचरण करती है। किन्तु यही अति सूक्ष्म एवं चंचल होने के कारण दिखाई नहीं देती। साधक को शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करते हुए इस शक्ति का ध्यान दे। यही सूक्ष्म ध्यान है। यह अत्यन्त गोपनीय एवं दुर्लभ ध्यान है। ध्यान की श्रेष्ठता बताते हुए मुनि ने लिखा है कि स्थूल ध्यान से सौ गुना श्रेष्ठ ज्योति ध्यान है, ज्योति ध्यान से लाख गुना श्रेष्ठ सूक्ष्म ध्यान है। इस ध्यान के सिद्ध होने पर आत्म–साक्षात्कार होता है। सूक्ष्म ध्यान का अर्थ है वास्तविक ध्यान।

अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) घेरण्ड संहिता में किस अध्याय में प्रत्याहार प्रकरण हैं?
(i) चौथे (ii) छठे
(iii) तीसरे (iv) सातवें

(ख) स्थूल ध्यान में कितने बीज मंत्र है?
(i) 10 (ii) 12
(iii) 14 (iv) 16

(ग) स्थूल ध्यान में दलों का रंग कौन सा है?
(i) लाल (ii) पीला
(iii) सफेद (iv) इनमें से कोई नहीं

(घ) सूक्ष्म ध्यान में किस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए?
(i) नभो मुद्रा (ii) खेचरी मुद्रा

(iii) योनि मुद्रा (iv) शाम्भवी मुद्रा

(ङ) घेरण्ड संहिता में वर्णित ध्यान कितने प्रकार का है?

(i) 2 (ii) 3 (iii) 4 (iv) 6

21.5 सारांश

प्रत्याहार एवं ध्यान साधक को लक्ष्य तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण साधन है। इन साधनों से चित्त की चंचलता नष्ट होती है जिससे एकाग्राचित्त होकर किसी भी कार्य को करने की क्षमता में वृद्धि होती है। अतः यह मन संयम के लिए महत्वपूर्ण विधा है। प्रत्याहार व ध्यान के अभ्यास से साधक काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, चित्त आदि पर विजय प्राप्त करके वह समाधि की ओर अग्रसर हो जाता है।

20.6 शब्दावली

चित्त –मन, बुद्धि तथा अहंकार का सम्मलित
कामना – इच्छा
तृष्णा –चाह, राग
अन्तुर्मुख– अन्दर की और
अवरोध –रूकावट
अनवरत –लगातार

21.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

(क) चौथे (ख) 12 (ग) सफेद (घ) शाम्भवी मुद्रा (ङ) 03

21.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला
2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार

21.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रत्याहार की परिभाषा देते हुए विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।
2. ध्यान क्या है? स्थूल ध्यान का विस्तार से वर्णन करें।
3. ध्यान की परिभाषा बताते हुए ध्यान के प्रकारों पर विस्तारपूर्वक चर्चा करें।

इकाई–22 घेरण्ड संहिता में वर्णित समाधि वर्णन

इकाई की संरचना

22.1 प्रस्तावना

घेरण्ड मुनि ने समाधि का वर्णन घेरण्ड संहिता के अंतिम अध्याय सातवें में किया है। हठयोग का अन्तिम उद्देश्य समाधि है। घेरण्ड मुनि ने समाधि की चर्चा बड़े सहज व स्पष्ट रूप से की है। समाधि योग की अंतिक स्थिति है इसके विषय में घेरण्ड मुनि कहते हैं समाधि कोई सामान्य अवस्था नहीं है यह एक परम अवस्था है जो बड़े भाग्य वालों को ही प्राप्त हौी है। समाधि की सिद्धि प्राप्त होने पर साधक को शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों की प्राप्ति होती है तथा साधक को समाधि में यही भाव रहता है कि मैं ब्रह्म हूँ और इसके अतिरित्तफ अन्य कुछ भी नहीं। अर्थात् साधक को अपने अन्तिम लक्ष्य कैवल्य की स्थिति प्राप्त कर लेता है। प्रस्तुत इकाई में आप समाधि के भेदों का अध्ययन करेंगे।

22.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

समाधि के उद्देश्य को समझ सकेंगे।

समाधि के विविध भेदों का विश्लेषण कर सकेंगे।

बता सकेंगे कि समाधि क्यों अनिवार्य है।

22.3 समाधि प्रकरण

घेरण्ड संहिता का अन्तिम अध्याय समाधि है। समाधि का वर्णन घेरण्ड मुनि ने सातवे अध्याय में किया है। हठयोग का अन्तिम उद्देश्य समाधि है। जहाँ पर आत्मा का मिलन उस स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध परमतत्व से हो जाता है। हठयोग के कई ग्रंथों जैसे हठयोग प्रदीपिका, योगसूत्र, घेरण्ड संहिता आदि में अनेकों मनीषियों ने समाधि का वर्णन अलग–अलग तरह से किया है। कहा जाता है कि समाधि एक अवस्था है जिसमें व्यक्ति को आत्म–साक्षात्कार हो जाता है। सभी शास्त्रों और ग्रन्थों में जिस अवस्था को ब्रह्मज्ञान के नाम से जाना जाता है, वह स्वयं में समाधि की स्थिति है। समाधि के विषय में महर्षि, चण्डकपालि को समझाते हुए कहते हैं कि–

समाधिश्च परो योगो बहुभाग्येन लभ्यते।
गुरोः कृपाप्रसादेन प्राप्यते गुरुभक्तितः।।
विद्याप्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनसः प्रबोधः।
दिने दिने यस्य भवेत्स योगी सुशोभनाभ्यासमुपैति सद्यः।।
घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा चैक्यं कुर्यात्परात्मनि।
समाधिं तं विजानीयान्मुक्तसंज्ञो दशादिभिः।।
अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान्।। घे०सं० 7/1 2 3 4

अर्थात् समाधि कोई सामान्य अवस्था नहीं है यह एक परम् अवस्था है जो बड़े भाग्य वालों को ही प्राप्त होती है। यह उन्हीं साधकों को प्राप्त होती है जो गुरु के परम् भक्त है या जिन पर अपने गुरू की असीम कृपा होती है। जैसे–जैसे साधक की विद्या की प्रतीति, गुरु की प्रतीति, आत्मा की प्रतीति और मन का प्रबोध बढ़ता जाता है, तब उसे समाधि की प्राप्ति होती है। अपने शरीर को मन के अधीन होने से हटाने तथा परमात्मा में लगाने पर ही साधक मुक्त होकर समाधि को प्राप्त होता है। समाधि में यही भाव रहता है कि मैं ब्रह्म हूँ और इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। मुझे किसी भी प्रकार का कोई बंधन नहीं है, मैं सत्, चित्त और आनन्द कर स्वरूप है। समाधि को बताने के बाद आगे घेरण्ड मुनि समाधि के भेद को बताते हुए कहते हैं कि–

शाम्भव्या चैव भ्रामर्या खेचर्य्या योनिमुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा।।
पंचधा भक्ति योगेन मनोमूर्च्छा च षड्विधा।
षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येकमवधारयेत्।। घे०सं० 7/5 6

समाधि के छह भेद बताए हैं वे हैं– ध्यान योग समाधि, नाद योग समाधि, रसानंद योग समाधि, लयसिद्धि योग समाधि, भक्तियोग समाधि, राजयोग समाधि। ध्यान योग की समाधि शाम्भवी मुद्रा से, नाद योग की भ्रामरी से, रसानन्दयोग की खेचरी से, लयसिद्धि योग की योनि मुद्रा से, भक्तियोग की मनोमूर्च्छा से और राजयोग समाधि कुम्भक से सिद्ध होती है। उपर्युक्त छह समाधियाँ राज योग में सम्मिलित हैं, साधक को इनका अभ्यास क्रमशः करना चाहिए।

22.3.1 ध्यान योग समाधि

शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दु ब्रह्ममयं दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत्।।
खमध्ये कुरुचात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किंचिदपि बुध्यते।
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः।। घे०सं० 7/7 8

शाम्भवी मुद्रा को कर आत्मा को प्रत्यक्ष रूप से देखने का प्रयास करें तत्पश्चात् ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए मन को बिन्दु पर केन्द्रित करें। मस्तिष्क में स्थित ब्रह्म लोकमय आकाश के बीच में आत्मा ले जाए और जीवात्मा में आकाश को लय करें तथा परमात्मा में जीवात्मा का ध्यान करें। इससे योगी को आनन्द मिलता है और वह समाधि में स्थित हो जाता है।

22.3.2 नाद योग समाधि

अनिलं मन्द वेगेन भ्रामरीकुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दं रेचयेद्वायुं भृङ्नादं ततो भवेत्।।

अन्तःस्थं भ्रमरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो नयेत्।
समाधिजार्यते तत्रं चानन्दः सोऽहमित्यतः।। घे०सं० 7/9 10

धीमी गति से वायु का पान कर भ्रामरी प्राणायाम करते हुए ही धीमी गति से ही वायु का रेचन करे। वायु का रेचन करते हुए भौरे के गुन्जन की ध्वनि उत्पन्न करे। यह गुंजन (नाद) जहाँ पर हो रहा हो उसी पर ध्यान या मन लगा दे। धीरे–धीरे वह ध्वनि पूरे शरीर में गूँजने लगती है यही नाद योग समाधि है।

22.3.3 रसानन्द समाधि

खेचरीमुद्रासाधनात् रसनोर्ध्वगता यदा।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम्।। घे०सं० 7/11

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि खेचरी साधना में जीभ ऊपर की ओर कपाल कुहर में प्रवेश कर जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है इस प्रकार की स्थिति रसानन्द योग समाधि कहलाती है। इस अवस्था में जिस रस की अनुभूति होती है वह परम आनन्ददायी होता है। यही उस अमृत रस से प्राप्त आनन्द की समाधि है इसे ही महर्षि ने रसानन्द समाधि की संज्ञा दी है।

22.3.4 लयसिद्धि समाधि

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुश्रृगाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि।।
आनन्दमयः सम्भूत्वा एक्यं ब्रह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेति चाद्वैतसमाधिस्तेन जायते।। घे०सं० 7/12 13

इस समाधि का वर्णन करते हुए मुनि जी कहते हैं कि साधक को पहले योनि मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। साधक को सब कुछ भूलकर (लिंग भेद) स्वयं में शक्ति की भावना तथा परमात्मा में पुरुष का भाव रखना चाहिए। उसे यह भावना रखनी चाहिए कि उसमें और परमात्मा में शक्ति और पुरुष का संचार हो रहा है। इसके पश्चात् आनन्द मग्न होकर यह चिन्तन करें कि "मैं ही अद्वैत ब्रह्म हूँ"। यही लयसिद्धि समाधि की अवस्था है।

22.3.5 भक्तियोग समाधि

स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेव स्वरूपकम्।
चिन्तयेद्भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम्।।
आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी।। घे०सं० 7/14 15

घेरण्ड मुनि कहते हैं कि अपने हृदय में अपने अराध्य देव के रूप पर ध्यान लगाए। मन में भक्ति का भाव लाए तथा अपने इष्टदेव के प्रति पूर्ण श्रद्धा, भक्ति,

प्रेम आदि का भाव उत्पन्न करे। ऐसा करने से आनन्द के आँसू बहने लगते हैं और पूरा शरीर काँपने लगता है। मन में एकाग्रता आती है और तभी मन, ब्रह्म से साक्षात्कार हो जाता है। यही भक्ति योग समाधि है। यह समाधि भावुक साधकों के लिए उचित है।

22.3.6 मनोमूर्च्छा समाधि

मनोमूर्च्छा समासाद्य मन आत्मनि योजयेत्।
परमात्मनः समायोगात्समाधि समवाप्नुयात्।। घे०सं० 7/16

मनोमूर्च्छा प्राणायाम का अभ्यास कर साधक की अन्तःकरण की क्रिया समाप्त हो जाती है उसी समय साधक को अपना मन एकाग्र कर ब्रह्म में स्थित करने का प्रयास करे। परमात्मा के साथ योग होने को ही मनोमूर्च्छा समाधि कहते हैं।

अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1 **(क)** घेरण्ड संहिता में वर्णित समाधि कितने प्रकार की है।
(अ) 03
(ब) 06
(स) 07
(द) 08

(ख) ध्यान योग समाधि में किस मुद्रा का अभ्यास किया जाता है।
(अ) शाम्भवी मुद्रा
(ब) खेचरी मुद्रा
(स) योनि मुद्रा
(द) महामुद्रा

(ग) नादयोग समाधि में किस प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है।
(अ) भस्त्रिाका प्राणायाम
(ब) भ्रामरी प्राणायाम
(स) मूर्च्छा प्राणायाम
(द) उज्जायी प्राणायाम

(घ) घेरण्ड संहिता में समाधि को किस अध्याय में रखा गया है।
(अ) चौथे
(ब) छठे
(स) पाचवें
(द) सातवें

22.4 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि घेरण्ड संहिता में वर्णित समाधि की उपयोगिता को स्वीकारा गया है। वास्तव में हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि समाधि से ही आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति होती है। साधक को समाधि की सिद्धि प्राप्त होने पर धरा पर पुनर्जन्म नहीं होता।

22.4 शब्दावली

निर्मल – साफ,स्वच्छ

रेचक – श्वास छोड़ना

चिन्तन – अनवरत सोचने की प्रक्रिया

कैवल्य – मोक्ष, समाधि

प्रबोध – वशिष्ट ज्ञान

पूरक – श्वास लेना

22.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(क) 06 (ख) शाम्भवी मुद्रा, (ग) भ्रामरी प्राणायाम (घ) सातवें

22.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची?

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला।
2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार।
3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार।

22.7 निबंधात्मक प्रश्न

1. समाधि से आप क्या समझते हैं? ध्यानयोग समाधि तथा लयसिद्धि समाधि को समझाइये।
2. समाधि के भेदों को स्पष्ट करते हुए प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन करें।

No 506
633/H
शिव संहित

ॐ

शिव-संहिता

(विस्तृत एव सरल हिन्दी अनुवाद सहित)

अनुवादक:

डा० चमनलाल गौतम

पूर्व सम्पादक—जीवनयज्ञ और युग संस्कृति
रचयिता—मंत्र महाविज्ञान, उपासना महाविज्ञान, मंत्रयोग, वैदिक मंत्र विद्या, ओंकार सिद्धि, मंत्र शक्ति से रोग निवारण विपत्त निवारण-कामना सिद्धि, प्राणायाम के असाधारण प्रयोग, तंत्र विज्ञान, तंत्र रहस्य, तंत्र महाविद्या, तंत्र महासिद्धि।

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)

प्रकाशक:

डा. चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, वेदनगर
बरेली-२४३००१ (उ. प्र.)

अनुवादक:
डा. चमनलाल गौतम

द्वितीय संस्करण
१९७५

मुद्रक :
शैलेन्द्र वी. माहेश्वरी
नवज्योति प्रेस,
भीकचन्द मार्ग, मथुरा।

मूल्य तीन रुपये पचहत्तर पैसे

दो शब्द

प्रस्तुत शिव-संहिता योगशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसका उपदेश भगवान् शिवजी ने प्राणिमात्र के उपकारार्थ किया था। इसमें ब्रह्मज्ञान और हठयोग के साथ राजयोग की क्रियाओं का भी सरल रीति से वर्णन हुआ है।

यह ग्रन्थ प्राचीन होने के कारण दुष्प्राप्य था। अनेक जिज्ञासुओं का इसके लिए विशेष आग्रह देखा गया तो बहुत खोज के पश्चात् इसकी एक लिपि प्राप्त की गई और सरल-सुबोध हिन्दी में विस्तृत अनुवाद करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

योग-जिज्ञासुओं के लिए ही नहीं, सर्व साधारण पुरुषों और अन्य मार्ग के उपासक मुमुक्षुओं के लिये भी यह एक अमूल्य उपलब्धि है, जिसका अध्ययन और मनन करके संसार-सागर के दुःखों से पार होने का उपाय किया जा सकता है।

हमें आशा है कि हमारे इस प्रयास से मुमुक्षुओं, योग के जिज्ञासुओं और सभी सामान्य पाठकों को भी अत्यन्त लाभ होगा और इसी में हमारे श्रेय की सार्थकता सिद्ध होगी।

—प्रकाशक

विषय सूची

शिव संहिता

प्रथम पटल

लयप्रकरण

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं
नान्यत् किञ्चिद्वर्तते वस्तु सत्यम् ।
यद्भेदोस्मिन्निन्द्रियोपाधिना वै
ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव ॥१॥

अथ भक्तानुरक्तोऽहं वक्ष्ये योगानुशासनम् ।
ईश्वरः सर्वभूतानामात्ममुक्तिप्रदायकः ॥२॥

त्यक्त्वा विवादशीलानां मतं दुर्ज्ञानहेतुकम् ।
आत्मज्ञानाय भूतानामनन्यगतिचेतसाम् ॥३॥

केवल एक ज्ञान ही नित्य और आदि-अन्त से रहित है। जगत् में ज्ञान से भिन्न कोई अन्य वस्तु विद्यमान नहीं हैं। इन्द्रियों की उपाधि के द्वारा जो कुछ पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है, वह केवल ज्ञान ही भासमान है, अन्यथा कुछ भी नहीं है। भक्तों पर कृपा करने के उद्देश्य से मैंने यह योग का अनुशासन कहा हैं। सब भूतों का आत्मा ईश्वर ही मुक्तिदायक यह इस शास्त्र का लक्ष्य है) जो मत विवादमय और दुर्ज्ञान के कारण रूप हैं, उनका त्याग करके आत्मज्ञान का आश्रय ले, यही भूतों की अनन्य गति है ॥१-३॥

सत्यं केचित् प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे।
क्षमां केचित्प्रशंसन्ति तथैव सममार्जवम् ॥४॥
केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे।
केचित् कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम् ॥५॥

कोई विद्वान् सत्य की प्रसंशा करते हैं तो कोई तपस्या की, और कोई शुद्ध आचार को ही श्रेष्ठ बताते हैं। कोई क्षमा को उचित मानते हैं तो कोई सब में समान भाव रखना ही ठीक बताते हैं। कोई सरलता का अनुमोदन करते हैं तो कोई दान की ही प्रसंसा किया करते हैं। कोई पितर कर्म (तर्पणादि) की महत्ता स्वीकार करते हैं, तो कोई कर्म अर्थात् सगुण उपासना को ही मान्यता देते हैं। कुछों के मत में वैराग्य ही श्रेष्ठ है।४-५

केचिद्गृहस्थकर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः।
अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित्परं विदुः ॥६॥
मन्त्रयोगं प्रशंसन्ति केचित्तीर्थानुसेवनम्।
एवं बहूनुपायांस्तु प्रवदन्ति विमुक्तये ॥७॥

कोई विद्वान् पुरुष गृहस्थ धर्म को प्रशंसनीय कहते हैं तो कोई परमज्ञानी अग्निहोत्र आदि कर्मों को ही प्रशस्त मानते हैं। किसी के मत में मन्त्र योग ही श्रेष्ठ है और किसी के विचार में तीर्थ यात्रा आदि करना या तीर्थों में जाकर स्नानादि कर्म करना ही उत्तम है। इस प्रकार अनेकानेक विद्वानों ने संसार-सागर से मुक्त होने के लिए अपनी-अपनी मति के अनुसार अनेकों उपाय बताये हैं ॥६-७॥

एवं व्यवसिता लोके कृत्याकृत्यविदो जनाः।
व्यामोहमेव गच्छन्ति विमुक्ताःपापकर्मभिः ॥८॥

एतन्मतावलम्बी यो लब्ध्वा दुरितपुण्यके ।
भ्रमतीत्यवशः सोऽत्र जन्ममृत्युपरम्पराम् ॥९॥

इस प्रकार कृत्य-अकृत्य अर्थात् विधि-निषेध कर्मों के ज्ञाता पुरुष पापकर्मों से विमुक्त रहकर भी व्यामोह में ही पड़े रहते तथा पाप-पुण्य के अनुष्ठान रूप उपर्युक्त मतों के आश्रय में रहे आते हैं। उसके परिणाम स्वरूप अनुष्ठाता को जन्म-मरण के चक्र में बार-बार भ्रमते रहना होता है। इसका तात्पर्य यह है कि शुभ कर्मों के करने से चित्त की शुद्धि तो सम्भव है, परन्तु मुक्ति मिल जाना सम्भव नहीं है ॥८-९॥

अन्यैर्मतिमतां श्रेष्ठैर्गुप्तालोकनतत्परैः ।
आत्मानो बहवः प्रोक्ता नित्याः सर्वगतास्तथा ॥१०॥
यद्यत्प्रत्यक्षविषयं तदन्यन्नास्ति चक्षते ।
कुतः स्वर्गादयः सन्तीत्यन्ये निश्चितमानसाः ॥११॥
ज्ञानप्रवाह इत्यन्ते शून्यं केचित्परं विदुः ।
द्वावेव तत्त्वं मन्यन्तेऽपरे प्रकृतिपुरुषौ ॥१२॥

अन्य विद्वान् गोपनीय शास्त्रों के अध्ययन में तत्पर रहना श्रेष्ठ बताते हैं। अनेकों का कहना है कि आत्मा नित्य और सर्वत्र गमन करने में समर्थ है। कुछ प्रत्यक्षवादियों के मत में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले पदार्थ ही सत्य हैं और कुछ भी सत्य नहीं है। वे अपने दृढ़ चित्त से यही कहते हैं कि स्वर्गादि लोक हैं हीं कहाँ? अर्थात् स्वर्गादि लोक कहीं हैं ही नहीं। कुछ विद्वानों का मत है कि जो कुछ भी है, वह ज्ञान का प्रवाह ही है अर्थात् संसार को सब दृश्यमान वस्तुएँ ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। किसी-किसी का निश्चय है कि जो कुछ है, वह शून्य ही है (यह

शून्यवादियों का मत है) इसी प्रकार कुछ लोगों के विचार में प्रकृति और पुरुष दोनों ही तत्व हैं ॥१०-१२।

अत्यन्तभिन्नमतयः परमार्थपराङ्मुखाः ।
एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ॥१३॥
निरीश्वरमिदं प्राहुः सेश्वरं च तथापरे ।
वदन्ति विविधैर्भेदैः सुयुत्या स्थितिकातराः ॥१४॥

जो लोग परमार्थ के विरुद्ध हैं उनकी मति तो और भी भिन्न हैं। इस प्रकार अपनी-अपनी मति के अनुसार मान्यता बनाये हुए लोग कर्मों में लगे रहते हैं। किन्हीं का कहना है कि ईश्वर है ही नहीं और किन्हीं का कहता है कि यह जगत् प्रपंच ईश्वरमय ही है। इस भाँति अनेकों विद्वान् अनेक भेदों का वर्णन करते हैं और अपने मत में दृढ़ता पूर्वक तत्पर रहते हैं अर्थात् वे किसी अन्य मत की कोई बात भी नहीं सुनना चाहते ॥१३-१४॥

एते चान्ये च मुनयः संज्ञाभेदाः पृथग्विधाः ।
शास्त्रेषु कथिता ह्येते लोकव्यामोहकारकाः ॥१५॥
एतद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते ।
भ्रमन्त्यस्मिन् जनाः सर्वे मुक्तिमार्गबहिष्कृताः॥१६॥

इस प्रकार अनेकों मुनियों ने विभिन्न नाम वाले और पृथक्-पृथक् विधि-विधान वाले विविध मतों को लेकर शास्त्रों की रचना कर डाली है। परन्तु ऐसे सभी शास्त्र लोकों को व्यामोह में डालने वाले हैं। (अर्थात् उन भिन्न-भिन्न मत के शास्त्रों को पढ़ने से भ्रम उत्पन्न होजाता है और साधक कुछ निश्चय करने में असमर्थ रहता है, जिसके कारण जीवन समाप्त होने तक भी चित्त भ्रान्ति बनी रहती है। परन्तु ऐसे विवादशील पुरुषों का

मत कहने की शक्ति हम में नहीं है, जिनसे कि मनुष्य मुक्ति मार्ग को छोड़ कर भवचक में ही भ्रमण करते रहते हैं ॥१५-१६॥

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम् ॥१७॥
यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्र भाषितम् ॥१८॥

सभी शास्त्रों का अवलोकन करके उन पर पुनः पुनः विचार करके यही निश्चय होता है कि एक मात्र यही योग शास्त्र परममत रूप एवं श्रेष्ट है। इसकी ठीक प्रकार से रचना हुई है। जिसके ज्ञान लेने पर अवश्य ही सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। इसलिए इसके अध्ययन में ही परिश्रम करना चाहिए। क्यों कि (जब अन्य शास्त्र निरर्थक ही हैं तब) उनका ज्ञान प्राप्त करने का प्रयोजन ही क्या है? ॥१७-१८॥

योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभाषितम् ।
सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये च महात्मन ॥१९॥

शिवजी कहते हैं कि मेरे द्वारा कहा गया यह योगशास्त्र गोपनीय है, इसलिए इसे तीनों लोकों में से केवल उसी को देना चाहिए जो कि महात्मा और श्रेष्ट भक्त हो ॥१९॥

कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डमिति वेदो द्विधा मतः ।
भवति द्विविधो भेदो ज्ञानकाण्डस्य कर्मणः ॥२०॥
द्विविधः कर्मकाण्डः स्यान्निषेधविधिपूर्वकः ।
निषिद्धकर्मकरणे पापं भवति निश्चितम् ।
बिधिना कर्मकरणे पुण्यं भवति निश्चितम् ॥२१॥

वेद के दो मत हैं—(१) कर्मकाण्ड और (२ ज्ञान काण्ड। उनमें भी कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों के भी दो-दो भेद माने गए है। कर्मकाण्ड निषेध और विधि के भेद से दो प्रकार का है। निषेध कर्म के करने से अवश्य ही पाप होता है और विधि कर्म के कारण निश्चित रूप से पुण्य होता है ॥२०-२१॥

त्रिविधो विधिकूट: स्यान्नित्य नैमित्यकाम्यत: ।
नित्येऽकृते किल्बिषं स्यात्काम्ये नैमित्तिके फलम्॥२२॥

विधि कर्म नित्य, नैमित्तिक और सकाम के भेद से तीन प्रकार का है। नित्यकर्म अर्थात् देव-पूजन, सन्ध्या आदि इसके न करने से पाप होता है। सकामकर्म फल की इच्छा से किया जाता है और नैमित्तिक कर्म अर्थात् पर्व काल में तीर्थआदि के पुण्यजलों में स्नानदान आदि है, जिसके करने से पुण्य होना माना जाता है ॥२२॥

द्विविधं तु फलं ज्ञेयं स्वर्गं नरकमेव च ।
स्वर्गे नानाविधं चैव नरके च तथा भवेत् ॥२३॥
पुण्यकर्मणि वै स्वर्गो नरकं पापकर्मणि ।
कर्मबन्धमयी सृष्टिर्नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥२४॥

दो प्रकार का फल माना जाता है—(१) स्वर्ग और (२) नरक। स्वर्ग और नरक दोनों ही अनेक प्रकार के हैं। पुण्यकर्मों को करने वाले को स्वर्ग और पाप-कर्मों के करने वाले को नरक की प्राप्ति होती है। यह सृष्टि निश्चय ही कर्म-बन्धन से युक्त है, इससे अन्यथा नहीं समझना चाहिए। (सृष्टि के कर्मबन्धन से कहने का तात्पर्य है कि संसार में आकर मनुष्य जो कुछ कर्म या अकर्म करता है, जब तक उनके फल का भोग नहीं किया

जाता और जब तक किंचित भी कर्म शेष रहता है, जब तक संसार के बन्धन से छुटकारा नहीं मिलता ।)॥२३-२४॥

जन्तुभिश्चानुभूयन्ते स्वर्गे नानासुखानि च ।
नानाविधानि दुःखानि नरके दुःसहानि वै ॥२५॥
पापकर्मवशाद्दुःख पुण्यकर्मवशात्सुखम् ।
तस्मात्सुखार्थी विविध पुण्यं प्रकुरुते ध्रुवम् ॥२६॥

स्वर्ग में जीव को अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव प्राप्त होता है और इसी प्रकार नरक में उसे अनेक प्रकार के दुःसहनीय दुःगों को भोगना होता है। पाप कर्मों के करने से दुःख की और पुण्य कर्मों के करने से सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए सुख की इच्छा करने वाले पुरुष निश्चय ही विविध प्रकार के पुण्य कर्म किया करते हैं ॥२५-२६॥

पापभोगावसाने तु पुनर्ज्जन्म भवेत्खलु ।
पुण्यभोगावसाने तु नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥२७॥
स्वर्गेऽपि दुःखसम्भोगः परस्त्रीदर्शनाद्ध्रुवम्।
ततो दुःखमिदं सर्व भवेन्नास्त्यत्र संशयः ॥२८॥

जैसे पाप का फल भोग लेने पर जीव को पुनः ससार से जन्म लेना होता है, वैसे ही पुण्य का भल भोगने पर भी पुनर्जन्म ग्रहण करना होता है। ऐसा अवश्य होता है, इसमें अन्यथा नहीं समझना चाहिए। स्वर्ग भी निश्चय ही दुःख का स्थान है, क्योंकि वहाँ परस्त्री का दर्शन अप्सराएँ आदि का भोग) मिलता है, जिससे राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि एवं इच्छित स्त्री के न मिलने से मानसिक व्यथा उत्पन्न होना स्वाभाविक है और यह सब दुःख रूप ही है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥२७-२८॥

तत्कर्म कल्पकैः प्रोक्तं पुण्यपापमिति द्विधा ।
पुण्यपापमयौ बन्धो देहिनां भवति क्रमात् ॥२९॥
इहामुत्र फलद्वेषी सकलं कर्म सत्यखेत् ।
नित्यनैमित्तिके सङ्गं त्यक्त्वा योग प्रवर्तते ॥३०॥

मेधावी जनों ने पुण्य और पाप के रूप में दो प्रकार के कर्म कल्पित किये हैं। उन्हीं पाप-पुण्य कर्मों से शरीर बँधा हुआ है जिससे कि जीव को बार-बार जन्म ग्रहण करना होता है। इस लोक और परलोक के फल की कामना का और नित्य-नैमित्तिक आदि सभी कर्मों के फलों की आकांक्षा का त्याग करके मुमुक्षु पुरुष को योगाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए ॥२९-३०॥

कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत्सुधीः ।
पुण्यपापद्वयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डं प्रवर्तते ॥३१॥
आत्मा वा रे च श्रोतव्यो मंतव्य इति यच्छ्रुतिः ।
सा सेव्या तत्प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिनी ॥३२॥

योगी साधक के लिए आवश्यक है कि वह कर्मकाण्ड के माहात्म्य को जान लेने के पश्चात् पुण्य और पाप, दोनों प्रकार के कर्मों को छोड़ कर ज्ञानकाण्ड में प्रवृत्त हो जाय। श्रुति का वचन है कि अरे, आत्मा ही सुनने के योग्य है, आत्मा ही मनन करने के योग्य है। आत्मा ही मुक्ति की देने वाली और सभी को उत्पन्न करने वाली है। इसलिए प्रयत्न पूर्वक आत्मा का सेवन करे ॥३१-३२॥

दुरितेषु च पुण्येषु यो धीवृत्तिं प्रचोदयात् ।
सोऽहं प्रवर्तते मत्तो जगत्सर्वं चराचरम् ॥३३॥

सर्वं च दृश्यते मत्तः सर्वं च मयि लीयते ।
न तद्भिन्नोऽहमस्मिन्नो यद्भिन्नो न तु किंचन ॥३४॥

जो चित्तवृत्ति बुद्धि को पाप और पुण्य दोनों में ही समान रूप से प्रेरित करती है, 'वह मैं हूँ' मुझसे ही इस सम्पूर्ण चराचर रूप जगत् की उत्पत्ति होती है। यह सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपंच मैं ही हूँ, यह सब (मुझसे ही उत्पन्न होता और) मुझमें ही लीन हो जाता है। न वह मुझसे भिन्न है और न मैं उससे भिन्न हूं। इस प्रकार मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है। अभिप्राय यह है कि संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय मुझसे ही होती है, योगी पुरुष को ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ॥३३-३४॥

जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषु यथा भवेत् ।
एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्भेदोऽत्र न दृश्यते ॥३५॥
उपाधिषु शरावेषु या संख्या वर्तते परा ।
सा संख्या भवति यथा रवौ चात्मनि तत्तथा ॥३६॥

जिस प्रकार जल से परिपूर्ण शराब (मृतिका पात्र) में एक ही सूर्य के अनेक प्रतिबिम्ब प्रतीत होते हैं, परन्तु यथार्थ में वे अनेक नहीं होते, वरन् उनमें अनेकता की प्रतीति शराब की उपाधि और संख्या के भेद से होती है (परन्तु सूर्य अनेक नहीं होते), वैसे ही यह जगत् भी एक आत्मा होता हुआ भी भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। (वास्तव में तो वह ब्रह्म एक ही है)।३५-३६।

यथैकः कल्पकः स्वप्ने नानाविधतयेष्यते ।
जागरेऽपि तथाप्येकस्तथैव बहुधा जगत् ॥३७॥
सर्पबुद्धिर्यथा रज्जौ शुक्तौ वा रजतभ्रमः ।
तद्वदेवमिदं विश्वं विवृत्तं परमात्मन ॥३८॥

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में ऐसे ही अनेक प्रकार की कल्पना होती है, परन्तु निद्रा के भंग होने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार जगत् के अनेक रूपों की प्रतीति माया के आवरण से ही होती है। फिर जब वह माया दूर होजाती है,तब जगत् का अनेकत्व दूर होकर एकमात्र शुद्ध ब्रह्म ही रह जाता है। जैसे रस्सी में सर्प की बुद्धि अथवा सीप में रजत की भ्रान्ति होने लगती है, वैसे ही परमात्मा में माया के आवरण से इस विश्व की भ्रान्ति होती है ।।३७-३८।।

रज्जुज्ञानानाद्यथा सर्पो मिथ्यारूपो निवर्तते ।
आत्मज्ञानात्तथा याति मिथ्याभूत मिदं जगत् ।।३९।।
रौप्यभ्रांतिरियं यांति शुक्तिज्ञानाद् यथा खलु ।
जगत्भ्रांतिरियं यांति चात्मज्ञानाद्यथा तथा ।।४०।।

परन्तु जब रस्सी का ज्ञान होजाता है, तब सर्प की मिथ्या बुद्धि नहीं रहती, वैसे ही आत्मज्ञान के होने पर यह मिथ्याभूत जगत् भी नहीं रहता। इसी प्रकार जब यह ज्ञान होजाता है कि यह सीप है तभी उसके रजत होने का भ्रम दूर होजाता है, वैसे हो आत्मज्ञान के उत्पन्न होने पर जगत् की भ्रान्ति समाप्त हो जाती है ।।३९-४०।।

यथा रज्जूरगभ्रांतिर्भवेद्भेदशाज्जगत् ।।४१।।
तथा जगदिदं भ्रांतिरध्यासकल्पनाजगत् ।
आत्मज्ञानाद्यथा नास्ति रज्जुज्ञानाद्भुजङ्गमः ।।४२।।

जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है, वैसे ही जगत् भीभेद के वश में पड़ा है अर्थात् जगत् की भिन्नता रूप भ्रान्ति रज्जु में सर्प-भ्रान्ति के ही समान है। संसार की यह कल्पना अध्यास मात्र ही है, 'इसमें यथार्थता किंचित् भी नहीं है, परन्तु रज्जु

ज्ञान के समान आत्मज्ञान होते ही मिथ्या संसार भी नहीं रहता ॥४१-४२॥

यथा दोषवशाच्छुक्लः पीतो भवति नान्यथा ।
अज्ञानदोषादात्मापि जगद्भवति दुस्त्यजम् ॥४३॥
दोषनाशे यथा शुक्लो गृह्यते रोगिणा स्वयम् ।
शुक्लज्ञानात्तथाज्ञाननाशादात्मा तथा कृतः ॥४४॥

जिस प्रकार पित्तादिकेदूषित होने से पाण्डु रोगहोकरनिश्चय ही पीलापन प्रतीति होता है, वैसे ही अज्ञान रूप दोष के कारण आत्मा भी मिथ्या जगत् के रूप से दिखाई देने लगता है। वह अज्ञान सरलता से दूर नहीं हो पाता। परन्तु जब वह दूर हो जाता है तब (पित्तादि दोषों के दूर होने पर) रोगी का पीलापन मिट कर शुक्ल रूप दिखाई देने के समान ही शुद्ध ब्रह्म का अनुभव होने लगता है। (इस प्रकार अज्ञान भी रोग के समान है जो कि आत्मज्ञान रूपी औषधि के द्वारा ही नष्ट हो सकता है) ॥४३-४४॥

कालत्रयेऽपि न यथा रज्जुः सर्पो भवेदिति ।
तथात्मा न भवेद्विश्वं गुणातीतो निरञ्जनः ॥४५॥
आगमाऽपायिनोऽनित्या नाश्यत्वे नेश्वरादयः ।
आत्मबोधेन केनापि शास्त्रादेताद्विनिश्चितम् ॥४६॥

जैसे कि त्रिकाल में भी रस्सी सर्प नहीं बन सकती, वैसे ही गुणों से परे और विशुद्ध आत्मा कभी भी विश्व नहीं बन सकता यह निश्चय है। जिस शास्त्र में आत्म-बोध विषयक उपदेश हैं, उसके अध्ययन से यही निश्चय होता है कि ईश्वर कहे जाने वाले इन्द्रादि देवगण भी अनित्य ही हैं अर्थात् उनका भी आवागमन निश्चित है ॥४५-४६॥

यथा वातवशात्सिन्धावुत्पन्नाः फेनबुद्बुदाः ।
तथात्मनि समुद्भूतं संसारं क्षणभंगुरम् ॥४७॥
अभेदो भासते नित्यं वस्तुभेदो न भासते ।
द्विधात्रिधादिभेदोऽयं भ्रमत्वे पर्यवस्यति ॥४८॥

जैसे कि वायु के क्षोभ से समुद्र में फेन और बुद्बुदे उत्पन्न होते और तुरन्त ही समुद्र में लीन हो जाते हैं, वैसे ही माया की उपाधि से आत्मा के द्वारा ही यह क्षणभंगुर संसार उत्पन्न होता (और फिर आत्मा में ही लीन हो जाता है। आत्मा का संसार से अथवा किसी भी वस्तु से भेद नहीं है और दो, तीन इत्यादि जैसा भी भेद प्रतीत होता है, वह भ्रमत्व से ही है अर्थात् उस भ्रम के दूर होते ही अनेकत्व का भेद नहीं रह पाता ॥४७-४८॥

यद्भूत यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्तं तथैव च ।
सर्वमेव जगदिदं विवृतं परमात्मनि ॥४९॥
कल्पकैः कल्पिता विद्या मिथ्या जाता मृषात्मिका।
एतन्मूलं जगदिदं कथं सत्यं भविष्यति ॥५०॥

जो उत्पन्न हो चुका है और जो भविष्य में उत्पन्न होगा अर्थात् जो कुछ मूर्तिमान है और जो कुछ अमूर्त है, वह यह सम्पूर्ण जगत् माया के आवरण से आत्मा द्वारा ही प्रकट हुआ है। यह मिथ्या जगत् अविद्या की कल्पना से कल्पित हुआ है। इसकी जड़ ही मिथ्यात्व पर आधारित तब यह स्वयं ही कैसे सत्य हो सकती है ॥४९-५०॥

चैतन्यात् सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरण ।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य चैतन्य तु समाश्रयेत् ॥५१॥

घटस्याभ्यन्तरे बाह्ये यथाकाशं प्रवर्तते ।
तथात्माभ्यन्तरे बाह्ये ब्रह्माण्डस्य प्रवतते ॥५२॥

केवल चैतन्य आत्मा से ही यह सम्पूर्ण (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज आदि) चराचर विश्व उत्पन्न होता है, इसलिए सब कुछ छोड़ कर एक चैतन्य आत्मा का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है। जैसे घट के भीतर और बाहर आकाश प्रवृत्तरहता है, वैसे ही आत्मा भी ब्रह्माण्ड के भीतर-बाहर पूर्णरूप से व्याप्त रहता है ॥५१-५२॥

सततं सर्वभूतेषु यथाकाश प्रवर्तते ।
तथात्माभ्यंतरे बाह्ये ब्रह्माण्डस्य प्रवर्तते ॥५३॥
वर्तते सर्वभूतेषु यथाकाशं समन्ततः ।
तथात्माभ्यंतरे बाह्ये कार्यवर्गेषु नित्यशः ॥५४॥

जैसे सभी भूतों में आकाश सदा व्याप्त रहता है, वैसे ही आत्मा भी ब्रह्माण्ड के भीतर-बाहर प्रवर्तित रहता है। अथवा जिस प्रकार सभी भूतों में आकाश समन्वित रहता है, वैसे ही आत्मा भी संम्पूर्ण कार्य-वर्ग अर्थात् उत्पन्न वस्तुओंमें सदानिहित रहता है ॥५३-५४॥

असंलग्न यथाकाशं मिथ्याभूतेषु पंचसु ।
असंलग्नस्तथात्मा तु कार्यवर्गेषु नान्यथा ॥५५॥
ईश्वरादिजगत्सर्वमात्मव्यातं समन्ततः ।
एकोऽस्ति सच्चिदानन्दः पूर्णो द्वैतविवर्जितः ॥५६॥

जैसे आकाश मिथ्या पंचभूतों में मिला हुआ दिखाई देने पर भी उससे संलग्न नहीं है, वैसे ही आत्मा भी सम्पूर्ण कार्यवर्ग अर्थात् उत्पन्न वस्तुओं में व्याप्त रहता हुआ भी सब से पृथक्

रहता है। ईश्वर अर्थात् इन्द्रादि रूप सम्पूर्ण विश्व में एक ही आत्मा पूर्णरूप से व्याप्त है। वही एक आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म तथा द्वैत-रहित अर्थात् अद्वैत है ॥५५-५६॥

यस्मात्प्रकाशको नास्ति स्वप्रकाशो भवेत्ततः ।
स्वप्रकाशो यतस्तस्मादात्मा ज्योतिः स्वरूपकः॥५७॥
अवच्छिन्नो यतो नास्ति देशकालस्वरूपतः ।
आत्मनः सर्वथा तस्मादात्मा पूर्णो भवेत्खलु ॥५८॥

इसलिए उस आत्मा का प्रकाशक कोई अन्य नहीं है, वरन् वह स्वयं ही प्रकाशमान रहता है और स्वयं प्रकाशमान होने के कारण ही वह ज्योति स्वरूप है। देश-काल के प्रमाण से वह अवच्छिन्न नहीं है (क्योंकि न तो उसमें देश-काल का कोई नियम है और न संकोच या विस्तार ही है) इसलिए आत्मा सदा सब प्रकार से परिपूर्ण है ॥५७-५८॥

यस्मान्न विद्यते नाशः पंचभूतैर्वृथात्मकैः ।
तस्मादात्मां भवेन्नित्यस्तन्नाशो न भवेत्खलु ॥५९॥
यस्मात्तदन्यो नास्तीह तस्मादेकोऽस्ति सर्वदा ।
यस्मात्तदन्योमिथ्या स्यादात्मा सप्यो भवेत्खलु ॥६०॥

इस प्रकार उन नाशवान पंचभूतों के नाश से इस (आत्मा) का नाश नहीं होता क्योंकि आत्मा तो सदा अविनाशी है, उस का नाश किसी प्रकार भी संभव नहीं है। जब अन्य कोई है ही नहीं, तो यह निश्चय है कि एक वही अद्वैत आत्मा है। जबअन्य सब कुछ मिथ्या ही है, तब वही शुद्ध आत्मा सत्य हो सकता है ॥५९-६०॥

अविद्या भूतसंसारे दुःखनाशे सुखं यतः ।
ज्ञानादाद्यन्तशून्यं स्यात्तस्मादात्मा भवेत्सुखम् ॥६१॥
यस्मान्नाशितमज्ञानं ज्ञानेन विश्वकारणम् ।
तस्मादात्मा भवेत् ज्ञान ज्ञान तस्मात्सनातनम्॥६२॥

अविद्या से उत्पन्न हुए इस संसार के दुःख नष्ट होने पर सुख का होना माना जाता है। परन्तु ज्ञान से दुःख का न तो आदि है और न अन्त ही है। इसलिए आत्मा अवश्य ही सुखरूप है। जिसके द्वारा अज्ञान का नाश होता है और तव यह समझ में आता है कि विश्व का कारण ज्ञान ही है। इसलिए आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान सनातन अर्थात् अनादि काल से चला आता है ॥६१-६२॥

कालतो विविधं विश्वं तदा चैव भवेदिदम् ।
तदेकोऽस्ति स एवात्मा कल्पनापथवर्जितः ॥६३॥
बाह्यानि सर्वभूतानि विनाशं याति कालतः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते आत्मा द्वैतविवर्जितः ॥६४॥

काल के द्वारा विविध रूप वाला विश्व उत्पन्न होता है,इस लिए वह एक आत्मा ही है। इस प्रकार आत्मा के लिए कल्पना का कोई मार्ग खुला नहीं है अर्थात् आत्मा कल्पित नहीं, वरन् सत्य है। जो आत्मा से बाहर अर्थात् भिन्न पदार्थ हैं, वे सब काल के प्राप्त होजाने पर नष्ट होजाते हैं। इसलिए आत्मा द्वैत-रहित अर्थात् अद्वैत है, उसको वाणी से नहीं बताया जा सकता ॥६३-६४॥

न खं वायुर्न चाग्निश्च न जलं पृथिवी न च ।
नैतत्कार्यं नेश्वरादि पूर्णैकात्मा भवेत्खलु ॥६५॥

आत्मानमात्मना योगी पश्यत्यात्मनि निश्चितम् ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी त्यक्तमिथ्याभवग्रहः ॥६६॥

वह आकाश नहीं है, इसलिए उसमें शब्द का अभाव हैं। वह वायु नहीं है, इसलिए स्पर्श से परे है। वह अग्नि नहीं है, इसलिए रूप-रहित है। वह जल नहीं है, इसलिये रसहीन है। वह पृथिवी नहीं है, अतः उसमें गन्ध भी नहीं है। वह कार्य नहीं है, क्योंकि कारण से रहित है और न वह ब्रह्मादि ईश्वर ही है। वह तो पूर्णकाम है अर्थात् उसे किसी प्रकार की कामना नहीं है। इस प्रकार आत्मा से आत्मा को आत्मा में ही देखने वाला योगी सभी संकल्पों को और मिथ्या भवजाल को त्याग कर संन्यास परायण रहता है ॥६५-६६॥

आत्मनात्मनि चात्मानं दृष्ट्वानन्तं सुखात्मकम् ।
विस्मृत्य विश्वं रमते समाधेस्तीव्रतस्तथा ॥६७
मायैव विश्वजननी नान्या तत्त्वधिया परा ।
यदि नाश समायाति विश्वं नास्ति तदा खलु ॥६८॥

वह योगी आत्मा से आत्मा को आत्मा में ही देखता हुआ सुखात्मक होकर संसार को भूल जाता है और आनन्दरूपिणी समाधि में तीव्रता से रम जाता है। माया ही विश्व की जननी है, क्योंकि उसी से विश्व उत्पन्न होता है, किसी अन्य के द्वारा नहीं होता। इसलिए आत्मज्ञान के द्वारा इस माया के नष्ट हो जाने पर निश्चय ही इस विश्व प्रपंच का नाश हो जाता है ॥६७-६८॥

हेयं सर्वमिदं यस्य मायाविलसितं यतः ।
ततो न प्रीतिविषयस्तनुवित्तसुखात्मकः ॥६९॥

अरिमित्रमुदासीनस्त्रिविधं स्यादिदं जगत् ।
व्यहारेषु नियतं दृश्यते नान्यया पुनः ।
प्रियाप्रियादिभेदस्तु वस्तुषु नियतस्फुटम् ॥७०॥

यह सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच माया का ही विलास है। इसलिए इस शरीर को सुखात्मक मान कर इससे प्रीति करना ठीक नहीं है। इस जगत् मे शत्रु, मित्र और उदासीन के रूप में तीन प्रकार का व्यवहार दिखाई देता है, इसके अतिरिक्त प्रकार का नहीं, और प्रिय, अप्रिय के भेद में ही यह सम्पूर्ण जगत् बंधा हुआ है ॥६९-७०॥

आत्मोपाधिवशादेवं भवेत् पुत्रादि नान्यथा ॥७१॥
मायाविलसितं विश्वं ज्ञात्वैवं श्रुतियुक्तितः ।
अध्यारोपापवादाभ्यां लयं कुर्वन्ति योगिनः ॥७२॥
कर्मजन्यं विश्वमिदं नत्वकर्मणि वेदना ।
निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः ।
तदा विजयतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ॥७३॥

पुत्र आदि कुटुम्बियों का सब नाता भी आत्मा की उपाधि से ही है और किसी प्रकार से नहीं है। यह विश्व माया से ही विलसित है, ऐसा श्रुति के प्रमाण से जान कर ही योगीजन अध्यारोप और अपवाद से आत्मा मैं लीन करते हैं। इस विश्व की उत्पत्ति-स्थिति कर्म से है अर्थात् दुःखादि कर्म से ही होते हैं, कर्म के न रहने पर कोई दुःख नहीं रहता। जब आत्मा माया की उपाधि को जीत लेता है तब माया-रहित होने पर अखण्ड ज्ञान रूप विशुद्ध ब्रह्म की प्रतीति होती है ॥७१-७३॥

स हि कामयते पुरुषः सृजते च प्रजाः स्वयम् ।
अविद्या भासते यस्मात्तस्मान्मिथ्या स्वभावतः ॥७४॥
शुद्धे ब्रह्मणि संबद्धो विद्यया सहजो भवेत् ।
ब्रह्मतेजोंशतो याति तत आभासते नमः ॥७५॥
तस्मात्प्रकाशते वायुर्वायोरग्निस्ततो जलम् ।
प्रकाशते ततः पृथ्वीकल्पनेयं स्थिता सति ॥७६॥
आकाशाद्वायुराकाशः पवनादग्निसम्भवः ।
खवाताग्नेर्जलं व्योमवाताग्नेर्वारितो मही ॥७७॥

आत्मा स्वेच्छापूर्वक स्वयं ही प्रजाओं का सृजन सरता है और यह इच्छा अविद्या से उत्पन्न होती है जो कि स्वभाव से ही मिथ्या है। (इसलिए मिथ्या माया से उत्पन्न हुई सृष्टि भी मिथ्या ही है) शुद्ध ब्रह्म में विद्या का सम्ब ध स्वाभाविक है और उस ब्रह्म के ही तेजरूप अंश से आकाश का प्राकट्य हुआ है। उस आकाश से वायु और वायु से अग्नि प्रकट हुआ। अग्नि से जल और जल से पृथिवी प्रकट हुई। इस प्रकार की कल्पना की गई। इस भाँति आकाश से वायु और आकाश-वायु के योग से अग्नि उत्पन्न हुआ। आकाश, वायु और अग्नि के योग से जल की उत्पत्ति हुई तथा आकाश वायु, अग्नि और जल के संयोग से पृथिवी उत्पन्न हुई ॥७४-७७॥

खं शब्दलक्षणं वाश्चञ्चलः स्पर्शलक्षणः ।
स्याद्रूपलक्षणं तेजः ससिलं रसलक्षणम् ॥७८॥
गंधलक्षणिका पृथ्वी नान्यथा भवति ध्रुवम् ।
विषेशगुणा स्फुरति यतः शास्त्रादिनिर्णयः ॥७९॥

शब्दैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।

तथैव त्रिगुणं तेजो भवन्त्यापश्चतुर्गुणाः ॥८०॥

शब्दः स्पर्शश्च रूप च रसो गन्धस्तथैव च ।

एतत्पंचगुणा पृथ्वी कल्पकैः कल्प्यतेऽधुना ॥८१॥

आकाश का गुण शब्द है । वायु के दो गुण है–चंचलता और स्पर्श । तेज अर्थात् अग्नि का गुण रूप और जल का रस होता है । पृथिवी का लक्षण अर्थात् गुण गन्ध है । निश्चय-पूर्वक ऐसा ही है, इसमें कुछ अन्यथा नहीं समझना चाहिए । इन पंचतत्वों का यह गुण-वैशिष्ट्य शास्त्रादि के निर्णय द्वारा ही मान्य हुआ है । इस प्रकार आकाश में एक शब्द गुण, वायु में दो गुण, अग्नि में तीन, और जल में चार होते हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँचों गुणों की विद्यमानता पृथिवी में कलिपत की गई है ॥७८-८१॥

चक्षुषा गृह्यते रूपं गन्धो घ्राणेन गृह्यते ॥८२॥

रसो रसनया स्पर्शस्त्वचा संगृह्यते परम् ।

श्रोत्रेण गृह्यते शब्दो नियतं भाति नान्यथा ॥८३॥

नेत्रों के द्वारा रूप का ग्रहण होता है और नासिका के द्वारा गन्ध का, जिह्वा के द्वारा रस ग्रहण किया जाता है, त्वचा के स्पर्श का और कानों से शब्द का ग्रहण होता है । यह निश्चित नियम है, जो कि किसी भी प्रकार टाला नहीं जासकता।८२-८३।

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ।

अस्ति केत्कल्पनेयंस्यान्नास्तिचेदचिन्मयमू ॥८४॥

पृथ्वी शीर्णा जले मग्ना जलं मग्नं च तेजति ।

लीनं वायौ तथा तेजो व्योम्नि वातो लयं ययौ ।

अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे ॥८५॥

यह सम्पूर्ण चराचर संसार एक ही चैतन्य से उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार कल्पना से ही संसार सत्य प्रतीत होता है। परन्तु संसार का अभाव होने पर उस एक विशुद्ध चैतन्य आत्मा के अतिरिक्त कुछ और शेष नहीं रहता। पृथिवी जल में लीन हो जाती है और जल अग्नि में लीन होजाता है। वैसे ही अग्नि का वायु में और वायु का आकाश में लीन होना निश्चित हैं। तत्पश्चात् आकाश अविद्या में लीन हो जाता है और अविद्या स्वरूपिणी माया परमपद में जाकर लयभाव को प्राप्त होजाती है। अर्थात् प्रत्येक भूत अपने-अपने कारण में लीन होजाता है और तब एक मात्र ब्रह्मरूप परमपद ही शेष रहता है। ८४-८५॥

विक्षेपावरणाशक्तिर्दुरन्ता दुःखरूपिणी ।
जडरूपा महामाया रजःसत्त्वतमोगुणा ॥८६॥

सा मायावरणाशक्त्य वृता विज्ञानरूपिणी ।
दर्शयेज्जगदाकारं तं विक्षेपस्वभावतः ॥८७॥

परमात्मा की यह दो शक्तियाँ विक्षेप और आवरण स्वरूप हैं। यह अत्यन्त दुःख देने वाली हैं, जिनका कि अन्त ही नहीं होपाता यह महामाया त्रिगुणात्मिका अर्थात् रजसत्व और तमोगुणसे युक्त है। यह इन गुणों को इच्छित रूप से धारण करती रहती है। यही मायामयी आवरण शक्ति जब ज्ञान का आवरण ओढ़ लेती है तब स्वयं ही विज्ञानरूपिणी (अज्ञानमयी) बन जाती है। फिर यही विक्षेप स्वभाव वाली शक्ति जगत् के आकार को प्रदर्शित करती है ॥८६-८७॥

तमोगुणात्मिका विद्या या सा दुर्गा भवेत्स्वयम् ।
ईश्वरं तदुपहितं चैतन्यं तदभूद्ध्रुवम् ॥८८॥
सत्त्वाधिका च या विद्या लक्ष्मीः स्याद्दिव्यरूपिणी ।
चैतन्यं तदुपहितं विष्णुर्भवति नान्यथा ॥८९॥
रजोगुणाधिका विद्या ज्ञेया सा वै सरस्वती ।
कश्चित्स्वरूपो भवति ब्रह्मा तदुपधारकः ॥९०॥

यही महाविद्या जब तमोगुण से युक्त होती है तब दुर्गा-स्वरूप धारणा कर लेती है और फिर यही चैतन्य स्वरूप ईश्वर को आविर्भूत करती है, यह निःसदेह सत्य है। जब यह सत्वगुण को अधिकता से धारण कर लेती है, तब दिव्य स्वरूप धारण करके विष्णुरूप चैतन्य को उत्पन्न करती हैं, यह भी निर्णीत तथ्य है और जब यह विद्या रजोगुण के बाहुल्य से युक्त होती है, तब सरस्वती स्वरूपिणी होकर ब्राह्मरूप चैतन्य को उत्पन्न करती है। तात्पर्य यह है कि तमोगुण की अधिकता से यही शक्ति दुर्गारूपिणी होकर संहारकर्त्ता शिव को प्रकट करती है, सत्वगुण की अधिकता से विश्व-पालक विष्णु को प्रकट करती है तथा रजोगुण की अधिकता से सरस्वती रूप होकर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा को उत्पन्न करती है। इस प्रकार यह शक्ति ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में कारण है ॥८९-९०॥

ईशाद्याः सकला देवा दृश्यन्ते परमात्मनि ।
शरीरादिजडं सर्वं सा विद्या तत्तथा तथा ॥९१॥
एवंरूपेण कल्पन्ते कल्पका विश्वसम्भवम् ।
तत्त्वात्तत्त्वं भवन्तीह कल्पनान्येनु नोदिता ॥९२॥

ईश्वर आदि जितने भी देवता हैं, वे सब एक ही परमात्मा

में देखे जा सकते हैं। परन्तु शरीर आदि सभी जड पदार्थ उसी एक विद्या में निहित होने के कारण आत्मा से भिन्न प्रतीत होते हैं। इसीलिए विज्ञजनों ने सृष्टि की इस प्रकार से कल्पना की है। क्योंकि तत्वात्मक और अतत्वात्मक दोनों प्रकार का विश्व एक मात्र आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है। अत: आत्मा से भिन्न जो कुछ भी है, वह सब कल्पना मात्र ही है, उसे किसी ने भी सत्य नहीं माना है ॥९ -९२॥

प्रमेयत्वादिरूपेण सर्वं वस्तु प्रकाश्यते ।
तथैव वस्तु नास्त्येव भासको वर्तकः परः ॥९३॥
स्वरूपत्वेन रूपेण स्वरूपं वस्तु भाष्यते ।
विशेषशब्दोपादाने भेदो भवति नान्यथा ॥९४॥

प्रमेयत्वादि रूप अर्थात् संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है, उस सब को प्रकाशित करने वाला एक आत्मा ही है। यह जो भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं वह सब उपादि का ही भेद है, यथार्थ में तो उसमें कुछ भेद नहीं है। केवल विशेष शब्दों के प्रयोग से उसमें केवल संज्ञात्मक भेद ही प्रतीत होता है ॥९३-९४॥

एकः सत्तापूरितानन्दरूपः
पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किञ्चित् ।
एतज्ज्ञानं यः करोत्येव नित्यं
मुक्तः स स्यान्मृत्युसंसारदुःखात् ॥९५॥

एक सत्ता से परिपूर्ण हुआ वह आत्मा ही सर्वत्र आनन्दरूप से विद्यमान रहता है, उससे भिन्न कहीं कोई नहीं है। जिसने ऐसा ज्ञान प्राप्त करके उसी में चित्त रमालिया है, वही पुरुष

जन्म-मरण रूपी सांसारिक दुःखों से मुक्त हो गया समझो अर्थात् उस ज्ञानी के लिए कोई भी दुःख पीडित नहीं करता ॥९५॥

यस्यारोपापवादभ्यां यत्र सर्वे लयं गताः ।
स एको वर्तते नान्यन् तच्चित्तेनावधार्यते ॥९६॥

ज्ञान के द्वारा जहाँ आरोप-अपवाद में सभी उत्पन्न कार्यों का लीन होजाना निश्चित है, वहाँ उस सतत विद्यमान एक ही आत्मा में मन को लीन कर लेना चाहिए। अभिप्राय यह है कि आत्मा में सभी उत्पन्न पदार्थों का लय होजाता है, इसलिए मन को भी उसी में लगाकर आत्मा का ही चिन्तन करे। ९६॥

पितुरन्नमयात्कोषाज्जायते पूर्वकर्मणः ।
शरीरं वै जडं दुखं स्वप्राग्भोगाय सुन्दरम् ॥९७॥
मांमास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम् ।
केवलं दुःखभोगाय नाडीसंततिगुम्फितम् ॥९८॥

अपने पूर्व कर्मों के अनुसार ही जीव उत्पन्न कर्त्ता पिता के अन्नमय कोष से उत्पन्न होकर सुन्दर जड़ शरीर रूप दुःख-भोग स्वरूप से प्रकट होता है। मांस, अस्थि, स्नायु और मज्जा आदि नाड़ियों के बन्धन से बँधा हुआ शरीर भोग-मन्दिर रूप होकर दुःख का कारण होता है। अभिप्राय यह है कि यह शरीर ही दुःख स्वरूप है, इसलिए इसमें आत्मभाव रखना व्यर्थ ही है ॥९७-९८॥

पारमैष्ठ्यमिदं गात्रं पञ्चभूतविनिर्मितम् ॥
ब्रह्माण्डसंज्ञकं दुःखसुखभोगाय कल्पितम् ॥९९॥
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मिलनात् स्वयम् ।
स्वप्नभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जडरूपया ॥१००॥

यह शरीर परमेष्ठी अर्थात् ब्रह्मा के द्वारा पंचभूतों से बनाया गया है तथा ब्रह्माण्ड संज्ञक होकर सुख-दुःख भोगने के लिए ही इसकी कल्पना की गई है। शिवरूप बिन्दु और शक्ति रूप रज के सयोग से हो यह शक्तिस्वरूपा जड़ माया अपने ऐश्वर्य से ही स्वप्न के समान शरीरों को उत्पन्न करती है ॥९९-१००॥

तत्पंचीकरणात्स्थूलान्यसंख्यानि चराचरम् ॥१०१॥

ब्रह्माण्डस्थानि वस्तूनि यत्र जीवोऽस्ति कर्मभिः ॥

तद्भूतपंचकात्सर्वं भोगाय जीवसंज्ञिता ॥१०२॥

पंचभूतों के पंजीकरण से ही इस संसार में स्थूल रूप चराचर सृष्टि की अनेक प्रकार की उत्पत्ति है। यह जीव अपने कर्मों के अनुसार भोगों के भोगने के लिए ही ही जीव रूप में पंच-भूतों से उत्पन्न होता ॥१०१-१०२॥

पूर्वकर्मानुरोधेन करोमि घटनामहम् ।

अजडः सर्वभूतान्वै जडस्थित्या भुवक्ति तान् ॥१०३॥

जडात्स्वकर्मभिर्बद्धो जीवाख्यो विविधो भवेत् ।

भोगायोत्पद्यते कर्म ब्रह्माण्डाख्ये पुनः पुनः ।

जोवश्च लीयते भोगावसाने च स्वकर्मणः ॥१०४॥

शिवजी कहते हैं कि मैं जीव को उसके कर्म के अनुसार ही उत्पन्न करता हूँ तथा मैं सभी भूतों से भिन्न, अजड हूँ, फिर भी जड स्वरूप होकर मैं सब का भक्षण कर लेता हूं। अपने कर्म-बन्धन में बँध कर जीव को विविध प्रकार का होकर जड़ शरीर धारण करना होता है क्योंकि वह अपने कर्मों को भागने के लिए ही संसार में बार-बार आता है और जब भोगों का क्षय होजाता है तब उसी आत्मा में लीन होजाता है ॥१०३-१०४॥

॥ शिव संहिता का प्रथम पटल समाप्त ॥

द्वितीय पटल

तत्वज्ञान प्रकरण

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः ॥१॥
ऋषियो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठ देवताः ॥२॥

इस शरीर में सप्त द्वीपों के सहित सुमेरु पर्वत विद्यमान है। सरिता, सागर पर्वत, शेत्र, क्षेत्रपाल ऋषि-मुनि और सभी नक्षत्र, ग्रह, पुण्य तीर्थक्षत्र एवं पीठ और पीठदेवता सभी की इस शरीर में विद्यमानता है। अभिप्राय यह है कि इस शरीर में ही सब पुण्य स्थान, तपोवन और देवालय आदि स्थित हैं, इसलिए साधक को अपने शरीर में स्थित उन स्थानों को जान कर वहीं पुण्य संचय करना चाहिए। उसे कहीं अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं है ॥१-२॥

सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभोवायुश्च वह्निश्च जल पृथ्वो तथैव च ॥३॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ।
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥४॥

सृष्टि और संहार के करने वाले चन्द्र-सूर्य इस देह में ही भ्रमण करते रहते हैं और आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा

पृथिवी, यह पाँचों तत्व भी देह में सदा ही विद्यमान रहते हैं। तीनों लोकों में जितने भी भूत हैं, वे सभी शरीरस्थ सुमेरु के आश्रय में रहते हुए अपने-अपने व्यवहार में प्रवृत्त रहते हैं। इस सब भले प्रकार से वाला निःसंदेह योगी है ॥३-४।

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः।
मेरुश्रृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥५॥

यह शरीर ब्रह्माण्ड संज्ञक है अर्थात् ब्रह्माण्ड में और इसमें कोई भेद नहीं अथवा जो कुछ इस शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में है। जैसे शरीर में सभी देश और सुमेरु आदि पर्वत स्थित हैं, वैसे ही इस शरीर में सुमेरु पर्वत विद्यमान है और उसके श्रृङ्ग के ऊपर अपनी आठ कलाओं के सहित चन्द्रमा अवस्थित है।५।

वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधां वर्षत्यधोमुखः।
ततोऽमृतं द्विधाभूतं याति सूक्ष्मं यथा च वै ॥६॥
इडामार्गेण पुष्ट्यर्थे याति मन्दाकिनीजलम्।
पुष्णाति सकलं देहमिडामार्गेण निश्चितम् ॥७॥
एष पीयूषरश्मिर्हि वामपार्श्वे व्यवस्थितः ॥८॥

वह चन्द्रमा अधोमुख रह कर दिन-रात अमृत की वर्षा करता रहता है। उस अमृत के दो भेद होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। शरीर की पुष्टि के लिए इडा नाड़ी के मार्ग से जो पवित्र जल रूपी मन्दाकिनी प्रवाहित है वह अवश्य ही शरीर की रक्षा और पोषण करती है। वह अमृत रश्मियों से युक्त इडा नाडी (नासिका के) वाम भाग के स्थित रहती है ॥६-८॥

अपरः शुद्धदुग्धाभो हठात्कर्षति मण्डलात्।
रन्ध्रमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरौ संयाति चन्द्रमाः ॥९॥

मेरुमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादशसंयुतः ।
दक्षिणे पथि रश्मिभिर्वहत्यूर्ध्वं प्रजापतिः ॥१०॥

वह शुद्ध दुग्ध के समान आभा वाला चन्द्रमा हर्षपूर्वक अपने मण्डल से मेरु पर आकर इडा के रन्ध्र-मार्ग के द्वारा शरीर को पुष्ट करता रहता है। मेरु (मेरुदण्ड) के मूल में अर्थात् नीचे की ओर अपनी बारह कलाओं से युक्त हुआ सूर्य स्थित रहता है। दक्षिण पथ अर्थात् पिंगला नाड़ी के मार्ग से प्रजापति ऊर्ध्वगति वाला होता है ॥९-१०॥

पीयूषरश्मिनिर्यासं धातूंश्च ग्रसति ध्रुवम् ।
समीरमण्डले सूर्यो भ्रमते सर्वविग्रहे ॥११॥
एषा सूर्यपरा मूर्तिर्निर्वाणं दक्षिणे पथि ।
वहते लग्नयोगेन सृष्टिसंहारकारकः ॥१२॥

चन्द्रमा से स्रवते हुए उस अमृत को सूर्य अपनी रश्मियों के सामर्थ्य से अवश्य ही ग्रास कर लेता है और वायु मण्डल से मिलकर सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता रहता है। यह सूर्य परक निर्वाणमूर्ति दक्षिण पथ की ओर है अर्थात् पिंगला नाड़ी नासिका के दक्षिण भाग में स्थित है। सृष्टि-संहारक सूर्य लग्न योग से नाड़ी के द्वारा प्रवाहित रहता है ॥११-१२॥

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम् ।
प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश ॥१३॥
सुषुम्णेडा पिंगला च गान्धारी हस्तिजिह्वका ।
कुहू सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी ॥१४॥
वारुणालम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ।
एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिंगलेडा सुषुम्णिका ॥१५॥

मानव शरीर में साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ प्रधान हैं, उनमें चौदह नाड़ियां प्रमुख मानी गई हैं। वे यह हैं सुषुम्ना, इडा पिंगला, गान्धारी, हस्तिजिह्वका, कुहू, सरस्वती, पूषा, शंखिनी, पयस्विनी, वारुणा, अलम्बुषा, विश्वोदरी और यशस्विनी। इन चौदह नाड़ियों में भी पिंगला, इड़ा और सुषुम्ना यह तीन नाड़ियाँ प्रमुख हैं ॥१३-१८॥

तिसृष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सा योगिवल्लभा।
अन्यास्तदाश्रयं कृत्वा नाड्यःसन्ति हि देहिनाम्॥ १६॥

नाड्यस्तु ता अधोवदनाःपद्मतन्तुनिभाःस्थिताः।
पृष्ठवशं समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी ॥१७॥

तासां मध्ये गता नाडी चित्रा सा मम वल्लभा।
ब्रह्मरन्ध्रं त तत्रैव सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं शुभम् ॥१८॥

पिंगला,इडा,और सुषुम्ना इन तीन नाड़ियों में से एक सुषुम्ना ही सर्व प्रमुख है, क्योंकि यह योगियों के लिए अत्यन्त प्रिय है। क्योंकि यह उनके लिये परमपद रूप आश्रय के देने वाली है। अन्य जितनी भी नाड़ियां वे सब भी देह में ही स्थित रहती हैं। यह तीनों नाड़ियाँ कमल-तन्तु के समान अधोमुख करके स्थित रहती हैं। यह तीनों चन्द्र, सूर्य और अग्नि रूपिणी हैं तथा शरीर के पृष्टवश अर्थात् मेरुदण्ड के आश्रय में अवस्थित हैं। उन नाड़ियों के बीच स्थित चित्रा नाड़ी मुझे अत्यन्त प्रिय है। वहीं पर सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर श्रेष्ठ ब्रह्मरन्ध्र विद्यमान है ॥१६-१८॥

पञ्चवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्णा मध्यरूपिणी।
देहस्थोपाधिरूपा सा सुषुम्णा मध्यरूपिणी ॥१६॥

दिव्यमार्गमिदं प्रोक्तममृतानन्दकारकम् ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो दुरितौघं विनाशयेत् ॥२०

वह चित्रा नाड़ी पंचवर्णा है, उज्वल और शुद्ध भी है। सुषुम्ना के मध्य में स्थित वही चित्रा नाड़ी शरीर की उपाधि की कारणभूता भी है। यही वह दिव्य मार्ग है, जिसे मैंने अमृत और आनन्द का उत्पन्न करने वाला बताया है। उसके ध्यान करने मात्र से योगीन्द्रों के पापों का विनाश होजाता है।१९-२०।

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः ।
चतुरङ्गुलविस्तारमाधारं वर्त्तते समम् ॥२१
तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना ।
त्रिकोणा वर्त्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥२२

गुदा स्थान से दो अंगुल ऊपर और मेढ़ से दो अंगुल नीचे, चार अंगुल विस्तार का एक आधार कमल समरूप से विद्यमान है (इसे मूलाधार चक्र कहते हैं)। उस आधार कमल की कर्णिका में त्रिकोणाकार योनि सुशोभित है, जो कि सर्व प्रयत्नों द्वारा गोपनीय है अर्थात् इसे किसी अनधिकारी के प्रति नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अधिकारो पुरुष से गोपन रखना व्यर्थ है।२१-२२।

तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ।
सार्द्धत्रिकारा कुटिला सुषुम्णामार्गसंस्थिता ॥२३
जगत्संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सततोद्यता ।
वाचामवाच्या वाग्देवी सदा देवैनमस्कृता ॥२४

वहीं परमदेवता स्वरूपा कुण्डलिनी साढ़े तीन लपेटे लगाये हुए सुषुम्ना के मार्ग में स्थित रहती है। वह कुटीला अर्थात् टेढी

और विद्य् त्-रेखा के आकार की होती है। वह कुण्डलिनी जगत् की संसृष्टि स्वरूपा और सदा निर्माण में उद्यत रहने वाली है। वही वाग्देवी वाच्य-अवाच्य रूप तथा देवताओं के द्वारा भी नमस्कार की हुई है ॥ ·३-२४॥

इडानाम्नी तु या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गता ॥२५
पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता।
सुषुम्णा सा समाश्लिष्य वामनासापुटेगता ॥।२६

नासिका के वाम भाग में इडा नाम की जो नाड़ी स्थित है, वह सुषुम्ना के साथ मिलकर दाँये नासापुट में गई है। पिंगला नाम की जो नाड़ी दक्षिण नासापुट में रहती है, वह सुषुम्ना के सहारे-सहारे बाँये नासापुट में गई है ॥२५-२६॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत् खलु।
षट्स्थानेषु च षट्शक्ति षट् पद्म योगिनो विदुः। २७
पञ्चमस्थानं सुषुम्णाया नामानि स्युर्बहूनि च।
प्रयोजनवशात्तानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रतः ॥२८

इडा और पिंगला नाड़ियों के मध्य में ही सुषुम्ना नाड़ी की स्थिति है। इस सुषुम्ना नाड़ी के छः स्थानों में (डाकिनी हाकिनी, लाकिनी और शाकिनी नाम की यह) छः शक्तियाँ रहती हैं वहीं छः कमल भी विद्यमान हैं अर्थात् मूलाकार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। इन छः कमलों को छः चक्र भी कहते हैं। योग के जानने वाले विद्वान इनको जानते हैं।सषुम्ना के पाँच स्थान हैं, जिनके अनेक स्थान हैं, जो कि प्रयोजन होने पर शास्त्रों के द्वारा जाने जा सकते हैं ॥२७-२८॥

अन्यायाऽस्त्यपरा नाडी मूलाधारात्समुत्थिताः ।
रसनामेढ्रनयनं पादाङ्गुष्ठे च श्रोत्रकम् ॥२९
कुक्षिकक्षाङ्गुष्ठवर्णं सर्वाङ्गं पायुकुक्षिकम् ।
लब्धान्ता वै निवर्तन्ते यथादेशसमुद्भवाः ॥३०

अन्यान्य नाड़ियाँ मूलाकार से निकल कर जीभ, मेढ्र, नेत्र, पाँवों के अँगूठे, कान, कुक्षि, कक्ष, हाथों के अँगूठे, गुद, उपस्थ आदि अङ्गों में जाकर पूर्ण हुई हैं अर्थात् अपने-अपने उक्त स्थानों तक गई हैं ॥२९-३०॥

एताभ्य एव नाडीभ्यः शाखोपशाखतः क्रमात् ।
सार्धं लक्षत्रयं जातं यथाभागं व्यवस्थितम् ॥३१
एता भोगवहा नाड्यो वायुसञ्चारदक्षकाः ।
ओतप्रोताभिसंव्याप्य तिष्ठन्त्यस्मिन् कलेवरे ॥३२

इन्हीं नाड़ियों से इनकी शाखा-उपशाखाएँ निकल कर क्रमशः साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ अपने-अपने स्थान में जाकर स्थित होगई है। यह सभी नाड़ियाँ भोगवहा अर्थात् भुक्त पदार्थों को इस रूप में प्रवाहित करने वाली है। यह वायु के संचार में अत्यन्त दक्ष एवं संयोग-वियोग से ओतप्रोत होती हुई मनुष्य के कलेवर (देह। में विद्यमान हैं ॥३१-३२॥

सूर्यमंडलमध्यस्थः कला द्वादशसंयुतः ।
बस्तिदेशे ज्वलद्वह्निर्वर्तते चान्नपाचकः ॥३३
वैश्वानराग्निरेषो वै मम तेजोंशसम्भवः ।
करोति विविधं पाकं प्राणिनां देहयास्थितः ॥३४

बारह कलाओं से युक्त सूर्यमण्डल के मध्य में जो अग्नि प्रज्वलित रहती है उसके द्वारा अन्न का पाचन होता है। वह

वैश्वानर अग्नि मेरे ही तेज से प्रकट हुई है। यह प्राणियों के देहों में विद्यमान रह कर विविध प्रकार के परिपाक में तत्पर रहती है ।३३-३४।

आयुः प्रदायको वह्निर्बलं पुष्टिं ददाति सः ।
शरीर पाटवं चापि ध्वस्तरोगसमुद्भवः ।।३५
तस्माद्वैश्वानराग्निं च प्रज्वाल्य विधिवत्सुधीः ।
तस्मिन्नन्नं हुनेद् योगी प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।।३६

वही वैश्वानर अग्नि आयु, बल और पुष्टि के देने वाली है, उसी से शरीर कान्तिमय होता है और जितने भी रोग हैं, उन सब का नाश हो जाता है। इस वैश्वानर अग्नि को विधि पूर्वक प्रज्वलित करना और फिर उसमें अन्न की आहुति देनी चाहिए। अर्थात् इस वैश्वानर अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए किसी सद्गुरु से शिक्षा लेनी चाहिए और जब इसका ठीक प्रकार से प्रज्वलित करना आजाय तब उसके अनुकूल जो अन्न हो, उसका भोजन करे ।३५-३६।

ब्रह्माण्डसंज्ञकेदेहे स्थानानि स्युर्बहूनि च ।
मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके ।३७
नानाप्रकार नामानि स्थानानि विविधानि च ।
वर्तन्ते विग्रहे तानि कथितुं नैव शक्यते ।।३८

यह देह ब्रह्माण्ड संज्ञक है। इसमें अनेकों स्थान भरे पड़े हैं। मैंने यहां प्रधान-प्रधान स्थान बताये हैं, जिन्हें शास्त्री के अध्ययन से जान सकते हैं। उन स्थानों के अनेक नाम हैं, जो इस देह में विद्यमान हैं, हम उन्हें बताने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् यह जो बताया गया, उतना कहना ही बहुत है, उससे अधिक कहना व्यर्थ ही है ।३७-३८।

इत्थं प्रकल्पिते देहे जीवो वसति सर्वगः ।
अनादिवासनामालाऽलंकृतः कर्मशृङ्खलः ॥३९
नानाविधगुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः ।
पूर्वार्जितानिकर्माणि भुनक्ति विविधानि च ॥४०

इस प्रकार कल्पित हुए इस शरीर में बसा हुआ जीव अनादि काल से चली आ रहा वासना रूपी माला में घूमता हुआ कर्म की शृंखलाओं में बँधा रहता है। वह अनेक प्रकार के गुणों को ग्रहण करता हुआ संसार के सभी व्यापारों को किया करता है तथा पहले के उपार्जित शुभ-अशुभ विविध कर्मों के फलों को भोगता है।३९-४०।

यद्यत्संदृश्यते लोके सर्वं तत्कर्मसम्भवम् ।
सर्वः कर्मानुसारेण जन्तुर्भोगान् भुनक्ति वै ॥४१
ये ये कामादयो दोषाः सुखदुःखप्रदायकाः ।
ते ते सर्वे प्रवर्तन्ते जीवकर्मानुसारतः ॥४२

संसार में जितने भी शुभ-अशुभ कर्म दिखाई देते हैं, उन सभी का कारण एक मात्र कर्म ही है। सभी प्राणी कर्मों के अनुसार भोगों को भोगते रहते हैं। अर्थात् प्राणी जो-जो कर्म करते हैं, उन-उन का फल उसे अवश्य भोगना होता है। जो-जो सुख-दु,ख के देने वाले कामादि दोष हैं, वे-वे सभी जीव के कर्मानुसार ही प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के लिए सुख-दुःख की प्रवृत्ति कर्म से ही है। शुभ कर्म से सुख और अशुभ कर्म से दुःख की प्राप्ति होती है।४१-४२।

पुण्योपरक्त चैतन्ये प्राणान् प्रीणाति केवलम् ।
बाह्ये पुण्यतमं प्राप्य भोज्यवस्तु स्वयं भवेत् ॥४३

ततः कर्म बलात्पुंसः सुखं वा दुखःमेव च ।
पापोपरक्तचैतन्यं नैव तिष्ठति निश्चितम् ।।४४

पुण्य कर्मों के करने से शरीरधारी को सुख की प्राप्ति होती है और पुण्य के फलस्वरूप श्रेष्ठ भोज्य सामग्री अथवा अन्यान्य बाह्य वस्तुएँ उसे स्वतः ही उपलब्ध होजाती हैं। इस प्रकार यह जीव अपने ही कर्म के बल से सुख अथवा दुःख को भोगने के लिए विवश है। वह जब पाप कर्म में आसक्त होता है तब उसे दुःख ही मिलता है, सुख कदापि नहीं मिल सकता, यह निश्चित है। तात्पर्य यह है कि पापकर्म करने वाले को दुःख अवश्य मिलता है। यदि सुख मिलता भी है तो क्षणिक और वह भी पूर्वसंचित पुण्य के फलस्वरूप ही ।।४३-४४।।

न तद्भिन्नो भवेत् सोऽपि तद्भिन्तो न तु किञ्चन ।
मायोपहितचैतन्यान्सर्वं वस्तु प्रजायते ।।४५

यथाकालेऽपि भोगाय जन्तूनां विविधोद्भवः ।
यथा दोषवशाच्छुक्तौ रजतारोपणं भवेत् ।
तथा स्वकर्मदोषाद्वै ब्रह्माण्यारोप्यते जगत् ।।४६

जीव को अपने ही कर्म के फल को भोगना होता है, क्योंकि कर्म का फल ही दुःख या सुख है। इसलिए जो कर्त्ता है वही भोक्ता है, इसमें कोई संदेह नहीं अर्थात् कर्त्ता से भोक्ता भिन्न नहीं हो सकता। चैतन्य आत्मा से माया से उपहित होने पर ही यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। जिस जीव के भोग के लिए जो काल निश्चित होता है, उसे उसी काल में अपने कर्म-फल का भोग प्राप्त करने के लिए जन्म लेना होता है। जिस प्रकार नेत्र के दोष से शुक्ति में रजत का आरोप होता है, उसी

प्रकार जीव भी अपने ही कर्म.दोष के प्रभाव से ब्रह्म में इस मिथ्या संसार प्रपंच का आरोप कर लेता है ।।४५-४६।।

स वासनाभ्रमोत्पन्नोन्मूलनातिसमर्थनम् ।
उत्पन्नं चेदीदृशं स्याज्ज्ञानं मोक्षप्रसाधनम् ।।४७

साक्षाद्वैशेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणि विभ्रमे ।
करणं नान्यथायुक्तया सत्यं सत्यं मयोदितम् ।।४८

जीव को वासना के कारण ही भ्रम उत्पन्न होजाता है और जब तक वासना निर्मू ल नहीं होती, तब तक भ्रम भी नष्ट नहीं होता । इसी प्रकार जब ज्ञान उत्पन्न होता है, तब कुछ भी शेष नहीं रहता । इस कारण ज्ञान को ही मोक्ष का साधन समझना चाहिए । जो कुछ भी विशेष दृष्टि से साक्षात् दिखाई देता है, वही प्रत्यक्ष भ्रम का कारण होता है । अर्थात् विशेष रूप से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले दृश्यजाल में ही जीव फँस जाता है, वही उसके बन्धन का कारण है । माया का पर्दा पड़ा होने के कारण बुद्धि उस दृश्य प्रपंच से ऊपर नहीं उठती, इसलिए यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता । मेरा यह कथन अवश्य ही सत्य है ।।४७-४८।।

साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात् साक्षात्कारिणिं नाशयेत् ।
स हि नास्तीति संसारे भ्रमो नैव निवर्तते ।।४९

मिथ्वाज्ञाननिवृत्तिस्तु विशेषदर्शनाद्भवेत् ।
अन्यथा न निवृत्तिः स्याद्दृश्यते रजतभ्रमः ।।५०

यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरञ्जने ।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च ।।५१

यह साक्षात् दृश्यमान पदार्थ का भ्रम तब तक नष्ट नहीं होता, जब तक कि ब्रह्म का प्रत्यक्ष नहीं हो जाता और ब्रह्म का प्रत्यक्ष तभी संभव है जबकि आत्मा का प्रत्यक्ष होजाय। परन्तु संसार के भ्रम की निवृत्ति होना बहुत ही कठिन है। आत्मा का विशेष दर्शन होने पर ही संसार का मिथ्या ज्ञान नहीं मिट पाता। आत्म-साक्षात्कार के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से उस अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती, जिस प्रकार की शुक्ति में रजत का भ्रम शुक्ति के प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं मिट सकता। क्योंकि जब तक आत्मा के साक्षात्कार का ज्ञान नहीं होता, तब तक जीव को सभी भूत त्रिविध प्रकार के दिखाई देते हैं।४९-५१

यदा कर्मार्जितं देहं निर्वाणे साधनं भवेत्।
तदा शरीरवहनं सफलं स्यान्न चान्यथा॥५२

जब तक कर्म से अर्जित यह शरीर विद्यमान है तब तक इसके निर्वाण (मोक्ष) का साधन कर लेना चाहिए। अर्थात् इस शरीर के रहते हुए ही आत्मज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न कर लेना चाहिए, क्योंकि शरीर के छूटने पर तो कोई साधन हो नहीं सकता, वरन् कर्मानुसार पुनर्देह धारण करना ही होगा। इस-लिए आत्मज्ञान में तत्पर होना ही श्रेयस्कर है। अन्यथा मनुष्य शरीर में जन्म लेकर शरीर का व्यर्थ भार ढोने से लाभ ही क्या हुआ ? अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञान की प्राप्ति में प्रयत्न न करके विषय-भोगों में पड़ा रहना पृथिवी के लिए भार स्वरूप ही है।५२।

यादृशी वासना मूला वर्त्तते जीवसङ्गिनी।
तादृशं वहते जन्तुः कृत्याकृत्यविधौ भ्रमम्॥५३

संसार सागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगसाधनः ।
कृत्वा वर्णाश्रमं कर्म फलवर्ज तदाचरेत् ॥५४

जीव के साथ जैसी वासना रहती है, वैसे ही शुभ या अशुभ कर्मों को जीव भ्रम के वशीभूत होकर करता है। क्योंकि उसके उत्पन्न होने या मरने में उसकी वही वासना कारण होती है। इसलिए जो पुरुष संसार सागर से पार जाने की इच्छा रखता हो, उसे फल-रहित रूप से वर्णाश्रम में विहित कर्मों को करना चाहिए। अर्थात् मुमुक्षु साधकों को निष्काम कर्म करना ही श्रेयस्कर होता है।५३-५४।

विषयासक्तपुरुषा विषयेषु सुखेप्सवः ।
वाचाभिरुद्धनिर्वाणा वर्तन्ते पापकर्मणि ॥५५

विषयों में आसक्त रहने वाले पुरुष सदा ही विषय-सुख में डूबे रहते हैं और उनकी वाणी मोक्ष विषयक वार्तालाप में अवरुद्ध रहती हुई पाप कर्म में ही लगी रहती है। तात्पर्य यह है कि विषयासक्त पुरुषों की वाणी भी मोक्ष-चर्चा में न लग कर केवल विषय-भोगों की चर्चा में ही लगी रहती है। इस प्रकार वे मन, कर्म, वचन से विषय को ही सुख मानते हुए निरन्तर उन्हीं में लगे रहते हैं।५५।

आत्मानमात्मना पश्यन्न किंचिदिह पश्यति ।
तदा कर्मपरित्यागे न दोषोऽस्ति मतं मम ॥५६
कामादयो विलीयन्ते ज्ञानादेव न चान्यथा ।
अभावे सर्वतत्वानां स्वयं तत्वं प्रकाशते ॥५७

ज्ञानी पुरुष जब आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता हुआ अन्य किसी वस्तु को न देखे अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु उसे दिखाई न दे, तब मेरे मत में कर्म का परित्याग कर दे तो उसके लिए कोई दोष नहीं होता। कामादि सभी पदार्थ ज्ञान में लीन होजाते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। जब सभी तत्वों का अभाव हो जाता है, तब स्वयं तत्व अर्थात् आत्म ज्ञान ही प्रकाशित रहता है। तात्पर्य यह है कि काम-क्रोधादि विकारों को छोड़कर आत्मज्ञान की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि आत्मज्ञान की उपलब्धि होने पर कोई भी विकार शेष नहीं रहता ॥५६-५७॥

* शिव संहिता का द्वितीय पटल समाप्त *

तृतीय पटल

योगाभ्यास प्रकरण

हृद्यस्ति पङ्कजं दिव्यं दिव्यलिंगेन भूषितम् ।
कादिठान्ताक्षरोपेतं द्वादशार्णविभूषितम् ॥१

प्राणो वसति तत्रैव वासनाभिरलंकृतः ।
अनादिकर्मसंश्लिष्टः प्राप्याहङ्कार संयुतः ॥२

हृदय में एक दिव्य कमल स्थित है, जो कि दिव्य चिन्हों से विभूषित और 'क' अक्षर से 'ठ' अक्षर पर्यन्त बारहों अक्षरों से सुशोभित रहता है। अभिप्राय यह है कि इस कमल के बारह दल हैं, जिनमें से प्रत्येक दल पर क्रमशः क. ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ अंकित हैं। इसी कमल में अनादि कर्म से संश्लिष्ट और अहंकार युक्त वासना से परिपूर्ण प्राण का निवास है ॥१-२॥

प्राणास्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च ।
वर्तन्ते तानि सर्वाणि कथितुं नैव शक्यते ॥३

प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानश्च पञ्चमः ।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ॥४

प्राण की वृत्ति के भेद से इस शरीर में विविध नामों वाले जो वायु विद्यमान हैं, उन सभी का वर्णन करने में हम समर्थ नहीं हैं (अथवा उन सब के कहने का कुछ प्रयोजन भी नहीं है

इसलिए उनमें जो प्रमुख वायु हैं उनका वर्णन यहां किया जाता है) मुख्य प्राण यह दश हैं—(१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान, (५) व्यान, (६) नाग, (७) कूर्म (८) कृकल, (९) देवदत्त, और (१०) धनंजय ।३-४।

दश नामानि मुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके ।
कुर्वन्ति तेऽत्र कार्याणि प्रेरितानि स्वकर्मभिः ॥५
अत्रापि वायवः पञ्च मुख्याः स्युर्दर्शिताः पुनः ।
तत्रापि श्रेष्ठकर्त्तारौ प्राणापानौ मयोदितौं ॥६

शास्त्रों में उक्त दश वायु ही मुख्य माने गये हैं। यह वायु अपने-अपने कर्म से प्रेरित होकर शरीर में कार्य-रत रहते हैं। इन दश वायुओं में भी पाँच वायु प्रधान हैं और उनमें भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, वे मैंने दो ही बतलाये हैं—(१) प्राण और (२) अपान। अर्थात् दश वायुओं में प्राण, अपान समान, उदान और व्यान यह पाँच प्रमुख हैं औरपाँचों में भी प्राण और अपान ही प्रमुख रूप से श्रेष्ठ हैं ।५-६।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभि मण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥७
नागादिवायवः पञ्च कुर्वन्ति ते च विग्रहे ।
उद्गारोन्मीलनं क्षुतृट् जृम्भा हिक्का च पञ्चमः ॥८

हृदय में प्राण और गुदा में अपान रहता है। नाभिमण्डल में समान की और कण्ठ में उदान की स्थिति है। व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। अब नाग आदि पाँच वायुओं के विषयों में बताते हैं—उनका कार्य डकार, हिचकी, जँभाई लेना, भूख प्यास और उन्मीलन अर्थात् निद्राकाल में नेत्रों का बन्द होना आदि है ।७-८।

अनेन विधिना यो वै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥९

अधुना कथयिष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
यज्ज्ञात्वा नावसीदन्ति योगिनो योगसाधने ॥१०

इस विधि से जो मनुष्य, शरीर को ब्रह्माण्ड जान लेता है, वह सभी पापों से मुक्त होकर परमगति को प्राप्त हो जाता है। अब मैं योगसिद्धि के विषय में कहता हूँ—उक्त प्रकार से योग सिद्धि शीघ्र होती है। इस विधि को जानने वाले योगी को योग के साधन में कष्ट प्रतीत नहीं होता। अभिप्राय यह है कि योग-साधन को विधिपूर्वक जान लेने पर साधक को कष्ट नहीं होता और विधि को न जान कर योग साधन करना कष्टकारी प्रतीत होता है।९-१०।

भवेद्वीयवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा ।
अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा ॥११

गुरुं सन्तोष्य यत्नेन ये वै विद्यामुपासते ।
अवलम्बेन विद्यायास्तस्याः फलमवाप्नुयुः ॥१२

गुरु के मुख से सुनी हुई विद्या अवश्य ही वीर्यवती होती है। यदि गुरु के मुख से सुने-समझे बिना हो उसका प्रयोग करे तो फलहीना तो होती ही है, साथ ही निर्वीया और अत्यन्त दुःख दायिनो भी होजाती है। गुरु को सब प्रकार से सन्तुष्ट करके जो विद्या प्राप्त की जाती है, वह विद्या शीघ्र ही फल देने वाली होती है अर्थात् गुरु प्रसन्न होकर विद्या के सब रहस्य शिष्य को बता दें तो उसकी सफलता में विलम्ब नहीं लगता।११-१२।

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात् सर्वैः प्रसेव्यते ॥१३
गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः ।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभंभवेत् ॥१४

गुरु ही पिता, गुरु ही माता और गुरु ही देवता है, इसमें संदेह नहीं। इसलिए कर्म, मन और वाणी से गुरु की भले प्रकार सेवा करनी चाहिए। क्योंकि गुरु की प्रसन्नता से आत्मा सभी शुभों को प्राप्त कर लेता है, इसलिए गुरु की सेवा नित्य तत्परता के साथ करनी चाहिए, अन्य प्रकार से अर्थात् अश्रद्धा से गुरु-सेवा करना कभी भी शुभ नहीं हो सकता ॥१३-१४॥

प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा स्पृष्ट्वा सव्येन पाणिना ।
अष्टांगेन नमस्कुर्याद्गुरुपादसरोरुहम् ॥१५
श्रद्धयात्मवतां पुंसां सिद्धिर्भवति नान्यथा ।
अन्येषां च न सिद्धिः स्यात्तस्माद्यत्नेन साधयेत् ॥१६

गुरु की तीन प्रदक्षिणा करके दाँये हाथ से स्पर्श करे और गुरु के चरण-कमलों में अष्टांग से नमस्कार करे। श्रद्धावान् पुरुष को अवश्य ही विद्या की सिद्धि होती है, अश्रद्धावान् को कदापि नहीं होती। इसलिए यत्नपूर्वक साधन करना ही श्रेयस्कर है ॥१५-१६॥

न भवेत् सङ्गयुक्तानां तथाविश्वासिनामपि ।
गुरुपूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम् ॥१७
मिथ्यावादरतानां च तथा निष्ठूरभाषिणाम् ।
गुरुसन्तोषहीनानां न सिद्धिः स्यात् कदाचन ॥१८

सांसारिक व्यवहार में लिप्त मनुष्यों का संग करने से योग-विद्या की सिद्धि संभव नहीं है और न अविश्वासी साधकों को ही सिद्धि हो सकती है। जो पुरुष गुरु की पूजा नहीं करते या अधिक लोगों का संग करते हैं वे भी असफल रहते हैं। मिथ्या और कठोर वचन बोलने वाले या गुरु को सन्तुष्ट न रखने वाले साधकों को भी सिद्धि नहीं मिल सकती ॥१७-१८॥

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम् ।
द्वितीयं श्रद्धया युक्त तृतीयं गुरुपूजनम् ॥१९
चतुर्थं समताभावं पञ्चमेन्द्रियनिग्रहम् ।
षष्ठं च प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते ॥२०

सिद्धि का प्रथम लक्षण है विश्वास का होना। अविश्वास होने पर उसकी संभावना ही नहीं है। दूसरा लक्षण है साधक का श्रद्धायुक्त होना और तीसरा लक्षण है गुरु-पूजन में तत्पर रहना। चौथा लक्षण जीवमात्र में समानता का भाव रखना है। पाँचवां चिन्ह इन्द्रियों का संयम रखना और छठा चिन्ह है परमित भोजन करना। इस प्रकार योगसिद्धि के छः चिन्ह हैं, कोई सातवां चिन्ह नहीं है ॥१९-२०॥

योगोपदेशं संप्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम् ।
गुरूपदिष्टविधिना धिया निश्चत्य साधयेत् ॥२१
सुशोभने मठे योगी सद्मासनसमन्वितः ।
आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत् ॥२२

योग के ज्ञाता गुरु से योग का उपदेश प्राप्त करके गुरु द्वारा बतायी हुई विधि के अनुसार बुद्धि पूर्वक निश्चय करता हुआ साधक साधन में तत्पर रहे। सुन्दर, स्वच्छ मठ में स्थित होकर

योगी पुरुष पद्मासन लगा कर श्रेष्ठ आसन पर बैठे और प्राणा-याम का अभ्यास करे। अभिप्राय यह है कि जहां बैठकर साधन किया जाय वह स्थान एकान्त, स्वच्छ और साधन के लिए सब प्रकार से अनुकूल हो। मठ का तात्पर्य कुटी या देवालय भी हो सकता है।२१-२२।

प्राणायाम-विधि

समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य च गुरून् सुधीः।
दक्षे वामे च विघ्नेशं क्षेत्रपालाम्बिकां पुनः ॥२३
ततश्च दक्षाङ्गुष्ठेन निरुद्धय पिङ्गलां सुधीः।
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्ति तु कुम्भयेत्।
ततस्त्यक्त्वा पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ॥२४

शरीर को समान सीधा) रख कर, हाथों को जोड़ता हुआ गुरु को प्रणाम करे और दाँये, बाँये भाग में विघ्नों को नष्ट करने वाले गणेश जी को, क्षेत्रपाल को और भगवती अम्बिका प्रणाम करे। तत्पश्चात् दाँये हाथ के अँगूठे से पिंगला नाड़ी (दाँये नासारन्ध्र) को रोक कर इडा नाड़ी (बाँये नासारन्ध्र) से यथाशक्ति वायु को खींच कर रोके और फिर पिंगला द्वारा धीरे धीरे बाहर निकाल दे। अर्थात् बाँयीं नासिका से पूरक (वायु को खींचना) करके कुम्भक द्वारा (वायु को रोके) और फिर दाँयी नासिका से रेचक करे अर्थात् वायु को निकाल दे। पूरक, कुम्भक और रेचक, यह तीनों प्राणायाम के ही अङ्ग है।२३-२४।

पुनः पिङ्गलयापूर्य यथाशक्ति तु कुम्भयेत्।
इडयारेचयेद्वायुं न वेगेन शनैः शनैः ॥२५

इदं योगविधानेन कुर्याद्विंशतिकुम्भकान् ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः ॥२६॥

इसी प्रकार फिर पिंगला नाड़ी से पूरक करके अर्थात् दाँयी नासिका से वायु खींच कर कुम्भक करे और फिर इडा (बांयी नासिका) से धीरे-धीरे वायु को निकाले, वेग-पूर्वक न निकाले, इस प्रकार योग के विधान से बीस बार कुम्भक करता हुआ सभी द्वन्द्वों से मुक्त होजाय। तात्पर्य यह है कि प्राणायाम के अभ्यास को उत्तरोत्तर बढ़ाता हुआ साधक वायु को वश में कर ले तो फिर उसके लिए कोई कष्ट शेष नहीं रहता ॥२५-२६॥

प्रातःकाले च मध्याह्ने सूर्यास्ते चार्धरात्रके ।
कुर्यादेवं चतुर्वारं कालेष्वेतेषु कुम्भकान् ॥२७॥

नाड़ी-शोधन

इत्थं मासद्वय चुर्यादिनालस्यो दिने दिने ।
ततो नाडीविशुद्धिः स्यादविलम्बेन निश्चितम् ॥२८॥

ऊपर कही हुई विधि से नित्य प्रति प्रातःकाल, मध्याह्न काल, सायंकाल और अर्द्धरात्रि के समय अर्थात् चार बार कुम्भक करना चाहिए। इस प्रकार यदि आलस्य का त्याग करके नित्य नियमपूर्वक दो महीने तक प्राणायाम करता रहे तो नाड़ी-शुद्धि में विलम्ब नहीं होता अर्थात् निश्चित ही शुद्ध हो जाती है ॥२७-२८॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्याद् योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
तदा विध्वस्तदोपश्च भवेदारम्भसम्भवः ॥२९॥
चिह्नानि योगिनो देहे दृश्यते नाडिशुद्धितः ।
कथ्यन्ते तु समस्तान्यङ्गानि संक्षेपतो मया ॥३०॥

जब तत्वदर्शी योगी की नाड़ी शुद्ध होजाती है तब सभी दोष नष्ट होजाते हैं और योगाभ्यास का आरम्भ किया जा सकता है। नाड़ी शुद्ध होने के पश्चात् योगी के देह में जो चिह्न दिखाई देते हैं उन सभी की मैं संक्षेप में कहता हूँ ॥२६-३०॥

समकायः सुगन्धिश्च सुकान्तिः स्वरसाधकः ॥३१॥
आरम्भभटकश्चैव यथा परिचयस्तदा ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्ति ताः ॥३२॥

नाड़ी शुद्ध होने पर योगी का शरीर सम होजाता है(अर्थात् तब वह न मोटा रहता है, न पतला, वरन् साँचे में ढले हुए के समान सर्वांग में सम होता है), शरीर में सुगन्ध आने लगती है श्रेष्ठ कान्ति अर्थात् उज्वल तेज दिखाई देता है, स्वर का साधन होकर उसमें माधुर्य आजाता है। इस समय इन आरम्भिक लक्षणों के साथ योग का पूर्ण ज्ञान होजाता है, यही योगावस्था कही जाती है ॥३१-३२॥

आरम्भः कथितोऽस्माभिरधुना वायुसिद्धिये ।
अपरः कथ्यते पश्चात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥३३॥
प्रौढवह्निः सुभोगी च सुखी सर्वाङ्गसुन्दरः ।
सम्पूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साहबलान्वितः ।
जायते योगिनोऽवश्यमेते सर्वकलेवरे ॥३४॥

प्राणवायु की सिद्धि के आरम्भ में मेरे द्वारा कहे हुए उक्त लक्षण होते हैं। अब मैं वह फल भी बतलाता हूं, जिससे सभी दुःखों का नाश होजाता है। शरीर में जठराग्नि की वृद्धि होने लगेगी, सभी अंग सुन्दर होजायगे, वह श्रेष्ठ सुखदायक भोग (अथवा भोजन) को प्राप्त होगा और सब प्रकार के उत्साहमय

बल से समन्वित होजायगा। उस योगी के सब शरीर में इस प्रकार के परिवर्तन अवश्य ही होंगे ॥३३-३४॥

अथ वर्ज्यं प्रवक्ष्यामि योगविघ्नकरं परम् ।
येन संसारदुःखाब्धिं तीर्त्वा यास्यन्ति योगिनः ॥३५॥
आम्लं रूक्षं तथा तीक्ष्णं लवणं सार्षपं कटुम् ।
बहुलं भ्रमणं प्रातः स्नानं तैलविदाहकम् ॥३६॥

अब उन विघ्नों को कहता हूँ, जिनका उल्लंघन करने वाला दुःखों के समुद्र रूप संसार सागर से तर जाता है। खट्टे, रूखे, तीखे, नमकीन,सरसों के पदार्थ और कटुपदार्थ आदि का भोजन करना, बहुत घूमना, प्रातःकाल स्नान करना और शरीर में तैल की मालिश करना योगी के लिए वर्जित है ॥३५-३६॥

स्तेयं हिंसां जनद्वेषं चाहङ्कारमनार्जवम् ।
उपवासमसत्यञ्च मोहञ्च प्राणपीडनम् ॥३७॥
स्त्रीसङ्गमग्निसेवां च बह्वालापं प्रियाप्रियम् ।
अतीव भोजनं योगी त्यजेदेतानि निश्चितम् ॥३८॥

वस्तु चुराना, हिंसा करना, मनुष्यों में द्वेष करना, अहंकार का भाव रखना, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम न रखना, उपवास करना, असत्य बोलना, मोह रखना, प्राणों को पीड़ित करना, स्त्री प्रसंग करना, अग्नि सेवन करना, अधिक बोलना, प्रिय-अप्रिय वचन कहना, बहुत भोजन करना आदि को अवश्य त्याक देना ही योगी का कर्त्तव्य है ॥३७-३८॥

उपायं च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
गोपनीयं साधकानां येन सिद्धिर्भवेत् खलु ॥३९॥

धृतं क्षीरं च मिष्टान्नं ताम्बूलं चूर्णवर्जितम् ।
कर्पूरं निष्ठुरं मिष्टं सुपठं सूक्ष्मवस्त्रकम् ॥४०॥

अब मैं वह उपाय बतलाता हूँ, जिसके द्वारा योग की सिद्धि शीघ्र होती है। इसे गोपनीय रखने वाले साधक को अवश्य ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। घृत, दूध, ताम्बूल व चूर्ण से रहित भोजन करे। कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यों का कभी सेवन न करे (क्योंकि ऐसे द्रव्य उत्तेजक होते हैं), कठोर वचन न बोले, मीठा बोले, श्रेष्ट कुटी या अनुकूल वातावरण के स्थान गुफा आदि में रहे और सूक्ष्म वस्त्र पहिने अर्थात् मर्दन और अल्प वस्त्र धारण करे ॥३९-३०॥

सिद्धान्तश्रवणं नित्यंवैराग्यगृहसेवनम् ।
नामसङ्कीर्तनं विष्णोः सुसादश्रवणे परम् ॥४१॥
धृतिः क्षमा तपः शौचं ह्रीर्मतिगुरुसेवनम् ।
सदैतांश्च परं योगी नियमांश्च समाचरेत् ॥४२॥

सिद्धान्त ग्रन्थों (वेदादि) का श्रवण करे, सदा वैराग्य युक्त भाव से घर में रहे, ईश्वर का नाम संकीर्तन करता रहे, जो कुछ सुने, वह शुभ ही सुने अर्थात् बुरी बातों को कभी न सुने। धृति, क्षमा, तप, शौच और लज्जा का भाव रखे, गुरु की सेवा में लगा रहे। इस प्रकार से नियमों में सदा तत्पर रहने वाला योगी शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥४१-४२॥

अतिलोऽर्कप्रवेशे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ।
वायौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ॥४३॥
सद्यो भुक्तेऽपि क्षुधितेनाभ्यासः क्रियते बुधैः ।
अभ्यासकाले प्रथमं कुर्यात् क्षीराज्यभोजनम् ॥४४॥

सूर्य नाड़ी अर्थात् दाँयी नासिका में स्थित पिंगला नाड़ी का प्रवाह रहने पर योगी को भोजन करना चाहिए तथा चन्द्र (इडा) नाड़ी में वायु का प्रवाह रहे तब शयन करना ठीक है। भोजन करने के तुरन्त बाद अथवा भूखा होतो कभी भी अभ्यास न करे। अभ्यास काल के पूर्व दूध-घी का भोजन करना चाहिए।४३-४४।

ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृङ् नियमग्रहः।
अभ्यासिना विभोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ॥४५॥
पूर्वोक्तकाले कुर्यात्तु कुम्भकान् पतिवासरे।
ततो यथेष्टाशक्तिः स्याद्योगिनो वायुधारणे ॥४६॥

जब अभ्यास दृढ़ हो जाय, तब उक्त नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं रहती। योग भ्यासी को थोड़ा-थोड़ा भोजन अनेक बार करना चाहिए। नित्य प्रति पूर्वोक्त प्रकार से कुम्भक करे (अर्थात् प्राणायाम करते हुए वायु रोकने का अभ्यास करना चाहिए। इससे कुम्भक सिद्ध होजाता है और साधक को इच्छानुसार वायु के धारण करने की शक्ति प्राप्त होजाती है।४५-४६।

यथेष्टं मारणाद्वायोः कुम्भकः सिध्यति ध्रुवम्।
केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिन ॥४७॥
स्वेदः संजायते देहे योगिनः पृथमोद्यमे ॥४८॥
यदा संजायते स्वेदो मर्दनं कारयेत्सुधीः।
अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः ॥४९॥

वायु के यथा शक्ति वश में कर लेने पर कुम्भक सिद्ध होता है और जब केवल कुम्भक सिद्ध होजाता है तब योगी क्या नहीं कर सकता? अर्थात् उसके लिए कोई भी कार्य कठिन नही होता योगी के देह में पहली बार के प्रयत्न से पसीना आता है, उस

उत्पन्न हुए पसीना का देह में ही मर्दन कर ले। यदि पसीना को देह में ही न मल लेगा तो धातु नष्ट होजायगा ॥४७-४९॥

द्वितीये हि भवेत् कम्पो दार्दुरी मध्यमे मतः ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्गगने चरसाधकः ॥५०॥
योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुत्सृज्य वर्तते ।
वायुसिद्धिस्तदा ज्ञेया संसारध्वान्तनाशिनी ॥५१॥

दूसरी बार के प्रयत्न से कम्प होता है और तीसरी बार में मेंढल की वृत्ति होती है अर्थात् मेंढक जिस प्रकार उछलता और फिर पृथिवी पर आ जाता है, वैसे ही अभ्यास करने वाले का आसन भूमि से ऊँचा उठता और फिर भूमि पर आजाता है। जब अभ्यास उससे भी अधिक दृढ़ होजाता है तब साधक स्वेच्छा पूर्वक आकाश में गमन कर सकता है ॥५०-५१॥

तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियमग्रहम् ।
अल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्रं च जायते ॥५२॥
अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
स्वेदो लाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते ॥५३॥

योग सिद्धि के लिए तब तक योगशास्त्रोक्त नियमों का पालन करे जब तक कि वायु की सिद्धि न होजाय और जब तक उसे अल्प निद्रा और अल्प मल-मूत्र न होने लगे। तात्पर्य यह है कि जब योगी को नींद कम आने लगे और मल-मूत्र भी कम आवे तो समझना चाहिए कि योग की सिद्धि होती जारही है। तत्व-दर्शी योगियों के लिए शारीरिक और मानसिक वेदना नहीं हो पाती और न पसीना, लाला (लार) का स्राव एवं कृमि की ही सर्वथा उत्पत्ति होती है ॥५२-५३॥

कफपित्तानिलाश्चैव साधकस्य कलेवरे ।
तस्मिन् काले साधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः ॥५४॥
अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः ।
अथाभ्यासवशाद्योगी भूचरीं सिद्धिमाप्नुयात् ।
यथा दर्दुरजन्तूनां गतिः स्यात्पाणिताडनात् ॥५५॥

साधक के देह में कफ, पित्त और बात दूषित नहीं होते । पहले कहे हुए समय तक योगी को भोजन आदि पर संयम रखना आवश्यक है । योगी यदि अत्यधिक भोजन करले अथवा बहुत कम खाय तो भी उसे कुछ कष्ट नहीं होता और अभ्यास करते-करते उसे भूचरी विद्या की सिद्धि होजाती है, जिस प्रकार मेंढक हाथ मार कर पृथिवी में घुसता है, वैसे ही योगी भी हाथ से ताड़न करके पृथिवी में प्रविष्ट होता है ॥५४-५५॥

सन्त्यत्र बहवो विघ्ना दारुणा दुर्निवारणाः ।
तथापि साधयेद्योगी प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥५६॥

योगाभ्यास में अनेकों अति दारुण विघ्न उपस्थित होजाते हैं, उनका शमन होना अत्यन्त कठिन है । फिर भी साधक का कर्त्तव्य है कि जब तक प्राण कण्ठगत होजाँय, तब तक साधन में तत्पर रहे । अर्थात् साधना में धैर्य की आवश्यकता होती है, इस लिए विघ्नों के उपस्थित होने पर निराश न होजाय ॥५६॥

ततो रहस्युपाविष्टः साधकः संयतेन्द्रियः ।
प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं विघ्नानां नाशहेतवे ॥५७॥
पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम् ।
नाशयेत् साधको धीमानिह लोकोद्भवानि च ॥५८॥

साधक को उन विघ्नों को नष्ट करने के लिए इन्द्रियों को वश में करने की चेष्टा करनी चाहिए। साथ ही एकान्त स्थान में बैठ कर मनोयोग पूर्वक स्पष्ट रूप से उच्चारण करते हुए ओंकार का जप भी करे। विद्वान साधक पूर्वजन्मों के अर्जित कर्म और इस जन्म में किये गये कर्म, इन सबके फल को प्राणायाम से अवश्य ही नष्ट कर डालता है। अर्थात् प्राणायाम की स्थिरता से सब प्रकार के कर्मों का नाश होसकता है ॥५७-५८॥

पूर्वार्जितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च ।
नाशयेत् षोडशप्राणायामेन योगिपुङ्गवः ॥५९॥
पापतूलचयानाहो प्रलयेत्प्रलयाग्निना ।
ततः पापविनिर्मुक्त पश्चात्पुण्यानि नाशयेत् ॥६०॥

योगियों में श्रेष्ठ साधक पूर्वजन्मों के अर्जित पाप पुण्य रूप कर्मों को सोलह प्राणायाम करके ही नष्ट कर डालता है। वह योगी पापों के समूह को प्राणायाम द्वारा वैसे ही कर देती है जैसे कि अग्नि तृण को देखते-देखते भस्मसात कर डालता है। अर्थात् प्राणायाम की अग्नि में पाप रूपी तृण सहज में जल जाते हैं और तब इस प्रकार पापों से निर्मुक्त हुआ योगी पुण्यों को भी उसी अग्नि में होम देता है, अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पापों का भस्म होना आवश्यक है, उसी प्रकार पुण्यों का भस्म होना भी आवश्यक है। जब पाप-पुण्य दोनों का ही सर्वथा क्षय होजाता है, तभी मोक्ष मिल सकती है ॥५९-६०॥

प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै ।
पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतमियात् ॥६१॥

श्रेष्ठ योगी पुरुष प्राणायाम के द्वारा अष्ट सिद्धियाँ (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्या, ईशिता और वशिता)

प्राप्त करता है तथा पाप-पुण्य के समुद्र रूपी संसार-सागर से पार होकर तीनों लोकों में इच्छानुसार विचरण कर सकता है।

ग्रन्थकार ने उक्त सिद्धियों के लक्षणों का उल्लेख नहीं किया है, इसलिए अपनी ओर से कह देना उपयुक्त ही होगा—

अणिमा—योगी अपने देह को इच्छा मात्र से अणु के समान सूक्ष्म बना सकता है।

महिमा—योगी अपनी प्रकृति को वश में करके शरीर को बहुत बड़े आकार का बना सकता है।

गरिमा—अल्प भार वाले देह को पर्वत के समान भारी कर सकता है।

लघिमा—पर्वत जैसे भार को रुई के समान हल्का बना सकता है। अथवा अपने शरीर को हल्का करने में समर्थ होता है।

प्राप्ति—दूर में विद्यमान पदार्थों को अपने स्थान पर बैठे हुए ही स्पर्श कर सकता या प्राप्त कर सकता है।

प्राकाम्य—इस सिद्धि के द्वारा साधक अपनी कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ होता है। अथवा लोगों को इच्छित प्रदान कर सकता है।

ईशित्व—शरीर और मन के आन्तरिक संस्थानों या चक्रों पर पूर्ण प्रभुता प्राप्त करता हुआ संसार के सभी पदार्थों का इच्छानुसार प्रयोग करने में शक्य होता है।

वशित्व—सभी परिस्थितों को अपने अनुकूल रखने और संसार के सभी प्राणियों को अपने वश में रखने में समर्थ होता है।

इस प्रकार प्राणायाम के प्रभाव से उक्त सिद्धियों के प्राप्त होने पर सर्वत्र गमन की शक्ति आजाती है ॥६१॥

ततोऽभ्यासक्रमेणैव घटिकात्रितयं भवेत् ।
येन स्यात्सकला सिद्धिर्योगिनः स्वेप्सिता ध्रुवम्।।६२।।

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च ।
दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टि परकायप्रवेशनम् ।।६३।।

उक्त प्रकार से क्रम पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास होने पर प्राणवायु के तीन घड़ी तक रोके रखने की शक्ति होजाय, तब योगी अपनी इच्छा के अनुसार सभी सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है, यह सत्य है। वह वाक् सिद्धि में समर्थ हो जाता है यानी जिस विषय को न जानता हो उस पर भी बोल सकता है अथवा शास्त्र का व्याख्यान या कविता आदि कर सकता है। स्वेच्छाचारिता की सामर्थ्य और दूर दर्शन की शक्ति आजाती है। दूर श्रुति अर्थात् सुदूर के शब्दों को भी सुन सकता है, सूक्ष्म दर्शन अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु को देख सकता है और दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो सकता है ।।६२-६३।।

विण्मूत्रलेपनं स्वर्णसदृश्यं करणं तथा ।
भवन्त्येतानि सर्वाणि खेचरत्वं च योगिनाम् ।।६४।।
यदा भवेद् घटावस्था पवनाभ्यासने परा ।
तदा संसारचक्रेऽस्मिन् तन्नास्ति तन्न साधयेत् ।।६५।।

वह अपने जिस मलमूत्र को लेप कर दे तो वह स्वर्ण के समान होजाता है। योगी को अदृश्य होने की शक्ति प्राप्त हो जाती तथा आकाश में उड़ने की सामर्थ्य होजाती है। इन सभी कार्यों को योगी पुरुष कुम्भक को सिद्ध करके पूर्ण कर सकता है, इसके पश्चात् उसकी घटावस्था हो सकती है और वायु के

अभ्यास में परायण योगी घटावस्था में संसार में ऐसा कुछ भी नहीं होता जो उसे प्राप्त न हो सके ॥६४-६५॥

प्राणापाननादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनोः ।
मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ॥६६॥
याममात्रं यदा धर्तुं समर्थः स्यात्तदाद्भुतः ।
प्रत्याहारस्तदैव स्यान्नान्तरा भवति ध्रुवम् ॥६७॥

घटावस्था क्या है ? यह बताते हैं कि प्राण, अपान, नाद, विन्दु, जीवात्मा और परमात्मा जब एकत्र होजाँय तब योगी की घटावस्था कहलाती है। जब योगी में याममात्र अर्थात् एक प्रहर तक वायु-धारण की शक्ति होजाय तब साधन में अन्तर न आने पर अवश्य ही अद्भुत प्रत्याहार हो सकता है ॥६६-६७॥

यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत् ।
यैरिन्द्रियैर्यद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत् ॥६८॥

योगी को जिस जिस पदार्थ की जानकारी हो, उसी-उसी पदार्थ में उसे आत्मा की भावना करनी चाहिए। जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस पदार्थ का बोध होता हो,उसी में आत्मभाव करने से इन्द्रियजय होजाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे चक्षु से रूप का या कानों से शब्द का बोध होता है,तब उस रूप अथवा शब्द में आत्मभाव करने से चक्षु रूप में आसक्त न होंगे और कान शब्द में आसक्त न होंगे तो चक्षु या कान रूप इन्द्रिय स्वयं ही वश में होजायगी। यही अन्य इन्द्रियों और उनके विषयों के सम्बन्ध में समझना चाहिए ॥६८॥

यामातात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यासयोगतः ।
एकवारं प्रकुर्वीत तदा योगी च कुम्भकम् ॥६९॥

दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत् ।
स्वसामर्थ्यात्तदांगुष्ठे तिष्ठेद्वातुलवत् सुधीः ॥७०॥

जब एक बार पूरे एक प्रहर अर्थात् तीन घन्टे तक योगाभ्यास द्वारा कुम्भक की स्थिरता रहे अथवा आठ घड़ी तक वायु को निश्चल रख सके तो अपने ही सामर्थ्य से केवल पाँव के एक अँगूठे से खड़ा रहने की शक्ति आजाती है। परन्तु योगी को उस सामर्थ्य की गोपनीयता रखने के लिए विक्षिप्त जैसी चेष्टा प्रदर्शित करनी चाहिए। आशय यह है कि योगी अपने शक्ति-प्रदर्शन का प्रयत्न कभी भी न करे ॥६९-७०॥

ततः परिचयावस्था योगिनोऽभ्यासतो भवेत् ।
यदा वायुश्चन्द्रसूर्यं त्यक्त्वा तिष्ठति निश्चलम् ।
वायुः परिचितो वायुःसुषुम्णा व्योम्नि संचरेत् ॥७१॥
क्रियाशक्तिं गृहीत्वैव चक्रान्भित्वा सुनिश्चितम्॥७२॥

तदनन्तर अभ्यास करते-करते योगी को परिचय अवस्था की प्राप्ति होजाती है। जब वायु चन्द्रनाड़ी और सूर्य नाड़ी का त्याग करके निश्चल होजाता है तब वायु-परिचित होकर मार्ग से आकाश में संचार करता है तब क्रिया शक्ति को ग्रहण किये हुए योगी अवश्य ही चक्रों के भेदने में समर्थ होता है। आशय यह है कि परिचयावस्था की उपलब्धि से योगी को षट्चक्र भेदन की सामर्थ्य प्राप्त होजाती है और वह अवस्था या क्रिया अभ्यास से ही सिद्ध होती है ॥७१-७२॥

यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगतः ।
त्रिकूटं कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चतम् ॥७३॥

ततश्च कर्मकूटानि प्रणवेन विनाशयेत् ।
स योगी कर्मभोगाय कायव्यूहं समाचरेत् ॥७४॥

जब अभ्यास के योग से परिचयावस्था की प्राप्ति होजाती है, तब योगी अवश्य ही त्रिकूट कर्मों को देख सकता है। यहाँ
है। तब योगी अवश्य ही त्रिकूट कर्मों को देख सकता है। यहाँ
त्रिकूट कर्मों का अर्थ है आध्यात्मिक, अधिभौतिक और आधि-दैविक कर्म। मानसिक दुःख आध्यात्मिक, भूत प्रेतादि से होने वाला कष्ट अधिभौतिक और कर्मानुसार देवादि से प्राप्त कष्ट आधिदैविक कहलाते हैं। यह त्रिकूट कर्म हैं। योगी को इनका ज्ञान होजाता है और वह ओंकार के जप के प्रभाव से उस त्रिकूट कर्म का नाश करने में समर्थ होता है यदि उसे अपने पूर्वाजित कर्मों के भोगने की इच्छा होती है तब वह उन्हें भोग सकता है ॥७३-७४॥

अस्मिन्काले महायोगी पंचधा धारण चरेत् ।
येन भूरादिसिद्धिः स्यात्ततो भूतभयापहा ॥७५॥
आधारे घटिकाः पंच लिंगस्थाने तथैव च ।
तदूर्ध्वं घटिकाः पंच नाभिहृन्मध्यकं तथा ॥७६॥
भ्रूमध्योर्ध्वं तथा पंच घटिका धारयेत् सुधीः ।
तथा भूरादिना नष्टो योगीन्द्रो न भवेत् खलु ॥७७॥
मेधावी सर्वभूतानां धारणां यः समभ्यसेत ।
शतब्रह्ममृतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥७८॥

जब योगी पाँच प्रकार की धारणा को सिद्ध कर लेता है, तब वह पंचभूतों की धारणा में सिद्ध होजाता है। फिर उन भूतों से किसी प्रकार का भय नहीं होता। आधार चक्र में वायु को पाँच घड़ी अर्थात् दो घण्टे तक धारण करे, फिर उससे ऊपर

स्वाधिष्ठान चक्र में दो घण्टे तक धारण किये रहे। इसी प्रकार मणिपूर चक्र में और अनाहत चक्र में भी दो-दो घण्टे तक वायु-धारण करने का विधान है। फिर विशुद्ध चक्र और आज्ञा चक्र में भी पाँच-पाँच घड़ी तक ही वायु-धारणा का अभ्यास करे। इस प्रकार गुदा, मेढ़्, नाभि हृदय, कण्ठ और भृकुटियों के मध्य में स्थित षट्चक्रों में वायु-धारण करने के इस अभ्यास में सिद्ध होने वाले योगी का पंचभूतों के द्वारा नष्ट होना कदापि संभव नहीं है। इस प्रकार के अभ्यास की दृढ़ता द्वारा पचभूतों की धारणा करने वाला योगी सौ ब्रह्माओं का मृत्यु-काल पूर्ण होने पर भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता ।।७५-७८।।

ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्ति र्योगिनो भवेत् ।
अनादिकर्मबोजानि येन तीर्त्वाऽमृत पिवेत् ।।७९।।
यदा निष्पत्तिर्भवति समाधेः स्वेन कर्मणा ।
जोवन्मुक्तस्य शान्तस्य भवेद्धीरस्य योगिनः ।।८०।।

इस प्रकार के अभ्यासक्रम के द्वारा योगी को ज्ञान की प्राप्ति होती है और तब वह अनादि काल से चले आते हुए कर्मबीज का उल्लंघन (नाश) करता हुआ अमृत का पान करने में समर्थ होता है और जब अपने अभ्यास रूपी कर्म से योगी को समाधि का ज्ञान होजाता है तब वह ज्ञान-सम्पन्न हुआ समाधि में मग्न हो जाता है अर्थात् ज्ञान की सम्पन्नता होने पर समाधि की अवस्था प्राप्त होने में देर नहीं लगता ।।७९-८०।।

यदा निष्पत्तिसंपन्नः समाधिः स्वेच्छया भवेत् ।।८१।।
गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेगवान् ।
सर्वान् चक्रान् विजित्वा च ज्ञानशक्तौ विलीयते ।।८२।।

इस प्रकार ज्ञान की सम्पन्नता होने पर समाधि भी इच्छानुसार होती है। अर्थात् समाधि में जिस ध्येय का ध्यान किया जाता है, उसी में चित्त नितान्त लीन होजाता है। वह योगी वायु की चैतन्यता को ग्रहण करता हुआ क्रियाशील को वेगवती बना लेता है और सभी चक्रों को जीतकर ज्ञानशक्ति में विलीन होजाता है अर्थात् आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान में ही तन्मय हो जाता है ॥८१-८२॥

इदानीं क्लेशहान्यर्थं वक्तव्यं वायुसाधनम् ।
येन संसारचक्रेऽस्मिन् रोगहानिर्भवेद्‌ध्रुवम् ॥८३॥
रसनां तालुमूले यः स्थापयित्वा विचक्षणः ।
पिबेत् प्राणानिलं तस्य रोगाणा सक्षयो भवेत् ॥८४॥

शिवजी कहते हैं कि अब मैं क्लेशों को नष्ट करने लिए प्राण वायु के उस साधन को कहता हूँ जिससे कि इस संसार चक्र में होने वाले रोगों का निश्चय ही नाश होजाना है। आशय यह है कि साधक को मानसिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ रहना आवश्यक है। अन्यथा साधना में चित्त नहीं लगेगा। इसीलिए शिवजी ने रोगनाशक उपाय कहा है कि यदि जिह्वा को तालुमूल में स्थित करके प्राणवायु का पान करे तो साधक के सभी रोगों का अवश्य नाश होजाता है ॥८३-८४॥

काकचञ्च्वा पिबेद्वायुं शीतलं यो विचक्षणः ।
प्राणापानविधानज्ञः स भवेन्मुक्ति भाजनः ॥८५॥
सरसं यः पिबेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः ।
नश्यन्ति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयाः ॥८६॥

प्राण, अपान के विधि-विधान का जानने वाला जो साधक कौए की चौंच के समान मुख-मुद्रा बनाकर शीतल वायु को

पीता है, वह साधक अवश्य ही मोक्ष का भाजन है। जो विद्वान विधि सहित नित्य प्रति सरस वायु का पान करता है, उसके सभी रोग, श्रम, दाह और वृद्धावस्था आदि का शीघ्र नाश हो जाता है। आशय यह है उक्त प्रकार का साधन करने वाले के सभी रोग नष्ट होजाते हैं अथवा उसे कोई रोग बुढ़ापा,कष्ट आदि दुःख नहीं होते ॥८५-८६॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा यश्चन्द्रे सलिलं पिवेत् ।
मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युं जयति निश्चतम् ॥८७॥
राजदन्तबिलं गाढं संपीड्य विधिनापिबेत् ।
ध्यात्वा कुण्डलिनीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥८८॥

जो योगी जीभ को ऊँची करके अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र मार्ग में ले जाकर चन्द्रमा से निकलते हुए अमृतरस का पान करता है, वह एक महीने में ही मृत्यु को अवश्य जीत लेता है अर्थात् दीर्घ जीवी हो जाता है और वह मरने से नहीं डरता। जीभ को ऊँची करके अमृत-पान करना खेचरी मुद्रा की प्रक्रिया है। जो योगी नीचे के दाँत से राजदन्त को दबाकर उसके छिद्र के द्वारा विधि पूर्वक वायु को पीता है और साथ ही कुण्डलिनी देवी का ध्यान करता है तो वह छः महीने में ही कवि होजाता है ॥८७-८८॥

काकचञ्च्वा पिबेद्वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि ।
कुडलिन्या मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शांतये ॥८९॥
अहर्निशं पिवेद्योगी काकचञ्च्वा विचक्षणः ।
पिबेत्प्राणानिलं तस्य रोगानां संक्षयो भवेत् ।
दूर श्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथा स्याद्दर्शनं खलु ॥९०॥

ऊपर कही हुई काकी मुद्रा की विधि से जो योगी दोनों सध्याओं में कुण्डलिनी के मुख का ध्यान करता हुआ प्राणवायु का पान करता है, उसका क्षय रोग शीघ्र ही शान्त होजाता है। जो विद्वान् योगी कौए की चौंच जैसी मुद्रा बनाकर दिन-रात प्राणवायु का पान करते हैं, उनके रोग अवश्य नष्ट हो जाते हैं तथा उनमें दूर के शब्द श्रवण की शक्ति प्राप्त होकर दूर दर्शन की क्षमता भी उपलब्ध हो जाती है। इस प्रकार वह सूक्ष्म वस्तुओं के देखने में भी समर्थ होजाता है।८९-९०।

दन्ते दंतान् समापीडच पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
उर्द्ध जिह्वः सुमेधावी मृत्युं जयति सोऽचिरात् ॥९१
षण्मासमात्रमभ्यासं यः करोत्ति दिने दिने ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो रोगान्नाशयत्ते हि सः ॥९२

जो मेधावी पुरुष दांत के द्वारा दांत को पीड़ित करके तथा जीभ को ऊपर करके शनैः शनैः वायु पान करता है, वह शीघ्र ही मृत्यु को जीत कर चिरजीवी होजाता है। जो योगी इस अभ्यास को नित्यप्रति करता है, वह छः महीने में ही सब पापों से मुक्त होजाता है और उसके सभी रोग नष्ट होजाते हैं ॥९१-९२।

संवत्सरकृताभ्यासान्मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्मादतिप्रयत्नेन साधयेद्योगसाधकः ॥९३
वर्षत्रयकृताभ्यासाद्भैरवो भवति ध्रुवम् ।
अणिमादिगुणान् लब्ध्वा जितभूतगणः स्वयम् ॥९४

यदि उक्त प्रकार से एक वर्ष तक अभ्यास करता रहे तो अवश्य ही मृत्यु को जीत लेताहै, इसलिए योग साधन करने वाले

मुमुक्षु को प्रयत्न-पूर्वक इसका साधन करना चाहिए। यदि इस· प्रकार का साधन तीन वर्ष तक कर लिया जाय तो निश्चय ही भैरव हो जाता है (अर्थात् भैरव के समान सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है) साथ ही अणिमादि अष्ट सिद्धियों की उपलब्धि होती है और उस साधक के वश में समस्त भूतगण स्वयं ही हो जाते है ॥९३-९४॥

रसनामूर्द्ध गां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥९५
रसनां प्राणसंयुक्तां पीड्यमानां विचिन्तयेत् ।
न तस्य जायते मृत्युः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥९६

यदि योगी की जीभ आधे क्षण के लिए भी ऊपर स्थित हो जाय तो क्षणभर में ही सभी रोग, जरा-मरण का नाश होजायगा आशय यह है कि खेचरी मुद्रा द्वारा अमृत का स्वल्प पान कर ले तो अमर हो जाता है। जो पुरुष जीभ को प्राण के सहित पीड़ित करके ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान से अवस्थित होजाता है, उसकी मृत्यु नहीं हो सकती है, मेरा यह कथन नितान्त सत्य है ॥९५-९६॥

एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ॥९७
अनेनैव विधानेन योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
भवेत्स्वच्छन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः ॥९८
न तस्य पुनरावृत्तिर्मोदते स सुरैरपि ।
पुण्यपापैर्न लिप्येत एतदाचरणेन सः ॥९९

इस प्रकार योगाभ्यास करने वाला योगी द्वितीय कामदेव होजाता है। (अर्थात् कामदेव के समान रूप-लावण्य युक्त होता

है) और उसे कभी भूख, प्यास, निद्रा या मूर्च्छा से पीड़ित नहीं होना पड़ता। इस विधान से अभ्यास करने वाला योगी संसार में सभी दुःखों से रहित होकर इच्छानुसार आचरण करने में समर्थ होता है और किसी प्रकार की भी आपत्तियों में नहीं फँसता। वह किसी प्रकार के पुण्य-पाप में भी लिप्त नहीं होता और न संसार में पुनर्जन्म ही धारण करता है। वह दिव्यलोक में विचरण करने में समर्थ होने के कारण देवताओं के साथ सुख पूर्वक विचरण करता है। अर्थात् वह सब प्रकार से समर्थ होकर सभी दिव्यताओं को प्राप्त कर लेता है ॥९७-९९॥

आसनों का वर्णन

चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम् ॥
सिद्धासनं ततः पद्मासनं चोग्रं च स्वस्तिकम् ॥१००

यद्यपि योगासन बहुत प्रकार के हैं, उनमें चौरासी प्रमुख हैं। उनमें भी चार अति प्रमुख माने जाते हैं, उन्हें मैं बताता हूँ—सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन। आशय यह कि यह चार आसन अधिक सरल और अत्यन्त उपयोगी हैं। इनके द्वारा प्राणवायु भी सहज में ही वशीभूत होता है ॥१००॥

सिद्धासन वर्णन

योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेत् योगवित्सदा ॥१०१
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः।
विशेषोऽवक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः।
एतत्सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकम् ॥१०२

योग का जानने वाला साधक योनि स्थान को पाँव की एड़ी से पीड़ित करे और द्वितीय पाँव की एड़ी को मेढ़् के मूल स्थान पर रखे तथा भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे और जितेन्द्रिय रहता हुआ, शरीर को सीधा, वेग-रहित रखे अर्थात् मन में किसी प्रकार की उत्तेजना या आवेश न आने दे। (इसप्रकार शान्त चित्त और स्थिर दृष्टि से आसन लगा कर बैठे) यह सिद्धों को भी सिद्धि प्रदान करने वाला सिद्धासन के रूप से जाना जाता है ।१०१-१०२।

येनाभ्यासवशात् शीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ।
सिद्धासनं सदासेव्यं पवनाभ्यासिना परम् ।।१०३
येन संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम् ।
नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यते भुवि ।।
येनानुध्यानमात्रेण योगी पापाद्विमुच्यते ।।१०४

इस प्रकार योगाभ्यास करते-करते योग का ज्ञान शीघ्र ही होजाता है। इसलिए यह सिद्धासन वायु का अभ्यास करने वाले साधक को अवश्य करना चाहिए। इसके प्रभाव से संसार-सागर से मुक्त होकर योगी परमगति को प्राप्त होता है। यह आसन सर्व श्रेष्ठ तथा अत्यन्त गोपनीय है, जिसका ध्यान करने मात्र से योगी की सब पापों से मुक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि यह आसन बहुत उपयोगी और शीघ्र फलकारी है, इसके सिद्ध होने पर योगी को सर्व लाभ की प्राप्ति होती है ।१०३-१०४।

पद्मासन वर्णन

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ।।१०५

नासाग्रे विन्यसेद्दृष्टिं दन्तमूलंच जिह्वया ।
उत्तोल्य चिबुकं वक्ष उत्थाप्य पवनं शनैः ॥१०६

यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
यथाशक्त्यैव पश्चात्तु रेचयेदविरोधतः ॥१०७

इदंपद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ॥१०८

दोनों पाँवों को उत्तान या सीधे करके उन्हें प्रयत्न पूर्वक जंघा पर रखे तथा दोनों हाथों को भी उत्तान अर्थात् सीधे फैला कर जाँघों के बीच में लेजाय और दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करे। फिर जीभ को दाँतों के मूल में स्थापित करके हृदय पर ठोड़ी को लगाले और अपान वायु को ऊपर की ओर उठाकर यथाशक्ति धीरे-धीरे पूरक द्वारा प्राणवायु को धारण करे अर्थात् कुम्भक करे और फिर धीरे-धीरे ही रेचक द्वारा वायु को निकाल दे। इस प्रकार के अभ्यास से यह पद्मासन सिद्ध होजाता है। यह आसन सभी व्याधियों को नष्ट करने वाला और अत्यन्त दुर्लभ है। इसे योग के जानने वाला विद्वान साधक ही सिद्ध कर सकता है। तात्पर्य यह है कि इस आसन की सिद्धि उसी को हो सकती है, जिसे इसका ठीक प्रकार से ज्ञान हो। जिसे इसके बिषय में पूरी जानकारी न हो उसको इसकी सिद्धि नहीं हो सकती।१०५-१०८।

अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ॥१०९

पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः ।
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥११०

इस प्रकार उक्त आसन का अनुष्ठान करने वाले साधक के प्राण सम हो जाते और सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। इससे साधक की सस अवस्था हो जाती है, इसमें संदेह कहीं। जो योगी पद्मासन में स्थित होकर प्राण, अपान वायुओं को विधिवत् एक करने का अभ्यास सिद्ध कर लेता है, वह निश्चय ही संसार-सागर से मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥१०६-११०॥

उग्रासन वर्णन

प्रसार्य चरणद्वन्द्वं परस्परमसंयुतम् ।
स्वपाणिभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ॥१११
आसनोग्रमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनम् ।
देहावसानहरणं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम् ॥११२
य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः ।
वायुः पश्चिममार्गेण तस्य संचरति ध्रुवम् ॥११३

दोनों पाँवों को साथ-साथ मिलाकर और फैलाकर दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ ले और जानु पर शिर को रख ले। यह उग्रासन कहलाता है, इससे वायु का दीपन होता है तथा मृत्यु का भी नाश होता है। इस सर्वश्रेष्ठ आसन को पश्चिमोत्तान आसन भी कहते हैं। बुद्धिमान योगी को इसका साधन नित्य प्रति नियम पूर्वक करना चाहिए। इसके अभ्यास से साधक का वायु पश्चिम मार्ग से निश्चय ही संचार करता है ॥१११-११३॥

एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत् सिद्धमात्मनः ॥११४
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद् दुःखौघनाशिनी ॥११५

इस प्रकार अभ्यास में लग रहने वाले साधकों को सब प्रकार की सिद्धि होजाती हैं। इसलिए योगी का कर्त्तव्य है कि वह आत्मा की सिद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। यह आसन प्रयत्नपूर्वक गोपनीय है। इसे हर किसी को देने का निषेध है, केवल अधिकारी पुरुष को ही देना चाहिए। इस आसन के द्वारा शीघ्र ही वायु वशमें हो जाता है और दुःख एवं रोग आदि कष्टों का भी नाश होता है ॥११४-११५॥

स्वस्तिकासन वर्णन

जानूर्वोरन्तरे सम्यग् धृत्वा पादतले उभे ।
समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥११६
अनेन विधिना योगी मारुतं साधयेत् सुधीः ।
देहेन क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिध्यति ॥११७
सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ।
स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ॥११८

जानु और ऊरु के मध्य में समान रूप से पाँवों को नीचे-ऊपर रखे और समकाय अर्थात् शरीर को सीधा रखे और सुखपूर्वक आसन लगाकर बैठे। यह स्वस्तिकासन कहलाता है। इस विधि से विद्वान साधक वायु का साधन शीघ्र ही कर लेने में समर्थ होता है। जिसे वायु की सिद्धि होजाती है, उसके शरीर में कोई रोगादि व्याधि नहीं होती। अर्थात् जो पुरुष इस आसन को सिद्ध कर लेता है, उसे किसी प्रकार का नष्ट नहीं होता। यह सरलता पूर्वक सिद्धि हो जाता है, इसलिए यह सुखासन भी कहलाता है। यह सभी दुःखों का नाश करने वाला स्वस्तिकासन अथवा सुखासन योगियों को गुप्त ही रखना चाहिए। यह आसन सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त कल्याणकारी है ॥११६-११८॥

॥ शिव संहिता का तृतीय पटल समाप्त ॥

चतुर्थ पटल

मुद्रा प्रकरण

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ॥१

साधक का कर्त्तव्य है कि वह प्रथम परक प्राणायाम के द्वारा वायु को खींचकर स्वाधार अर्थात् मूलाधार चक्र में स्थित करे और गुदा तथा मेढ्र के बीच में जो योनि स्थान है, उसे प्रयत्न पूर्वक संकुचित करने की चेष्टा करे। (यह मुद्रा का प्रारम्भिक रूप है, जो कि अभ्यास से सिद्ध हो सकता है। नीचे योनिमुद्रा के विषय में विस्तृत प्रकाश डाला जाता है।) ।१।

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥२
तस्योर्ध्वे तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तथा सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥३

ब्रह्मयोनि के बीच में कन्दुकपुष्प के समान उज्वल तथा करोड़ सूर्यों की प्रभा के समान ज्योतिमानऔर करोड़ चन्द्रमाओं के समान शीतल कामदेव का ध्यान करना चाहिए। उसी के ऊपर सूक्ष्म ज्योतिशिखा के समान चमकती हुई, चिद्रूप एवं परम कला के सहित एक ही आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। अर्थात् ब्रह्मयोनि के ऊपर आत्मा सूक्ष्म ज्योतिशिखा के रूप में विद्यमान रहता है। साधक को उसी का ध्यान करना चाहिए ।३-४।

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥४
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥५

जीव उसी ब्रह्मयोनि से सुषुम्ना मार्ग द्वारा क्रमपूर्वक लिंग त्रय से प्रस्थान करता है । (लिंग त्रय का तात्पर्य तीन प्रकार के शरीर से है, शरीरधारी के तीन लिंग होते हैं—(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, और (३) कारण लिंग, मरने पर यह तीनों ही नहीं रहते तथा करोड़ों सूर्यों की प्रभा वाले करोड़ों चन्द्रमाओं जैसी शीतलता वाले, श्वेत और लाल वर्ण के परमानन्द स्वरूप एवं अमृत की धारा रूप में वर्षा करने वाले स्वर्गस्थ दिव्य कुलामृत का पान करके पुनः योनिमण्डल में जाकर स्थित होता है ।४-५।

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ॥६
पुनः प्रलीयते यस्या कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ॥७
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यं न साधयेत् ॥८

फिर प्राणायाम के योग से प्राणवायु ब्रह्मयोनि से चलता है, इसमें अन्यथा न समझो । मैंने उसी ब्रह्मयोनि को प्राण भी कहा है । फिर वह काल, अग्नि आदि से युक्त शिवात्मक (शिवस्वरूप जीव प्रस्थान करता हुआ चन्द्रमण्डल में पहुँचकर अमृत पान करता है और फिर ब्रह्मयोनि में ही स्थित हो जाता है । यही

बन्ध योनिमुद्रा कहलाता है, केवल इस बन्ध के करने मात्र से संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सिद्ध न हो सके।अर्थात् योनि मुद्रा सिद्ध कर ली तो सब कुछ सिद्ध कर लिया समझो ।।६-८।।

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्रा:कीलिता:स्तंभिताश्च ये ।
दग्धा मन्त्राः शिरोहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ।।६
मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्छिताश्च ये ।।१०

जो मन्त्र छिन्न स्वरूप, कीलित, स्तंभित, दग्ध, शिर-रहित मलिन या तिरस्कृत हैं अथवा जो बाल (अर्थात् कम प्रभाव वाले) (वृद्ध पूर्ण प्रभाव वाले), प्रौढ़ (मध्यम प्रभाव वाले), यौवन-गर्वित (अर्थात् उग्रस्वभाव के या उत्तेनात्मक), भेदयुक्त (भ्रम में डालने या भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले,सप्ताहों से मूर्च्छित अर्थात् क्रियाहीन पड़े हैं ।।६-१०।।

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्यः सत्ववर्जिताः ।
तथा सत्वेन हीनाश्च खंडिताः शतधा कृताः ।।११
विधिनानेन संयुक्तः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ।।१२

अथवा जो मन्त्र शत्रु के लिए हितकारी हैं, या जो निर्वीय और सत्वहीन हैं अथवा जो सत्वहीन होने के साथ ही खण्डित होकर सौ टुकड़ों में विभाजित हो गए हैं, वे सभी प्रकार के मन्त्र उक्त प्रकार से योनिमुद्रा सिद्ध कर लेने पर और गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करने पर सर्व सिद्धिप्रद तथा मोक्षदायक होजाते हैं ।।११-१२।।

यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभम् ।
तत्सिद्धि समवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥१३
दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा ।
ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥१४

अथवा योगी के मुख से जो मन्त्र शुभ वा अशुभ रूप से (शुद्ध या अशुद्ध शब्दों से) उच्चारण होता है, वह भी योनिमुद्रा के बन्धन से ही अनुकूल और सिद्ध होजाता है। गुरु का कर्त्तव्य है कि वह जिज्ञासु साधक को मन्त्र का अधिकार प्राप्त कराने के लिए विधिपूर्वक इस मुद्रा की दीक्षा देता हुआ उसे हजारों बार अभ्यास करावे। तात्पर्य यह है कि जिज्ञासु जिस गुरु की शरण में जाकर शिक्षा लेना चाहे, उस गुरु का भी यह कर्त्तव्य है कि जिज्ञासु को योगविद्या में पारंगत करने के लिए बहुत प्रकार से शिक्षित करे, जिससे उससे कोई भेद छिपा हुआ न रहे जाय ॥१३-१४॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबंधनात् ॥१५
गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥१६

यदि साधक से हजार हत्याएँ भी होजाँय अथवा त्रिलोकी के सभी प्राणियों का भी संहार कर डाले, तो भी इस मुद्रा के प्रभाव से उसे पाप लिप्त नहीं कर सकते। गुरु का हत्यारा, मद्य-पान करने वाला, चोरी करने वाला, गुरुतल्प में रमण करने वाला अथवा ऐसे ही अनेक प्रकार के पापों का करने वाला साधक भी इस योनिमुद्रा के बन्धन को सिद्ध कर लेने पर उन पापों के फल से बँध नहीं सकता ॥१५-१६॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्त्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिरभ्यासात्मोक्षमाप्नुयात् ॥१७
संविदं लभतेऽभ्यासात् योगोऽभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्रिणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ॥१८

इसलिए साधक का कर्तव्य है कि उक्त बन्धन के अभ्यास में नित्य परायण रहे। क्योंकि अभ्यास के सिद्ध होने पर ही सिद्धि होती है, और उसी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अभ्यास से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और उसी से योग की प्रवृति भी तथा अभ्यास से ही वायु साधन की सिद्धि भी है सकती है।१७-१८।

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
वाक् सिद्धः काम चारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥१९
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥२०

अभ्यास के द्वारा ही काल का उल्लंघन किया जा सकता है, उसी से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, उसी से वाणी की सिद्धि और इच्छित आचरण की शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए योगी को अभ्यास में ही तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा सर्व सिद्धि संभव है। यह योनि मुद्रा अत्यन्त गोपनीय है, इसलिए अनधिकारी पुरुष को कभी नहीं बतानी चाहिए। यदि प्राण कण्ठ तक भी पहुँच जाँय तो भी इसे न दे अर्थात् प्रयत्न पूर्वक छिपाये रहे।१९-२०।

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥२१

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जार्गात कुण्डली ।।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ।।२२

अब मैं जिस योग को कहता हूँ, वह परम सिद्धि का प्रदान करने वाला है। श्रेष्ठ सिद्धों का कर्तव्य है कि इस परम दुर्लभ विद्या को गोपनीय ही रखें। क्योंकि यह कठिनता से साध्य है। गुरु के प्रसन्न होने पर (उनके उपदेशानुसार) जब सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होती है, तब सभी पद्म (अर्थात् सभी चक्र) और सभी ग्रन्थियों का भेदन होजाता है। अर्थात् कुण्डलिनी के साथ प्राणवायु का संचार सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक सरल रूप से होने लगता है।२१-२२।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।।२३

इसलिए सब प्रकार से प्रयत्न करके साधक के ब्रह्मरन्ध्र के मुख में (मार्ग को रोक कर) सोती हुई कुण्डलिनी देवी को जाग्रत् करने के लिए मुद्रा के अभ्यास में तत्पर होना चाहिए। (अर्थात् कुण्डलिनी जागरण के प्रयत्न में लग जाना ही उचित है, क्योंकि जाग्रत हुई कुण्डलिनी ही साधक के लिए मोक्ष के देने वाली होती है।) ।२३।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा ।।२४
उड्डानं चैव वज्रोली दशगं शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ।।२५

अब दश मुद्राएँ बताते हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरिणी मुद्रा,

उड्डियानबन्ध, वज्रोलीमुद्रा और शक्तिचालिनी मुद्रा यह दश मुद्राएँ प्रमुख एवं सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ हैं ॥२४-२५॥

महामुद्रा वर्णन

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ।२६
अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥२७
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै ।
नव द्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥२८
चित्तं चित्तपथे दत्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥२९

मैं इस तन्त्र में जिन मुद्राओं का वर्णन कर रहा हूँ, इन्हीं मुद्राओं को उपलब्ध करके कपिल आदि प्राचीन ऋषि-मुनि सिद्ध होगए। यह मुद्रा इस प्रकार है कि बाँये पाँव की एडी से गुदा और मेढ्र के बीच में स्थित योनिस्थान को आदर सहित गुरु द्वारा उपदेशित विधि से दबानी चाहिए। फिर दाँये पाँव को पसार कर उसे दोनों हाथों से साथ ले और शरीर के नौ द्वारों को रोक कर ठोड़ी को हृदय पर अवस्थित करे और फिर चित्तवृत्ति को चैतन्य में स्थिर रूप से युक्त करके वायु का साधन करे। यह महामुद्रा सब प्रकार से गोपनीय है, (इसलिए साधक भी इसे गुप्त रखने का प्रयत्न करे) ॥२६-२९॥

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥३०

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥३१

जीवनं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।
कुण्डलीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥३२

इस मुद्रा का अभ्यास पहले बाँये अङ्ग से करे और फिर दाँये अङ्ग से। निश्चल मन वाले योगी को यह प्राणायाम समान रूप से करना चाहिए। इस प्रकार से मन्दभाग्य वाला योगी भी सिद्ध होजाता है। क्योंकि इसके प्रभाव से सभी नाड़ियों का चालन होता और बिन्दु स्थिर होजाता है। यह साधन जीवन को आकर्षित (स्थिर) रखने और सब प्रकार के पापों को नष्ट करने में समर्थ है। इसके द्वारा उसे कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में प्राण के साथ प्रविष्ठ करने की शक्ति प्राप्त हो जायगी ॥३०-३२॥

सर्वरोगोपशनं जठराग्निविवर्धनम् ।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम् ॥३३

वांछितार्थफलंसौख्यमिंद्रियाणाञ्च मारणम् ।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ॥३४

इस उपाय से सभी रोगों का उपशमन होकर जठराग्नि प्रदीप्त होजाती हैं। शरीर सुन्दर स्वच्छ कान्ति से युक्त होजाता और जरा-मृत्यु का नाश होता है (अर्थात् साधक सुन्दर, कान्तिवान् और दीर्घजीवी होजाता है)। योगी को सब प्रकार से इच्छित फल की प्राप्ति होकर सुख मिलता है और इन्द्रियों पर संयम रखने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस प्रकार यह जो

कुछ भी कहा है वह सब योगाभ्यास परायण पुरुष को अवश्य ही सिद्ध हो जाता है, इसमें विचार करने की कोई बात नहीं है ।३३-३४।

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ।।३५
मुद्रा शामदुधा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ।।३६

शिवजी ने पार्वती के प्रति कहा—हे देवताओं के द्वारा पूजी जाने वाली देवि ! इस मुद्रा को प्रयत्न-पूर्वक गोपनीय रखना चाहिए अर्थात् उसी व्यक्ति को बतावे जो इसमें रुचि रखता हो और करने में समर्थ दिखाई दे। योगिजन इसे उपलब्ध करके भवसागर से पार होजाते हैं। मेरे द्वारा कही हुई यह मुद्रा साधकों के लिए कामधेनु स्वरूप है अर्थात् इसके द्वारा उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं। इसको गुप्त रीति से साधन करना चाहिए और किसी अन्य व्यक्ति को कभी नहीं देना चाहिए ।३५-३६।

महाबन्ध वर्णन

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ।।३७
गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।।३८
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।।३९
नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं यान्ति योगिनः ।
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ।।४०

फिर पाँव को फैला कर बाँए ऊरु पर दाँये पाँव को रखे और गुदा तथा योनि को संकुचित करके अपान को ऊपर की ओर चढ़ावे जिससे कि वह समान वायु के साथ मिल कर प्राणवायु को नीचे की ओर करे। जो बुद्धिमान साधक प्राण-अपान के मिलनार्थ इस बन्ध का करता है, उसके लिए यह सिद्धिदायक होता है। अथवा योगी के नाड़ीजल से रसग्रह शिर की ओर जाता है अर्थात् इस बन्ध के ऊपर की ओर गमन करता है, इस प्रकार मुद्रा एवं बन्ध दोनों को ही एक-एक अंग से ठीक प्रकार प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए ॥३७-४०॥

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे ॥४१॥
संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥४२॥

इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में अवस्थित होता है और यह बन्ध साधक के शरीर को पुष्ट करने वाला भी है। इसके द्वारा योगी की शरीरस्थ अस्थियों का ढाँचा तथा उनके सभी बन्धन दृढ़ हो जाते हैं। उस योगी का हृदय सम्पूर्ण रूप से संतुष्ट होता है। इस बन्धन के प्रभाव से उस योगीन्द्र के सभी इच्छित पूर्ण होजाते हैं। इस अभ्यास के द्वारा उसे इन सभी लाभों की प्राप्ति होती है ।।४१-४२॥

महावेध वर्णन

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।
स्फिचौ संताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया ॥४३॥

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुंगवः ।
ग्रन्थि सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थि भिनत्त्यसौ ॥४४॥

शिवजी कहते हैं कि हे त्रिभुवनेश्वरि ! अपान और प्राण को संयुक्त करके महाबन्ध में स्थित योगी अपने उदर में वायु भर कर अपने दोनों पार्श्वों का ताड़न करे, यह वेध मेरे द्वारा कहा गया है। योगियों में श्रेष्ठ साधक ! इस वेध को करता हुआ सुषुम्ना के मार्ग ब्रह्मग्रन्थि के भेदन का प्रयत्न करता है। अर्थात् यह अभ्यास कुशल योगियों के द्वारा ही सिद्ध होना संभव है और वे ही इसके द्वारा अपनी इच्छित उपलब्धि को प्राप्त कर सकते है ॥४३-४४॥

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ॥४५॥
चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥४५॥

अथवा जो पुरुष इस श्रेष्ठ महावेध को गोपनीय रखता हुआ सतत अभ्यास करता है, उसे जरा मृत्यु का नाश करने वाली वायु सिद्ध होजाती है। शरीर में जो चक्र विद्यमान हैं उनमें स्थित देवता वायु के द्वारा ताड़ित होकर काँपने लगते हैं और कुण्डलिनी स्वरूपिणी महामाया कैलास में लय को प्राप्त होती है अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मस्थान में लीन होजाती है। अभिप्राय यह है कि शरीरस्थ षट्चक्रों में गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अग्नि आदि देवता विद्यमान हैं, वे वायु के वेग से उन्हें छोड़ देते है और वहां प्राणवायु प्रविष्ट होजाता है ॥४५-४६॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥४७॥

एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥४८॥

वेध के बिना न तो महामुद्रा सफल होती है और न महाबन्ध ही सफल हो सकता है। इसलिए योगी का कर्त्तव्य है कि वह प्रयत्नपूर्वक तीनों ही साधनों के अभ्यास में तत्पर होजाय। जो योगी मुद्रा, बन्ध और वेध इन तीनों को दिन-रात नित्यप्रति चार वार करता है, वह छः मास पर्यन्त निरन्तर करने पर मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है, इसमें संदेह नहीं है ॥४७-४८॥

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वासाधकाःसर्वे सिद्धिसम्यक्लभन्ति वै ॥४९॥
गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अन्यथा च न सिद्धिःस्यान्मुद्राणामेष निश्चय ॥५०॥

सिद्ध पुरुष इन तीनों के माहात्म्य को ठीक प्रकार से जानते हैं, अन्य व्यक्ति नहीं जानते। इसको जानने वाले साधक सभी सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं। सिद्धि की कामना करने वाले साधक का कर्त्तव्य है कि अपने अभ्यास को प्रयत्न पूर्वक गोपनीय रखे। यह निश्चय है कि इन मुद्रा आदि को साधारण लोगों पर प्रकट कर देने से सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥४९-५०॥

खेचरीमुद्रा वर्णन

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढा सुधीः ॥५१॥
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ॥५२॥

संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षण: ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधत: ॥५३॥

विद्वान् साधक भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे और अनेक प्रकार के उपद्रवों से रहित वज्रासन लगा कर बैठे। जिह्वा को गर्त में विपरीत रूप से लेजाय अर्थात् ऊपर की ओर से लौटा कर अमृत के कूप स्वरूप तालु के विवर में जाकर प्रयत्न पूर्वक संयोजित करे। यह मुद्रा खेचरी नाम से कही जाती है जिसे मैंने भक्तों के अनुरोध से (उनके हित के लिए) ही प्रकट किया है ॥५१-५३॥

सिद्धीनां जननीं ह्येषा मम प्राणधिकप्रिया ।
निन्तरकृताभ्यासात्पीयूष प्रत्यहं पिबेत् ।
तेन विग्रहसिद्धि: स्यान्मृयुमातङ्गकेसरो ॥५४॥

यह मुद्रा मेरे लिए प्राण से भी अधिक प्रिय है। क्योंकि यह सभी सिद्धियों को उत्पन्न करने वाली है। जो साधक निरन्तर इसका अभ्यास करता रहता है वह अवश्य ही अमृत का पान किया करता है। इसके द्वारा उन्हें विग्रह सिद्धि अर्थात् प्रतिमा रूप देवताओं की सिद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उस साधक का शरीर पुष्ट होजाता है और उसके भीतर चक्रस्थ देवता भी सन्तुष्ट रहते हैं। यह खेचरी मुद्रा मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है ॥५४॥

अपवित्र पवित्रो वा सर्वास्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशय: ॥५५॥
क्षणार्ध्द कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान् प्रभूक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥५६॥

साधक चाहे पवित्र हो अथवा अपवित्र हो या किसी भी अवस्था में स्थित हो, जिसे यह खेचरी मुद्रा सिद्ध होजाती है उसके लिए सभी कुछ शुद्ध होजाता है। इसमें कुछ संशय नहीं मानना चाहिए। इस खेचरी मुद्रा का साधन जो योगी आधे क्षण भी कर लेता है, वह पाप रूपी महासमुद्र से पार होकर सुखपूर्वक दिव्य भोगों को भोगने में समर्थ होगा और (यदि उसे पुनर्जन्म भी ग्रहण करना पड़ा तो) उत्तम उच्च कुल में उत्पन्न होगा ॥५५-५६॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु सुस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥५७॥
गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम् ।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ॥५८॥
सा प्राणासदृशी मुद्रा यस्मै कस्मै न दीयते ।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥५९॥

जो योगी इस खेचरी मुद्रा को करता हुआ स्वस्थ चित्त और ब्रह्म परायण रहेगा, उसे सौ ब्रह्माओं के जीवन व्यतीत होने वाला (दीर्घकाल भी) आधेक्षण के समान ही प्रतीत होगा। गुरु के उपदेश से जिस साधक को यह खेचरी मुद्रा प्राप्त होजाती है, वह यदि अनेक पापों में भी संलग्न रहा तो भी परम गति को प्राप्त होजाता है अर्थात् खेचरी मुद्रा के साधन से सभी पाप नष्ट होजाते हैं, और वह मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है। शिवजी कहते हैं कि हे देवपूजिते ! वह मुद्रा प्राण के समान है, इसलिए उसे चाहे जिस व्यक्ति को नहीं देनी चाहिए। वरन् प्रयत्न पूर्वक गुप्त ही रखे ॥५७-५९॥

जालन्धरबंध वर्णन

बद्धा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धो जालंधरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥६०॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम् ।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥६१॥

गलशिराजाल को बाँध कर ठोडी को हृदय से लगाले, यह जालन्धरबन्ध कहलाता है। यह बन्ध देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। सहस्रदल कमल अर्थात् सहस्रार से स्रवित होते हुए अमृत को नाभि में स्थित अग्नि पान कर लेता है परन्तु उसे वैसा न करने देने के लिए इस जालन्धरबन्ध को अवश्य करना चाहिए। (क्योंकि चन्द्रामृत का जठराग्नि द्वारा ग्रास कर लिये जाने से अन्त में मनुष्य की मृत्यु होजाती है, परन्तु जालन्धरबन्ध एक ऐसा साधन है, जो कि जठराग्नि को चन्द्रामृत पान करने से रोकता रहता है ॥६०-६१॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥६२॥
जालंधरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥६३॥

इस जालन्धर बन्ध के करने से बुद्धिमान साधक स्वयं अमृत पान की शक्ति प्राप्त कर लेता है और उससे उसे अमृतत्व की प्राप्ति होती है और वह उससे त्रिलोकी में सुखपूर्वक विचरण करता है। यह जालन्धर बन्ध सिद्धों के लिए सिद्धिदायक है, इसलिए जो साधक नित्य प्रति इसका अभ्यास करता है, वह सिद्धि को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि इस बन्ध के द्वारा

साधारण साधक ही नहीं, वरन् सुसिद्ध साधक भी लाभान्वित होते हैं ॥६२-६३॥

मूलबन्ध वर्णन

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ॥६४॥
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥६५॥
अपान प्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥६६॥

पाँव की एड़ी से गुदामार्ग को दबावे और बलपूर्वक अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करे। (इस प्रकार अपान को ऊपर ले जाकर प्राण से मिलावे) इस जरा-मरण नाशक बन्ध को मूलबन्ध कहते हैं। इस प्रकार कल्पित हुए इस बन्ध के द्वारा अपान और प्राण को संयुक्त करने से योनिमुद्रा स्वतः ही सिद्ध हो जाती है ॥६४-६६॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥६७॥
सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुङ्गव ॥६८॥

सिद्ध पुरुषों को इस योनिमुद्रा के सिद्ध हो जाने से ऐस कौन-सा पदार्थ है जो उपलब्ध नहीं हो सकती ? इस बन्ध के प्रभाव से वायु को सहज में ही जीता जा सकता है और ऐसा होने पर साधक पद्मासन लगा कर बैठे तो (खचेरी मुद्रा के साधन द्वारा) पृथ्वी को छोड़कर ऊपर उठने लगेगा (और

आकाश में विचरण करने लगेगा। यदि कोई श्रेष्ठ योगी इस संसार सागर से पार जाना चाहे तो उसे निर्जन प्रदेश में गुप्त रूप से इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए ॥६७-६८॥

विपरीतकरणी मुद्रा

भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
दिपरीतकृतिश्चैषासर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥६९॥
एतद् यः कुरुते नित्यमभ्यासं यामममात्रतः ।
मृत्युं जयति योगीशः प्रलयेनापि सीदति ॥७०॥
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ॥७१॥

योगी अपने शिर को पृथिवी में टेककर, दोनों पाँवों को आकाश की ओर उठा कर सीधे करे, इसी को विपरीतकरिणी मुद्रा कहते हैं। यह सब प्रकार से गुप्त रखने के योग्य है। (इस मुद्रा में शिर नीचे और पाँव ऊपर अधर में रखे जाते हैं) इस प्रकार इस मुद्रा का अभ्यास जो नित्यप्रति एक प्रहर (अर्थात् तीन घंटे) तक निरन्तर करे तो वह अवश्य ही मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है और प्रलय में भी उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। इस प्रकार जो साधक शरीर में विद्यमान अमृत का पान करता है, उसे सिद्धों की समानता प्राप्त हो जाती है (अर्थात् वह सिद्ध हो जाता है) और इस बन्ध के करने वाला वह योगी सभी लोकों में पूजित होता हैं ।६९-७१॥

उड्डयानबन्ध वर्णन

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्डयानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥७२॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वे तु कारयेत् ।
उड्डयानाख्योऽत्र बन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।।७३।।

नाभि से ऊपर और नीचे पश्चिम तान का आचरण करे अर्थात् इस प्रकार तान अर्थात् आकर्षण करे जिससे कि वे दोनों भाग पीठ में जाकर लग जाँय। यह उड्डयान बन्ध कहलाता है। पेट को पीछे की ओर आकर्षित करता हुआ नाभि के ऊपर के भाग में आकुंचित करे, यही उड्डयान बन्ध है,जोकि मृत्युरूपी हाथी को वश में करने के लिए सिंह के समान है। तात्पर्य यह है कि इस बन्ध के अभ्यास से साधक मृत्यु रूपी दुःख का उल्लंघन कर जाता है अथवा यह समझिये कि जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।।७२-७३।।

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्सु शुद्धिः साद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ।।७४।।
षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ।।७५।।

जो योगी इस बन्ध का नित्यप्रति चार बार अभ्यास करता है, उसके नाभिमण्डल का शोधन हो जाता है और वायु भी सिद्धि हो जाता है। यदि योगी छः महीने तक इस बन्ध के अभ्यास में तत्पर रहता है तो वह अवश्य ही मृत्यु को जीतने में समर्थ होता है और उसके उदर की अग्नि विशेष रूप से प्रदीप्त होती है तथा रस की वृद्धि होने लगती है। आशय यह है कि यह बन्ध जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला और रस की वृद्धि करके शरीर की धातुओं को भी पुष्ट करने वाला है। इसी से इसके साधन से मृत्यु का जीतना कहा गया है ।।७४-७५।।

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ।।७६।।
गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ।
निर्जने सुस्थिते देमे बन्धं परमदुर्लभम् ।।७७।।

इस बन्ध के प्रभाव से योगी का शरीर स्वयं ही सिद्धि को प्राप्त होजाता है और यह निश्चय ही उसके सभी रोगों का नाश करता है। यह बन्ध अत्यन्त ही दुर्लभ है, इसकी उपलब्धि गुरु की कृपा से ही सम्भव है। इसकी प्राप्ति के लिए विद्वान् साधक स्वस्थ चित्त से एकान्त स्थान में अभ्यास करे। आशय यह है कि चित्त को एकाग्र करने के लिए एकान्त स्थान उपयुक्त रहता है, जनाकीर्ण स्थान में चित्त स्थिर नहीं रह सकता ।।७६-७७।।

वज्रोलीमुद्रा वर्णन

वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ।
स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ।।७८।।
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना ।
मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।।७९।।
वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः ।
तस्मादतिप्रत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा ।।८०।।

शिवजी कहते हैं कि अब मैं अपने भक्तों के लाभार्थ संसार के अन्धकार को दूर करने वाली गुह्य से भी गुह्यवज्रोली मुद्रा का वर्णन करता हूँ। इसके साधन से गृहस्थ स्वेच्छापूर्वक घर में रहता हुआ वहाँ के सभी भोगों की प्राप्त करता है और योगी साधक योगोक्त नियमों के बिना भी वज्रोली मुद्रा के ही अभ्यास से मोक्ष को प्राप्त होजाता है। इस वज्रोली मुद्रा का अभ्यास

भोगी पुरुषों के लिए भी मोक्ष का देने वाला है और योगियों के लिए तो इसका सदैव करना कर्त्तव्य है ही ।।७८-८०।।

आदौ रजःस्त्रियो योन्याःयत्नेन विधिवत्सुधीः ।
आकुंचय लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ।।८१।।
स्वकं बिंदुश्च सम्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ।।८२।।

पहले विद्वान् साधक विधि-विधान से प्रयत्न पूर्वक योनि से रज को उपस्थ-नाल में आकर्षित करे और अपने देह में प्रविष्ट कर ले तथा बिन्दु का निरोध करके लिंगचालन का आचरण करे। इस क्रिया में यदि दैववशात् बिन्दु अपने स्थान से च्युत होजाय तो उसको योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध कर ले ।।८१-८२।।

वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिंगं निवारयेत् ।
क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालनमाचरेत् ।।८३।।
गुरूपदेशतो योगी हुंहुंकारेण योनितः ।
अपानवायुमाकुंच्य बलादाकृष्य तद्रजः ।।८४।।

उक्त प्रकार से बिन्दु को निबद्ध करके ऊपर की ओर आकर्षित करे और बाँये भाग में स्थित करके क्षणभर के लिए लिंग-चालन क्रिया को रोक दे और फिर गुरु के उपदेशानुसार वह योगी हुँहुँकार शब्द का उच्चारण करता हुआ पुनः चालन-क्रिया में प्रवृत्त होजाय और बलपूर्वक अपान वायु का आकुंचन करता हुआ रज का आकर्षण करे। यही वज्रोली मुद्रा कही जाती है ।।८३-८४।।

अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
भव्यभुक् कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूजकः ।।८५।।

विंदुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा ।
उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥८६॥

इस विधि से योगी के लिए योग की सिद्धि शीघ्र ही सुलभ होगी और वह गुरु के चरणकमलों को पूजने वाला योगी अपने शरीर में विद्यमान अमृत का पान करने में समर्थ होगा। बिन्दु को चन्द्रमा स्वरूप और रज को सूर्य स्वरूप जान कर दोनों को संयुक्त करे और अपने शरीर में प्रविष्ट कर ले ॥८५-८६॥

अहं बिंदू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥८७॥
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ॥८८॥

यदि साधक मेरे स्वरूप (अर्थात् शिव स्वरूप) में विन्दु और शक्ति स्वरूप में रज को समझता हुआ इन दोनों को संयुक्त करता है, तो इस प्रकार साधन से वह योगी दिव्य शरीर वाला होजाता है। आशय यह है कि शक्ति को शिव में अथवा माया को ईश्वर में लय करने से मोक्ष होना मानते हैं और यह शिव-शक्ति संयोग बिन्दु और रज का मेलन ही है। जो साधक इसे सिद्ध कर लेता है, वह सांसारिक बन्धन से मुक्त होजाता है। परन्तु बिन्दुपात होने से साधक का मरण और बिन्दुधारण से जीवन रहता है। इसलिए प्रयत्न पूर्वक बिन्दु का धारण ही उचित है। आशय यह है कि विन्दु-रज के मेलन काल में बिन्दु का पात नहीं होना चाहिए, अन्यथा साधना निष्फल होजाती है, और फिर बिन्दु ही तो शरीर का जीवन है उसके बिना सामर्थ्य नहीं रहती और सामर्थ्य का न रहना तो मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष

मृत्यु के ही समान है, इससे कभी भी, किसी भी दशा में बिन्दु-क्षय का रोकना प्रमुख कर्त्तव्य है ॥८७-८८॥

जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ॥८९॥
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले ।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥९०॥

शरीरधारी का जन्म-मरण बिन्दु से ही होता है, इसमें कोई संशय नही है। अर्थात् बिन्दु (शुक्र) ही शरीर के उत्पन्न होने में कारण है और बिन्दु का अभाव उसके मरण में कारण होता है। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करके योगी को बिन्दु की रक्षा के आचरण में सदा तत्पर रहना चाहिए। महान् यत्न करने पर भी उपलब्ध बिन्दु की सिद्धि पृथिवी में क्या सिद्ध नहीं करा सकती? अर्थात् बिन्दु-रक्षा में सभी सिद्धियाँ निहित हैं और बिन्दु-रक्षा के प्रसाद से ही मेरी भी यह महिमा बनी हुई है। अर्थात् बिन्दु की रक्षा करने वाला साधक मेरे ही समान महिमावान होजाता है ॥८९-९०॥

बिन्दुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखं च संस्थितः ।
संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ॥९१॥
अयं च शांकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ॥९२॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगभुक्तोऽपि मानवः ।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ॥ ३॥

सांसारिक सुख-दुःख में संस्थित होने का कारण बिन्दु ही होता है। इस प्रकार मूर्खों और जरा-मरण में पड़े हुए संसारी जीवों के लिए यह एक श्रेष्ट साधन है। जो मनुष्य भोगयुक्त हों

उनके लिए भी इसके अभ्यास से सिद्धि प्राप्त होकर संसार में सभी इच्छित पदार्थों की सिद्धि होजाती है। अर्थात् बिन्दु की रक्षा करने वाला पुरुष भोगी गृहस्थ हो तो भी उसकी कामना पूर्ति होती रहती है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं रहता, जो इच्छा करने पर भी उसे प्राप्त न होजाय ॥६१-६३॥

भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ॥६४॥

इस योग के अभ्यास में सिद्ध हुआ साधक अपने अशेष भोगों को भोगता हुआ अवश्य ही सुखी रहता हैं तथा योगिजनों को इस मुद्रा के साधन द्वारा निश्चय ही सर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। क्योंकि यह साधना महान् सुख को भोगते-भोगते ही सिद्ध होजाती है, इसलिए इसका अभ्यास करना चाहिए। आशय यह है कि वज्रोली मुद्रा के साधन में कोई कष्ट नहीं होता और अशेष भोगों का भोग यदि अशुभ भी हो तो भी वह सुखपूर्वक पूरा होजाता है ॥६४॥

सहजोलल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ।
येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रचारयेत् ॥६५॥

अमरोलीमुद्रा वर्णन

दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत् ॥९६॥

वज्रोली मुद्रा के भेद से ही सहजोली और अमरोली मुद्राओं का भी नाम रखा गया। इन सब में सार बात यही है कि योगी जिस प्रकार भी हो सके, बिन्दु का धारण करे। अर्थात् शुक्र-

रक्षा में असावधान न रहे। यदि दैवयोग से उत्तेजनावश बिन्दु अपने स्थान से चलायमान होजाय और साधक रज-बिन्दु के मेलन में भी सफल होजाय तो यह मुद्रा अमरोली कहलाती है। इसमें लिंगनाल (वीर्यवाहिनी नाड़ी) द्वारा रज-बिन्दु का शोषण किया जाती है ॥६५-६६॥

सहजोलीमुद्रा वर्णन

गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ।
सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥६७॥
संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ॥६८॥

यदि अपना बिन्दु चलित होजाय तो योगी को योनि-मुद्रा के बन्ध द्वारा अवरोध करना चाहिए। यह सब प्रकार से गोपनीय मुद्रा सहजोली कहलाती है। यद्यपि दोनों का कार्य एक जैसा है, तथापि संज्ञाभेद से इसके अमरोली और सहजोली दो भेद होगए हैं। इसलिए योगी को इन दोनों मुद्राओं का साधन सदा पूरे प्रयत्न के साथ करना चाहिए ॥६७-६८॥

अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ।
गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥६६॥
एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ॥१००॥

शिवजी ने पार्वतीजी के प्रति कहा—हे प्रिये ! मैंने यह साधन भक्तों पर स्नेह करने के लिए ही कहा है। परन्तु यह इतना गोपनीय है कि हर किसी व्यक्ति को नहीं देना चाहिए। इस वज्रोली मुद्रा से अधिक गोपनीय कोई अन्य साधन न तो

पहले कभी था और न भविष्य में होगा। इसलिए बुद्धिमान साधक इसे प्रयत्न पूर्वक गुप्त ही रखे ॥९९-१००॥

स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना।
स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः ॥१०१॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत्।
बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥१०२॥

गुरु के उपदेश के अनुसार अपना मूत्र त्याग करने के समय साधक सदा बलपूर्वक वायु से आकर्षण करता हुआ धीरे-धीरे मूत्र को त्यागे और फिर ऊपर की ओर आकर्षित करे तो इस अभ्यास द्वारा बिन्दु सिद्ध होजाता है। यही बिन्दु-सिद्धि साधक को महान् सिद्धि प्रदान करने वाली है। आशय यह कि बिन्दु की सिद्धि के लिए साधक को उपर्युक्त प्रकार से थोड़े-थोड़े मूत्र-त्याग का अभ्यास करना चाहिए ॥१०१-१०२॥

षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया।
शताङ्गनानां भोगेऽपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥१०३॥
सिद्धे बिंदौ महायत्ने किं न सिध्यति पार्वति।
ईशुत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥१०४॥

गुरु की शिक्षा के अनुसार योगी यदि उक्त क्रिया का अभ्यास छः महीने भी कर ले तो सौ स्त्रियों से संसर्ग करने पर भी उस का बिन्दु-क्षय नहीं होगा। हे पार्वति! इस प्रकार महान् प्रयत्न करके भी यदि बिन्दु सिद्ध होजाय तो उस साधक के लिए क्या सिद्ध नहीं होजाता? अर्थात् सभी कुछ सिद्ध होजाता है। इस बिन्दु-सिद्धि के प्रसाद से मुझे इस दुर्लभ ईशत्व की प्राप्ति हुई है ॥१०३-४०४॥

शक्तिचालन मुद्रावर्णन

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥१०५
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥१०६

आधार कमल अर्थात् मूलाधार चक्र में जो कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है, उसे बुद्धिमान साधक अपानवायु पर आरूढ़ होकर और बलपूर्वक उसे आकर्षित करता हुआ चालन करे। यह शक्तिचालन मुद्रा है, जो सभी शक्तियों के देने वाली होती है। स शक्तिचालन मुद्रा के नित्यप्रति अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होकर आयु की वृद्धि होती है ॥१०५-१०६॥

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥१०७
यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ॥१०८

इस शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से भुजंगी अर्थात् सर्पिणी जैसी आकृति वाली कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर स्वय ही (सुषुम्न मार्ग से) ऊपर चढ़ने लगेगी। इसलिए सिद्धि की कामना करने वाले यागी को इसका अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि जो साधक इस शक्तिचालन मुद्रा का निरन्तर अभ्यास करता है, उसका शरीर निश्चय ही सिद्ध अर्थात् अमर होजाता है और अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होजाती है ॥१०७-१०८॥

गुरूपदशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिनाशनम् ॥१०९
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥११०
एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।
एकैकाभ्यासने सिद्धिःसिद्धौ भवति नान्यथा ॥१११

गुरु के उपदेश की विधि से इसका साधन करने वाले पुरुष के लिए मृत्युभय कहाँ ? यदि दो मुहूर्त्त भर ही इसका साधन कर ले तो शक्ति का नाश रुक जाता है और प्रयत्न पूर्वक इसके अभ्यास में लगा रहता है, उसे तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो ही जाती हैं। इसलिए किसी भी युक्त आसन से बैठ कर इस शक्ति चालन मुद्रा का अभ्यास करना योगी का कर्त्तव्य है। इस प्रकार मेरे द्वारा कही हुई यह दश मुद्राएँ अभूत-पूर्व हैं। इनके समान न तो कोई साधन हुआ, न होगा ही। इसमें से एक-एक का अभ्यास करता हुआ साधक अवश्य ही सिद्धि को प्राप्त करता हुआ सिद्ध होजाता है ॥१०९-१११॥

शिव संहिता का चतुर्थ पटल समाप्त

पंचम पटल

योग प्रकरण

ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति ।
ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर ।।१

भगवती पार्वतीजी बोलीं—हे ईशान ! हे परमप्रिय शिव ! योगाभ्यास के अवसर पर जो-जो विघ्न उपस्थित होते हैं, उन्हें मेरे प्रति कहिये । तात्पर्य यह है कि योग का अभ्यास करने वाले साधक को अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है । इसलिए अपने भक्तों पर उपकार करने के उद्देश्य से ही पार्वतीजी ने उन विघ्नों के विषय में जिज्ञासा प्रकट की ।।१

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नः स्थिरताः सदा ।
मुक्ति प्रति नराणां च भोगः परमबन्धनः ।।२

शिवजी ने कहा—हे देवि ! योग साधन के समय जो विघ्न उपस्थित हो जाते हैं, उन्हें कहता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो । देखो, मनुष्यों के मोक्ष के लिए भोग परम बन्धन स्वरूप है ।।२

नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम् ।
ताम्बूलभक्षयानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः ।।३
हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नं चागुरुधेनवः ।
पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम् ।।४
वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेंद्रश्चाश्ववाहनम् ।
भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमान् शृणु ।।५

स्त्री-संसर्ग, शय्या, श्रेष्ठ आसन, वसन और धन यह सब मोक्ष के लिए विडम्बना स्वरूप ही हैं। ताम्बूल का भक्षण और सवारी आदि राज्य विषयक ऐश्वर्य, भोग आदि के साधन, स्वर्ण, रौप्य, ताम्र एवं अगरु आदि सुगंधित द्रव्य तथा धेनु आदि का संग्रह करना, यह सब विघ्न रूप ही हैं। पाण्डित्य प्रदर्शन करना, वेदशास्त्रों का व्याख्यान करना, नृत्य, गीत शृंगार, वंशी, वीणा, मृदंग आदि वाद्यों में तल्लीन रहना, हाथी-घोड़े आदि वाहनों का प्रयोग करना आदि सब भोगरूपी विघ्न हैं। अब धर्मरूपी विघ्नों को कहता हूँ, उन्हें सुनो ॥३-५-।

स्नानं पूजाविधिर्होमं तथा मोक्षमयी स्थितिः ।
व्रतोपवासनियमा मौनमिन्द्रियनिग्रहः ॥६
ध्येयो ध्यानं तथा मन्त्रो दानं ख्यातिर्दिशासु च ।
वापीकूपतडागादिप्रासादारामकल्पना ॥७
यज्ञं चान्द्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विविधानिच ।
दृश्यन्ते च इमे विघ्ना धर्मरूपेण संस्थिता ॥८

स्नान करना, पूजन या होम करना, मोक्षमयी (अर्थात् द्वन्द्व-रहित) स्थिति में रहना, व्रत या उपवास करना, नियम-पालन करना, मौन रहना और इन्द्रिय निग्रह करना, ध्येय वस्तु का ध्यान करना, मन्त्रोच्चारण में लगे रहना, दान देना, सब दिशाओं में ख्याति प्राप्त होना, बावड़ी, कूप, सरोवर, प्रासाद (भवन), उद्यानादि की कल्पना करना (अर्थात् बनवाना), यज्ञों और कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतों को करना, विविध तीर्थों में तीर्थाटन करना आदि यह सब धर्मरूपी विघ्न दिखाई देते हैं ॥६-८॥

यत्तु विघ्नं भवेज्ज्ञानं कथयामि वरानने ।
गोमुखं स्वासनं कृत्वा धौतिप्रक्षालनं च तत् ॥९
नाडीसञ्चारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनम् ।
कुक्षिसञ्चालनं क्षिप्रं प्रवेश इंद्रियाध्वना ।
नाडीकर्माणि कल्याणि भोजनं श्रूयतां मम ॥१०

शिवजी कहते हैं कि श्रेष्ठ मुख वाली पार्वति अब मैं ज्ञान-रूपी विघ्न को कहता हूँ—आसन से बैठ कर अन्तंशुद्धि के उद्‌देश्य से गोमुख के समान वस्त्र रखते हुए धौति का प्रक्षालन करना अर्थात् धौति-योग करना, नाड़ी-संचार का ज्ञान प्राप्त करना, वायु के प्रत्याहार का निरोध करना, कुण्डलिनी के जागरणार्थ कुक्षि संचालन करना,इन्द्रिय द्वारा शीघ्र प्रवेश करना और नाड़ी-शुद्धि के लिए आहार के आचार-विचार का पालन करना, यह सभी ज्ञान रूपी विघ्न हैं। हे कल्याणि ! अब मैं नाड़ी-शोधनार्थ भोजन विधि कहता हूँ, उसे सुनो ॥९-१०॥

नवधातुरसं छिन्धि शुण्ठिकास्ताडयेत् पुनः ।
एककालं समाधिः स्याल्लिगभूतमिदं शृणु ॥११
संगमं गच्छ साधूनां संकोचं भज दुर्जनात् ।
प्रवेशनिर्गमे वायोर्गुरुलक्षं विलोकयेत् ॥१२
पिण्डस्थं रूपसंस्थञ्च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयं च प्रशाम्यति ।
इत्येते कथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिताः ॥१३

नवीन रसयुक्त भोज्य वस्तु तथा सोंठ चूर्ण युक्त भोजन करे अर्थात् भोजन के उपरान्त शुण्ठिचूर्ण का सेवन किया

जाय। ऐसा करने से समाधि शीघ्र होती है। मैं उसका लक्षण कहता हूँ, उसे भी सुनो साधु का संग और दुर्जन से दूर रहने का निश्चय रखना तथा निर्गम में प्रवेश और कुम्भक के समय गुरु और लघु का अवलोकन करना। शरीर में स्थित रूप (आत्मरूप) का विचार रखते हुए निश्चय करना कि रूपवान और रूप-रहित क्या है? तथा इस दृश्य-प्रपंच के ब्रह्मरूप होने विषयक विचार को हृदय में स्थिर रखना। यह जो बताये गये हैं, वे सब ज्ञान रूप विघ्न समझने चाहिए ।।११-१३।।

चतुर्विधयोग वर्णन

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः ।
चतुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधाभाववर्जितः ।।१४
चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकः ।
अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघनक्षमः ।।१५

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग के भेद से योग के चार प्रकार हैं। इनमें लययोग तीसरा और राजयोग चौथा तथा द्वैत भाव से रहित है। तात्पर्य यह है कि राजयोग के साधक में द्वैतभाव का अभाव रहता है जिससे कि वह परमात्मा से ऐक्य स्थापिन कर लेता है। यह चार प्रकार के योग चार प्रकार के साधकों द्वारा ही सिद्ध होते हैं। अर्थात् इनके साधक भी मृदु, मध्यम, अधिमात्र और अधिमात्रतम के भेद से चार प्रकार के होते हैं। इन साधकों में अधिमात्रतम साधक सब से अधिक श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह भवसागर से शीघ्र पार जाने में सक्षम होता है ।।१४-१५।।

मन्दोत्साही सुसंमूढो व्याधिस्थो गुरुदूषकः ।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः ।।१६

चपल:कातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुर: ।
मंदाचारो मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुमानव: ॥१७
द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नत: परम् ।
मन्त्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम् ॥१८

मृदु साधक का लक्षण यह हैं कि मन्द उत्साह वाला, मूढ़-चेता, व्याधि से ग्रस्त, गुरु की निन्दा करने वाला, लोभी, पाप बुद्धि से युक्त, बहुत भोजन करने वाला, स्त्री के वश में रहने वाला, चपल चित्त, कातर, रोगी, पराधीन, अत्यन्त निष्ठुर, मन्द आचरण वाला और मन्द वीर्य वाला पुरुष मृदु मानव कहलाता है। ऐसा साधक मन्त्रयोग का अधिकारी होता है। गुरु की प्रसन्नता प्राप्त करके प्रयत्न पूर्वक साधना करने वाले पुरुष को द्वादश वर्ष में सिद्धि की प्राप्ति होती है ॥१६-१८

समबुद्धि क्षमायुक्त: पुण्याकांक्षी प्रियंवद: ।
मध्यस्थ: सर्वकार्येषु सामान्य: स्यान्न संशय: ।
एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते मुक्तितो लय: ॥१९

मध्यम साधक का लक्षण यह है कि जो साधक समबुद्धि वाला, क्षमायुक्त, पुण्य फल प्राप्ति की इच्छा से शुभ कर्म करने वाला, प्रिय बोलने वाला, सभी कार्यों या सभी विषयों में मध्यस्थ रहने वाला और सामान्य अर्थात् सब स्थितियों में समान भाव रखने वाला उसे मध्यम साधक कहते हैं। इसे जान कर अभ्यास परायण रहते हुए साधक को लय योग का उपदेश करना चाहिए। क्योंकि लययोग मुक्ति का मार्ग है ॥१९

स्थिरबुद्धिर्लये युक्त: स्वाधीनो वीर्यवानपि ।
महाशयो दयायुक्त: क्षमावान् सत्यवानपि ॥२०

शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्ज पूजकः ।
योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः ।।२१

एतस्य सिद्धिः षड् वर्षैर्भवेदभ्यासयोगतः ।
एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च सांगतः ।।२२

अब अधिमात्र संज्ञक साधक का लक्ष्यकहा जाता है—स्थिर बुद्धि वाला, लययोग में तत्पर, स्वाधीन, वीर्यवान अर्थात् शक्ति शाली, महाशय अर्थात् विस्तृत दृष्टिकोण वाला, दयामय, क्षमा-वात् सत्यवान् अर्थात् असत्य से बचने वाला हो तथा जो शूर और समाधि मैं श्रद्धा रखने वाला हो । जो गुरु के चरण-कमलों की पूजा करने वाला तथा योगाभ्यास में परायण हो । ऐसा साधक अधिमात्र कहलाता है । इसके छः वर्ष पर्यन्त निरन्तर अभ्यास करते रहने से सिद्धि प्राप्त हो सकता है । गुरु ऐसे धीर साधक को अंगयुक्त हठयोग का उपदेश करे ।।२०-२२।।

महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि ।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्मोहश्च निराकुलः ।।२३

नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेन्द्रियः ।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः ।।२४

अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी ।
सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियंवदः ।।२५

अधिमात्रतम साधक के लक्षण यह हैं कि वह महान् वीर्य (बल) से समन्वित, उत्साहयुक्त, शूरता से सम्पन्न शास्त्र का ज्ञाता, अभ्यास शील, मोह-रहित आकुलता से रहित, नवीन यौवन से युक्त, अल्प आहार करने वाला, जितेन्द्रिय, भय-रहित शुद्ध अर्थात् पवित्र आचरण वाला, दक्ष अर्थात् सभी कार्यों में

चचुर, दाता अर्थात् उदारता से दान देने वाला, सब लोगों को आश्रय स्वरूप, अधिकारी, स्थिर चित्त वाला, बुद्धिमान, सदा सन्तोष रखने वाला, क्षमाशील, सुशील (श्रेष्ठ आचरण वाला) धर्म का आचरण करने वाला, अपने कार्यों को गुप्त रखने वाला और सबसे प्रिय बोलने वाला होता है ॥२३-२५॥

शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवतागुरुपूजकः ।
जनसंगविरक्तश्च महाव्याधिविवर्जितः ॥२६
अधिमात्रतरो ज्ञेयः सर्वयोगस्य साधकः ।
त्रिभिस्संवत्सरैः सिद्धिरेतस्य नात्र संशयः ।
सर्वयोगाधिकारी स नात्र कार्या विचारणा ॥२७

अधिमात्रतम संज्ञक साधक शास्त्रों में विश्वास रखने वाला होता है। देवताओं और गुरु के पूजन से परायण रहने वाला, परन्तु लोगों के संग अथवा संग से दूर रहने वाला होता है। उसे कोई महाव्याधि (महामारी आदि) नहीं व्यापती। ऐसा जो साधक सब प्रकार के योगाभ्यास में तत्पर रहता है, वह अधिमात्रतम कहलाता है। इसे तीन वर्ष के निरन्तर अभ्यास से अवश्य ही सिद्धि प्राप्ति होती है और वह सभी प्रकार के योग का अधिकारी होता है. इसमें किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए। अर्थात् यहाँ जो लक्षण अधिमात्रतम साधक के कहे हैं, उनसे सम्पन्न साधक सभी प्रकार के योगाभ्यास में समर्थ होता है ॥२६-२७॥

प्रतीकोपासना वर्णन

प्रतीकोपासना कार्या दृष्टादृष्टफलप्रदा ।
पुनाति दर्शनादत्र नात्र कार्या विचारणा ॥२८

गाढ़ातपे स्वप्रतिबिम्बितेश्वर
निरीक्ष्य विस्फारितलोचनद्वयम् ।
यदा नभः पश्यति स्वप्रतीकं
नभोऽङ्गणे तत्क्षणमेव पश्यति ॥२९

अब प्रतीकोपासना के विषय में बताया जाता है—प्रतीक उपासना दृष्ट-अदृष्ट फल के देने वाली है तथा उसके दर्शन मात्र से ही उपासक पवित्र होजाता है, इसमें विचारने की कोई बात नहीं है। अर्थात् जो कुछ यहाँ कहा गया है, उसमें सब सत्य ही है। गाढ़ आतप अर्थात् कठिन धूप में नेत्रों को स्थिर करके जो साधक अपने ईश्वर के प्रतिबिम्ब को देखे और जब शून्य में अपना प्रतीक प्रतिबिम्ब)दिखाई देने लगे तव वह उस प्रतिबिम्ब को आकाश में देखने में अवश्य ही समर्थ होता है॥२८-२९॥

प्रत्यहं पश्यते यो वै स्वप्रतीकं नभोऽङ्गणे ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य न मृत्युः स्यात्कदाचन ॥३०
यदा पश्यति सम्पूर्णं स्वप्रतीकं नभोऽङ्गणे ।
तदा जयं सभायां च युद्धे निर्जित्य सञ्चरेत् ॥३१
यः करोति सदाभ्यासं चात्मानं विन्दते परम् ।
पूर्णानन्दैकपुरुषं स्वप्रतीकप्रसादतः ॥३२

जो साधक अपने प्रतीक रूप प्रतिबिम्ब को आकाश में देखता है, उसके प्रभाव से उसकी आयु-वृद्धि होती है और मृत्यु कभी नहीं होती। यदि उसे आकाश में अपना सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगे तो सभा में उसकी विजय होती है और वह युद्ध में भी शत्रु को जीतने में समर्थ होता है। यदि वह साधक अपने प्रतीक की उपासना का अभ्यास करता है तो उसे आत्मा

की प्राप्ति होती है और इसी प्रतीकोपासना के प्रभाव से पूर्णानन्द स्वरूप (आत्मा) का दर्शन होता है। अभिप्राय यह है कि प्रतीकोपासना से हृदयाकाश में आत्म-दर्शन होता है और साधक परम आनन्द का अनुभव करने लगता है ॥३०-३२॥

यात्राकाले विवाहे च शुभे कर्मणि सङ्कटे ।
पापक्षये पुण्यवृद्धौ प्रतीकोपासन चरेत् ॥३३
निरन्तरकृताभ्यासादन्तरे पश्यति ध्रुवम् ।
तदा मुक्तिमवाप्नोति योगी नियतमानसः ॥३४

यात्रा के समय, विवाह के समय, शुभ-कर्म के समय अथवा सकट काल में, पाप का क्षय होने या पुण्य की वृद्धि होने के समय यदि प्रतीकोपासना का आचरण करे तो अवश्य ही श्रेय की प्राप्ति होती है। यदि प्रतीकोपासना का निरन्तर अभ्यास किया जाय तो अवश्य ही अपने हृदयाकाश में अपना प्रतिविम्ब भासित होने लगता है। उस अवस्था में वह निश्चयात्मा योगी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥३३-३४॥

अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने ।
नासारन्ध्रे च मध्याभ्यामनामाभ्यां मुखं दृढम् ॥३५
निरुध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम् ।
तदा तत्क्षणमात्मानं ज्योतिरूपं स पश्यति ॥३६

दोनों हाथ के अँगूठों से दोनों कानों को बन्द कर दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को तथा दोनों मध्यामाओं से दोनों नासापुटों को बन्द कर ले। फिर दोनों अनामिकाओं को मुख पर रख कर मुख को दृढ़ता से बन्द करना चाहिए। जो योगी इस प्रकार वायु को रोककर इसका बार-बार अभ्यास करता है उसे

हृदयाकाश में ज्योति-स्वरूप आत्मा दिखाई देता है। अर्थात् वह योगो आत्मदर्शन करने में सुखी होता है ॥३५-३६॥

तत्तेजो दृश्यते येन क्षेणमात्रं निराकुलम्।
सर्वपापविमुंक्तः स याति परमां गतिम् ॥३७

निरन्तरकृताभ्यासाद्योगी विगतकल्मषः।
सर्वदेहादि विस्मृत्य तदभिन्नः स्वयं गतः ॥३८

जो पुरुष क्षणमात्र भी स्थिर चित्त रहता हुआ इस तेज का दर्शन करता है, वह सभी पापों से मुक्त होकर परमगति को प्राप्ति होता है। जो योगी पुरुष चित्त को शुद्ध रखता हुआ इस साधन के अभ्यास में लगा रहता है, वह सभी शरीरादि के कर्मो से पृथक् होता हुआ आत्मा से अभिन्नता को प्राप्त होता है। अर्थात् आत्म-दर्शन होने पर 'मैं ही आत्मा हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह स्वयं को आत्मा से भिन्न नही मानता यही उसका आत्मा से अभिन्नता को प्राप्त होता है॥३७-३८॥

यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः।
स वै ब्रह्मविलीनः स्यात्पापर्मरतो यदि ॥३९

गोपनीयः प्रयत्नेन सद्यः प्रत्ययकारकः।
निर्वाणदायको लोके योयोऽयं मम वल्लभः।
नादः संजायते तस्य क्रमेणाभ्यासतश्च यः ॥४०

जो साधक अपने अभ्यास को गुप्त रखता हुआ साधन में तत्पर रहता है, वह यदि पाप-कर्मों में रत रहा हो तो भी (उन पापों से मुक्त होकर) मोक्ष को प्राप्त होजाता है। यह प्रतीकोपासना साधक को निर्वाण योग के देने वाली है, इसलिए मेरे लिए बहुत ही प्रिय है। इसका अभ्यास करने वाले साधक

को क्रमपूर्वक नाद की अनुभूति होने लगती है। परन्तु इसे प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखनी चाहिए ॥३१-४०॥

मत्तभृङ्गवेणुवीणासदृशः प्रथमो ध्वनिः ।
एवमभ्यासतः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनम् ।
घण्टानादसमः पश्चात् ध्वनिर्मेघरवोपमः ॥४१
ध्वनौ तस्मिन्मनो दत्वा यदा तिष्ठति निर्भरः ।
तदा सजायते तस्य लयस्य मम वल्लभे ॥४२

इस प्रकार से योग का अभ्यास करते रहने पर पहले मत्त भौंरे के समान शब्द सुनाई देता है और फिर वंशी और वीणा जैसे शब्द का भान होता है। फिर संसार का अन्धकार दूर करने वाला घण्टानाद जैसी ध्वनि सुनने में आती है। तत्पश्चात् मेघों के गर्जन जैसा शब्द सुनाई देता है। इन प्रकार इन ध्वनियों में क्रमशः मन के स्थिर होते-होते (अन्त में मेघ-गर्जन की ध्वनि में चित्त के रम जाने से) लय अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए यह साधन मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥४१-४२॥

तत्र नादे यदा चित्तं रमते योगिनो भृशम् ।
विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादेन सह शाम्यति ॥४३
एतदभ्यासयोगेन जित्वा सम्यक् गुणान् बहून् ।
सर्वारम्भपरित्यागो चिदाकाशे विलीयते ॥४४

योगी का चित्त जब नाद में स्थिर रूप से रमण करने लगता है यर्थात् चित्त को अन्यत्र चलायमान नहीं करता। वह सभी विषयों को भूलने के कारण नाद में ही लीन हो जाता है। इसी प्रकार अभ्यास में तत्पर रहता हुआ योगी सभी गुणों पर विजय प्राप्त करके और सभी प्रकार के कार्यों के आरम्भ को त्यागकर

चिदाकाश में लीन होजाता है। अर्थात् आनन्दमय हृदयाकाश में लय का प्राप्त होता है ॥४३-४४

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसदृशं बलम् ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥४५

सिद्धासन के समान (अभ्यास में सरल) कोई अन्य आसन नहीं है कुम्भक (प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को भर कर भीतर रोकने) के समान कोई वल नहीं है। अर्थात् कुम्भक से अत्यन्त वल की प्राप्ति होतो है। खेचरी मुद्रा के समान न कोई मुद्रा है और न नाद के समान कोई लय ही है। इस प्रकार सिद्धासन, कुम्भक, खेचरी और नाद सब अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ट हैं ॥४५

षट्चक्र वर्णन

इदानीं कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं प्रिये ।
यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तोऽपि साधकः ॥४६
समभ्यर्च्येश्वरं सम्यक् कृत्वा च योगमुत्तमम् ।
गृह्णीयात्सुस्थितो भूत्वा गुरुं संतोष्य बुद्धिमान् ॥४७

शिवजी कहते हैं कि हे प्रिये ! अव मैं तुम्हारे प्रति मुक्ति का अनुभव कहता हूँ, जिसे जान लेने पर, साधक यदि पापों में लिप्त रहा हो तो भी मुक्ति की प्राप्ति होती है। योगाभ्यासी बुद्धिमान् पुरुष को ठीक प्रकार से ईश्वर का पूजन करके स्वस्थ चित्त से आसन पर स्थित होना चाहिए और गुरु को सब प्रकार संतुष्ट रखकर ही इस योग को ग्रहण करना चाहिए ॥४६-४७

जीवादि सकलं वस्तु दत्वा योगविदं गुरुम् ।
सन्तोष्यातिप्रयत्नेन योगोऽयं गृह्यते बुधैः ॥४८

विप्रान् सन्तोष्य मेधावी नानामङ्गलसंयुतः ।
ममालये शुचीभूत्वा गृह्णीयाच्छुभमात्मनः ॥४९

सन्यस्यानेन दिधिना प्राक्तनं विग्रहादिकम् ।
भूत्वा दिव्यवपुर्योगी गृह्णीयाद्वक्ष्यमाणकम् ॥५०

विद्वान् योग-जिज्ञासु को उचित है कि वह जीवादि सब वस्तुएँ योगवेत्ता गुरु को समर्पण करे और उन्हें सब प्रकार सन्तुष्ट करके यत्न पूर्वक योग को ग्रहण करते हैं। योग ग्रहण करने वाले मेधावी साधक का कर्त्तव्य है कि वह ब्राह्मणों को सन्तुष्ठ करके अनेक मङ्गल-मय विधियों से युक्त होता हुआ मेरे (अर्थात् शिवजी के) मन्दिर में शुद्धता पूर्वक बैठे और आत्मा की प्राप्ति के लिए इस शुभ योग को प्राप्त करे। इस विधि से गुरु की कृपा प्राप्त करके साधक अपने पूर्व शरीर को त्याग कर दिव्य शरीर को प्राप्त करता हुआ योग को ग्रहण करे। आशय यह है कि योग-ग्रहण करने के समय साधक को गुरु की प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिए। इससे उसका शरीर रोगादि से रहित होकर दिव्य होजाता है ॥४८-५०॥

पद्मासनस्थितो योगी जनसंगविवर्जितः ।
विज्ञाननाडीद्वितयमङ्गुलीभ्यां निरोधयेत् ॥५१

सिद्धेस्तदाविर्भवति सुखरूपी निरञ्जनः ।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यो येन सिद्धो भवेखलु ॥५२

योगी को लोगों का संग छोड़ कर एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर बैठना चाहिये और दोनों विज्ञान नाड़ियों (इडा और पिंगला) को अँगुलियों से रोकना चाहिए। अर्थात् पद्मासन लगा कर प्राणायाक का अभ्यास करना चाहिए, जिससे कि इडा-पिंगला नाड़ियों की सिद्धि हो सके। इस विधि के द्वारा साधक

के हृदय में सुख-स्वरूप निरंजन चैतन्य आत्म-प्रकार का भान होने लगता है। परन्तु योग की सिद्धि में परिश्रम करने से ही उपलब्धि सम्भव होती है ॥५१-५२॥

यः करोति सदाभ्यास तस्य सिद्धिर्न दूरतः ।
वायुसिद्धिभवेतस्य क्रमादेव न संशयः ॥५३

सकृद्यः कुरुते योगी पापौघं नाशयेद्ध्रुवम् ।
तस्य स्यान्मध्यमे वायोः प्रवेशो नात्र संशयः ॥५४

जो पुरुष इसका अभ्यास सदा करता रहता है, उसे सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त होकर क्रमपूर्वक वायु की सिद्धि भी स्वतः प्राप्त होजाती है इसमें संशय नहीं है। जो योगी इस अभ्यास को नित्यप्रति एक बार भी करता है तो उसके सभी पापों का अवश्य ही नाश पोजाताहै। फिर इसमें भी सन्देह नहीं रहता कि उसका प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है ॥५३-५४॥

एतदभ्यासशीलो यः स योगो देवपूजितः ।
अणिमादिगुणान् लब्ध्वा विचरेद्भवनत्रये ॥५५

यो यथास्यानिलाभ्यासात्तद्भवेत्तस्य विग्रहः ।
तिष्ठदात्मनि मेधावी संयुतः क्रीडते भृशम् ॥५६

जो योगी इस प्रकार से निरन्तर अभ्यासशील रहता है, वह देवताओं द्वारा पूजिता होता है और अणिमादि सिद्धियों को उपलब्ध करके वह तीनों लोकों में विचरण करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जो साधक जिस प्रकार से प्राणवायु को संयमित करने का अभ्यास करता है, उसे प्रकार की शरीर-सिद्धि प्राप्त होती है और वह मेधानी पुरुष आत्मा में स्थिर होकर सदैव दिव्य क्रीधा में निमग्न रहता है ॥५५-२६॥

एतद्योगं परं गोप्यं न देयं यस्य कस्यचित् ।
सप्रमाणः समायुक्तस्तमेव कथ्यतेः ध्रुवम् ॥५७॥

इस प्रकार का यह योग परम गोपनीय है, इसे हर किसी व्यक्ति को अर्थात् अनधिकारी को कभी नहीं बताना चाहिए, यदि साधक उपर्युक्त लक्षणों वाला सिद्ध होता होतो उसे अवश्य दे। आशय यह है कि विद्वान् गुरु यह योग विद्या उसी शिष्यको दे जो श्रेष्ठ आचरण वाला और लगनशील हो, क्योंकि विद्या में रुचि रखने वाला और उसके अनुसार चलने वाला साधक हो विद्या-प्राप्ति का अधिकारी होता है। जो योगविद्या में अश्रद्धा न रखने वाला जान पड़े या चंचल चित्त का हो उसे इसकी शिक्षा न दे ॥५७॥

योगी पद्मासने तिष्ठेत् कण्ठकूपे यदा स्मरन् ।
जिह्वां कृत्वा तालुमूले क्षुत्पिपासा निवर्तते ॥५८॥
कण्ठकूपादधःस्थाने कूर्मनाड्यस्ति शोभना ।
तस्मिन् योगी मनो दत्वा चित्तस्तैर्यं लभेद्भृशम्॥५९॥

जब पद्मासन में अवस्थित हुआ योगी कण्ठकूप के स्मरण में चित्त का लय करके जीभ को तालुमूल में लगा लेता है, तब वह भूख-प्यास से रहित होजाता है। कण्ठकूप के नीचे के स्थान में जो कण्ठ नाड़ी सुशोभित है, योगी उस नाड़ी में अपने चित्त को स्थित कर ले तो उससे उसे चित्त दृढ़ता प्राप्त हो जायगी। तात्पर्य यह है कि कूर्म नाड़ी में चित्त स्थिर करने से उसकी चंचलता नष्ट होजाती है ॥५८-५९॥

शिरः कपाले रुद्राक्ष विवरं चिन्तयेद्यदा ।
तदा ज्योतिःप्रकाशः स्याद्विद्युत्पुञ्जसमप्रभः ॥६०॥

एतच्चिन्तनमात्रेण पापानां संक्षयो भवेत् ।
दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम् ॥६०

मनुष्य के शिर और कपाल में रुद्राक्ष विवर होता है, उसमें यदि चिन्तन करता है तो उसे विद्युत् की राशि के समान आत्म ज्योति का प्रकाश दिखाई देता है। वह योगी उस आत्मज्योति का चिन्तन करे तो उसके सभी पाप नष्ठ हो जाते हैं। यदि वह साधक दुराचार में भी लिप्त रहा हो तो भी उसे परमगति की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि ऐसे साधक के सभी पाप दूर होजाते हैं और वह मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ॥६०-६१॥

अहर्निश यदा चिन्तां तत्करोति विचक्षण: ।
सिद्धानां दर्शनं तस्य भाषण च भवेद्ध्रुवम् ॥६२
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेच्छून्यमहर्निशम् ।
तदाकाशमयो योगी चिदाकाशे विलीयते ॥६३

जो साधक दिन-रात इस प्रकार से आत्म-चिन्तन में लगे रहते हैं उन्हें सिद्ध पुरुषों के दर्शन और वार्तालाप का लाभ प्राप्त होता है, यह निश्चय ही सत्य है। इस प्रकार जो पुरुष बैठते, चलते, सोते, भोजन करते आदि सभी समय या निरन्तर दिन-रात आत्म-ध्यान में तत्पर रहते हैं वे आकाशमय होकर चिदाकाश में लय होजाते है। अर्थात् हृदयाकाश में आत्मदर्शन करते हुए आत्ममय होजाते और परमात्म में लय को प्राप्त होते हैं ॥६२-६३॥

एतज्ज्ञानं सदा काय योगिना सिद्धिमिच्छता ।
निरन्तरकृताभ्यासान्मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ।
एतज्ज्ञानबलाद्योगी सर्वेषां वल्लभो भवेत् ॥६४

जो साधक सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा रखता हो, उसे इस प्रकार से आत्म-ध्यान करने का निरन्तर अभ्यास हो जाता है और इस ज्ञान के प्रभाव से वह सभी जीवों की प्रियता प्राप्त करता है। आशय यह है कि आत्मध्यान में तत्पर पुरुष का विरोधी कोई नहीं रहता। सभी उससे प्रेम करते हैं। इस विधि-विधान का ज्ञान रखने वाला साधक, अपने उस ज्ञान के बल से ही सब लोकों में, सभी का प्रिय होजाता हैं। उससे द्वेष कोई भी नहीं करता ॥६४॥

सर्वान् भूतान् जयं कृत्वा निराशीरपरिग्रहः ।
नासाग्रे दृश्यते येन पद्मासनगतेन वै ।
मनसो मरणं तस्य खेचरत्वं प्रसिद्धयति ॥६५
ज्योतिः पश्यति योगीन्द्रः शुः शुद्धाचलोपमम् ।
तत्राभ्यासबलेनैव स्वयं तद्रक्षको भवेत् ॥६६

वह योगी सभी भूतों पर विजय प्राप्त करके भूख-प्यास और परिग्रह आदि की इच्छा से मुक्त होकर पद्मासन लगाकर बैठता हुआ नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर कर लेता है, उसका मन दृढ़ होताजा और खेचरत्व अर्थात् आकाश गमन की सामर्थ्य प्राप्त होजाती है। इस प्रकार जो योगिन्द्र शुद्ध चित्त से उस शुद्ध और अचल के समान परमज्योति के दर्शन कर लेता है, तब योगाभ्यास के बल से स्वयं ही उसका रक्षक होता है। तात्पर्य यह है कि ज्योति दर्शन कर लेने पर उसका अभ्यास इतना दृढ़ होजाता है कि वह स्वयं ही उस अभ्यास को नहीं छोड़ता और इस प्रकार अभ्यास की भी रक्षा होती रहती है ॥६५-६६॥

उत्तानशयने भूमौ सुप्त्वा ध्यायन्निरन्तरम् ।
सद्यः श्रमविनाशाय स्वयं योगी विचक्षणः ॥६७॥
शिरः पश्चात्तु भागस्य ध्याने मृत्युञ्जयो भवेत् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिमात्रेण ह्यपरः परिकीर्तितः ॥६८॥

बुद्धिमान योगी भूमि में उत्तान शयन करे अर्थात् सीधा लेट कर निरन्तर ध्यान में तल्लीन रहे तो उसका श्रम (थकान) तुरन्त ही नष्ट होजाता है। जो साधक शिर के पृष्टभाग का ध्यान करता है, वह मृत्यु का जीतने वाला होजाता है। यह सभी फल भौंहों के मध्य में दृष्टि के स्थिर करने मात्र का है, इसके विषय में हम पहले ही कह चुके हैं ॥६७-६८॥

चतुर्विधस्य चान्नस्य रसस्त्रेधा विभज्यते ।
तत्र सारतमो लिंगदेहस्य परिपोषकः ॥६ ॥
सप्तधातुमयं पिण्डमेति पृष्णाति मध्यगः ।
याति विण्मूत्ररूपेण तृतीयः सप्तमो बहिः ॥७०॥

चार प्रकार का अन्न सेवन करने से तीन प्रकार के रस की उत्पत्ति होती है। उसमें जो सारभूत रस है वह लिंग-शरीर को परिपुष्ट करता है। दूसरा रस सप्तधातुमय पिण्ड को पुष्ट करता है तथा तीसरा रस सप्तधातु से बाहर (अर्थात् भिन्न) मल-मूत्र स्वरूप होता है ॥६९-७०॥

आद्यभागं द्वयं नाड्यः प्रोक्तास्ताः सकला अपि ।
पोषयन्ति वपुर्वायुमापादतलमस्तकम् ॥७१॥
नाडीभिराभिः सर्वाभिर्वायुः सञ्चरते यदा ।
तदैवान्नरसो देहे साम्येनेह प्रवर्तते ॥७२॥

पहले जो रस दो बताये हैं, वही समस्त नाड़ीरूप होते हैं तथा वे ही पाँव से मस्तक पर्यन्त शरीरस्थ वायु के पोषण में लगे रहते हैं। वायु जब सभी नाड़ियों के साथ संचार करता है, तब उसके प्रभाव से अन्न का रस समान भाव से समूचे शरीर में प्रवर्त्त होता है। अर्थात् शरीरस्थ वायु रस रूप हुए अन्न के द्वारा सम्पूर्ण अंगों को पुष्ठ करता रहता है ।।७१-७२।।

चतुर्दशानां तत्रेह व्यापारे मुख्यभागतः ।
ता अनुग्रत्वहीनाश्च प्राणसञ्चारनाडिकाः ।।७३।।

सभी नाड़ियों में जो चौदह नाड़ियाँ (प्रमुख) हैं, वही शरीर के मुख्य अंगों में व्यापार करती हैं अर्थात् शरीर के सभी व्यापार को चलाती हैं। प्राण-संचार करने वाली इन नाड़ियों में सभी समान हैं, किसी को किसी से कम नहीं समझना चाहिए ।।७३।।

गुदाद्व्यङ्गुलतश्चोर्ध्व मेढ्रैकाङ्गुलतस्त्वधः ।
एवं चास्ति समं कन्दं समता चतुरङ्गुलम् ।।७४।।
पश्चिमाभिमुखी योनिगुदमेढ्रान्तरालगा ।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा ।।७५।।
संवेष्ट्य सकला नाडीः सार्द्धत्रिकुटिलाकृतिः ।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्थिता ।।७६।।

गुदा से दो अँगुल ऊपर और मेढ़् से एक अँगुल नीचे चार अँगुल प्रमाण का एक कन्द है। गुदा और मेढ़् के मध्य में स्थित योनि पश्चिमाभिमुखी अर्थात् पीछे की ओर मुख वाली है। वहीं वह कन्द विद्यमान है, उसी स्थान में कुण्डलिनी शक्ति का सदा निवास रहता है। यह कुण्डलिनी सभी नाड़ियों को आवृत्त करके साढ़े तीन कुण्डल मार कर कुटिलाकृति किये हुए तथा मुख में पूँछ को धारण किये हुए सुषुम्ना विवर में रहती है ।।७४-७६।।

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया।
अहिवन् सन्धिसंस्थाना वाग्गेवी बीजसंज्ञिका ॥७७
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्मला स्वर्णभास्वरा।
सत्त्वं रजतमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ॥७८

यह कुण्डलिनी शक्ति सर्प के समान आकृति वाली सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। यह अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित रहती हुई सर्प के समान सन्धि में स्थित रहती है। वह वाग्देवी बीज संज्ञा वाली है। अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति ही वाणी की सिद्धि देने वाली और संसार की बीज स्वरूपा है। यह कुण्डलिनी भगवान विष्णु की शक्ति ओर तपाये हुए स्वर्ण के समान निर्मल तेज से सम्पन्न है तथा यह सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली है। अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति से ही तीनों गुणों की उत्पत्ति होती है ॥७७-७८॥

तत्र बन्धूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम्।
कलहेमसमं योगे प्रयुक्ताक्षररूपिणम् ॥७९
सुषुम्णापि च संश्लिष्टो बीजं तत्र वरं स्थितम्।
शरच्चन्द्रनिभं तेजस्स्वयमेतत्स्फुरत्थितम्।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥८०

कुण्डलिनी के स्थान में ही बन्दूक पुष्प के समान लालवर्ण की आभी वाला कामबीज स्थित बताया जाता है। वह तपाये हुए स्वर्ण के समान उज्ज्वल और प्रयुक्त अक्षर स्वरूप है। जहाँ कुण्डलिनी शक्ति का निवास है, वहीं कामबीज के साथ सुषुम्ना स्थित रहती है। वह कामबीज शरद के चन्द्रमा के समान तेजस्विता से सतन्विता हुआ तथा करोड़ चन्द्रमाओं के समान शीतल रहता है ॥७९-८०॥

एतत्रयं मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी।
बीजसंज्ञ परं तेजस्तदेव परिकीर्तितम् ॥८१

क्रियाविज्ञानशक्तिभ्यां युतं यत्परितो भ्रमत्।
उत्तिष्ठद्विशतस्त्वम्भः सूक्ष्मं शोणशिखायुतम्।
योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयम्भूलिंगसंज्ञितम् ॥८२

यह तीनों अर्थात् कुण्डलिनी कामबीज और सुषुम्ना मिल कर ही देवी त्रिपुर भैरवी नाम धारण कर लेते हैं। बीज संज्ञक वह देवी अत्यन्त तेजोमयी कहलाती है वही बीज क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति से समन्वित होकर शरीर में विचरण करता रहता है। वह कभी ऊपर की ओर जाता है, कभी जल में प्रविष्ट होता है और कभी सूक्ष्म होजाता है तथा प्रज्वलित अग्नि के समान शिखा से युक्त परम तेजोमय बिन्दु रूप से योनिस्थान में स्वयंभू लिंग संज्ञा धारथ किये रहता है ॥८१-८२॥

आधारपद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दतः।
परिस्फुरत् वादिसान्तचतुर्वर्णं चतुर्दलम् ॥८३

कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयम्भूलिङ्गसंगतम्।
द्विरण्डो यत्र सिद्धोऽस्ति डाकिनी यत्र देवता ॥८४

यह ऊपर कहा गया आधार पद्म संज्ञक है। पद्म के मूल में योनि स्थित है। यह अत्यन्त प्रकाशमान पद्म अपने चार दलों से व' से 'स' तक के वर्णों से सुशोभित रहता है। अर्थात् इस पद्म के चार दल होते हैं, उन दलों में व,श,ष,स यह चारों अक्षर रहते हैं (इस पद्म को मूलाधार चक्र कहते हैं। वह पद्म कुलाभिध अर्थात् कुल संज्ञक कहलाता है। (कुल का अर्थ स्थान भी है, इसलिए यहाँ इसका आशय कुण्डलिनी का स्थान भी हो

सकता है। उसकी स्वर्ण के समान कान्ति होती है। वह स्वयंभू लिंग में समन्वित है। उसमें द्विरण्ड संज्ञक सिद्ध का निवास तथा अधिष्टातृ देवता डाकिनी है ॥८३-८४॥

तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनो स्थिता ।

तस्य ऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम् ॥८५॥

यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः ।

तस्य स्याद्दादुरी सिद्धिभूमित्यागक्रमेण वै ॥८६॥

उस कमल के मध्य में जो योनि है, उसमें कुण्डलिनी स्थित रहती है, जिसके ऊपर दीप्तिवन्त तेज के समान कामबीज भ्रमण करता रहता है। जो विद्वान् साधक इस मूलाधार पद्म अर्थात् चक्र के ध्यान में तत्पर रहते हैं, उनको दादुरी वृत्ति सिद्ध हो जाती है अर्थात् वे मेंढक जैसी चेष्टा करने लगता है और जैसे मेंढक उछलता और फिर धरती पर आजाता है, वैसे ही साधक भी पहले भूमि से उठता और पुनः धरती पर आजाता है, तत्पश्चात् इसी प्रकार के क्रम से अन्त में धरती से उठकर आकाश गमन में समर्थ होजाता है ॥८५-८६॥

वपुषः कान्तिरुत्कृष्टा जठराग्निविवर्धनम् ।

आरोग्यं च पटुत्वं च सर्वज्ञत्वं च जायते ॥८७॥

भूतं भव्यं भविष्यच्च वेत्ति सर्वं सकारणम् ।

अश्रुतान्यपि शस्त्राणि सरहस्यं वदेद् ध्रुवम् ॥८८॥

इस मूलाधार कमले के ध्यान से शरीर की कान्ति उत्कृष्ट होजाती और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। शरीर में कोई रोग नहीं रहता तथा कार्य दक्षता और सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होजाती है अर्थात् साधक को सभी देखी-अनदेखी वस्तुओं का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल कातथा

कारण सहित सब पदार्थों का ज्ञान होजाता है। जो शास्त्र कभी नहीं सुना उसकी व्याख्या रहस्य सहित और सांगोपांग करने में समर्थ होता है ॥८७-८८॥

वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम् ।
मन्त्रसिद्धिर्भवेत्तस्य जपादेव न संशयः ॥८९॥
जरामरणदुःखौघा·नाशयति गुरौर्वचः ।
इदं ध्यानं सदा कार्यं पवनाभ्यासिना परम् ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ॥९०॥

उस साधक के मुख में सरस्वती देवी का सदा निवास रहता है और जप करने मात्र से मन्त्र की सिद्धि हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए। जरा, मरण, दुःख, रोग आदि सभी व्याधियों का गुरु के वचनों से नाश हो जाता है। प्राणवायु के अभ्यासी पुरुष को इस परम ध्यान में सदा तत्पर रहना चाहिए। क्योंकि इसके मात्र से ही योगीन्द्र के सभी पाप दूर हो जाते हैं ॥८९-९०॥

मूलपद्मं यदा ध्यायेत् योगी स्वयम्भुलिङ्गकम्।
तदा तत्क्षणमात्रेण पापौघं नाशयेद् ध्रुवम् ॥९१॥
यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवाप्नुयात् ।
निरन्तरकृताभ्यासात्तं पश्यति विमुक्तिदम् ॥९२॥

जब योगी उक्त मूलाधार कमल रूप स्वयंभूलिंग का ध्यान करता है, तभी उसके सभी पाप क्षणमात्र में निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। योगी पुरुष इस कमल का ध्यान करते हुए जिस-जिस पदार्थ की कामना करते हैं, उसी-उसी को फल रूप में प्राप्त कर

लेते है। जो सदैव इसके अभ्यास में लगे रहते हैं, वे अवश्य ही मुक्ति के देने वाले आत्मा का दर्शन करते हैं ॥९१-९२॥

बहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पूजनीय प्रयत्नतः।
ततः श्रेष्ठतमं ह्येतन्नान्यदस्ति मतं मम ॥९३

आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया ॥९४

वह आत्मा ही (परमात्मा रूप से) बाहर और भीतर (सर्वत्र) प्रयत्न पूर्वक पूजन के योग्य है, मेरे मत में यह योग सर्वश्रेष्ठ है, इसके समान कोई अन्य योग है ही नहीं। अपने देह में स्थित 'शिव' रूप आत्मा को त्याग कर बाहर अवस्थित देवता का पूजन करना उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि हाथ के पिण्ड को छोड़ कर जीव अन्य पिण्ड की प्राप्ति के लिए भ्रमण करते हैं ॥९३-९४॥

आत्मलिंगार्च्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा ॥९५

निरन्तरकृताभ्यासात्षण्मासे सिद्धिमाप्नुयात्।
तस्य वायुप्रवेशोऽपि सुषुम्णायां भवेद्ध्रुवम् ॥९५

मनोजयं च लभते वायुबिन्दुविधारणाम्।
ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिर्भवेन्नैवात्र संशयः ॥९७

जो साधक निरालस्य होकर नित्य प्रति देह में स्थित आत्मा का पूजन किया करता है, उसके लिए सभी सिद्धियों की उपलब्धि सहज ही होजाती है। इसमें विचार करने की कोई बात नहीं है। यदि निरन्तर छः मास तक अभ्यास कर ले तो उसे ऐसी सिद्धि प्राप्त होती है कि उसका प्राणवायु निश्चय ही

सुषुम्ना में प्रवेश कर लेता है और उसके फल स्वरूप मन पर विजय प्राप्त होती है तथा वह योगी वायु और विन्दु के धारण में समर्थ होजाता है। साथ ही इहलोक की भी सिद्धि हो जाती है, इसमें कुछ संशय नहीं है। अभिप्राय यह है कि आत्मा का पूजन करने वाला साधक अपने इहलोक-परलोक दोनों को ही बना लेता है। इस लोक रह कर सभी सुखों का उपभोग करता है और मरणोपरान्त मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उसे दोनों लोकों की सिद्धि प्राप्त होजाती है ॥९५-९७॥

द्वितीयन्तु सरोजं च लिङ्गमूले व्यवस्थितम् ।
बादि लान्तं च षड्वर्णं परिभास्वरषड्दलम् ॥९८

स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु पंकजं शोणरूपकम् ।
बाणाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवो यत्रास्ति राकिणी ॥९९

दूसरा कमल लिंगमूल अर्थात् मेढ़ में स्थित है। वह छः दलों से युक्त है, जिन पर 'ल' तक अन्त होने वाले छः वर्ण सुशोभित हैं। यह स्वाधिष्ठान नामक कमल रक्त वर्ण का है। इसके स्थान में बाण संज्ञक सिद्ध और राकिनी नाम अधिष्ठातृ देवी प्रतिष्ठित रहती है। इस पद्म का देवता ब्रह्मा है ॥९८-९९॥

यो ध्यायति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ।
तस्य कामाङ्गनाः सर्वा भजन्ते काममोहिताः ॥१००

विविधं चाश्रुतं शास्त्रं निःशंको वै वदेद्ध्रुवम् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥१०१

जो साधक इस स्वाधिष्ठान नामक कमल का सदा ध्यान किया करते हैं, उनके रूप पर मोहित हुई कामरूपिणी स्त्रियां सदा भजती रहती हैं अर्थात् काम से विमोहित हुई स्त्रियाँ सदा उनके आगे-पीछे खड़ी रहती हैं। उस साधक ने जिन शास्त्रों को

कभी भी न सुना हो, तो भी वह उनका निःशंक होकर व्याख्यान करने में अवश्य ही समर्थ होता। उसके शरीर में कैसा भी रोग हो, उससे छुटकारा होकर आरोग्य की प्राप्ति होती है और वह संसार में भय-रहित रूप से विचरण करता है ॥१००-१०१॥

मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते ।
तस्य स्यात्परमा सिद्धिरणिमादिगुणप्रदा ॥१०२॥
वायुः सञ्चरते देहे रसवृद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
आकाशपङ्कजगलत्पीयूषमपि वर्द्धते ॥१०३॥

यह साधन साधक की मृत्यु को भी नष्ट करने में समर्थ है, क्योंकि उसे कोई किसी भी प्रकार से नहीं मार सकता। उसे गुण प्रदान करने वाली अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। और सम्पूर्ण शरीर में वायु का संचार स्वाभाविक रूप से होता है, जिससे कि रस की वृद्धि होती है। आशय यह है कि प्राणवायु सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है और सहस्रार से जिस पीयूष का स्राव होता है, उसकी भी वृद्धि होती ॥१०२-१०३॥

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम् ।
दशारण्डादिफान्तार्ण शोभित हेमवर्णकम् ॥१०४॥
रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः ।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परमधार्मिका ॥१०५॥

तीसरा कमल मणिपूर कहलाता है इसकी स्थिति नाभि में है। वह स्वर्ण के समान वर्ण माला, दश दलों से सुशोभित रहता है। वह 'ड' से 'फ' तक के अक्षरों से युक्त है अर्थात् ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न. प, फ यह अक्षर उसके दलों पर अंकित रहते

हैं। वही सर्व मंगल प्रदान करने वाले रुद्र संज्ञक सिद्ध और परम धार्मिका लाकिनी नाम की अधिष्ठात्री देवी विराजमान रहती है। (इस चक्र के देवता भगवान् विष्णु माने जाते हैं) ॥१०४-१०५॥

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके ।
तस्य पाताल सिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा ॥१०६॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम् ।
कालस्य वञ्चनं चापि परदेहप्रवेशनम् ॥१०७॥
जाम्बूनदादिकरणं सिद्धिनां दर्शनं भवेत् ।
औषधीदर्शनं चापि निधीनां दर्शनं भवेत् ॥१०८॥

इस मणिपूर संज्ञक कमल का जो योगी सदैव ध्यान करते हैं, वे सभी सिद्धियों के देने वाली पाताल नाम की सिद्धि को प्राप्त होते हुए निरन्तर सुखी रहते है। उनके सभी इच्छितों की पूर्ति होती तथा रोगादि दुःखों का विनाश होता है। वह काल के उल्लंघन में भो समर्थ होता तथा परकाया प्रवेश भी कर सकता है। इसके द्वारा साधक स्वर्ण आदि बनाने में सिद्ध हस्त होजाता है। उसे सिद्धों का दर्शन और औषधियों का दर्शन अर्थात् दिखाई न देने वाली जड़ी-बूटियाँ या संजीवन बूटी आदि दिखाई देने लगती है और निधि-दर्शन अर्थात् भूमि में गढ़ा हुआ या छिपा हुआ धन भी दिखाई देने लगता है। १०६-१०८॥

हृदयेऽनाहतं नामचतुर्थं पङ्कजं भवेत् ।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ।
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ॥१०९॥
पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।
यस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत् ॥११०॥

हृदय स्थान में अनाहत नामक चौथा कमल स्थिर है, वह 'क' से 'ठ' तक अर्थात् क, ख ग, घ, ङ, च, छ, ज. झ, ञ, ट, ठ, इन बारह अक्षरों से सुशोभित बारह दल का होता है। वह अत्यन्त लाल वर्ण का वायुबीज तथा प्रसन्नता स्थान है। उस कमल में जो परम तेज है, उसे बाणलिंग कहते हैं, जिसके स्मरण मात्र से साधक को दृष्ट-अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है अर्थात् उसे लोक-परलोक का सुख मिलता है ॥१०९-११०॥

सिद्धिः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ।

एतस्मिन् सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः ।

क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्ता दिव्ययोषितः ॥१११

ज्ञानं चाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयं भवेत् ।

दूर श्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत् ॥११२

जिस कमल में पिनाकी (शिव सिद्ध हैं और अधिष्ठात्री देवी काकिनी है, उस हृत्पद्म में जो साधक सदा ध्यान किया करता है, उसके पास सुन्दरी स्त्रियाँ और देवांगनाएँ भी कामार्त्त हो कर आती हैं। वह साधन अपूर्व ज्ञान के उत्पन्न होने से त्रिकाल दर्शी हो जाता है। उसे दूर श्रुति अर्थात् सुदूर के शब्द सुनने और दूर दृष्टि अर्थात् दूरस्थ सूक्ष्म पदार्थों के देखने की शक्ति प्राप्त हो जाती है तथा वह स्वेच्छापूर्वक आकाश-गमन में समर्थ होता है अर्थात् आकाश में चाहे जब, चाहे जहाँ उड़ सकता है ॥१११-११२॥

सिद्धानां दर्शनं चापि योगिनी दर्शनं तथा ।

भवेत् खेचरसिद्धिश्च खेचराणां जयं तथा ॥११३

यो ध्यायति परं नित्यं बाणलिङ्गं द्वितीयकम् ।

खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः ॥११४

एतद्ध्यानस्य महात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ।।
ब्रह्माद्याः सकलादेवा गोपयन्ति परन्त्विदम् ।।११५

उसे सिद्धों के और योगिनी के दर्शन होते हैं और खेचरी मुद्रा सिद्ध होकर आकाश-स्थित जीव भी वश में हो जाते हैं। जो योगी इस परम अविनाशी द्वितीय वाणलिंग का ध्यान करता है, उसे सिद्धगणों का और योगिनी का दर्शन होता है तथा खेचरी मुद्रा और भूचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है, इसमें संशय नहीं। इस पद्म के ध्यान का माहात्म्य वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है, क्योंकि ब्रह्मादि सभी देवता इसे अत्यन्त गुप्त रखते हैं। अर्थात् किसी को भी नहीं बताते ।।११३-११५।।

कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्ध नाम पञ्चमम् ।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम् ।
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोऽत्र शाकिनी चाधिदेवता ।।११६

कण्ठ स्थान में विशुद्ध संज्ञक पाँचवाँ कमल है, जो कि स्वर्ण जैसी आभा वाला, तेजस्वी और सोलह स्वरों (नक्षरों) से सम्पन्न है। अर्थात् इसमें सोलह दल हैं उन पर 'अ' 'अः' तक के स्वर सुशोभित हैं, यथा अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। इस स्थान में छगलाण्ड सिद्ध, अधिष्ठात्री शाकिनी देवी सदा रहती हैं ।।११६।।

ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः ।
किन्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे ।।
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव ।।११७
इह स्थाने स्थितो योगी यदा क्रोधवशो भवेत् ।
तदा समस्तं त्रैलोक्यं कम्पते नात्र संशयः ।।११८

जो इस (विशुद्ध चक्र) का ध्यान नित्य नियमपूर्वक करते है, वे योगीश्वर पण्डित हो जाते हैं। इस विशुद्ध नामक कमल में ध्यान करने से रहस्य सहित चारों वेदों की उपलब्धि उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार कि किसी को धन से परिपूर्ण खजाने की प्राप्ति हो जाय। जब योगी का मन और प्राण इस विशुद्ध पद्म में स्थित हो, तब यदि उसे किसी प्रकार से क्रोध हो जाय तो उसके प्रभाव से सम्पूर्ण त्रिलोकी ही कम्पायमान हो जाती है, इसमें संशय नहीं है ॥११७-११८॥

इह स्थाने मनो यस्य दैवात् याति लयं यदा।
तदा बाह्यं परित्यज्य स्वान्तरे रमते ध्रुवम् ॥११९॥
तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः।
सवत्सरसहस्रेऽपि वज्रातिकठिनस्य वै ॥१२०॥
यदा त्यजति तद्ध्यानं योगीन्द्रोऽवनिमण्डले।
तदा वर्षसहस्राणि मन्यते तत्क्षणं कृती ॥१२१॥

जब साधक का मत दैववशात् इस विशुद्धाख्य पद्म में लय को प्राप्त हो जाता हैं, तब वह सम्पूर्ण बाहरी विषयों का परित्याग करता हुआ प्राण के सहित शरीर के भीतर ही रमण करता हैं, इसमें सन्देह नहीं है। अपनी ही शक्ति से इतना दृढ़ हो जाता है, वह किसी प्रकार भी क्षीण नहीं हो सकता और वज्र से भी अधिक कठोरता आ जाती है और जब हजार वर्ष की समाधि के पश्चात् उस ध्यान से विरत होने पर योगी की चित्तवृत्ति संसार में लौटती है, तब उसे वह हजार वर्ष एक क्षण व्यतीत होने के समान प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि योगी जब समाधिस्थ हो जाता है तब उसे समय का पता नहीं चलता

और सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर भी वह समय ऐसा लगता है, जैसे कि क्षणभर व्यतीत हुआ हो ।।११९-१२१।।

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ।।१२२

भौंहों के मध्य में आज्ञा नामक कमल है, उसमें है दो दल, जिन पर 'ह' ओ 'क्ष' दो बीजाक्षर अंकित हैं। वे दोनों दल शुक्ल आभा वाले हैं। उस स्थान में महाकाल सिद्ध और हाकिनी देवी अधिष्ठात्री रूप से स्थित रहती है। इस कमल के देवता परमात्मा माने जाते हैं तथा इसे आज्ञाचक्र भी कहते हैं ।।१२२।।

शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीज विजृम्भितम् ।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ।।१२३
तत्र देवः परन्तेजः सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिणः ।
चिन्तयित्वा परां सिद्धि लभते नात्र संशयः ।।१२४

उस आज्ञापद्म के मध्य में शरद के चन्द्रमा की आभा जैसा परम तेजस्वी चन्द्रबीज ('ठ' बीज) स्थित रहता है। जिसे जान लेने पर परमहंस पुरुष को कभी किसी प्रकार का अवसाद नहीं रहता। वहाँ परम तेज का जो प्रकाश है, वह सब प्रयत्नों के द्वारा भी गुप्त रखना चाहिए। इसके चिन्तन मात्र से परम सिद्धि की प्राप्ति होती है । इसमें कोई संशय नहीं है ।।१२३-१२४।।

तुरीयं त्रितयं लिङ्गं तदाहं मुक्ति दायकः ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम् ।।१२५

इडा ही पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते ।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाषितः ॥१२६

उस स्थान में तुरीय तृतीय लिंग के रूप में, मैं मुक्तिदायक ही विराजमान हूँ। इसका ध्यान करने मात्र से योगीन्द्र मेरे समान ही हो जाता है, यह सत्य है। अर्थात् शिवजी ने पार्वतीजी से कहा कि वहां तुरीय तृतीय लिंग के रूप में योगी यदि मेरा ध्यान करे तो मेरे ही सायुज्य पद को प्राप्त हो जाता है। शरीर में यह जो इड़ा और पिंगला नाम की दो नाड़ियाँ हैं, उन्हें वरणा और असी भी कहते हैं। इन वरणा और असी अर्थात् वाराणसी के मध्य में विश्वनाथ स्वयं ही विराजमान रहता हूँ ॥१२५-१२६॥

एतत् क्षेत्रस्य माहात्म्यंमृषिभिस्तत्वदर्शिभिः ।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्वं सुभाषितम् ॥१२७
सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरन्ध्रं यतोऽस्ति वै ।
ततश्चैषा परावृत्या तदाज्ञापद्मदक्षिणे ।
वामनासापुटं याति गंगेति परिगीयते ॥१२८

इस वाराणसी क्षेत्र के माहात्म्य का वर्णन तत्वदर्शी ऋषियों एवं अनेक शास्त्रों ने अनेक बार परमतत्व के रूप में किया है। अर्थात् ऋषियों और शास्त्रों ने वाराणसी को 'परमतत्व' ही माना है। मेरुदण्ड के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र तक गई है और इडा नाड़ी सुषुम्ना के ऊपर परावृत्त होती हुई तथा आज्ञा-पद्म के दक्षिण ओर होती हुई बाँये नासापुट को चली गई है, इसे गङ्गा कहा जाता है ॥१२७-१२८॥

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः ॥१२९

त्रिकोणारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम् ।
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः ॥१३०
अमृतं वहति द्वारा धारारूपं निरन्तरम् ।
वामनासापुटं याति गंगेत्युक्ता हि योगिभिः ॥१३१

ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार (सहस्रदल कमल) है, जिसके कन्द में जो योनि है, उसी में चन्द्रमा विराजमान रहता है। उसी त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रामृत का स्राव सदा होता है। वह चन्द्रमा से स्रवित अमृत धारा रूप होकर सदा इड़ा नाड़ी के द्वारा गमन करता रहता है। उस इडा नाड़ी का प्रवाह बाँए नासापुट में होने के कारण ही योगिजन इसे गङ्गा कहते हैं ॥१२९-१३१॥

आज्ञापङ्कजदक्षांसाद्वामनासापुटं गता ।
उदग्वहेति तत्रेडा गङ्गेति समुदाहृता ॥१३२
ततो द्वयमिह स्थाने वाराणस्यान्तु चिन्तयेत् ।
तदाकारा पिङ्गलापितदाज्ञाकमलोत्तरे ।
दक्षनासापुटे याति प्रोक्तास्माभिरसीति वै ॥१३३

जो इड़ा नाड़ी आज्ञापद्म के दाँये भाग से चलती हुई बाँए नासापुट को जाती है, वही उद्‌गवाहिनी गङ्गा कहलाती है। इस प्रकार इड़ा और पिंगला के मध्य स्थान को वाराणसी मान कर चिन्तन करे। इड़ा नाड़ी के समान पिंगला नाड़ी आज्ञापद्म के बाँए भाग से चलकर दाँए नासापुट को जाती है। इसलिए मैंने इस पिंगला नाड़ी का नाम असी रखा है ॥१३३२-१३३॥

मूलाधारे हि यत् पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्देऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्योव्यवस्थितः ॥१३४

तत् सूर्यमण्डलद्वारं विषं क्षरति सन्ततम् ।
पिंगलायां विषं तत्र समर्थयति तापनः ॥१३५

विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम् ।
दक्षनासापुटे याति कल्पितयन्तु पूर्ववत् ॥१३६

चार दल वाला जो मूलाधार पद्म है, उसके कन्द में विद्यमान योनि में सूर्य का निवास है। उस सूर्य मण्डल के द्वार से सदा विष का स्राव होता रहता है। वह विष धारा रूप होकर पिंगला नाड़ी के द्वारा तापयुक्त रूप से प्रवाहित रहता है। यह नाड़ी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है. दाँये नासापुट में जाती है ॥१३४-१३६॥

आज्ञापङ्कजवामा स्याद्दक्षनासापुटं गता ।
उदग्वहा पिङ्गलापि पुरासीति प्रकीर्तिता ॥१३७

आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्र देवो महेश्वरः ।
पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्तं योगचिन्तकैः ॥
तद्बिन्दुनादशक्त्याख्य भालपद्मे व्यवस्थितम् ॥१३८

यह पिंगला नाड़ी आज्ञापद्म के बाँए भाग से होती हुई दांए नासापुट में गई है, इसीलिए इस नाड़ी को असी कहा जाता है। यह जो आज्ञाकमल कहा गया है इसके देवता महेश्वर हैं। योग का चिन्तन करने वाले साधक का कथन है कि इस कमल के ऊपर तीन पीठ स्थित हैं, जिन्हें नाद, बिन्दु और शक्ति कहते हैं। यह तीनों इस आज्ञा-कमल रूप भालपद्म अर्थात् भौंहों के मध्य में स्थित कमल में विराजमान हैं ॥१३७-१३८॥

यः करोति सदा ध्यानमाज्ञापद्मस्य गोपितम् ।
पूर्वजन्मकृतं कर्म वितश्येदविरोधतः ॥१३९

इह स्थितः सदा योगी ध्यानं कुर्यान्निरन्तरम् ।
सदा करोति प्रतिमां प्रतिजापमनर्थवत् ॥१४०

यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोगणकिन्नराः ।
सेवन्ते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः ॥१४१

जो योगी इस गोपनीय आज्ञा कमल के ध्यान में तल्लीन रहते हैं, उनका पूर्व जन्म में किये हुए कर्म का फल निर्विघ्न रूप से नष्ट हो जाता है अर्थात् उस साधक को फिर किसी कर्मफल के भोग की अपेक्षा नहीं रहती। जो साधक इस कमल का निरन्तर ध्यान करते हैं, उनके लिए किसी प्रतिमा का पूजन या जप करना निरर्थक ही है। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा किन्नरादि सभी उस सदा ध्यान में लगे रहनेवाले योगी के वशमें होकर सदा उसके चरणों की सेवा में लगे रहते हैं।१४०-१४१।

करोति रसनां योगी प्रविष्टां विपरीतगाम् ।
लम्बिकोर्ध्वेषु गर्तेषु धृत्वा ध्यानं भयापहम् ॥१४२

अस्मिन् स्थाने मनो यस्य क्षणार्धं वर्ततेऽचलम् ।
तस्य सर्वाणि पापानि संक्षयं यान्ति तत्क्षणात् ॥१४३

यानि यानीह प्रोक्तानि पञ्चपद्मे फलानि वै ।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानाद्भवन्ति हि ॥१४४

जो योगी अपनी जीभ को ऊपर की ओर लौटा कर तालु-मूल में प्रविष्ट करता हुआ मन की निश्चलता पूर्वक उस भय-नाशक आज्ञापद्म का आधे क्षण भी ध्यान करता है, उसके सभी पाप उसी क्षण नष्ट होजाते हैं। अर्थात् आज्ञाचक्र के ध्यान से सब पाप दूर होते हैं और पहले पाँच कमलों के ध्यान का जो-जो

फल कहा है, वह सम्पूर्ण फल इस एक आज्ञापद्म का ध्यान करने से ही प्राप्त होजाता है ।।१४२-१४४।।

यः करोति सदाभ्यासमाज्ञापद्मे विचक्षणः ।
वासनाया महाबन्धं तिरस्कृत्य प्रमोदते ।।१४५
प्राणप्रयाणसमये तत्पद्मं यः स्मरन्सुधीः ।
त्यजेत्प्राणं स धर्मात्मा परमात्मनि लीयते ।।१४६

जो विचक्षण साधक इस आज्ञा कमल का सदा अभ्यास किया करते हैं, वे वासना रूपी महाबन्धन का उल्लघन करके सदा आनन्द में मग्न रहते हैं। अर्थात् वासना का महाबन्ध इसके अभ्यास से निर्मूल हो जाते हैं। जो विद्वान् योगी उस आज्ञा कमल का मृत्यु के समय ध्यान करता है, वह धर्मात्मा पुरुष प्राण को छोड़ कर परमात्मा में लीन होजाता है ।।१४५-१४६।।

तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् जाग्रत् यो ध्यानं कुरुते नरः ।
पापकर्मविकुर्वाणो नहि मज्जति किल्बिषे ।।१४७
राजयोगाधिकारी स्यादेतच्चिन्तनतो ध्रुवम् ।
योगी बन्धाद्विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभया स्वयम् ।।१४८
द्विदलध्यानमाहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ।
ब्रह्मादिदेवताश्चैव किञ्चिन्मत्तो विदन्ति ते ।।१४९

जो पुरुष बैठते, चलते, सोते, जागते उस आज्ञाचक्र के ध्यान में सदा लगा रहता है, वह यदि पापकर्म में लगा हो तो भी उन पापों से हठ कर मोक्ष को प्राप्त होता है। इस कमल का ध्यान करने वाला साधक राजयोग का अधिकारी होता है, यह अवश्य ही सत्य है। वह योगी अपनी ही प्रभा से सभी बन्धनों से स्वयं ही छूट जाता है। अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति के लिए किसी

अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। इस दो दल वाले कमल के माहत्म्य का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है। क्योंकि ब्रह्मा आदि देवगण भी इसके माहात्म्य को मुझसे ही सुन कर किंचित् ही जान पाते हैं ॥१४७-१४९॥

अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सरोरुहम् ।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥१५०
तालुमुले सुषुम्णास्य अधोवक्त्रा प्रवर्तते ।
मूलाधारेण योन्यन्तःसर्वनाड्यः समाश्रिताः ।
ता बीजभूतास्तत्वस्य ब्रह्ममार्गप्रदायिकाः ॥१५१

इसी आज्ञा कमल के ऊपर तालुमूल में सहस्रार अर्थात् सहस्रदल कमल सुशोभित है। वहीं ब्रह्मरन्ध्र के विवर मूल से सुषम्ना नाड़ी स्थित है। उस सुषुम्ना का मुख नीचे की ओर अर्थात् तालुमूल में विद्यमान है और मूलाधार से योनिपर्यन्त जितनी भी नाड़ी हैं वे सब इस तत्वज्ञान की बीज स्वरूपा एवं ब्रह्ममार्ग के देने वाली सुषुम्ना के आश्रय में स्थित रहती हैं ॥१५०-१५१॥

तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोदितम् ।
तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता ॥१५२
तस्य मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविबरं स्थितम् ।
ब्रह्मरन्ध्र तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम् ॥१५३

तालु स्थान में जो सहस्रार पद्म कहा गया है, उसके कन्द में पश्चिम की ओर मुख वाली एक योनि है अर्थात् उस योनि का मुख पीछे की ओर है। उस योनि के मध्य मूल विवर से सुषुम्ना

नाड़ी की स्थिति है। उस विवर को ही ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं और यही मूलाधार कमल कहलाता है ।।१५२-१५३।।

तत्रान्तरंध्रे चिच्छक्तिः सुषुम्णा कुण्डलीसदा ।।१५४

सुषुम्णायां स्थिता नाडी चित्रा स्यान्मम बल्लभे।

तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना ।।१५५

सुषुम्ना नाड़ी के रन्ध्र में यह कुण्डलिनी सदा विराजमान रहती है। सुषुम्ना के भीतर स्थित यह शक्ति चित्रा नाड़ी कहलाती है। मेरे विचार में इसी चित्रा नाड़ी से ब्रह्मरन्ध्र आदि की कल्पना हुई है। अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रादि अवयव चित्रानाड़ी के अनुसार ही कल्पित हुए ।।१५४-१५५।।

यस्याःस्मरणमात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते।

पापक्षयश्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत्। १५६

प्रवेशितं चलाङ्गुष्ठं मुखे स्वस्य निवेशयेत्।

तेनात्र न वहत्येव देहचारी समीरणः ।।१५७

इसी चित्रा नाड़ी का ध्यान करने मात्र से ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होजाता है और सभी पापों का नाश करता हुआ योगी विश्व प्रपंच के बन्धन में नही पड़ता। दाँये हाथ के अँगूठे को मुख में घुसा कर मुख को दृढ़ता पूर्वक बन्द कर ले। ऐसा करने से शरीर में संचार करने वाला जो प्राणवायु है, वह अवश्य ही स्थिरता को प्राप्त होजाता है। तात्पर्य यह है कि दाँये हाथ के अँगूठे को मुख में डाल कर मुख बन्द करके वायुधारण करे तो वायु स्थिर होजाता है ।।१५६-१५७।।

तेन संचारचक्रेऽस्मिन्न भ्रमन्ते च सर्वदा।

तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणधारणे ।।१५८

तत एवाखिला नाडी निरुद्धा त्वाष्टवेष्टनम् ।
इयं कुण्डलिनी शक्तौ रन्ध्रं त्यजति नान्यथा ॥१५९

इस प्रकार प्राणवायु के स्थिर होजाने पर साधक संसारचक्र में घूमते रहने से मुक्त होजाता है अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है । इसीलिए योगीजन प्राणवायु के धारण में प्रवर्त्त होते हैं । ऐसा करने से मल से परिपूर्ण सभी नाड़ियाँ खुल जाती हैं अर्थात् कामादि विकारों के कारण बन्द हुए मुख खुल जाते हैं तब कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरन्ध्र को छोड़ देती है, जिससे कि आत्मा-परमात्मा का ऐक्य होजाता है ॥१५८-१५९॥

यदा पूर्णासु नाडीषु संनिरुद्धानिलास्तदा ।
बन्धत्यागेन कुण्डल्या मुखं रंध्राद्बहिर्भवेत् ।
सुषुम्णायां सदैवायं वहेत्प्राणसमीरणः ॥१६०

जब वायु के निरुद्ध होने पर सभी नाड़ियों को वह वायु पूर्ण कर लेता है, तब कुण्डलिनी शक्ति अपने बन्धन को छोड़ कर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को भी छोड़ कर बाहर होजाती है और तब प्राणवायु का प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी में सदा प्रवाहित होने लगता है ॥१६०॥

मूलपद्मस्थिता योनिर्वामदक्षिणकोणतः ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा योनिमध्यगा ॥१६१
ब्रह्मरन्ध्रन्तु तत्रैव सुषुम्णाधारमण्डले ।
यो जानाति स मुक्तः स्यात्कर्मबंधाद्विचक्षणः ॥१६२

मूलाधार कमल में विद्यमान योनि के बाँए भाग में इड़ा और दाँए भाग में पिंगला नाड़ी की स्थिति है । इन्हीं दोनों नाड़ियों के मध्य में सुषुम्ना रहती है जो योनिस्थान गामिनी है।

उस सुषुम्ना नाड़ी के आधारमण्डल के मध्य ब्रह्मरन्ध्र है। जो विद्वान् इसे जान लेता है, वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥१६१-१६२॥

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः ।
तस्मिन्स्नानेस्नातकानांमुक्तिःस्यादविरोधतः ॥१६३
गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासान्तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम् ॥१६४

इन तीनों (इडा, पिंगला, सुषुम्ना, नाड़ियों का ब्रह्मरन्ध्र के मुख में संगम है, यह निःसंदेह सत्य है। अर्थात् यह तीनों ही नाड़ियाँ ब्रह्मरन्ध्र के मुख में मिली हैं। इन नाड़ियों (अर्थात् नाड़ी रूपी त्रिवेणी के संगम) में जो ज्ञानी पुरुष स्नान कर लेते हैं, वे अवश्य ही श्रेष्ठ मुक्ति को प्राप्त करते हैं। गङ्गा, यमुना संज्ञक इडा, पिंगला के मध्य सरस्वती नाम की सुषुम्ना है, इन तीनों के संगम में जो स्नान करता है, उसे परमगति प्राप्ति होती है ॥१६३-१६४॥

इडा गङ्गा पूरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां सगोऽतिदुर्लभः ॥१६५
सितासिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम् ॥१६६

इन तीनों में से इडा गङ्गा और पिंगला यमुना कही जाती है। इन दोनों के मध्य सुषुम्ना नाम की सरस्वती है। इसी त्रिवेणी संगम कहते हैं। इसका सङ्ग (अर्थात् स्नान) अत्यंत दुर्लभ है। इडा और पिंगला के संगम में जो साधक मन से स्नान करता है, वह सभी पापों से मुक्त होकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥१६५-१६६॥

त्रिवेण्यां सङ्गमे यो वे पितृकर्म समाचरेत् ।

तारयित्वा पितृन्सर्वान्स याति परमां गतिम् ॥१६७

नित्य नैमित्तिक काम्यं प्रत्यहं यः समाचरेत् ।

मनसा चिंतयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात् ॥१६८

इस त्रिवेणी संगम में स्नान करके जो पुरुष पितृकर्म (तर्पणादि) का अनुष्ठान करते हैं, वे इसके प्रभाव से अपने सभी पितरों को तार कर (स्वयं भी) परमगति को प्राप्त करते हैं। इसी संगम में जो पुरुष नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए मानसिक चिन्तन करते हैं, उन्हें अक्षय फल को उपलब्धि होती है ॥१६७-१६८॥

सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गो सौख्यं भुनक्ति सः ।

दग्ध्वा पापानशेषान्वं योगी शुद्ध मतिः स्वयम् ॥१६९

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।

स्नानाचरणमात्रेण पूतो भवति नान्यथा ॥१७०

जो शुद्ध बुद्धि वाले योगसाधक इस संगम में एक बार भी स्थान कर लेते हैं, वे अपने सभी शेष पापों को भस्म करते हुए सुख-भोग को प्राप्त होते हैं अर्थात् सुखी रहते हैं। वे अपवित्र दशा में हों या पवित्र दशा में, सभी अवस्थाओं में पड़े होने पर भी इस संगम में स्नान करने मात्र से अवश्य ही पवित्र हो जाँयगे, इसमें अन्यथा नहीं समझना चाहिए ॥१६९-१७०॥

मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याः सलिले यदा ।

विचिन्त्यस्यस्त्यजेत्प्राणान्स तदामोक्षमाप्नुयात् ॥१७१

नातः परतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न व्याख्येयं कदाचन ॥१७२

जो साधक मरणकाल में ऐसा ध्यान करता हैकि मेराशरीर त्रिवेणी के पवित्र जल में गोते लगा रहा है, वह उसी क्षण प्राण को त्याग कर मोक्ष प्राप्त करता है। इस तीर्थ से बढ़ कर अन्य कोई तीर्थ तीनों लोकों में नहीं है। यह अत्यन्त गुह्य होने से प्रयत्न पूर्वक भी गुप्त रखने के योग्य ही है। इसकी व्याख्याकभी नहीं करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि त्रिवेणी में मानसिक स्नान की यह विधि अत्यन्त गोपनीय है, इसे अधिकारी पुरुष के अतिरिक्त अन्य किसी को न बतावे ॥१७१-१७२॥

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥१७३
अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी लीयते ।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥१७४

यदि योगी ब्रह्मरन्ध्र में मन को लगा कर आधे क्षण भी स्थिर रख सके तो सभी पापों से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त हो जायगा। क्योंकि इस ब्रह्मरन्ध्र में लीन हुए मन वाला पुरुष श्रेष्ठ योगी अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर, उनके द्वारा उपलब्ध सुखों का उपभोग करता हुआ स्वेच्छापूर्वक मुझ में ही लय हो जाता है। इसका आशय यह भी है कि वह योगी भोगों की इच्छा करता हो तो भोगों को प्राप्त करेगा और यदि मोक्ष चाहेगा तो मुक्त होजायगा ॥१७३-१७४॥

एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यं
संसारेऽस्मिन् बल्लभो मे भवेत्सः ।

पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी
ज्ञानं दत्वा तारयत्यद्भुतं वै ॥१७५

शिवजी ने कहा कि इस ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करने मात्र से ससारी जीव मुझे प्रिय होजाता है तथा वह सभी पाप-समूहों को जीत कर मोक्षमार्ग का अधिकारी होता है। उसमें इतना ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि वह अनेक मुमुक्षुओं को ज्ञान का उपदेश देकर संसार से तार देता है ॥१७५॥

चतुर्मुखादित्रिदशैरगम्यं योगिवल्लभम् ।
प्रयत्नेन सुगोप्यं तद्ब्रह्मरन्ध्रं मयोदितम् ॥१७६
पुरो मयोक्ता या योनिः सहस्रारे सरोरुहे ।
तस्याधो वर्तते चन्द्रस्तद्ध्यानं क्रियते बुधैः ॥१७७

मैंने यह ब्रह्मरन्ध्र का जो ध्यान वताया है, यह योगियों के लिए अत्यन्त प्रिय है। इसे प्रयत्न पूर्वक भले प्रकार से गुप्त रखना चाहिए। यह मार्ग ब्रह्मादि देवगण के लिए भी सुलभ नहीं है। मैंने जो सहस्रार कमल के मध्य में योनिमण्डल कहा है, उसी के नीचे चन्द्रमा की स्थिति है। बुद्धिमान् योगी इस चन्द्रमा का सदा ध्यान किया करते हैं ॥१७६-१७७॥

यस्त स्मरणमात्रेण योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
पूज्यो भवति देवानां सिद्धाना सम्मतो भवेत् ॥१७८
शिरःकपालविवरे ध्यायेद्दुग्धमहोदधिम् ।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ॥१७९

इस चन्द्रमण्डल के स्मरण मात्र से योगीन्द्र भूमण्डल में पूजनीय होजाता है। वह देवताओं और सिद्धों की समता भी प्राप्त कर लेता है। अर्थात् देवताओं-सिद्धों के समान ऐश्वर्यशाली हो

जाता है। शिर में जो कपाल विवर स्थित है, उसमें क्षीरसागर का ध्यान करे और वहीं स्थित (सहस्रदल कमल) में चन्द्रमा चिन्तन करे ॥१७८-१७९॥

शिरः कपालविवरे द्विरष्टकलया युतः।
पीयूषभानुहंसाख्यं भावयेत्तं निरञ्जनम् ॥१८०
निरन्तरकृताभ्यासात्त्रिदिनेपश्यति ध्रुवम्।
दृष्टिमात्रेण पापौघं दहत्येव स साधकः ॥१८१

शिर में स्थित उसी कपाल विवर में सोलह कलाओं से युक्त एवं अमृत-रश्मियों से सम्पन्न हंसाख्य अर्थात् हंस नामक निरंजन आत्मा का चिन्तन करे। इस प्रकार तीन दिन तक निरन्तर अभ्यास करने से निश्चय ही निरन्जन आत्मा का दर्शन होता है और दर्शन मात्र से ही साधक के सभी पाप भस्म हो जाते हैं १८०-१८१॥

अनागतञ्च स्फुरति चित्तशुद्धिर्भवेत्खलु।
सद्यः कृत्वापि दहति महापातकञ्चकम् ॥१८२
आनुकूल्यं ग्रहा यान्ति सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः।
उपसर्गाः शमं यान्ति युद्धे जयमवाप्नुयात ॥१८३

इस प्रकार शिरस्थ चन्द्रमा में आत्म-चिन्तन करने से अनजाने विषय का स्फुरण होता है अर्थात् जो विषय पहले उत्पन्न नहीं हुआ हो, उसकी उत्पत्ति अनुभव होने लगती है। इसके द्वारा चित्र का शोधन होता और तुरन्त ही पाँचों प्रकार के महापाप नष्ट होजाते हैं। तथा सभी ग्रह साधक के अनुकूल हो जाते हैं। सब उपद्रवों का नाश होकर उपसर्गों का शमन हो जाता है तथा युद्ध करने वाले को इसके प्रभाव से युद्ध में विजय प्राप्त होती है ॥१८२-१८३॥

खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेच्छीरेन्दुदर्शनात् ।
ध्यानादेव भवेत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥१८४

सन्तताभ्यासयोगेन सिद्धो भवति मानवः ।
सत्य सत्यं पुनः सत्य मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ॥
योगशास्त्रं च परमं योगिनां सिद्धिदायकम् ॥१८५

शिरस्थ चन्द्रमा में ध्यान करने वाले योगी को निश्चय ही खेचरी और भूचरी विद्या सिद्ध होती है। इस ध्यान के सदा अभ्यास करते रहने से साधक सिद्ध बन जाता है, मेरा यह कथन सत्य, ही है कि वह योगी मेरे-समान ही होजाता है। इस कथन पर कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं है यह परम योग है जो योगी पुरुषों के लिए सिद्धि का देने वाला है ॥१८४-१८५॥

राजयोग वर्णन

अत ऊर्ध्व दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ।
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्यबाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ॥१८६
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।
अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ॥१८७

तालु के ऊर्ध्व भाग में दिव्य स्वरूप वाला जो सहस्रार पद्म है, ब्रह्माण्ड रूपी देह के बाहर विद्यमान रहता है। यह सहस्रदल कमल मुक्ति का देने वाला है। यह कमल कैलास कहलाता है, क्योंकि इसकी स्थिति शरीर के ऊपर, कैलास के समान उच्च स्थान में है। इसी स्थान में महेश्वर का निवास है। यह अकुल संज्ञक ईश्वर अविनाशी है। इसका ह्रास या वृद्धि कभी भी नहीं होती ॥१८६-१८७॥

स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण नृणा संसारेऽस्मिन्
सम्भवो नैव भूयः। भूतग्रामं सन्तताभ्यासयो-
गात् कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्रा ॥१८८

इस स्थान के जान लेने मात्र से मनुष्य को इस संसार में कभी उत्पन्न नहीं होना पड़ता। यह ज्ञान योग है, जिसका सदा अभ्यास करने वाले योगी को सभी भूतों के उत्पन्न करने और संहार करने की शक्ति प्राप्त होजाती है। आशय यह है कि उक्त स्थान के ज्ञान मात्र से ही साधक सर्व समर्थ होजाता है। ८८॥

स्थाने परे हंसनिवासभूते कैलासनाम्नीह निवि-
ष्टचेताः। योगी हृतव्याधिरधः कृताधिर्वायुश्चिरं
जीवति मृत्युमुक्तः ॥१८९

यह कैलास सप्रक स्थान परमहंस का निवासभूत है। अर्थात् परमहंस यहीं रहता है। इसलिए जो योगी इस स्थान में चित्त को स्थिर कर लेता है, वह सभी व्याधियों को नष्ट करने में समर्थ होता है तथा मृत्यु से मुक्त होकर चिरजीवी होजाता है ॥१८९॥

चित्तवृन्तिर्यदा लीना कुलाख्ये परमेश्वरे।
तदा समाधिसाम्येन योगी निश्चलतां व्रजेत् ॥१९०
निरन्तरकृते ध्याने जगद्विस्मरणं भवेत्।
तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम् ॥१९१

जब योगी इस कुल संख्यक परमेश्वर में चित्तवृत्ति को लीन कर लेता है, तभी उसे साम्य समाधि की प्राप्ति होकर निश्चलता होजाती है। यदि इसका निरन्तर ध्यान किया जाय उसे जगत् का स्मरण भी नहीं रहता और विचित्र सामर्थ्य की प्राप्ति होजाती है। यह कथन निश्चय ही सत्य है ॥१९०-१९१॥

तस्माद्गलितपीयूषं पिवेद्योगी निरन्तरम्।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरासुहे ॥१६२॥
अत्र कुण्डलिनीशक्तिर्लयं याति कुलाभिधा।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥१६३॥

इसलिए जो योगी सहस्रार से स्रवित होते हुए अमृत का निरन्तर पान करता है, वह अपने कुल सहित मृत्यु की भी मृत्यु का विधान करके उसे जीत लेता है अर्थात् उस साधक को मृत्यु भी नहीं मार सकती। इसी सहस्रार कमल में कुल स्वरूपा भगवती कण्डलिनी का लय होता है और उसका लय होते ही यह चारों प्रकार की सृष्टि भी परमात्मा में लीन होजाती है अर्थात् शिव शक्ति का मिलन होते ही सृष्टि ब्रह्म में लय को प्राप्त होती है ॥१६२-१६३॥

यज्ज्ञात्वा प्राप्त विषयं चित्तवृत्तिर्विलीयते।
तस्मिन्परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षकः ॥१६४॥
चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद्ध्रुवम्।
तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ॥१६५॥

इग सहस्रदल पद्म का ज्ञान प्राप्त होने पर चित्तवृत्ति लय को प्राप्त होजाती है। इसलिए योगी का कर्तव्य है कि वह अपेक्षा-रहित रूप से इस ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करता रहे। क्योंकि इस ज्ञान की प्राप्ति से योगी की चित्तवृत्ति जब लय को प्राप्त होती है, तभी अखण्ड ज्ञान स्वरूप निरन्जन आत्मा का प्रकाश होता है ॥१३४-१६५॥

ब्रह्मांड बाह्ये संचिन्त्य स्वप्रतीकं यथोदितम्।
तमावेश्य महच्छून्यं चिन्तयेदविरोधतः ॥१६६॥

आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्यसिद्धिमाप्नुयात् ॥१६७॥
एतत् ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यं दिने दिने ।
तस्य स्यात्सकलासिद्धिर्वत्सरान्नात्रः संशयः ॥१६८॥

ब्रह्माण्ड अर्थात् शरीर के बाहर पहले बताये हुए अपने प्रतीक का ध्यान करे और जब ध्यान में चित्त स्थिरता को प्राप्त होजाय तब उसमें महत् शून्य का चिन्तन करना चाहिए। आदि, मध्य और अन्त रूप शून्य में करोड़ सूर्य के समान प्रभा वाले तथा चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाश वाले शून्य रूप आत्मा के दर्शन का अभ्यास करने वाले साधक को सिद्धि की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य आलस्य-रहित होकर नित्य प्रति निरन्तर त्रस शून्य के ध्यान में लीन रहता है, वह एक वर्ष में ही सभी सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥१६६-१६८॥

क्षणार्धं निश्चलं तत्र मनो यस्य भवेद् ध्रुवम् ।
स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ।
तस्य कल्मषसङ्घातस्तत्क्षणादेव नश्यति ॥१६९॥
यं दृष्ट्वा न प्रवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।
अभ्यसेत्तं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना ॥२००॥

इस शून्य में जो भी साधक आधे क्षण के लिए भी मन को स्थिर रूप से दृढ़ कर लेता है, वह योगी अवश्य ही भक्त और सभी लोकों में पूजित समझना चाहिए। उसके सभी पाप समूहों का उसी क्षण नाश होजाता है। इसके दर्शन करते ही मनुष्य मृत्यु-रूपी संसार मार्ग में भ्रमण करने से छूट जाता है अर्थात् उसे जन्म-मरण के चक्र में बँधना शेष नहीं रहता। इसका

अभ्यास स्वाधिष्ठान के मार्ग से प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए ॥१९९-२००॥

एतत् ध्यानस्य माहात्म्यं मया वक्तु न शक्यते ।
यः साधयतिजानाति सोऽस्माकमपि सम्मतम् ॥२०१॥
ध्यानादेव विजानाति विचित्रफलसंभवम् ।
अणिमादिगुणोपेतो भवत्येव न संशयः ॥२०२॥

मैं इस शून्य का अधिक माहात्म्य कहने में असमर्थ हूँ। अर्थात् इसका माहात्म्य इतना अधिक है कि जसका कहाँ तक वर्णन किया जाय ? जो योगी इसका अभ्यास करके इसके माहात्म्य को जान गये हैं, वे अवश्य ही मेरे समान हो गये हैं। इसके विचित्र फल को इसका ध्यान करने वाला ही जानता है। इसके प्रभाव से अणिमादि सिद्धियों की भी प्राप्ति होती है, इसमें कुछ संशय नहीं समझना चाहिए ॥२०१-२०२॥

राजाधिराजयोग वर्णन

राजयोगो मया ख्यातः सर्वतन्त्रेषु गोपितः ।
राजाधिराजयोगोऽयं कथयामि समासतः ॥२०३॥
स्वस्तिकञ्चासनं कृत्वा सुमठे जन्तुवर्जिते ।
गुरुं संपूज्य यत्येन ध्यानमेतत्समाचरत् ॥२०४॥

शिवजी कहते हैं कि मैंने जिस राजयोग को कहा है, वह सब प्रकार से गुप्त है । अब में राजाधिराज योग का विस्तार संहित वर्णन करता हूँ। जन-रहित एकान्त स्थान में स्थित सुन्दर मठ में जाकर साधक प्रयत्न पूर्वक गुरु का पूजन करके स्वस्तिकासन लगाकर बैठे और ध्यान में तत्पर होजाय ॥२०३-२०४॥

निरालम्बं भवेज्जीवं ज्ञात्वा वेदान्तयुक्तितः ।
निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेत् सुधीः ॥२०५
एतद्ध्यानान्महासिद्धिर्भवत्येव न संशयः ।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ॥२०६॥

विद्वान् योगी वेदान्त की युक्तियों (विधियों) के अनुसार मन को निरालम्ब करके जीव का चिन्तन करे, किसी अन्य का चिन्तन किंचित भी न करे। इस प्रकार से ध्यान करने पर महा-सिद्धि होती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। इसमें साधक मन को वृत्ति हीन करके स्वयं पूर्णरूप होजाता है। अर्थात् वृत्ति-रहित चित्त से ध्यान करने पर स्वयं ही यह पूर्ण ज्ञान होजाता है कि मैं आत्मा हूँ ॥२०५-२०६॥

साधयेत्सततं यो वै स योगी विगतस्पृहः ।
अहंनाम न कोऽप्यस्ति सर्वदात्मैव विद्यते ॥२०७॥
को वन्धः कस्य वा मोक्ष एकं पश्येत्सदा हि सः ।
एतत् करोति यो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः ॥
स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ॥२०८॥

जो योगी पुरुष सदा उक्त प्रकार से साधन करता है, उसकी इच्छाएँ नष्ट होजाती हैं अर्थात् उसे कोई कामना शेष नहीं रहती और 'अहं' नाम का कोई शब्द भी उसके मुख से नहीं निकलता, संसार में जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब उसके लिए तो आत्मा ही है। बन्धन क्या है ? मोक्ष क्या है ? सदा एक आत्मा ही है, जिसे देखता हुआ जो योगी उसका नित्य चिन्तन करता है, वह निःसंदेह मुक्त ही है। वही योगी श्रेष्ठ भक्त तथा सभी लोकों में पूजित होता है ॥२०७-२०८॥

अहमस्मीति यन्मत्वा जीवात्मपरमात्मनोः ।
अहं त्वमेतदुभयंत्यक्त्वा खण्डंविचिन्तयेत् ॥२०९॥
अध्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ।
तद्बीजमाश्रयेद्योगी सर्वसंगविवर्जितः ॥२१०॥

'मैं ही वह हूँ' इस प्रकार मानता हुआ योगी जीवात्मा-परमात्मा को समान समझे । 'मैं और 'तुम' के भेदभाव को छोड़ कर एक अखण्ड ब्रह्म का ही चिन्तन करे। अध्यारोप और अपवाद से जिसमें सभी वस्तुओं का लय होता है उसी बीज का आश्रय ले और सभी प्रकार के संग से बच कर रहे । अर्थात् किसी के साथ न रह कर एकान्त स्थान में अकेला ही रहे ॥२०९-२१०॥

अपरोक्षं चिदानन्दं पूर्णं त्यक्त्वा भ्रमाकुलाः ।
परोक्षं चापरोक्षं च कृत्वा मूढा भ्रमन्ति वै ॥२११॥
चराचरमिदं विश्वं परोक्षं यः करोति च ।
अपरोक्षं परं ब्रह्म त्यक्तंतस्मिन्प्रलीयते ॥२१२॥

भ्रम से आकुल हुए पुरुष प्रत्यक्ष परिपूर्ण ब्रह्म को त्यागकर भ्रम में ही पड़े रहते और प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष के विचार में डूबे हुए भ्रमते रहते है। यह चराचर विश्व परोक्ष है, जो ऐसा तक करते हैं, वे प्रत्यक्ष परब्रह्म को त्याग कर विश्व में ही लय का प्राप्त होते हैं। अर्थात् वे ससार के बन्धन से कभी मुक्त नहीं हो पाते ॥२११-२१२॥

ज्ञानकारणमज्ञानं यथा नोत्पद्यते भृशम् ।
अभ्यासं कुरुते योगी सदा सङ्गविवर्जितः ॥२१३॥

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य विषयेभ्यो विचक्षणः ।
विषयेभ्यः सुषुप्त्येव तिष्ठेत्संगविवर्जितः ॥२१४॥

जिस अभ्यास से ज्ञान उत्पन्न होता हो और अज्ञान नष्ट होजाता होता, उसका सदा संग-रहित होकर योगी को अभ्यास करना चाहिए। विद्वान् योगी इन्द्रियों को विषयों से पृथक् करते हुए संग-रहित होते और विषयों के त्याग में सुषुप्ति के तुल्य लीन होजावे हैं ॥२१३-२१४॥

एवमभ्यासतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते ।
श्रोतुं बुद्धिसमर्थार्थं निवर्तन्ते गुरोर्गिरः ।
तदभ्यासवशोदेक स्वतो ज्ञानं प्रवर्तते ॥२१५॥

इस प्रकार से अभ्यास करने वाले साधक को ज्ञान का प्रकाश स्वयं ही होजाता है और तब गुरु के उपदेश की भी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् ज्ञान का प्रकाश होने पर गुरु द्वारा बताई हुई विधियों की भी आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार इतर वाक्यों के सुनने की इच्छा निवृत्त होजाती है, तब वह साधक स्वयं ही उस अद्भुत ज्ञान में प्रवृत्त हो जाता है ॥१२५॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद्ध्रुवम् ॥२१६॥
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।
तस्मात् प्रवर्तते योगी हठे सद्गुरुमार्गतः ॥२१७॥

वह ब्रह्म न तो वाणी से प्राप्त हो सकता है, न मन से ही अर्थात् ब्रह्म मन-वाणी का विषय नहीं है, वरन् योगाभ्यास रूपी साधन और निर्मल ज्ञान के द्वारा स्वयं ही प्रकाशित होता है, यह निश्चय ही सत्य है। हठयोग के बिना राजयोग की सिद्धि

नहीं हो सकती और न राजयोग के बिना हठयोग की ही सिद्धि संभव है। इसलिए योगी को सद्गुरु की शिक्षा के अनुसार हठयोग में प्रवृत्त होना चाहिए ॥२१६-२१७॥

स्थिते देहे जीवति च योगं न श्रियते भृशम् ।
इन्द्रियार्थोपभोगेषु स जीवति न संशयः ॥२१८॥

जो पुरुष इस शरीर के विद्यमान रहते हुए योग का आश्रय नहीं लेते, वे इन्द्रियों के भोगों को भोगने के लिये ही संसार में जीवित रहते हैं, इसमें संशय नहीं । अभिप्राय यह है कि योग का आश्रय न लेने वाले पुरुष संसार बन्धन स्वरूप मिथ्या सुखों की भ्रान्ति में पड़े हुए जीवन को व्यर्थ ही गँवाते हैं ॥२१८॥

अभ्यासपाकर्यन्तं मितान्नं स्मरणं भवेत् ।
अन्यथा साधनं धीमान्कर्तुं पारयतीह न ॥२१९॥
अतीव साधुसंलापं साधुसम्मतिबुद्धिमान् ।
करोति पिण्डरक्षार्थं बह्वालापविवर्जितः ॥२२०॥

बुद्धिमान साधक को योगाभ्यास के आरम्भ काल से जब तक अभ्यास सिद्ध न हो तब तक मिताहारी (अल्पभोजी) रहना चाहिए। क्योंकि अधिक भोजन करने से योगाभ्यास में सफलता प्राप्त नहीं होती । बुद्धिमान साधक को साधु के समान बुद्धि रखनी चाहिए। उसे इतना ही (अल्प) भोजना करना चाहिए जितने से कि शरीर की रक्षा हो सके। इस प्रकार उसे अल्प भोजन और अल्प भाषण ही करना चाहिए अर्थात् बोले भी तो उतना ही जितना बोलने का प्रयोजन हो, निष्प्रयोजन वार्तालाप न करे ॥२१९-२२०॥

त्याज्यते त्यज्यते सङ्गं सर्वथा त्यज्यते भृशम् ।
अन्यथा न लभेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥२२१॥

गुह्यैव क्रियतेऽभ्यासः सङ्गं त्यक्त्वा तदन्तरे ।
व्यवहाराय कर्तव्यो बाह्यसंगो न रागतः ॥२२३॥

योगी का कर्त्तव्य है कि वह त्यागी बने और सब प्रकार के संगों का परित्याग करदे अर्थात् किसी भी पुरुष के सग में या किसी भी विषय में चित्त न रखे। अल्प भोजन और अल्प भाषण रखे, क्योंकि ऐसा आचरण न करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मैं यह पूर्णतया सत्य ही कहता हूँ। सग-रहित रूप से अर्थात् सभी का संग छोड़कर एकान्त स्थान में योगाभ्यास करे। यदि बाहरी मनुष्यों से व्यवहार आवश्यक ही हो तो उसे कर्त्तव्य मानकर ही करे, आसक्ति के वशीभूत होकर कभी न करे ॥२२१-२२२॥

स्वे स्वे कर्मणि वर्तन्ते सर्वे ते कर्मसंभवाः ।
निमित्तमात्रं करणे न दोषोऽस्ति कदाचन ॥२२३॥
एवं निश्चित्य सुधिया गृहस्थोऽपि यदा चरेत् ।
तदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥२२४॥

अपने-अपने आश्रम धर्मों का व्यवहार भी तभी तक करना चाहिए जब तक कि उनकी अपेक्षा हो। इस प्रकार कर्म से संभव जितने भी ज्ञानादि कर्म हैं, उन्हें निमित्त मात्र मानकर ही करने से कभी कोई दोष नहीं लगता। इस प्रकार की निश्चित बुद्धि वाला होकर गृहस्थ भी यदि योगाभ्यास करने लगे तो उसे भी अवश्य सिद्धि प्राप्त होजायगी, इसमें किसी प्रकार के विचार की आवश्यकता नहीं है अर्थात् यह कथन सत्य है ॥२२३-२२४॥

पापपुण्यविनिर्मुक्तः परित्यक्ताङ्गसाधकः ।
यो भवेत्स विमुक्तः स्यात गृहे तिष्ठन्सदा गृही ॥२२५॥

न पापपुण्यैर्लिप्येत गोगयुक्तो यदा गृही ।
कुर्वन्नपि तदा पापन्स्वकार्यें लोकसंग्रहे ॥२२६॥

जो गृहस्थ साधक पाप-पुण्य से रहित होकर सभी प्रकार के संग को छोड़ देता है वह घर में रहता हुआ भी पाप-पुण्य के बन्धन में नहीं बँधता। यवि वह योगयुक्त गृहस्थ सांसारिक वस्तुओं के संग्रह में पाप भी कर बैठे तो वह पाप उसे स्पर्श न कर सकेगा ॥२२५-२२६॥

अधुना संप्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनमुत्तमम् ।
ऐहिकामुष्मिकसुखं येन स्यानविरोधितः ॥२२७॥
यस्मिन्मंत्रवरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भवेत् खलु ।
योगेन साधकेन्द्रस्य सर्वैंश्वर्यसुखप्रदा ॥२२८॥

अब मैं श्रेष्ठ मन्त्र-साधन का वर्णन करता हूँ, जिसके द्वारा साधक को इहलोक और परलोक दोनों में ही निर्विघ्न सुख की प्राप्ति होती है इस श्रेष्ठ मन्त्र का ज्ञान होने पर अवश्य ही योग की सिद्धि होती है और यह साधन योग के साथ करने से सब प्रकार के ऐश्वर्य और सुख का देने वाला होता है ॥२२७-२२८॥

मूदाधारेऽस्ति यत्पद्मं चतुर्दलसमन्वितम् ।
तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम् ॥२२९॥
हृदये कामबीचन्तु बन्धूककुसुमप्रभम् ।
आज्ञारविन्दे शक्त्याख्यं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥२३०॥

यह जो मूलाधार पद्म चार दलों से समन्वित है, उसके मध्य में विद्युत् की प्रभा के समान वाग्भवबीज का स्फुरण होता है। हृदय स्थान में बन्धूक पुष्प्र के समान प्रभा वाला कामवीज स्थित है और आज्ञापद्म में जो शक्ति संज्ञक बीज

विद्यमान है, वह करोड़ चन्द्रमाओं की प्रभा के समान दीप्ति-मान है ॥२२९-२३०॥

बीजत्रयमिदं गोप्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रभम् ।
एतन्मन्त्रत्रयं योगी साधयेत्सिद्धिसाधकः ॥२३१॥
एतन्मन्त्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अक्षराक्षरसन्धानं निःसन्दिग्धमना जपेत् ॥२३२॥

उक्त तीनों बीज गोपनीय हैं और भोग-मोक्ष दोनों के ही देने वाले हैं। इसलिए योगी पुरुष को इन सिद्धि-साधक तीन बीज मन्त्रों का साधन अवश्य करना चाहिए। इन मन्त्रों का उपदेश गुरु-मुख से लेकर, न तो शीघ्र और न देर से अर्थात् समरूप से अक्षर-अक्षर का सन्धान करता हुआ (स्पष्ट उच्चा-रण पूर्वक) संदेह-रहित मन से जपना चाहिए ॥२३१-३२॥

तद्गतश्चैकचित्तश्च शास्त्रोक्तविधिना सुधीः ।
देव्यास्तु पुरतो लक्षं हुत्वा लक्षत्रयं जपेत् ॥२३३॥
करवीरप्रसूनन्तु गुडक्षीराज्यसंयुतम ।
कुण्डे योन्याकृतौ धीमान् जपान्ते जुहुयात्सुधीः ॥२३४॥

विद्वान् योगी चित्त को एकाग्र करके शास्त्र में वर्णित विधि के अनुसार देवी के निकट बैठकर एक लाख आहुतियाँ (होम) करे और तीन लाख जप करे। उस विज्ञ साधक को जप पूर्ण होने पर कुण्ड निर्मित कर कनेर के फूल, गुड़, दूध और घी मिलाकर आहुतियाँ देनी चाहिए ॥२३३-२३४॥

अनुष्ठाने कृते धीमान् पूर्वसेवा कृता भवेत् ।
ततो ददाति कामान्वै देवी त्रिपुरभैरवी ॥२३५॥

गुरुं सन्तोष्य विधिवत् लब्ध्वा मन्त्रवरोत्तमम् ।
अनेन विधिना युक्तो मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ॥२३६॥

इस प्रकार अनुष्टान करने वाला बुद्धिमान् साधक भगवती त्रिपुरसुन्दरी की सेवा करता है तो भगवती उसकी सभी कामनाओं को पूर्ण करती हैं। इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए पहले विधि सहित गुरु को सन्तुष्ट करके मन्त्र ग्रहण करना चाहिए। इस विधि से ग्रहण करने पर साधक मन्दभागी हो तो भी सिद्धि प्राप्त करता है ॥२३५-२३६॥

लक्षमेकं जपेद्यस्तु साधको विजितेन्द्रियः ।
दर्शनात्तस्य क्षुभ्यन्ते योषितो मदनातुराः ।
पतन्ति साधकस्याग्रे निर्लज्जा भयवर्जिताः ॥२३७॥
जप्तेन च द्विलक्षेण ये यस्मिन्विषये स्थिताः ।
आगच्छन्ति यथा तीर्थं विमुक्तकुलविग्रहाः ।
सर्वस्वं तस्य ददति तस्यैव च वशे स्थिताः ॥२३८॥

जो साधक इन्द्रियों को वशीभूत करके एक लाख जप करता है, उसके दर्शन मात्र से ही स्त्रियाँ कामातुर होकर भय रहित एवं निर्लज्ज रूप से आगे आकर गिर जाती हैं। यदि इस मन्त्र का दो लाख की संख्या में जप किया जाय तो जैसे कुलीन स्त्रियाँ लज्जा आदि को छोड़कर तीर्थ में (स्नानार्थ) जाती हैं अर्थात् वस्त्र उतार देती हैं, वैसे ही स्त्रियां निर्लज्ज भाव से साधक के पास आकर, उसके वश में होती हुई अपना सर्वस्व प्रदान कर देती हैं ॥२३७-२३८॥

त्रिभिर्लक्षैस्तथा जप्तैर्मण्डलीक समण्डलम् ।
वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ॥
षड्भिलक्षैर्महीपालं सभृत्यबलवाहनम् ॥२३९॥

यदि इसका तीन लाख जप कर ले तो मण्डलीक राजा भी अपने मण्डल सहित उसके वश में हो जाते हैं, इसमें कुछ विचार करने की बात नहीं है । यदि छः लाख की संख्या में जप करले तो साधक स्वयं ही बल सेना), वाहन आदि से सम्पन्न राजा होजाता है ॥२३९॥

लक्षैर्द्वादशभिर्जप्तैर्यक्षरक्षोरगेश्वराः ।
वशमायान्ति ते सर्वे आज्ञां कुर्वन्ति नित्यशः ॥२४०॥
त्रिपञ्चलक्षजप्तैस्तु साधकेन्द्रस्य धीमतः ।
सिद्धिविद्याधराश्चैव गन्धर्वाप्सरसाङ्गणाः ।
वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ॥२४१॥

इस मन्त्र का बारह लाख की संख्या में जप करने वाले योगी क वश में पड़ कर यक्ष, राक्षस, नाग आदि सभी सदैव आज्ञापालन में तत्पर रहते हैं । यदि साधक पन्द्रह लाख जप कर ले तो सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व और अप्सरा आदि सभी उसके वशीभूत होते हैं, इसमें कुछ विचार करने की बात नहीं है । अर्थात् सत्य ही है ॥२४०-२४१॥

हठात् श्रवणविज्ञानं सर्वज्ञत्वं प्रजायते ।
तथाष्टादशभिर्लक्षैर्देहेनानेन साधकः ॥२४२॥
उत्तिष्ठेन्मेदिनीं त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते ।
भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रां पश्यति मेदनीम् ॥२४३॥

हठयोग का अभ्यास करने वाले साधक को श्रवण शक्ति और सर्वज्ञता की उपलब्धि होगी। आशय यह है कि उसे सूक्ष्म श्रवण और सूक्ष्म पदार्थों के ज्ञान की सामर्थ्य प्राप्त होजाती है। उक्त विधान से अठारह लाख की संख्या में जप करने वाले साधक का शरीर दिव्य होजाता है और वह धरती से उठ कर आकाश मार्ग में जाता है तथा इच्छानुसार भ्रमण करता है। उसे धरती के छिद्र देखने की सामर्थ्य भी प्राप्त होजाती है अर्थात् वह पृथिवी में प्रविष्ट होने के मार्गों को भी देख सकता है ॥२४२-२४३॥

शिवसंहिताफलकथन

अष्टाविंशभिर्लक्षैर्विद्याधरपतिर्भवेत् ।
साधकस्तु भवेद्धीमान्कामरूपो महाबलः ॥२४४॥
त्रिंशल्लक्षैस्तथा जप्तैर्ब्रह्मविष्णुसमो भवेत् ।
रुद्रत्वं षष्टिभिर्लक्षैरमरत्वमशीतिभिः ॥२४५॥
कोट्यैकया महायोगी लीयते परमे पदे ।
साधकस्तु भवेद्योगी त्रैलोक्ये सोऽतिदुर्लभः ॥२४६॥

जो बुद्धिमान् साधक अट्ठाईस लाख की संख्या में जप करती है, वह महाबल से समन्वित, कामरूप अर्थात् कामदेव के समान रूपवान् और विद्याधरों का भी स्वामी होजाता है। वह यदि तीस जाख जप करले तो ब्रह्मा, विष्णु के समान होजाता है, साठ लाख जप करले से रुद्रत्व को प्राप्त होता है तथा अस्सी लाख जप करले तो अमरत्व और सर्व प्रियता प्राप्त करता है। यदि एक करोड़ की संख्या में जप करले तो वह योगी परम पद में लीन होजाता है। परन्दु इस प्रकार का साधन करने वाले योगी तीनों लोकों में भी अत्यन्त दुर्लभ होते हैं ॥२४४-२४६॥

त्रिपुरे त्रिपुरन्त्वेकं शिवं परमकारणम् ।
अक्षयं तत्पदं शान्तमप्रमेयनामयम् ॥२४७॥
लभतेऽसौ न सन्देहो धीमान् सर्वमभीप्सितम् ।
शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरि ॥२४८॥

त्रिपुर स्वरूप शिवजी ही परमकारण हैं, उनका पद अक्षय, शान्त, अप्रमेग और गोगों से रहित है, उसकी प्राप्ति योगिजनों के लिए ही हो सकती है। यह सर्व अभीप्सितों को पूर्ण करने वाली शिवविद्या ही महाविद्या है, वही सबसे अग्र (श्रेष्ठ), अत्यन्त गुप्त है, इसे माहेश्वरी या शाम्भवी विद्या भी कहते हैं ॥२४७-२४८॥

मद्भाषितमिदं शास्त्रं गोपनीयमतो बुधैः ।
हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥२४९॥
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशिता ।
य इदं पठते नित्यमाद्योपान्तं विचक्षणः ॥२५०॥
योगसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमेणैव न संशयः ।
स मोक्षं लभते धीमान् य इदं नित्यमर्चयेत् ॥२५१॥

मेरे द्वारा कहा गया यह शास्त्र गोपनीय है, विद्वान् पुरुष इसे गुप्त ही रखते हैं। सिद्धि प्राप्त करने वाले साधकों का कर्त्तव्य है कि इस हठविद्या को सदा गुह्य बनाये रहें अर्थात् किसी पर प्रकट न करें। क्योंकि यह गुप्त रहने पर ही वीर्यवती रहती है और यदि इसे प्रकाशित कर दिया जाय तो निर्वीर्य हो जाती है। जो बुद्धिमान् पुरुष नित्यप्रति इस शास्त्र का आदि से अन्त पर्यन्त पाठ करते हैं, उन्हें क्रमपूर्वक अर्थात् धीरे-धीरे योग सिद्धि उपलब्ध होजाती है और जो विद्वान् पुरुष इस ग्रन्थ का

नित्य पूजन करता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है ॥२४९-२५१॥

मोक्षार्थिभ्यश्च सर्वेभ्यः साधुभ्यः श्रावयेदपि ।
क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथम्भवेत् ॥२५२॥
तस्मात् क्रिया विधानेन कर्तव्या योगपुङ्गवैः ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टः सन्त्यक्तान्तरसंगकः ॥२५३॥

सभी मुमुक्षु पुरुषों, साधुओं, सुनने वालों और क्रियावान् पुरुषों को अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होती है, परन्तु क्रियाहीन पुरुष के लिए क्या सम्भव है ? अर्थात् वह कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए विधान से क्रिया का अनुष्ठान करने से इच्छित लाभ की प्राप्ति होने से सन्तोष होता है। इस प्रकार इन्द्रियों में आसक्त न रहे ॥२५२-२५३॥

गृहस्थश्चाप्यनासक्तः स मुक्तो योगसाधनात् ।
ग्रहस्थानां भवेत् सिद्धिरीश्वराणां जपेन वै ।
योगक्रियाभियुक्तानां तस्मात्संयतते गृही ॥२५४॥

जो गृहस्थ इन्द्रियों में आसक्त न हो, वह योग का साधन करके मुक्त हो सकता है। यह साधन से गृहस्थ पुरुषों को भी सिद्धि देने वाला है, इसलिए गृहस्थ पुरुष भी इसका जप करता हुआ साधन करे ॥२५४॥

गेहे स्थित्वा पुत्रदारादिपूर्णः
सङ्गं त्यक्त्वा चान्तरे योगमार्गे ।
सिद्धे चिन्हं वीक्ष्य पश्चागृहस्थः
क्रीडेत्सं वै सम्मतं साधयित्वा ॥२५५॥

घर में पुत्र-पत्नी आदि से सम्पन्न रहता हुआ गृहस्थ भी संग का परित्याग करके आन्तरिक रूप से योगमाग में प्रवृत्त हो जाय तो सिद्धि के चिन्ह दिखाई देते और वह सदा आनन्द युक्त क्रीड़ा को करता है इसलिए साधक का परम कर्त्तव्य है कि वह संग-रहित रूप से जीवन व्यतीत करे ।।२२५।।

❋ शिव संहिता का पंचम पटल समाप्त ❋

❋ शिव संहिता सम्पूर्ण ❋
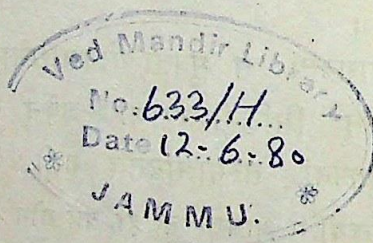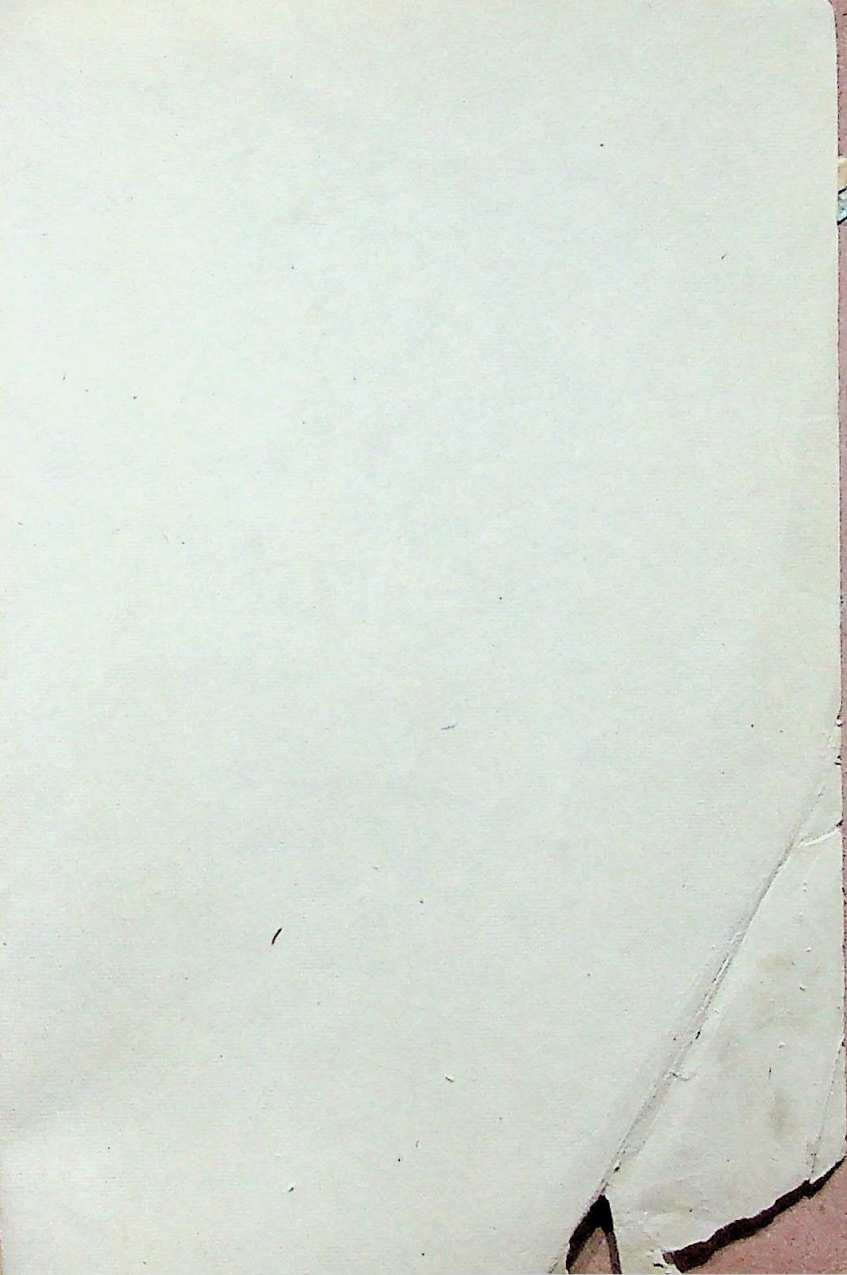
॥ श्रीः ॥

* लययोगः *

महामण्डलशास्त्रप्रकाशकसमितितः

प्रकाशितः ।

काश्यां महामण्डलशास्त्रप्रकाशकसमितियन्त्रे
श्रीश्यम्बिकाचरणचक्रवर्तिना
मुद्रितः ।

सम्वत् १९७० ।

मूल्यमष्टमुद्रामात्रम् ।

लययोगसंहिता ।

तन्त्रम् ।

C. M. V Sharma

अथ मङ्गलाचरणम् ।

कार्य्यंब्रह्मस्वरूपं जगदिदमखिलं ब्रह्मतच्छक्तिलास्यम्,
माया ब्रह्माप्यभिन्ने किल भवति यथाहंममेत्यैक्यबुद्धिः ।
विन्दुध्यानप्रसक्तैः कथमपि यतिभिर्ध्येयमध्यात्मदृग्भिः
सर्वावस्थाननाशप्रभु ननु जगतो यत्तदेकं प्रपद्ये ॥ १ ॥

अङ्गिरा याज्ञवल्क्यश्च कपिलश्च पतञ्जलिः ।
वशिष्ठकश्यपौ वेदव्यासाद्याः परमर्षयः ॥ २ ॥
यत्कृपातः समुद्भूतो लययोगो हितप्रदः ।
अतीतवाङ्मनोबुद्धिस्त्पदप्राप्तिकारणम् ॥ ३ ॥
येन योगपरा नित्यं कृतकृत्या भवन्ति हि ।
संहितां तस्य योगस्य तान्प्रणम्यारभेऽधुना ॥ ४ ॥

—:o:—

अथ लययोगलक्षणम् ।

ब्रह्माण्डपिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात् ।
समष्टिव्यष्टिसम्बन्धादेकसम्बन्धगुम्फिते ॥ १ ॥
ऋषिदेवौ च पितरो नित्यं प्रकृतिपूरुषौ ।
तिष्ठन्ति पिण्डे ब्रह्माण्डे ग्रहनक्षत्रराशयः ॥ २ ॥

पिण्डज्ञानेन ब्रह्माण्डज्ञानं भवति निश्चितम् ।
गुरूपदेशतः पिण्डज्ञानमाप्त्वा यथायथम् ॥ ३ ॥
ततो निपुणया युक्त्या पुरुषे प्रकृतेर्लयः ।
लययोगाभिधेयः स्यात् प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः ॥ ४ ॥
आधारपद्मे प्रकृतिः सुप्ता कुण्डलिनी स्थिता ।
सहस्रारे स्थितो नित्यं पुरुषश्चोपगीयते ॥ ५ ॥
प्रसुप्तायां कुण्डलिन्यां वाह्यसृष्टिः प्रजायते ।
योगाङ्गैस्तांप्रवोध्यैव यदा तस्मिन् विलापयेत् ॥ ६ ॥
कृतकृत्यो भवत्येव तदा योगपरो नरः ।
पुराविदो वदन्तीमं लययोगं सुखावहम् ॥ ७ ॥

अथ लययोगाङ्गानि ।

अङ्गानि लययोगस्य नचैवेति पुराविदः ।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा ॥ १ ॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानञ्चापि लयक्रिया ।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम् ॥ २ ॥
स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते ।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमयं भवेत् ॥ ३ ॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम् ।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया ॥ ४ ॥
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया ।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली ॥ ५ ॥
प्रवुध्य तस्मिन्पुरुषे लीयते नात्र संशयः ।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः ॥ ६ ॥

लयक्रियायाः संसिद्धौ लयबोधः प्रजायते ।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः ॥ ७ ॥

अथ यमवर्णनम् ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताऽऽहारः शौचन्त्वेते यमा दश ॥ १ ॥

(अहिंसा)

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः ॥ २ ॥

(सत्यम्)

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नायथार्थाभिभाषणम् ॥ ३ ॥

(अस्तेयम्)

कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निःस्पृहा ।
अस्तेयमिति सम्प्रोक्तमृषिभिस्तत्वदर्शिभिः ॥ ४ ॥

(ब्रह्मचर्यम्)

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यम्प्रचक्षते ॥ ५ ॥
ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां यतीनां नैष्ठिकस्य च ।
ब्रह्मचर्यं च तत्प्रोक्तं तथैवारण्यवासिनाम् ॥ ६ ॥
ऋतावृतौ स्वदारेषु सङ्गतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तदप्युक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥ ७ ॥

(दया)

सर्वदा सर्वभूतेषु सर्वथानुग्रहस्पृहा ।
कर्मणा मनसा वाचा दया सम्प्रोच्यते बुधैः ॥ ८ ॥

(आर्ज्जवम्)

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा एकरूपत्वमार्ज्जवम् ॥ ९ ॥

(क्षमा)

प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम् ।
क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवादिभिः ॥ १० ॥

(धृतिः)

अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगे चापि सम्पदि ।
भूयः प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः ॥ ११॥

(मिताहारः)

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्या षोड़शारण्यवासिनाम् ।
द्वात्रिंशद्धि गृहस्थानां यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम् ॥१२॥
तेषामयं मिताहारस्त्वन्येषामल्पभोजनम् ॥१३॥

(शौचम्)

शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरन्तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम् ॥१४॥
मनःशुद्धिस्तु विज्ञेया धर्मेणाध्यात्मविद्यया ।
अध्यात्मविद्या धर्मश्च पित्राचार्येण चाप्यते ॥१५॥

अथ नियमवर्णनम् ।

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणञ्चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥ १ ॥
एते च नियमाः प्रोक्तास्तांश्च सर्वान् पृथक् शृणु ॥ २

(तपः)

विधानोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम् ॥ ३ ॥

(सन्तोषः)

यदृच्छालाभतो नित्यं मनःसन्तोषकारिणी ।
या धीस्तामृषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम् ॥ ४ ॥

(आस्तिक्यम्)

धर्म्माधर्म्मेषु विश्वासो यस्तदास्तिक्यमुच्यते ॥ ५ ॥

(दानम्)

न्यायार्जितं धनञ्चाल्पमन्यद्वा यत्प्रदीयते ।
अर्थिभ्यः श्रद्धया युक्तं दानमेतदुदाहृतम् ॥ ६ ॥

(ईश्वरपूजनम्)

यत् प्रसन्नस्वभावेन विष्णो रुद्रस्य वा पृथक् ।
यथाशक्त्यर्चनं भक्त्या चैतदीश्वरपूजनम् ॥ ७ ॥
रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिभिः ।
हिंसादिरहितः काय एतदीश्वरपूजनम् ॥ ८ ॥

(सिद्धान्तश्रवणम्)

सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदानां श्रवणं सदा ।
द्विजवत् क्षत्रियस्योक्तं सिद्धान्तश्रवणं बुधैः ॥ ९ ॥
विशाञ्च केचिदिच्छन्ति शीलवृत्तवतां सताम् ।
शूद्राणाञ्च स्त्रियाश्चैव स्वधर्मस्तु तपस्विनाम् ॥ १० ॥
सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं पुराणश्रवणं बुधैः ॥११॥

(ह्रीः)

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ।
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीस्तु सैवेति कीर्त्तिता ॥१२॥

(मतिः)

विहितेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् ॥१३॥

(जपः)

गुरुणा चोपदिष्टो हि वेदबाह्यविवर्जितः ।
विधिनोक्तेन मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥१४॥

(व्रतम्)

सद्गुरोरुपदेशेनानुज्ञया वा प्रसेदुषः ।
धर्मार्थकामसिद्ध्यर्थमुपायग्रहणं व्रतम् ॥१५॥

अथ स्थूलक्रियावर्णनम् ।

(आसनस्थानम्)

क्षिप्रमासाद्यते सिद्धिरासनस्यानुकूल्यतः ।
मध्ये हि लययोगस्य प्रवदन्ति पुराविदः ॥ १ ॥
कुटीरो भूमिगर्तस्थो दरी वा पर्वतस्य च ।
साधनस्योपयोगाय लययोगस्य कथ्यते ॥ २ ॥
न तत्रवायोः संचारः स्वेच्छया किञ्च लभ्यते ।
रुद्धः स्याद्वायुसञ्चारो द्वारे वै पिहितेऽनिशम् ॥ ३ ॥
स्थानं तत्पावनतमं रम्यञ्चाप्यभयप्रदम् ।
सुखाकरं भवेच्चैव योगिनामिति सम्मतिः ॥ ४ ॥

एवंविधेन द्वारेण भवितव्यं न तत्र वै ।
बाह्यशब्दप्रवेशः स्यान्नापि तच्छब्दनिर्गमः ॥ ५ ॥
कल्याणाय भवत्येषा गुहा वै लयसाधने ।
नापेक्षते गुहामेनां योगे तून्नतमानसः ॥ ६ ॥

(आसनानि)

आसनाभ्यासतः कायोऽनुकूलः साधनस्य वै ।
आसनानि त्रयस्त्रिंशद्धठयोगे भवन्ति हि ॥ ७ ॥
आसनान्यत्र त्रीण्येव प्रोक्तानि परमर्षिभिः ।
पद्मासनं स्वस्तिकञ्च सिद्धासनमथापि वा ॥ ८ ॥
एतान्यभ्यसनीयानि लययोगपरायणैः ॥ ९ ॥
हठयोगप्रकरणे संद्रष्टव्यानि तत्र वै ।
इमानि लययोगस्य चासनानि भवन्ति हि ॥१०॥

(मुद्रा)

योगकौशलपूर्णा या स्थूलकायपरा क्रिया ।
मुद्रा निर्दिश्यते सा वै योगशास्त्रविशारदैः ॥११॥
साधने हठयोगस्य विहिताः पञ्चविंशतिः ।
मुद्रा महर्षिभिर्नाम हठयोगविशारदैः ॥१२॥
अष्टौ मुद्रा विधीयन्ते लययोगमहर्षिभिः ।
ज्ञेया वै शाम्भवी मुद्रा प्रत्याहारस्य सिद्धये ॥१३॥
पञ्चमुद्रा विनिर्दिष्टाः पञ्चधारणसिद्धये ।
ध्यानस्य सिद्धये शक्तिचालिनी चाथ योनिका ॥१४॥

अथ सूक्ष्मक्रियावर्णनम् ।

(प्राणायामः)

कार्यकारणसम्बन्धात्प्राणः स्थूलो मरुत्तथा ।

अभिन्नौ वायुमुख्या या क्रिया सूक्ष्मा तु सोच्यते ॥१
अन्तर्भवन्तौ सूक्ष्मायां प्राणायामस्वरोदयौ ।
वर्णिताावृषिभिर्नूनं लययोगविशारदैः ॥ २ ॥
यथाप्रकृति विज्ञेया प्राणायामक्रियाष्टधा ।
तत्र सप्त वलापेक्षं हठयोगे प्रकीर्त्यते ॥३॥
सरला लययोगस्य क्रिया सर्वा विधीयते ।
वलप्रयोगो नैवात्र प्रोक्तस्तज्ज्ञैर्महर्षिभिः ॥ ४ ॥
लययोगोपयोगाय प्राणायामस्तु केवली ।
प्रोच्यते तीर्णसंसारसागरैः परमर्षिभिः ॥ ५ ॥
गुरूपदेशगम्यापि प्राणायामक्रियाऽखिला ।
यथावद्वर्ण्यते चात्र जगच्छ्रेयोविधित्सया ॥ ६ ॥
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कार्यौ नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ ७ ॥
यः साधकः केवलकुम्भकस्याभ्यासं करोतीह सएव योगी।
न विद्यते किञ्चिदसाध्यमत्र धन्यस्य योगिप्रवरस्य तस्य॥८॥
प्राणायामे साधितेऽस्मिन् साधकैस्त्वनुभूयते ।
प्रत्याहारो धारणा च समाधिर्ध्यानमेव च ॥ ९ ॥

(स्वरोदयकथनम्)

प्राणा मरुन्मनश्चैते कार्यकारणरूपतः ।
अभिन्नाश्च जिते वायौ जिताः प्राणा मनस्तथा ॥१०॥
प्राणवायुं विनिर्ज्जित्य महाप्राणमनोजयः ।
तत्वज्ञानोपलब्धिश्चेत्युच्यते हि स्वरोदयः॥ ११॥
वैचित्र्यसूक्ष्मशक्तेर्हि स्वरोदयक्रियाफले ।
अनन्तेऽपि हितार्थाय योगिनां किञ्चिदुच्यते ॥१२॥
स्वरज्ञानात् परं मित्रं स्वरज्ञानात्परं धनम् ।

स्वरज्ञानात् परं गुह्यं न वा दृष्टं न वा श्रुतम् ॥१३॥
शत्रुं हन्यात् स्वरबलैस्तथा मित्रसमागमः ।
लक्ष्मीप्राप्तिः स्वरबलैः कीर्तिः स्वरबलैस्तथा ॥१४॥
कन्याप्राप्तिः स्वरबलैस्तद्बलै राजदर्शनम् ।
स्वरबलैर्देवतासिद्धिस्तद्बलैः क्षितिपो वशः ॥१५॥
स्वरैः संलभ्यते देशो भोज्यं स्वरबलैस्तथा ।
लघुदीर्घं स्वरबलैर्मलं चैव निवार्यते ॥ १६ ॥
सर्वशास्त्रपुराणादिस्मृतिवेदाङ्गपूर्वकं ।
स्वरज्ञानात्परं मित्रं नास्ति किञ्चिद्वरानने ॥१७॥
इदं स्वरोदयं शास्त्रं सर्वशास्त्रोत्तमोत्तमम् ।
आत्मघटप्रकाशार्थं प्रदीपकलिकोपमम् ॥१८॥

(वायुभेदवर्णनम्)

प्राणोऽपानः समानश्चोदानोव्यानस्तथैव च ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥१९॥
हृदि प्राणो वहेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे च उदानः कण्ठमध्यगः ॥२०॥
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधानाः पञ्च वायवः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः॥२१॥
तेषामपि च पञ्चानां स्थानानि च वदाम्यहम् ।
उद्गारे नागआख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ॥२२॥
कृकरः क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।
न जहाति मृते क्वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ॥२३॥
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ।
प्रकटप्राणसञ्चारं लक्षयेद्देहमध्यतः ॥२४॥
इडापिङ्गलासुषुम्नाभिर्नाडिभिस्तिसृभिर्बुधः ॥२५॥
अनेन लक्षयेद् योगी चैकचित्तः समाहितः ।

सर्वमेव विजानीयान्मार्गं तच्चन्द्रसूर्ययोः ॥२६॥
जीवेन गृह्यते जीवो जीवो जीवस्य दीयते।
जीवस्थाने गतो जीवो बलाज्जीवान्तवश्यकृत् ॥२७॥
चन्द्रं पिबति सूर्येण सूर्यं पिबति चन्द्रतः।
अन्योन्यं कालभावेन जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥२८॥
एतज्जानाति यो योगी एतत्पठति नित्यशः।
सर्वदुःखविनिर्मुक्तो लभते वाञ्छितं फलम् ॥२९॥

(तत्त्वविचारः)

पञ्चतत्त्वाद् भवेत्सृष्टिस्तत्वे तत्वं विलीयते।
पञ्चतत्वं परं तत्वं तत्वातीतं निरञ्जनम् ॥३०॥
तत्वानां नाम विज्ञेयं सिद्धियोगेन योगिनाम्।
भूतानां दुष्टचिह्नानि जानन्ति हि स्वरोत्तमाः ॥३१॥
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।
पञ्चभूतात्मकं सर्वं यो जानाति स पूजितः ॥३२॥
सर्वलोकेषु जीवानां न देहे भिन्नतत्वकम्।
भूर्लोकात् सत्यपर्यन्तं नाडीभेदः पृथक् पृथक् ॥३३॥
वामे वा दक्षिणे वापि उदयाः पञ्चकीर्त्तिताः।
अष्टधा तत्वविज्ञानं शृणु वक्ष्यामि सुन्दरि! ॥ ३४॥
प्रथमे तत्वसंख्यायां द्वितीये श्वाससन्धिषु।
तृतीये स्वरचिह्नानि चतुर्थे स्थानमेव च ॥३५॥
पञ्चमे तस्य वर्णश्च षष्ठे तु प्राणमेव च।
सप्तमे स्वादु संयुक्तिमष्टमे गतिलक्षणम् ॥३६॥
एवमष्टविधं प्राणं विषुवन्तं चराचरं।
स्वरात् परतरं देवि! नान्यदस्त्यम्बुजानने! ॥३७॥
निरीक्षितव्यं यत्नेन यदा प्रत्यूषकालतः।
कालस्य वञ्चनार्थाय कर्म कुर्वन्ति योगिनः ॥३८॥

श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुलौ नासापुटद्वये ।
वदनप्रान्तयोरन्ते तर्जन्यौ तु दृगन्तयोः ॥३९॥
अस्यान्तरं पार्थिवादितत्वज्ञानं भवेत्क्रमात् ।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्विन्दुभिर्निरुपाधिकम् ॥४०॥
दर्पणेन समालोक्य श्वासं तत्र विनिक्षिपेत् ।
आकारैस्तु विजानीयात् तत्वभेदं विचक्षणः ॥४१॥
चतुरस्रं चार्धचन्द्रं त्रिकोणं वर्तुलं स्मृतम् ।
विन्दुभिस्तु नभो ज्ञेयमाकारैस्तत्वलक्षणम् ॥४२॥
मध्ये पृथ्वी ह्यधश्चापश्चोर्द्ध्वं वहति चानलः ।
तीर्यग्वायुप्रचारश्च नभो वहति सङ्क्रमे ॥ ४३ ॥
माहेयं मधुरं स्वादु कषायं जलमेव च ।
तिक्तं तेजश्च वाय्वम्लमाकाशं कटुकं तथा ॥४४॥
अष्टाङ्गुलं वहेद्वायुरनलश्चतुरङ्गुलम् ।
द्वादशाङ्गुलमाहेयं षोडशाङ्गुलवारुणम् ॥ ४५ ॥
आपः श्वेताः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः ।
मारुतो नीलजीमूत आकाशं भूरिवर्णकम् ॥ ४६ ॥
स्कन्धदेशे स्थितो वह्निर्नाभिमूले प्रभञ्जनः ।
जानुदेशे मही तोयं पादान्ते मस्तके नभः ॥४७॥
ऊर्द्ध्वं मृत्युरधः शान्तिस्तिर्यगुच्चाटनं तथा ।
मध्ये स्तम्भं विजानीयान्नभः सर्वत्र मध्यमम् ॥४८॥
पृथिव्यां स्थिरकर्माणि चरकर्माणि वारुणे ।
तेजसा समकार्याणि मारणोच्चाटनेऽनिले ॥४९॥
व्योम्नि किञ्चिन्न कर्तव्यमभ्यसेद्योगसेवया ।
शून्यता सर्वकार्येषु नात्र कार्या विचारणा ॥५०॥
पृथ्वीजलाभ्यां सिद्धिः स्यान्मृत्युर्वह्नौ क्षयोऽनिले ।

नाभसे निष्फलं सर्वं ज्ञातव्यं तत्ववेदिभिः ॥५१॥
चिरलाभः क्षितौ ज्ञेयस्तत्क्षणात्तोयतत्वतः ।
हानिः स्याद्वह्निवाताभ्यां नभसो निष्फलं भवेत् ॥५२॥
यः समीरः समरसः सर्वतत्वगुणावहः ।
अम्बरं तं विजानीयाद् योगिनां योगदायकम् ॥५३॥
वर्णाकारं खादुवाहमव्यक्तं सर्वगामि च ।
मोक्षदं व्योमतत्वं हि सर्वकार्येषु निष्फलम् ॥५४॥
आपः पूर्वे पश्चिमे हि पृथ्वी तेजश्च दक्षिणे ।
वायुरुत्तरदिग्भागे मध्यकोणे गतं नभः ॥ ५५ ॥
चन्द्रे पृथ्वी जले स्यातां सूर्ये चाग्निर्यदा भवेत् ।
तदा सिद्धिर्न सन्देहः सौम्यासौम्येषु कर्मसु ॥ ५६ ॥
जीवितव्ये जये लाभे कृष्यां च धनकर्षणे ।
मन्त्रार्थे युद्धप्रश्ने च गमनाऽऽगमने तथा ॥ ५७ ॥
आयाति वारुणे तत्वे तत्रस्थोऽपि शुभं क्षितौ ।
प्रयाति वायुतोऽन्यत्र हानिर्मृत्युर्नभोऽनले ॥ ५८ ॥
पृथिव्यां मूलचिन्ता स्याज्जीवस्य जलवातयोः ।
तेजसा धातुचिन्ता स्याच्छून्यमाकाशतो वदेत् ॥५९॥
पृथिव्यां बहुपादाः स्युर्द्विपदास्तोयवायुतः ।
तेजसा च चतुष्पादा नभसा पादवर्जिताः ॥ ६० ॥
कुजो वह्नी रविः पृथ्वी शौरिरापः प्रकीर्तिताः ।
वायुस्थानस्थितो राहुर्दक्षरन्ध्रप्रवाहकः ॥ ६१ ॥
जलं चन्द्रो बुधः पृथ्वी गुरोर्वातः सितोऽनलः ।
वामनाड्यां स्थिताः सर्वे सर्वकार्येषु निश्चिताः ॥६२॥
तुष्टिः पुष्टीरतिः क्रीडा जयो हास्यं धराजले ।
तेजो वायुश्च सुप्तात्तः ज्वरकम्पः प्रवासिनः ॥ ६३ ॥

गतायुर्मृत्युराकाशो चन्द्रावस्थाः प्रकीर्तिताः ।
द्वादशैताः प्रयत्नेन ज्ञातव्या देशिकोत्तमैः ॥ ६४ ॥
पूर्वस्यां पश्चिमे याम्ये उत्तरायां यथाक्रमम् ।
पृथिव्यादीनि भूतानि बलिष्ठानि विनिर्दिशेत् ॥ ६५ ॥
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
पञ्चभूतात्मकं देहं ज्ञातव्यञ्च वरानने ! ॥ ६६ ॥
अस्थि मांसं त्वचा नाडी रोमश्चैव तु पञ्चमम् ।
पृथ्वी पञ्चगुणोपेता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम् ॥ ६७ ॥
शुक्रशोणितमज्जाश्च लालामूत्रञ्च पञ्चमम् ।
आपः पञ्चगुणाः प्रोक्ताः ब्रह्मज्ञानेन भाषितम् ॥६८॥
क्षुधा तृष्णा तथा निद्रा शान्तिरालस्यमेव च ।
तेजः पञ्चगुणं प्रोक्तं ब्रह्मज्ञानेन भाषितम् ॥ ६९ ॥
धारणं चालनं क्षेप्यं सङ्कोचनप्रसारणे ।
वायोः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम् ॥७०॥
रागद्वेषौ तथा लज्जा भयं मोहश्च पञ्चमः ।
नभः पञ्चगुणं प्रोक्तं ब्रह्मज्ञानेन भाषितम् ॥७१॥
पृथ्वीपलानि पञ्चाशच्चत्वारिंशदपस्तथा ।
तेजस्त्रिंशद्विजानीयाद्वायोर्विंशति दिङ्नभः ॥७२॥
पार्थिवे चिरकालेन लाभश्चाप्सु क्षणाद्भवेत् ।
जायते पवनाच्छल्पः सिद्धोऽप्यग्नौ विनश्यति ॥ ७३ ॥
बह्निवाय्वोः कृते प्रश्ने लाभाऽलाभौ वदेद्बुधः ।
परतो वारुणे लाभः स्थिरेण च वसुन्धरे ॥
ज्ञातव्यं जीवने शून्यं सिद्धो व्योम्नि विनश्यति ॥७४॥
पृथ्व्याः पञ्च अपां वेदाः गुणास्तेजो द्विवायुतः ।
नभ एकगुणश्चैव तत्त्वज्ञानमिदं भवेत् ॥ ७५ ॥

फूत्कारकृत्प्रस्फुटिता विदीर्णा पतिता धरा ।
ददाति सर्वकार्येषु अवस्थासदृशं फलम् ॥ ७६ ॥
जन्मान्तरीयसंस्कारात्प्रसादादथवा गुरोः ।
केषाञ्चिज्जायते तत्त्वे वासना विमलात्मनाम् ॥७७॥
भरणी कृत्तिका पुष्या मघा पूर्वा च फाल्गुनी ।
पूर्वभाद्रपदः स्वातिस्तेजस्तत्त्वमिति प्रिये ॥ ७८ ॥
विशाखोत्तरफाल्गुन्यौ हस्ता चित्रा पुनर्वसुः ।
अश्विनी मृगशीर्षा च वायुतत्त्वमुदाहृतम् ॥ ७९ ॥
पूर्वाषाढा तथाश्लेषा मूलमार्द्रा च रोहिणी ।
उत्तरभाद्रपदस्तोयतत्त्वं शतभिषा प्रिये ॥ ८० ॥
धनिष्ठा रेवती ज्येष्ठाऽनुराधा श्रवणस्तथा ।
अभिजिच्चोत्तराषाढा पृथ्वीतत्त्वमुदाहृतम् ॥ ८१ ॥
तत्त्वज्ञानी नरो यत्र धनं नास्ति ततः परम् ।
तत्त्वज्ञानेन गमयेदनायासफलं भवेत् ॥ ८२ ॥

(नाड़ीत्रयभेदाः)

चन्द्रसूर्ययोरभ्यासं ये कुर्वन्ति सदा नराः ।
अतीतानागतज्ञानं तेषां हस्तगतम्भवेत् ॥ ८३ ॥

(इड़ा)

स्थिरकर्मण्यलङ्कारे दूराध्वगमने तथा ।
आश्रमे हर्म्यप्रासादे वस्तूनां सङ्ग्रहेऽपि च ॥ ८४ ॥
वापीकूपतड़ागादिप्रतिष्ठा स्तम्भदेवयोः ।
यात्रादाने विवाहे च वस्त्रालङ्कारभूषणे ॥ ८५ ॥
शान्तिकं पौष्टिकञ्चैव दिव्यौषधिरसायने ।
स्वस्वामिदर्शने मैत्रे वाणिज्ये धनसंग्रहे ॥ ८६ ॥
गृहप्रवेशे सेवायां कृष्यां बीजादिवापने ।
शुभकर्मणि सन्धौ च निर्गमे च शुभः शशी ॥ ८७ ॥

(पिङ्गला)

कठिनक्रूरविद्यानां पठने पाठने तथा ।
शास्त्राभ्यासे च गमने मृगयापशुविक्रये ॥ ८८ ॥
गीत्यभ्यासे तन्त्रयन्त्रे दुर्गपर्वतरोहणे ।
द्यूते चौर्ये गजाश्वादिरथवाहनसाधने ॥ ८९ ॥
व्यायामे मारणोच्चाटे षट्कर्मादिकसाधने ।
यक्षिणीयक्षवेतालविश्वभूतादिसङ्ग्रहे ॥ ९० ॥
नदीजलौघतरणे भेषजे लिपिलेखने ।
मारणे मोहने स्तम्भे विद्वेषोच्चाटने वशे ॥ ९१ ॥
खड्गहस्ते वैरयुद्धे भोगे वा राजदर्शने ।
भोज्ये स्नाने व्यवहारे क्रूरे दीप्ते रविः शुभः ॥ ९२ ॥

(सुषुम्ना ।)

क्षणं वामे क्षणं दक्षे यदा वहति मारुतः ।
सुषुम्णा सा च विज्ञेया सर्वकार्यहरा स्मृता ॥ ९३ ॥
तस्यां नाड्यां स्थितो वह्निर्ज्वलन्तं कालरूपिणम् ।
विषुवन्तं विजानीयात्सर्वकार्यविनाशनम् ॥ ९४ ॥
यदानुक्रममुल्लङ्घ्य यस्य नाडीद्वयं वहेत् ।
तदा तस्य विजानीयादशुभं समुपस्थितम् ॥ ९५ ॥
जीविते मरणे प्रश्ने लाभालाभौ जयाजयौ ।
विषुवे वैपरीत्यं स्यात्संस्मरेज्जगदीश्वरम् ॥ ९६ ॥
ईश्वरस्मरणं कार्य्यं योगाभ्यासादिकर्मसु ।
अन्यत्तत्र न कर्त्तव्यं जयलाभसुखार्थिभिः ॥ ९७ ॥
वहन्नाडीस्थितो दूतो यत्पृच्छति शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं सिद्धिमायाति शून्ये शून्यं न संशयः ॥ ९८ ॥
इडायाश्च प्रवाहेण सौम्यकार्याणि कारयेत् ।

पिङ्गलायाः प्रवाहेण रौद्रकर्माणि कारयेत् ॥ ९९ ॥
सुषुम्णायाः प्रवाहेण सिद्धिमुक्तिफलानि च ।
चन्द्रः समस्तु विज्ञेयो रविस्तु विषमः सदा ॥ १०० ॥
चन्द्रः स्त्री पुरुषः सूर्यश्चन्द्रो गौरो रविः सितः ।
इड़ा पिङ्गला सुषुम्णास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः ॥१०१॥
आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे ।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये ॥ १०२॥
सार्द्धद्विघटिका ज्ञेया शुक्ले कृष्णे शशी रविः ।
वहत्येकदिनेनैव यथा षष्टिघटिक्रमात् ॥ १०३ ॥
वहेत्तावद् घटीमध्ये पञ्चतत्वानि निर्द्दिशेत् ।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुर्विपरीते विपर्ययः ॥ १०४ ॥
शुक्लपक्षे वहेद्वामा कृष्णपक्षे च दक्षिणा ।
जानीयात् प्रतिपत् पूर्वं योगी तद्गतमानसः ॥ १०५ ॥
उदयश्चन्द्रमार्गेण सूर्येणास्तं गतो यदि ।
ददाति गुणसंघातं विपरीते विपर्ययम् ॥ १०६ ॥
शशाङ्कं वारयेद्रात्रौ दिवा वार्यो दिवाकरः ।
इत्यभ्यासे रतो योगी स योगी नात्र संशयः ॥ १०७ ॥
सूर्येण बध्यते सूर्यश्चन्द्रश्चन्द्रेण बध्यते ।
यो जानाति क्रियामेतां त्रैलोक्यं वशयेत् क्षणात्॥१०८॥
गुरुशुक्रबुधेन्दूनां वासरे वामनाडिका ।
सिद्धिदा सर्वकार्येषु शुक्लपक्षे विशेषतः ॥ १०९ ॥
अर्काङ्गारकशौरीणां वासरे सव्यनाडिका ।
स्मर्तव्या चरकार्येषु कृष्णपक्षे विशेषतः ॥ ११० ॥
एकैकस्य घटीपञ्च क्रमेणैवोदयत्यपि ।
क्रमादेकैकनाड्यान्तु तत्त्वानां पृथगुद्भवः ।

अहोरात्रस्य मध्ये तु ज्ञेया द्वादशसंक्रमाः ॥ १११ ॥
वृषकर्कटकन्याऽलिमृगमीने निशाकरः ।
मेषे सिंहे च धनुषि तुलायां मिथुने घटे ॥ ११२ ॥
उदयो दक्षिणे ज्ञेयः शुभाशुभविनिर्णयः ।
तिष्ठेत्पूर्वोत्तरे चन्द्रः सूर्यो दक्षिणपश्चिमे ॥ ११३ ॥
वामाचारप्रवाहेण न गच्छेत्पूर्वकोत्तरे ।
दक्षनाड़ीप्रवाहे तु न गच्छेद् याम्यपश्चिमे ॥ ११४ ॥
दक्षिणे यदि वा वामे यत्र संक्रमते शिवः ।
तत्पादमग्रतः कृत्वा निःसरेन्निजमन्दिरात् ॥ ११५ ॥
चन्द्रः समपदः कार्यो रविस्तु बिषमः सदा ।
पूर्णपादं पुरस्कृत्य यात्रा भवति सिद्धिदा ॥ ११६ ॥
गुरु-बन्धु-नृपामात्या अन्येऽपीप्सितदायिनः ।
पूर्णाङ्गे खलु कर्तव्या कार्यसिद्धिमभीप्सता ॥ ११७ ॥
आसने शयने वापि पूर्णाङ्गे विनिवेशिताः ।
वशीभवन्ति कामिन्यो न कर्मनियमान्तरम् ॥ ११८ ॥
अरिचौराऽधमाद्याश्च अन्ये उत्पातविग्रहाः ।
कर्तव्या खलु रिक्ताङ्गे जयलाभसुखार्थिभिः ॥ ११९ ॥
दूरदेशे विधातव्यं गमनं तुहिनद्युतौ ।
अभ्यर्णदेशे दीप्ते तु तरणाविति केचन ॥ १२० ॥
शून्यनाड्यां रिपुं जेतुं यत्पूर्वं प्रतिपादितम् ।
जायते नान्यथा चैव यथा सर्वज्ञभाषितम् ॥ १२१ ॥
अग्रतो वामिका श्रेष्ठा पृष्ठतो दक्षिणा शुभा ।
वामे तु वामिका प्रोक्ता दक्षिणे दक्षिणा स्मृता ॥ १२२ ॥
पुरो वामोर्ध्वतश्चन्द्रो दक्षाधः पृष्ठतो रविः ।
पूर्णरिक्तविवेकोऽयं ज्ञातव्यो दर्शकैः सदा ॥ १२३ ॥
ऊर्ध्ववामाग्रतो दूतो ज्ञेयो वामपथि स्थितः ।

पृष्ठदत्त्वे तथाधस्तात् सूर्यवाहगतः शुभः ॥ १२४ ॥
विषमाङ्के दिवारात्रौ विषमाङ्के दिनाधिपः ।
चन्द्रनेत्राग्नितत्त्वेषु वन्ध्या पुत्रमवाप्नुयात् ॥ १२[illegible]
पिङ्गलायां स्थितो जीवो वामे दूतश्च पृच्छति ।
तदापि म्रियते रोगी यदि त्राता महेश्वरः ॥ १२६ ॥
दक्षिणेन यदा वायुर्दुःखं रौद्राक्षरं वदेत् ।
तदा जीवति जीवोऽसौ चन्द्र समफलं भवेत् ॥१[illegible]
जीवाकारं च वा धृत्वा जीवाकारं विलोकयन् ।
जीवस्थो जीवितं पृच्छेत्तस्माज्जीवन्ति ते ध्रुवम् ॥१[illegible]
आदौ शून्यगतं पृच्छेत्पश्चात् पूर्णो विशेद्यदि ।
मूर्च्छितोऽपि ध्रुवं जीवेद्यदर्थं परिपृच्छति ॥ १२९ ॥
विपरीताक्षरं प्रश्ने रिक्तायां पृच्छको यदि ।
विपर्ययश्च विज्ञेयं विषमस्योदये सति ॥ १३० ॥
ओङ्कारः सर्ववर्णानां ब्रह्माण्डे भास्करो यथा ।
मर्त्यलोके तथा पूज्यः स्वरज्ञानी पुमानपि ॥ १३१ ॥
एकाक्षरप्रदातार नाडीभेदनिवेदकम् ।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणो भवेत् ॥१[illegible]

(स्वरसाधनफलम्)

इडा गङ्गेति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी ।
मध्ये सरस्वतीं विद्यात् प्रयागादि समंततः ॥ १[illegible]
कायनगरमध्ये तु मारुतः क्षितिपालकः ।
भोजने वंचने चैव गतिरष्टादशाङ्गुला ॥ १३४ ॥
प्रवेशे दशभिः प्रोक्ता निर्गमे द्वादशाङ्गुला ।
प्राणस्थेषु गतिर्देवि ! स्वभावाद्द्वादशाङ्गुला ॥ १[illegible]
गमने च चतुर्विंशा नेत्रवेदास्तु धावने ।
मैथुने पञ्चषष्टिश्च शयने च शताङ्गुला ॥ १३६ ॥

एकाङ्गुलकृते न्यूने प्राणे निष्कामता मता ।
आनन्दस्तु द्वितीये स्यात्कविशक्तिस्तृतीयके ॥ १३७ ॥
वाचः सिद्धिश्चतुर्थे तु दूरदृष्टिस्तु पञ्चमे ।
षष्ठे त्वाकाशगमनं चण्डवेगश्च सप्तमे ॥ १३८ ॥
अष्टमे सिद्धयश्चाष्टौ नवमे निधयो नव ।
दशमे दशमूर्त्तिश्च छायानाशो दशैकके ॥ १३९ ॥
द्वादशे हंसचारश्च गङ्गामृतरसं पिबेत् ।
आनखाग्रे प्राणपूर्णे कस्य भक्ष्यञ्च भोजनम् ॥१४०॥
एवं प्राणविधिः प्रोक्तः सर्वकार्ये फलप्रदः ।
ज्ञायते गुरुवाक्येन न विद्याशास्त्रकोटिभिः ॥ १४१ ॥
अध्यात्मसिद्धिश्च तथाऽधिभूत-
सिद्धिः परास्यादधिदैवनाम्नी ।
एव चतस्रः किलसिद्धयः स्युः
प्रोक्तास्तथान्या सहजा तुरीया ॥ १४२ ॥
आसां प्राप्त्यैौपयिका यत्ना बहवो विनिर्दिष्टाः ।
मन्त्रः तपः स्वराद्याः प्राप्याः सर्वाः स्वरोदयेनैव ॥१४३॥
तत्त्वज्ञानोपलब्धिश्च प्राणानाञ्चैव निघ्नता ।
मनोजयश्च जायन्ते स्वरविज्ञानतः स्फुटम् ॥ १४४ ॥
तत्साधनक्रियाः पूर्वं सिद्धिप्राप्तिस्तथा ततः ।
अन्ये च विषया नूनं संक्षेपेणोपवर्णिताः ॥ १४५ ॥
प्राणान् संयम्य संप्राप्य तत्त्वज्ञानं हि योगिनः ।
स्वरोदयस्य साहाय्यात्प्राप्नुवन्ति यथेच्छताम् ॥१४६॥
सर्वकार्यविधाने वै शक्तिमन्तोऽपि योगिनः ।
ज्ञानवैराग्यसाहाय्यान्नकिञ्चिदपि कुर्वते ॥१४७॥

अथ प्रत्याहारवर्णनम् ।

यथा कूर्मो निजाङ्गानि समाकुञ्च्य प्रयत्नतः ।
आपय्याऽदृश्यतां तेषां निश्चिन्तस्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ १ ॥
इन्द्रियेभ्योऽपनीयाथ मनःशक्तिं तथा दृढम् ।
अन्तर्मुखविधानं यत्प्रत्याहारः प्रकथ्यते ॥ २ ॥
अन्तर्जगद्द्वारभूतः प्रत्याहारोऽस्ति तेन वै ।
अन्यान्युच्चैः साधनानि लभ्यन्त इह योगिभिः ॥३॥
शाम्भवीमुद्रयाभ्यासः प्रत्याहारस्य जायते ।
सिद्धये चास्य विविधाः क्रियाः प्रोक्ता मनीषिभिः॥४॥
सिद्धन्मुखेऽस्मिन्नादस्य प्रारम्भः किल जायते ।
यत्साहाय्यात्प्राप्यते हि समाधिरपि साधकैः ॥
अतोऽस्य महिमानन्त्यं मुक्तकण्ठं प्रगीयते ॥ ५ ॥
शब्दादिविषयाः पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम् ।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ६ ॥
जगद् यद् दृश्यते सर्वं पश्येदात्मानमात्मनि ।
प्रत्याहारः स च प्रोक्तो योगविद्भिर्महात्मभिः ॥७॥
पादाङ्गुष्ठौ च गुल्फौ च जङ्घा मध्यौ तथैव च ।
चित्योर्मूलं च जान्वोश्च मध्ये चोरूभयस्य च ॥ ८ ॥
पायुमूलं ततः पश्चाद् देहमध्यञ्च मेढ्रकम् ।
नाभिश्च हृदयं गार्गि कण्ठकूपस्तथैव च ॥ ९ ॥
तालुमूलञ्च नासाया मूलञ्चाक्ष्णोश्च मण्डले ।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूर्द्धा च मुनिपुङ्गवे ॥१०॥
स्थानेष्वेतेषु मनसा वायुमारोप्य धारयेत् ।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारपरायणः ॥११॥

(प्रत्याहारफलकथनम्)

भोजनान्ते श्मशानान्ते मैथुनान्ते च या मतिः ।
सा मतिः सर्वदा चेत्स्यात् को न मुच्येत बन्धनात् ॥१२॥
दशेयं परमा प्रोक्ता प्रत्याहारस्य योगिभिः ।
तैरेव चानुभूयन्त एताः सुखकराः दशाः ॥ १३ ॥
प्रत्याहारस्य विविधां क्रियामुपदिशन्ति वै ।
गुरवो योगतत्त्वज्ञाः शिष्यानन्तर्मुखीणकान्॥१४॥
निष्पन्ने श्रूयते नादः प्रत्याहारस्य साधने ।
अन्तर्जगत्प्रवेशाय स स्याद्राजपथोपमः ॥१५॥

(नादानुसंधानम्)

मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ।
अशक्यतत्त्वबोधानां मूढ़ानामपि सम्मतम् ॥१६॥
श्रीआदिनाथेन सपादकोटि-
लयप्रकारा कथिता जयन्ति ।
नादानुसन्धानकमे कमे च
मण्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥१७॥
मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय शाम्भवीम् ।
शृणुयादृदक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः ॥१८॥
श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ।
शुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥१९॥
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्था चतुष्टयी ॥२०॥

(आरम्भावस्था)

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदो ह्यानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणको देहे नाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥२१॥

दिव्यदेहश्च तेजस्वीः दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान् भवेत् ॥२२॥

(घटावस्था)

द्वितीयायां घटोकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥२३॥
विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात् परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥२४॥

(परिचयावस्था)

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तदायाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥२५॥

(निष्पत्त्यवस्था)

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥२६॥
रुद्रग्रन्थिं यदा भित्त्वा सर्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैष्णवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥२७॥

नादानुसन्धानसमाधिभाजां
योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं
जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥२८॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यः शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥२९॥
अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।
पश्चाद् विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥३०॥
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥३१॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः ।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टाकाहलगास्तथा ॥३२॥
अन्ते तु किङ्किणी-वंशी-वीणा-भ्रमर-निस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥३३॥
महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं देवनाम परामृशेत् ॥३४॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणोऽपि क्षिप्तं च मनो नान्यत्र चालयेत् ॥३५॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्द्धं विलीयते ॥३६॥
मकरन्दं पिवेद्भृङ्गी गन्धं नापेक्षते यथा ।
नादाशक्तं यथा चित्तं विषयान्न हि काङ्क्षति ॥३७॥
मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ॥३८॥
बद्धन्तु नादबन्धेन मनः संत्यक्तचापलम् ।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥३९॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नादएवाऽनुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥४०॥
नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ।
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥४१॥
अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥४२॥
बद्धं-विमुक्तचाञ्चल्यंनादगन्धकजारणात् ।
मनः पारदमाप्नोति निरालम्बाख्यखेऽटनम् ॥४३॥
नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गभुजङ्गमः ।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥४४॥

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥४५॥
घण्टादिनादसक्तस्तब्धान्तःकरणहरिणस्य ।
प्रहरणमपि सुकरं शरसन्धानप्रवीणश्चेत् ॥४६॥
अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥४७॥
तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ।
निश्शब्दं तत् परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥४८॥
यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥४९॥
प्रत्याहारादासमाधेर्नादभूमिः प्रकीर्त्तिता ।
नादश्रुतेः क्रमोन्मेषो जायते क्रमशस्तथा ॥५०॥
अन्तर्जगत्यग्रसराः साधकाः स्युर्यथा यथा ।
नाद एव महद्ब्रह्म परमात्मा परः पुमान् ॥५१॥

अथ धारणावर्णनम् ।

अन्तर्जगत्समासाद्य पञ्चतत्त्वेषु कुत्रचित् ।
सूक्ष्मप्रकृतिभावेषु यदा शक्नोति योगवित् ।
आधातुमन्तःकरणं तदा सा धारणा भवेत् ॥ १ ॥
अनया वशयत्येवान्ताराज्यं योगवित्सदा ।
पञ्चधारणमुद्राभिः पञ्चतत्त्वाधिकारवान् ॥ २ ॥
गुरूपदेशलभ्या या परा वै धारणा क्रिया ।
प्राप्यन्ते शक्तयस्ताभिर्विविधाः साधकैः पराः ॥ ३ ॥

स्नेहपूर्णे यथा पात्रे मन आधाय निश्चलम् ।
पुरुषो युक्त आरोहेत् सोपानं युक्तमानसः ॥ ४ ॥
सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते ।
धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः ॥ ५ ॥
भूमिरापस्तथा तेजो वायुराकाश एव च ।
एतेषु पञ्चभूतेषु धारणा पञ्चधेष्यते ॥ ६ ॥
पादादिजानुपर्यन्तं पृथ्वीस्थानं प्रकीर्तितम् ।
आ जान्वोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥ ७ ॥
आ पायोर्हृदयान्तञ्च वह्निस्थानमुदाहृतम् ।
आ हृन्मध्याद्भ्रुवोर्मध्यं यावद्वायुस्थलं स्मृतम् ॥ ८ ॥
आ भ्रूमध्यात्तुमूर्द्धान्तं यावदाकाशमिष्यते ।
मुनिश्रेष्ठः साधयेत्तत् पञ्चधारणमुद्रया ॥ ९ ॥
मेधावी पञ्चभूतानां धारणं यः समभ्यसेत् ।
ब्रह्मशतगतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥ १० ॥

(षट्चक्रभेद-कथनम्)

(मूलधारपद्मम्)

अथाधारपद्मं सुषुम्नास्यलग्नं
ध्वजाधो गुदोर्द्धं चतुःशोणपत्रम् ।
अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णाभवर्णैं
र्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः ॥ ११ ॥
अमुष्मिन् धरायाश्चतुष्कोणचक्रं
समुद्भासि शूलाष्टकैरावृतं तत् ।
लसत्पीतवर्णं तडित्कोमलाङ्गं
तदन्तः समास्ते धरायाः स्वबीजम् ॥ १२ ॥

वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थं
कोणं तत्त्रैपुराख्यं तड़िदिव विलसत् कोमलं कामरूपम्।
कन्दर्पो नाम वायुर्निवसति सततं तस्य मध्ये समन्तात्
जीवेशो बन्धुजीवप्रकरमभिहसन् कोटिसूर्यप्रकाशः॥१३॥
तन्मध्ये लिङ्गरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्यो
ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथमकिशलयाकाररूपः स्वयम्भुः।
भिद्यत्पूर्णेन्दुबिम्बप्रकरकरचयस्निग्धसन्तानहासी
काशीवासीविलासीविलसतिसरिदावर्तरूपप्रकारः॥१४॥
अस्योर्द्ध्वे विषतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्माजगन्मोहिनी
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं साच्छादयन्ती स्वयम्।
शङ्खावर्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा
सुप्ता सर्पसमा शिरोपरि लसत्सार्द्धत्रिवृत्ताकृतिः॥१५॥
मूलपद्मं यथा ध्यायेत् योगी स्वयम्भुलिङ्गकम्।
तदा तत्क्षणमात्रेण पापौघं नाशयेद् ध्रुवम् ॥ १६ ॥
यद्यत्कामयते चित्ते तत्तत्फलमवाप्नुयात्।
निरन्तरकृताभ्यासात् तं पश्यति विमुक्तिदम् ॥१७॥
बहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पूजनीयं प्रयत्नतः।
ततः श्रेष्ठतमं ह्येतन्नान्यदस्ति मतं मम ॥ १८ ॥
आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया ॥ १९ ॥
आत्मलिङ्गार्चनं कुर्य्यान्नालस्यं च दिने दिने।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्नात्रकार्य्या विचारणा॥२०॥
निरन्तरकृताभ्यासात् षण्मासात् सिद्धिमाप्नुयात्।
तस्य वायुप्रवेशोऽपि सुषुम्णायां भवेद्ध्रुवम् ॥ २१ ॥
मनोजयं च लभते वायुबिन्दुविधारणम्।
ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिर्भवेन्नैवात्र संशयः॥ २२ ॥

(स्वाधिष्ठानपद्मम्)

द्वितीयं तु सरोजं यल्लिङ्गमूले व्यवस्थितम् ।
तद्बादिलान्तषड्वर्णं परिभास्वरषड्दलम् ॥ २३ ॥
स्वाधिष्ठानमिदं तत्तु पङ्कजं शोणरूपकम् ।
बालाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिणी॥२४॥
यो ध्यायति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ।
तस्य कामाङ्गनाः सर्वा भजन्ते काममोहिताः ॥ २५ ॥
विविधं चाश्रुतं शास्त्रं निश्शङ्को वै वदेद्ध्रुवम् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥ २६ ॥
मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते ।
तस्य स्यात् परमा सिद्धिरणिमादिगुणान्विता ॥ २७ ॥
वायुसंचरणाद्देहे रसवृद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
आकाशपङ्कजगलत् पीयूषमपि वर्धते ॥ २८ ॥

(मणिपूरपद्मम्)

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम् ।
दशारं डादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम् ॥ २९ ॥
रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः ।
तत्रस्था लाकिनीनाम्नी देवी परमधार्मिका ॥ ३० ॥
तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके ।
तस्य पातालसिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा ॥ ३१ ॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम् ।
कालस्य वञ्चनं चापि परकायप्रवेशनम् ॥ ३२ ॥
जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत् ।
औषधीदर्शनञ्चापि निधीनां दर्शनं तथा ॥ ३३ ॥

(अनाहतपद्मम्)

हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पङ्कजं भवेत् ।
कादितान्तार्णसंस्थानं द्वादशच्छदशोभितं ॥ ३४ ॥
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ।
पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिङ्गं प्रकीर्त्तितम् ॥ ३५ ॥
तस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत् ।
सिद्धः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ॥ ३६॥
एतस्मिन् सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः ।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्ता दिव्ययोषितः ॥३७॥
ज्ञानं चाप्रमितं तस्य त्रिकालविषयं भवेत् ।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत् ॥ ३८ ॥
सिद्धानां दर्शनं चापि योगिनीदर्शनं तथा ।
भवेत खेचरसिद्धिश्च खेचराणां जयस्तथा ॥ ३९ ॥
यो ध्यायति परं नित्यं बाणलिङ्गं द्वितीयकम् ।
खेचरीभूचरीसिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः ॥ ४० ॥
एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ।
ब्रह्माद्याः सकला देवा गोपायन्ति परं त्विदम् ॥४१॥

(विशुद्धपद्मम्)

कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पञ्चमम् ।
सुहेमाभं (धूम्रवर्णं) स्वरोपेतं षोड़शच्छदशोभितम्॥४२॥
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोऽत्र शाकिनी चाधिदेवता ।
ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः ॥ ४३ ॥
किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे ।
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव ॥ ४४ ॥
रहःस्थाने स्थितो योगी यदा क्रोधवशो भवेत् ।

तदा समस्तं त्रैलोक्यं कम्पते नात्र संशयः ॥ ४५ ॥
इह स्थाने मनो यस्य दैवाद्याति लयं यदा।
तदा बाह्यं परित्यज्य स्वान्तरे रमते ध्रुवम् ॥ ४६ ॥
तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः।
संवत्सहस्रं जीवेत्स वज्रादपि दृढाकृतिः ॥ ४७ ॥
यदा त्यजति तद्ध्यानं योगीन्द्रो वह्निमण्डले।
तदावर्षसहस्राणि मन्यते तत् क्षणं कृती ॥ ४८ ॥

(आज्ञापद्मम्)

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्।
शुक्लाख्यं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥४९॥
शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृम्भितम्।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ॥ ५० ॥
एतदेव परं तेजः सर्वतन्त्रेषु गोपितम्।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ॥५१॥
एतत् क्षेत्रस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम् ॥ ५२ ॥
यः करोति सदाभ्यासमाज्ञापद्मे विचक्षणः।
वासनाया महाबन्धं तिरस्कृत्य प्रमोदते ॥ ५३ ॥
यानि यानीह प्रोक्तानि पञ्चपद्मफलानि वै।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानाद्भवन्ति हि ॥ ५४ ॥

(ब्रह्मरन्ध्रम्)

तत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सुशोभनम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णायां मूलं सविवरं स्थितम् ॥ ५५ ॥
तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोहितम्।
तत्कन्दे योनिरेकाऽस्ति पश्चिमाभिमुखी मता ॥ ५६ ॥
तस्या मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्।

ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तं मुक्तिद्वारञ्च संज्ञया ॥ ५७ ॥
ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः ।
यस्मिन् स्नानात्स्नातकानां मुक्तिःस्यादविरोधतः ॥५८॥
इड़ा गङ्गा पुरा प्रोक्ता पिङ्गला चार्कपुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां सङ्गोऽतिदुर्लभः ॥ ५९ ॥
सितासिते सङ्गमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम् ॥ ६० ॥
मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याः सलिले यदा ।
विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान् स सदा मोक्षमाप्नुयात् ॥६१॥
नातः परतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न चाख्येयं कदाचन ॥ ६२ ॥
ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ६३ ॥
अस्मिल्लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते ।
अणिमादिगुणान् मुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषे लयः ॥ ६४॥

(शिवशक्तियोगः)

अत ऊर्द्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ।
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ॥ ६५॥
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।
नकुलाख्यो विलासी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ॥ ६६ ॥
चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद्ध्रुवम् ।
यदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ॥ ६७ ॥
तस्माद्गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरन्तरम् ।
मृत्योर्मृत्युं विधायैव कुलं जित्वा सरोरुहे ॥ ६८ ॥
अत्र कुण्डलिनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा ।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥ ६९ ॥

मूलाधारे हि यत्पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम् ।
तत्र कुण्डलिनी शक्तीरन्ध्रं त्यजति नान्यथा ॥ ७० ॥
षट्चक्रपरिभेदेन भवेत् कुण्डलिनीलयः ।
यदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ॥ ७१ ॥
सौष्ठवञ्चात्र सर्वेऽपि त्रिविधा योगिनोऽनिशम् ।
इमां क्रियां विधातुं वै शक्नुवन्तीति निश्चतम् ॥ ७२ ॥
अस्याः सर्वोऽपि कल्याणं यथावदधिगच्छति ।
उपासका वै पञ्चापि शक्तिपूरुषभावयोः ॥ ७३ ॥
साहाय्याद्धारणाभ्यासात्षट्चक्राणि जयन्ति ते ।
आदिचक्रे हि प्रकृतेः प्राधान्यं मध्यमे द्वयोः ॥ ७४ ॥
सप्तमेऽद्वैतभावस्य पुरुषस्य प्रधानता ।
ज्योतिषा मन्त्रनादाभ्यां षट्चक्राणां हि भेदनम् ॥७५॥
सम्पद्यते त्रयोऽप्येते श्रेष्ठाः स्युरुत्तरोत्तरम् ।
विज्ञातवान् योगतत्त्वं श्रीगुरोः कृपया भवेत् ॥ ७६ ॥
एतद्योगाधिकारस्य क्रियाया ज्ञानमाप्यते ।
वेदैर्मन्त्रैश्च सततं क्रियेयमतिगोपिता ॥ ७७ ॥

अथ ध्यानवर्णनम् ।

अवलोकनसाहाय्याद्ध्यानवृत्तिपुरस्सरम् ।
साक्षात्कारो हि ध्येयस्य ध्यानमित्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥
तत्तद्योगे पृथग् ध्यानं वर्णितं योगकोविदैः ।
मन्त्रे स्थूलं हठे ज्योतिर्ध्यानं वै सिद्धिदं स्मृतम् ॥ २ ॥
लययोगाय यो ध्यानविधिः समुपवर्णितः ।
बिन्दुध्यानं च सूक्ष्मं वा तस्य संज्ञा विधीयते ॥ ३ ॥
योनिमुद्रा तथा शक्तिचालिनी चाप्युभे परम् ।

साहाय्यं कुरुतो नित्यं बिन्दुध्यानस्य सिद्धये ॥ ४ ॥
साधनेन प्रबुद्धा सा कुलकुण्डलिनी यदा ।
तदा हि दृश्यते किन्तु न स्थिरा प्रकृतेर्वशात् ॥ ५ ॥
परेण पुंसा सङ्गेन चाञ्चल्यं विजहाति सा ।
अतीन्द्रियौ रूपपरित्यक्तौ प्रकृतिपूरुषौ ॥ ६ ॥
तथापि साधकानां वै हितं कल्पयितुं प्रभुः ।
ज्योतिर्मयो युग्मरूपः प्रादुर्भवति दृक्पथे ॥ ७ ॥
ज्योतिर्ध्यानमाधिदैवं बिन्दुध्यानं प्रकीर्त्तितम् ॥ ८ ॥
मुद्रासाहाय्यतो ध्यानं प्रारभ्य नियतेन्द्रियः ।
निश्चलो निर्विकारो हि तत्र दार्ढ्यं समभ्यसेत् ॥ ९ ॥

(बिन्दुध्यानफलकथनम्)

स्थूलध्यानाच्छतगुणं ज्योतिर्ध्यानं विशिष्यते ।
ततोऽपि बिन्दुध्यानस्य फलं शतगुणं स्मृतम् ॥ १० ॥
अतिसूक्ष्मतया बिन्दुध्यानं गोप्यं प्रयत्नतः ॥ ११ ॥
कृपया गुरुदेवस्य महामायाप्रसादतः ।
बिन्दुध्यानस्योपलब्धिर्जायते साधकस्य वै ॥ १२ ॥
योगसाधनविज्ञाता योगिराट् परमो गुरुः ।
बिन्दुध्यानोपदेशेन शिष्यश्रेयः करोति हि ॥ १३ ॥
आकर्ण्यते नादशब्दः प्रत्याहारो दृढो यदा ।
अवस्थाभेदतो नादवृद्धिःस्यादुत्तरोत्तरम् ॥ १४ ॥
तत्साहाय्याद्धारणायाः सिद्धिर्ध्यानस्य चाप्यते ।
धारणायां समभ्येति ज्योतिः किञ्चित् प्रकाशताम् ।
सार्द्धं धारणया तस्य ज्योतिषोऽपि क्रमोन्नतिः ॥ १५ ॥
धूम्रनीहारखद्योतशशिसूर्य्याग्निभेदतः ।
भेदाच्च पञ्चतत्त्वस्य विकाशो ज्योतिषो भवेत् ॥ १६ ॥

धारणादृढतायत्ता सिद्धिरस्योपजायते ।
सिद्धायां धारणायां वै ब्रह्मवच्छक्तिरूपकम् ॥ १७ ॥
परात्मदर्शनं बिन्दुध्याने शश्वत्प्रजायते ।
गुणवद्रूपतत्त्वे हि बिन्दुध्यानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
जन्मजन्मान्तरप्राप्तसाधनक्रियया भवेत् ।
बिन्दुध्यानोपलब्धिर्हि योगिनः साधकस्य वै ॥ १९ ॥

अथ लयक्रियावर्णनम् ।

सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद्ध्यानसिद्धिं प्रसाध्य वै ।
समाधिसिद्धौ साहाय्यं विदधाति निरन्तरम् ॥ १ ॥
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्प्रापा सा लयक्रिया ।
महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्तकैः ॥ २ ॥
लयक्रिया प्राणभूता लययोगस्य साधने ।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्वदर्शिभिः ॥३॥
षट्चक्रं षोडशाधाराद्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
पीठानि चोनपञ्चाशज्ज्ञात्वा सिद्धिरवाप्यते ॥ ४ ॥
समाधिसिद्धिर्ध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेत् ।
आत्मप्रत्यक्षतां याति चैतया योगविज्जनः ॥ ५ ॥

(व्योमजयीक्रिया)

शब्दो व्योमगुणो ज्ञेया शब्दसृष्टिरलौकिकी ।
ओङ्काररूपशब्दात्मब्रह्मणः स्वरसप्तकम् ॥ ६ ॥
ततश्च श्रुतयो ग्राममूर्च्छनाद्या विनिर्गताः ।
एषां साहाय्यतः शब्दसृष्टेरानन्त्यमुच्यते ॥ ७ ॥
व्यष्टिशब्दाविचारेणापनीय रसबोधतः ।
वासनां, भावयंश्छब्दान् स तेन मनसोलयः ।
इत्थं लयक्रियासिद्धिः प्रोच्यते योगपारगैः ॥ ८ ॥

(आशुगजयी क्रिया)

तन्मात्रा मरुतः स्पर्शस्त्वचा तद्ग्रहणम्भवेत् ।
तत्तदङ्गेषु वैशिष्ठ्यं तत्स्थानं मर्म उच्यते ॥ ९ ॥
मारकोत्तेजकौ चेति मोहकश्चेति तत् त्रिधा ।
उत्तेजको मारकात्स्यान्मोहकः प्रबलस्ततः ॥ १० ॥
तिसृणां मर्मशक्तीनां सङ्घातो यत्र जायते ।
अजेयतां समाप्नोति तत्स्थानं जन्तुभिः सदा ॥११॥
स्पर्शवैषयिकानन्दप्रमादरहितं मनः ।
विधाय धारणां ध्यानसाहाय्याद्दिव्यभाविकाम् ॥१२॥
सूक्ष्मां शक्तिमनुसरंल्लयेन मनसो ध्रुवम् ।
क्रिया सम्पद्यते चैषा योगिनामिति निश्चयः ॥ १३ ॥

(प्रभाजयी क्रिया)

अग्नितत्त्वस्य तन्मात्रारूपमुक्तं मनीषिभिः ।
नामरूपात्मकं विश्वमिति सा हि बलीयसी ॥ १४ ॥
रूपस्य दर्शनाज्जन्तुर्मोहमाप्नोति निश्चितम् ।
अभ्यस्येद्रहसि स्थित्वा तन्मात्राजयसाधनम् ॥ १५ ॥
प्रियं रूपं पुरः स्थाप्य वासनाशून्यमानसः ।
दिव्ये तस्मिन् हि मनसो लयात्सिध्यति सा क्रिया॥१६॥

(रसजयी क्रिया)

पञ्चभूतेषु पयसस्तन्मात्रा रस उच्यते ।
सङ्गृह्यते रसनया सा कर्मद्वयतत्परा ॥ १७ ॥
शक्तेर्हि तत्र प्राबल्यं यत्र कार्य्यद्वयश्रुतिः ।
रसना प्रबला तस्मात्तज्जयेन रसो वशः ॥ १८ ॥
जिह्वाग्रे संयमं कुर्य्यान्मनो हि विषयान्तरात् ।
अपनीय, रसास्वादे दिव्ये वै मनसो लयः ॥ १९ ॥

एवं गुरूपदेशेन कामनाजयपूर्वकम् ।
जितेन्द्रियत्वमाप्नोति साधयन् साधकः सुधीः ॥२०॥

(सुरभिजयी क्रिया)

पृथिवी तत्त्वतन्मात्रा गन्धः प्रोक्तो मनीषिभिः ।
शरीरं पार्थिवं यस्माद्दिव्यगन्धस्य सन्निधिः ॥ २१ ॥
यथा क्रियान्तरप्राप्तिर्गुरुदेवोपदेशतः ।
एतत्क्रियारहस्यन्तु गुरुदेवाद्धि लभ्यते ॥ २२ ॥
चन्द्रं सम्प्रेक्षमाणेन क्रियेयं सिद्धिराप्यते ।
विषयेभ्योविरम्यैव दिव्यगन्धे मनोलयात् ॥ २३ ॥
विजित्य चेन्द्रियग्रामान् सुगन्धे वा मनोलयात् ।
क्रियेयं सिद्धिमाप्नोति वदन्तीति पुराविदः ॥ २४ ॥

(अजपा क्रिया)

कुण्डलिन्याः समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेद स वेदवित् ॥ २५ ॥
सोऽहं मन्त्रं जपन् देवोमजपां हृदि भावयेत् ।
लयेन मनसो मन्त्रे मनःप्राणलयो भवेत् ॥ २६ ॥
उपासनीया गायत्री त्रिकाल इति सा त्रिधा ।
तथास्यास्त्रिविधा भेदाः प्रोक्तास्तत्तन्त्रवेदिभिः ॥२७॥
मंत्रप्राणस्थिरत्वं हि प्रथमे परिकीर्त्तितम् ।
प्राणमन्त्रार्थयोः स्थैर्यं द्वितीये किल जायते ॥ २८ ॥
स्थितिस्तृतीये भावस्य मनसश्च निगद्यते ।
ततः पश्यन्ति ते देवं परमात्मानमव्ययम् ॥ २९ ॥

(शक्तिधारिणी क्रिया)

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दूरजो रविः ।
अनयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ३० ॥

शिवोपमेन गुरुणा जीवन्मुक्तेन धीमता ।
एतत्क्रियारहस्यं हि प्राप्यते नात्र संशयः ॥ ३१ ॥
रविचन्द्रौ चन्द्ररवी सङ्गमय्य परस्परम् ।
एकीभावेन लयनं द्विभेदं परिकीर्तितम् ॥ ३२ ॥
मनःक्रियाभ्यां साहाय्यात् साध्योभेदस्तृतीयकः ॥ ३३ ॥

(ओंकारक्रिया)

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ।
अवाच्यं प्रणवस्याङ्गं स साक्षादीश्वरोऽव्ययः ॥ ३४ ॥
नादश्रुतेः समुन्नीतौ शिष्यायोपदिशन्ति हि ।
गुरवः साधनविधिमेतस्यास्तद् द्विधा स्मृता ॥ ३५ ॥
आधारतः समुत्पद्य सहस्रारं प्रतिष्ठते ।
ध्वनिना तेन मनसो लयो हि प्रथमा भवेत् ॥ ३६ ॥
आज्ञाचक्रं कूर्मचक्रमुभे संयोज्य युक्तितः ।
उत्पद्यते यतो नादः स्थित्वा तत्र मनोलयः ॥ ३७ ॥
विधाय प्राभुयाद्योगी ह्यात्मारामत्वमव्ययम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन सर्वशास्त्रेष्वियं क्रिया ॥ ३८ ॥

(प्रातिभदर्शनक्रिया)

भूर्भुवस्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
तस्य मात्रासु तिष्ठन्ति ततः प्रातिभदर्शनम् ॥ ३९ ॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि कुर्वन् प्रातिभदर्शनम् ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ४० ॥
एष योगो महागुह्यो जरामृत्युविनाशकः ।
तेजोवृद्धिकरश्चैव ह्यणिमादिगुणप्रदः ॥ ४१ ॥

(ज्योतिष्मतीदर्शनक्रिया)

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।

त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र ततो ज्योतिरवेक्षणम् ॥४२॥
लीनाः प्राणाः मनसि चेद्गुरुदेवोपदेशतः ।
ज्योतिष्मतीप्रेक्षणं वै साधकेनोपलभ्यते ॥ ४३ ॥
क्रियया चैतया ध्यानसिद्धिमाप्य यथायथम् ।
प्राप्नोति परमानन्दपदं योगी निरामयम् ॥ ४४ ॥

(चक्रक्रिया)

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥ ४५ ॥
धरणाद्वादशे प्रोक्तं ध्यानं ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ ४६ ॥
एवं साधनतः शश्वज्जयः स्यान्मनसो ध्रुवः ।
प्राणायामेन सकलं साधनं प्राप्यते जनैः ॥ ४७ ॥
यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतो मुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे क्रिया कर्म याता यातं न विद्यते ॥ ४८ ॥
गुदं मेढ्रश्च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः ।
घण्टिका लम्बिकास्थानं भ्रूमध्ये च नभोबिलम् ॥४९॥
कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥५०॥

(ब्रह्मदण्डधारणक्रिया)

दक्षिणा पिङ्गला नाड़ी वह्निमण्डलगोचरा ।
देवयानमितिज्ञेया पुण्यकार्यानुसारिणी ॥ ५१ ॥
इड़ा च वामनिश्वासः सोममण्डलगोचरा ।
पितृयानमितिज्ञेया वाममाश्रित्यतिष्ठति ॥ ५२ ॥
गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डस्य देहभृत् ।
दीर्घास्थिमूर्द्धपर्यन्तं ब्रह्मदण्डेति कथ्यते ॥ ५३ ॥

इड़ापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा सूक्ष्मरूपिणी ।
सर्वं प्रतिष्ठितं यत्र सर्वगं सर्वतो मुखम् ॥ ५४ ॥
बीजजीवात्मकस्तेषां क्षेत्रज्ञः प्राणवायवः ।
सुषुम्णान्तर्गतं विश्वं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ५५ ॥
नानानाड़ीप्रसवगं सर्वभूतान्तरात्मनि ।
ऊर्द्ध्वमूलमधःशाखं वायुमार्गेण सर्वगम् ॥ ५६ ॥
अधश्चोर्द्ध्वं गतास्तास्तु ब्रह्मदण्डसमाश्रिताः ।
वायुना सह गत्वोर्द्ध्वं ज्ञानी मोक्षमवाप्नुयात् ॥ ५७ ॥

(लयबोधक्रिया)

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
आत्मानं खमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥५८॥
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।
निष्कलं तं विजानीयान्मनो यत्र लयं गतम् ॥ ५९ ॥

(प्राणसिद्धिक्रिया)

प्राणापानगती रुन्ध्यात्प्राणायामपरायणः ।
चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥ ६० ॥
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥ ६१ ॥
यज्ञान्ते वृत्तिसन्धौ वा प्राणापानगतिक्रिया ।
कथ्यते तत्र सततमात्मचिन्तनमाचरेत् ॥ ६२ ॥
अनेन परमं नित्यमधिगच्छति तत्पदम् ।
एतत्क्रियारहस्यं वै गुरुदेवात् समभ्यसेत ॥ ६३ ॥

(कूटस्थदर्शनक्रिया)

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
प्रेक्षमाणो नासिकाग्रं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ६४ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ६५ ॥
निद्रातन्द्रे परित्यज्य चित्सत्तामपि धारयन् ।
गुरुप्राप्तां क्रियां योगी साधयन् नियतेन्द्रियः ।
स वै प्राप्नोति निर्वाणं शाश्वतं परमं पदम् ॥ ६६ ॥

(तत्त्वदर्शनक्रिया)

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्यन्ति गूढवत् ॥ ६७ ॥
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिषोऽन्तर्गतं मनः ।
मनसो यत्र विलयस्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ६८ ॥
गोपितेयं क्रिया सर्वोपनिषत्सु च यत्नतः ।
इमां प्राप्य गुरोर्योगी समाधिमधिगच्छति ॥ ६९ ॥

(साधनवैचित्र्यम्)

वेदतन्त्ररहस्यज्ञा मन्त्रयोगविशारदाः ।
उपदेष्टुं क्षमाः साधु मन्त्रयोगाखिलक्रियाः ॥ ७० ॥
तथाहि हठयोगस्य तत्त्वज्ञो योगविज्जनः ।
सिद्धिमाप्य क्रियां गुप्तां बहुधोपदिशन्ति हि ॥ ७१ ॥
विज्ञाय चतुरो योगान् योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
सूक्ष्मराज्यचरैरेवं विविधैव लयक्रिया ॥ ७२ ॥
जिज्ञासूनां साधकानां श्रेयसे ह्युपदिश्यते ।
अत्येति या मनोवाचं सुगुप्ता चाप्रकाशिता ॥ ७३ ॥

अथ समाधिवर्णनम् ।

सरित्पतौ पतित्वाम्बु यथाभिन्नमियाल्लयम् ।
तथाभिन्नं मनस्तत्र समाधिं समवाप्नुयात् ॥ १ ॥

सलिलं सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ २ ॥
महाभावो महाबोधो महालय इति क्रमात्।
त्रिधा समाधिर्भवति प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः ॥ ३ ॥
प्रशस्तो लययोगस्य समाधिर्हि महालयः।
नादस्य बिन्दोः साहाय्यात्समाधिरधिगम्यते ॥ ४ ॥
नादस्य बिन्दोश्चैकत्वे मनस्तत्र विलीयते।
दृश्यनाशात्तदा द्रष्टूरूपमेति प्रकाशताम् ॥ ५ ॥
प्रशस्तं साधनमिदं समाधिर्व्यपदिश्यते।
ब्रह्मनिष्ठैर्गुरुपरैः प्राप्योऽसौ सुदृढव्रतैः ॥ ६ ॥

इत्यध्यात्मविद्यायां योगशास्त्रे समाप्तेयं
लययोगसंहिता।

योग सार संग्रह

आ० सू सि०-87
I. T. N. S.-87

कुल धन का विवरण मांगने का प्रस्ताव

PROPOSAL FOR CALLING FOR TOTAL WEALTH STATEMENT

नाम और पता
address of the assessee . . .

ांक रजिस्टर संख्या
. . . .

. . . . . .

धान स्रोत
urces of business . . .

निर्धारण वर्षों में निर्धारित कुल आय
e assessed in the last three com-
ments.

कर निर्धारण वर्ष Assessment Year	कुल निर्धारित आय Total Income assessed
1.	1.
2.	2.
3.	4

ॐ

श्रीमद्विज्ञानभिक्षुप्रणीत

योगसारसंग्रह

हिन्दी-अनुवाद सहित

अनुवादक

स्वामी सनातनदेव

मूल्य ३)

Sanmei

ॐ

प्राक्कथन

आजसे प्रायः चार वर्ष पूर्व दिल्लीमें ही मुझे यह ग्रन्थरत्न देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। यह पुस्तक थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार (मद्रास) द्वारा प्रकाशित हुई है। आरम्भमें सम्पूर्ण ग्रन्थका डा० श्रीगंगानाथ झाका किया हुआ अंग्रेजी अनुवाद है और उसके पश्चात् सम्पूर्ण मूल ग्रन्थ है। पुस्तक बहुत उपयोगी जान पड़ी। ग्रन्थकार श्रीविज्ञानभिक्षुजी निःसन्देह सांख्य और योगके बड़े मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने तो ब्रह्मसूत्रोंका भी सांख्यसम्मत भाष्य लिखा है। उनकी लेखनशैली अत्यन्त सुबोध और सरल है। योगसूत्रोंके तात्पर्य-का ऐसा स्फुट विवेचन अन्यत्र अलभ्य ही है। डाक्टर झा तो इस ग्रन्थसे अत्यन्त प्रभावित जान पड़ते हैं। अपने अनुवादकी भूमिकामें वे लिखते हैं—'In the whole course of my study I have not come across a better treatise to be placed in the hands of either 'students' of or 'aspirants' to 'Yoga'. अर्थात् अपने सम्पूर्ण अध्ययनक्रममें मुझे ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिला जो योगविद्याके विद्यार्थियों अथवा अभ्या-सियोंके हाथोंमें देनेके लिये इससे अधिक उपयोगी हो। अतः इसे पढ़ लेनेपर मेरा संकल्प भी इसका हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत करनेका हो गया। आशा है, इससे हिन्दी भाषाभिज्ञ साधक एवं जिज्ञासुओंको योगविद्याका दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करनेमें अवश्य कुछ सहायता मिलेगी।

ग्रन्थकार श्रीविज्ञानभिक्षुके जीवनवृत्तान्तके विषयमें अभीतक कोई विशेष सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है। डाक्टर झाके लेखसे भी केवल

इतना ही पता चलता है कि इनके रचे हुए ब्रह्ममीमांसाभाष्यके अन्तमें उसकी समाप्तिका संवत् १७७५ विक्रमी लिखा है। अतः यह बात तो निर्विवाद है कि ये विक्रमीय अठारहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें विद्यमान थे इन्होंने योगसूत्रके व्यासभाष्य पर 'योगवार्तिक' नाम्नी विस्तृत टीका लिखी है तथा वेदान्तसूत्रोंपर 'विज्ञानामृतभाष्य' और सांख्यसूत्रोंपर 'सांख्यप्रवचनभाष्य'की रचना की है। कठ, कैवल्य, तैत्तिरीय, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य एवं श्वेताश्वतर आदि कई उपनिषदोंपर आपका 'आलोक' नामक भाष्य है। इनके सिवा सांख्यकारिका, ईश्वरगीता और भगवद्गीतापर भी आपकी टीकाएँ सुनी जाती हैं। आपके स्वतन्त्र ग्रन्थोंमें उपदेशरत्नमाला, ब्रह्मादर्श, योगसारसंग्रह और सांख्यसारविवेक प्रधान हैं। इनके ग्रन्थोंसे यह बात स्पष्ट जान पड़ती है कि ये सांख्य और योग के पक्षपाती थे। शांकर सिद्धान्तकी इन्होंने जहाँ-तहाँ कुछ आलोचना भी की है तथा कहीं-कहीं ज्ञानकी अपेक्षा योगका उत्कर्ष भी दिखाया है। नीचे इस ग्रन्थमें आये हुए ऐसे कुछ प्रसंगोंकी आलोचना की जाती है।

पृष्ठ ३ और ११ पर आप लिखते हैं कि ज्ञानके द्वारा तो प्रारब्धके अतिरिक्त अन्य कर्मोंका ही नाश होता है, अतः ज्ञानीकी मुक्तिमें तो प्रारब्धक्षयकी अपेक्षा रहनेके कारण कुछ विलम्ब रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञात योग प्राप्त होनेपर तो प्रारब्धका भी नाश हो जाता है, अतः उस योगीकी मुक्ति उसी समय हो जाती है। साथ ही पृष्ठ ८ और ९ पर आप असम्प्रज्ञात योगमें भी चित्तकी संस्कारमात्र स्थिति स्वीकार करते हुए उस अवस्था से योगीका व्युत्थान भी स्वीकार करते हैं, यथा— 'तदा संस्कारमात्रशेषं चित्तं तिष्ठति, अन्यथा व्युत्थानानुपपत्तेः।' इन दोनों बातोंकी संगति कैसे लगायी जाय—यह बात विचारणीय है। प्रारब्धके विषयमें योगसूत्रोंका ऐसा मत है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (२।१३) अर्थात् मूलमें कर्माशय (प्रारब्ध) रहनेपर उसका परिणाम जन्म, आयु और भोगके रूपमें होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि शरीर

आयु और भोग—ये तीनों प्रारब्धके ही परिणाम हैं। प्रारब्ध समाप्त हो जानेपर तो शरीर ही नहीं रहना चाहिये, क्योंकि शरीर रहते हुए तो आयु और भोग भी अवश्य रहेंगे। और व्युत्थानका अर्थ तो यही है कि उस अवस्थामें योगीको देहका अनुसन्धान रहता है। वह देहानुसन्धान किसी कालविशेषमें ही रहेगा, अतः आयु भी रहेगी ही। फिर देहानुसन्धान रहते हुए सुख-दुःखरूप भोग न रहे—यह असम्भव है। अतः ग्रन्थकारका उपर्युक्त कथन हमारे लिये संशयास्पद ही रह जाता है। पृष्ठ ३४ पर आपने असम्प्रज्ञात योगद्वारा प्रारब्धक्षयका क्रम लिखा है। वहाँ असम्प्रज्ञातयोगद्वारा निरोधसंस्कारोंकी वृद्धिके कारण निरोधकालकी वृद्धि दिखायी है और फिर असंप्रज्ञातकी चरमावस्था आनेपर समस्त संस्कारोंके दाहपूर्वक प्रारब्धका भी दाह बतलाया है। परन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि यदि असम्प्रज्ञात योगकी चरमावस्था प्राप्त होनेपर ही प्रारब्धका दाह होता है तो उस अवस्थाके आने तक तो असम्प्रज्ञात योगीका भी प्रारब्ध रहता ही है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि असम्प्रज्ञात योगसे ही प्रारब्धका नाश होता है। क्रमशः प्रारब्धक्षय तो सभी देहधारियोंका हो जाता है। यदि असम्प्रज्ञात योगसे प्रारब्धनाश होता तो वह उसकी प्राप्ति होते ही हो जाना चाहिये था। अतः विचार करनेपर आपकी यह बात हमें युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती। यदि कोई महानुभाव इसका उचित समाधान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे तो हम उनके आभारी होंगे और आगामी संस्करणमें इस शंकाका मार्जन भी कर देंगे।

इसके पश्चात् पृष्ठ १०९ पर आपने अन्यान्य दार्शनिकोंके मुक्ति-सम्बन्धी विचारोंका समन्वय करते हुए अद्वैतवादियोंको 'वेदान्तिब्रुवा' की उपाधि देकर उनके मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्तकी आलोचना की है। वहाँ आपने श्रुति-स्मृतियोंके ऐसे वाक्य भी उद्धृत किये हैं जिनसे आपके मतानुसार मोक्षमें आनन्दका प्रतिषेध होता है। परन्तु आपकी यह बात हमारी समझमें नहीं आयी। यदि अन्य दार्शनिकोंकी भाँति

अद्वैतवादियोंके मतका भी आप समन्वय ही करते तो अधिक उपयुक्त होता। आपने जो वाक्य उद्धृत किये हैं उनसे मोक्षमें हर्ष-शोक अथवा सुख-दुःखका अभाव तो अवश्य सूचित होता है, परन्तु यह बात किसी वाक्यसे सूचित नहीं होती कि जो तत्त्व सद्रूप और चिद्रूप है वह आनन्दरूप नहीं है। यह बात तो निश्चित ही है कि सत्ताके बिना चित्ता (स्फुरण) का और चित्ताके बिना सत्ताका निश्चय नहीं होता। अतः सत्-चित् तो दृष्टिभेद से एक ही तत्त्वके दो पक्ष हैं। वस्तुतः ये तत्त्वके दो गुण नहीं, अपितु उसके विषयमें दो दृष्टियाँ हैं। अतः दृष्टिभेद होनेपर भी तत्त्वतः एक हैं। आपने जो वाक्य उद्धृत किये हैं उनके अनुसार वह तत्त्व सुख-दुःखसे रहित है। यहाँ सुख-दुःखके निषेध द्वारा उसकी आनन्दरूपता ही सूचित होती है। कोई भी वस्तु दूसरेके लिये तो अनुकूल होनेपर सुखरूप और प्रतिकूल होनेपर दुःखरूप होती है, किन्तु अपने लिये तो वह सर्वदा अनुकूल होनेके कारण सुखरूप ही होती है। परम-तत्त्व परमात्मा सबका अपना-आप है, अतः स्वरूपतः वह सुखरूप या आनन्दरूप ही है। सांख्य या योगके अनुसार सुख सत्त्वगुणका कार्य है। परन्तु असली बात यह है कि सुख या आनन्द तो आत्मा का स्वरूप ही है। रजोगुण-तमोगुण मलिनस्वभाव हैं, इसलिये उनकी वृत्ति होनेपर वह सुख आच्छादित हो जाने के कारण दब जाता है। किन्तु सत्त्वगुण स्वच्छ एवं प्रकाशमय है, इसलिये सात्त्विक वृत्ति होने पर आत्माका स्वरूपभूत सुख वृत्तिमें भी प्रतिफलित होने लगता है। इस प्रतिफलित सुखको ही विषयसुख कहते हैं और स्वरूपभूत सुख ही आनन्द है। ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत वाक्योंमें जिस सुखका निषेध किया है वह वृत्त्युपहित सुख है, स्वरूपभूत सुख या आनन्द नहीं। उसका लक्षण तो आपही के द्वारा उद्धृत श्रीमद्भागवतके इस वाक्यमें आया है—'सुखं दुःखसुखात्ययः' अर्थात् सुख-दुःखसे अतीत हो जाना ही सुख है। भला, यहाँ जिस सुखका लक्षण किया गया है, वह स्वरूपभूत सुख या आनन्द नहीं तो और क्या है? श्रुति इसीको 'रस'

कहती है; यथा—'रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' (तै० उ० २।७) यदि परमतत्त्व सुखरूप नहीं तो यहाँ उसे 'रस' कहने का क्या तात्पर्य है और उसे प्राप्त कर लेनेपर साधक 'आनन्दी' क्यों हो जाता है ? इसके सिवा 'आनन्दो ब्रह्मेति विजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० ३।६), 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (तै० उ० २।९), 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० उ० २।७) 'यो वै भूमा तत्सुखं……भूमैव सुखम्' (छा० उ० ७।२३।१) इत्यादि अनेकों श्रुतियां परमतत्त्वकी आनन्दरूपताका प्रतिपादन करती हैं। जीवकी तद्रूपसे स्थिति ही उसका मोक्ष है, अतः उस अवस्थामें उसे परमानन्दकी प्राप्ति मानना किसी प्रकार असंगत नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार एक ओर अद्वैतवाद के प्रति जहाँ आपकी कुछ असहिष्णुता देखी जाती है, दूसरी ओर भक्तिपक्षमें आपकी ऐसी निष्ठा जान पड़ती है जैसी कि सामान्यतया सांख्य-योगवादियोंकी नहीं होती। ग्रन्थके आरम्भमें आपने जो नमस्कारात्मक मंगलाचरण किया है उससे ईश्वरका जगत्कर्तृत्व सूचित होता है, जबकि योग और सांख्य दोनों ही दर्शन केवल प्रकृतिको ही जगत्का स्वतन्त्र कारण मानते हैं। इसी प्रकार आगे सवितर्कादि सम्प्रज्ञात समाधिके भेदोंकी व्याख्या करते हुए आपने भगवान्के साकार विग्रह वैकुण्ठनाथ श्रीविष्णुभगवान्को आलम्बनरूपसे स्वीकार किया है। किन्तु सूक्ष्मतया विचार किया जाय तो भगवान्की साकारता तो भावग्राह्य ही है, योग या सांख्य के अनुसार भगवद्धाम या भगवद्विग्रहकी चिन्मयताके विषयमें कोई दार्शनिक व्यवस्था मिलना तो कठिन ही है। इसके सिवा आपने योगके उत्तम अधिकारियोंके लिये ईश्वरप्रणिधानको ही मुख्य साधन माना है, अष्टांग योग तो आपके मतानुसार मन्दाधिकारियोंका ही साधन है। आपकी यह व्याख्या भी आपकी भगवन्निष्ठाका ही परिचय देती है; योगसूत्रोंमें तो अधिकारिभेदसम्बन्धी ऐसी कोई

व्यवस्था देखी नहीं जाती। इससे जान पड़ता है कि आप सांख्य और योगके मर्मज्ञ होनेके साथ उच्चकोटिके भक्त भी थे।

डाक्टर श्रीगंगानाथ झाने मूल पाठके साथ टिप्पणीमें कुछ पाठान्तर भी दिये हैं। सामान्य पाठकोंके लिये अनावश्यक होनेपर भी विद्वानोंके लिये तो पाठान्तरोंका उपयोग होता ही है। अतः हमने भी उन्हें ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। ये पाठान्तर तीन प्रतियोंके हैं, उन्हें टिप्पणीमें १पु. २पु. और ३पु. इन संकेतोंसे सूचित किया है। इन प्रतियों का परिचय इस प्रकार है—

१ पु.—काशीनिवासी श्रीगोविन्ददासजी द्वारा प्राप्त प्रति।

२ पु.—गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज काशीके पुस्तकालयकी प्रति।

३ पु.—डा० गंगानाथ झा की अपनी प्रति।

प्रस्तुत प्रस्तक वाराणसीमें छापी गयी है और मैं इन दिनों में सर्वदा काशी से बाहर ही रहा हूँ। प्रूफ मेरे पास आते रहे हैं। परन्तु मैं उन्हें केवल एक बार ही देख सका हूँ। अतः बहुत सावधानी बर्तने पर भी छापेकी कुछ अशुद्धियाँ रह ही गयी हैं। उन्हें पुस्तकके अन्त में शुद्धिपत्रमें दिया जा रहा हैं। कृपालु पाठक उसके अनुसार संशोधन करके पुस्तक पढ़ने की कृपा करें।

इस प्रकार जैसी भी प्रभुकी प्रेरणा हुई यह तुच्छ पत्र-पुष्प सँजोकर तैयार किया है। इसे उन्हींके श्रीचरणोंमें समर्पित करता हूँ। प्रभु इसे स्वीकार कर अपने अमृतमय अनुग्रहकी वृष्टि करके अपने पादपद्मोंकी अहैतुकी प्रीति प्रदान करें—यही हमारी प्रार्थना है।

नं० ६ कुदसियाघाट, दिल्ली
माघ पूर्णिमा सं० २०१४ वि०

विनयावनत,
सनातनदेव

श्रीः

विषय-सूची

—(०)—

ॐ

योगसारसंग्रहः

सर्वाशाः सर्वसन्देहाः सर्वेहाः सर्वसंश्रयाः ।
यद्योगेन वियुक्ताः स्युस्तं वन्दे पुरुषं परम् ॥

प्रथमोऽशः ।

यः सृष्ट्वाब्जजविष्णुशंकरमयं बुद्ध्याख्यसूत्रं मह-
त्तत्त्वं सत्वरजस्तमोमयमहामायामयाद्देहतः ।
अन्तर्यामितयोर्णनाभवदहो तेनैव कुर्वञ्जग-
च्चक्रव्यूहमिदं निजांशमशकान्बध्नाति तस्मै नमः ॥ १ ॥

प्रथम अंश

मंगलाचरण

जिन्होंने महामायारूप अपने सत्त्व-रज-तमोमय शरीर से इस बुद्धिसंज्ञक सूत्रात्मा महत्तत्त्व की, जो ब्रह्मा विष्णु और शंकरस्वरूप ही है, रचना की और फिर मकड़ी की तरह अन्तर्यामिरूपसे उस महामायाके द्वारा ही इस जगत्‌रूप चक्रव्यूह (जाले) की रचना कर इसके भीतर जो अपने ही अंशभूत जीवोंको मच्छरों की तरह फँसा देते हैं उन (परमात्मदेव) को नमस्कार है ॥१॥

पतञ्जलिव्यासमुखान्गुरूनन्यांश्च भक्तितः ।
नतोऽस्मि वाङ्मनःकायैरज्ञानध्वान्तभास्करान् ॥ २॥
वार्त्तिकाचलदण्डेन मथित्वा योगसागरम् ।
उद्धृत्यामृतसारोऽयं[1] ग्रन्थकुम्भे निधीयते ॥ ३ ॥

तत्र पुरुषस्यात्यन्तिकस्वरूपावस्थितेर्हेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति योगद्वयसाधारणं लक्षणम् । व्युत्थानकालीनश्च यत्किंचिच्चित्तवृत्तिनिरोधो नात्यन्तिकस्वरूपावस्थितिरूपमोक्षे हेतुः, जन्मबीजक्लेशाद्यनुच्छेदकत्वात्, अखिलवृत्तिसंस्कारानुच्छेदकत्वाच्च; अतस्तत्र नातिव्याप्तिः । प्रलयकालीनस्य च

अज्ञानान्धकारके लिये सूर्यरूप श्रीपतञ्जलि एवं व्यास आदि अन्यान्य गुरुजनोंको मैं मन वाणी और शरीरसे भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥२॥

योगरूप समुद्रको योगवार्तिकाचलरूप[2] मँथानीके द्वारा मथकर उसका जो अमृतमय सार निकाला है वह इस ग्रन्थरूप घटमें रखा जाता है ॥३॥

द्विविध योगका साधारण लक्षण

चित्तकी वृत्तियोंका निरोध पुरुषकी आत्यन्तिकी स्वरूपस्थितिका हेतु है और यही [संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात] दोनों प्रकारके योगोंका साधारण लक्षण है । व्युत्थान कालमें जो चित्तवृत्तियोंका थोड़ा-सा निरोध होता है वह आत्यन्तिकी स्वरूपावस्थितिरूप मोक्षका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह जन्मके बीजभूत क्लेशादिका उच्छेद करनेवाला नहीं होता और न उससे सम्पूर्ण वृत्तियोंके संस्कारोंका ही उच्छेद होता है । इसलिये उसमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति

---

१. सारोऽत्र–पा. २ पु० ।

२. श्री विज्ञानभिक्षुकृत योगसूत्रोंकी टीका का नाम योगवार्तिक है ।

वृत्तिनिरोधस्य व्यावर्तनाय आत्यन्तिकेति । स्वरूपावस्थिति-रौपाधिकरूपनिवृत्तिः । स्वरूपस्य [1]वाऽप्रच्यवः । तथा च स्मर्यते—"मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।" इति । तत्र संप्रज्ञाताख्ययोगस्य मोक्षहेतुत्वं तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा क्लेशाद्युच्छेदकत्वात् । असंप्रज्ञातयोगस्य[2] चाखिलवृत्तिसंस्कारदा-हद्वारा प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेणेति वार्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम् (यो. १. १७. १८.); संक्षेपतश्चाग्रेऽपि वक्ष्यामः । योगाङ्गेषु ज्ञानभक्ति-कर्मादिषु च योगशब्दो योगसाधनत्वान्मोक्षोपायत्वाच्च गौण इति।

अथ का निरोद्धव्याश्चित्तवृत्तयः, को वा निरोध इति उच्यते । प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति (यो. १. ६.)

नहीं हो सकती । यहाँ 'आत्यन्तिक' शब्द प्रलयकालीन वृत्तिनिरोधका व्यावर्तन करनेके लिये है । जीवकी स्वरूपावस्थिति ही उसके औपा-धिक स्वरूपकी निवृत्ति अथवा स्वरूपकी च्युति न होना है; ऐसी ही यह स्मृति भी है—'अन्यस्वरूपताको त्यागकर अपने स्वरूपमें स्थित होना ही मुक्ति है ।' दोनों प्रकारके योगोंमें संप्रज्ञात योगकी मोक्षहेतुता तत्त्वसाक्षात्कारके द्वारा क्लेशादिका निवर्तक होनेके कारण है तथा असम्प्रज्ञात योग सम्पूर्ण वृत्तियोंके संस्कारोंका दाह करके प्रारब्धका भी अतिक्रमण कर जानेके कारण मोक्षका हेतु है—इस बात का हमने योगवार्तिकमें विवेचन किया है तथा आगे भी इसका संक्षेपसे वर्णन किया जायगा । योगके साधन और मोक्षके उपाय होनेके कारण योगके अंगोंमें एवं ज्ञान भक्ति और कर्मादिमें भी 'योग' शब्दका गौण प्रयोग होता है ।

वृत्तियोंका निरूपण

अब यह बतलाया जाता है कि वे निरोध की जानेवाली कौन-कौन वृत्तियाँ हैं और क्या उनका निरोध है ? प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ हैं । इच्छा और

---

१. चा—पा. २ पु० । २. असंप्रज्ञाताख्यस्य योगस्य—पा. २ पु० ।

पञ्चविधाश्चित्तवृत्तयः। इच्छाकृत्यादिरूपवृत्तीनां चैतन्निरोधेनैव निरोधो भवति। तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

इन्द्रियद्वारा या बुद्धेर्यथार्था वृत्तिः सा प्रत्यक्षं प्रमाणम्। ईश्वरसंग्रहाय सत्त्ववृत्तेः तज्जातीयत्वमत्र विवक्षणीयम्। बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य शिखावद्बुद्धेरग्रभागो येन चित्तस्यैकाग्रताव्यवहारो भवति। स एवाग्रभाग[1] इन्द्रियद्वारा बाह्यार्थे संयुज्य अर्थाकारेण परिणमते मूषानिक्षिप्तद्रुतताम्रवत्। तथा च सांख्यसूत्रम् 'भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः संबन्धार्थं सर्पतीति'(सां. ५. १०७.) इति। बुद्धिर्विषयेषु संबन्धार्थे सर्पति गच्छति इति हेतोर्वृत्तिर्न बुद्धेर्भागोऽग्नेः स्फुलिङ्गवद्विभक्तांशो बुद्धेरिच्छादिवद् गुणश्च न भवति, द्रव्यस्यैव क्रियासंभवादित्यर्थः। सा च वृत्तिः पुरुषे

कृति आदि रूप वृत्तियोंका निरोध तो इन वृत्तियों के निरोधसे ही हो जाता है। इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये प्रमाण हैं।

इन्द्रियके द्वारा जो बुद्धिकी यथार्थ वृत्ति होती है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। ईश्वर की सत्ताका निश्चय करनेवाली वृत्तिको भी प्रमाणवृत्तिमें ही सम्मिलित करनेके लिये उसे इसीकी जातिका कहना अभीष्ट है। बुद्धिकी वृत्ति दीपककी शिखाके समान बुद्धिका अग्रभाग है, जिससे कि चित्तकी एकाग्रतारूप व्यवहार होता है। वह अग्रभाग ही मूषामें डाले हुए द्रवीभूत ताँबेके समान इन्द्रियके द्वारा बाह्य विषयसे मिलनेपर विषयाकारमें परिणत हो जाता है; जैसा कि सांख्यसूत्र भी है—'वृत्ति चित्तके भाग और गुण दोनों हीसे भिन्न पदार्थ है, जो विषयसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये जाती है।' तात्पर्य यह कि बुद्धि विषयोंसे सम्बन्ध करनेके लिये सरकती है—जाती है, इसलिये उसकी वृत्ति न तो अग्निकी चिनगारीके समान बुद्धिका भाग ही है और न इच्छादिके समान उसका गुण ही है, क्योंकि क्रिया तो द्रव्य ही की

१ स एव च भाग–पा. २ पु.।

प्रतिबिम्बिता सती यद्भासते तदेव प्रमाणस्य फलं प्रमेत्युच्यते।
तदेव च द्रष्टुर्वृत्तिसारूप्यमप्युच्यते।

लिङ्गजन्या वृत्तिरनुमानं प्रमाणम्; शब्दजन्या वृत्तिश्च शब्दप्रमाणमिति। फलं तु सर्वत्र पौरुषेयो बोध एव, पुरुषार्थमेव करणानां प्रवृत्तेरिति।

विपर्ययवृत्तिश्च मिथ्याज्ञानं दोषजन्यम्। विकल्पवृत्तिस्तु 'राहोः शिरः' 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इत्यादिरूपा। तस्याश्च विशेषदर्शनानिवर्त्यतामात्रेण विपर्ययाद् भेदः।

हो सकती है—ऐसा इसका तात्पर्य है। वही वृत्ति जो पुरुषमें प्रतिबिम्बित होकर भासती है, उसीको प्रमाणका फलरूप प्रमा कहते हैं। और वही द्रष्टाका वृत्तिसे सारूप्य कहा जाता है।

लिङ्गद्वारा उत्पन्न होनेवाली वृत्ति अनुमान प्रमाण है और शब्द द्वारा होनेवाली वृत्ति शब्द प्रमाण कही जाती है। इन सब प्रमाणोंसे होनेवाला फल तो पुरुषसम्बन्धी बोध ही है; क्योंकि [बुद्धि आदि] करणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके लिये ही है।

विपर्यय वृत्ति दोषजनित मिथ्या ज्ञान है। * तथा विकल्प वृत्ति 'राहुका शिर' 'पुरुषका चैतन्य' इत्यादि रूप ❁ है। विपर्ययसे इसका

---

* योगसूत्रोंमें विपर्ययका लक्षण इस प्रकार किया है—'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्, (१।८) अर्थात् वस्तुके वास्तविक स्वरूपमें न रहनेवाला मिथ्याज्ञान ही विपर्यय है। रज्जुमें सर्प अथवा सीपीमें चाँदीकी प्रतीति इसके दृष्टान्त रूपसे कही जा सकती है। इसीको भ्रम कहते हैं।

❁ विकल्पका लक्षण करते हुए योगसूत्र कहता है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जो शब्दज्ञान का अनुवर्तन करनेवाला किन्तु वस्तुशून्य हो उसे विकल्प कहते हैं। शिरसे अतिरिक्त राहु और चैतन्यसे अतिरिक्त पुरुष कोई वस्तु नहीं हैं। अतः इन वाक्योंसे शब्द ज्ञान तो होता है किन्तु किसी वस्तु का बोध नहीं होता।

निद्रावृत्तिश्च 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादिस्मृतिहेतुरनुभवः सुषुप्तिकालीनः सुखादिविषयः। स्मृतिश्च संस्कारमात्रजन्या वृत्तिः। इति वृत्तयो व्याख्याताः।

निरोधो व्याख्यायते। निरोधो न नाशोऽभावसामान्यं वा, अभावानङ्गीकारात्, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेश्च। किं तु वृत्तितन्निरोधौ चित्तस्य स्वविषये प्रवृत्तिनिवृत्ती भावरूपे एव गतिप्रत्यागतिवत्पुरुषप्रयत्नजन्ये; प्रवृत्तिनिवृत्त्योरन्योन्याभावत्वे [1]विनिगमकाभावात्, प्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्य-

विशेषदर्शन होनेपर भी निवृत्त न होनेमें ही भेद है। *

'मैं सुखपूर्वक सोया' इस प्रकारकी स्मृतिका हेतुभूत जो सुखादिको विषय करनेवाला सुषुप्तिकालीन अनुभव है वही निद्रावृत्ति है तथा संस्कारमात्रसे उत्पन्न होनेवाली वृत्ति स्मृति है। इस प्रकार वृत्तियोंकी व्याख्या हुई।

निरोधनिरूपण

अब निरोधकी व्याख्या की जाती है। निरोध नाश या अभाव-सामान्यको नहीं कहते, क्योंकि उस अवस्थामें अभाव अंगीकार नहीं किया गया है और अभाव होनेपर तो आगे कहे जानेवाले संस्कारों का उत्पादक होना भी सम्भव नहीं होगा। प्रत्युत वृत्ति और उसके निरोध तो अपने विषयके प्रति चित्तकी भावरूपा प्रवृत्ति और निवृत्ति ही हैं, जो पुरुषके प्रयत्नसे होने वाली गति (जाने) और प्रत्यागति (लौटने) के ही समान हैं। यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक-दूसरीकी अभावरूपा ही हों तो उनके स्वरूपका निर्णय करानेवाला कुछ भी नहीं रहेगा और न चित्तकी अवस्थाओंके प्रवृत्ति, निवृत्ति एवं उदासीनता—

---

1 विनिगमनाभावात्—पा. २ पु.।

* विपर्यय या भ्रमकी निवृत्ति यथार्थ वस्तुका ज्ञान होनेपर हो जाती है, किन्तु विकल्पकी निवृत्ति तब भी नहीं होती।

रूपत्रैविध्यानुपपत्तेश्चेति । अतश्च भावत्वाविशेषाद् वृत्त्येव[1] निरोधेनापि संस्कारो जन्यते ; संस्कारवृद्धिं विनाऽनुदिनं योगस्य कालवृद्धौ नियामकान्तरासंभवादिति दिक् ।

योगसामान्यं लक्षितम् । तद्विशेष उच्यते । स योगो द्विविधः—संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । तत्र सम्यक्प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोध इति संप्रज्ञातो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधविशेषः । तथा च ध्येयसाक्षात्काराख्यफलोपहितनिरोधत्वं संप्रज्ञातत्वम् । एकाग्रताविशेषरूपधारणादित्रयकालीनानां निरोधानां प्रलयादिकालीननिरोधानां च व्यावर्तनायोपहितान्तम् । धारणादि-

ये तीन भेद ही हो सकेंगे । अतः भावत्वमें समानता होनेके कारण निरोधके समय भी वृत्तिके द्वारा ही संस्कारकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि यह बात ध्यान देनेकी है कि संस्कारकी वृद्धि हुए बिना दिनों-दिन योगमें कालकी वृद्धि होनेका कोई और कारण नहीं है ।

योग विशेषका निरूपण

योगसामान्यका लक्षण तो हो चुका, अब योगविशेषका वर्णन किया जाता है । वह योग दो प्रकारका है—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात । जिस निरोधमें ध्येयका सम्यक् प्रज्ञान अर्थात् साक्षात्कार किया जाता है उसे संप्रज्ञात योग कहते हैं; यह ध्येयसे भिन्न वृत्तियोंका निरोधरूप है । इस प्रकार ध्येयसाक्षात्काररूप फलसे उपहित जो निरोधता है वही उसकी संप्रज्ञातता है । धारण, ध्यान और समाधि—इन तीनों अवस्थाओं में होनेवाले एकाग्रता विशेषरूप निरोध और प्रलयादिके समय होनेवाले निरोधकी व्यावृत्तिके लिये इसे ध्येयसाक्षात्काररूप फलसे उपहित कहा गया है । धारणादि तीनों अवस्थाओंमें होनेवाला

---

१ वृत्त्या इव इति च्छेदः ।

त्रथकालीनस्तु निरोधो न साक्षात्कारहेतुः, विषयान्तरवासनाया बलवत्तरतया प्रतिबन्धात्, योगजधर्मनाश्याधर्मेण प्रतिबन्धाच्चेति। संप्रज्ञातरूपो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधश्च विषयान्तरसंचाराख्यप्रतिबन्धनिवृत्तिरूपतया विषयान्तरवासनाभिभवद्वारा च तथा धर्मविशेषद्वारा च ध्येयसाक्षात्कारे हेतुर्भवति। चित्तं हि[1] स्वत एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च भवति। तमसाऽऽवरणादेव तु न सदा सर्वं गृह्णाति। अतस्तमोवर्धकानां विषयान्तरसंचारवासनापापादीनां निरोधाख्ययोगतः क्षये स्वयमेव ध्येयं वस्तु साक्षात्क्रियते चित्तेनेति योगशास्त्रसिद्धान्तः। संप्रज्ञातस्य चातुर्विध्यमग्रे वक्ष्यते।

असंप्रज्ञातो लक्ष्यते। न किंचित्संप्रज्ञायतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या असंप्रज्ञातयोगः सर्ववृत्तिनिरोधः। तदा संस्कारमात्रशेषं चित्तं

योग साक्षात्कारका हेतु नहीं है, क्योंकि उसमें अन्य विषयोंकी वासनारूप अत्यन्त प्रबल प्रतिबन्ध रहता है तथा योगज धर्मसे नष्ट होनेवाला अधर्म भी उसका प्रतिबन्धक है। संप्रज्ञात योगरूप जो ध्येयातिरिक्त वृत्तियोंका निरोध है उसमें विषयान्तरके संचाररूप प्रतिबन्धकी निवृत्ति हो जाती है, अतः वह विषयान्तरकी वासनाओंको दबाकर धर्मविशेषके द्वारा ध्येयके साक्षात्कारमें हेतु होता है। चित्त तो स्वतः ही सम्पूर्ण विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ और विभु है। तमोगुणसे आवृत होने के कारण ही वह सर्वदा सब कुछ ग्रहण नहीं कर सकता। अतः निरोधसंज्ञक योग के द्वारा विषयान्तरमें जानेवाली वासना और पाप आदि तमोवर्धक विकारोंके नष्ट हो जानेपर चित्तद्वारा स्वतः ही ध्येय वस्तुका साक्षात्कार कर लिया जाता है—यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है। इस संप्रज्ञातयोग की चतुर्विधता का आगे वर्णन किया जायगा।

अब असम्प्रज्ञात योगका लक्षण किया जाता है। इसमें किसी भी

---

१ च–पा. २ पु.।

तिष्ठति, अन्यथा व्युत्थानानुपपत्तेः। तस्य च लक्षणं तत्त्वज्ञान-संस्कारादाहकत्वे सति सर्ववृत्तिनिरोधत्वम्। प्रलयादिकालीन-निरोधव्यावर्तनाय सत्यन्तम्।

इदानीमभ्यर्हितत्वादादौ योगफलमुच्यते। तत्र तावद्योगद्वय-साधारणं दृष्टं फलं वृत्तिनिरोधेन वृत्त्युत्थदुःखभोग-निवृत्तिः। अदृष्टं च फलं संप्रज्ञातस्य पूर्वोक्तद्वारैर्ध्येयसाक्षात्कारः, 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता-समापत्तिः' (यो. १. ४१.) इति सूत्रात्। ततश्चाविद्यादिक्लेशनि-

वस्तुका ज्ञान नहीं होता—इस व्युत्पत्तिसे सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध असंम्प्रज्ञात योग है। उस समय चित्त संस्कारमात्र रह जाता है, नहीं तो व्युत्थान होना सम्भव नहीं था। अतः तत्त्वज्ञानके संस्कारोंका दाहक न होकर भी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध हो जाना—यह इस योगका लक्षण है। इस लक्षणकी आवश्यकता प्रलयकालीन निरोध का इससे व्यावर्तन करनेके लिये है*।

योगका फल

अब अत्यन्त प्रयोजनीय होनेके कारण पहले इन योगोंके फलका वर्णन किया जाता है। वृत्तिनिरोधके द्वारा वृत्तिजनित दुःखभोगकी निवृत्ति हो जाना—यह दृष्टफल तो [संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात] दोनों ही योगोंका समान है। किन्तु सम्प्रज्ञात योगका अदृष्ट फल है पूर्वोक्त साधनोंद्वारा ध्येय वस्तुका साक्षात्कार; जैसा कि 'जिसकी वृत्तियाँ क्षीण हो गयी हैं उस पुरुषकी ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यमें स्वच्छ मणिके समान तत्स्थता (ध्येयमें स्थितिरूप) और तद्रूपतारूप समाधि होती है'

* क्योंकि प्रलयकालमें तत्त्वज्ञानके संस्कार नहीं रहते।

वृत्त्या मोक्षः । तथा सत्यां कामनायां भूतेन्द्रियप्रकृतिजयोत्थः स्वेच्छाभोगश्च[1] भवति। असंप्रज्ञातस्य त्वदृष्टं फलं तत्त्वज्ञानसाधारणानामखिलसंस्काराणां प्रारब्धकर्मणां च दाहाच्छीघ्रं स्वेच्छया मोक्षः[2] । तथा हि, तत्त्वज्ञानेन तावत् स्वसंस्कारः प्रारब्धकर्म च नातिक्रमितुं शक्यते, अविरोधात् 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' (छा. ६. १४. २.) इति श्रुत्या ज्ञानिनो मोक्षे प्रारब्धनिमित्तककिंचिद्विलम्बसिद्धेश्च ; ज्ञानेन प्रारब्धनाशे जीवन्मुक्तिश्रुतिस्मृतिविरोधाच्च; प्रारब्धकर्मणां ज्ञाननाश्यत्वस्य वेदान्तसूत्रेण प्रतिषिद्धत्वाच्च । योगस्य तु प्रारब्धकर्मनाशकत्वे[3] बाधकाभावेन,

इस सूत्रसे सिद्ध होता है। फिर अविद्यादिक्लेशोंकी निवृत्ति होनेपर मोक्ष होता है। और यदि कोई कामना रहती है तो भूत, इन्द्रिय और प्रकृतिके जयद्वारा उसे स्वेच्छाभोग भी प्राप्त होता है। तथा असम्प्रज्ञात योगका अदृष्ट फल है तत्त्वज्ञानमें सामान्यतया रहनेवाले सम्पूर्ण संस्कारोंके एवं प्रारब्धकर्मोंके भी दाहद्वारा स्वेच्छासे तत्काल मोक्ष प्राप्त हो जाना। बात यह है कि तत्त्वज्ञान तो अपने संस्कार और प्रारब्धकर्मोंका अतिक्रमण कर नहीं सकता, क्योंकि उनसे उसका विरोध नहीं है ? जैसा कि 'जबतक [जीवन्मुक्त] पुरुषकी उपाधि नहीं छूटती तभीतक उसे विलम्ब है, उसके पश्चात् तो वह [परमतत्त्वसे] अभिन्न हो जाता है' इस श्रुतिसे ज्ञानीके लिये मोक्षमें प्रारब्धकर्मजनित कुछ विलम्ब सिद्ध होता है। यदि ज्ञानसे ही प्रारब्धका नाश माना जाय तो जीवन्मुक्तिसम्बन्धी श्रुति और स्मृतिका विरोध होगा तथा प्रारब्धकर्मोंके ज्ञानद्वारा नष्ट होनेका वेदान्तसूत्रोंने निषेध किया है। किन्तु योगके लिये तो प्रारब्धकर्मका नाश करनेमें कोई बाधक

---

१ स्वेच्छातो गतिश्च—पा. १ पु. । २ स्वेच्छाभोगश्च—इत्यधिकम् २ पु. । ३ प्रारब्धनाशकत्वे—पा. १ पु. ।

"विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात् ॥"

इति विलम्बाभावश्रवणेन च प्रारब्धकर्मनाशकत्वमस्ति। अतः प्रारब्धकर्मणोऽप्यतिक्रमेण शीघ्रमोक्षार्थिनो ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमप्यसंप्रज्ञातयोगोऽपेक्ष्यत इति। अधिकं तु वार्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम्। एतेनासंप्रज्ञाताभावेऽपि प्रारब्धभोगानन्तरं ज्ञानिनां[1] मोक्षो भवत्येवेति सिद्धान्तो न विरुध्यते। तत्र च प्रमाणम् 'तस्य[2] तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादिश्रुतिः। अविद्याविनिवृत्तौ [3]बीजाभावात्पुनर्जन्मानुपपत्तिश्च। विमोक्ष्ये प्रारब्धकर्मणः सकाशाद्विमुक्तो भविष्यतीत्यर्थः।

नहीं है तथा 'जिसे समाधि प्राप्त हो गयी है वह योगी योगाग्निके द्वारा कर्मराशिके भस्मीभूत हो जानेके कारण तत्काल उसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त कर लेता है' इस वाक्यद्वारा योगीकी मुक्तिमें विलम्बका अभाव सुना गया है, अतः योगकी प्रारब्धकर्मनाशकता निश्चित ही है। इसलिये जिसे प्रारब्धकर्मका भी अतिक्रमण करके शीघ्र मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा हो उसे ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् भी असम्प्रज्ञात योगकी अपेक्षा है। इस विषयका विशेष विवेचन हमने योगवार्तिकमें किया है। इससे इस सिद्धान्तका भी कोई विरोध नहीं होता कि असम्प्रज्ञात योगके अभावमें भी ज्ञानी पुरुषोंका प्रारब्धकर्मका भोग होनेके पश्चात् मोक्ष हो ही जाता है। इस विषयमें 'उसके मोक्षमें तभीतक विलम्ब है जबतक कि वह मुक्त नहीं होगा' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर बीज न रहनेके कारण उसका पुनर्जन्म होना तो सम्भव है नहीं। 'मुक्त नहीं होगा' अर्थात् प्रारब्धकर्मसे छूट नहीं जाता।

---

१ ज्ञानिनो–पा. १ पु.। २ तत्र–१ पु.।
३ जीवा–पा. १ पु.।

स्यादेतत् ।

"योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापजं रजः[1] ।
प्रसभं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम् ॥"

इत्यादिस्मृत्येकवाक्यतया योगस्य कर्मनाशकत्ववाक्यानि संप्रज्ञात-योगपराण्येव सन्त्विति ।

मैवम् । उक्तवाक्येन हि संप्रज्ञातयोगस्य ज्ञानप्रतिबन्धकपाप-मात्रनाशकत्वमवगम्यते, न सर्वकर्मनाशकत्वम्; तथा सति 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इत्यादिशास्त्रोक्तं ज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वमपि नोपपद्येत, ज्ञानहेतुना संप्रज्ञात-योगेनैव सर्वकर्मनाशात् । यत्तु योगस्य सर्वकर्मनाशकत्वं श्रूयते 'योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्' इति तदसंप्रज्ञातयोगपरमेव । अतो

यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'योगाग्नि तत्काल ही पापजनित सम्पूर्ण मलको भस्म कर देती है, और उससे तुरन्त ही साक्षात् मोक्षरूप सिद्धि देनेवाला ज्ञान उत्पन्न हो जाता है' इत्यादि स्मृतियों से एकवाक्यता की जाय तो योगके जो कर्मनाशकतापरक वाक्य हैं वे संप्रज्ञातयोगके ही विषयमें होने चाहिये ।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है । उपर्युक्त वाक्यसे तो इतना ही जाना जाता है कि संप्रज्ञात योग ज्ञानके प्रतिबन्धक पापोंका ही नाश करनेवाला है; इससे उसकी सर्वकर्मनाशकता सूचित नहीं होती । ऐसा होनेपर तो 'हे अर्जुन ! ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्मीभूत कर देती है' इत्यादि शास्त्रद्वारा प्रतिपादित ज्ञानकी सर्वकर्मनाशकता ही उपपन्न नहीं होगी, क्योंकि फिर तो ज्ञानके हेतुभूत संप्रज्ञात योगसे ही सम्पूर्ण कर्मोंका नाश हो जायगा । योगकी जो 'योगाग्निदग्धकर्मच-योऽचिरात्' इत्यादि वाक्यद्वारा सर्वकर्मनाशकता सुनी जाती है, वह

---

१ पापपञ्जरम्—पा. २ पु. ।

नानयोर्वाक्ययोः संप्रज्ञातपरत्वेनैकवाक्यत्वं घटते। तस्मात्सं-प्रज्ञातयोगतज्जन्यज्ञानाभ्यामनाश्यस्य प्रारब्धकर्मणोऽसंप्रज्ञात-योगनाश्यत्वमेव 'योगाग्नि-' इत्यादिवाक्यार्थः।

किं च ज्ञानस्य योगस्य च कर्मनाशकत्वं सहकार्युच्छेदेन फलाक्षमीकरणमात्रम्। इदमेव च दाहः। तथा हि, ज्ञानेना-विद्यादिक्लेशक्षये सति क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदादेव कर्मणा विपाक आरब्धुं न शक्यते, 'सति मूले तद्विपाकः—' (यो. २. १३.) इति सूत्रेण कर्मणां स्वमूले क्लेशे सत्येव विपाकारम्भवच-नाद्व्यासभाष्येण तथा व्याख्यानाच्च। अतो ज्ञानस्य कर्मनाश-कत्वदाहकत्ववचनं न्यायसिद्धानुवादमात्रम्।

तो असंप्रज्ञात योगके विषयमें ही है। अतः इन दोनों वाक्योंकी संप्रज्ञातयोगपरक होनेपर एकवाक्यता होनी सम्भव नहीं है। इसलिये जिस प्रारब्धकर्मका संप्रज्ञात योग और उससे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानसे नाश होना सम्भव नहीं है उसका असंप्रज्ञात योगद्वारा नाश हो सकना ही 'योगाग्नि' इत्यादि वाक्यका तात्पर्य है।

तथा ज्ञान और योगकी कर्मनाशकता तो सहकारी कारणके उच्छेदद्वारा कर्मोंको फलप्रदानमें असमर्थ कर देनामात्र ही है। और यही दाह कर देनेका भी तात्पर्य है। अभिप्राय यह कि ज्ञानके द्वारा अविद्यादि क्लेशोंका क्षय हो जानेपर इस क्लेशसंज्ञक सहकारी कारणका उच्छेद हो जानेसे ही कर्म अपना फल प्रदान करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि 'मूलमें क्लेशोंके रहनेपर ही कर्मोंका फल होता है' इस सूत्रद्वारा अपने मूलमें क्लेशोंके रहनेपर ही कर्मोंके फलप्रदानका आरम्भ बताया गया है और ऐसी ही इसकी व्यासभाष्यने व्याख्या भी की है। अतः ज्ञानकी कर्मनाशकता और दाहकताका वर्णन युक्ति-सिद्ध वस्तुका अनुवादमात्र ही है।

'एवमेवासंप्रज्ञातयोगेनापि भोगहेतुवासनारूपः कर्मणां सह-कार्येवोच्छिद्यते[1]। व्युथानसंस्काराणां निरोधसंस्कारैर्बलवत्तरैरुच्छेदस्य सूत्रभाष्याभ्यामुक्तत्वात्स्वानुभवसिद्धत्वाच्च। अतोऽसंप्रज्ञातयोगपरम्परया अखिलवासनाक्षये सति प्रारब्धफलकमपि कर्म फलसंपत्तये न समर्थं वासनाया अपि कर्मसहकारित्वस्य सूत्रभाष्ययोरवधृतत्वात्। ततश्चासमाप्तभोगकमेव प्रारब्धं कर्म स्वाश्रयचित्तनाशेन नश्यति, पुरुषप्रयोजनं विना चित्तस्यावस्थानाभावात् पुरुषार्थस्य चित्त[2]स्थितिहेतुत्वात्। तस्मादसंप्रज्ञातयोगस्य प्रारब्धकर्मदाहकत्वं युक्तितोऽपि सिद्धमिति दिक्।

तदेवं योगयोः फलमुक्तम्। इदानीं संप्रज्ञातयोगस्य अवान्तर-

इसी प्रकार असंप्रज्ञात योगद्वारा भी भोगके हेतुभूत वासनारूप कर्मोंके सहकारी क्लेशका ही उच्छेद होता है, क्योंकि प्रबलतर निरोध संस्कारोंद्वारा व्युत्थानके संस्कारोंका उच्छेद हो जाता है—यह बात सूत्र और भाष्य दोनोंने कही है और अपने अनुभवसे भी सिद्ध है। अतः असंप्रज्ञात योगकी निरन्तरतासे सम्पूर्ण वासनाओंका क्षय हो जानेपर प्रारब्धरूपसे परिणत होनेवाला कर्म भी फलप्रदानमें समर्थ नहीं होता, क्योंकि सूत्र और भाष्य दोनों हीने वासनाको भी कर्मके सहकारीरूपसे निश्चय किया है। इसीसे जिसका भोग समाप्त नहीं हुआ ऐसा प्रारब्धकर्म भी अपने आश्रय चित्तका नाश होनेपर नष्ट हो जाता है, क्योंकि पुरुषके प्रयोजन बिना चित्तका स्थित रहना सम्भव नहीं है, कारण कि पुरुषका प्रयोजन ही चित्तकी स्थितिका हेतु है। अतः यह दिखला दिया गया कि युक्तिसे भी असंप्रज्ञात योगकी प्रारब्धकर्मदाहकता सिद्ध हो जाती है।

संप्रज्ञात योगके अवान्तर भेद

इस प्रकार दोनों तरहके योगोंका फल बतलाया गया। अब संप्र-

---

१ उत्साद्यते—पा. २ पु.। २ चिति—पा. २ पु.।

भेदा उच्यन्ते। तत्र संप्रज्ञातश्चतुर्विधः—वितर्कानुगतः, विचारानुगतः, आनन्दानुगतः, अस्मितानुगत इति। साक्षात्कारविशेषेषु तान्त्रिकं वितर्कादिपरिभाषाचतुष्टयम्। तैः सफलैः साक्षात्कारैः अनुगता उपहिताश्चित्तवृत्तिनिरोधा वितर्कानुगतादिसंज्ञका भवन्ति। वितर्कादिकं क्रमिकं भूमिकाचतुष्टयमुच्चारोहि[1]क्रमिकसोपानपरम्परावत्। अतो वितर्कादीनां[2] क्रमेणैव तदनुगतत्वेन निरोधस्यापि क्रमः कथ्यते, स्वतो निरोधे क्रमाभावात्। वितर्कादिक्रम औत्सर्गिकः। एकदा चित्तस्य परमसूक्ष्मप्रवेशस्य[3] प्रायशोऽसंभवात्। तथा च स्मर्यते—

"योगारम्भे मूर्तहरिममूर्तमथ चिन्तयेत्।
स्थूले[4] विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत्॥" इति।

ज्ञात योगके अवान्तर भेदोंका वर्णन किया जाता है। संप्रज्ञात योग चार प्रकारका है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ये वितर्कादि चारों परिभाषाएँ साक्षात्कारविशेषोंको सूचित करनेवाले लाक्षणिक शब्द हैं। उन फलसहित साक्षात्कारोंसे अनुगत—उपहित चित्तवृत्तियोंके निरोध वितर्कानुगत इत्यादि नामवाले होते हैं। ये वितर्कादि चार क्रमिक भूमिकाएँ ऊँचे चढ़नेवालेके लिये आवश्यक क्रमिक सोपानपरम्परा (सीढ़ी) के समान हैं। अतः वितर्कादिके क्रमके अनुसार ही, उनसे अनुगत रहनेके कारण, निरोधका भी क्रम बतलाया जाता है, स्वतः तो निरोधमें कोई क्रम है नहीं। यह वितर्कादि क्रम भी नाममात्रका ही है, क्योंकि एक साथ ही चित्तका अत्यन्त सूक्ष्म प्रवेश प्रायः असम्भव ही होता है। ऐसी ही स्मृति भी है—"योगके आरम्भमें पहले साकार भगवान्का और फिर निराकारका चिन्तन करे। पहले स्थूल आलम्बनमें एकाग्र हुए चित्तको ही फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म आलम्बनमें ले जाय।"

---

१ उच्चारोहे—पा. २ पु.। २ वितर्काणां—पा. १ पु.।
३ सूक्ष्मे प्रदेशस्य—पा. २ पु.। ४ विनिर्मितं—पा. २ पु.।

-तथा स्थूलादिविषयेषु रागादपि उत्तरोत्तरभूमिषु चित्तसमाधानं न संभवति । अतः स्थूलादिसाक्षात्कारेण तत्र तत्र दोषदृष्ट्या उत्तरोत्तरभूम्यारोहो राजमार्गः । यस्य तु कदाचिदीश्वरप्रसादादादावेवोत्तर[1]भूम्यारोहो भवति, तेन च पूर्वभूमिकाभ्यासस्तत्सिद्धिकामनां विना न कार्यः, उत्तरभूमिकारोहस्य फलस्य जातत्वात् । तदुक्तं भाष्यकारैः—'ईश्वरप्रसादादर्जितोत्तरभूमिकस्य नाधरभूमिषु[2] विनियोगस्तदर्थस्यान्यत एव सिद्धेः' इति ।

एतच्च भूमिकाचतुष्टयमेकस्मिन्नेवालम्बने क्रमात्कर्तव्यम्, अन्यथा पूर्वपूर्वोपासनात्यागदोषापत्तेः । चित्तचाञ्चल्यदोष-

इसके सिवा स्थूल विषयोंमें राग रहनेके कारण भी आगे-आगेकी भूमियोंमें चित्तका समाहित होना सम्भव नहीं है। अतः स्थूलादि विषयोंका साक्षात्कार करके फिर उनमें दोषदृष्टि करते हुए आगे-आगे की भूमिकाओंमें आरूढ़ होना ही राजमार्ग है। किन्तु यदि कभी किसीको भगवत्कृपासे आरम्भमें ही आगेकी भूमिकापर अधिकार प्राप्त हो जाय तो उसे पूर्व भूमिकाओंका अभ्यास उनकी सिद्धिकी कामनाके बिना करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे तो आगेकी भूमिकापर आरूढ़ होनेका फल प्राप्त हो चुका है। यही बात भाष्यकार (भगवान् व्यास) ने भी कही है—'भगवत्कृपासे जिसे आगेकी भूमिका प्राप्त है उसे नीचेकी भूमिकाओंमें लगनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे तो उनका प्रयोजन अन्य प्रकार से ही प्राप्त हो चुका है।'

ये चारो भूमिकाएँ क्रमशः एक ही आलम्बनमें प्राप्त करनी चाहिये, नहीं तो पहली-पहली उपासनाको त्याग बैठनेका दोष प्राप्त होगा तथा चित्तकी चंचलताका दोष प्राप्त होनेकी भी नौबत आ जायगी। बात

---

१ प्रसादादेवोत्तर—पा. १ पु. । २ प्रसादाजितोत्तरभूमिषु—पा. २ पु. ।

प्रसङ्गाच्च। तद्यथा, यद्विराट्शरीरं चतुर्भुजादिकं वा शरीरं[1] घटादिकं वा षड्विंशतितत्त्वसंघातं समष्टिव्यष्ट्यात्मकमधिकृत्य प्रथमं भावना प्रवर्तते तदालम्बनमित्युच्यते। तत्रालम्बने प्रथमं स्थूलाकारधारणाध्यानसमाधिभिर्यः स्थूलगताशेषविशेषाणामतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टानां गुणदोषरूपाणामश्रुतामतानां साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते। स्थूलशब्देन च भूतानीन्द्रियाणि चात्र गृह्यन्ते। तपोजपादिसाधनैर्ध्रुवादीनां चतुर्भुजादिसाक्षात्कारादयं साक्षात्कारो विलक्षणः। तेषां हि तपोध्यानादिना तुष्टः परमेश्वरः स्वयं शरीरं निर्माय पुरः प्रकटीभूय वागादिव्यवहारं चक्रे। योगिनस्तु योगबलेन वैकुण्ठश्वेतद्वीपादि-

ऐसी है कि योगीकी भावना आरम्भमें जिस विराट् विग्रह, चतुर्भुजादि देवविग्रह अथवा घटादिके समान किसी छब्बीस तत्वों के समुदाय समष्टि या व्यष्टिरूप पदार्थको आश्रय बनाकर ही प्रवृत्त होती है, वही आलम्बन कहा जाता है। उस आलम्बनमें पहले जो स्थूल भागकी भूत, भविष्य, वर्तमान, ओझलमें रहनेवाली और दूरवर्ती गुण-दोषरूपा सम्पूर्ण विशेषताओंका, जिनको पहले न सुना हो और न जाना हो, साक्षात्कार होना है उसे ही 'वितर्क' कहते हैं। स्थूल शब्दसे यहाँ भूत और इन्द्रियाँ* ग्रहण की जाती हैं। तपस्या और जपादि साधनोंसे जो ध्रुवादिको चतुर्भुजादि भगवद्विग्रहोंका साक्षात्कार हुआ था उससे यह साक्षात्कार भिन्न प्रकारका है। उनके तो तप एवं ध्यानादिसे सन्तुष्ट होकर भगवान् स्वयं शरीर धारण करके उनके सामने प्रकट हुए थे और उनसे बातचीत आदि भी की थी। योगी लोग तो अपने

---

१ स्वशरीरं–पा. २ पु.।

* किन्हीं टीकाकारोंने इन्द्रियोंको आनन्दानुगत समाधिका आलम्बन माना है। इस मतका श्री विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिक (१।१७) में खण्डन किया है।

स्थमेव चतुर्भुजादिशरीरमन्यत्र स्थिताः पश्यन्ति। तत्र च वाग्व्यवहारादिकं न संभवति। तथा[1] चतुर्भुजादिशरीरस्य बाह्याभ्यन्तराखिलगुणदोषादिकमतीतादिरूपं पश्यन्तीति विशेषः इति वितर्को व्याख्यातः।

अथ विचारो व्याख्यायते। तत्रैवालम्बने स्थूलाकारसाक्षात्कारानन्तरं स्थूलाकारदृष्टिं त्यक्त्वा क्रमेण प्रकृतिपर्यन्तसूक्ष्माकारधारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेषविशेषतस्तत्त्वात्सूक्ष्माकारसाक्षात्कारः स विचार इत्युच्यते। सूक्ष्मशब्दस्य कारणार्थकतया तत्र[2] तन्मात्राहंकारमहत्तत्त्वप्रकृतयः सूक्ष्मशब्देन गृह्यन्ते।

ननु स्थूलालम्बने कथं सूक्ष्मदृष्टिर्यथार्था स्यादिति चेन्न। सर्वेषां शरीरघटादीनां षड्विंशतितत्त्वकार्यतया कार्यकारणाभेदेन

योगबलसे वैकुण्ठ और श्वेतद्वीपादिमें स्थित चतुर्भुजादि शरीरको ही अन्यत्र स्थित रहकर देख लेते हैं। वहाँ उनसे कोई वागादिका व्यवहार भी नहीं हो सकता। तथा उनमें इतनी विशेषता रहती है कि वे चतुर्भुजादि शरीरके बाहर-भीतर रहनेवाले भूत, वर्तमान और भावी सम्पूर्ण गुण-दोषादिको भी देख लेते हैं। यह वितर्ककी व्याख्या हुई।

अब विचारकी व्याख्या की जाती है। उसी आलम्बनमें स्थूलाकारके साक्षात्कारके पश्चात् स्थूलाकार दृष्टिको त्यागकर फिर क्रमसे प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्माकार धारणादि तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) के द्वारा जो पूर्ववत् सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित सूक्ष्माकारका साक्षात्कार है वह 'विचार' कहलाता है। 'सूक्ष्म' शब्द कारणवाचक है, अतः यहाँ सूक्ष्म शब्दसे तन्मात्र, अहंकार, महत्तत्व और प्रकृति ग्रहण की जाती हैं।

यदि कहो कि स्थूल आलम्बनमें सूक्ष्म दृष्टि यथार्थ कैसे हो सकती है तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शरीर एवं घट आदि सभी पदार्थ छब्बीस तत्त्वोंके कार्य हैं, अतः कार्य और कारणका अभेद होनेके

---

१ तथाऽस्य—पा. २ पु.। २ अत्र—पा. २ पु.।

षड्विंशतितत्त्वरूपत्वात्। तत्रापि कार्यरूपताया अस्थिरत्वेन कारणरूपताया एव सत्यत्वात्। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा. ६.) इति श्रुतेः।

ननु तथापि सूक्ष्माकारस्यादृष्टजातीयस्य कथं भावना स्यादिति चेत्।

न। श्रुतमतप्रकारैरेव सामान्यतो भावनासंभवात् अश्रुतामतविशेषस्य च योगजधर्मबलेन ग्रहणात्। एवं सर्वत्र। इति विचारो व्याख्यातः।

अथानन्दो व्याख्यायते। तत्रैवालम्बने सूक्ष्माकारसाक्षात्कारानन्तरं तामपि दृष्टिं त्यक्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगते सुखरूपपुरुषार्थे धारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेषविशेषतः सुखाकार-

कारण वे सब छब्बीस तत्त्व रूप ही हैं। उसमें भी कार्यरूपता तो अस्थायी है, अतः कारणरूपता ही सत्य है; जैसा कि श्रुति कहती है— 'विकार (घटादि कार्य) वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है, सत्य तो [कारणरूपा] मृत्तिका ही है।'

प्रश्न—यदि ऐसा भी हो तो भी जो दृष्टिका विषय नहीं हो सकता उस सूक्ष्माकारकी भावना कैसे हो सकती है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। यद्यपि सामान्य रूपसे तो सुनी और समझी हुई वस्तुओंकी ही भावना हो सकती है, तथापि योगबलके द्वारा बिना सुने और बिना समझे हुए पदार्थोंको भी ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। यह विचार की व्याख्या हुई।

अब आनन्दकी व्याख्या की जाती है। उसी आलम्बनमें सूक्ष्माकारका साक्षात्कार करनेके पश्चात् उस दृष्टिको भी त्यागकर चौबीस तत्त्वोंमें अनुगत सुखरूप पुरुषार्थमें धारणादि तीनों करके जो पहले

साक्षात्कारः स आनन्द इत्युच्यते, ज्ञानज्ञेययोरभेदोपचारात्। यद्यपि प्रकृतेस्त्रिगुणात्मकत्वेन सुखवद्दुःखमोहावपि सर्वत्र स्तः, तथापि सुखरागेणैव संसारादात्मदर्शनप्रतिबन्धाच्च तदेव मुख्यतोऽशेषविशेषतो योगेन द्रष्टव्यम्, यथा तत्र दोषदर्शनेन दुःखदृष्ट्या वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दमात्रे योग उपदिष्ट इति मन्तव्यम्। मोक्षधर्मे तु धर्मधर्म्यभेदेन धर्मान्तरवदानन्दमपि चतुर्विंशतितत्त्वेष्वेव प्रवेश्य संप्रज्ञातयोगस्य त्रैविध्यमेव प्रोक्तम्—

"वितर्कश्च विचारश्च विवेकश्चोपजायते।
मुनेः समादधानस्य प्रथमं योगमादितः॥" इति।

प्रथमं योगं संप्रज्ञातं समादधानस्य कुर्वतः मुनेः आदितः क्रमेण वितर्कादित्रयं जायत इत्यर्थः। तत्र च विवेको वक्ष्य-

ही के समान सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित सुखका साक्षात्कार करना है वह 'आनन्द' कहलाता है, क्योंकि उपचारसे ज्ञान और ज्ञेयका अभेद स्वीकार किया गया है। यद्यपि प्रकृति त्रिगुणमयी होनेके कारण सुखकी तरह दुःख और मोह भी सर्वत्र हैं, तथापि सुखके रागसे ही संसारसे आत्मदर्शनका प्रतिबन्ध है, अतः योगद्वारा सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित उसीका साक्षात्कार करना चाहिये, जिससे कि दोषदर्शनके द्वारा दुःखदृष्टि होकर वैराग्य हो जाय। इसी आशयसे आनन्दमात्रमें योगका उपदेश किया है—ऐसा समझना चाहिये। [1]मोक्ष धर्ममें तो धर्म और धर्मीका अभेद मानकर धर्मान्तरके समान आनन्दको भी चौबीस तत्वों के अन्तर्गत ही मानकर संप्रज्ञात समाधिके तीन भेद बतलाये हैं—'प्रथम योगमें समाहित होनेवाले मुनिको आरम्भसे वितर्क, विचार और विवेककी उत्पत्ति होती है।' तात्पर्य यह कि प्रथम अर्थात् संप्रज्ञात योगमें समाहित—उसका अभ्यास करनेवाले मुनिको आरम्भसे—क्रमशः वितर्कादि तीन प्रकारके योग उत्पन्न होते हैं। इनमें विवेक आगे

१. महाभारत शान्तिपर्वका एक उपपर्व।

माणास्मितेति । इत्यानन्दो व्याख्यातः ।

अथास्मिता व्याख्यायते । एवं भूमिकाक्रमेण स्थूलसूक्ष्मानन्दानां स्वरूपाणि दोषबहुलानि साक्षात्कृत्य तेभ्यो विरज्य तत्रैवालम्बने यः कूटस्थविभुचिन्मात्रत्वादिरूपैस्तेभ्यो विवेकत आत्माकारसाक्षात्कारः सोऽस्मितेत्युच्यते, 'देहादिभिन्नोऽस्मि' इत्येतावन्मात्रा[1]कारत्वात् । आत्मज्ञानानन्तरं च ज्ञातव्यं नास्तीत्यतोऽस्मिता चरमभूमिका भवति । अस्यैव चात्मसाक्षात्कारस्य पराकाष्ठा धर्ममेवसमाधिरित्युच्यते यस्योदये ज्ञानेऽप्यलं प्रत्ययरूपेण परवैराग्येण असंप्रज्ञातयोगो जायत इति ।

अस्याश्चास्मितायाः द्वौ विषयौ चतुर्विंशतितत्त्वविवेकत आत्मसामान्यं पञ्चविंशतितत्त्वविवेकतः परमात्मा च । तयोरप्यौत्सर्गिको आत्मसामान्यं भूमिकाक्रमोऽस्ति,

बतायी जानेवाली अस्मिता है । इस प्रकार आनन्द की व्याख्या हुई ।

अब अस्मिताकी व्याख्या की जाती है । इस प्रकार भूमिका क्रमसे स्थूल सूक्ष्म और आनन्द रूपोंका, जिनमें अनेकों दोष हैं, साक्षात्कार करके उनसे वैराग्य होनेपर उसी आलम्बनमें जो कूटस्थ विभु एवं चिन्मात्र आदि रूपसे विवेक करके आत्माका साक्षात्कार किया जाता है वह 'अस्मिता' कहलाता है, क्योंकि 'मैं देहादिसे भिन्न हूँ' इतना ही उसका आकार होता है । आत्मज्ञानके पश्चात् और कुछ जानने योग्य नहीं रहता, इसलिये अस्मिता ही अन्तिम भूमिका है । इस आत्मसाक्षात्कारकी पराकाष्ठा ही धर्ममेघ समाधि कही जाती है, जिसका उदय होनेपर ज्ञानमें भी अलंबुद्धिरूप पर वैराग्यके द्वारा असंप्रज्ञात योग प्राप्त होता है ।

इस अस्मिताके विषय दो होते हैं—(१) चौबीस तत्वोंके विवेक द्वारा आत्मसामान्य (पुरुष), (२) पच्चीस तत्वोंके विवेक द्वारा परमात्मा । इन दोनों साक्षात्कारोंका भी पहले ही के समान भूमिका

---

१ एतन्मात्रा—पा. २ पु.

"चतुर्विंशतितत्त्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः।
विवेकात्केवलीभूतः षड्विंशं[1] सोऽनुपश्यति ॥"

इति स्मृतेः। जीवापेक्षयापि परमात्मनः सूक्ष्मत्वाच्च। जीवस्य हि स्वरूपं[2] प्रत्यक्षमस्ति तत्रैव ज्ञानेऽपरिच्छिन्नकूटस्थत्वादि-ज्ञानस्यैवात्मसाक्षात्काररूपत्वात्। परमात्मनस्तु तदप्रत्यक्षमिति[3]। तत्रात्मसामान्यविषयको योगः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिशब्देन स्थले स्थले सूत्रभाष्ययोरुक्तः। परमात्मयोगस्तु 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'(यो. १. २३.) इति सूत्रेण तद्भाष्येण चोक्तः। तथा मात्स्यकौर्मयोरपि—

"योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिकः सांख्य एव च।
तृतीयोऽन्त्याश्रमी प्रोक्तो योगमुत्तममास्थितः ॥

क्रम है, जैसा कि यह स्मृति कहती है—'चौबीस तत्वोंके विवेक द्वारा जो पच्चीसवाँ तत्व ज्ञात होता है उससे भी अलग होकर जो केवली भावमें स्थित हैं वह छब्बीसवें तत्व (परमात्मा) का साक्षात्कार कर लेता है।' इसके सिवा जीवकी अपेक्षा परमात्मा सूक्ष्मतर भी है, [इसलिये भी यह आगेकी भूमिका है।] जीवका स्वरूप तो प्रत्यक्ष ही है; उस जीवके अनुभवमें ही ऐसा ज्ञान होना कि यह अपरिछिन्न और कूटस्थ है—बस, यही आत्मसाक्षात्कारका स्वरूप है। किन्तु परमात्माका ज्ञान जीवको प्रत्यक्ष नहीं है। इसीसे आत्मसामान्यविषयक योगका वर्णन तो सत्त्वपुरुषान्यताख्याति शब्दसे सूत्र और भाष्य दोनों ही में जगह-जगह किया है। परन्तु परमात्म योगका तो केवल 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' इस सूत्र और इसके भाष्यद्वारा ही उल्लेख हुआ है। ऐसा ही मत्स्य और कूर्म पुराणोंमें भी कहा है—

'योगी तीन प्रकारका समझना चाहिये—(१) भौतिक, (२) सांख्य और (३) अन्त्याश्रमी, जो उत्तम योगमें स्थित तृतीय योगी

---

१ षड्विंशः–पा. १ पु.। २ स्वरूपज्ञानं–पा. २ पु.।
३ तदप्यप्रत्यक्षमिति–पा. २ पु.।

प्रथमा भावना पूर्वे सांख्ये त्वक्षरभावना ।
तृतीये चान्तिमा[1] प्रोक्ता भावना पारमेश्वरी ॥" इति ।

अत्र भूतशब्दोऽखिलजडोपलक्षकः[2] । अन्त्याश्रमी परमहंसः । प्रथमा भूतभावना । पूर्वे प्रथमयोगिनि । सांख्ये तु मध्यमयोगिन्यक्षरभावना कूटस्थचित्सामान्यभावना । तृतीये च परमहंसेऽन्तिमा अन्ते कर्तव्या पारमेश्वरी परमात्मगोचरा भावनेत्यर्थः । अतः सर्वेषु संप्रज्ञातेषु मध्ये पारमेश्वरयोग एव श्रेष्ठः । तथा कौर्मेऽप्युक्तम्—

यत्र पश्यसि[3] चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् ।
मामेकं स महायोगो भाषितः पारमेश्वरः ॥

कहा जाता है । पहले योगीमें प्रथमा (भूतसम्बन्धिनी) भावना रहती है, सांख्यमें अक्षरकी भावना रहती है और तीसरे योगमें परमेश्वर-सम्बन्धिनी अन्तिम भावना कही गयी है ।

यहाँ 'भूत' शब्द सम्पूर्ण जड़वर्गका उपलक्षक है । अन्त्याश्रमी परमहंसको कहते हैं । प्रथमा—भूतसम्बन्धिनी भावना पूर्वमें प्रथम योगीमें रहती है । सांख्यमें अर्थात् मध्यम योगीमें अक्षर भावना—कूटस्थ चित्सामान्यकी भावना रहती है । तथा तीसरे—परमहंसमें अन्तिम—अन्तमें करने योग्य पारमेश्वरी अर्थात् परमात्माको विषय करनेवाली भावना रहा करती है—ऐसा इसका तात्पर्य है । अतः सब प्रकारके सम्प्रज्ञात योगोंमें पारमेश्वर योग ही श्रेष्ठ है । कूर्मपुराणमें भी ऐसा ही कहा है—

'जिस योगमें तुम मुझे एक नित्यानन्द, निरञ्जन आत्मा रूपसे देखते हो वह महायोग परमेश्वरसम्बन्धी कहा जाता है । सम्पूर्ण

---

१ चरमा—पा. २ पु. । २ लक्षणः—पा. १ पु. ।
३ पश्यति—पा. २ । ३ पु. ।

ये चान्ये योगिनां योगाः श्रूयन्ते ग्रन्थविस्तरे।
सर्वे ते ब्रह्मयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्।
सर्वेषामेव योगानां स योगः परमो मतः॥" इति।

नन्वस्मितायाः कथमचेतनेषु घटाद्यालम्बनेषु संभव इति चेन्न। कारणरूपेण जीवेश्वरयोः सर्वत्रानुगमात्, मुक्तात्मनां च विभुत्वेन सर्वत्रानुगमादिति।

तदेवं संप्रज्ञातयोगस्य चत्वारो भेदा निरूपिताः[1]। तेषु च वितर्काद्याश्चत्वारः स्थूलादिसाक्षात्काराः समापत्तिशब्देनापि तन्त्रे परिभाषिताः। तत्र च वितर्कानुगतविचारानुगतयोर्यौ वितर्कविचारौ विशेषणे तावपि प्रत्येकं द्विविधौ भवतः। तयो-

ग्रन्थोंमें योगियोंके और जितने भी योग सुने जाते हैं वे इस ब्रह्मयोगकी सोलहवीं कलाके समान भी नहीं हो सकते। जिस योगमें युक्त पुरुष साक्षात् विश्वात्माका साक्षात्कार करते हैं, वह सभी योगोंमें श्रेष्ठ माना गया है।'

यदि कहो कि घटादि अचेतन आलम्बनोंमें अस्मिताका साक्षात्कार होना कैसे सम्भव है, तो यह बात ठीक नहीं, क्योंकि कारण रूपसे जीव और ईश्वर सभी जगह अनुगत हैं तथा विभु होनेके कारण मुक्तात्मा भी सर्वत्र व्याप्त हैं।

इस प्रकार संप्रज्ञात योगके चार भेदों का निरूपण हुआ। शास्त्र में ये स्थूलादि आलम्बनोंमें होनेवाले वितर्कादि चार साक्षात्कार 'समापत्ति' शब्दसे भी कहे गये हैं। इनमें वितर्कानुगत और विचारानुगत समापत्तियों में होनेवाले वितर्क और विचारसंज्ञक साक्षात्कारोंमें से प्रत्येकविशेष रूपसे दो-दो प्रकारका है। उनमें वितर्क सवितर्क और

---

1 प्रदर्शिताः—पा. ३ पु.।

वितर्कः सवितर्कनिर्वितर्करूपेण द्विधा। विचारश्च सविचारनिर्विचाररूपेण द्विधा। तद्यथा। भूतेन्द्रियरूपस्थूलसाक्षात्कारो योवितर्क इत्युक्तः स चेच्छब्दार्थज्ञानानां विकल्पेन मिश्रितो भवति तदा सवितर्कसमापत्तिरित्युच्यते। तेन शून्या च निर्वितर्कसमापत्तिरिति।

अथ कः शब्दार्थज्ञानविकल्प इति। उच्यते। हरिरिति शब्दो हरिरित्यर्थो हरिरिति ज्ञानम्, इत्येवं त्रयाणां शब्दार्थज्ञानानामेकाकारत्वेनाभेदभ्रमः पूर्वोक्तविकल्परूपः शब्दार्थज्ञानविकल्पः। तद्युक्तश्च स्थूलसाक्षात्कारः सवितर्कः सविकल्प[1] इति चोच्यते। तच्छून्यश्च स्थूलसाक्षात्कारो निर्वितर्को निर्विकल्प इति चोच्यते। निर्विशेषणात्मादिसाक्षात्कारो निर्विकल्प[2] इत्याधुनिकतार्किकप्रलापस्त्वप्रामाणिक एवेति मन्तव्यम्।

निर्वितर्करूपसे दो प्रकार का है तथा विचार सविचार एवं निर्विचाररूपसे दो प्रकार का। इसका विवरण इस प्रकार है—जो भूत और इन्द्रियरूप स्थूल साक्षात्कार वितर्क कहा गया है वह यदि शब्द अर्थ और ज्ञानके विकल्पसे मिला होता है तो वह सवितर्क समापत्ति कहा जाता है और उनसे शून्य होनेपर निर्वितर्क समापत्ति कहलाता है।

अब यह बतलाया जाता है कि यह शब्द अर्थ और ज्ञानका विकल्प क्या है। 'हरि' यह शब्द है, 'हरि' यह अर्थ है और 'हरि' यह ज्ञान भी है—इस प्रकार शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीनमें जो अभेदरूपसे एकताका भ्रम हो रहा है वही पूर्वोक्त विकल्परूप शब्द अर्थ और ज्ञानका विकल्प है। इससे युक्त जो स्थूल वस्तुका साक्षात्कार है वह सवितर्क-सविकल्प कहा जाता है। तथा इससे शून्य स्थूल साक्षात्कार निर्वितर्क-निर्विकल्प कहलाता है। विशेषणशून्य आत्मा आदिका साक्षात्कार निर्विकल्प है—यह आज-कलके तार्किकोंका प्रलाप तो अप्रामाणिक ही है—ऐसा समझना चाहिये।

---

१ वितर्क इति—पा. १ पु.। सविकल्प—पा. ३ पु.।

२ निर्विकल्पक—पा. २ पु.।

अत्र[1] शब्दादिविकल्पो विकल्पसामान्योपलक्षकः, युक्तिसाम्यात्। तेन च सवितर्का समापत्तिरपरप्रत्यक्षमुच्यते, विकल्परूपाविद्यालेशसंपर्कात्। निर्वितर्का तु समापत्तिः परप्रत्यक्षमुच्यते[2], आरोपसामान्याभावात्। इति वितर्कस्य द्वैविध्यमुक्तम्।

विचारस्य द्वैविध्यमुच्यते। तन्मात्रादिप्रकृतिपर्यन्तसूक्ष्मसाक्षात्कारो यो विचार इत्युक्तः स चेत्स्वस्वविकाराणां देशकालादीनां चानुभवेन मिश्रितो भवति तदा सविचारसमापत्तिरुच्यते। तेन शून्या च निर्विचारसमापत्तिरिति।

तदित्थं संप्रज्ञातस्य भेदा उक्ताः। सर्वे च ते[3] संप्रज्ञातयोगाः सालम्बनयोगा इति सबीजयोगा इति चोच्यन्ते, ध्येयरूपालम्बनयोगात्, तदाऽपि वृत्तिबीजसंस्कारोत्पत्तेश्चेति।

यहाँ शब्दादि विकल्प सामान्यतया विकल्पमात्रको उपलक्षित करानेवाला है, क्योंकि विकल्पमात्रमें एकही-सी युक्ति है। अतः सवितर्का समापत्ति अपर प्रत्यक्ष कही जाती है, क्योंकि उसके साथ वितर्करूप अज्ञानलेशका संपर्क रहता है, और निर्वितर्का समापत्ति पर प्रत्यक्ष कहलाता है, क्योंकि उसमें इस सामान्य आरोपका अभाव है। इस प्रकार वितर्कके दो प्रकारोंका निरूपण हुआ।

अब विचारकी द्विविधता बतलाते हैं। तन्मात्रोंसे लेकर प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म तत्त्वोंका जो साक्षात्कार 'विचार' कहा जाता है, वह यदि अपने विकार देश-काल आदिके अनुभवसे मिला हुआ होता है तो सविचार समापत्ति कहलाता है और जो उससे शून्य हो उसे निर्विचार समापत्ति कहते हैं।

इस प्रकार यह सम्प्रज्ञात योगके भेदोंका निरूपण हुआ। ये सभी सम्प्रज्ञात योग सालम्बन योग हैं, इसलिये सबीज योग कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें ध्येयरूप आलम्बनका सम्बन्ध रहता है और ऐसी स्थितिमें भी वृत्तिके बीजरूप संस्कारकी उत्पत्ति हो सकती है।

---

१ न च–पा. १ पु.। २ उच्यते–इति नास्ति १ पु.।
३ सर्वे चैते–पा. २। ३ पु.।

संप्रज्ञातयोगिनः चतुर्भूमिका भवन्ति। तद्यथा प्रथमकल्पिको[1] मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्च। तत्र सवितर्कसमापत्तिमान् प्रथमः, शब्दार्थज्ञानविकल्पापरित्यागात्। निर्वितर्कसमापत्तिमान् द्वितीयः। स च ऋतंभरप्रज्ञ इत्युच्यते, तत्प्रज्ञायामसदारोपसंपर्कासंभवात्। इयं च भूमिका मधुमत्यप्युच्यते। मधुवत् तृप्तिहेतुना प्रज्ञया योगात्। ततश्च क्रमेण निर्विचारसमापत्तिनिष्ठया प्रकृतिपर्यन्तजयी तृतीयः। अस्यामेव च भूमिकायामानन्दानुगतस्य प्रवेशः। ततश्चास्मितानुगतयोगनिष्पत्तिपर्यन्तश्चतुर्थः। अस्यांश्च भूमिकाया धर्ममेघाख्यसमाधिना परिसमाप्तिर्भवति। धर्ममेघसमाधिस्तु[2] तदोच्यते यदा सिद्धि-

संप्रज्ञात योगीकी चार भूमिकाएँ

संप्रज्ञात योगीकी चार भूमिकाएँ होती हैं यथा—प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय। इनमें पहला योगी सवितर्क समापत्तिवाला होता है, क्योंकि वह शब्द अर्थ ज्ञानरूप विकल्पका त्याग नहीं करता। दूसरा निर्वितर्क समापत्तिवाला होता है। वही ऋतम्भरप्रज्ञावाला कहा जाता है, क्योंकि उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) में असत् वस्तुके आरोपका सम्पर्क होना सम्भव नहीं है। यह भूमिका मधुमती भी कही जाती है, क्योंकि इसमें मधुके समान तृप्तिकी हेतुभूता प्रज्ञासे योग हो जाता है। इसके पश्चात् निर्विचार समापत्तिकी स्थितिद्वारा प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म तत्त्वोंपर अधिकार प्राप्त कर लेनेवाला योगी तीसरी भूमिकावाला कहा जाता है। इसी भूमिकामें आनन्दानुगत समापत्तिका प्रवेश होता है। फिर अस्मितानुगत योगकी निष्पत्तिपर्यन्त चौथी भूमिका होती है। इस भूमिकाकी परिसमाप्ति धर्ममेघसंज्ञक समाधिके रूपमें होती है। धर्ममेघसमाधि उस समय कही जाती है जब

---

१ प्राथमिको—पा. २ पु.। २ श्च-पा. १ पु.।

कामनात्यागेन निरन्तरोत्पन्नात् सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिप्रवाहात् सवासनाविद्यानिवृत्त्या प्रयोजनाभावेन तस्यामपि ख्यातौ दुःखात्मिकायामलंप्रत्ययरूपं परवैराग्यं जायते यदुत्तरमसंप्रज्ञातयोग उदेतीति सर्वज्ञतादिजनकं प्रकृष्टं धर्मं मेहति वर्षतीति व्युत्पत्त्या धर्ममेघः समाधिरुच्यते। अस्यामवस्थायां जीवन्मुक्त इत्युच्यते।

नन्वेवं किं सर्वज्ञतादिकं विना जीवन्मुक्तिपरममोक्षौ न स्तः?

न न स्तः, भाष्यवाक्यात्। तद्यथा। सर्वज्ञत्वपर्यन्ताखिलयोगसिद्धिव्याख्यानानन्तरं भाष्यम्— "ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा[1]

सिद्धियोंकी कामनाएँ त्याग देनेपर निरन्तर उत्पन्न हुए पुरुष-प्रकृतिके विवेकके प्रवाहद्वारा वासनासहित अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर कोई प्रयोजन न रहनेके कारण योगीको उस दुःखात्मिका विवेकख्यातिमें भी अलंबुद्धिरूप परवैराग्य प्राप्त होता है। उसके पश्चात् असंप्रज्ञात योगका उदय होता है। इस प्रकार यह सर्वज्ञतादिको उत्पन्न करनेवाले प्रकृष्ट धर्मरूप मेघकी वर्षा करती है, इस व्युत्पत्तिसे यह समाधि धर्ममेघ कही जाती है। इस अवस्थामें योगी 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है।

प्रश्न—इस प्रकार सर्वज्ञतादिके बिना क्या जीवन्मुक्ति* और परममुक्ति✓ की प्राप्ति नहीं होतीं?

उत्तर—नहीं होतीं—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि भाष्यका ऐसा ही वचन है; जैसा कि सर्वज्ञत्वपर्यन्त सम्पूर्ण योगसिद्धियोंकी व्याख्या करनेके पश्चात् भाष्य कहता है—'ईश्वर (सिद्धियोंके सहित) हो अथवा अनीश्वर (सिद्धिसे रहित) या जिसे विवेकजनित ज्ञान प्राप्त

---

१ च–पा. २ पु.।

* जीवित रहते हुए ही पुरुषख्यातिके कारण अपनेको मुक्तरूप अनुभव करना।

✓ देहत्यागके पश्चात् प्रकृति और प्राकृत पदार्थोंसे मुक्त हो जाना।

प्राप्तविवेकजज्ञानस्येतरस्य वा न दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति सत्त्वशुद्धिद्वारेण त्वेतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम्। परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते। तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरक्लेशाः। क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः। चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य [1]दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। तत्पुरुषस्य कैवल्यम्।" (यो. भा. ३. ५५.) इति।

अत्र विवेकजज्ञानं विवेकख्यातेः सिद्धिः सर्वज्ञता पूर्वसूत्रप्रोक्ता। सत्त्वशुद्धिस्तु भुक्तवैराग्यमिति। अतः सार्वज्ञ्यादिपर्यन्तधर्ममेघसमाध्यनुत्पादेऽपि अभिमानरागद्वेषादिरूपभवबीजदाहेनैव

हो गया है ऐसा कोई अन्य पुरुष हो, इस प्रकार जिसके क्लेशके बीजोंका दाह हो गया है उस पुरुषको ज्ञानके लिये किसी और स्थिति की अपेक्षा नहीं रहती। चित्तकी शुद्धिके द्वारा ही इस समाधिजनित ऐश्वर्य और ज्ञानकी प्राप्ति बतायी गयी है। वस्तुतः तो ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है और उसके निवृत्ति होनेपर आगेके* क्लेश नहीं होते तथा क्लेश न रहनेपर कर्मोंका परिणाम नहीं होता। इस प्रकार अधिकार समाप्त हो जानेके कारण इस अवस्थामें गुण पुरुषके दृश्यरूपसे सामने नहीं आते। यही पुरुषका कैवल्य है।

यह जो विवेकज ज्ञान है वह पूर्वसूत्रमें कही हुई विवेकख्यातिकी सर्वज्ञतारूप सिद्धि है और भोगी हुई वस्तुओंके प्रति वैराग्य होना ही चित्तकी शुद्धि है। अतः सर्वज्ञतादिपर्यन्त धर्ममेघ समाधिकी उत्पत्ति न होनेपर भी अभिमान एवं राग-द्वेषादि संसारके बीजोंका दाह हो जानेके

---

१ ज्ञेयत्वे—पा. १ पु.।

* अविद्यासे आगेके अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश संज्ञक चार क्लेश।

मुक्तिद्वयमिति सांख्यसिद्धान्तोऽत्राप्यनुमतः[1]। असंप्रज्ञातयोगस्तु अखिलवासनाक्षयेण प्रारब्धातिक्रमद्वारा झटिति स्वेच्छया मोक्ष एवोपयुज्यते न तु नियमेनेति प्रागेवोक्तम्। इति संप्रज्ञातः प्रपञ्चितः।

इदानीमसंप्रज्ञातः प्रपञ्च्यते। असंप्रज्ञातयोगो द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। शास्त्रोक्तोपायानुष्ठानादिहैव लोके योऽसंप्रज्ञातो जायते स उपायप्रत्ययः, प्रत्ययशब्दस्य कारणवाचित्वात्। उपायाश्च श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञारूपा इति (यो. १. २०,) सूत्रेणोक्ताः। तत्र श्रद्धा योगे प्रीतिः। वीर्यं चित्तस्य धारणा। स्मृतिर्ध्यानम्। समाधिर्योगस्य चरमाङ्गम्।

कारण ही दोनों प्रकारकी मुक्तियाँ हो सकती हैं—इसप्रकार यहाँ भी सांख्यके सिद्धान्तसे भाष्यका एक ही मत है। किन्तु यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है कि असंप्रज्ञात योग तो सम्पूर्ण वासनाओंके क्षय-द्वारा प्रारब्धका भी अतिभ्रमण करके स्वेच्छासे तत्काल ही मोक्ष दिलानेमें उपयोगी है, उसमें किसी नियमकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात योगकी व्याख्या हुई।

असंप्रज्ञात योग

अब असंप्रज्ञात योगकी व्याख्या की जाती है। असंप्रज्ञात योग दो प्रकारका है। उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय। शास्त्रोक्त उपायोंके अनुष्ठानद्वारा जो असंप्रज्ञातयोग इस लोकमें ही प्राप्त होता है वह उपाय-प्रत्यय कहा जाता है। यहाँ 'प्रत्यय' शब्द कारणवाची है। उपाय श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञारूप हैं—इस प्रकार प्रथमपादके बीसवें सूत्रमें बताये गये हैं। इनमें श्रद्धाका अर्थ है योगमें प्रीति होना, वीर्य चित्तकी धारणाको कहते हैं, स्मृति ध्यानका नाम है, समाधि योगका अन्तिम अंग है और प्रज्ञा संप्रज्ञातयोगजनित साक्षात्कारको

---

१ अनुमन्तव्यः—पा. २ पु.। उपपादितः—पा. ३ पु.।

प्रज्ञा संप्रज्ञातयोगजन्यसाक्षात्कारः। एतानि क्रमेण वक्ष्यमाण-परवैराग्यद्वारेण असंप्रज्ञातस्योपाया भवन्ति। तेषां चोपाया-नामतिशीघ्रतीव्रतरानुष्ठानादासन्नतरोऽसंप्रज्ञातपर्यन्तयोगस्तत्फलं मोक्षश्च भवति। उपायानुष्ठानमान्द्येऽपि चेश्वरप्रणिधानादासन्नतरौ तौ भवतः, परमेश्वरप्रणिधानेन तदनुग्रहादिति।

अथ क ईश्वरः किं वा तत्प्रणिधानम्?

उच्यते। अविद्यादिपञ्चक्लेशैर्धर्माधर्मैस्तद्विपाकैः संस्कार-सामान्यैश्च कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। स च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र. १. १. १.) इत्यादिवेदान्तसूत्रैरशेष-विशेषतो मीमांसितः। अतोऽत्र दिङ्मात्रेणोच्यते। तस्य साम्यातिशयशून्यमैश्वर्यं सार्वज्ञ्यं च, स च सर्वेषां ब्रह्मविष्णु-

कहते हैं। ये सब आगे बताये जानेवाले पर वैराग्यके द्वारा क्रमशः असंप्रज्ञात योगके कारण होते हैं। इन उपायोंके अत्यन्त शीघ्र और तीव्रतर अनुष्ठानके द्वारा असंप्रज्ञातयोग और उसका फल मोक्ष अत्यन्त समीप हो जाते हैं। तथा इन उपायोंके अनुष्ठानमें शिथिलता रहनेपर भी ईश्वरप्रणिधानके द्वारा वे समीपतर हो सकते हैं, क्योंकि परमा-त्माकी भक्ति होनेपर उनका अनुग्रह होता है।

ईश्वर और ईश्वरप्रणिधान

प्रश्न—अच्छा तो, यह ईश्वर कौन है और उसका प्रणिधान क्या है?

उत्तर—बतलाते हैं। अविद्यादि पांच क्लेश, धर्म-अधर्म और और उनके परिणाम तथा संस्कारमात्रसे जो तीनों कालोंमें अस्पृष्ट है उस पुरुषविशेषका नाम ईश्वर है। उसका 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि वेदान्तसूत्रों द्वारा सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित विचार किया गया है। अतः यहाँ उसका केवल संकेतमात्र वर्णन किया जाता है। उसके ऐश्वर्य और सर्वज्ञतासे किसीके भी ऐश्वर्य और सर्वज्ञताकी

हरादीनामपि गुरुः पिता, अन्तर्यामिविधया वेदादिद्वारा[1] च ज्ञानचक्षुःप्रदश्च ; तस्य प्रणवो नाम ; प्रणवपूर्वकं च तदनुचिन्तनं साक्षात्कारपर्यवसायि प्रणिधानमिति। परमेश्वरे संयमोऽसंप्रज्ञात-पर्यन्तयोगे मोक्षे च मुख्यकल्पः, आसन्नतरतासंपादनात् ; जीवात्मसंयमस्तु तत्रानुकल्प इति सिद्धम्। किं च, ईश्वरप्रणि-धानाद्व्याध्यादिरूपा योगस्यान्तराया अपि न भवन्ति। अतोऽपि तदेव मुख्यकल्प इति। तथा चास्य मुख्यकल्पत्वं स्मर्यते—

"तस्मान्मुमुक्षोः सुसुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः।
चित्तेन चिन्तयन्नेव वञ्च्यते ध्रुवमन्यथा ॥" इति।

तदेवमुपायप्रत्ययो व्याख्यातः।

समानता या विशेषता नहीं है। वह ब्रह्मा विष्णु और महादेव आदि सभीका गुरु और पिता है, क्योंकि अन्तर्यामी होनेके कारण तथा वेदादिके द्वारा भी वही उन्हें ज्ञाननेत्र प्रदान करनेवाला है। प्रणव उसका नाम है, अतः प्रणवपूर्वक उसका निरन्तर चिन्तन ही साक्षात्कार-रूपमें सम्पूर्ण होनेवाला ईश्वरप्रणिधान है। अतः परमेश्वरमें संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करना असंप्रज्ञात योग और मोक्षका मुख्य साधन है; क्योंकि इससे उनकी अत्यन्त समीपता हो जाती है। जीवात्मामें संयम करना तो इसका गौण साधन है—यह बात सिद्ध ही है। इसके सिवा ईश्वरप्रणिधानसे व्याधि आदि योगके विघ्न भी नहीं होते। इसलिये भी वही मुख्य साधन है। तथा इसकी मुख्य साधनताके विषयमें यह स्मृति भी है—

'अतः मुमुक्षुके लिये भगवान् श्री विष्णुका आश्रय बड़ा सुखमय मार्ग है। बस, चित्तसे उनका चिन्तन ही करता रहे। नहीं तो निश्चय ही धोखा खायगा।'

इस प्रकार उपायप्रत्ययकी व्याख्या हुई।

---

1 वरादिद्वारा—पा. ३ पु.।

अथ भवप्रत्ययो व्याख्यायते। प्राग्भवीयसाधनानुष्ठानाद्दौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याभ्यामिच्छामात्रेण योऽसंप्रज्ञातो विदेहप्रकृतिलयानां देवताविशेषाणां जायते स भवप्रत्यय उच्यते, जन्ममात्रकारणकत्वात्। यथा हिरण्यगर्भादीनां योगनिद्रादिकम्। तत्र विदेहा नाम स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनाखिलव्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादयः। ये तु प्रकृत्युपासनया तच्छबलपरमेश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं भित्त्वा महत्तत्त्वपर्यन्तावरणान्यतीत्य प्रकृत्यावरणं गता ईश्वरकोटयस्ते प्रकृतिलयाः उच्यन्त इति।

संप्रज्ञातयोगस्य तु भवप्रत्ययरूपविशेषो न संभवति, धारणाध्यानसमाधीनां संप्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गत्वेन तेषां निष्पत्तौ तस्मिन्नेव जन्मनि संप्रज्ञातावश्यंभावात्। अतः संप्रज्ञाते उपायप्रत्ययभवप्रत्ययविभागः सूत्रभाष्ययोर्न कृत इति।

अथ भवप्रत्यय की व्याख्या की जाती है। पूर्वजन्मोंमें साधनोंका अनुष्ठान करनेसे जो विदेह और प्रकृतिलयसंज्ञक देवताविशेषोंको जन्मसिद्ध ज्ञान और वैराग्यके कारण इच्छामात्रसे ही असंप्रज्ञात योग प्राप्त हो जाता है वह भवप्रत्यय कहा जाता है, क्यों कि उसका कारण जन्ममात्र होता है, जैसे कि हिरण्यगर्भादिको योगनिद्रादि प्राप्त हैं। जो स्थूल देहके विना केवल लिंग देहसे ही व्यापार करनेमें समर्थ हैं वे हिरण्यगर्भादि 'विदेह' कहलाते हैं। और जो प्रकृति या प्रकृतिविशिष्ट परमात्माकी उपासनाके कारण ब्रह्माण्डका भेदन कर महत्तत्त्वपर्यन्त सम्पूर्ण आवरणोंको पार करके प्रकृतिके आवरणमें पहुँच गये हैं वे ईश्वरकोटिके पुरुष 'प्रकृतिलय' कहे जाते हैं।

संप्रज्ञात योगका भवप्रत्ययरूप भेद नहीं हो सकता, क्योंकि धारणा ध्यान और समाधि संप्रज्ञातयोगके अन्तरंग साधन हैं, अतः उनके पूर्ण होनेपर उसी जन्ममें संप्रज्ञात योग अवश्य प्राप्त हो जाता है। इसीसे सूत्र और भाष्यमें संप्रज्ञातयोगके उपायप्रत्यय और भवप्रत्ययरूप विभाग नहीं किये।

, स च द्विविधोऽप्यसंप्रज्ञातो ध्येयाभावान्निरालम्बनयोग उच्यते। अभ्यस्यमानश्च क्रमेणाखिलसंस्कारदाहकत्वान्निर्बीज-योग उच्यते।

असंप्रज्ञातयोगो हि निरोधरूपोऽपि नवनवसंस्कारातिशय-मभ्यासाज्जनयति, येन संस्कारतारतम्येन दिनपक्षमासादि-पर्यन्तकालवृद्धिः क्रमेण योगस्य भवति। स संस्कारो यथा यथाऽतिशेते तथा तथा तत्त्वज्ञानपर्यन्ताखिलवृत्तिसंस्कारांस्तनू-करोति। एवं क्रमेण चरमासंप्रज्ञातेऽखिलसंस्कारदाहो भवति। ततः प्रारब्धमपि कर्म न स्वविपाकसमाप्तौ समर्थम्, भोग-संस्कारसहकार्यभावात् 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (बृ. ४. ४. २.) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायैर्जन्मादिविपाके पूर्वप्रज्ञाशब्दोक्तस्य प्राग्भवीयभोगसंस्कारस्य विद्याकर्मसहका-

यह असंप्रज्ञात योग दो प्रकारका होनेपर भी ध्येयका अभाव रहने के कारण निरालम्बयोग कहलाता है। तथा अभ्यास किया जानेपर क्रमशः सम्पूर्ण संस्कारोंका दाह करनेवाला होनेसे निर्बीज योग भी कहा जाता है।

असंप्रज्ञातयोग निरोधरूप होनेपर भी अभ्यासके द्वारा नवीन-नवीन संस्काररूप अतिशय (विशेषता) उत्पन्न करता है, जिससे कि संस्कारके तारतम्यानुसार योगकालकी क्रमशः दिन, पक्ष और मासादि-पर्यन्त वृद्धि हो जाती है। वह संस्कार जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे ही तत्त्वज्ञानपर्यन्त वृत्तिके सभी संस्कारोंको तनु (मंद) कर देता है। इस प्रकार क्रमशः असंप्रज्ञातकी चरमावस्था आनेपर सभी संस्कारोंका दाह हो जाता है। तब प्रारब्ध कर्म भी अपने भोगको पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं रहता, क्योंकि भोगके सहकारी संस्कारोंका अभाव हो जाता है, कारण कि 'उसके प्रति विद्या और कर्म उपस्थित होते हैं तथा पूर्व-प्रज्ञा भी' इत्यादि श्रुति स्मृति और युक्तिसे जन्मादि भोगमें 'पूर्वप्रज्ञा' शब्दसे कहे हुए पूर्व जन्मके भोगसंस्कार विद्या और कर्मके सहकारी

रित्वसिद्धेः। ततश्चरिताधिकारं चित्तं प्रारब्धकर्मणा निरोध-संस्कारैश्च सह स्वकारणेऽत्यन्तं लीयते। या चेयं चित्तस्य महानिद्रा, इयमेव पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिको दुःखात्मकाखिल-दृश्यवियोगः, चित्तद्वारैव पुरुषस्य दृश्यरूपद्वितीयसंबन्धादिति। तथा च स्मर्यते—

"मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः।" इति।

तत्त्वज्ञानमात्रान्मोक्षे तु प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरं तत्त्वज्ञान-संस्कारोऽपि चित्तेन सहैव नश्यतीति विशेषः। इदमत्रावधेयम्। ज्ञानं योगश्चोभयमपि व्यापारभेदात्स्वातन्त्र्येण मोक्षकारणमत्र शास्त्रे विवक्षितम्। गीतादिषु चोक्तम्—

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥"
(गी. ५. ५.)

सिद्ध होते हैं। फिर तो अधिकार समाप्त हो जाने के कारण चित्त प्रारब्धकर्म और निरोध संस्कारोंके सहित अपने कारणमें सर्वथा लीन हो जाता है। यह जो चित्तकी महानिद्रा है वही पुरुषका कैवल्य—दुःखात्मक सम्पूर्ण दृश्यका आत्यन्तिक वियोग है, क्योंकि चित्तके द्वारा ही पुरुषको दृश्यरूप दूसरी वस्तुका सम्बन्ध होता है। ऐसी स्मृति भी है—'मनका अभ्युदय ही [आत्माका] नाश है और मनका नाश ही [आत्माका] अभ्युदय है।'

जहाँ तत्त्वज्ञानमात्र से मोक्ष माना जाता है वहाँ इतना अन्तर रहता है कि प्रारब्ध समाप्तिके अनन्तर चित्तके साथ ही तत्त्वज्ञानके संस्कारका भी नाश होता है। यह बात यहाँ ध्यानमें रखनी चाहिये कि यहाँ शास्त्रमें ज्ञान और योग दोनों हीको व्यापारभेदसे स्वतन्त्रतापूर्वक मोक्षका कारण बतलाना अभीष्ट है। गीताआदिमें भी 'सांख्यके द्वारा जो स्थान प्राप्त होता है उसपर योगसे भी पहुँच सकते हैं। जो पुरुष सांख्य और योगको एक देखता है वही [वास्तवमें] देखता है।'

इत्यादिभिः । सांख्यं विवेकसाक्षात्कारः । योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः । अतः केवलज्ञानेन मोक्षे जनयितव्येऽभिमाननिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्त एव संप्रज्ञातोऽपेक्ष्यते न तु वृत्त्यन्तरवासनाक्षयाद्यर्थं पुनः संप्रज्ञातपरम्पराऽपि, प्रारब्धसमाप्तौ सत्यां ज्ञानवासनावत्[1] इतरवासनानामपि चित्तेन सहैव विनाशादिति दिक् ।

इत्यादि वाक्य से यही बात कही है । सांख्य विवेकजनित साक्षात्कार है और योग चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है । अतः जब मोक्ष केवल ज्ञानसे उत्पन्न होता है तो वहाँ अभिमानकी निवृत्ति करनेवाले आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त ही संप्रज्ञात योगकी अपेक्षा होती है, अन्य वृत्तियों और वासना आदिके क्षयके लिये सम्प्रज्ञातयोगकी परम्पराकी भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि [उस सिद्धान्तके अनुसार तो] प्रारब्धकी समाप्ति होनेपर ज्ञानकी वासनाके समान अन्य वासनाओंका भी चित्तके साथ ही नाश हो जाता है—यह बात यहाँ दिखायी गयी ।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे[2] योगस्वरूपस्य तत्प्रयोजनस्य च निरूपणं प्रथमोंऽशः ।

---

१ संप्रज्ञातवासनावत्—पा. २ पु. । २ योगसारे—पा. २–३ पु. ।

अथ द्वितीयोंऽशः ।

योगस्य स्वरूपं निरूपितम् । इदानीं योगस्य साधनानि वक्ष्यामः । तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढरूपाः । तेषां त्रिविधानि साधनानि सूत्रभाष्याभ्यामुक्तानि । तेषु मन्दमध्यमयोः साधनान्यग्रे वक्ष्यामः सौत्रक्रमात् । उत्तमाधिकारिणस्तु सौत्रक्रमेणैवादावुच्यन्ते ।

उत्तमाधिकारिणस्त एव ये पूर्वभवानुष्ठितबहिरङ्गसाधनतया तन्नैरपेक्ष्येणैव योगारूढाः । यथा जडभरतादयः । तेषां योगनिष्पत्तावभ्यासवैराग्ये एव मुख्यसाधनम् । न तु वक्ष्यमाणः क्रिया-

द्वितीय अंश

योगके साधन

योगके स्वरूपका निरूपण किया गया, अब हम योगके साधनोंका वर्णन करेंगे । योगके मन्द, मध्यम और उत्तम भेदसे आरुरुक्षु, युञ्जान और योगारूढरूप तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं । उनके सूत्र और भाष्य द्वारा तीन ही प्रकारके साधन बताये गये हैं । उनमें मन्द और मध्यम अधिकारियोंके साधन तो सूत्रोंके क्रमानुसार हम आगे कहेंगे । पहले सूत्रोंके क्रमसे ही उत्तम अधिकारीके साधन बताये जाते हैं ।

उत्तम अधिकारी तो वे ही हैं जो पूर्वजन्मोंसे अनुष्ठान किये हुए बहिरंग साधनोंके कारण अब उनकी अपेक्षाके बिना ही योगारूढ हो गये हैं, जैसे कि जडभरत आदि । उनके योगसम्पादनमें अभ्यास और वैराग्य ही मुख्य साधन हैं । उनके लिये आगे बतलाये जाने वाले

योगी वक्ष्यमाणानि योगबहिरङ्गाणि वाऽऽवश्यकानि, 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (यो १. १२.) इति सूत्रात् सोपकरणे अभ्यासवैराग्ये व्याख्याय [1]"उपदिष्टः समाहितचित्तस्य योगः ; कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदर्थमिदमारभ्यते" इत्येव भाष्यकृता क्रियायोगादिरूपसाधनसूत्राणामवतारणाच्च । तथा,

" आरुरुक्षुयतीनां च कर्मज्ञाने उदाहृते ।
आरूढयोगवृक्षाणां ज्ञानत्यागौ परौ मतौ ॥"

इति गारुडाच्च । जडभरतादीनां तथैवाचाराच्च ।

त्यागोऽत्र प्रकृतत्वाद्योगान्तरायस्य कर्मणः । तदुक्तं मोक्षधर्मे—

क्रियायोग अथवा योगके बहिरंग साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि भाष्यकारने 'अभ्यास और वैराग्य द्वारा उस चित्तका निरोध होता है।' इस सूत्र द्वारा साधन सामग्रीके सहित अभ्यास और वैराग्यकी व्याख्या कर फिर क्रिया योगादि साधनोंका प्रतिपादन करने-वाले सूत्रोंकी इस प्रकार अवतारणा (भूमिका) की है—'समाहित चित्त पुरुषके योगका तो उपदेश हो चुका, अब इस उद्देश्यसे कि व्युत्थितचित्त पुरुष भी किस प्रकार योगयुक्त हो सकता है यह (आगेका प्रकरण) आरम्भ किया जाता है।' तथा गरुड पुराणमें भी कहा है—'आरुरुक्षु यतियोंके लिये तो कर्म और ज्ञान बताये गये हैं। और जो योगवृक्षपर आरूढ़ हो चुके हैं उनके लिये तो ज्ञान और त्याग ही श्रेष्ठ माने गये हैं।' तथा जडभरत आदिने भी ऐसा ही आचार किया था।

'त्याग' शब्दसे यहाँ प्रकरणके अनुसार योगके विघ्नस्वरूप कर्मोंका त्याग समझना चाहिये। मोक्ष धर्ममें कहा भी है—'जीव कर्मसे

---

1 उद्दिष्टः—पा. २ । ३ । पु. ।

"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च[1] विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥"

इति । अनुगीतायां च—

"अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः ।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारीति कथ्यते ॥
ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्म विष्टरः ।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥" इति ।

गारुडे च—

"आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः ।
विलम्बजननाः सर्वे विस्तराः परिकीर्तिताः ।
शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात् ॥" इति ।

अत्र बाह्यकर्मणामेव योगान्तरायत्वात्[2] त्यागो विवक्षितो न त्वान्तरस्य ।

बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, इसलिये पारदर्शी यतिजन कर्म नहीं करते ।' अनुगीतामें भी कहा है—'जो व्रत और कर्मोंसे रहित केवल ब्रह्ममें ही स्थित है, वह ब्रह्मभूत पुरुष लोकमें व्यवहार करते हुए भी 'ब्रह्मचारी' कहा जाता है । ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही आसन है, ब्रह्म ही जल है और ब्रह्म ही गुरु है । इस प्रकार वह ब्रह्ममें ही समाहित है ।' गरुड पुराणमें भी कहा है—'आसन और स्थानकी विधियाँ योगको सिद्ध करानेवाली नहीं हैं । जितने भी विस्तार हैं वे सब उसमें देरी करनेवाले ही बताये गये हैं । शिशुपालने तो स्मरणके अभ्यासकी अधिकतासे ही मोक्ष प्राप्त कर लिया था' ।

योगके विघ्न होनेके कारण यहाँ बाह्य कर्मोंका ही त्याग बतलाना अभीष्ट है आन्तर कर्मोंका नहीं, क्योंकि मनु आदि स्मृतियोंमें 'कोई

---

१ तु—पा. २ । ३ पु. । २ योगान्तरायतया—पा. १ । २ पु. ।

"एतानेके महायज्ञान्योगशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥"

इति [1]मन्वादिष्वनीहमानस्यापि योगिनोऽन्तर्यागविधानात्, आवश्यकभिक्षाटनस्नानादावन्तर्यागस्याविक्षेपकत्वेन फलेच्छाभिमानशून्यत्वेन च योगिनामबन्धकत्वाच्चेति दिक् ।

योगस्योत्तमाधिकारी च योगारूढो गीतायां लक्षितः—

"यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥" (गी.६.४.)

इति । योगारूढस्य च पारमहंस्येन योगाभ्यासो राजमार्गः, 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ. ४. ४.), 'ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ

पुरुष योग शास्त्रके ज्ञाता होने पर भी बाहरसे निश्चेष्ट रहकर इन महायज्ञोंका अपनी इन्द्रियोंमें ही निरन्तर हवन करते रहते हैं' इत्यादि वाक्योंद्वारा कर्मत्यागी योगीके लिये भी आन्तर यागोंका विधान किया है, कारण कि आन्तर याग [शरीर निर्वाहके लिये] आवश्यक भिक्षाटन और स्नान आदिमें विक्षेप करनेवाले नहीं हैं तथा फलकी इच्छा और अभिमानसे शून्य होनेके कारण योगियोंके लिये बन्धनके कारण भी नहीं हैं।

योगके उत्तम अधिकारी योगारूढका गीतामें इस प्रकार लक्षण किया है—'जब पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंमें तथा कर्मोंमें आसक्त नहीं होता और सब प्रकारके संकल्पोंको त्याग देता है तब योगारूढ कहा जाता है।' इस योगारूढके लिये भी संन्यासपूर्वक योगका अभ्यास करना राजमार्ग है, क्यों कि 'इसी लोककी इच्छा करते हुए परिव्राजक लोग संन्यास ग्रहण करते हैं' पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे

---

१ मन्त्रा—पा. पु ।

भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ. ३. ५.), 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृ. ४. ४.) इत्यादि श्रुतिस्मृत्योस्तद्दर्शनादिति।

तत्राभ्यासश्चित्तस्य स्थितौ यत्नः। स्थितिश्च योगचरमाङ्गसमाधिर्निश्चलैकाग्रताधारारूपः,

"श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥"
(गी. २. ५२.)

इति गीतादिभ्यः। तस्यां स्थितौ यत्नः तदर्थः प्रयासो ध्येयाद्बहिर्गच्छतश्चित्तस्य पुनः पुनरानयनम्। तदुक्तं गीतायाम्—

"यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥"
(गी. ६. २६.) इति।

ऊपर उठकर भिक्षाचर्या करते हैं' एवं 'अतः ऐसा जाननेवाला पुरुष शान्त, जितेन्द्रिय, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर अपनेमें ही आत्माका साक्षात्कार करे' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे यही बात देखी गयी है।

उन [अभ्यास और वैराग्य] में चित्तको स्थितिमें रखनेका प्रयत्न अभ्यास है। यह स्थिति योगका अन्तिम अङ्ग समाधि है, जो निश्चल एकाग्रताकी धारारूप है। ऐसा ही गीताजी आदिसे भी सिद्ध होता है—'जिस समय श्रुतिवाक्योंद्वारा डावाँ-डोल हुई तेरी बुद्धि निश्चल होकर समाधिमें अचल भावसे ठहर जायगी उस समय तू योग प्राप्त कर लेगा।' उस स्थितिमें प्रयत्न—उसके लिये परिश्रम करना अर्थात् ध्येयसे बाहर जाते हुए चित्तको बार बार खींचकर लाना ही अभ्यास है। यही गीतामें भी कहा है—'यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ निकलकर जाय इसे वहीं वहीं से रोककर आत्माके ही अधीन कर दे।'

" वैराग्यं च अलंबुद्धिः, न तु रागाभावमात्रम्, विषयासांनिध्यादिना रागाभावे विरक्तत्वापत्तेः। तच्च वैराग्यं द्विविधं परमपरं च।

तत्रार्जनरक्षणक्षयहिंसाद्यनन्तदोषदर्शननिमित्तकमैहिकामुष्मिकविषयेषु वैतृष्ण्यमपरं वैराग्यम्। तदपि चतुर्विधं यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति। तत्र वैराग्यसाधनस्य दोषदर्शनस्याभ्यासो यतमानसंज्ञानाम्नी वितृष्णवैराग्यस्य प्रथमभूमिका। ततो जितान्येतानीन्द्रियाणि[1] तानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणावस्था व्यतिरेकसंज्ञा। ततश्च बाह्येन्द्रियविषयेषु रूपादिषु रागादिक्षये सति, एकस्मिन्नेव मनसि मानावमानादिविषयकरागद्वेषादिनिरसनमेकेन्द्रियसंज्ञा।

विषयोंमें अलंबुद्धि (पर्याप्तबुद्धि) का नाम वैराग्य है; यह रागका अभावमात्र नहीं है, क्योंकि फिर तो विषयों की सन्निधि आदि न होनेसे भी रागका अभाव होनेके कारण विरक्ति मान ली जायगी। और वह वैराग्य दो प्रकार का है--पर एवं अपर।

उपार्जन, रक्षण, क्षय और हिंसा आदि अनन्त दोषोंको देखनेके कारण जो लौकिक और पारलौकिक विषयोंमें तृष्णाका अभाव हो जाना है वह अपर वैराग्य है। वह भी चार प्रकारका है---यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा। सो, वैराग्यके साधनभूत दोषदर्शनका अभ्यास ही यतमान संज्ञा नामकी वितृष्णा है, जो वैराग्यकी प्रथम भूमिका है। फिर 'ये इन्द्रियाँ तो जीत लीं और वे अभी जीतनी हैं'---इस प्रकार व्यतिरेकनिश्चयकी अवस्था व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्य है। तदनन्तर बाह्य इन्द्रियोंके विषय रूपादिमें रागादिका अभाव हो जानेपर एकमात्र मनमें ही स्थित मानापमानविषयक राग-द्वेषादिको निकालते रहना एकेन्द्रियसंज्ञा वैराग्य है। अन्तमें

---

१ जितानीन्द्रियाणि---पा. २। ३ पु.।

ततश्च विषयस्य मानावमानादेश्च सांनिध्यकालेऽपि सर्वेन्द्रियाणां चित्तस्य चाक्षोभो वशीकारसंज्ञेति। सर्वत्र संज्ञाशब्दोऽभिव्यक्त्यर्थः। तेन स्फुटता लभ्यते। एतेषु चतुर्विधवैराग्येषु[1] वशीकारसंज्ञैव योगारूढस्यानुष्ठेया, पूर्वस्य वैराग्यत्रयस्य युञ्जानावस्थायामेव सिद्धत्वादिति।

अपरं वैराग्यनुक्तम्। परं वैराग्यमुच्यते। आत्मानात्मविवेकसाक्षात्कारादनात्मत्वदृष्ट्या, ज्ञानफलस्य वाऽविद्यानिवृत्तेः सिद्धया, तत्त्वज्ञानपर्यन्तेषु सर्वदृश्येषु पूर्वोत्पन्नदोषदर्शनेनैव दोषान्तरदर्शननिरपेक्षेणालंबुद्धिः परं वैराग्यम्। एतदनन्तरमेव मोक्षस्यावश्यकतयाऽस्य परत्वमिति।

अभ्यासवैराग्ये व्याख्याते। एतयोश्च मध्ये वैराग्येण

इन्द्रियोंके विषय और मानापमानादिके सम्मुख रहनेके समय भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंका और मनका क्षोभहीन रहना वशीकारसंज्ञा वैराग्य है। यहाँ 'संज्ञा' शब्द सभी जगह अभिव्यक्तिके अर्थमें है। इससे [उन उन स्थितियोंकी] अभिव्यक्ति सूचित होती है। इन चार प्रकारके वैराग्योंमेंसे योगारूढको केवल वशीकारसंज्ञा वैराग्यका ही अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि पहले तीन वैराग्य तो युञ्जान अवस्थामें ही सिद्ध हो जाते हैं।

उपर वैराग्यका वर्णन हुआ। अब पर वैराग्य बतलाते हैं—आत्मा और अनात्माके विवेकका साक्षात्कार हो जानेसे अनात्मत्व-दृष्टिके द्वारा अथवा ज्ञानकी फलस्वरूप अविद्यानिवृत्तिकी निष्पत्तिद्वारा तत्वज्ञानपर्यन्त सभी दृश्योंमें, अन्य दोषदर्शनके बिना केवल पूर्वोत्पन्न दोष दृष्टिसे ही, अलंबुद्धि हो जाना पर वैराग्य है। इसके पश्चात् ही मोक्ष अवश्यम्भावी है, इसीसे इसे पर माना गया है।

[इस प्रकार] अभ्यास और वैराग्यकी व्याख्या हुई। इनमें

---

1 वैराग्यमध्ये—पा. २। ३ पु.।

विषयवृत्तिः कुण्ठीक्रियते, ध्येयगोचराभ्यासेन यद्धयेयाकार-वृत्तिप्रवाहो बलवान्दृढः क्रियत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध इति।

इदानीमभ्यासस्यान्तरङ्गं साधनं परिकर्मादिकमुच्यते। परिकर्मशब्देन च स्थितिहेतुश्चित्तसंस्कार उच्यते, 'परिकर्माङ्ग-संस्कारः' इति 'परिकर्म प्रसाधनम्' इति चानुशासनात्।

तत्र चित्तप्रसाद एकं परिकर्म। प्रसादश्च विषयकालुष्य-राहित्यम्। प्रसादे च हेतवः—सुखितेषु मैत्री, दुःखितेषु करुणा, पुण्यशीलेषु हर्षः, पापशीलेषूपेक्षा। इत्येवमादयो रागद्वेषनिवर्तनोपायाः। तदुक्तं गीतायाम्—

वैराग्यके द्वारा विषयवृत्ति कुण्ठित होती है और ध्येयविषयक अभ्याससे जो वृत्तिका ध्येयाकार प्रवाह है वह बलवान् और सुदृढ़ हो जाता है; अतः चित्तवृत्तियोंका निरोध इन दोनों ही के अधीन है।

अभ्यासके अन्तरङ्ग साधन

अब अभ्यास के अन्तरंग साधन परिकर्मादिका वर्णन किया जाता है। 'परिकर्म' शब्दसे स्थितिका हेतुभूत चित्तसंस्कार कहा जाता है क्योंकि 'परिकर्म अङ्गसंस्कारको कहते हैं' तथा 'परिकर्मका अर्थ प्रसा-धन (सजावट) है' ऐसा कोशकारोंका आदेश है।

सो, चित्तप्रसाद एक परिकर्म है। प्रसादका अर्थ है विषयकी मलिनतासे शून्य होना। प्रसादके हेतु हैं—सुखियोंके प्रति मित्रताका भाव, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यवानोंके प्रति हर्ष और पापियोंके प्रति उपेक्षा। ये तथा और भी ऐसे ही राग-द्वेषकी निवृत्ति करनेवाले उपाय [प्रसादके साधन हैं]। गीताजी में कहा है—'संयतात्मा पुरुष

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु[1] विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥"

(गी. २. ६४, ६५.)

इति । प्राणायामश्च चित्तप्रसादस्य द्वितीय उपाय इति ।

परिकर्मान्तरं[2] च विषयवती प्रवृत्तिः । विषया गन्धादयस्तन्मात्ररूपाः । अल्पेनाभ्यासयोगेन तत्साक्षात्कारो विषयवती प्रवृत्तिरुच्यते । तत्र नासाग्रे चित्तधारणयाऽल्पेनैव कालेन जायते या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः । एवं जिह्वाग्रे रससंवित् । तालुनि रूपसंवित् । जिह्वाया मध्ये स्पर्शसंवित् । जिह्वामूले शब्दसंवित् । एतत्सर्वं शास्त्रप्रामाण्यादवधारणीयम् । एतासां च प्रवृत्तीनां विवेकपर्यन्तयोगभूमिषु श्रद्धातिशयद्वारा

अपने अधीन एवं राग-द्वेषशून्य इन्द्रियोंसे विषयोंमें वर्तता हुआ चित्तप्रसाद प्राप्त कर लेता है। चित्तका प्रसाद होनेपर उसके सब दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है। तथा उस प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि तत्काल ही स्थिर हो जाती है।' चित्त प्रसादका दूसरा उपाय है प्राणायाम।

एक अन्य परिकर्म है विषयवती प्रवृत्ति। विषय है तन्मात्ररूप गन्धादि। थोड़ेसे योगाभ्यासके द्वारा उनका साक्षात्कार हो जाना विषयवती प्रवृत्ति कही जाती है। नासाग्रमें चित्तकी धारणा करनेसे जो थोड़े ही समयमें दिव्य गन्धका ज्ञान होता है उसे गन्धप्रवृत्ति कहते हैं। इसी प्रकार जिह्वाग्रमें रससंवित्, तालुमें रूपसंवित्, जिह्वाके मध्यभागमें स्पर्शसंवित् और जिह्वाके मूलमें धारणा करनेसे शब्दसंवित् होती है। यह सब शास्त्रप्रामाण्यसे निश्चय कर लेना चाहिये। ये प्रवृत्तियाँ विवेकज्ञानकी प्राप्तिपर्यन्त योगकी सभी भूमिकाओंमें श्रद्धाकी वृद्धिके द्वारा

---

१ विमुक्तैस्तु—पा. २ पु. । २ परिकर्मोत्तरं—पा. २ पु. ।

चित्तस्थैर्यहेतुत्वम् । स्थैर्यसंस्कारद्वारा चैकस्य[1] हि शास्त्रीयार्थस्य साक्षात्कारे सति सर्वत्रैव शास्त्रार्थे श्रद्धावृद्ध्या स्थैर्यसंस्कारेण च चित्तस्थैर्यं युक्तमिति ।

तृतीयं परिकर्म विशोका ज्योतिष्मती । विगतः शोको यस्यामिति विशोका । यतश्च विशोका, अतो ज्योतिष्मतीनाम्नी प्रवृत्तिश्चित्तस्थैर्यहेतुर्भवति । ज्योतिष्मती च द्विविधा प्रवृत्तिः— बुद्धिसाक्षात्कारो विविक्तपुरुषसाक्षात्कारश्च । तयोश्च प्रकाशबाहुल्यात्तद्विषयकप्रवृत्त्योर्ज्योतिष्मतीत्वम् । नन्वात्मसाक्षात्कारानन्तरं चित्तस्थैर्यस्य किं प्रयोजनम्, अविद्यानिवृत्त्या कृतकृत्यत्वादिति चेन्न । जातेऽप्यात्मसाक्षात्कारेऽखिलसंस्कारदाहकासं-

चित्तकी स्थिरतामें कारण होती हैं । स्थिरताके संस्कारोंद्वारा जब किसी एक शास्त्रीय पदार्थका साक्षात्कार हो जाता है तो श्रद्धा बढ़ जानेसे स्थिरताके संस्कारोंद्वारा चित्तका सभी आलम्बनोंमें स्थिर हो जाना उचित ही है ।

तीसरा परिकर्म है विशोका ज्योतिष्मती । जिसमेंसे शोक विगत हो गया हो उसे विशोका कहते हैं । क्योंकि विशोका है, इसलिये ज्योतिष्मती नामकी प्रवृत्ति चित्तकी स्थिरताका हेतु होती है । यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है—बुद्धिका साक्षात्कार और [प्रकृति आदिसे पृथक्] पुरुषका साक्षात्कार । ये दोनों साक्षात्कार प्रकाशबहुल हैं, इसलिये उनसे सम्बद्ध प्रवृत्तियाँ ज्योतिष्मती कही जाती हैं । यदि कहो कि आत्मसाक्षात्कारके पश्चात् चित्तकी स्थिरताका क्या प्रयोजन रहता है, क्योंकि तब तो अविद्याकी निवृत्ति हो जानेसे वह कृतकृत्य ही हो जाता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी जिसे सम्पूर्ण संस्कारोंको भस्म कर

---

१ चैकैकस्य—पा. २ । ३ पु. ।

प्रज्ञातार्थिनः परवैराग्यार्थं संप्रज्ञातपरम्पराया अपेक्षितत्वात्, जीवात्मसाक्षात्कारोत्तरमपि परमात्मसाक्षात्कारार्थिनः परमात्मयोगापेक्षणाच्चेति ।

चतुर्थं तु परिकर्म विरक्तचित्तचिन्तनम् । यदा हि विरक्ते नारदादिचित्ते चित्तं समाधीयते तदा तद्वदेव ध्यातृचित्तमपि विरक्तं स्थिरस्वभावं भवति; यथा कामुकचिन्तया चित्तं कामुकं भवतीति ।

पञ्चमं परिकर्म स्वप्ननिद्रान्यतरज्ञानचिन्तनम् । यदा हि जाग्रज्ज्ञाने स्वप्नज्ञानदृष्टिः क्रियते स्वरूपावरकत्वसाम्याद्भङ्गुरविषयकत्वसाम्याच्च, तदा तत्र विरक्तं सच्चित्तं स्थिरं भवति । एतदर्थमेव श्रुतिस्मृत्योः स्वप्नार्थेन प्रपञ्चो रूप्यते 'दीर्घस्वप्न-

देनेवाले असंप्रज्ञात योगकी अपेक्षा है उसे पर वैराग्यके लिये सम्प्रज्ञात योगकी परम्पराकी भी आवश्यकता है ही। इसके सिवा जीवात्माका साक्षात्कार हो जानेके पीछे भी जिसे परमात्माके साक्षात्कार की अपेक्षा है उसे भी परमात्मयोगकी आवश्यकता है ही।

चौथा परिकर्म है विरक्तपुरुषोंके चित्तका चिन्तन। जब चित्त नारदादि विरक्त पुरुषोंके चित्तमें समाहित होता है तो ध्यान करनेवालोंका चित्त भी उसीके समान विरक्त और स्थिरस्वभाव हो जाता है, जिस प्रकार कामासक्त पुरुषका चिन्तन करनेसे चित्त कामुक हो जाता है।

पाँचवाँ परिकर्म है स्वप्न और निद्राके ज्ञानोंमेंसे किसी एकका चिन्तन। जिस समय साधक जाग्रत्-ज्ञानमें स्वप्नज्ञानकी भावना करता है, क्योंकि ये दोनों ही स्वरूपके आवरक और अस्थिरविषयक होनेमें समान हैं, उस समय चित्त विरक्त होकर स्थिर हो जाता है। इसीसे श्रुति और स्मृतिने दृश्य प्रपञ्चको 'इस संसारको एक लंबा स्वप्न समझो' इत्यादि वाक्यों द्वारा स्वप्नपदार्थरूपसे वर्णन किया है। इसी

स्मिमं विद्धि' इत्यादिभिः। तथा यदा जाग्रत्पुरुषेषु सुषुप्ति-दृष्टिः क्रियते स्वरूपावरणसाम्यात्, निद्रादोषेणान्तराऽन्तरा स्वप्नदर्शनवदन्तराऽन्तरैव जगद्दर्शनाच्च, तदा तेषां व्यवहारेषु विरक्तं सच्चित्तं स्थिरं भवति। तथा च स्मर्यते—

'यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वमात्मनि पश्यति।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उच्यते॥
एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः।
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं स्मरेत्॥"

इत्यादिकमिति।

षष्ठं परिकर्म यथाभिमतध्यानं स्वाभिलषितहरिहरमूर्त्यादौ ध्यानम्। चित्तस्य रूपादिरागात्तत्र स्थितस्यान्यत्रापि विवेक-पर्यन्ते स्थितियोग्यता भवतीति।

प्रकार जब जाग्रत्-पुरुषोंमें सोये हुए पुरुषकी दृष्टि की जाती है, क्यों कि दोनों ही के स्वरूपका समानरूपसे आवरण है तथा जिस प्रकार निद्रा दोषसे बीच-बीचमें स्वप्न देखा जाता है उसी प्रकार जाग्रत्का अनुभव भी बीच-बीच ही में होता है, तब उनके व्यवहारोंमें विरक्त होकर चित्त स्थिर हो जाता है। ऐसा ही स्मृति भी कहती है—'जिस समय पुरुष सो जाता है उस समय यह सम्पूर्ण विश्वको अपने ही में देखता है, किन्तु जब स्वप्नावस्था आती है तो यह अपनेको एक देशमें ही स्थित मानता है। इसी प्रकार जीवात्माके जागरित आदि तीनों स्थानोंको मायामात्र जानकर उनके साक्षी परमात्माका स्मरण करे।' इत्यादि।

छठा परिकर्म है यथाभिमतध्यान अर्थात् अपने अभीष्ट विष्णु एवं शिव की मूर्ति आदिका ध्यान करना। रूपादिके रागवश जब चित्त उनमें ठहर जाता है तो अन्य स्थानोंमें भी विवेकख्यातिपर्यन्त स्थिर होने की योग्यता हो जाती है।

एतानि परिकर्माण्युक्तानि। एतेषु चिन्तारूपाणां परिकर्मणामनुष्ठाने इच्छाविकल्प इति।

तदेवं योगद्वयसाधारणं साधनमभ्यासवैराग्याख्यमुक्तम्। अभ्यासस्य च साधनं परिकर्मोक्तम्।

तत्रायमवान्तरविभागो ग्रहीतृग्रहणग्राह्यरूपषड्‌विंशतितत्त्वाभ्यासो वशीकाराख्यमपरं वैराग्यं च संप्रज्ञातयोगसाधनम्। तत्र च वैराग्यं साक्षादेव वृत्तिनिरोधकारणम्। अभ्यासस्तु समाधिरूपाङ्गद्वारा। असंप्रज्ञाते तु परवैराग्यमेव साक्षात्कारणम्। वैराग्यरूपस्यैव ज्ञानस्याभ्यासस्तु वैराग्यनिष्पत्तिद्वारा कारणम्। परवैराग्यं च निष्पन्नतया विवेकख्यातावपि दुःखा-

यह परिकर्मोंका वर्णन हुआ। इनमेंसे चिन्तनरूप परिकर्मोंके अनुष्ठानमें इच्छा ही *विकल्प है।

इस प्रकार दोनों प्रकारके योगोंके सामान्य साधन अभ्यास और वैराग्य का निरूपण हुआ तथा अभ्यास के साधन परिकर्मोंका भी वर्णन हो चुका।

इसमें एक अवान्तर विभाग और भी है—(१) गृहीता ग्रहण और ग्राह्यरूप छब्बीस तत्त्वोंका अभ्यास तथा (२) वशीकारसंज्ञा अपर वैराग्य। ये दोनों संप्रज्ञात योगके साधन हैं। इनमें वैराग्य तो सीधा ही वृत्तियों के निरोध का कारण है, किन्तु अभ्यास समाधिरूप योगके अंगद्वारा है। किन्तु असंप्रज्ञात योगमें तो पर वैराग्य ही साक्षात् कारण है। वहाँ वैराग्यरूप ज्ञानका अभ्यास ही वैराग्यकी पूर्णताके द्वारा उसका कारण बनता है। पर वैराग्य तो पूर्ण हो जाने पर दुःखरूपा विवेकख्यातिमें भी अलंबुद्धिरूप होता है—यह बात पहले कही जा चुकी है।

---

* अर्थात् अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार इनमेंसे किसीका अनुष्ठान किया जा सकता है।

त्मिकायामलंबुद्धिरित्युक्तम्। सालम्बनस्त्वभ्यासो विवेकसाक्षात्कारद्वारैवासंप्रज्ञातकारणं न साक्षादिति दिक्।

इत्युत्तमाधिकारिणो योगसाधननिरूपणम्।

अथ मध्यमाधिकारिणो युञ्जानस्य वानप्रस्थादेः प्रकृष्टक्रिया योगरूपं योगसाधनं निरूप्यते। तस्य च क्रियायोगो मुख्यतः साधनम्। अभ्यासवैराग्यादिकं तु यथाशक्तितोऽनुष्ठेयम्। प्रकृष्टक्रियायोगश्च तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि। तत्र तपः-शास्त्रोक्तव्रतेन शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनम्[1]। स्वाध्यायो मोक्ष-शास्त्राणामध्ययनं प्रणवादिजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं त्वत्र परमगुरौ सर्वकर्मार्पणं तत्फलसंन्यासो वा। भाष्यकारैस्तथा व्याख्यातत्वादिति। अर्पणशब्दार्थश्च स्मृतिषूक्तः। यथा—

साथ ही ध्यान रहे कि सालम्बन अभ्यास विवेकख्यातिके द्वारा ही असंप्रज्ञात योगका कारण हो सकता है, साक्षात् रूपसे नहीं।

इस प्रकार उत्तम अधिकारीके योगसाधनोंका निरूपण हुआ।

मध्यम अधिकारीका योगसाधन

अब, मध्यम अधिकारी युञ्जान वानप्रस्थ आदिके लिये उत्कृष्ट क्रियायोगरूप योगसाधनका निरूपण किया जाता है। उसके लिये तो मुख्यतः क्रियायोग ही साधन है। अभ्यास और वैराग्यादिका तो उसे अपनी शक्तिके अनुसार ही अनुष्ठान करना चाहिये। वह उत्कृष्ट क्रिया-योग है—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। उनमें तप है शास्त्रोक्त व्रतोंके द्वारा शीतोष्णादिको सहन करना, स्वाध्याय है मोक्षशास्त्रोंका अध्ययन और प्रणव आदिका जप तथा ईश्वरप्रणिधान है परम गुरु परमात्माको सम्पूर्ण कर्म समर्पित कर देना अथवा कर्मफलका संन्यास, क्योंकि इसी प्रकार भाष्यकार भगवान् व्यासने इनकी व्याख्या की है। 'अर्पण' शब्दका अर्थ स्मृतियोंमें भी किया गया है। यथा—

---

१. यज्ञदानादीनां तु तत्रैवान्तर्भावः इत्यधिकम्—२ पु.।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि यत्किंचित्कुरुते नरः ।
तत्सर्वं भगवानेव कुरुते योगमायया ॥
नाहं कर्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव[1] कुरुते तथा ।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

इत्यादिना ।

कर्मफलार्पणं च कर्मफलानां परमेश्वरो भोक्तेति चिन्तनम् । 'ऋतं पिबन्तौ'(क. ३।१) इत्यादिश्रुतिभिः परमेश्वरस्यापि भोगसिद्धेः, 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मु. ३।१।१) इति श्रुत्या चाभिमानपूर्वकस्य मुख्यभोगस्यैव परमेश्वरे प्रतिषेधात् । यदेव जीवान्कर्मफलानि भोजयन्परमेश्वरः प्रीणाति, तदेव परमेश्वरस्य कर्मफलभोगः । यथाऽर्थिभ्यो धनानि प्रयच्छन्दाता तद्धनभोक्ता तद्वत् । न तु साक्षादेव कर्मफलं स्वर्गनरकादिकमीश्वरो भुङ्क्ते, श्रुतिस्मृति-

'मनुष्य जानकर अथवा बिना जाने जो कुछ भी करता है वह योगमायासे स्वयं श्रीभगवान् ही करते हैं । अतः मैं करनेवाला नहीं हूँ । भगवान् ही यह सब कर रहे हैं—इसीको तत्त्वदर्शी ऋषियोंने ब्रह्मार्पण कहा है ।'

कर्मफलार्पणका अर्थ है—यह चिन्तन करना कि इन सब कर्मफलों-के भोक्ता परमेश्वर ही हैं । 'कर्मफलका भोग करते हुए' इत्यादि श्रुतियोंसे परमेश्वरका भी भोग सिद्ध होता है । 'उनमें अन्य (परमेश्वर) भोग न करके केवल देखता है' इत्यादि श्रुतिने तो उसके अभिमानपूर्वक मुख्य भोगका ही निषेध किया है । भगवान् जो जीवोंको कर्मफल भोग कराकर प्रसन्न होते हैं यही उनका कर्मफलभोग है । जिस प्रकार दाता पुरुष अर्थियोंको धन देकर ही उस धनका भोक्ता हो जाता है उसी प्रकार [यहाँ समझो] । ईश्वर कर्मोंके फल स्वर्ग-नरकादिका साक्षात् भोग नहीं करता । ऐसा माननेपर तो श्रुतिस्मृतियोंसे विरोध

---

१ हस्तैव-पा. २ पु. ।

विरोधात् । यद्यपीश्वरस्य नित्यानन्दभोगो नित्य एव, तथाऽपि जीवानां कर्मफलप्रदानेनाभिव्यक्ततया ह्यैश्वर्यानुगतानन्दभोगस्योत्पत्तिरौपचारिकी सिसृक्षोत्पत्तिवदिति ।

क्रियायां च योगशब्दो योगसाधनत्वाद्भक्तिज्ञानयोरिव गौणः ।

तस्य च क्रियायोगस्य योगवत्क्लेशतनूकरणमपि फलं भवति, 'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च' (यो. २. २.) इति सूत्रात्। तत्र च समाधिशब्दोऽङ्गाङ्गिनोरभेदेन योगद्वयवाची । तत्र योगद्वयं प्रागेव व्याख्यातम् ।

क्लेशतनूकरणं तु सफलं व्याख्यायते । तत्र दुःखाख्यक्लेशनिदानत्वात्क्लेशाः पञ्च—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा इति ।

होगा । यद्यपि भगवानका नित्यानन्दरूप भोग तो नित्य ही है, तथापि जीवोंको फलप्रदान करनेसे इसकी अभिव्यक्ति होती है; अतः सृष्टि करनेकी इच्छाकी उत्पत्तिके समान उनके ऐश्वर्यमें अनुगत आनन्दभोग की उत्पत्ति भी औपचारिकी (गौण) ही है ।

'भक्ति' और 'ज्ञान' इन दोनों शब्दोंके साथ जैसे 'योग' शब्दका गौण प्रयोग होता है उसी प्रकार योग की साधन होनेके कारण 'क्रिया' शब्दके साथ 'योग' शब्दका संयोग गौण है ।

उस क्रियायोगका योगकी तरह क्लेशोंको तनु (सूक्ष्म) कर देना भी एक फल है; जैसा कि 'यह [क्रिया योग] समाधि प्राप्त कराने और क्लेशोंको तनु करनेके लिये है' इस सूत्रसे सिद्ध होता है । यहाँ 'समाधि' शब्द अंग और अंगीके अभेदरूप दोनों ही योगोंका वाचक है । इन दोनों योगोंकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है ।

अब फलके सहित क्लेशोंके तनूकरणकी व्याख्या की जाती है । दुःखसंज्ञक क्लेशरूप परिणामवाले होनेसे ये क्लेश पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । अनित्य, अपवित्र, दुःख और

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । आत्मानात्मनोर्धर्मतः स्वतश्चात्यन्तमभेदभ्रमोऽस्मिता । अविद्या तु भेदाभेदं सहत इति विशेषः । रागद्वेषौ च प्रसिद्धावेव । अभिनिवेशस्तु मरणादिभयम् । एतेषामुत्तरोत्तरेषु पूर्वं पूर्वं कारणम् । अतोऽविद्या सर्वक्लेशानां मूलत्वात्क्षेत्रमुच्यते । अविद्यासत्त्व एवैते भवन्ति ; अविद्यानाशाच्चैतेषां नाश इति ।

एते च क्लेशा व्याध्यादिवच्चित्तविक्षेपकत्वाद्योगस्यापि विरोधिनः । एतेषां तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धाक्षमता । तच्च क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टद्वारा फलं भवति । क्रियायोगेण हि चित्तशुद्धिः क्रियते । ततश्चाधर्माख्यकारणतानवादविद्यादेरपि तनुता भवति । तथाऽभिमानरागद्वेषादिप्राबल्ये क्रियायोगो न

अनात्म पदार्थोंमें नित्य, पवित्र, सुख और आत्मबुद्धि होना 'अविद्या' है । आत्मा और अनात्मामें धर्मतः तथा स्वरूपतः अत्यन्त अभेदका भ्रम होना 'अस्मिता' है । अविद्या तो भेदाभेदको भी सहन कर लेती है—इतनी [अस्मिता की अपेक्षा] उसमें विशेषता है । राग द्वेष तो प्रसिद्ध ही हैं । अभिनिवेश मरणादिके भयको कहते हैं । इनमें पीछे पीछेके क्लेशोंमें उनसे पहला-पहला क्लेश कारण है । अतः सब क्लेशोंका मूल होनेके कारण अविद्या इनका क्षेत्र कही जाती है । अविद्याके होनेपर ही ये सब होते हैं और अविद्याके नाशसे ही इनका नाश हो जाता है ।

व्याधि आदिके समान चित्तमें विक्षेप करनेवाले होनेसे ये क्लेश भी योगके विरोधी हैं । विवेकख्यातिका प्रतिबन्ध करनेकी योग्यता न रहना ही इनकी तनुता है । दृष्ट और अदृष्ट क्रमके द्वारा यह क्रियायोगका ही फल होता है । क्रियायोगके द्वारा ही चित्तकी शुद्धि होती है और फिर अधर्मसंज्ञक कारणके तनु हो जानेसे अविद्यादिकी भी तनुता हो जाती है । तथा अभिमान और राग-द्वेषादिकी प्रबलता होनेपर क्रिया-

संभवति । संभवे वाऽङ्गविकलो भवति । अतः क्रियायोगः स्वनिष्पत्तये क्लेशतानवमपि संपादयतीति । एवं योगोऽपि क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टोभयद्वारा फलं बोध्यम् । सत्त्वशुद्धिरदृष्टं द्वारम्, दृष्टं तु द्वारं चित्तस्य कर्मद्वारा नियमनादिकमिति ।

इदानीं क्लेशतानवस्य मोक्षपर्यन्तं फलं सूत्रगणोक्तं संकलय्य कथ्यते । क्रियायोगेण क्लेशतानवे सति, अन्तराऽन्तरा क्लेशैरप्रतिबद्धो विवेकख्यातिप्रवाहः साक्षात्कारपर्यवसायी भवति । ततश्चाविद्यादिक्लेशाः प्रसंख्यानाख्येन विवेकसाक्षात्कारेणाग्निना दग्धबीजकल्पाः प्ररोहसमर्था न भवन्ति । इयं जीवन्मुक्तावस्था । ततश्च प्रारब्धसमाप्तौ चित्ते प्रलीयमाने ते दग्धबीजकल्पा अप्यनागतावस्थाः सूक्ष्मक्लेशा अत्यन्तं प्रलीयन्ते । तन्निवृत्तौ

योग होना भी संभव नहीं है । और यदि होता भी है तो अंगहीन होता है । अतः अपनी निष्पत्ति के लिये क्रियायोग क्लेशकी तनुता भी कर लेता है । इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट दोनों क्रमोंसे योग भी क्रियायोगका फल है—ऐसा समझना चाहिये । चित्तकी शुद्धि उसका अदृष्ट द्वार है और कर्मद्वारा चित्तका नियमन आदि उसका दृष्ट द्वार है ।

अब कई सूत्रोंद्वारा बतलाये गये क्लेशोंकी तनुताके मोक्षपर्यन्त फलका संकलन करके वर्णन किया जाता है । क्रियायोगके द्वारा जब क्लेशोंकी तनुता हो जाती है तो बीच-बीचमें क्लेशोंसे प्रतिबद्ध न होनेवाला विवेकख्यातिका प्रवाह साक्षात्कारमें पूर्ण होनेवाला हो जाता है । उस अवस्थामें प्रसंख्यानसंज्ञक विवेकसाक्षात्काररूप अग्निसे दग्धबीजसे होकर अविद्यादि क्लेश अंकुरित होनेमें समर्थ नहीं होते । यही जीवन्मुक्त अवस्था है । फिर प्रारब्धकी समाप्ति होनेपर चित्तका सर्वथा लय हो जानेसे वे दग्धबीज सदृश सूक्ष्म क्लेश भी, जो अबतक भविष्यके गर्भमें छिपे हुये थे, अत्यन्त लीन हो जाते हैं । उनके निवृत्त

पुनर्जन्मकारणाभावात्पुरुषः पुनरिदं दुःखं न भुङ्क्त इति परमं-मुक्तिरिति ।

ननु अनागतावस्थानामपि क्लेशानां ज्ञाननाश्यत्वमेव युक्तम्, किमिति कार्याक्षमतारूपदाहः कल्प्यत इति चेत् ।

उच्यते । कार्याणामनागतावस्थैव कारणस्य शक्तिरुच्यते । तां च विहाय कारणं न तिष्ठति. अग्न्यादौ दाहादिशक्तेर्यावद्द्रव्य-भावित्वात् । अतः क्लेशकर्मसंस्कारादीनामनागतावस्थानां बीज-शक्तिदाह एव[1] ज्ञानादिभिः क्रियते, न त्वतीतावस्थानाम् । तासां तु[2] नाशश्चित्तनाशादेव भवति, धर्मिनाशस्य धर्मनाशक-त्वादिति ।

हो जाने पर पुनर्जन्मका कोई कारण न रहनेसे पुरुष पुनः इस दुःखको नहीं भोगता—यही उसकी परम मुक्ति है ।

प्रश्न—जो क्लेश भविष्यके गर्भमें छिपे हुए हैं उनका भी ज्ञान द्वारा नष्ट होना ही उचित है, उनके कार्यकी अयोग्यतारूप दाहकी क्यों कल्पना की जाती है ?

इसका उत्तर दिया जाता है—कार्यों की अनागत (भावी) अवस्था ही कारण की शक्ति कही जाती है । उसे त्यागकर कारण नहीं रह सकता, क्योंकि अग्नि आदि में जो दाहादि शक्ति है वह अग्नि आदि द्रव्यकी स्थितिपर्यन्त रहती है । अतः ज्ञानादिके द्वारा अनागत अवस्थामें स्थित क्लेश, कर्म और संस्कारादि की बीजशक्तिका ही दाह किया जाता है, अतीतावस्थामें स्थित हुओंकी शक्तिका नहीं । उनका नाश तो चित्तका नाश होने पर ही होता है, क्योंकि धर्मीका नाश ही धर्मका नाश करनेवाला होता है ।

---

१ दाहकत्वमेव—पा. २ । ३ पु ।

२ न त्वतीतावस्था सा तु—पा. २ । ३ पु ।

अथ कथमविद्यादिक्लेशाद्बन्धः कथं वा तन्निवृत्त्या मोक्ष इति तयोः प्रकारः कथ्यते। अविद्यादिक्लेशेभ्य एव धर्माधर्मौ जायेते,

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥"
(गी. १८. १७.)

इत्यादिस्मृतेः। धर्माधर्माभ्यां च जन्मायुर्भोगरूपा विपाका जायन्ते। तेभ्यश्च सुखदुःखे। ततश्च पुरुषस्य तद्भोगरूपो बन्ध इति। विपाकमध्ये च भोगः शब्दाद्याकारा वृत्तिरिति भेदः।

ननु क्लेशानां दुःखाख्यहेयहेतुत्ववत्स्वर्गादिसुखहेतुत्वमपि धर्मादिद्वाराऽस्ति ; तत्कथं क्लेशा उन्मूलनीया इति।

अब, अविद्यादि क्लेशोंके द्वारा किस प्रकार बन्धन होता है और किस प्रकार उनके नाशसे मोक्ष प्राप्त होता है—इस प्रकार उन (बन्ध और मोक्ष) का क्रम बताया जाता है। अविद्यादि क्लेशोंसे ही धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति होती है, जैसा कि 'जिसे अहंकारका भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती वह इन सम्पूर्ण लोकोंक मारकर भी नहीं मारता और न बन्धन ही में पड़ता है' इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता है। धर्म और अधर्मसे ही जन्म, आयु और भोगरूप कर्मोंके फल होते हैं और उन्हींसे सुख-दुःख भी हुआ करते हैं। तथा उन्हींके द्वारा पुरुषका सुख-दुःख भोग रूप बन्धन होता है। कर्मफलमें जो भोग रहता है वह तो केवल शब्दादि विषयाकार वृत्ति ही है—इतना ही [सुख-दुःख-भोगरूप बन्धन से] उसका भेद है।

प्रश्न—क्लेश जिस प्रकार दुःखरूप हेयके हेतु हैं वैसे ही धर्मादिके द्वारा स्वर्गादि सुखके भी तो हेतु हैं, ऐसी अवस्थामें वे नष्ट कर डालने योग्य कैसे हो सकते हैं?

उच्यते। स्वर्गादिसुखमपि दुःखप्रचुरत्वाद् दुःखानुबन्धित्वाच्च दुःखमेव विवेकिना मन्तव्यम्। तथा च सांख्यसूत्राण्यपि—'यथा दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः,' 'कुत्रापि कोऽपि सुखीति,' 'तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः' (सां. ६. ६, ७, ८.) इति। सोऽयमविद्यातो बन्धप्रकारः कौर्मेऽप्युक्तः—

"रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः।
कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः।
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः॥" इति।

क्लेशेभ्यो बन्धप्रकार उक्तः। क्लेशनिवृत्तितो मोक्षप्रकार उच्यते आत्मानात्मविवेकसाक्षात्काराद्विद्यानिवृत्त्या तन्मूलकानां क्लेशान्तराणामपि निवृत्तिः। ततश्च कारणाभावाद्धर्मानुत्पत्तिः।

उत्तर—बताते हैं, स्वर्गादि सुख भी दुःखबहुल हैं और उसके परिणाममें भी दुःख ही रहता है, अतः विवेकियोंको तो उसे भी दुःखरूप ही मानना चाहिये। ऐसे ही ये सांख्यसूत्र भी हैं—'जीवको दुःखसे जैसा क्लेश होता है सुखसे वैसी अभिलाषा जाग्रत् नहीं होती', 'कहीं-कहीं कोई-कोई ही सुखी होता है,' 'वह सुख भी दुःखसे मिला हुआ ही हंता है, अतः विवेकीलोग उसे दुःखपक्षमें ही पटक देते हैं।' अविद्याके द्वारा यह बन्धनका प्रकार कूर्मपुराणमें भी कहा है—

'राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण दोष भ्रान्तिके ही कारण हैं और इसीका कार्य पाप-पुण्यरूप दोष हैं—ऐसी श्रुति कहती है। तथा पुण्य-पापके अधीन ही सब जीवोंके सब प्रकारके शरीर उत्पन्न होते हैं।'

इस प्रकार क्लेशोंद्वारा बन्धन के क्रमका निरूपण हुआ। अब क्लेशोंकी निवृत्तिद्वारा मोक्षका क्रम बताया जाता है। आत्मा और अनात्माके विवेक का साक्षात्कार होने से जब अविद्या निवृत्त हो जाती है तो अविद्यामूलक अन्य क्लेश भी निवृत्त हो जाते हैं। फिर तो कोई कारण न रहने से धर्म-अधर्मकी भी उत्पत्ति नहीं होती। तथा क्लेशरूप

अनारब्धफलकानां चोत्पन्नकर्मणां फलानुत्पादः क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदात् । आरब्धफलकर्मणां च भोगेनैव नाशः । ततः प्रारब्धसमाप्त्या देहपाते कारणाभावन्न पुनर्जन्म । तदेव च दुःखनिवृत्तिरूपो मोक्ष इति ।

तदेवं चिकित्साशास्त्रवदेव चतुर्व्यूहप्रतिपादकं सांख्ययोगादि मोक्षशास्त्रम् । यथा हि रोगो रोगनिदानमारोग्यं भैषज्यमिति चत्वारो व्यूहाश्चिकित्साशास्त्रस्य प्रतिपाद्या भवन्ति, एवमत्रापि हेयं हेयहेतुर्हानं हानोपाय इति चत्वारो व्यूहाः प्रतिपाद्याः । तत्र हेयं दुःखम् । हेयहेतुरविद्या । हानं दुःखात्यन्तनिवृत्तिः । हानोपायो विवेकसाक्षात्कार इति । उपकरणानां ग्रहणाय सर्वत्र व्यूहपदमावश्यकम् ।

सहकारियों का उच्छेद हो जाने के कारण वे कर्मसंस्कार जिनका फल अभी प्रारम्भ नहीं हुआ, फलप्रद नहीं रहते और जिनका फल आरम्भ हो चुका है वे भोगसे ही नष्ट हो जाते हैं। फिर तो प्रारब्ध समाप्त हो जानेसे देहपात होनेपर पुनः जन्म नहीं होता, क्योंकि जन्मका कोई कारण शेष नहीं रहता। यही दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष है।

इस प्रकार चिकित्सा शास्त्र के समान ही सांख्य एवं योगादि शास्त्र चतुर्व्यूहका प्रतिपादन करनेवाले हैं। जिस प्रकार रोग, रोगका कारण आरोग्य और औषध-ये चार व्यूह चिकित्साशास्त्र के प्रतिपाद्य हैं, उसी प्रकार यहाँ भी हेय, हेयका हेतु, हान और हानका उपाय—ये चार व्यूह प्रतिपाद्य हैं। इनमें हेय दुःख है, हेयका हेतु अविद्या है, हान दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति है और हान का उपाय विवेकसाक्षात्कार है। इन उपकरणों को एक साथ ग्रहण करने की दृष्टि से इन सब के साथ 'व्यूह' शब्द का प्रयोग अवश्यक है।

ननु पुरुषस्य नित्यनिर्दुःखत्वात्कथं[1] दुःखहानिः पुरुषार्थ इति चेन्न। भोग्यत्वरूपस्वत्वसंबन्धेनैव दुःखहानस्य सांख्यादि-मते पुरुषार्थत्वात्। यद्यपि भोगः साक्षात्काररूपतया स्वरूपतो नित्य एव, तथाऽपि घटाकाशवद् दुःखभोगस्या-नित्यतया तन्निवृत्तिः पुरुषार्थः स्यादेव; दुःखभोगस्य दुःखप्रतिबिम्बावच्छिन्नचित्स्वरूपत्वादिति।

अत्राविद्याया हेयहेतुतायां द्वारतया द्रष्टृदृश्यसंयोगरूपं जन्म व्याख्याय सूत्रभाष्याभ्यामनेनैव प्रसङ्गेन द्रष्टृदृश्ययोः पुंप्रकृत्योः स्वरूपं प्रपञ्चितम्। मयाऽपि वार्त्तिके सांख्यभाष्ये च प्रपञ्चितम्। सांख्यसाराख्ये सांख्यप्रकरणे त्वस्माभिर्विस्तरतः

यदि कहो कि पुरुष तो नित्य निर्दुःख है, फिर दुःखहानि पुरुषका प्रयोजन कैसे हो सकती है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सांख्यादि दार्शनिकों के मतमें भोग्यत्वरूप स्वत्व के सम्बन्ध से ही [अर्थात् विषयों की भोग्यता के साथ पुरुषका सम्बन्ध है इस विचार को लेकर ही] दुःख की निवृत्ति पुरुष का प्रयोजन होती है। यद्यपि साक्षात्कार (उपलब्धि) रूपसे तो स्वरूपतः भोग नित्य ही है, तथापि [घटरूप उपाधि के कारण उत्पन्न होने वाले] घटाकाश के समान दुःखभोग अनित्य है, अतः उसकी निवृत्ति पुरुषार्थ (पुरुषका प्रयोजन) हो ही सकती है, क्योंकि दुःखभोग तो दुःखरूप प्रतिबिम्ब में अवच्छिन्न चेतन-रूप ही है।

यहाँ अविद्या को हेय की हेतुतामें द्वाररूप से वर्णन करते हुए सूत्र और भाष्य दोनों ही ने द्रष्टा और दृश्य के संयोगरूप जन्म की व्याख्या करके इसी प्रसंगमें द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रकृति के स्वरूप का निरूपण किया है। मैंने भी योगवार्तिक और सांख्यसूत्रों के भाष्य में ऐसी ही व्याख्या की है। सांख्यसारसंज्ञक सांख्यप्रकरण में हमने

1 निर्दुःखत्वात्—पा. २ पु.। नित्यादुःखत्वात्—पा. १ पु.।

प्रकृतिपुरुषौ विवेचितौ । अतो विस्तरभयान्नेह प्रकरणे प्रस्तूयेते ।

इति मध्यसाधिकारिणां योगसाधननिरूपणं तत्प्रसङ्गेन क्रियायोगस्य क्लेशतानवद्वारा मोक्षहेतुताया निरूपणं च ।

अथ मन्दाधिकारिणो योगमारुरुक्षोर्गृहस्थादेर्योगसाधनान्युच्यन्ते । तानि च यथोक्तस्य ज्ञानस्यापि साधनानीत्याशयेन सूत्रभाष्याभ्यां विवेकख्यातिसाधनविधयैव निर्दिष्टानि । तानि च यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इति । एतान्यष्टौ योगाङ्गानि भवन्ति । मन्दाधिकारिभिर्धारणादिरूपोऽभ्यासो यमनियमादिरूपः समग्रक्रियायोगश्च यथाक्रममनुष्ठेय इत्याशयेन पिण्डीकृत्य सर्वमेव मन्दाधिकारिभ्य उपदिश्यते ।

प्रकृति-पुरुषका विस्तृत विवेचन किया है । इस लिये विस्तार के भयसे इस प्रकरण में हम उसकी चर्चा नहीं करते ।

इस प्रकार मध्यम अधिकारियों के भोगसाधनों का तथा उन्हीं के प्रसंगसे क्रियायोग और क्लेशा के तानवद्वारा उनकी मोक्षहेतुताका निरूपण हुआ ।

मन्द अधिकारीका योगसाधन

अब योगपर आरूढ़ होनेकी इच्छावाले गृहस्थ आदि मन्द अधिकारियोंके योगसाधनों का वर्णन किया जाता है । वे उपर्युक्त ज्ञानके भी साधन हैं, इसी आशयसे सूत्र और भाष्यमें उनका विवेकख्यातिके साधनरूपसे ही निर्देश किया है । वे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि । ये ही योगके आठ अंग हैं । मन्द अधिकारियोंको धारणादिरूप अभ्यास और यम-नियमादिरूप सम्पूर्ण क्रियायोगका क्रमशः अनुष्ठान करना होता है, इसीसे सब मिलाकर इनका मन्द अधिकारियोंके लिये ही उपदेश किया गया है ।

तत्रादौ यमनियमाद्यनुष्ठानं केवलं कर्मयोग उच्यते। उत्तम-मध्यमयोश्च केवलज्ञानज्ञानसमुच्चितकर्मणी[1] प्रागेवोक्ते। तत्र च ज्ञानकर्मणोः प्रत्येकसमुच्चयानुष्ठाने प्रमाणं विष्णुपुराणम्। यथा—

"सनकसनन्दनादयो[2] ब्रह्मभावनया युताः।
कर्मभावनयाऽन्ये च देवाद्याः स्थावराश्चराः।
हिरण्यगर्भादिषु च कर्मब्रह्मोभयात्मिका॥" इति।

तत्र यमनियमौ सूत्रभाष्याभ्यां प्रदर्शितौ, ईश्वरगीता-वाक्यैरेवात्र प्रदर्श्येते। यथा—

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदा नृणाम्॥

इनमें भी पहले-पहले जो केवल यम-नियमादिका अनुष्ठान है वह तो कर्मयोग कहा जाता है। उत्तम और मध्यम अधिकारियोंके लिये क्रमशः केवल ज्ञान और ज्ञानसमुच्चित कार्म तो पहले ही कहे जा चुके हैं। इन ज्ञान और कर्मके अलग-अलग एवं एक साथ अनुष्ठानके विषयमें विष्णुपुराण प्रमाण है, जैसे—

'सनक-सनन्दनादि तो केवल ब्रह्मभावसे सम्पन्न हैं, दूसरे जंगम, स्थावर एवं देवता आदि कर्मकी भावनासे पूर्ण हैं और हिरण्यगर्भादिमें तो कर्म एवं ब्रह्म दोनों ही प्रकारकी भावनाएँ रहती हैं।'

अब योगसूत्र और व्यासभाष्यद्वारा प्रदर्शित यम-नियमों का यहाँ ईश्वरगीताके वाक्योंसे ही दिग्दर्शन कराया जाता है। यथा—

यम—अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये संक्षेपसे मनुष्योंकी चित्तशुद्धि करनेवाले यम कहे गये हैं।

---

१ ज्ञानसमुच्चितज्ञानकर्मणो—पा. १ पु.। केवलज्ञानं ज्ञानसमुच्चितकर्मणी—पा. १ पु.।

२ सनन्दनादयो ब्रह्मन्—पा. २ पु.।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वहिंसा परमर्षिभिः ॥
अहिंसायाः परो धर्मो नास्त्यहिंसापरं सुखम् ।
विधिना या भवेद्धिंसा सा त्वहिंसैव कीर्तिता ॥
सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यथार्थकथनाचारः सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः ॥
परद्रव्यापहरणं चौर्याद्वाऽथ बलेन वा ।
स्तेयं तस्यानाचरणादस्तेयं धर्मसाधनम् ॥
कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥
द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि यथेच्छया ।
अपरिग्रह इत्युक्तस्तं प्रयत्नेन पालयेत् ॥"

तपःस्वाध्यायसंतोषाः शौचमीश्वरपूजनम् ।
समासान्नियमाः प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिनः ॥

मन, वचन और कर्म-द्वारा सर्वदा सभी जनोंको क्लेश न पहुँचाना—इसे महर्षियोंने 'अहिंसा' कहा है । अहिंसासे बड़ा और कोई धर्म नहीं है और अहिंसा ही परमसुख है । शास्त्रविधिसे जो हिंसा की जाती है वह तो अहिंसा ही कही गयी है । सत्यसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है और सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है । विप्रवृन्दने यथार्थ कथन और यथार्थ आचरणको ही 'सत्य' कहा है । दूसरेके धनको चोरीसे अथवा बलात्कारसे ले लेना ही स्तेय है, और वैसा न करना ही 'अस्तेय' रूप धर्मका साधन है । मन, वचन और कर्मद्वारा सर्वत्र सर्वदा सभी प्राणियोंमें मैथुनका त्याग ही 'ब्रह्मचर्य' कहा जाता है । तथा आपत्कालमें भी इच्छानुसार द्रव्य ग्रहण न करना 'अपरिग्रह' है । उसका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये' ।

नियम—तप, स्वाध्याय, सन्तोष, शौच और ईश्वरपूजन ये संक्षेप से योगसिद्धि प्रदान करनेवाले नियम कहे गये हैं । उपवास,

उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥
वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः ।
सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ॥
स्वाध्यायस्य त्रयो भेदा वाचिकोपांशुमानसाः ।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं प्राहुर्वेदार्थवादिनः ॥
यः शब्दबोधजननः परेषां शृण्वतां स्फुटम् ।
स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्त उपांशोरथ लक्षणम् ॥
ओष्ठयोः स्पन्दमात्रेण परस्याशब्दबोधकः ।
उपांशुरेष निर्दिष्टः साहस्रो वाचिकाज्जपः ॥
यत्पदाक्षरसंगत्या परिस्पन्दविवर्जितम् ।
चिन्तनं सर्वशब्दानां मानसं तं जपं विदुः ॥
यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति ।
या धीस्तामृषयः प्राहुः संतोषं सुखलक्षणम् ॥

पराक तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतोंद्वारा शरीरको सुखा देना—इसे तपस्वियोंने उत्तम 'तप' कहा है। वेदान्त (उपनिषद्) एवं शतरुद्रीय आदिके पाठ तथा प्रणवादि मन्त्रोंके जपको बुधजन मनुष्योंके अन्तः-करणकी शुद्धि करनेवाला 'स्वाध्याय' कहते हैं। स्वाध्यायके तीन भेद हैं—वाचिक, उपांशु और मानस। इनमें क्रमशः अगले-अगलेको वेदका मर्म जाननेवालोंने श्रेष्ठ कहा है। जो स्वाध्याय दूसरे सुननेवालोंको स्पष्टतया शब्दबोध करानेवाला हो वह वाचिक कहलाता है। उपांशुका लक्षण यह है कि जो दूसरोंको शब्दबोध न करावे, केवल ओठोंके हिलनेमात्रसे किया जाय। यह उपांशुका स्वरूप बताया गया है। वाचिक स्वाध्यायकी अपेक्षा यह सहस्रगुण श्रेष्ठ है। जो पद और अक्षरोंको संगतिके अनुसार, बिना किसी प्रकारका हलन-चलन किये, सभी शब्दोंका केवल चिन्तन करना है उसे मानस जप कहते हैं। पुरुष को जो दैववश प्राप्त हुए पदार्थमें ही सर्वथा अलंबुद्धि होना है

बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिरथान्तरम्[१]॥
स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
सुनिश्चला शिवे भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ॥" इति ।

अत्र यद्वैधहिंसाया अहिंसात्वमुक्तं तच्छौचाचमनाद्यपरिहार्यहिंसापरं गृहस्थादिकर्तव्यहिंसापरं वा । भाष्यकारैर्यज्ञादिषु हिंसाया अपि त्यागस्तु महाव्रतत्वेन विहितः । भाष्यकारोक्तं चेश्वरप्रणिधानं सर्वकर्मार्पणरूपमीश्वरगीतोक्तपूजनादीना[२]मुपलक्षणमिति ।

अनयोर्यमनियमयोर्मध्ये यमानां निवृत्तिमात्रतया देशकालाद्यपरिच्छिन्नत्वसंभवेन तन्निमित्तिका महाव्रतसंज्ञा सूत्र-

उसे ऋषियोंने सुखरूप 'सन्तोष' कहा है। ब्राह्मणोंने बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका 'शौच' बतलाया है। मृत्तिका और जलसे होनेवाला बाह्य शौच माना गया है और मनकी शुद्धि आन्तर शौच है। स्तुति, स्मरण और पूजाके द्वारा भगवान्‌में मन, कर्म और शरीर द्वारा निश्चल भक्ति होना--यही 'ईश्वरपूजन' है।'

यहाँ जो शास्त्रविहित हिंसाको अहिंसा बतलाया है वह शौच-आचमनादिमें होनेवाली अनिवार्य हिंसा है अथवा गृहस्थादिसे होनेवाली कर्त्तव्यरूप हिंसा समझनी चाहिये, क्योंकि भाष्यकारने यज्ञादिमें होनेवाली हिंसाका तो महाव्रतरूपसे त्याग ही बतलाया है। भाष्यकारने जो सर्वकर्मार्पणरूप ईश्वर-प्रणिधान कहा है वह ईश्वरगीतोक्त पूजनादिका ही उपलक्षण कराता है।

इन यम और नियमोंमें यम केवल निवृत्तिरूप हैं, अतः ये देशकालादिसे अपरिच्छिन्नरूपसे भी हो सकते हैं, इसीसे इस प्रकार होनेवाले

१ शुद्धिस्तथान्तरम्--प. २ पु. । २ पूजादीनां--पा. ३ पु. ।

कारेणोक्ता । नियमानां तु प्रवृत्तिरूपतया देशकालादियन्त्रितत्वेन नास्ति महाव्रतत्वरूपोऽवान्तरविशेषः ।

इति यमनियमौ व्याख्यातौ ।

आसनं व्याख्यायते । तत्र यावत्यो जीवजातयस्तासामुपवेशनेषु संस्थानविशेषाः[1] सर्वं एवासनानि भवन्ति । तेषु मुख्यानि त्रीण्यासनानीश्वरगीतादिषूक्तानि । यथा—

"आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्धासनं तथा ।
आसनानां तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम् ॥
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्राः कृत्वा पादतले उभे ।
समासीतात्मनः पद्ममेतदासनमुत्तमम् ॥
एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्तोरुणि सत्तमाः ।
आसीतार्धासनमिदं योगसाधनमुत्तमम् ॥

यमोंको सूत्रकारने 'महाव्रत' नामसे कहा है। किन्तु नियम प्रवृत्तिरूप हैं, वे देश-कालादिसे परिच्छिन्न ही रहते हैं। अतः उनमें महाव्रतत्वरूप अन्य विशेषता नहीं रह सकती ।

इस प्रकार यम और नियमोंकी व्याख्या हुई ।

आसन—अब आसनोंकी व्याख्या की जाती है। संसारमें जीवोंकी जितनी जातियाँ हैं उनके बैठनेमें जितने प्रकारके संस्थानविशेष हैं वे ही सब आसन हैं। उनमें से मुख्य तीन आसनोंका ईश्वरगीता आदि ग्रन्थोंमें इस प्रकार वर्णन किया है–

'स्वस्तिक, पद्म और अर्ध जो आसन कहे गये हैं वे सभी आसनोंमें श्रेष्ठ है। विप्रप्रवर! साधकको अपने दोनों पैर दोनों जंघाओं पर रखकर बैठना चाहिये। यह उत्तम पद्मासन है। हे सत्तम! जब अपना एक पैर एक जंघापर रखकर बैठे तब यह योगका उत्तम साधन

---

१ संस्थानविशेषेषु–पा. २ पु.।

उभे कृत्वा पादतले जानूर्वोरन्तरेण हि ॥
समासीतात्मनः प्रोक्तमासनं स्वस्तिकं परम् ॥" इति ।

आसनस्य प्रपञ्चस्त्वत्र राजयोगप्रकरणत्वान्न क्रियते । आसन-नाडीशुद्ध्यादयस्तु हठयोगादिग्रन्थेष्वशेषतो द्रष्टव्याः । आसनं व्याख्यातम् ।

प्राणायामो व्याख्यायते । रेचकः पूरकः कुम्भकश्चेति त्रिविधः प्राणायामः । केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः । तदुक्तं नारदीये—

"रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः शून्यकस्तथा ।
एवं चतुर्विधः प्रोक्तः प्राणायामो मनीषिभिः ॥
जन्तूनां दक्षिणा नाडी पिङ्गला परिकीर्तिता ।
सूर्यदैवतका चैव पितृयोनिरिति स्मृता ॥

अर्धासन होता है । और जब अपने दोनों पैरोंके तलुओंको दोनों जाँघोंमें दबाकर बैठे तो यह श्रेष्ठ स्वस्तिक आसन होता है ।'

यह राजयोगका प्रसंग है, इसलिये यहाँ आसनोंका विशेष विस्तार नहीं किया जाता । आसन और नाडीशुद्धि आदि विषयोंका पूर्ण विवरण तो हठयोग आदिके ग्रन्थोंमें देखना चाहिये । यह आसनकी व्याख्या हुई ।

प्राणायाम—प्राणायामकी व्याख्या की जाती है । रेचक, कुम्भक और पूरक–तीन प्रकारका प्राणायाम होता है तथा केवल कुम्भक चतुर्थ प्राणायाम है । नारदीय पुराणमें ऐसा कहा है—

'रेचक, पूरक कुम्भक और शून्य इस तरह चार प्रकारका प्राणायाम बुद्धिमानोंने बताया है । जीवोंकी जो दायीं नाडी है वह पिंगला कही जाती है । वह सूर्य देवतावाली और पितृयोनि भी मानी गयी है ।

देवयोनिरिति ख्याता इडा नाडी तु वामगा[1] ।
तत्राधदैवतं चन्द्रः शृणुध्वं गदतो मम ॥
एतयोरुभयोर्मध्ये सुषुम्णा नाडिका स्मृता ।
अतिसूक्ष्मा गुह्यतमा ज्ञेया सा ब्रह्मदैवता ॥
वामेन रेचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः ।
पूरयेद्दक्षिणेनैव पूरणात्पूरकः स्मृतः ॥
स्वदेहे पूरितं[2] वायुं निगृह्य न विमुञ्चति ।
संपूर्णकुम्भवत्तिष्ठेत्कुम्भकः स हि विश्रुतः ॥
न गृह्णाति त्यजति न वायुमन्तर्बहिः स्थितम् ।
ज्ञेयं तच्छून्यकं नाम प्राणायामं यथास्थितम् ॥" इति ।
याज्ञवल्क्यादौ च,
"पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ।
प्राणायामस्त्रिधा ज्ञेयः कनीयोमध्यमोत्तमः ॥

इडा नामकी जो बायीं नाडी है वह देवयोनि कही गयी है। सुनिये, मैं बताता हूँ, उनका अधिदेव चन्द्रमा है। इन दोनोंके बीचमें सुषुम्ना नाडी मानी गयी है। उसे अति सूक्ष्म और गुह्यतम समझना चाहिये। उसका देवता ब्रह्मा है। बायीं नाडी से वायुको निकाल देना चाहिये। इसे रेचन (निःसरण) के कारण 'रेचक' प्राणायाम कहते हैं। फिर दायीं नाडीसे वायु भरे। पूरण (भरने) के कारण यह क्रिया 'पूरक' कहलाती है। इस प्रकार अपने शरीरमें भरे हुए उस वायुको रोककर जब योगी उसे नहीं छोड़ता और भरे हुए घड़े के समान स्थिर रहता है तो इसे ही 'कुम्भक' कहते हैं। फिर जब वह शरीरसे बाहर एवं भीतर स्थित वायुको न तो ग्रहण करता है और न त्यागता है तो इस यथास्थित प्राणायामको 'शून्य' समझना चाहिये'।

याज्ञवल्क्यादि स्मृतियोंमें भी कहा है—'पूरक, कुम्भक और उसके पश्चात् रेचक—इस क्रमसे कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम तीन प्रकारका

---

१ वामतः—पा. १ पु. । २ पूरकं—पा. १ पु. ।

द्वादशमात्रः कनीयान्मध्यमो मात्राचतुर्विंशः ।
उत्तमः षट्त्रिंशन्मात्रो मात्राभेदाः स्मृतास्तज्ज्ञैः ॥"

इत्याद्युक्तम् ।

अत्र प्राणायामस्य पूरकादिक्रमकथनान्नारदाद्युक्तो रेचकादिक्रमो वैकल्पिक इति ।

अस्मिंश्चतुर्विधप्राणायामे सूत्रकारेणायं विशेष उक्तः । आदौ यत्सहितं त्रयमभ्यस्यते, तच्च देशकालसंख्याभिरवधृतं भवति, तदा दीर्घसूक्ष्मसंज्ञकं भवति । तत्र रेचकस्य देशो नासिकाग्राद्बहिर्द्वादशाङ्गुलादिः । स च 'इषीकातूलादिक्रियया

प्राणायाम समझना चाहिये । प्राणायामके मर्मज्ञोंने इनकी मात्राओंके भेद इस प्रकार माने हैं—कनिष्ठ प्राणायाम बारह मात्राओंका होता है, मध्यम चौबीस मात्राओंका और उत्तम छत्तीस मात्राओंका होता है ।'

यहाँ (याज्ञवल्क्यस्मृति में) प्रणायामका क्रम पूरक से आरम्भ किया है ; अतः ऊपर जो नारदपुराणोक्त क्रम रेचक से आरम्भ होनेवाला है उसे वैकल्पिक* समझना चाहिये ।

इस उपर्युक्त चार प्रकार के प्रणायामके विषय में सूत्रकारने विशेष बात यह कही है कि पहले जो तीन प्रकार के सहित◈ प्रणायाम का अभ्यास किया जाता है उसका देश, काल और संख्या के द्वारा निश्चय किया जाता है । तब उसकी दीर्घ या सूक्ष्म संज्ञा होती है । इनमें रेचकका देश नासिकाग्रसे लेकर बाहरी ओर द्वादश अङ्गुल आदि है । उसका रूईके रूएँ आदिकी क्रियासे निश्चय किया जा

---

१ ईषीका—पा. २ पु. ।

* अर्थात् अभ्यासी इन दोनों क्रमोंमें से किसी भी एक क्रमसे अभ्यास कर सकता है ।

◈ जिस प्राणायाममें रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों रहते हैं उसे 'सहित प्राणायाम' कहा जाता है ।

निश्चेयः । पूरकस्य चामस्तकमापादतलमाभ्यन्तरो देशः। स च पिपीलिकास्पर्शतुल्यस्पर्शेन निश्चेयः । कुम्भकस्य च रेचकपूरकयोर्बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुच्चितावेव विषयः, उभयत्रैव प्राणस्य वृत्तिनिरोधात्। स चोक्तलिङ्गद्वयानुपलब्ध्या निश्चेयः[1] । एवं देशेनावधृतो व्याख्यातः ।

कालेनावधृतो यथा—'एतावत्क्षणं रेचकः कर्तव्यः' 'एतावत्क्षणं पूरकः कर्तव्यः' 'एतावत्क्षणं कुम्भकः कर्तव्यः' इत्येवमङ्गीकृतकालैरवधृत इति। संख्याभिरवधृतस्तु यथा मात्राणां द्वादशादिसंख्यात्रयेणावधृत इति। अत्र देशादित्रयाणां प्राणायामपरिच्छेदकत्वे विकल्प एव, न तु समुच्चयः; केवल-

सकता है। पूरकका देश मस्तकसे लेकर पादतल पर्यन्त शरीरके भीतर है। उसका चींटीके स्पर्शके समान वायुके स्पर्शद्वारा निश्चय किया जा सकता है। कुम्भकका देश तो रेचक और पूरक दोनों ही के बाह्य और आभ्यन्तर देश मिलकर हो सकते हैं, क्योंकि दोनों ही स्थानोंमें प्राणकी गतिका निरोध किया जा सकता है और उसका निश्चय उपर्युक्त दोनों लिंगोंकी उपलब्धि न होनेपर होता है। इस प्रकार देशके द्वारा निश्चित हुए प्राणायामकी व्याख्या हुई।

काल के द्वारा निश्चित इस प्रकार है जैसे—'रेचक इतने क्षणतक करना चाहिये, पूरक इतने क्षणतक और कुम्भक इतने क्षणतक' इस प्रकार अङ्गीकार किये हुए कालों द्वारा इनका निश्चय करना। तथा मात्राओं की द्वादश आदि तीन प्रकार की संख्याओं से निश्चय किया हुआ प्राणायाम संख्या के द्वारा निश्चित कहलाता है। यहाँ देशादि (देश, काल और संख्या) इन तीनों को जो प्राणायाम का परिच्छेदक बताया गया है इसमें विकल्प ही समझना चाहिये,

---

१ कुम्भकस्य च पूरकदेश एव विषयः, त्रयाणां सहानुष्ठाने पूरकानन्तरमेव श्रवणात्। स चोक्तलिङ्गानुपलब्ध्या निश्चेयः—पा. ३ पु.।

मात्राभिरपि प्राणायामपरिच्छेदस्य बहुशः स्मरणादिति । एवमभ्यासक्रमेण यदा देशकालसंख्याभिः परिच्छेद्यौ रेचक-पूरकौ विनैव माससंवत्सरादिस्थायी बहुदेशस्थायी[1] कुम्भको भवति, स केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः । तस्मिन्सत्या-काशगमनादिसिद्धयो जायन्ते । तदुक्तं वसिष्ठसंहितायाम्—

"रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥
सहितं केवलं वाऽपि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥

समुच्चय नहीं; [अर्थात् देश, काल और संख्या तीनों में से किसी एक के द्वारा भी प्राणायाम की दीर्घता या सूक्ष्मता का माप हो सकता है, तीनों ही के द्वारा उसका निश्चय करना आवश्यक नहीं है;] क्योंकि केवल मात्राओं द्वारा भी प्राणायाम के परिच्छेद का अनेक प्रकार से स्मृतियों में उल्लेख हुआ है । इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब देश, काल और संख्या से परिच्छेद्य रेचक और पूरक के विना ही मास और वर्षों तक रहनेवाला कुम्भक बहुदेशव्यापी हो जाता है तो वही केवल कुम्भक नामका चतुर्थ प्राणायाम कहा जाता है । उसके हो जाने पर आकाश गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । यही बात वसिष्ठसंहिता (योगवासिष्ठ) में इन वाक्यों द्वारा कही गयी है ।

'रेचक और पूरक को त्यागकर जो सुखपूर्वक वायुको धारण करना है वही केवल कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है । नित्य ही सहित या केवल कुम्भकका अभ्यास करना चाहिये । जब तक केवल कुम्भक सिद्ध न हो तब तक सहित कुम्भकका अभ्यास करे । रेचक और पूरकसे

१ व्यापी--पा. ३ पु. ।

केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते" ॥

इत्यादिभिरिति ।

प्राणायामे च मात्रा मार्कण्डेयपुराणादिषूक्ता—

"निमेषोन्मेषणे मात्रा तालो लघ्वक्षरं तथा ।
प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृता द्वादशमात्रिका[1] ॥"

इत्यादिभिः ।

मात्रा प्रमाणम् । द्वादशमात्रिका द्वादशगुणिता । इदं च द्वादशमात्रिकत्वं त्रिष्वेव सामान्यवचनात् । वसिष्ठसंहितादौ तु पूरकं षोडशमात्राभिः, कुम्भकं चतुःषष्टिमात्राभिः, रेचकं तु द्वात्रिंशन्मात्राभिरित्युक्तम् । अतो मुख्यकल्पानुकल्परूपेणात्र व्यवस्थेति ।

रहित जो केवल कुम्भक है उसके सिद्ध हो जानेपर उस योगीको तीनों लोकोंमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता ।'

प्राणायामके मापकी जो मात्रा है उसका मार्कण्डेय पुराण आदि ग्रन्थोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—'आँखोंके मूँदने और खोलनेमें, हाथोंसे ताली बजानेमें और एक लघु अक्षरके उच्चारणमें जितना समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं। प्राणायामकी संख्या करनेके लिये ऐसी द्वादश मात्राएँ स्मृतियोंमें बतायी हैं।'

'मात्रा' एक प्रमाण है। इससे बारह गुनी द्वादश मात्राएँ होती हैं। यह द्वादश मात्रा काल तीनोंही प्राणायामोंके लिए समान रूपसे कहा गया है। किन्तु वसिष्ठसंहिता आदि ग्रन्थोंमें तो पूरक सोलह मात्राओंसे, कुम्भक चौंसठ मात्राओंसे और रेचक बत्तीस मात्राओंसे करने का विधान है। अतः मुख्य कल्प (प्रधान विधि) और अनुकल्प (गौण विधि) मानकर इन दोनों ही वाक्योंकी गति लगायी जा सकती है।

---

१ स्मृतिर्द्वादशमात्रिका—पा. १ पु. ।

अन्यश्च प्राणायामे विशेषो नारदीयादिपूक्तः—

"अगर्भश्च सगर्भश्च द्वितीयस्तु तयोर्वरः ।
जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः" ॥

इत्यादिभिः । तत्र जपमन्त्र ईश्वरगीतायामुक्तः—

"सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥" इति ।

योगियाज्ञवल्क्ये तु —

"मात्राप्रमाणयोगेन प्राणापाननिरोधनात् ।
ॐकारेण तु कर्तव्यः प्राणायामो यथोदितः ॥" इति ।

केवलप्रणवजपोऽयं परमहंसानाम् । ध्यानं च पूरकादिक्रमेण नाभिहृदयललाटेषु ब्रह्मविष्णुशिवरूपाणां स्मृतिपूक्तम् । परमहंसानां

नारदीय पुराणादिमें प्राणायामकी एक दूसरी विशेषता यह बतायी है—'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ भेदसे दो प्रकारका है । इनमें दूसरा श्रेष्ठ है । जप और ध्यानसे रहित प्राणायाम 'अगर्भ' कहलाता है और इनसे युक्त 'सगर्भ' कहा जाता है ।' सो ईश्वर-गीतामें जपमन्त्र इस प्रकार बताया गया है—'प्राणोंका संयम करके व्याहृति, प्रणव और शिरोमन्त्रके सहित गायत्रीका तीन बार जप करे । इसे ही प्राणायाम कहते हैं ।' तथा योगियाज्ञवल्क्यमें कहा है—'प्राण और अपानका निरोध करके मात्राओंके प्रमाणानुसार ओंकार जप करते हुए विधिवत् प्राणायाम करना चाहिये ।'

यह जो केवल प्रणवका जप है वह परमहंस संन्यासियों के लिये है। स्मृतियोंमें पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय क्रमशः नाभि, हृदय और ललाट देशमें ब्रह्मा, विष्णु और शंकरके स्वरूपका ध्यान करना कहा है । तथा 'संयतचित्त यति प्रणवके द्वारा परब्रह्मका चिन्तन करे'

तु केवलमेव ब्रह्म ध्येयमुक्तम् 'प्रणवेन परब्रह्म[1] ध्यायीत निवतो यतिः' इत्यादिस्मृतिभिरिति दिक्।

इति प्राणायाम उक्तः।

प्रत्याहार उच्यते। नारदीये—

"विषयेषु प्रसक्तानि इन्द्रियाणि मुनीश्वराः।
समाहृत्य निगृह्णाति[2] प्रत्याहारस्तु स स्मृतः॥
अनिर्जित्येन्द्रियग्रामं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
मूढात्मानं च तं विद्याद्ध्यानं चास्य न सिध्यति॥"

इति।

इन्द्रियाणां निग्रहश्च वशीकरणम्, स्वेच्छानुविधायी[3] करणमिति यावत्। प्रत्याहार उक्तः।

यमादीनि चैतानि प्रत्याहारान्तानि योगाङ्गानि देह-

इत्यादि स्मृतियों द्वारा परमहंसके लिये केवल ब्रह्म ही ध्येय बतलाया गया है। ऐसा यहाँ समझना चाहिये। इस प्रकार प्राणायामका वर्णन हुआ।

प्रत्याहार—प्रत्याहारका वर्णन किया जाता है। नारदपुराणमें कहा है—'हे मुनीश्वरो! योगी जो विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंको सब ओर से हटाकर उनका निग्रह करता है वह प्रत्याहार कहलाता है। जो पुरुष इन्द्रियोंको अधीन किये बिना ही ध्यानमें लग जाता है उसे तो मूढचित्त ही समझना चाहिये। उसे ध्यान सिद्ध भी नहीं हो सकता।'

इन्द्रियोंको अपने वशमें करना अर्थात् उन्हें अपनी इच्छाकी अनुवर्तिनी बना लेना ही उनका निग्रह है। यह प्रत्याहारका वर्णन हुआ।

यमसे लेकर प्रत्याहार पर्यन्त जो ये योगके अंग हैं वे देह, प्राण

---

१ परं ब्रह्म—पा. २ पु.। २ निगृह्णानि—पा. १ पु.।
३ नुविधया—पा. १ पु.।

प्राणेन्द्रियाणां निग्रहरूपाणि । इतः परं चित्तनिग्रहरूपं धारणाद्यङ्गत्रयमभ्यर्हितं वक्तव्यम् ।

तत्र धारणोच्यते । 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो. ३. १.) । यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र चित्तस्य स्थिरीकरणमिति यावत् । देशाश्चोक्ता ईश्वरगीतायाम्—

"हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके ।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम् ॥" इति ।

ननु मूर्त्यादियोगे देशो घटते; सत्त्वपुरुषान्यतायोगे शुद्धब्रह्मयोगे वा कथं देशो घटतां ध्येयस्यापरिच्छिन्नत्वादिति चेत् ' अग्नेरिन्धनवत्स्वस्वोपाधिवृत्तेरेव तदुभयदेशत्वादिति ।

और इन्द्रियोंके निग्रहरूप ही हैं । इससे आगे योगके तीन प्रधान अंग धारणादिका, जो चित्तनिग्रह रूप हैं, वर्णन करना है ।

धारणा--उनमेंसे धारणाका वर्णन किया जाता है । चित्तको किसी देश-विशेषमें बाँध देना धारणा है । अर्थात् जिस देशमें ध्येयका चिन्तन करना हो उसमें चित्तको स्थिर कर देना । ईश्वरगीतामें देश ये बताये हैं—'हृदयकमल, नाभि, मूर्धा अथवा पर्वतशिखर इत्यादि देशोंमें चित्तको बाँध देना धारणा है ।'

प्रश्न—देशकी बात तो मूर्त्ति आदिके सम्बन्धमें घट सकती है; सत्व और पुरुषकी अन्यताख्याति अथवा शुद्ध ब्रह्मसम्बन्धी योगमें देशका किस प्रकार सम्बन्ध रह सकता है, क्योंकि यहाँ तो ध्येय अपरिच्छिन्न होता है ।

उत्तर—जैसे अग्नि अपनी उपाधि ईंधन आदिमें रहती है उसी प्रकार अपनी-अपनी उपाधिमें उपलब्ध होना यही इन ब्रह्म और सत्त्व (सत्त्वादि गुणरूपा प्रकृति) दोनोंका देश सम्बन्ध समझना चाहिये ।*

---

* अर्थात् जिस प्रकार व्यापक होने पर भी ईंधन आदि को अग्निका आश्रय कहा जाता है वैसे ही यद्यपि ब्रह्म और प्रकृति दोनों ही व्यापक हैं तथापि जिस हृदय आदि उपाधिमें इनकी उपलब्धि होती है वही इनका देश है ।

यावत्कालावस्थित्या धारणादित्रयं भवति, स काल ईश्वर-गीतायामवधृतः—

"धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादश धारणाः ।
ध्यानद्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते ॥" इति ।

द्वादश आयामाः प्राणयामा यावत्कालेन भवन्ति तावत्काल-परिमितं चित्तस्य यथोक्तैकाग्र्यं धारणेत्यर्थः । धारणोक्ता ।

ध्यानमुच्यते । तत्र देशे ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तरा-व्यवहितो ध्यानम् । यथा हृत्पुण्डरीकादौ चतुर्भुजादिचिन्तनम्, बुद्धिवृत्तौ वा तद्विवेकतश्चैतन्यचिन्तनम्, कारणोपाधौ चेश्वर-चिन्तनमिति । ईश्वरगीतायामप्येतदेवोक्तम्—

"देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिसंततिः ।
वृत्त्यन्तरैरसंस्पृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः ॥" इति ।

धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों कितने-कितने समय की स्थिति होनेपर सिद्ध होते हैं इसका निर्णय ईश्वरगीता में इस प्रकार किया है—'बारह आयाम की धारणा होती है, बारह धारणाएँ होनेपर ध्यान होता है और बारह ध्यान के बराबर स्थिति होनेपर समाधि कही जाती है ।' तात्पर्य यह है कि बारह आयाम अर्थात् बारह प्राणायाम जितने समय में होते हैं उतने समय तक चित्तकी पूर्वोक्त प्रकारकी एकाग्रता 'धारणा' कहलाती है । इस प्रकार धारणाका वर्णन हुआ ।

ध्यान—ध्यान का वर्णन किया जाता है । उस (धारणा के) देश में अन्य वृत्तियों से अव्यवहित जो ध्येयाकार वृत्तियोंका प्रवाह है वह 'ध्यान' कहलाता है । जैसे हृदयकमल आदि में चतुर्भुज आदि भगवद्विग्रहका चिन्तन करना अथवा बुद्धिवृत्तिमें उससे पृथक् करके चैतन्य का चिन्तन करना अथवा कारणरूपा उपाधि में ईश्वर का चिन्तन । यही बात ईश्वरगीता में भी कही है—'देशसम्बन्धिनी स्थिति का आश्रय लेकर जो अन्य वृत्तियोंसे असंस्पृष्ट बुद्धिकी वृत्तियोंका प्रवाह है उसीको विद्वान्लोग ध्यान समझते हैं' ।

ध्यानसमाध्योरपि कालनियम उक्त एवेति । ध्यानमुक्तम् ।

समाधिरुच्यते । तदेव ध्यानं यदा ध्येयावेशवशाद्ध्यानध्येयध्यातृभावदृष्टिशून्यं सद्ध्येयमात्राकारं भवति, तदा समाधिरुच्यते । कालनियमश्चोक्त एव । ध्यानाच्चास्यान्योऽपि विशेषोऽस्ति । अत्यन्ताभ्यर्हितादिविषयैरिन्द्रियसंनिकर्षे ध्यानस्य भङ्गो भवति, न तु समाधेरिति । तथा च स्मर्यते—

"तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किंचिद्बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥" इति ।

अत्र समाधिलक्षणे वृत्त्यन्तरनिरोधो न विशेषणं निरोधस्याङ्गित्वात्, किं तूपलक्षणमेवेति मन्तव्यम् । एतत्कालीनेनैव

ध्यान और समाधि के कालों का नियम पहले बताया ही जा चुका है । यह ध्यान का वर्णन हुआ ।

समाधि—अब समाधि का वर्णन किया जाता है । वही ध्यान जब ध्येय वस्तु के आवेश से ध्याता ध्येय और ध्यान दृष्टि से शून्य होकर केवल ध्येयमात्राकार हो जाता है तब समाधि कहा जाता है । इसके कालका नियम तो बताया ही जा चुका है । ध्यान से इसकी एक विशेषता और भी है । ध्यान का तो इन्द्रियों से अत्युत्कृष्ट विषयोंका सम्पर्क होने पर भंग हो जाता है, किन्तु समाधि का नहीं होता । ऐसा ही स्मृति (श्रीमद्भागवत) का वचन भी है— तब इस प्रकार आत्मा में चित्त का निरोध हो जानेपर योगी किसी भी बाह्य अथवा आभ्यन्तर वस्तु को नहीं देखता, जिस प्रकार कि तीर बनानेवालेने तीरमें चित्त लगा रहने के कारण अपने पास होकर जाते हुए राजा को नहीं देखा' ।

यहाँ समाधि के लक्षण में अन्य वृत्तियों के निरोध को उसका विशेषण नहीं बतलाया गया, क्योंकि यहाँ निरोध तो अङ्गी ही है, उसे तो समाधि का उपलक्षण (सूचक) ही मानना चाहिये । इस समय

वृत्तिनिरोधेन ध्येयसाक्षात्कारो जन्यत इत्यतः समाधिः संप्रज्ञातयोगस्य चरमाङ्गं भवति ।

ननु यदि समाधिकाल एव वृत्त्यन्तरनिरोधरूपः संप्रज्ञात-योगो भवति, तदा निरोधस्यैवाङ्गित्वे किं नियामकमिति चेत् '

उक्तमेव पुनः स्मार्यते । चित्तं स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं विभुत्वात्प्रकाशस्वभावत्वाच्च दर्पणवत् । तथाऽपि विषयान्त-रावेशदोषादभीष्टार्थो भाव्यमानोऽपि न साक्षात्कर्तुं शक्यते । अतो विषयान्तरवृत्तिनिरोध एव प्रतिबन्धकाभावरूपतया ध्येयसाक्षात्कारे साक्षात्कारणं भवति । समाधिरपि तु तत्राङ्गमेव, साक्षात्कारे वृत्त्यन्तरनिरोधद्वारैव हेतुत्वादिति ।

होनेवाले वृत्तियों के निरोध से ही ध्येयका साक्षात्कार होता है, अतः समाधि तो सम्प्रज्ञात योगका चरम अंग है ।

प्रश्न—यदि समाधिके समय ही अन्य वृत्तियों का निरोधरूप सम्प्रज्ञात योग होता है तो उस अवस्था में निरोधको ही समाधिका अङ्गी निश्चित करनेवाला कौन रहता है ।

उत्तर—यह बात पहले कही जा चुकी है । उसीका अब पुनः स्मरण कराया जाता है । चित्त स्वयं ही विभु और प्रकाशस्वरूप होने के कारण दर्पण के समान समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने में समर्थ है । किन्तु अन्यान्य विषयों के समावेश का दोष रहने के कारण यह भावना करने पर भी अपने अभीष्ट पदार्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकता । अतः अन्य विषयोंमें जानेवाली वृत्तियों का निरोध ही प्रतिबन्ध-काभावरूप होनेके कारण ध्येयके साक्षात्कार में मुख्य कारण होता है । समाधि भी उसमें केवल अंग ही है, क्योंकि ध्येय के साक्षात्कार में वह वृत्त्यन्तरके निरोध द्वारा ही कारण होती है ।

तदेवं धारणादित्रयं व्याख्यातम् । एतच्च त्रयमेकस्मिन्नालम्बने वर्तमानं संयम इत्युच्यते । तस्य च संयमस्य स्थूलादिक्रमेण विविक्तपरमात्मपर्यन्तं भूमिषु विनियोगः कर्तव्यः, 'तस्य भूमिषु विनियोगः' (यो. ३. ६.) इति सूत्रात्,

"स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत् ।"

इति स्मृतेश्च ।

अयं तूत्सर्ग एवेति प्रागेवोक्तम् । यतो यदीश्वरप्रसादात्सद्गुरुप्रसादाद्वाऽऽदावेव सूक्ष्मसूक्ष्मभूमिकायामवस्थितियोग्यता स्वचित्तस्य दृश्यते तदा न स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमिकया मुमुक्षुभिः कालक्षेपः कर्तव्यः उत्तरभूमिकारोहरूपस्य पूर्वभूमिकाप्रयोजनस्यान्यत एव सिद्धेः । तथा च स्मर्यते—

"सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत्स्वार्थसाधकम् ।

संयम—इसप्रकार धारणादि अन्तरंग योगाङ्गोंकी व्याख्या हुई । ये ही तीनों जब एक ही आलम्बनमें रहते हैं तो 'संयम' कहलाते हैं । इस संयमका स्थूल तत्त्वोंसे लेकर सर्वातीत परमात्मा पर्यन्त सम्पूर्ण भूमियोंमें विनियोग करना चाहिये । 'उसका भूमियों में विनियोग करें' इस सूत्र और 'स्थूलमें जीते हुए चित्त को फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म विषयोंमें ले जाय' इस स्मृतिद्वारा भी यही बात सिद्ध होती है ।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि यह सर्व साधारण के लिये सामान्य नियम है, क्योंकि यदि भगवान् या सद्गुरु की कृपासे अपने चित्तकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भूमिकाओं में स्थिर होनेकी योग्यता दिखायी दे तो स्थूलादिपूर्व-पूर्व भूमिकाओं में लगाकर मुमुक्षुओंको अपना समय नहीं खोना चाहिये; कारण कि उत्तर भूमिकाओं में आरूढ़ होनारूप जो पूर्व भूमिकाओं का प्रयोजन है वह तो इसे [भगवत्कृपा रूप] दूसरे ही उपाय से प्राप्त हो चुका है । ऐसा ही यह स्मृति भी कहती है—'जो अपने प्रयोजन की पूर्ति करनेवाला हो ऐसे एक ही सारभूत ज्ञानका

ज्ञानानां बहुता यैषा योगविघ्नकरी हि सा ॥
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत् ।
आ स कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥" इति ।

अतोऽत्र प्रकृष्टाधिकारिणां परमात्मालम्बन एव संयमप्रकारोऽस्माभिरुदाह्रियते । सत्त्वपुरुषान्यतालम्बनस्य तु संयमस्य प्रकारांस्तच्छेषतयैव वक्ष्यामः । तत्र परमात्मसंयमे नारदीयहरिभक्तिसुधोदयस्थ प्रकारः कथ्यते । यथा—

नारद उवाच ।
"विलाप्य विस्तरं कृत्स्नं चिदेकरसबोधने ।
राजयोगं प्रवक्ष्यामि तं शृणुध्वं द्विजोत्तमाः ॥ १ ॥
वेदान्तेभ्यः सतां सङ्गात्सद्गुरोश्च स्वतस्तथा ।
ज्ञेयोऽन्तः प्रकृतेरन्य आत्मा सम्यङ् मुमुक्षुभिः ॥ २ ॥

आश्रय लेना चाहिये । यह जो ज्ञानों की अनेकता है वह तो योगमें विघ्न करनेवाली ही है । जो पुरुष 'यह भी मेरे जानने की वस्तु है, यह भी मेरे जानने की वस्तु है' इस प्रकार प्यासे की तरह भटकता रहता है वह हजारों कल्पों में भी अपने वास्तविक ज्ञेय को प्राप्त नहीं कर सकता ।'

अतः यहाँ उत्कृष्ट अधिकारियोंके लिये परमात्मारूप आलम्बनमें ही संयम करने का प्रकार हम वर्णन करते हैं । सत्त्व और पुरुष की अन्यताको आलम्बन करनेवाले संयम की विधिका तो हम उसके अंगरूपसे वर्णन करेंगे । सो, अब नारदीय हरिभक्तिसुधोदयमें आये हुए परमात्मसंयम के प्रकार का वर्णन किया जाता है—

नारदजी बोले—'विप्रवर ! मैं चिदेकरस परमात्मा के ज्ञान के लिये सब प्रकार के विस्तार को त्यागकर राजयोगका वर्णन करता हूँ, आप उसे सुने ॥ १ ॥ मुमुक्षु पुरुष को वेदान्त, सत्पुरुषों के संग और सद्गुरु के द्वारा तथा स्वयं भी यह अच्छी तरह जान लेना चाहिये

इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा सङ्गं सर्वं ततस्त्यजेत् ।
अद्वैतसिद्धौ यततामन्यसङ्गो ह्यरिः स्फुटम् ॥ ३ ॥

एकान्ते स्वासनो धीरः शुचिर्दक्षः समाहितः ।
यतेतोपनिषद्दृष्टमायाभिन्नात्मदर्शने ॥ ४ ॥

पराक्प्रवृत्ताक्षगणं योगी प्रत्यक्प्रवाहयेत् ।
रुद्ध्वा मार्गं तदत्यन्तं मुक्तास्त्रौघमिवार्जुनः ॥ ५ ॥

स्थापयित्वा पदेऽक्षाणि स्वे स्वेऽन्तस्तु मनः शनैः ।
निवृत्तसैन्यं राजानं वेश्मेवान्तः प्रवेशयेत् ॥ ६ ॥

अन्तःस्थिते[1] च मनसि न चलन्तीन्द्रियाण्यपि ।
अभ्राणि स्तिमितानीव चोदकेऽन्यगतेऽनिले[2] ॥ ७ ॥

कि आत्मा प्रकृति से भिन्न है ॥२॥ इस प्रकार आत्मा को दृढ़तासे जान कर सब प्रकार का संग त्याग दे । जो लोग अद्वैत तत्त्वकी अनुभूति के लिये प्रयत्न करनेवाले हैं उनके लिये अन्य संग तो साक्षात् शत्रु ही है ॥ ३ ॥ साधक एकान्तमें सुखपूर्वक आसनमें बैठकर धैर्य, पवित्रता, दक्षता और सावधानीसे उपनिषत्प्रतिपादित मायातीत परमात्माका साक्षात्कार करने के लिये यत्न करे ॥ ४ ॥ अर्जुन ने जिस प्रकार छोड़े हुए बाणोंको रोक लिया था उसी प्रकार योगी को चाहिये कि बाहर की ओर जानेवाली इन्द्रियों को सर्वथा उनका मार्ग रोककर भीतरकी ओर ले जाय ॥ ५ ॥ सेनाको लौटाकर ले जानेवाला राजा जैसे अपने अन्तःपुरमें प्रवेश करता है वैसे ही इन्द्रियोंको अपने-अपने गोलकोंमें स्थितकर धीरे-धीरे मनको भीतरकी ओर ले जाय ॥ ६ ॥ मन भीतर स्थित हो जानेपर इन्द्रियाँ भी चंचल नहीं रहतीं, जिस प्रकार प्रेरक वायुके शान्त हो जानेपर बादल भी गतिशून्य-से हो जाते हैं ॥ ७ ॥

---

१ अन्तर्नीते च--पा. २. पु. । २ अखिले--पा. १. पु. ।

[1]ततो वपुरहंकारबुद्धिभ्योऽन्ये चिदात्मनि ।
तासां प्रवर्तयितरिं स्वात्मनि स्थापयेन्मनः ॥८॥
मुधा कर्तृत्वभोक्तृत्वमानिनं तमथामलम् ।
सर्वात्मनि चिदानन्दघने विष्णौ सुयोजयेत् ॥९॥
सलिले करकाश्मेव[2] दीपोऽग्नाविव तन्मयः ।
जीवो मौढ्यात्पृथग्बुद्धौ युक्तो ब्रह्मणि लीयते ॥१०॥
अयं च जीवपरयोर्योगो योगाभिधो द्विजाः ।
[3]सर्वोपनिषदामर्थो मुनिगोप्यः परात्परः ॥११॥
एवं ब्रह्मणि युक्तात्मा सन्निरन्तरचिद्रसः[4] ।
आसीताभ्यन्तरं बाह्यं विलाप्य जगदात्मनि ॥१२॥
क्रमाद्विलापयन्नेव कठिनांशोपमं जगत् ।
विस्तरं स्वात्मविद्योगी निर्विशेषं विलापयेत् ॥१३॥

फिर शरीर, अहंकार और बुद्धि से भिन्न एवं उनके प्रेरक चेतनस्वरूप अपने आत्मामें मन को स्थापित करे ॥ ८ ॥ जो व्यर्थ ही अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अभिमान करता है ऐसे उस निर्मल आत्माको सर्वात्मा चिदानन्दघन भगवान् विष्णुमें सम्यक् प्रकारसे स्थित करे ॥ ९ ॥ जिस प्रकार ओला जलमें और दीपक अग्निमें मिलकर तद्रूप हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानवश अपनेको पृथक् समझनेवाला जीव तत्त्वज्ञानसे युक्त होनेपर ब्रह्ममें लीन हो जाता है ॥ १० ॥ हे द्विजवर! यह जीव और परमात्माका योग ही योग कहलाता है। यही सम्पूर्ण उपनिषदोंका तात्पर्य है, मुनियोंद्वारा गोपनीय है और श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥ इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर सभीको विश्वात्मामें लीन करके पर-ब्रह्मसे अभिन्न हो निरन्तर चिदानन्दरूपसे स्थित रहे ॥ १२ ॥ इस प्रकार क्रमशः इस कठिनांशरूप जगत्को लीनकर फिर वह आत्मज्ञ योगी विस्तृत निर्विशेष (सूक्ष्म या कारण) जगत्का भी लय कर

---

१ ततः पुनरहंकार—पा. २. पु. । २ करकाश्येव—पा. २. पु. ।
३ स चो—पा. २. पु. । ४ सद्रसः—पा. २. पु. ।

एवं सततयुक्तात्मा क्रमाद्विष्णुमयो भवेत् ।
न हि सैन्धवशैलोऽपि क्षणादम्बुमयो भवेत् ॥१४॥
व्युत्थितोऽपि जगत्कृत्स्नं विष्णुरेवेति भावयन् ।
निर्ममो निरहंकारश्चरेच्छिथिलसंसृतिः ॥१५॥
एवं सततमभ्यासाल्लीनबुद्धेः परात्मनि ।
कर्माणि बुद्धिपूर्वाणि निवर्तन्ते स्वतो द्विजाः ॥१६॥
पूर्वाभ्यासबलात्कार्यो न लौक्यो न च वैदिकः ।
अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ १७ ॥
तद्देहपाते च पुनः सर्वगो[1] न स जायते ।
एवमद्वैतयोगेन विमुक्तिर्वो मयोदिता ॥ १८ ॥' इति ।

दे ॥ १३ ॥ इस तरह निरन्तर युक्तचित्त रहनेवाला वह मुनि क्रमशः विष्णुमय ही हो जाता है । [यह सब धीरे-धीरे ही होता है, क्योंकि] नमकका पहाड़ भी एक क्षणमें ही जलरूप नहीं हो सकता ॥ १४ ॥ उसे व्युत्थान अवस्थामें भी सम्पूर्ण जगत्के विषयमें 'यह विष्णु ही है' ऐसी भावना रखनी चाहिये तथा ममता और अहंकारसे शून्य रहकर संसारबन्धनको शिथिल रखते हुए व्यवहार करना चाहिये ॥ १५ ॥ द्विजगण ! इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेसे जिसकी बुद्धि परात्मामें लीन हो गयी है ऐसे उस तत्वदर्शीके बुद्धिपूर्वक कर्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं ॥ १६ ॥ वह लौकिक या वैदिक किसी भी प्रकारके कर्म नहीं करता । उसके सब कार्य केवल पूर्वाभ्यासके कारण ही होते हैं । वह पुण्य-पापसे रहित सर्वात्मा 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है ॥ १७ ॥ वह सर्वगत है, इसलिये देहपात होनेपर उसका पुनर्जन्म नहीं होता । इस प्रकार अद्वैतबोधके द्वारा मैंने तुम्हें मोक्षप्राप्तिका क्रम बतलाया' ॥ १८ ॥

---

१ सर्वतो—पा. १. पु. ।

एतेषां[1] वाक्यानां कठिनांशो व्याख्यायते। आदौ वेदान्तादिभ्य[2] आत्मानात्मसामान्यं सविकारप्रकृतितो विवेकेनावधार्यमित्येवं साधनैरात्मानं दृढं ज्ञात्वा[3] श्रवणमननाभ्यां निश्चित्य ततः सर्वसङ्गं त्यजेत्, योगेनात्मसाक्षात्काराय परमहंसाश्रमी भवेत्। अद्वैतसिद्धिर्वक्ष्यमाणाद्वितीयसाक्षात्कारः कैवल्यनिष्पत्तिर्वा।

संन्यस्य यत्कार्यं तदाह—एकान्त इति। उपनिषद्दृष्ट उपनिषत्सु श्रुतः। मायाभिन्नः प्रकृतिविविक्तः। अथ वा मायाशब्देनात्र जीवात्मा[4] विवक्षितः, ततोऽपि विवेकेनात्र परमात्मन एव ज्ञेयतया वक्ष्यमाणत्वात्परमात्मावरकत्वेन जीवेऽपि मायाशब्दप्रयोगौचित्याच्च।

अब इन वाक्योंके कठिन अंशकी व्याख्या की जाती है। पहले वेदान्तादिके द्वारा आत्मा और अनात्माके सामान्य स्वरूपको जानकर अर्थात् प्रकृति और उसके विकारसे आत्माको पृथक् करके जानना चाहिये। इस प्रकार साधनोंके द्वारा आत्माको दृढ़तापूर्वक जानकर—श्रवण और मननके द्वारा उसका निश्चय करके फिर सब प्रकारके संगका त्याग करे अर्थात् योगके द्वारा आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिके लिये संन्यासाश्रम ग्रहण करे। अद्वैतसिद्धि, जिसका वर्णन आगे किया जायगा, दूसरा साक्षात्कार है, अथवा यह आत्माकी कैवल्यप्राप्ति है।

संन्यास लेकर जो कुछ करना चाहिये वह बात 'एकान्ते' इत्यादिसे कही गयी है। उपनिषद्दृष्ट—उपनिषदोंद्वारा सुने हुए तथा मायाभिन्न—प्रकृतिसे पृथक्। अथवा मायाशब्दसे यहाँ जीवात्माका उल्लेख करना अभीष्ट है, क्योंकि उससे भी पृथक् करके परमात्माको ही यहाँ ज्ञेयरूपसे कहा जायगा तथा परमात्माका आवरण करनेवाला होनेसे जीवके लिये भी माया शब्दका प्रयोग उचित ही है।

---

१ एषां—पा. १. पु.। २ वेदान्तेभ्य—पा. १. पु.।
३ तत्त्वं— पा. १. पु.। ४ अपीत्यधिकः २. पु.।

यत्नप्रकारमाह—परागित्यादिना। पराक् वहिः। प्रत्यक् अन्तरम्। तन्मार्गं बहिर्मार्गम्। अनेन श्लोकेन प्रत्याहार एवोक्तः। यमादयः प्राणायामान्ताश्च वहिरङ्गत्वेनानावश्यकत्वादत्र नोक्ताः। अथ वा 'एकान्ते स्वासनो धीरः' इत्यादिवाक्येनैव संक्षेपाद्यमाद्यङ्गचतुष्कमुक्तम्।

प्रत्याहारमुक्त्वा संयमप्रकारमाह—ततो वपुरित्यादिद्वाभ्याम्। अत्र प्रथमश्लोकेनान्तर्यामिणः परमात्मनो देशे जीवात्मनि चित्तस्थापनरूपा धारणा प्रोक्ता[1]। मुधेत्यादिश्लोकेन च ध्यानसमाधी संक्षेपेणोक्तौ। तस्यार्थः। तं जीवात्मानं मुधा वृथा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिषु स्वातन्त्र्याभिमानम् अमलमुपाधिविविक्तत्वाच्छुद्धं सर्वेषां यथोक्तानां देहादिजीवान्तानामात्मनि

'पराक्' इत्यादिसे उस प्रयत्नका प्रकार वताया गया है। 'पराक्' बाहरको कहते हैं और 'प्रत्यक्' भीतरको। 'तन्मार्गं' (उनके मार्ग) अर्थात् उनके बाह्य मार्गको। इस (पाँचवें) श्लोकद्वारा प्रत्याहारका ही वर्णन किया गया है। यमसे लेकर प्राणायामपर्यन्त योगके बाह्य अंग हैं, अतः अनावश्यक होनेके कारण यहाँ उनका वर्णन नहीं किया। अथवा यह समझना चाहिये कि 'एकान्ते स्वासनो धीरः' इत्यादि वाक्यसे ही संक्षेपमें यमादि चार अंगोंका वर्णन कर दिया गया है।

प्रत्याहारका वर्णन करके फिर 'ततो वपुः' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा संयमकी विधि कही गयी है। यहाँ पहले श्लोकद्वारा तो परमात्माके देशस्वरूप जीवात्मामें चित्तको स्थापित करनारूप धारणाका वर्णन किया है तथा 'मुधा' इत्यादि (नवें) श्लोकसे संक्षेपमें ध्यान और समाधिका वर्णन किया गया है। उस श्लोकका तात्पर्य यह है—उस जीवात्माको, जो मुधा—वृथा ही कर्तृत्व भोक्तृत्वादिमें अपनी स्वतन्त्रताका अभिमान करता है, किन्तु जो उपाधिसे पृथक् होनेके कारण सर्वथा निर्मल—

---

१ धारणोक्ता—पा. २. पु.।

परमात्मनि स्वोपाधिविविक्ते सु योजयेद् विलापयेत्। प्रलीनाखिलजीवकं परमात्मानं चिन्तयेदिति।

ज्ञेयत्वोपपादनाय प्रलयस्यैव तात्त्विकत्वं दृष्टान्तेनाह—सलिल इति। जीवो लोकैर्मोहादेव परमात्मनः पृथग्बुद्धौ विभक्ततया[1] ज्ञायते, विभागस्य नैमित्तिकत्वेनाल्पकालावस्थायित्वादिना च विकारवद्वाचारम्भणमात्रत्वात्। तत्त्वतस्तु जीवो युक्तो योगाख्यसाधनवान् सलिलादौ करकादिरिव[2] ब्रह्मणि लीयते यतस्तन्मयः, तत्कार्य इत्यर्थः।

शेषं स्पष्टप्रायमिति दिक्।

तदेवमष्टौ योगाङ्गान्युक्तानि। तत्राङ्गतायामयं विशेषः सूत्रकारेणोक्तः। प्रत्याहारपर्यन्तपञ्चाङ्गापेक्षया धारणादित्रयं

बुद्ध है, परमात्मामें युक्त अर्थात् लीन करे, जो देहसे लेकर जीवपर्यन्त उपर्युक्त सभीका अन्तरात्मा है और अपनी उपाधियोंसे पृथक् है। तात्पर्य यह कि उस परमात्माका चिन्तन करे जिसमें सम्पूर्ण जीव लीन हैं।

परमात्माके ज्ञेयत्वका उपपादन करनेके लिये 'सलिले' इत्यादि (दसवें) श्लोकसे दृष्टान्तपूर्वक प्रलयकी ही तात्त्विकता बतलाते हैं। लोगोंको मोहवश ही अपनी भेददृष्टिसे जीव परमात्मासे पृथक् जान पड़ता है; क्योंकि यह विकार तो नैमित्तिक है, अतः अल्पकालस्थायित्व आदि दोषोंके कारण यह वाणीका विलासमात्र ही है। तत्त्वतः तो यह युक्त—योगरूप साधनवाला जीव जल आदिमें ओले आदिके समान ब्रह्ममें लीन हो जाता है, अतः तन्मय—उस (ब्रह्म) का कार्य ही है।

और सब प्रायः स्पष्ट ही है—सो दिखला दिया।

सो, इस प्रकार आठ योगाङ्गोंका वर्णन हुआ। इनकी अंगतामें सूत्रकारने यह विशेषता बतायी है कि प्रत्याहारपर्यन्त पाँच अंगोंकी

---

१ विविक्ततया—पा. २. पु.। २ करका इव—पा. १. पु.।

संप्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गं भवति, पञ्चाङ्गानां प्रायशो देहप्राणे-न्द्रियसंस्काररूपत्वात्, धारणादित्रयस्य तु योगाश्रयचित्तसं-स्कारत्वात्। किं च पञ्चाङ्गानामभावेऽपि[1] प्राग्भवीयैस्तैः कदाचिद्योगो भवति, धारणादित्रयस्य तु सहभावेनैवाङ्गतया तेन विना योगो न जायत इति। तदेवं धारणादि-त्रयमन्तरा[2] असंप्रज्ञातस्य निरालम्बनत्वात्, जन्मान्तरीयेण धारणादिनौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याणां देवविशेषाणां भवप्रत्यया-संप्रज्ञातयोगस्योक्तत्वाच्चेति दिक्।

अपेक्षा धारणा आदि तीन अंग सम्प्रज्ञात योगके अन्तरंग साधन हैं, क्योंकि पहले पाँच अंग तो प्रायः प्राण और इन्द्रियोंके संस्काररूप ही हैं और धारणा आदि तीन अंग योगके आश्रयभूत चित्तका संस्कार करनेवाले हैं। इसके सिवा पूर्वजन्मका संस्कार होनेपर पहले पाँच अंगोंके अभावमें भी कभी-कभी इन तीनके द्वारा ही योग सिद्ध हो जाता है। किन्तु धारणादि तीन अंग तो एक साथ रहकर ही योगके अंग बनते हैं, अतः उनके बिना योग नहीं हो सकता। और इसी प्रकार निरालम्ब होनेके कारण असम्प्रज्ञात योग इन धारणादि तीन अङ्गोंके बिना भी हो सकता है, जैसे कि जन्मान्तरके धारणादिसे जिन्हें जन्मसे ही ज्ञान और वैराग्य प्राप्त हैं ऐसे देवविशेषोंको भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्ति बतायी है; सो सब ध्यानमें रखना चाहिये।

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे
योगसाधननिरूपणं द्वितीयोंऽशः।

———

१ पञ्चाङ्गानामैहिकानामभावेऽपि—पा. २. पु.।

२ तदपि धारणादित्रयमसंप्रज्ञातस्य च बहिरङ्गं भवति—पा. २. पु.।

अथ तृतीयोंऽशः ।

अतः परं संयमसिद्धयो वक्तव्याः। सिद्धिकामानां ज्ञानादिप्रतिबन्धकतृष्णोपशमाय तत्तत्संयमनिष्पत्त्यवधारणाय च, तथा मुमुक्षूणां हेयत्वप्रतिपादनाय। तथा च सर्वसिद्धान्ते सूत्रम् 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (यो. ३. ५०.) इति।

अत्र विषयभेदेन अनन्तानां संयमानामनन्ताः सिद्धयः। तासु कियत्य एव सूत्रभाष्याभ्यामुक्ताः। अस्माभिस्तु

तृतीय अंश

संयमसिद्धियाँ

अब आगे संयमसे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन करना है। जो सिद्धियोंकी इच्छावाले हैं उनके ज्ञानादि की प्रतिबन्धक तृष्णाकी निवृत्तिके लिए, अमुक संयम के द्वारा अमुक सिद्धि निष्पन्न होती है— इसका निश्चय करनेके लिए तथा मुमुक्षुओंके लिए ये सिद्धियाँ त्याज्य हैं—ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए इनका वर्णन किया जाता है। सबके सिद्धान्तानुसार ऐसा ही यह सूत्र भी है—'उन सिद्धियोंसे भी वैराग्य होनेपर दोषके बीजका क्षय हो जानेसे कैवल्य प्राप्त होता है।'

यहाँ विषयोंका भेद होने पर अनन्त संयमोंके द्वारा अनन्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। उनमेंसे कुछका ही सूत्र और भाष्य द्वारा वर्णन

ग्रन्थबाहुल्यभिया ताभ्योऽपि समुद्धृत्य सारतरा एव सिद्धय उच्यन्ते । तत्र संयमविषयसाक्षात्कारा एव संयमसिद्धितयाऽत्र कथ्यन्ते। संयमानां स्वस्वविषयसाक्षात्कार-हेतुतायाः सामान्यत एव लब्धत्वात् 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः' (यो. १. ४१) इति सूत्रेण, तथा 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (यो. ३. २६.) इत्यादिसूत्रेष्वन्यविषयकसंयमसिद्धितयाऽन्यज्ञानादेः कथनाच्च। किं तु स्वविषयसाक्षात्कारपर्यन्तस्य संयमस्य विषयान्तर-ज्ञानादिरेव सिद्धितया कथ्यत इति मन्तव्यम् । अन्यविषयक-संयमस्य प्रतिनियतान्यपदार्थज्ञानादिकं योगजधर्मद्वारा भवति, यज्ञविशेषात्स्वर्गविशेषवदिति ।

किया गया है। हम तो ग्रन्थविस्तारके भयसे उनमेंसे भी छाँटकर केवल अत्यन्त सारभूत सिद्धियोंका ही वर्णन करेंगे। वास्तवमें तो संयमके विषयोंके साक्षात्कार ही यहाँ संयमकी सिद्धियोंके रूपमें कहे गये हैं। संयम अपने-अपने विषयके साक्षात्कारके हेतु हैं—यह बात तो सामान्यतः इस सूत्रसे ही प्राप्त है—'जिसकी चित्तवृत्ति क्षीण हो गयी है उस योगीको स्वच्छ मणिके समान ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यमें तत्स्थ एवं तदञ्जनतारूप समापत्ति प्राप्त होती है।' इसके सिवा 'सूर्यमें संयम करनेसे सम्पूर्ण भुवनोंका ज्ञान हो जाता है' इत्यादि सूत्रोंमें अन्य विषयमें संयम करनेसे अन्य वस्तुके ज्ञानादिका भी वर्णन किया है। तथापि समझना यह चाहिये कि अपने विषयका साक्षात्कार होनेतक किये जानेवाले संयमसे जो विषयान्तरके ज्ञानादि होते हैं वे ही उसकी सिद्धिरूपसे कहे जाते हैं। अन्य विषयक संयमसे उस प्रतिनियत अन्य वस्तुके ज्ञानादि तो योगज धर्मद्वारा हुआ करते हैं, जैसे किसी विशेष यज्ञसे किसी विशेष स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

तत्र यस्मात्संयमादात्मसाक्षात्काररूपा सिद्धिर्भवति तदुभय-मेवाभ्यर्हितत्वादादावुच्यते । तत्र सूत्रम्—'सत्त्वपुरुषयो-रत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थ-संयमात्पुरुषज्ञानम्' (यो. ३. ३५.) इति । भोगमध्ये बौद्धप्रत्ययविवेकेन पौरुषप्रत्यये संयमः कर्तव्य इत्याशयेन भोगोऽप्यत्र लक्ष्यते । तथा चायमर्थः । सत्त्वमुपाधिः कार्यकारणसाधारणः । पुरुषस्तद्वति साक्षी जीवेश्वरसाधारणः । तयोरत्यन्तासंकीर्णयोस्तमःप्रकाशवदत्यन्तविधर्मणोरपि यः पर-स्पर[1]प्रतिविम्बवशात्प्रत्ययाविशेषः प्रत्यययोर्विवेकाग्रहणमेकत्व-

आत्मसाक्षात्कार करानेवाला संयम

अब, जिस संयमके द्वारा आत्मसाक्षात्काररूपा सिद्धि होती है, वह [संयम और सिद्धि] दोनों ही विशेष महत्त्वशाली होनेके कारण, पहले उसीका वर्णन किया जाता है। इस विषयमें यह सूत्र है—'प्रकृति और पुरुष, जो सर्वथा असंकीर्ण (बिना मिले हुए) हैं उनका अभेद-ज्ञान ही भोग (भोगका कारण) है; प्रकृति परार्थ है, अतः उसे छोड़-कर स्वार्थ (अपने स्वरूपभूत तत्त्व) में संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान हो जाता है।' भोगके बीचमें भी बुद्धिजनित प्रतीतिसे पृथक् करके पुरुषसम्बन्धी ज्ञानमें ही संयम करना चाहिये—इसी अभिप्रायसे यहाँ भोगको भी लक्षित कराया जाता है। इस प्रकार इसका तात्पर्य यह है—सत्त्व (प्रकृति) कार्य और कारणरूपमें समानभावसे रहनेवाली उपाधि है तथा पुरुष उस उपाधिसे युक्तमें साक्षी है, जो जीव और ईश्वरमें समान रूपसे स्थित है। उन अत्यन्त असंकीर्ण—अन्धकार और प्रकाशके समान अत्यन्त विरुद्ध धर्मवालोंमें भी प्रतिविम्बके कारण जो प्रत्यया-विशेष अर्थात् प्रत्ययोंके पार्थक्यका अग्रहण अथवा एकत्वका भ्रम है,

---

१ प्रतिवन्धकवशात्—पा. १. पु. ।

भ्रमो वा शब्दाद्याकारवृत्तिरेव ज्ञानमित्येवं तप्तायःपिण्डवदेकतावृत्तिरूपः, स भोगो मुख्य इति विशेषः। तथा च भाष्यम्—'इष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोग' इति। तयोः प्रत्यययोर्मध्ये संहत्यकारित्वात्परार्थो यः शब्दाद्याकार उपाधिसत्त्वस्य प्रत्ययस्तस्माद्भेदेन स्वार्थे ज्ञानरूपे पुरुषस्य प्रत्यये संयमात्तदुभयविवेकसाक्षात्कारपर्यन्तात्पुरुषज्ञानं कूटस्थविभुनित्यशुद्धमुक्तत्वादिनाऽऽत्मसाक्षात्कारो[1] भवति। अखिलप्रपञ्चात्पुरुषस्य विवेकोऽनुभूयत इति यावत्। अत्र परार्थत्वं स्वार्थत्वं च प्रत्यययोर्विवेकहेतुविधयोपन्यस्यते। तत्र परार्थत्वं परमात्रस्य भोगापवर्गसाधनत्वम्। स्वार्थत्वं स्वभोगापवर्गसाधनत्वम्। अत्र तु भोगो विषयानुभवमात्रमिति।

और जो 'शब्दादि विषयाकार वृत्ति ही ज्ञान है' इसके समान एवं तपाये हुए लोहपिंडमें अग्नि और लोहेकी एकतावृत्तिरूप भ्रमके समान है, वही विशेषरूपसे मुख्य भोग है। ऐसा ही भाष्यमें कहा है—'इष्ट, अनिष्ट और अविविक्त गुणोंके स्वरूपका निश्चय ही भोग है।' उन प्रत्ययोंमें जो शब्दाद्याकार उपाधिरूप सत्वका प्रत्यय है वह परस्पर मिलकर प्रवृत्त होनेके कारण परार्थ है। उससे पृथक् करके स्वार्थमें अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुषके प्रत्ययमें उन दोनोंके विवेकसाक्षात्कारपर्यन्त संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान अर्थात् कूटस्थ, विभु, नित्य, शुद्ध, मुक्त आदि रूपसे आत्माका साक्षात्कार होता है। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण प्रपञ्चसे पुरुषके पार्थक्यका अनुभव हो जाता है। यहाँ परार्थत्व और स्वार्थत्वका प्रकृति और पुरुषके प्रत्ययोंके पार्थक्यमें हेतुरूपसे उल्लेख किया है। इनमें परमात्र (अपनेसे भिन्नमात्र) के भोग और मोक्षकी साधनता परार्थता है तथा अपने ही भोग और मोक्षकी साधनतामें स्वार्थता है। यहाँ विषयोंका अनुभवमात्र ही 'भोग' समझना चाहिये।

---

१ कूटस्थशुद्धबुद्धमुक्तत्वादिनास्य साक्षात्कारो—पा. २. पु.।

ननु पौरुषेयप्रत्ययः पुरुषस्य स्वरूपमेव; अतः कथं तस्मात्साक्षात्कार[1]पर्यन्तस्य संयमस्य पुरुषज्ञानं फलं स्यात् तस्य प्रागेव सिद्धत्वादिति चेत्

न, घटाकाशवच्छब्दादिवृत्त्यवच्छिन्नचिदाकाशभागस्य वृत्तिविवेकेन साक्षात्कारात्; परिपूर्णत्वादिरूपैरखिलप्रपञ्चविवेकेन च तत्साक्षात्कारस्य सिद्धिरूपस्य भिन्नत्वादिति दिक्।

तमिमं संयमं विहायात्मसाक्षात्कारस्यान्य उपायो नास्ति। अत आत्मजिज्ञासुभिरयमेव संयमः संयमान्तराण्यणिमादिसिद्धिहेतुभूतानि विहाय कर्तव्य इति सांख्ययोगयो रहस्यं स्वानुभवसिद्धमुपदिष्टम्। एतस्मिंश्च संयमे

प्रश्न—पौरुष प्रत्यय तो पुरुषका स्वरूप ही है, अतः साक्षात्कारपर्यन्त उस पौरुषप्रत्ययके संयमका फल पुरुषका ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि वह तो पहले ही से विद्यमान है।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार घटसे अवच्छिन्न आकाशका साक्षात्कार घटसे विवेक करनेपर होता है उसी प्रकार शब्दादिवृत्तियोंसे अवच्छिन्न चिदाकाशके भागका साक्षात्कार वृत्तियोंसे विवेक करनेपर होता है। और सम्पूर्ण प्रपञ्चका विवेक करनेपर परिपूर्णत्वादिरूपसे होनेवाला सिद्धिरूप जो परमात्माका साक्षात्कार है वह इससे भिन्न है—यह यहाँ दिखाया गया है।

इस संयम को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार का कोई दूसरा उपाय नहीं है। अतः आत्मजिज्ञासुओंको अणिमादि सिद्धियों के हेतुभूत अन्य संयमों को छोड़कर केवल यही संयम करना चाहिये। इस प्रकार यह अपने अनुभव से सिद्ध सांख्य और योग के रहस्य का उपदेश किया गया है। इस संयम के करने पर पुरुषज्ञानकी चिह्नस्वरूपा प्रातिभ, श्रावण,

---

१ तत्साक्षात्कार—पा. २. पु.।

क्रियमाणे, अन्या अपि सिद्धयः पुरुषज्ञानस्य लिङ्गभूता आदौ जायन्ते प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवात[1]संज्ञकाः।

तत्र दृष्टकारणं विनैव अकस्माद्व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्माद्यर्थस्फुरणसामर्थ्यं प्रतिभा, तज्जन्यं ज्ञानं प्रातिभं मनसः सिद्धिः। तथा व्यवहितादिश्रवणं[2]श्रावणं श्रोत्रस्य सिद्धिः। तथा व्यवहितादिस्पर्शनं वेदनं त्वगिन्द्रियस्य सिद्धिः। तथा व्यवहितादिदर्शनमादर्शश्चक्षुषः सिद्धिः। तथा व्यवहितादिरसग्रहणमास्वादो रसनायाः सिद्धिः। तथा व्यहितादिगन्धग्रहणं वातो[3] घ्राणस्य सिद्धिरिति। एताः षडिन्द्रियस्य षट् सिद्धयः पुरुषसाक्षात्कारहेतोः प्रत्ययसमाधेरुपसर्गा

वेदन, आदर्श, आस्वाद और वात संज्ञक दूसरी सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं।

सो, दृष्ट कारण के बिना ही अकस्मात् व्यवहित (ओट में स्थित) विप्रकृष्ट (दूरवर्ती), भूत, भविष्यत् और सूक्ष्म वस्तुओं के स्फुरणकी सामर्थ्यका नाम प्रतिभा है, उससे होनेवाला ज्ञान ही प्रातिभ नामकी मानस सिद्धि है। इसी प्रकार व्यवहित आदि शब्दों को सुन लेना ही श्रावण नामकी श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि है। तथा व्यवहित आदि वस्तुओं का स्पर्श करलेना त्वक् इन्द्रिय की वेदन नामकी सिद्धि है। व्यवहितादि वस्तुओं को देखलेना यह चक्षु इन्द्रियकी आदर्श नामकी सिद्धि है। व्यवहितादि रसोंको ग्रहण करलेना रसनाकी आस्वाद नामकी सिद्धि है। और व्यवहितादि गन्धोंको ग्रहण कर लेना ही घ्राणेन्द्रिय की वात नाम की सिद्धि है। ये, छः इन्द्रियों की छः सिद्धियाँ पुरुषके साक्षात्कारके हेतुभूत ज्ञानसमाधि की उपसर्ग अर्थात् विघ्न हैं,

---

१ वार्ता—पा. २ पु.। २ व्यवहितश्रवणं—पा. १ पु.।
३ वार्ता—पा. २ पु.

अन्तरायाः। विषयभोगतः समाधिभ्रंशाद् व्युत्थितचित्तस्य बहिर्मुखस्य दृष्टयैव तु सिद्धयः पुरुषार्थसिद्धिरूपा उच्यन्ते 'ते समाधावुपसर्गा[1] व्युत्थाने सिद्धयः (यो. ३. ३७.) इति सूत्रात्। अत एता आत्मजिज्ञासुभिर्न कामनीयाः, कदाचिदकामत उपस्थिता अप्युपेक्षणीया इति।

इत्यात्मज्ञानरूपसिद्धिहेतोः संयमस्य कथनम्।

इतः परं वितर्कविचारानन्दास्मितानुगतसंप्रज्ञातानां हेतवो ये ग्रहीतृ[2]ग्रहणग्राह्येषु संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः। तत्र ग्राह्यग्रहणग्रहीतृक्रमेणैवोत्सर्गतः संयमोत्पादात्प्रथमं ग्राह्यसंयमस्य सिद्धिरुच्यते। ग्राह्याणि भूतानि। तानि च कार्यकारणाभेदेन धर्मधर्म्यभेदेन च पञ्चरूपाणि

क्योंकि विषय भोग के द्वारा ये समाधि को खण्डित कर देती हैं। अतः जो व्युत्थितचित्त या बहिर्मुख है उसी की दृष्टि से ये पुरुषार्थ की प्राप्तिरूपा सिद्धियाँ कही जाती हैं, जैसा कि 'ये समाधि में विघ्न किन्तु व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं' इस सूत्र से प्रकट होता है। अतः आत्मजिज्ञासुओं को इनकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये अर्थात् न चाहने पर भी यदि ये आ जायँ तो इनकी उपेक्षा ही करनी चाहिये।

इस प्रकार आत्मज्ञान के हेतुभूत संयम का वर्णन हुआ।

ग्राह्यसंयमजनित सिद्धियाँ

अब आगे वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता में अनुगत सम्प्रज्ञात समाधियों के हेतुभूत जो ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्योंमें होनेवाले संयम और उनकी सिद्धियाँ हैं उनका वर्णन किया जाता है। इनमें भी स्वभाव से ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता के क्रमसे ही संयम होता है, अतः पहले ग्राह्यसंयमसे होनेवाली सिद्धि का वर्णन किया जाता है। ग्राह्य हैं भूत और वे कार्य-कारण तथा धर्म-धर्मीका अभेद होने से

---

१ ताः—इत्यधिकम् २ पु.। २ गृहीतृ—पा. २. पु. प्रामादिकः।

भवन्ति। रूपाणि च स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंज्ञानि। तत्र शब्दादयो विशेषा आकाशादयश्च भूतानां स्थूलं रूपम्। आकाशत्ववायुत्वादिसामान्यपञ्चकं च भूतानां स्वरूपाख्यं रूपम्। शब्दादितन्मात्रपञ्चकं तु सूक्ष्मं रूपम्। अनुगच्छतीत्यन्वयः; सत्त्वादिगुणत्रयात्मिका प्रकृतिरन्वयाख्यंरूपम्। गुणगतः पुरुषार्थो भोगापवर्गरूपोऽर्थवत्त्वाख्यं[1]रूपमिति।

एतद्रूपपञ्चकसंघातरूपेषु भूतेष्वेतैः पञ्चरूपैः संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्तैरेव रूपैर्भूतजयरूपा सिद्धिर्भवति। 'स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः' (यो. ३. ४४.) इति सूत्रात्। जयश्च वशवर्तित्वं स्वेच्छानुसारतः प्रवर्तनम्। यद्यप्यहंकारबुद्धी अपि भूतकारणत्वेन भूतानुगततया भूतानां रूपं भवतः, तथापि

पाँच रूपोंवाले हैं। वे रूप हैं—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व। इनमें शब्दादि विशेष और आकाशादि भूत—ये भूतोंके स्थूल रूप हैं। आकाशत्व, वायुत्व आदि पाँच सामान्य भूतों का स्वरूपसंज्ञक रूप हैं। शब्दादि पाँच तन्मात्र भूतों का सूक्ष्म रूप हैं। जो अनुगमन करे उसे अन्वय कहते हैं, अतः सत्त्वादि तीन गुणोंवाली प्रकृति अन्वय नामका रूप है। तथा गुणों में जो भोग और मोक्षरूप पुरुष का प्रयोजन है वह अर्थवत्व-संज्ञक रूप है।

इन पाँच रूपोंके संघातभूत भूतोंमें इन पाँच रूपों द्वारा साक्षात्कारपर्यन्त संयम करने से उन रूपों के द्वारा ही भूतजयरूपा सिद्धि होती है, जैसा कि 'स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्वमें संयम करने से भूतजय होता है' इस सूत्र से प्रकट होता है। 'जय' का अर्थ है वशवर्ती होजाना अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार प्रवृत्त कर सकना। यद्यपि भूतों के कारण और भूतों में अनुगत होने के कारण अहङ्कार और बुद्धि (महत्तत्व) भी भूतों के ही रूप हैं, तथापि यज्ञादि के

[1] रूपार्थवत्त्व—पा. २ पु.।

यज्ञादिफलवत्संयमसिद्धेर्वाचनिकतया भूतेषु बुद्ध्यहंकाररूपाभ्यां संयमस्य न तदुभयजयः फलमित्याशयेन तदुभयरूपसंयमो भूतेषु नोक्तः। इन्द्रियेषु वक्ष्यते।

ततश्च भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपद् भूतधर्मानभिघातश्चेत्येतत्सिद्धित्रयं भवति।

तत्राणिमाद्या अष्टौ सिद्धयः स्मृतिषु परिगणिताः—

"अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता।
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति ॥" इति।

तत्र स्वेच्छयाऽणुपरिमितशरीरो भवतीत्यणिमा। एवं महिमा। लघिमा तु गुरुतरशरीरोऽपि तूलादिवल्लघुर्भवति

फलों के समान संयमजनित सिद्धियाँ भी शब्द प्रमाण पर ही अवलम्बित हैं और भूतों में बुद्धि और अहङ्कारमें संयम करनेसे इन दोनों का जयरूप फल बताया नहीं गया। इसी आशय से भूतोंमें इन दो रूपों के संयम का भी उल्लेख शास्त्रोंमें नहीं हुआ। हाँ इन्द्रियों में अवश्य बतलाया जायगा।

फिर भूतजय होने पर अणिमादिका प्रादुर्भाव, कायसम्पद् और भूतोंके धर्मों से उपहत न होना—ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इनमें अणिमादि आठ सिद्धियोंकी गणना स्मृतियोंमें इस प्रकार करायी है (१) अणिमा, (२) महिमा और (३) लघिमामें शरीरकी सिद्धियाँ हैं। (४) प्राप्ति इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली सिद्धि है। तथा शेष सिद्धियाँ हैं—(५) प्राकाम्य—श्रुत और दृष्ट पदार्थोंमें स्वच्छन्द गति होना, (६) ईशिता-शक्ति प्रेरित करना, (७) वशिता—गुणोंमें आसक्त न होना, और (८) कामावसायिता।

स्वेच्छासे अणुके समान शरीर हो जाना अणिमा सिद्धि है। इसी प्रकार शरीरका अत्यन्त महान् हो जाना महिमा है। बहुत भारी शरीर भी यदि रूईके समान हल्का हो जाय, जिससे कि आकाशमें

येनाकाशादिषु संचरति। इन्द्रियैः प्राप्तिस्तु भूमिष्ठ एव अङ्गुल्या चन्द्रमसं स्पृशतीत्यादिरूपा। प्राकाम्यं च श्रुतदृष्टेषु स्वर्गादिषु जलादिषु च गत्यप्रतिबन्धः। ईशिता च शक्तीनां भूतभौतिकानां स्वेच्छया प्रेरणम्। वशिता भूतभौतिकानां शक्तिप्रतिबन्धसामर्थ्यं स्वस्य च तदवशत्वम्[1]। यत्र कामावसायित्वसंज्ञा त्वष्टमी[2] सिद्धिः, विषस्यापि स्वेच्छयाऽमृतीकरणसामर्थ्यममृतस्यापि विषीकरणसामर्थ्यमित्यादिरूपा। इत्यणिमाद्यष्टसिद्धयो व्याख्याताः[3]।

कायसंपच्च रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि।

भूतधर्मानभिघातस्तु पृथिव्यादिधर्मैः काठिन्यादिभिर्योगिशरीरस्य गत्याद्यप्रतिघातः। तद्यथा—पृथिवी काठिन्येन

भी विचरने लगे तो इसे लघिमा सिद्धि कहते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्ति सिद्धि ऐसी है कि पृथ्वीपर रहते हुए ही योगी अङ्गुलियोंसे चन्द्रमा को स्पर्श कर ले। स्वर्गादि श्रुत और जल आदि दृष्ट स्थानोंमें गति न रुकना—यह प्राकाम्यसिद्धि है। भूत और भौतिक पदार्थोंकी शक्तियोंको अपनी इच्छासे प्रेरित करना ईशिता है। भूत और भौतिक पदार्थोंकी शक्तियोंको रोक देनेका सामर्थ्य और स्वयं उनके अधीन न होना वशिता सिद्धि है। कामावसायिता नामकी आठवीं सिद्धि है— यह अपनी इच्छासे विषको अमृतकर देनेकी और अमृतको विष बना देनेकी सामर्थ्यरूपा है। इस प्रकार अणिमादि आठ सिद्धियोंकी व्याख्या हुई।

रूप, लावण्य और वज्रके समान सुदृढ़ हो जाना—ये कायसम्पद् हैं।

पृथिवी आदिके जो कठिनता आदि धर्म हैं उनसे योगीके शरीरकी गति आदिका प्रतिबन्ध न होना—यह भूतोंके धर्मोंसे उपहत

---

१ अवश्यत्वम्—पा. २ पु. २ कामावसायित्वमष्टमी—पा. २ पु.।
३ अष्टसिद्धिव्याता—पा. २ पु.।

शरीरक्रियां न प्रतिबध्नाति येन पर्वतमपि भित्त्वा स्थूलशरीरं गच्छति, शिलामपि वाऽनुप्रविश्य तिष्ठति। तथा आपः स्निग्धाः शरीरं न क्लेदयन्ति। अग्निरुष्णो न दहति। वायुर्गतिशीलो न चालयति। आकाशमनावरकमप्यावृणोति[1] येन सिद्धानामप्यदृश्यो भवति।

इति ग्राह्यसंयमस्य सिद्धय उक्ताः।

ग्रहणसंयमस्योच्यन्ते। गृह्यन्त एभिरिति ग्रहणान्येकादशेन्द्रियाणि। तान्यपि कार्यकारणाभेदेन धर्मधर्म्यभेदेन च पञ्चरूपाणि भवन्ति। रूपाणि च ग्रहणरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंज्ञानि।

न होना है। तात्पर्य यह कि पृथिवी अपनी कठिनता से योगीके शरीर की क्रिया को नहीं रोक सकती, जिससे कि उसका स्थूल शरीर पर्वत को भी पार करके चला जाता है और शिलामें भी घुसकर बैठ जाता है। इसी प्रकार द्रवीभूत जल उसके शरीर को गीला नहीं करता, उष्णस्वभाव अग्नि दग्ध नहीं करता, गतिशील वायु चलायमान नहीं करता और आवरक न होने पर भी आकाश उसका आवरण कर लेता है, जिससे कि वह सिद्धोंके लिये भी अदृश्य हो जाता है।

यह ग्राह्यसंयम से होनेवाली सिद्धियों का वर्णन हुआ।

ग्रहणसंयमजनित सिद्धियाँ

अब ग्रहण-संयमकी सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है। विषय इनके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं इसलिये ग्यारह इन्द्रियाँ ही ग्रहण हैं। वे भी कार्य-कारण और धर्म-धर्मीका अभेद होनेसे पाँच रूप हो जाती हैं। वे रूप ग्रहण, रूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामों वाले हैं।

---

१ अथावृणोति—पा. १ पु.।

'तत्रेन्द्रियाणां वृत्तयो ग्रहणम्। इन्द्रियाणि स्वरूपम्। अहंकारः अस्मिता। अत्रैव बुद्धेरप्यन्तर्भावः। अन्वयश्च पूर्ववद्गुणत्रयात्मिका प्रकृतिः। अर्थवत्त्वं तु पूर्ववत्। एतद्रूपपञ्चकसंघातरूपेष्विन्द्रियेषु एतैः पञ्चरूपैः संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तादिन्द्रियजयरूपा सिद्धि-र्भवति, 'ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः' (यो. ३. ४७.) इति सूत्रात्। ततश्च मनोजवित्वं[1] विकरणभावः प्रधान-जयित्वं चेत्येतत्सिद्धित्रयं भवति। तत्र कायस्यानुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वं[2] येनोपासकादिभिः स्मृतमात्राः क्षणादेव सिद्धाः पुरो दृश्यन्ते। स्थूलदेहनैरपेक्ष्येणैवेन्द्रियाणां यथेच्छं व्यवहितादि-साधारणार्थेषु वृत्तिलाभो विकरणभावः। इन्द्रियाणां सर्वत्र विकी-र्णतेति यावत्। सर्वप्रकृतीनां तद्विकाराणां च वशित्वं स्वेच्छया

इन्द्रियों की जो वृत्तियाँ हैं वे ग्रहण हैं, इन्द्रियाँ स्वरूप हैं और अहंकार अस्मिता है। इसीमें बुद्धिका भी अन्तर्भाव हो जाता है। पहले जैसे कहा जा चुका है त्रिगुणात्मिका प्रकृति अन्वय है और अर्थवत्त्व भी पहले ही की तरह समझना चाहिये। इस रूपपञ्चकके संघातस्वरूप इन्द्रियोंमें इन पाँच रूपोंके द्वारा साक्षात्कारपर्यन्त संयम करनेसे इन्द्रियजयरूपा सिद्धि होती है' जैसा कि 'ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से इन्द्रियजय होता है' इस सूत्रसे कहा गया है। ऐसा होनेपर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजयित्व ये तीन सिद्धियाँ होती हैं। शरीरको सर्वोत्तम गति प्राप्त हो जाना मनोजवित्व है, जिससे कि उपास-कादि के द्वारा स्मरण किये जाते ही क्षणमात्रमें सिद्धगण उनके सामने दिखाई देने लगते हैं। स्थूलदेहके विना ही व्यवहितादि सामान्य विषयोंमें इच्छानुसार इन्द्रियोंकी वृत्ति हो जाना विकरणभाव है। अर्थात् इन्द्रियोंकी सर्वत्र विकीर्णता—व्यापक वृत्ति हो जाना। सभी प्रकृति (कारण) और उनके विकारों (कार्यों) की वशिता—इच्छानुसार

---

[1] मनोजयित्वं—पा. २ पु.। [2] मनोजयित्वं—पा. २ पु.।

प्रेरणसामर्थ्यं[1] प्रकृतिजय इति। एताश्च पञ्चरूपैरिन्द्रियसंयमस्य तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते।

इति ग्रहणसंयमस्य सिद्धय उक्ताः।

अथ ग्रहीतृसंयमस्योच्यन्ते। ग्रहीतुः कार्यकारणविलक्षणत्वान्निर्धर्मत्वाच्च रूपभेदो नास्ति। ग्रहीतरि पुरुषसामान्ये उपाधिसत्त्वाद्भेदेन संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च भवति, 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं[2] च' (यो. ३. ४९.) इति सूत्रात्। इयं च सिद्धिः सर्वकामावाप्त्याऽखिलशोकरहितत्वाद्विशोकेत्युच्यते। तत्र परमेश्वरवत्स्वे-

उन्हें प्रेरित करनेका सामर्थ्य प्रकृतिजय है। ये पञ्चरूपोंके द्वारा जो इन्द्रियोंकी तीन सिद्धियाँ हैं वे 'मधुप्रतीका' कही जाती है।

यह ग्रहणसंयमसम्बन्धी सिद्धियोंका वर्णन किया गया।

गृहीतृसंयमजनित सिद्धियाँ

अब गृहीतृसंयमकी सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है। ग्रहीता कार्यकारणसे विलक्षण है और उसका कोई धर्म भी नहीं है, इसलिये उसमें रूपभेद नहीं है। ग्रहीता अर्थात् पुरुषसामान्यमें, उपाधिकी सत्तासे भेददृष्टि रखते हुए, उसका साक्षात्कार होनेतक संयम करनेसे सम्पूर्ण भावोंका अधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाता है, यह बात 'प्रकृति और पुरुषका विवेकज्ञान होनेसे ही सम्पूर्ण भावोंका अधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाता है' इस सूत्रसे विदित होती है। सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति और सम्पूर्ण शोककी निवृत्ति हो जानेके कारण यह सिद्धि विशोका कही जाती है। परमेश्वर के समान

१ प्रेरणा सामर्थ्यं—पा. २ पु.।

२ ज्ञातृत्वमिति भाष्यसंमतः—पा. १ पु.।

च्छया सर्ववस्तुप्रेरणसामर्थ्यं सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्, प्रकृतिपुरुषादिषु अप्रतिहतेच्छत्वमिति यावत्। सर्वज्ञत्वं[1] तु वक्ष्यमाणम्। तदेव च सार्वज्ञ्यं विवेकजं ज्ञानं तारकमित्युच्यते, सत्त्वपुरुषविवेकसंयमजन्यत्वात्संसारतारकत्वाच्च। तच्च सार्वज्ञ्यं सूत्रेण लक्षितम्—'तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्' (यो. ३. ५४.) इति। तथा विष्णुपुराणेऽपि लक्षितम्—

"अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम्।
यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्ष[2] विवेकजम्॥" इति।

पूर्वं परार्थप्रत्ययाद्भेदेन स्वार्थप्रत्यये संयमस्य तत्साक्षात्कारपर्यन्तस्य पुरुषसाक्षात्काररूपा सिद्धिरुक्ता। अत्र तु बुद्धिसत्त्वाद्भेदेन पुरुषे संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारपर्यन्तस्य सार्वज्ञ्यादिसिद्धि-

अपनी इच्छामात्रसे सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रेरित करनेका सामर्थ्य सम्पूर्ण भावोंका अधिष्ठातृत्व है अर्थात् प्रकृति और पुरुष आदिमें अप्रतिहत इच्छा प्राप्त हो जाना। सर्वज्ञताका वर्णन आगे किया जायगा। यह सर्वज्ञता ही विवेकज ज्ञान है, जो 'तारक' कहा जाता है, क्योंकि यह प्रकृति और पुरुषके विवेकमें संयम करनेसे उत्पन्न होनेवाला और संसारसे तारनेवाला है। उस सर्वज्ञताका ही इस सूत्रद्वारा लक्षण किया गया है—'यह तारक ज्ञान विवेकजनित है तथा सबको विषय करनेवाला, सर्वथा अविषय (किसीका भी विषय न होनेवाला) और क्रमशून्य है' तथा विष्णुपुराणमें भी इसका ऐसा लक्षण किया है—'अज्ञान घोर अन्धकार के समान है, इन्द्रियजनित ज्ञान दीपकके सदृश है, और हे ब्रह्मर्षे ! यह जो विवेकज ज्ञान है वह सूर्यके समान है।'

परार्थ प्रत्ययसे पृथक् करके स्वार्थप्रत्ययमें उसके साक्षात्कारपर्यन्त संयम करनेसे पुरुषसाक्षात्काररूपा सिद्धि होती है—इसका पहले वर्णन किया गया है; किन्तु यहाँ बुद्धिसत्वसे पृथक् करके पुरुषसाक्षात्कारपर्यन्त

---

१ सार्वज्ञ्यं—पा. २ पु.। २ विमर्षे—पा. १ पु.।

रुच्यत इति भेदः। तदिदं ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धिद्वयमुक्त्वा सूत्र-कारेण तस्यैवान्या सर्वसिद्धिमूर्धन्या परमा सिद्धिरुक्ताऽस्ति—'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (यो. ३. ५०.) इति। अस्यायमर्थः। क्लेशकर्मरूपाणां दोषाणां संसारबीजानामात्म-ज्ञानेन निःशेषतः क्षये सति तयोः सिद्ध्योरपि वैराग्यमलंप्रत्ययो जायते; तस्माद्वैराग्यात्कैवल्यरूपा सिद्धिरिति। तदुक्तं मोक्षधर्मे—

"वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः।
ज्ञानादेव तु वैराग्यं जायते येन मुच्यते॥" इति।

यदि च ज्ञानस्यापरिपाकात्सार्वज्ञ्यादिरागस्तिष्ठति तर्हि संयमस्योक्तसिद्धिद्वयं कैवल्याख्यसिद्ध्यन्तरायो भवतीत्याशयः।

तदेवं मुख्यसंयमानां सिद्धय उक्ताः। यथा च सर्वज्ञत्व-

पुरुषमें संयम करनेसे सर्वज्ञतादि की सिद्धि बतायी गयी है—यही इन दोनों का भेद है। इस प्रकार ग्रहीतृसंयमकी ये दो सिद्धियाँ बतलाकर सूत्रकारने उसी संयमकी सम्पूर्ण सिद्धियोंमें शिरमौर एक अन्य परम सिद्धि बतलायी है—'उसमें भी वैराग्य हो जानेसे दोषोंके बीजका क्षय हो जाने पर कैवल्य होता है'। इस सूत्रका तात्पर्य यह है—संसारके बीजभूत क्लेश और कर्मरूप दोषोंका आत्मज्ञानसे सर्वथा क्षय हो जाने पर उन दोनों सिद्धियोंमें वैराग्य—अलंप्रत्यय हो जाता है और उस वैराग्यसे कैवल्यरूपा सिद्धि होती है। मोक्षधर्ममें भी ऐसा कहा है—'इस मोक्षकी सर्वश्रेष्ठ विधि वैराग्य ही है और वैराग्य ज्ञानसे ही होता है, जिससे कि फिर मुक्ति हो जाती है'। तात्पर्य यह कि यदि ज्ञानकी परिपक्वता न होनेसे सर्वज्ञता आदिका राग रहता है तो इस संयमकी उपर्युक्त दोनों सिद्धियाँ कैवल्यसंज्ञक सिद्धि की विघ्न हो जाती है।

सिद्धिका प्रकार

इस प्रकार प्रधान संयमोंकी सिद्धियोंका वर्णन किया गया, तथा

पर्यन्तसिद्धिज्ञानं विनाऽपि मोक्षो भवति तथा प्रागेवोक्तम्। इदानीं सिद्धिप्रकारः कथ्यते। यदा मनुष्यादिशरीरेणैव देवभावं प्राप्नोति, यदा वाऽणिमादिसिद्धयः प्रादुर्भवन्ति, तदा किं संकल्प-योगजधर्माभ्यामतिरिक्तं कारणमपेक्षते न वेति संशये निर्णय-सूत्रम्—'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्' (यो. ४. २.) इति। अस्यायमर्थः। मनुष्यादिशरीरस्य देवादिजात्यन्तररूपः परिणामः सत्त्वादिविशेषरूपाणां देवादिशरीरारम्भयोग्याणामापूरादेव भवति। तत्र चापूरणेऽधर्मादिप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारा योगिसंकल्प-योगजधर्मादिकं निमित्तमात्रं; न तु प्रकृतिप्रेरकं भवति, प्रकृतीनां स्वत एव सर्वपरिणामसामर्थ्यात्। अतो न प्रकृतिस्वातन्त्र्यक्षतिः।

जिस प्रकार सर्वज्ञत्वपर्यन्त सिद्धियोंके ज्ञान के बिना भी मोक्ष हो सकता है वह बात भी पहले ही बतला दी गयी है। अब सिद्धिप्राप्तिके प्रकारका वर्णन किया जाता है। जब योगी मनुष्यादि शरीरसे ही देवभाव प्राप्त कर लेता है और जब उसमें अणिमादि सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं तब उसे संकल्प और योगजनित धर्मोंसे अतिरिक्त अन्य कारणकी अपेक्षा होती है या नहीं—ऐसा सन्देह होनेपर निर्णय करनेवाला यह सूत्र है—'प्रकृतिके द्वारा पूर्ति की जानेपर वस्तुका एक जातिसे दूसरी जातिमें परिणाम होता है।' इस सूत्रका तात्पर्य यह है—मनुष्यादि शरीरका देवादि अन्य जातिरूप परिणाम देवादि शरीरका आरम्भ करनेयोग्य सत्त्वादि विशेष रूपोंकी पूर्त्ति होनेपर ही होता है। उस पूर्त्तिमें अधर्मादि प्रतिबन्धकी निवृत्तिद्वारा योगीके संकल्पज और योगज धर्मादि तो निमित्तमात्र ही हैं, वे प्रकृत्तिके प्रेरक नहीं होते, क्योंकि प्रकृतियाँ तो स्वयं ही सब प्रकारके परिणाममें समर्थ हैं। अतः इससे प्रकृतिकी (उपादान कारण) की स्वतन्त्रतामें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती। ऐसा ही यह सूत्र भी है—'निमित्त

तथा च सूत्रम्—'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्' (यो. ४. ३.) इति ।

अत्र प्रकृत्यापूरेण प्रकृत्यपसारणमुपलक्ष्यते । जात्यन्तरपरिणामेन च अणिममहिमाद्या अपि सिद्धय उपलक्ष्यन्ते । तेन यथायोग्यं प्रकृत्यापूरणापसारणाभ्यां सर्वाः सिद्धय उत्पद्यन्ते । एतेन वामननृसिंहवराहादीनां क्षणेन प्रकृत्यापूरणादेव शरीरवृद्धिः । अगस्त्यादिपीयमानसमुद्रादेश्चाल्पत्वं प्रकृत्यपसरणादुपपन्नमिति । कायव्यूहादिकं तु देहान्तरादिप्रकृतीनां पृथगेवारम्भकसंयोगाद्भवतीति विशेषः ।

ननु यदा योगी कायव्यूहं करोति तदा किं तत्तद्देहप्रतिनियतानि चित्तानि चित्तप्रकृतितो निर्मिमीते किं वा एकेनैव निर्मातृचित्तेन सर्वाणि शरीराण्यधितिष्ठतीति संशये निर्णय-

कारण प्रकृतियों (उपादानकारणों) का प्रयोजक (कार्योन्मुख करनेवाला) नहीं है, वह तो किसानकी तरह उसके आवरणको हटाता है ।'

यहाँ प्रकृतिके द्वारा होनेवाली पूर्त्तिसे प्रकृतिका अपसरण भी उपलक्षित होता है तथा अन्य जातिमें परिणत होनेसे अणिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ भी सूचित हो जाती हैं । इन प्रकृतिके द्वारा होनेवाली पूर्त्ति और प्रकृतिके अपसरणसे ही सारी सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं । इस प्रकृत्यापूरसे ही क्षणमात्र में वामन, नृसिंह और वराह आदिके शरीरोंकी वृद्धि हुई थी तथा अगस्त्यादिके द्वारा पिये जाते हुए समुद्रादिकी अल्पता भी प्रकृतिके अपसरणसे ही उपपन्न हुई थी । किन्तु कायव्यूहादि (एक ही योगीके अनेक शरीर) तो देहान्तरोंकी प्रकृतियोंके विभिन्न आरम्भक संयोगोंसे ही होते हैं—इतनी यहाँ विशेषता है ।

योगी जब अनेक शरीर धारण करता है तो उन विभिन्न शरीरोंमें रहनेवाले चित्तोंको वह अपने चित्तकी प्रकृतिसे बनाता है अथवा उस एकही निर्माता चित्तसे सम्पूर्ण शरीरोंमें अधिष्ठित हो जाता है ?

सूत्रम्—'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' (यो. ४. ४.) इति। अस्यायमर्थः। अस्मितामात्रमहंकारस्तस्मात्कारणाद्बहून्येव शरीर-प्रतिनियतानि मनांसि योगिसंकल्पाज्जायन्त इति। अन्यथा एकचित्तेन विरुद्धानां भोगसमाध्यादीनां नानादेहेष्वेकदा न संभवः। तथा श्रीरामरूपलीलाविग्रहे श्रीविष्णोः सर्वज्ञस्य निर्मातृचित्तेनाज्ञानस्वीकारश्च नोपपद्यत इति भावः। योगिनां नानाशरीरैर्विरुद्धनानाकार्यं तु स्मर्यते—

"प्राप्नोति विषयान्कश्चित्कश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
योगेश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च॥" इति।

सर्वेषां तु निर्माणचित्तानामेकमेव निर्मातृचित्तं प्रवृत्तिनि-वृत्त्योः प्रयोजकं भवति, 'प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्'

ऐसा संशय होनेपर इस प्रश्नका निर्णय करनेवाला यह सूत्र है—'वह अस्मितामात्रसे निर्माण (नूतन निर्मित शरीरोंमें रहनेवाले) चित्तोंको बना लेता है।' इस सूत्रका तात्पर्य यह है—अस्मितामात्र है अहंकार, उस अहंकाररूप कारणसे ही योगीके संकल्प द्वारा पृथक्-पृथक् शरीरोंमें रहनेवाले बहुत-से मन उत्पन्न हो जाते हैं। नहीं तो, एक ही चित्त द्वारा अनेकों शरीरोंमें भोग और समाधि आदि विरुद्ध धर्मोंका एक साथ अनुभव करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सर्वज्ञ श्रीविष्णु भगवान्का अपने निर्माता चित्तसे श्रीरामरूप लीलाविग्रहमें अज्ञान स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं हो सकता—ऐसा इसका भाव है। योगियोंके नाना शरीरों द्वारा विभिन्न विरोधी कर्मोंका स्मृतियोंमें इस प्रकार उल्लेख हुआ है—'योगीका कोई शरीर तो विषयोंको भोगता है और कोई बड़ी उग्र तपस्या करता है। इस प्रकार योगिराज अनेकों शरीरोंको बनाते-बिगाड़ते रहते हैं।'

योगीका एक ही निर्माता चित्त अपने अनेकों निर्माणचित्तों की प्रवृत्ति और निवृत्तियोंका प्रयोजक होता है। यह बात 'चित्तोंकी विभिन्न

(यो. ४. ५) इति सूत्रात्। कादाचित्कं त्वेकेनापि चित्तेन नाना-शरीराधिष्ठानमत्र न निराक्रियते योगिनां स्वतन्त्रेच्छत्वादिति[1]। एतेन हिरण्यगर्भादीनां जगत्सृष्ट्यादिरपि प्रकृत्यापूरादिना व्याख्याता। अत्र प्रकृत्यापूरेण जीवान्तराणां स्वस्वोपाधिसंयोगस्याप्युपलक्षणम्, येन योगी जीवान्तरसंयोगेन गजतुरगादीनि निर्मायैश्वर्यं भुङ्क्त इति।

यथा च[2] समाधिसिद्धयः प्रागुक्ता एवमेव जन्मादिसिद्धयोऽपि मन्तव्याः। विशेषस्त्वयं समाधिसंस्कृतं चित्तमेवात्मसाक्षात्कारद्वारा साक्षान्मोक्षहेतुर्न जन्मादिसिद्धमिति।

प्रवृत्तियाँ होने पर योगीका एक ही चित्त उन अनेकों चित्तोंका प्रयोजक होता है' इस सूत्रसे सिद्ध होती है। हम इस बात का निराकरण नहीं करते कि कभी-कभी योगी लोग एक चित्तके द्वारा भी विभिन्न शरीरोंमें अधिष्ठित हो सकते हैं, क्योंकि वे इच्छा करनेमें स्वतन्त्र हैं। इससे इस बातकी भी व्याख्या हो जाती है कि हिरण्यगर्भादिके जगत्सृष्टि आदि भी प्रकृत्यापूरसे हो जाते हैं। यहाँ प्रकृत्यापूरसे अन्यान्य जीवोंका अपनी-अपनी उपाधिसे संयोग होना भी उपलक्षित हो जाता है, जिससे कि योगी अन्य जीवोंके संयोग द्वारा हाथी-घोड़े आदिकी रचना करके ऐश्वर्यका भोग करता है।

पहले जिस प्रकार समाधिजनित सिद्धियोंका वर्णन किया गया है वैसे ही जन्मादिसे होनेवाली सिद्धियाँ भी समझनी चाहिये। इसमें अन्तर केवल इतना है कि समाधिके द्वारा शुद्ध हुआ चित्त ही आत्मसाक्षात्कारके द्वारा साक्षात् मोक्षका कारण होता है जन्मादिसे सिद्ध नहीं।

---

१ स्वतन्त्रेच्छात्वात्—पा. १ पु.। २ तथा च—पा. २ पु.।

तत्र 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (यो. ४. १.) इति सूत्रेण सिद्धयः पञ्चप्रकारा उक्ताः। तत्र देवानां जन्मसिद्धिरणिमादिरूपा, असुरादीनां चौपधसिद्धिर्महाबलत्वादिः[1], सुवर्णादिसिद्धिश्च। मन्त्रसिद्धिस्तु मन्त्रैराकाशगमनादिः। तपःसिद्धिश्च तपसा सङ्कल्पसिद्ध्यादिः। समाधिसिद्धयस्तु व्याख्याता इति। प्रह्लादादीनां भक्त्यादिजन्यसिद्धयश्च तपःसिद्धिमध्ये प्रवेशनीयाः, 'अक्षयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते[2]' इति स्मृतेः।

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे
योगसिद्धिनिरूपणं तृतीयोंऽशः।

'सिद्धियाँ जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे होती हैं।' इस सूत्रने पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ बतायी है। सो, देवताओंको तो अणिमादिरूप जन्मसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा असुरादिको महाबलत्व और सुवर्णादिसिद्धिरूप औषधिसिद्धियाँ होती हैं। मन्त्रोंके द्वारा आकाशगमनादि करना मन्त्रसिद्धि है। तपके द्वारा संकल्पसिद्धि आदि हो जाना तपःसिद्धि है। समाधिसिद्धियोंकी व्याख्या तो पहले की ही जा चुकी है। प्रह्लादादिको जो भक्ति आदिसे उत्पन्न सिद्धियाँ प्राप्त थीं उन्हें भी तपःसिद्धियोंमें ही सम्मिलित कर लेना चाहिये, क्योंकि 'भक्तिके लेशमात्रसे अक्षय परम धर्म उत्पन्न होता है' ऐसा स्मृति कहती है।

———

१ महाबलवत्त्वादिः-पा. २ पु.

२ इति स्मृत्या तपोन्तरायेऽक्षयाऽपि भक्तिरधिकेत्येव विशेष इति दिक्। इत्यधिकम् २ पु.।

अथ चतुर्थोऽशः ।

योगविभूतयः प्रतिपादिताः । इदानीं ज्ञानयोगयोर्मुख्यं फलं कैवल्यं प्रतिपाद्यते ।

तत्र सूत्रम्—'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति' (यो. ४. ३४.) इति । अत्र गुणशब्देन बुद्धिरूपतया परिणताः सत्त्वादय उक्ताः । कैवल्यमेकाकिता । सा चान्योन्यवियोगरूपतया गुणपुरुषयोरुभयोरेव भवति । तत्र विवेकख्यात्या परवैराग्येण पुरुषार्थशून्यानां गुणानां

चतुर्थ अंश

कैवल्य

योगकी विभूतियोंका प्रतिपादन हो चुका । अब ज्ञान और योगके मुख्य फल कैवल्यका प्रतिपादन किया जाता है ।

इस विषयमें यह सूत्र है—'पुरुषके [भोग-मोक्षरूप] प्रयोजनसे निवृत्त हुए गुणोंका लीन हो जाना अथवा चितिशक्तिकी अपने स्वरूपमें स्थिति कैवल्य है ।' यहाँ 'गुण' शब्दसे बुद्धिरूपमें परिणत हुए सत्त्वादि अभिप्रेत हैं । कैवल्यका अर्थ है अकेलापन । एक-दूसरेकी वियोगरूपता होनेके कारण वह कैवल्य गुण और पुरुष दोनों हीका हो जाता है । सो उस अवस्थामें विवेकख्याति हो जानेपर परवैराग्यके द्वारा पुरुषप्रयोजनसे शून्य गणोंका, जो पुरुषके उपकरणरूप होते

पुरुषोपकरणानामात्यन्तिकः प्रतिप्रसवः प्रलयः। तस्मात्पुरुषा-दत्यन्तवियोग इति यावत्। न तु नाशः, 'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्' (यो. २. २२.) इति सूत्रात्। एतदाद्यं कैवल्यं प्रकृतिधर्मः। द्वितीयं च कैवल्यं पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठा। सा च चितिशक्तिरेव प्रतिबिम्बरूपेण उपाधिवियुक्तेत्यर्थः। उभय-पक्षेऽपि पुरुषस्य दुःखभोगनिवृत्तिरूपपुरुषार्थे पर्यवसानं भवति। अत एव 'हेयं दुःखमनागतम्' (यो. २. १६.) इति सूत्रम्।

अथ 'त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' (सां. १.१.) इति सांख्यसूत्रं चानेन सूत्रेण सहाविरुद्धम्। वेदान्तिनस्तु पर-मात्मनि जीवात्मलयो मोक्ष इति वदन्ति। तैः सहास्माकं न विरोधः। समुद्रे नदीनामिव ब्रह्मणि जीवानामुपाधिलयेनाविभा-

हैं, प्रतिप्रसव-प्रलय अर्थात् उस पुरुषसे उनका अत्यन्त वियोग हो जाता है, न कि नाश जैसा कि इस सूत्रसे प्रकट होता है—'जिस पुरुषका प्रयोजन पूर्ण हो चुका है उसके प्रति नष्ट हो जानेपर भी गुणोंका नाश नहीं होता, क्योंकि उससे भिन्न पुरुषोंके लिये वे समानरूपसे पूर्ववत् रहते हैं।' यह पहला कैवल्य तो प्रकृतिका धर्म है। दूसरा कैवल्य है पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति। और वह है प्रतिबिम्बरूपसे उपाधिसे वियुक्त हुई स्वयं चितिशक्ति ही—ऐसा इसका तात्पर्य है। इन दोनों ही पक्षोंमें पुरुषका दुःखभोगनिवृत्तिरूप एक ही फल में पर्यवसान होता है। इसीसे 'जो दुःख प्राप्त नहीं हुआ है वही हेय है' ऐसा सूत्र है।

इस प्रकार 'तीनों प्रकारके दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति ही पुरुषका अन्तिम प्रयोजन है' इस सांख्यसूत्रका इस सूत्रसे कोई विरोध नहीं है। वेदान्ती भी परमात्मामें जीवात्माके लय हो जानेको ही मोक्ष कहते हैं। उनसे भी हमारा विरोध नहीं है, क्योंकि समुद्रमें नदियोंके लयके समान उपाधिका लय होने पर जीवोंका ब्रह्मसे अभेद हो जाना ही

गस्यैव लयशब्दार्थत्वात्, तस्य च 'पररूपेणाप्रतिष्ठत्व एव पर्यवसानात्। वैशेषिकास्त्वशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इत्याहुः। तदप्यस्माकमविरुद्धम्। उपाधेर्विशेषणानामेवोपाधिमत्युपचारेण तदुच्छेदस्याप्युपचारात्। नैयायिकास्त्वात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इतीच्छन्ति। तत्त्वस्मन्मतमेव, भोग्यभोक्तृभावसंबन्धेन दुःखनिवृत्तिः पुरुषार्थो न समवायेनेत्येवास्माकं विशेषात्।

यत्तु नवीना वेदान्तिब्रुवा नित्यानन्दावाप्तिं परममोक्षं कल्पयन्ति तदेव च वयं न मृष्यामहे। ब्रह्ममीमांसादिसकलदर्शनेषु तादृशसूत्राभावात्, श्रुतिस्मृतिन्यायविरोधाच्च[1]। तत्र मोक्षे सुखप्रतिषेधिकाः[2] श्रुतयः 'विद्वान्हर्षशोकौ जहाति' (क. २. १२.)

'लय' शब्दका अर्थ है और इस प्रकारके लयका पर्यवसान जीवके अन्य रूपसे स्थित न रहनेमें ही है। वैशेषिकोंका कथन है कि सम्पूर्ण विशेष गुणोंका नाश हो जाना ही मोक्ष है। इस मतका भी हमारेसे कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उपाधिके विशेष गुणोंका ही उपाधिमान्में उपचार (आरोप) होता है, अतः उनके उच्छेदका भी उसमें उपचार हो ही सकता है। नैयायिक तो दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति ही मोक्ष है ऐसा मानते हैं। यह तो हमारा ही मत है। उनसे हमारा इतना ही मतभेद है कि हम दुःखनिवृत्तिरूप पुरुषार्थको भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्धकी निवृत्तिद्वारा मानते हैं, समवाय सम्बन्धकी निवृत्तिद्वारा नहीं।

किन्तु ये तथाकथित नवीन वेदान्ती जो नित्यानन्दकी प्राप्तिको ही परम मोक्षरूपसे कल्पना करते हैं वही हमें सह्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्ममीमांसा आदि सभी दर्शनोंमें ऐसा कोई सूत्र नहीं है और यह श्रुति, स्मृति एवं युक्तिके भी विरुद्ध है। मोक्षमें सुखका प्रतिषेध करनेवाली ये श्रुतियाँ हैं—'विद्वान् हर्ष और शोकको त्याग देता है' 'शरीरसे छूट

---

१ विरुद्धत्वाच्च—पा. २ पु.। २ प्रतिबन्धिकाः—पा. १ पु.।

'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' (छा. ८. १२. १.)
इत्यादयः । स्मृतिश्च—

"यच्च किंचित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन् ।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ॥
"परमात्मनि संलीनो विद्याकर्मबलान्नरः ।
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि युज्यते ॥ " इत्यादिः ।

न्यायश्च मोक्षस्य जन्यत्वे विनाशित्वप्रसङ्गः, नित्यत्वे सिद्धतया न पुरुषार्थत्वम् । अथ नित्यसुखस्योपलब्धिरेव मोक्षो वाच्य इति चेन्न । उपलब्धेरपि नित्यानित्यविकल्पग्रस्तत्वात् । न च नित्यसुखगोचरस्याविद्यादियत्किंचिदावरणस्य भङ्ग एव पुरुषार्थो

जानेपर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते' इत्यादि । तथा ये स्मृतियाँ भी हैं—'जो कुछ भी सुख है वह सब दुःख ही है—ऐसा स्मरण करके जीव अत्यन्त दुस्तर घोर संसारसागरको पार कर जायगा ।' 'विद्या और कर्मके बलसे परमात्मामें लीन हुआ पुरुष सुख या दुःखसे कभी युक्त नहीं होता' इत्यादि ।

युक्तिसे भी यही सिद्ध होता है कि मोक्ष यदि जन्य है तो उसके नाशवान् होनेका प्रसंग होगा और यदि नित्यसिद्ध है तो वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता । यदि नित्य सुखकी उपलब्धिको ही मोक्ष कहा जाय तो ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उपलब्धि तो स्वयं ही नित्य-अनित्यके विकल्पसे ग्रस्त है ।* तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि नित्यसुखको विषय करनेवाले अविद्यादि यत्किञ्चित् आवरणको भंग करना ही पुरुषार्थ है, क्योंकि लोकमें पुरुषार्थ तो केवल सुखानुभव

---

* अर्थात् नित्यसुखकी उपलब्धिको ही मोक्ष मानेंगे तो उसमें यह विकल्प होगा कि वह उपलब्धि नित्य है या अनित्य ।

वाच्यः, सुखानुभवस्यैव लोके पुरुषार्थत्वाच्चैतन्यनित्यत्वेनावरण-स्याप्यसंभवाच्चेत्यादिरिति ।

नन्वेवं मोक्षे परमानन्दश्रुतिस्मृतयः कथमुपपद्येरन्निति चेत् न, मोक्षशास्त्रपरिभाषयैव तदुपपत्तेः ।

"दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलभ्यते ।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते ।"
"दुःखं कामसुखापेक्षा सुखं दुःखसुखात्ययः ॥"

इत्यादिस्मृतिभिर्हि दुःखबहुलत्वेन सुखमपि दुःखतया परि-भाष्य तादृशदुःखनिवृत्तिरेव सुखत्वेन परिभाषिताऽस्त्युपादेय-गुणत्वेनेति । अत एव सांख्यसूत्रम्—'दुःखनिवृत्तेर्गौणः' (सां ५. ६७.) इति 'विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्' (सां ५. ६८.)

ही है तथा चैतन्य नित्य होनेके कारण उसमें किसी प्रकारका आवरण होना भी सम्भव नहीं है ।

नवीनवेदान्ती—यदि ऐसा माना जाय तो मोक्षमें परमानन्दका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति और स्मृतियोंकी संगति कैसे होगी ?

उत्तर—ऐसा मत कहो, क्योंकि मोक्षका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंने जो परिभाषा की है उसीसे उनकी संगति लग जाती है— '[संसारमें] दुःख ही है, सुख नहीं, क्योंकि यहाँ केवल दुःख ही दिखायी देता है । दुःखार्त्त पुरुषके दुःखका मार्जन होनेपर ही उसकी सुख संज्ञा पड़ जाती है ।' 'वास्तवमें भोगजनित सुखकी अपेक्षा होना ही दुःख है और दुःख-सुखसे परे हो जाना ही सुख है ।' इस प्रकारके स्मृतिवाक्यों द्वारा दुःखबहुल होने के कारण सुखकी भी दुःखरूपसे ही परिभाषा करके वैसे दुःखकी निवृत्तिको ही उसके उपादेयत्वरूप गुणके कारण सुखरूपसे परिभाषा की है । इसीसे ये सांख्यसूत्र भी है—'दुखनिवृत्तिको ही गौणरूपसे [सुख कहा जाता है]' '[दुःख निवृत्तिरूप] मुक्ति की

इति च। आनन्दावाप्तिस्तु गौणो मोक्षो ब्रह्मलोके भवतीति दिक्।

तदेवं कैवल्यं संक्षेपेण[1] प्रतिपादितम्।

योगशास्त्रस्य सारार्थः संक्षेपेणायमीरितः।
नातोऽधिको मुमुक्षूणामपेक्ष्यो योगदर्शने॥
सांख्यसारप्रकरणे विवेको बहु वर्णितः।
नातः प्रपञ्च्यते सोऽत्र ग्रन्थबाहुल्यभीतितः॥
ब्रह्मप्रकरणे ब्रह्मादर्शादावीश्वरोऽपि च।
वर्णितो वर्ण्यते नात्र ग्रन्थसंक्षेपकाम्यया॥
समानतन्त्रसिद्धान्तन्यायेनात्र[2] च दर्शने।
सांख्यानुसारतो ज्ञेयः सृष्ट्याद्यर्थोऽविरोधतः॥

प्रशंसा मन्दबुद्धियोंके लिये ही है'। अतः ब्रह्मलोकमें आनन्दकी प्राप्ति तो गौण मोक्ष ही है।

इस प्रकार संक्षेपमें कैवल्यका प्रतिपादन हुआ।

उपसंहार

यह संक्षेपसे योगशास्त्रके सार अर्थका निरूपण हुआ। मुमुक्षुओंके लिये योगदर्शनमें इससे अधिक और कुछ अपेक्षित नहीं है। हमने अपने सांख्यसारप्रकरण ग्रन्थमें विवेकका बहुत वर्णन किया है; अतः ग्रन्थविस्तारके भयसे यहाँ उसका विशेष विवेचन नहीं किया गया। ब्रह्मादर्श आदि ब्रह्मसम्बन्धी ग्रन्थमें हमने ईश्वरका भी वर्णन किया है, अतः ग्रन्थको संक्षिप्त रखनेकी इच्छासे यहाँ उसका भी वर्णन नहीं किया गया। [योग और सांख्यदर्शनोंके सिद्धान्त समान ही हैं—इस] समानतन्त्र सिद्धान्त न्यायसे इस दर्शन में भी सांख्यके अनुसार ही सृष्टि आदिक्रम समझने चाहिये, क्योंकि सांख्यसे इसका कोई विरोध नहीं है।

---

१ संक्षेपतः—पा. २ पु.। २ सिद्धतन्त्रान्तन्यायेनात्र—पा. २ पु.।

तैर्दूषितं चेश्वरादि प्रसाध्यमिह यद्भवेत्।
तत्रेश्वरो ब्रह्मशास्त्रे न्यायादौ च प्रसाधितः ॥
तेनाप्यसाधितः स्फोटशब्दो धीवैभवं तथा।
संक्षेपात्साध्यतेऽस्माभिः सांख्यदोषनिरासतः ॥

तत्र शब्दस्तावत्त्रिविधो भवति—वागिन्द्रियविषयः श्रोत्रविषयो बुद्धिमात्रविषयश्च। तेषु कण्ठताल्वादिस्थलावच्छिन्नः शब्दो वागिन्द्रियस्य विषयः, तत्कार्यत्वात्। वागिन्द्रियव्यवहितः श्रोत्रस्थश्च शब्दजः शब्दः श्रोत्रस्य विषयः, तद्ग्राह्यत्वात्। घट इत्यादि पदानि तु बुद्धिमात्रस्य विषयः, वक्ष्यमाणयुक्त्या बुद्धिमात्रग्राह्यत्वात्। तानि पदान्येवार्थस्फुटीकरणत्वात्स्फोट इत्युच्यते। तद्धि पदं वागिन्द्रियोच्चार्यप्रत्येकवर्णेभ्योऽतिरिक्तम्,

सांख्यने जो योगप्रतिपादित ईश्वरादिका खण्डन किया है उसको सिद्ध करना यहाँ आवश्यक था, सो उसकी सिद्धि हम वेदान्त और न्यायशास्त्रमें कर चुके हैं। हाँ, स्फोट और बुद्धिवैभवका उन ग्रन्थोंमें भी विवेचन नहीं किया गया। अतः उनके विषयमें सांख्यकी दोषदृष्टिका निराकरण करते हुए हम संक्षेपसे उन्हें सिद्ध करते हैं।

स्फोट

शब्द तीन प्रकारका होता है—(१) वागिन्द्रियका विषय (२) श्रोत्र का विषय और (३) केवल बुद्धिका विषय। इनमें कण्ठ-तालु आदि स्थानोंसे अवच्छिन्न शब्द तो वागिन्द्रियका विषय होता है, क्योंकि वह उन्हींका कार्य है। उस शब्दसे उत्पन्न हुआ और वागिन्द्रियसे व्यवहित वह शब्द जो श्रोत्रेन्द्रियमें स्थित होता है उससे ग्राह्य होने के कारण श्रोत्रका विषय होता है। तथा घट इत्यादि जो पद हैं वे आगे बतायी जानेवाली युक्तिसे केवल बुद्धिके विषय हैं, क्योकि वे बुद्धिमात्रसे ग्राह्य हैं। अपने अर्थको स्फुट (प्रकट) करनेवाले होने से ये पद ही 'स्फोट' कहे जाते हैं। वह पद वागिन्द्रियसे उच्चारण किये जानेवाले प्रत्येक वर्णसे पृथक् ही है, क्योंकि

वर्णानामाशुतरविनाशितया मिलनाभावेनैकं पदमिति व्यवहार-गोचरत्वासंभवात्, अर्थस्मारकत्वासंभवाच्च। अस्य च स्फोटस्य कारणमेकः प्रयत्नविशेषः, प्रयत्नभेदेनोच्चारणे सत्येकपदव्यवहाराभावादर्थाप्रत्ययाच्च। तस्य च स्फोटस्य व्यञ्जक आनुपूर्वीविशेषविशिष्टतयाऽन्त्यवर्णप्रत्ययः। अतश्च तद्बुद्धेरेव स्फोटग्राहकत्वम्, आनुपूर्व्या बुद्ध्यैव ग्रहणसंभवेन सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्यैवानुपूर्वीप्रत्ययस्य स्फोटाख्यपदाभिव्यक्तिहेतुत्वे लाघवात्। अत एव स्फोटः श्रोत्रेण ग्रहीतुं न शक्यते। घात्तरटत्वादिरूपिण्या आनुपूर्व्याः श्रोत्रेण ग्रहणासंभवात् आशुतरविनाशितया वर्णानां मिलनासंभवात्। पूर्वपूर्ववर्ण-

वर्णतो उच्चारण के पश्चात् तत्काल नष्ट हो जाते हैं, अतः उनका परस्पर मिलन न होने के कारण वे 'पद' इस नामसे व्यवहार के विषय नहीं हो सकते और न वे किसी अर्थका स्मरण ही करा सकते हैं। इस स्फोटका कारण तो एक प्रयत्नविशेष है। यदि इसका उच्चारण विभिन्न प्रयत्नों से माना जाय तो इसका एक पदरूपसे व्यवहार न हो सकनेके कारण इससे कोई अर्थ भी प्रकट नहीं हो सकता। इस स्फोटका व्यञ्जक तो वर्णोंकी आनुपूर्वीविशेषसे विशिष्ट अन्तिम वर्णका प्रत्यय ही है। इसीसे तद्विषयक बुद्धिही स्फोटको ग्रहण करनेवाली है। आनुपूर्वीका ग्रहण केवल बुद्धिसे ही हो सकता है; अतः आनुपूर्वीके प्रत्ययसे सामानाधिकरण्यमें अत्यन्त समीपता होनेके कारण स्फोटसंज्ञक पदको ही अभिव्यक्तिका हेतु माननेमें लाघव है। इसीसे स्फोटको श्रोत्रसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। [घटादि शब्दोंके उच्चारणमें] 'घ' के पश्चात् जो 'ट' आदिरूप आनुपूर्वी है उसका श्रोत्रसे तो ग्रहण हो नहीं सकता, क्यों कि उच्चारणके पश्चात् तुरन्त नष्ट हो जानेवाले होनेसे वर्णोंका परस्पर मेल नहीं हो सकता। पूर्व-पूर्व वर्णोंके संस्कार और उनकी स्मृतियाँ

संस्काराणां तत्स्मृतीनां चान्तःकरणनिष्ठानामन्तःकरणसहकारित्वस्यैवौचित्यादिति ।

स्यादेतत् । स्फोटव्यञ्जकस्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैव पदत्वमर्थप्रत्यायकत्वरूपमस्तु, अलं स्फोटेन, तद्धेतोरेव तदस्त्विति न्यायात् । एतदेव सांख्यसूत्रेणोक्तम्—'प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः' (सां. ५. ५७.) इति । एकत्वप्रत्ययोऽप्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैकत्वेनोपपद्यत इति ।

अत्रोच्यते । एवं सत्यवयव्युच्छेदप्रसङ्गः । असमवायिकारणसंयोगविशेषावच्छिन्नानामवयवानामेव जलाद्याहरणहेतुत्वकल्पनायां लाघवात्तद्धेतोरेव तदस्त्विति न्यायसाम्यात् । एको तो अन्तःकरणमें रहती हैं, इसलिये पदके ग्रहणमें अन्तःकरणकी सहकारिताको स्वीकार करना ही उचित है ।

शंका—ठीक है । किन्तु स्फोटको अभिव्यक्त करनेवाला जो आनुपूर्वीविशिष्ट अन्तिम वर्ण है वह भी तो अर्थका प्रत्यय करानेवाला पदरूप हो सकता है, फिर स्फोटकी क्या आवश्यकता है । इस विषय में यह न्याय है कि यदि कार्यका प्रयोजन कारणसे ही सिद्ध हो जाय तो कार्यकी अपेक्षा नहीं । यही बात इस सांख्यसूत्रने भी कही है—'प्रतीति और अप्रतीतिके कारण शब्द स्फोटात्मक नहीं है ।* पदकी एकत्वप्रतीति भी आनुपूर्वीविशिष्ट अन्तिम वर्णके एकत्वसे संगत हो ही जाती है ।

उत्तर—इस विषयमें हमें यह कहना है कि ऐसा माननेपर तो अवयवीके उच्छेदका प्रसंग प्राप्त होगा । इस कथनकी समता इस न्यायसे की जा सकती है कि संयोगविशेषरूप असमवायी कारणसे अवच्छिन्न जो घटके अवयव हैं उन्हें ही जलादिके लानेमें हेतु माना जाय तो [अवयवी घटकी अपेक्षा] इस कल्पनामें लाघव (सुगमता) है, अतः ऐसा ही

---

* अर्थात् शब्द प्रतीत होनेवाला होता है और स्फोटकी प्रतीति नहीं होती । अतः शब्द स्फोटरूप नहीं हो सकता ।

घट इत्यादिप्रत्ययानामप्येकं वनमित्यादिप्रत्ययवदुपपत्तेः । अथ परमाणूनां तत्संयोगानां चातीन्द्रियतया तद्रूपत्वेऽवयविनः प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकमवयविसाधकमिति चेत्, तुल्यं स्फोटेऽपि । आनुपूर्व्याः क्षणाद्यतीन्द्रियघटिततयाऽऽनुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णात्मकत्वे पदस्य प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकं स्फोटसाधकमिति ।

अपि च स्फोटशब्दोऽस्माभिः श्रुतिप्रमाणेनैव स्वर्गादिवत् कल्प्यत इत्यतस्तत्र लौकिकप्रमाणाभावेऽपि न क्षतिः । तथा हि—प्रणवस्याकारोकारमकाररूपमात्रात्रयं ब्रह्मादिदेवतात्रयात्मकमुक्त्वा प्रणवदेवतात्रयातिरिक्तपरब्रह्मात्मकचतुर्थमात्रां श्रुतय आमनन्ति । सा च चतुर्थी मात्रा वर्णत्रयादतिरिक्तः स्फोट एव संभवति ।

मान लिया जाय । तथा 'एक वन' इत्यादि प्रत्ययोंके समान 'एक घट' इत्यादि प्रत्यय भी संगत हो ही सकते हैं । यदि कहो कि परमाणु और उनके संयोग तो अतीन्द्रिय होनेके कारण अव्यक्त हैं, अतः यदि अवयवी (घट) को तद्रूप ही माना जायगा तो वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा; यह बात उनसे पृथक् अवयवीको सिद्ध करनेवाली है—तो ऐसा ही स्फोटके विषयमें भी कहा जा सकता है । आनुपूर्वी तो अतीन्द्रिय क्षणादिसे निष्पन्न है, इसलिये यदि पदको आनुपूर्वीविशिष्ट अंतिम वर्णरूप मानेंगे तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । ये सब युक्तियाँ स्फोटको सिद्ध करनेवाली हैं ।

इसके सिवा हम स्वर्गादिके समान स्फोट शब्दकी भी श्रुतिप्रमाणसे ही कल्पना करते हैं, अतः इस विषयमें लौकिक प्रमाण न होनेपर भी किसी प्रकारकी हानि नहीं है । यथा—श्रुतियाँ प्रणवकी ब्रह्मादि त्रिदेवरूपा अकार उकार और मकार रूप तीन मात्राओंका उल्लेख करके प्रणवके इन तीन देवताओंसे विलक्षण परब्रह्मरूपा चतुर्थ मात्राका प्रतिपादन करती हैं, और वह चतुर्थ मात्रा उक्त तीन वर्णोंसे भिन्न स्फोट

सैव चार्धमात्रेत्युच्यते। राशिवद्विभक्तयोर्हि वर्णपदयोर्वर्ण एकमर्धं पदं वा तदर्धमित्युपपद्यते। यथा चावयवेभ्यो विविच्या- वायवी न व्यवहार्यो[1] भवति, एवमेव प्रत्येकवर्णेभ्यो विविच्य पदमुच्चारयितुं न शक्यत इत्यतः स्मर्यते—

'अर्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुच्चार्या विशेषतः' इति।

ननु स्यादेवमर्धमात्रोपपत्तिः, नादबिन्द्वोस्तु किं स्वरूपम्?

उच्यते। प्रणवे उच्चार्यमाणे शङ्खनादवेणुनादादिवद्यः स्वरविशेषो भवति स नादः, या च नादस्योपरमावस्थाऽति- सूक्ष्मा सा शून्यतुल्यतया बिन्दुरुच्यत इति। तस्मादवय- वेभ्योऽवयवीव वर्णेभ्योऽतिरिक्तं पदं तदेव स्फोट इति सिद्धम्।

ही हो सकती है। उसीको अर्धमात्रा भी कहा जाता है। पद और वर्ण एक ढेरीके समान होते हैं, उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। अतः उनका एक अर्धभाग 'वर्ण' कहा जा सकता है और दूसरा अर्ध- भाग 'पद'। जिस प्रकार अवयवोंसे अलग करके अवयवी व्यवहारके योग्य नहीं हो सकता उसी प्रकार एक-एक वर्णसे अलग करके पदका उच्चारण नहीं हो सकता। इसीसे ऐसी स्मृति भी है—'देवी नित्य अर्धमात्रारूपसे स्थित है, जिसका पृथक् रूपसे उच्चारण नहीं हो सकता।'

शंका—इस प्रकार अर्धमात्राकी संगति तो लग जाती है, किन्तु नाद और बिन्दुका क्या स्वरूप है?

समाधान—बताते हैं। प्रणवका उच्चारण करने पर जो शंख और वंशी-नादादिके समान स्वरविशेष होता है वही 'नाद' है, तथा नादकी शान्तिकी जो अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है वह शून्यके समान होनेके कारण 'बिन्दु' कही जाती है। अतः अवयवोंसे अवयवीके समान जो वर्णोंसे अतिरिक्त पद है वही स्फोट है—यह सिद्ध हुआ।

---

१ व्यवहारयोग्यो—पा. २ पु.।

नन्वेवं वाक्यमपि स्फोटः स्यादिति चेत्, बाधकाभावे सतीष्यतामिति दिक् ।

स्फोटो व्यवस्थापितः ।

मनोवैभवं व्यवस्थाप्यते । धर्माधर्मवासनाश्रयतया प्रतिपुरुषमन्तःकरणं नित्यम् । न च प्रकृतिधर्मा एव सन्त्वदृष्टादय इति वाच्यम्, अन्यनिष्ठादृष्टादिभिरन्यत्र सुखदुःखाद्युत्पादेऽतिप्रसङ्गात् । तच्च नाणु संभवति; योगिनां सर्वावच्छेदेनैकदाऽखिलसाक्षात्कारसम्भवात्, अयोगिनामपि दीर्घशष्कुलीभक्षणादावनेकेन्द्रियवृत्त्यनुभवाच्च । न च योगिनां योगजधर्म एव प्रत्यासत्तिः स्यात्, संयोगसंयुक्तसमवायादिलौकिकप्रत्यास-

यदि कहो कि इस प्रकार तो वाक्य भी स्फोट हो जायगा, तो इसपर हमें यही कहना है कि यदि इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं हैं तो ऐसा ही सही।

इस प्रकार स्फोटका निर्णय हुआ ।

मनोवैभव

अब मनोवैभवका निर्णय किया जाता है । धर्म और अधर्मकी वासनाओंके आश्रय रूपसे प्रत्येक पुरुषके साथ अन्तःकरण नित्य ही है। अदृष्टादि प्रकृतिके ही धर्म हो सकते हैं—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे अन्य पुरुषके अदृष्टादिसे अन्य पुरुषमें सुख-दुःखकी उत्पत्तिका प्रसंग उपस्थित हो सकता है । वह अन्तःकरण भी अणु नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वगत होनेके कारण योगियोंको एक साथ ही उसके द्वारा सम्पूर्ण वस्तुओंका साक्षात्कार हो सकता है; तथा जो योगी नहीं हैं उन्हें भी पूड़ी आदि खानेके समय एक साथ अनेक इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका अनुभव होता है । योगियोंका किसी योगज धर्मसे सम्बन्ध हो जाता है [इसलिये उन्हें एक साथ सबका अनुभव होने लगता है] ऐसा मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि (१) इस प्रकारका अनुभव तो संयोग, संयुक्त एवं समवाय आदि लौकिक सम्बन्धोंके द्वारा

न्त्यैवोपपत्तौ सन्निकर्षान्तरकल्पने गौरवात्, अन्योन्यं व्यभिचाराच्च; साक्षात्कारेऽवान्तरजातिकल्पने गौरवाच्च[1]। अस्मन्मते च सर्वार्थग्रहणमर्थस्यान्तःकरणस्य तमआख्यावरणभङ्ग एव योगजधर्मादिभिः क्रियते, सुषुप्तौ तमसो वृत्तिप्रतिबन्धकत्वसिद्धेरिति।

नाप्यन्तःकरणं मध्यमपरिमाणमात्रं सम्भवति, प्रलये विनाशेनादृष्टाद्याधारतानुपपत्तेः। अतः परिशेषतोऽन्तःकरणं विभ्वेव सिध्यति। तथा च स्मर्यते—

"चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
द्वाभ्यां शून्यतमं विद्धि चिदाकाशं वरानने॥" इति।

ही हो सकता है, तब किसी अन्य सम्बन्धकी कल्पनामें तो गौरव दोष प्राप्त होगा; (२) [लौकिक और अलौकिक दोनों सम्बन्धोंका] परस्पर व्यभिचार होगा तथा (३) साक्षात्कारमें एक अवान्तर जातिकी कल्पना करनेसे गौरव दोष भी प्राप्त होगा। हमारे विचारसे तो सम्पूर्ण विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ इस अन्तःकरणके तमोगुणरूप आवरणका भंग ही योगजधर्मादिसे होता है। सुषुप्तिमें तमोगुण अन्तःकरणकी वृत्तियोंका प्रतिबन्धक है—यह बात सिद्ध ही है।

इसके सिवा अन्तःकरण मध्यम परिणाममात्र भी होना संभव नहीं है, क्योंकि तब तो प्रलयकालमें नष्ट हो जानेके कारण यह कल्पान्तरमें अदृष्टादिका आधार नहीं हो सकेगा। अतः परिशेषतः यह विभु ही सिद्ध होता है। ऐसा ही यह स्मृति भी कहती है—'हे सुमुखि! चित्ताकाश, चिदाकाश और आकाश—ये तीन प्रकारके आकाश हैं। इनमें चिदाकाशको शेष दो से सर्वथा शून्य जानो।'

---

१ जातिसांकर्यादतिगौरवाच्च—पा, २ पु.।

स्यादेतत्। अन्तःकरणस्य विभुत्वे परिच्छिन्नवृत्तिलाभस्यावरणेनोपपत्तावपि लोकान्तरगमनादिकं नोपपद्यते। अत एव सांख्यसूत्रम्—'न व्यापकं मनः करणत्वात्' (सां. ५. ६९.) इति, 'तद्गतिश्रुतेः' (सां. ५. ७०.) इति च। किं चैवं सति-लाघवाच्चैतन्यस्यैवावरणकल्पनमुचितम्; किमर्थं विभ्वन्तःकरणं परिकल्प्यते? तत्र ज्ञानप्रतिबन्धकमावरणं कल्प्यत इति।

अत्रोच्यते। गतिश्रुतिस्तावदात्मनीवान्तःकरणेऽपि प्राणेन्द्रियाद्युपाधिनोपपद्यते। कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतात्कार्यान्तःकरणस्य स्वतोऽपि गतिरुपपद्यते। कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतं सांख्यैरप्येष्टव्यम्। केवलकार्यत्वे 'अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादी-

शंका—ऐसा ही सही। किन्तु अन्तःकरणको विभु मानने पर यद्यपि इसकी परिच्छिन्न वृत्ति तो तमोगुण आदिके आवरणसे भी उपपन्न हो सकती है, तथापि लोकान्तरगमनादिकी उपपत्ति किसी प्रकार नहीं लग सकती। इसीसे ये सांख्यसूत्र भी हैं—'करण होनेके कारण मन व्यापक नहीं हो सकता' तथा 'मनकी गतिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति होनेके कारण [वह विभु नहीं हो सकता]।' यदि ऐसी बात है तब तो लाघव होनेके कारण चैतन्यके ही आवरणकी कल्पना करनी उचित है, विभु अन्तःकरणकी कल्पना किस लिये की जाय? वहाँ भी तो ज्ञानके प्रतिबन्धक आवरणकी ही कल्पनाकी जाती है।

समाधान—इस विषयमें हमें कहना यह है कि गतिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति तो आत्माकी तरह अन्तःकरणके विषयमें भी प्राण एवं इन्द्रिय आदि उपाधिके कारण संगत हो सकती है। इसके सिवा कार्य और कारणरूपसे अन्तःकरण दो प्रकार का होनेसे कार्यरूप अन्तःकरणकी गति स्वतः ही उपपन्न हो जायगी। कार्य और कारणरूपसे अन्तःकरणकी द्विरूपता तो सांख्यवादियोंको भी अभीष्ट है; क्योंकि यदि उसे केवल कार्यरूप मानेंगे तो 'धर्मादि अन्तःकरण के धर्म हैं' इस सांख्यसूत्रकी

नाम्' (सां. ५. २५.) इति सांख्यसूत्रानुपपत्तेः; केवलनित्यत्वे च महदाद्युत्पत्तिसूत्रानुपपत्तेः।

यदुक्तं[1] चैतन्यस्यैवावरणकल्पनं युक्तमिति तदयुक्तम्, कूटस्थ-चैतन्यस्य ज्ञानप्रतिबन्धरूपावरणासंभवात्। न च चैतन्यस्यार्थ-सम्बन्ध एव प्रतिबिम्बादिरूपे प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति वाच्यम्, एवमप्यात्मदर्शनानुपपत्तेः। करणद्वारं विना स्वस्मिन्प्रतिबिम्बा-दिरूपेण स्वसंबन्धासंभवात्। अपि चेच्छाकृत्याद्याधारतयाऽन्तः-

संगति नहीं लगेगी * और यदि उसे केवल नित्य (कारण) मानें तो महदादिकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रकी संगति नहीं लग सकती। ×

तुमने जो कहा कि चैतन्यके ही आवरणकी कल्पना करनी उचित है, सो ठीक नहीं, क्योंकि जो कूटस्थ चैतन्य है उसके ज्ञानके प्रतिबन्ध-रूप आवरणकी कल्पना तो सम्भव ही नहीं है। ऐसा कहना भी उचित नहीं कि चैतन्यका जो किसी वस्तुसे सम्बन्ध होता है उसीको प्रति-बिम्बादि रूपमें उसका प्रतिबन्धक मान लेना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार भी अपना दर्शन होना उपपन्न नहीं हो सकता, कारण कि बिना किसी करणके अपनेमें प्रतिबिम्बरूपसे अपना ही सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। इसके सिवा जब इच्छा और कृति आदिके आधाररूपसे

---

१ यत्तूक्तं–पा. २ पु.।

* क्योंकि इस सूत्रद्वारा धर्मादि (धर्म-अधर्म, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य और ज्ञान-अज्ञान) को अन्तःकरणका धर्म या कार्य माना जाता है, अतः अन्तःकरण इनसे पूर्वसिद्ध होनेके कारण इनका कारण होना चाहिये।

× उस सूत्रके अनुसार प्रकृतिका कार्य महत्तत्व, महत्तत्वका कार्य अहंकार और अहंकारका कार्य मन या अन्तःकरण है।

करणे सिद्धे स्वप्नादावन्तर्दृश्यमानघटादयोऽपि तस्यैव परिणामाः कल्प्यन्ते, कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यौचित्यात् । त एव च घटाद्याकारपरिणामाश्चैतन्ये भासन्ते । तद्विभागेनैव बाह्यघटादिकं भासते । अतस्तादृशपरिणामप्रतिबन्धकमेवा-वरणमित्येव युक्तम्[1] । किं च बाह्यकरणस्यावरणदर्शनेनान्तरा-वरणस्यापि करणनिष्ठत्वं चानुमीयते । आत्मनोऽनावृतत्वं श्रुति-स्मृतिभ्यां चेति ।

नन्वन्तःकरणस्य विभुत्वे सति कथं कार्यत्वं स्यादिति चेत् । न, विभ्व्या अपि आकाशप्रकृतेः कार्याकाशरूपपरिच्छिन्नपरिणाम-वद्गुणान्तरभेदेनान्तःकरणप्रकृतेरपि परिच्छिन्नान्तःकरणरूप-परिणामोपपत्तेः । श्रुतिस्मृतिप्रामाण्याच्चैतदिष्यत इति दिक् ।

अन्तःकरण सिद्ध हो जाता है तो स्वप्नादि अवस्थाओंमें भीतर ही दिखाई देनेवाले घटादि भी उसीके परिणाम मान लिये जाते हैं, क्योंकि कार्य और कारणका एक ही अधिकरण होना उचित है । [अन्तः-करणके] वे ही घटादिरूप परिणाम चैतन्यमें भासते हैं तथा उससे पृथ-ग्रूपसे बाह्य घटादिका भी भान होता है । अतः उस प्रकारके परिणामका प्रतिबन्धक ही आवरण होता है—ऐसा मानना ही उचित है । इसके अतिरिक्त बाह्य करणोंका आवरण देखा जाता है—इससे भी आन्तर आवरणके अन्तःकरणगत होनेका ही अनुमान होता है । तथा आत्माकी आवरणहीनता अनेकों श्रुति-स्मृतियोंसे भी सिद्ध है ही ।

यदि कहो कि विभु मानने पर अन्तःकरणकी कार्यरूपता कैसे सिद्ध हो सकेगी, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं, जिस प्रकार कारणाकाश विभु होने पर भी उससे कार्याकाशरूप परिच्छिन्न परिणाम हो जाता है उसी प्रकार गुणान्तरके भेद द्वारा कारणरूप [विभु] अन्तःकरणसे परिच्छिन्न अन्तःकरणरूप परिणाम हो ही सकता है । यह बात श्रुति और स्मृतियोंके प्रमाणोंसे तो इष्ट ही है, सो दिखाया जा चुका है ।

---

१ ०वरणम् । तन्नैव युक्तम्—इत्यपपाठः ।

मनोवैभवं व्यवस्थापितम्।

क्षणरूपः कालो व्यवस्थाप्यते। तत्र न्यायवैशेषिकाभ्यां मन्यते—आत्मवदखण्डो नित्य एकः कालोऽस्ति ; लाघवात्स एव तदुपाध्यवच्छिन्नः सन्क्षणमुहूर्ताहोरात्रमाससंवत्सरादिव्यवहारं कुरुते, न पुनः क्षणनामा पृथक्पदार्थोऽस्तीति। सांख्यैस्तु 'दिक्कालावाकाशादिभ्यः' (सां. २. १२.) इति सूत्रान्महाकालो वा क्षणादिर्वा पृथक्पदार्थो नास्ति, किं त्वाकाशमेवोपाधिभिर्विशिष्टं क्षणादिमहाकालान्तव्यवहारं कुरुत इति मन्यते। तदेतन्मतद्वयमप्यसमञ्जसम्, स्थिरेण केनाप्युपाधिना महाकालाकाशाभ्यां क्षणव्यवहारस्यासंभावत्। तथा हि—उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नपरमाण्वा-

इस प्रकार मनोवैभवकी व्यवस्था हुई।

काल

अब क्षणरूप कालका निर्णय किया जाता है। इस विषयमें न्याय और वैशेषिक तो ऐसा मानते हैं कि आत्माके समान अखण्ड और नित्य एक काल है। लाघवसे वह एक ही काल उपाधियोंसे अवच्छिन्न होकर क्षण, मुहूर्त, दिन, रात्रि, मास और वर्ष आदि व्यवहारका निर्वाह करने लगता है, उससे पृथक् क्षण नामका कोई पदार्थ नहीं है। तथा सांख्यवादी 'दिशा और काल आकाशादिसे होते हैं' इस सूत्रके अनुसार ऐसा मानते हैं कि महाकाल या क्षणादि कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, अपितु उपाधियोंसे विशिष्ट आकाश ही क्षणसे लेकर महाकालतक का व्यवहार करता है। किन्तु ये दोनों ही मत ठीक नहीं हैं, क्योंकि ऐसी कोई स्थिर उपाधि नहीं है जिसके द्वारा महाकाल या आकाशसे क्षण आदिका व्यवहार हो सके। तात्पर्य यह कि [नैयायिक और सांख्य इन] अन्य वादियोंको महाकाल या आकाशकी उपाधिरूपसे परवर्ती देशके संयोगसे अवच्छिन्न परमाणु आदिकी क्रिया अथवा ऐसीही कोई

धिंक्रियाऽन्यद्वैतादृशं किंचिन्महाकालाकाशयोः क्षणरूपतायामुपाधिः परैरिष्यते। तत्रोक्तसंयोगविशिष्टक्रियादिकं चेद्विशेष्यविशेषणतत्सम्बन्धमात्रं तर्हि त्रयाणामपि परैः स्थिरत्वाभ्युपगमान्न तैः क्षणव्यवहारः सम्भवति। यदि च तत्तेभ्योतिरिक्तमिष्यते तर्हि तस्य विशिष्टसंज्ञामात्रम्। तदेव चास्माभिः सर्वेभ्यः स्थिरपदार्थेभ्योऽतिरिक्तं क्षणाख्यः काल इष्यते। न तु तन्महाकाल आकाशं वा तेनैव क्षणव्यवहारोपपत्तौ तदवच्छिन्नस्यान्यस्य क्षणव्यहारहेतुत्वकल्पनावैयर्थ्यात्। स च विशिष्टादिरस्थिरः क्षणः प्रकृतेरेवातिभङ्गुरः[1] परिणामविशेष इत्यतो न प्रकृतिपुरुषातिरिक्तत्वापत्तिः। तस्यैव च क्षणस्या-

अन्य वस्तु अभीष्ट है। सो उक्त संयोगसे विशिष्ट क्रियादि यदि विशेष्य, विशेषण या उनका सम्बन्धमात्र हों तब तो उनके द्वारा इन तीनों की स्थिरता स्वीकृत समझी जायगी, अतः इनसे क्षणरूप व्यवहार सम्भव नहीं होगा।* और यदि वह क्रिया इनसे भिन्न है तो यह उसकी एक विशिष्ट संज्ञामात्र है। उसीको हम सम्पूर्ण स्थिर पदार्थोंसे भिन्न क्षणसंज्ञक काल मानते हैं। वह न तो महाकाल है और न आकाश ही है। जब उसीसे क्षणरूप व्यवहार उपपन्न हो जाता है तब उससे अवच्छिन्न किसी अन्यको क्षणव्यवहारके हेतुरूपसे कल्पना करना तो व्यर्थ ही है। इस प्रकारके विशेषणोंवाला क्षण प्रकृतिका ही अत्यन्त भङ्गुर (नाशवान्) परिणामविशेष होनेके कारण स्वभावसे ही अस्थिर है। अतः इससे उसके प्रकृति और पुरुषसे भिन्न कोई अन्य तत्त्व होनेका प्रसंग उपस्थित नहीं

---

१ अतिभङ्गुरायाः—पा. २ पु.।

* क्षण तो कालका अत्यन्त सूक्ष्म भाग है, अतः किसी स्थिर उपाधिके द्वारा उसका व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता।

१वयवविशेषैर्मुहूर्ताहोरात्रादिद्विपरार्धान्तव्यवहारो भवति, न त्वखण्डो महाकालोऽस्ति, प्रमाणाभावात् । इदानीमद्येत्यादिव्यवहाराणां क्षणप्रचयेनैवोपपत्तेः । कालनित्यताश्रुतिस्मृतयस्तु प्रवाहनित्यतापरा इति । तस्मादावश्यकत्वात्क्षणात्मक एव कालो नाखण्डो महाकालोऽस्ति ; नाप्याकाशं कालव्यवहारहेतुरिति सिद्धम् ।

एवमन्येऽप्यस्मच्छास्त्रसिद्धान्ताः सांख्यादिप्रतिषिद्धाः सुबुद्धिभिरुपपदनीया इति दिक् ॥

होता। उस क्षणके अवयवों (संघातविशेषों) से ही मुहूर्त्त, दिन, रात आदिसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त कालका व्यवहार होता है। कोई अखण्ड महाकाल नहीं है, क्योंकि इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। अब, आज आदि व्यवहार भी क्षणोंके संघातसे ही संगत हो जाते हैं तथा कालकी नित्यता का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति-स्मृतियाँ तो क्षणप्रवाहकी नित्यताको सूचित करनेवाली हैं। अतः आवश्यक होनेके कारण काल क्षणात्मक ही है, अखण्ड महाकाल नामकी कोई वस्तु नहीं है और न आकाश ही कालव्यवहारका हेतु है—यह सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार सांख्यादि दर्शनोंसे प्रतिषिद्ध हमारे अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी भी बुद्धिमान् पाठकों को संगति लगा लेनी चाहिये।

—: * :—

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे

कैवल्यादिनिरूपणं चतुर्थोंऽशः ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

श्रीभगवदर्पणमस्तु

---

१ प्रचयविशेषैः—पा. २ पु. ।
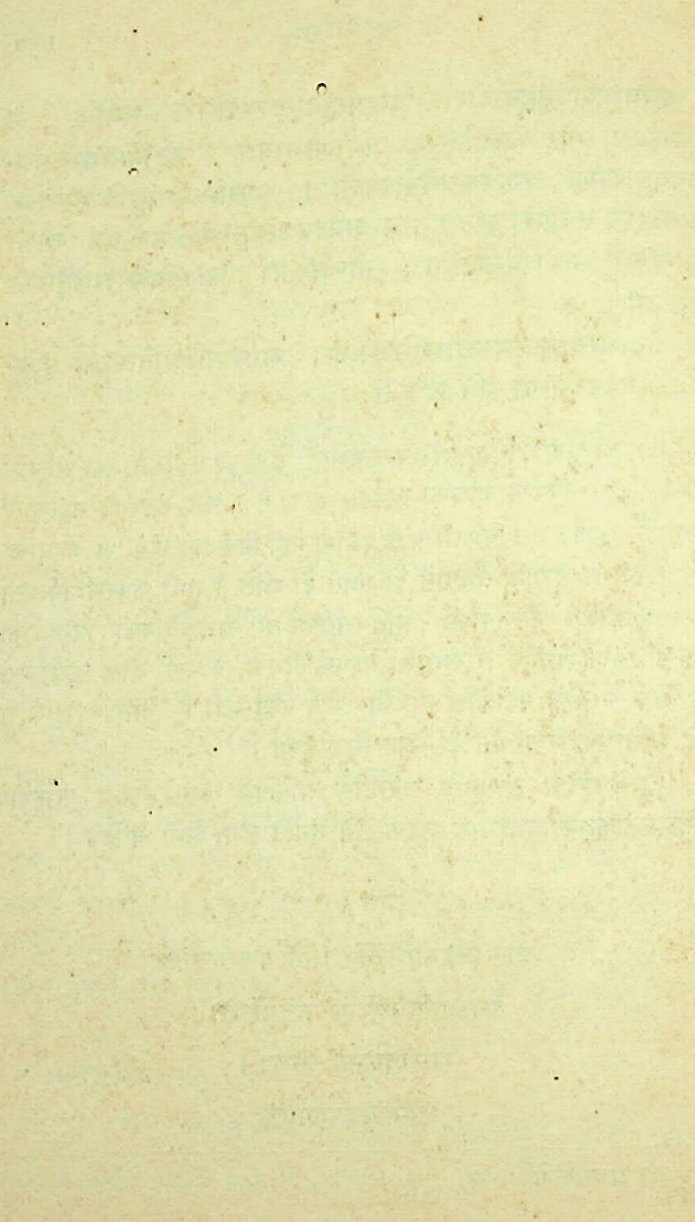
शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१३	योग	निरोध
२०	१७	जिससे कि दोष	जिससे कि उसमें दोष
२२	१८	आत्मस । मान्य-	आत्मसामान्य-
२२	६	त्रिविधी	त्रिविधो
२५	३	चेच्छब्दाथ-	चेच्छब्दार्थ-
३७	४	-मुक्तनि	-मुक्तानि
३९	७	आषो	आपो
४०	२४	पुत्रैषणा	'पुत्रैषणा
४२	७	वितृष्णावैरा-	वितृष्णा वैरा-
४३	६	वैराग्यनुक्तम्	वैराग्यमुक्तम्
४३	१८	उपर	अपर
५२	११	रागषाद्वेभि-	रागद्वेषाभि-
५४	१६	कमद्वारा	कर्मद्वारा
५४	११	तन्निवृत्ता	तन्निवृत्तौ
५४	२४	सवथा	सर्वथा
५६	१७	लोकोंक	लोकोंको
५७	२१	ऐसी	ऐसा
५९	१३	मनमें	मतमें
६०	१४	भोगसाधनों	योगसाधनों

६०	२२	धारण	धारणा
६१	१३	कार्म	कर्म
७४	टिप्पणी २ में	ब्रह्म	ब्रह्म
७८	१३	अन्तरंग	तीन
८३	४	सवसङ्गं	सर्वसङ्गं
८३	१९	दूसरा	अद्वैत
८५	११	धारण । दि	धारणादि
८५	१२	बुद्ध	शुद्ध
९६	९	-संयमाद्भुत-	-संयमाद्भूत-
९६	१६	तोन	तीन
१०६	३	च्चौपद	चौषध
१०६	१४	औषधि	औषध
१०७	१	गणोंका	गुणोंका

———

स्वामी श्री शान्तिधर्मानन्द सरस्वतीजी
सत्यम साधना कुटीर, रायवाला

पूर्ण योग

[योग पञ्चदशी]
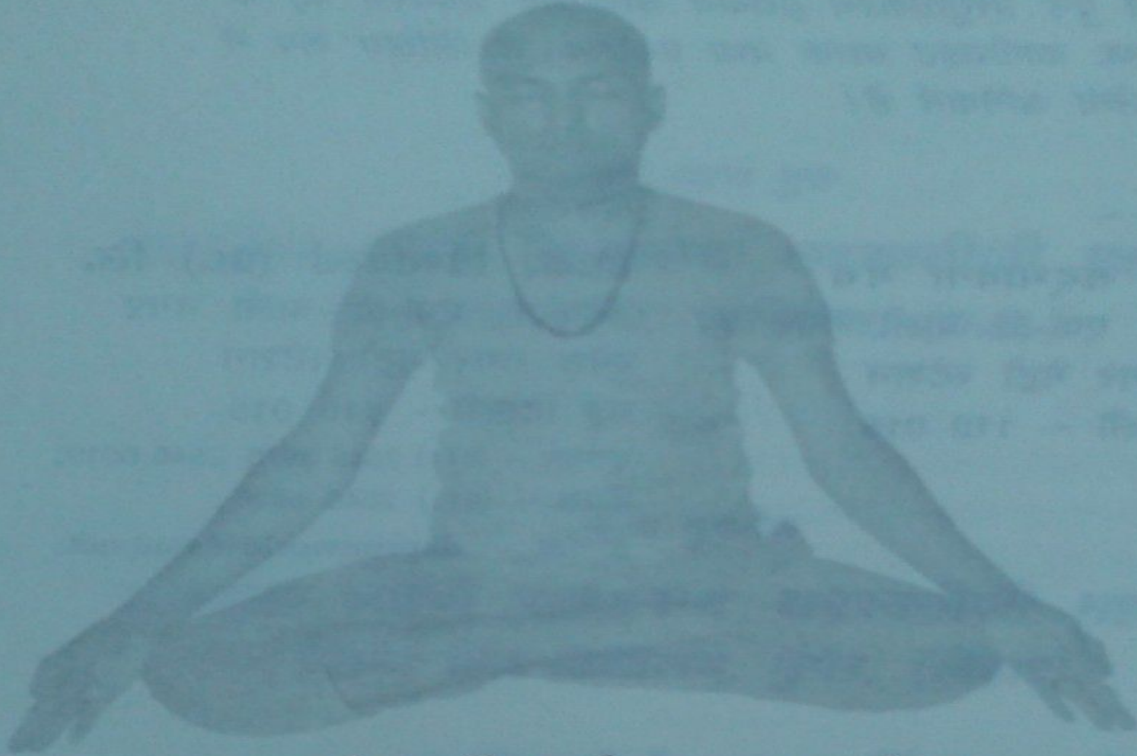
स्वामी शान्तिधर्मानन्द सरस्वती

श्रीकुंज सद्भावना मंच

नई दिल्ली

प्रथम संस्करण, 2000
द्वितीय संस्करण, 2005

ISBN 81-8265-009-7
मूल्य — 125.00 रूपये

प्रकाशक —
श्रीकुंज सद्भावना मंच
'श्रीकुंज', एफ-52 बाली नगर
रमेश नगर मेट्रो स्टेशन
नई दिल्ली — 110 015

वितरक —
डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि.
'श्रीकुंज', एफ-52 बाली नगर
रमेश नगर मेट्रो स्टेशन
नई दिल्ली - 110 015
दूरभाष — (011) 2545 3975, 2546 6019;
फैक्स — (011) 2546 5926
ई-मेल — dkprintworld@vsnl.net

अन्य प्राप्ति स्थान —

1. **सत्य दर्शन आश्रम**
   294, शीशम झाडी,
   ऋषिकेश — 249201 (उत्तरांचल)
   दूरभाष — (0135) 243 6291

2. **भरत झुनझुनवाला**
   A-732, मार्डन सोसायटी,
   सेक्टर-15, रोहिणी, नई दिल्ली — 110 085
   दूरभाष — (011) 2722 8589, 2789 3673

मुद्रण प्रबन्ध — डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., नई दिल्ली

हमारे परम गुरु

परमहंस स्वामी शिवानन्द सरस्वतीजी महाराज

दिव्यजीवन संघ, ऋषिकेश, (उ०प्र०)

एवं

पूज्य गुरुदेव

परमहंस स्वामी सत्यानन्द सरस्वतीजी महाराज

बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, (बिहार)

के श्रीचरणों में सादर समर्पित।

आभार

मैं इस ग्रन्थ के प्रकाशन एवं लेखन कार्य में प्रोत्साहन और सहयोग प्रदान करने के लिये आत्मीय श्री स्वामी रामराज्यम् सरस्वती, स्वामी अनिमेषानन्द सरस्वती, स्वामी आत्मतत्त्वानन्द सरस्वती, स्वामी सर्वेशानन्द सरस्वती आदि गुरुभाइयों को सहृदय धन्यवाद देता हूँ।

विशेषतः प्रूफ रीडिंग में सहयोग के लिये स्वामी सर्वेशानन्द सरस्वती तथा स्वामी अनिमेषानन्द सरस्वतीजी को; छायाचित्र प्रदान करनेवाले स्वामी आत्मतत्त्वानन्द सरस्वती, स्वामी विश्वज्योति सरस्वती, स्टेरिन क्लारिस्सी (फ्रांस), लिजा (आस्ट्रेलिया) और सोंजा ऐगेनब्रोड (जर्मनी) को; प्रकाशन करने में हार्दिक सहयोग देनेवाले श्री भरत झुनझुनवाला तथा मुद्रण कार्य को तेजी से करके शीघ्र जनसेवा में लानेवाले श्री सुशील कुमार मित्तल को मैं अपना धन्यवाद के साथ अत्यन्त आभार प्रकट करता हूँ।

गुरुपूर्णिमा, सं. २०५७
दिनांकः १६ जुलाई २०००

सबका आत्मा
स्वामी शान्तिधर्मानन्द सरस्वती
सत्य दर्शन आश्रम,
२६४, शीशम झाड़ी,
ऋषिकेश – २४९ २०१ (उ.प्र.)
दूरभाष – (०१३५) ४३ ६२६१

प्रस्तावना

ॐ श्री पतञ्जलये नमः ।।

ॐ श्री सरस्वत्यै नमः ।।

भारत-वर्ष का एक अत्यन्त प्राचीन विषय है योग। योग भारतीयों के जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है। लेकिन अब यह संपूर्ण विश्व का विषय एवं मानव मात्र के जीवन का अंग बन रहा है। इसका वेद-मन्त्रों एवं उपनिषदों में पूर्ण विवेचन किया गया है। परन्तु अत्यन्त गूढ़ होने के कारण समझना अति कठिन है। अतः अनेकों ऋषि-मुनियों ने अनेकों ग्रन्थ लिखकर इसे सुगम करने की चेष्टा की है। इनमें से कुछ प्रामाणिक ग्रन्थ हैं — पातञ्जल योगसूत्र, योगी याज्ञवल्क्य- संहिता, घेरंड- संहिता, शिव- संहिता, बृहद्- योग- सोपान, हठयोग प्रदीपिका इत्यादि। इनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के योगों का साधक भेद से वर्णन किया गया है।

योग का परम लक्ष्य "जीवात्मा और परमात्मा की एकता की अनुभूति है"। माया के आवरण के कारण जीव अपने आपको भूल गया है, योगाग्नि में तपकर वह अपने मल एवं विक्षेपों का परित्याग कर अपनी आत्मा के स्वरूप की अनुभूति कर सकता है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्
(यो॰ सू॰ १/२)।

यह जीव नाना प्रकार के संस्कार रूपी रंगों से रंगे हुए इस शरीर में रहता है, लेकिन योगाभ्यास द्वारा तपाया गया शरीर रोग, मृत्यु, बुढ़ापा आदि से रहित होकर स्वरूपानुभूति के योग्य होता है —

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः, प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरं।

यहाँ मृत्यु शब्द का अर्थ मरण नहीं अपितु महाभारत में जैसे कहा है —

मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः।

अत्यन्त विस्मृति का नाम मृत्यु है अर्थात् जीवन का कारण स्वरूपविस्मृति मृत्यु है। इसलिए अर्जुन *गीता* का उपदेश सुनने के पश्चात् कहता है —

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा ।
(गी॰ १८।७३)।

सोकर उठने के बराबर पूर्व-जन्म से मरकर पुनर्जन्म लेने पर भी स्मृति रहना ही 'न मृत्यु' शब्द से कहा है। इसी को *सुश्रुत-संहिता* में कहते हैं —

भाविनः पूर्वदेहेषु संततं शास्त्रबुद्धयः।
भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः।।

अतः अपने संचित कर्मों एवं पूर्वजन्मों में किए गये साधनों को जानकर योगी वर्तमान जन्म में उसी मार्ग से आगे बढ़कर पूर्णत्व को प्राप्त करता है। इस सन्दर्भ में —

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकं ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः
(गी॰ ६/४३-४४)

इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि योग केवल व्यायामादि के समान शरीर को नीरोग एवं पुष्ट रखने का साधन ही नहीं बल्कि भवरोग से मुक्ति प्राप्त करने का भी साधन है। लेकिन यह प्रसिद्ध उक्ति है —

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

इसके अनुसार नीरोग एवं दृढ़ता से युक्त पुष्ट शरीर के विना मुक्ति-साधना सम्भव नहीं। इसलिए योग को इस प्रकार गूंथ दिया गया है कि शरीर की सुडौलता के साथ-साथ आध्यात्मिक प्रगति भी हो। शरीर की सुदृढ़ता के लिए आसन एवं दीर्घायु के लिए प्राणायाम को वैज्ञानिक ढंग से ऋषियों ने अनुभव के आधार पर दिया है। इससे व्यक्ति एक महान् संकल्प लेकर उसे कार्यान्वित कर सकता है। अतः योग इस जीवन में सुख और शांति देता है और साथ-साथ मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करता है। योग केवल सुन्दर एवं व्यवस्थित रूप से जीवन-यापन करना ही नहीं सिखाता अपितु व्यक्तित्व को निखारने की कला को भी सिखाता है।

हठयोग का प्रयोजन हड्डियों में लचक, माँसपेशियों का सन्तुलन, रक्त का सुचारु रूप से संचार तथा ग्रन्थियों से उचित स्राव के द्वारा शरीर की समस्त प्रणालियों का कार्य समुचित ढंग से सम्पन्न कराना है। प्राणायामादि द्वारा व्यक्ति का मन भी स्वस्थ रहता है। अर्थात् तनावरहित होकर ध्यानपूर्वक सकल कार्य करने की क्षमता प्राप्त

होती है। इसलिए यदि आपका लक्ष्य — शरीर को स्वस्थ एवं सुडौल बनाना, विपत्तियों में संतुलित रहने की क्षमता पाना; एक निष्पक्ष सरल कर्मठ बनना; जीवन को सुखी, प्रसन्नपूर्ण व सन्तोषमय बनाना; विषमताओं में समता के साथ उत्कृष्ट नैतिक जीवन व्यतीत करना; मन, बुद्धि एवं चित्त की स्वस्थता से युक्त निष्काम सेवामय आदर्श जीवन और समस्त ब्रह्माण्ड के रहस्यमय ज्ञान से लेकर आत्मबोध पर्यन्त की अनुभूति करनी है तो आप अवश्य योग के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर किसी गुरु के निर्देशन में योगाभ्यास शुरू करें।

इस संसार में कर्म में प्रवृत्त परायण लोग शारीरिक शक्ति प्रधान होते हैं, कुछ लोग भक्ति परायण होकर भावनात्मक शक्ति प्रधान होते हैं, कुछ अन्य लोग ध्यान परायण होकर मानस शक्ति प्रधान होते हैं तो कुछ लोग विचार परायण होकर बौद्धिक शक्ति प्रधान होते हैं। इस प्रकार साधक भेद के अनुसार कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग एवं ज्ञानयोग — क्रमशः ये चार मार्ग वेदादियों में प्रसिद्ध हैं। यद्यपि वर्तमान ग्रन्थ राजयोग के अनेकों प्रभेदों में से एक अष्टांग योग के दो अंग — आसन एवं प्राणायाम पर विशेष विचार के लिए है। तथापि इस ग्रन्थ को मुख्य रूप से १५ अध्यायों में विभक्त तीन प्रकरणों (प्रथम, द्वितीय, तृतीय) में लिखा गया है — शरीर-शुद्धि प्रकरण, चित्त-शुद्धि प्रकरण और तत्त्वविज्ञान प्रकरण। गौण रूप से आरम्भ में एक अध्याय "अष्टांग योग — एक संक्षिप्त परिचय" तथा अन्त में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक प्रकरण (चतुर्थ) "योग द्वारा रोगोपचार" नाम से अधिक रखा गया है। समाप्त करते हुए 'उपसंहार' को एक प्रकरण (पञ्चम) के रूप में प्रस्तुत किया है। अतः इस ग्रन्थ को **"योग-पञ्चदशी"** भी कह सकते हैं।

ग्रंथ परिचय

ग्रन्थ को 'उपक्रम' नामक अध्याय से आरम्भ किया गया है। इसमें पतञ्जली एवं याज्ञवल्क्य महर्षियों के दृष्टि से अष्टांग योग पर संक्षिप्त विचार सर्व-साधारण को योग का परिचय कराने हेतु प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् **"शरीर-शुद्धि प्रकरण"** में स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर की शुद्धि के बारे में विचार किया गया है। अतः शारीरिक विज्ञान के अध्याय एवं शोधन विज्ञान के अध्याय में स्थूल-शरीर संबंधी परिचय एवं शुद्धि पर जोर दिया गया है। आसन एवं प्राणायाम इन अध्यायों के साथ मुद्रा एवं बन्धों को जोड़कर सूक्ष्म-शरीर सम्बन्धी शुद्धि पर विचार किया गया है।

सूक्ष्म तथा कारण शरीर के अवयव अज्ञान, बुद्धि, अहंकार एवं मन की शुद्धि के लिए **"चित्त-शुद्धि प्रकरण"** आरम्भ किया है। इसमें निष्काम कर्मयोग, युक्ताहार, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान पर विचार प्रकट किया गया है। लेकिन इन दोनों प्रकरणों में कहे गये साधनों का सही प्रयोग तत्त्वविज्ञान के बिना सम्भव नहीं। इसलिए तीसरे

प्रकरण **"तत्त्वविज्ञान प्रकरण"** में योग के आधारभूत तीन तत्त्व — नाड़ी, चक्र एवं कुण्डलिनी पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में प्रत्येक व्यक्ति को योग के योग्य बनाने हेतु "योग द्वारा रोगोपचार" प्रकरण रखा गया है। इसमें अनेकों वैज्ञानिकों के अर्थात् योगोपजिह्वी डॉक्टरों तथा मेरे गुरुजी परमहंस स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, बिहार योग विद्यालय के प्रायोगिक अनुभवों के आधार पर विभिन्न रोगों को नियंत्रण में रखने के लिए आवश्यक योगाभ्यास के बारे में बताया गया है।

आशा करता हूँ इस ग्रन्थ से मानवमात्र को लाभ होगा और साधकों को विशेष रूप से लाभ हो सकेगा। सभी की मंगलकामना करते हुए सबकी शारीरिक एवं आध्यात्मिक अभिवृद्धि के लिये नारायणस्वरूप समस्त मानव समाज को सादर समर्पण करता हूँ।

सर्वेषामात्मा

गुरु पूर्णिमा, सं २०५७
दिनांक: १६ जुलाई २०००

स्वामी शान्तिधर्मानन्द सरस्वती
सत्य दर्शन आश्रम
२६४, शीशम झाड़ी, ऋषिकेश, (उ.प्र.)
दूरभाष: (०१३५) ४३ ६२६१

विषय-सूची

उपक्रम
अष्टांग योग
एक संक्षिप्त परिचय

अनेक उपनिषदों में, *योगी याज्ञवल्क्य-संहिता* आदि स्मृतियों में तथा महर्षि पतञ्जलि कृत *योग सूत्र* में अष्टांग योग की चर्चा बहुत विस्तार से की गई है। वे आठ अंग हैं — यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

इनमें से प्रथम चार को बहिरंग साधन एवं अन्तिम चार को अन्तरंग साधन के रूप में माना गया है। अन्य लोगों ने इनके इस प्रकार भाग किए हैं — यम और नियम से नैतिक शिक्षा, आसन और प्राणायाम से शारीरिक शिक्षा, प्रत्याहार और धारणा से मानस शिक्षा, ध्यान से आध्यात्मिक शिक्षा और समाधि से आत्मानुभूति।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार **यम** का पालन करने से व्यक्ति अपने को निषिद्ध पाप-कर्मों से बचाकर सामाजिक स्वस्थता में आदर्श द्वारा सहयोग दे सकता है। **नियम** के पालन द्वारा विहित पुण्य-कर्मों से नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। **आसन** के अभ्यास से शरीर को स्वस्थ एवं सुडौल बनाए रख सकता है। **प्राणायाम** द्वारा मन के विकारों को शान्त कर मन की शक्तियों का सही प्रकार से उपयोग कर सकता है। **प्रत्याहार** के अभ्यास से इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाकर वांछित विषयों चिन्तन-मनन यथेष्ट काल तक करने की क्षमता प्राप्त कर सकता है। **धारणा** के अभ्यास द्वारा एक निश्चित लक्ष्य के प्रति एकाग्रता को बढ़ाकर उसके तत्त्व को जानने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है। **ध्यान** द्वारा चित्त को शुद्ध कर इष्ट पदार्थ को प्राप्त करने व प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त कर सकता है। **समाधि** से व्यक्ति अपने कार्य में समग्र चेतना को तल्लीन करके भी सजग रहने की क्षमता से आरम्भ कर आनन्दानुभूति पर्यन्त बढ़ने की क्षमता प्राप्त करता है। इस प्रकार अष्टांग योग व्यक्ति के सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन को सुन्दर बनाकर शरीर, इन्द्रिय, मन एवं चित्त को शुद्ध करके मोक्ष को प्रदान करता है।

(१) यमः

महर्षि पतञ्जलि

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः यमः।
(२/३०)

इस सूत्र द्वारा यम को पांच प्रकार का कहते हैं। योगी याज्ञवल्क्य ने *योगी याज्ञवल्क्य-संहिता* में कहा है —

यमश्च नियमश्चैव दशधा सुप्रकीर्तिताः ।
(१/४७)

इस श्लोक में यम और नियम को दस प्रकार का मानते हैं। वे दस इस प्रकार हैं —

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं त्वेते यमा दश।
(१/५०)

१. काया, वाचा, मनसा सदा सब प्राणियों में कष्ट न पहुंचाने के भाव को **अहिंसा** कहते हैं।

२. केवल यथार्थ कथन (अर्थात् जैसा देखा, सुना अथवा घटी घटना को वैसा ही कहना) सत्य नहीं है किन्तु समस्त प्राणियों के हित में कहने को **सत्य** कहते हैं। इसलिए धर्म की रक्षा, बड़ों के मान-सम्मान की रक्षा आदि के लिए झूठ (सांसारिक दृष्टि से) कहना भी सत्य है (शास्त्र दृष्टि से) और इसके विपरीत धर्म एवं बड़ों की हानि हो ऐसा सत्य (सांसारिक दृष्टि से) कहना भी महान् झूठ है (शास्त्रदृष्टि से)।

३. काया, वाचा, मनसा दूसरों के धन की इच्छा आदि न करना **अस्तेय** है।

४. सभी अवस्थाओं में काया, वाचा, मनसा सर्वत्र मैथुन की इच्छादि के त्याग को **ब्रह्मचर्य** कहते हैं।

५. सर्वत्र सब प्राणियों पर कृपा-दृष्टि रखना **दया** है।

६. विहित और निषिद्ध सकल कार्यों में काया, वाचा, मनसा प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रति सदा एक भाव रखना **आर्जव** है।

७. समस्त प्रिय और अप्रिय विषयों में समत्व बुद्धि **क्षमा** है।

८. हानि एवं लाभ में सर्वत्र तथा सर्वदा चित्त की स्थिरता **धृति** है।

९. अल्पभोजन को **मिताहार** कहते हैं। इस विषय में शास्त्रों का यह निर्णय है — तपःस्वाध्यायादि परायण संन्यासी, मुनि, ब्रह्मचारी आदि को ८ ग्रास, अरण्यवासी तप आदि परायण वानप्रस्थी को १६ ग्रास, गृहस्थ को ३२ ग्रास तथा सेवा कार्य में निरत ब्रह्मचारी को यथेष्ट भोजन ही अल्प भोजन समझना चाहिए।

१०. शुद्धि का नाम **शौच** है। वह दो प्रकार की है — बाह्य एवं अन्तः। स्नान आदि द्वारा बाह्य शुद्धि करने को बाह्य शौच कहते हैं। पिता, माता, मामा, ससुर एवं आचार्य — इन पाँच गुरुओं से धर्म एवं अध्यात्म-विद्या प्राप्त कर मन आदि अन्तःकरण को शुद्ध करने को अन्तः शौच कहते हैं।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा कथित अपरिग्रह नाम के यम का अर्थ है — वर्तमान एवं निकट भविष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करना अपरिग्रह है। अनावश्यक तथा आवश्यकता से अधिक संग्रह करना परिग्रह है।

(२) नियमः

महर्षि पतञ्जलि ने कहा है —

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(२/३२)

इस सूत्र द्वारा नियम के पांच भेद कहे हैं। योगी याज्ञवल्क्य ने *योगी याज्ञवल्क्य- संहिता* में कहा है कि —

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।।
(२/६)

इस श्लोक में दस भेद से नियम का वर्णन किया है।

१. शास्त्र में कहे चान्द्रायण, पञ्चाग्नि आदि द्वारा शरीर का शोषण करने को **तप** कहते हैं।

२. बिना इच्छा किए जो नित्य प्राप्त हो जाए उसी से मन को पवित्र एवं प्रसन्न रखने वाली बुद्धि को **सन्तोष** कहा है। यही परम सुख है।

३. धर्म एवं अधर्म में विश्वास रखना **आस्तिक्य** है।

४. शास्त्रों में कहे गये ढंग से न्यायोचित धनोपार्जन करके, उसमें से श्रद्धापूर्वक धनार्थी के लिए कुछ धन का त्याग करना **दान** है।

५. जो प्रसन्न भाव से भक्ति के साथ श्रद्धायुक्त होकर संपूर्ण समर्पण भाव से यथाशक्ति गुरु एवं इष्ट देव की अर्चना आदि करता है उसे **ईश्वर पूजन** कहते हैं। यही ईश्वर प्रणिधान है।

६. ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों द्वारा वेदान्त के श्रवण को **सिद्धान्त-श्रवण** कहते हैं। स्वधर्म आचरण और पुराणों का श्रवण करना स्त्री एवं शूद्रों के लिये **सिद्धान्त-श्रवण** कहा गया है।

७. वैदिक और लौकिक मार्ग में कहे निन्दित कर्मों से लज्जित होकर घृणापूर्वक निवृत्त होना **ह्री** है।

८. विहित कर्मों में अटूट श्रद्धा रखना **मति** है।

९. वेदों से निषिद्ध आचरण को त्यागकर शास्त्रोक्त रीति से गुरु द्वारा उपदेश दिया हुआ व वेदोक्त मन्त्र का अभ्यास **जप** है। वह अनेक प्रकार से किया जाता है। लिखित, मानस, उपांशु और वैखरी चार प्रकार का जप प्रसिद्ध है। ऋषि, छन्दः, देवता का सम्यक् प्रकार से ध्यान करके बीज, शक्ति, कीलक और विनियोग से युक्त करके मन्त्र का जप करना चाहिए।

१०. किसी नियम का सख्ती से पालन करना **व्रत** है। यह काम्य, नैमित्तिक और नित्य भेद से तीन प्रकार का है। तिथि, वार, नक्षत्र, त्यौहार, ग्रहणादि निमित्तों को लेकर नैमित्तिक व्रत किया जाता है। कामना की पूर्ति के लिये काम्यव्रत करते हैं। सन्ध्या-वन्दन, देव-पूजा इत्यादि फलाकांक्षा रहित होकर नित्य करना नित्यव्रत है। व्रतों के बारे में *चतुर्वर्ग-चिन्तामणि* आदि ग्रन्थों में विस्तार से विधि-विधान का वर्णन किया गया है।

योगी याज्ञवल्क्य ने महर्षि पतञ्जलि द्वारा कहे गये शौच को यम में लिया है तथा ईश्वर-प्रणिधान को ईश्वर पूजन नाम से कहा है। महर्षि पतञ्जलि द्वारा कथित स्वाध्याय को व्यास-कृत भाष्य के अनुसार लें तो सिद्धान्त-श्रवण एवं जप के रूप में कहा गया है।

(३) आसनम्

महर्षि पतञ्जलि ने कहा है —

स्थिरसुखमासनम्।
(२/२६)

इस सूत्र में आसन के लक्षण बताए हैं। यह आसन ८४ लाख योनियों के अनुरूप ८४ लाख हैं। इनमें से ८४ मात्र को प्रमुख माना है ऋषियों ने। लेकिन योगी याज्ञवल्क्य निम्न आठ आसनों को मनुष्य के लिए आवश्यक मानते हैं—

स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरं सिंहासनं तथा।
भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च॥
(३/१२)

आसनों का फल शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वस्थता है। *गोरक्ष- संहिता, घेरंड- संहिता, हठयोग- प्रदीपिका* आदि अनेकों ग्रन्थों में तथा उपनिषदों में थोड़े आसनों के बारे में विचार है। इनकी विस्तृत चर्चा बाद में करेंगे। यहां आठ अंगों का परिचय मात्र दिया जा रहा है।

(४) प्राणायामः

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार —

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
(२/४६)

अर्थात् श्वास = पूरक, प्रश्वास = रेचक, इन दोनों के गतिविच्छेद = कुम्भक, इनके संयोग से प्राणायाम होता है। इस सूत्र का आशय है प्राण = शरीर की ऊर्जा शक्ति का आयाम = सम्यक् अभ्यासपूर्वक पूरक, कुंभक, रेचक क्रम को करना। यही प्रक्रिया योगी याज्ञवल्क्य- संहिता आदि सभी ग्रन्थों में कही गयी है। इसकी विस्तृत चर्चा बाद में करेंगे।

(५) प्रत्याहारः

महर्षि पतञ्जलि के योग सूत्र के अनुसार —

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
(२/५४)

अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषय शब्दादियों की ओर न जाकर चित्त के स्वरूप के अनुरूप वृत्ति बनाए रखना ही प्रत्याहार है। लेकिन यह सहज नहीं हो सकता इसलिए योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं —

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते॥
(७/२)

अर्थात् स्वभाव से बहिर्मुख इन्द्रियों को बलपूर्वक अन्तर्मुख करना ही प्रत्याहार है। यानी जो कुछ बाहर अनुभव करते हैं और कर्म करते हैं उन सबको भीतर हृदय देश में करना ही प्रत्याहार है। उपनिषदादि में चर्चित उपासना का दूसरा रूप प्रत्याहार है। देवताओं के चिकित्सक अश्विनी कुमारों ने कहा है २८ मर्म स्थानों में वायु को धारण कर क्रमशः प्रत्येक स्थान से उसको खींचकर हृदय में विलीन करना प्रत्याहार है। वे मर्म स्थान हैं — पैर के अंगूठे, एड़ी, एड़ी और पिण्डली के मध्यभाग, पिण्डली, घुटने, जाँघ, गुदा, मूलाधार-चक्र का स्थान, लिंग, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, नासिका, चक्षु, भ्रूमध्य, ललाट और मूर्धा (मस्तिष्क)। इनकी विस्तृत चर्चा चित्त-शुद्धि प्रकरण में करेंगे।

(६) धारणा

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार धारणा का लक्षण इस प्रकार है —

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।
(३/१)

शरीर के भीतर या बाहर किसी स्थान विशेष में चित्त का बन्धना धारणा है। किन्तु योगी याज्ञवल्क्य के अनुसार अष्टांगों के क्रम से जब सकल इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर लिया गया है, तो धारणा शरीर के भीतर ही होनी चाहिए। इसलिए वे कहते हैं —

अस्मिन्ब्रह्मपुरे गार्गि यदिदं हृदयाम्बुजम् ।
तस्मिन्नेवान्तराकाशे यद्बाह्याकाशधारणम् ।।
(८/३)

अर्थात् देह के मध्य में स्थित हृदय कमल के अन्तराकाश में बाह्य आकाश को धारण करना ही धारणा है। इसी प्रकार से छान्दोग्योपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है। यह धारणा पञ्च तत्त्वों के पांच देवताओं को शरीर के विभिन्न भागों में क्रमशः धारण करके उपरोक्त को अन्त में अभ्यास करना है, अतः धारणा पांच प्रकार की मानी गई है। विशेष विचार चित्त-शुद्धि प्रकरण में देखें।

(७) ध्यान

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार —

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।
(३/२)

अर्थात् जिस देश में चित्त बन्धा है उसी देश में स्थिर रहकर एक (ध्येय) विषयक ज्ञानाकार वृत्ति को निरन्तर तैलधारावत् बनाए रखना ध्यान है। परन्तु योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं —

ध्यानमात्मस्वरूपस्य वेदनं मनसः खलु ।
सगुणं निर्गुणं तच्च, सगुणं बहुशः स्मृतम् ।।
(९/२)

अर्थात् मन से आत्मस्वरूप की वृत्ति द्वारा आत्मा को (जानना) अनुभव करना ध्यान है। इसके लिए क्रम बताए हैं — प्रथम सगुण ध्यान करें जो कि अनेक प्रकार का है। अन्त में लक्ष्य प्राप्ति के लिए निर्गुण ध्यान का अभ्यास करें। शेष विचार चित्त-शुद्धि प्रकरण में देखें।

(८) समाधि

महर्षि पतञ्जलि ने कहा है —

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप-शून्यमिव समाधिः ।
(३/३)

अर्थात् ध्यान-ध्येय-ध्याता इस त्रिपुटी का न होकर केवल ध्येयाकार वृत्तिमात्र रहने का नाम समाधि है। लेकिन योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं —

समाधिः समतावस्था जीवस्य परमात्मनोः ।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः ।।
(१०/२)

अर्थात् समाधि उस सम अवस्था का नाम है जिसमें जीवात्मा और परमात्मा की अभेद अनुभूति हो। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा का ब्रह्म में अद्वैतभाव की स्थिति को समाधि कहते हैं।

यद्यपि योगी याज्ञवल्क्य के अनुसार वेदान्त में कहे मोक्ष एवं समाधि में कोई अन्तर नहीं है तथापि वह स्थिति क्या पतञ्जलि आदि के अनुसार यौगिक क्रियाजन्य अथवा विवेक-ख्यातिजन्य अथवा ब्रह्मविद्याजन्य है अथवा मायामय जगत् में सत्यत्व निवृत्तिपूर्वक मिथ्यात्व का निश्चय मात्र से है इत्यादि विकल्पों के कारण सैद्धान्तिक भेद हैं। उपनिषदादि ग्रन्थों के परिशीलन द्वारा पाठक स्वयं अनुभव कर लें तो अत्युत्तम होगा।

यह अष्टांग योग जो कि राजयोग का एक प्रभेद है, का संक्षिप्त परिचय है।

प्रथम प्रकरण

शरीर-शुद्धि प्रकरण

जैसा कि भूमिका में कहा गया है —

शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्

और *भगवद्गीता* में भगवान् की उक्ति है —

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते

(१३/१)

अर्थात् शरीर खेती के समान है, जिसमें यह जीव मेहनत कर इष्ट फल को उपजा सकता है। इन उक्तियों के अनुसार उपजाऊ भूमि के समान शरीर को लौकिक एवं आध्यात्मिक सकल कार्यों को अनुष्ठान के योग्य बनाए रखना है। इसके लिए शरीर को शुद्ध एवं पवित्र रखना है ताकि हम योगाभ्यास द्वारा इष्ट फल को प्राप्त कर सकें। इस प्रकरण के पांच अध्यायों में — शरीर की संरचना के बोध के लिये **शारीरिक विज्ञान**; स्थूल शरीर की शुद्धि के लिए **शोधन विज्ञान**; स्थूल शरीर को सुदृढ़, सुडौल एवं लचीला बनाए रखने के लिए **आसन विज्ञान**, स्थूल शरीर में स्फूर्ति, मजबूत प्राणशक्ति, आयु की अभिवृद्धि तथा सूक्ष्म शरीर के चक्रों के जागरण हेतु **प्राणायाम विज्ञान** एवं अन्त में इनके सहयोगी **मुद्रा एवं बन्धविज्ञान** पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

अध्याय १

शारीरिक विज्ञान

प्रस्तावना

शरीर की संरचना के ज्ञान के बिना इस पर नियन्त्रण करना संभव नहीं, इसलिए इस शरीर की संरचना का संक्षिप्त परिचय इस अध्याय में है। प्रत्येक प्राणी के शरीर के तीन भाग हैं। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर।

स्थूल शरीर सात धातुओं के संघटित स्वरूप का नाम है। वे हैं — अन्नरस, खून, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा और वीर्य। यह सब कोशिकाओं के विभिन्न रूप हैं।

कोशिका जीवित पदार्थ की वह छोटी इकाई है जो शरीर के निर्माण का मूलभूत आधार है। सभी कोशिकाएं यद्यपि अलग-अलग एवं स्वतन्त्र हैं तथापि वे काफी समानता रखती हैं और मिलकर कार्य करती हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि यह शरीर ६०० खरब कोशिकाओं से निर्मित है। ये छोटे-छोटे संघटन करके अलग-अलग कार्य करती हैं। प्रतिपल विभिन्न क्रिया-कलापों को करते हुए कितनी ही नष्ट होती हैं और कितनी नई बनती हैं, यह कहना असम्भव है। इनका कार्य है कच्चे माल को लाना, अन्नरसादि तैयार माल बनाना, अनुपयोगी अंश का विसर्जन करना इत्यादि।

कोशिकाओं के समूह को **ऊतक** कहते हैं। विभिन्न प्रकार के कार्य करने वाले सब ऊतक एकजुट होकर शरीर का एक ऐसा भाग बनाते हैं जो कि विशेष आकार तथा गुणों के कारण अन्य भागों से अलग पहचाना जा सके। उसे *अंग* कहते हैं। कई अंग जब परस्पर मिलकर एक प्रकार का कार्य करते हैं तो इसे **प्रणाली/तन्त्र/संस्थान** कहते हैं। हमारे इस मानव शरीर में मुख्य रूप से छः प्रणालियाँ मानी गई हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं —

(क) — स्नायु प्रणाली

(ख) — ग्रन्थि प्रणाली

१. पतली, लचीली कोशिका झिल्ली
२. कोशिका द्रव्य
३. माइटोकॉण्ड्रिया
४. नाभकीय झिल्ली
५. नाभकीय द्रव्य
६. रिक्तिका
७. सेन्ट्रोसोम
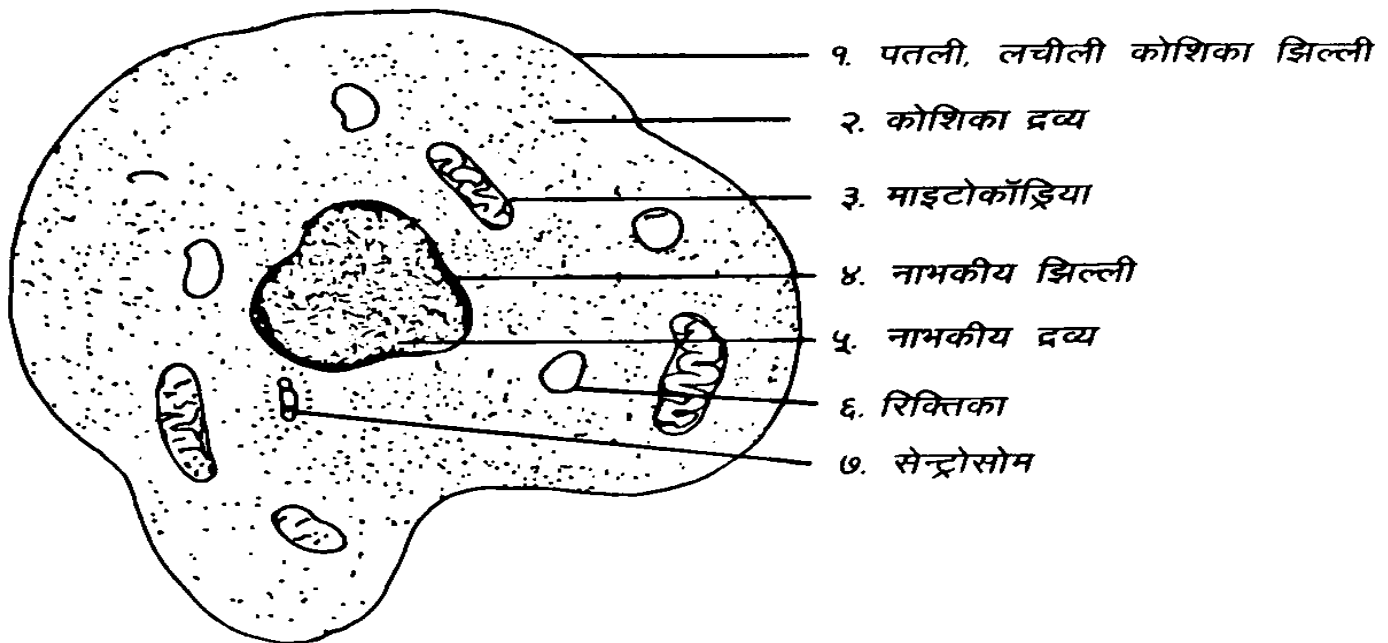
कोशिका का रेखा चित्र

कोशिकाओं के भेद-

(१) माइट्रो कोंड्रिया (Mitrochondrion)
(२) नाभकीय झिल्ली (Nuclear Membrane)
(३) नाभकीय द्रव्य (Nucleoplasm)
(४) रिक्तिका (Vacuole)
(५) सैन्ट्रोसोम (Centrosome)

(ग) — श्वसन प्रणाली

(घ) — रक्त—संचार प्रणाली

(ङ) — पाचन प्रणाली

(च) — विसर्जन प्रणाली

क - स्नायु प्रणाली

हमारे शरीर की स्नायु प्रणाली को मस्तिष्क, रीढ़, मन और स्वयंचालित नाड़ी संस्थान के नाम से चार भागों में विभक्त कर समझा जा सकता है।

(क-१) मस्तिष्क – अखरोट के आकार वाला, लगभग १.४ किलोग्राम वजन वाला, सफेद एवं स्लेटी रंग के असंख्य (करीब एक करोड़) नाड़ी पेशियों अर्थात् ऊतकों से बना हुआ, खोपड़ी के अन्दर स्थित, अंग विशेष को **मस्तिष्क** कहते हैं। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है क्योंकि यह सभी प्रणालियों के नियन्त्रण के साथ इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त संदेशों को ग्रहण करके आकलन करना, स्मृति बनाना, आदेश देना, प्रतिक्रियाएँ आदि सकल व्यवहार का नियन्त्रण करता है। याद करना व भूलना इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। हृदय और फेफड़ों की भाँति इसके क्रिया-कलाप दिन-रात चलते रहते हैं। सिर की आकृति या परिमाण द्वारा उसकी शक्ति-सामर्थ्य का निर्णय करना संभव नहीं। यद्यपि यह शरीर का पांचवां भाग है (१/५) तथापि हृदय से प्रवाहित कुल रक्त के पांचवें भाग से ज्यादा रक्त की आवश्यकता पड़ती है। यदि इसे दो सैकेण्ड से अधिक देर तक रक्त न मिले तो यह कार्य करना बन्द कर देगा। पांच मिनट रक्त न मिले तो इसकी मृत्यु हो जाती है।

मस्तिष्क के तीन प्रमुख भाग हैं – उच्च, मध्यम तथा निम्न अथवा अग्र,

मस्तिष्क में प्रमस्तिष्क (बृहद मस्तिष्क), लघु मस्तिष्क एवं मेरूरज्जु के स्थान।
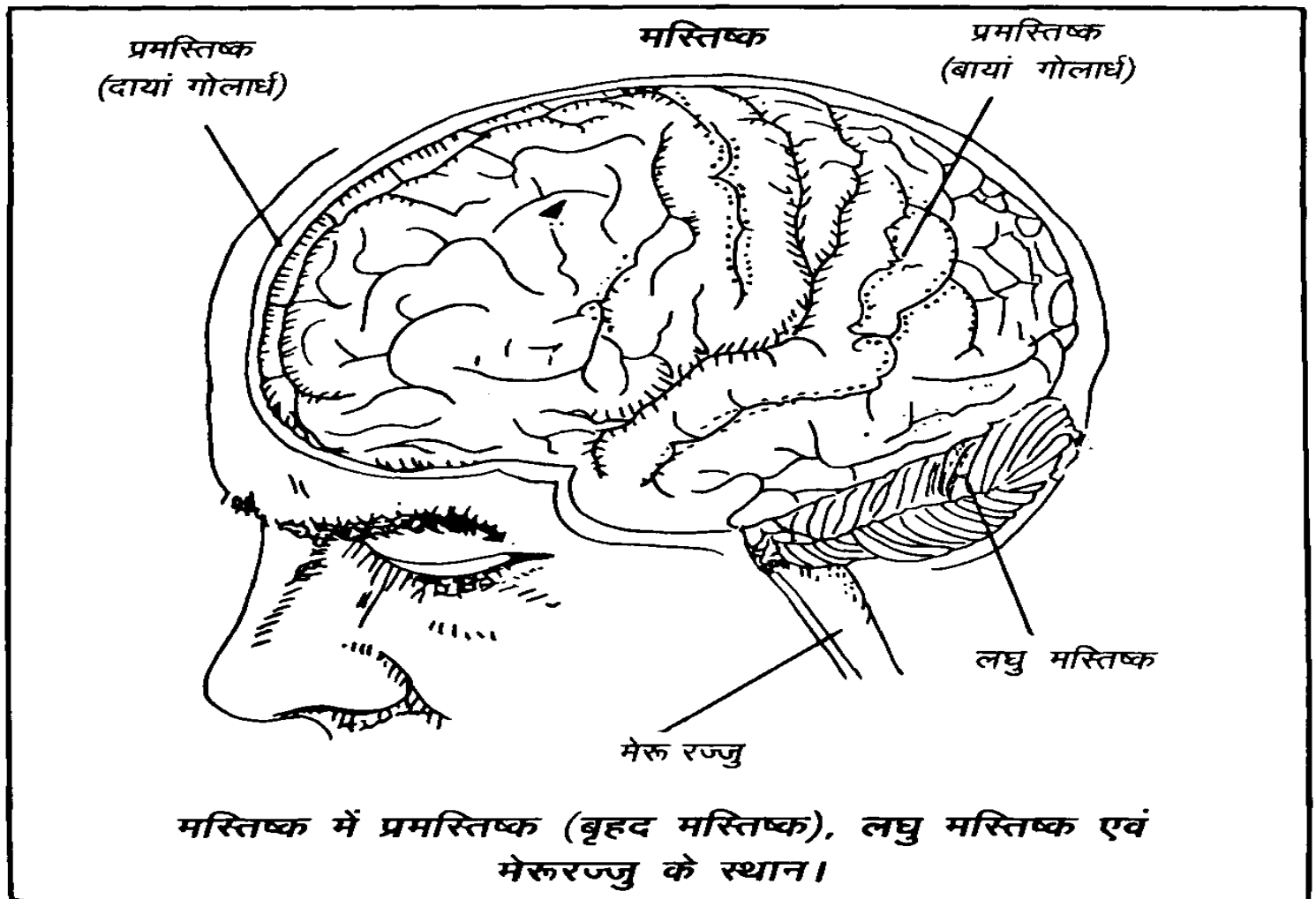
मध्य और लघु। निम्न अथवा लघु मस्तिष्क के दो भाग हैं – दायां और बायां।

लघु मस्तिष्क का दायां भाग शरीर के बाएं भाग को तथा बायां भाग शरीर के दाहिने भाग को नियन्त्रित करता है। यह शरीर के स्वाभाविक कार्यों को नियन्त्रित करता है जैसे कि हृदय की गति, श्वास की दर एवं गहराई, शारीरिक ताप, अंगों का परस्पर सामंजस्य, इत्यादि जिन पर विशेष ध्यान देने की जरूरत नहीं। उच्च और मध्यम अथवा अग्र और मध्य मिलकर बृहद् मस्तिष्क अथवा प्रमस्तिष्क कहा जाता है। **मध्यम मस्तिष्क** एक गूढ़-नियंत्रक पट्ट (sensitive switch board) के समान कार्य करता है। यह समस्त शरीर एवं इन्द्रियों से संदेश ग्रहण करता है, उन्हें क्रम से अलग करके, छांटकर मात्र आवश्यक संदेशों को उच्च मस्तिष्क को भेजता है। **उच्च मस्तिष्क** प्राप्त संदेशों को ग्रहण कर आवश्यकता के अनुसार कार्य करता है। इस प्रकार प्रमस्तिष्क अर्थात् बृहद मस्तिष्क हमें चेतना, भाव, विचार, उद्‌गार, चिन्तन एवं तर्क आदि द्वारा उचित निर्णय करने की क्षमता प्रदान करता है। अतः योगाभ्यास द्वारा मस्तिष्क को पूर्ण सजग रखने की प्रक्रिया जानकर प्रयोग करने से व्यक्तित्व का पूर्ण विकास किया जा सकता है।

मस्तिष्क की रचना दो प्रकार की नाड़ीय पेशी जालों से होती है। एक को भूरा पदार्थ तथा दूसरे को श्वेत पदार्थ कहते हैं। भूरा पदार्थ नाड़ी कोशाओं से और श्वेत पदार्थ नाड़ी तन्तुओं से बनता है। इन दोनों के योग से नाड़ी घटकों का गठन होता है। मस्तिष्क के भीतर जाने वाले एवं बाहर आने वाले नाड़ी तन्तुओं की कुल संख्या २० करोड़ है। कोशाओं को परस्पर जोड़ने वाले जोड़ों की संख्या कल्पना से परे है। अतः मस्तिष्क शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका सम्यक् संचालन एवं सन्तुलन एक योगाभ्यासी के लिए ही नहीं बल्कि प्राणीमात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(क-२) रीढ़ - यह मेरुदण्ड में स्थित केन्द्रीय नाड़ी संस्थान अर्थात् मस्तिष्क का ही विस्तार है। इसकी लम्बाई १७ इंच अर्थात् लगभग ४५ से॰मी॰ होती है। मेरुदण्ड के शीर्ष प्रदेश की शिराऽस्थि से आरम्भ होकर कटिप्रदेश की द्वितीय कटिस्थ **कशेरुका** तक फैली हुई होती है। मेरुदण्ड में स्थित नाड़ियों को इस प्रकार माना गया है – संवेदनात्मक और ज्ञानात्मक। इनके माध्यम से मस्तिष्क पूरे शरीर पर नियन्त्रण रखता है।

रीढ़ में ३३ गोटियां हैं। इनके बीच में एक-एक गद्दी जैसी माँसपेशी रहती है जिससे झटके सहने की क्षमता बनी रहती है। यह तीन परत के कवच से सुरक्षित है। इसके मध्य में तरल पदार्थ संचारित होता है। इन गोटियों के ३६ जोड़ों से तंत्रिकाएं निकलती हैं। इनमें कुछ मस्तिष्क को सूचनाएं देती हैं तो कुछ आदेशवाहक होती हैं।

चिकित्सा विज्ञान में सुविधा के अनुसार एवं कार्यानुसार इन गोटियों को इस तरह विभाजित किया गया है ।

रीढ़ (Spine)
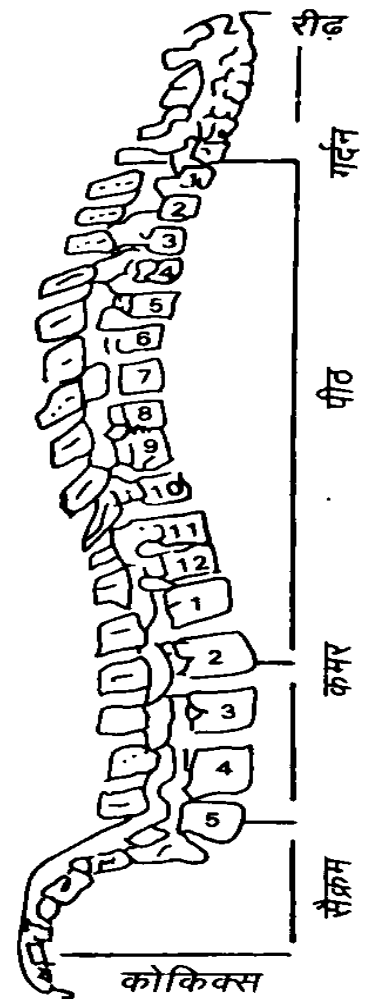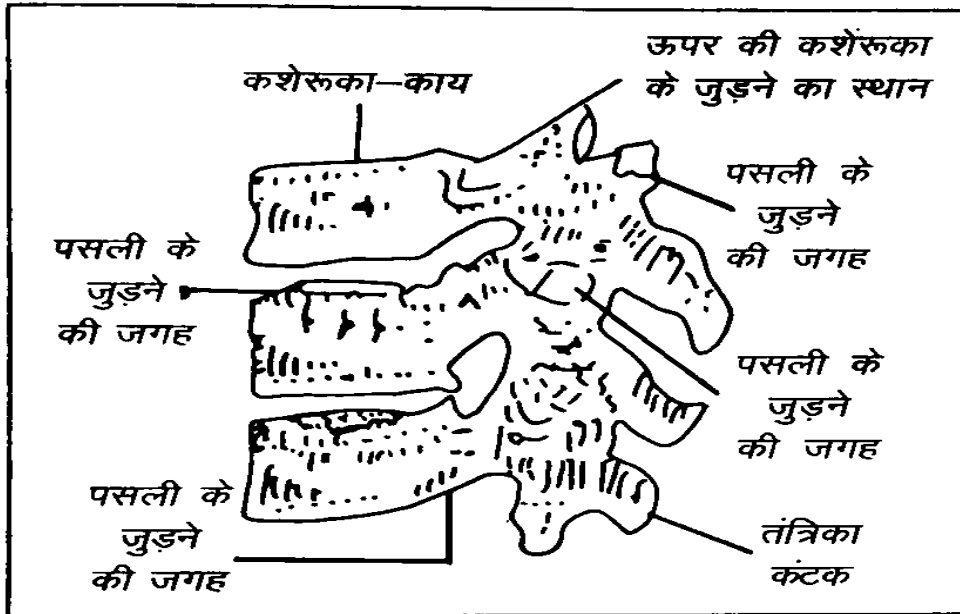
- सबसे ऊपर गर्दन की 7 गोटियाँ {सर्वाइकल (Cervical)}
- उससे नीचे पीठ में 12 गोटियाँ {थोरेसिक (Thoracic)}
- उससे नीचे कमर में 5 गोटियाँ {लम्बर (Lumber)}
- सबसे नीचे बस्ति गुहा में 2 गोटियाँ {सैक्रल और कोक्सिजिअल} (Sacral & Coccygel)
  (5 + 4) ये आपस में जुड़ी हुई हैं।

शरीर के विभिन्न भागों में रीढ़ की एक-एक गोटी की कार्य-क्षमता निम्नलिखित तालिका से सुस्पष्ट है। —

Cervical	C =	गर्दन की गोटियाँ	7	
Thoracic	T =	पीठ की गोटियाँ	12	
Lumber	L =	कमर की गोटियाँ	5	=26
Coccyx	O =	बस्ति प्रदेश की गोटियाँ		
Coccygel		5 तथा 4 मिलकर 1 + 1 = 2	2	

आसनों से आगे, पीछे, दायीं, बायीं, आधी दायीं और आधी बायीं, उसके विपरीत, कमान के समान आदि क्रियाएं शरीर में जब करते हैं तब उनका असर सीधे रीढ़ की गोटियां के बीच में स्थित गद्दियों तथा मूल स्नायुओं पर होता है। अतः कभी भी आसनों को झटके से अथवा हठपूर्वक (क्षमता से बाहर) नहीं करना चाहिए। रीढ़ को लचकदार एवं मजबूती प्रदान करने के लिए आसन किए जाते हैं इसलिए सही जानकारी के बिना नहीं करना चाहिए।

(क-३) मन — मस्तिष्क (बुद्धि-तत्त्व) एवं इन्द्रियों के बीच संदेश एवं आदेशवाहक के रूप में दोनों के सम्बन्ध जोड़ने वाले को मन कहते हैं। यह अत्यन्त चंचल होने से सब प्रकार के दुःख का कारण होता है। यह जितना स्थिर होगा उतना ही विवेकपूर्वक आवश्यक सूचनाओं को मात्र बुद्धि को देने लगेगा तो अवश्य शान्ति एवं सुख मिलेगा। लेकिन इसे शान्त करें कैसे? इसके लिए पहले मन की सामान्य जानकारी आवश्यक है। मस्तिष्क स्थूल है और शरीर भी स्थूल है। इन दोनों के बीच मन एवं इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं। अतः मन एवं इन्द्रियों की शल्य चिकित्सा असंभव है। विचारों का आदान-प्रदान तथा संकल्प-विकल्प जहाँ है वहीं मन और इन्द्रियाँ हैं। शरीर, बुद्धि एवं मन के बीच प्राण है, जो तीनों को प्रभावित करता है। अतः प्राण का संयम से अर्थात् प्राणायाम से मन को शान्त किया जा सकता है क्योंकि संवेदनाओं को अनुभव करके उनको शरीर के विभिन्न भागों में नाड़ियों के द्वारा भेजना इसका काम है, इसलिए मस्तिष्क, शरीरादि सो जाते हैं किन्तु मन नहीं।

योग के अनुसार मन के तीन भाग स्वीकार किए जाते हैं — चेतन, अचेतन और अवचेतन। इनकी थोड़ी-सी शक्ति को ही हम काम में लेते हैं। योगाभ्यास से चेतना का स्तर बढ़ाकर अधिक सजगता द्वारा अधिक शक्ति का उपयोग कर सकते हैं। मन इतना सूक्ष्म है कि इसे आज तक कोई नाप नहीं सका है। कुछ दार्शनिक इसे परमाणु

के समान मानते हैं। लगता है यह सूक्ष्म तरंगों से बना हुआ पदार्थ है। इसलिए छोटे-से-छोटे, बड़े-से-बड़े एवं इन्द्रियों से अदृश्य वस्तुओं को भी यह ग्रहण कर लेता है। शरीर के भीतर एवं बाहर भी जाने का सामर्थ्य रखता है। इच्छा, विचार और क्रिया – ये मन की तीन प्रक्रियाएं हैं। जाग्रत काल में बाह्य वस्तुओं में आसक्त रहता है तो स्वप्न काल में अपने आप ही संसार रच लेता है, किन्तु सुषुप्ति में इसका कोई अस्तित्व नहीं रहता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सुषुप्ति में प्राणादि का संचालन एवं नियन्त्रण कौन करता है। इसका जवाब है स्नायु प्रणाली का चौथा भाग –

(क-४) स्वयं-चालित नाड़ी-संस्थान – यह एक विशेष नाड़ी संस्थान है जो कि सदा चेतन रहता है इसलिए यह हमारे जीवन-संबंधी सकल कार्यों पर निगरानी रखता है और सदा ख़तरे से हमारी रक्षा करता है। ये क्रियाएं अधिकांशतः स्वयं-चालित होती हैं। एक क्षण के लिए भी किसी माध्यम से विचार भेजे बिना ही यह संस्थान हमारे लिए अपने आप कार्य कर देता है। यह किसी की अपेक्षा अथवा प्रतीक्षा नहीं करता। इस प्रणाली में अनुकम्पी एवं परानुकम्पी तंत्रिका नामक दो तन्त्र कार्य करते हैं और यह दोनों परस्पर विपरीत शक्तियां हैं।

स्वयं-चालित अनुकम्पी नाड़ी-संस्थान व्यक्ति के बाह्य वातावरण से संबंध जोड़ने वाले बाह्य अंगों एवं स्नायुओं को क्रियाशीलता प्रदान करते हुए शरीर को बाह्य क्रियाओं के लिए तैयार करता है। ठीक इसके विपरीत स्वयं-चालित परानुकम्पी नाड़ी-संस्थान शरीर में संचित शक्ति का उपयोग करते हुए शरीर के आन्तरिक अंगों एवं स्नायुओं को क्रियाशीलता प्रदान करता है।

इस प्रकार स्नायु प्रणाली की क्षमता को देख उसे असीम शक्ति वाला कहा जा सकता है। मनुष्य अपने जीवन में अपनी इस असीम शक्ति के मात्र एक अंश का ही उपयोग कर पाता है। योगाभ्यास के द्वारा मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियों को कार्य करने के लिये उत्प्रेरित किया जाए तो कई नवीन नाड़ी वाहिनियाँ खुल जाती हैं, जिससे भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मनुष्य अपना चहुँमुखी विकास पूर्णरूपेण कर सकता है। अतः योग को नाड़ी-शक्ति प्रदायक, उद्दीपक एवं वर्धक कह सकते हैं।

ख - ग्रन्थि प्रणाली

योगाभ्यासी को स्नायु प्रणाली की जानकारी के समान शरीर की दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रणाली, ग्रन्थि प्रणाली, की भी जानकारी होनी चाहिए। क्योंकि जहाँ चक्रों की स्थिति है उसी के पास ग्रंथियाँ स्थित होने से इनका परस्पर प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। शरीर के

अंग-विशेष को ग्रन्थि कहते हैं जो कि रस (रासायनिक द्रव) उत्पन्न करते हैं जिससे स्वस्थ शरीर का निर्माण होता है। ये दो प्रकार की हैं – बहिःस्रावी अर्थात् वाहिनीयुक्त एवं अन्तःस्रावी अर्थात् वाहिनीरहित।

बहिःस्रावी ग्रन्थियाँ ऐसे स्राव निकालती हैं जो कि वाहिनियों की सहायता से शरीर के स्वास्थ्य के निर्माण में उपयोगी होते हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ जो स्राव निकालती हैं वह ग्रन्थि में आवागमन कर रहे खून में मिलकर शरीर के निर्माण एवं नियन्त्रण में उपयोगी होता है।

प्रथम प्रकरण (शरीर-शुद्धि प्रकरण) के प्रथम अध्याय (शारीरिक विज्ञान) के इस ग्रन्थि प्रणाली नामक द्वितीय खण्ड में हम प्रमुख अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का परिचय देंगे, शेष आवश्यक कुछ अन्तःस्रावी एवं बहिःस्रावी ग्रन्थियों का परिचय पाचन प्रणाली नामक पञ्चम 'ङ' खण्ड में प्रस्तुत करेंगे।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ जिन स्रावों अर्थात् रसों (रासायनिक द्रवों) को उत्पन्न करती हैं; उन्हें हार्मोन कहते हैं। प्रत्येक ग्रन्थि के दो उपविभाग होते हैं – ऊपर के कोणीय आवरण को कॉर्टेक्स एवं शेष भाग को मेड्यूला कहते हैं। कॉर्टेक्स से शक्तिशाली रसों की उत्पत्ति होती है, जिन्हें स्टेराइड्स कहते हैं। अभी तक विभिन्न गुणों से सम्पन्न ३० से भी अधिक स्टेरॉइड्स का पता लगा है। समस्त शारीरिक एवं मानसिक कार्यों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ता है। छः प्रमुख अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का चक्रों के साथ सम्बन्ध इस प्रकार है –

पीयूष (पिच्यूटरी) और पीनियल आज्ञाचक्र से सम्बन्धित हैं,

चुल्लिका और उपचुल्लिका विशुद्धि चक्र से सम्बन्धित हैं तथा

थाईमस और अधिवृक्क अनाहत चक्र से सम्बन्धित हैं। इनकी उत्पति कोलेस्ट्राल (चर्बी का एक स्वरूप) नामक रासायनिक तत्त्व से होती है। सभी अन्तःस्रावी ग्रन्थियां दो-दो हैं। अतः एक दोषयुक्त या निष्क्रिय हो जाए तो भी दूसरी कार्य करती रहती है। परिणामतः शारीरिक आवश्यकताओं की आपूर्ति होती है। इन समस्त ग्रन्थियों का परस्पर सम्बन्ध है, कोई स्वतन्त्र नहीं, इसलिए एक में अव्यवस्था हुई तो इसकी प्रतिक्रिया अन्य सब पर होती है।

ख-१ – पीयूष (शीर्षस्थ अथवा पिच्यूटरी) ग्रन्थि

मस्तिष्क के आधार में खोपड़ी के अन्दर स्थित यह मटर के बराबर छोटी ग्रन्थि है। इसका वजन मात्र आधा ग्राम होता है। यद्यपि यह आकृति में छोटी है तथापि समस्त शारीरिक ग्रन्थियों की नियन्त्रक होने के कारण प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है। जब

शरीर रहस्य

शरीर की अंत:स्रावी एवं बहिस्रावी ग्रंथियाँ
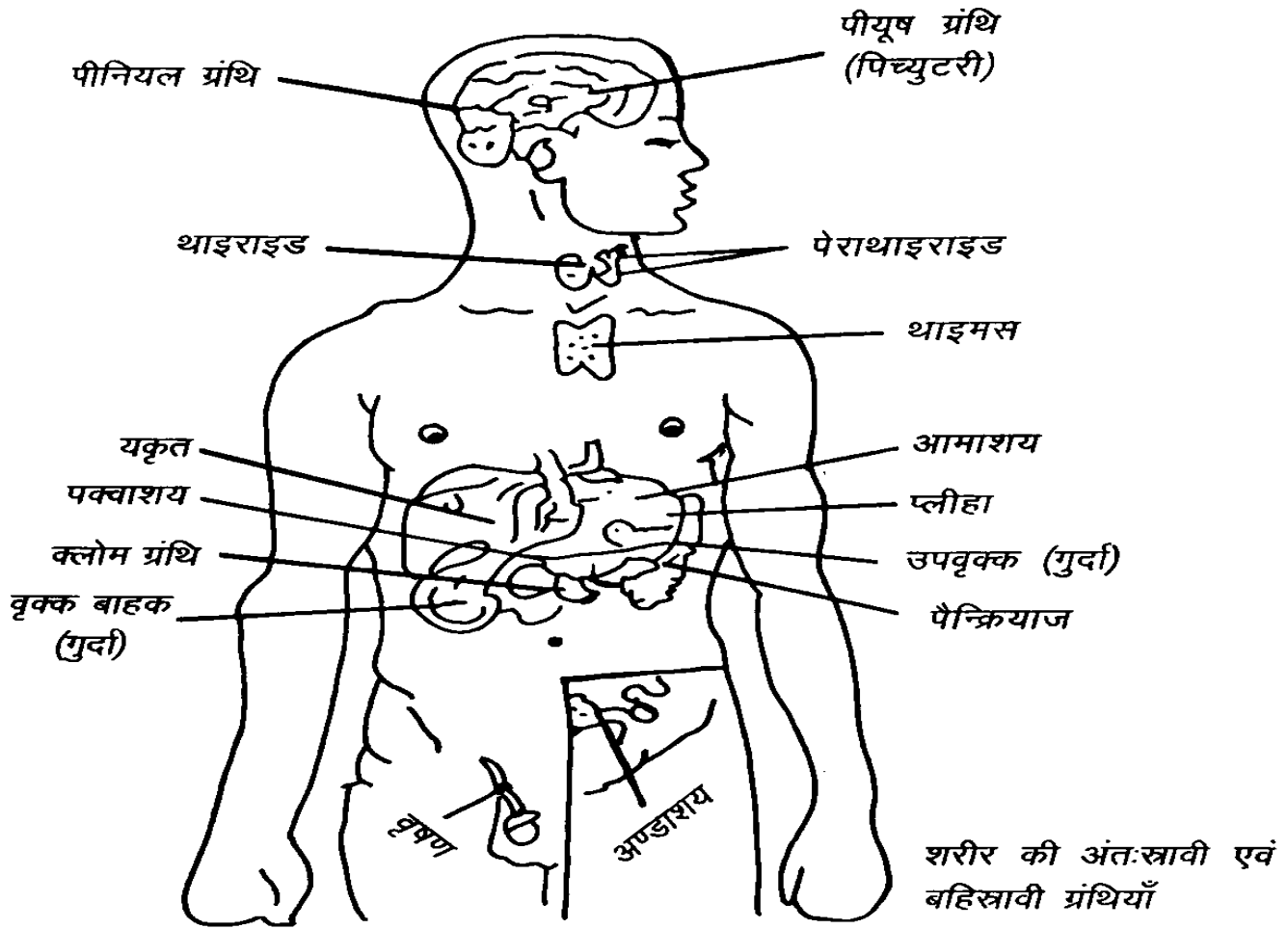
चक्रों की जहाँ स्थिति है, उसी के पास ही ये ग्रंथियाँ स्थित हैं। जैसे–

१. आज्ञाचक्र के पास	पीनियल व पिच्युटरी ग्रन्थि
२. विशुद्धि चक्र के पास	थायराइड–पैराथायराइड ग्रन्थि
३. अनाहत चक्र के पास	थायमस ग्रंथि
४. मणिपुर चक्र के पास	एड्रीनल, लीवर, तिल्ली, पैनक्रियाज (अग्नाशय), गुर्दे।
५. स्वाधिष्ठान चक्र के पास	शुक्र ग्रंथि, डिम्बग्रन्थि।

दूसरी ग्रन्थियाँ काम करना बन्द करने लगती हैं तब यह सक्रिय हो जाती है। जब अन्य कम स्राव देती हैं तो यह अधिक देने लगती है। अतः यह ग्रन्थि अनेकों रसों का निर्माण करती है। सभी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से शक्तिशाली रसों की उत्पत्ति होती है। उन सबके निर्माण-कार्य में व्यवस्था बनाए रखना इस ग्रन्थि का काम है। इस ग्रन्थि के रसों में से कुछ का प्रत्यक्षतः शरीर पर प्रभाव पड़ता है परन्तु अधिकांश रसों का कार्य अन्य ग्रन्थियों पर नियन्त्रण करना है। कुछ प्रमुख रस इस प्रकार हैं —

(i) शरीर का विकास एवं रोग निरोधक शक्ति का विकासपूर्वक शरीर का पोषक रस (somatotrophic harmone — STH)। इसके अभाव में हल्का दोष भी मृत्युकारक होता है।

(ii) उपवृक्क ग्रन्थि का पोषक रस (adrenocortrophic harmone — ATH) इससे उपवृक्क क्रियाशील बना रहता है।

(iii) चुल्लिका ग्रन्थि का पोषक रस (thyrotrophin harmone — TTH)। यह चुल्लिका ग्रन्थि का उत्प्रेरक है।

(iv) रक्तचापनियन्त्रक रस (pituitrin harmone — PH)। यह शरीर के रक्तसंचार कार्य पर नियन्त्रण करता है।

(v) सर्वग्रन्थि प्रवर्त्तक रस (folliate stimulating harmone — FSH) यह शरीर की सभी छोटी-बड़ी ग्रन्थियों को क्रियाशील बनाए रखता है।

इस प्रकार यह ग्रन्थि संपूर्ण शरीर के सर्वांगीण विकास का कारण है। विशेषतः — कद का घटना-बढ़ना, गुर्दों की पुष्टि, वीर्य एवं रज की पुष्टि, स्तनों में दूध इत्यादि महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। अतः इस ग्रन्थि को सक्रिय एवं पुष्ट करने के लिए सूर्य नमस्कार का दूसरा तथा ग्यारहवां आसन, प्रणामासन, शीर्षासन, सर्वांगासन एवं ध्यान का अभ्यास आवश्यक है।

ख-२ — पीनियल ग्रन्थि

इस ग्रन्थि को अभी तक वैज्ञानिक नहीं समझ पाए हैं। यद्यपि उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तथापि इसकी निश्चित क्रियाओं का पता नहीं लगा सके हैं।

योग के अनुसार यह स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के मध्य की कड़ी है। यह मस्तिष्क के मध्य भाग में पीयूष ग्रन्थि के ऊपर गुफा के आकार वाले छोटे-से छिद्र में स्थित है। इसे सर्वनियन्त्रक ग्रन्थि भी कहते हैं। इससे शरीर की वृद्धि एवं काम ग्रन्थि पर नियन्त्रण होता है। स्वयं-चालित नाड़ी-संस्थान की नियन्त्रक एवं प्रेरक है। मस्तिष्क

में होने वाली विकृतियों से बचाकर सन्तुलित करना इसका मुख्य कार्य है। इसके **पोषण एवं सम्यक्** कार्य करने हेतु सूर्य नमस्कार की पहली एवं बारहवीं स्थिति, शशांकासन, योगमुद्रा, उष्ट्रासन, शीर्षासन, सर्वांगासन, त्राटक एवं ध्यान का अभ्यास आवश्यक है।

ख-३ — चुल्लिका ग्रन्थि (थाईरॉइड)

स्वर-तन्त्र के समीप श्वास नली के ऊपरी छोर पर दोनों ओर तितली के समान आकार वाली यह छोटी—सी ग्रन्थि है। यह आयोडीन नामक मौलिक पदार्थ को ग्रहण करती है और थैराक्सिन (Thyroxin) नामक शक्तिशाली रस को उत्पन्न करती है, जो कि शरीर की मूल घटक कोशिकाओं के ऊपर साक्षात् प्रभाव व्यावहारिक रूप से डालती है। शरीर के उपचय एवं अपचय पर नियन्त्रण कर यौवन को बरकरार रखती है। इस ग्रन्थि के मुख्य कार्य हड्डियों के विकास कार्य को प्रेरित करना, नाड़ी-संस्थान की संवेदनशीलता में वृद्धि, शरीर के कुछ अंगों पर सक्रिय रूप से एवं कुछ पर निष्क्रिय रूप से प्रभाव डालना, पाचन प्रणाली पर प्रभाव डालना, ऊर्जा के उत्पादन एवं संचार में सहायता करना, नाड़ियों तथा मस्तिष्क के ऊतकों का निर्माण करना इत्यादि हैं। इसकी संतुलित कार्यक्षमता बनाए रखने के लिए सूर्य नमस्कार की पाँचवीं तथा आठवीं स्थिति, भुजंगासन, मत्स्यासन, सर्वांगासन, चक्रासन इत्यादि का अभ्यास आवश्यक है।

ख-४ — उपचुल्लिका ग्रन्थि (पैराथाईरॉइड)

ये बहुत छोटी ग्रन्थियाँ हैं। ये स्वर-तन्त्र के समीप वायु नलिका के दोनों तरफ स्थित हैं। ये पूर्णतः चुल्लिका ग्रन्थियों के भीतर अर्थात् उनसे ढकी होती हैं। रचना एवं कार्य में ये उनसे भिन्न हैं। ये अस्थि के विकास कार्य को प्रेरित करती हैं तथा शरीर में कैल्शियम तथा फॉस्फोरस के वितरण कार्य एवं मात्रा को नियन्त्रित करती हैं। पेशियों एवं स्नायुओं को सक्रिय बनाए रखने में इनका बड़ा हाथ है। इन ग्रन्थियों को संतुलित एवं कार्यशील बनाए रखने के लिए सूर्य नमस्कार की तीसरी, चौथी, नौवीं और दसवीं स्थिति लाभदायक है और हलासन, सर्वांगासन, जालन्धर-बन्ध आदि उपयोगी हैं।

ख-५ — थाईमस ग्रन्थि

इसकी स्थिति हृदय के ऊपर, छाती के बीच में, छाती की हड्डी और गर्दन के मिलने के स्थान के पीछे है। इसमें दो पिण्ड होते हैं। यह शिशुओं में बड़ी होती है। यह स्पष्ट नहीं कि इसे अन्तःस्रावी क्यों मानते हैं। यह शारीरिक विकास कार्य का नियन्त्रण करती है और रोगों से बचाती है। व्यक्ति के बड़े होने के साथ-साथ क्रमशः इसकी

आकृति छोटी होती जाती है। १४ वर्ष तक यह काम-ग्रन्थियों को सक्रिय होने नहीं देती। यह मस्तिष्क के उचित विकास में सहायक है। यह लसिका कोशिकाओं का निर्माण तथा विजातीय द्रव्यों को बाहर करने में सहयोग देती है। सूर्य नमस्कार की छठी स्थिति, शलभासन, उष्ट्रासन उज्जयी प्राणायाम इत्यादि इसको सक्रिय बनाए रखने में लाभदायक हैं।

ख-६ — अधिवृक्क ग्रन्थि (एड्रिनल)

दो छोटी त्रिभुजाकार ग्रन्थियां गुर्दे के ऊपर तथा डायफ्राम से लगी हुई होती हैं। यह सबसे अधिक स्राव छोड़ती हैं। इनका स्राव जीवन रक्षा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना जीवन संभव नहीं। इसका कॉर्टिसोन नामक हार्मोन सौ से अधिक बीमारियों को ठीक करता है। जैसे कि गठिया से लेकर रक्तविकार तक, कैंसर से लेकर दमा तक को ठीक करने में सहयोगी है। चयापचय (मेटाबोलिज्म) को बढ़ाती है। त्वचा एवं आन्तरिक अंगों की धमनियों को संकुचित करती है। पेशियों तथा हृदय की धमनियों को विकसित करती है। आपातकालीन अवस्था में शरीर को सचेत करके सुरक्षा शक्ति को जाग्रत कर परिस्थिति से निबटने के लिए तैयार करती है। भावों में परिवर्तन लाने में सहयोगी है। इस ग्रन्थि को स्वस्थ एवं क्रियाशील बनाने में सूर्य नमस्कार की सातवीं स्थिति, जानु-शीर्षासन, पश्चिमोत्तानासन, मयूरासन, धनुरासन, सूर्यभेदी और कपालभाती प्राणायाम, अग्निसार क्रिया इत्यादि उपयोगी हैं।

ग — श्वसन प्रणाली

भोजन, पानी और वायु के बिना पृथ्वी के सजीव प्राणियों का उत्तरोत्तर क्रमशः बहुत कम समय तक जीवन चलता है। अतः वायु अर्थात् प्राण जीवन का आधार है। श्वास-प्रश्वास अर्थात् वायु को शरीर के अन्दर लेने और छोड़ने की प्रक्रिया द्वारा जन्म से लेकर मरणपर्यन्त हम सब ग्रहण करते हैं। वायु के सभी अंगों में से "ओषजन" (oxygen) को श्वसन प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त कर कोशिकाएं जीवित रहती हैं तथा प्रश्वसन प्रक्रिया से कार्बन-द्वि-ओषिद (Carbon-di-oxide) को बाहर निकालती है। बाह्य वायु की ओषजन का पूर्ण उपयोग धमनियों एवं कोशिकाओं द्वारा होता है। अतः इस क्रिया को ओषदीकरण अथवा जीवन-ज्वाला कहते हैं। इसलिए वायु को नियमित रूप से भीतर खींचने एवं बाहर भेजने के लिए विशेष-संयंत्र रचना आवश्यक है, उसे श्वसन प्रणाली कहते हैं। इस प्रणाली में छः अंग हैं —

१ — नासिका

२ — ग्रसनी
३ — स्वर—यंत्र } फेफड़ों तक जाते हैं।

४ — श्वास नली } फेफड़ों में होते हैं।

५ — श्वास नलिकायें

६ — फेफड़े — (क) ब्रोकिओल्स
(ख) एल्विओलरस

श्वसन प्रणाली

नासिका गुहा Nasal cavity
ग्रसनी Naso-pharynx
तालु Palate
ओरोग्रसनी Oro-pharynx
जिह्वा Tongue
Hyoid bone
स्वर यंत्र Larynx
श्वास नाल Trachea
फेफड़े Lungs
श्वास नलिकाएँ Bronchi
फुफ्फुसावरण Pleura
हृदय स्थल Heart space
डायफ्रॉम Diaphragm
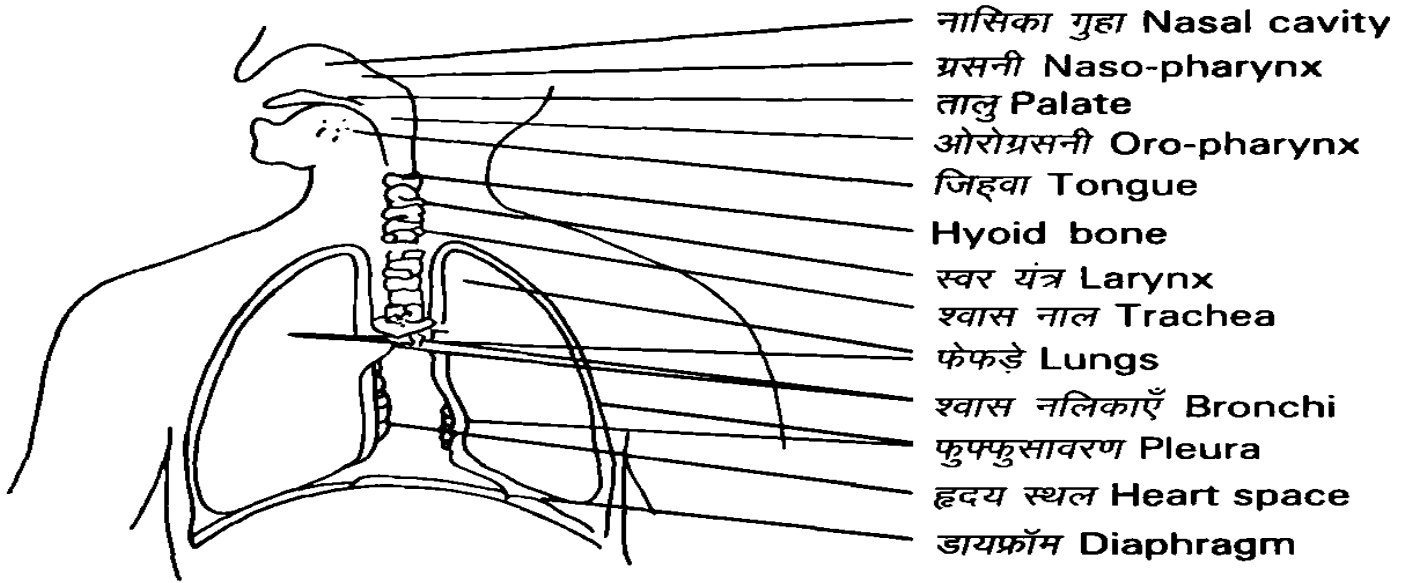
वायु अधिकतर शुष्क, शीतल एवं धूल, धुआं, कीटाणु आदि से युक्त होती है। अतः फेफड़ों में पहुँचने से पूर्व इसे नम या गरम तथा शुद्ध करना आवश्यक है। इसके लिए शरीर में एक नियमबद्ध वायु-शुद्धिकरण प्रणाली है।

ग-१ — सर्वप्रथम वायु का प्रवेशद्वार **नासिका** है। इसमें छोटे—छोटे केश हैं जिनका रुख बाहर की ओर है। ये वायु को छानकर धूल कणों को भीतर जाने से रोकते हैं। नासिका में एक हड्डी है जिस पर एक मोटे स्पंज के समान नरम लचीली श्लेष्मिक मांसमयी झिल्ली का आवरण है, जिसमें रक्त-संचार की मात्रा अत्यधिक है। यह वायु को नमी अथवा गरमी प्रदान करके शरीर के योग्य तापमान प्रदान करती है।

कुछ शुद्धि से युक्त वायु आगे बढ़कर ग्रसनी द्वारा स्वर-यंत्र, श्वासनाल एवं श्वास-नलिकाओं को पार करते हुए फेफड़ों में प्रवेश करती है। इस मार्ग में श्लेष्मिक

झिल्ली तथा केश के समान रचना होती है जिसे **सिलिया** कहते हैं। इसके अलावा अनेक श्लेष्मिक ग्रन्थियाँ होती हैं जिनसे पतली एवं चिकनी श्लेष्मा तैयार होती है। उनमें सूक्ष्म धूलकण, धुआं एवं कीटाणु चिपक जाते हैं। ये सिलिया प्रति सैकेण्ड १३ से १४ बार आगे एवं पीछे की ओर गति करते हैं। इस क्रिया से श्लेष्मा गले में पहुंचती है और व्यक्ति उसे निगलकर जठर में भेजता है। वहाँ उपस्थित हाईड्रोक्लोरिक एसिड एवं अन्य पाचक रसों के कारण समस्त कीटाणु मर जाते हैं तथा अनावश्यक पदार्थ विसर्जन प्रणाली से बाहर हो जाते हैं।

ग-२ — नाक या मुँह से होकर टाँसिल के पीछे से निकलते हुए वायु के जाने की नली को **ग्रसनी** कहते हैं। यह करीब 5 सेमी० लंबी है।

ग-३ — इसके अन्त में **स्वर-यन्त्र** है जो कि छोटे बक्से के समान है और आवाज पैदा करने वाला है।

ग-४ — इससे वायु गुजरकर **श्वासनाल** में जाती है जो कि 12 सेमी० लम्बी है। इसके ऊपरी छोर पर एक ढकनी है जो अन्ननाल और श्वासनाल दोनों को क्रम से बंद करती है। यह आगे जाकर वक्ष गुहर के ऊपरी भाग में पहुंचकर हृदय के पास दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है।

ग-५ — एक शाखा दाहिने फेफड़े को और दूसरी बायें फेफड़े को जाती है, इन्हें **श्वासनलिका** अथवा **श्वासवाहिनी** कहते हैं। इनकी फिर अनेकों शाखाएं एवं उपशाखाएं हो जाती हैं, जिन्हें **वायु-वाहिनियां** कहते हैं। इन वाहिनियों से वायु सूक्ष्म नलिकाओं से निर्मित **वायु-कोशों** में प्रवेश करती है। वायु-कोशों की आकृति मधुमक्खी के छत्ते की भाँति होती है। प्रत्येक वायु-कोश **केशवाहिनियों** से ढका होता है जो कि इस शरीर में स्थित सबसे छोटी रक्त नलिकाएं हैं। इनके माध्यम से ही ओषजन रक्त-संस्थान की रक्त कोशाओं में पहुंचती है। साथ-साथ जहरीली गैसें प्रश्वास द्वारा फेफड़ों से बाहर निकल-कर शरीर के बाहर हो जाती हैं।

ग-६ — **फेफड़े** साधारणतः तीन लीटर वायु रखने में समर्थ होते हैं जबकि हम एक मिनट में १५ श्वास लेते हैं और प्रत्येक श्वास में लगभग आधा लीटर वायु ग्रहण करते हैं। फेफड़ों को फुफ्फुस भी कहते हैं। फेफड़ों की आकृति **वक्षस्थल** की भाँति होती है जो कि शंखाकार अर्थात् नीचे चौड़ी एवं ऊपर संकरी होती है। वक्षस्थल का आरम्भ **श्वासपटल** से होता है, जो गुम्बज की आकृति की स्नायविक रचना है। दोनों फेफड़े हृदय द्वारा अलग किए जाते हैं। प्रत्येक फेफड़ा अपना कार्य करने में स्वतंत्र है। दाहिना फेफड़ा तीन भागों में विभक्त है जबकि बायां फेफड़ा दो भागों में विभक्त है। दोनों फेफड़ों की आन्तरिक सतह पर नरम तथा चिकनी झिल्ली का आवरण होता है, जिसे **फुफ्फुसावरण** कहते हैं। इसी के कारण फेफड़ों के विस्तार तथा हृदय और

श्वसन प्रणाली

महाधमनी
अप्रमहाशिरा
दाएँ फेफड़े की ओर
दाएँ फेफड़े से
दायां अलिंद
दायां निलय
दायां महाशिरा
बाईं फुफ्फुस धमनी
बाएं फेफड़े की ओर
बाएं फेफड़े से
फुफ्फुस शिरा
बायां अलिंद
बायां निलय
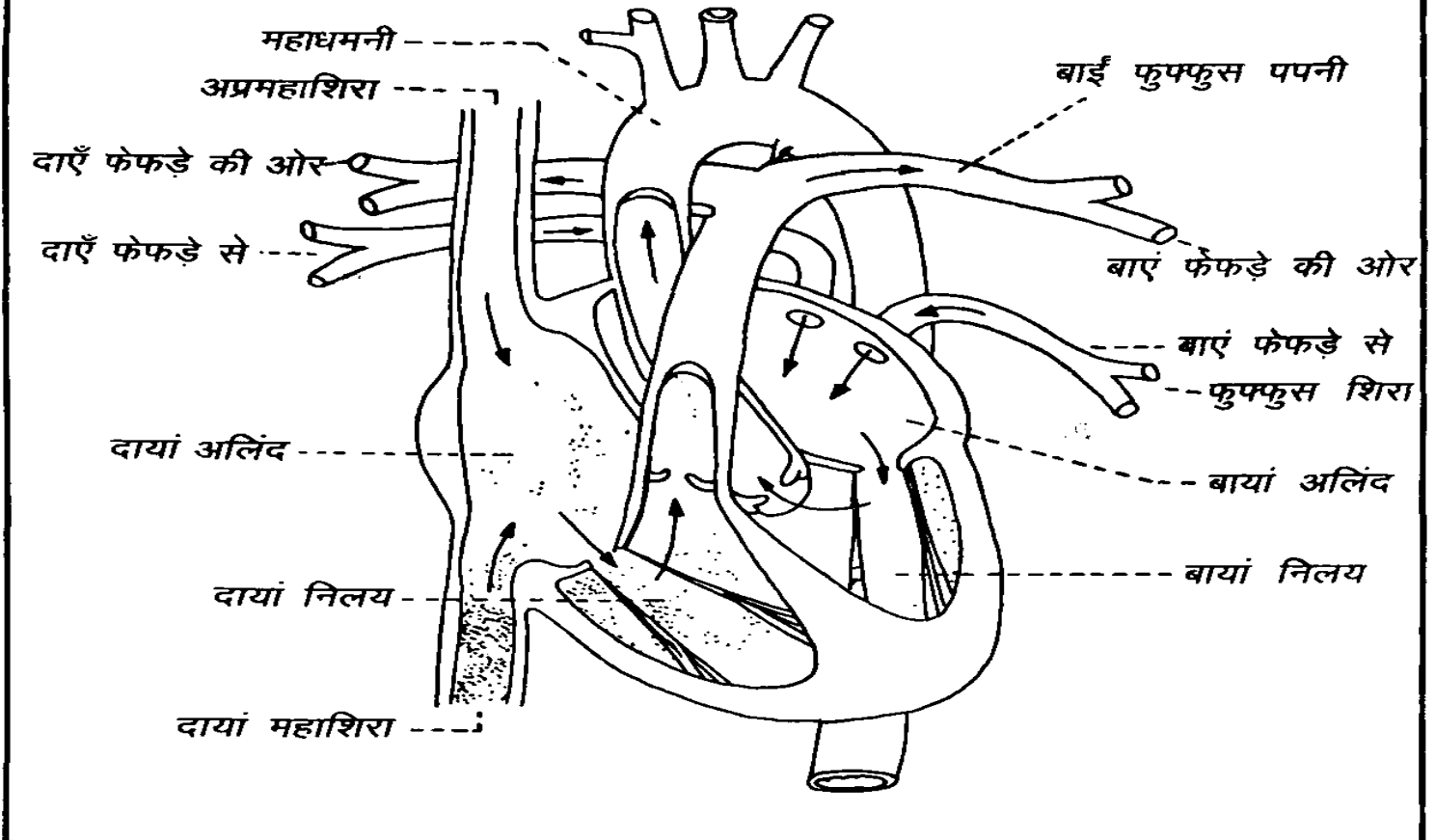
उसके संकुचन की क्रिया होती है। **पसलियों के पिंजरे** या **हृदय गुहा** एवं उदर के अधिकतम आकुंचन से दीर्घ प्रश्वास क्रिया की जाती है। इससे अतिरिक्त मात्रा में वायु का निकास होता है जिसे **रेचक** कहते हैं। दीर्घ श्वास लेकर हृदय गुहा और उदर के अधिकतम विकास से वायु भरने को **पूरक** कहते हैं। इस रेचक-पूरक क्रियाओं को श्वसन-क्रिया कहा जाता है। इसे दो विधियों से किया जाता है — प्रथम केवल पसलियों का बाहर व ऊपर की ओर विस्तार और दूसरे उदर की ऊपरी दीवार का बाहर की ओर विकास द्वारा। इन दोनों विधियों में हृदय गुहा का विस्तार होता है।

इस तरह हम श्वसन-प्रश्वसन प्रक्रिया से ओषजन प्राप्त कर तथा कार्बन-दि-ओषद को बाहर फेंककर जीवित रहते हैं। इस प्रक्रिया एवं प्रणाली को स्वकार्यक्षम तथा संतुलित रखने के लिए प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है।

घ - रक्त-संचार प्रणाली

यद्यपि जीवन का आधार प्राण है तथापि हृदय की गति अर्थात धड़कन रुक जाए, बाहर की वायु बाहर ही रह जाए और भीतर की भीतर तो उस प्राणी को मृत घोषित किया जाता है। अतः शरीर की समस्त क्रियाओं में धड़कन-क्रिया प्रमुख है। इस धड़कन-क्रिया व श्वसन-क्रिया के सहयोग से रक्त-संचार का कार्य होता है। इसके प्रमुख अंग हैं — हृदय, फेफड़े, महाधमनी, धमनियां, शिराएं और कोशिकाएं।

घ-१ — **हृदय** दोनों फेफड़ों के मध्य में बायीं ओर स्थित है। यह प्रतिदिन पूरे शरीर में रक्त-नलिकाओं के माध्यम से रक्त को करीब २ लाख धड़कनों से

रक्त-संचार प्रणाली (Circulatory System)

महाधमनी
ऊर्ध्व शिरा
हृदय
अधः शिरा
छोटी आँत की धमनी
यकृत धमनी
मूत्रपिंड की धमनी
जटर की धमनी
भुजा धमनी
बड़ी आँत की धमनी
जाँघ की धमनी
पैर की धमनी
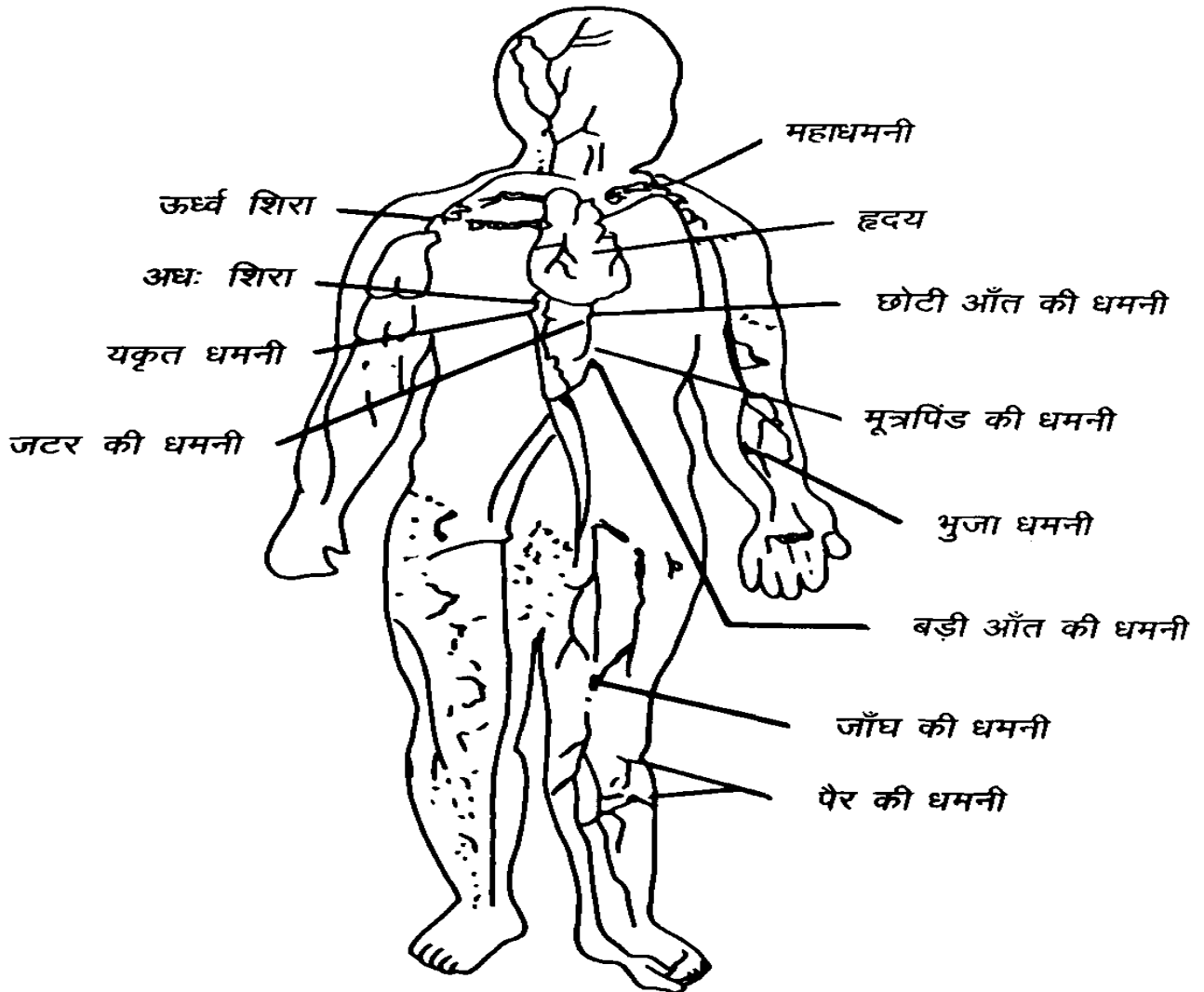
प्रवाहित करता है। यह एक अत्यन्त विलक्षण सूक्ष्म स्नायविक पिचकारी है जो जन्म से मरण-पर्यन्त निरन्तर धड़कन क्रिया करती रहती है। इसकी स्नायविक दीवारों पर स्थित रेशों पर उसकी क्षमता निर्भर होती है। आन्तरिक रूप से हृदय के चार भाग होते हैं।

घ-२ — रक्त फेफड़ों से आता है जिसका विभाजन समस्त शरीर में हृदय द्वारा इस प्रकार किया जाता है — रक्त का प्रवेश **बाएं ग्राहककोष्ठ** में होता है। यहाँ से वह **बाएं क्षेपक कोष्ठ** में पहुँचता है। इसी पर रक्त प्रवाह निर्भर है। बाएं क्षेपक कोष्ठ के संकुचन से जब मध्यवर्ती पर्दा बन्द होता है तब बाएं ग्राहक एवं क्षेपक कोष्ठों के बीच सम्पर्क स्थापित होता है।

घ-३ — उसी समय महाधमनी का द्वार खुल जाता है और इस **महाधमनी** द्वारा शरीर की अन्य धमनियों में रक्त पहुंच जाता है।

घ-४ — **धमनियां** हृदय से कोशिकाओं तक रक्त पहुंचाने वाली सबसे बड़ी रक्त-नलिका को कहते हैं। शरीर के अन्य स्नायुओं की तुलना में इसकी कार्यक्षमता अधिक लम्बी अवधि तक बनी रहती है। शरीर की सभी धमनियां उक्त महाधमनी की ही शाखाएं हैं। प्रमुख शाखाओं में मुख्य धमनियां इस प्रकार हैं — हृद्य धमनी, यकृत धमनी, जठर धमनी, छोटी आंत की धमनी, बड़ी आंत की धमनी, मूत्रपिंड की धमनी, भुजा धमनी, जांघ धमनी इत्यादि। **दाहिने ग्राहक एवं क्षेपक कोष्ठ** में ओषजन रहित गन्दे खून का प्रवाह होता है। अर्थात् शरीर की कोशाओं में ओषजन को जमाकर रक्त वापस हृदय के दाहिने भाग में पहुंचता है। यहां से फेफड़ों में जाकर श्वसनप्रणाली-खण्ड में उक्त प्रक्रिया से वायु के दूषित तत्त्वों के निष्कासन के साथ रक्त में विद्यमान दोषों को भी दूर किया जाता है।

घ-५ — जिस प्रकार शुद्ध रक्त प्रवाहिका **धमनियां** हैं, उसी प्रकार अशुद्ध रक्त को प्रवाह करने वाली नलियों को **शिरा** कहते हैं।

घ-६ — **कोशिकाएं** सूक्ष्म होती हैं। ये ऊतकों के भीतर व्याप्त होकर शरीर की कोशिकाओं को शुद्ध रक्त प्रदान करती हैं। रक्त में विद्यमान लाल कणिकाएं दो काम करती हैं — हृदय से कोशिकाओं तक आते वक्त ओषजन वहन कर ले जाती हैं और जब लौटती हैं तब वे कोशिकाओं में निकास के योग्य कार्बन-द्वि-ओषद आदि को ले आती हैं। अतः रक्त संचार का उक्त पूर्ण कार्य दो तन्त्रों में विभक्त होकर संपन्न होता है। प्रथम फेफड़ों में रक्त संचारण अर्थात् हृदय से फेफड़ों तक और फेफड़ों से हृदय तक। दूसरा सर्वांगीण रक्त-संचार — अर्थात् धमनियों एवं शिराओं के द्वारा पूरे शरीर में रक्त का आवागमन। संपूर्ण रक्त-संचार क्रिया आधारभूत हृदय-गति की दर विशेष पेशीजालों से बनी एक छोटी रचना द्वारा नियन्त्रित रहती है। इस संयंत्र

से प्रसारित संदेश से संपूर्ण स्नायविक तंतुओं के द्वारा समस्त शरीर एवं शरीर के अंग विशेषों की आवश्यकताओं पर शासन किया जाता है।

इस रक्त-संचार प्रक्रिया के निरन्तर चलते रहने के कारण धमनियों एवं नाड़ियों में तनाव बना रहता है जिसका निवारण प्राणायाम एवं शिथिलीकरण प्रक्रियाओं से किया जाता है।

ङ — पाचन प्रणाली

उक्त चारों प्रणाली का स्वास्थ्य एवं शक्तिशालिता पाचन प्रणाली पर निर्भर है। प्रत्यक्ष रूप से स्थूल पदार्थों एवं तरल पदार्थों का जो हम लोग भोजन करते हैं वह तुरन्त मांसादि रूप में परिवर्तित नहीं होता। एक विशेष प्रक्रिया द्वारा यह कई पदार्थों में परिवर्तित होता है, जिनका शोषण रक्त प्रवाह से होकर संपूर्ण शरीर में वितरण होता है। इस प्रक्रिया को **पाचन** कहते हैं। इसके लिए प्रयुक्त आहारनाल जो कि मुख से गुदा तक कुल नौ मीटर लम्बा है उसी को ही पाचन प्रणाली अथवा पाचन-संस्थान कहते हैं। इसके प्रमुख अंग इस प्रकार हैं — मुख, लारीय ग्रन्थियां, ग्रसनी, ग्रासनाल, आमाशय, पक्वाशय, यकृत, अग्नाशय, पित्ताशय, छोटी आंत, अंधान्त्र, उपान्त्र, बड़ी आंत, मलाशय और मलद्वार।

मुँह में भोजन के पहुंचते ही पाचन आरम्भ होता है। पाचन की प्रथम क्रिया है चबाना अर्थात् अन्न के छोटे-छोटे टुकडे बनाना। इसी समय मुँह में विद्यमान १२ छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ अपने स्राव को छोड़कर अन्न में मिलती हैं। वे हैं — ६ **लारोत्पादक ग्रन्थियाँ** (salivary), २ कान के नीचे व आगे **पैरोटिड**, २ जबड़े के नीचे **सबमैन्डीब्यूलर** और २ जीभ के नीचे **सबलिंगवल**। यह सब टायलिन नामक विशेष पाचक रस का स्राव करती हैं। अब चूर्णित अन्न लार रसों के साथ **ग्रसनी** में जीभ द्वारा धकेला जाता है। तत्पश्चात् **ग्रासनली** से अन्नपिण्ड आमाशय में पहुंचता है। **आमाशय** को ही जठर भी कहते हैं जो कि एक लम्बी व पोली स्नायविक थैली है जिसमें उचित मात्रा में अन्न धारण करने की शक्ति है। यह एक साधारण अवरोधक (ढकनी) द्वारा ढका रहता है। इसमें जठर रस (गैस्टिक रस) नामक पाचक रस द्वारा अन्न को मथ दिया जाता है। जठर रसों में पेप्सिन, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल तथा रेगिन प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम दो जीवन-सत्त्व को विभाजित करते हैं और अन्त वाला तरल पदार्थों को ठोस रूप देता है जैसे दूध को दही का रूप देना।

जल एवं कुछ अन्य तरल पदार्थ ऐसे हैं जो कि आमाशय में कुछ क्षण मात्र रहकर सीधे **पक्वाशय** (छोटी आंत का प्रथम भाग) में पहुंच जाते हैं। जठर में रहे ठोस पदार्थ को रस स्वरूप में परिवर्तित कर पक्वाशय में पहुंचाने के लिए सबसे शक्तिशाली क्रिया

आहार–नाल Alimentary Canel
मुख Mouth
लार ग्रंथियाँ Salivary glands
सवमैडिवूलर Submandibular
यकृत Liver
पित्ताशय Gall bladder
पक्वाशय Duodenum
दायाँ मोड़
Right colic flexure
आरोही बड़ी आँत
Ascending colon
इलियम Ileum
Ileo-colic valve
सीकम Caecum
कृमि–आकार का अपेण्डिक्स
Vermiform appendix
पैरोटिड लार ग्रंथि
Parotidsalivery gland
ग्रसनी Pharynx
ग्रास नली Oesophagus
आमाशय Stomach
उदर से आँतों में
जाने का मार्ग Pylorus
अग्नाशय Pancreas
बड़ी आँत का बायाँ मोड़
Left colic flexure
आड़ी बड़ी आँत
Transverse colon
जेज्यूनम Jejunum
अवरोही बड़ी आँत
Descending colon
सिग्मोइड बड़ी आँत
Sigmoid colon
मलाशय Rectum

पाचन तंत्र का आरेखी चित्रण

(1) लार ग्रन्थियाँ (Salivary glands)
(2) ग्रसनी (Pharynx)
(3) ग्रास नली (Oesophagus)
(4) आमाशय (Stomach)
(5) पक्वाशय (Duodenum)
(6) यकृत (Liver)
(7) अग्नाशय (Pancreas)
(8) पित्ताशय (Gall Bladder)
(9) छोटी आँत (Small Intestine)
(10) अंधान्त्र (Caecum)
(11) उपान्त्र (Appendix)
(12) बड़ी आँत (Large Intestine)
(13) मलाशय (Ractum)
(14) मलद्वार (Anus)

पाचक रस छोड़ने वाली ग्रंथियाँ –

6 मुँह में – सैलीवरी ग्रंथियाँ (Salivary Glands)
2 कान के नीचे व आगे – पैरोटिड (Parotid Glands)
2 जबड़े के नीचे – सबमैडिव्यूलर (Submandibular)
2 जीभ के नीचे – सबलिंगवल (Sublingval)

पक्वाशय के प्रवेश द्वार के समीप होती है। यहाँ आकुंचन लहरियों से पाचन क्रिया अविरल होती रहती है और समय-समय पर द्वार खुलकर द्रव रूप में परिवर्तित अन्न पक्वाशय में पहुँचता है। पक्वाशय में **क्लोम (अग्नाशय)**, **यकृत** और **आंत्र**-ग्रन्थियों से स्रावित क्लोम रस अथवा अग्नाशयी रस (Pancreatic), पित्त रस, (bile juice) और आन्त्र रस का पक्वाशय में प्रविष्ट द्रव पदार्थों के साथ मिश्रण होता है। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली रस है क्लोम रस। यकृत से स्रावित पित्त पहले **पित्ताशय** में संगृहीत होता है जहाँ उसकी शक्ति में वृद्धि की जाती है। उसके पश्चात् वह पुष्ट पित्त पक्वाशय में प्रवेश करता है। कुल मिलाकर **छोटी आंत** की पूरी लम्बाई २० फुट है। इसकी दीवारों पर बहुत छोटी ग्रन्थियां हैं जो विभिन्न प्रकार के रसों को स्रावित करती हैं। इससे पाचन क्रिया सुगम होती है। छोटी आंत की भीतरी सतह मखमल जैसी है जिसमें सूक्ष्म कक्ष बने हैं, जो कि बाहर निकली हुई शाखाएं हैं। इनमें स्थित रक्त-नलिकाओं में प्रवाहित रक्त छोटी आंत में पचे हुए भोजन को सरलतापूर्वक अन्धान्त्र एवं उपान्त्र द्वारा शोषित कर पूरे शरीर में वितरण करता है। छोटी आंत के अन्त में एक विशेष द्वार है जहाँ से बिना पचा तथा अशोषित शेष त्याज्य पदार्थ धीरे-धीरे बड़ी आंत में जाता है।

बड़ी आंत की लम्बाई पांच फुट है। इसमें यथासंभव अन्न का पुनर्शोषण होता है। उसके बाद जो त्याज्य पदार्थ होता है बह गुर्दे की ओर जाता है और **मलाशय** में संगृहीत होता है। अन्ततः **मलद्वार** से निष्कासित होता है।

भोजन की इस लम्बी यात्रा को सुचारु रूप से चलाए रखने के लिए षट्कर्म, आसन, प्राणायामादि का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। यह प्रणाली स्वस्थ है तो पूरा शरीर स्वस्थ रहेगा।

भोजन की संपूर्ण क्रिया लगभग १७-१८ घंटों में पूरी होती है। उस दौरान भोजन का निम्न चार भागों में मुख्य रूप से विभाजन कर शरीर में वितरण किया जाता है। वे हैं — कार्बोज एवं चर्बी, जीवन सत्त्व, खनिज लवण और विटामिन।

च - विसर्जन प्रणाली

शरीर के पोषण में पाचन प्रणाली जितनी महत्त्वपूर्ण है उससे भी अधिक विसर्जन प्रणाली महत्त्वपूर्ण है। भोजन को पचाने के लिए जो विभिन्न प्रकार के अम्लादि मिलते हैं उनका अपना कार्य भोजन को पचाने के बाद उनका बाहर निकलना अति आवश्यक है, अन्यथा वे शरीर के लिए नाशक होंगे। निकास का यह महान् कार्य गुर्दों से होता है।

च-१ — गुर्दे डायफ्रॉम के नीचे कटिरेखा के ठीक ऊपर व पीछे की ओर शरीर

विसर्जन प्रणाली

बायाँ Left
गुर्दे Kidney
दायाँ Right
गुर्दे Kidney
अधर महाशिरा Aorta
Inferior vena cava
मूत्रवाहिनी Ureters
मूत्राशय Bladder
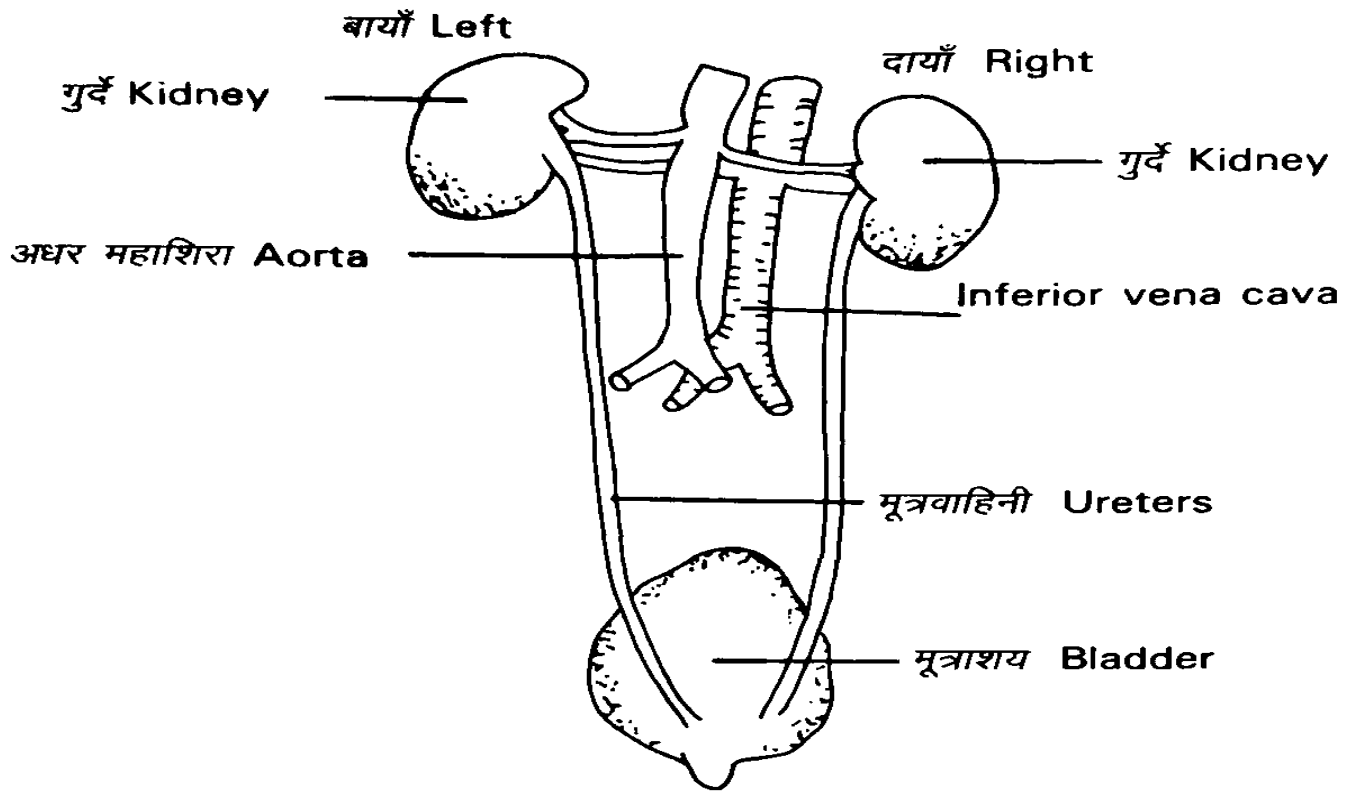
*की मध्य रेखा के दोनों ओर होते हैं। दिन भर में दो बार शरीर के पूरे रक्त को ये छानते हैं। ये केवल रक्त में विद्यमान मल – यूरिक एसिड के रूप में यूरिया इत्यादि को पेशाब के रास्ते से बाहर निकालते हैं और रक्त में विद्यमान पोषक पदार्थ जैसे प्रोटीन, विटामिन, एमिनो एसिड, लाल कण, ग्लूकोज एवं हार्मोन्स को वापस रक्त के साथ शरीर को लौटाते हैं। गुर्दे रक्त को न ज्यादा अम्लीय न ज्यादा क्षारीय होने देते हैं। लाल कणों के निर्माण में सहयोग देना तथा पानी की मात्रा का सन्तुलन बनाए रखना इनका अतिरिक्त कार्य है। अपने कार्य को करने में गुर्दे **मूत्रवाहिनी**, **मूत्राशय** एवं **मूत्रमार्ग** (लिंग व योनि) का सहयोग लेते हैं।*

च-२ — पौरुष ग्रन्थि (prostate glands) *मूत्राशय के नीचे है जिसके बीच से मूत्रमार्ग निकलता है। यह ग्रन्थि ऊतक एवं अनैच्छिक पेशियों से निर्मित है। इसका स्राव शुक्राणुओं के लिए चिकनाई पैदा करता है। यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है। इसके असंतुलन से शरीर धीरे-धीरे कमजोर एवं नपुंसक होने लगता है।*

च-३ — सेमिनल ग्रन्थि *— यह मूत्राशय के पीछे दो थैली जैसी आकृति में है*

जिसे अण्डकोश कहते हैं। इसके स्राव को वीर्य कहते हैं जो पुष्ट शरीर ही नही बल्कि मुक्ति का साधन है।

इनके अतिरिक्त मल के निकलने के अनेकों द्वार हैं जैसे त्वचा, मुख, नाक, आँख, कान द्वारा विभिन्न प्रकार के मल निकलते हैं।

योगाभ्यास द्वारा सभी मलद्वारों को तीव्र किया जाता है जिससे शरीर में थोड़ा भी मल रुक न सके। किन्तु पौरुष एवं सेमिनल ग्रन्थियों के स्राव की रक्षा कर उनको तेज एवं ओज के रूप में परिणत कर कुण्डलिनी जागरण में प्रयोग किया जाता है।

अध्याय २

शोधन विज्ञान

प्रस्तावना

इस अध्याय में स्थूल शरीर के शुद्धिकरण अर्थात् शोधन क्रियाओं पर प्रकाश डालेंगे। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार अष्टांग योग के दूसरे अंग **'नियम'** का प्रथम उपांग है **"शौच"**। शौच के अन्तर्गत अन्तःशौच एवं बाह्यशौच की चर्चा हम संक्षेप में कर चुके हैं। परन्तु उन दोनों में से अन्तःशौच से पहले बाह्यशौच आवश्यक है। यद्यपि बाह्यशौच के अन्तर्गत स्नानादि तो प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन करता है तथापि इस स्थूल शरीर की विभिन्न प्रणालियों का शोधन करने के लिए आसन, प्राणायाम के अतिरिक्त **"षट्कर्म"** अति आवश्यक है। कफ एवं पित्त के संतुलन द्वारा देह-शुद्धि, स्वास्थ्य-वृद्धि एवं रोग-निवृत्ति "षट्कर्म" का मुख्य फल है। *हठयोग प्रदीपिका* के अनुसार वे षट्कर्म हैं —

> धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
> कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ।।
> (२२)

अर्थात् नेति, धौति, नौलि, बस्ति (यौगिक एनिमा), कपालभाति और त्राटक।

हठ शब्द 'हं' सूर्यबीज और 'ठं' चन्द्रबीज से उत्पन्न है। ये सृष्टि के धनात्मक एवं ऋणात्मक दो धाराओं के प्रतीक हैं जिनका इस शरीर में मानसिक शक्ति प्रधान इड़ा नाड़ी एवं प्राणशक्ति प्रधान पिंगला नाड़ी, क्रमशः बाईं और दाहिनी नासिका छिद्र में प्रवाहित प्राणवायु से लक्षित है। इन दोनों में संतुलन लाना ही हठयोग है। इस संतुलन के परिणामस्वरूप प्राण का प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी में होने लगता है। यहीं से मानव-चेतना का विकास आरम्भ होता है। योग की समस्त शाखाओं का उद्देश्य यही है।

इस अध्याय में षट्कर्मों को क्रम से छः खण्डों में विचार करेंगे। (क) नेति, (ख) धौति, (ग) नौलि, (घ) बस्ति, (ङ) कपालभाति और (च) त्राटक।

नेति

नेति नासिका प्रदेश के शुद्धिकरण की विधि है। इसे अनेक प्रकार से किया जाता है। जैसे जलनेति, सूत्रनेति, रबरनेति, तेल/घृतनेति, दूधनेति, अमरोलिनेति इत्यादि।

(१) सूत्रनेति

तैयारी — सूत्र का अर्थ है सूत, डोरी या धागा। परम्परा यह है कि आधे हाथ लम्बे एक सूती धागे को मोम से कड़ा करके प्रयोग किया जाता है। किन्तु आजकल बनी-बनाई विशेषरूप से तैयार की गई डोरी अथवा रबर की पतली नलिका (कैथेटर) जो कि बाजार में उपलब्ध है, का प्रयोग किया जाता है।

विधि — सूत्रनेति को पहले शुद्ध जल में भिगोकर रखें व अच्छी तरह धो लें। उकड़ूं बैठ जाएं। सूत्रनेति के पतले छोर को दाहिने हाथ के अंगूठे एवं तर्जनी अंगुली से पकड़ें। अब जिस नासा-छिद्र से श्वास आ-जा रहा हो उसकी दीवार के सहारे सूत्रनेति से नासा-छिद्र अर्थात् नथुने में डालकर मुँह से निकालकर एक हाथ से एक छोर को और दूसरे हाथ से दूसरे छोर को खींचकर आगे-पीछे आराम से करें। इसी तरह दूसरे नासा-छिद्र से भी करें। प्रत्येक नासा-छिद्र में ३०-५० बार आगे-पीछे करना चाहिए। नासिका में डालने एवं निकालने की क्रिया को सावधानी के साथ धीरे-धीरे करें। जबरदस्ती अथवा जल्दबाजी न करें।

सूत्रनेति

लाभ — इस नेति से कण्ठ से लेकर मस्तिष्क तक की सभी नसें शुद्ध होती हैं। आँख, नाक एवं कान के सभी दोष दूर होते हैं। क्योंकि प्रदूषणादि अनेकों कारणों से जो मैल (धूल, धूआँ, विषैली गैसों का मल, कफ, मांसाधिक्य इत्यादि) नासा-छिद्र में जमा हुआ रहता है उसे नेति क्रिया से बाहर निकाला जाता है। अनेकों रोग जैसे बहरापन, टांसिल, साइनस, डिप्थीरिया, खांसी, दमा, कण्ठमाला, नाक बहना, कफावरोध, सिरदर्द, मोतियाबिन्द आदि ठीक हो जाते हैं और नेत्र ज्योति बढ़ती है। नासा-छिद्रों के स्वच्छ होने से श्वसन-क्रिया
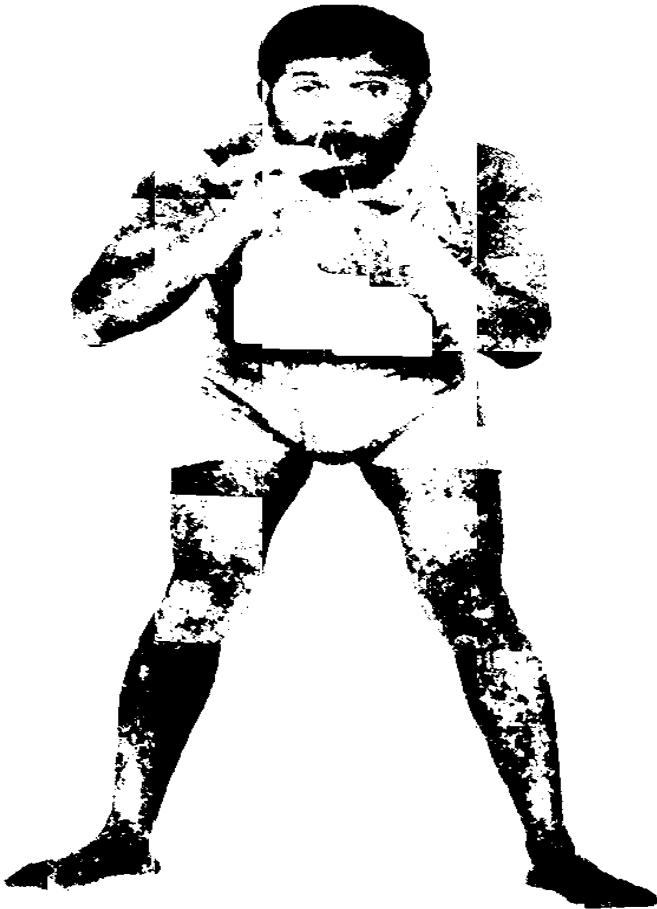
संतुलित रहती है फलस्वरूप शरीर की सभी प्रणालियां ठीक रहती हैं।

(२) जल नेति

सूत्रनेति से मल उखड़ने के पश्चात् उसको धोकर बाहर निकालने का कार्य जलनेति करती है।

तैयारी — जलनेति की प्रमुख आवश्यक सामग्री है एक विशेष प्रकार का लोटा जिसे नेति लोटा कहते हैं जो कि तांबा, पीतल, स्टील अथवा प्लास्टिक (आजकल प्रचलित) का होता है। गर्मियों में ताजा पानी एवं सर्दियों में कुनकुना (कोसा) पानी जो कि रक्त-ताप के समान हो एवं नासिका से प्रवाहित होने लायक हो। एक चाय चम्मच नमक प्रति आधा लीटर पानी में घोलकर छान लें।

विधि — लोटे में पानी भरकर उकड़ूं बैठें। जिस नासा-छिद्र में श्वास वेग से चल रहा हो उसमें लोटे की टोंटी को डालें। अब उसी ओर का घुटना खड़ा करें और उस घुटने पर जिस हाथ की हथेली में लोटा है उस हाथ की कोहनी को रखें। सिर को धीरे-धीरे दूसरी ओर झुकाते हुए दूसरे पैर के घुटने को जमीन की ओर झुकाएं, आराम एवं संतुलित स्थिति में दूसरे हाथ की कोहनी को नीचे वाले घुटने पर रखकर उस हाथ की हथेली से कनपटी को थाम लें। अब मुँह खोलकर श्वास-क्रिया शुरू करें, साथ-साथ नासिका से पानी को बहने दें। पानी का प्रवाह एक छिद्र से होकर दूसरे से स्वतः निकलेगा, आपको इसके लिए कुछ नहीं करना पड़ेगा। यही क्रिया दूसरे नासा-छिद्र से भी करें।

सावधानी — भूल से भी इस दौरान श्वास को नाक से न लें, केवल मुँह से लेते रहें।

दोनों नासिका से जल नेति कर लेने के बाद धीरे-धीरे मुँह से श्वास लेकर पेट भर लें फिर मुँह बन्द कर नाक से श्वास छोडें। इस प्रकार पांच-छः बार करें। इस प्रक्रिया को आवश्यकता के अनुसार दो-तीन बार कर सकते हैं।

नाक में पानी का अंश न रह जाए इसके लिए दोनों पैरों को परस्पर समीप (सटाकर

जल नेति

नहीं अपितु थोड़ी दूर) रखते हुए खड़े हो जाएं और दोनों हाथ पीछे बांध लें। अब हाथ को पीछे उठाते हुए कमर से सामने की ओर झुकिए किन्तु सर को उठाए रखिए। आधा मिनट इस स्थिति में रहकर पांच-छः बार धौंकनी के समान मुँह से श्वास लेकर नाक से छोड़ें। पुनः सीधे खड़े हो जाएं। इस प्रकार ५-६ बार करें। तत्पश्चात् सीधे खड़े होकर एक नाक को बन्द कर दूसरे से १५-२० बार तीव्र गति से श्वसन क्रिया करें। यही क्रिया दूसरी नाक से भी करें। पुनः दोनों नासिका से एक साथ करें।

लाभ — सूत्रनेति में कहे सभी लाभ के अतिरिक्त इससे क्रोध पर नियन्त्रण होता है, सुस्ती दूर हो कर ताजगी आती है, आज्ञा-चक्र के जागरण में सहायक है और दृष्टि-दोष को दूर करती है।

(३) दूधनेति

दूध को नाक से पीने की प्रक्रिया को दूधनेति (दुग्ध-नेति) कहते हैं। इसे सूत्रनेति के बाद करें।

विधि — टोंटीदार नेति लोटे से पूर्ववत् कोसा दूध को एक नाक से लेकर पीना है। ध्यान रखें ऊपर की नसों में न चढ़े, अतः थोड़ा पीछे झुककर पिएं। इसी प्रकार से दूसरी नासिका से भी पिएं।

लाभ — रक्तचाप, हृदयरोग, टी.बी., सफेद बाल का रोग इत्यादि में लाभकारी है।

सावधानी — वात प्रकृति वाले सोंठ डालकर दूध को पकाकर ठंडा करके प्रयोग करें।

(४) अन्य नेति [*तेल, घृत, बादामरोगन व शिवाम्बु (पेशाब) नेति*]

इन नेतियों के प्रयोग से मस्तिष्क, बालों एवं श्वसन प्रणाली सम्बन्धी अनेकों रोग दूर होते हैं।

इनमें से तेल (सरसों का अथवा अन्य), गोघृत और बादाम रोगन की नेति करने की प्रक्रिया अत्यन्त सरल है। किसी शुद्ध ड्रापर से इनकी कुछ बूंदों को दोनों नासिका छिद्र में डालकर जोर से श्वास खींच लें। इसे प्रातः जलनेति के बाद अथवा रात्रि को सोते वक्त किया जा सकता है।

शिवाम्बु नेति करने की विधि जलनेति के समान ही है।

ध्यान रहे इन नेतियों का प्रयोग बिना किसी योग्य गुरु व चिकित्सक की देखरेख के न करें।

धौति

मुँह से गुदाद्वार तक की संपूर्ण अन्न-नलिका के शुद्धिकरण की प्रक्रिया को धौति कहते हैं। इसमें नेत्र, कर्ण, दाँत, जिह्वा एवं खोपड़ी की सफाई की सरल विधियां शामिल हैं। धौति शब्द का अर्थ ही है धोना, इसलिए शरीर के शुद्धिकरण की सामान्य क्रिया को धौति कह सकते हैं। यह कार्य १२ प्रकार की क्रियाओं से पूरा किया जाता है। वे हैं —

१. दन्त-धौति	७. वस्त्र-धौति
२. नेत्र-धौति	८. वमन-धौति
३. जिह्वामूल-धौति	९. वारिसार-धौति अथवा शङ्खप्रक्षालन
४. कर्ण-धौति	१०. मूल-धौति
५. कपाल-धौति	११. वातसार-धौति
६. हृदय-धौति	१२. वह्निसार-धौति

(१) दन्त धौति

दाँतों के स्वास्थ्य एवं पाचन की वृद्धि के लिए यह उपयोगी है। दाँतों की सफाई के लिए नीम या कीकर का दातुन श्रेष्ठ साधन है। पहले दातुन को चबाकर ब्रश जैसे बनाकर दाँतों के आगे-पीछे ऊपर-नीचे खूब घुमाकर सफाई करनी चाहिए। कत्थे का चूर्ण या अन्य कोई आयुर्वेद शास्त्रानुसार तैयार चूर्ण का प्रयोग किया जा सकता है। स्वयं यह सस्ता मंजन बना लें — फिटकरी को पीसकर तवे पर रखकर मंद आँच पर भून लें। छः चम्मच पिसे हुए लाहौरी नमक में एक चम्मच फिटकरी चूर्ण, थोड़ा-सा सरसों का तेल मिलाकर रख लें। इस मंजन से रोज दाँतों को साफ करें।

ध्यान रखें कि मंजन करने के बाद अंगुलियों से मसूढ़ों की मालिश अवश्य करें।

(२) नेत्र-धौति

मुँह में पानी भरकर आँखों में जल से छीटें लगाएं। आईकप से आँख खोलकर कम से कम तीन बार धोएं। सादा ताजे पानी (सर्दियों में कोसा पानी) अथवा त्रिफला के पानी को कपड़े में छानकर भी इस क्रिया के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इससे आँखों के कई रोग दूर होते हैं।

(३) जिह्वामूल-धौति

दातुन की छाल को निकालकर दातुन को फाड़कर उससे जीभ को साफ करें। आजकल बाजार में उपलब्ध (टंगक्लीनर) से साफ किया जा सकता है। अन्त में तर्जनी, मध्यमा एवं अनामिका अंगुलियों को गले में डालकर जीभ की जड़ तक को साफ करना चाहिए। ध्यान रखें अंगुलियों के नाखून कटे हुए एवं साफ होने चाहिए। इससे कफादि मैल भी साफ होगा।

(४) कर्ण-धौति

सदा अंगुलियों के नाखून काटकर रखें। क्रमशः तर्जनी, अनामिका और कनिष्ठिका अंगुलियों से कर्णछिद्र को साफ करना चाहिए अथवा बाजार में उपलब्ध तांबे या चाँदी के कर्ण-शोधिनी का प्रयोग किया जा सकता है अथवा दोनों छोर में रूई लगी हुई कड़ियों (ईयर स्टिक्स) का उपयोग करें। इससे बहरापन आदि दोष नहीं होंगे।

(५) कपाल-धौति

यह स्नान के वक्त करने की क्रिया है। खोपड़ी के मध्य भाग को हाथ के अंगूठे, अंगुलियों एवं हथेली से क्रमशः रगडें। इससे पूरे शरीर पर नियन्त्रण होता है और कफ-दोष शान्त होता है। दमे के रोग एवं टी.बी. में अत्यन्त उपयोगी है।

(६) हृदय-धौति

यह क्रिया हृदय देश में स्थित अंगों विशेषतः श्वास-नली एवं अन्न-नलिका के शुद्धिकरण की है। इसे दो प्रकार से किया जाता है — दण्ड से अथवा वस्त्र से।

दंड-धौति क्रिया के लिए विशेष रूप से तैयार किए गए बेंत के दण्ड अथवा केले के पौधे के मध्य भाग में स्थित पतले नरम दण्ड का प्रयोग किया जाता है। इसका व्यास आधा इंच और लम्बाई दो फुट होनी चाहिए। जितना लचीला हो उतना ही अच्छा है। धीरे-धीरे (बिना झटके के) गले में से होते हुए दण्ड को जठर तक पहुँचाना चाहिए। तत्पश्चात् उसे बाहर निकालें। इस अभ्यास से श्लेष्मा, कफ, अम्लता तथा श्वास-नलिका के सामान्य दोष दूर होते हैं। इस क्रिया को वमन-क्रिया के पश्चात् करना अच्छा माना गया है।

(७) वस्त्र-धौति

इस क्रिया के लिए मलमल जैसे महीन वस्त्र की चार अंगुल चौड़ी (लगभग २ इंच) एवं १६ हाथ लम्बी (लगभग २५ फुट) पैप के आकार में लपेटी हुई पट्टी को विशेष

रूप से तैयार किया जाता है। इसे स्वच्छ पानी अथवा कोसे नमकीन पानी में भिगोकर रखें।

विधि — अब उकड़ूं बैठकर धीरे-धीरे उक्त पट्टी के एक सिरे को मुँह में डालकर अन्न की भांति लार मिश्रित करते हुए सावधानीपूर्वक निगलते जाएं । आरम्भ में २ या ३ इंच निगलकर निकाल दें। यदि निगलने में कष्ट या हिचकी आए तो दूध
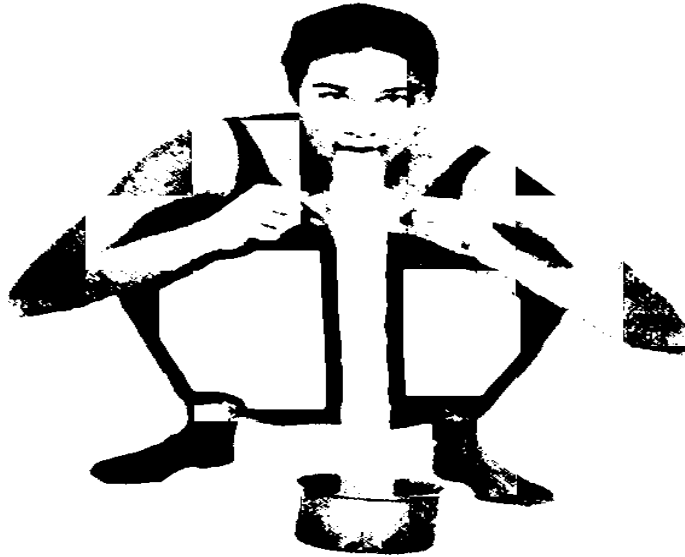
वस्त्र-धौति

या शहद को पानी में मिलाकर अभ्यास करें। जब तक दूसरा सिरा थोड़ा मुँह के बाहर रहे तब तक निगलें। २० मिनट तक वस्त्र को भीतर ही रहने दें। धीरे-धीरे वस्त्र को बाहर निकालें। निकालने में रुकावट हो तो नमक का पानी पीकर उल्टी करें। फिर धीरे-धीरे बाहर निकाल लें। अब वस्त्र को साबुन घुले गरम पानी में अच्छी तरह से साफ करके सुखा लें।

सावधानी — ध्यान रखें कि वस्त्र आंतों में न पहुंचे। इस क्रिया को प्रातः खाली पेट ही करें। इसके करने से पेट की दीवारों में चिपके आँव व कफ एवं सड़ा पित्त निकल जाता है और अन्न नाल में उत्पन्न छोटे फोड़े नष्ट हो जाते हैं। इस क्रिया से दमा, खाँसी, दीर्घकालीन बलगम, कास, तिल्ली बढ़ना, ज्वर, अपच, कुष्ठादि विकार ठीक होते हैं। नेत्र-ज्योति भी बढ़ती है।

(८) वमन धौति

स्वेच्छापूर्वक उल्टी करके जठर को साफ करने की क्रिया को वमन-धौति कहते हैं। यह दो प्रकार की है — कुंजल-क्रिया (अथवा गजकरनी) और व्याघ्र-क्रिया।

८-१ — कुंजल क्रिया — जिस प्रकार हाथी सूँड से जल पीकर सूँड से बाहर फेंकता है उसी प्रकार पानी पीकर वापस उल्टी करने को गजकरनी अथवा कुंजल-क्रिया कहते हैं।

विधि — कम से कम दस गिलास नमकीन गुनगुना पानी तैयार कर लें। अब उकडूं बैठकर अथवा खड़े होकर जितनी जल्दी हो सके झटपट कम से कम छः-सात गिलास पी लें। जब और अधिक पी न सकें अर्थात् कण्ठ तक भर जाए तब आगे की ओर पूरा ६०° में झुककर खड़े रहें। बाएं हाथ को पेट पर रखकर दबाते हुए दाहिने हाथ की तर्जनी एवं मध्यमा अंगुलियों को मुँह में डालकर जिह्वामूल को दबाते जाएं। पानी फुहारा सा बनकर बाहर निकलेगा अर्थात् उल्टी होगी। जब तक पूरा जल न निकल जाए तब तक जिह्वामूल को दबाते रहिए।

सावधानी — यह क्रिया प्रतिदिन खाली पेट करें। शंख-प्रक्षालन के पश्चात् करें तो अच्छा रहेगा। रोगी रोगों के अनुसार बिना शंख-प्रक्षालन के भी इसे कर सकते हैं। अधिक से अधिक एक महीने तक लगातार कर सकते हैं। इस अभ्यास के बाद गले में खुश्की अर्थात् सूखापन महसूस हो तो १५ से २० मिनट बाद फलों का रस ले सकते हैं। ठोस भोजन एक घण्टे के बाद लें। सारा पानी बाहर न आए तो घबराना नहीं क्योंकि अवशिष्ट जल पेशाब द्वारा बाहर हो जाएगा; इसलिए ज्यादा नमक डालना हानिकारक है। हृदय-रोगी आरम्भ में कुंजल-क्रिया न करें, आसनादि योगाभ्यास द्वारा मजबूती पाने के बाद कर सकते हैं। उच्च रक्तचाप के रोगी बिना नमक के कोसा जल से करें।

लाभ — पेट की वायु और अम्लीयता को रोकते हुए संतुलित रखता है। अन्न-नलिका में एकत्रित बलगम को निकालता है। कास, दमा आदि श्वसन प्रणाली सम्बन्धी रोगों को दूर करता है। पाचन प्रणाली को स्वस्थ एवं संतुलित करता है।

८-२ — व्याघ्र-क्रिया — बाघ की यह विशेषता है कि वह शिकार से पेट को बहुत अधिक भर लेता है फिर तीन-चार घंटे के बाद अपूर्ण रूप से पचे हुए भोजन को उल्टी द्वारा बाहर करता है। उसी प्रकार मानव भी अपने शरीर में अपचे पदार्थ को निकाल सकता है। इसे व्याघ्र-क्रिया कहते हैं। यह स्वाभाविक रूप से अशुद्ध या अर्द्ध पचे भोजन की उल्टी नहीं है बल्कि यह ऐच्छिक क्रिया है।

विधि — इसके अभ्यास को भरे पेट में किया जाता है। इस क्रिया को करने के लिए पहले पूरा पेट भर भोजन करें। तीन-चार घंटे के बाद जैसे भारीपन या तकलीफ महसूस हो ठीक कुंजल-क्रिया की स्थिति में खड़े होकर उसी प्रकार उल्टी करें। परम्परा यह है कि इस क्रिया के आधे घंटे बाद चावल की खीर खाना अच्छा है किन्तु अनिवार्य नहीं। दूध (पतला अर्थात् पानी मिलाकर) अथवा फल का रस भी पी सकते

हैं। उल्टी करते समय यदि नाक से भी भोजन बाहर आए तो जलनेति अवश्य करें।

सावधानी — यह क्रिया हृदय-रोगी, पेट के नासूर (अल्सर), हर्निया एवं उच्च रक्तचाप के रोगी न करें।

लाभ — इस क्रिया से अधिक भोजन अथवा अनुपयुक्त भोजन के कारण होने वाले विकार दूर होते हैं। शरीर के विषाक्त तत्त्व निकल जाते हैं और अम्ल-पित्त में संतुलन होता है।

(६) वारिसार-धौति (शंख-प्रक्षालन)

वारि=जल, सार=गति, धौति=धोना अर्थात् जल पीकर आसनों से उसे विशेष गति प्रदान करके शरीर को साफ करना। लेकिन शंख=शंखाकर के समान आकृति वाला हमारे शरीर का अवयव=आंत, उसका प्रक्षालन=सफाई करना, इसलिए इस क्रिया को शंख-प्रक्षालन कहते हैं। यद्यपि यह क्रिया कण्ठ से गुदा तक पूरे शरीर को शुद्ध करती है तथापि इस क्रिया की उपयोगिता विशेषतः आंतों की शुद्धि के लिए ही है क्योंकि कण्ठ से जठर तक के भाग को पूर्वोक्त क्रियाओं से और गुदाक्षेत्र को मूल-धौति से किया जा सकता है। इसके दो भेद हैं — लघु शंख-प्रक्षालन और पूर्ण शंख-प्रक्षालन।

पूर्ण-शंख प्रक्षालन

तैयारी — जिस दिन शंख-प्रक्षालन करना है, उसके पूर्व दिन-रात को हल्का भोजन करें। शंख-प्रक्षालन करने के दिन क्रिया के पूर्व चाय, कॉफी या कोई भी भोज्यादि पदार्थ ग्रहण न करें अर्थात् खाली पेट आरम्भ करें। एक साफ बाल्टी अथवा किसी भी साफ बड़े बर्तन में २५ से ३० गिलास अच्छी तरह से उबले हुए पानी को कपड़े से छान लें। छानने का तरीका इस प्रकार हो — साफ बाल्टी व साफ बड़े बर्तन पर कपड़े की छलनी को रखें, उस पर नमक आवश्यकतानुसार डालें। अब उस पर उबला पानी छोड़कर नमक को घोलते हुए छान लें। पानी चखकर देख लें नमक न ज्यादा हो न बहुत कम। आसन करने के लिए खुला कुर्त्ता-पैजामा पहन लें। तनाव व प्रदूषण रहित वातावरण एवं सुखद व खुली हवादार जगह में अभ्यास करें। दो-चार लोग सामूहिक रूप से करें तो अच्छा है ताकि घबराहट व मानसिक तनाव न हो एवं सरलतापूर्वक साहस के साथ कर सकें।

विधि — क्षमतानुसार शीघ्रता से दो गिलास उक्त प्रकार से तैयार किया गया नमकीन पानी पीजिए। तत्पश्चात् निम्नलिखित पांच आसनों का अभ्यास करें। प्रत्येक आसन की आठ आवृत्तियां कीजिए। पानी उकडूं बैठकर अथवा खड़े होकर भी पी सकते हैं। वे आसन इस प्रकार हैं —

(१) ताड़ासन — आसन विज्ञान अध्याय के पृष्ठ संख्या ६७ में देखें।

(२) तिर्यक् ताडासन — आसन विज्ञान अध्याय के पृष्ठ संख्या ६८ में देखें।

(३) कटि चक्रासन — आसन विज्ञान अध्याय के पृष्ठ संख्या ६७ में देखें।

(४) तिर्यक् भुजंगासन — आसन विज्ञान अध्याय के पृष्ठ संख्या ११० में देखें।

(५) उदराकर्षणासन — आसन विज्ञान अध्याय के पृष्ठ संख्या ७४ में देखें।

आसन विज्ञान अध्याय में वर्णित विधि के अनुसार ही इनका अभ्यास करें। अन्न-नलिका में जठर एवं गुदाद्वार के बीच अनेक द्वार हैं जो इस नियंत्रित प्रदेश को केवल पाचन-क्रिया के समय खोलते एवं बन्द करते हैं, अतः शंख-प्रक्षालन क्रिया के समय उन्हें खोलने के लिए आसनों के अभ्यास से उनके स्नायु को शिथिल किया जाता है ताकि नमकीन जल आसानी से मार्ग को साफ करता हुआ गुदाद्वार की ओर जा सके।

प्रत्येक आसन की आठ आवृत्ति के साथ पांचों आसनों को करने के पश्चात् दो गिलास पानी पीकर पुनः उसी प्रकार से आसन करें। एक बार और ऐसे ही करें। अर्थात् तीन बार में इस प्रकार जब आप छः गिलास पानी पीकर आसनों को कर लें तब हाजत हो या न हो तो भी आप शौच के लिए जाएं। लेकिन वहां ज्यादा न बैठें, एक पिचकारी लगाने का प्रयास करके वापस लौट आएं। कब्ज को तोड़ने के लिए अन्य आसन जैसे — कौवाचाल, भुजंगासन, सर्पासन, पादोतानासन, पवनमुक्तासन, मकरासन आदि भी कर सकते हैं। आसनों को श्वास सहित भी किया जा सकता है। अब लगातार आप दो-दो गिलास पानी पीते जाइए और हर दो गिलास नमकीन पानी पीने के बाद उक्त प्रकार से आसनों का अभ्यास करें। शौच करने के लिए बल प्रयोग न करें और शौच लग जाए तो आसनों की आवृत्तियाँ पूरी होने तक न रुकिए। दूसरों के साथ अपनी तुलना न करें क्योंकि शरीर की मजबूती आदि प्रत्येक की अलग होती है। यह प्रक्रिया आप गुदा से साफ जल बाहर निकलने तक करें। सामान्यतः १६ से २५ गिलास तक पानी पीना पड़ेगा। अपवाद के रूप में देखा गया है कि किसी को तो ४० गिलास तक पानी पीना पड़ता है। ऐसी स्थिति में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।

सावधानी — ध्यान रखें यद्यपि आप थके रहेंगे तो भी शंख-प्रक्षालन के पश्चात् आप अवश्य कुंजल-क्रिया एवं जलनेति कर लें। कम-से-कम ४५ मिनट मौन रहकर लेटकर अथवा बैठे हुए आराम करें या योगनिद्रा का अभ्यास करें किन्तु निद्रा न करें। ४५ मिनट से १ घण्टे के बाद चावल और मूँग की दाल की अच्छी तरह से पकी हुई पतली खिचड़ी, जिसमें कम से कम ७५-१०० ग्राम घी पड़ा हो, का सेवन करें।

यह इसलिए आवश्यक है कि इस क्रिया से केवल मल-मूत्र बाहर नहीं हुए हैं अपितु प्राकृतिक आवश्यक एवं रक्षा करने वाली अन्न-नलिका की दीवार की कुछ तहों को भी हटा दिया गया है, घी रक्षाकवच का काम करता है जबकि चावल कार्बोज एवं दाल प्रोटीन प्रदान कर शक्ति देते हैं और सुपाच्य भी हैं। खिचड़ी खाने के पश्चात् तीन घंटे तक न सोएं। संध्या का भोजन भी घी युक्त चावल-मूँग दाल की खिचड़ी ही हो किन्तु पतली होनी आवश्यक नहीं। ध्यान रखें कम से कम एक हफ्ते तक संयमित भोजन करें और तीन दिन तक दूध-दही और उनसे बनी चीजें, मिर्च-मसाले, अचार, गरिष्ठ भोजन आदि का प्रयोग न करें। चाय, कॉफी, शराब, सिगरेट, पान-सुपारी, तम्बाकू आदि नशीले पदार्थ तथा रासायनिक विधि से तैयार भोजन-सामग्री, अंडा, मीट, माँस, मछली, अम्लीय अन्न, धरती में होने वाले आलू, अरबी आदि का सेवन एक सप्ताह तक अत्यन्त वर्जित है। अतः सरल, सुपाच्य, शुद्ध प्राकृतिक आहार लेना उचित है। कहने का तात्पर्य यह है कि पाचन प्रणाली में अधिक देर तक रुककर पचने वाले अन्न को ग्रहण न करें। एक सप्ताह तक कोई जबरदस्त शारीरिक परिश्रम न करें। कमजोर आंतों वाला व्यक्ति अथवा जिसकी आंतों में सूजन हो वह शंख-प्रक्षालन न करें।

लाभ — अनेक बीमारियों का कारण आंत में एकत्रित विषैले पदार्थ होते हैं जो खून को खराब कर देते हैं। इसका असर पूरे शरीर पर पड़ता है। शंख-प्रक्षालन द्वारा उन विषैले पदार्थों का निष्कासन होने से रक्त-शुद्धि द्वारा स्वास्थ्य में विलक्षण सुधार होता है। विशेषतः पाचन-संस्थान सम्बन्धी अनेकों रोग जैसे मधुमेह, उच्च अम्लीय अवस्था, दीर्घकालीन पेचिश, अजीर्ण, विषाक्त रक्त इत्यादि में उपयोगी है। स्वस्थ व्यक्ति भी इससे लाभ उठा सकता है क्योंकि इससे शरीर के हल्केपन, शुद्ध निर्मल मन, प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता के साथ पूर्ण स्फूर्ति मिलती है। आध्यात्मिक साधकों के लिए यह अति आवश्यक है। क्रियायोग, कुण्डलिनी योग, जपानुष्ठान इत्यादि उच्च साधना में लाभप्रद है।

अवधि — हर छः महीने में एक बार करना उचित होगा। मार्च-अप्रैल एवं सितम्बर—अक्टूबर में करना अति उत्तम है। योग्य योग शिक्षक के निर्देशन में करें तो अच्छा होगा।

लघु शंख-प्रक्षालन

पूर्ण शंख-प्रक्षालन में वर्णित विधि से केवल छः गिलास नमकीन जल तैयार कीजिए। प्रातःकाल बिना कुछ खाए करना चाहिए। पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही दो-दो गिलास पानी तीन बार क्रम से पिएं। प्रत्येक बार उक्त पांचों आसनों का अभ्यास करें। प्रत्येक आसन की आठ-आठ आवृत्तियां करें।

रोगी इसे उचित निर्देशन में प्रतिदिन कर सकता है अन्यथा सप्ताह में एक या दो बार करना पर्याप्त होगा। भोजन एवं अन्य कार्यों में पूर्वोक्त नियन्त्रण व सावधानी की जरूरत नहीं है किन्तु क्रिया की समाप्ति के कम से कम एक घंटे बाद ही खाना-पीना चाहिए। निर्देशक के अभाव में स्वस्थ व्यक्ति इस क्रिया को सप्ताह में एक बार करते रहें तो उक्त लाभ प्राप्त कर सकता है।

जठर या आमाशय में घाव रहने वाले अर्थात् अल्सर के रोगी इसे न करें। उच्च रक्तचाप के रोगी बिना नमक डाले सादे हल्के गरम पानी से कर सकते हैं।

पूर्ण शंख-प्रक्षालन में कहे लाभों के अतिरिक्त वृक्क के स्पर्श-दोष एवं पथरी में लाभदायक है। मूत्र अर्थात् विसर्जन प्रणाली के लिये अत्यन्त उपकारी है।

(१०) मूल-धौति

यह क्रिया अन्न-नलिका के अन्तिम छोर गुदा क्षेत्र के शोधन के लिए है। इस क्रिया में हल्दी की नर्म जड़ को गुदाद्वार में धीरे-धीरे भीतर किया जाता है, धीरे से दो-तीन बार भीतर घुमाकर निकाला जाता है। जड़ की अनुपलब्धता पर मध्यमा या तर्जनी अंगुली का प्रयोग किया जाता है। सुविधा के लिए जड़ व अंगुली में सरसों का तेल लगाया जा सकता है।

गुदा क्षेत्र की सफाई के साथ स्पर्श-दोष का निवारण, कड़े मल के सहज निष्कासन द्वारा रक्त शुद्धि तथा अपान वायु ठीक कार्य करने लगती है। बवासीर और भगन्दर जैसे रोग कभी नहीं होते।

(११) वातसार धौति

मुँह से वायु पीकर जठर को नवजीवन प्रदान करने की विधि को वातसार-धौति कहते हैं। भुजंगिनी मुद्रा में भी यही क्रिया की जाती है। इस क्रिया में मुँह पूरा खोलकर मुँह से वायु पीकर, पेट में कुछ देर तक हवा को घुमाया जाता है, उसके बाद धीरे-धीरे जम्हाई लेते हुए वायु का निकास किया जाता है। इस अभ्यास से अनेकों उदर रोग दूर होते हैं।

(१२) वह्निसार धौति या अग्निसार क्रिया

यह क्रिया जठराग्नि को उद्दीप्त करने के लिए है। इस क्रिया को करने के लिए वज्रासन में बैठ जाएं। नेत्रों को हल्का अथवा पूरा बन्द रखें ताकि पलकों पर दबाव न पड़े। दोनों हाथों को घुटनों के सहारे रखकर सामने की ओर पीठ सीधा रखते हुए झुकिए। मुँह खोलिए और जिह्वा को पूर्णरूपेण बाहर कीजिए (हाथ सीधे रखें)।

अब उदर का विस्तार एवं संकुचन करते हुए तीव्र गति से श्वास-प्रश्वास क्रिया कीजिए (कुत्ते के समान)। श्वसन क्रिया की गति समकालीन होनी चाहिए। कम से कम २०-२५ बार श्वसन-क्रिया करें। कुछ देर विश्राम लेकर फिर करें (इस प्रकार तीन आवृत्ति करें)। खाली पेट, खाने के आधा घण्टा पूर्व अथवा भोजन के चार घंटे बाद इस क्रिया का अभ्यास कर सकते हैं। मूलबन्ध के साथ करें तो अधिक लाभ होगा। उच्च रक्तचाप, हृदय तथा अल्सर के रोगी इस क्रिया को न करें। यकृत की न्यून कार्य-क्षमता, वायु, अजीर्ण, मन्दाग्नि एवं अन्य उदर तथा जठर रोगों के लिए यह रामबाण है।

नौलि

उदरस्थ अंगों की मालिश तथा उन्हें बल प्रदान करने की यह शक्तिशाली विधि है। इससे पेट के सभी अंगों का सुचारु रूप से संचालन होगा। फलस्वरूप नीरोगता और शरीर की सर्वतो अभिवृद्धि सम्यक् प्रकार से होगी।

सावधानी — तीनों बन्ध (जालंधर, उड्डियान और मूल) का अभ्यास परिपक्व होने पर विशेषतः बाह्य कुंभक में कुछ देर तक ठहरने का अभ्यास होने पर ही इस क्रिया को करना चाहिए। इसके प्रारम्भिक अभ्यास के पहले अग्निसार और उड्डियान बन्ध का अभ्यास पूर्ण- रूप से कर लें। योग शिक्षक के निर्देशन में सीखना व करना अच्छा होगा। भोजन के तीन या चार घंटे के बाद करना उचित होगा।

विधि — नौलि के तीन भेद हैं — मध्य, वाम और दक्षिण। इसका अभ्यास पांच चरणों में किया जाता है।

प्रथम चरण — पद्मासन, वज्रासन अथवा खड़े होकर अग्निसार क्रिया एवं उड्डियान बन्ध का अभ्यास करें।

द्वितीय चरण — आरम्भिक अभ्यासी को खड़े होकर करना सरल होगा। पैरों में डेढ़ फुट का अन्तर रखकर खड़े होकर दोनों हाथों को जंघाओं पर रखें, श्वास को बाहर निकालकर उड्डियान तथा जालन्धर बन्ध लगाएं। हथेलियों से दबाव डालते हुए जंघा के साथ ऊपर से नीचे की ओर खिसकाते हुए घुटनों तक ले जाएं । पेट को ढीला छोड़ते हुए (श्वास न लें) गुदा के समीपस्थ उदर स्नायुओं को संकुचित कर अर्थात् मूलबन्ध का अभ्यास धीरे से करें, क्रमशः
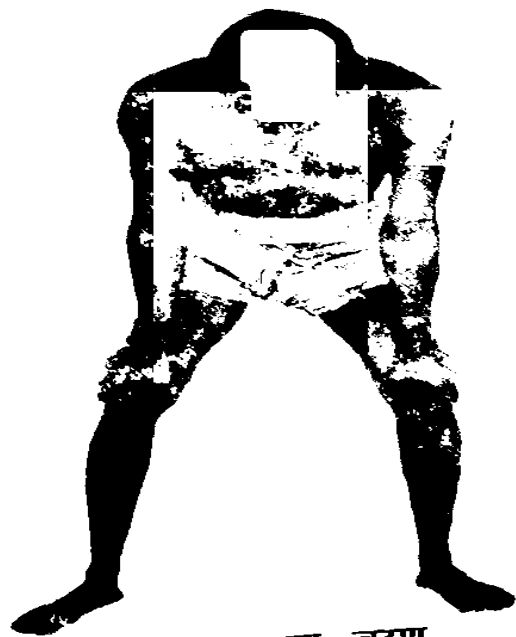
नौलि - प्रथम चरण

उदर केन्द्र तक ले आइए। इस प्रकार उदर स्नायुओं को संकुचित कर मध्य भाग में एकत्रित करना ही **मध्य** अथवा **मध्यम**-नौलि कहा जाता है। इसमें दक्ष होने के पश्चात् अगले चरण का अभ्यास करें।

नौलि - द्वितीय चरण

तृतीय चरण — द्वितीय चरण का अभ्यास कर, उसी स्थिति में रहकर अब आप बाएं हाथ को घुटने पर रहने दें और दाएं हाथ को जांघ के साथ खिसकाते हुए ऊपर लाइए। आपका शरीर अपने आप थोड़ा बांयी ओर झुकेगा। ऐसी स्थिति में थोड़ा प्रयास कर उदर स्नायुओं को बायीं ओर ले आइए। यद्यपि अपने आप कुछ बायीं ओर झुकाव की स्थिति में स्नायु जाएंगी ही तथापि मन से विशेष प्रयास करने पर पूर्णरूपेण बाईं ओर जाएंगी। यही **वाम-नौलि** है।
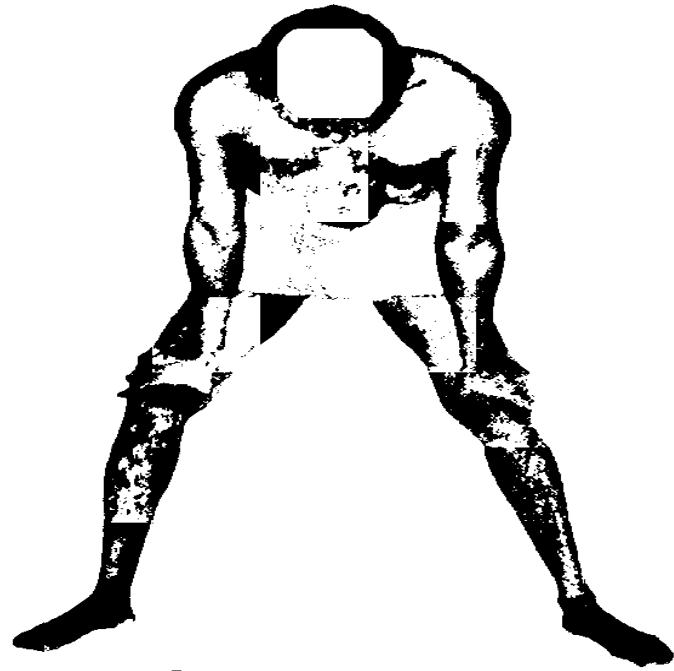
चतुर्थ चरण — तृतीय चरण करने के पश्चात् पुनः आप द्वितीय चरण की अवस्था में लौटिए। अब आप दायां हाथ घुटने पर रहने दें और बाएं हाथ को जांघ के साथ खिसकाते हुए ऊपर लाइए। आपका शरीर अपने आप दाईं ओर झुकेगा। इस स्थिति में थोड़ा प्रयास कर उदर स्नायुओं को दाईं ओर ले आइए। यद्यपि अपने आप स्नायु दाईं ओर झुकाव की स्थिति में जाएंगी तथापि मन से विशेष प्रयास करने पर पूर्णरूपेण जाएंगी। यही **दक्षिण-नौलि** है।

नौलि - तृतीय चरण

पंचम चरण — इस चरण में उक्त तीनों क्रियाओं अर्थात् मध्यम, वाम और दक्षिण नौलियों को क्रम से किया जाता है। मध्यम नौलि की अवस्था से वाम-नौलि, वाम-नौलि से मध्य-नौलि, मध्य-नौलि से दक्षिण-नौलि और वापस मध्य-नौलि। इसके अभ्यास के बाद सीधे मध्यम-नौलि, वाम और दक्षिण-नौलि करें। इसके लिए हाथों को लगातार ऊपर-नीचे खिसकाएं।

अन्तिम अवस्था में हाथ ऊपर-नीचे खिसकाएं। मध्य-नौलि की अवस्था में ही एक समान धीमी गति में स्नायुओं को घुमाना शुरू करें बाएं, दाएं और मध्य की ओर। धीरे-धीरे गति को तीव्र करें।

प्रत्येक चरण को प्रत्येक आवृत्ति के अभ्यास के अन्त में स्नायुओं को पूर्णरूपेण शिथिल करके पूरक कीजिए एवं कुछ क्षण तक श्वसन-क्रिया का अभ्यास स्वाभाविक रूप से होने दें। प्रत्येक चरण की तीन आवृत्ति क्षमतानुसार करें।

उदर के समस्त रोगों को दूर करता है और प्रजनन शक्ति को बढ़ाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से मणिपूर चक्र के जागरण में सहयोग देता है। इस क्रिया को उच्च रक्तचाप, अल्सर, हर्निया या अन्य पाचन-संस्थान सम्बन्धी गंभीर रोग वाले को नहीं करना चाहिए। इस क्रिया की विशेषता यह है कि यह वात-पित्त-कफ की विषमता अर्थात् त्रिदोष को दूर करती है। आंतों में चिपका हुआ मल उखड़ता है और कब्ज़ टूटता है। समान एवं अपान वायु को संतुलित करता है। इससे अनेकों पाचन-संस्थान सम्बन्धी, विसर्जन प्रणाली सम्बन्धी तथा श्वसन प्रणाली सम्बन्धी रोग भी दूर होते हैं।

बस्ति

यह क्रिया बड़ी आंत की सफाई एवं उसमें शक्ति-वृद्धि के लिए है। इस क्रिया को दो प्रकार से किया जाता है — (१) जल-बस्ति (२) स्थल-बस्ति। जल-बस्ति को भी दो प्रकार से किया जाता है — (क) स्वाभाविक और (ख) ऐनेमिक अर्थात् एनिमा की सहायता से।

(१) जलबस्ति

(क) स्वाभाविक — नाभि तक पानी में खड़े हो जाइए। इसके लिए नदी अच्छा स्थान है। सामने झुककर घुटनों पर हाथ रखिए। गुदाद्वार के संकोचक स्नायुओं का विकास कीजिए साथ ही उड्डियान बन्ध लगाकर नौलि-क्रिया इस प्रकार करें ताकि पानी ऊपर को चढ़े। अब मूल-बन्ध लगाकर आंत में कुछ समय तक पानी को रोकिए, तत्पश्चात् गुदा से पानी को बाहर निकालें। इस क्रिया के दौरान अश्विनी मुद्रा का अभ्यास करें।

जो इस प्रकार न कर सकें वे एक छः इन्च लम्बी नली जिसका एक छोर चौड़ा हो और दूसरा पतला, अर्थात् एक छोर अनामिका घुमाने लायक और दूसरा कनिष्ठा अंगुली को घुमाने लायक। इस नली को तीन-चार इन्च गुदा से भीतर प्रवेश कराएं। शेष क्रिया पूर्ववत् करें।

(ख) ऐनेमिक — जो उक्त दोनों प्रकार से बस्ति न कर पाएं वे एनिमा का प्रयोग कर सकते हैं। यह एक आधुनिक सरल उपाय है। इसके लिए एक विशेष पात्र होता है जिसमें आप करीब आधा लीटर ताजा पानी भर लें और ऊँचाई पर रख दें। उस पात्र से निकली नली की नोजल को आप पीठ के बल लेटकर गुदा में लगा लें, पानी खोल दें। पूरा पानी अन्दर जाने के बाद नोजल बाहर निकालकर, मूलबंध लगा लें। दोनों हाथों से पेट की मालिश करें। तत्पश्चात् दाईं ओर करवट लेकर पेट को पिचकाएं। इस प्रकार क्रिया करते हुए पानी को दो-तीन मिनट भीतर रखने के बाद शौच जाएं और पानी को निकालें।

(२) स्थल-बस्ति

पूर्ण पश्चिमोत्तानासन की स्थिति में गुदाद्वार से आंतों में पच्चीस बार वायु खींचते हुए अश्विनी मुद्रा कीजिए। कुछ देर वायु को रोकिए। पुनः गुदाद्वार से उसको छोड़ें।

योग शिक्षक के निर्देशन में ही बस्ति-क्रिया का अभ्यास करें। प्रातः शौच जाने के पश्चात् करना उचित है। किसी प्रकार की कठिनाई हो तो नली, नोजल व गुदाद्वार में सरसों का तेल लगा सकते हैं।

लाभ — इस क्रिया से अन्तड़ियों का शोधन, अपान वायु की शुद्धि, गुदा क्षेत्र में उत्पन्न गर्मी से होने वाले अनेकों रोगों की निवृत्ति, फलतः रक्तशुद्धि होकर मन्दाग्नि दूर होती है। पेट का मोटापा घटता है। पित्त का निकास होता है, शारीरिक ताप में संतुलन होता है।

कपालभाति

मस्तिष्क के अग्र भाग की शुद्धि के लिए तीन क्रियाओं की सरल पद्धति को कपालभाति कहते हैं। वे हैं शीतक्रम, व्युत्क्रम और वातक्रम।

(१) शीतक्रम कपालभाति

इसमें मुँह से जल पीकर नासिका से जल को निष्कासित किया जाता है।

(२) व्युत्क्रम कपालभाति

इसमें नासिका से जल को भीतर खींचकर उसे मुँह से निकाला जाता है।

उक्त दोनों प्रकार की कपालभाति से जलनेति के करने पर होने वाले समस्त लाभ अधिक प्रभावशाली ढंग से प्राप्त किए जा सकते हैं।

(३) वातक्रम कपालभाति

इसका विचार विस्तृत रूप से इसी प्रथम प्रकरण के चौथे अध्याय प्राणायाम विज्ञान में किया जाएगा।

त्राटक

किसी वस्तु पर गहन एकाग्रता की क्रिया त्राटक है। इससे बुद्धि विकसित होती है और नेत्रों को भी शक्ति प्रदान होती है। त्राटक-क्रिया में व्यक्ति में निहित सुषुप्त आत्मिक शक्तियों का विकास होता है। इस क्रिया की अनेक विधियां हैं जिनकी चर्चा हम चित्त-शुद्धि प्रकरण के चौथे अध्याय त्राटक-विज्ञान में करेंगे।

अध्याय ३

आसन विज्ञान

प्रस्तावना

पातञ्जल योगसूत्र में महर्षि पतञ्जलि —

स्थिरं सुखं आसनं।
(२/४६)

इस सूत्र में आसन के लक्षण बताए हैं। अर्थात् स्थिरता एवं सुखानुभूति आसन है। तात्पर्य है समस्त अंगों को एक विशेष आकार में स्थित करना जिससे विभिन्न संस्थानों (पाचनादि) को लाभ पहुंचाते हुए सुख की अनुभूति हो।

इस संसार में ८४ लाख योनि हैं। उनके आराम करने की स्थिति का अनुकरण करने पर मनुष्य ८४ लाख आसनों को कर सकता है। लेकिन उनमें से प्रमुख ८४ आसन हैं। योगी याज्ञवल्क्य केवल आठ आसनों को मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति के लिए पर्याप्त मानते हैं। वे हैं — स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त और मयूर।

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का परस्पर समन्वय करना ही आसनों का मुख्य उद्देश्य है। अतः आसन का प्रथम रूप स्थिरता स्थूल शरीर से सम्बद्ध है और तन-मन का तालमेलपूर्वक सुखानुभूति सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध है। आसन मनुष्य को सबल, स्वस्थ, प्रसन्न, सक्रिय एवं शक्ति का संचय करने योग्य बनाता है।

योगाभ्यास और व्यायाम में बहुत अन्तर है। जैसे —

व्यायाम से	आसन से
१. केवल स्थूल शरीर पर प्रभाव पड़ता है।	१. स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर पर प्रभाव पड़ता है।
२. प्राणशक्ति का ह्रास होता है।	२. प्राणशक्ति का संचय होता है।
३. बुढ़ापे में रोग का कारण होता है।	३. सदा आरोग्य प्रदान करता है।
४. अप्राकृतिक दबाव के कारण शरीर में कड़ापन आता है।	४. शरीर लचीला और सुडौल होता है।
५. ग्रन्थियाँ समान रूप से प्रभावित नहीं होतीं।	५. ग्रन्थियों पर समान प्रभाव के कारण वे संतुलित रहती हैं।
६. विजातीय द्रव्यों का निष्कासन पूर्ण रूप से नहीं होता।	६. विजातीय द्रव्यों का पूर्ण रूप से निष्कासन होता है।
७. श्वसन-क्रिया अनियन्त्रित होती है।	७. श्वसन-क्रिया नियन्त्रित होने से फेफड़े आदि मजबूत होते हैं।
८. शरीर का विकास बेढंगा होता है।	८. शरीर का सुनियोजित ढंग से सर्वांगीण विकास होता है।
९. ब्रह्मचर्य अनियन्त्रित होता है।	९. ब्रह्मचर्य पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है।
१०. रोगों का निदान नहीं।	१०. रोगों का निदान है।
११. रक्त-संचार में विषमता के कारण विभिन्न संस्थानों में परस्पर संतुलन नहीं रहता है।	११. रक्त-संचार में समता के कारण सभी संस्थानों में परस्पर संतुलन बना रहता है।
१२. केवल मांसपेशियां प्रभावित होती हैं।	१२. सूक्ष्म अन्तरंग अंग भी प्रभावित होते हैं।
१३. बुद्धि मन्द होती है।	१३. बुद्धि का विकास होता है।
१४. व्यावहारिक निर्णय करने में भी अक्षम हो जाता है।	१४. सकल प्रकार के निर्णय आदि करने में सक्षम होता है।
१५. थकान होती है।	१५. आराम, स्फूर्ति एवं हल्कापन आता है।

→

१६. अधिक समय एवं प्राणशक्ति खर्च होती है।	१६. अल्प समय में अधिक लाभ और प्राण-शक्ति का संचय होता है।
१७. विशाल जगह, खुली हवा, व्यायाम के सामान आदि की जरूरत पड़ती है।	१७. थोड़ी जगह, कमरे के भीतर एवं अल्प सामान से कर सकते हैं।
१८. आबालवृद्ध सभी नहीं कर सकते।	१८. सभी कर सकते हैं।
१६. यात्रा आदि में नहीं कर सकते।	१६. हर स्थिति में किया जा सकता है।
२०. सुदृढ़ स्वच्छ समाज के गठन में उपयोगी नहीं।	२०. मन बुद्धि पर प्रभाव डालकर परिवर्तन लाकर समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

इतना ही नहीं, योगाभ्यास से स्वास्थ्य लाभ, कार्य करने की क्षमता, नीरोगता, सात्विक वृत्ति, सन्तुलित व सरल जीवन, भेद-भाव रहित भावना, सजग मस्तिष्क, एकाग्रता, तनाव रहित मन, सहिष्णुता, विवेक, स्फूर्ति, सन्तुलित काय-मन के कारण सुख, शान्ति, उत्साह, धैर्य, निर्मलता आदि अनमोल रत्न अनायास प्राप्त हो जाते हैं। अतः व्यायाम की अपेक्षा सर्वांगीण विकास के लिये योगाभ्यास श्रेष्ठ है।

योगाभ्यासी की दृष्टि से योगासनों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है — प्रारम्भिक, मध्यम और उच्च। अथवा अभ्यास की दृष्टि से योगासनों को 7 भागों में विभक्त कर सकते हैं —

(क) — प्रारम्भिक अभ्यास

(ख) — ध्यान के आसन

(ग) — बैठकर किए जाने वाले आसन

(घ) — खड़े होकर किए जाने वाले आसन

(ङ) — पेट के बल किए जाने वाले आसन

(च) — पीठ के बल किए जाने वाले आसन

(छ) — सिर के बल किए जाने वाले आसन

योगाभ्यास में सावधानियाँ

योगाभ्यास शुरू करने से पहले निम्न कुछ बातों का ध्यान रखें।

(१) पेट खाली

सर्वप्रथम आसनों को आरम्भ करने से पहले मूत्राशय एवं आंतों को खाली कर लेना चाहिए। बिना जोर लगाए एवं बिना औषधि, एनिमा आदि प्रयोग किए स्वाभाविक ढंग से शौच आदि क्रिया एवं स्नान से निपट लेना चाहिए। अतः प्रातःकाल आसनों का अभ्यास करें अथवा भोजन लेने के तीन-चार घण्टे के बाद करें। धूप-स्नान के एक घण्टे बाद आसनों को करना चाहिए।

(२) श्वास

आसनों के अभ्यास काल में नाक से ही श्वास लेना चाहिए। जिन आसनों में जैसे विशेष निर्देश हैं, उनमें वैसे करें।

(३) कम्बल

चार पर्तों में मोड़कर कम्बल बिछाकर, उस पर करें। अधिक मुलायम अथवा हवा भरी बिछावन पर न करें।

(४) स्थान

स्वच्छ हवायुक्त कमरे में करें। तेज हवा, सर्दी, धुआँ मिश्रित, बदबूदार, दूषित, सीलनयुक्त, गन्दी हवायुक्त आदि विषम कमरे में न करें। बिजली का पंखा चलाकर उसके नीचे न करें।

(५) शरीर

अभ्यास काल में शरीर एवं मन तनावरहित हो। शान्त होकर धीमी गति से, बिना जोर लगाए अभ्यास करें। शुरू में कड़क मांसपेशियों के कारण ठीक से न होने पर भी निराश न हों और जोर-जबरदस्ती भी न करें। अभ्यास यथासम्भव जारी रखें। धीरे-धीरे सफल होंगे।

(६) सीमा

प्रत्येक आसन की सीमायें निर्धारित हैं जिसका निर्देश विधि के साथ किया गया है।

दीर्घकालीन व स्थायी रोगों से पीड़ित लोग योग्य योग शिक्षक की देख-रेख में व सलाह से ही करें।

(७) चेतना

योगासन व्यायाम नहीं है, इसलिए अभ्यास काल में पूरे शरीर के प्रति सचेत रहें। यदि किसी भाग में दर्द व विपरीत भावना हो अर्थात् प्रतिकूलता महसूस हो तो तुरन्त अभ्यास को बन्द करके विशेषज्ञ से सलाह लें।

(८) वस्त्र

ढीले, हल्के व आरामदायक हों। चश्मा, घड़ी, आभूषण उतारकर अभ्यास करें।

प्रारम्भिक अभ्यास

आसनों के अभ्यास के लिए प्रमुखतः वात और गठिया से रहित शरीर होना आवश्यक है। अतः प्रारम्भिक अभ्यास में रोगी एवं अयोग्य शरीर को योग्य बनाने के लिए **पवनमुक्तासन** और **शक्तिबन्ध आसन** नाम से अनेकों अभ्यासों का समूह रखा गया है। पवन = वायु, मुक्त = छुटकारा, आसन = शरीर की विशेष स्थिति। अर्थात् वायु से उत्पन्न योग के बाधकों से छुटकारा पाने के लिए योगाभ्यास।

यद्यपि नाम के अनुसार वायु का नियन्त्रक है तथापि वास्तव में यह अंभ्यास वात, पित्त और कफ तीनों को संयमित करता है।

पवनमुक्तासन को तीन प्रमुख समूहों में विभक्त किया गया है। **गठिया निरोधक, वात निरोधक और दृष्टिवर्धक**। इन तीनों में से प्रथम समूह गठिया निरोधक अभ्यास को पुनः तीन भागों में विभक्त किया गया है — **पादपवनमुक्तासन, हस्तपवनमुक्तासन** और **शिरःपवनमुक्तासन**। सर्वप्रथम दो मिनट के लिए शवासन का अभ्यास करें। तनावरहित शारीरिक व मानसिक स्थिति के लिये यह शिथिलीकरण आवश्यक है।

पवनमुक्तासन (गठिया निरोधक अभ्यास) — पादपवनमुक्तासन

(१) **पैरों की अंगुलियां मोड़ना** — अपने पैरों को शरीर के सामने सीधे फैलाकर बैठ जाएं। अपने हाथों के सहारे थोड़ा पीछे की ओर झुकिए। हाथ सीधे रखिए, कोहनियों को मोड़ना नहीं। अब पैरों की अंगुलियों पर दृष्टि रखते हुए उनके प्रति जागरूक होइए। श्वास लेते हुए केवल अंगुलियों को यथासम्भव नीचे की ओर मोड़िए और श्वास छोड़ते हुए सीधा कीजिए। इस प्रकार दस बार कीजिए। ध्यान रखें पैर को उठाना नहीं, कड़ा रखते हुए अभ्यास करना है। पहले प्रत्येक पैर की अंगुलियों पर पृथक् अभ्यास करके फिर दोनों पैर की अंगुलियों का एक साथ अभ्यास करें।

पैरों की अंगुलियां मोड़ना

*(२) **पैरों के टखने मोड़ना** — अभ्यास एक की स्थिति में बैठे हुए पूर्ववत् श्वास लेते हुए टखनों को जोड़ों से सामने व नीचे की ओर झुकाते हुए दोनों पंजों को जितना सम्भव हो उतना मोड़िए और श्वास छोड़ते हुए सीधा कीजिए। यह अभ्यास दस बार दोहराइए। इसे भी आप प्रत्येक पैर के लिए पृथक् अभ्यास करने के पश्चात् दोनों पैर के लिए एक साथ कर सकते हैं।*

पैरों के टखने मोड़ना
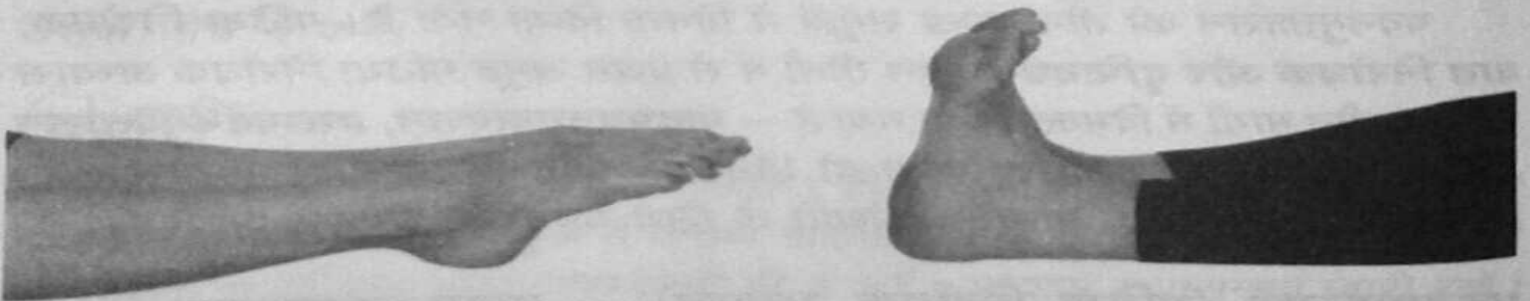
*(३) **टखने को वृत्ताकार घुमाना** — अभ्यास एक की आरम्भिक स्थिति में बैठे हुए पैरों के बीच में कुछ फासला छोड़िए। एड़ी को जमीन पर रखे हुए दाहिने पंजे को दायीं ओर वृत्ताकार घुमाते हुए सामने लाकर फिर बायीं ओर से वृत्ताकार घुमाकर वापस सीधा रखें।*
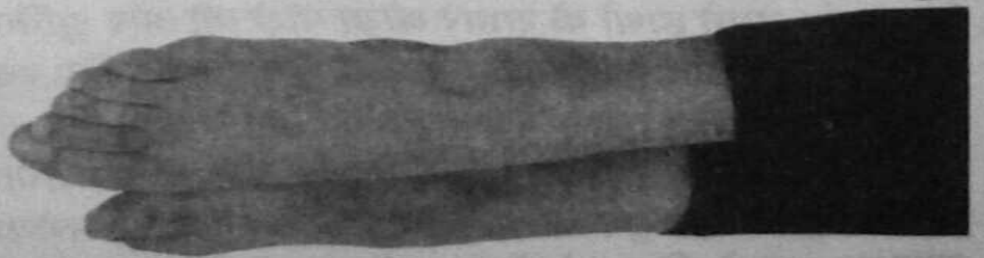
टखने को वृत्ताकार घुमाना

दस बार दुहराइए। पुनः विपरीत दिशा में घुमाइए। इस अभ्यास को बाएं पंजे से कीजिए। फिर दोनों पंजों को एक साथ घुमाइए। श्वास स्वाभाविक रहे।

(४) **टखने को उसकी धुरी पर घुमाना** — अभ्यास एक की मूल स्थिति में बैठिए। दाहिने टखने को बायीं जांघ पर रखिए। बाएं हाथ की सहायता से दाहिने पंजे को पहले दायीं ओर से फिर

टखने को उसकी धुरी पर घुमाना
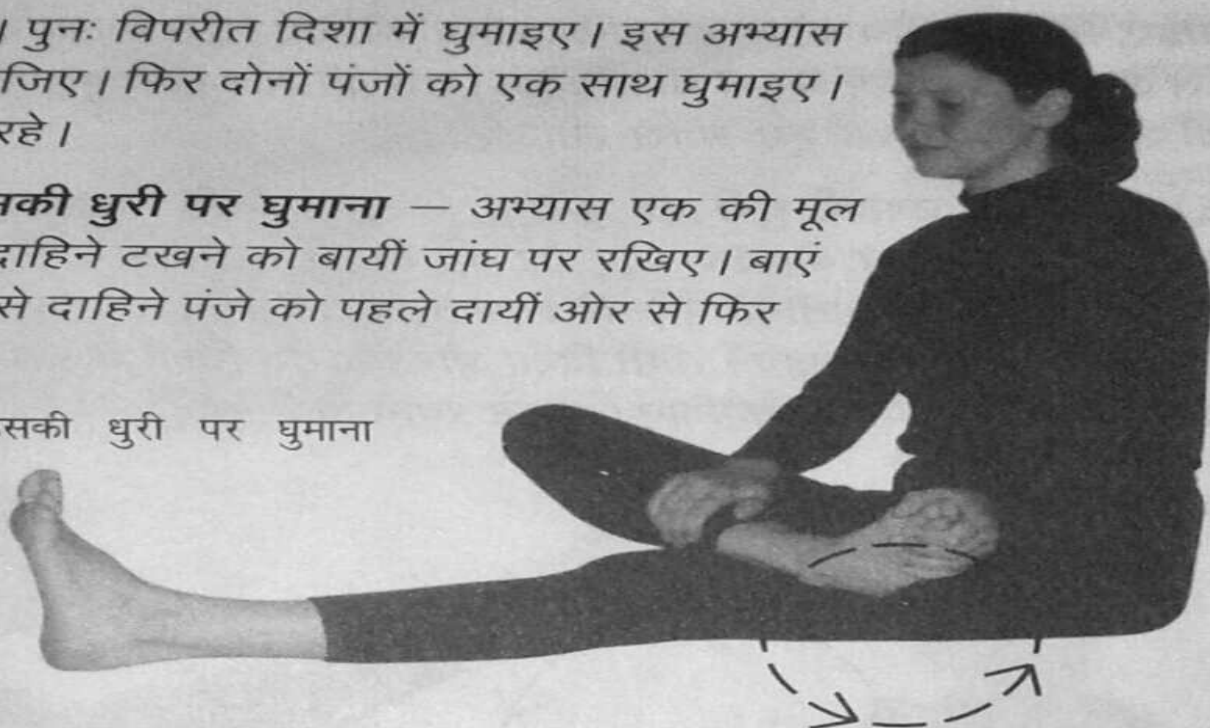
बायीं ओर से वृत्ताकार घुमाइए। दोनों दिशाओं में दस-दस बार दोहराइए। इसी प्रकार बाएं पंजे से कीजिए। श्वास स्वाभाविक रहे।

(५) **घुटने को मोड़ना** — अभ्यास एक की मूल स्थिति में बैठिए। दाहिने पैर को घुटने से मोड़ते हुए जमीन से थोड़ा ऊपर उठाइए। दोनों हाथों को दाहिनी जांघ के नीचे बांध लीजिए। अब एड़ी को बिना जमीन से स्पर्श किए दाहिने पैर को सीधा कीजिए। फिर दाहिने पैर के घुटने से मोड़ते हुए एड़ी को दाहिने नितम्ब के पास

घुटने को मोड़ना
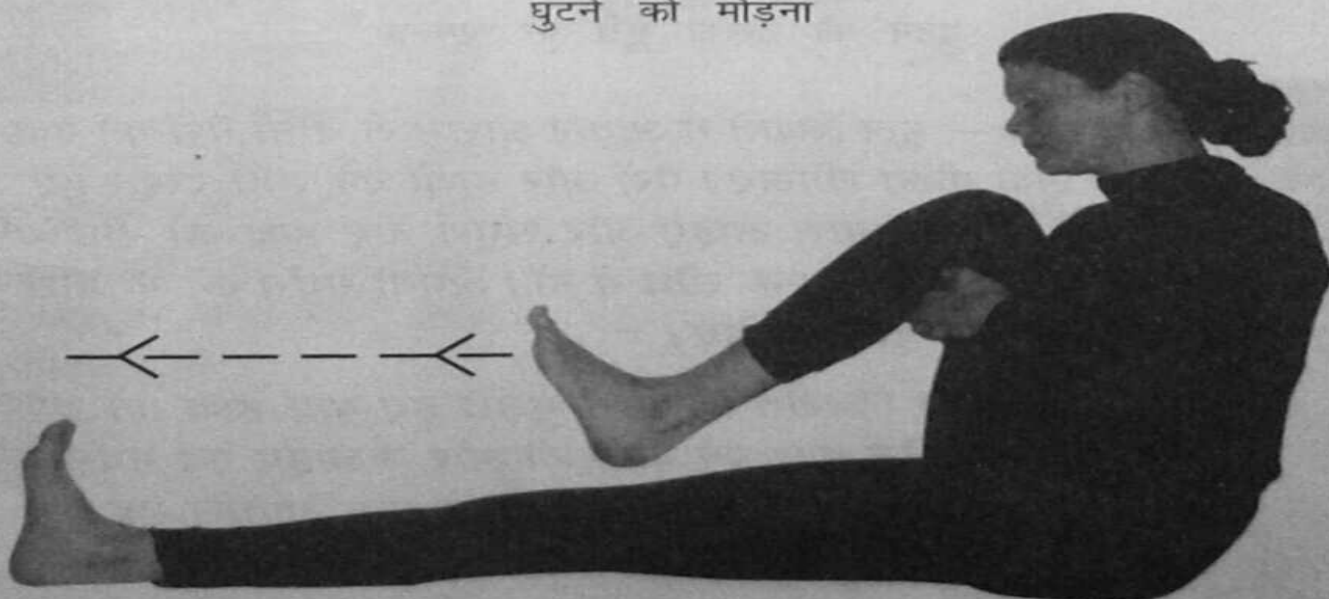
लाइए, किन्तु जमीन को न छुएं। फिर सीधा कीजिए। इस प्रकार दस बार दोहराइए। इस अभ्यास को बाएं पैर से भी कीजिए। धड़ की ओर लाते हुए श्वास छोड़ें व सामने की ओर सीधा करते हुए श्वास लीजिए।

(६) **घुटने को उसकी धुरी पर घुमाना** — मूल स्थिति में आइए। दोनों हाथों को बायीं जांघ के नीचे बांधकर, बाएं पैर को मोड़ते हुए जमीन से थोड़ा ऊपर रखते हुए धड़ के सामने छाती के पास स्थिर पकड़कर रखिए। अब पैर के घुटने के निचले भाग को वृत्ताकार घुमाइए। सीधी दिशा और विपरीत दिशा में दस-दस बार घुमाइए। यही क्रिया दाएं पैर से कीजिए। श्वास स्वाभाविक रहे।
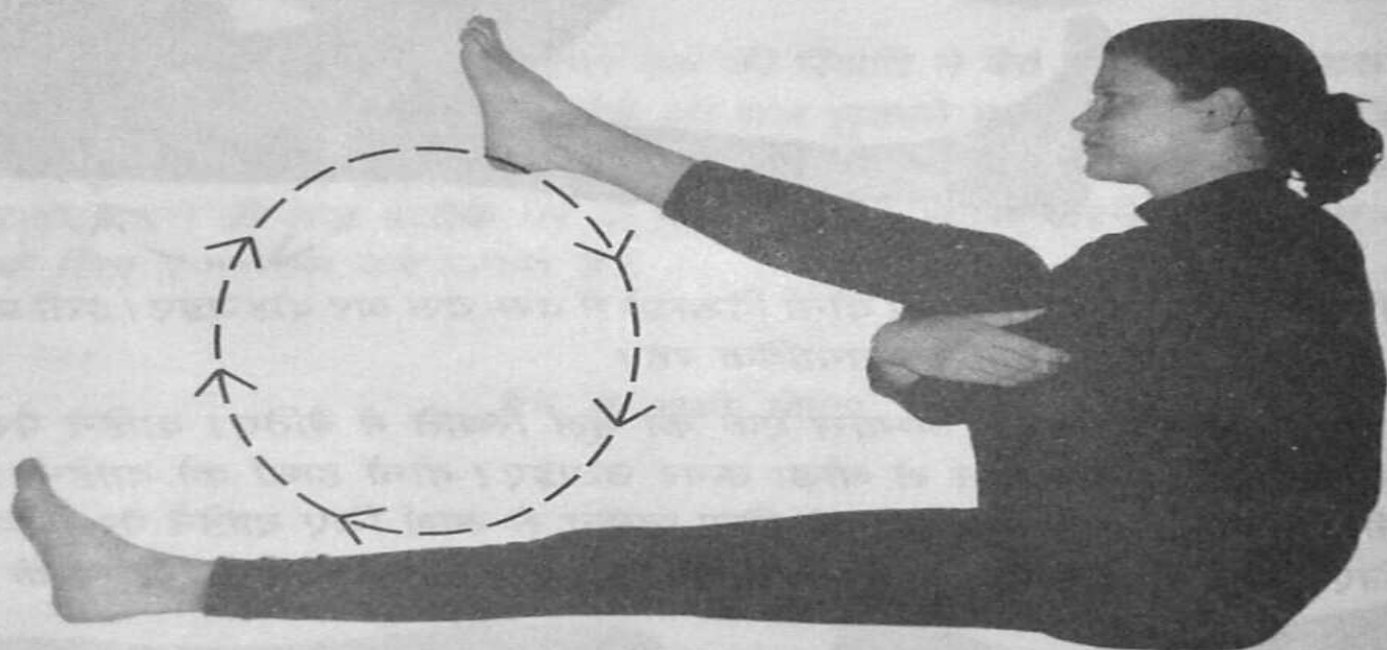
घुटने को उसकी धुरी पर घुमाना

(७) **मेरुदण्ड को घुमाना** — मूल स्थिति में आकर आराम से दोनों पैरों को एक-दूसरे से जितने दूर फैला सकें फैला लीजिए। पैरों और हाथों को सीधे रखते हुए दाहिने हाथ को बाएं पैर के अंगूठे के पास लाइए और संपूर्ण बाएं हाथ को पीछे की ओर फैलाइए, इस तरह कि दोनों हाथ एक सीध में हों। अपनी गर्दन को भी पीछे मोड़ते हुए बाएं हाथ के अंगूठे पर दृष्टि रखिए।

कुछ क्षण रुककर, फिर विपरीत दिशा में मुड़ते हुए बाएं हाथ को दाहिने पैर के अंगूठे के पास लाकर दाहिने हाथ को पीछे की ओर फैलाइए एवं गर्दन को पीछे मोड़ते हुए दाहिने हाथ के अंगूठे पर दृष्टि रखें। यह एक आवृत्ति हुई।

मेरुदण्ड को घुमाना

इसी प्रकार दस आवृत्तियां करें। आरम्भ में धीरे-धीरे करें, क्रमशः तीव्र गति से किया जा सकता है। श्वास स्वाभाविक रहे।

(८) **अर्ध तितली** — दाएं पैर को मोड़िए और उसके तलवे को बायीं जांघ पर रखिए। बाएं हाथ से दाहिने पंजे को पकड़िए और दाहिने हाथ से घुटने को पकड़ें। मुड़े हुए दाएं पैर की मांसपेशियों को पूरा ढीला रखते हुए दाएं हाथ से दाहिने घुटने को पकड़े हुए मुड़े पैर को ऊपर-नीचे कीजिए। ऊपर उठाते वक्त श्वास छोड़ते हुए छाती तक लाएं। नीचे ले जाते वक्त श्वास लेते हुए जमीन तक ले जाएं। दस बार दुहराइए। इस क्रिया को बाएं पैर से भी कीजिए।

अर्ध तितली

(९) **घुटने को घुमाना** — पूर्व अभ्यास की स्थिति में रहते हुए अब बाएं हाथ से दाहिने पैर की अंगुलियों को पकड़िए और दाहिने घुटने को वृत्ताकार घुमाइए। धीरे-धीरे वृत्त को बड़ा कीजिए। दोनों ओर से दस-दस बार घुमाइए। यही क्रिया बाएं घुटने से भी करें।

घुटने को घुमाना
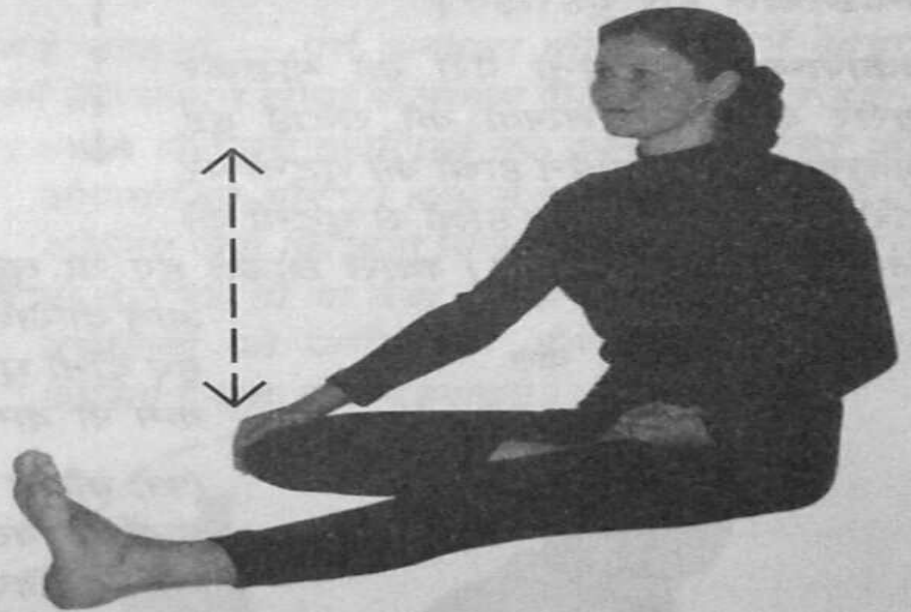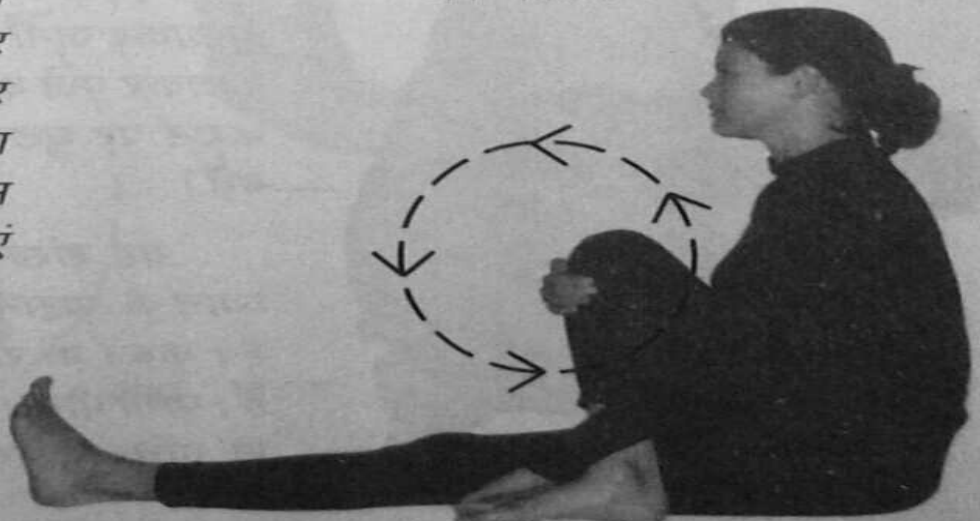
(१०) **पूर्ण तितली** — मूल स्थिति में बैठिए। दोनों पैरों को धड़ के पास समेटकर पैरों के तलवे को एक साथ सटा दीजिए। यथासम्भव एड़ियों को शरीर से सटाइए। दोनों हाथों की अंगुलियों को एक-दूसरे में बाँधकर पंजों को पकड़िए। अब कोहनियों से घुटनों को भी जमीन की ओर दबाइए। घुटनों को दबाते हुए एवं श्वास छोड़ते हुए शरीर को आगे झुकाइए और मस्तक से भूमि को स्पर्श कीजिए। पन्द्रह-बीस बार दुहराइए।

पूर्ण तितली

प्रकारान्तर — दोनों पैरों को मोड़कर शरीर के सामने तलवों को सटाई हुई अवस्था में आप अपने हाथों को घुटनों पर रखिए। श्वास लेते हुए हाथों से घुटनों को जमीन की ओर दबाइए। श्वास छोड़ते हुए या घुटनों को स्वयं उछलते हुए ऊपर आने दीजिए अथवा स्वयं हाथों से ऊपर उठाते हुए दोनों घुटनों को जोड़ने की कोशिश करें। कम से कम पन्द्रह बार दुहराइए।
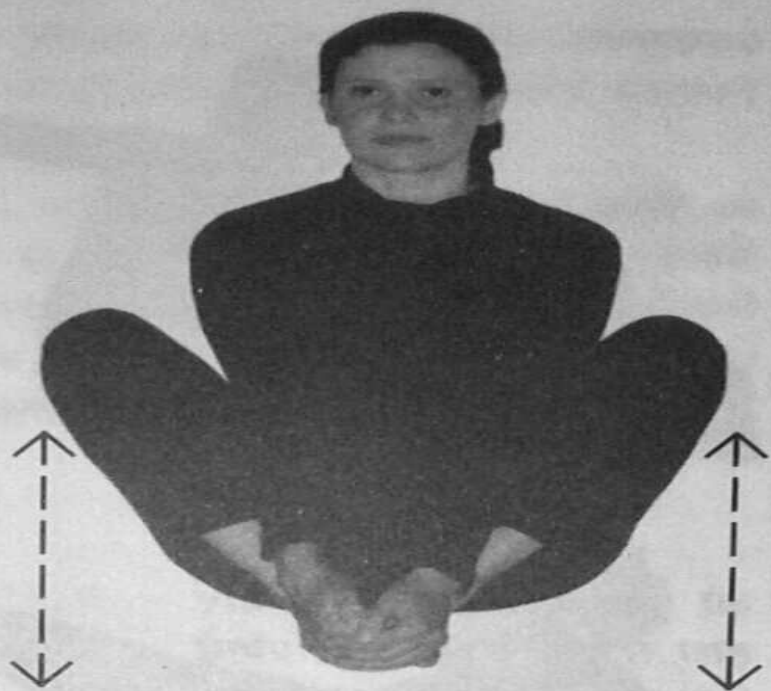
कौआ चाल

(११) **कौआ चाल** — जमीन पर उकड़ूं अर्थात् पंजों के बल बैठें। हथेलियों को घुटनों पर जमा दीजिए और उसी स्थिति में चलना शुरू कीजिए। अर्थात् बाएं घुटने को सामने की ओर झुकाकर जमीन पर टिकायें और दाएं पैर को उठाकर पंजे को उसके बगल में रखें। प्रत्येक कदम पर घुटने से जमीन को छूते हुए आगे बढ़ें।

यह शंख-प्रक्षालन में उपयोगी है और ध्यान के आसनों के लिए पैरों को तैयार करता है। कब्ज़ के रोगी के लिए अत्यन्त हितकारी है। पानी पीकर इसका अभ्यास करने से कब्ज़ से मुक्ति मिलेगी।
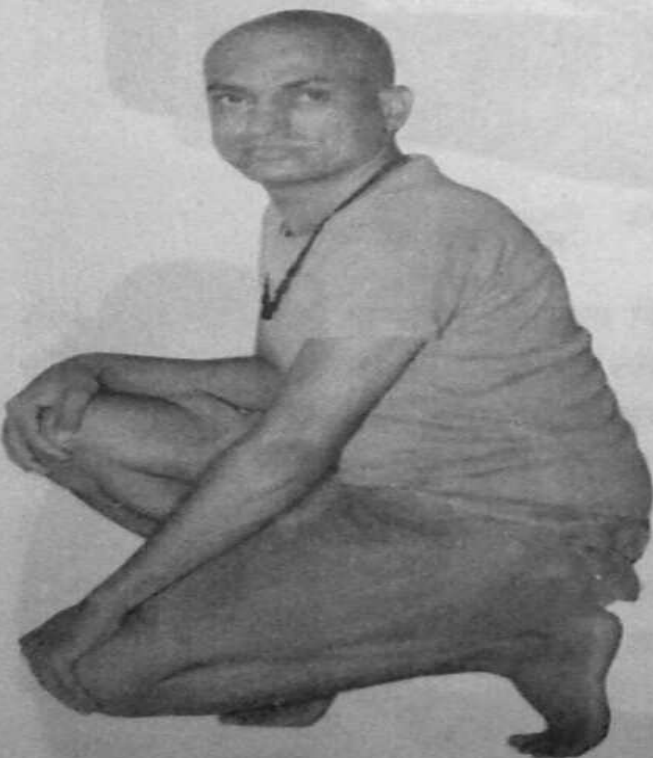
पवनमुक्तासन (गठिया निरोधक अभ्यास) — हस्तपवनमुक्तासन

(१) **मुट्ठियां कसकर बांधना** — मूल स्थिति में बैठिए। अपने सामने जमीन के समानान्तर कन्धों तक अपनी भुजाओं को फैलाइए। श्वास लेकर दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाकर उनमें तनाव उत्पन्न करते हुए कड़ा कीजिए। श्वास छोड़ते हुए ढीला छोड़िए। अथवा श्वास लेते हुए अंगूठों को अन्दर रखकर शेष अंगुलियों से उस पर मुट्ठी बाँधकर कसिए। श्वास छोड़ते हुए मुट्ठी खोलकर ढीला छोड़ें। दस बार प्रत्येक को दोहराइए।
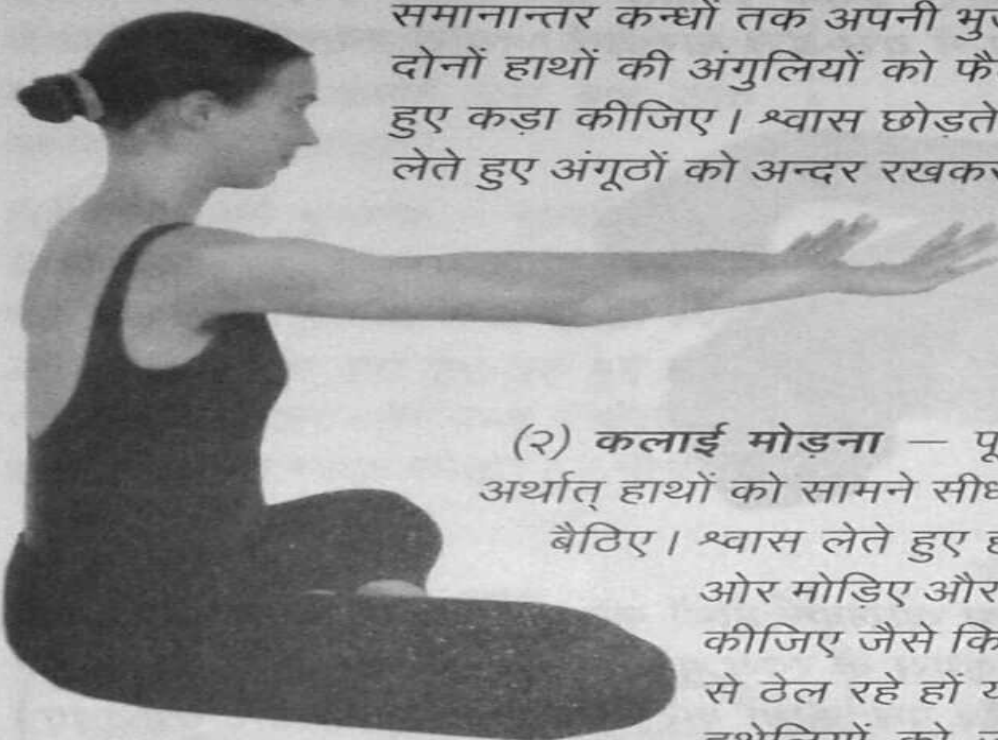
(२) **कलाई मोड़ना** — पूर्व अभ्यास की स्थिति में आइए अर्थात् हाथों को सामने सीधा फैलाकर पीठ को सीधा रखकर बैठिए। श्वास लेते हुए हथेलियों को कलाई से ऊपर की ओर मोड़िए और पूरे हाथ में इस प्रकार तनाव पैदा कीजिए जैसे कि आप किसी चीज को पूरी ताकत से ठेल रहे हों या दबा रहे हों। श्वास छोड़ते हुए हथेलियों को जमीन की ओर करते हुए ढीला छोड़िए। दस बार दुहराइए।

मुट्ठियां कसकर बांधना
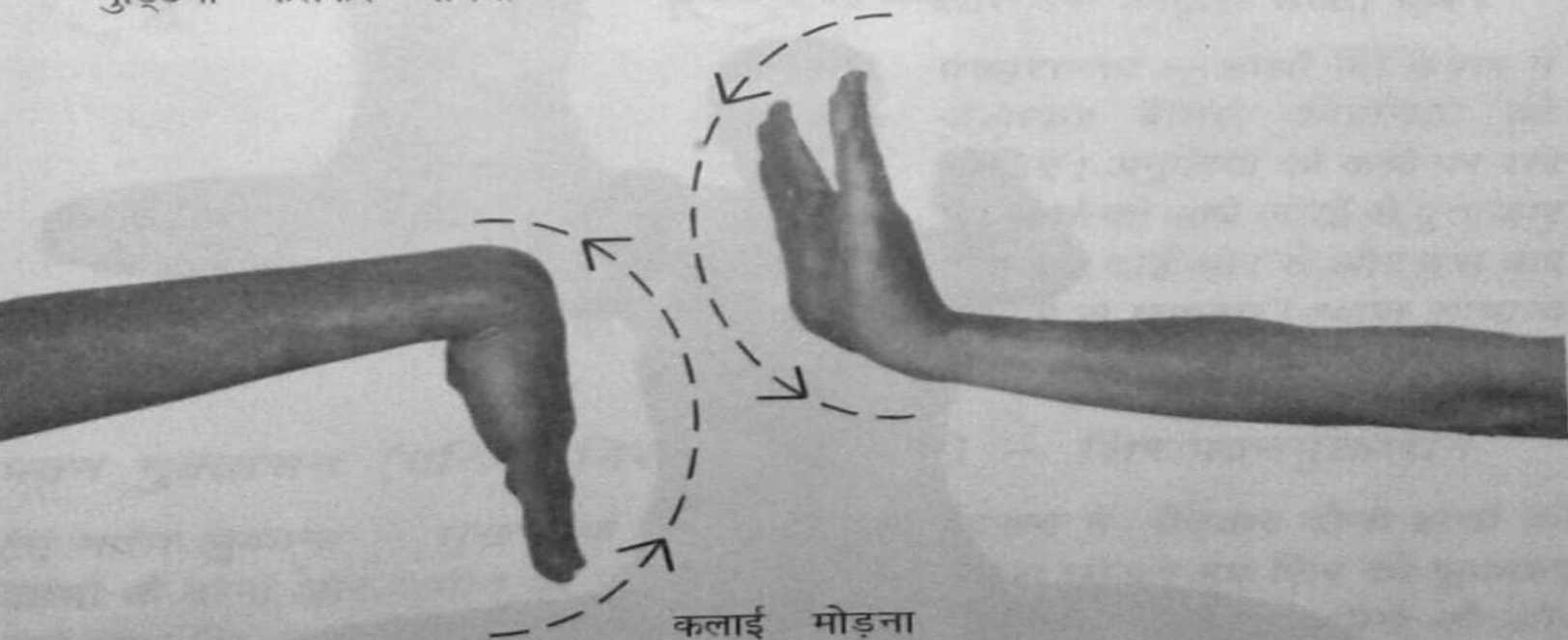
कलाई मोड़ना

(३) **कलाई घुमाना** — केवल एक हाथ को सामने फैलाकर बैठिए। मुट्ठी कसकर बांधिए और कलाई से उसे दस बार सीधे एवं विपरीत दिशा में वृत्ताकार घुमाइए। बाएं हाथ से भी इसी प्रकार कीजिए। इसके पश्चात् दोनों हाथों से एक साथ करें। प्रत्येक अभ्यास को प्रत्येक दिशा में दस-दस बार करें। श्वास स्वाभाविक रहे।
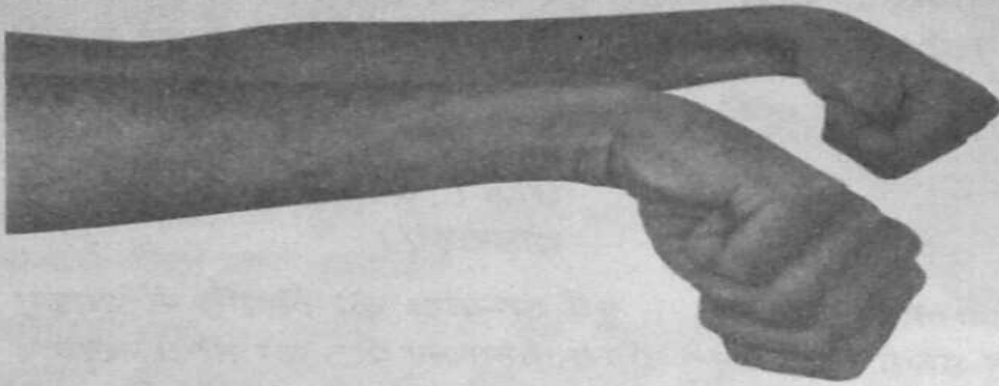
कलाई घुमाना

(४) **कोहनियां मोड़ना** — मुट्ठियां खोलकर हाथों को सामने फैलाएं। हथेलियों को ऊपर की ओर रखें। स्वाभाविक श्वास के साथ भुजाओं को कोहनियों से मोड़ते हुए अंगुलियों से कन्धों का स्पर्श करें। पुनः सीधा करें। इस प्रकार दस बार दुहराइए।

कोहनियां मोड़ना
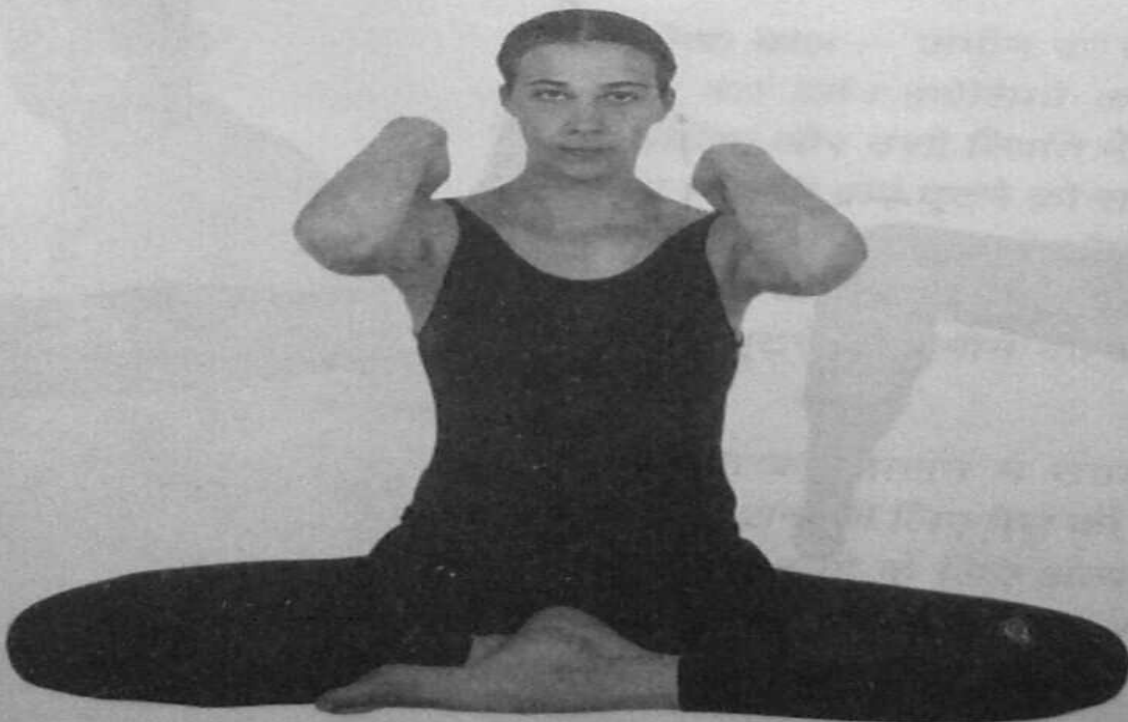
हथेलियों को नीचे की ओर करके इसी अभ्यास को दस बार दुहराइए। पुनः सामने के बदले में भुजाओं को बाजू में फैलाकर हथेलियों को ऊपर करके दस बार और नीचे करके दस बार उक्त अभ्यास को दुहराइए।

कन्धों को घुमाना (१)

(५) कन्धों को घुमाना — मूलस्थिति में बैठकर हाथों को सामने फैलाएं। कोहनियों को मोड़कर अंगुलियों से कन्धे को स्पर्श करें। अब श्वास लेते हुए मुड़े हुए हाथों को ऊपर उठाइए और बाजू में फैलाइए, इसके पश्चात् श्वास छोड़ते हुए नीचे की ओर करके अपने बगल को स्पर्श करते हुए सामने की ओर लाइए। इस प्रकार कि कोहनियां अपने सीने के सामने एक-दूसरे से स्पर्श करें। ऐसे वृत्ताकार में दस आवृत्ति सीधी और दस आवृत्ति उल्टी करें।
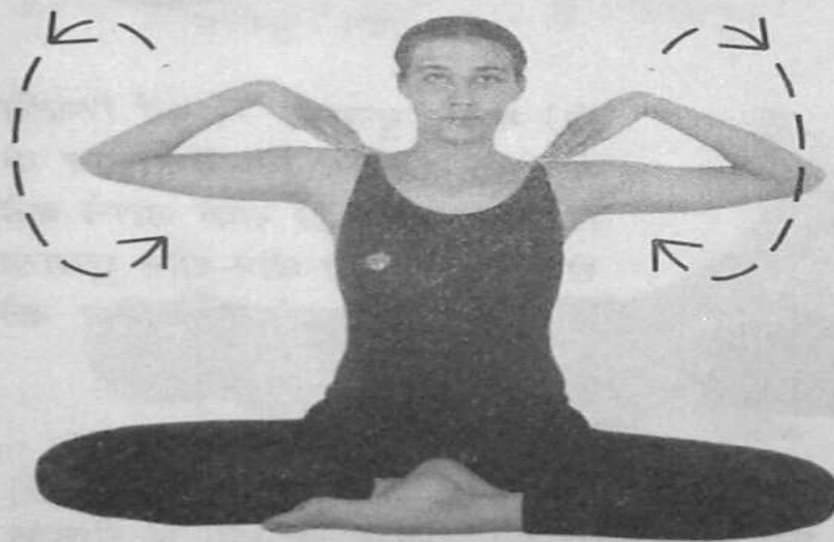
कन्धों को घुमाना (२)

प्रकारान्तर — हाथों को बगल में फैलाकर बैठिए, कोहनियों को मोड़िए। अंगुलियों को कन्धे पर रखे हुए कन्धों को आधे जोड़ों से वृत्ताकार दस बार दाईं ओर से और दस बार बाईं ओर से घुमाइए। श्वास सामान्य रहे।

पवन मुक्तासन (गठिया निरोधक अभ्यास) — शिरःपवनमुक्तासन

(१) गर्दन झुकाना — सुखपूर्वक किसी ध्यान के आसन में बैठकर दोनों हाथों को जांघों के दोनों ओर जमीन पर रखिए। धीरे- धीरे श्वास छोड़ते हुए सिर को झुकाइए जब तक कि ठुड्डी सीने को न छुए। फिर श्वास लेते हुए सिर को पीछे की ओर यथासम्भव झुकाइए। दस बार दुहराइए।

(२) **गर्दन मोड़ना** — पूर्व स्थिति में बैठे हुए मुँह को सामने की ओर रखकर श्वास सामान्य रखते हुए सिर को धीरे-धीरे दाएं और बाएं इस तरह झुकाइए कि कान कन्धों को स्पर्श करें। दोनों तरफ दस-दस बार दुहराइए।

प्रकारान्तर — सिर को सीधा रखे हुए सामान्य श्वास के साथ केवल दाईं ओर और बाईं ओर मोड़ते हुए पीछे की ओर दृष्टि करें। दोनों तरफ दस-दस बार दुहराइए।

गर्दन मोड़ना

गर्दन झुकाना

(३) **गर्दन घुमाना** — पूर्व स्थिति में रहकर बिना किसी तनाव के जितना संभव हो सके उतने बड़े घेरे में सिर को धीरे-धीरे घुमाना है। श्वास छोड़ते हुए सिर को पहले सामने झुकाइए और घुमाते हुए दाहिनी ओर जाएं जिससे दाएं कान का स्पर्श कन्धे से हो। अब श्वास लेते हुए पीछे की ओर झुकाते हुए बाएं कन्धे की ओर घुमाइए जिससे बायां कान कन्धे से स्पर्श करे। पुनः श्वास छोड़ते हुए सामने की ओर घुमाते हुए लाइए, इस प्रकार झुकाइए कि ठुड्डी सीने को स्पर्श करे। ध्यान रखें एक कन्धे से दूसरे की ओर

गर्दन घुमाना
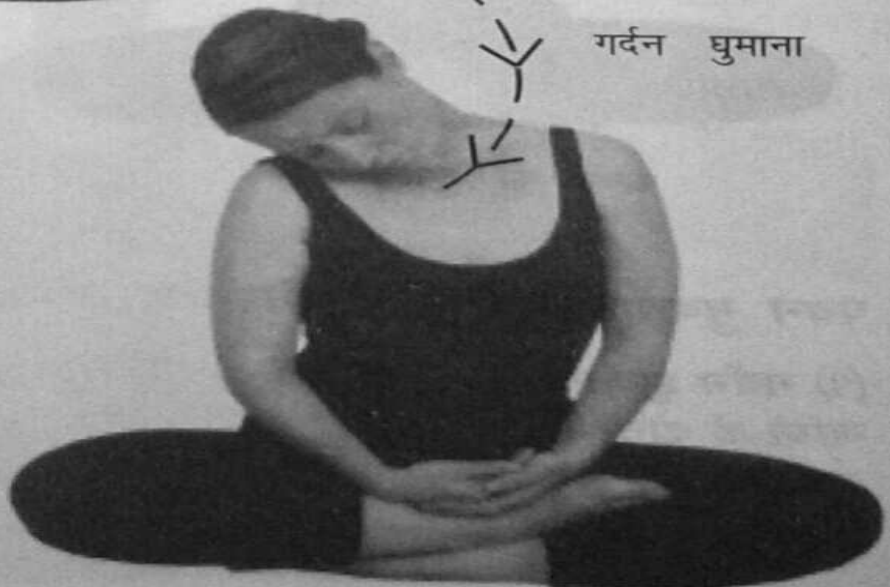
सामने झुकते हुए श्वास छोड़ें और पीछे झुकते हुए श्वास लें। ऐसे दस बार करने के बाद विपरीत दिशा से भी दस आवृत्ति करें।

पवनमुक्तासन (वातनिरोधक अभ्यास)

इस आसन समूह से कब्ज़, अपच, स्नायु व माँसपेशी की गड़बड़ी, शरीर में टूटन, दर्द आदि से पीड़ित लोगों को लाभ होगा और कठिन आसन करने में शरीर को योग्य एवं सक्षम बनाएगा। शरीर एवं मन को शवासन में लेटाकर शान्त एवं शिथिल करके अभ्यास शुरू करें।

(१) **पैर घुमाना** — पीठ के बल लेट जाइए। पैरों को सीधा रखें। हाथों को शरीर के दोनों ओर रखें। हथेलियों से जमीन को दबाते हुए दाहिने पैर को सीधा रखकर (बिना मोड़े) जमीन से ऊपर यथासम्भव उठाइए और दाहिनी ओर वृत्ताकार में घुमाइए। पैर जमीन को न छुएं और कहीं से भी न मोड़ें। दस बार अभ्यास करें। फिर बाईं ओर से भी दस बार अभ्यास करें। इसी प्रकार बाएं पैर से कीजिए। कुछ क्षण विश्राम करके यथासम्भव दोनों पैरों से कीजिए।
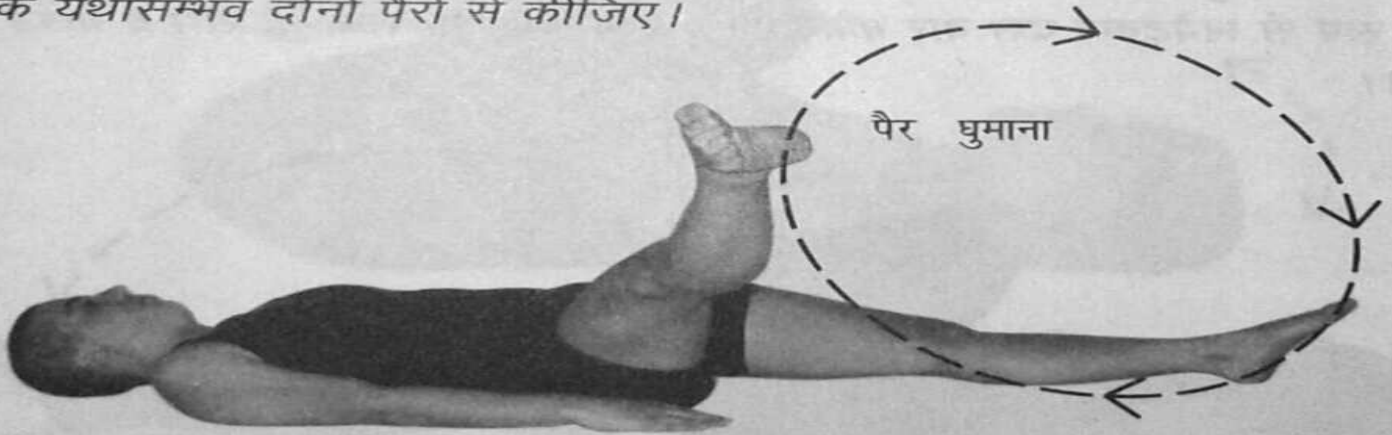
(२) **साइकिल चलाना** — जमीन पर चित लेटिए। दाहिने पैर को उठाकर साइकिल चलाने के जैसे घुमाइए। दस बार सीधा एवं दस बार उल्टा पैडल घुमाने के समान
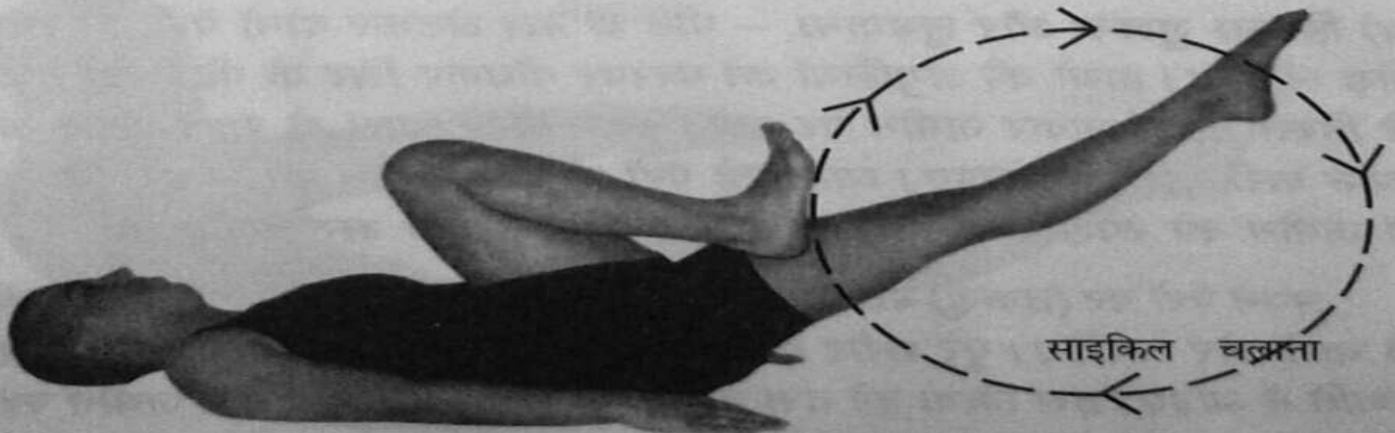
घुमाइए। इसी प्रकार बाएं पैर से करें। फिर दोनों पैरों को एक साथ पृथक्-पृथक् साइकिल चलाने में जैसे होता है वैसे करें। इसके पश्चात् दोनों पैरों को जोड़कर एक साथ आगे-पीछे घुमाइए।

ध्यान रखें इन दोनों अभ्यासों में सिर सहित शरीर को जमीन पर सपाट रखें, अर्थात् उठाना नहीं। प्रत्येक अभ्यास के अनन्तर आवश्यकता के अनुसार शवासन में रहकर श्वास-प्रश्वास की गति को सामान्य होने दें।

(३) **पैर मोड़ना** — पीठ के बल लेट जाइए। दायां पैर मोड़कर जांघों को छाती के पास लाइए। दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर फांसकर बांध लें और दाएं घुटने पर रखिए। श्वास पूरा छोड़कर फेफड़ों को खाली कर लें। श्वास को बाहर रोकते हुए अर्थात् कुम्भक करते हुए सिर को इतना उठाइए कि नाक से घुटने को स्पर्श कर सकें। श्वास लेते हुए धीरे-धीरे सिर को नीचे कीजिए और पैर को सीधा करते हुए शवासन में लौटिए। शरीर को ढीला छोड़िए। दस बार दुहराइए। बाएं पैर से भी दस बार दुहराइए। फिर दोनों पैर एक साथ ऊपर उठाकर हाथों से घुटनों को पूर्ण रूप से लपेटकर दस बार कीजिए। इससे आमाशय सम्बन्धी रोग व कब्ज़ दूर होगा।

पैर मोड़ना
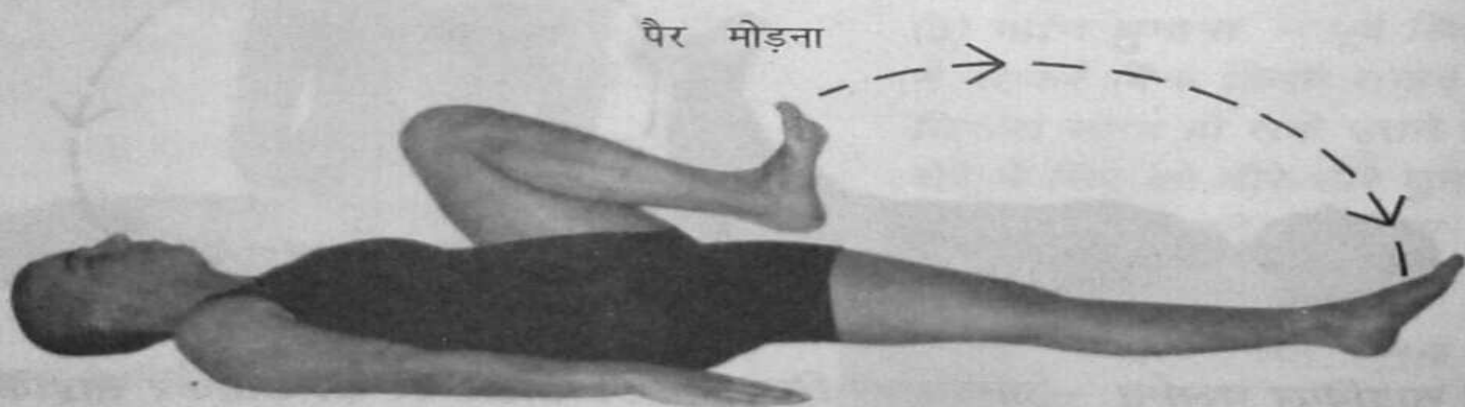
(४) **हिलना-डुलना और लुढ़कना** — पीठ के बल लेटकर दोनों पैरों को छाती तक मोड़ लीजिए। हाथों की अंगुलियों को परस्पर बाँधकर सिर के पीछे रखें। शेष हाथ के हिस्से को फैलाकर जमीन पर रखें। स्वाभाविक श्वास के साथ शरीर को दोनों तरफ बारी-बारी लुढ़काइए। ध्यान रहे पैरों के पंजे जमीन को न छुएं किन्तु घुटनों से जमीन को स्पर्श करने की कोशिश करें। ऐसे दस बार कीजिए।

अपने पैरों पर (उकड़ूं) बैठ जाइए। दोनों पैर सटाकर रखें और भुजाओं को घुटने के चारों ओर लपेटिए। पूरे शरीर को रीढ़ पर कसकर धीरे-धीरे लुढ़किए फिर उकड़ूं स्थिति में आइए। इस क्रिया को दस बार कीजिए। ध्यान रहे केवल जमीन पर अथवा

पतले कम्बल आदि पर न करें और लुढ़कते वक्त ध्यान रखें कि सिर जमीन से न टकराए। कई परतों में मोड़े गए मोटे कम्बल पर यह क्रिया करें। इससे पीठ, कमर और नितम्बों की मालिश होती है किन्तु मेरुदण्ड सम्बन्धी शिकायत वाले इस क्रिया का अभ्यास न करें।

हिलना-डुलना

लुढ़कना

(५) **नौकासन** — शवासन में लेटिए किन्तु हथेलियों को जमीन की ओर करें एवं पैरों को सटाकर रखें। श्वास लीजिए और पैरों, भुजाओं, सिर एवं धड़ को जमीन से ऊपर उठाइए। सिर जमीन से एक फुट से अधिक न उठाएं। भुजा एवं पैर की

नौकासन

अंगुलियों को एक सीध में रखें ताकि हाथ की अंगुलियों के ऊपर से पैर की अंगुलियों पर दृष्टि कर सकें। आराम से जितनी देर सम्भव हो उतनी देर कुम्भक करते हुए रुकें। इसके पश्चात् श्वास छोड़ते हुए धीरे-धीरे जमीन पर वापस लौटिए। पूरे शरीर को ढीला छोड़िए। इस आसन को पांच बार दुहराइए। उठी हुई स्थिति में शरीर को अधिक-से-अधिक उतने समय तक रखें जब तक कि आमाशय की मांसपेशियों में कंपन का अनुभव न हो। यह आसन स्नायविक दुर्बलता एवं तनाव पीड़ित लोगों के लिए उपयोगी है।

पवनमुक्तासन — दृष्टिवर्धक अभ्यास

मनुष्य के लिए दृष्टि एक अद्‌भुत वस्तु है क्योंकि इसी से वह ज्ञान सरलता से हासिल करता है। इसलिए इसे दोषरहित स्वस्थ बनाए रखना सभी के लिये वांछनीय है। ध्यान रहे प्रत्येक अभ्यास को यद्यपि जब चाहें तब कर सकते हैं फिर भी हरियाली के बीच में प्रातः और सायं करें तो अधिक लाभ मिलेगा। प्रत्येक अभ्यास के बाद आधा मिनट आँख बन्द रखें।

आंखों पर हथेलियां रखना

(१) **आंखों पर हथेलियां रखना** — उगते हुए सूरज के सामने आंखें बन्द करके बैठें। अपनी हथेलियों को आपस में रगड़कर गरम कर लें और उन्हें तुरन्त आंखों पर रखिए। कुछ क्षण ऐसे अनुभव करें कि हथेलियों से गरमी एवं शक्ति निकलकर आंखों में जा रही है। हथेलियां ठण्डी होने पर हटाइए। आंखें बन्द रखें। ऐसा तीन बार दुहराइए।

(२) **दाएं-बाएं देखना** — ध्यान के किसी आसन में बैठें। भुजाओं को कंधों की ऊंचाई तक दोनों ओर सीधे फैलाइए। अंगूठे ऊपर

दाएं-बाएं देखना

की ओर रखें। सिर को बिना हिलाए व घुमाए केवल आंखों को क्रम से घुमाते हुए दृष्टि को क्रमशः बाएं हाथ के अंगूठे पर, भ्रूमध्य, दाएं हाथ के अंगूठे पर, पैर के अंगूठे पर ले जाएं। इस चक्र को पन्द्रह से बीस बार दुहराइए। आधा मिनट के लिए आंखें बन्द करके विश्राम कीजिए। पुनः विपरीत क्रम से १५-२० बार करें।

(३) **सामने और दाएं-बाएं देखना** — पूर्व स्थिति में बैठे हुए बाएं हाथ को सामने फैलाकर अंगूठे को ऊपर की ओर करके रखें। दाईं भुजा को दाईं ओर बाजू में कंधे की ऊंचाई पर फैलाएं। सिर बिना घुमाए व हिलाए केवल दृष्टि को बारी—बारी से बाएं हाथ के अंगूठे और दाएं हाथ के अंगूठे पर केन्द्रित करें। इसे पन्द्रह—बीस बार करने के पश्चात् दाएं हाथ को घुटने पर और बाएं हाथ को बाईं ओर बाजू में फैलाकर अभ्यास पन्द्रह-बीस बार करें। ऐसा तीन बार दुहराइए।

सामने और दाएं-बाएं देखना

(४) **दृष्टि को वृत्ताकार घुमाना** — पूर्व अभ्यास की स्थिति में बैठकर बायां हाथ बाएं घुटने पर और दाई मुट्ठी दाएं पैर के ऊपर रखिए। दायां अंगूठा मुट्ठी के बाहर ऊपर की ओर हो। दाईं भुजा को सीधी रखें। एक बड़ा घेरा बनाते हुए दाएं अंगूठे को दाईं ओर से घुमाते हुए ऊपर की ओर, बाईं ओर और आरम्भिक स्थिति में लाइए। वृत्ताकार में घुमाते वक्त बिना सिर को हिलाए आंखों को घूमते हुए अंगूठे पर केन्द्रित कर साथ-साथ घुमाना है। विपरीत दिशा से भी घुमाएं। दोनों तरफ पांच बार पहले दाहिने हाथ से फिर पांच बार बाएं हाथ से करें। आधा मिनट के लिए आंखें बन्द करके विश्राम करें।
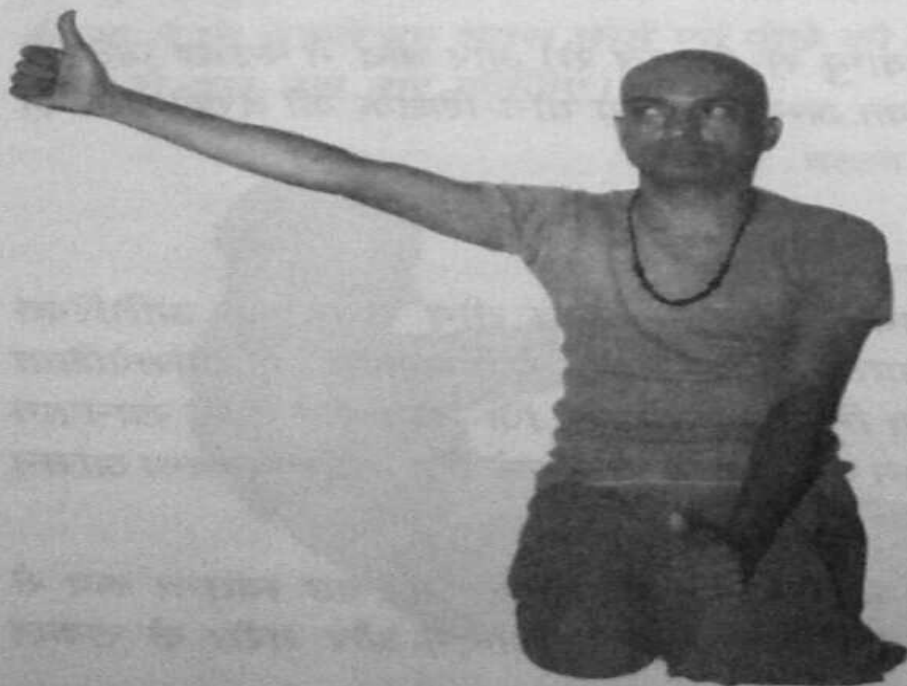
दृष्टि को वृत्ताकार घुमाना

(५) **दृष्टि को ऊपर-नीचे करना** — पूर्व स्थिति में ही बैठे हुए दोनों हाथों की मुट्ठियों को घुटनों पर रखें, अंगूठे बाहर ऊपर की ओर रहें। भुजाओं को सीधी रखकर बिना सिर को हिलाए दाएं अंगूठे पर दृष्टि को केन्द्रित कर दाएं अंगूठे को ऊपर की ओर ले जाएं, साथ-साथ दृष्टि को भी ऊपर की ओर ले जाएं, धीरे-धीरे नीचे लौटिए। इसी प्रकार बाएं अंगूठे के साथ करें। ऐसे प्रत्येक अंगूठे से दस बार दुहराइए।

दृष्टि को ऊपर-नीचे करना

(६) **दृष्टि को पास-दूर करना** — पूर्व स्थिति में बैठें किन्तु आराम से। अब दृष्टि को नासिकाग्र पर केन्द्रित करें। फिर किसी दूर की वस्तु पर केन्द्रित करें। वापस नासिकाग्र पर लाइए। इस क्रिया को पन्द्रह-बीस बार दुहराइए। अन्त में आधा मिनट के लिए आंखें बन्द कर विश्राम कीजिए।

(७) **अन्य अभ्यास** — आंखों के लिए लाभकारी अन्य आसन जिनका वर्णन आगे किया जाएगा, इस प्रकार हैं — शीर्षासन, सर्वांगासन, सूर्य नमस्कार, सूर्यभेदी प्राणायाम, नेति-क्रिया (इसका वर्णन कर दिया गया है), त्राटक इत्यादि।
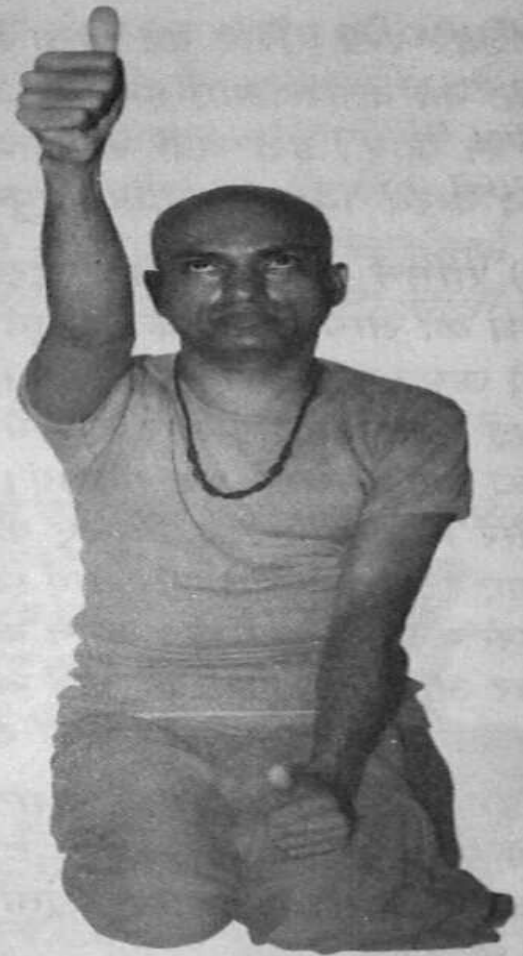
प्रतिदिन आंखों को पहले शिवाम्बु से (स्वमूत्र से) और बाद में स्वच्छ जल से धोना सर्वोत्तम साधन है किन्तु इसका अभ्यास योग्य योग-शिक्षक की देखरेख में ही करें।

शक्तिबन्ध आसन समूह

प्रारम्भिक अभ्यास के अन्तर्गत पवनमुक्तासन (उक्त तीन समूह) से अतिरिक्त **शक्तिबन्ध आसन समूह** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिन नये अभ्यासियों की मांसपेशियां तथा जोड़ें कड़े हों उनके लिए तथा नित्य योगाभ्यासी जिनके शरीर में भी खानपान अथवा अन्य किसी कारणवश कड़ेपन का अनुभव हो उनके लिए भी शक्तिबन्ध आसन समूह अत्यन्त प्रभावशाली होगा।

प्राण के रूप में शक्ति शरीर के प्रत्येक भाग में रहती है। वह स्वतन्त्र रूप से प्रवाहित होती रहे तो शरीर से विषैले तत्त्व बाहर हो जाएंगे और शरीर के सकल

क्रिया-कलाप सुचारु रूप से चलते रहेंगे। विशेषतः नलिकाविहीन ग्रन्थि-प्रणाली संतुलित रहती है। अतः शारीरिक गतिविधियों में सामञ्जस बनाए रखने एवं उच्च आसन प्राणायाम आदि साधना के योग्य बनाने के लिए शक्तिबन्ध-आसन समूह का अभ्यास आवश्यक है।

(१) **नौका संचालन** — पैरों को सामने फैलाकर सटाकर बैठिए। पैरों को बिना मोड़े नाव चलाने के अन्दाज में शरीर को संचालित करें। जितना संभव हो सके उतना आगे-पीछे झुकते हुए हाथ को साथ में पतवार चलाने के समान चलाइए। ऐसे दस बार करके पुनः विपरीत दिशा में भी करें। मध्यम गति में करना चाहिए। ध्यान रखें झुकते वक्त श्वास छोड़ें और उठकर पीछे जाते हुए श्वास लें।

नौका संचालन

(२) **चक्की चलाना** — पूर्व स्थिति में बैठे हुए पैरों को सटाकर रखें अथवा दो फुट दूरी पर रखें। हाथों को सामने सीधे फैलाकर अंगुलियों को आपस में फंसाकर कमर से झुकते हुए हाथों को बिना मोड़े चक्की चलाने के समान वृत्ताकार घुमाइए। इस क्रिया में भी झुकते हुए श्वास छोड़ें एवं पीछे की ओर जाते हुए श्वास लीजिए। दोनों ओर से दस-दस बार कीजिए।

चक्की चलाना
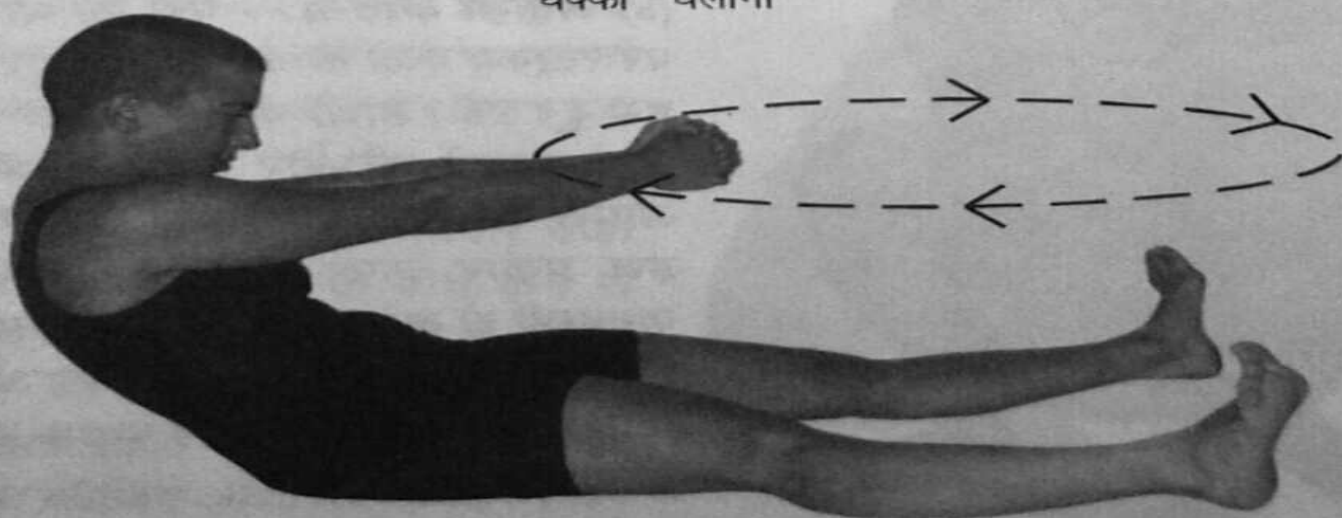
(३) ***रस्सी खींचना*** *— उकड़ूं बैठें अथवा पैर सामने फैलाकर सटाकर बैठिए। हाथों को क्रमशः ऊपर उठाइए और नीचे लाइए। लेकिन नीचे लाते वक्त हाथ को कसकर तनाव पैदा करके ऐसी भावना करनी है कि मानो आप कुएं से पानी भरी बाल्टी को ऊपर लाने के लिए रस्सी को खींच रहे हैं। अतः ऊपर हाथ को ले जाते वक्त हथेली व अंगुलियां फैलाइए और नीचे लाते वक्त मुट्ठी बांधकर लाइए। ऐसे कम से कम पांच मिनट तक अभ्यास करें। श्वास सामान्य रहे।*
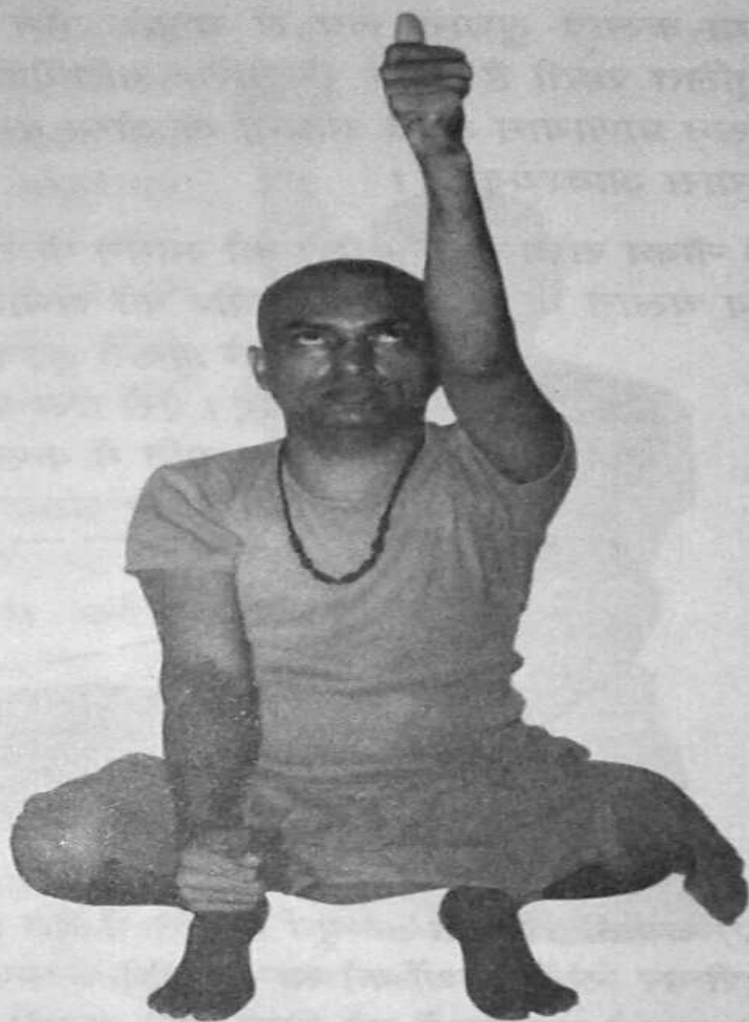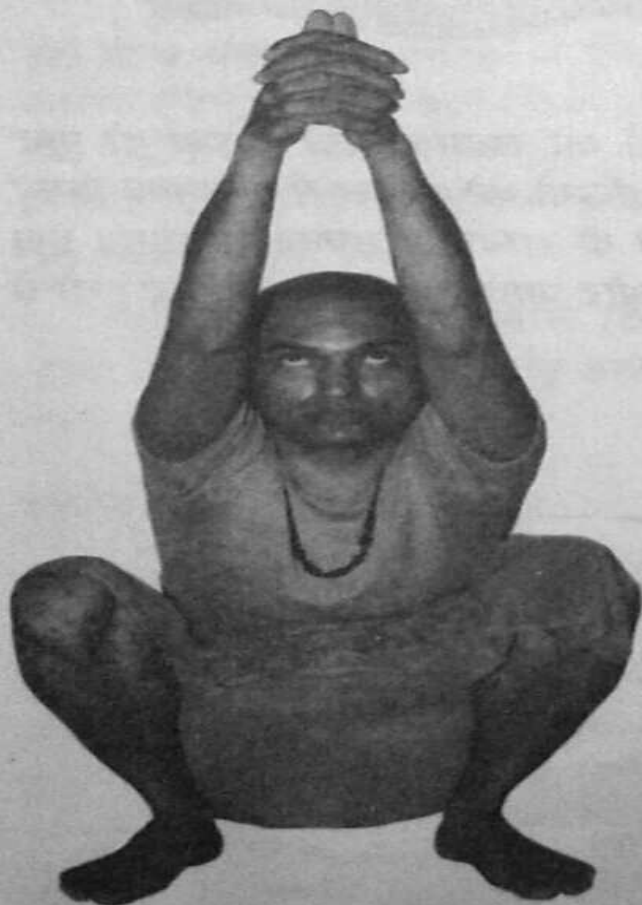
रस्सी खींचना

लकड़ी काटना

(४) ***लकड़ी काटना*** *— पैरों को थोड़ी दूरी पर रखकर पंजों के बल बैठिए। घुटने झुके हुये दूर रहें। हाथों को घुटनों के बीच से सीधे सामने की ओर फैलाकर अंगुलियां आपस में बाँध लें। अब हाथों को बिना मोड़े इस प्रकार ऊपर-नीचे करें मानो आप कुल्हाड़ी से लकड़ी काट रहे हों। हाथों को ऊपर उठाते समय श्वास लीजिए और नीचे जाते समय श्वास छोड़िए। पन्द्रह-बीस बार दुहराइए।*
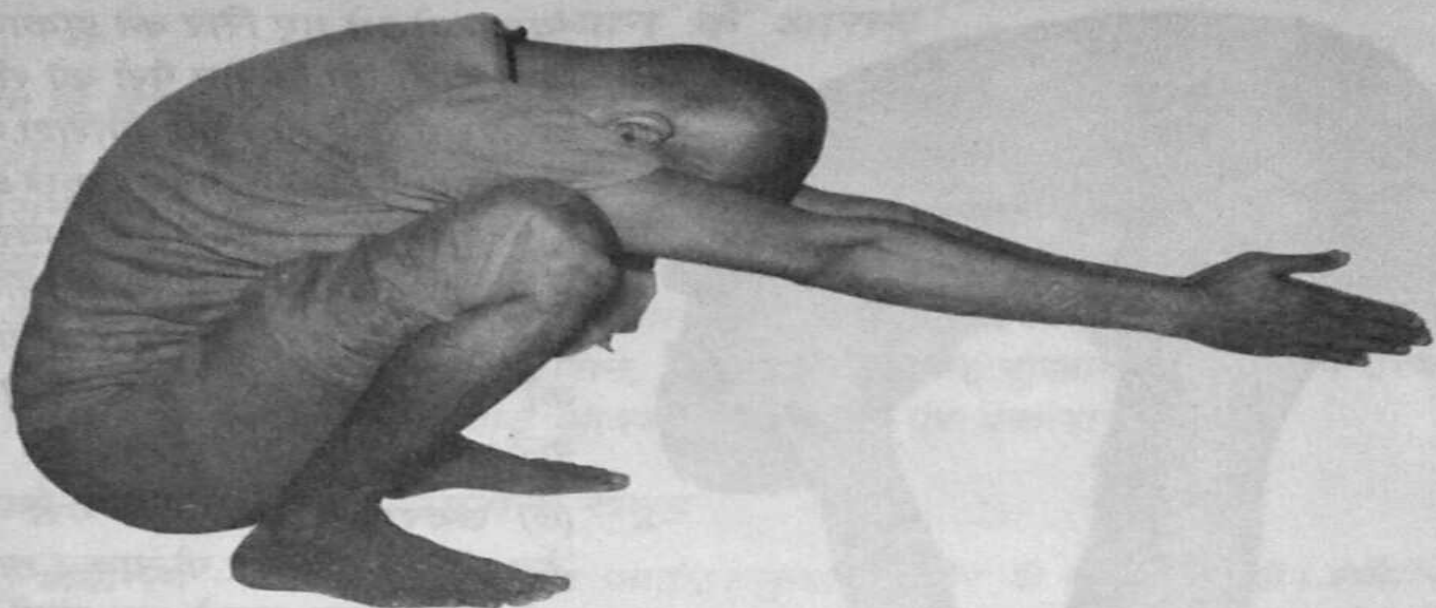
नमस्कार करना (१)

(५) नमस्कार करना — जमीन पर पूर्ववत् उकड़ूं बैठें और घुटनों को दूर-दूर रखें। हाथों को प्रार्थना की मुद्रा में जोड़कर सिर थोड़ा पीछे की ओर झुकाएं और आकाश की ओर दृष्टि करें। अब कोहनियों से घुटनों को अन्दर की तरफ से दबाते हुए फैलाने की कोशिश करें, लम्बी श्वास लें। कुछ क्षणों तक रुककर श्वास छोड़ते हुए भुजाओं को सामने की ओर सीधा कीजिए और सिर को सामने की ओर झुकाइए। साथ ही घुटनों से भी कोहनी को स्पर्श करें अर्थात् घुटनों से हाथों को अन्दर की ओर दबाइए। इस अभ्यास को दस बार करें।

नमस्कार करना (२)

(६) वायु निष्कासनासन — पूर्ववत् पंजों के बल उकड़ूं बैठें। पैरों के बीच कम से कम दो फुट दूरी रखें। हाथों की अंगुलियों को अन्दर की तरफ से तलवों के नीचे रखिए। अतः हाथों को घुटनों के भीतर रखें। श्वास लीजिए और सिर उठाइए। अब

वायु निष्कासनासन

श्वास छोड़ते हुए सिर को झुकाकर बिना हाथों को हिलाए पैरों को सीधा करते हुए खड़े होने की कोशिश करें अर्थात् शरीर को उठाइए। कुछ क्षण तक कुम्भक लगाकर इस अवस्था में रहें। आरम्भिक स्थिति में लौटें। इसे दस बार कीजिए। इस अभ्यास को आराम से करें, जबरदस्ती न करें।

(७) **उदराकर्षणासन** — पैरों को डेढ़ से दो फुट दूर फैलाकर हाथों को घुटनों पर रखते हुए पंजों के बल उकड़ूं बैठिए। जितना सम्भव हो सके, धड़ को दाहिनी ओर मोड़ते हुए शरीर के पीछे की तरफ देखें और साथ ही साथ बाएं घुटने को दाहिने पैर पर झुकाकर स्थापित करें। हथेलियां घुटनों पर स्थिर रखें। इस क्रिया को श्वास छोड़कर करें। श्वास लेते हुए आरम्भिक स्थिति में लौटिए। इसी प्रकार बाईं ओर मोड़ते हुए करें। दस बार दोनों तरफ दुहराइए।

पाचक अंगों एवं मांसपेशियों की मालिश इससे अच्छी तरह से होती है इसलिए इससे पाचन सम्बन्धी सकल रोगों से मुक्ति होगी।
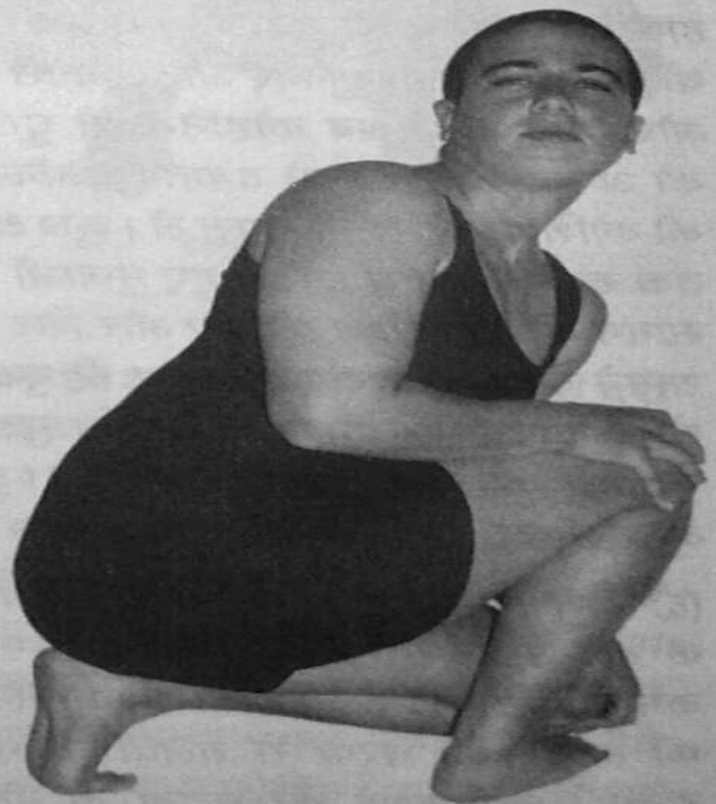
उदराकर्षणासन

ध्यान के आसन

योग के उच्च अभ्यास ***ध्यान*** को करने के लिए मन एवं शरीर को तैयार करना होगा, क्योंकि लम्बे समय तक बैठना पड़ता है। अतः शिथिलीकरण के आसन एवं ध्यानपूर्व आसन समूह का अभ्यास करना उचित होगा। **शिथिलीकरण** के आसनों में शवासन, अद्वासन, मकरासन, ज्येष्टिकासन, मत्स्यक्रीड़ासन आदि हैं। **ध्यानपूर्व** आसन समूह में अर्ध-तितली, पूर्ण-तितली, कौआ-चाल, पशुविश्रामासन इत्यादि हैं। **ध्यान** के आसनों में पद्मासन, अर्धसिद्धासन, सिद्धासन, सिद्धयोनि आसन, सुखासन, वज्रासन इत्यादि हैं। इनमें से क्रमशः कुछ अति आवश्यक आसनों पर प्रकाश डालेंगे।

(क) शिथिलीकरण आसन समूह

(१) **शवासन** — पीठ के बल लेट जाइए। भुजाएं शरीर के बगल में रहें। हथेलियां ऊपर की तरफ खुली रखें। पैरों को थोड़ा दूर-दूर आराम की स्थिति में रखें। आखें बन्द रहें। पूरे शरीर को ढीला छोड़िए। शरीर का कोई भी भाग हिलना नहीं चाहिए। श्वास स्वाभाविक चलती रहे, आप उस पर मन को स्थापित करें एवं उसके आवागमन पर जागरूक रहते हुए गिनते जाइए। जब तक तन-मन पूर्ण रूप से शिथिल न हो तब तक करें।
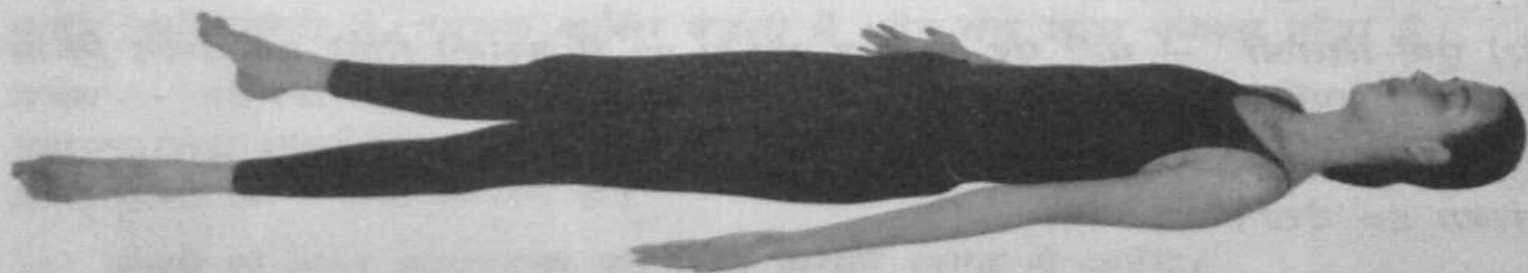
शवासन

(२) **अद्वासन** — पेट के बल लेट जाइए। दोनों भुजाओं को बगल में हथेलियों को ऊपर की ओर करके रखें अथवा सामने की ओर सिर का स्पर्श करते हुए सीधा फैलाकर हथेलियों को नीचे की ओर रखें। शेष क्रिया शवासन के समान करें।

अद्वासन

(३) **मकरासन I**— पूर्ववत् पेट के बल लेटिए। कोहनियों के सहारे सिर और कन्धों को उठाइए। हथेलियों पर ठुड्डी को स्थापित करें। शेष क्रिया शवासन के समान करें। मकरासन **II** पृष्ठ संख्या ११५ में देखें।

मकरासन

(ख) ध्यानपूर्व-आसन समूह

(१) **अर्ध-तितली** — शरीर-शुद्धि नामक प्रथम प्रकरण के आसन विज्ञान नामक तीसरे अध्याय में प्रारम्भिक अभ्यास के अन्तर्गत गठियानिरोधक-पवनमुक्तासन समूह में पादपवनमुक्तासन अभ्यास संख्या ८ में इसकी विधि का वर्णन किया गया है। पृष्ठ संख्या ५६ देखें।

(२) **पूर्ण-तितली** — वहीं पर अभ्यास संख्या १० में इसकी विधि का वर्णन किया गया है। पृष्ठ संख्या ६० देखें।

(३) **कौआ-चाल** — वहीं पर अभ्यास संख्या ११ में इसकी विधि का वर्णन है। पृष्ठ संख्या ६० देखें।

(ग) ध्यान के आसन

(१) **पद्मासन**

विधि — पैरों को सामने फैलाकर बैठ जाइए। दाहिने पैर को मोड़कर बाईं जांघ पर इस प्रकार रखें कि एड़ी कुल्हे की हड्डी का स्पर्श करे। तलवा ऊपर की ओर रहे। इसी तरह बाएं पैर को दाहिनी जांघ पर स्थापित करें। हो सके तो दोनों एड़ियों को सटाइए। दोनों हाथों को ज्ञानमुद्रा अथवा चिन्मुद्रा में घुटनों पर रखें। कमर व गर्दन सीधी रखें। आज्ञाचक्र पर भ्रूमध्य में ध्यान करें। आँखें बन्द रखें। चट्टान जैसी स्थिरता की भावना के साथ तीन घण्टे तक लगातार बैठने की क्षमता आने तक अभ्यास करें। आसन जय के बिना प्राणायाम व ध्यान सफल नहीं हो सकता।
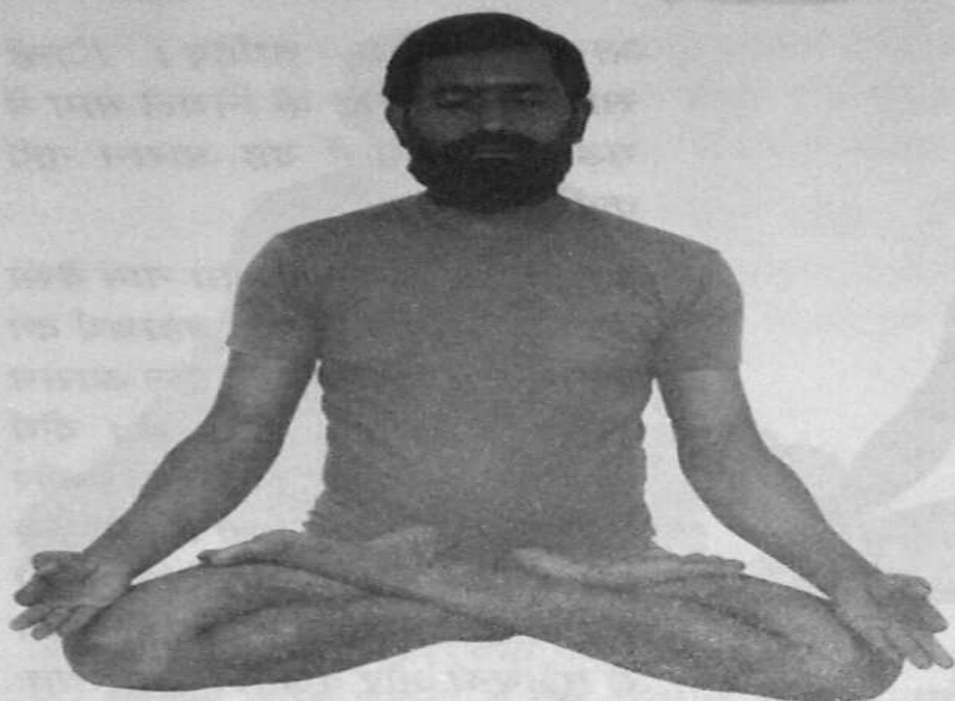
पद्मासन

लाभ — जैसा नाम वैसा काम, जैसे पद्म (कमल) पानी में रहते हुए भी पानी से अलग रहता है वैसे साधक संसार में रहते हुए संसार से अलग रह सकता है। अतः यह ध्यान के लिये सर्वश्रेष्ठ आसन है क्योंकि इससे पैरों में रक्त-संचार कम होकर मस्तिष्क में रक्त प्रवाह बढ़ता है। पूरा नाड़ी-संस्थान पुष्ट होता है जिससे पैरों के दोष गठिया, साइटिका आदि दूर हो जाते हैं। नाभि के बाईं ओर स्थित सरस्वती नाड़ी के दबने से सुषुम्ना नाड़ी से प्राण संचार होने लगता है जो ध्यान के लिये अति आवश्यक है। इस आसन से शक्ति संचय होती है क्योंकि इन्द्रियां शान्त होती हैं और पैरों, पंजों तथा अंगुलियों के पोरों से ऊर्जा बाहर नहीं जाती है। पाचन शक्ति बढ़ती है और मन शीघ्र एकाग्र होता है।

प्रभेद — अर्धपद्मासन, वीरासन, पर्वतासन, समासन, कार्मुकासन, उत्थित पद्मासन, बद्धपद्मासन, ऊर्ध्व-पद्मासन, लोलासन, कुक्कुटासन, तोलांगुलासन इत्यादि पद्मासन द्वारा किए जाने वाले आसन हैं।

इनमें से अति आवश्यक की चर्चा अगले खण्ड में करेंगे।

(२) **सिद्धासन**

विधि — पैरों को सामने फैलाकर बैठें। बाएं पैर को मोड़कर एड़ी से गुदा और जननेन्द्रिय के बीच में स्थित सीवन नाड़ी को दबाते हुए तलवे को दाईं जांघ से सटाइए। दाएं पैर को मोड़कर एड़ी को जननेन्द्रिय के मूल पर इस प्रकार रखें कि बाएं पैर के टखने पर दाएं पैर का टखना आ जाए। अब बाएं पंजे को जंघा व पिण्डली के बीच में स्थिर करें। कमर व गर्दन सीधी रहें। आँखें बन्द करके हाथों को ज्ञानमुद्रा अथवा चिन्मुद्रा में रखें। ध्यान का केन्द्र — आज्ञाचक्र।

ध्यान रहे केवल पुरुषों को यह आसन करना चाहिए। महिलाओं को सिद्धयोनि

सिद्धासन

आसन करना चाहिए। जिन्हें साइटिका व रीढ़ के निचले भाग में गड़बड़ी हो उन्हें यह आसन नहीं करना चाहिए।
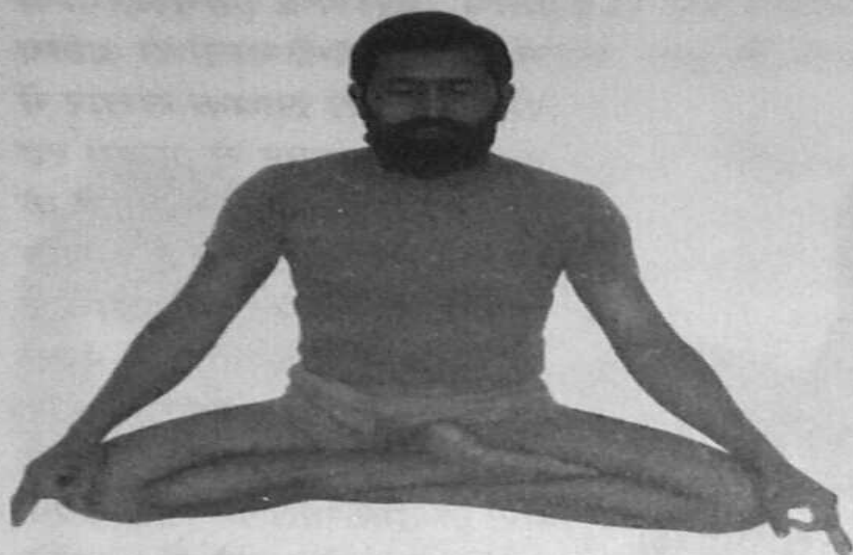
लाभ — इसका भी जैसा नाम वैसा काम — क्योंकि योग में ब्रह्मचर्य का पालन मुख्य साधन है। इस आसन से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। वीर्य सम्बन्धी सभी दोष दूर हो जाते हैं और वीर्य ऊर्ध्वगामी हो जाता है। प्राण व मन में स्थिरता व उपस्थेन्द्रिय की शुक्रवाहिनी नाड़ियों के शिथिल होने से मूलबन्ध और वज्रोलि मुद्रा स्वतः लग जाती है, फलस्वरूप शरीर की तीनों शक्तियां (भावनात्मक, मानसिक व शारीरिक) संतुलित होती हैं जिससे ध्यान अनायास होने लगता है।

प्रकारान्तर — अर्धसिद्धासन — पूर्वोक्त विधि को ही करें। फर्क इतना है कि दाहिने पैर को मोड़कर बायीं जाँघ पर रखें।

प्रभेद — गुप्तासन, वीर्यासन, बद्धयोन्यासन, क्षेमासन, स्थिरासन, मुक्तासन इत्यादि सिद्धासन द्वारा किए जाते हैं।

अर्ध सिद्धासन

(३) स्वस्तिकासन

विधि — पैरों को सामने फैलाकर बैठें। बाएं पैर को मोड़कर पंजे को दायीं जांघ के पास रखें। दाएं पैर को मोड़कर केवल अंगुलिभाग को बाईं जांघ व पिण्डलियों के बीच फंसाइए। इस प्रकार दोनों पैरो की अंगुलियां जांघ व पिण्डली के बीच फंसाकर बैठें अथवा दोनों पैरों की अंगुलियों को बाहर की ओर करके बैठें, जैसे कि चित्र में दिखाया गया है। हाथों को ज्ञानमुद्रा अथवा चिन्मुद्रा में घुटनों पर रखें। रीढ़ व गर्दन

स्वस्तिकासन

को सीधा रखें। ध्यान केन्द्र — आज्ञा-चक्र।

यह आरम्भिक साधक के लिए ध्यान का सरल आसन है। रीढ़ की समस्या वाले विशेषतः साइटिका से पीड़ित लोग इस आसन को न करें।

लाभ — स्वस्तिक का अर्थ है मंगलकारी। अतः यह आसन साधक को प्रसन्नता व सर्वसुख देता है। उच्चस्तरीय प्राणायामादि का अभ्यास इसमें सरलतापूर्वक कर सकते हैं। संपूर्ण नाड़ी संस्थान इससे सक्रिय होता है। पैरों में ठण्ड पड़ना व दर्द मिटता है तथा अधिक पसीना निकलने की बीमारी ठीक होती है। जप-त्राटकादि क्रियाओं के लिए अत्यन्त सरल एवं लम्बे समय तक बिना परेशानी के इस आसन में बैठ सकते हैं।

(४) सुखासन

विधि — दोनों पैर सामने फैलाकर बैठें। दाएं पैर को मोड़कर पंजे को बाएं पैर की जांघ के नीचे रखें। फिर बाएं पैर को मोड़कर पंजे को दाई जांघ के नीचे रखें। हाथों को घुटनों पर ज्ञानमुद्रा व चिन्मुद्रा में रखें। कमर व गर्दन सीधी रहे। ध्यान का केन्द्र — आज्ञा-चक्र।

इस आसन में अधिक समय बैठने के इच्छुक घुटनों को थोड़ा उठाकर छाती की ओर लाएं और एक कपड़े या तौलिए से घुटनों और पीठ के चारों तरफ वृत्ताकार में बांधकर बैठ सकते हैं। विशेषतः बूढ़े व सख्त पैरों वाले जवान इस प्रकार अभ्यास शुरू कर सकते हैं।
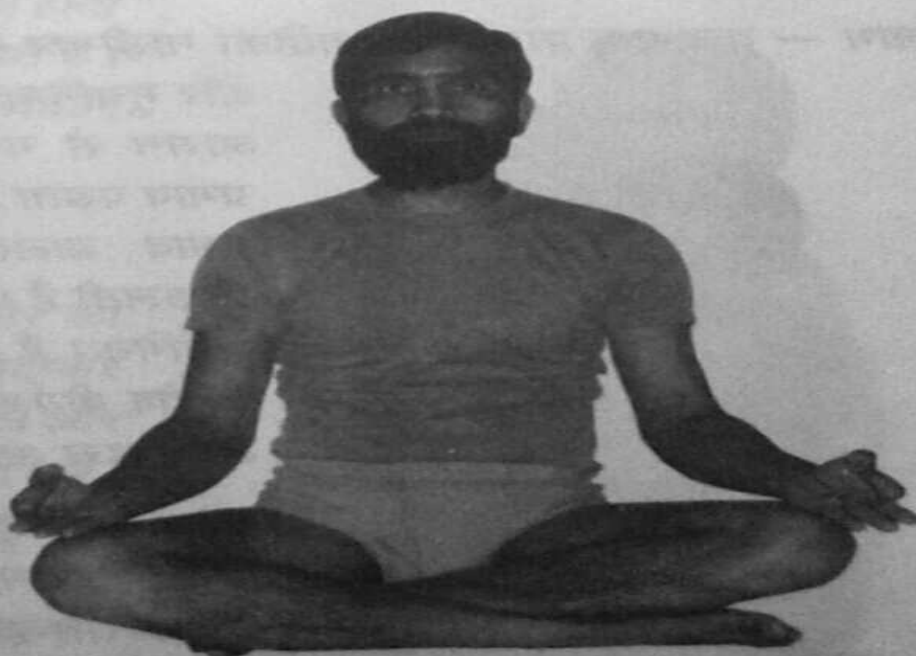
सुखासन

लाभ — नाम के अनुसार इसमें अधिक समय बैठने पर भी थकान व तनाव रहित शरीर के कारण देह, प्राण, मन आदि को सुख मिलता है। अन्य ध्यान के आसन के अभ्यास के योग्य बनाता है। श्वास-प्रश्वास की गति सम रहती है।

प्रभेद — हस्तपादबद्धासन (इसे कुछ लोग पवनमुक्तासन भी कहते हैं), वामपादहस्तबद्धासन, दक्षिणपादहस्तबद्धासन, भैरवासन, इत्यादि इस आसन के प्रकारान्तर है जो कि आरम्भिक अभ्यासियों के लिये सुगम व लाभदायक हैं।

बैठकर किये जाने वाले आसन

(१) वज्रासन

विधि — घुटनों के बल बैठिए। पंजों को पीछे फैलाकर एक पैर के अंगूठे को दूसरे के अंगूठे पर रखें अथवा स्पर्श करें। एड़ियां अलग रहें किन्तु घुटनों को सटाए रहें। अब नितम्बों को पंजों के बीच में रखिए, अतः एड़ियां कुल्हों की तरफ हों। हथेलियों को घुटनों पर रखिए। कमर व गर्दन सीधी रखें। शरीर ढीला रहे। श्वास सामान्य रहे। ध्यान का केन्द्र — मणिपुर-चक्र।

इसे मोटापा घटाने के लिए भोजन से पहले पन्द्रह मिनट करें और अपच, मन्दाग्नि आदि रोगियों को तथा स्वस्थ लोगों को भी इसे पन्द्रह से तीस मिनट तक भोजन के बाद करना चाहिए।

लाभ — वज्र एक प्राणशक्तिप्रवाहिका नाड़ी का नाम है। इसका सम्बन्ध जननेन्द्रिय और मूत्रनिष्कासन प्रणाली के साथ है। अतः इस आसन से गर्भाशय, आमाशय आदि पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यह आसन 'कन्द' पर अत्यधिक प्रभाव डालता है जिससे ७२,००० नाड़ियां निकलती हैं। अतः इस आसन से होने वाले लाभ अनगिनत हैं। पेट के रोगी, साइटिका, गैस, पैरों के दोष, वीर्य सम्बन्धी दोष, मूत्र प्रणाली सम्बन्धी दोष आदि इस आसन से दूर होते हैं।

वज्रासन
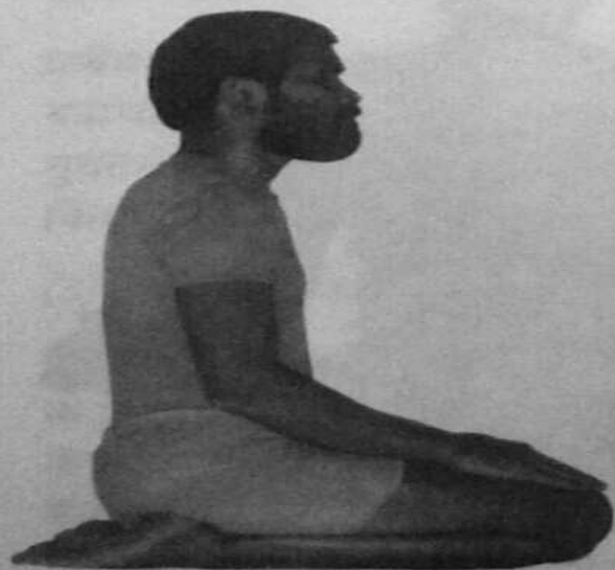
प्रभेद — मण्डूकासन, अर्धशवासन, सुप्तवज्रासन, पादादिरासन, पर्वतासन, आनन्दमदिरासन, अंगुष्ठासन इत्यादि वज्रासन के प्रभेद हैं। कुछ अन्य आसनों का वर्णन आगे करेंगे।

(२) सिंहासन

सिंहासन

विधि — वज्रासन में बैठिए। घुटनों को जितना हो सके उतनी दूरी पर रखें। अंगुलियों को अपने शरीर की तरफ करते हुए हाथों को घुटनों के बीच में जमाइए। सीधी भुजाओं के सहारे थोड़ा आगे की ओर झुकिए। सिर को पीछे की ओर लटकाकर जितना सम्भव हो उतना मुँह खोलिए। जीभ को बाहर निकालिए। आँखों को खोलकर भ्रूमध्य पर केन्द्रित करें। नाक से श्वास लेकर मुँह से स्पष्ट एवं स्थिर आवाज निकालते हुए धीरे-धीरे श्वास छोड़िए।
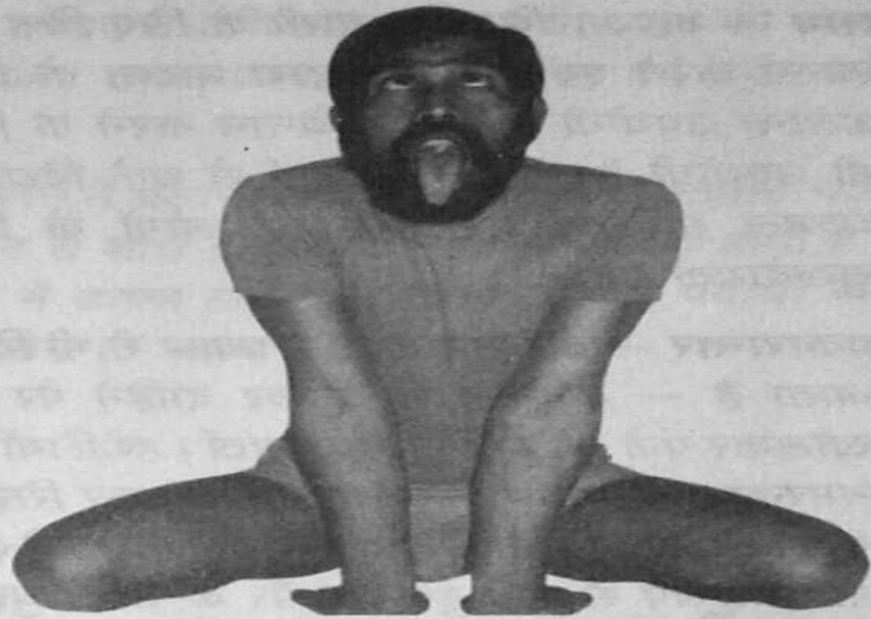
जीभ को दाएं-बाएं घुमाते हुए श्वास छोड़ सकते हैं। कम से कम दस बार दुहराइए। रोगी को पन्द्रह-तीस बार करना चाहिए। ध्यान का केन्द्र — विशुद्धि-चक्र।

लाभ — हकलाकर बोलने वालों तथा गले, नाक, कान और मुहँ की बीमारियों को दूर करने के लिए यह श्रेष्ठ आसन है। इससे स्वस्थ, गंभीर और मधुर स्वर का विकास होता है। इस आसन को **सर्वरोगहर** भी कहते हैं। अतः स्वस्थ व्यक्ति को भी नित्य करना चाहिए ताकि कोई रोग न सताए।

वीरासन

(३) वीरासन

विधि — वज्रासन में बैठिए। दाहिने पैर को खोलकर पंजे को बाएं घुटने के पास सटाकर रखिए। दाएं हाथ को दाएं घुटने पर रखें और हथेली पर सिर को ठुड्डी द्वारा स्थापित करें। आँखें बन्द कर लें। शरीर एवं मन को ढीला छोडें और विश्राम करें। श्वास सामान्य रहे। ध्यान का केन्द्र भ्रूमध्य अर्थात् आज्ञा-चक्र है।
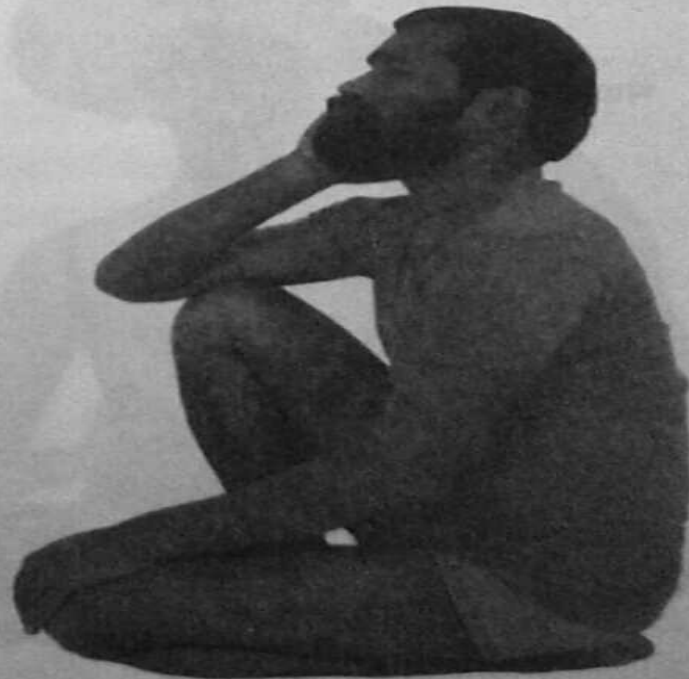
लाभ — यह आरम्भिक अभ्यासी के लिए चित्त को एकाग्र करने एवं प्रत्याहार द्वारा धारणा के लिए अत्यन्त उपयोगी है। गहन चिन्तन करने के लिए भी उपयोगी है। विशेषतः पढ़ाई से थके विद्यार्थी, चञ्चल महिलाएं एवं तनावपूर्ण लोगों के लिए सुखदायक है।

प्रकारान्तर — वीरासन को इस प्रकार से भी किया जाता है — वज्रासन में बैठकर दाहिने पैर को खोलकर पंजे को बाई जांघ पर रखें। हथेलियों को नमस्कार की मुद्रा में अपने सामने उठाकर सिर के ऊपर ले जाइए। आंखें बन्द कर लें। पीछे की ओर स्वतन्त्र रूप से फैले हुए बाएं पैर के सहारे घुटनों के बल पर उठिए। कुछ क्षण रुककर वज्रासन में लौटिए। फिर पैर को बदलकर कीजिए। ध्यान का केन्द्र — आज्ञा-चक्र। कमर व गर्दन सीधी रहे। श्वास सामान्य।

लाभ — पीठ के दर्द आदि दूर हो जाते हैं। लेकिन ध्यान रहे शरीर सीधा रहे; न आगे की ओर झुके न पीछे की ओर।
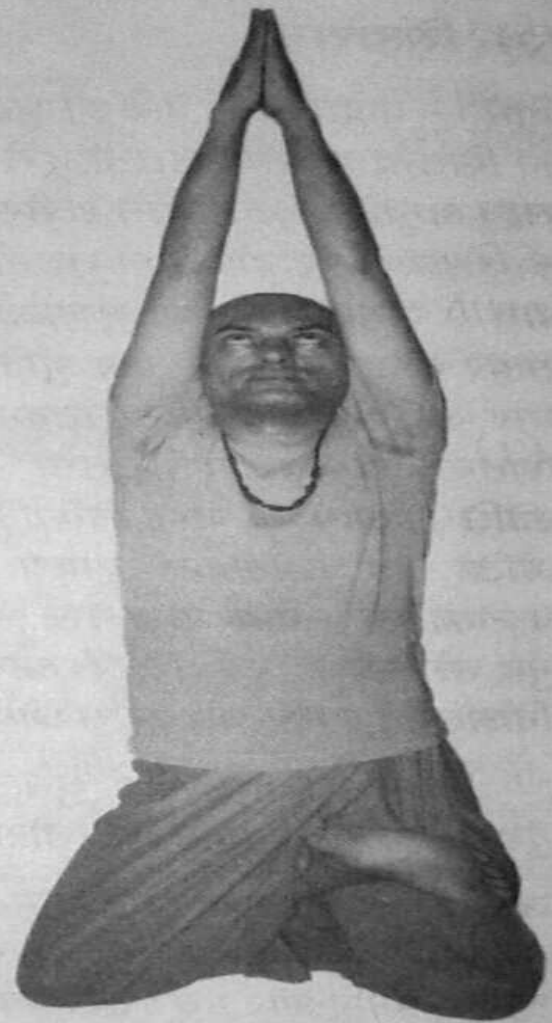
वीरासन (प्रकारान्तर)

भद्रासन
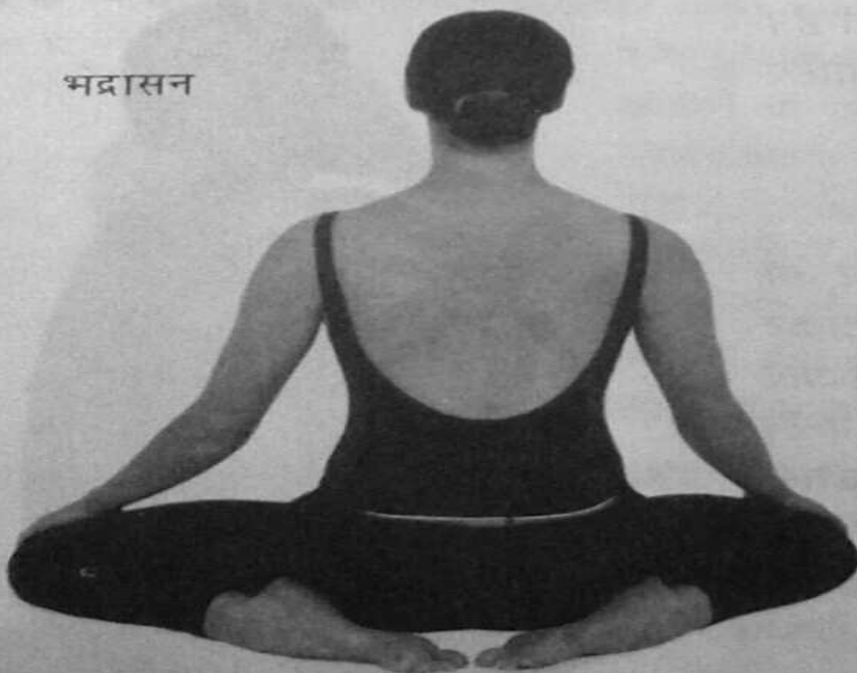
(४) भद्रासन

विधि — वज्रासन में बैठिए। घुटनों को जितना संभव हो उतना दूर-दूर करें। अब पंजों को ऐसा रखें कि अंगुलियों का सम्पर्क जमीन से बना रहे एवं नितम्बों को फर्श पर स्थापित करें। बिना तनाव के घुटनों का फासला बढ़ाइए। हथेलियों को नीचे की ओर करते हुए हाथों को घुटनों पर रखें। शरीर को सुखपूर्वक

स्थिर करके शरीर एवं मन को ढीला छोड़कर नासिकाग्र दृष्टि करें। ध्यान का केन्द्र — आज्ञा-चक्र अथवा स्वाधिष्ठान-चक्र। श्वास सामान्य रहे। कमर एवं गर्दन को सीधी रखें।

लाभ — आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने में अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि मूलाधार-चक्र में स्थित कुण्डलिनी शक्ति इस आसन से शीघ्र ही उत्तेजित होकर सक्रिय होती है। शारीरिक दृष्टि से यह आसन शरीर में उत्पन्न होने वाले समस्त विषैले पदार्थों को नष्ट कर देता है। फलतः शरीर नीरोग हो जाता है।

(५) उष्ट्रासन

विधि — प्रथम स्थिति — वज्रासन में बैठिए। कंधों की चौड़ाई के अनुसार घुटनों के बीच में फासला रहे। घुटनों के बल पर खड़े हो जाइए। पीछे से दोनों पैरों के घुटनों को समान अन्तर में रखें। पंजों को जमीन पर लेटा दीजिए। अर्थात् पंजों का ऊपरी भाग जमीन पर रहे। धड़ को दाईं तरफ मोड़ते हुए पीछे की ओर झुकिए और दाएं हाथ से बाएं पैर की एड़ी को पकड़िए। सिर को थोड़ा पीछे झुकाते हुए बाईं भुजा (हाथ) को लम्बायमान रूप में सीधे सिर के ऊपर उठाइए तथा हथेली आगे की ओर हो। शरीर का पूरा भार बाईं एड़ी पर डालते हुए स्थिर हो जाएं। अपनी दृष्टि को बाएं हाथ की अंगुलियों पर केन्द्रित करें। विपरीत दिशा में भी इसी प्रकार दुहराइए। घुटनों पर उठते हुए श्वास लें। बगल की ओर मुड़ते हुए श्वास छोडें। स्थिर स्थिति में स्वाभाविक रहें। आरम्भिक स्थिति में लौटते हुए श्वास लीजिए। ध्यान का केन्द्र — संपूर्ण रीढ़ और विशेषतः मणिपुर-चक्र।

उष्ट्रासन (१)
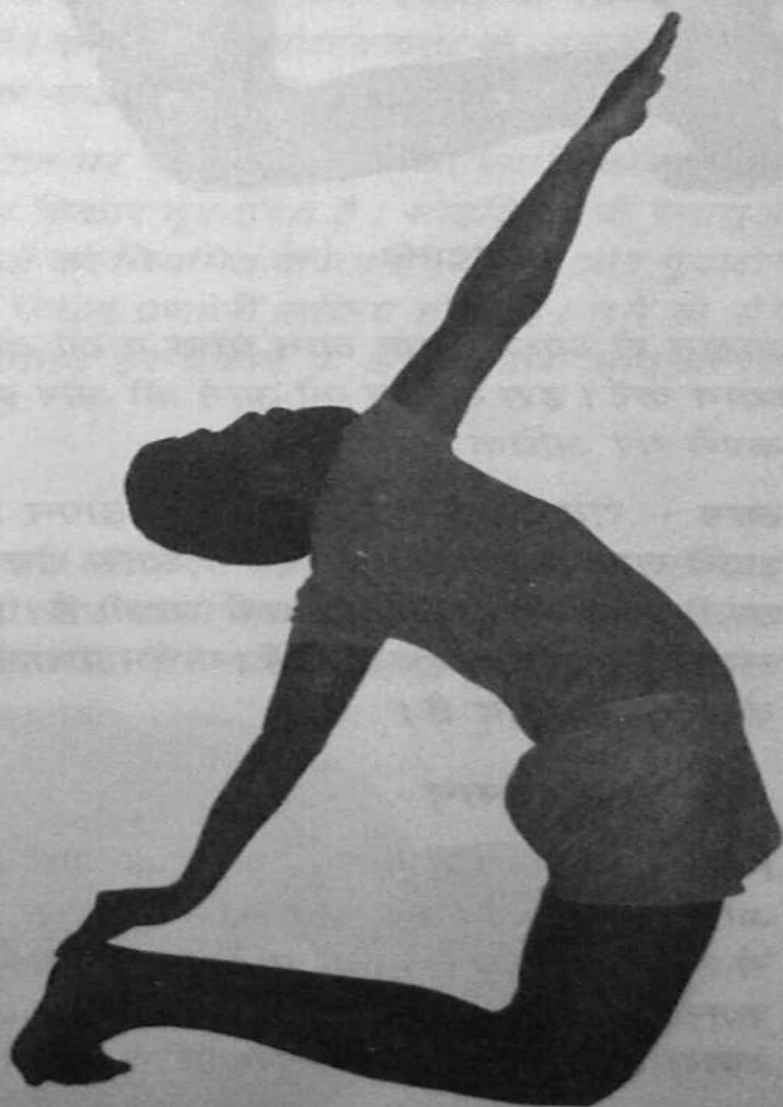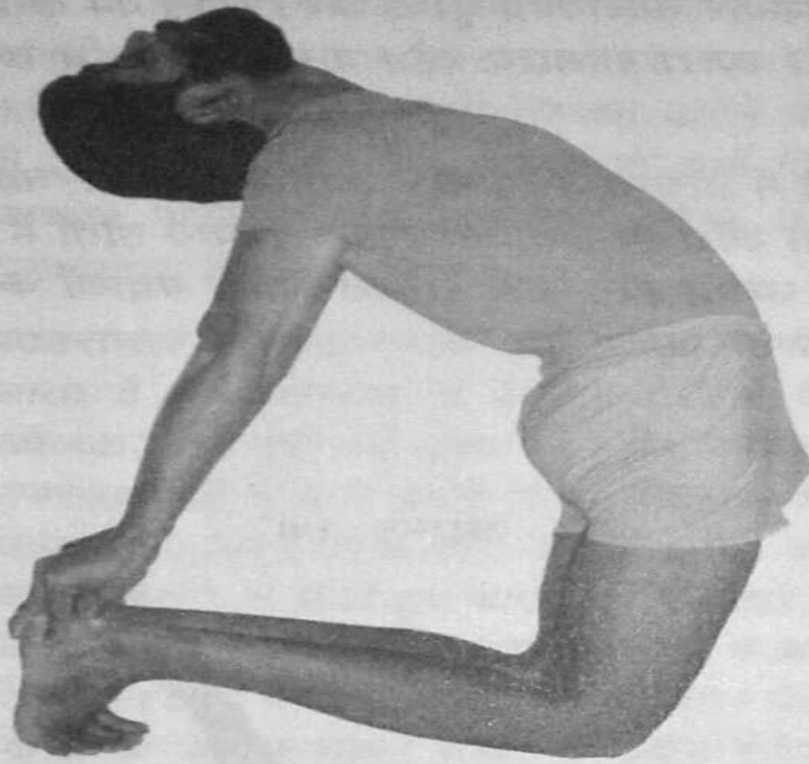
उष्ट्रासन (२)

द्वितीय स्थिति – वज्रासन में बैठने के पश्चात् पूर्ववत् घुटनों एवं पैरों को कन्धों की चौड़ाई के समान अन्तर में रखें एवं पंजों को लिटाइए। गर्दन तथा शरीर को धीरे-धीरे पीछे की ओर झुकाइए। हथेलियां तलवों पर आ जाएं। झुकते वक्त श्वास लीजिए। यथाशक्ति इस अवस्था में स्वाभाविक श्वास लेते-छोड़ते हुए रुकिए। लम्बी श्वास लेकर धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हुए वापस वज्रासन में लौटकर बैठें। पूर्ण स्थिति में जितना हो सके उतना पेट को बाहर की ओर करें और शरीर का पूरा भार पंजों पर डाल दें।

एक मिनट से तीन मिनट तक रुकें और दस बार दुहराइए। इस आसन से आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने के लिए विशुद्धि अथवा अनाहत-चक्र पर ध्यान करें। इस आसन को आगे की ओर झुककर किए जाने वाले आसनों के बाद करने पर अधिक लाभ होगा।

लाभ – रीढ़ की सारी न्यूनताएं – टेढ़ापन, स्लिपडिस्क, स्पोण्डीलाइटिस, साइटिका आदि समाप्त होते हैं। फेफड़ों में श्वास रोकने की क्षमता बढ़ती है। जंघा, उदर और छाती प्रदेश के अतिरिक्त चर्बी घटती है। हृदयरोग एवं महिलाओं की मासिक धर्म सम्बन्धी समस्याएं दूर होती हैं। पाचन प्रणाली, विसर्जन प्रणाली एवं प्रजनन प्रणालियों के लिए लाभप्रद है।

(६) शशांकासन

विधि –वज्रासन में बैठिए। कमर के पीछे बाएं हाथ से दाईं कलाई पकड़ लीजिए। आंखें बन्द करें। श्वास लीजिए और श्वास छोड़ते हुए बिना नितम्बों को उठाए कमर से सामने की ओर तब तक झुकिए जब तक कि मस्तक फर्श से स्पर्श न करे। स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास लें। पूरे शरीर एवं मन को ढीला छोड़ते हुए कुछ समय विश्राम करें। श्वास लेते हुए आरम्भिक स्थिति में वापस लौटिए।
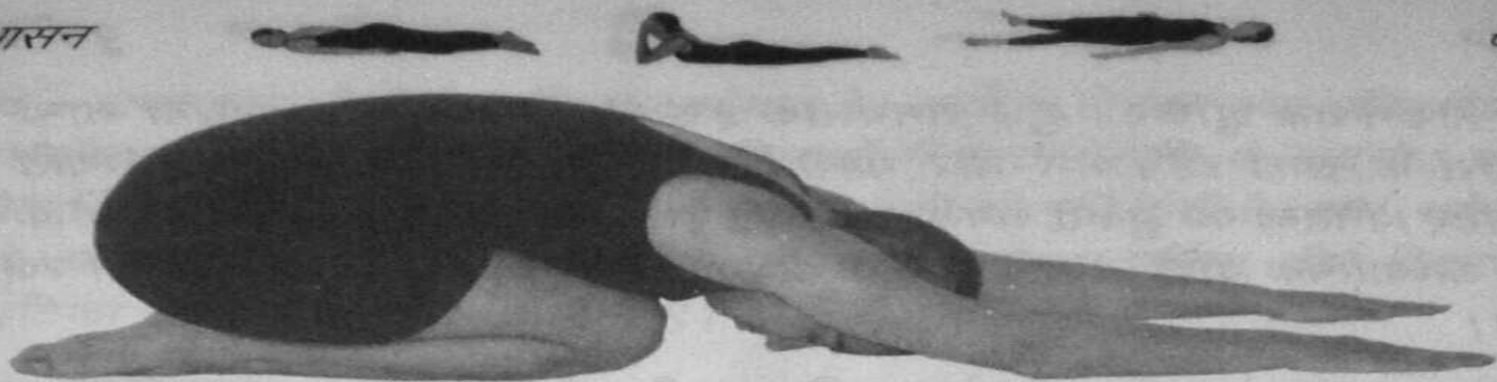
शशांकासन

प्रकारान्तर — वज्रासन में बैठकर श्वास लेते हुए हाथों को सिर के ऊपर सीधा कीजिए और धड़ की सीध में रखें। श्वास छोड़ते हुए हाथों को बिना मोड़े धड़ को सामने की ओर तब तक झुकाइए जब तक मस्तक जमीन को स्पर्श न करे और कोहनियों को पृथ्वी पर टिका दें। कुछ कुम्भक के साथ अथवा स्वाभाविक श्वास के साथ रुककर श्वास लेते हुए आरम्भिक स्थिति में लौटें। क्षमता एवं आवश्यकता के अनुसार आराम से प्रत्येक बार एक से तीन मिनट तक रुकें और ऐसे दस बार दुहराइए।

लाभ —आध्यात्मिक दृष्टि से मूलाधार चक्र पर ध्यान करें अन्यथा स्वाधिष्ठान अथवा मणिपुर-चक्र पर ध्यान करें। इससे काम विकार दूर होता है। साइटिका के स्नायुओं को शिथिल करता है और एड्रिनल ग्रन्थियों को नियमित करता है। कुल्हों और गुदाक्षेत्र की मांसपेशियों को सामान्य रखता है। पाचन प्रणाली सक्रिय होती है। दमे के रोग को नियन्त्रित करने में उपयोगी है। क्रोधादि हर प्रकार के आवेश तथा भावनात्मक असन्तुलन को समाप्त करता है।

(७) योगमुद्रा

विधि — पद्मासन में बैठकर आँखें बन्द कर लीजिए। पीठ के पीछे बाएं हाथ से दाईं हाथ की कलाई को पकड़ लीजिए। लम्बी और गहरी श्वास लीजिए। धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हुए शरीर को शिथिल करके धड़ को धीरे-धीरे सामने झुकाइए। माथे को जमीन

योगमुद्रा

पर टिकने तक झुकिए। कुछ समय तक इस स्थिति में कुम्भक अथवा सामान्य श्वास के साथ रहें। धीरे-धीरे गहरी लम्बी श्वास लेते हुए आरम्भिक स्थिति में लौटिए। नितम्ब को झुकते समय न उठाएं। ऐसे पांच बार दुहराइए। ध्यान का केन्द्र – आध्यात्मिक दृष्टि से मणिपुर-चक्र अथवा आज्ञा-चक्र। शारीरिक दृष्टि से श्वास पर।

लाभ – यह पेट और उससे सम्बन्धित शरीर के अन्य भागों की मालिश तथा कोष्ठबद्धता में लाभ करता है। रीढ़ की समस्त कशेरुकाओं को एक-दूसरे से अलग कर साफ व हल्का करता है। फलतः सुषुम्ना नाड़ी एवं मणिपुर-चक्र सम्यक् प्रकार से जाग्रत् होते हैं। उदर सम्बन्धी सभी रोग दूर होते हैं। पाचन एवं विसर्जन प्रणाली सुदृढ़ होती हैं। पौरुषग्रन्थि (Prostate gland) बढ़ती-घटती नहीं अपितु संतुलित रहती है। मोटापा कम करता है। मस्तिष्क के विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी आसन है।

(८) बद्धपद्मासन

विधि – पद्मासन में बैठें। दाहिने हाथ को पीठ के पीछे ले जाकर उससे दाएं पैर का अंगूठा पकड़िए। बायें हाथ को भी पीठ के पीछे ले जाकर दाहिने हाथ पर क्रास करते हुए बाएं हाथ से बाएं पैर का अंगूठा पकड़िए। श्वास बाहर छोड़कर थोड़ा आगे झुकेंगे तो आसानी से पकड़ सकेंगे। आगे झुकते हुए माथे को जमीन पर टिकाइए। श्वास छोड़ते हुए इस स्थिति में आकर कुछ समय तक सामान्य श्वास के साथ रुकिए। लम्बी गहरी श्वास लेते हुए वापस आइए। ध्यान का केन्द्र – आध्यात्मिक दृष्टि से अनाहत चक्र। शारीरिक दृष्टि से बैठी हुई अवस्था में नासिकाग्र पर और झुकी हुई अवस्था में मणिपुर-चक्र। पांच बार दुहराइए।
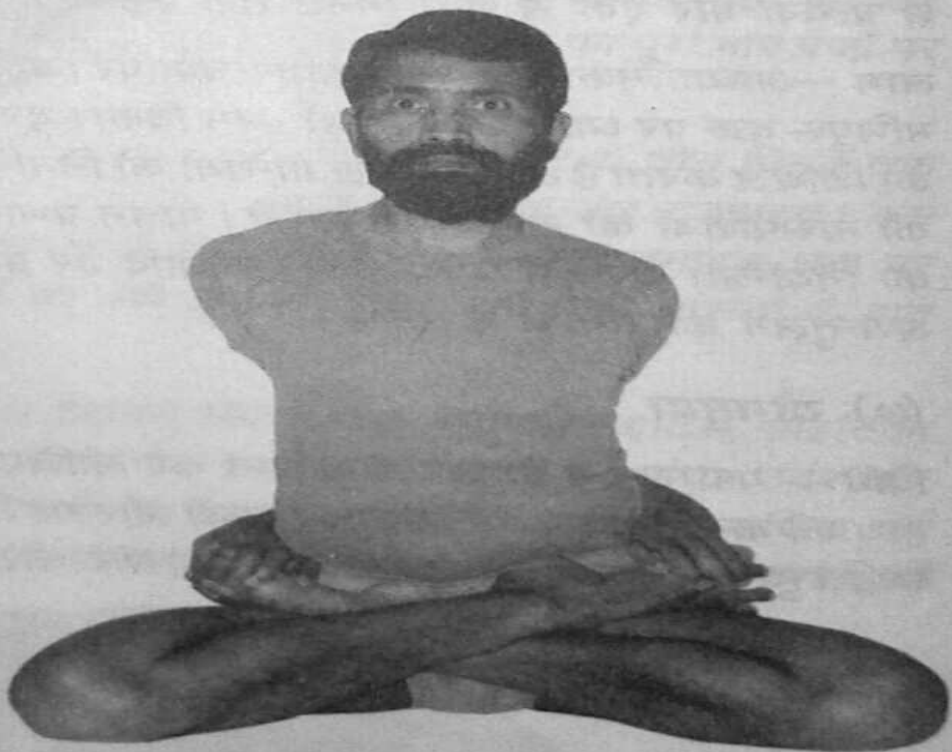
बद्धपद्मासन

लाभ — उदर सम्बन्धी रोगों के लिए फायदेमन्द है। बच्चों के विकास तथा अविकसित सीने को पुष्ट और मजबूत करता है। महिलाओं में सन्तानोत्पत्ति के बाद पेट पर पड़ी झुर्रियां इससे दूर होती हैं। स्तनों में दूध की कमी की पूर्ति होती है। हाथ, गर्दन, कन्धे, पीठ आदि स्वस्थ होंगे। मिर्गी, खांसी, दमा, भगन्दर, हर्निया, वीर्य विकार, साइटिका आदि में अत्यन्त उपयोगी है।

(९) मत्स्यासन

विधि — पद्मासन में बैठिए। पीछे की ओर झुककर लेटिए। दोनों हाथों को आपस में बांधकर सिर के नीचे रखें अथवा पीठ के हिस्से को उठाकर गर्दन मोड़ते हुए सिर के ऊपरी हिस्से को जमीन पर टिकाइए। पैरों के अंगूठे को हाथों से पकड़िए। कोहनियां जमीन पर सटी रहें। अन्तिम स्थिति में लम्बी-गहरी श्वास लीजिए और छोड़िए। एक से पांच मिनट तक अभ्यास करें। जिनको टांसिल का दोष हो अथवा गले में खट्टापन रहता हो वे अन्तिम स्थिति में शीतकारी प्राणायाम कर सकते हैं। ध्यान का केन्द्र — आध्यात्मिक हेतु अनाहत-चक्र और शारीरिक लाभ हेतु मणिपुर-चक्र। इस आसन को सर्वांगासन के बाद करेंगे तो ज्यादा लाभ होगा।
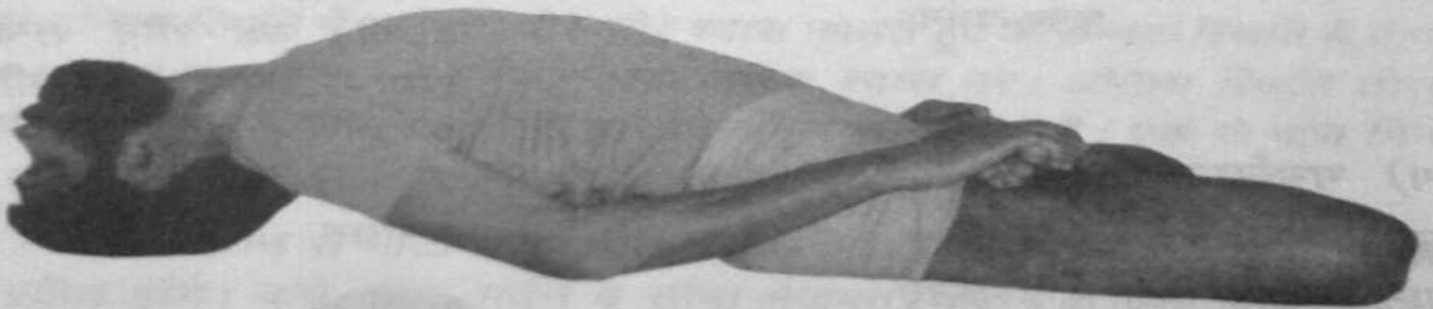
मत्स्यासन

लाभ — उदर सम्बन्धी रोगों में अत्यन्त उपयोगी है। कोष्ठबद्धता एवं पीठ में रक्त के जमघट को दूर करता है। इस आसन का विकल्प सुप्तवज्रासन है।

विशेष — एक पैर सीधा रखकर दूसरे पैर को अर्द्धपद्मासन में रख लें। शेष क्रिया पूर्ववत् करें। आरम्भिक अभ्यासी के लिए यह एक सरल तरीका है। जो व्यक्ति इसे करना भी कठिन समझते हों वे दोनों पैरों को सीधा रखें। हाथों को बगल में हथेलियों से जमीन को दबाकर रखें और शेष क्रिया पूर्ववत् कर सकते हैं।

(१०) कुक्कुटासन

विधि — कुक्कुट का अर्थ है मुर्गा। पद्मासन में बैठकर पिंडलियों और जांघों के बीच
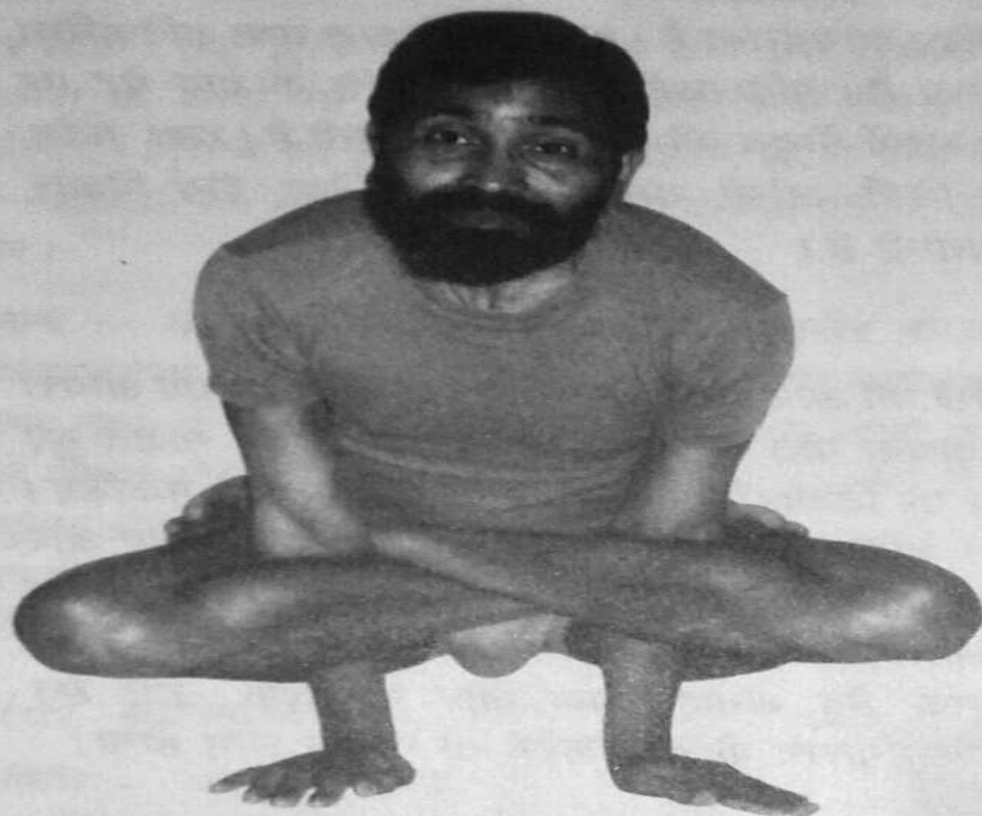
कुक्कुटासन

से हाथों को अन्दर कीजिए। अंगुलियों को सामने की ओर करते हुए हथेलियों को जमीन पर जमाइए। पूरे शरीर को हाथों के सहारे ऊपर उठाकर जितनी देर आराम से रुक सकें, रुकिए। स्वाभाविक श्वास चलता रहे। फिर वापस जमीन पर आइए। पांच बार दुहराए। ध्यान का केन्द्र — अनाहत-चक्र।

लाभ — हाथों, कन्धों व सीने को पुष्ट करेगा। आलस्य दूर होगा। सीने की चौड़ाई एवं हाथों की लम्बाई बढ़ेगी। यह सीने सम्बन्धी रोगों में अत्यन्त उपयोगी है।

(११) गर्भासन

विधि — गर्भ में स्थित बच्चे के समान दिखाई देता है इसलिए इसे गर्भासन कहते हैं। पद्मासन में बैठकर हाथों को पूर्ववत् पिण्डली एवं जांघ के बीच में प्रवेश कराकर इतना बाहर निकालें कि कोहनियां पिण्डलियों से बाहर हो जाएं। अब नितम्बों पर शरीर को संतुलित रखते हुए हाथों को ऊपर की ओर मोड़िए और कानों को पकड़िए। श्वास छोड़ते हुए कानों को पकड़ें। फिर स्वाभाविक श्वास के साथ

गर्भासन
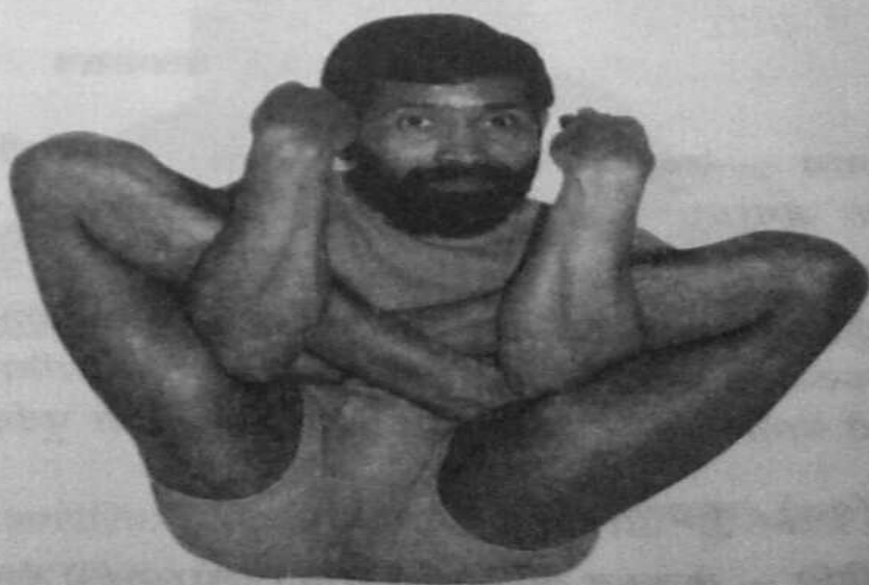
यथाशक्ति अन्तिम स्थिति में स्थिर रहें। ध्यान का केन्द्र — मणिपुर चक्र अथवा श्वास पर। पांच-दस बार दुहराइए।

प्रकारान्तर — जो लोग पद्मासन में इसे न कर सकें वे उकड़ूं बैठकर पिण्डली एवं जांघ के बीच में से अन्दर की ओर लाकर कानों को पकड़ें और सिर को यथासम्भव सीधा करें। जैसे स्कूलों में बच्चों को मुर्गा बनाया जाता है।

लाभ — यह मन एवं उदर को संतुलित करता है। स्नायु-दौर्बल्यता को दूर करता है। अपने क्रोध, असन्तोष, उद्वेग, उत्तेजना पर काबू न पा सकने वाले लोग इस आसन का अधिक अभ्यास करें। पाचन क्रिया सुदृढ़ होती है।

(१२) तोलांगुलासन

विधि — पद्मासन में बैठकर पीठ के बल लेटिए। हथेलियों को नितम्बों के नीचे रखें। कोहनियों के सहारे धड़ भाग को इस तरह उठाइए कि शरीर का भार नितम्ब और कोहनियों पर सध जाए। पैरों को भी यथासम्भव उठाइए। लम्बी गहरी श्वास लेकर सिर को मोड़कर जालंधर-बन्ध लगाइए। बिना तनाव के यथा-शक्ति आराम से इस अन्तिम स्थिति में रुकिए। धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हुए आरम्भिक स्थिति में वापस आइए। ध्यान का केन्द्र — मणिपुर-चक्र अथवा श्वास पर। अन्तिम स्थिति तौलने का साधन तराजू के समान होने से इसे तोलांगुलासन कहते हैं। एक से पांच मिनट रुकें और पांच बार दुहराइए।

लाभ — इस आसन से मोटापा दूर होता है। उदर और उससे सम्बन्धित सभी भाग दोष रहित होंगे। कंधे, पीठ, गर्दन व सीना मजबूत, पुष्ट एवं विशाल होते हैं।

तोलांगुलासन
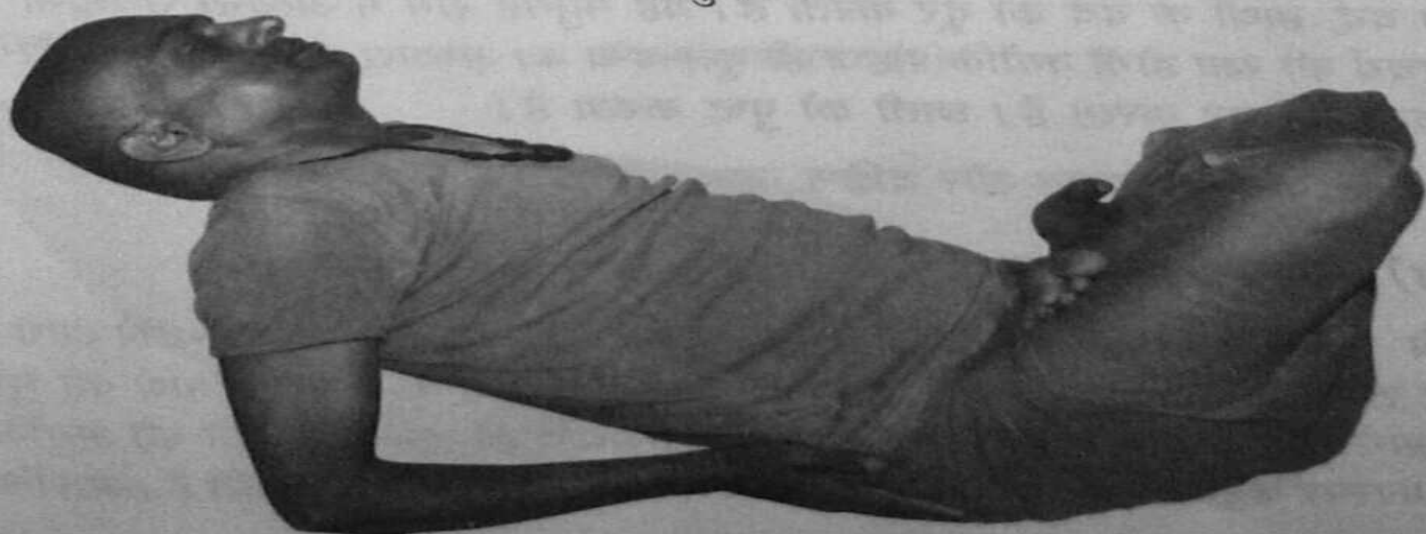
(१३) गोमुखासन

विधि — बाएं पैर की एड़ी को दाहिने नितम्ब के समीप रखिए। दाहिने पैर को बाईं जांघ के ऊपर से क्रास करते हुए इस प्रकार स्थिर करें कि घुटने एक-दूसरे के ऊपर रहें। बाएं हाथ को पीठ के पीछे मोड़कर हथेलियों को ऊपर की ओर ले जाएं। दाहिना हाथ दाहिने कन्धे पर सीधा उठा लें। पीछे की ओर घुमाते हुए कोहनी से मोड़कर हाथों को परस्पर बांध लें। धड़ एवं सिर को सीधा तानें एवं मुड़े हुए दाहिने हाथ को ऊपर की ओर आराम से यथासम्भव तानिए। स्वाभाविक श्वास के साथ इस अवस्था में यथाशक्ति रुकें। नेत्र बन्द रखें फिर वापस आरम्भिक स्थिति में आकर विश्राम करें। पांच बार दुहराइए। ध्यान का केन्द्र — आज्ञा-चक्र अथवा श्वास पर। हाथ और पैर को उल्टाकर पांच बार दुहराइए।
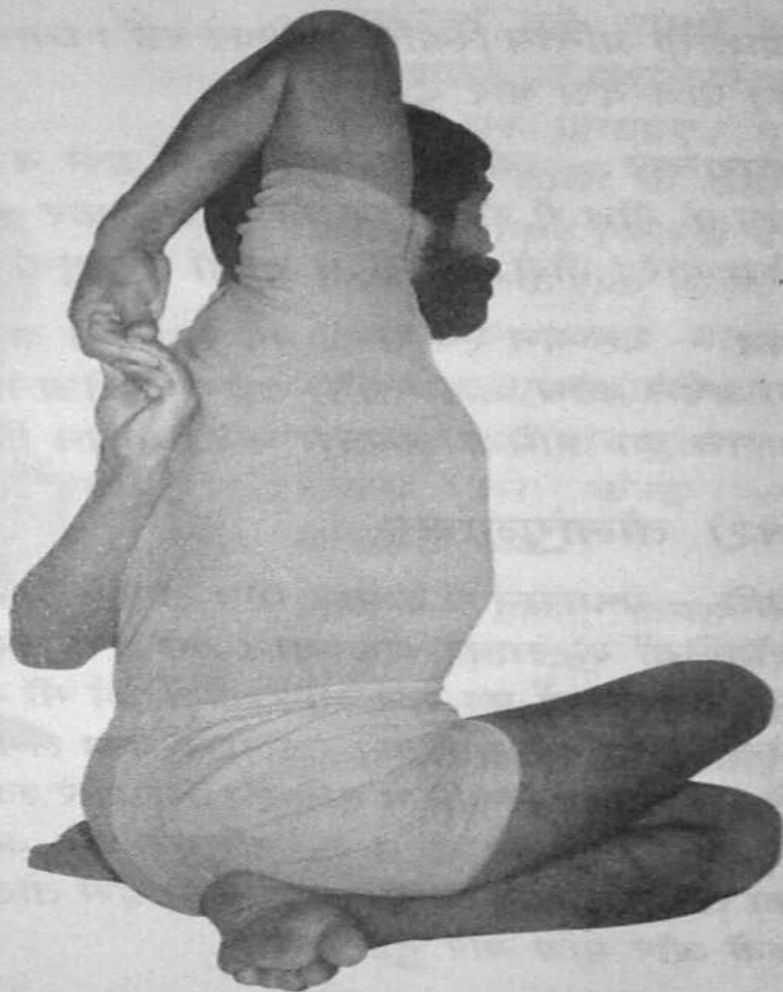
गोमुखासन

लाभ — गठिया, साइटिका, बवासीर, जांघ एवं पैर के नाड़ी-दोष, अपच, मन्दाग्नि, पीठ दर्द, हाथों के दर्द को दूर करता है। यह मधुमेह रोग में अत्यन्त उपयोगी है। ब्रह्मचर्य की रक्षा होगी क्योंकि सहज ही मूल-बन्ध का अभ्यास होता है। अतः लैंगिक विकारों को दूर करता है। छाती को पुष्ट करता है।

प्रभेद — वाम जान्वासन और दक्षिण जान्वासन।

(१४) पश्चिमोत्तानासन

विधि — पैरों को सटाकर सीधे सामने फैलाकर बैठिए। शरीर को धीरे-धीरे आगे की ओर श्वास छोड़ते हुए झुकाइए। हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़िये एवं माथे को घुटने के आगे पैरों पर अथवा घुटने पर ही टिकाइए। यदि हो सके तो हाथों की अंगुलियों को परस्पर फंसाकर तलवों के नीचे जमीन पर रखें, यह अन्तिम स्थिति है। आरम्भिक

अभ्यासी टखने को पकड़कर कर सकते हैं। हाथों को अंगूठे पकड़कर/टखने पकड़कर/पंजों के नीचे रखकर अपनी ओर खींचते हुए कोहनियों को पृथ्वी पर टिका दें। परन्तु पैरों को कहीं से भी मोड़ना नहीं एवं शरीर पर जोर भी न डालें, आराम से जितना हो उतना करें। स्वाभाविक श्वास के साथ इस स्थिति में यथाशक्ति रुकें। लम्बी गहरी श्वास लेते हुए आरम्भिक स्थिति में लौटिए। आध्यात्मिक लाभ के लिए स्वाधिष्ठान-चक्र पर ध्यान करते हुए अधिक समय तक रुकते हुए दस से पन्द्रह बार दुहराइए। शारीरिक लाभ के लिए श्वास पर अथवा मणिपुर-चक्र पर ध्यान करें।
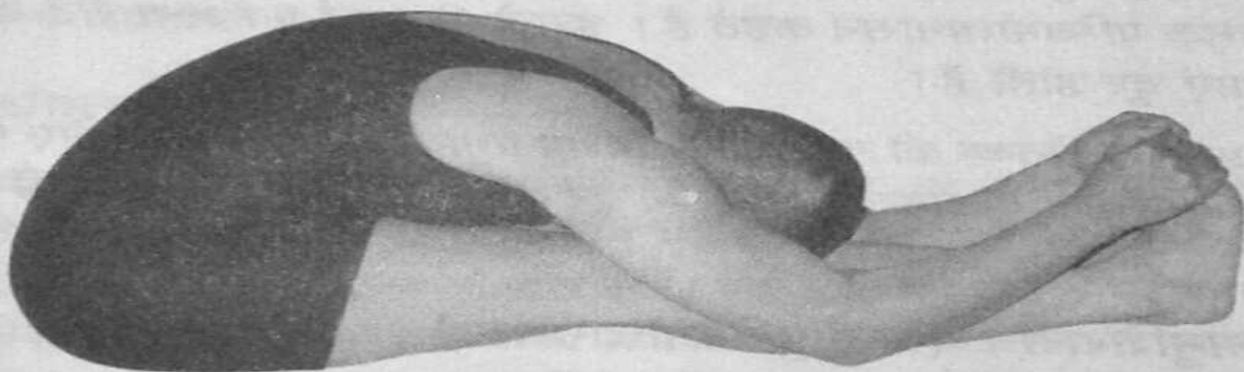
पश्चिमोत्तानासन (१)

हृदय, साइटिका, दीर्घकालीन गठिया, पीठ दर्द एवं उदर के रोगी बिना योग-प्रशिक्षक के न करें। पश्चिम का अर्थ है पीठ, पीठ को विशेष रूप से तानने के कारण इसे पश्चिमोत्तानासन कहते हैं। यह एक महान् आसन है। शीर्षासन और सर्वांगासन के बाद साधक के लिए यह अति आवश्यक एवं अत्यन्त उपयोगी आसन है।

पश्चिमोत्तानासन (२)
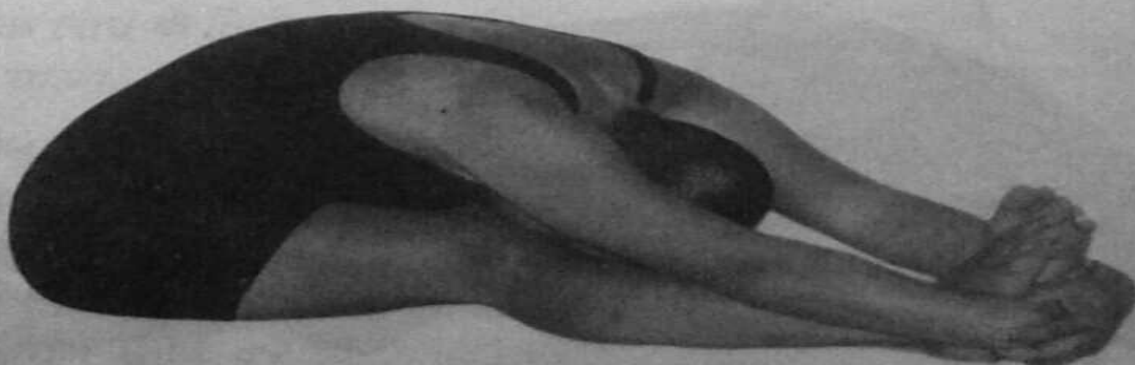
लाभ — इससे ब्रह्मनाड़ी, सुषुम्ना और जठराग्नि जाग्रत् होते हैं। पेट, कमर एवं नितम्बों की अनावश्यक चर्बी को घटाकर स्वस्थ करता है। मोटापा, कोष्ठबद्धता, कब्ज़, बवासीर आदि से छुटकारा मिलता है। उदर संस्थान की समस्त ग्रन्थियों को क्रियाशील करता है। मधुमेह आदि रोगों में फायदेमंद है। स्त्रियों के लिए प्रजनन सम्बन्धी अंगों के रोगों को दूर करने में उपयोगी है। अब इस आसन को गत्यात्मक करें अर्थात् लेट जाएं, पैरों को सटाकर तानकर रखें। हाथों को भी सिर के ऊपर जमीन पर सीधे तानकर रखें। श्वास लेते हुए हाथों को बिना मोड़े धड़ भाग को उठाएं और सीधा बैठें। श्वास छोड़ते हुए पश्चिमोत्तानासन करें। वापस प्रथम लेटी हुई स्थिति में लौटें। इसे गत्यात्मक पश्चिमोत्तानासन कहते हैं। इससे पीठ दर्द एवं अन्य रीढ की हड्डी की समस्याएं दूर होती हैं।

यह आसन मस्तिष्क की नाड़ियों पर विशेष प्रभाव डालता है। इसलिए मानसिक संतुलन एवं मस्तिष्क के समस्त तनावों को दूर करने में आसन विशेषरूप से उपयोगी है।

(१५) जानुशिरासन (अर्द्ध-पश्चिमोत्तानासन)

विधि — सामने की ओर पैर फैलाकर बैठिए। बाएं पैर को मोड़कर इस प्रकार रखिए कि एड़ी पेरेनियम (जंघा के मूल प्रदेश) से छूती रहे एवं पंजा दाएं पैर की जांघ से सटा रहे। कमर, पीठ, सिर को सीधा रखकर श्वास भरते हुए हाथों को सिर के ऊपर सीधा तान लें। श्वास छोड़ते हुए आगे की ओर बिना पैरों व हाथों को मोड़े और झुकिए। पैर के अंगूठे को हाथों सें पकड़कर अपनी ओर खींचते हुए कोहनियों को जमीन पर टिकाइए। माथे को घुटने से स्पर्श करने दें। थोड़ी देर इस स्थिति में कुम्भक लगाए रहें। श्वास लेते हुए पहली स्थिति में लौटें। ध्यान का केन्द्र — स्वाधिष्ठान-चक्र।

जानुशिरासन

प्रकारान्तर — पैरों को सामने की ओर सीधे सटाकर फैलाकर बैठिए। बाएं पैर को मोड़कर दाईं जांघ पर स्थापित करें अर्द्ध-पद्मासन जैसे। शेष क्रिया जानुशिरासन के समान कीजिए।

यदि हो सके तो बाएं हाथ को पीठ के पीछे से घुमाकर बाएं पैर को पकड़िए।

इस प्रकारान्तर को अर्द्ध-पद्मपश्चिमोत्तानासन कहते हैं।

लाभ — पश्चिमोत्तानासन के सभी लाभ प्रायः इससे प्राप्त हो सकते हैं। विशेषतः यौनविकार, वीर्यदोष, मधुमेह, पैर के साइटिका, आंतों की गर्मी, वायु प्रकोप एवं मूत्रावरोध में उपयोगी है।

(१६) अर्धमत्स्येन्द्रासन

विधि — दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठें। श्वास भर कर दाहिने पैर को उठाकर बाएं घुटने के बाहर की ओर सीधा जमीन पर रखें। अब बाएं पैर को दाहिनी ओर मोड़कर एड़ी को दाहिने नितम्ब के पास रखें। बाएं हाथ को दाहिने पैर के बाहर की ओर से लेकर दाहिने पैर के टखने को अथवा अंगुलियों को पकड़ें। श्वास छोड़ते हुए बाएं हाथ से इस प्रकार तानिए कि दाहिना घुटना बाईं भुजा के समीप रहे। साथ-साथ शरीर को दाहिनी ओर मोड़ते हुए दाहिने हाथ को पीछे की ओर कमर के पास रखें। ग्रीवा एवं पीठ को अधिक से अधिक मोड़ते हुए पीछे की ओर दृष्टि करें। सामान्य श्वास के साथ इस अवस्था में यथाशक्ति रुकें, कुम्भक के साथ रुकेंगे तो अधिक लाभ होगा। श्वास लीजिए और छोड़ते हुए पहली स्थिति में लौटिए। विपरीत ओर से भी करें। पांच बार दुहराइए। ध्यान का केन्द्र — आध्यात्मिक लाभ के लिए आज्ञा-चक्र और शारीरिक लाभ के लिये स्वाधिष्ठान चक्र।

अर्धमत्स्येन्द्रासन

लाभ — रीढ़ की मालिश होती है इसलिए रीढ़ की समस्त समस्याएं जैसे साइटिका, स्पोंडिलाइटिस, सिर का माईग्रेन आदि दूर
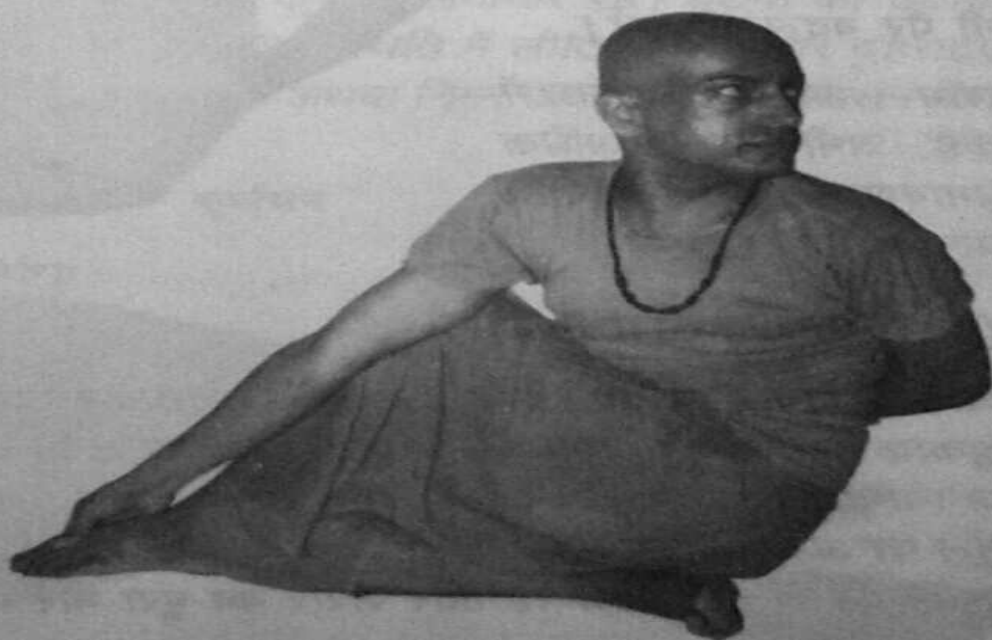
होते हैं। पाचन प्रणाली को संतुलित करता है। मधुमेह, पुरानी पेचिश, पेट के कीड़े एवं अन्य पाचन सम्बन्धी रोगों से मुक्ति होती है। समस्त नाड़ी संस्थान पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। नसों की दुर्बलता एवं अन्य नाड़ी दोष दूर होते हैं। मस्तिष्क से संबंधित नाड़ियों को शक्तिशाली बनाता है।

(१७) पूर्णमत्स्येन्द्रासन

विधि — अर्द्ध पद्मासन की स्थिति में बाएं पैर को दाहिनी जांघ के मूल में रखें। दाहिने पैर को बाएं घुटने के बाएं बाजू में बाहर की तरफ से रखिए। तलवा भूमि पर समतल जमाएं। श्वास छोड़ते हुए दाहिनी ओर मोड़िए। बाएं हाथ से दाहिने पैर के टखने को पकड़िए या संभव हो तो अंगूठे अथवा पंजे को पकड़िए। दाहिने हाथ को पीछे की ओर घुमाकर दाहिने पैर के उठे हुए घुटने के समीप लाएं। हो सके तो स्पर्श करें। बाएं हाथ का सहारा लेकर दाहिने घुटने को दबाते हुए कमर को दाहिनी ओर यथासम्भव मोड़िए। अन्त में सिर को भी दाहिनी ओर मोड़कर पीछे की ओर देखें। सिर किसी प्रकार न झुकाएं। इस अन्तिम स्थिति में बिना तनाव के आराम से यथाशक्ति रुकें। अन्तिम अवस्था में सामान्य श्वास अथवा कुम्भक करें। वापस लौटते हुए श्वास लें अर्थात् पूरक करें। ध्यान का केन्द्र — आज्ञा-चक्र अथवा पीठ एवं उदर अथवा श्वास पर। विपरीत दिशा से भी पैर बदलकर करें।

लाभ — अर्धमत्स्येन्द्रासन में कहे सभी लाभ अधिक प्रभावशाली ढंग से शीघ्र प्राप्त होंगे।

पूर्णमत्स्येन्द्रासन

(१८) पादांगुष्ठासन

विधि — उकड़ूं बैठिए। एड़ियों को ऊपर उठाकर पंजों पर बैठिए। घुटनों को नीचे झुकाकर जांघों को जमीन के समानान्तर स्थिर करें। बाएं पैर की एड़ी को गुदा तथा जननेन्द्रिय के बीच सीवनी नाड़ी पर स्थापित करें। बाएं पैर की जंघा अथवा जंघा मूल पर अर्द्ध-पद्मासन की स्थिति में दाहिने पैर को इस प्रकार सावधानी से रखें कि शरीर का संतुलन बना रहे और शरीर का पूरा भार बाएं पैर के पंजे अथवा अंगूठे

पर हो। दोनों हाथों को ज्ञानमुद्रा में रखें। श्वास सामान्य रहे। ध्यान का केन्द्र — मूलाधार-चक्र। दूसरे पैर से भी इस क्रिया को करें।

लाभ — ब्रह्मचर्य पालन एवं धातुप्रमेह में लाभदायक है। स्वप्न-दोष का निवारक है। वात व रक्त सम्बन्धी बवासीर दूर होती है। नेत्र-दृष्टि कमजोर नहीं होती। पैरों विशेषतः पंजों एवं अंगूठे की शक्ति और लचीलापन बढ़ता है।

पादांगुष्ठासन

(१६) कूर्मासन

विधि — श्वास भरकर पैरों को दूर-दूर फैलाकर बैठिए। श्वास छोड़ते हुए सामने की ओर धड़ को झुकाइए। दोनों हाथों को घुटनों के नीचे से पीछे की ओर ले जाइए। माथे को जमीन पर टिकाइए। दोनों हाथों को कमर के पास अंगुलियों से परस्पर बांध लीजिए। शरीर को और घुटने को यथा-सम्भव जमीन की ओर आराम से दबाकर सामान्य श्वास के साथ अथवा कुम्भक लगाकर रहें। घुटनों को उठाकर हाथों को शिथिल करके श्वास लेते हुए प्रथम स्थिति में लौटिए। पांच बार दुहराइए। ध्यान का केन्द्र स्वाधिष्ठान या मणिपुर-चक्र अथवा निम्न उदर प्रदेश या श्वसन क्रिया पर।
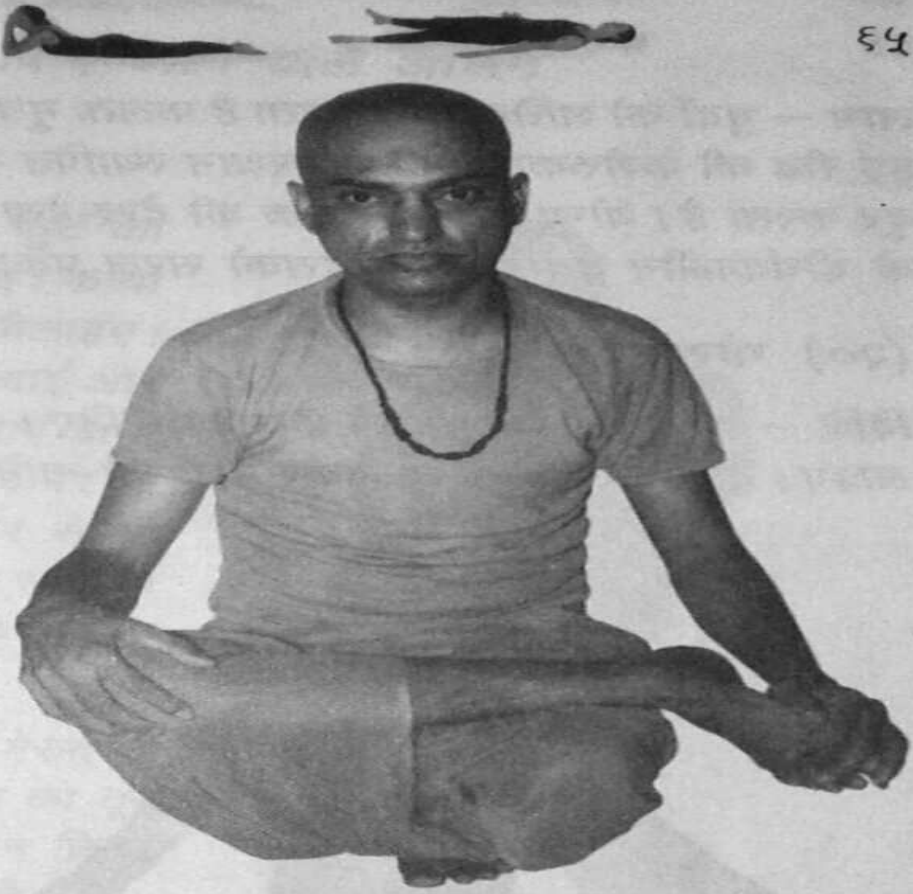
कूर्मासन
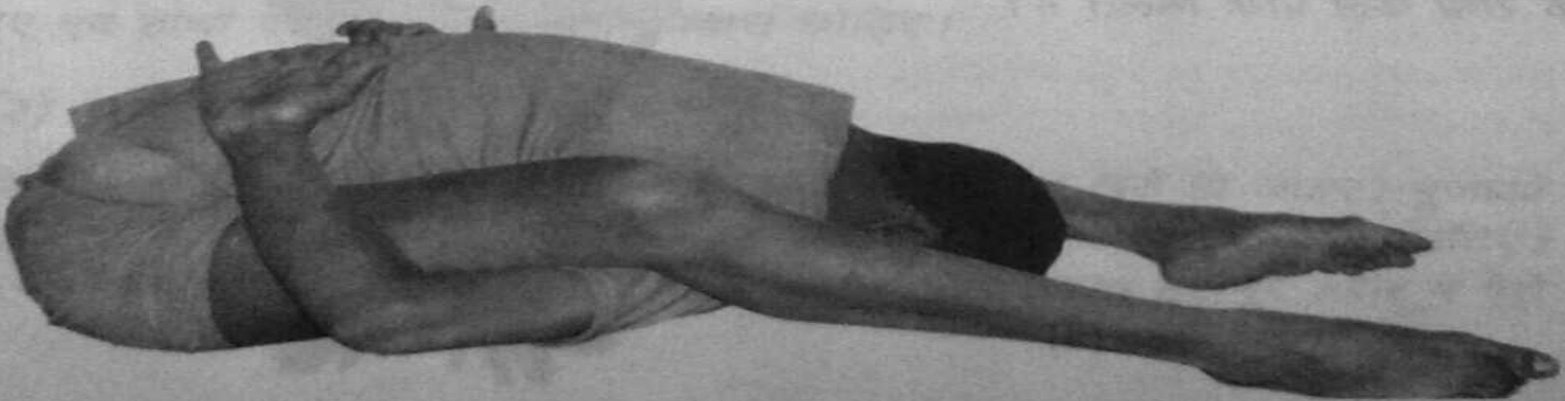
लाभ — गुर्दों को शक्ति प्रदान करता है फलतः मूत्र-सम्बन्धी रोग दूर होते हैं। खिसकी हुई रीढ़ की कशेरुकाओं को यथास्थान स्थापित करता है। सिरदर्द व गर्दन-दर्द को दूर करता है। योग्य योग-प्रशिक्षक की देख-रेख में स्लिपडिस्क, साइटिका, हड्डियों के दीर्घकालीन दर्द के रोगी इसको सरल प्रकार से कर सकते हैं।

(२०) गोरक्षासन

विधि — दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठिए। घुटनों को मोड़िए और अपनी ओर लाइए। दोनों तलवों को मिलाकर पंजों को नाभि की ओर उठाकर शरीर के समीप रखिए। हाथों की हथेलियों को कैंचीनुमा स्थिति में रखते हुए उनमें एड़ियों को पकड़ें। कमर, रीढ़ व सिर सीधा रहे। सामान्य श्वास के साथ यथाशक्ति इस अन्तिम अवस्था में रहें। ध्यान का केन्द्र — आज्ञा-चक्र या नासिका दृष्टि अथवा श्वास पर। पांच बार दुहराइए।
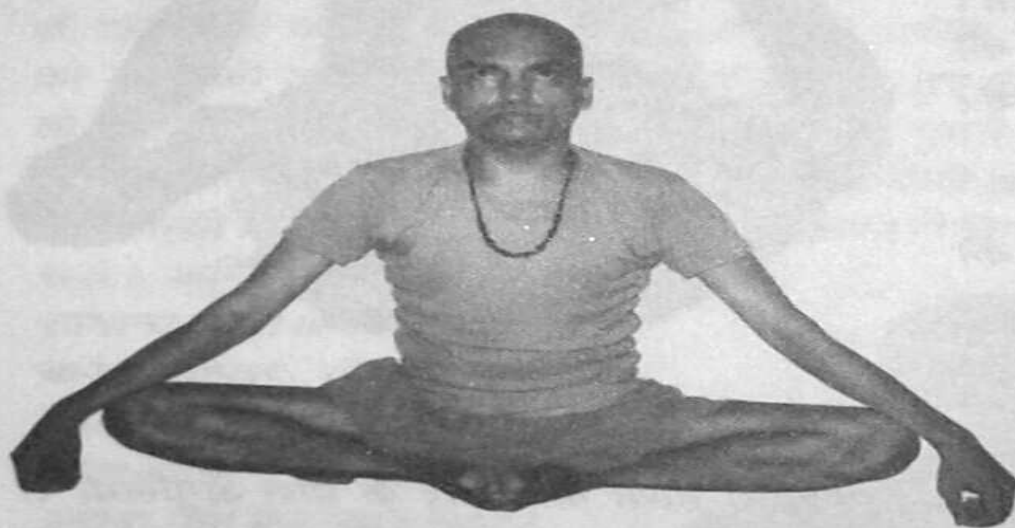
गोरक्षासन (१)

लाभ — पूर्ण अभ्यासी इसमें ध्यान कर सकता है। पैरों एवं पंजों को लचीला बनाता है। मत्स्येन्द्रासन के सभी फल प्रायः मिलते हैं।
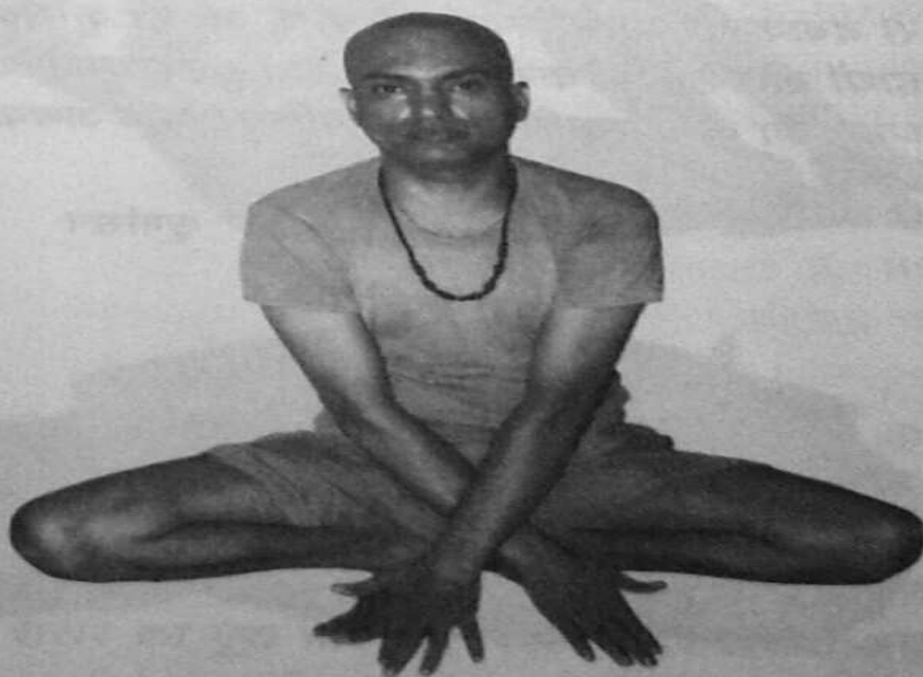
गोरक्षासन (२)

खड़े होकर किए जाने वाले आसन

(१) कटि चक्रासन

विधि — पैरों के मध्य में दो-तीन फुट का फासला छोड़कर सीधे खड़े हो जाइए। कन्धों की ऊँचाई पर भुजाओं को बगल में फैलाइए। शरीर के ऊपरी भाग (कटि भाग से) दाईं ओर मोड़िए। बायां हाथ दाएं कन्धे पर एवं दायां हाथ पीछे की तरफ घूमता हुआ कमर से लिपट जाए। अभ्यास को बाईं ओर से भी कीजिए। दस बार दुहराइए। श्वास सामान्य रहे। ध्यान का केन्द्र अनाहत-चक्र अथवा नाभि पर।

कटि चक्रासन

लाभ — यह कमर, पीठ, कुल्हों के मेरुदण्ड तथा शरीर के अन्य जोड़ों के तनाव को दूर करता है। हठयोग की शंख-प्रक्षालन क्रिया के आसन समूह का चौथा आसन है।

प्रकारान्तर — पूर्ववत् खड़े होकर नाभि के सामने हाथों की अंगुलियों को परस्पर बांध लीजिए। भुजाओं को सिर के ऊपर उठाइए और कलाइयों को घुमाकर हथेलियों को ऊपर की ओर पलटिए। अब कमर से शरीर के ऊपरी भाग को न मोड़ते हुए आगे की ओर झुकिए। दाईं-बाईं ओर घूमते हुए समकोण बनाइए। पीठ को सीधी रखते हुए हाथों पर दृष्टि रखें। चार बार घूमकर वापस हाथों को नाभि के सामने रखकर विश्राम करें। ऐसे पांच बार दुहराइये। हाथों को उठाते समय व दाईं ओर घूमते हुए श्वास लीजिए। शरीर को झुकाते समय बाईं ओर घूमते हुए एवं हाथों को नीचे लाते समय श्वास छोड़िए।
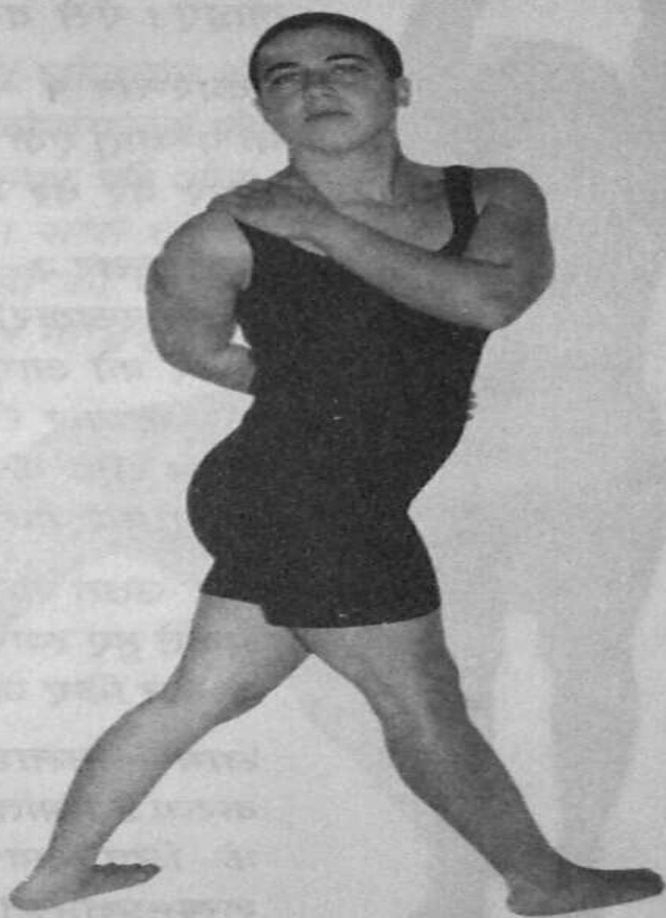
(२) ताड़ासन

विधि — पैरों के बीच पांच-छः इंच का फासला छोड़कर खड़े हो जाइए। भुजाओं को सिर पर सीधे उठाइए। अंगुलियों को बांधकर हथेलियों को ऊपर की ओर पलटिए। अपने हाथों की ओर दृष्टि कीजिए। एड़ियों को ऊपर उठाते हुए पूरे शरीर में ऐसे

ताड़ासन

खिंचाव लाइए जैसे कोई ऊपर से हाथ पकड़कर आपको ऊपर की ओर खींच रहा हो। अंगुलियों पर शरीर को संतुलित करते हुए यह क्रिया करें। धीरे-धीरे एड़ियों को वापस जमीन पर लाइए। ऐसे दस बार दुहराइए।

प्रकारन्तर १ — एड़ियों को उठाकर अंगुलियों पर खड़े होने के पश्चात् एक पैर को उठाकर आगे व पीछे की ओर झुलाइए। दूसरे पैर पर शरीर को संतुलित रखना है।

प्रकारान्तर २ — कलाइयों को सिर के ऊपर कैंचीनुमा बनाकर (क्रास रखकर) खड़े होइए। कमर से जमीन के समानान्तर शरीर को आगे की ओर झुकाइए। झटिति धड़ को एड़ियों पर उठाकर रीढ़ में खिंचाव पैदा करें और हाथों को दोनों बगल सीधे फैलाइए। वापस एड़ियों पर लौटते हुए शरीर को सीधा करें एवं हाथों को ऊपर कैंचीनुमा में लौटाइए।

उठते समय श्वास लें और नीचे आते समय अथवा सामने झुकते हुए श्वास छोड़ें। दस बार दुहराइए। शीर्षासन आदि सिर के बल किए जाने वाले आसनों के बाद अवश्य करना चाहिए।

लाभ — मलाशय एवं आमाशय की मांसपेशियों को विकसित करता है। आंतों को फैलाता है। मेरुदण्ड और स्नायु के विकास के लिए अवरोधकों को दूर करता है। यह आसन भी शंख–प्रक्षालन क्रिया के आसन समूह में से प्रथम है।
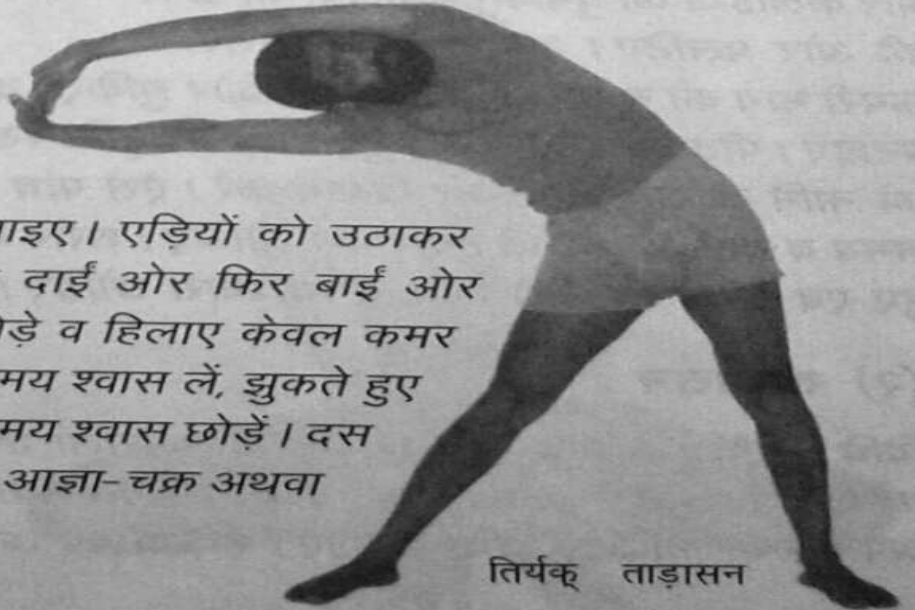
(३) तिर्यक् ताड़ासन

विधि — ताड़ासन में खड़े हो जाइए। एड़ियों को उठाकर अंगुलियों पर खड़े होकर पहले दाईं ओर फिर बाईं ओर क्रमशः झुकिए। बिना पैरों को मोड़े व हिलाए केवल कमर से झुकनी चाहिए। ऊपर उठते समय श्वास लें, झुकते हुए श्वास रोकें, नीचे की ओर आते समय श्वास छोड़ें। दस बार दुहराइए। ध्यान का केन्द्र — आज्ञा-चक्र अथवा श्वास पर।

तिर्यक् ताड़ासन

लाभ — ताड़ासन के प्रायः सभी लाभ इससे प्राप्त होंगे। यह शंख-प्रक्षालन आसन समूह का द्वितीय आसन है।

(४) त्रिकोणासन

विधि — पैरों के बीच दो-तीन फुट का फासला छोड़कर सीधे खड़े हो जाइए। कन्धों की ऊँचाई तक दोनों भुजाओं को बगल में फैलाइए। अपने दाएं हाथ को दाएं कान से सटाते हुए ऊपर की ओर सीधा उठाइए। श्वास लेकर उसमें खिंचाव पैदा करें। सांस छोड़ते हुए धीरे-धीरे बाईं ओर झुकिए। बाएं हाथ की हथेली को जमीन पर टिकाइए। दाएं हाथ की हथेली को जमीन की ओर मोड़िए, इससे दाएं हाथ में खिंचाव के साथ दायां बगल भी खिंचेगा। श्वास लेते हुए आरम्भिक स्थिति में लौटिए। यह क्रिया दाईं ओर से भी करें। दस बार दुहराइए। ध्यान का केन्द्र — मणिपुर-चक्र।

लाभ — स्नायविक विकार एवं तनाव, निराशा, आलस्य आदि को दूर करता है। कब्ज़ को दूर कर भूख बढ़ाता है। बढ़ती उम्र के बच्चों के लिये विशेष लाभकारी है।
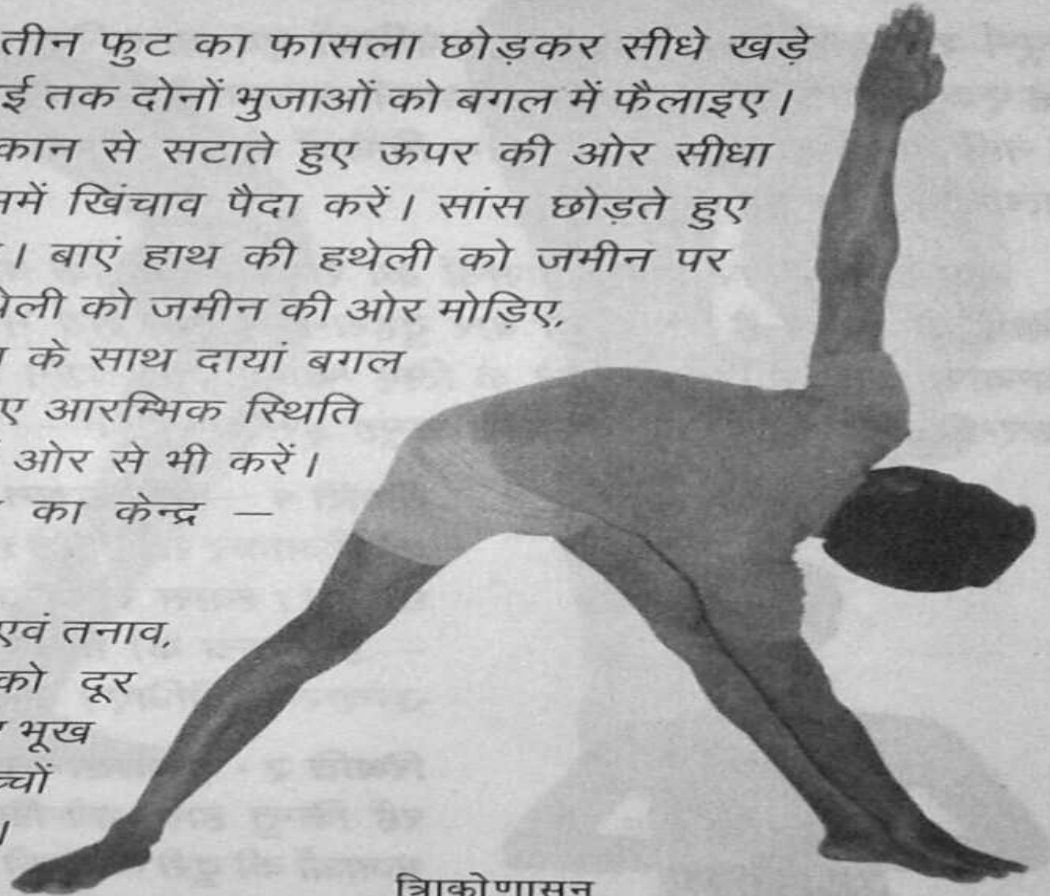
त्रिाकोणासन

प्रकारान्तर १ — त्रिकोणासन की आरम्भिक स्थिति में खड़े होइए। शरीर को धीरे-धीरे दाहिनी ओर झुकाते हुए दाहिने हाथ से पंजे को स्पर्श करें और बाएं हाथ को बाईं बगल पर रखिए। घुटनों को न मोड़ें।

प्रकारान्तर २ — पूर्ववत् खड़े हो जाइए किन्तु हाथों को पीछे की ओर ले जाइए। दाएं हाथ से बाएं हाथ की कलाई को पकड़िए। शरीर को कमर से झुकाते हुए नाक से घुटने को छूने का प्रयास करें। क्रमशः एक बार दाएं घुटने और दूसरी बार बाएं घुटने को छुएं। हर बार वापस सीधे (प्रथम अवस्था में) खड़े हो जाएं।

प्रकारान्तर ३ — खड़े होकर भुजाओं को बगल में सीधे फैलाइए। शरीर को कमर से इतना झुकाएं कि समकोण बन जाए। धड़ को (घुटनों को मोड़े बिना) घुमाइए और बाएं हाथ से दाएं पैर का स्पर्श करें। दृष्टि आकाश की ओर फैले हुए दाएं हाथ की अंगुलियों पर रहे। इसी क्रिया को वापस सीधी अवस्था में लौटकर दूसरी ओर भी

करें। ऐसे २० बार दुहराइए। उठते हुए श्वास लें, घूमते समय कुम्भक करें और झुकते समय श्वास छोड़ें।

(५) सूर्य नमस्कार

संपूर्ण शरीर के सभी जोडों, मांसपेशियों एवं आन्तरिक अंगों की मालिश करने का यह एक अद्‌भुत एवं अत्यन्त प्रभावशाली अभ्यास है। यद्यपि योग-परम्परा में इसे आसनों में नहीं माना गया है। तथापि योग-विधियों के पूर्व इसका अभ्यास करने से योगाभ्यास अत्यन्त सरल हो जाता है।

सूर्य नमस्कार बारह आसनों का समूह है जो कि बारह मास के राशि चक्र के चिह्नों के सदृश है। इन्हें दो बार दुहराने से एक सूर्य नमस्कार पूरा होता है। इस अभ्यास का पूर्ण लाभ उठाने के लिए श्वास, चक्र, ध्यान एवं मन्त्र प्रयोग साथ-साथ करना चाहिए। वे बारह आसन समूह इस प्रकार हैं —

प्रार्थनासन
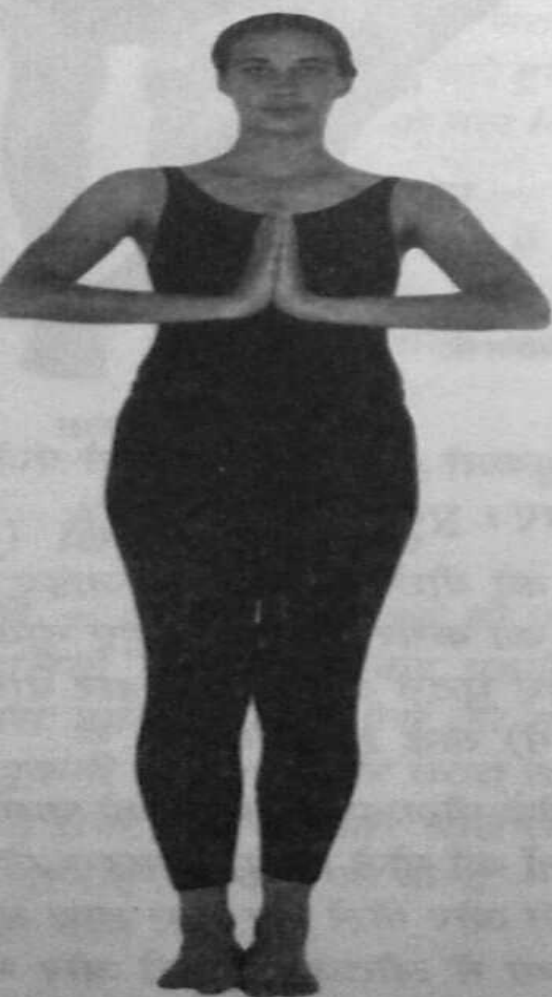
स्थिति १ — प्रार्थनासन — प्रार्थना की मुद्रा में पंजों को मिलाकर सीधे खड़े होइए। पूरे शरीर को शिथिल छोड़िए। श्वास सामान्य रहे। **ॐ हां—मित्राय नमः** — इस मन्त्र को मौखिक अथवा मानसिक रूप से उच्चारण कीजिए। अनाहत-चक्र पर ध्यान करें।

स्थिति २ - हस्तोत्तानासन — उसी स्थिति में खड़े रहें किन्तु हाथों को सिर के ऊपर उठाइए। दोनों भुजाओं की दूरी कंधों की चौड़ाई के बराबर हो। सिर और ऊपरी धड़ को थोड़ा पीछे झुकाते हुए भुजाओं को यथासम्भव पीछे की ओर झुकाइए। थोड़ी देर रुकिए। **ॐ ह्रीं रवये नमः** — इस मन्त्र का उच्चारण करें। श्वास लीजिए। विशुद्धि-चक्र पर ध्यान करें।

स्थिति ३ — पादहस्तासन — सामने की ओर झुकते हुए हाथ को (न हो सके तो अंगुलियों को) जमीन पर दोनों पैरों के बगल में टिकाइए। माथे से घुटनों को स्पर्श करें। पैरों को न मोड़ें। जोर भी न लगाएं। श्वास छोड़ते हुए इस अभ्यास को करें। **ॐ हूं सूर्याय नमः** — इस मन्त्र का जप करें। स्वाधिष्ठान-चक्र पर ध्यान करें।
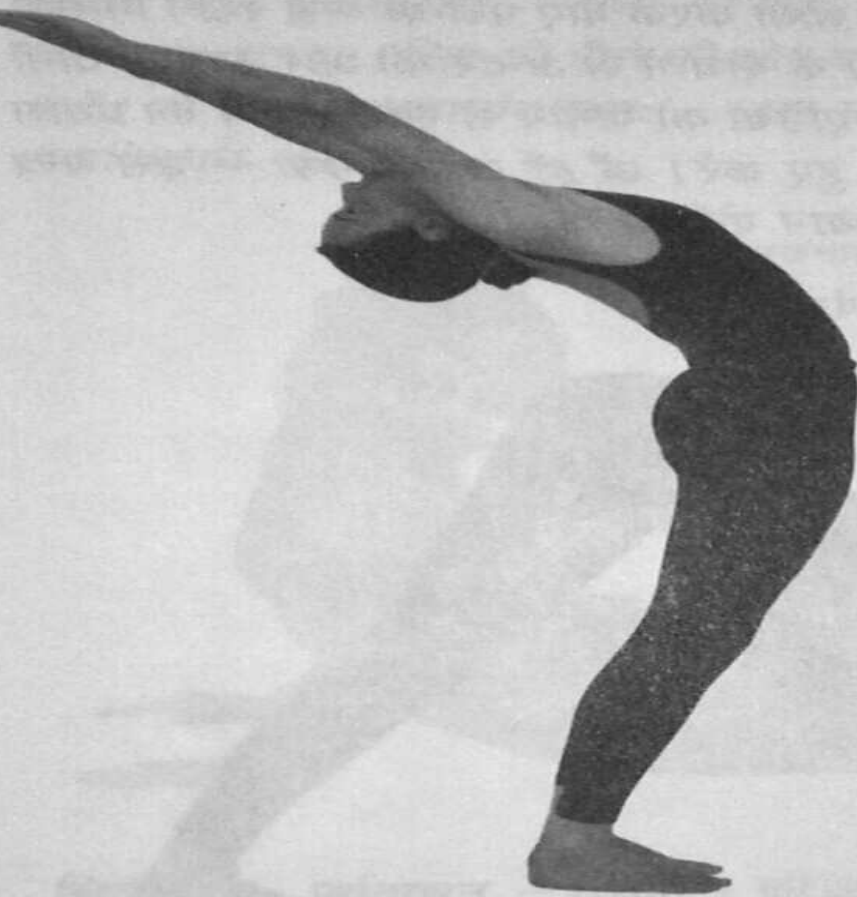
हस्तोत्तानासन

पादहस्तासन

स्थिति ४ — अश्वसंचालनासन — बाएं पैर को जितना सम्भव हो सके उतना पीछे फैलाइए। इसे करते समय दाहिने पैर को केवल घुटनों से मोड़िए। हाथों को अपने स्थान पर और स्वयं स्थिर व सीधा रहें। सिर को पीछे की ओर झुकाइए। कमर को धनुषाकार मोड़िए। दृष्टि को भ्रूमध्य पर टिकाइए। श्वास लेते हुए इस अभ्यास को करें। ***ॐ हैं भानवे नमः*** — इस मन्त्र का उच्चारण करें। आज्ञा-चक्र पर ध्यान करें।
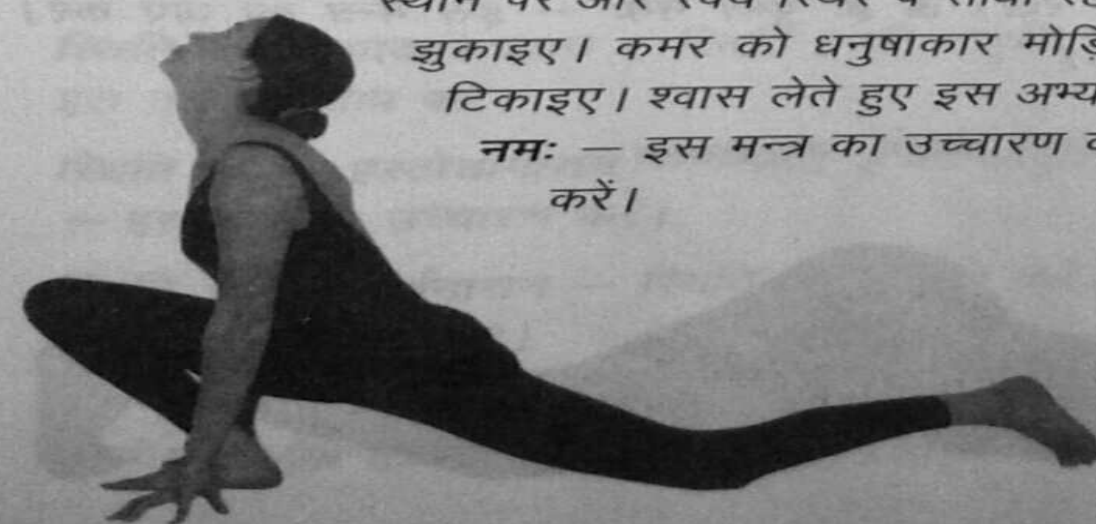
अश्वसंचालनासन

स्थिति ५ — पर्वतासन — दाएं पैर को सीधा करके बाएं पंजे के पास रखें। नितम्बों को ऊपर उठाइए और सिर को भुजाओं के बीच में से अन्दर की ओर लाइए। दोनों पैर एवं भुजाएं पर्वताकार में सीधी रहें। एड़ियों को जमीन से स्पर्श कराने का प्रयास कीजिए। पूरी क्रिया को श्वास छोड़ते हुए करें। ***ॐ ह्रौं खगाय नमः*** — इस मन्त्र का उच्चारण करें। विशुद्धि-चक्र पर ध्यान केन्द्रित करें।

पर्वतासन
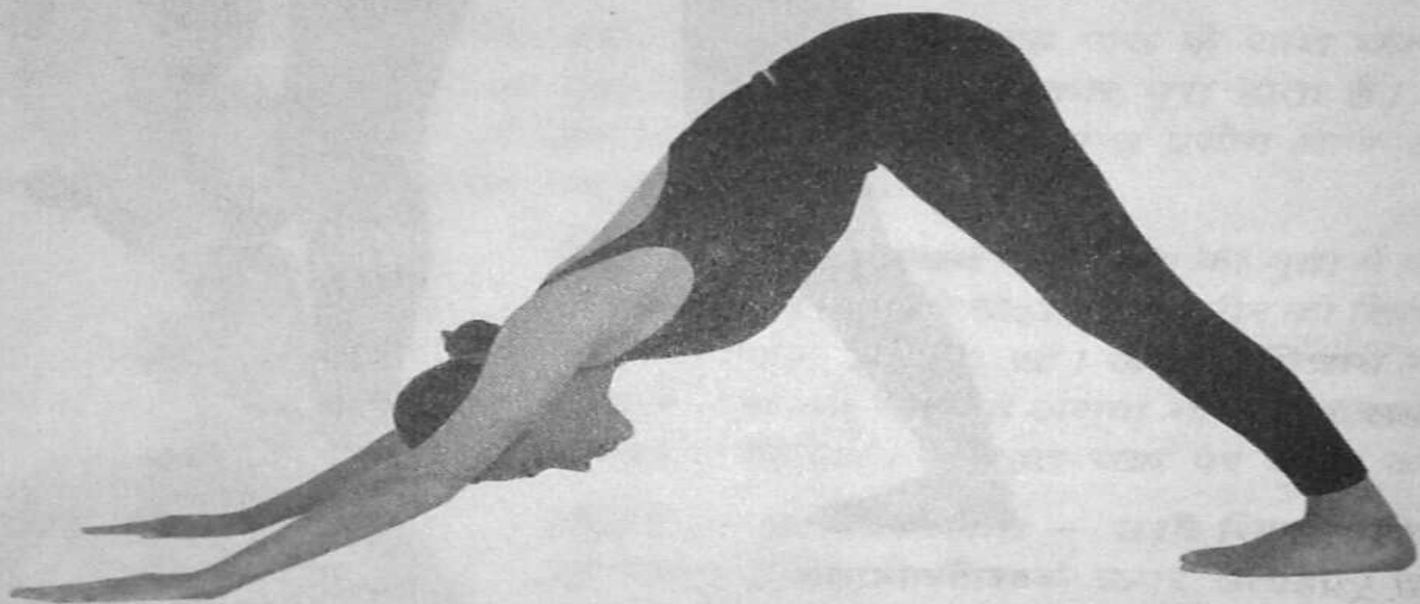
स्थिति ६ — अष्टांग नमस्कारासन — शरीर को भूमि पर इस प्रकार लेटा दीजिए कि दोनों पैरों की अंगुलियां, दोनों घुटने, सीना, दोनों हथेलियां तथा ठुड्डी भूमि का स्पर्श करें। नितम्ब व आमाशय का भाग जमीन से थोड़ा ऊपर उठा रहे। इस क्रिया के दौरान कुम्भक लगाए रखें। **ॐ ह्रः पूष्णे नमः** — इस मन्त्र का जप करें। मणिपुर-चक्र पर ध्यान हो।

अष्टांग नमस्कारासन

स्थिति ७ — भुजंगासन — हाथों को सीधे करते हुए कमर से ऊपरी भाग के शरीर को ऊपर उठाइए। सिर को पीछे की ओर यथासम्भव झुकाइए। श्वास लेते हुए क्रिया करें। ***ॐ हां हिरण्यगर्भाय नमः*** — इस मन्त्र का जाप करें। ध्यान का केन्द्र — स्वाधिष्ठान-चक्र।

भुजंगासन
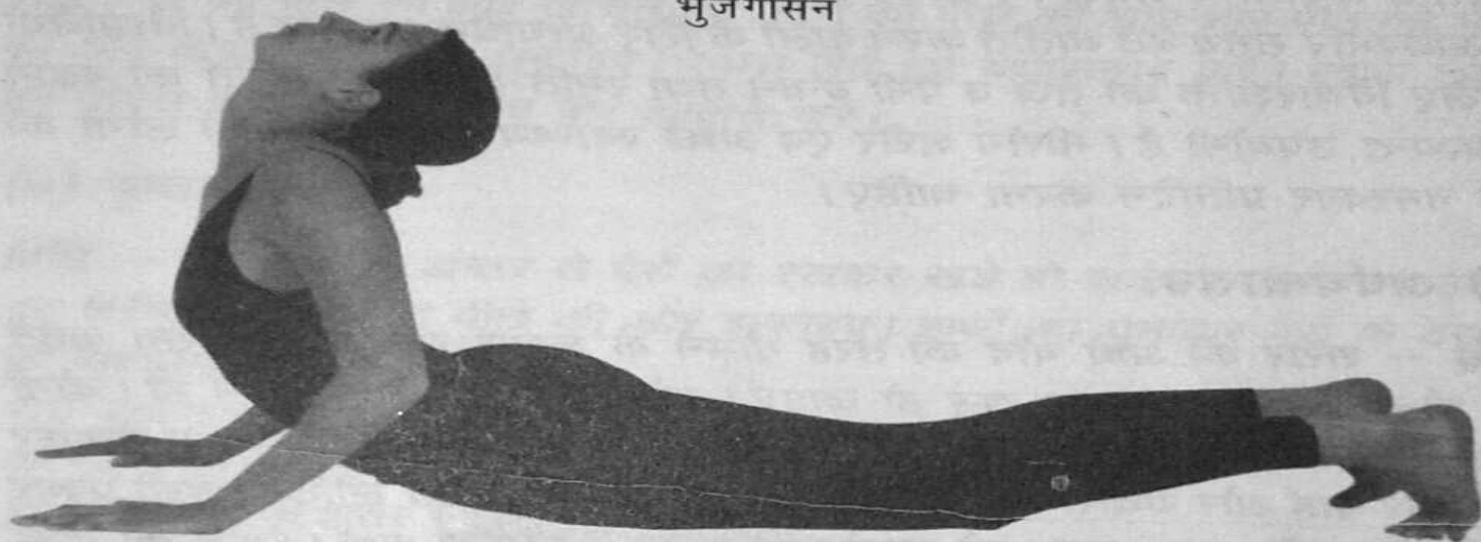
स्थिति ८ — पर्वतासन — स्थिति ५ की आवृत्ति करें। केवल मन्त्र में अन्तर है शेष क्रिया ५वीं स्थिति के समान करें। ***ॐ ह्रीं मरीचये नमः*** — इस मन्त्र का उच्चारण करें।

स्थिति ९ — अश्वसंचालनासन — दायां पैर मोड़िए और दाएं पंजे को हाथों के पास भीतर में जमाइए। स्थिति ४ की आवृत्ति करें। ***ॐ ह्रूं आदित्याय नमः*** — इस मंत्र का जाप करें।

स्थिति १० — पादहस्तासन — स्थिति ३ की आवृत्ति करें। ***ॐ ह्रैं सावित्रे नमः*** — इस मंत्र का जाप करें।

स्थिति ११ — हस्तोत्तानासन — स्थिति २ की आवृत्ति करें। ***ॐ ह्रौं अर्काय नमः*** — इस मंत्र का उच्चारण करें।

स्थिति १२ — प्रार्थनासन — स्थिति १ की भाँति करें। ***ॐ ह्रः भास्कराय नमः*** — इस मन्त्र का जाप करें।

इन्हीं १२ आसनों को थोड़े रूपान्तर से दुहराने पर एक सूर्य नमस्कार पूरा होगा। फर्क यह है कि चौथी स्थिति में दाएं पैर को पीछे ले जाइए और नवीं स्थिति में बाएं

पैर को मोड़िए और बाएं पंजे को हाथों के पास भीतर में जमाइए।

लाभः — आध्यात्मिक लाभ के लिये तीन से बारह चक्र तक धीमी गति से कर सकते हैं। शारीरिक लाभ के लिए थोड़ी तेजी अर्थात् मध्यम गति से तीन से मात्र बारह चक्र अथवा बिना थकान के जितना चक्र कर सकें उतना अभ्यास करें। इससे शरीर की समस्त प्रणालियों में संतुलन स्थापित होता है। विशेषतः बैठे रहकर कार्य करने वाले एवं अधिकतर समय बैठे व्यतीत करने वालों के लिए अत्यधिक लाभप्रद है। विद्यार्थियों के लिए विचारशक्ति को तेज व पैनी बनाने तथा स्मृति-शक्ति एवं स्फूर्ति को बढ़ाने में अत्यन्त उपयोगी है। नीरोग शरीर एवं अच्छे स्वास्थ्य की इच्छा वाले लोगों को सूर्य नमस्कार प्रतिदिन करना चाहिए।

(६) अर्धचन्द्रासन

विधि — शरीर को आधे चाँद की तरह मोड़ने के कारण इसे अर्धचन्द्रासन कहते हैं। दोनों पैरों को सटाकर खड़े हो जाइए। हथेलियां नमस्कार मुद्रा में हों। दोनों हाथों को सिर के ऊपर कानों से सटाकर सीधे तानिए। श्वास लीजिए। श्वास रोककर धीरे-धीरे बाईं ओर यथासम्भव झुकें। श्वास छोड़ते हुए वापस लौटिए। इसी प्रकार दाईं ओर करें। इस आसन को करते हुए आगे की ओर न झुकें। ध्यान का केन्द्र — मणिपुर-चक्र। पांच बार आवृत्ति करें।

अर्धचन्द्रासन
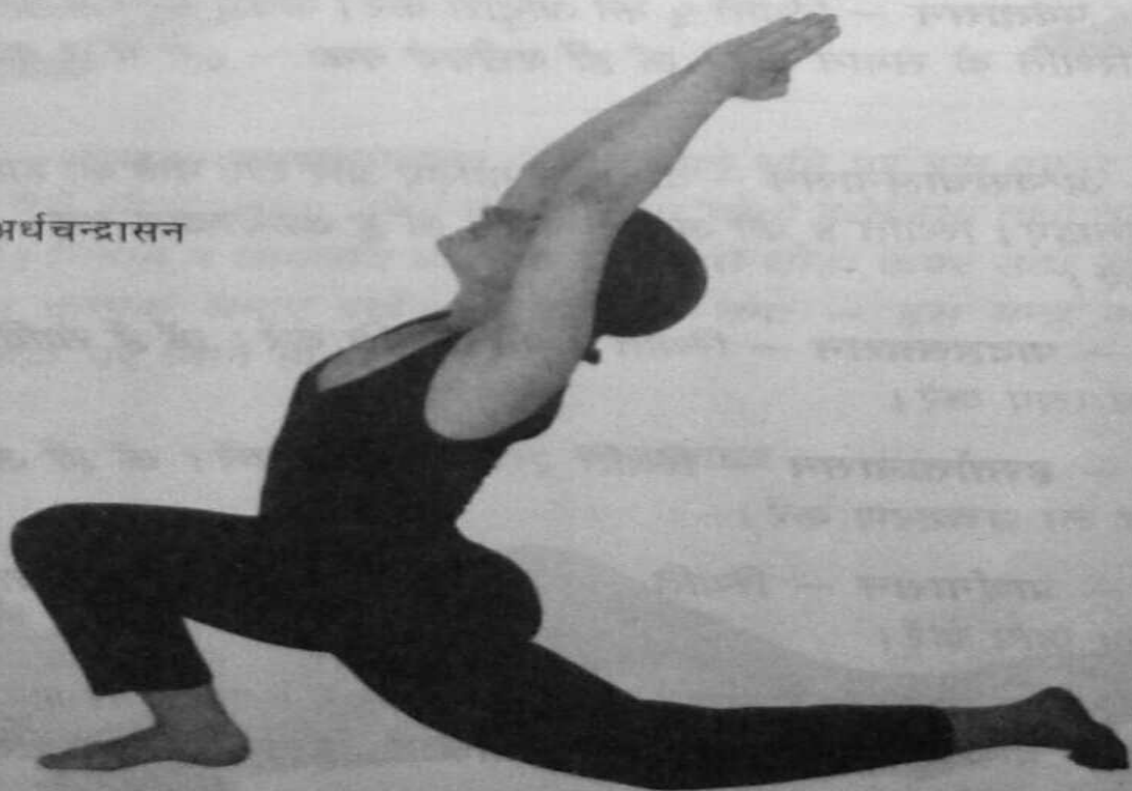
लाभ —पूरे ढाँचे को मजबूत एवं लचीला बनाता है। विशेषतः बड़ी आंत, रीढ़ की माँसपेशियां, स्नायुमण्डल, नितम्ब, घुटने, जंघाएं एवं पसलियों पर प्रभाव पड़ने से इन्हें पुष्ट करता है और उनमें स्थित रोग एवं दर्दादि दूर करता है।

प्रकारान्तर — दोनों पैरों को सटाकर खड़े हो जाइए। श्वास छोड़ते हुए पूरे शरीर को मोड़ते हुए दोनों हाथों को पैरों के बगल में रखिए। किन्तु जमीन पर न जमाइए। दाहिने पैर को पीछे की ओर खींचते हुए गर्दन को पीछे की ओर और पीठ को भीतर की ओर कमान की तरह झुकाइए। श्वास लेते हुए यथासम्भव करें। श्वास छोड़ते हुए वापस सीधे होइए। पांच बार आवृत्ति करें।

(७) पृष्ठासन

विधि — एक फुट के अन्तर से पैरों को रखकर खड़े हो जाइए। हाथों को उठाते हुए शरीर को कमर से पीछे की ओर झुकाइए। हाथों को घुमाकर पैरों के टखनों को पकड़िए। सिर को पीछे झुकाइए। शरीर का संतुलन बनाए रखते हुए यथासम्भव पूरे शरीर को विशेषतः पीठ एवं सिर को जमीन की ओर लाने का प्रयत्न करते हुए झुकाइए। वापस खड़े हो जाइए। श्वास लेकर आसन करना एवं छोड़ते हुए वापस खड़े होना चाहिए।

इस आसन को हृदय, रक्तचाप, पेट के अल्सर एवं पीठ के विशेष दोष वाले रोगी न करें। ध्यान का केन्द्र — मणिपुर-चक्र अथवा पीठ की मांसपेशियों पर।

लाभ — पीठ एवं उदर संस्थान को मजबूत करता है।

पृष्ठासन
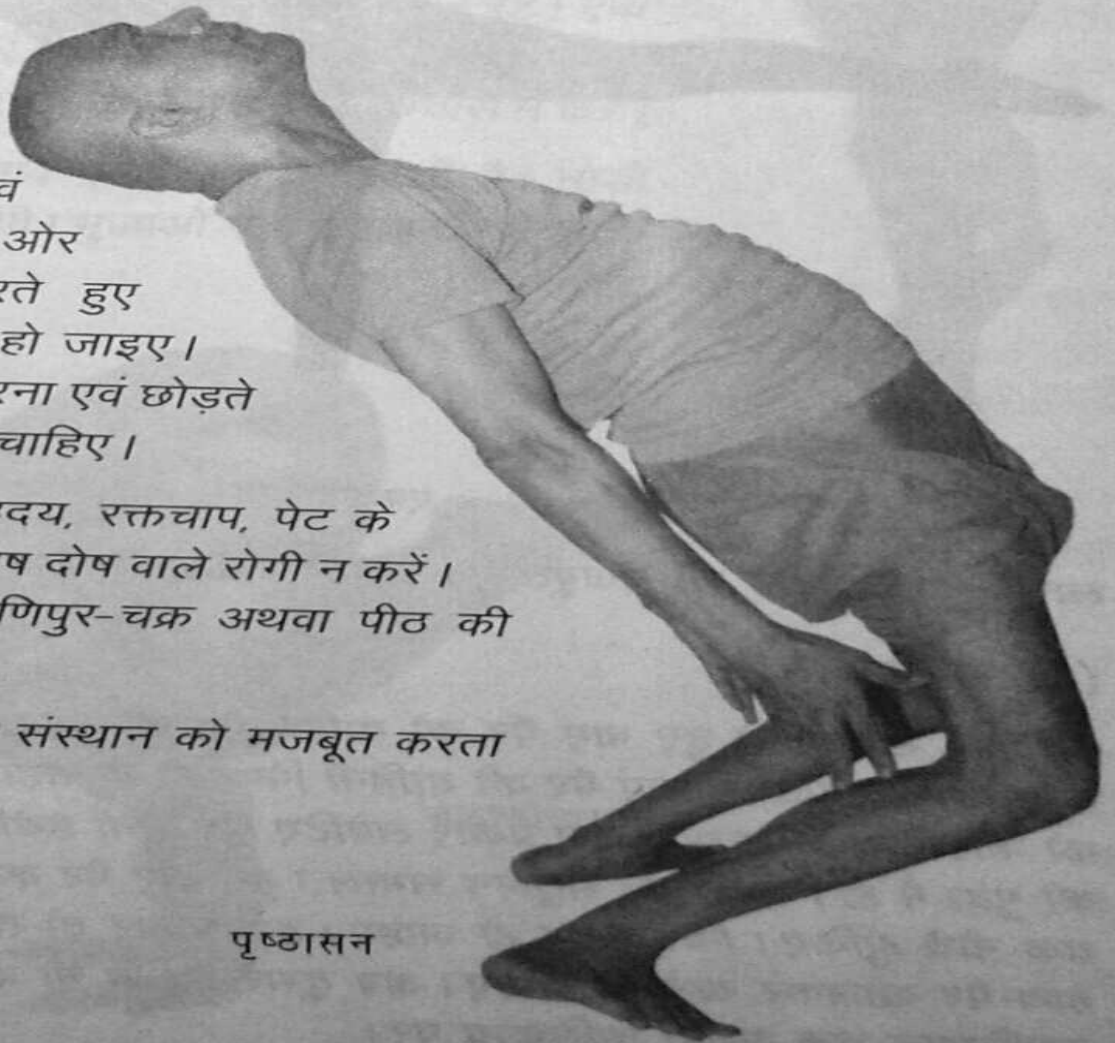
(८) एकपादासन

विधि — दोनो पैरों को सटाकर सीधे खड़े रहिए। दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में बांधकर सिर के ऊपर सीधा तानिए। धीरे-धीरे सामने झुककर कमर, सिर और दोनों हाथों को एक सीधी रेखा में ले जाइए। अब शरीर के संतुलन को बनाए रखते हुए बाएं पैर को भी सीधी रेखा में शामिल करें। अर्थात् दाहिना पैर खम्बे के समान हो और उस पर बाई एड़ी, घुटना, नितम्ब, पीठ, सिर एवं दोनों हाथ एक सीध में जमीन के समानान्तर हों। आराम से यथासम्भव ऐसे ही रुकें और वापस खड़े होइए। इसी प्रकार दूसरे पैर से अभ्यास करें। पांच बार दुहराइए। हाथों को उठाते समय श्वास लें, झुकते हुए श्वास छोड़ें, अन्तिम अवस्था में स्वाभाविक श्वास रहे और वापस आते हुए श्वास लें। ध्यान का केन्द्र — शरीर के संतुलन पर।

एकपादासन

लाभ — पूरे शरीर को मजबूत एवं संतुलित तथा शिथिल करता है।

(९) गरुड़ासन

विधि — खड़े रहते हुए बाएं पैर को दाहिने पैर के ऊपर रखें फिर दाहिने घुटने को पीछे से लपेटकर बाएं पैर की दाहिनी पिण्डली के सहारे रखें। अब दोनों हाथों को कोहनियों के मध्य से इस प्रकार लपेटिए कि दोनों हथेलियां प्रार्थना (नमस्कार) की मुद्रा में हों। शरीर का संतुलन संभालते हुए बाएं पैर का अंगूठा जमीन को छूने तक नीचे झुकिए। फिर ऊपर हो जाइए। इस प्रकार दो-तीन बार दुहराइए। फिर हाथ-पैर खोलकर खड़े हो जाइए। अब दूसरे पैर से भी करें। ध्यान का केन्द्र — स्वाधिष्ठान-चक्र अथवा नासिकाग्र पर।

लाभ — अण्डकोषवृद्धि, कमर दर्द, स्लिपडिस्क, गठिया, साइटिका, पैरों की हड्डी एवं जोड़ों के दर्द, हाथ-पैर के वात, पैरों की गिल्टियां एवं गुदा और मूत्राशय के सकल दोष दूर होते हैं।

गरुड़ासन

(१०) बकध्यानासन

विधि — पैरों को दूर-दूर रखकर उकड़ूं बैठिए। हथेलियों को पैरों के सामने भूमि पर टिकाइए। कोहनियों को आगे की ओर थोड़ा झुकाइए। घुटनों को भुजाओं के बाहर की ओर रखें। धीरे-धीरे सामने की ओर झुकते हुए पैरों को जमीन से ऊपर उठाइए। आवश्यकता पड़े तो घुटनों को ऊपरी भुजाओं पर रख लें। पूरे शरीर के भार को हथेलियों पर संतुलित कर लें। सिर को थोड़ा उठाए रखिए। इस अवस्था में अन्तःकुम्भक लगाकर यथाशक्ति स्थिर रहें। एक से पांच बार आवृत्ति करें। नासिकाग्र पर दृष्टि बनाए रखें। उच्च रक्तचाप एवं मस्तिष्क के रोगी इसका अभ्यास न करें।

लाभ — मानसिक तनाव एवं चिन्ता दूर होती है। नाड़ी संस्थान में स्थिरता होगी। भुजाओं एवं कलाइयों को शक्ति प्रदान करता है।
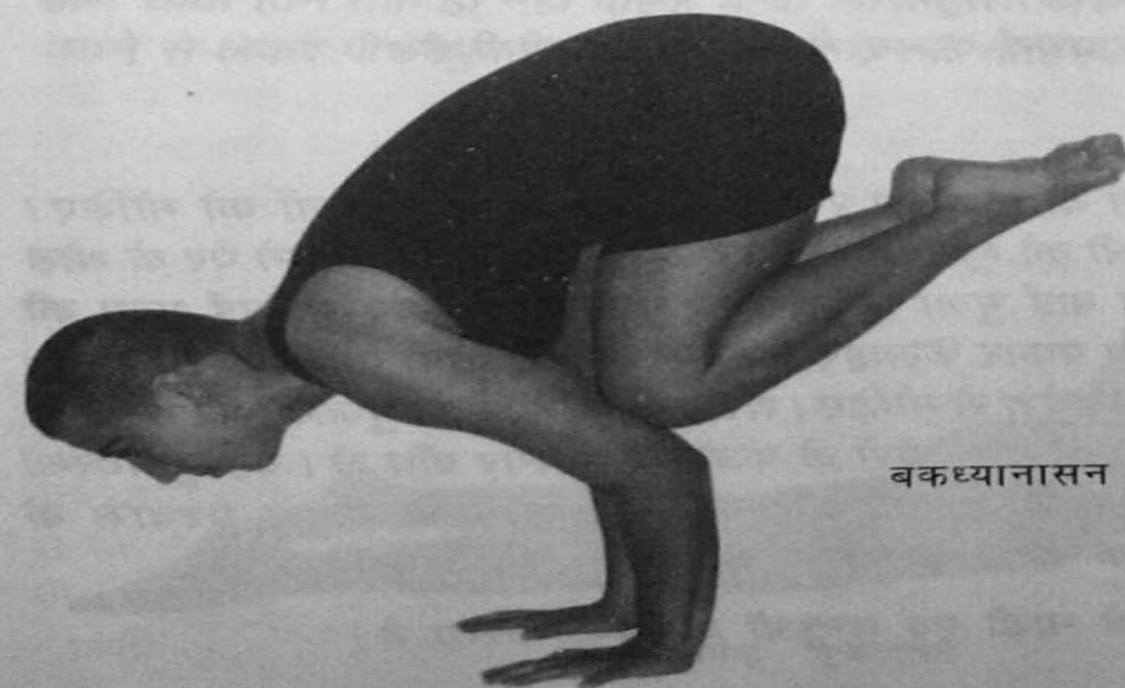
बकध्यानासन

(११) वातायनासन

वातायनासन

विधि — सीधे खड़े होकर बाएं घुटने को मोड़कर बाएं पैर को दाहिनी जांघ के मूल में अर्द्ध-पद्मासन के समान रखें। दोनों हाथों को प्रार्थना की मुद्रा में रखें छाती के सामने। दाहिने पैर को मोड़ते हुए और शरीर को सीधा रखते हुए (बिना आगे या पीछे झुकाए) नीचे जमीन की ओर ले जाइए। यदि संभव हो तो बाएं घुटने को जमीन पर टिकाइए। पुनः धीरे-धीरे प्रथम अवस्था में आइए। इसी प्रकार दूसरे पैर से भी करें। प्रथम स्थिति में पूरक, नीचे उतरते एवं ऊपर उठते समय कुम्भक, अन्तिम अवस्था में सामान्य श्वास रहे और वापस सीधे खड़े होने पर श्वास छोड़ें। प्रत्येक पैर से पांच-पांच बार दुहराइए। ध्यान का केन्द्र — विशुद्धि-चक्र।

लाभ — पैरों के स्नायु मजबूत होने से पैरों के वात रोग दूर होते हैं। मधुमेह रोग से मुक्ति मिलेगी। ब्रह्मचर्य पालन में अत्यन्त उपयोगी है।

(१२) अष्टावक्रासन

विधि — पैरों को लगभग दो फुट दूर रखते हुए खड़े होइए। घुटनों को मोड़िए। पैरों के मध्य से बाईं हथेली को भूमि पर रखें। दाहिनी हथेली को दाहिने पैर के थोड़े सामने रखें। बाएं पैर को बाईं भुजा पर रखिए। भुजाओं के मध्य से बाईं भुजा की ओर से दाहिने पैर को इस प्रकार फैलाइए कि बाईं कोहनी दोनों जांघों के नीचे रहे। अब दोनों हाथों को कोहनी प्रदेश से मोड़िए। शरीर के पूरे भार को भुजाओं पर संतुलित कीजिए। आवश्यकता पड़े तो दोनों पैरों के पंजों को परस्पर बाँध लें। यह पूर्णावस्था है। शरीर के दूसरी ओर से भी इसका अभ्यास करें। सामान्य श्वास-प्रश्वास के साथ करें। ध्यान का केन्द्र — आज्ञा-चक्र अथवा स्वाधिष्ठान-चक्र।

लाभ — समस्त शरीर के नाड़ी एवं तन्तुओं को पुष्ट करता है।
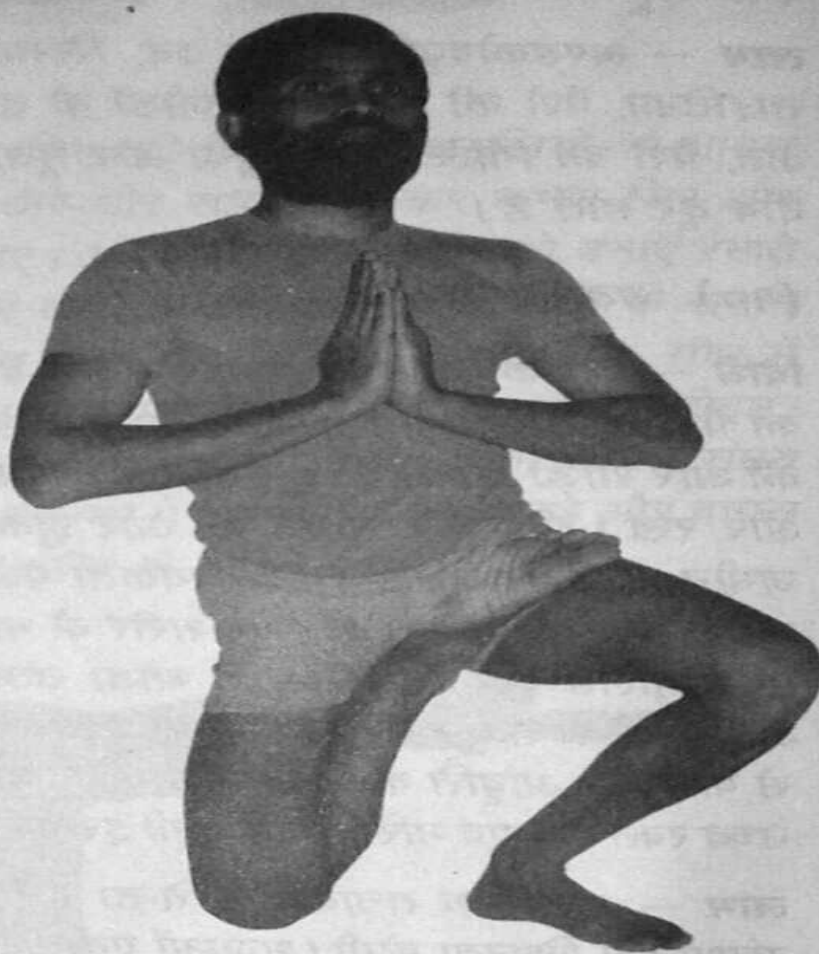
अष्टावक्रासन

पेट के बल किए जाने वाले आसन

(१) भुजंगासन

विधि — पेट के बल लेट जाइए तथा पैरों को सीधा व लम्बा फैलाइए। हथेलियों को कन्धों के नीचे जमीन पर रखिए। माथे को जमीन से छूने दीजिए। पूरे शरीर को ढीला छोड़ें। धीरे-धीरे सिर एवं कन्धों को जमीन से ऊपर उठाइए। ऐसा करते वक्त श्वास लीजिए। सिर को जितना पीछे की ओर ले जा सकें, ले जाइए। दोनों हाथ सीधा होने तक ही नहीं बल्कि हाथों का सहारा लिए बिना पीठ के सहारे ऊपर उठने से लेकर पीछे झुकने तक की क्रिया करनी चाहिए। ध्यान रखें पीठ पर विशेष

तिर्यक् भुजंगासन

तनाव या अनावश्यक खिंचाव न पड़े। कमर से सिर तक का हिस्सा अर्द्ध-चन्द्र के समान गोलाकार हो। अब कुम्भक के साथ इस अन्तिम स्थिति में यथाशक्ति रुकें। श्वास छोड़ते हुए आराम से पहली स्थिति में लौटें। पूरी क्रिया के दौरान कमर के नीचे का हिस्सा स्थिर रखें। पांच बार दुहराइए। आध्यात्मिक लाभ हेतु विशुद्धि या आज्ञा–चक्र पर और शरीरिक लाभ हेतु श्वसन-क्रिया अथवा मणिपुर-चक्र पर ध्यान रखें।

पेट के अल्सर, हर्निया, आंत की बीमारियों, टांसिल से पीड़ित लोग योग्य योग-प्रशिक्षक की देख-रेख में करें।

लाभ — सर्वाइकल, स्लिपडिस्क, पीठ दर्द, मधुमेह, गुर्दे सम्बन्धी रोग, खाँसी, पेट सम्बन्धी रोग, दमा आदि रोगियों के लिए लाभदायक है। महिलाओं के विशेषतः प्रदर, कष्टदायक एवं अनियमित मासिक धर्म, अण्डाशय, गर्भाशय सम्बन्धी रोग दूर होते हैं। सामान्य रूप से मेरुदण्ड संस्थान को लचीला, स्वस्थ एवं पुष्ट करता है। साधकों को कुण्डलिनी जागरण में एवं पेट की सफाई में अत्यन्त उपयोगी है।

प्रकारान्तर १ — स्फिंक्स की आकृति — पेट के बल लेटकर हाथों को कन्धों के नीचे रखने के बदले हथेलियों से कुहनियों तक के भाग को सिर के बगल में सामने की ओर फैलाकर जमीन पर रखें। श्वास लेते हुए एवं सिर को ऊपर उठाते हुए नाभि से शरीर के ऊपरी भाग को भी उठाकर पीछे की ओर यथासम्भव मोड़िए। इस स्थिति में श्वास रोककर यथाशक्ति रखें। श्वास छोड़ते हुए प्रथम स्थिति में लौटिए। पांच बार दुहराइए।

प्रकारान्तर २ — सर्पासन — पेट के बल लेटकर हाथों को पीठ के ऊपर उल्टा करके रख लें। एक हाथ से दूसरे हाथ की कलाई पकड़ लें। दोनों हाथों व पीठ के स्नायुओं को तानते हुए सिर एवं सीने को जमीन से ऊपर उठाइए। सिर को पीछे की ओर झुकाइए। शेष क्रिया भुजंगासन के समान करें।

प्रकारान्तर ३ — तिर्यक भुजंगासन — भुजंगासन की अन्तिम स्थिति में आइए। सिर एवं धड़ को एक दिशा में मोड़कर पीछे की ओर थोड़ा घूमते हुए विपरीत दिशा के पैर की एड़ी को देखिए। इस क्रिया को दूसरी दिशा की ओर मोड़कर भी करें। दस बार दुहराइए। ध्यान रखें मुड़ते वक्त कुम्भक लगाएं।

प्रकारान्तर ४ — पूर्णभुजंगासन — भुजंगासन की अन्तिम स्थिति में आकर पैरों को घुटनों से मोड़िए। पैरों की अंगुलियों से सिर के पिछले हिस्से को छूने का प्रयत्न कीजिए। थोड़ी देर रुककर वापस प्रथम स्थिति में लौटिए।

(२) उत्तानपृष्ठासन

विधि – पेट के बल लेट जाइए। हाथों से एक-दूसरे की कोहनियों को पकड़ लें। सिर व सीने को थोड़ा सा उठाकर सीने के निचले भाग में रख लीजिए। भुजाएं मजबूती से जकड़ी रहें। तने हुए पैरों के घुटने से निचला भाग भी जमीन पर जमा रहे। इस आसन के दौरान घुटने एवं कोहनियां अपने स्थान से नहीं हटनी चाहिए। अब नितम्बों को उठाइए जिससे शरीर के धड़ भाग का भार हाथों और घुटनों पर पड़े। उदर भाग को पीछे की ओर खींचते हुए ठुड्डी व सीने को जमीन पर रखें। फिर आगे की ओर होते हुए प्रथम अवस्था में लौटिए। इसको दस बार दुहराइए। एकाग्रता अनाहत-चक्र पर हो। सामान्य श्वास के साथ करें अथवा उठकर पीछे की ओर जाते हुए श्वास लें एवं नीचे आते हुए श्वास छोड़ें।

लाभ – नितम्ब प्रदेश, कन्धों व पीठ के लिए अत्युत्तम है।

उत्तानपृष्ठासन (१)
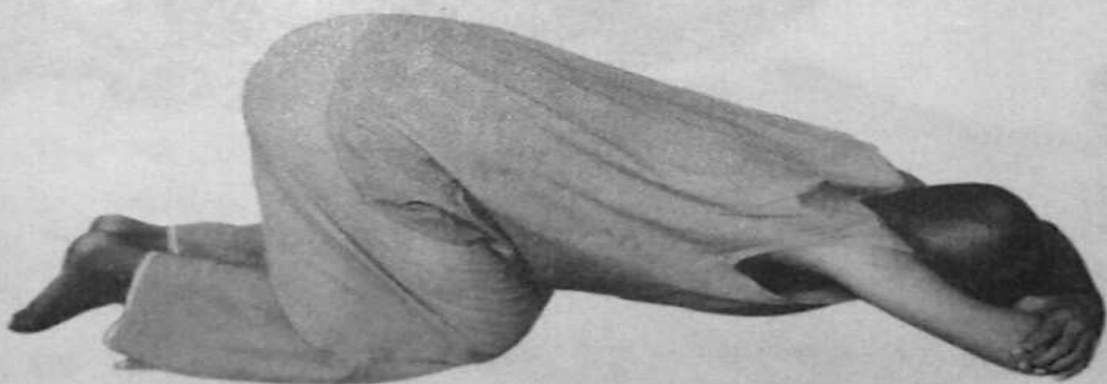
उत्तानपृष्ठासन (२)
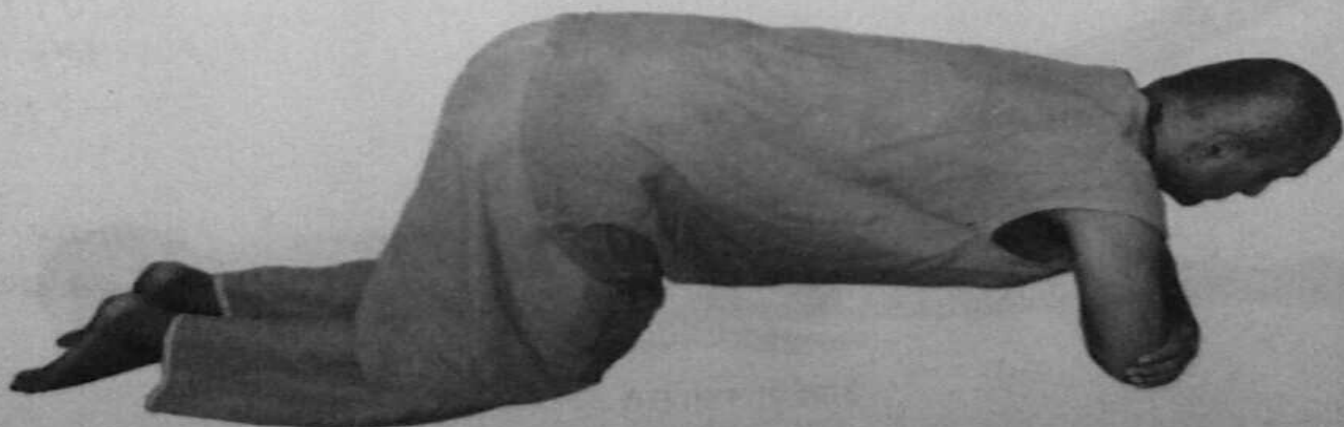
(३) शलभासन

विधि — हाथों को जांघों के नीचे रखिए। श्वास लेते हुए पैरों को खींचिए और हाथों को तानिए। बिना मोड़े पैरों को यथाशक्ति ऊपर उठाइए। कुछ देर तक कुम्भक लगाकर इस स्थिति में रहें। श्वास छोड़ते हुए आराम की प्रथम स्थिति में लौटिए। पांच बार कीजिए। ध्यान का केन्द्र — विशुद्धि-चक्र अथवा स्वाधिष्ठान-चक्र पर। इस आसन को पेप्टिक अल्सर, हर्निया व आंत के भयंकर रोग से पीड़ित तथा उच्च रक्तचाप एवं हृदय रोग के रोगी न करें।
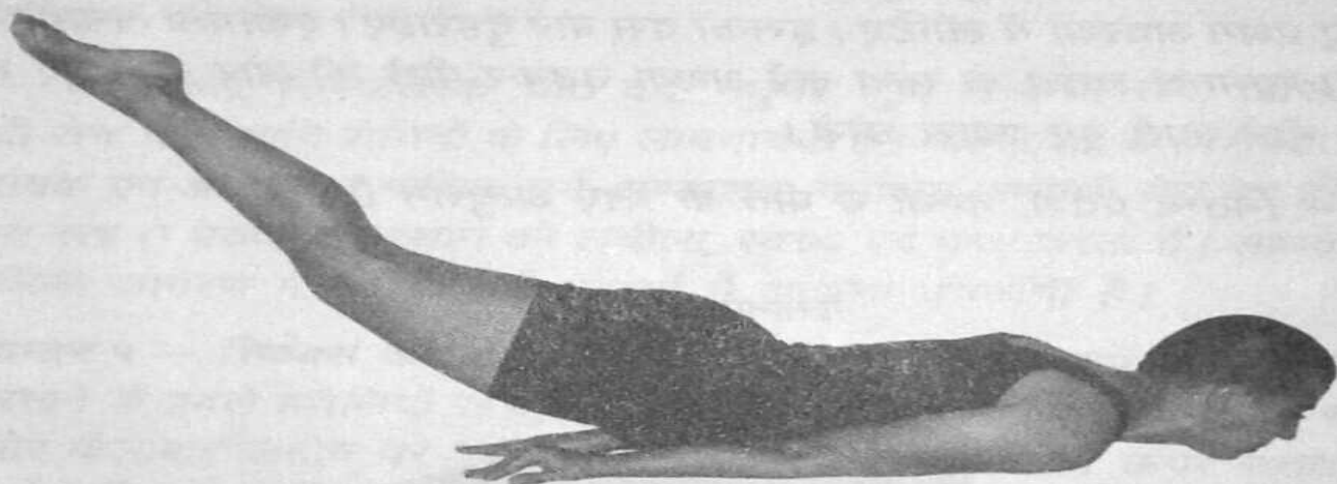
शलभासन

लाभ — रीढ़ के विकार, पेट के विकार, वात-पित्त-कफ की विषमता आदि दूर होते हैं। फेफड़े, हृदय एवं शरीर के निचले भाग सशक्त एवं पुष्ट होते हैं।

प्रकारान्तर १ — अर्द्धशलभासन — पूर्व स्थिति में लेटकर हाथों को पूर्ववत् जांघों के नीचे रखें। फर्क इतना है कि अब आप केवल एक पैर को उठाएंगे और वापस रखेंगे। फिर दूसरे पैर से करेंगे। ऐसे दस बार करें। शेष क्रिया एवं लाभादि पूर्ववत्
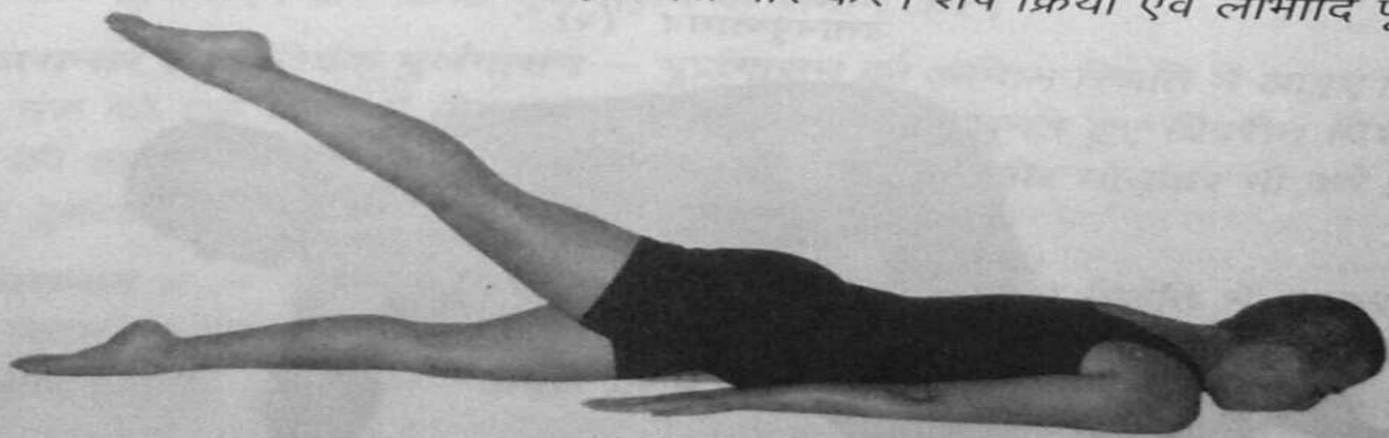
अर्द्धशलभासन

ही हैं।

प्रकारान्तर २ — पूर्णशलभासन दोनों पैरों को एक साथ शलभासन के समान ऊपर उठाइए। अब बिना हाथ हिलाए या उठाए ठुड्डी, हाथों व कन्धों पर जोर देते हुए पैरों को शीघ्रतापूर्वक इस प्रकार उठाइए कि पैर की अंगुलियों से सिर को स्पर्श करें अथवा पंजों को सिर पर रख दें। यह अन्तिम अवस्था धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा साध लेनी चाहिए। जोर-जबरदस्ती नहीं करनी है। वापस लौटते वक्त झटके से न उतारें, धीरे—धीरे सावधानी से पैरों को उतारें। अन्तिम अवस्था में सामान्य श्वास के साथ यथासम्भव रुकें। पैरों को ऊपर ले जाते व नीचे लाते वक्त श्वास रोक लें।

(४) धनुरासन

विधि — पेट के बल लेटिए। पैरों को घुटनों से मोड़िए। दोनों पैरों के टखनों को हाथों से पकड़िए। हाथों को सीधा कीजिए जिससे पैरों के स्नायुओं में खिंचाव हो। ऐसे करते हुए आप जांघों के साथ सिर और सीने को भी जमीन से यथासम्भव ऊपर की ओर उठाइए। सिर को पीछे की ओर थोड़ा झुकाइए। इस अवस्था में आगे-पीछे झूलिए। अन्तिमावस्था में कुम्भक लगाएं। पांच बार दुहराइए। ध्यान का केन्द्र — विशुद्धि-चक्र पर अथवा अनाहत-चक्र पर आध्यात्मिक लाभ के लिए एवं शारीरिक लाभ के लिए स्वाधिष्ठान या मणिपुर-चक्र पर।
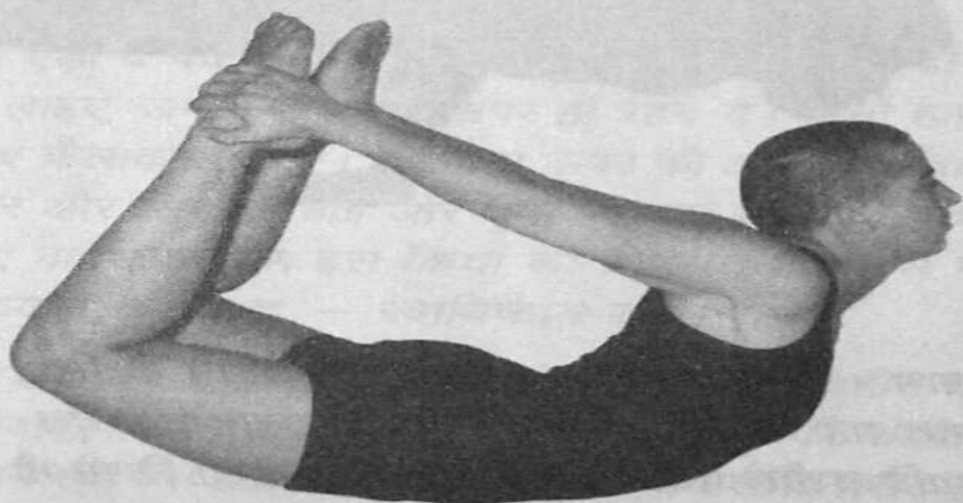
धनुरासन

लाभ — कोष्ठबद्धता, मंदाग्नि, अजीर्ण, जिगर की कमजोरी को दूर करता है। चर्बी को हटाता है। पसलियों और आंतों को यथास्थान स्थापित करता है।

(५) मयूरासन

विधि — उकड़ूं बैठकर हथेलियों को दोनों घुटनों के बीच भूमि पर रखें। अंगुलियां पैरों की ओर हों। कोहनियों को सटाकर या एक-दूसरे के पास उदर के निम्न

भाग पर रखें। धीरे-धीरे सामने झुकिए। ऊपरी भुजाओं एवं कोहनियों पर उदर प्रदेश एवं शरीर के भार को टिकाइए। पैरों को पीछे की ओर सीधा करके तानिए। पैरों को जमीन से ऊपर उठाकर पूरे शरीर को एक सीध में जमीन के समानान्तर साधिए। संपूर्ण शरीर का संतुलन हथेलियों पर हो। इस पूर्णावस्था में यथासम्भव रुकें। पुनः पहली अवस्था में धीरे-धीरे लौटिए। शरीर को उठाते वक्त श्वास छोड़ें, पूर्णावस्था में बहिःकुम्भक एवं वापस लौटते हुए श्वास लीजिए। यदि पूर्णावस्था में सामान्य श्वास के साथ रुकना चाहें तो रुक सकते हैं किन्तु ध्यान रहे स्नायुओं विशेषतः उदर में किसी प्रकार का तनाव या दर्द न हो। ध्यान का केन्द्र — मणिपुर-चक्र अथवा संतुलन पर।
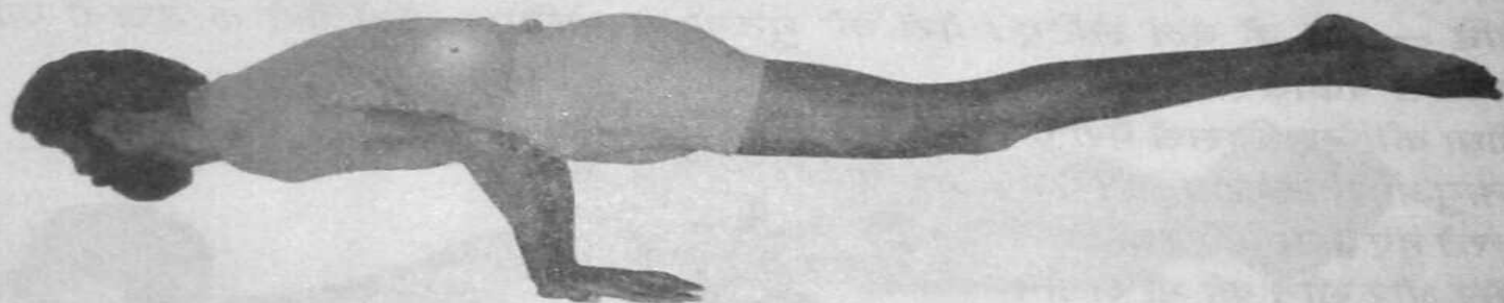
मयूरासन

लाभ — मयूरासन का अधिक लाभ उठाने के लिए दो बातें ध्यान में रखें। पहली बात यह कि — कम-से-कम दो सप्ताह तक दूध, चर्बीयुक्त पदार्थ, मांस, मदिरा आदि नशीले पदार्थ एवं देर से पचने वाला किसी भी प्रकार का गरिष्ठ भोजन तथा मसाले का सेवन पूर्णतः बन्द कर दें। दूसरी बात एक माह तक साग, फल, हरी सब्जी, चावल आदि सामान्य सुपाच्य सादा-सरल भोजन करें एवं प्रति सप्ताह लघु शंख-प्रक्षालन और कुंजल क्रिया का अभ्यास करें।

इस प्रकार एक माह तक पथ्यापथ्य एवं सफाई कर लेने के पश्चात् विषैले पदार्थों से मुक्ति पाने के लिए इस आसन का अभ्यास करें। शरीर सुडौल, मजबूत एवं कुण्डलिनी जागरण के योग्य बनता है। विशेषतः फोड़े, फुंसी आदि सब प्रकार के चर्म रोग के लिए रामबाण है। उदर विकार उनमें भी प्रमुखतः मधुमेह में अत्यन्त उपयोगी है। रीढ़ के विकार और पेट के कीड़े नष्ट होते हैं। वात-पित्त-कफ की विषमता दूर होने से सर्वरोगनाशक है। इस आसन के हंसासन एवं लोलासन प्रभेद हैं।

पीठ के बल किए जाने वाले आसन

(१) मकरासन II

इसी अध्याय के *ध्यान के आसन* नामक खण्ड में हमने अपने पूज्य गुरुदेव परमहंस स्वामी सत्यानन्द सरस्वतीजी के मत के अनुसार 'शिथिलीकरण आसन समूह' के अन्तर्गत पेट के बल लेटकर किए जाने वाले मकरासन I का वर्णन पृष्ठ ७६ में किया है।

लेकिन पीठ के बल लेटकर किए जाने वाले आसन के रूप में हिमालय के सन्तों में प्रसिद्ध परम्परा के अनुसार वर्णन कर रहा हूँ। यद्यपि इसी को प्रकारान्तर से पूज्य गुरुदेव भी वर्णन करते हैं जिसको हमने इसी अध्याय के अन्तर्गत "वातनिरोधक अभ्यास" नामक "पवनमुक्तासन" के द्वितीय समूह के क्रमांक ४ में हिलना-डुलना नाम से वर्णन किया है।

विधि —पीठ के बल लेटिए। एड़ी व पंजों को सटाकर रखें। घुटने मोड़कर दोनों एड़ियों को नितम्बों के पास लाइए, जमीन से थोड़ा ऊपर ही रहने दें। दोनों हाथों को कंधों की सीध में दाएं-बाएं फैलाकर तानिए। हथेलियां ऊपर की ओर हों। श्वास भरते हुए घुटनों को दाईं ओर और सिर को बाईं ओर घुमाकर बाएं कान को पृथ्वी पर लगाएं। श्वास छोड़ते हुए वापस आइए। इस क्रिया को विपरीत दिशा से भी करें। दस बार दुहराइए। ध्यान का केन्द्र — स्वाधिष्ठान-चक्र।

इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि पूरी क्रिया के दौरान पंजे जमीन को न छुएं। घुटनों को जब दाएं-बाएं मोड़ते हैं तब घुटनों से जमीन को छूने की कोशिश करें। हाथों को उठाना या अपने स्थान से हटाना भी नहीं। रीढ़ को यथाशक्ति मरोड़कर खिंचाव पैदा करना चाहिए।
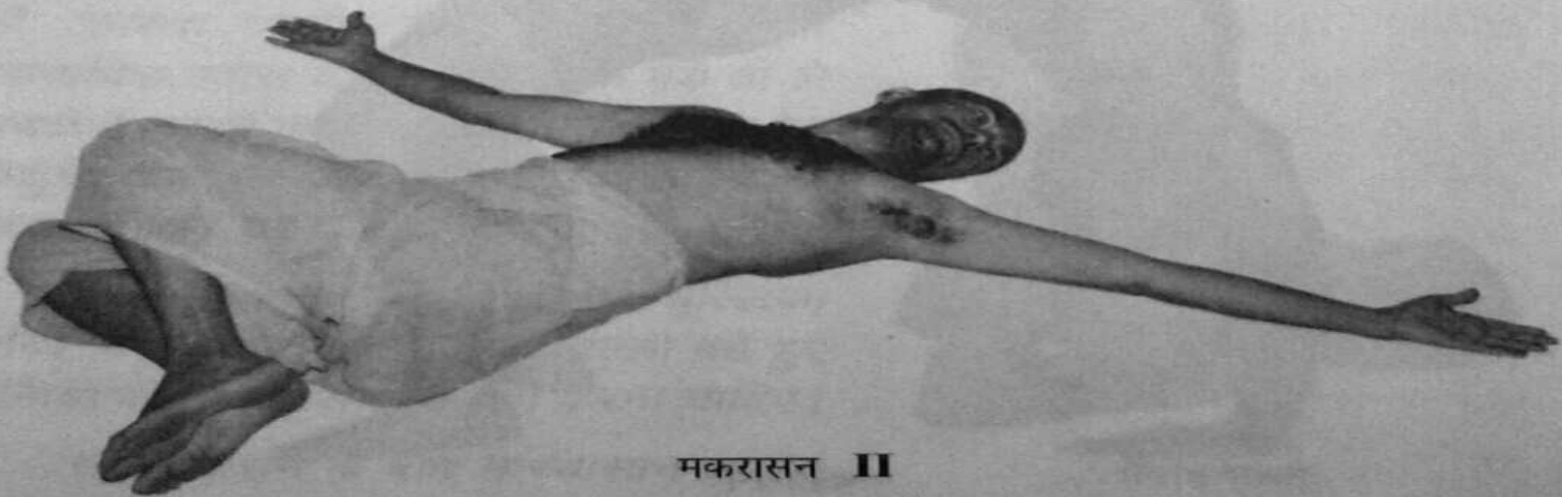
मकरासन II

लाभ – श्वास सम्बन्धी रोग एवं मधुमेह में अत्यन्त उपयोगी है। कब्ज़ आदि उदर सम्बन्धी रोग दूर होते हैं। रीढ़ के दोष मिटता है और रक्तचाप संतुलित रहता है। पूरे शरीर की समस्त मांसपेशी, तन्तु एवं स्नायुमण्डल की मालिश हो जाने से पूरा शरीर पुष्ट एवं लचीला होता है।

प्रकारान्तर – पीठ के बल सीधा लेटिए। दाहिने पैर को घुटने से मोड़कर दाहिने एड़ि को बायीं जांघ के मूल में स्थापित करें। दोनों हाथों को सिर के ऊपर फैलाकर तानिए। हथेलियाँ ऊपर की ओर हों। श्वास भरते हुए मुड़े हुए घुटने को बायीं ओर झुकायें और जमीन को छूने की कोशिश करें। साथ ही सिर को दाइं ओर घुमाकर दाएं कान को पृथ्वी पर लगाएं। श्वास छोडते हुए वापस आइये। इस क्रिया को विपरीत दिशा से भी करें।

(२) चक्रासन

विधि – पीठ के बल लेटकर घुटनों को मोड़िए। एड़ियों को नितम्बों से सटाकर जमीन पर रखें। दोनो पैर करीब एक से डेढ़ फुट दूर हों। हथेलियों को जमीन पर कनपटियों के बगल में इस प्रकार उल्टा घुमाकर रखिए कि अंगुलियां कंधों की ओर हों। एक लम्बी गहरी श्वास लेकर कुम्भक लगाकर धीरे-धीरे पूरे धड़ को ऊपर उठाइए। सिर को भी धीरे-धीरे सरकाते हुए आधे शरीर के भार को सिर के ऊपरी भाग पर डालें। अब हाथों और पैरों को सीधे तानते हुए शरीर को पूरी गोलाई में ऊपर उठाइए। यथासम्भव ऊपर की ओर खींचे हुए कुछ क्षण रुकिए। धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हुए पहले सिर पर थामते हुए वापस लेटी हुई स्थिति में लौटिए।
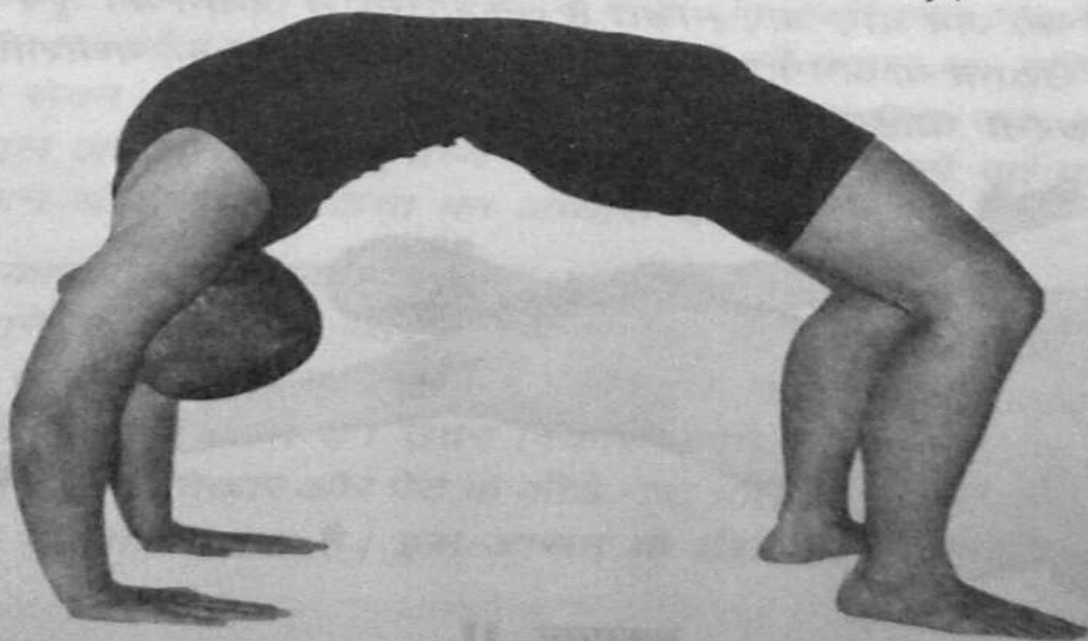
चक्रासन

इसकी पूर्ण अवस्था में हाथों व पैरों को अधिक-से-अधिक नजदीक लाने की कोशिश करनी चाहिए। अन्तिम अवस्था में हाथ और पैर सटाए हुए सामान्य श्वास लेते हुए यथाशक्ति रुक सकते हैं।

उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, पेट के अल्सर, अस्वस्थ आंत, अस्थि दोष, नेत्र दोष और ऊँचा सुनने वाले रोगी इसे न करें। ध्यान का केन्द्र – मणिपुर-चक्र अथवा श्वसन-क्रिया या स्वाधिष्ठान-चक्र।

लाभ – यह आसन सभी नाड़ियों एवं ग्रन्थियों के लिए लाभदायक है। स्त्रियों के प्रजनन सम्बन्धी कई रोगों को समूल नष्ट करता है। मस्तिष्क के सिरदर्द, माइग्रेन आदि अनेक रोग दूर होते हैं। लकवा रोग में लाभदायक है। शारीरिक एवं मानसिक कमजोरियां दूर होती हैं।

(३) सर्वाङ्गासन

विधि – पीठ के बल सीधे लेटिए। दोनों हाथ जमीन पर बाजू में तथा हथेलियां नीचे की ओर खुली रहें। हाथों का सहारा लेकर दोनों पैरों को धीरे-धीरे ऊपर उठाइए। हाथों को कोहनियों से मोड़िए और हथेलियों से दबाते हुए पीठ को सीधा कीजिए। धड़ एवं पैर ग्रीवा से समकोण बने और शरीर संतुलित रहे, ऐसे अपने आपको स्थिर कर लें। ठुड्डी का स्पर्श छाती से होने तक पीठ को सीधा कर सकें तो अत्युत्तम होगा। आरम्भ में श्वास लेकर कुम्भक कीजिए। ऊपर उठते एवं नीचे उतरते वक्त कुम्भक करें। बीच की अवस्था अर्थात् उठी हुई अवस्था में स्वाभाविक श्वास यदि आवश्यकता पड़े तो ले सकते हैं। ध्यान का केन्द्र आध्यात्मिक लाभ हेतु विशुद्धि-चक्र पर अन्यथा चुल्लिका ग्रन्थि या श्वसन-क्रिया पर।

उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, चुल्लिका ग्रन्थि, यकृत की समस्या और तिल्ली बढ़े हुए रोगियों को इस आसन को नहीं करना चाहिए।

सर्वाङ्गासन

सर्वाङ्गासन के बाद मत्स्यासान अवश्य
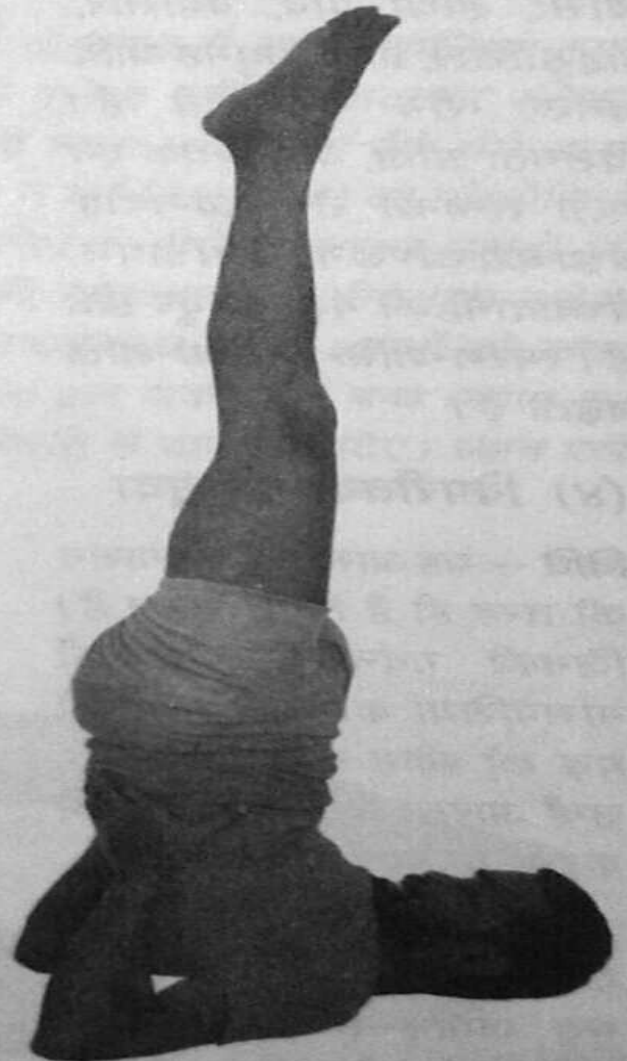
करना चाहिए। इस आसन में रहते हुए पैरों को तानना, मूलबन्ध एवं जालन्धर-बंध लगाना, धीरे -धीरे पैरों को सिर की ओर पृथ्वी के समानान्तर झुकाना, पद्मासन लगाना, एक पैर को घुटनों से मोड़ना, पैरों को हल्का घुमाना और कन्धरासन किया जा सकता है।

ध्यान रहे झटके से कोई क्रिया नहीं करनी है और उतरते वक्त पहले कमर के भाग तक धीरे-धीरे जमीन पर लेटकर कुछ क्षण रुकने के पश्चात् पैरों को जमीन पर लेटाने से अधिक लाभ होगा।

लाभ — जैसा नाम वैसा काम। शरीर के समस्त अंगों पर प्रभाव डालता है और शरीर का समुचित विकास करता है। मस्तिष्क में रक्तप्रवाह अधिक होने से मानसिक कमजोरियां और मनोवैज्ञानिक रोगों को दूर करता है। दमा, खाँसी, हाथी पांव, बवासीर, हाईड्रोसिल, प्रदर, मधुमेह आदि अनेकों रोग दूर होते हैं। विशेषतः आँख, कान, नाक एवं गला सम्बन्धी रोग, स्वप्नदोष, ब्रह्मचर्यखण्डन, बाँझपन, बच्चादानी की गड़बड़ी दूर होते हैं। स्मरण-शक्ति एवं मेधा-शक्ति बढ़ती है।

(४) विपरीतकरणी मुद्रा

विधि — यह आसन सर्वाङ्गासन की तरह ही है किन्तु सरल है। जिनकी गर्दन व पीठ की मांसपेशियां कठोर हैं तथा जो धड़ को सीधा नहीं कर सकते, उन्हें आरम्भ में इस आसन को करना चाहिए।

अन्तर यह है कि इसमें ठुड्डी का स्पर्श छाती से नहीं होता। धड़ जमीन से उठाकर ४५° (अंश) के कोणाकार में रखा
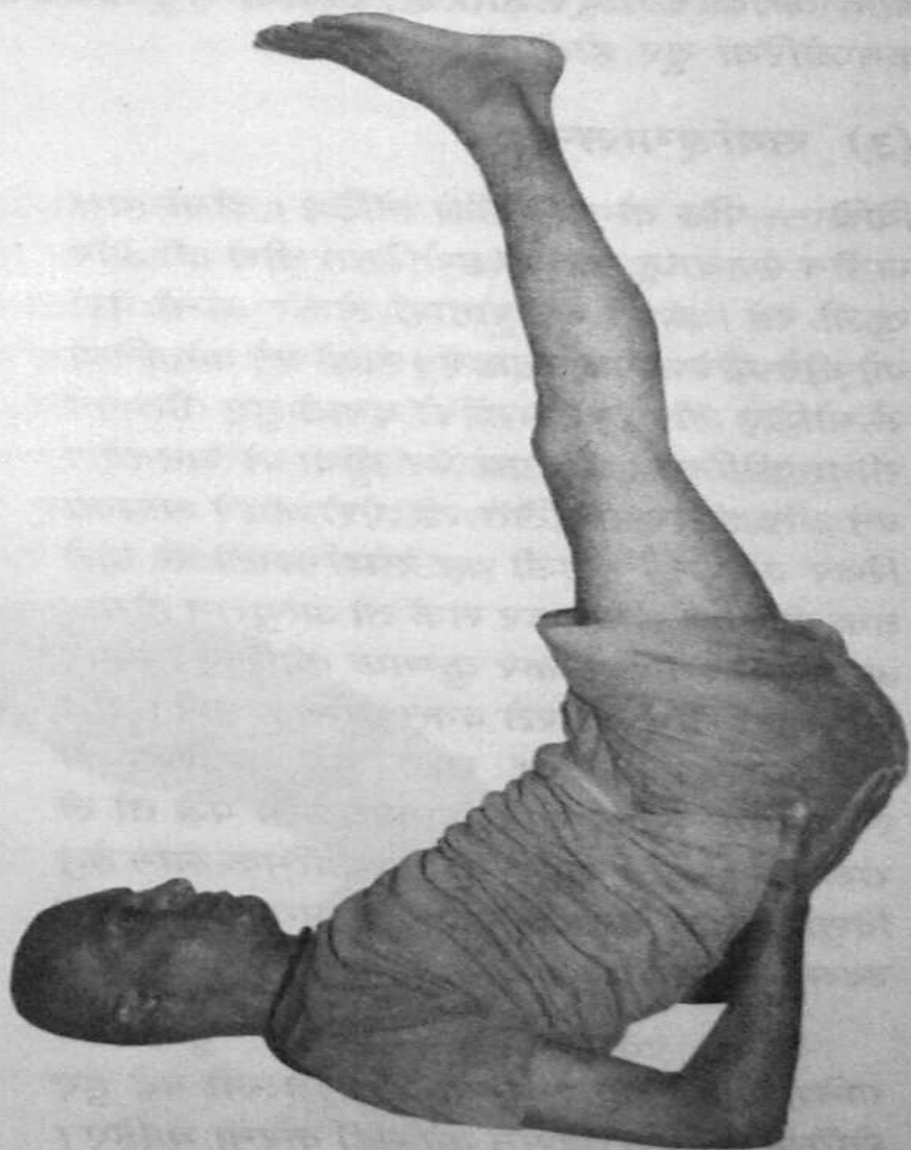
विपरीतकरणी मुद्रा

जाता है न कि सर्वाङ्गासन के समान ६०° (अंश) के कोण के समान। कुण्डलिनी जागरण सम्बन्धी क्रियाओं में इसका अधिक उपयोग है। श्वास, ध्यान, लाभ आदि शेष सारे क्रिया-कलाप सर्वांगासन के समान ही हैं।

अतिरिक्त लाभ यह है कि ललना-चक्र से स्रावित अमृत जो जठराग्नि में जाकर नष्ट होता था उसकी रक्षा होती है। अतः यह एक मुद्रा है क्योंकि शरीर के अन्दर नाभिमण्डल को सूर्य एवं जिह्वा आदि से युक्त मुँह को चन्द्र माना गया है। इस आसन में स्वाभाविक स्थिति (सूर्य नीचे, चन्द्र ऊपर) को तोड़कर उल्टा किया जाता है (सूर्य ऊपर, चन्द्र नीचे)। इसलिए इसे **विपरीतकरणी** कहते हैं। अम्लता, रक्ताल्पता, मधुमेह, मस्तिष्क के विकार, यौन ग्रन्थि के विकार आदि में इसका विशेष उपयोग है।

(५) हलासन

विधि — पीठ के बल लेटिए। हाथों को नितम्बों के बगल में रखें। हथेलियां ऊपर की ओर खुली रहें। पैरों को सीधे तानिए। दोनों पंजे व एड़ी को सटाकर रखिए। लम्बी गहरी श्वास लेकर पैरों को सीधे तने हुए ही श्वास छोड़ते हुए धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाइए। हाथों के बल उठने की कोशिश न करें किन्तु उदर की मांसपेशियों पर जोर डालते हुए पैरों को उठाइए। पैरों को सिर के पीछे ले जाकर अंगूठों को जमीन पर रखें। पैरों को कहीं से भी मोड़ना नहीं, अतः कमर व पीठ पूरा उठेगा एवं तुड्डी कण्ठकूप में लगेगा। अपने आप जालन्धर-बन्ध लगेगा। हाथों को कमर पर रखिए और धड़ को सहारा देते हुए यथाशक्ति इस अवस्था में बन्ध लगाए हुए अथवा स्वाभाविक श्वास के साथ रुकें। पहली स्थिति में वापस लौटिए। ध्यान रखें
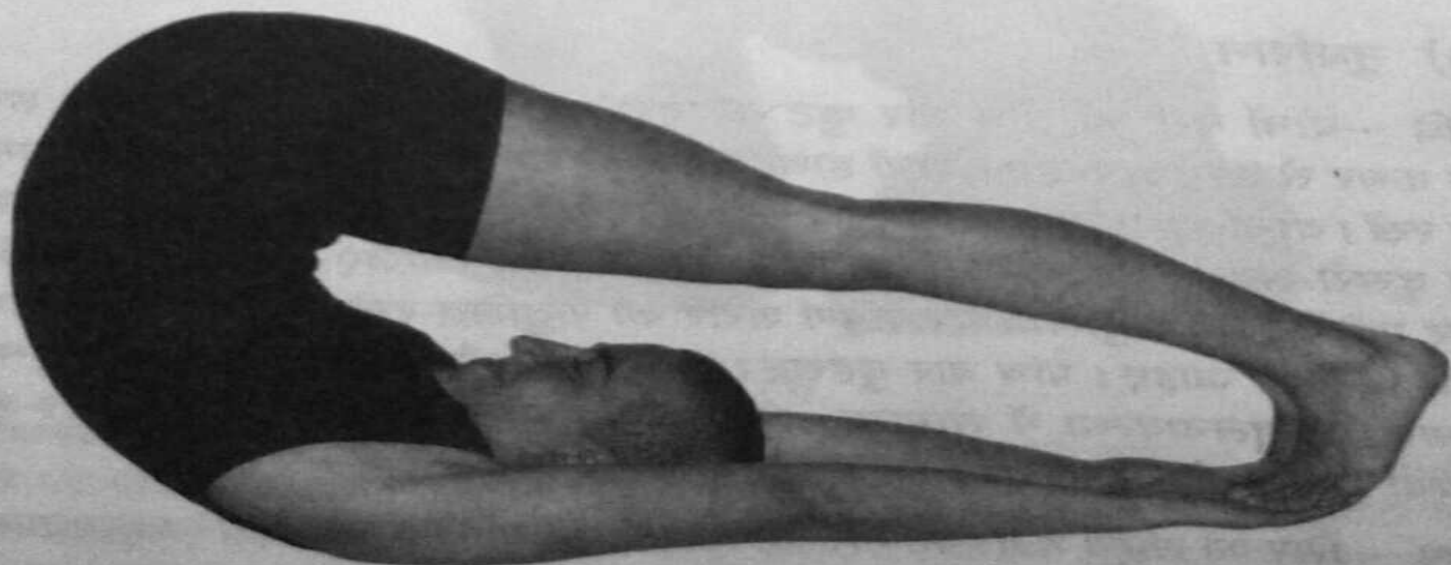
हलासन

लौटते वक्त अन्तःकुम्भक लगाए हुए धीरे-धीरे रीढ़ की गोटियों को एक-एक करके क्रम से रखें कमर तक। कुछ क्षण रुकें। फिर मन्द गति से पैरों को जमीन पर लेटाइए। सामर्थ्य एवं समय के अनुसार पांच बार दुहराइए।

अन्तिम स्थिति में रहते हुए पैरों को फैलाना और सिर पर तने हुए पैरों को हाथों से पकड़ने की क्रिया को भी कर सकते हैं। जो लोग आरम्भ में इस आसन को नहीं कर सकते वे पूर्वाभ्यास के रूप में कमर तक जमीन पर लेटे हुए केवल पैरों को अपने पेट के ऊपर आकाश में उठाएं और उस अवस्था में पैरों को फैलाएं। वापस लौटें। ध्यान का केन्द्र — विशुद्धि-चक्र अथवा मणिपुर-चक्र पर।

लाभ — चर्बी घटाना, मन्दाग्नि दूर करना, पेडू को तनाव रहित करना तथा वृक्कों को स्वस्थ एवं व्यवस्थित करना। हड्डियों के कैल्शियम की रक्षा करता है और समस्त ग्रन्थियों को सक्रिय करता है। फेफड़ों में से दूषित वायु को निकालकर स्वस्थ करता है। बाँझपन को दूर करने में अत्यधिक प्रभावशाली है।

पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए हलासन और पश्चिमोत्तानासन को एक साथ गत्यात्मक ढंग से लगातार तीन से पांच मिनट करें। लेकिन यह तब करना चाहिए जब रीढ़ की हड्डी पूर्णरूपेण लचीली हो अन्यथा लाभ के बजाए नुकसान होगा।

वृद्ध, दुर्बल, उच्च रक्तचाप, हृदय के रोग, साइटिका और स्लिपडिस्क के रोगी इसे कदापि न करें।

सिर के बल किए जाने वाले आसन

(१) मूर्धासन

विधि —दोनों पैरों को तीन-चार फुट की दूरी पर रखकर खड़े हो जाइए। शरीर को कमर से आगे झुकाइए। दोनों हाथों को अपने सामने २-३ फुट की दूरी में जमीन पर रखें। दोनों हाथों के मध्य भूमि पर सिर के ऊपरी भाग को रखें। यह प्रथम अवस्था है। दूसरी अवस्था में हाथों को उठाकर पीठ पर बांध लीजिए। एड़ियों पर उठिए। सिर एवं पैरों की अंगुलियों पर संपूर्ण शरीर को संतुलित रखें। कुछ रुककर वापस सीधे खड़े हो जाइए। पांच बार दुहराए। झुकते हुए और लौटते वक्त अन्तःकुम्भक लगाएं। सन्तुलनावस्था में सामान्य श्वास रखें। ध्यान का केन्द्र — सहस्रार-चक्र अथवा श्वसन-क्रिया पर हो।

लाभ — सिर को संपूर्ण शरीर का भार वहन करने एवं मस्तिक को अतिरिक्त रक्तप्रवाह सहन करने योग्य बनाता है।
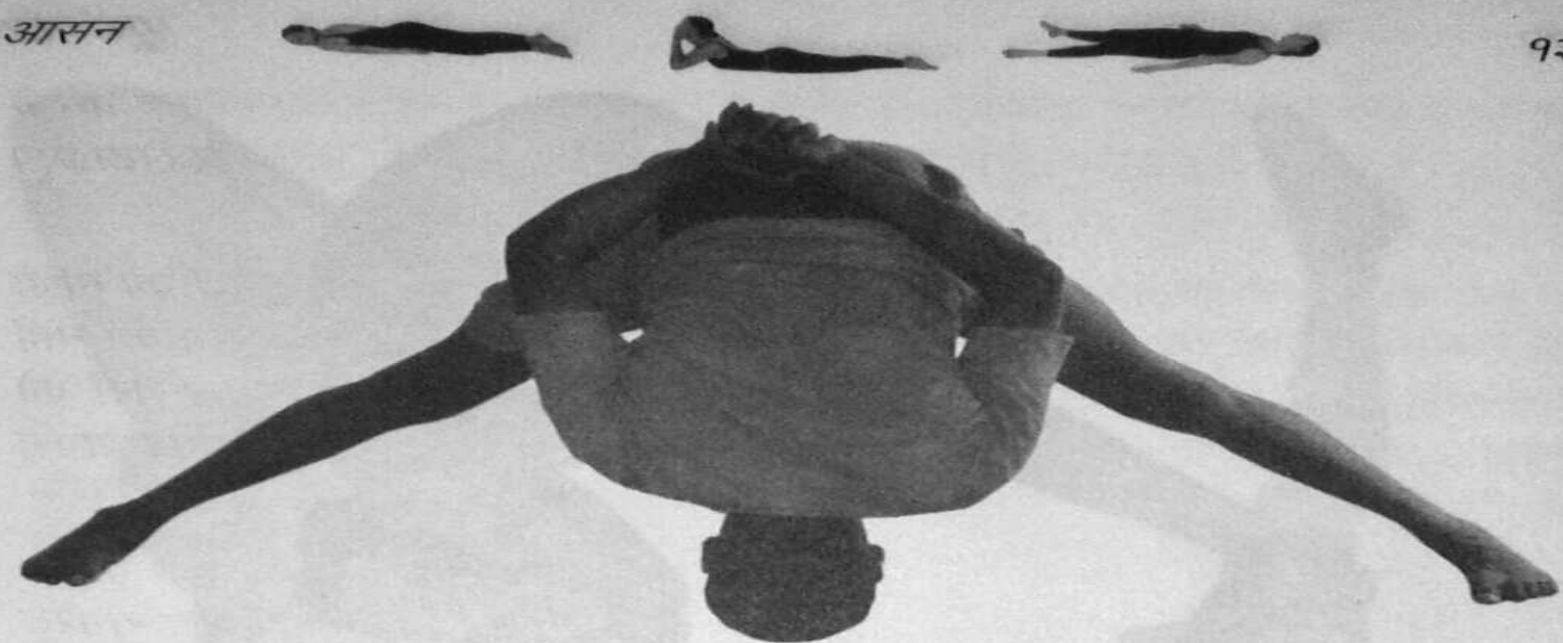
मूर्धासन

(२) शीर्षासन

विधि — इस आसन को क्रमशः छः अवस्थाओं में करना उचित है।

प्रथमावस्था — वज्रासन में बैठिए। सामने झुककर कोहनियों को कन्धों के समानान्तर दूरी पर टिकाइए। अंगुलियों को आपस में फंसाकर जमीन पर रखिए। बंधी हुई अंगुलियों के समीप भूमि पर सिर के ऊपरी भाग (शीर्ष) को टिकाइए।
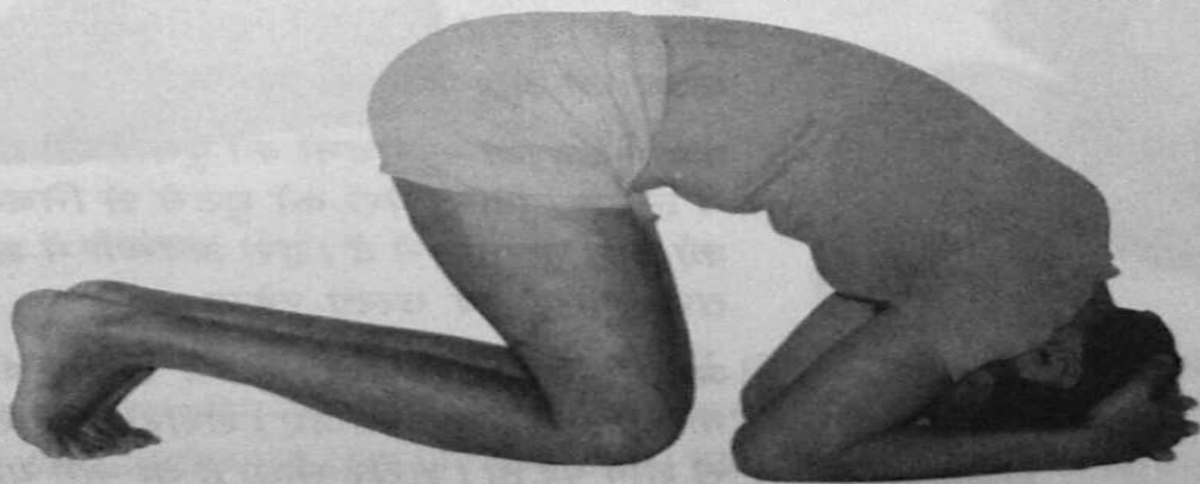
शीर्षासन (१)

द्वितीयावस्था — ठीक से सिर को अपनी हथेलियों के सहारे जमा लें ताकि वजन पड़ने पर पीछे न खिसके और न गिर पाएं। पंजों को जमाए हुए केवल घुटने को ऊपर उठाइए। पैर को बिल्कुल सीधा करें, शरीर का वजन शीर्ष पर डालना शुरू कर दें।

शीर्षासन (२)

तृतीयावस्था — घुटनों को मोड़ते हुए पैरों को धड़ के समीप लाइए। पीठ सीधी तनी रहने दें। जांघों का दबाव उदर एवं छाती के निचले भाग पर हो। अब पंजों को उठाकर धीरे-धीरे शरीर का पूरा वजन शीर्ष पर डालें। शरीर का संतुलन हाथों एवं सिर के सहारे बनाए रखें।

चतुर्थ अवस्था — अब नितम्बों को उठाकर सीधा कीजिए। इससे मुड़े पैर धड़ से कुछ दूर होंगे और ऊपर की ओर उठ जांएगे। संतुलन बनाए रखें।

पञ्चम अवस्था — घुटनों को पूर्णतः सीधी अवस्था में लाइए। किन्तु पैरों को घुटने से निचले हिस्से को मुड़ा हुआ रहने दें। इस अवस्था में शरीर पूरी तरह सीधा एवं उल्टा रहेगा।

अन्तिम अवस्था — अब घुटनों से पैर के निचले भाग को भी सीधा कीजिए। शरीर का भार पूर्णरूप से शीर्ष पर हो। शरीर सीधा है या नहीं यह जानने के लिए दूसरे की मदद लीजिए।

वज्रासन में बैठे हुए लम्बी गहरी श्वास लेकर कुम्भक लगाकर आरम्भ करें। इसी प्रकार वापस उतरते वक्त भी अन्तःकुम्भक लगाएं। किन्तु

शीर्षासन (४)

शीर्षासन (५)

शीर्षासन (अन्तिम अवस्था)

अन्तिम अवस्था सामान्य श्वसन-क्रिया करते हुए यथाशक्ति स्थिर रहें। सामान्य स्वास्थ्य के लिए तीन-से-पांच मिनट तक करना पर्याप्त है किन्तु आध्यात्मिक लाभ के लिए आधे घण्टे तक कर सकते हैं। ध्यान का केन्द्र — सहस्त्रार-चक्र अथवा श्वास एवं संतुलन पर। शीर्षासन को अन्य आसनों को करने के पश्चात् अन्त में करना उचित है। शीर्षासन के पश्चात् ताड़ासन एवं शवासन करना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा नुकसान होगा।

उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, चक्कर आने वाले, मिर्गी, बदहजमी, मोतियाबिन्द, समीप दृष्टि-दोष, दिल घबराना आदि बीमारीग्रस्त लोग इसे कभी न करें।

लाभ — ब्रह्मचर्य पालन में अत्यन्त उपयोगी है। अतः संपूर्ण शारीरिक संस्थानों को शक्ति प्रदान करता है। अनेक मनोवैज्ञानिक रोगों, दमा, सिर दर्द, जुकाम, कमजोरी, सभी ग्रंथियों व संस्थानों का असंतुलन दूर होता है।

इस आसन से ऊर्ध्वरेतः होता है जिससे वीर्य ओजस शक्ति के रूप में परिणत होता है। अतः इससे स्मृति एवं मेधा शक्ति बढ़ती है और काल-क्रमेण स्वतः प्राणायाम एवं समाधि लगेगी। इसलिए शीर्षासन के बाद ताड़ासन करके ध्यान में बैठना चाहिए। समस्त रोगों का निवारण करते हुए अनाहत नाद श्रवण आदि आध्यात्मिक अनुभूति होने लगती है। इसके बारे में *योग तत्त्वोपनिषदादि* अनेकों ग्रन्थों में बहुत वर्णन किया है। शब्दों से इसके गुण एवं लाभ के बारे में कहना सम्भव नहीं है। यह आसनों का राजा है।

लेकिन उक्त शारीरिक एवं आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने के लिए इन नियमों का सख्ती से पालन करना होगा —

१. ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है इसलिए गृहस्थ इस आसन को एक मिनट से ज्यादा न करें।

२. पेट बिल्कुल साफ होना चाहिए। कब्ज़ बिल्कुल न हो।

३. सिर के माथे के भाग को जमीन पर लगाएं।

४. शरीर में किसी तरह का कम्पन न हो।

५. झटके से वापस लौटना नहीं।

६. आँखों को सख्ती से बन्द न करें।

७. संपूर्ण क्रिया में धीमी गति एवं सन्तुलन पर ध्यान रखें।

८. खान-पानादि का संयम अर्थात् आत्मसंयम को जीवन में प्रमुख स्थान देकर अध्यात्म के लिए समर्पित होना चाहिए। कहने का तात्पर्य विषय-भोग से पूर्णतया निवृत्त होना होगा।

उक्त नियमों का पालन किए बिना यदि शीर्षासन को अधिक समय करेंगे तो हानिकारक होगा। मस्तिष्क की नस फटना, अन्धा होना, पागल होना इत्यादि अपरिहार्य प्राणघातक एवं जीवननाशक परिणाम होंगे। इसलिए सावधान रहें।

प्रभेद — वृक्षासन, अर्द्ध-वृक्षासन, मुक्तहस्त-वृक्षासन, हस्तवृक्षासन, एकपाद-वृक्षासन, सालम्ब शीर्षासन, निरालम्ब शीर्षासन।

(३) ऊर्ध्वपद्मासन

विधि — शीर्षासन कीजिए। इसी अवस्था में पैरों को धीरे-धीरे मोड़कर पद्मासन लगाइए। कुछ देर रुककर, सामान्य स्थिति में लौटिए।

(४) कपाल्यासन

विधि — शीर्षासन कीजिए। सिर को सामने झुकाकर शरीर के वजन को माथे (कपाल) पर संतुलित कर लें। शीर्षासन में लौटिए। इसके पश्चात् सामान्य स्थिति में आइए।

इन दोनों आसनों के शेष विधि-विधान लाभादि शीर्षासन के समान हैं।

ऊर्ध्वपद्मासन
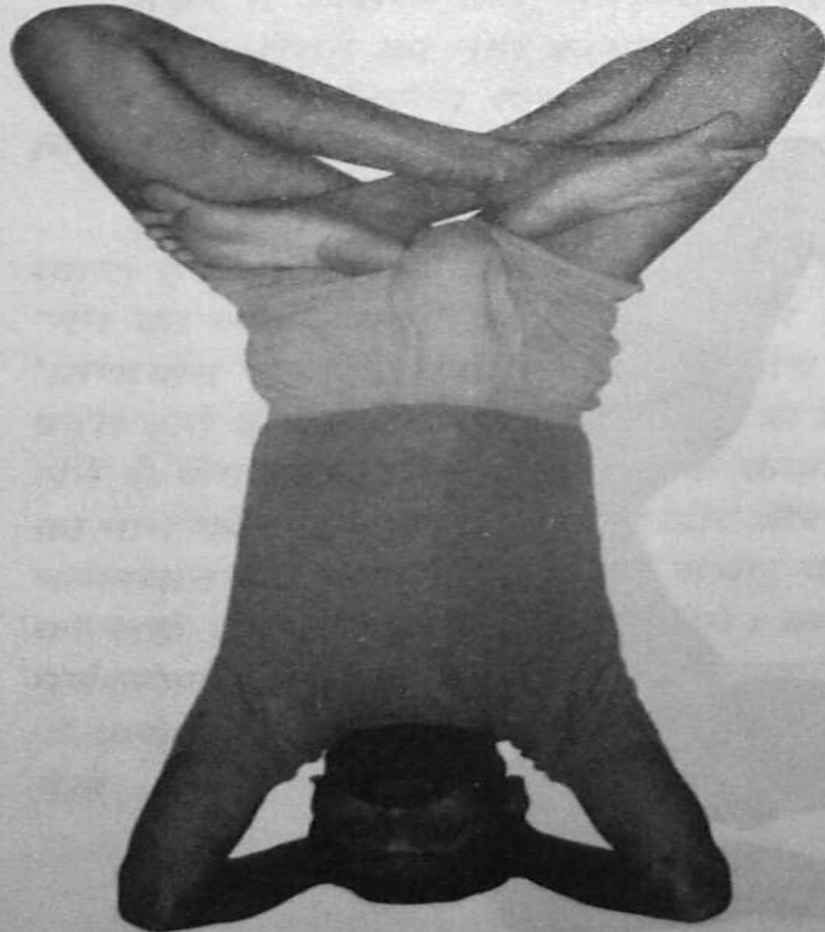
कपाल्यासन
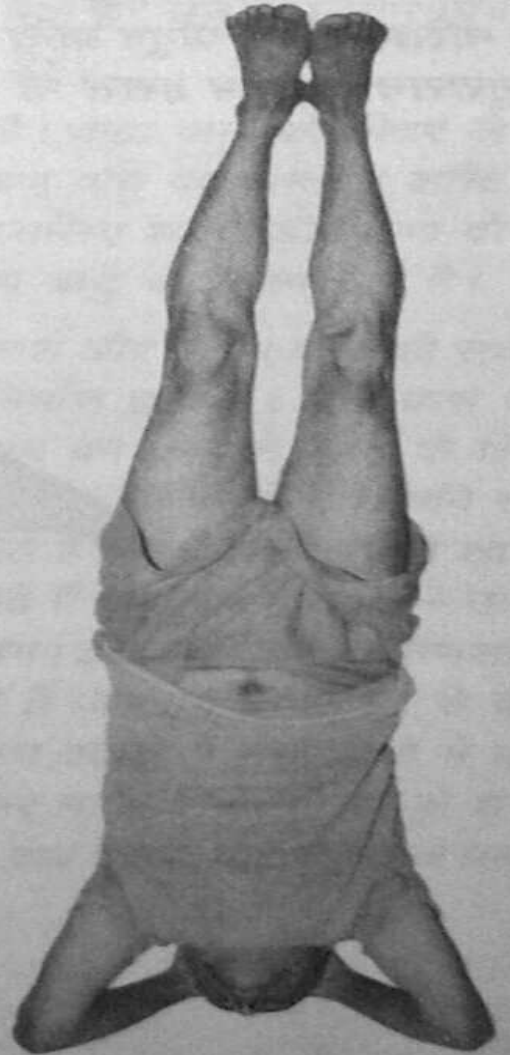
(५) वृश्चिकासन

विधि — शीर्षासन में पीठ और पैरों को कमान की तरह मोड़िए। अब अंगुलियों के बन्धन खोलकर शरीर का संतुलन बनाए रखते हुए धीरे-धीरे दोनों हाथों की कोहनियों के निचले भाग को एक-दूसरे के समानान्तर दूरी पर सिर के दोनों ओर खिसकाइए। सिर के पीछे पैरों को जमीन की ओर मोड़िए। यदि हो सके तो पैरों को सिर पर रख दें। ध्यान रखें सिर को जमीन से कुछ ऊपर उठाए रखें। संपूर्ण शरीर का भार व संतुलन कोहनियों एवं हथेलियों पर होगा। यथाशक्ति रुकने के पश्चात् शीर्षासन में लौटकर सामान्य स्थिति (वज्रासन) में वापस आइए। आसन करने एवं वापस शीर्षासन में लौटने तक अन्तःकुम्भक लगाएं। आसन की अंतिम स्थिति में रुकते वक्त सामान्य श्वास लें। ध्यान का केन्द्र — सहस्त्रार-चक्र, विशुद्धि व मणिपुर-चक्र पर हो। इस आसन के पश्चात् पश्चिमोत्तानासन अवश्य करें।

लाभ — प्राण-शक्ति को पुनर्गठित कर शरीर के ह्रास को रोकता है। नाड़ियों में स्थिरता से मस्तिष्क तथा पीयूष ग्रन्थि को विशेषतः सक्रिय करता है। शीर्षासन, चक्रासन एवं धनुरासन के लाभ इससे भी प्राप्त होते हैं।

वृश्चिकासन
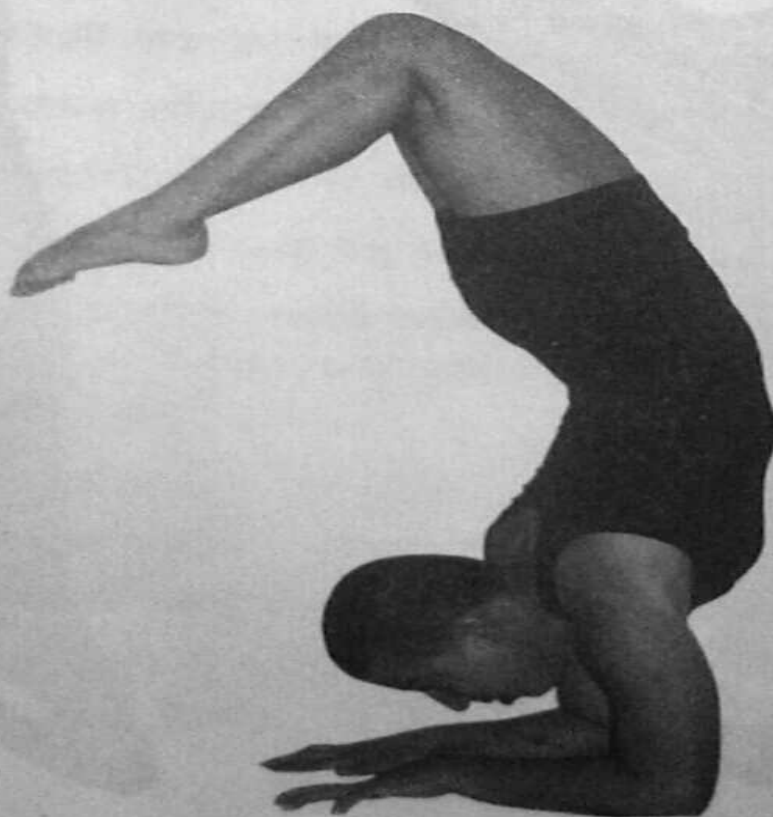
अध्याय ४

प्राणायाम विज्ञान

प्रस्तावना

प्राण का आयाम अर्थात् नियन्त्रणपूर्वक नियमन करते हुए विस्तार करना प्राणायाम है। यह शब्दार्थ है। लेकिन प्रश्न उठता है कि — प्राण क्या है? उसका नियमनपूर्वक विस्तार करने की आवश्यकता एवं उससे लाभ क्या है?

शरीर में श्वसन-क्रिया मृत्युपर्यन्त चलती रहती है। बाह्य वायु को भीतर लेना और बाहर छोड़ने का नाम श्वसन-क्रिया है। किन्तु प्राण वायु वह अन्तरंग शक्ति है जो सजीव और निर्जीव सकल पदार्थों में व्याप्त है। इसलिए श्वास और प्राण दोनों भिन्न वस्तु हैं। श्वास वायु का स्थूल रूप है और प्राण वायु का सूक्ष्म रूप है।

इस सृष्टि के कारणीभूत दो मुख्य द्रव्य हैं — आकाश और प्राण। दोनों ही सर्वत्र व्याप्त हैं। आकाश में प्राण के स्पन्दन से सृष्टि का निर्माण हुआ है। अतः प्राण को "मन का ज्येष्ठ भ्राता" कहा गया है और शास्त्रों में मन को काबू में लाने के लिए "प्राणायाम" का विधान किया है। यह सर्वत्र व्याप्त प्राणशक्ति है जिससे मन आदि सब प्रवृत्त होते हैं उसे हम श्वास के माध्यम से प्राप्त कर लेते हैं। अतः लम्बी-गहरी श्वास लेने से फेफड़ों के तीनों भाग प्राणिक ऊर्जा से भर जाते हैं। वे तीन भाग हैं — ऊपर का भाग गर्दन तक, हृदय के दोनों ओर और नीचे का भाग। इसके अतिरिक्त प्राणशक्ति मध्यस्थान एवं नाभिमण्डल में ही संचार करने लगती है जब हम प्राणायाम से वायु को सही ढंग से इस्तेमाल नहीं करेंगे। क्योंकि सामान्य श्वास में उक्त अंगों में वायु पूर्णरूपेण प्रवेश नहीं कर पाता है। प्राणशक्ति का संचार नाड़ियों के माध्यम से शरीर के प्रत्येक अंग में होता है। यह प्राण का परिचय हुआ। अब इसके बारे में शास्त्र प्रमाण देखें —

ऋग्वेद में —

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरापरावतश्च ।
दक्षं ते अन्य आवातु षडन्यो वातु यद्रपः ।।

योगी याज्ञवल्क्य–संहिता में —

प्राणापान समो योगः प्राणायाम इतीरितः ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः ।।
(६/२)

भगवद्गीता में —

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।।
(४/२१)

पातञ्जल योगसूत्र में —

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।।
(२/४१)

इस प्रकार वेद एवं स्मृत्यादि सकल शास्त्रों में प्राणायाम का वर्णन है।

हमारे शरीर में सात ऐसे केन्द्र हैं जिनसे शरीर के विभिन्न अंगों में प्राणशक्ति का संचार होता है। इन केन्द्रों को 'चक्र' कहते हैं। इनमें से एक चक्र भी यदि असंतुलित हो तो शरीर में रोग होने लगते हैं, अतः इनका कार्य संतुलित हो इसके लिए प्राणायाम आवश्यक है। आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्ति के मार्ग का अंग है।

यद्यपि शरीर एवं बाहर व्याप्त प्राणशक्ति एक है तथापि क्रिया अथवा स्थान रूपी उपाधि को लेकर इसको पांच भागों में विभाजित किया है, जिन्हें 'पञ्चप्राण' कहते हैं। प्रत्येक के विशिष्ट कार्य को लेकर 'पञ्च उपप्राण' भी माने हैं। वे इस प्रकार हैं — पञ्चप्राण — प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान तथा पञ्च उपप्राण — नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय।

मानवीय जीवन की अवधि (आयु) श्वसन प्रणाली द्वारा प्राप्त प्राणशक्ति पर निर्भर है। इसलिए अल्प एवं जल्दी श्वास लेने वाले की अपेक्षा दीर्घ एवं धीरे श्वास लेने वाले अधिक काल तक जीवित रहते हैं। इस बात को ऋषियों ने पशु–पक्षियों के अध्ययन से जाना। सर्प, हाथी, कछुआ आदि जानवर लम्बी एवं धीरे श्वास लेने से ज्यादा जीते हैं जबकि अल्प एवं जल्दी श्वास लेने वाले कुत्ता, खरगोश, पक्षी आदि अल्पायु होते हैं। अतः प्राणायाम से केवल पुष्ट शरीर एवं अध्यात्म लाभ ही नहीं बल्कि आयु को भी बढ़ा सकते हैं।

१.	कछुआ	४-५ बार	१ मिनट में —	आयु २०० वर्ष
२.	सर्प	७-८ बार	१ मिनट में —	आयु १५० वर्ष
३.	मनुष्य	१५-१६ बार	१ मिनट में —	आयु १०० वर्ष
४.	घोड़ा	२०-२२ बार	१ मिनट में —	आयु ४० वर्ष
५.	कुत्ता	२८-३० बार	१ मिनट में —	आयु १४ वर्ष

स्वर योग के ग्रन्थ में वर्णन किया है कि रेचक के समय नासिका से श्वास की कितनी दूरी होगी तो क्या फल मिलेगा इसका ज्ञान हो जाता है। जैसे — सामान्य रेचक — १२ अंगुल होता है और सामान्य पूरक १० अंगुल होता है। यदि रेचक ११ अंगुल हो तो — प्राणशक्ति स्थिर होती है। १० अंगुल — सुख—शान्ति। ६ अंगुल — कवित्त्व शक्ति। ८ अंगुल — वाक्—सिद्धि। ७ अंगुल — दूरदृष्टि। ६ अंगुल — आकाश गमन। ५ अंगुल — मन के समान वेग से चलने की क्षमता। ४ अंगुल — अष्ट सिद्धि। ३ अंगुल — नवनिधि। २ अंगुल — अनेक रूप धारण। १ अंगुल — अदृश्य होने की शक्ति। १ अंगुल का दशांश — मृत्युजय।

विभिन्न कार्यों एवं मानसिक अवस्थाओं में रेचक की गति ऐसी होती है — सामान्य अवस्था — ६ अंगुल, भावनापूर्ण स्थिति — १२ अंगुल, गायनकाल — १६ अंगुल, भोजन काल — २० अंगुल, चलते समय — २४ अंगुल, सोते समय — ३० अंगुल, कामक्रिया (संभोग) एवं व्यायाम में — ३६ अंगुल।

इसका वर्णन हमने प्राणायाम की आवश्यकता समझाने के लिए किया है। प्राणायाम से श्वास की गति, मात्रा आदि पर नियन्त्रण प्राप्त कर भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख प्राप्त कर सकते हैं।

प्राण के माध्यम से ही शरीर एवं आत्मा के मध्य संबंध स्थापित होता है। अतः 'प्राण' जड़-चेतन को जोड़ने वाली शक्ति है। इसके अभाव में जड़ शरीर को मृत घोषित किया जाता है एवं "जीव स्वर्ग चला गया" ऐसा कहा जाता है।

साधकों के लिए प्राणायाम सर्वप्रथम शरीर को स्वस्थ रखता है। दूसरे मन को स्थिर करता है। सुषुम्ना नाड़ी में प्राण प्रवाह का नैरन्तर्यता रहने से आध्यात्मिक मार्ग खुलता है। वीर्य शक्ति का विकास होता है। ब्रह्मचर्य, आहार शुद्धि एवं शरीर शुद्धिपूर्वक प्राणायाम के अभ्यास से मानसिक शक्तियों का विकास होता है। इस छोटे से शरीर में रहकर सृष्टि की समस्त शक्तियों को प्राप्त कर समस्त ब्रह्माण्ड का अनुभव हो सकता है।

निष्कर्ष यह है कि प्राणायाम शरीर के समस्त अंगों पर प्रभाव डालते हुए रक्त

प्रणाली, ग्रन्थि संस्थान, स्नायुमण्डल, प्राणिक नाड़ी मण्डल, प्राणमय कोश एवं सूक्ष्म शरीर को स्वस्थ रखकर सुख-शान्ति देता है।

प्राणायाम सम्बन्धी आवश्यक निर्देश

१. प्राणायाम का अभ्यास शुद्ध एवं खुले हवादार स्थान में करना चाहिए। धूल, धुंआं, सीलन, दुर्गन्ध, गंदे कमरे में नहीं करना चाहिए। बहुत तेज हवा में भी अभ्यास नहीं करना चाहिए।

२. खाली पेट ही अभ्यास करना चाहिए अथवा भोजन करने के चार घण्टे पश्चात् या आधा घंटा पूर्व करना चाहिए।

३. शरीर पर मौसम के अनुकूल वस्त्र हों किन्तु अधिक कसे हुए न हों।

४. प्रातःकालीन अभ्यास अत्युत्तम है। सर्दियों के दिनों में दोपहर या सायंकाल में भी अभ्यास कर सकते हैं।

५. आसन के उपरान्त एवं ध्यानाभ्यास के पूर्व अभ्यास करें।

६. प्राणायाम के समय शरीर को पूरा शिथिल कीजिए।

७. कम्बल पर सूती कपड़े बिछाकर प्राणायाम के लिए ध्यान के किसी आसन में बैठना उचित होगा।

८. गर्मियों की अपेक्षा सर्दियों में अभ्यास अधिक कर सकते हैं।

९. गर्मियों में भस्त्रिका तथा सूर्यभेदी और सर्दियों में शीतली, शीतकारी तथा चन्द्रभेदी का अभ्यास न करें।

१०. दमा, उच्च रक्तचाप, हाइपरटेंशन, हृदयरोग आदि विशेष रोगों से पीड़ित लोगों को विना प्रशिक्षक की देख-रेख के कुम्भक का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

११. प्राणायाम के समय शरीर पर किसी प्रकार का तनाव न पड़े इसलिए सुखदायक स्थिति तक ही कुम्भक लगाएं अन्यथा फेफड़ों पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है।

१२. अभ्यासी धूम्रपान, तम्बाकू, मांसादि उत्तेजक पदार्थों को त्याग दें।

१३. साधारणतः वातप्रधान प्रकृति वालों को शीतली व शीतकारी, पित्त प्रधान प्रकृति वालों को सूर्यभेदी और कफ प्रधान प्रकृति वालों को चन्द्रभेदी प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

१४. सूर्यभेदी से वायु प्रकोप, उज्जयी से कफ प्रकोप, शीतली व शीतकारी से पित्त तथा भस्त्रिका से त्रिदोष दूर होता है।

१५. स्नान के पश्चात् आसन एवं प्राणायाम करना उचित है नहीं तो अभ्यास के आधा घंटे के बाद स्नान करें।

१६. पसीना आए तो तौलिए से न पोंछकर, हाथों से मालिश करना अच्छा है।

१७. जुकामादि के कारण उखड़े व बन्द श्वास की स्थिति में प्राणायाम का अभ्यास न करें।

१८. बारम्बार अभ्यास को न तोड़ें अन्यथा पूर्ण लाभ नहीं मिलेगा।

प्राणायाम के अभ्यास के लिए श्वसन प्रकिया ठीक से जानना जरूरी है। सामान्यतः दो वर्गों में विभक्त किया है श्वसन प्रक्रिया को — उदर श्वसन और उरः श्वसन।

(१) उदर श्वसन

बैठकर या चित्त लेटकर एक हाथ को नाभि प्रदेश पर रखें। दीर्घ पूरक कीजिए। गुब्बारे की तरह उदर प्रदेश फूल जाता है और ऊपर उठता है। जैसे-जैसे उदर बाहर की ओर फूलता जाता है, वैसे-वैसे ह्रदय-पटल नीचे दबता जाता है। फेफड़े और उदर का विभाजक मांसपेशी-तन्तु ह्रदय-पटल है।

अब दीर्घ रेचक कीजिए। उदर में संकुचन होगा फलतः हाथ मेरुदण्ड की ओर नीचे जाता है। जैसे-जैसे उदर में उतार आता है, वैसे-वैसे ह्रदय-पटल में चढ़ाव आता है।

इस अभ्यास के दौरान छाती व कंधे स्थिर हों।

उदर श्वसन

(२) उरः श्वसन

बैठिए या चित्त लेटिए। छाती की पसलियों का विस्तार करते हुए पूरक कीजिए। आवश्यकता पड़े तो हाथ के अंगूठे को कमर के पीछे रखकर शेष अंगुलियों से पेट को दबाए रखिए अथवा हाथों को सिर के ऊपर उसके पीछे की ओर मोड़कर हथेलियों को पुट्ठों पर तानकर रख लें। इस क्रिया में पसलियां ऊपर एवं बाहर की ओर उठ जाती हैं।

रेचक करने के साथ ही पसलियों में उतार आता है। इस क्रिया के दौरान उदर प्रदेश में गति न होने दीजिए।

उपरोक्त दोनों श्वसन प्रक्रियाओं को एक साथ पूर्णरूपेण करना प्रत्येक व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है। किन्तु मनुष्य का स्वाभाविक प्रत्येक श्वास ऐसा नहीं हो पाता इसलिए प्राणायाम का अभ्यास आयु आरोग्यादि के लिए अति आवश्यक है।
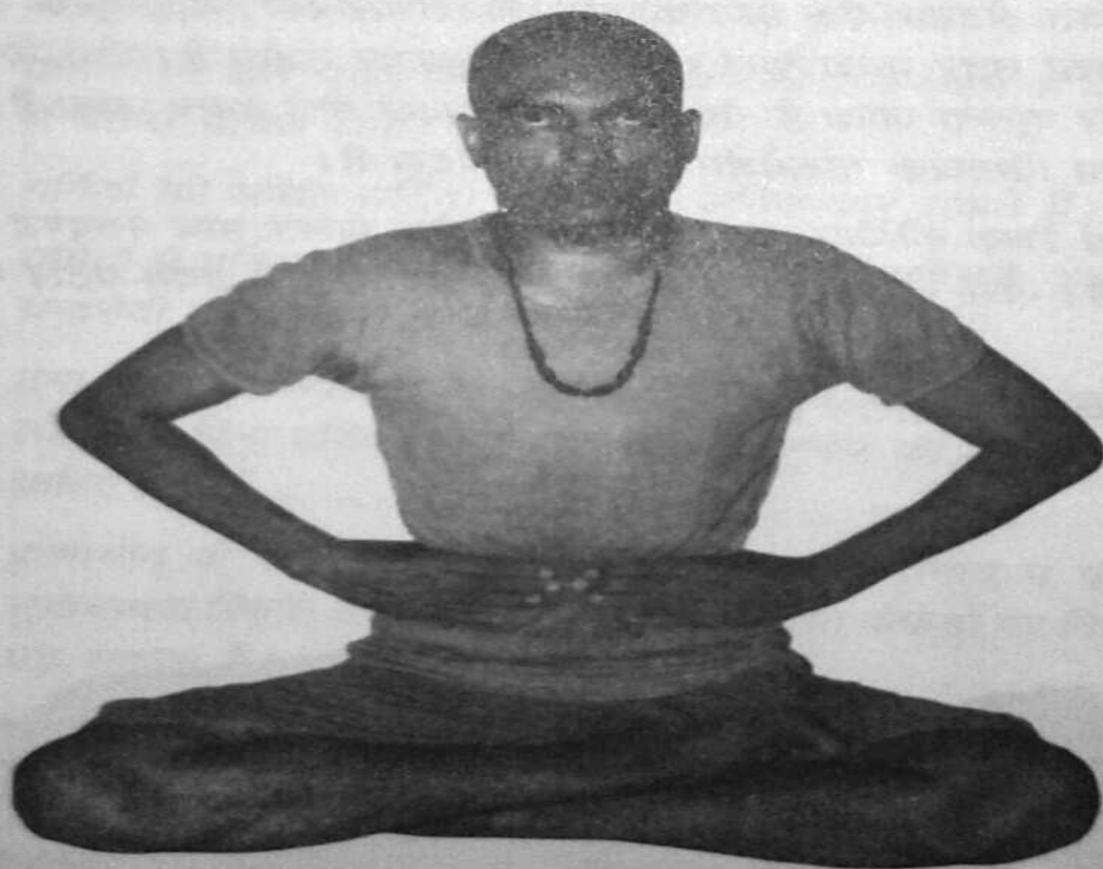
उरः श्वसन

(३) पूर्ण श्वसन या यौगिक श्वसन

क्रमशः उदर एवं छाती का विस्तार करते हुए फेफड़ों में पूर्णरूप से पूरक द्वारा वायु भर लें। इसके पश्चात् क्रमशः छाती एवं उदर को शिथिल करते हुए रेचक करें। अन्त में उदर के स्नायुओं को संकुचित कर फेफड़ों पर दबाव डालते हुए अधिक-से-अधिक वायु का निष्कासन करें। संपूर्ण क्रिया लयबद्ध हो, झटके से न हो।
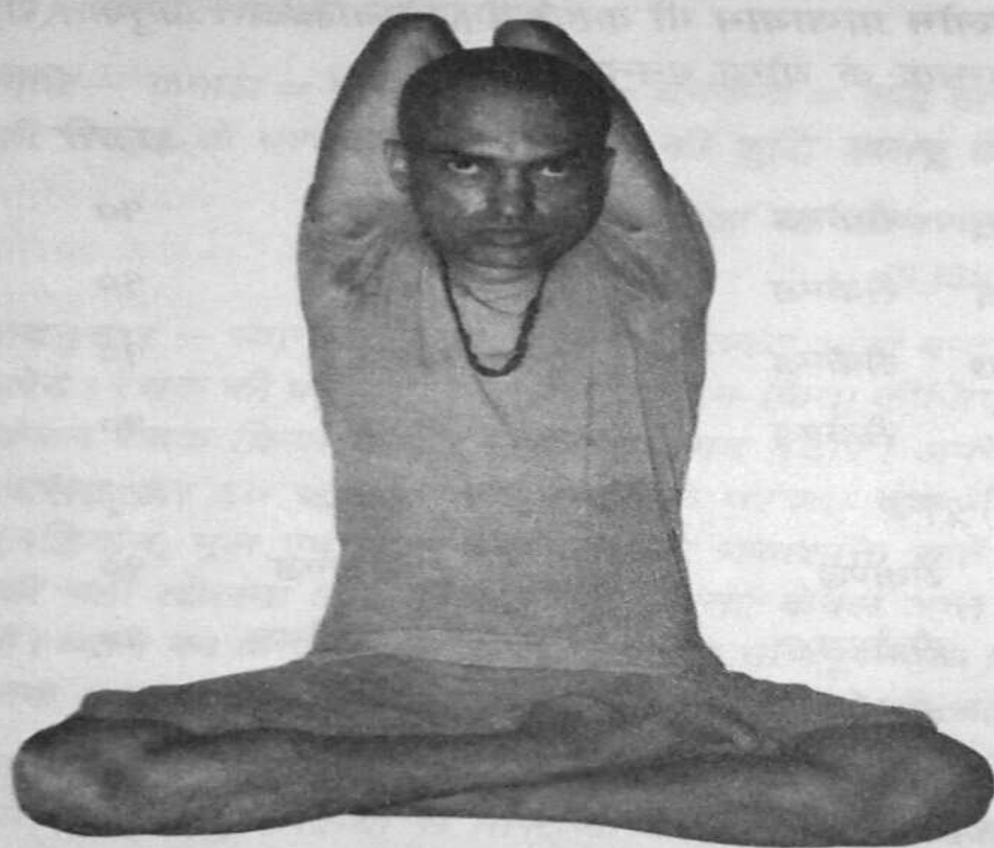
पूर्ण श्वसन

प्राणायाम का वर्णन दो खण्डों में करेंगे। (क) प्राणायाम से पूर्व के अभ्यास। (ख) प्राणायाम प्रभेद।

प्राणयाम से पूर्व के अभ्यास

फेफड़ों की सफाई किए विना प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिए। तीन सरल विधियों के अभ्यास से यह सरलतापूर्वक हो सकता है।

विधि १ — *भूमि पर बैठिए या खड़े हो जाइए। पीठ सीधी रहे। बैठे हों तो हाथों को जमीन पर तथा खड़े हों तो जांघ पर रखें। दोनों हाथों को धीमी गति से उठाते हुए उदर से पूरक कीजिए। फिर उदर के स्नायुओं को सिकोड़ते हुए साथ-साथ हाथों को नीचे लाते हुए रेचक कीजिए।*

विधि २ — *सीधे खड़े होकर हाथों को सिर के ऊपर उठाते हुए तथा उदर का विस्तार करते हुए पूरक कीजिए। हाथों को नीचे की ओर लाते हुए उदर के स्नायुओं को सिकोड़िए तथा रेचक कीजिए। हाथों को ऊपर की तरफ कैंचीनुमा तानिए और नीचे भी अपने सामने हाथों को एक-दूसरे पर कैंचीनुमा रखें।*

विधि ३ — *खड़े होकर पैरों को दो-तीन फुट दूर रखें। भुजाओं को सिर के ऊपर*

उठाइए, हथेलियों को नीचे की ओर मोड़े हुए रखें और दीर्घ पूरक कीजिए। तत्पश्चात् रेचक करते हुए, कमर से धड़ को मोड़ते हुए धीरे या एकदम सामने झुकिए और दस बार 'हा-हा......' शब्द उच्चारण-पूर्वक श्वास फेंककर फेफड़े से पूर्णतः वायु को बाहर करें। ऐसे दस-पन्द्रह बार दुहराइए जब तक कि फेफड़ों के पूर्ण शोधन का अनुभव न हो।

विधि ४ — यह चौथी विधि नए साधकों को प्राणायाम के लिए सक्षम व योग्य बनाने के लिए है। इसे **अनुलोम-विलोम प्राणायाम** भी कहते हैं। निम्नलिखित अनुपात से पूरक-रेचक अभ्यास द्वारा कुम्भक के योग्य बनना है।

	पूरक	रेचक	आवृत्ति
प्रथम सप्ताह —	५ सैकेण्ड	५ सैकेण्ड	१०
द्वितीय सप्ताह —	६ सैकेण्ड	६ सैकेण्ड	१०
तृतीय सप्ताह —	७ सैकेण्ड	७ सैकेण्ड	१०
चतुर्थ सप्ताह —	८ सैकेण्ड	८ सैकेण्ड	१०

	पूरक	कुम्भक	रेचक	आवृत्ति
पञ्चम सप्ताह —	६ सैकेण्ड		६ सैकेण्ड	१०
षष्ठ सप्ताह —	१० सैकेण्ड		१० सैकेण्ड	१०
सप्तम सप्ताह —	५ सैकेण्ड	१० सैकेण्ड	१० सैकेण्ड	५
अष्टम सप्ताह —	५ सैकेण्ड	१० सैकेण्ड	१० सैकेण्ड	१०

प्राणायाम प्रभेद

(१) प्लाविनी प्राणायाम

विधि — पद्मासन में बैठकर हाथों को दोनों घुटनों पर रखें। रीढ़ एवं गर्दन सीधी रहे। मुख को गोलाकार में खोलकर श्वास घूंट-घूंटकर अन्दर भरें जिससे पेट गुब्बारे के समान फूल जाए। जब और वायु पीना संभव न हो तो मुँह बंद करके कुछ क्षणों तक वायु को यथाशक्ति रोकें। तत्पश्चात् उड्डियान-बन्ध लगाते हुए अथवा जिह्वा को बाहर निकालकर सामने की ओर झुकाते हुए पूरी तरह वायु को निकाल दें। धीरे-धीरे आवृत्तियां और रोकने के समय को बढ़ाइए। प्रत्येक आवृत्ति के पश्चात् कुछ क्षण सामान्य श्वास के साथ विश्राम करें। ध्यान का केन्द्र — स्वाधिष्ठान-चक्र।

लाभ — यह कुञ्जल का विकल्प है। मौसम परिवर्तन के समय (चैत्र एवं कार्तिक अर्थात् मार्च-अप्रैल, सितम्बर-अक्टूबर) जब शरीर में पित्त बढ़ता है और जठराग्नि मन्द हो जाती है तब यह अति लाभकारी है। पित्त रोग भी दूर हो जाते हैं।

निरन्तर अभ्यास करने से जलस्तम्भन करना, जल पर तैरना एवं विना भोजन के कई दिन तक रहने की क्षमता प्राप्त होती है।

(२) कपालभाति प्राणायाम

विधि — कपाल = मस्तिष्क, भाति = चमकना = शुद्ध होना। पेट की शुद्धि एवं फेफडों की सफाई के पश्चात् अब मस्तिष्क की शुद्धि करना है। पतञ्जलि कहते हैं —

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।
(१।३४)

तदनुसार — ध्यान के किसी आसन में बैठकर आंखें बन्द करके पूरे शरीर को शिथिल छोड़ें। रेचक की प्रमुखता रखते हुए श्वसन-क्रिया कीजिए। पूरक सहज होना चाहिए। केवल रेचक क्रिया में बल लगाकर समय बढ़ाएं। अपनी क्षमता के अनुसार १० से आरम्भ कर ६० से १०० तक रेचक के पश्चात् एक दीर्घ रेचक करके तीनों बन्ध (उड्डियान, मूल एवं जालन्धर) लगाकर यथाशक्ति रुकें। पूरी क्रिया के दौरान नेत्र को नहीं खोलना और कुम्भक नहीं करना, केवल अन्त में बहिःकुम्भक किया जाता है। ध्यान का केन्द्र — आज्ञा-चक्र अथवा मणिपूर-चक्र। एक आवृत्ति से १० आवृत्ति तक बढ़ा सकते हैं और कुम्भक की अवधि को भी बढाएं।

लाभ — भस्त्रिका प्राणायाम के लिए तैयार करता है। यह हठयोग के षट्कर्मों में से एक है। इस क्रिया से मस्तिष्क के सामने का प्रदेश शुद्ध होता है; अतः स्वप्न, मनोराज्य आदि दूर होता है एवं सुख-शान्ति प्राप्त होगी। मस्तिष्क में रक्तजमाव को दूर करने की अत्युत्तम प्रक्रिया है। इसकी विलक्षणता है कि पञ्चमहाभूतों को भी शुद्ध करता है। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

शोधित दोष	प्रभावित अंग	शोधित तत्त्व
१. मस्तिष्क में ट्यूमर, फोड़ा, रक्तजमाव, मस्तिष्क की निष्क्रियता, मस्तिष्क की कोशिकाओं का तनाव आदि।	स्थूल मस्तिष्क	पृथ्वी तत्त्व
२. रीढ़ एवं श्वेत द्रव्यों के रक्त कणों पर प्रभाव पड़ता है।	रीढ़ में संचारित अनु-मस्तिष्कीय द्रव्य	जल तत्त्व

३. संदेशवाहिनी नाड़ियों में रुकावट अथवा मन्द गति व निष्क्रियता।	नाड़ी, ऊतक एवं कोशिकाएं	अग्नि तत्त्व
४. खोपड़ी गुहा के सकल प्रकार के अवरोध।	खोपड़ी गुहा	वायु तत्त्व
५. असंतुलित व असंगत मस्तिष्क को दूर करता है।	मस्तिष्क गुहा की सूक्ष्म ऊर्जा	आकाश तत्त्व

इस प्राणायाम में बन्ध-त्रय के प्रभाव के कारण मूलाधार, स्वाधिष्ठान एवं मणिपूर-चक्र सक्रिय होते हैं। दमा आदि श्वास सम्बन्धी एवं टी॰बी॰ आदि रोग दूर हो जाते हैं क्योंकि इससे श्वसन प्रणाली का भी पेट के साथ-साथ शोधन होता है फलतः अनाहत-चक्र भी सक्रिय होता है। विचार-शक्ति, स्मृति-शक्ति एवं मेधा-शक्ति बढ़ती है। उद्विग्न मन शान्त होता है।

हृदय रोगी, उच्च रक्तचाप, पेट के ट्यूमर, मिर्गी, घबराहट एवं मूर्च्छित होने की बीमारी वाले लोग इसका अभ्यास न करें।

यह ध्यान एवं कुण्डलिनी योग के लिए अच्छी प्रस्तावना है। साधकों को इसका नित्य अभ्यास करना चाहिए।

(३) सूर्यभेदी प्राणायाम

विधि — किसी ध्यान के आसन में बैठिए। कमर, पीठ व गर्दन सीधी रहे। दाएं हाथ की पहली दोनों अंगुलियों को अंगूठे के मूल में लगाकर अथवा ऊपर की ओर फैलाकर अनामिका से बाईं नासिका छिद्र को बन्द करें। आँखों को कोमलता से बन्द करके प्रसन्न मुद्रा में रहें। बायां हाथ बाएं घुटने पर ज्ञानमुद्रा में रखें। अब दाईं नासिका से श्वास को धीरे-धीरे गहरा भरें ताकि पैर के नाखून से चोटी तक भरने का अनुभव हो। दाएं अंगूठे से दाहिने नासिका छिद्र को बन्द कर लें। श्वास रोके रखें। जालंधर एवं मूलबन्ध लगाएं और अन्तःकुम्भक करें। यथाशक्ति कुम्भक के पश्चात् धीरे-धीरे दाहिनी नासिका से ही रेचक करें। १ आवृति से आरम्भ कर १० आवृत्ति तक करें और कुम्भक की अवधि को बढ़ाएं। ध्यान का केन्द्र — आज्ञा-चक्र अथवा विशुद्धि-चक्र पर।

लाभ — इस प्राणायाम से पिंगला नाड़ी क्रियाशील होती है। कंठ, जिह्वा, स्वर के दोष दूर होते हैं। पौरुष शक्ति बढ़ती है। कफ सम्बन्धी रोग समाप्त हो जाते हैं। रक्तदोष, चर्मरोग, पेट के कीड़े, मन्दाग्नि, निम्न रक्तचाप एवं मस्तिष्क के कुछ दोष मिट जाते हैं। आज्ञाचक्र, विशुद्धि-चक्र एवं कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त उपयोगी है। इससे

शरीर की दुर्बलता, क्षीण होना एवं मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इसे सर्दी के मौसम में करना अच्छा है।

(४) चन्द्रभेदी-प्राणायाम

विधि — उक्त प्राणायाम के ठीक विपरीत है। पद्मासन में बैठें। पीठ, कमर व गर्दन सीधी रहे। आँखों को बन्द करके प्रसन्न मुद्रा में बैठें। बाएं हाथ को बाएं घुटने पर ज्ञानमुद्रा में रखें। पूर्ववत् दाहिने हाथ की पहली दो अंगुलियों को अंगूठे के मूल में लगाकर अथवा ऊपर की ओर फैलाकर दाहिने अंगूठे से दाएं नासिका छिद्र को बन्द करें। धीरे-धीरे बाईं नासिका से गहरा श्वास लें और दाहिनी अनामिका अंगुली से बाएं नासिका छिद्र को बन्द करें। अन्तःकुम्भक लगाकर मूलबन्ध और जालन्धर-बन्ध का अभ्यास करें। यथाशक्ति रुकें। इसके पश्चात् बाईं नासिका से ही धीरे-धीरे रेचक करें। एक आवृत्ति से आरम्भ कर २० आवृत्ति तक करें। कुम्भक की अवधि को भी बढ़ाएं। प्रत्येक आवृत्ति के बाद सामान्य श्वास के साथ कुछ क्षण विश्राम कर सकते हैं। इसे गर्मी के मौसम में करना अच्छा है। कपालभाति के समान सूर्यभेदी उच्च रक्तचाप आदि रोगी के लिए वर्जित है। चन्द्रभेदी ठीक उसके विपरीत दमा, निम्न रक्तचाप आदि रोगियों के लिए वर्जित है। ध्यान का केन्द्र बिन्दु विसर्ग पर।

लाभ — शरीर की थकावट व अधिक उष्णता दूर होती है। पित्ताधिक्य एवं उच्च रक्तचाप और हरपीज जैसे रोग ठीक होते हैं। मन को शान्ति मिलती है और शरीर में अमृत का संचार होता है। यह ललना—चक्र एवं बिन्दुविसर्ग चक्र को विशेषतः सक्रिय करता है। अधिक गर्मी के कारण जिनका ब्रह्मचर्य नष्ट होता है, उनके लिए यह अत्यन्त लाभदायक है।

लेकिन इसका अधिक अभ्यास करना वर्जित है अन्यथा हानि होगी।

(५) उज्जयी प्राणायाम

विधि — खड़े होकर, लेटकर, चलते-चलते अथवा पद्मासनादि ध्यान के आसन में बैठकर आँखें हल्का बन्द कर लें और हाथों को घुटनों पर ज्ञानमुद्रा में रखें। खेचरी मुद्रा लगाएं अर्थात् मुँह में ही जिह्वा को पीछे की ओर मोड़कर ऊपरी तालू को स्पर्श करके रखें। गले में स्थित स्वर-यन्त्र को संकुचित करते हुए श्वास भरें। श्वसन क्रिया गहरी, धीमी तथा छोटे बच्चे के कोमल खर्राटे की भाँति हो। पेडू थोड़ा पिचकाएं रखें ताकि श्वास कण्ठ से हृदय और हृदय से कण्ठ तक हो। इस क्रिया में पसलियों और पेडू पर विशेष प्रभाव न पड़े ऐसी श्वसन-क्रिया करें। पूरे अभ्यास में मूलबन्ध पूर्णरूपेण लगा रहेगा और हल्का सा उड्डियान-बन्ध एवं जालन्धर-बन्ध भी। इसका

अभ्यास यथाशक्ति पन्द्रह मिनट से कई घंटों तक कर सकते हैं। ध्यान का केन्द्र विशुद्धि-चक्र पर।

लाभ — सरल होते हुए भी संपूर्ण शरीर पर सूक्ष्म प्रभाव डालता है। मन चिन्तामुक्त होकर शान्त होता है। अनिद्रा के रोगी बिना खेचरी मुद्रा लगाए शवासन में अभ्यास करें। उच्च रक्तचाप, हृदय रोगी, टाँसिल, खाँसी, धातु-दोष, नाड़ी दोष, जलोदर, कफ, दमा, टी॰बी॰, फुफ्फुस, जुकाम, गला-नाक-कान के रोग, उदर रोग, मिर्गी, आमवात, मन्दाग्नि आदि अनेकों रोगों को ठीक करता है। मस्तिष्क की गर्मी मिटती है। शरीर एवं मुख-कान्ति बढ़ती है। स्वर सुरीला होता है। भावनात्मक शक्ति का मानसिक व शरीरिक शक्ति के साथ संतुलन होने से ध्यान की अवस्था प्रगाढ़ होती है। इससे बुढ़ापा एवं मृत्यु तक पर विजय प्राप्त कर सकते हैं इसीलिए इसका नाम उज्जयी है।

(६) भ्रामरी प्राणायाम

विधि — किसी आरामदायक आसन में बैठें। मेरुदण्ड, सिर, कमर व गर्दन सीधी रहे। नेत्र बन्द करें और शरीर को शिथिल छोड़ें। संपूर्ण अभ्यास के दौरान मुँह बन्द रखें। दोनों नासिका छिद्र से पूरक करें और मूलबन्ध का अभ्यास पांच क्षण के लिए करें। बन्ध को मुक्त कर कान के दोनों छिद्रों को अंगूठों से बन्द कर लें। मुँह बन्द रखते हुए दांतों को थोड़ा अलग रखें। अब भ्रमर या मधुमक्खी के समान गुंजन करते हुए धीरे-धीरे रेचक करें। ध्वनि अखण्ड हो। मस्तिष्क में ध्वनि की तरंगों के प्रभाव पर ध्यान दें। ध्यान का केन्द्र सहस्रार-चक्र हो। पांच से आरम्भ कर अधिक से अधिक आवृत्ति कर सकते हैं।

लाभ — मानसिक तनाव, चिन्ता, क्रोध, विक्षेप, अनिद्रा, मिर्गी आदि को दूर करता है। रक्तचाप व गले के रोगों को नियन्त्रित करता है। स्वर में मधुरता लाता है। आध्यात्मिक ध्वनि (नाद) के प्रति जागरूकता लाता है। रक्त एवं मज्जा तन्तु शुद्ध होते हैं। वीर्य शुद्ध होकर ऊर्ध्वगामी होता है। प्राण दीर्घ एवं सूक्ष्म होता है। फलतः समाधि लगने में अत्यन्त उपयोगी है।
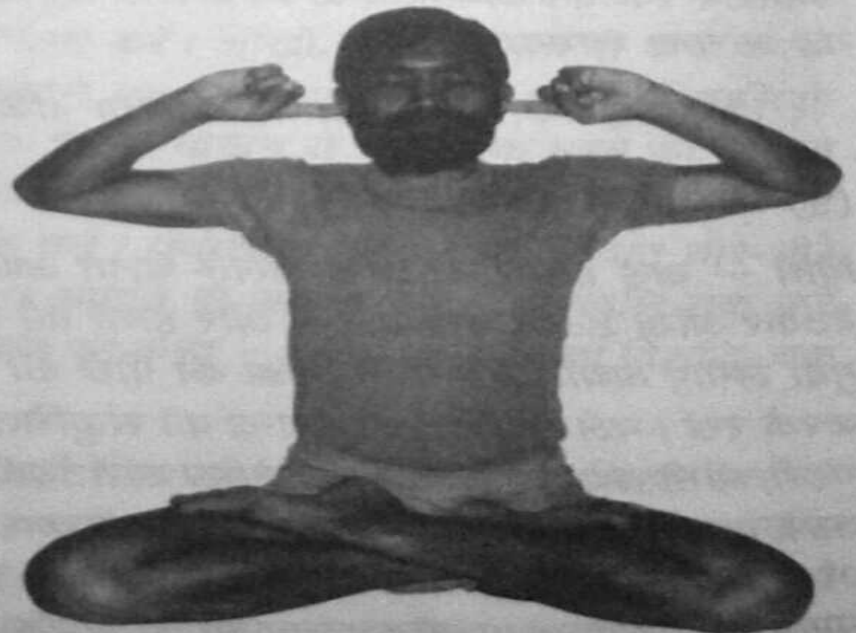
भ्रामरी प्राणायाम

(७) भस्त्रिका प्राणायाम

विधि — स्वर्ण की मल-शुद्धि सोनार धौंकनी से जैसे करता है उसी प्रकार शरीर की मलशुद्धि करने के लिए धौंकनी के समान श्वास-प्रश्वास की गति को वेगपूर्वक लेना और छोड़ने की क्रिया को भस्त्रिका कहते हैं।

प्रथम अवस्था — ध्यान के किसी सुखप्रद आसन में बैठिए। सिर, मेरुदण्ड, गर्दन व कमर तक पूरा सीधा रहें। नेत्र बंद हों। बाएं हाथ को बाएं घुटने पर रखिए। दाहिने हाथ के अंगूठे को दाहिने नथुने के पास व अनामिका को बाएं नथुने के पास रखें, तर्जनी एवं मध्यमा को भ्रूमध्य पर और कनिष्ठिका को खुला रख लें। अब अंगूठे से दाहिने नथुने को बन्द कीजिए और बाएं नथुने से शीघ्रतापूर्वक २० बार श्वास लीजिए। उदर का आकुंचन व प्रसार के साथ लययुक्त हो। तत्पश्चात् एक लम्बा पूरक कीजिए, मूल एवं जालन्धर बन्धों का यथाशक्ति अन्तःकुम्भक के साथ अभ्यास करें। क्षमतानुसार रुककर बन्धों को खोलकर रेचक करें। इसी प्रकार दाहिने नथुने से भी करें। तीन आवृत्ति दुहराइए।

भस्त्राका प्राणायाम

द्वितीय अवस्था — ध्यान के किसी सुखप्रद आसन में बैठकर दोनों हाथों को घुटनों पर ढीला रखें। दोनों नासिका छिद्रों से एक साथ बीस बार पूर्ववत् लययुक्त गति से उदर का आकुंचन व प्रसारण के साथ करें। दीर्घ पूरक कर अन्तःकुम्भक लगाएं। जालन्धर एवं मूलबन्धों का अभ्यास करें। यथासम्भव रुकने में मदद के लिए हाथों को कड़क सीधा करके स्थिर रखें। तत्पश्चात् बन्धों को खोलिए, हाथ को ढीला छोड़कर रेचक कीजिए। ऐसी तीन आवृत्ति करें। ध्यान का केन्द्र — आज्ञाचक्र व श्वास पर।

बलपूर्वक अभ्यास न करें। बेहोशी या हांफने लगें तो समझ लें कि क्रिया ठीक से नहीं हो रही है। पूरी क्रिया में मुख विकृत न हो शरीर हिलना नहीं चाहिए। शरीर सुदृढ़ किन्तु शिथिल रहे और चेहरा स्वाभाविक या प्रसन्न मुद्रा में होना चाहिए। उच्च रक्तचाप आदि के रोगी बिना योग्य योग-शिक्षक की देख-रेख के इसे न करें।

लाभ — फेफड़ों में स्थित अनावश्यक वायु एवं जीवाणुओं को निष्कासित करने का यह सरलतम उपाय है। दमा, प्लूरसी, क्षयरोग, उदर के रोग आदि सब निवृत्त हो जाते हैं। गले की सभी प्रकार की बीमारियां, विशेषतः कफ को दूर करता है। समस्त नाड़ियों को शुद्ध करने की यह अत्युत्तम प्रक्रिया है। यह सुषुप्ना नाड़ी के द्वार पर स्थित कफादि अवरोधकों को दूर करता है। फलतः तीनों ग्रन्थियों (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि) का भेदन कर कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहयोगी है। इसे ठण्ड के मौसम में करना लाभप्रद है।

(८) शीतली प्राणायाम

विधि — ध्यान के किसी भी आसन में बैठिए। हथेलियों को घुटनों पर रखें। रीढ़ एवं गर्दन सीधी रहे। नेत्र को हल्के से बन्द कर लें। जिह्वा को मुँह से बाहर निकालकर दोनों किनारों से इस प्रकार मोड़िए कि एक नलिका के समान हो जाए। इस नलिका जैसी जिह्वा से धीरे-धीरे गहरी-लम्बी श्वास लें। अन्तःकुम्भक का अभ्यास करते हुए जालन्धर-बन्ध लगाइए। यथाशक्ति रुकने के बाद नाक से धीरे-धीरे रेचक करें। तीन आवृत्ति से आरम्भ कर आवश्यकता के अनुसार बढ़ा सकते हैं। लेकिन उच्च रक्तचाप वाले रोगी को कम-से-कम ६ और अधिक-से-अधिक ६० आवृत्तियां करनी चाहिए। ध्यान का केन्द्र अनाहत-चक्र अथवा विशुद्धि-चक्र पर हो।

लाभ — स्नायुओं को शीतलता एवं मन को स्थिरता और शान्ति प्रदान करता है। प्यास को कम करता है और रक्त को शुद्ध करता है। शरीर की अतिरिक्त गर्मी दूर होती है। हरपीज, प्लीहा, वात (गुल्म), अपच, पित्तदोष, पुराने रोगों की जलन, टी॰बी॰, ज्वर, रक्तपित्त,
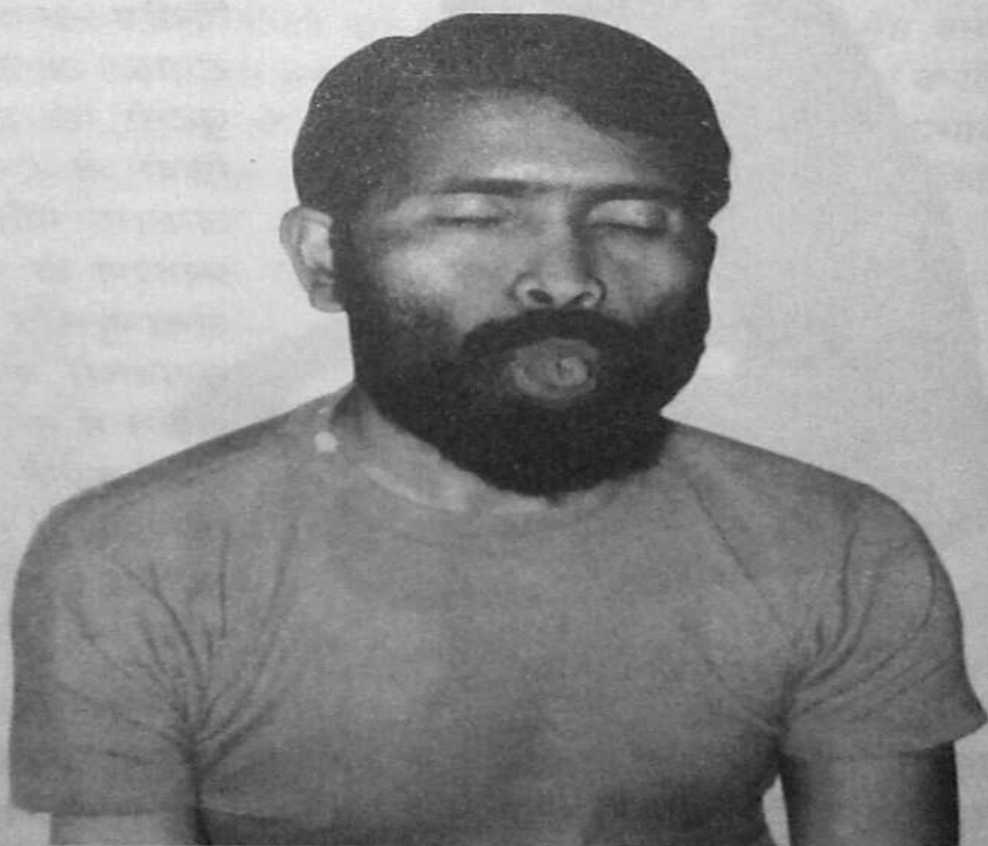
शीतली प्राणायाम

पेचिश, अम्लपित्त, मुँह के छाले, नेत्र व त्वचा के रोग, गले के रोग, उच्च रक्तचाप आदि दूर होते हैं। कफ प्रधान रोगी को बिना कुंभक किए इस क्रिया को करना चाहिए। शरीर में स्थित विषाक्त पदार्थ घटता है। निद्रा और आलस्य पर नियन्त्रण होता है। बल एवं सौन्दर्य बढ़ता है।

निम्न रक्तचाप के रोगी के लिए वर्जित है। इसे गरमी के मौसम में करना अधिक लाभप्रद है।

(९) शीतकारी प्राणायाम

विधि — शीतली प्राणायाम के समान प्रक्रिया है। फर्क केवल मुँह की स्थिति में है। जिह्वा को मोड़कर उसके अग्र भाग से ऊपरी तालु को स्पर्श करें। दांतों की पंक्ति को एक-दूसरे पर रखिए होठों को पूर्णरूपेण फैलाइए। धीरे-धीरे दांतों के बीच में से पूरक कीजिए। मधुर लयबद्ध 'सी' जैसी ध्वनि निकालनी चाहिए। शेष क्रिया शीतली के समान करें।
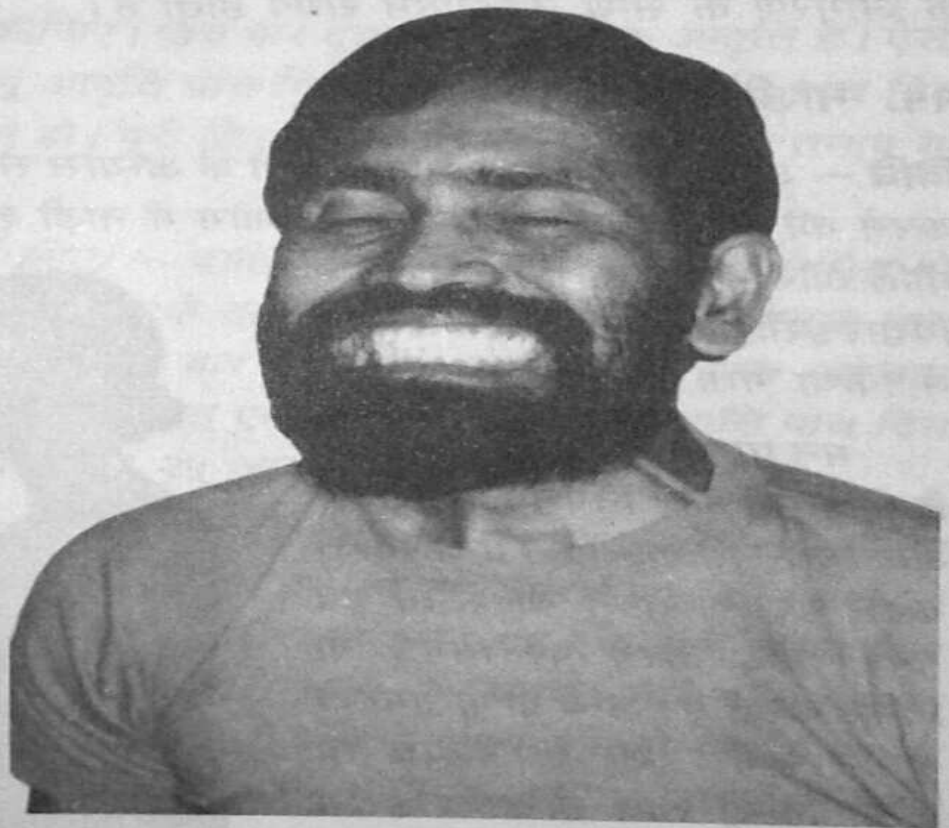
लाभ —शीतली में कहे सब लाभों के अतिरिक्त इससे मुँह की दुर्गन्ध एवं पायरिया दूर होता है।

शीतकारी प्राणायाम

(१०) मूर्छा प्राणायाम

विधि — इसका अभ्यास करने के लिए स्थिर आसन में बैठें जैसे — पद्मासन या सिद्धासन। सिर को पीछे मोड़कर आकाशी मुद्रा में बैठें। धीरे-धीरे एवं लम्बा गहरा श्वास लेते हुए पूरक कीजिए। अन्तःकुम्भक लगाकर शाम्भवी मुद्रा करते हुए स्थिर रहें। यदि आवश्यकता पड़े तो हाथों से घुटनों को दबाते हुए भुजाओं को एकदम सीधा कीजिए। पूरे शरीर को शिथिल कर, मुद्रा को हटाकर रेचक कीजिए। मानसिक

रूप से शान्ति एवं हल्केपन का अनुभव करें। कुछ क्षण विश्राम कर दुहराइए। तीन से पांच आवृत्ति कर सकते हैं। तीनों बन्धों के साथ धीरे-धीरे कुम्भक की अवधि बढ़ाने से अधिक लाभ होगा।

इसे ध्यान के पूर्व, आसनों के उपरान्त व निद्रा के पूर्व कर सकते हैं। ध्यान का केन्द्र— सहस्रार-चक्र पर।

लाभ — मन को शान्त एव अन्तर्मुखी बनाने में अत्यन्त उपयोगी। नेत्र-ज्योति एवं स्मृति-शक्ति बढ़ती है। सिर दर्द, अनिद्रा और स्नायु की दुर्बलता दूर होती है। शक्ति के जागरण के साथ ऊर्ध्वगमन संभव होता है।

११. नाड़ी शोधन प्राणायाम

विधि — अभी तक बताए गए प्राणायामों के अभ्यास से साधक नाड़ी-शोधन प्राणायाम करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। योग में नाड़ी शुद्धि के दो प्रकार बताए हैं — धौति और मनु प्राणायाम। धौति पर विचार इसी प्रकरण के द्वितीय अध्याय में किया गया है (पृष्ठ ३७ देखें)।

मनु प्राणायाम भी दो प्रकार का है — समनु और निर्मनु जिसे सगर्भ और निगर्भ भी कहते हैं। मन्त्र सहित करने पर — समनु या सगर्भ एवं मन्त्र रहित करने पर निर्मनु या निगर्भ कहते हैं। अन्य प्राणायामों के समान श्वास की लयबद्धता तो रहेगी किन्तु साथ ही साथ इससे श्वास सूक्ष्म होता जाता है जो कि आध्यात्मिक लाभ के लिए अति आवश्यक है।
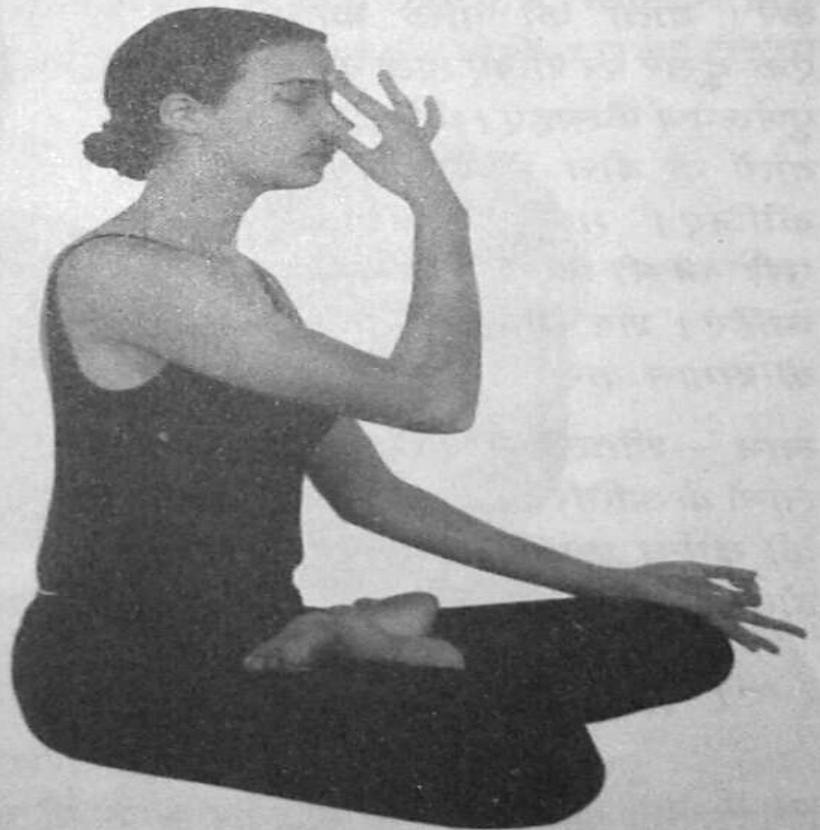
नाड़ी शोधन प्राणायाम

विधि — वज्रासन को छोड़कर ध्यान के किसी भी आसन में बैठें। गर्दन व रीढ़ सीधी रहे। नेत्र बन्द रखें। बाएं हाथ को बाएं घुटने पर ज्ञानमुद्रा में रखें। संपूर्ण शरीर को शिथिल छोड़कर शारीरिक एवं मानसिक रूप से प्राणायाम के लिए तैयार हो जाइए।

प्रथम अवस्था *— (१५ दिन के लिए) — दाहिने हाथ को मुख के सामने ले जाएं। तर्जनी एवं मध्यमा को भ्रूमध्य पर रखें। पूरे अभ्यास के दौरान वे स्थिर हों ऐसा रख लें। अंगूठे को दाहिनी नासिका छिद्र के बगल में और अनामिका को बाएं नथुने के पास रख लें ताकि आवश्यकता के अनुसार उन छिद्रों को बन्द कर सकें व खोल सकें। छोटी अंगुली को बाहर की ओर फैला दें।*

अंगूठे से दाहिने नथुने को बन्द करें। बाएं नथुने से पूरक कीजिए। उसी से रेचक कीजिए। पूरक एवं रेचक की गति सामान्य व बराबर हो। पांच बार दुहराइए। अब बाएं नासिका छिद्र को बन्द करें। दाहिने नासिक छिद्र को खोलकर उससे सामान्य गतियुक्त पूरक—रेचक बराबर कीजिए। पांच बार दुहराइए। यह एक आवृत्ति है। ऐसी पांच आवृत्ति पांच दिन, फिर १५ आवृत्ति पांच दिन, तत्पश्चात् २५ आवृत्ति पांच दिन करें। बलपूर्वक श्वसन-क्रिया न हो। पूरी क्रिया में किसी प्रकार की ध्वनि, तनाव या कष्ट नहीं होना चाहिए।

द्वितीय अवस्था *(१५ दिन के लिए) — दाहिने छिद्र को बन्द करके बाएं छिद्र से पूरक करें। अब बाएं छिद्र को बन्द करके दाहिने छिद्र से रेचक करें। पश्चात् पुनः बाएं से पूरक, दाएं से रेचक करें। पांच बार दुहराइए। अब दाएं से पूरक एवं बाएं से रेचक करें। ऐसे पांच बार दुहराइए। यह एक आवृत्ति हुई। पांच आवृत्ति पांच दिन तक करें। १५ आवृत्ति पांच दिन और २५ आवृत्ति पांच दिन करें।*

तृतीय अवस्था *(१५ दिन के लिए)— दाहिने नासिका छिद्र को बन्द करके बाएं नासिका छिद्र से पूरक करें। अब बाएं को बन्द कर दाहिने को खोलकर रेचक करें। पश्चात् दाहिने नासिका छिद्र से पूरक करके बाएं से रेचक करें। यह एक चक्र हुआ। फिर बाएं से पूरक करके दाएं से रेचक करें। ऐसे चक्र को चलाएं। लेकिन अब पूरक एवं रेचक की लम्बाई की ॐ अथवा अन्य किसी मन्त्र से गणना कीजिए। दोनों बराबर हों। सुखपूर्वक जितनी गिनती तक पूरक एवं रेचक किया जा सके उतना ही करें। धीरे—धीरे अवधि बढ़ाएँ किन्तु दोनों का अनुपात समान रहे। ध्यान रहे ऐसा करने में किसी प्रकार का तनाव, कष्ट, थकान आदि न हो। पूरक में धीरे से गिनकर रेचक में जल्दबाजी करना उचित नहीं है। १० चक्र से आरम्भ कर ५० चक्र तक १५ दिन में बढ़ाने की कोशिश करें।*

चतुर्थ अवस्था *(दक्षता प्राप्ति तक) — पूर्ववत् पूरक-रेचक का चक्र करें किन्तु अब साथ में अन्तःकुम्भक को जोड़ दें। आरम्भ में उक्त विधि से पूरक की संख्या पूर्ति के बाद दोनों नथुने बन्द करके केवल पांच की गिनती तक कुम्भक करें। फिर उक्त विधि से ही रेचक करें। यह एक चक्र हुआ। ऐसे पांच आवृत्ति से शुरू कर २५ आवृत्ति तक करें।*

कुछ दिन के उपरान्त पूरक : कुम्भक : रेचक का अनुपात १ : २ : २ कीजिए अर्थात् पांच गिनती में पूरक करेंगे तो १० गिनती तक कुम्भक एवं १० गिनती में रेचक करना होगा। धीरे–धीरे अनुपात को क्रमशः बढ़ाएं १ : ४ : २, १ : ४ : ४, १ : ६ : ४, १ : ६ : ६ और अन्त में १ : ८ : ६ तक पहुंचना चाहिए। अन्तिम अनुपात की २५ आवृत्ति करने की क्षमता आने पर अग्रिम अवस्था में जाएं।

पञ्चम अवस्था (पूर्ण नाड़ी-शोधन) — अब बहिःकुम्भक को भी जोड़ना है। दाएं से पूरक, अन्तःकुम्भक, बाएं से रेचक, बहिःकुम्भक। फिर बाएं से पूरक, अन्तःकुम्भक, दाएं से रेचक, बहिःकुम्भक। यह एक आवृत्ति या चक्र हुआ। आरम्भ में इस चक्र का अनुपात १: ४ : २ : २ होना चाहिए। अनुपात को इस क्रम से बढ़ाएं २ : ८ : ४ ४, ३ : १२ : ६ : ६, ४ : १६: ८ : ८, ५ : २० : १० : १०, ६ : २४ : १२ : १२, ७ : २८ : २४ : २४ और अन्त में ८ : ३२ : १६ : १६।

प्रत्येक अनुपात की १० आवृत्ति करने की क्षमता आए बिना अगले अनुपात की ओर न बढ़ें।

इस अन्तिम अवस्था के उच्च अभ्यास में कुम्भकों के दौरान जालन्धर–बन्ध और मूलबन्ध का अभ्यास कर सकते हैं।

	पूरक	कुम्भक	रेचक	कुम्भक	आवृत्ति
सामान्य —	८	३२	१६	१६	५
कनिष्ठ —	१२	४८	२४	२४	१०
मध्यम —	१६	६४	३२	३२	क्षमतानुसार
उत्तम —	२०	८०	४०	४०	करें

आवृत्तियां एवं अनुपात को बढ़ाने के लिए सर्दी के मौसम अर्थात् सितम्बर से मार्च अत्युत्तम है। अन्य छः मास मार्च के अन्त में जो अवस्था एवं अनुपात हो उसी अवस्था एवं अनुपात का अभ्यास बनाए रखें। गर्मियों में केवल प्रातः और सर्दियों में तीनों समय अभ्यास कर सकते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन आध्यात्मिक जीवन के लिए अति आवश्यक है।

लाभ — प्राण के सभी मार्ग खुलते हैं, अतः ध्यान एवं कुण्डलिनी जागरण के लिए उपयोगी है। विषैले तत्त्वों को निकालकर रक्त शोधन भी करता है। मन को स्थिरता एवं शान्ति प्रदान करता है। मस्तिष्क के सभी केन्द्र विकसित होते हैं, फलतः स्मृति आदि शक्तियों में वृद्धि होती है।

अध्याय - ५

मुद्रा एवं बन्ध विज्ञान

प्रस्तावना

चित्त को प्रकट करने वाले भाव विशेष को 'मुद्रा' कहते हैं। उच्च कोटि के भारतीय नृत्य एवं पूजा में आंतरिक भावों एवं संवेदनाओं का संकेत करने के लिए जैसी मुद्राऐं होती हैं ठीक वैसे योग में आध्यात्मिक भावों एवं संवेदनाओं के संकेत के लिए मुद्राऐं होती हैं।

मुद्राओं द्वारा शरीरगत अनैच्छिक प्रतिक्रियाओं पर नियन्त्रण प्राप्त कर सूक्ष्म शरीर स्थित प्राणशक्ति को स्वेच्छापूर्वक अध्यात्म लाभ के लिए प्रवाहित कर लिया जाता है।

आसन, प्राणायाम, बन्ध — इस त्रिवेणी संगम में विशेषता लाकर एक अभ्यास के रूप में प्रयोग करना ही मुद्रा है। अतः योग के अभ्यासों में मुद्रा विज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से लेकर समाधि तक की दौड़ में आवश्यक बाह्य जगत् के साथ असम्बन्ध, इन्द्रियों की अन्तर्मुखता, धारणा एवं ध्यान की स्थिति निर्मित करने में मुद्राओं की अहम् भूमिका है। घेरण्ड-संहिता सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें मुद्राओं पर विचार किया गया है।

यद्यपि मुद्राएं बहुत हैं फिर भी साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक मुद्राओं को दो खण्डों में विचार करेंगे। (क) — साधारण मुद्राएं (ख) — यौगिक मुद्राएं। तत्पश्चात् तीसरे खण्ड में बन्धों पर विचार करेंगे। (ग) — बन्ध विज्ञान।

साधारण मुद्रा विज्ञान

हमारा शरीर पञ्च तत्त्वों से बना हुआ है। वे हैं — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इन तत्त्वों का हाथ की अंगुलियों व अंगूठे के द्वारा तथा स्वर (श्वास का सूक्ष्म रूप)

आदि से नियन्त्रण किया जा सकता है। अतः यहां मुद्रा का प्रकरण होने से तत्त्वों का हाथ से सम्बन्ध जानना जरूरी है — अंगूठा — अग्नि तत्त्व, तर्जनी — वायु तत्त्व, मध्यमा — आकाश तत्त्व, अनामिका — जल तत्त्व और कनिष्ठिका — पृथ्वी तत्त्व।
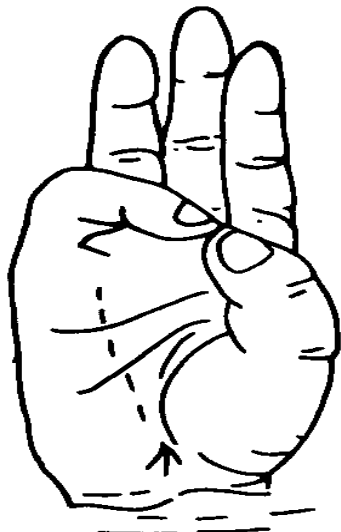
पृथ्वी-मुद्रा

(१) पृथ्वी-मुद्रा

छोटी अंगुली मोड़कर उसके अग्रभाग को अंगूठे के अग्रभाग से गोलाकार बनाते हुए लगाने पर पृथ्वी-मुद्रा बनती है। अन्य अंगुलियां सीधी रहेंगी। दोनों हाथों से करने से ज्यादा लाभ होगा। इससे विटामिनों की कमी व पृथ्वी तत्त्व की कमी दूर होती है। फलतः दुबलापन दूर होता है।

(२) जल-मुद्रा

अनामिका अंगुली को पूर्ववत् अंगूठे से स्पर्श करने पर यह मुद्रा बनती है। इससे पेशाब सम्बन्धी बीमारी व प्यास लगने में लाभ होता है। जल तत्त्व की कमी से उत्पन्न रोग दूर होते हैं।
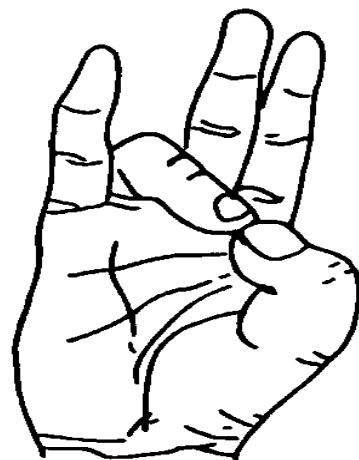
जल-मुद्रा
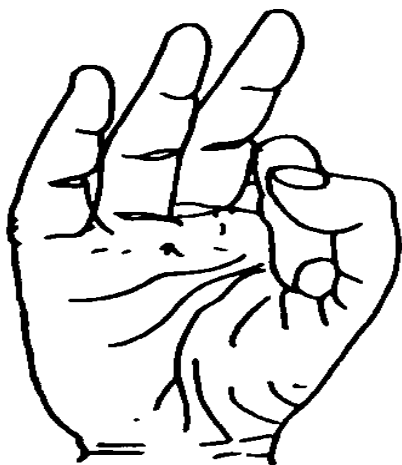
वायु-मुद्रा

(३) वायु-मुद्रा

तर्जनी अंगुली को मोड़कर अग्रभाग को अंगूठे के मूल प्रदेश पर लगाकर अंगूठे से मुड़ी हुई तर्जनी को हल्के से दबाए रखने पर यह मुद्रा बनती है। इससे सभी प्रकार के वायु विकार — गठिया, कम्पन, डकार, हिचकी, उल्टी आदि ठीक होते हैं।

(४) प्राणवायु-मुद्रा

अनामिका और कनिष्ठिका अगुलियों को मोड़कर उनके अग्रभाग से अंगूठे का स्पर्श एक-साथ करने पर यह मुद्रा बनती है। इससे प्राण की कमी व नेत्र दोष दूर होते हैं।
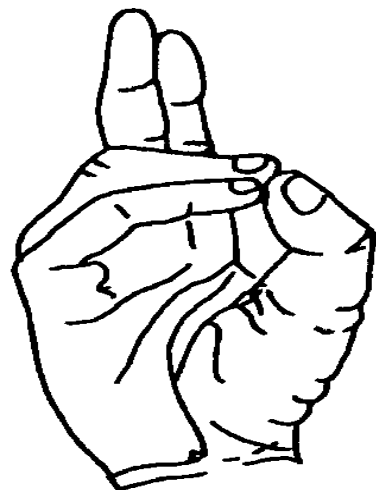
प्राणवायु-मुद्रा
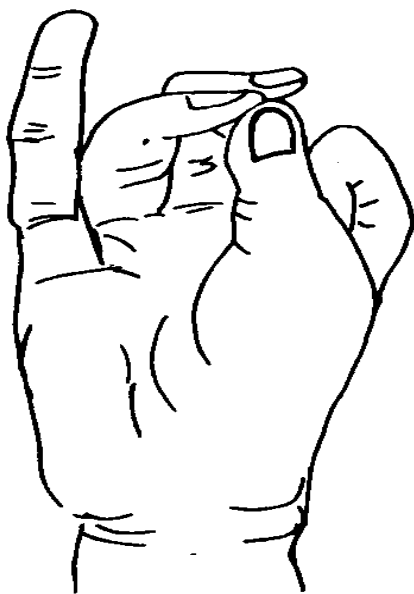
अपान वायु-मुद्रा

(५) अपान वायु-मुद्रा

तर्जनी को मोड़कर अंगूठे के मूल में लगाकर, अनामिका और मध्यमा को अंगूठे से स्पर्श करके कनिष्ठिका को सीधी रखने पर यह मुद्रा बनती है। अपान वायु के बिगड़ने से होने वाले रोग जैसे ह्रदयरोग, बवासीर आदि में अत्यन्त उपयोगी है।

(६) शून्य-मुद्रा

मध्यमा को मोड़कर उसके अग्रभाग को अंगूठे के मूल में रखकर अंगूठे से उसे हल्का दबाए रखने पर यह मुद्रा बनती है। इससे कान के दर्द, बहरेपन आदि आकाश तत्त्व सम्बन्धी रोग दूर होते हैं।
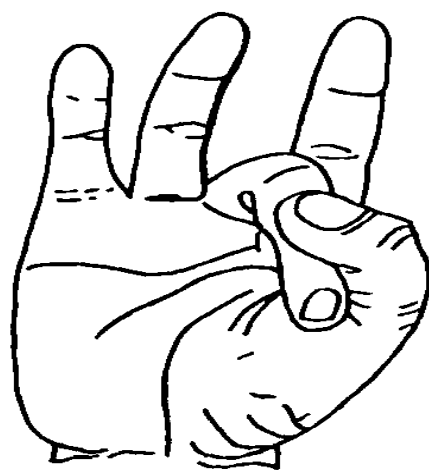
शून्य-मुद्रा

यौगिक मुद्रा विज्ञान

(१) ज्ञान-मुद्रा

यह त्रिगुणात्मक जगत् पर विजय प्राप्त कर जीव-ब्रह्म एकत्व का प्रतीक है। ध्यान के किसी आसन में बैठकर दोनों हाथों की तर्जनियों को मोड़कर अंगूठे के मूल से लगाते हुए तर्जनी का ऊपरी (प्रथम) कोष्ठ का भाग उल्टा विश्राम करें। शेष तीन अंगुलियों को एक-दूसरे से कुछ दूरी पर फैलाकर शिथिल रखें। दोनों हाथों को घुटनों पर सीधा तनाव रहित रखें। हथेलियों को जमीन की ओर करें।

ज्ञान-मुद्रा (चिन्मुद्रा)

इससे नाड़ियों के प्रवाह की दिशा बदलती है। लम्बी अवधि तक स्थिर अवस्था में रहने की क्षमता प्राप्त होगी। अतः ध्यान के लिए तथा विक्षिप्त मन को शान्त करने के लिए उपयोगी है।

प्रकारान्तर – चिन्मुद्रा – अंगुलियों को ज्ञान-मुद्रा जैसे ही रखें। फर्क इतना है कि हथेलियों को ऊपर की ओर करें।

(२) नासिकाग्र (दृष्टि) मुद्रा

ध्यान के किसी आसन में बैठें। रीढ़, गर्दन, सिर सीधा रहे। नासिका के अंतिम सिर (अग्रभाग = कोन) पर आंखों की दृष्टि को एकाग्र करें। उतनी ही देर तक दृष्टि जमाए रखें जब तक आँखों में तनाव न हो। एक मिनट से लेकर धीरे-धीरे क्षमता के अनुसार अधिक से अधिक समय तक करें। दीर्घ अवधि करना हो तो श्वास सामान्य रहे अन्यथा कुम्भकों का प्रयोग कर सकते हैं।

नासिकाग्र (दृष्टि) मुद्रा

मूलाधार-चक्र को जाग्रत् करने में उपयोगी है। साधक को अन्तर्मुखी होने,

आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने तथा एकाग्रता को बढ़ाने में यह सर्वोत्तम साधन है। इसके *प्रकारान्तर* हैं काकी मुद्रा, मांडूकी मुद्रा और भूचरी मुद्रा।

(३) शाम्भवी-मुद्रा

ध्यान के किसी आसन में बैठें। पीठ सीधी रहे। हाथों को घुटनों पर ज्ञान व चिन्मुद्रा में रखें। सामने किसी बिन्दु पर दृष्टि को एकाग्र कीजिए। धीरे-धीरे अधिक से अधिक ऊपर देखने की कोशिश करें। सिर स्थिर रहेगा केवल दृष्टि ऊपर की ओर जाएगी। अन्त में दृष्टि को भ्रूमध्य पर स्थापित करें। विचारों को रोककर ध्यान करें। अधिक समय तक अन्तिमावस्था में रहें। इससे आज्ञा-चक्र जाग्रत् होता है। इससे निम्न एवं उच्च चेतना परस्पर सम्बन्धित होते हैं। आँखों को स्वस्थ रखता है। तनाव व चिन्ता से मुक्त होकर मन शान्त होता है। इसका *प्रकारान्तर* है आकाशी मुद्रा।
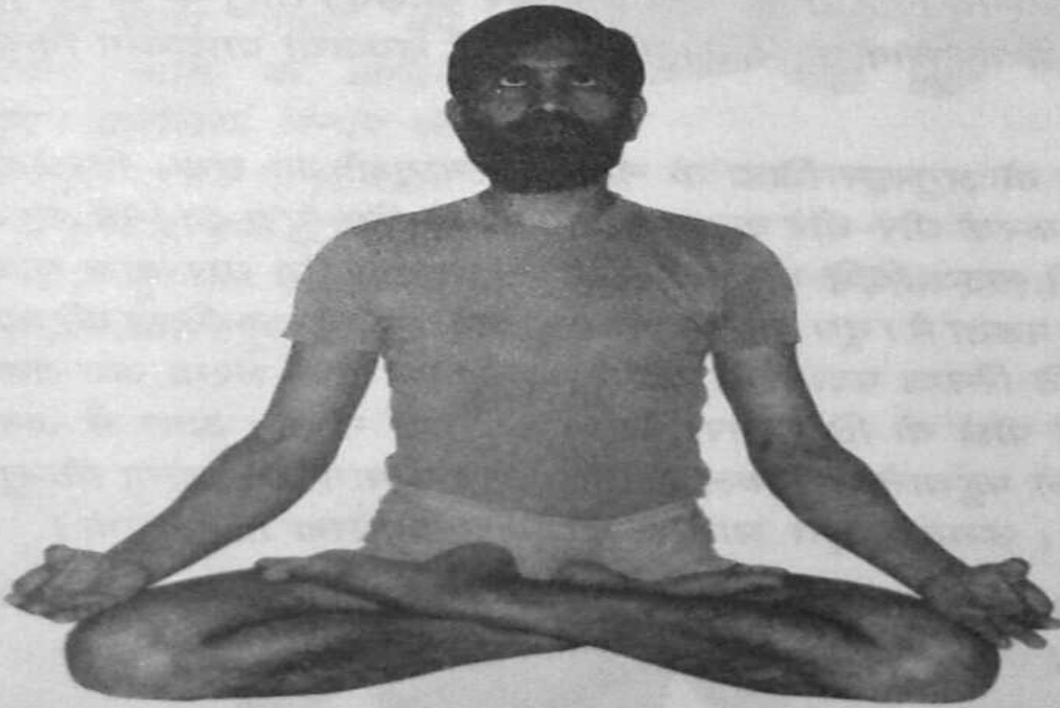
शाम्भवी-मुद्रा

(४) अश्विनी-मुद्रा

ध्यान के किसी आसन में बैठकर नेत्र बन्द कीजिए। शरीर को शिथिल छोड़ें एवं हाथों को ज्ञान व चिन्मुद्रा में घुटनों पर रख लें। गुदाद्वार की मांसपेशियों को कुछ क्षण के लिए संकुचित व प्रसारित करें। अधिक-से-अधिक आवृत्तियां करें।

जब उक्त अभ्यास में दक्षता प्राप्त कर लें तब थोड़ा अन्तर करें — गुदाद्वार को संकुचित करते हुए पूरक करें। संकुचन बनाए रखते हुए यथाशक्ति अन्तःकुम्भक का अभ्यास करें। रेचक कीजिए। पश्चात् स्नायुओं को शिथिल छोड़ें। सुविधानुसार पुनरावृत्ति करें।

इससे प्राणशक्ति का ह्रास रुकता है अर्थात् शक्ति संचय होती है। बवासीर, गुदा का बाहर आना, गर्भाशय के बाह्यगत होने की दशा में लाभप्रद है। अपच भी दूर होता है।

(५) खेचरी-मुद्रा

इस मुद्रा की राजयोग एवं हठयोग में भिन्न-भिन्न पद्धति बताई गई है। राजयोग के अनुसार मुँह बन्द करके जिह्वा के अग्रभाग से तालु का स्पर्श करें। अधिक जोर न देते हुए यथासम्भव जिह्वाग्र को पीछे की ओर मोड़िए। तालु के ऊपरी छिद्र के भीतर प्रवेश करके यथासम्भव ऊपर जाइए। साथ में उज्जयी प्राणायाम किया जा सकता है।

हठयोग के अनुसार जिह्वा के नीचे के स्नायुओं का संबंध-विच्छेद प्रति सप्ताह थोड़ा-थोड़ा करके धीरे-धीरे करना होगा। इसके लिए गुरु का निर्देशन आवश्यक है। क्योंकि इसमें शल्य विधि के लिये केले का धागा, तीव्र धार वाले पत्थर आदि का प्रयोग करना पड़ता है। दूध दुहने के समान लम्बी अवधि तक जिह्वा की मालिश मक्खन, घी, तेल आदि स्निग्ध पदार्थों से कीजिए। यह तब तक करना जब तक जिह्वा पलट कर तालु के पीछे के छिद्र द्वारा भ्रूमध्य से स्पर्श न हो। अन्त में जब आप भ्रूमध्य तक जिह्वा को पहुंचाने में सफल होंगे तब श्वास मार्ग बन्द होगा किन्तु ललना-चक्र जाग्रत् होगा। उसके अमृत स्राव से साधक समाधिस्थ हो जाएगा।

श्वास आरम्भ में सामान्य रहे किन्तु अभ्यास बढ़ने के साथ श्वास की गति धीमी करनी होगी।

संपूर्ण शरीर पर इस मुद्रा का अत्यधिक सूक्ष्म प्रभाव है। भूख-प्यास पर नियन्त्रण पाता है। इससे भी प्राणशक्ति के संचय द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् किया जाता है। इसको सिद्ध कर लेने पर स्थूल-सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध पर विजय प्राप्त कर लेता है। योगशास्त्र सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों में इसका बहुत वर्णन है।

(६) प्राण-मुद्रा

ध्यान के किसी भी आसन में बैठिए। सिर, गर्दन, रीढ़ सीधी रहे। हाथों को अपने सामने

जमीन को स्पर्श करते हुए रखें। हथेलियाँ एक दूसरे के बगल में अंगूठों को स्पर्श करते हुए रखकर नेत्रों को बन्द अथवा खुला रखें। तत्पश्चात् –

(क) क्षमता अनुसार लम्बा रेचक कीजिए। बाह्य कुम्भक करते हुए मूलबन्ध लगाएं। मूलाधार-चक्र पर ध्यान कीजिए।

(ख) मूलबन्ध को शिथिल छोड़कर उदर का विस्तार करते हुए धीरे-धीरे लम्बा पूरक कीजिए। साथ-ही-साथ हाथों को उठाकर नाभि के सामने लाइए। हथेलियां अन्दर की ओर खुली रहें। दोनों हाथों की अंगुलियां एक-दूसरे की ओर थोड़ा दूर हों। ऐसा करते वक्त मन से अनुभव करें कि प्राणशक्ति मूलाधार से उठकर मणिपूर-चक्र तक पहुंच रही है।

प्राण-मुद्रा (१)
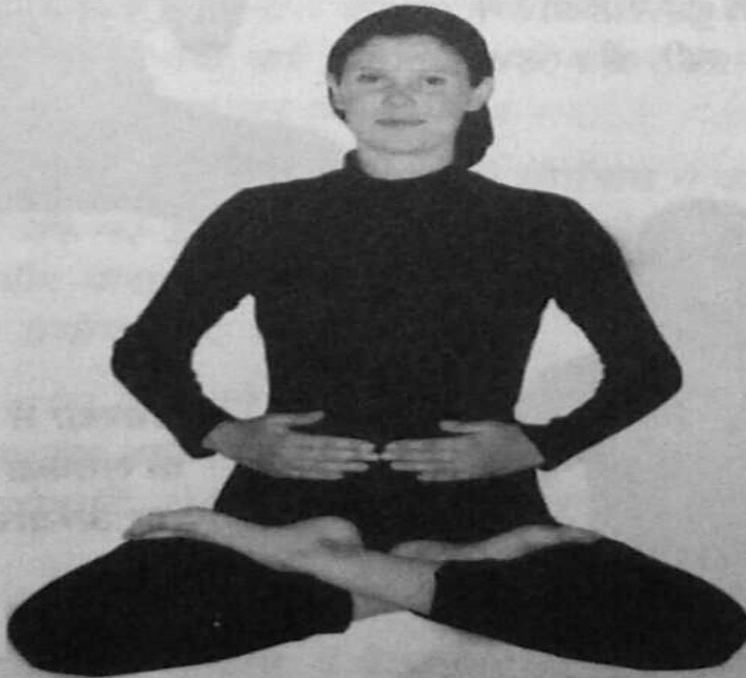
प्राण-मुद्रा (२)

(ग) छाती का विस्तार करते हुए पूरक करते जाइए। साथ ही हाथों को ऊपर उठाइए और छाती के सामने लाइए। हथेली एवं अंगुलियों का रुख पूर्ववत् रहे। अब आप प्राणशक्ति को मणिपूर चक्र से अनाहत की ओर चढ़ते हुए अनुभव करें।

प्राण-मुद्रा (३)

(घ) कोहनियों को नीचे की ओर मोड़ते हुए हथेलियों को अपनी ओर करके कन्धों तक उठाते हुए फेफड़ों में और अधिक वायु भरने की कोशिश करें। अनुभव करें कि प्राणशक्ति अनाहत से उठकर विशुद्धि-चक्र में पहुंच गई है।
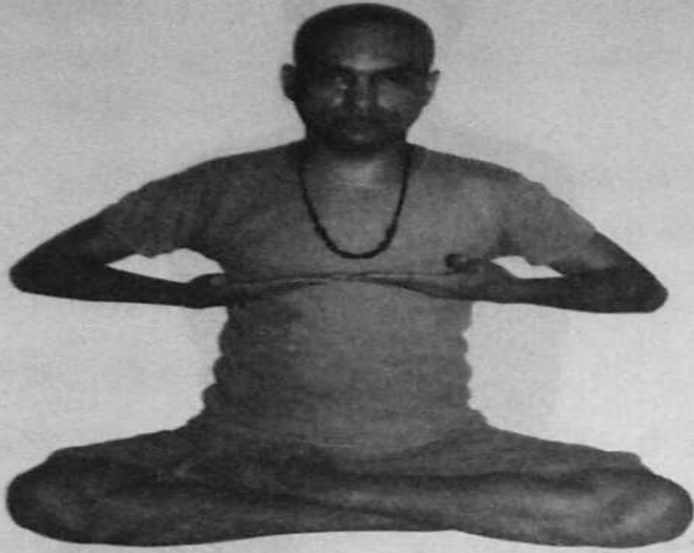
प्राण-मुद्रा (४)

(च) हाथों को धड़ के दोनों बाजू में फैलाते हुए अनुभव करें कि प्राणशक्ति आज्ञा-चक्र में पहुंचकर तरंगों के समान प्रसारित होती हुई सहस्रार में विलीन हो रही है। इस अवस्था में फैले हुए हाथ कानों के समकक्ष होंगे और अन्तर्कुम्भक का अभ्यास जारी रहेगा।
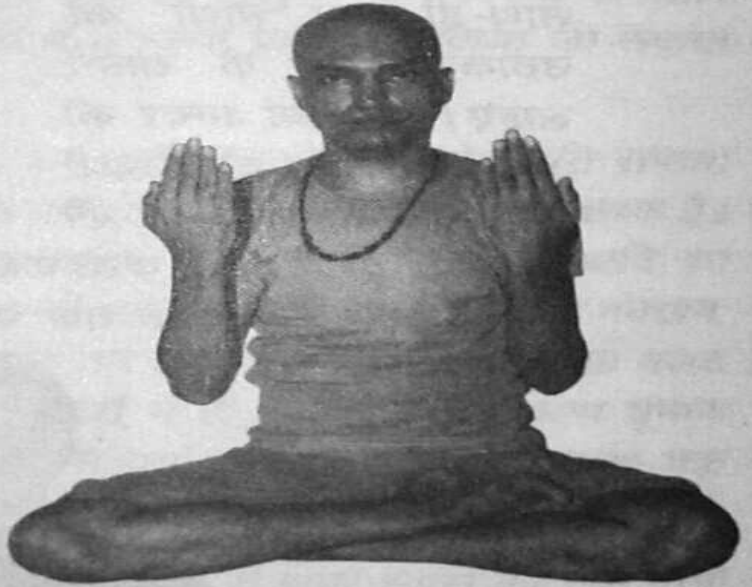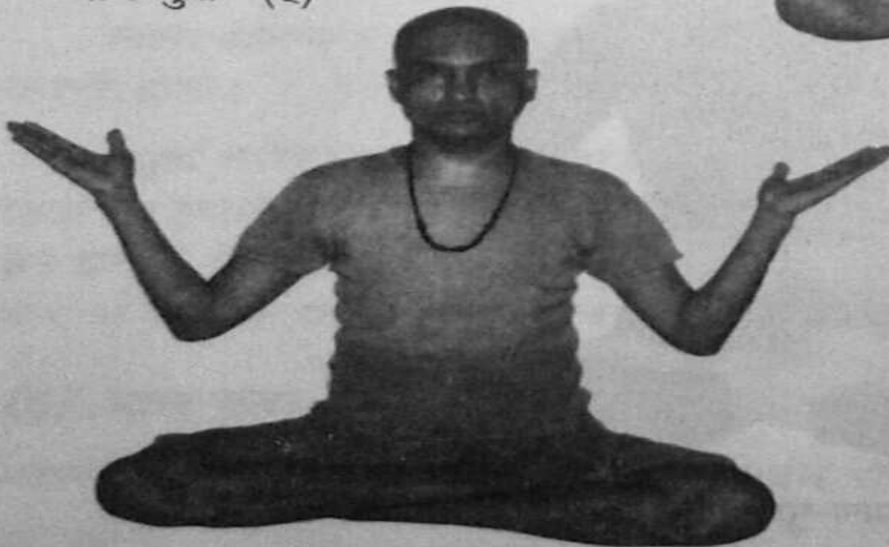
प्राण-मुद्रा (५)

अब सहस्रार मे ध्यान केन्द्रित कर ज्योतिःपुञ्ज का अनुभव करें। विना तनाव के जब तक कुम्भक में सुखपूर्वक रह सकें तब तक रोकते हुए अनुभव करें कि समस्त विश्व में आपके शरीर द्वारा शान्ति की तरंगें, प्राणशक्ति व चेतनता फैलकर चराचर में व्याप्त् हो रही है।

तत्पश्चात् विपरीत क्रम से रेचक करते हुए व्यापक शक्ति का अपने में प्रवेश होकर मूलाधार में स्थित होने का अनुभव करते हुए पांचों अवस्थाओं को करें।

इससे होने वाले लाभ की जितनी भी चर्चा करें वह थोड़ी ही होगी। इससे व्यष्टिभाव से उठकर समष्टिभाव के अनुभव के साथ समग्रता एवं विश्व-प्रेम जाग्रत् होता है, जो कि वेदान्तानुभूति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(७) वज्रोली-मुद्रा

किसी भी ध्यान के आसन में बैठकर हाथों को घुटनों पर रखें। नेत्रों को बन्द करके धीरे-धीरे पूरक करते हुए शरीर को शिथिल छोडें। मूत्रत्याग क्रिया को कुछ समय तक रोकने के लिए जैसे जोर लगाते हैं ठीक उसी प्रकार अन्तःकुम्भक लगाकर उदर के निम्न प्रदेश में कुछ दबाव डालते हुए मूत्रप्रणाली का संकोच कीजिए एवं प्रजननेन्द्रिय को ऊपर को खींचिए। यदि आवश्यकता महसूस हो मूलबन्ध लगा सकते हैं। कम-से-कम चार-पांच बार इन्द्रिय का संकोच विकास करने के पश्चात् बन्ध एवं कुम्भक खोलकर धीरे-धीरे रेचक करें। कुछ क्षण रुककर सामर्थ्यानुसार दुहराइए। संपूर्ण क्रिया में स्वाधिष्ठान-चक्र पर ध्यान करें।

इसका उच्च कोटि का अभ्यास योग्य गुरु के निर्देशन में करना उचित है क्योंकि इसमें रबर या चाँदी की १२ इन्ची लम्बी नली का प्रयोग किया जाता है। जिससे पानी, दूध, घी, मधु और पारा को खींच लिया जाता है। जब इसमें दक्षता प्राप्त हो जाए, विना नली का प्रयोग किए किया जाता है।

इससे वज्रनाड़ी द्वारा वीर्य को ऊर्ध्वरेत करके वीर्य को वज्र के रूप में परिणत कर लिया जाता है। फलतः ब्रह्मचर्य पालन एवं कुण्डलिनी जागरण करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। स्वप्नदोषादि दोष साधक के पास भूल से भी नहीं आते।

(८) योनि-मुद्रा

किसी आरामदायक ध्यान के आसन में बैठकर धीरे-धीरे पूरक कीजिए। इस मुद्रा के लिए पद्मासन या सिद्धासन अत्युत्तम है। श्वास रोकिए। अन्तःकुम्भक लगाकर हाथों

को उठाकर मुँह के सामने लाइए। कान के छेद को अंगूठों से, आँखों को तर्जनियों से तथा नासिका के छिद्र को मध्यमा अंगुलियों से बन्द कीजिए। अनामिका एवं छोटी अंगुलियों को ऊपर और नीचे के होठों पर रखते हुए मुँह बन्द कर दीजिए। बिन्दु-चक्र पर ध्यान करते हुए आन्तरिक नाद को ग्रहण करने का प्रयास कीजिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् केवल नासिका के ऊपर से अंगुलियों को थोड़ा उठाकर धीर-धीरे रेचक कीजिए। कुछ क्षण रुककर क्षमतानुसार आवृत्ति करें।

यह प्रत्याहार के लिए शक्तिशाली क्रिया है। इससे बिन्दु-चक्र सक्रिय होता है और उससे उत्पन्न विभिन्न सूक्ष्म ध्वनियों का अनुभव करता है। इसी नाद के आनन्दानुभव के कारण साधक अन्तर्मुखी होते जाते हैं।

(९) नवमुखी-मुद्रा

ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर धीमी एवं लम्बी श्वास लेते हुए शरीर को शिथिल कीजिए। श्वास के साथ चेतना को मन से चक्रों का नाम लेकर मूलाधार से सहस्रार तक पहुंचाएं। अन्तःकुम्भक लगाएं। योनि-मुद्रा में कही विधि से कर्ण, नेत्र और मुँह को बन्द कर लें। मूलबन्ध एवं वज्रोलि-मुद्रा का अभ्यास करें। सहस्रार-चक्र पर ध्यान करें। यथाशक्ति कुम्भक में रहने के बाद केवल नासिका छिद्र एवं मूलबन्ध व वज्रोलि-मुद्रा खोलकर धीरे-धीरे रेचक कीजिए। कुछ विश्राम के बाद पुनरावृत्ति करें। आवृत्तियां सामर्थ्यानुसार करें। रेचक क्रिया के दौरान चेतना को वापस मूलाधार में लाइए अथवा पूरे शरीर में व्याप्त होने का अनुभव करें।

यह मुद्रा षट्चक्रभेदन द्वारा दशम द्वार का भेदन करने में उपयोगी है। दशम द्वार को ब्रह्मरन्ध्र, ब्रह्मद्वार, उच्च चेतना आदि नामों से कहा गया है। इसके अतिरिक्त योनि-मुद्रा के लाभ अधिक प्रभावशाली ढंग से हासिल कर सकते हैं।

(१०) महामुद्रा

पैरों को सामने सीधा फैलाकर बैठिए। दाहिने पैर को इस प्रकार मोड़िए कि दाहिने पैर की एड़ी गुदाद्वार के नीचे हो। थोड़ा सामने की ओर झुककर दोनों हाथों की अंगुलियों से बाएं पैर के अंगूठे को पकड़ लें। पूरे शरीर को शिथिल करें। दीर्घ पूरक कीजिए। थोड़ा सिर को पीछे झुकाकर कुंभक लगाकर मूलबन्ध एवं शाम्भवी-मुद्रा का अभ्यास करें। अपनी चेतना को मानसिक रूप से मूलाधार, विशुद्धि, आज्ञा चक्रों पर घुमाइए। प्रत्येक चक्र पर एक या दो क्षण रुकें। यथासम्भव चेतना को घुमाते रहें। सामर्थ्यानुसार कुम्भक के पश्चात् सिर को सीधा करें, मूलबन्ध एवं शाम्भवी-मुद्रा को निवृत्त कर धीरे-धीरे रेचक करें। सामर्थ्यानुसार आवृत्ति करें।

महामुद्रा

पुनः इस क्रिया को पैर बदलकर उतनी ही आवृत्ति करें। इसमें जोर-जबरदस्ती से कुछ नहीं करना है।

शरीर एवं मन को ध्यान के योग्य बनाता है और प्राणशक्ति को शरीर में सही ढंग से संचालित करता है। उदर की अव्यवस्था को दूर करता है।

(११) महाबेध-मुद्रा

महामुद्रा की स्थिति में बैठिए। पूर्ण पूरक करके पूर्ण रेचक करें। सिर को सामने की ओर झुकाए रखें। नासिकाग्र दृष्टि कीजिए। तीनों बन्ध लगाइए। क्रमशः चेतना को मूलाधार, मणिपूर एवं विशुद्धि-चक्र पर घुमाइए। प्रत्येक चक्र पर एक-दो क्षण रुकें। आरामदायक स्थिति तक बाहर कुम्भक में रहकर चेतना को दौड़ाते रहें। तत्पश्चात् क्रमशः उड्डियान, मूल एवं जालन्धर-बन्ध को खोलकर धीरे-धीरे पूरक कीजिए।

बेध का अर्थ है बेधना = छेदना = भेदन करना। अतः —

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

इस उपनिषद् की उक्ति का अनुभव करने में यह अत्यन्त उपयोगी है।
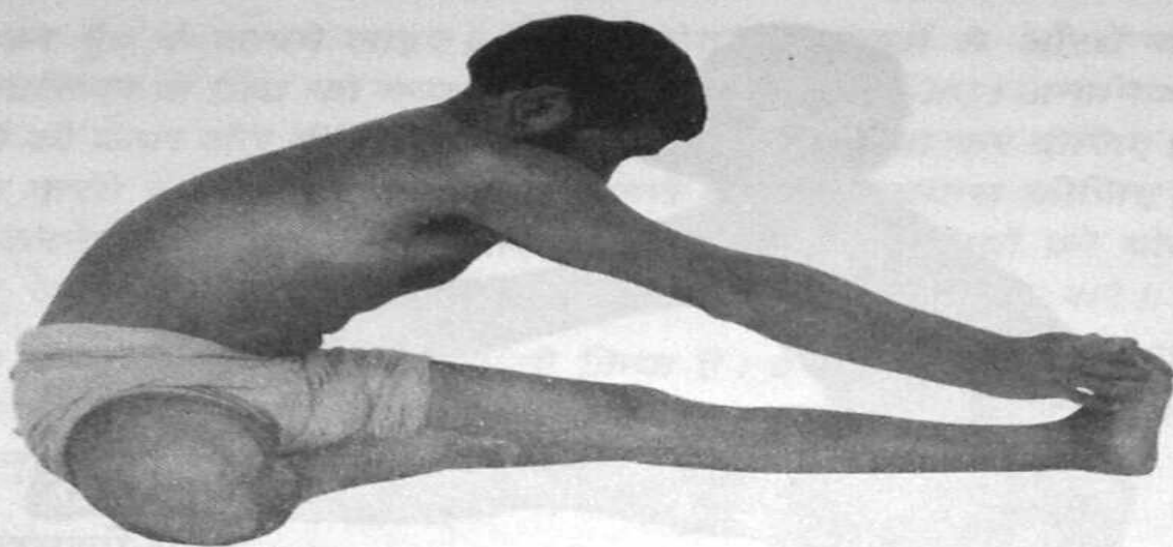
महाबेध-मुद्रा

बन्ध विज्ञान

योगाभ्यास की यह अत्यन्त शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह शरीर के समस्त अंगों एवं नाड़ियों को नियन्त्रित करने में उपयोगी है। बन्ध का अर्थ है बांधना या कड़ा करना। यह आन्तरिक अंगों की मालिश के लिए अति आवश्यक है। यद्यपि यह एक शारीरिक क्रिया होने से शारीरिक कार्य को संयमित करके स्वास्थ्य में उन्नति लाता है तथापि शरीर में व्याप्त मन के विचारों एवं आत्मिक तरंगों में प्रवेश कर चक्रों पर सूक्ष्म प्रभाव डालता है। फलतः आध्यात्मिक उन्नति एवं सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत् करता है। तात्पर्य यह है कि सुषुम्ना नाड़ी के अवरोधों को दूर करके उसमें प्राणशक्ति के स्वतन्त्र प्रवाह द्वारा ग्रन्थिभेदन करते हुए योग का परम लक्ष्य आत्मानुभूति करने में उपयोगी है।

इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आसन, प्राणायाम एवं मुद्राओं के साथ इनका अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार यौगिक क्रियाओं के परस्पर समन्वय से आध्यात्मिक शक्तियों को जाग्रत कर लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

(१) जालन्धर-बन्ध

पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर अथवा खड़े होकर इसका अभ्यास कर सकते हैं। हाथों को घुटनों पर रखें। संपूर्ण शरीर को शिथिल करके आंखें बन्द कर लें। दीर्घ पूरक के बाद अन्तःकुम्भक लगाएं। सिर को सामने झुकाकर ठुड्डी को छाती पर दबाइए। हाथों को सीधा करके बल डालते हुए स्थिर हो जाइए। दोनों कन्धों को एक साथ थोड़ा ऊपर की ओर खिंचाव करते हुए कुछ सामने रखिए। फलतः पूरा शरीर कड़क

व स्थिर होगा। यह जालन्धर बन्ध का स्वरूप है। यथाशक्ति अर्थात् श्वास रोकने की अपनी क्षमता के अनुसार इसी स्थिति में रुकिए। कंधों व हाथों को शिथिल करके सिर उठाइए। धीरे-धीरे रेचक कीजिए। कुछ क्षण विश्राम करके पुनरावृत्ति करें।

जालन्धर-बन्ध

पूर्ण पूरक करके विना अन्तःकुम्भक लगाए पूर्ण रेचक करके भी यह क्रिया की जा सकती है। ध्यान का केन्द्र — विशुद्धि-चक्र।
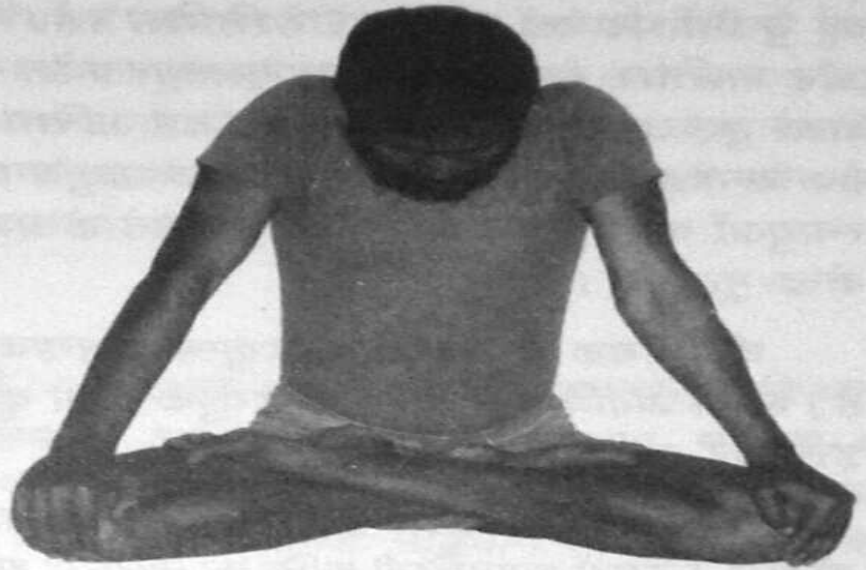
उच्च रक्तचाप, हृदयरोगी, अन्तःमस्तिष्क दाब, माईग्रेन आदि के रोगी योग्य शिक्षक के निर्देशन में ही करें।

इससे ग्रीवा प्रदेश में स्थित रंध्र की नाड़ियां, मस्तिष्क को रक्त प्रदान करने वाली ग्रीवा, शिरा, चुल्लिका तथा उपचुल्लिका ग्रंथियों पर प्रभाव पड़ता है। फलतः शरीर की रचना व विकास, प्रजनन क्रियाएं संयमित होती हैं और मानसिक तनाव, चिन्ता, क्रोधादि मनः सम्बन्धी-रोग दूर करने में सहयोग मिलता है। इससे रक्त प्रवाह की अधिकता व न्यूनता से होने वाले रोगों पर नियंत्रण प्राप्त कर सकते हैं।

मूलबन्ध

(२) मूलबन्ध

ध्यान के किसी भी आसन में बैठें जिसमें घुटने जमीन को स्पर्श करते रहें। अतः सिद्धासन सर्वोत्तम है। इस आसन में स्वतः मूलाधार प्रदेश पर दबाव पड़ता है। अतः मूलबन्ध का अभ्यास अनायास हो सकता है। नेत्र बन्ध करके हथेलियों

को घुटनों पर रखें। पूरा शरीर शिथिल रहे। दीर्घपूरक करके अन्तःकुम्भक लगाएं और जालन्धर-बन्ध लगाएं। अब मूलाधार प्रदेश के स्नायुओं में आकुंचन-प्रसारण क्रिया करते हुए ऊपर की ओर खींचिए। यह अन्तिम अवस्था है। अपनी क्षमतानुसार जब तक अन्तःकुम्भक लगाए रखेंगे तब तक आकुंचन-प्रसारण क्रिया जारी रखें। तत्पश्चात् स्नायुओं को शिथिल करके बन्ध खोलने के पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करें। ध्यान का केन्द्र-मूलाधार।

दीर्घ रेचक के पश्चात् बहिःकुम्भक लगाकर इस क्रिया का अभ्यास कर सकते हैं। लम्बी अवधि तक करने के इच्छुक विना कुम्भक लगाए सामान्य श्वास के साथ इसे कर सकते हैं।

इस क्रिया से अपान वायु का योग प्राणवायु से होता है, फलतः ऊर्जा उत्पन्न होती है, जिससे कुण्डलिनी शक्ति का जागरण सुलभ होता है। अतः ब्रह्मचर्य का पालन एवं ओज शक्ति को जाग्रत करने में सहायक है। बवासीर, अपच आदि रोगों में उपयोगी है। गुदाद्वार की मांसपेशियों एवं कटिबंध प्रदेश की नाड़ियों और आंतों के वक्र प्रदेशों को उत्प्रेरित कर मजबूत करता है। मन को आध्यात्मिक साधना के योग्य बनाता है।

(३) उड्डियान-बन्ध

जिसमें घुटने जमीन को स्पर्श करते हों ऐसे ध्यान के आसन में बैठिए। पद्मासन अथवा सिद्धासन उत्तम हैं। हथेलियों को घुटनों पर रखें। दीर्घ रेचक करके बहिःकुम्भक लगाकर जालन्धर-बन्ध लगाइए। अब उदर की मांसपेशियों को अधिक-से-अधिक ऊपर तथा भीतर की ओर संकुचित कीजिए। आरामदायक स्थिति तक अभ्यास करें। क्रमशः उदर को एवं जालन्धर-बन्ध को शिथिल कीजिए। कुछ क्षण विश्राम कर दुहराइए। ध्यान का केन्द्र – मणिपूर-चक्र।

खाली पेट ही इसका अभ्यास करना चाहिए। दिल की बीमारी, जठर या पेट में घाव और गर्भवती स्त्री के लिए वर्जित है।
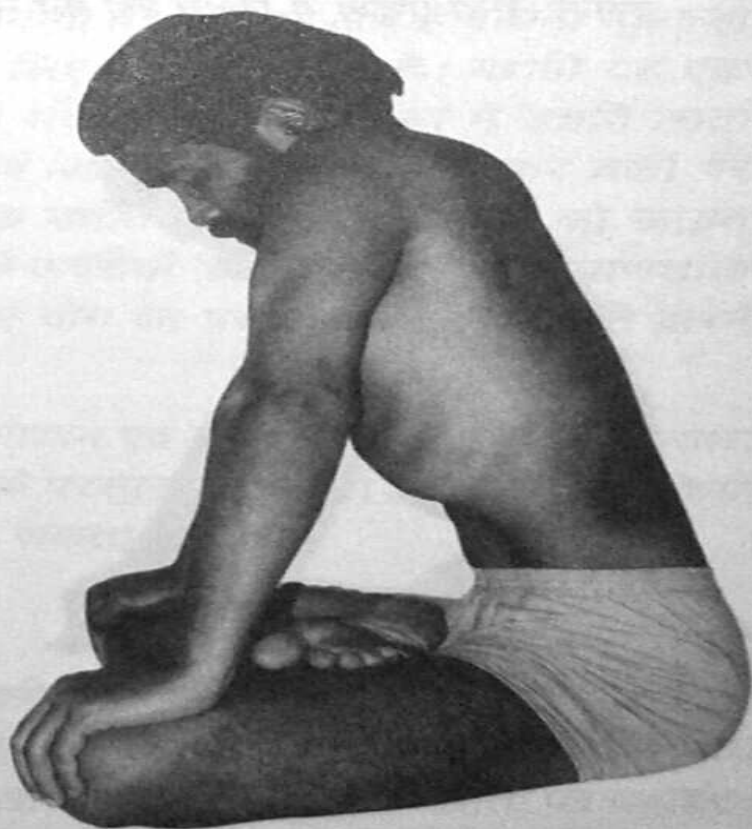
उड्डियान-बन्ध

उदर एवं जठर की सभी बीमारियों में लाभकारी है। चिन्ता एवं परेशानी से युक्त मन को स्थिर करता है। अनुकम्पी एवं परानुकम्पी तंन्त्रिकाओं को उत्तेजित करता है। फलतः समस्त अंगों विशेषतः उदरस्थ अंगों की मालिश होती है। शरीर के प्राणशक्ति का केन्द्र मणिपूर-चक्र संयमित रूप से कार्य करता है। यह सषुम्ना नाड़ी की ओर प्राणशक्ति के प्रवाह को प्रोत्साहित करता है।

(४) महाबंध

यह उक्त तीनों बन्धों का समन्वय है। पूर्ण रेचक करके क्रमशः जालन्धर, उड्डियान एवं मूलबंध लगाइए। तत्पश्चात् क्रम से अपनी चेतना को मूलाधार, मणिपूर व विशुद्धि-चक्र पर घुमाइए। इसकी पुनरावृत्ति क्षमतानुसार करें यानी जब तक कुम्भक को सुखपूर्वक रोके रहेंगे। तत्पश्चात् पहले मूलबंध क्रमशः उड्डियान एवं जालन्धर-बन्ध को हटाकर पूरक करें। कुछ क्षण विश्राम कर दुहराइए।

द्वितीय प्रकरण

चित्त-शुद्धि-प्रकरण

योग का परम लक्ष्य जीवब्रह्मैक्यत्व की अनुभूति के लिए केवल शरीर शुद्धि एवं कुण्डलिनी जागरण परिपूर्ण नहीं है। इसके लिए चित्त शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। जब तक वासनाओं के क्षय के लिए कोई साधना नहीं की जाए तब तक समस्त योग प्रकिया केवल ऋद्धि-सिद्धियों को प्रदान कर साधक को माया में पुनः फंसा सकती है। अतः वासना क्षय जिसको बीजनाश कहते हैं उसके लिए इस प्रकरण को आरम्भ किया गया है। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने *कैवल्यपाद* में स्पष्ट कहा है –

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।
हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।।
(४/१७-१८)

तात्पर्य यह है कि अविद्या रूपी खेती और वासना रूपी बीज का क्षय किए बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इसके लिए चित्तशुद्धि अति आवश्यक है। क्रमशः सकाम कर्मत्याग एवं आहारशुद्धि से प्रथमतः मन की चंचलता को दूर करके, मन को योगनिद्रा एवं त्राटकादि द्वारा काबू में करके प्रार्थना एवं अन्तर्मौन के अभ्यास से परब्रह्म परमात्मा की ओर वृत्तियों को प्रेरित करने के पश्चात् ध्यानाभ्यास करेंगे तो अवश्य समाधि अर्थात् मुक्ति हासिल कर सकते हैं। अतः इस प्रकरण को सात अध्यायों में विभक्त कर चित्तशुद्धि की प्रक्रिया को दर्शाया गया है— (६) निष्काम कर्मयोग विज्ञान, (७) युक्ताहार विज्ञान, (८) योगनिद्रा विज्ञान, (६) प्रत्याहार

विज्ञान, (१०) त्राटक विज्ञान, (११) धारणा विज्ञान, और (१२) ध्यान विज्ञान।

इनमें से ६ से ८ अध्याय प्रत्याहार की तैयारी के लिये हैं। नौवाँ प्रत्याहार (योगाङ्ग) का है। दसवाँ अध्याय प्रत्याहार एवं धारणा की कड़ी है। अन्तिम दो अध्याय धारणा एवं ध्यान (योगाङ्गद्वय) सम्बन्धी हैं।

अध्याय ६
निष्काम कर्मयोग विज्ञान

चित्तशुद्धि की लम्बी यात्रा में निष्काम कर्मयोग पहला साधन है। प्रायः लोग अपने शरीर के बाहरी रूप एवं वाणी को बहुत चिकना-चुपड़ा, सुन्दर व मीठा (मधुर) रखते हैं परन्तु मन को शुद्ध करने की बात जब आती है तब सब विफल होते हैं। इसके दो कारण हैं — एक तो वे इसका महत्त्व नहीं समझते और दूसरा धर्म विरुद्ध कामनाएं।

गीता के अनुसार महत्त्व को समझें एवं काम त्याग की प्रकिया को जानें। संसार में जितने भी जीव हैं वे सदैव कर्म करते रहते हैं। काया, वाचा, मनसा, किसी-न-किसी तरह क्षण भर भी कर्म किए बिना कोई जीवित नहीं रह सकता —

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
(३/५)

अतः कर्मों से बचना संभव नहीं। इसलिए यह विचार करें कि किस प्रकार के कर्म से बन्धन (पुनर्जन्म) होगा और किस प्रकार के कर्म से हम मुक्ति की ओर बढ़ सकते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।
(५/१२)

गीता के इस वचन से स्पष्ट है कि सकाम कर्म बन्धन का कारण है और निष्काम कर्म मुक्ति का साधन है। इसलिए भगवान् का आदेश है —

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
(२/४७)

कर्म में निष्काम भाव लाने के लिए यह जानना जरूरी है कि कर्म कैसे होते हैं ताकि

उसके मूल स्रोत को शुद्ध कर सकें। वे ऐसे हैं —

१. *सदृशं चेष्टते स्वस्या, प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।*
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।। (प्रकृति = स्वभाव)
(३/३३)

२. *प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।।* (प्रकृति = माया)
(३/२७)

३. *कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।*
(३/५)
इन्द्रियणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। (प्रकृति = माया)
(५/६)

(1) साधक का अपने अज्ञानवश जो स्वभाव है वह, (2) त्रिगुणात्मिका माया के करण और (3) इन्द्रियों का विषय की ओर दौड़ने का रुझान। इन कारणों में शुद्धि लाने के लिए भगवान् प्रथमतः स्वभाव में परिवर्तन लाने के लिए कहते हैं —

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।
(३/३८)

और

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।।
(२/६३)

अर्थात् सुख-दुःख, लाभालाभ, जयाजय एवं रागद्वेष से रहित होकर कर्म करने का अभ्यास करना चाहिए। यह भी तब संभव है जब अपना कर्त्तव्य समझकर करें, इस सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं —

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।
(३/१०)

यही वैदिक सनातन धर्म है। इसी का पालन कर जनकादियों ने लक्ष्य प्राप्त किए —

कर्मणैव हि संसिद्धमास्थिता जनकादयः ।।
(३/१०)

दूसरी बात यह विवेक करना है कि जब माया के गुणों द्वारा भगवान् ही सबका कर्ता है तो अपने कर्तृत्वभाव को पकड़े रहने की अपेक्षा त्यागने का दृढ़ संकल्प करना ही उचित है। अतः कहा –

अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।
(३/२७)

तीसरी बात यह है कि कामनाओं को त्यागना चाहिए। इस सम्बंध में कहते हैं —

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।
(३/४३)

और

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।
(१६/२२)

इतना ही नहीं वास्तविक संन्यास तो कामनापूर्वक कर्म का त्याग है।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
(१८/२)

अन्तिम बात यह है कि मन को बुरे कर्मों से हटाना ।

संसार में देखा गया है कि कामनाओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति धर्म का उल्लंघन, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, बेईमानी आदि करता है। क्रोध से हिंसा, मोह से पक्षपात और लोभ से चोरी करता है। जब निम्न उपायों को अपनाएंगे तो यह नहीं होगा। वे उपाय हैं —

(1) कर्त्तव्य समझकर कर्म करना। (2) कर्तृत्वभाव और काम को त्यागकर निष्काम भाव से करना। (3) कुसंगति का त्यागकर वेदों में निषिद्ध कर्मों को त्यागना। (4) ईश्वरार्पण बुद्धि से ईश्वर की प्रसन्नता के लिए करना। (5) समाज की भलाई करना और (6) ज्ञान की वृद्धि करना।

अतः निरभिमानी होकर निष्काम भाव से अनासक्तिपूर्वक कर्म करना निष्काम कर्म-योग है, जो कि अध्यात्म मार्ग की पहली सीढ़ी है।

अध्याय ७

युक्ताहार विज्ञान

सांसारिक लोगों में विशेषतः आजकल के लोगों का कहना है कि इस आधुनिक भ्रष्टाचार प्रधान भौतिकवादी समाज में निष्काम कर्मयोग असंभव है। लेकिन ऐसा कहना केवल एक बहाना है। वैदिक सनातन धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करने से भी सुख—शान्ति प्राप्त हो सकती है। यदि कहो कि आधुनिक वैज्ञानिक युग के भौतिक सुख साधनों को जुटाने के लिए सब कुछ करना पड़ता है और मन इनके विना मानता नहीं तो इसका जवाब हम देते हैं।

सर्वप्रथम यह बताइये कि आप मन के मालिक हैं या मन आपका मालिक है। यदि मन मालिक है तो उसे मनाने व खुश रखने के लिए उसके अनुसार करना पड़ेगा। लेकिन बात ऐसी नहीं है। इसलिए आप मन को उपाय से वशीभूत कर सकते हैं। वे उपाय हैं — सन्तोष, अभ्यास वैराग्य, मैत्र्यादि और युक्ताहार।

(१) सन्तोष — ***जोहि विधि राखे राम तोहि विधि रहिए*** अर्थात्

यदृच्छालाभेन संतुष्टः ।। गी० ।।

सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः।। यो०सू० २/४२ ।।

(२) अभ्यास वैराग्य — ***अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः*** ।। यो०सू० १/११ ।।

अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। गी० ।।

(३) मैत्र्यादि — ***मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषय भावनातश्चित्तप्रसादनम्*** ।। यो०सू० १/३३ ।।

(४) युक्ताहार — ***अपरे नियताहाराः*** ।। गी० ४/३० ।।

तात्पर्य यह है कि — अपने पूर्व जन्मों में कृतकर्म की वजह से प्रारब्ध कर्मानुसार एवं भगवत्कृपा से जो प्राप्त है उससे सन्तोष कर लेना और अधिक के लिए प्रयास

न करना। नित्य निरन्तर शास्त्र चिन्तन और दीन-दुःखी के मनन द्वारा मन को समझाकर सांसारिक दौड़ से अलग करना, यही अभ्यास और वैराग्य है।

सुखी को देखकर जलना नहीं अपितु मैत्री की भावना करना, दुःखी को देखकर घृणा नहीं करना अपितु दया व करुणा की भावना करना, पुण्यशील धार्मिक को देखकर ईर्ष्या या द्वेष न करना अपितु प्रसन्न होना और पापी को देखकर निन्दा या विरोध नहीं करना चाहिए बल्कि उसकी उपेक्षा करनी चाहिए।

अन्ततः युक्ताहार है। जैसे कि कहावत है — "जैसा खावे अन्न वैसा बने मन"। इसलिए मन को नियन्त्रित करने का अत्युत्तम उपाय है रसनेन्द्रिय पर पाबन्दी लगाना। *महाभारत* और *भागवत* में कहा है ***जिते रसं जितं सर्वं***। गीता में कहते हैं —

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। ६/१७ ।।

मतलब यह है कि अपने आहार, विहार, निद्रा, जाग्रत् एवं चेष्टा को संयमित कर किये गए योग से दुःखों का नाश होता है।

छः कि॰ मी॰ से ज्यादा घूमना नहीं, छः घण्टा से ज्यादा सोना नही, आठ से दस घण्टे से ज्यादा इन्द्रियों का प्रयोग कर जाग्रत् रहना नहीं अर्थात् छः घण्टा निद्रा और आठ घण्टा से दस घण्टा जाग्रत दोनों मिलकर १४/१६ घण्टा हुआ, शेष समय ध्यानादि योगाभ्यास/आध्यात्मिक साधना में व्यतीत करना और धर्म के अनुरूप कर्म करना चाहिए। युक्ताहार का मतलब है सात्त्विक संयमित भोजन करना। इसका अर्थ केवल रोटी-दाल-भात में सीमित न करें क्योंकि 'आहार' शब्द का अर्थ है **आह्रियन्ते शब्दादि विषयं इति आहारः**। अर्थात् सभी इन्द्रियों के विषय को आहार कहते हैं। इसलिये (१) कानों से भगवद् चर्चा, भजन, शास्त्रादि के अतिरिक्त आवश्यक व्यवहार से सम्बन्धित सात्विक बातों को ही सुनना। (२) आंखों से भगवान की मूर्ति, सन्त—महात्माओं, अपने से श्रेष्ठ व ज्येष्ठ धार्मिक लोगों एवं साधकों के अतिरिक्त व्यवहार के लिए अत्यन्त आवश्यक सात्विक वस्तुओं का ही दर्शन करें। (३) त्वगिंद्रिय से आध्यात्मिक साधनोपयोगी पदार्थ के अतिरिक्त व्यवहारार्थ अति आवश्यक सात्विक वस्तुओं का ही स्पर्श करना। पत्नी-बच्चे आदि का भी स्पर्श धर्मानुरूप ही करना चाहिए। (४) नाक से भगवान की पूजा-पदार्थ व साधना सम्बन्धी पदार्थो के अलावा व्यवहारोपयोगी सात्त्विक सुगन्धित अति आवश्यक पदार्थो को ही सूँघना। (५) रसनेन्द्रिय के विषय में तो अत्यन्त सावधानी की अपेक्षा है। इसलिए अन्नादि भोजन विषयक कुछ आवश्यक ध्यान में रखने योग्य बातें इस प्रकार हैं।

भूख लगने पर ही भोजन् करना चाहिए। मात्रा भी यथेष्ट न हो अपितु आधा

आमाशय अन्न से भरें, चौथाई पानी से और शेष चौथाई हवा के लिए छोड़ें। बुजुर्ग कहते थे **पानी खावो-रोटी पीयो** – तात्पर्य है कि अन्नादि ठोस पदार्थों को खूब चबाकर तरल बनाकर निगलें और दूधादि तरल पदार्थों को घूंट-घूंट-कर धीरे-धीरे पीना चाहिए। भोजन करते समय मन को शान्त एवं मौन रखना चाहिए।

यद्यपि भोजन की मात्रा एवं तालिका बनाने में कठोर नियम लागू नहीं हो सकता क्योंकि आयु, काम, मौसम, रुचि, सामग्री की उपलब्धि, शारीरिक स्थिति, आर्थिकादि परिस्थिति, रोग एवं साधन के स्तर पर भोजन का परिमाणादि निर्भर करता है तथापि मौसम के आधार पर त्याज्य व ग्राह्य पदार्थों को संक्षेप में दिखाया जा रहा है।

(१) हेमन्त ऋतु – कफ प्रधान होने से कफनाशक पदार्थ ग्रहण करें।

(२) शिशिर ऋतु – वातप्रधान होने से वातनाशक पदार्थ ग्रहण करें।

(३) वसन्त ऋतु – कफप्रधान होने से कफनाशक पदार्थ ग्रहण करें।

(४) ग्रीष्म ऋतु – पित्तप्रधान होने से पित्तनाशक पदार्थ ग्रहण करें।

(५) वर्षा ऋतु – पित्तप्रधान होने से पित्तनाशक पदार्थ ग्रहण करें।

(६) शरद् ऋतु – वातप्रधान होने से वातनाशक पदार्थ ग्रहण करें।

अर्थात् जिस ऋतु में जो तत्त्व प्रधान हों उस तत्त्व की वस्तुओं को ग्रहण न करें। इस प्रकार वात-कफ-पित्त को संतुलित करने वाले भोजन करने चाहिए।

भोजन सात्त्विक होना योगाभ्यासी एवं साधक के लिए अति आवश्यक है। इस सन्दर्भ में भगवान कहते हैं –

आयुः सत्त्व बलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक प्रियाः ।।
(१७/८)

[अर्थात् आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रस, चिकने तथा शरीर में बहुत समय तक स्थिर रहने वाले, स्वभाव से मन को प्रिय हो ऐसे आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।]

भोजन के एक घण्टे पहले, भोजन के बीच में (थोड़ा) और भोजन के एक घण्टे बाद ही पानी पीना चाहिए। भोजन के आरम्भ में और अन्त में नहीं पीना चाहिए। भोजन को सलाद अथवा भिगोकर फुलाया हुआ या अंकुरित दालों से आरम्भ करना अच्छा होता है। भोजन के अन्त में छाछ, मट्ठा, पतली लस्सी पीना अच्छा है। मौसम के फलों को भोजन के साथ खाना उचित नहीं। यौगिक भोजन समय सारणी इस प्रकार

होना अच्छा है — प्रातः छः बजे अल्पाहार दूध या लस्सी के साथ, १० बजे भोजन, १२ बजे फल, २ बजे पेय पदार्थ, सायं ६ बजे भोजन, रात्रि ८–९ बजे के बीच दूध, १० बजे सो जाना, प्रातः ३ बजे उठना। आवश्यकता पड़े तो दोपहर एक घण्टा विश्राम कर सकतें हैं किन्तु नींद नहीं लेना। भोजन का परिमाण (मात्रा) आपकी पचाने की शक्ति पर निर्भर होना चाहिए। अपने शरीर के अनुकूल चीजों को ही ग्रहण करना और भोजन की तैयारी, पकाना व खाने तक की पूरी प्रक्रिया में स्वच्छता का ध्यान रखना चाहिए।

भोजन की गुणवत्ता के समान भोजन बनाने, परोसने व खाने वाले का भाव भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः भगवन्नाम स्मरण करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता के साथ पवित्र भावना से भोजन करना श्रेष्ठ एवं स्वास्थ्यवर्धक ही नहीं बल्कि साधना में भी सहयोगी होगा।

दिन के भोजन के पश्चात् सीधे लेटकर आठ श्वास, दाईं करवट १६ श्वास और बाईं करवट ३२ से ६४ श्वास तक लेटें। तत्पश्चात् वज्रासन में कुछ समय बैठकर अपने कार्य में लग सकते हैं। रात्रि के भोजन के पश्चात् वज्रासन में बैठकर जप ध्यानादि करते हुए अन्त में शवासन में लेटकर योगनिद्रा करके सोना अच्छा है।

एक भोजन में अनेक प्रकार के व्यंजन व मसालेदार, तले या भुने हुए पदार्थ ग्रहण करना हर दृष्टिकोण से हानिकारक है।

अध्याय ८

योगनिद्रा विज्ञान

प्रस्तावना

योगाभ्यासी की निद्रा विशेष प्रकार की होती है जिसे "योगनिद्रा", "सजग निद्रा" अथवा "चेतन निद्रा" कहते हैं। निद्रा बेहोशी या विश्राम है किन्तु योगनिद्रा चेतनता एवं पूर्ण विश्राम है।

सफल योगनिद्रा से गहरी नींद प्राप्त होगी और थोड़े ही समय में नींद पूरी होगी। फलतः ताजगी, स्फूर्ति तथा शक्ति पूर्णतया प्राप्त होगी। इससे मन तनाव रहित, शान्त एवं प्रसन्न होता है इसलिए शीघ्र ही पूर्ण विश्राम प्राप्त होता है। योगनिद्रा मानवमात्र का विशेषतः योगाभ्यासी एवं साधक के दैनिक जीवन का अंग बननी चाहिए ताकि वह योग का पूर्ण लाभ उठा सके।

विधि

इसकी संक्षिप्त विधि यह है कि आप शवासन में लेटकर पैरों को थोड़े अन्तर में एवं हाथों को बगल में जमीन पर हथेलियों को ऊपर की ओर आरामदायक स्थिति में रखें। तत्पश्चात् इस क्रम से मानसिक क्रिया आरम्भ करें।

(१) संकल्प, (२) शरीर के विभिन्न अंगों पर चेतना को दौड़ाएं, (३) विभिन्न भावों को जाग्रत् करें — गर्म-ठण्डा, भारी-हल्का, (४) श्वास क्रिया पर ध्यान, (५) चेतना को चक्रों पर दौड़ाना, (६) विभिन्न विपरीत वस्तुओं की कल्पनापूर्वक सुख-दुःख को महसूस करना, (७) आत्म चिन्तन, (८) पञ्च तत्त्वों पर ध्यान करके तत्पश्चात् संकल्प को दुहराकर शान्तिपाठ करने के बाद धीरे-धीरे शरीर के अंगों को हिलाकर एवं आंखों को खोलकर सामान्य स्थिति में लौटिए अथवा सो जाइए।

योगनिद्रा के दौरान न सोएं तो अच्छा होगा और अधिक लाभ होगा।

लाभ

योगनिद्रा से ज्ञानवृद्धि एवं चित्तशुद्धि होती है। इससे मानसिक तनाव, शरीर की टूटन व थकान शीघ्र दूर हो जाती है। हृदय रोग, उच्च रक्तचाप तथा मानसिक रोग व परेशानियों को दूर करने में यह अत्यन्त प्रभावशाली है। शरीर की समस्त प्रणालियों में आपसी ताल-मेल हो जाने से शरीर संतुलित रहता है। मन को अन्तर्मुखी बनाने का यह सर्वश्रेष्ठ साधन है। अतः प्रत्याहार का यह उत्कृष्ट साधन है।

अध्याय ६

प्रत्याहार विज्ञान

विवेक और वैराग्य के साधन निष्कामकर्म योग और युक्ताहार के अभ्यास द्वारा साधक मन को अन्तर्मुख करने की कोशिश करता है तथा साधक को योगनिद्रा मन को शिथिल कर सरलतापूर्वक वश में लाने में उपयोगी हैं। तथापि प्रत्याहार के अभ्यास के बिना पूर्णतया मन को अन्तर्मुख करना संभव नहीं है। अतः प्रत्याहार विज्ञान नामक अध्याय आरम्भ किया गया है। पतञ्जलि के अनुसार —

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार ।।
(यो॰सू॰ २/५५)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम — इन चार बहिरंग साधन एवं धारणा, ध्यान, समाधि — इन तीन अन्तरंग साधन को परस्पर जोड़ने वाली बीच की कड़ी है प्रत्याहार। इसलिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है।

प्रत्याहार विज्ञान को यहाँ तीन खण्डों में विचार करेंगे — (क) आत्मनिवेदन अथवा प्रार्थना विज्ञानम्, (ख) जप योग, (ग) अजपाजप।

आत्मनिवेदन अथवा प्रार्थना विज्ञानम्

आप अपने से जिसको ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-पूज्य मानते हैं, उनके समक्ष अपने भावों के स्वाभाविक उद्गार प्रकट करने को प्रार्थना कहते हैं। वह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-पूज्य अपने माता-पिता, गुरु, ईश्वर, पति या अन्य कोई चेतन व्यक्ति हो सकता है। सच्ची प्रार्थना का उत्तर सदैव मिलता है।

प्रार्थना लक्ष्य प्राप्ति की अत्यन्त सरल एवं चमत्कारी विधि है। इससे अभाव दूर हो जाते हैं। कायर निडर बनता है। कमजोर शक्तिशाली हो जाता है एवं पापी पुण्यात्मा बनता है। सफल प्रार्थना की मुख्य शर्त यह है कि अपने अस्तित्व को त्यागकर अपने पूज्य के चरणों में पूर्ण समर्पण। ऐसा करने वाले व्यक्ति को अपने में दीनभाव, नम्रता,

सहनशीलता, धैर्य, आज्ञानुकारी आदि महान् गुणों को अपनाना चाहिए। यह प्रार्थना आत्मसमर्पण की अत्यंत सरल विधि है। इसमें हृदय की भावनात्मक शक्ति को स्वतः बहने दिया जाता है। इसको करने के दो तरीके हैं — निरालम्ब एवं सालम्ब प्रार्थना।

निरालम्ब प्रार्थना को मुग्ध प्रार्थना कहते हैं। इसे वे लोग कर सकते हैं जो लोग बिल्कुल अनपढ़ हैं। इसमें भाषा, विधि-विधान आदि नहीं होते। यह केवल भावप्रधान है। जिस किसी भाषा में जैसे भाव हों वैसे अपने पूज्य इष्ट के चरणों में अर्पित कर अपनी प्रार्थना को बोल देना व गा लेना या मौन-पूर्वक पूर्ण समर्पण कर देना ही निरालम्व प्रार्थना है। जिसे भगवान् ने कहा —

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।। गी॰ १८/६६

ईश्वरप्राणिधानाद्वा ।। पा॰यो॰सू॰१/२३ ।।

सालम्ब प्रार्थना वह है जिसमें शास्त्र अथवा परम्परा का आश्रय लेकर आत्मनिवेदन करते हैं। इसके लिए भाषा-विज्ञान की अपेक्षा है। यह तीन प्रकार का है — वैदिक, स्मार्त, लौकिक।

वैदिक प्रार्थना करने से पहले उन वेदमन्त्रों का उच्चारण सीखकर उनका ऋषि, छन्द, देवता, बीज, शक्ति, कीलक एवं विनियोग को जान लेना होगा। तत्पश्चात् नित्य स्नानादि से निवृत्त होकर शुद्ध आसन पर बैठकर विशुद्ध भावना से ऋष्यादि न्यास, हृदयाद्यङ्गन्यास एवं करन्यास (न्यासत्रय) करके मन्त्र के देवता का ध्यान करना। यदि ध्यान श्लोक हो तो उसके अर्थानुसार अपने हृदय में उसकी मूर्ति की कल्पना कर उसके चरणों में अपने को समर्पित कर देना। तत्पश्चात् उन वेदमन्त्रों का २, ३, ५, ११, २१, ५१, १०८ आदि बार पाठ यथाशक्ति करना चाहिए। अन्त में अपने इष्ट के चरणों में उनकी प्रसन्नता के लिए अर्पण करना चाहिए।

वैदिक प्रार्थना के समान स्मार्त प्रार्थना भी पुराण, रामायण, महाभारत आदि धार्मिक वेद अविरुद्ध स्मृति ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं, जिनके प्रयोग से विभिन्न देवता, असुर, भक्त, अवतार पुरुषों ने फल प्राप्त किए थे।

लौकिक प्रार्थना उसे कहते हैं जो वेद या स्मृति में से नहीं है किन्तु पूर्णतया वेदविरुद्ध नहीं है। जैसे कि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, माध्वाचार्य आदि द्वारा संस्कृत भाषा में लिखे गए स्त्रोत्रादि; सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, मीराबाई आदि द्वारा लौकिक भाषा में गाए सभी भजन आदि और प्रान्तीय भाषाओं में विभिन्न सन्त-साध्वियों के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए गाए गए भजन को लौकिकी प्रार्थना कहते हैं। इसके प्रयोग में विधि-विधान का निर्णय परम्परा के अनुसार किया जाता है।

जपयोग

चित्त-शुद्धि की यह सर्वोत्तम साधना है। यद्यपि यह प्रार्थना से कठिन है तथापि कुछ तपस्या के साथ करने से यह शीघ्र फलदायी है। जप शब्द का अर्थ है "शब्द की आवृत्ति करना"। एक शब्द को लेकर चित्त में आवृत्ति करते हुए जीव ब्रह्मैक्यानुभूति की ओर आगे बढ़ने का नाम जपयोग है। इसके लिए दो चीजें अत्यन्त आवश्यक हैं — जप का मन्त्र और जपमाला।

मन्त्र कोई साधारण शब्द नहीं होता है बल्कि मन्त्र वह असाधारण शब्द है जिसके नाद से अन्तःकरण में छिपे संस्कार एवं वासनाओं की सफाई होती है और यह किसी ऋषि द्वारा अनुभूत सिद्ध शब्द होता है। इसलिए गुरु से प्राप्त करना अच्छा माना गया है। साधक के लिये वह मन्त्र उचित होगा जिसे उसका मन प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करे और श्रद्धा-भक्ति से युक्त होकर अनुष्ठान करे। प्रत्येक धर्म, पंथ, संप्रदाय में मान्यताओं के अनुसार, देवी-देवता आदि भेद से मन्त्र असंख्य हैं। इसलिए गुरु से अपने लिए योग्य मन्त्र का निर्णय कर दीक्षा द्वारा ग्रहण करना उचित है।

माला धागे में पिरोए गए १०८ मणियों की होती है। प्रत्येक मणि को जगत् बन्धन का प्रतीक ब्रह्मग्रन्थि नामक विशेष प्रकार की गांठ से बाँधा जाता है। इनसे (१०८ से) अतिरिक्त १०६ वीं मणि को माला के क्रम से बाहर लगाया जाता है, जिसे सुमेरु कहते हैं। यह जपते-जपते भटकते हुए मन को वापस जप में लाने व गिनती की सुविधा के लिए है। ११, २१, २७, ३३, ३६, ५४ दानों की माला भी विभिन्न प्रयोजन से बनाई जाती है। रुद्राक्ष, स्फटिक आदि अनेक प्रकार की माला विभिन्न प्रयोजन के लिए उपयोग की जाती हैं।

जप चार प्रकार से किया जाता है — लिखित, वैखरी, उपांशु और मानसिक। अत्यन्त चंचल मन वालों के लिए आरम्भ में लिखित जप करना उचित है। कलम से पुस्तक में अपने मन्त्र को सुन्दर छोटे अक्षरों में श्रद्धा-भक्ति एवं प्रेम भाव से मन्त्र के देवता का स्मरण करते हुए लिखने को **लिखित जप** कहते हैं। इससे जब इन्द्रियां कुछ शान्त होकर एकाग्र होने लगें तब वैखरी जप आरम्भ होता है। इसमें ध्यान के किसी आसन में बैठकर शरीर एवं मन को शिथिल छोड़ें। नेत्र बन्द कर लें। मन्त्र के देवना को मन से स्मरण करते हुए मन्त्र का स्पष्टतया मुँह से एकान्त में बैठकर उच्चारण करें। आवाज से उत्पन्न गूंज (नाद) पर ध्यान करें। यह **वैखरी जप** है। उसी प्रकार बैठे हुए मन्त्र का अस्पष्ट (अर्थात् दूसरों को न सुनाई दे) उच्चारण करना। तात्पर्य यह है कि दूसरों को होंठ हिलते हुए दिखने चाहिए किन्तु सुनाई न दे उसे अस्पष्ट उच्चारण कहा गया। अशुद्ध या अधूरे उच्चारण को नहीं। इस प्रकार मन्त्र जप करने का नाम **उपांशु जप** है। उक्त प्रकार से बैठे हुए मुँह बिल्कुल बन्द और

मुँह के भीतर जिह्वा भी न हिले किन्तु केवल मन से मन्त्र का जप करने को **मानसिक जप** कहते हैं। यह सर्वोत्कृष्ट विधि है।

अधम साधक लिखित जप करें। **मध्यम साधकों** के तीन भेद किए जाते हैं — (१) केवल वैखरी करने योग्य, (२) वैखरी और उपांशु करने योग्य, (३) तीनों को क्रम से १ माला वैखरी, दो माला उपांशु और तीन माला मानसिक। **उत्तम साधक** केवल मानसिक जप कर सकते हैं।

मन्त्र प्राप्ति के दिन से लेकर मरणपर्यन्त गुरु के निर्देशानुसार जपने को **नित्य जप** कहते हैं। गुरु के मार्गदर्शन में निश्चित संख्या को निश्चित अवधि में विधि-विधान से जप करने को **अनुष्ठान** कहते हैं। अनुष्ठान भी अनेक प्रकार के होते हैं। इसमें से **पुरश्चरण** कठिन किन्तु सर्वोत्कृष्ट है।

जप योग के अभ्यास के कुछ आवश्यक नियम यह हैं — (१) माला दूसरों को दिखाई नहीं देनी चाहिए इसलिए कपड़े से ढककर अथवा गोमुखी नाम से प्रसिद्ध झोली में रखकर प्रयोग करें। (२) सुमेरु को लांघना नहीं। (३) तर्जनी और कनिष्ठिका अंगुली से माला का स्पर्श न करें। (४) मन्त्र का उच्चारण स्पष्ट व शुद्ध हो। (५) गति सदा एक हो ताकि जप लयबद्ध रहे। (६) निष्काम भाव से करना है। (७) मन्त्र को गुप्त रखें, किसी को न बताएं। (८) एक स्थान, एक आसन और समय निश्चित हो तो उत्तम है तथापि २४ घण्टे मन से जपते रह सकते हैं। (९) पूर्व या उत्तर को मुख करके जपना अधिक प्रभावशाली होता है। (१०) जप के अर्थ का चिन्तन व देवता का ध्यान सदा करते रहना चाहिए। पातञ्जल योगसूत्र (१/२७ में) — **तज्जपस्तदर्थभावनञ्च** में ऐसा कहा गया है।

योग मार्ग के मुख्य तीन प्रतिबन्धक चंचलता, मूढ़ता एवं अपवित्रता से युक्त मन है। मन के इन तीनों मैलों को साफ करना ही जप का लक्ष्य होना चाहिए। फलतः चित्तशुद्धि होगी जिससे आत्मानुभूति के योग्य बुद्धि होगी।

अजपाजप

जप-मन्त्र का निरन्तर पुनरुच्चारण करते रहने का नाम जप है। वही अजप हो जाता है जब मन के विशेष प्रयत्न के बिना मन्त्र का स्वतः चित्त में निरंतर स्मरण होता रहे। अतः जप का अजप हृदय से निकलता है जबकि जप मन से होता है।

अजपाजप स्वयं में एक पूर्ण साधना है। यदि यह होने लगे और आप उसके प्रति सजग हों तो निश्चित रूप से व्यक्ति शीघ्र ही उच्च कोटि का ध्यानाभ्यासी हो जाएगा। इससे सुषुप्त वासनाएं, इच्छाएं, भय आदि बाहर निकल आते हैं और चित्तशुद्धि अनायास होती है। जब संस्कार उभर आते हैं तब उनसे प्रेरित होकर कुछ न करके,

उन्हें एक दृश्य के रूप में स्वयं द्रष्टा बनकर देखना होगा, अन्यथा यह पतन का कारण हो सकता है। इससे मन एवं शरीर के अनेकों रोग जड़ से मिट जाते हैं।

इसके अभ्यास में यद्यपि "सोऽहं" मन्त्र का प्रयोग करने की परम्परा है तथापि किसी भी मंत्र का उपयोग कर सकते हैं।

आरम्भ में साधक आते-जाते हुए श्वास को अनुभव करें। इस क्रिया को ध्यान के आसन में बैठकर करें। श्वास लेते हुए अनुभव करें कि उदर में भरते हुए श्वास ऊपर उठ रहा है और श्वास छोड़ते हुए अनुभव करें कि छाती प्रदेश से निकलते हुए नीचे की ओर खाली होता हुआ जा रहा है। कुछ समय केवल श्वास पर जागरूक रहने के बाद दूसरी अवस्था में पूरक के साथ "सो" का और रेचक के साथ "हं" नाद का अनुभव करें। प्रत्येक श्वास में ऐसा अभ्यास करें। एक महीने के अभ्यास के पश्चात् उक्त क्रिया को उल्टा "हं" से रेचक और "सो" से पूरक करें। अर्थात् पहले "सोहं" था अब तीसरी अवस्था में "हंसो" का अभ्यास करना है। चौथी अवस्था में लगातार करना है — सो-हं सो-हं..... । तात्पर्य यह कि सो हं और हं सो में कहीं व्यवधान न रहे, लगातार चलता रहे। पांचवीं अवस्था खेचरी मुद्रा और उज्जयी प्राणायाम के साथ करनी है। छठी अवस्था में प्राण के साथ चेतना को चक्रों पर घुमाइए। हो सके तो प्राण को उसके नाद के साथ रोककर प्रत्येक चक्र पर ध्यान करें। अन्तिम अवस्था में अब जो कर रहे थे और अनुभव हो रहा था उस पूरी क्रिया को आप स्वतः होता हुआ एक दृश्य के रूप में देखते रहें। ध्यान रखें कि सोना नहीं बल्कि पूर्णतया सजग रहकर द्रष्टृभाव में स्थिर रहना है।

जब ऐसे लगातार कुछ समय होने लगेगा, व्यक्ति उच्च कोटि के ध्यान में प्रवेश कर समाधि का अनुभव करेगा।

अध्याय १०

त्राटक विज्ञान

चित्तशुद्धि के लिए इन्द्रियों एवं मन को अन्तर्मुख करना आवश्यक है। अतः इसके लिए स्थूल से सूक्ष्म तथा बाहर से अन्दर की ओर बढ़ने के लिए योगनिद्रा के समान त्राटक भी एक अत्यन्त विलक्षण आवश्यक क्रिया है। यद्यपि योगनिद्रा प्रत्याहार है और त्राटक धारणा है। तथापि यह प्रत्याहार का अन्तिम रूप और धारणा का आरम्भिक रूप होने से एक अन्तराल प्रक्रिया है, दोनों की कड़ी कहा जाता है।

यह दो प्रकार का है — बाह्य एवं अन्तः। त्राटक शब्द का अर्थ है वस्तु को स्थिर दृष्टि से देखना। बाह्य त्राटक में नेत्र खुले रहेंगे किन्तु पलकें स्थिर होंगी, इसी प्रकार अन्तःत्राटक में नेत्र बन्द रहेंगे किन्तु पुतलियां स्थिर होंगी। बाह्य त्राटक में अनेक दृश्य बिन्दु हो सकते हैं — दीपकादि की ज्योति, इष्टदेव व गुरुदेव की मूर्ति या छायाचित्र (फोटो), शीशे पर अपना प्रतिबिम्ब, खिला हुआ अपना प्रिय फूल, किसी पेड़ का पत्ता या फल, कागज पर काला बिन्दु या लाल बिन्दु, ऊँ पर, तत्त्वों के यन्त्र, चक्रों का चित्र, सूर्योदय, चन्द्रोदय, तारा, जल की धारा, स्थिर जल, पहाड़, खुला आकाश, प्राकृतिक दृश्य इत्यादि।

त्राटक

अन्तरंग त्राटक या अन्तःत्राटक थकी आँखों को बन्द करने से अपने आप होने लगता है। इसमें आप जो

बाहर देख रहे थे वही भीतर दीखने लगता है। आरम्भिक स्थिति में यह भी ठीक है। किन्तु अभ्यास बाह्य त्राटक निरपेक्ष होना चाहिए। अन्तः त्राटक का दृग्बिन्दु — चक्र, भृकुटि, पंच तत्त्व, विचार तरंग, श्वास, ऊँ आदि हो सकते हैं।

लाभ

यद्यपि त्राटक सिद्धियों का दाता है तथापि साधक को सिद्धियों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। चित्तशुद्धि को लक्ष्य बनाकर मुक्तिपर्यन्त जाने के लिये सोचना चाहिए। नेत्र की दृष्टि स्वच्छ, तीव्र एवं दोषरहित होती है। तीसरा नेत्र क्रियाशील होने से दिव्य दृष्टि की उपलब्धि होती है। एकाग्रता, इच्छा शक्ति एवं आत्मबल का विकास होता है। मन के विकार साफ होने लगते हैं तो चित्त के संस्कार सामने आते हैं, जिससे साधना तय करना सुलभ होगा। मस्तिष्क के सुप्तशक्ति केन्द्र जाग्रत् होने से बुद्धि तीव्र होगी। सम्मोहन व आकर्षण शक्ति का उदय होता है। दूसरों के मन को पढ़ने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

ध्यान इस बात का रखना आवश्यक है कि जिस दृश्य पर त्राटक कर रहे हैं वह स्वच्छ एवं निर्विकार हो तथा उसको देखने से राग-द्वेष आदि जाग्रत् न हों अन्यथा उसके समग्र-दोष त्राटक में आएंगे। आँखों पर जोर न पड़े तथा क्रिया समाप्त होने पर कुछ क्षण बाद स्वच्छ ठण्डे जल से धोएं। गर्मी में कम अभ्यास करें किन्तु सर्दी में यथाशक्ति कर सकते हैं। दृष्टि दोष वाले व्यक्ति कम समय करें।

अध्याय ११

धारणा विज्ञान

प्रस्तावना

प्रत्याहार के तीन अध्यायों (योगनिद्रा, प्रार्थनादि और त्राटक) एवं उसके उपयोगी विवेक और वैराग्य सम्बन्धी दो अध्यायों (निष्काम कर्मयोग और युक्ताहार) के पश्चात् अब धारणा सम्बन्धी एक नया अध्याय आरम्भ होता है।

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मन माहि ।
मनुआ तो चहुं दिशि फिरै, यह तो सुमिरन नाहि ।।

इस सन्तोक्ति के अनुसार, जब तक मन को स्थिर नहीं किया जाता है तब तक साधना आरम्भ नहीं होती। अतः इसके लिए विवेक और वैराग्यपूर्वक प्रत्याहार के अभ्यास से जब मन अन्तर्मुख हो जाए तब प्रथमतः मन को एक देश में बाँधने का अभ्यास करना होगा। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं —

देशबन्धः चित्तस्य धारणा ।। ३/२ ।।

इसके लिए साधक को दो कार्य करने पड़ेंगे। जिसे दो खण्डों में हम विचार करेंगे — (क) चिदाकाश धारणा और (ख) अन्तर्मौन।

चिदाकाश धारणा के योग्य मन को बनाने के लिए साधक को बाह्यपंचधारणा का अभ्यास करना होगा। वे हैं — पार्थिव धारणा, जलीय धारणा, आग्नेय धारणा, वायवीय धारणा और ध्वनि धारणा।

पार्थिव धारणा में ॐ का चित्र अथवा देवता, गुरु, श्रेष्ठ महापुरुष, फूल फल आदि आपको प्रिय लगने वाली वस्तुओं पर आँख को खुली रखते हुए मन को स्थिर करना है।

जलीय धारणा में किसी नदी, झरना, तालाबादि के तट पर बहते हुए जल अथवा स्थिर जल में दृष्टि करके मन को स्थिर करना है।

आग्नेय धारणा त्राटक को ही कहते हैं।

वायवीय धारणा नासिकाग्र दृष्टि करते हुए श्वास पर मन को स्थिर करना है।

ध्वनि धारणा में किसी ध्वनि विशेष पर जैसे ॐ की ध्वनि, संगीत, इष्ट बाजे की ध्वनि पर मन को स्थिर करना है।

जब इस पंचतत्त्वीय बाह्य धारणा में आप दक्षता पा लेंगे तब आप आन्तरिक धारणा जिसे चिदाकाश धारणा कहते हैं, उसका अभ्यास आरम्भ करें।

चिदाकाश धारणा

जब मन पूर्व में कहे अभ्यासों के द्वारा इन्द्रियों के सहित अन्तर्मुख हो जाता है तब उसे किसी एक वस्तु में बांधने का नाम धारणा है। अन्तर्मुख करना प्रत्याहार है।

पूर्व अध्यायों में कहे योगनिद्रा, प्रार्थना, जप और अजपाजप एवं त्राटक विज्ञान ये सब आरम्भिक अवस्थएं प्रत्याहार की साधना हैं। अन्तिम अवस्था यानी चक्र आदि पर टिकना व द्रष्टृभाव में स्थिर होने की विधि ही धारणा की साधना है। अतः प्रत्याहार और धारणा क्रमशः होते हैं जो कि व्यक्ति को अन्त में ध्यान समाधि के योग्य बनाते हैं।

चिदाकाश धारणा के दो प्रकार हैं — प्रथमः अन्तःदर्शन और दूसरा चिदाकाश धारणा।

अन्तःदर्शन के अभ्यास में आप जिन क्रियाओं को बाहर करते हैं उन्हें भीतर में करते हुए देखना है जैसे कि स्वप्न में। लेकिन यह याद रखना है कि "मैं सोकर स्वप्न नहीं देख रहा हूं, अपितु मैं मानसिक रूप से करता हुआ देख रहा हूँ।" इस अभ्यास में प्रातः उठने से लेकर सोने तक की दैनिक क्रिया को देखना है। मित्रादि के घर जाने का दृश्य उसी प्रकार देखना जैसे हुआ था या फिर मकान, दुकान, वाहन, लोग आदि देखना। मन्दिर और उसकी हर चीज, पूजारी, बर्तनादि, अभिषेक, कर्म, अर्चना क्रिया, आरती, लोग, प्रसाद वितरण आदि दृश्य देखना। किसी यात्रा — बस या ट्रेन द्वारा, रास्ते की सभी चीजें, रुके स्टेशन और वहां का चहल-पहल आदि दृश्य। प्राकृतिक दृश्य व घटनाएं। नक्षत्र, तारा, ग्रह, सूर्य अथवा चन्द्रादि युक्त आकाश मण्डल। विभिन्न रंग एवं आकृतियां जिन्हें आपने अपने जीवन में अनुभव किया हो। स्कूल व कॉलेज का दृश्य, वहां आपकी कक्षा, कक्षा में अध्यापक द्वारा बोर्ड पर लिखे गणितादि विषय को देखना।

इसकी अन्तिम अवस्था में स्वेच्छापूर्वक वस्तुओं का नाम लेकर, उनका पूर्णरूपेण अनुभव करना है। इससे स्मृति शक्ति बढ़ेगी और अग्रिम अभ्यास के योग्य होगा।

चिदाकाश धारणा — आज्ञा-चक्र के स्थान में जो अन्धकारमय काला पर्दा आँख

बन्द करने पर दिखाई देता है उसे चिदाकाश कहते हैं। इस आकाश में मन को स्थिर करके उस स्थान में निम्न प्रकार के दृश्यों को अनुभव करने का नाम चिदाकाश धारणा है।

किसी ध्यान के आसन में बैठिए। आँखें बन्द एवं हाथ ज्ञान व चिन्मुद्रा में हों। आसपास की आवाजों पर ध्यान दें। फिर अपने शरीर को मन से देखें। पूरे शरीर को जमीन पर बैठा हुआ देखें। उस शरीर में चलते हुए श्वास पर चित्त को स्थिर कीजिए। अब चिदाकाश में चित्त को स्थिर करें। उसका कोई आकार नहीं है फिर भी जब लगातार उसे देखने लगोगे तो उसमें विभिन्न प्रकार के रंग दिखाई देंगे, उन्हें देखते रहो। अब चिदाकाश को केवल भ्रूमध्य में नहीं अपितु सर्वत्र व्यापकरूपेण देखने की कोशिश करें। उसमें दिखाई दे रहे रंगों का नाम मन से ले सकते हैं। उसी व्यापक चिदाकाश में अपने शरीर को चैतन्य रूप में देखें। उसमें ॐ की ध्वनि हो रही है, उस पर ध्यान दें। इसी प्रकार दृश्य को देखते रहें। जब समाप्त करना हो तो श्वास, शरीर, चारों तरफ की आवाज पर चित्त को क्रम से लाकर उठना।

अन्तर्मौन

मौन शब्द का अर्थ है बाहर और भीतर से शान्त होना। अपना स्वभाव कितना शान्त है — इसका अनुभव करने के लिए बाहर और भीतर जो मन और इन्द्रियों की खलबली मची हुई है, उससे अलग होना होगा। ऐसे होने का नाम अन्तर्मौन है। इस साधना में व्यक्ति अपने द्रष्टृभाव का अनुभव कर लेता है जो कि ध्यान के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अन्तर्मौन साधना को तीन चरणों में किया जा सकता है — (१) वाक्संयम, (२) वाङ्मौन और (३) अन्तर्मौन।

अन्तर्मौन का पहला चरण है **वाक्संयम**। मन की शान्ति को भंग करके अशान्त, तनावयुक्त एवं विक्षेप कर चिन्ताग्रस्त कर देते हैं वाणी, आँख और कान। इन तीनों में से वाणी सबसे ज्यादा अशान्ति का कारण है। इसलिए इसका संयम करने से शेष दो का संयम अपने आप होने लगता है। वाक्संयम का अभ्यास करने के लिए सर्वप्रथम आपको कम बोलने की आदत डालनी पड़ेगी। तत्पश्चात् क्रमशः इनका ध्यान रखें — अपनी बात पर बल न देना, सोच-समझकर कहना, गर्मागर्मी की नौबत न आने देना, आलोचनाओं में विशेषतः निंदापरक बातों में भाग न लेना व स्वयं ऐसे न करना, विकट परिस्थितियों में घबराकर चंचल न होना, दूसरों को चोट व अपमानित करने वाली बात न करना और अन्ततः वाणी को मधुर बनाए रखने की कोशिश करना। अर्थात् सभी के हित एवं मान के योग्य बातों को प्रकट करने के लिए वाणी का प्रयोग करना ही वाक्संयम है।

अन्तर्मौन का दूसरा चरण है **वाङ्मौन**। शास्त्रकार कहते हैं— **मौनं सर्वार्थ-साधनम्**। अतः वाणी को पूर्णतया विश्राम देना वाङ्मौन है। जब जीव मौन होता है तब ईश्वर की वाणी मुखरित होती है। इससे विचारशक्ति, स्मृतिशक्ति, मेधाशक्ति, प्रज्ञाशक्ति आदि को बल मिलता है। वह दूसरों के मन को पढ़ सकता है। वह मौनाभ्यास से अपने मन का आवेग, चित्त के संस्कार एवं वासनाओं को जान लेता है, उन्हें रोक सकता है और शास्त्र में कहे साधनों से बदल भी सकता है। फलतः ज्ञान का अर्जन, शक्ति का सृजन, समस्या-समाधान की क्षमता, वाणी के अत्यंत संयमित प्रयोग से दूसरों पर प्रभाव डालना आदि गुणों की खान बनता है साधक।

अन्तर्मौन के तीसरे चरण को पांच अवस्थाओं में विभक्त कर अभ्यास किया जाता है।

प्रथम अवस्था में आप बाहर में हो रही घटनाओं एवं शब्दों के प्रति सजग रहेंगे, देखते एवं सुनते हुए भी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करेंगे। एक अंधा, गूंगा और बहरे के समान मूकद्रष्टा बने रहना है।

दूसरी अवस्था में आप आँख-कान आदि की बहिर्वृत्ति को रोककर अर्थात् बन्द करके केवल मन को देखते रहें। वह क्या सोच रहा है, उसमें हो रही प्रतिक्रियाएं, संस्कारों की वजह से उसमें उत्पन्न दृश्य एवं विचारों की धारा को देखते रहें। आप उनमें रमण कर अपने को भूलें नहीं। मन के समस्त क्रिया-कलापों का द्रष्टा बने रहना है।

तीसरी अवस्था में आप पूर्व में कही दोनों अवस्थाओं को बारी-बारी से करेंगे। अर्थात् बाह्य सजगता और आन्तरिक सजगता का अभ्यास करना।

चौथी अवस्था में निःशब्द और निर्जन स्थान में बैठकर स्वयं मन से बाहर और भीतर दृश्यों को बारी-बारी से पैदा करके उन्हें देखना है। इसे शास्त्रीय भाषा में मनोराज्य कहते हैं। यद्यपि मनोराज्य को ध्यान व समाधि का सबसे बड़ा प्रतिबन्धक माना गया है क्योंकि उसमें व्यक्ति अपनी सुध-बुध खोकर बह जाता है और व्यर्थ में समयादि को गंवाता है तथापि अन्तर्मौन में दृश्य निर्माण करता तो है किन्तु उसमें बहता नहीं। इसी भेद के कारण यह साधना है बाधक नहीं।

पांचवीं अवस्था में मन को पूर्णतया शान्त करना है। उसकी वृत्ति को विचार एवं दृश्य से रहित चैतन्य आकार अर्थात् एक दिव्य प्रकाश के रूप में अनुभव करना। यह मन की स्तब्ध-शून्य अवस्था है। यह बेहोशी के समान है। फर्क इतना है कि बेहोशी में व्यक्ति सजग नहीं रहता है किन्तु अन्तर्मौन में मन स्तब्ध एवं शून्य अवस्था में भी सजगता अनुभव करता है।

जब साधक इस साधना में सफल हो जाए तब उसका मन ध्यान के योग्य होता है।

अध्याय १२

ध्यान विज्ञान

प्रस्तावना

ध्यानं निर्विषयं मनः इस शास्त्रोक्ति के अनुसार संसार के पदार्थों से मन को हटाकर अपने स्वरूप में लगाना **ध्यान** और स्वरूप में स्थिर होना **समाधि** है। इसलिए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं —

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानं ।। ३/२ ।।

और

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं ।।

यो. सू. १/२

योगी याज्ञवल्क्य भी कहते हैं —

ध्यानमात्मस्वरूपस्य वेदनं मनसः खलु ।। ६/२ ।।

और

समाधि समतावस्था जीवस्य परमात्मनोः।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः ।। १०/२ ।।

अतः ध्यानाभ्यास के बिना समाधि नहीं हो सकती और समाधि के बिना मोक्ष नहीं।

यद्यपि पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी ध्यान करते हैं। इसलिए योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं —

ध्यानमेव हि जन्तूनां कारणं बन्धमोक्षयोः ।। १०/२ ।।

और भगवान भी कहते है —

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।। २/६२ ।।

तथापि कठोपनिषद् में कहा है —

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्
।। २/१/१ ।।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि इस लोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सकल पद, ऐश्वर्यादि भोग्य पदार्थों से विरक्त होकर जब साधक प्रत्याहार के अभ्यास से अन्तर्मुख इन्द्रियों के साथ मन को परमात्म स्वरूप में धारणा द्वारा स्थापित करता है तत्पश्चात् उस परमात्मस्वरूप को अपने से अभिन्नरूप से अनुभव करने के लिये ध्यान का अभ्यास आरम्भ करना चाहिए। इसलिए भगवान् कहते हैं —

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।। ६/१६ ।।

लेकिन यह आसानी से संभव नहीं। क्योंकि मन अति चंचल है, अर्जुन स्वीकार करता है —

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथी बलवद्दृढम् ।। ७/३४ ।।

तब जवाब में भगवान् कहते हैं —

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। ६/३५ ।।

और महर्षि पतञ्जलि भी कहते हैं —

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।। १/१२ ।।
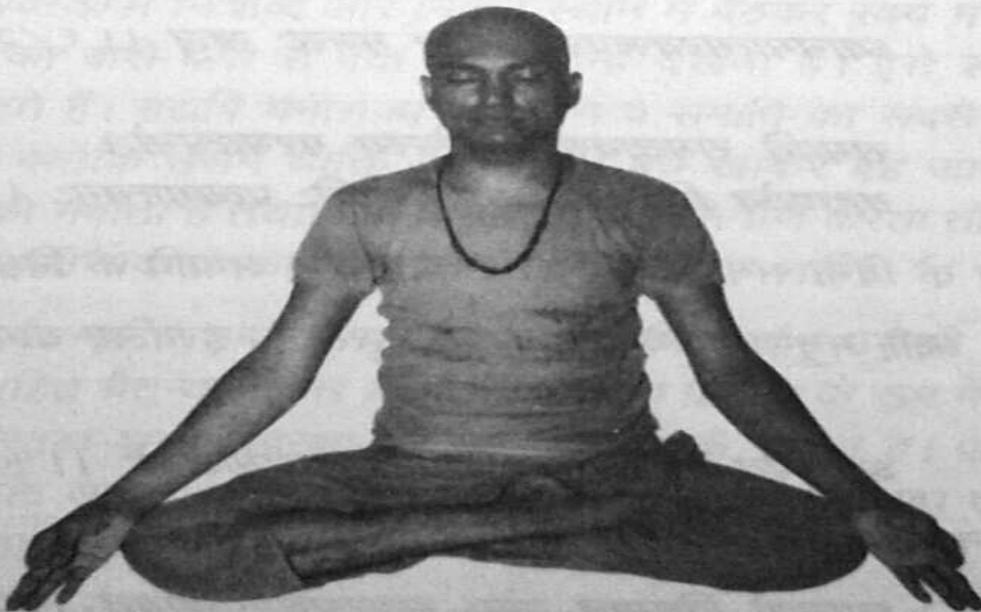
ध्यान विज्ञान

ध्यानाभ्यास आरम्भ करने के लिए आवश्यक निम्न बातों के प्रति पूर्णतया जागरूक रहना होगा —

१. मन का मैल हटाकर विचार तरंगों को शान्त करके मन के आवरण (मोह) को मिटाकर मन को स्थिर करना।

२. श्रद्धा और दृढ़ विश्वास को कायम रखना।

३. समर्पण भाव अर्थात् तत्परता और इन्द्रियों पर पूरा संयम। क्योंकि अन्तरंग साधन ध्यान की सामग्री के विषय में भगवान कहते हैं —

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।। ४/३९ ।।

योग सूत्रकार भी कहते हैं —

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ।। १/१४ ।।

४. नित्य और निरन्तर करना चाहिए।

५. एक समय, एक स्थान, एक आसन, एक इष्ट, एक मंत्र, एक गुरु, एक विधि में निष्ठा बनाए रखना आवश्यक है।

६. प्राणायाम के पश्चात् ही ध्यान करना चाहिए।

७. बैठते ही ध्यान की प्रक्रिया शुरू न करें। कम-से-कम पांच मिनट शान्त बैठें। शीघ्र सफलता की आकांक्षा छोड़कर धैर्यपूर्वक स्वाभाविक परिणाम की प्रतीक्षा करनी चाहिए। बीच में होने वाली अनुभूतियों का चिन्तन करना व दूसरों के समक्ष बताकर विचार करना अनावश्यक ही नहीं बल्कि प्रगति में बाधक भी है।

८. ध्यान की सफलता के लिए अपनी दिनचर्या को शुद्ध एवं पवित्र रखना चाहिए। काया, वाचा, मनसा किसी तरह के पाप के प्रति सावधान रहना चाहिए।

९. यम, नियम, युक्ताहार एवं संयम ध्यान की आधारशिलाएं हैं।

ध्यान में आने वाली बाधाएं और उनका निदान निम्न प्रकार है —

(क) *निद्रा व आलस्य* — अल्प भोजन करें, रीढ़ सीधी रखें और प्राणायाम बढ़ाएं। भोजन के बाद टहलना उचित होगा।

(ख) *कार्य की अधिकता व चिन्ता* — अनावश्यक कार्य को घटाएं, अन्यों

के साथ बांट लें, नियमित एवं योजनाबद्ध करें और कुछ विषयों में तो भगवान् भरोसे छोड़ें।

(ग) *समय, वस्तु, व्यक्ति आदि का दुरुपयोग* — सावधानी, सतर्कता, सजगता के साथ सदुपयोग की भावना से व्यवहार करना।

(घ) *विषयों का अधिक संग एवं आसक्ति* — विषयों की नश्वरता के चिन्तन के साथ उदासीन भावना से व्यवहार करना।

(ङ) *कुसंग और लोभ* — त्यागना ही उचित है।

(च) *राग-द्वेष वृत्ति* — आसक्ति रहित होकर समदृष्टि रखते हुए व्यवहार करना।

(छ) *तनाव* — शिथिलीकरण क्रियाएं, शुभ विचारना, फलाकांक्षा रहित परोपकार, निश्चित समय पर निश्चित अवधि तक ध्यान करना, मन्दिर आदि में जाकर ईश्वरार्पण करना।

(ज) *परदोष चिन्तन, बदला-निन्दा आदि वृत्ति* — क्षमावृत्ति के साथ सहिष्णुता को बढ़ाना, मौन का अभ्यास और उपेक्षावृत्ति।

(झ) *अस्वस्थ शरीर* — आसन, प्राणायाम, षट्कर्म का अभ्यास।

(ञ) *रुकावट व व्यवधान* — धैर्य एवं संयम रखें।

ध्यान की कुछ सरल विधियों को आरम्भिक साधक के दृष्टिकोण से लेकर उच्च कोटि तक के साधक के लिए संक्षेप में दर्शाया जा रहा है।

दिनचर्या दर्शन (प्रथम चरण)

रात में सोने से पहले बिस्तर पर ही करना है। ध्यान के किसी आसन में बैठकर दिनभर जो भी कार्य प्रातः से सायं तक आपने किए हैं, उनका क्रमशः चिदाकाश में आँखें बंद करके अवलोकन करें। कार्य की समीक्षा भी करें। गलत हुए कार्यों को दोबारा न करने का अथवा सुधारने का संकल्प करें। सही हुए कार्यों को और अधिक प्रभावशाली ढंग से करने पर विचार करना चाहिए। जैसे कि क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष, झूठ, छल, कपट, ढोंग, ठगई आदि के बारे में संकल्प करें कि ऐसे नहीं करूंगा। काया, वाचा, मनसा दूसरे से क्षमा-याचना करके बिगड़ी को सुधारने का संकल्प करें। आवश्यकता पड़े तो मौन-व्रत आदि द्वारा अपने को आप स्वयं दण्डित कर लें। इन बातों (सत्संकल्पादि) पर ध्यान दें और उनके (क्रोधादि) त्यागने का संकल्प करें।

स्नानादि से निपटकर दैनिक योगाभ्यास के पश्चात् ध्यानपूर्वक किसी ध्यान के आसन में बैठकर दिनभर आपको जो कुछ भी करना है उन सकल कार्यों को आप कापी में लिखें। अब उन्हें करने का क्रम एवं समय आदि पर विचार कर लें। तत्पश्चात् कार्य की सफलता, सरलता एवं अधिक लाभ आदि गुणवत्ता के अनुसार अपनी पॉकेट डायरी में उन्हें लिख लें। रात्रि में किए संकल्पों को दुहरा लें। उन्हें निश्चय किए क्रम व ढंग से ही कार्यान्वित करें।

आपको अत्यन्त आश्चर्य होगा कि कुछ ही दिन में आप देखेंगे कि हर कार्य में आपको शत-प्रतिशत सफलता मिलेगी और आपका दैनिक जीवन तनाव रहित, सन्तोषमय एवं सुखप्रद होगा। जब ऐसे हो तब आपका मन आध्यात्मिक मार्ग में ध्यान के योग्य हो जाएगा।

विचार दर्शन

इस पर विचार अन्तर्मौन नाम से पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। यह ध्यान में प्रवेश पाने की दूसरी सीढ़ी है।

मंत्र योग

इस पर विचार जपयोग एवं अजपाजप नाम से पांचवें अध्याय में किया गया है। यह ध्यान में प्रवेश करने की तीसरी सीढ़ी है।

श्वास ध्यान

प्रथम तीन ध्यान — दिनचर्या दर्शन, विचार दर्शन व मंत्र योग — के पश्चात् श्वास पर ध्यान करें। आँखें बन्द रहें। श्वास को थोड़ा गहरा बनाएं। जोर-जबरदस्ती न करें। आनन्दपूर्वक आते-जाते हुए गहरे श्वास पर अन्तर्दृष्टि बनाए रखें। साक्षीभाव से देखते रहें। श्वास की गति व मात्रा पर सजग होइए। किस नासिका छिद्र से कितना — दाएं से, बाएं से एवं दोनों से अर्थात् इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना से — इस पर ध्यान दें। धीरे-धीरे कुछ दिन के उक्त अभ्यास के बाद यह देखें कि नासिका छिद्रों में श्वास कैसे आ व जा रही है। अर्थात् छिद्र के मध्य से, निचले भाग से, ऊपरी भाग से, दाहिने भाग से व बाएं भाग से अथवा घूमते हुआ तिरछी गति से। गति के अनुसार समझना होगा कि क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्व का संचार हो रहा है। निम्न तालिका के अनुसार अनुभव करें —

श्वास गति	तत्त्व	रसस्वाद	स्वर की लम्बाई	समय क्षणों में	ज्ञानेन्द्रिय पर प्रभाव	कर्मेन्द्रिय पर प्रभाव	बीज मन्त्र
मध्य	पृथ्वी	कस्सा	१२ अंगुल	२०	घ्राण	गुदा	लं
नीचे	जल	मीठा	१६	१६	रसन	लिंग	वं
ऊपर	अग्नि	कड़वा	४	१२	चक्षु	(पैर) नाभि	रं
बगल	वायु	खट्टा	८	८	त्वचा	(हाथ) हृदय	यं
तिरछी	आकाश	तीखा	२६	४	कान	वाक्	हं

इन सबका अनुभव होने व इन पर नियंत्रण पाने तक श्वास ध्यान क्रिया का अभ्यास करें।

सहज ध्यान

ध्यान के किसी आसन में बैठकर आँखें बन्द किए हुए पूर्वोक्त श्वास ध्यान यथासंभव करके ॐ का उच्चारण आरम्भ करें। कुछ समय मानसिक अजपाजप का अभ्यास करें। तत्पश्चात् भ्रूमध्य पर अन्तर्दृष्टि को केन्द्रित करके अपने सहज स्वभाव अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करें। अर्थात् अपने प्रशान्त अद्वैत सत् चित् आनन्द व ज्ञान तथा प्रकाशमय कूटस्थ स्वरूप का ध्यान करें। इसके लिए अपने को द्वन्द्वातीत स्वरूप समझें। अर्थात् ऐसे चिन्तन करें कि —

मुझमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं अतः मैं कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ। सुख-दुःख, राग-द्वेष, लाभ-हानि, जय-पराजय, यश-अपयश, मान-अपमान, ठण्ड-गरम, भूख-प्यास आदि सकल द्वन्द्व मन आदि भौतिक पदार्थों का धर्म है, मेरा नहीं। अतः मैं इन सबका साक्षी व द्रष्टा हूँ। मैं वह शुद्ध ब्रह्म ही हूं। मैं अमर आत्मा हूं। इसलिए जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाएं, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध आदि सकल पदार्थ मन आदि भौतिक वस्तुओं का धर्म है। अतः मैं वस्तु-काल-देश से बन्धन को प्राप्त नहीं हो सकता हूं। मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला हूं। यही मेरा सहज स्वरूप है। ऐसी भावना के साथ यथासंभव समय चित्त की वृत्तियों को बनाए रखें तत्पश्चात् ॐ का उच्चारण व शान्तिपाठ करके उठें।

नादयोग

नाद शब्द का अर्थ है ध्वनि। लेकिन वास्तव में नाद चित्त गत चैतन्यता का प्रवाह है। यह सात अवस्थाओं को प्राप्त कर स्थूल रूप से इन्द्रिय का विषय होता है।

पहली अवस्था तो निर्गुण-निराकार विशुद्ध *ब्रह्म* ही है जोकी नादादि सात अवस्थाओं के प्राकट्य का आधारभूत मूल कारण चैतन्य है।

दूसरी अवस्था "ॐ" है जिसके तीन स्वरूप हैं — प्रथम नाद, दूसरा बिन्दु और तीसरा कला। इनमें से **नाद** ॐ की वह अवस्था है जिसमें सकल अभिधान-अभिधेय (वाच्य-वाचक, नाम-नामी) अभिन्न होकर अविद्यामय स्वरूप में होगा। इसे सगुण निराकार कहा गया है। समष्टि में इस रूप को मायोपाधिक *ईश्वर* एवं व्यष्टि में अविद्योपाधिक *प्राज्ञ* कहते हैं।

तीसरी अवस्था ॐ की **बिन्दु** अवस्था है। इसमें अभिधान-अभिधेय का अभेद रहते हुए सूक्ष्म रूप को प्राप्त किंया हुआ है। इसे सगुण साकार सूक्ष्म कहा है। समष्टि में इसे समस्त सूक्ष्म शरीरोपाधिक *अन्तर्यामी* (हिरण्यगर्भ) और व्यष्टि में व्यस्त सूक्ष्म शरीरोपाधिक *तैजस* कहते हैं।

चौथी अवस्था ॐ की **कला** अवस्था है। यही ॐ का स्थूल रूप है। इसे समष्टि में सकल स्थूलशरीरोपाधिक *विराट्* और विकलशरीरोपाधिक *विश्व* कहते हैं।

पाँचवीं अवस्था में ॐ को **परा** कहते हैं। यह शब्द की सुषुप्त अवस्था है अर्थात् मूलस्वरूप है, जो कि प्रत्येक के ह्रदय में व्याप्त है जिससे मन में प्रथम शब्द का साक्षात्कार होता है। जो क्रमेण बाहर प्रकट होता है।

छठी अवस्था को **पश्यन्ति** कहा जाता है। मन इसे अनुभव कर लेता है किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं है। यह स्वप्न के समान शब्द की सूक्ष्म अवस्था है। मानस शब्द रूप है।

सातवीं अवस्था को **मध्यमा** कहते हैं, क्योंकि मन को स्पष्ट है और इन्द्रिय को अस्पष्ट है। स्वप्न और जाग्रत् की सन्धि के समान यह सूक्ष्म और स्थूल की अन्तराल अवस्था है। इसका अनुभव कान में अत्यन्त धीमी आवाज से फुसफुसाकर बोलने (whispering sound) के समान होता है।

आठवीं अवस्था को **वैखरी** कहते हैं, क्योंकि यह वाणी आदि से प्रकट हुए शब्द का स्थूल रूप है।

अतः नादयोग का मूल सिद्धान्त है *शब्द ब्रह्म,* जो कि *माण्डूक्योपनिषद्* में स्पष्ट वर्णित है। नादयोग की आरम्भ में विभिन्न शास्त्रीय वाद्ययन्त्रों की ध्वनि पर ध्यान किया जाता है। शास्त्रीय संगीत से युक्त शास्त्रीय-वाद्ययंत्रों से निष्पन्न ध्वनि आपके विभिन्न चक्रों का जागरण करती है। अतः गुरु के मार्गदर्शन में करने से ॐ की ध्वनि पर ध्यान करने की क्षमता एवं उक्त अवस्थाओं को अनुभव करते हुए जीव-ब्रह्मैक्यानुभूति की जा सकती है — यह शास्त्रीय मान्यता है।

दक्ष गुरु के अभाव में आप वीणा व बांसुरी की ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। उसके पश्चात् आप किसी ध्यान के आसन में बैठकर आँखें बंद कर सकते हैं। रूई, अंगुली व अन्य किसी साधन से कानों को इस प्रकार बन्द कर लें कि आपको बाहर का कोई भी शब्द सुनाई न दे। अब भीतर के शब्द, धड़कन व अन्य गूँज पर ध्यान दें।

इस अभ्यास को कुछ समय करने के बाद पूर्ववत् बैठकर ॐ का उच्चारण करें। उसकी ध्वनि से भीतर में उत्पन्न गूँज पर ध्यान करें। कालक्रमेण स्वतः रास्ता खुलेगा।

भाव ध्यान

ध्यान के आसन में बैठकर चिदाकाश में अपने इष्ट, गुरु अथवा अन्य पूज्य आदर्शमय पुरुष के महान् भावों को ध्यान का विषय बनाएं। जैसे — करुणा, मुदित (प्रसन्नता), क्षमा, धैर्य, शान्ति, निर्भयता, वीरता, उदारता, दयालुता इत्यादि। इसके लिए आवश्यक हो तो उस गुण सम्बन्धी लीला व घटना अथवा किसी भक्त की जीवनी के वृत्तांत को स्मृतिपटल पर ला सकते हैं। अपनी कमजोरी एवं दुर्गुण के विपरीत गुणों पर ध्यान करने से वे सद्गुण आपके अन्दर भी विकसित होंगे।

भावातीत ध्यान

ध्यान के किसी आसन में बैठकर कुछ क्षण आँख बन्द करके मौन बैठें। अपने द्रष्टृभाव में स्थित होकर प्रयत्नपूर्वक विचार करें — क्या मैं कुछ विचार कर रहा हूं। यदि कर रहा हूं तो वे विचार क्या हैं। आप अपने को विचारों से अलग रखकर विचारधारा को देखने वाला बनें। विचारधारा के प्रत्येक भाव को देखते रहें। सजग रहते हुए दुहराते रहिए कि — "मैं यह दृश्य नहीं हूं, मैं इसका द्रष्टा हूं। मैं विचारक नहीं हूं, मैं विचारों का द्रष्टा हूं। मैं इन समस्त विचारों, दृश्यों व भावों का आधार हूं। मैं ॐ से लक्षित चैतन्य हूं। मैं ब्रह्म हूं।"

धीरे-धीरे अपनी मन की विचारधारा में दिखाई दे रहे दृश्यों की अन्तराल अवस्था में देदीप्यमान विशुद्ध प्रकाशमय स्वयं ज्योति आत्मा का ध्यान करें। ॐ का उच्चारण करें। श्वास के साथ रीढ़ की हड्डी में ऊपर से नीचे व नीचे से ऊपर सुषुम्ना नाड़ी में चलते प्राण पर ॐ की ध्वनि सहित ध्यान करें। ॐ की ध्वनि सर्वत्र व्यापक होती हुई अनुभव करें। अपनी वृत्तियों को ॐ की ध्वनि के साथ प्रकाशमयी किरणों के समान सर्वत्र व्याप्त होता हुआ अनुभव करें। उस व्यापक प्रकाश में यह ब्रह्माण्ड, उस ब्रह्माण्ड में पृथ्वी पर आपका स्थान, उस स्थान पर बैठे हुए शरीरादि को एक दृश्य के रूप में देखें। अपने आप को इन सबसे अलग, इन सबको सत्ता व चेतनता प्रदान करता हुआ व्यापक तत्त्व के रूप में देखें। ॐ की ध्वनि पर ध्यान लगातार बनाए रखें।

यथासम्भव करने के पश्चात् जब समाप्त करना हो तो आप यह अनुभव करें कि आप वह व्यापक स्वरूप से शरीर में प्रवेश कर रहे हैं। प्रत्येक अंग में चेतनता व श्वास पर ध्यान दें। शान्तिपाठ करके उठें।

उन्मनी क्रिया

ध्यान के किसी आसन में बैठकर कपालभाति प्राणायाम की पांच आवृत्ति का अभ्यास करें। बन्ध-त्रय के साथ अभ्यास करने के पश्चात् आँखें न खोलें। अब उज्जयी प्राणायाम का अभ्यास करें। मूलाधार से आज्ञा तक और आज्ञा से मूलाधार तक प्राण का संचरण ॐ के उच्चारण के साथ करें। आज्ञा से "ओ" (थोड़ा ही उच्चारण करें) निकलकर "म्" (लम्बी उच्चारण क्रिया) की ध्वनि मूलाधार तक पहुँच रही है — ऐसे अनुभव करें। ५२ बार करने के पश्चात् श्वास के साथ "सोऽहं" का प्रयोग करें। प्रत्येक १३ आवृत्ति के पश्चात् कुछ विश्राम ले सकते हैं। सोऽहं मंत्र के साथ भी ५२ बार करें। पुनः ॐ के साथ करें। तत्पश्चात् कुछ समय शान्त बैठे हुए समाप्त की गई ध्यान क्रिया की आन्तरिक प्रतिक्रिया पर सजग होकर प्रसन्नता, प्रफुल्लता एवं आनन्द का अनुभव करें। सोना व मनोरंजन नहीं करना है। सामान्य स्थिति में आने पर शान्तिपाठ करके आँखें खोलें।

प्राणविद्या

प्राण के बारे में प्राणायाम विज्ञान नामक प्रथम प्रकरण के चौथे अध्याय में वर्णन किया गया है। संक्षेप में श्वास के द्वारा शरीर के अन्दर प्रवेश करते हुए जीवन-शक्ति का नाम प्राण है। अतः श्वास द्वारा प्राण पर नियंत्रण पाकर उसका अध्यात्म व शारीरिक लाभ के लिए प्रयोग करने के लिए अनेक प्राणायामों का वर्णन किया गया है। प्राण सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट विज्ञान को प्राणविद्या कहते हैं। इससे स्वयं के ही नहीं बल्कि दूसरों के शारीरिक लाभ व आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त करने हेतु विधि बताई जा रही है।

इसे आप बैठकर, पीठ के बल व पेट के बल लेटकर या करवट पर लेटकर भी कर सकते हैं। ध्यान रहे रीढ़ की हड्डी सीध में हो। इसका अभ्यास जब दाहिने नासिका छिद्र से श्वास चलता हो अर्थात् पिंगला नाड़ी विशेषरूप से चलती हो उसी समय करना है। इसका अभ्यास दो भाग में किया जाता है — *प्रथम* श्वास लेते हुए अनुभव करें कि मणिपूर-चक्र से अथवा पूरे शरीर के चर्म के प्रत्येक छिद्र से प्राणशक्ति आज्ञा-चक्र की ओर बह रही है और आज्ञा-चक्र में एकत्रित हो रही है। धीमि गति से श्वास छोड़ें। *दूसरी* बार श्वास लेते हुए अनुभव करें कि प्राणशक्ति नाड़ियों के द्वारा पूरे शरीर में व्याप्त हो रही है अथवा उस स्थान में जाते हुए अनुभव करें

जहाँ विशेष दर्दादि हो, रोग हो या आप ले जाना चाहते हों किसी भी लाभ के लिए। यदि दूसरों में प्रवाहित करना हो तो दाहिने हाथ के अंगूठे व अनामिका से अपेक्षित स्थान में जाते हुए अनुभव करें।

विधि — हल्की आँखें बन्द करके तैयार हो जाइए। आरामदायक स्थिति में रीढ़ को सीधा रखकर स्थिर हो जाइए। अब श्वास की गति के साथ प्राण की गति पर ध्यान दें। प्राण की गति चक्राकार वक्र होती है। यह ध्यान रखें। अतः प्राण मूलाधार से निकलकर दाहिनी ओर से घूमते हुए स्वाधिष्ठान पहुंचती है और स्वाधिष्ठान से निकलकर बाईं ओर से मणिपूर पहुंचती है। इसी प्रकार एक चक्र से दूसरे चक्र में पहुंचते हुए आज्ञा-चक्र में एकत्रित होगी। विपरीत दिशा से मूलाधार में लौटना है। यह प्राणशक्ति की जागरणपूर्वक संचालन क्रिया है।

जब इसके अभ्यास में आप दक्षता प्राप्त करेंगे आप प्राण की ऊर्ध्व गति को ही पूरक में करें और रेचक में अधोगति का अभ्यास न करके सामान्य ढंग से करें। साथ-साथ तरंग रहित विशुद्ध ध्वनि के साथ प्राण का ऊर्ध्वगमन होकर एकत्रित होते हुए क्रिया-कलाप पर सजग रहें। इस तरह आपकी चेतन शक्ति एवं प्राण शक्ति दोनों आज्ञा-चक्र में संचित हो रही हैं, ऐसा दुहराइए।

इसके पश्चात् कुंभक लगाकर बन्ध-त्रय के साथ कुण्डलिनी शक्ति को चेतन एवं प्राणशक्तियों के साथ आज्ञा-चक्र तक पहुंचती हुई अनुभव करें। बन्ध-त्रय को खोलकर कुम्भक छोड़ें, सामान्य रेचक करके शरीर को शिथिल करें। पुनः दुहराइए। आप पूरक और रेचक का अनुभव नाक से करता हुआ न करें। ऐसा अनुभव करें कि पूरे शरीर के प्रत्येक छिद्र से हो रहा है। प्रत्येक पूरक में प्राण की ऊर्ध्वगति के साथ चेतन एवं कुण्डलिनी शक्ति की ऊर्ध्वगति और प्रत्येक रेचक में शरीर के पूर्ण शिथिलीकरण का अनुभव करना है।

इसके बाद पूरक को लम्बा, गहरा व धीमा करें। अनुभव करें कि आप का श्वास पूरे शरीर से प्रवेश कर आज्ञा में प्राणशक्ति को एकत्रित कर, आज्ञा-चक्र से पुनः पूरे शरीर में प्राणशक्ति व्याप्त हो रही है। अब प्राण आज्ञा-चक्र में रीढ़ की हड्डी में स्थित चक्रों से होते हुए नहीं बल्कि सीधे शरीर के प्रत्येक छिद्र से पहुंच रही है। श्वसन-क्रिया उज्जयी प्राणायाम के साथ हो।

इससे और आगे बढ़ते हुए आप अनुभव करें कि आप पूरक आज्ञा-चक्र से कर रहे हैं न कि नासिका छिद्र अथवा शरीर के छिद्रों से। प्रत्येक पूरक में ऊर्जा शक्ति से शरीर परिपूरित होने का तथा प्रत्येक रेचक से शरीर का शिथिलीकरण अनुभव करें। अब इसी अवस्था में चेतन शक्ति और प्राणशक्ति को अनुभव करें। अर्थात् श्वसन-क्रिया, कल्पना शक्ति, दृक्शक्ति, भाव, विचार व संपूर्ण शरीर को चेतन व

प्राणशक्ति में तादात्म्यरूप से अनुभव करें। केवल किसी एक पर जागरूक न रहें। अपने शरीर को उसमें हो रही समस्त क्रिया के साथ एक गुब्बारे के समान अनुभव करें। शरीर का फूलना व सिकुड़ना पूरक एवं रेचक के साथ होगा, साथ ही प्राणशक्ति का वितरण और शिथिलीकरण भी।

इस अभ्यास में परिपक्वता आने पर स्वेच्छापूर्वक विभिन्न अंगों में प्राणशक्ति को प्रवाहित करने का अभ्यास करें। अन्त में पुनः पूरे शरीर में प्राण को पूरक से समवितरण करके रेचक से शिथिलीकरण करना है। तत्पश्चात् आँखें खोलें। प्राणध्यान की क्रिया का सदुपयोग करने व इसके अभ्यास में तीव्रता के लिए दक्ष गुरु की आवश्यकता है। स्वयं प्रयत्न न करें अन्यथा हानि की संभावना है।

कुण्डलिनी विद्या

यह ध्यान का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान है। यह सर्वातिशय साधना है। इसका अभ्यास गुरु से दीक्षित होकर करना उचित है। यद्यपि १६ क्रियाओं का स्वतः अभ्यास कर सकते हैं जिनके नामों का उल्लेख यहां किया गया है। लेकिन इनके अतिरिक्त तीन क्रियाएं अत्यन्त गुप्त विद्या होने से उनके नाम को भी प्रकाशित नहीं कर रहा हूँ। इन्हें गुरु सीधे शिष्य से कराता है व अन्तिम अनुभूति में स्थापित करता है। आरम्भिक १६ क्रियाएं इस प्रकार हैं —

१. विपरीतकरणी मुद्रा, २. चक्रानुसन्धान, ३. नाद सञ्चालन, ४. पवन सञ्चालन, ५. शब्द सञ्चालन, ६. महामुद्रा, ७. महाभेदमुद्रा, ८. माण्डूकी क्रिया, ६. ताड़न क्रिया (इतने अभ्यास प्रत्याहार सिद्धि के लिए हैं), १०. नौमुखी मुद्रा, ११. शक्ति सञ्चालन, १२. शाम्भवी क्रिया, १३. अमृत पान, १४. चक्र भेदन, १५. सुषुम्ना दर्शन, १६. प्राणाहुति, १७. उत्थान, १८. स्वरूप दर्शन और १६. लिंग सञ्चालन (इतने अभ्यास धारणा सिद्धि के लिए हैं)। इसके पश्चात् की तीन क्रियाओं द्वारा ध्यान एवं समाधि की सिद्धि होती है।

इस विद्या के बारे में हमारे परम पूज्य गुरुदेव परमहंस स्वामी सत्यानन्द सरस्वतीजी द्वारा लिखे व बिहार योग विद्यालय, मुंगेर से प्रकाशित <u>कुण्डलिनी क्रिया, ध्यान–तंत्र के आलोक में</u>, इत्यादि ग्रन्थों का अवलोकन करें। विना योग्य कुण्डलिनी योग के प्रशिक्षक के अभ्यास करना उचित नहीं।

ध्यान सम्बन्धी कुछ विशेष बातें एवं ध्यान से लाभ

ध्यान सम्बन्धी कुछ विशेष बातें निम्न प्रकार हैं —

१. सर्वप्रथम बात यह है कि ध्यान कोई करने की चीज नहीं है। जैसे नींद स्वतः

होती है, की नहीं जाती। उसी प्रकार ध्यान को स्वतः होने वाली चीज समझें। फिर भी नींद होने के लिए बिस्तर, रजाई आदि साधन जुटाने के समान उक्त प्रक्रियाएं ध्यान होने के लिए केवल मन को तैयार करना है। अतः वास्तव में ध्यान वर्णनातीत वस्तु है; नींद, मीठा आदि के समान। इसे अनुभव से ही जाना जा सकता है।

२. ध्यान को चित्त की निर्विचार अवस्था या अपने आप का अनुसंधान या स्वयं का निष्पक्ष सचेत निरीक्षण अथवा सविचार से निर्विचार में स्थिर होना या आत्मानुसंधान की पहल इत्यादि रूप से यद्यपि वर्णन किया गया है तथापि वास्तव में ध्यानानुभाव का वर्णन नहीं हो सकता।

३. बाह्य जगत् के अनित्य सुख-शान्ति के साधनों से विरक्त हुए विना अन्तर्जगत् की खोज (ध्यान) नहीं हो सकती।

४. वास्तव में मनुष्य के लिए मन वरदान भी है व अभिशाप भी। इसी से वह चाहे तो मुक्त हो सकता है या संसारिक जाल में फंसा रह सकता है। अतः मन को मुक्ति की ओर लगाने के लिए ध्यानाभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्रोक्ति है —

मन एव कारणं बन्धमोक्षयोः।

५. ध्यान अत्यन्त व्यावहारिक है। इसके लिए कोई प्रयोगशाला की जरूरत नहीं। शरीर ही प्रयोगशाला है जिसमें इन्द्रियां और मन उपकरण हैं। बहिर्वृत्ति स्वभाव को अन्तर्वृत्ति करना अर्थात् आत्मपरक विज्ञान ही ध्यान है।

६. ध्यान से मस्तिष्क की चार प्रकार की तरंगों में से (अल्फा, बीटा, थीटा और डेल्टा अर्थात् सत्त्व, रजः तमः और मिश्र) सर्वश्रेष्ठ सात्त्विक (अल्फा) तरंगें चलती हैं। फलतः तनावरहित सुख-शांति व आनन्द का अनुभव होता है।

७. विखण्डित एवं द्वन्द्वात्मक दृष्टि का अतिक्रमण करना ध्यान का लक्ष्य है।

ध्यान का परम लक्ष्य आत्मानुभूति हो या न हो तो भी ध्यानाभ्यासी को निम्न लाभ तो अवश्य प्राप्त होगें।

१. तनावग्रस्त मन, बुद्धि, चित्त एवं शरीर को स्थिरता एवं शांति मिलेगी।

२. सांसारिक घटनाओं से मन उद्विग्न नहीं होगा क्योंकि मन, इन्द्रियां, उनसे उत्पन्न दृश्य तथा समस्त अलौकिक शक्तियां योगी के अधीन होती हैं।

३. **योगः कर्मसु कौशलम्** — इस उक्ति के अनुसार प्रत्येक कार्य में समग्रता के साथ विवेक शक्ति सक्रिय होने से कार्य को पूर्ण सफलतापूर्वक करने की क्षमता प्राप्त होती है।

४. हमारे शरीर की पूरी रासायनिक प्रक्रिया एवं चयापचय सुचारू रूप से संपन्न होने लगते हैं।

५. उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, विक्षिप्तता, मानसिक चिन्ताजन्य रोग, अनिद्रा, स्नायु रोग, तनाव आदि मिट जाते हैं व नियंत्रित रहते हैं।

६. ध्यान द्वारा साधक जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति से परे तुरीयावस्था में पहुंचकर आनन्द व शाश्वत् सुख–शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

७. ध्यान से समग्र चेतनता जागती है फलतः वह प्रत्येक कार्य को संयमित, व्यवस्थित, धैर्य एवं सावधानी से करके अत्यधिक लाभ प्राप्त कर लेता है।

८. समस्याओं का समाधान ध्यान के माध्यम से आसानी से प्राप्त होता है। क्रोधादि पर विजय प्राप्त होती है।

६. सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि वह कामवासना पर काबू पा लेता है जिससे उसकी मानसिक, शारीरिक व सांसारिक अनेकों समस्याएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं।

१०. निर्लिप्तता एवं अल्पभोगिता आदि गुण आने से वह रसास्वाद (जिह्वा) पर विजय प्राप्त कर लेता है जो कि मोक्षमार्ग का प्रमुख द्वार है।

११. संक्षेप में कहा जा सकता है कि पवित्रता, प्रसन्नता, शान्ति, भक्ति, तृप्ति, श्रद्धा, सौम्यता, पूर्णता, समग्रता, दिव्यता, कर्त्तव्य परायणता, कार्यदक्षता, स्फूर्ति, उत्साह, अचंचलता, विवेक, प्रज्ञा–मेधा आदि उत्कृष्ट शक्ति, आत्म–बोध आदि सभी उत्कृष्ट गुणों का विकास होता है।

सूचना

हमने समाधि एवं उसके विभिन्न स्तर व प्रभेद और फल का वर्णन करने हेतु एक अध्याय और नहीं जोड़ा है। इसलिये शंका होगी की सभी अङ्ग का वर्णन के विना यह "पूर्ण योग" कैसे? समाधान साधना से साध्य स्वतः प्राप्त होता है। समाधि साध्य है। जगह-जगह पर उसका उल्लेख किया है, अतः साध्य का पृथक् वर्णन नहीं किया गया। समाधि साक्षात् स्वरूप का अनुभव ही है। ऊपर में कहे अनुसार जब ध्यान का

वर्णन करना असम्भव है तो समाधि का वर्णन कैसे करें? अच्छा होगा पाठक स्वयं साधक बनकर साधना द्वारा अनुभव कर लें और मुक्त हों।

तृतीय प्रकरण

तत्त्वविज्ञान प्रकरण

प्रस्तावना

साधक को शरीर एवं चित्त की शुद्धि पूर्वोक्त अभ्यासों से कर लेने के लिए व अभ्यास में उन्नति के साथ सफलता प्राप्त करने के लिए एवं अभ्यास को सही ढंग से क्रियान्वित करने के लिए कुछ यौगिक तत्त्वों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा योग से रोग हो सकते हैं। तत्त्वविज्ञान का ज्ञान रहे तो अभ्यास से उत्पन्न विपरीत प्रतिक्रियाओं को समझ सकते हैं एवं तत्काल सुधार लिया जा सकता है। इसलिए शारीरिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकरण में तीन अध्याय हैं। वे इस प्रकार हैं — (१३) नाड़ी विज्ञान, (१४) चक्र विज्ञान और (१५) कुण्डलिनी विज्ञान।

इन तीनों अध्यायों की रचना *योगकुण्डलिन्युपनिषद्, जबालदर्शनोपनिषद्, योगचूड़ामण्युपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, योगी याज्ञवल्क्य-संहिता,* आचार्य शंकरकृत *षट्चक्रनिरूपण, पादुका पञ्चकं* और गोरक्षनाथ कृत *गोरक्षाष्टकम्,* इनके अतिरिक्त इस आधुनिक वैज्ञानिक युग के महान् योगी पूज्य गुरुदेव परमहंस स्वामी सत्यानन्द सरस्वतीजी और विश्व के सर्वश्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक व योगी हिरोशी मोटोयामा तथा व्यक्तिगत अनुभव से गूंथ कर की गई है।

प्रत्येक वस्तु के दो स्वरूप हैं। एक स्थूल अथवा व्यक्त और दूसरा सूक्ष्म अथवा अव्यक्त। इसी प्रकार नाड़ी, चक्र एवं कुण्डलिनी के भी व्यक्त स्वरूप स्नायु विशेष, ग्रन्थि विशेष एवं शक्ति विशेष हैं और इनका अव्यक्त स्वरूप सूक्ष्म, अदृश्य एवं आध्यात्मिक है। इन दोनों स्थूल-सूक्ष्म स्वरूपों का प्रमाण एवं अनुभव के आधार पर विचार को प्रकट किया जा रहा है। इन तीनों (नाड़ी, चक्र एवं कुण्डलिनी) का स्वरूप एवं इन्हें जाग्रत् कर प्रयोग करने की विधि पर भी संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

अध्याय १३

नाड़ी विज्ञान

हमारे स्थूल- सूक्ष्म- कारण शरीरों के परस्पर सम्बन्ध का कारण प्राण है। प्रत्येक शरीर में जो शक्ति केन्द्र हैं, उन्हें **चक्र** कहते हैं। इन शक्ति केन्द्रों से प्राण प्रवाह के साधन को **नाड़ी** कहते हैं। सूक्ष्म शरीर में स्थित चक्रों के द्वारा स्थूल शरीर एवं कारण शरीर के बीच प्राण का आदान-प्रदान एवं परिवर्तन का साधन **नाड़ी** है अथवा धारा या प्रवाह को ही नाड़ी कहते हैं। स्थूल शरीर में स्नायु नलिकाएं, सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म अव्यक्त नाड़ियां एवं कारण शरीर में ओज के रूप में नाड़ी व्याप्त हैं। यद्यपि नाड़ियों की संख्या विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न दृष्टिकोण से अलग-अलग कही गई है तथापि सर्वाधिक संख्या — ७२, ७२, १०, १०८; ३, ४०,०००; ७२,०००; १०१; ३६ और १८ / १८ नाड़ियों में भी ३ नाड़ी सुषुम्ना, इड़ा और पिंगला मुख्य हैं। आत्मदृष्टि के उपरान्त समस्त नाड़ियां प्रकाशधारा जैसे दिखती हैं।

नाड़ी प्रवाह के केन्द्र के बारे में दो सिद्धान्त हैं — एक कन्द स्थान और दूसरा नाभि चक्र।

जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार वह केन्द्र मूलाधार से नौ अंगुल ऊपर है और उसका केन्द्र बिन्दु नाभि है। किन्तु योगी *याज्ञवल्क्य- संहिता* (जिसमें केवल १४ नाड़ियों की चर्चा की गई है) में कहा है —

कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम् ।
चतुरङ्गुलमुत्सेध आयामं च तथाविधम् ।।
अण्डाकृतिवदाकारं भूषितं चासृगादिभिः ।
चतुष्पदां च हृन्मध्यं द्विजानां तुन्दमध्यमम् ।।४/१६-१७ ।।

अर्थात् मनुष्यादि दो पैर वालों में देह के मध्यम भाग नाभि से और चार पैर वाले पशु आदि में हृदय के मध्य भाग से नौ अंगुल ऊपर **कन्द** का स्थान है। वह चार अंगुल ऊँचा व चार अंगुल चौड़ा अण्डे की आकृति का है। यहीं से नाड़ियां ऊपर और नीचे की ओर जाती हैं।

नाड़ी स्थान तालिका

नाड़ी का नाम	जाबालदर्शनोपनिषद् और योगी याज्ञवल्क्य संहिता	योगचूड़ामन्युपनिषद्	योगशिखोपनिषद्	शाण्डिल्योपनिषद	गोरक्षाष्टकम्	षट्चक्रनिरूपणं	सिद्धसिद्धान्त पद्धतिः
१. सुषुम्ना	कन्दस्थान से ऊपर सिर के अग्रभाग तक	रीढ़ के मध्य में	मध्य में (इसे ब्रह्मनाड़ी कहा है)	मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक	मध्य	कन्द से शिरोअग्र तक	तालु से ब्रह्मरन्ध्र
२. इड़ा	सुषुम्ना के बाईं तरफ, बाईं नासिका तक	बाईं तरफ	नाभि चक्र से सुषुम्ना के बाएं तरफ विलम्बा में अन्त तक	सुषुम्ना के बाईं ओर बाईं नासिका तक	बायां	बायां	बाईं नासिका
३. पिंगला	सुषुम्ना के दाईं तरफ, दाईं नासिका तक	दाहिनी तरफ	नाभिचक्र से सुषुम्ना के दाएं तरफ, विलम्बा में अन्त तक	सुषुम्ना के दाईं ओर दाईं नासिका तक	दायां	दायां	दाईं नासिका
४. गान्धारी	इड़ा के पीछे, बाईं आँख के कोने में अन्त तक	बाईं आँख	नाभि चक्र से बाईं आँख तक	इड़ा के पीछे, बाईं आँख में अन्त	बाईं आँख	–	बायां कान
५. हस्तिजिह्वा	इड़ा के पीछे, बाएं पैर के अंगूठाग्र तक	दाईं आँख	नाभि चक्र से दाईं आँख तक	–	दाईं आँख	–	दायां कान
६. पूषा	पिंगला के पीछे, दाईं आँख के कोने में अन्त तक	दाया कान	नाभि चक्र से दाएं कान तक	पिंगला के पीछे, दाईं आँख तक	दायां कान	–	दाईं आँख
७. यशस्विनी	पिंगला के पीछे, दाएं पैर के अंगुष्ठाग्र तक	बायां कान	–	दायां कान व बाएं पैर के अंगुष्ठाग्र तक	बायां कान	–	बाईं आँख
८. अलम्बुसा	कन्दस्थान और गुदा स्थान से ऊपर की ओर	मुँह	नाभि चक्र से बाएं कान तक	गुदा के ऊपर व नीचे की ओर	मुँह	–	–

९. कुहू	नीचे की ओर जाकर पुनः ऊपर दाहिनी नासिकाग्र तक	जननेन्द्रिय	जननेन्द्रिय दाईं नासिकाग्र तक	जननेन्द्रिय तक व दाईं नासिकाग्र तक	जननेन्द्रिय	–	गुदा
१०. शङ्खिनी	बाएं कान तक	मूलाधार	गले में रसनेन्द्रिय	दाएं कान तक	गुदा	सहस्रार के नीचे	जननेन्द्रिय
११. सरस्वती	जिह्वा तक	–	जिह्वाग्र तक	जिह्वाग्र तक	मुहँ के कोने में	–	मुँह के कोने में
१२. वारुणी	कुण्डलिनी के चारों तरफ	–	गुदा तक	कुण्डलिनी के चारों तरफ	–	–	–
१३. पयस्विनी	दाएं कान तक	–	–	बाएं कान तक	–	–	–
१४. विश्वोदरी	कन्द के मध्य में	–	चतुर्विध अन्नारस प्रवाहिका	–	–	–	–
१५. शूरा	–	–	भ्रूमध्य तक	–	–	–	–
१६. सौम्य	–	–	–	दाएं पैर का अंगुष्ठाग्र	–	–	–
१७. वज्र	–	–	–	–	–	–	–
१८. चित्रिणी	–	–	चित्रा–वीर्य प्रवाहिका	–	–	–	–
१९. अन्य	जिह्व नामकी है, ऊपर की ओर व्यापक है	–	राका–प्यास व कफ कारक	–	–	–	–

योगशिखोपनिषद् में विलम्बा नामक नाड़ी से आवृत्त नाभि को ही **नाभि-चक्र** कहा है जोकि अण्डाकार है और यहीं से नाड़ियां ऊपर और नीचे की ओर जाती हैं।

प्रमुख नाड़ियों का नाम व उनका स्थान विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार पूर्व तालिका में दिखाया गया है—

ये नाड़ियां सूक्ष्म व स्थूल शक्ति स्वरूप प्राण (अथवा स्वर) का वाहक हैं। अतः नाड़ियों का प्रभाव व नियंत्रण शारीरिक एवं मानसिक रूप से किया जा सकता है। फलतः आसन और प्राणायाम एवं प्रत्याहार, धारणा और ध्यान द्वारा नाड़ियों के संचालन में संयम लाया जा सकता है जिससे शारीरिक दृष्टि से रोगरहित स्वस्थ शरीर एवं आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्ति की प्राप्ति की जा सकती है।

इसलिए प्रमुख नाड़ियों पर संक्षिप्त विचार करें।

सुषुम्ना

इसे ब्रह्म नाड़ी और वैष्णवी नाड़ी भी कहा गया है। इसके आरम्भ स्थान में मतभेद हैं — *शाण्डिल्योपनिषद्* में मूलाधार, *छान्दोग्योनिषद्* में हृदय और *षट्चक्रनिरूपणादि* में कन्दस्थान। लेकिन अधिकतम वैदिक साहित्य एवं अन्य योग सम्बन्धित ग्रन्थों में मूलाधार से आरम्भ होना माना गया है। सभी ने इसके अन्त को ब्रह्मरन्ध्र माना है। सर्वत्र व्यापक प्राण एवं कुण्डलिनी शक्ति का प्रवेश ब्रह्मरन्ध्र से होकर सुषुम्ना नाड़ी से नीचे की ओर प्रवाहित होकर अपने स्थान में स्थित होते हैं, इसके पश्चात् संपूर्ण शरीर में व्याप्त होते हैं। उसी के फलस्वरूप यह शरीर व इन्द्रियां कार्य करते हैं एवं वीर्यशक्ति का निर्माण होता है। पुनः उस वीर्यशक्ति को ओजःशक्ति के रूप में योगाभ्यास द्वारा परिणत करके ओजःशक्ति द्वारा सुषुम्ना नाड़ी से कुण्डलिनी शक्ति का ऊर्ध्वगमन द्वारा पुनः चैतन्य शक्ति में मिलना ही मुक्ति है। इसलिए साधक के लिए इस नाड़ी को अपने अन्दर पहचान लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस नाड़ी का शरीर की समस्त प्रणालियों पर प्रभाव है।

इड़ा और पिंगला

ये दोनों नाड़ियां मूलाधार से निकलकर सुषुम्ना के दोनों तरफ चक्राकार (वक्राकार) में घूमते हुए प्रत्येक चक्र के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए आज्ञा-चक्र तक जाकर सुषुम्ना में लीन होती हैं। यह दोनों अनुकम्पी व परानुकम्पी स्नायु संस्थान की आधार हैं। इड़ा बाईं ओर से और पिंगला दाईं ओर से निकलती हैं। यद्यपि प्रसिद्धि के अनुसार वक्रगति कहा है किन्तु शास्त्रीय सिद्धांत के अनुसार यह सुषुम्ना की दोनों बगल में नलिकाओं के समान सीधे हैं जिसमें प्राणशक्ति का ऊर्ध्व-गमन वक्राकार अनुभव होता है।

इन तीन प्रमुख नाड़ियों की गुणतालिका साधकों की सुविधा के लिए दी जा रही है जिसकी मदद से वे अपने अन्दर इन्हें पहचान सकें।

नाड़ी गुण तालिका

	गुण	इड़ा	पिंगला	सुषुम्ना
१.	श्वसन	बाईं नासिका	दाईं नासिका	उभय समान
२.	ताप	ठण्डा	गरम	न गरम न ठंडा
३.	लिंग	स्त्री	पुं.	न उभय न अनुभय
४.	प्रभाव	मानसिक	शारीरिक	आध्यात्मिक
५.	रंग	नीला	लाल	चमकीली सफेद
६.	धातु	चाँदी	सोना	हीरा (वज्र)
७.	शक्ति	ऋणात्मक	धनात्मक	उभयसम
८.	नस	परानुकम्पी	अनुकम्पी	उभयस्रोतः
९.	नदी	गंगा	यमुना	सरस्वती
१०.	ग्रह	चन्द्र	सूर्य	उभयप्रकाशक
११.	अवधि	८ घंटा	८ घंटा	८ घंटा

स्वरयोग नामक ग्रन्थ में इनका विस्तृत विचार किया गया है। समस्त योग साधनाएं इड़ा और पिंगला के संतुलन द्वारा सुषुम्ना को जाग्रत् करने के लिए हैं। स्वभाव से मनुष्य में १२ घण्टे इड़ा और १२ घण्टे पिंगला नाड़ी प्रधान श्वसन-क्रिया होती है। कभी-कभी अल्पतम क्षण सुषुम्ना चलती है। इसमें परिवर्तन लाना ही साधना है। जब इड़ा नाड़ी चलती है तो ज्ञान शक्ति अर्थात् विचारशक्ति क्रियाशील होती है। फलतः चिंतन, एकाग्रता अथवा चंचलता रहेगी। जब पिंगला नाड़ी चलती है तो प्राणशक्ति अर्थात् क्रियाशक्ति क्रियाशील होती है। फलतः पाचनादि शारीरिक कार्य होते हैं। जब सुषुम्ना नाड़ी चलेगी तब वास्तव में अन्तर्मुखतापूर्वक उच्च आध्यात्मिक साधना होती है।

गान्धारी

इस नाड़ी के बारे में बहुमत है कि बाईं आँख के अन्त में होती है किन्तु *सिद्धसिद्धान्तपद्धति* में बाएं कान के अन्त में बताया गया है। इड़ा, पिंगला दोनों जिस प्रकार शारीरिक

व मानसिक क्रियाओं पर प्रभाव डालती हैं सामान्यरूप से ठीक उसी प्रकार गान्धारी नाड़ी का विशेष प्रभाव विसर्जन प्रणाली पर होता है। अतः इसके सम्यक् संचार से विसर्जन क्रिया ठीक रहती है।

हस्तिजिह्वा

इसके अन्त के संबंध में तीन मत हैं। बाएं पैर का अंगूठा, दाईं आँख और दायां कान। शरीर के बाएं हिस्से में इसका प्रवाह है। गान्धारी पूषा के साथ एवं हस्तिजिह्वा यशस्विनी के साथ मिलकर कार्य करती हैं। इन चारों नाड़ियों का सम्बन्ध विसर्जन प्रणाली से है। अतः इनके संयमित संचार से पूरी विसर्जन क्रिया ठीक रहती है।

यशस्विनी

हस्तिजिह्वा के समान यह नाड़ी कार्य करती है किन्तु यह शरीर के दाहिने भाग से प्रवाहित होती है।

अलम्बुसा

यह नाड़ी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी से सकल इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए हुए विषयों को मस्तिष्क में सुषुम्ना के माध्यम से पहुंचाया जाता है। इसका विशेष प्रभाव शरीर के चयापचय एवं मन पर पड़ता है। अतः योग साधना में यह महत्त्वपूर्ण है।

कुहू

इस नाड़ी का विशेष प्रभाव जिगर (liver) पर पड़ता है। इसके संयमित संचार से पेट एवं रक्त के कार्य ठीक रहते हैं।

शङ्खिनी

इसका केन्द्र यद्यपि गले में है तथापि यह गुदा, गुप्तेन्द्रिय, मूलाधार-चक्र और कान तक प्रवाहित होती है। इसका प्रभाव गुर्दों पर पड़ता है। यह रक्तशोधन एवं मूत्रविसर्जन कार्य को नियंत्रित करती है।

सरस्वती

इस नाड़ी का अन्त मुँह में होता है। इसलिए इसका सीधा प्रभाव प्लीहा (नरवट/तापतिल्ली) पर पड़ता है। इससे पेट के ताप पर नियंत्रण रहता है।

वारुणी

यह नाड़ी स्थूलमल के निष्कासन की प्रक्रिया पर नियंत्रण रखती है। कुछ के मत में यह रक्तप्रणाली द्वारा संपूर्ण शरीर के समस्त क्रिया-कलाप को नियंत्रित करती है।

पयस्विनी

इसका साक्षात् सम्बन्ध पित्ताशय (पित्त की थैली) के साथ है। यह शरीर में पित्त नियंत्रण द्वारा पाचन क्रिया पर प्रभाव डालती है।

शूरा

कुछ के मत में इसका केन्द्र बिन्दु भ्रूमध्य होने के कारण ज्ञान व क्रिया शक्तियों के साथ इसका सम्बन्ध है किन्तु ऐसे अनुभव में आता है कि इसका सम्बन्ध व प्रभाव अग्नाशय (पाचक) ग्रंथि से है। इसके सक्रिय रहने से मधुमेह आदि नहीं होते।

विश्वोदरी

नाम से ही स्पष्ट है कि यह आमाशय (पक्वाशय/जठर) पर प्रभाव डालती है। चयापचय को नियंत्रित करती है।

अन्य

वज्र और चित्रिणी पुरुष के वीर्य व स्त्री के रज पर प्रभाव डालती हैं। राका नाड़ी प्यास व कफ का कारण है। जिह्वा नाड़ी तो नाम के अनुसार रसनेन्द्रिय पर प्रभाव डालती है और रसास्वाद का कारण है।

इन समस्त नाड़ियों के स्थूल शरीर पर प्रभाव की चर्चा की गई है। लेकिन इनके आध्यात्मिक प्रभाव पर भी ध्यान देना चाहिए। इन्हीं नाड़ियों से ज्ञानशक्ति एवं प्राण (क्रिया) शक्ति भी संचालित होती हैं। वास्तव में ये सब सूक्ष्म हैं और स्थूल-सूक्ष्म शरीर में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करती हैं। साधक इन्हें नाड़िशोधनप्राणायाम आदि द्वारा सक्रिय करके अपने दोनों शरीरों की शोधन पूर्वक आध्यात्मिक उन्नति शीघ्र प्राप्त कर सकता है।

अध्याय १४

चक्र विज्ञान

कुण्डलिनी शक्ति का सिद्धान्त "चक्र विज्ञान" पर आधारित है। यद्यपि चक्र शब्द का अर्थ है गोलाकार अथवा गाड़ी का पहिया तथापि योग शास्त्र में चक्र प्राण संचरण केन्द्र को कहते हैं। प्रत्येक शरीर में इनकी संख्या असंख्य है फिर भी आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से सात चक्र माने गए हैं।

चक्रों पर विस्तृत विचार करने से पूर्व अपने शरीर में संचारित वायु के सूक्ष्म स्वरूप प्राण के भेदों पर विचार कर लेना उचित होगा क्योंकि चक्रों के जागरण व भेदनपूर्वक कुण्डलिनी का जागरण एवं उत्थान प्राण पर निर्भर है।

स्थान सम्बन्धी विचार

सं.	नाम	जाबालदर्शनोपनिषद्	योगचूड़ामणि उपनिषद्	षट्चक्रनिरूपणं पादुकापञ्चकं
१.	प्राण	नाक, मुँह, नाभि एवं हृदय में संचार	हृदय	हृदय
२.	अपान	बड़ी आँत, जननेन्द्रिय, पेट, जांघ व नितम्ब	मूलाधार	जननेन्द्रिय व गुदा
३.	व्यान	कान एवं आँख से एड़ी तक	संपूर्ण शरीर	संपूर्ण शरीर
४.	समान	संपूर्ण शरीर	नाभि	नाभि
५	उदान	हाथ व पांव	छाती	गला
६.	नाग	चर्म व हड्डी	—	—
७.	कूर्म	— • —	—	—

८.	कृकरा	— " —	—	—
६.	देवदत्त	— " —	—	—
१०.	धनञ्जय	— " —	—	—

कार्य संबन्धी विचार

सं.	नाम	जाबालदर्शनोपनिषद्	योगचूड़ामणि उपनिषद्	षट्चक्रनिरूपणं पादुकापञ्चकं
१.	प्राण	श्वसन-प्रश्वसन व खाँसी	—	निःश्वास
२.	अपान	मूत्रमलादि का विसर्जन	—	विसर्जन कार्य
३.	व्यान	तत्त्व-अन्नादि का पृथक्करण	—	विभाजनपूर्वक फैलाव, बिखरने से रोकना।
४.	समान	अंगों को जोड़कर रखना	पाचन क्रिया	—
५.	उदान	ऊर्ध्वगति	—	अधो गति
६.	नाग	हिचकी	थूकना	—
७.	कूर्म	पलक गिरना	पलक गिरना	—
८.	कृकरा	भूख	छींकना	—
६.	देवदत्त	नींद	जम्भाई	—
१०.	धनञ्जय	चमकना (चौंधाना)	मृत्योपरान्त शरीर को फुलाकर सड़ाना	—

इन दो तालिकाओं से प्राणों के स्थान व कार्य स्पष्ट हैं। इन प्राणों को आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान की उक्त विधियों के अभ्यास द्वारा संयमित व नियंत्रित करने के पश्चात् स्वेच्छापूर्वक संचालन करने की क्षमता प्राप्त होने पर चक्रों पर ध्यान करते हुए कुण्डलिनी जागरण किया जाता है। अतः अब चक्रों पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है। चक्रों का सीधा सम्बन्ध गुप्त मस्तिष्क केन्द्रों से है जो आम आदमी में निष्क्रिय होते हैं। इस तालिका द्वारा सामान्य जानकारी दी गई है —

सं	विषय	मूलाधार	स्वाधिष्ठान	मणिपूर	अनाहत	विशुद्धि	आज्ञा	सहस्रार
१.	स्थान	गुदा व योनि मध्य	पेड़ू	नाभि के पीछे	हृदय के पीछे	कण्ठ के पीछे	भ्रूमध्य के पीछे	मस्तिष्क
२.	पद्मदल	४	६	१०	१२	१६	२	१०००
३.	दलवर्ण	रक्त	सिंदूरी	नील	अरुण	धूम्र	श्वेत	अवर्ण
४.	दलअक्षर	वं शं षं सं	बं से लं	डं से फं	कं से ठं	अं से अः	हं क्षं	अं से क्षं
५.	तत्त्व	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश	महत्	तत्त्वातीत
६.	बीज	लं	वं	रं	यं	हं	ॐ	विसर्ग
७.	बीजवाहक	ऐरावत	मकर	मेष	मृग	हाथी	नाद	बिंदु
८.	देवता	ब्रह्मा	विष्णु	वृद्ध-रुद्र	ईशानरुद्र	पंचवक्त्र	लिंग	परब्रह्म
९.	देवी	डाकिनी सावित्री	राकिनी सरस्वती	लाकिनी लक्ष्मी	काकिनी काली	साकिनी —	हाकिनी —	शक्ति —
१०.	लोक	भूः	भुवः	स्वः	महः	जनः	तपः	सत्यं
११.	गुण	गन्ध	रस	रूप	स्पर्श	शब्द	सभी	गुणातीत
१२.	यन्त्र	चौकोर	अर्धचन्द्राकार	त्रिकोण	षट्कोण	गोल	अण्ड/ लिंग	पूर्णचन्द्र/ निराकार
१३.	यन्त्र का रंग	पीला	चाँदी सफेद	लाल	धूम्र	सफेद	भूरा	वर्णातीत
१४.	ज्ञानेन्द्रिय	घ्राण	रसना	नेत्र	त्वचा	कर्ण	सभी	इन्द्रियातीत
१५.	कर्मेन्द्रिय	गुदा	शिश्न	चरण	हस्त	वाक्	सभी	इन्द्रियातीत
१६.	स्वभाव	आधार	सुख—शांति	ऐश्वर्य	नाद	अमृत	सर्ववश	मुक्ति
१७.	धातु	हड्डी	चर्बी	मांस	खून	चर्म	मज्जा	वीर्य
१८.	प्राण	अपान	व्यान	समान	प्राण	उदान	सभी	प्राणातीत
२०.	कोश	अन्नमय	प्राणमय	प्राणमय	मनोमय	विज्ञान—मय	विज्ञान मय	आनन्द—मय
२१.	योनि	त्रिपुर	—	—	त्रिकोण	—	त्रिकोण	—
२२.	लिंग	धूम्र	—	—	बान	—	इतरक्य	—
२३.	ग्रन्थि	ब्रह्म	—	—	विष्णु	—	रुद्र	ज्योतिर्मय

२४.	क्षेत्र	गुदा	पेडू	नाभि	हृदय	कण्ठकूप	भ्रूमध्य	मस्तिष्क
२५.	अनुभव	उल्टा त्रिकोण व ३½ कुण्डली वाली सर्प	पूर्ण अंधकार व बेहोशी	तेजस्वी पीले रंग का कमल	नीलकमल व शांत तालाब अथवा दीपक सहित गुफा	ठंड व अमृत बिन्दु	उन्मनी व स्वर्णमय अण्डाकार ज्योति	पूर्ण प्रकाश व अनन्त पद्म दल
२६.	फल	विद्या, नीरोग, लघिमा—सिद्धि, कुण्डलिनी पर विजय	कवित्व शक्ति, योग, जल—भय निवृत्ति, सूक्ष्मज्ञान	गुप्तैश्वर्य प्राप्ति, नीरोगता, अग्नि भयाभाव, शरीर का पूर्ण ज्ञान	प्राणविद्या की सिद्धि, दिव्य प्रेम, वाक्‌सिद्धि, जितेन्द्रियः	अमरत्व, वेद ज्ञान, त्रिका—लज्ञः, निराहारी, परमज्ञाता	परकाय प्रवेश, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, सर्वसिद्धि, वेदान्त ज्ञान	समाधि, पूर्ण कुण्ड—लिनी जागरण व मोक्ष प्राप्ति
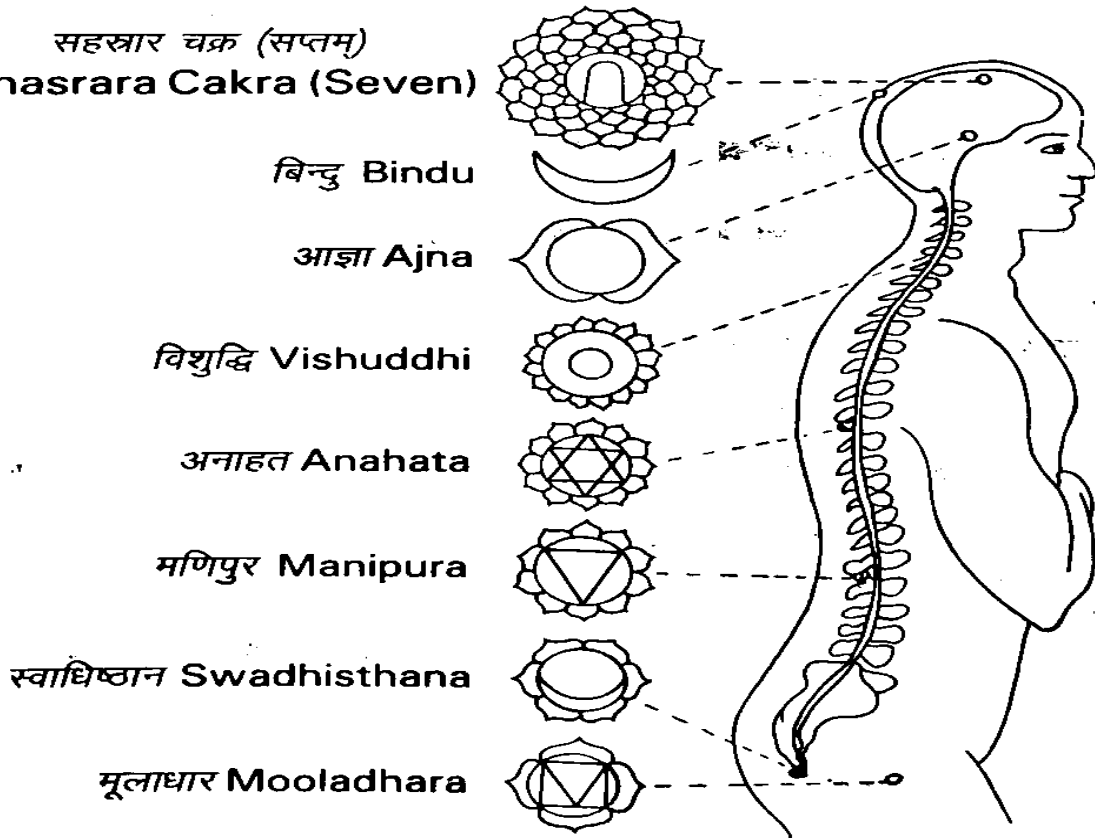
Location of the Chakras
(चक्रों की स्थिति)

मूलाधार-चक्र

नाम के अनुसार यह हमारे अस्तित्व का कारण है क्योंकि इसमें कुण्डलिनी शक्ति है। समस्त चक्रों का आधार होने से इसे मूलाधार कहते हैं। सांख्य एवं योग दर्शन में इसे मूल प्रकृति एवं वेदान्त में माया अथवा मूला विद्या कहते हैं। अतः नाम-रूपात्मक इस जगत् के कारण का स्थान ही मूलाधार-चक्र है।

देव — बाल ब्रह्मा

देवी — डाकिनी

मूलाधार चक्र (प्रथम)
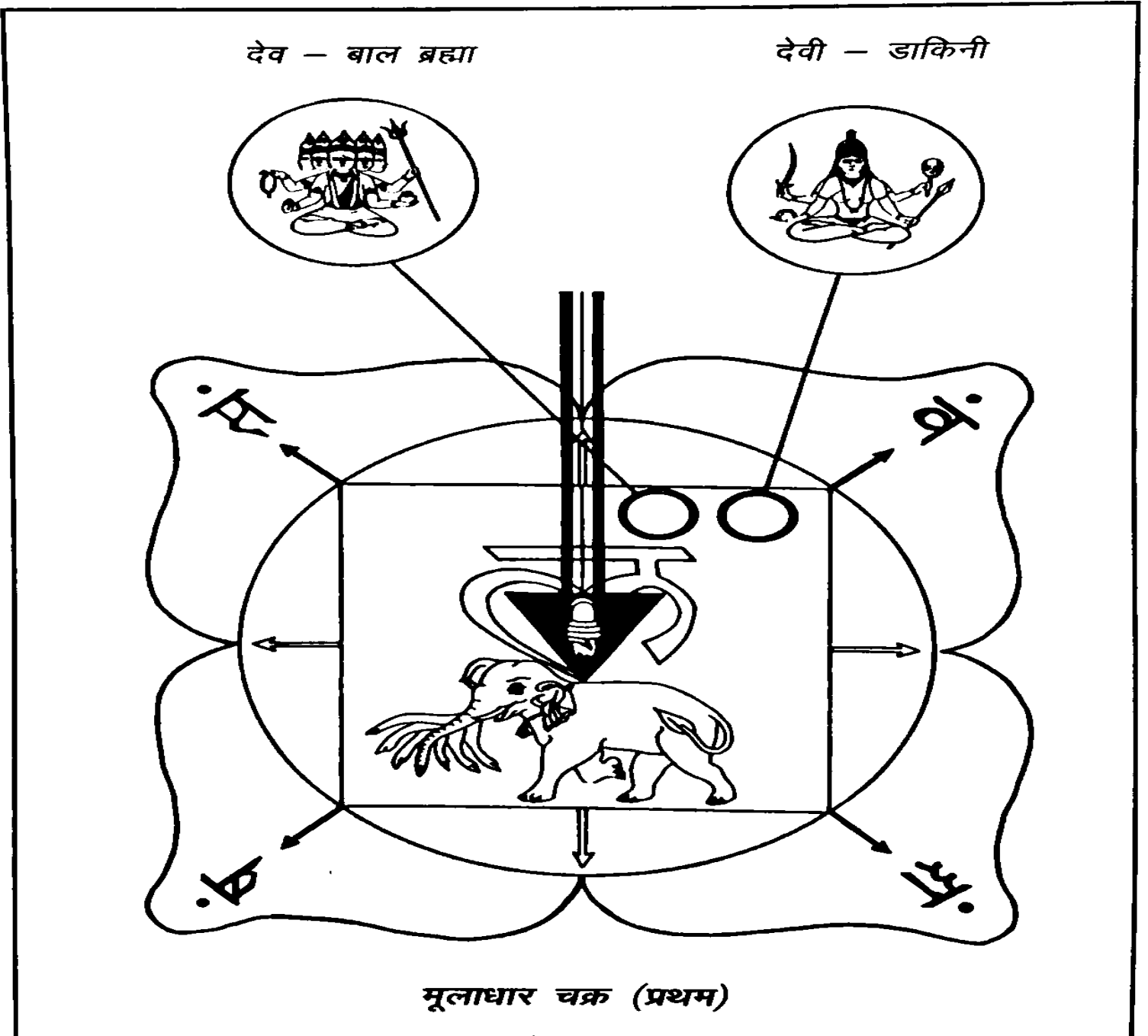
तंत्र शास्त्रों में कुण्डलिनी शक्ति जिसे जीव भाव का मूल कारण कहा है, उसका आधार होने से इसे मूलाधार कहते हैं। इसे ३-१/२ कुण्डली आकार के सुप्त सर्प के समान माना गया है। उसकी पूँछ मुँह में है और उसके जीवित रहकर प्रश्वसन क्रिया करते रहने से मनुष्य इतना कार्य कर रहा है तो, सोचें, यदि वह पूर्णरूपेण जाग्रत् हो जाए तो अवश्य मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है। अतः कुण्डलिनी योग में यह चक्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

चार पंखुड़ियों वाले रक्तवर्ण के कमल के बीच में एक चौकोर पीले रंग का पृथ्वी यंत्र है जिसकी ८ दिशाओं में ८ स्वर्णमयी भालाएं अथवा त्रिशूल हैं। नीचे की भाला पृथ्वी एवं शेष सप्त महापर्वतों का प्रतीक हैं। यह यंत्र ७ सूँड वाले हाथी पर है। हाथी स्थिरता एवं महाशक्ति का प्रतीक है और ७ सूँड सप्तधातुओं का स्वरूप है। इस यंत्र के बीच में एक लाल रंग का उल्टा त्रिकोण है जिसके बीच में धूम्र रंग का शिवलिंग है। उस लिंग को लपेटकर ३-१/२ कुण्डली वाला सर्प है। यह जीव स्वरूप का प्रतीक है। त्रिकोण इसकी अनन्त शक्ति का द्योतक है। क्योंकि प्रकृति — सत्त्व, रज एवं तम — त्रिगुणात्मक है। सर्प को महाकाल एवं ३-१/२ कुण्डली का तात्पर्य त्रिगुणातीत कहा है। त्रिकोण के ऊपर बीजमंत्र लं एवं उसके ऊपर देवता बालब्रह्मा (अथवा गणेश) और डाकिनी देवी हैं।

समस्त ब्रह्माण्ड एवं मानवीय शक्तियों का यह केन्द्र है। यहीं वह एक शक्ति अनेक रूपों में प्रकट होती है। ध्यान रखें कुण्डलिनी शक्ति का जागरण एवं प्राणोत्थान दो भिन्न अनुभव हैं। अधिकतर साधक प्राणों के उत्थान को ही कुण्डलिनी जागरण मान लेते हैं। यह भ्रांति है।

मूलाधार-चक्र के जागरण के लिए चक्रध्यान, मूलबंध, नासिकाग्रदृष्टि एवं अन्तःकुम्भक लगाकर कुण्डलिनी का उत्थान करके शक्ति का प्राण में सम्मिश्रित होने का अनुभव करना पड़ता है।

स्वाधिष्ठान-चक्र

नाम के अनुसार स्व = अपना, अधिष्ठान = निवास स्थान। यह तूला—अविद्या का स्थान है।

छः पंखुड़ियों वाले केसरी रंग के कमल के भीतर चौथ के चन्द्र के आकारवाला सफेद रंग का जल यंत्र है। इस यन्त्र की बाहरी रेखा पर ८ पंखुड़ी बाहर की ओर मुख किए हुए हैं और यंत्र की भीतरी रेखा पर ८ पंखुड़ी भीतर की ओर मुख किए हुए हैं। ये चेतन व अचेतन प्रवृत्तियों का प्रतीक हैं। चन्द्राकार यन्त्र के भीतर एक मगरमच्छ है, जो कि कर्म की सूक्ष्म गति एवं अचेतन जीवन का वाहक है। भीतरी

देव — विष्णु

देवी — शक्ति राकिनी

लं बं

रं वं भं

यं मं
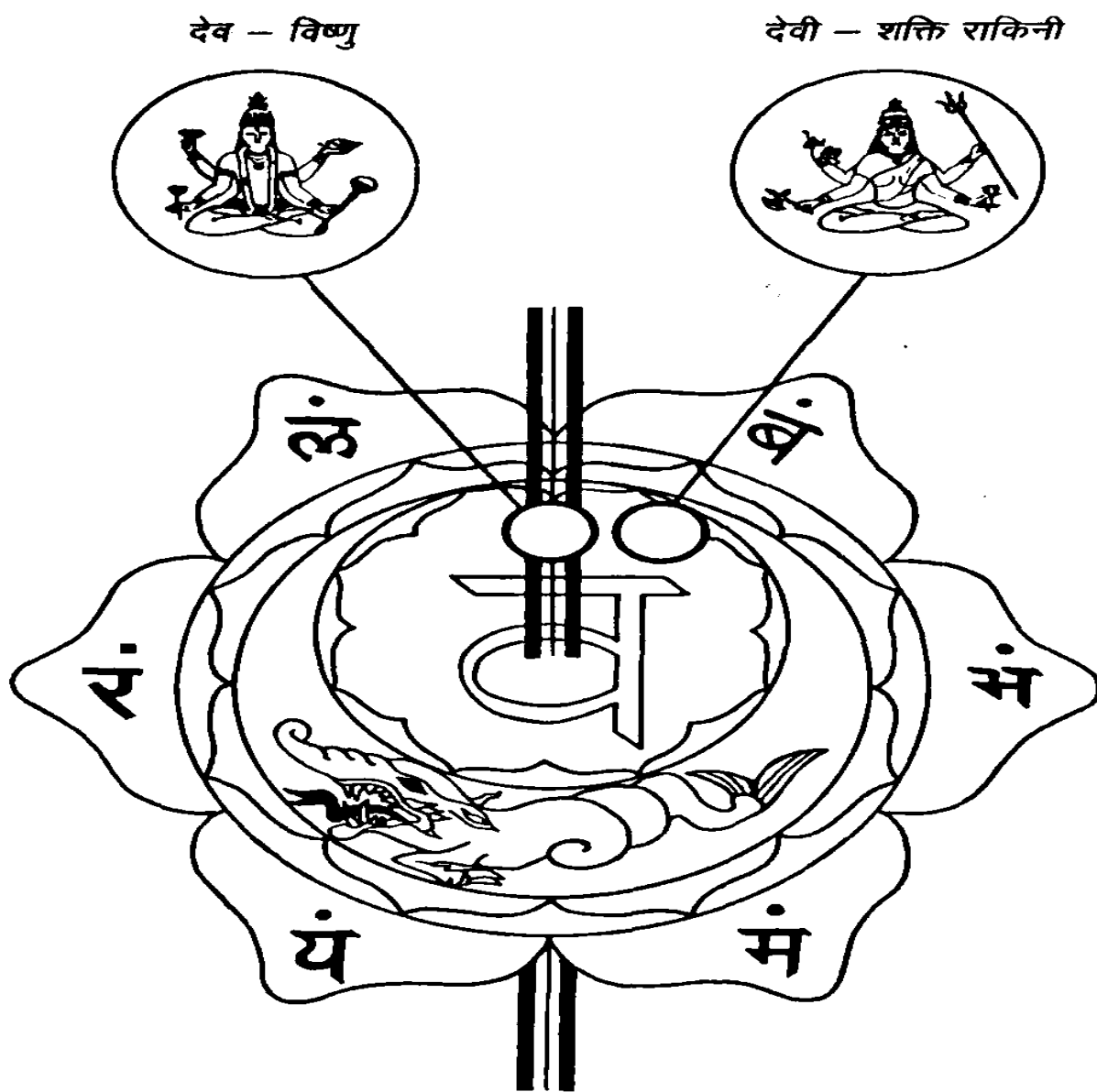
स्वाधिष्ठान-चक्र (द्वितीय)

कमल के बीच में बीजमन्त्र "वं" है। उसके ऊपर देवता विष्णु एवं राकिनी देवी हैं।

इसके जाग्रत् होने पर तूला—अविद्या का नाश होने से लोभ—क्रोधादि शत्रु नष्ट होते हैं और सूर्य के समान साधक तेजस्वी तथा कवित्व शक्ति वाला होता है। यह चक्र संचित एवं क्रियमाण कर्मो का भण्डार है। अतः जीव का जन्म-मरण इस चक्र का कारण है। इसे वेदान्तानुसार हिरण्यगर्भ कह सकते हैं। यहां कर्म की सुप्त अवस्था है, जबकि मूलाधार में कर्म की जाग्रत्-सक्रिय अवस्था है। कुण्डलिनी योग में इस

चक्र को कुण्डलिनी जागरण में सबसे बड़ा बाधक माना गया है, क्योंकि मूलाधार से उठकर कुण्डलिनी जैसे ही स्वाधिष्ठान में पहुँचती है, अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी कर्म संस्कार जगते हैं और कुण्डलिनी को मणिपूर की ओर जाने से रोकते हैं। अतः स्वाधिष्ठान पर विजय पाने के लिए —

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यं
और
तत् पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।।
पातञ्जलि सू॰ १/१५–१६

महर्षि पतञ्जलि द्वारा उक्त वैराग्य होना आवश्यक है।

इसके जाग्रत् होने पर साधक में जल का भय दूर होता है, अन्तर्ज्ञान का उदय होता है, तारा सम्बन्धी ज्ञान और रसज्ञान में सिद्ध होता है। स्वाधिष्ठान- चक्र को जगाने के लिए — चक्रध्यान, अश्विनी मुद्रा, वज्रोलि गुदा (स्त्रियां सहजोली/ओझीमुद्रा) का अभ्यास करें। शलभासन और धनुरासन का अभ्यास भी उपयोगी है।

३. मणिपुर-चक्र

शब्दार्थ है — मणियों की नगरी। योग में मणि का तात्पर्य है दिव्यशक्ति। इस चक्र को जाग्रत् करने पर साधक में आत्मबल, आत्मविश्वास, कार्य-सिद्धि, पूर्ण शक्ति युक्तता एवं पूर्ण सजगता के साथ सद्यस्फूर्ति आदि दैवी गुणों का उदय होने से इसे मणिपुर नाम दिया गया है।

दस पंखुड़ियों वाले पीले रंग के कमल के बीच में एक उल्टा त्रिकोण लाल रंग का अग्नि यंत्र है। तीनों भुजाओं पर स्वस्तिकचिह्न है जो कि "T" आकार का है। उस त्रिकोण के निचला भाग में एक "भेड़ा" है, जिसके ऊपर बीज "रं" है। उसके ऊपर देवता रुद्र और लाकिनी देवी हैं।

इस चक्र के कारण व्यक्ति रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि शरीर की विकृतियों का अनुभव करता है। इसका कारण है बिन्दु चक्र से निकला अमृत, इस चक्र में आकर भस्म होता है, परिणामतः शरीर विकृत होता है। अतः अधिकतर तांत्रिक ग्रन्थों में कहा गया है कि कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार है, विहार स्थली स्वाधिष्ठान एवं आध्यात्मिक जागृति का केन्द्र मणिपुर है। यहां तक कुण्डलिनी जागरण होने पर भी वह वापस लौटती है किन्तु यहां से आगे चलने पर पूर्णत्वानुभूति के बाद ही लौटती है। यह प्राण–अपान का मिलन स्थान है। यद्यपि सामान्यतः श्वास लेने पर प्राण नाभि से कण्ठ की ओर उठता है और अपान मूलाधार से नाभि की ओर उठता है एवं श्वास

देव - रुद

देवी - लाकिनी

फं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं

रं

मणिपुर-चक्र (तृतीय)
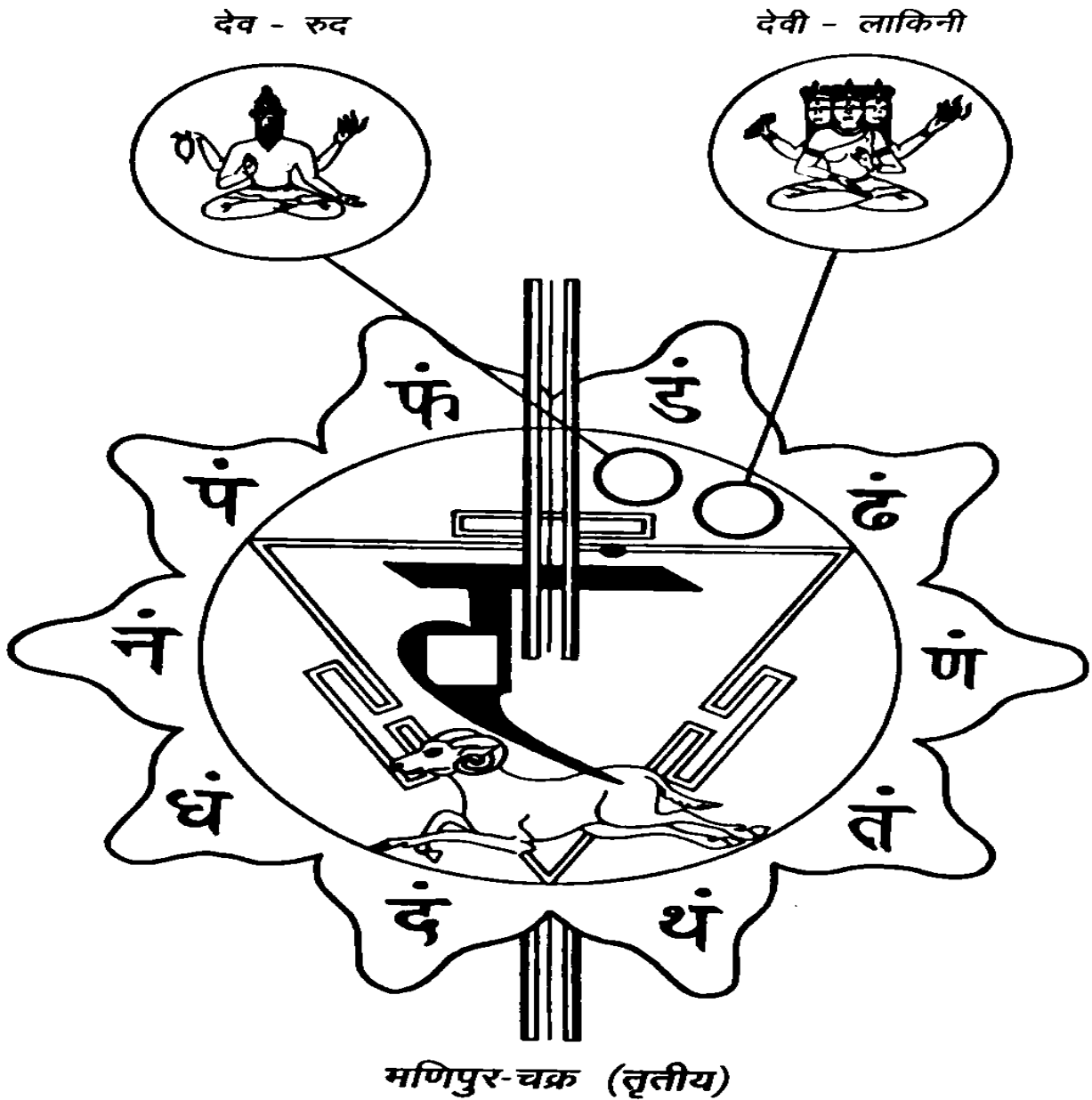
छोड़ने पर विपरीत होता है। इस सामान्य गति को बदलना ही मणिपुर-चक्र का जागरण है।

इस चक्र को जगाने पर साधक में उत्पत्ति और विनाश करने की शक्ति, स्वरक्षा, गुप्त-ऐश्वर्य ज्ञान, अग्नि भय का अभाव, अपने शरीर का पूर्ण ज्ञान, नीरोगता एवं स्वेच्छापूर्वक शक्तिचालन करने की क्षमता का उदय होता है।

इसकी जागृति के लिए चक्रध्यान, अग्निसार क्रिया, उड्डियान बन्ध, नौलि क्रिया, प्राणापानयोग, त्राटक, विपरीतकरणी मुद्रा अत्यन्त उपयोगी हैं।

अनाहत-चक्र

शब्दार्थ है — "व्यवधान-रहित" अथवा गतिरोध रहित, तात्पर्य यह है कि कुण्डलिनी की निरंतर आगे बढ़ने की गति बनी रहेगी फिर भी बहुत अधिक समय यहीं फंसी रहती है क्योंकि यहां अप्राकृतिक नाद का जो अनुभव होता है उसके आनन्द में साधक खो जाता है। व्यक्ति भावुक हो जाता है क्योंकि यह हृदय (भावनाओं का केन्द्र) से सम्बन्धित है।

बारह पंखुड़ियों वाले लोहित रंग (गहरे लाल रंग) अथवा गहरे नीले रंग के कमल के बीच में एक षट्कोणवाला वायुतत्त्व का यन्त्र है। इसके निम्न भाग में एक काला मृग है जिस पर "यं" बीजमन्त्र है। बीजमंत्र पर देवता ईश और देवी काकिनी हैं।

देव — ईश

देवी — काकिनी

कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं

यं
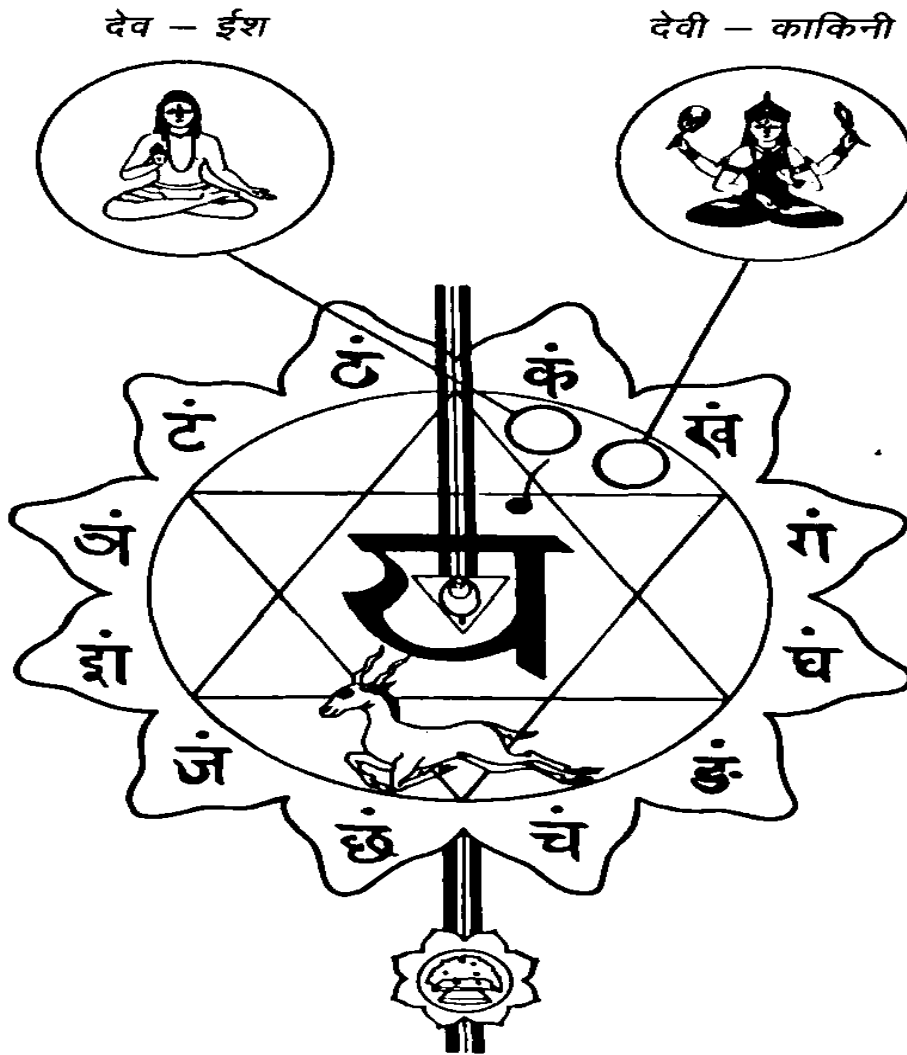
अनाहत चक्र (चतुर्थ)

इस चक्र के बीच में एक उल्टा त्रिकोण है जिसमें अखण्ड ज्योति प्रज्वलित है। इसमें "बान" लिंग देदीप्यमान है। यही जीवात्मा का प्रतीक है।

इस चक्र के नीचे इससे सम्बद्ध एक लाल रंग की पंखुड़ियों वाला कमल है, जिसमें इच्छापूरक कल्पवृक्ष है।

अनाहत-चक्र जाग्रत् होने पर साधक में नीतिज्ञान, विवेक, पाण्डित्य, श्रेष्ठ कार्य करने की क्षमता, तेजस्विता, जितेन्द्रिय, मनोजयी, वाक्सिद्धि और परकाय प्रवेश की सामर्थ्य आदि शक्तियों का उदय होता है।

इसको जाग्रत् करने के लिए चक्रध्यान, अजपाजप, भ्रामरी प्राणायाम, नवधा भक्ति, प्रार्थना, जपयोग, हृदय सम्बन्धी भावनात्मक ध्यान की क्रियाएं उपयोगी हैं।

विशुद्धि-चक्र

नाम के अनुसार यह शुद्ध करने वाला चक्र है। यह परस्पर विरोधी तत्त्वों का शोधन करके उन्हें संतुलित करता है। अतः इसे "विष-अमृत" चक्र भी कहते हैं। यह सूक्ष्म तत्त्वों एवं ज्ञान को परख के यथार्थ को ग्रहण कराता है।

सोलह पंखुड़ियों वाला नीललोहित (बैंगनी) रंग के कमल के बीच में एक पूर्णचन्द्राकार सफेद गोलाकार आकाशतल का यंत्र है। यंत्र के भीतर निम्न भाग में एक सफेद हाथी है जिसके सात सूँड हैं। उसके ऊपर बीजमंत्र "हं" है। बीजमंत्र के ऊपर देवता सदाशिव और देवी साकिनी हैं।

नादयोग के अभ्यास में यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण चक्र है। सप्त स्वरों में प्रथम एवं पञ्चम (सा, प) को स्थायी स्वर कहते हैं। उनका प्रथम = मूलाधार-चक्र एवं पञ्चम = विशुद्धि-चक्र के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। अतः स्वर साधना में योग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

इस चक्र के जाग्रत् होने पर अन्तः एवं बाह्य सब प्रकार के विषैले पदार्थ को पचाकर अथवा निष्कासित कर शारीरिक संतुलन, नीरोगता, दीर्घायु आदि प्राप्त होती है। दूसरे के मन एवं विचारों को ग्रहण कराता है। भूख-प्यास की निवृत्ति होती है। काया-कल्प हो जाता है। दीर्घ यौवन प्राप्त होता है। त्रिकालज्ञ होता है। समस्त वेद-शास्त्रों का ज्ञान उदय होता है। निर्भयता, निष्काम भाव आदि सद्गुणों का उदय होता है।

इसे जाग्रत् करने के लिए भुजंगासन, सर्वांगासन, गुप्तवज्रासन, शीर्षासन और मत्स्यासन उपयोगी हैं। जालन्धर-बन्ध, खेचरी-मुद्रा, उज्जयी प्राणायाम, चक्रध्यान,

देव — सदाशिव

देवी — साकिनी

विशुद्धि-चक्र (पंचमम्)
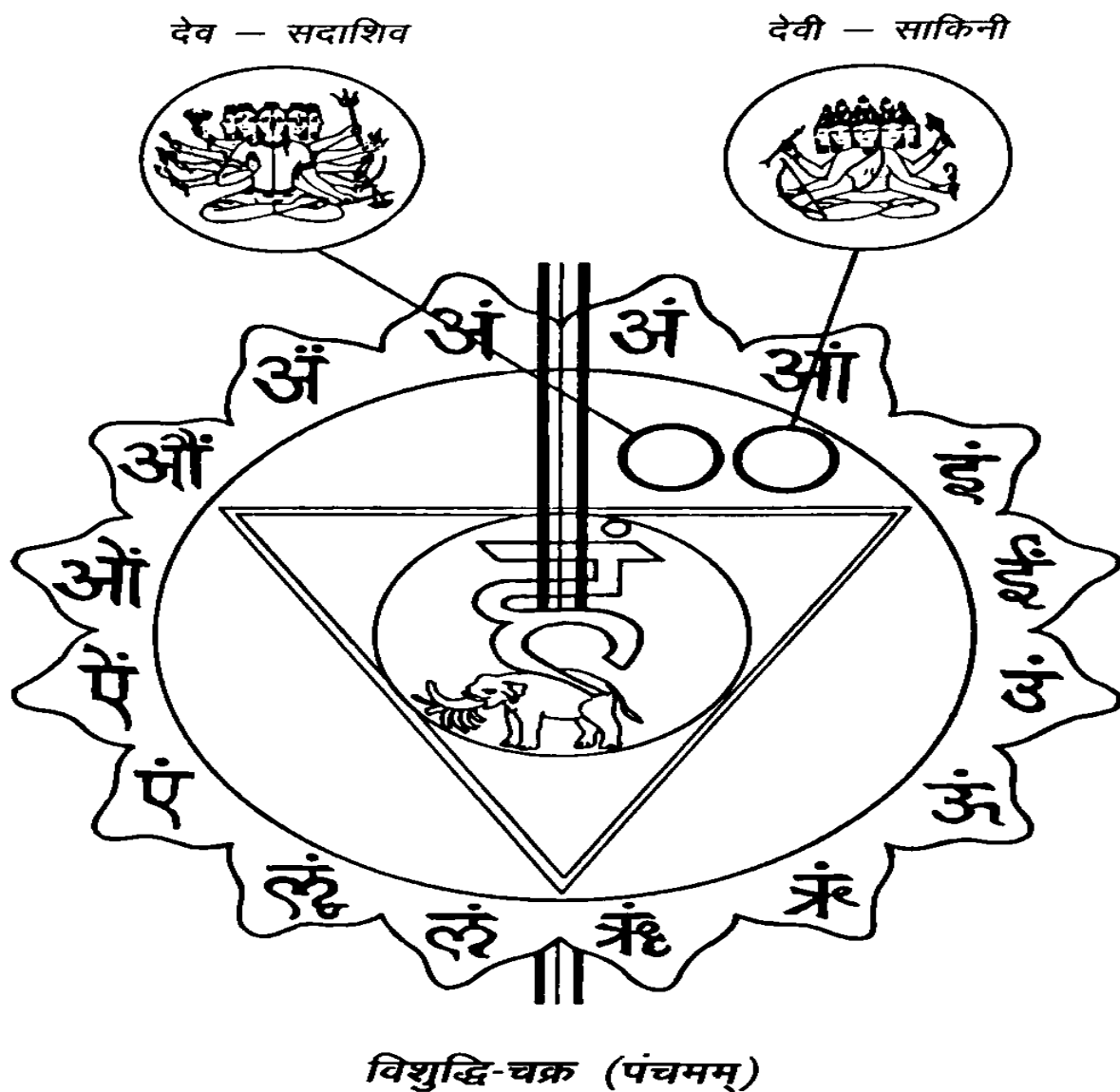
विपरीतकरणी मुद्रा, शवासन में कण्ठगत प्राणस्पर्श का ध्यान इत्यादि का अभ्यास लाभदायक है।

आज्ञा-चक्र

आज्ञा शब्द का अर्थ है पूर्णज्ञान, आदेश करना अर्थात् अधिकार और अनुकरण करना। इसे गुरुचक्र भी कहते हैं। इस स्थान पर तीनों नाड़ी (इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना) एक हो जाती हैं। यहां व्यष्टि अहंकार समष्टि अहंकार में लीन होता है। अन्य चक्रों में विभिन्न प्रकार के द्वन्द्व रहते हैं किन्तु यहां सभी द्वन्द्व विलीन हो जाते हैं। इस

चक्र के जागरण काल में प्रथमतः मृत्युतुल्य स्तब्ध अवस्था का अनुभव होता है किन्तु धैर्य से ध्यान को होते रहने दें तो आन्तरिक गुरु का उपदेश सुनाई देगा, जिससे आप आत्मानुभूति की ओर आगे बढ़ेंगे। अतः इस चक्र को दिव्यचक्षु, ज्ञानचक्षु, ज्ञाननेत्र और तीसरा नेत्र भी कहा गया है।

दो पंखुड़ियों वाले हल्के भूरे रंग के कमल के बीच में एक गोलाकार वृत्त है जो शुद्धता एवं शून्यता का प्रतीक है। उस वृत्त के बीच में एक उल्टा त्रिकोण है। उसके बीच में एक काले रंग का शिवलिंग है। इसको "इतरक्य" नाम से शास्त्रों में वर्णन किया गया है। जब आज्ञा-चक्र का भेदन होता है तब यहीं काला शिवलिंग एक ज्योतिर्मयलिंग के रूप में अनुभव होता है। उस लिंग पर बीज मन्त्र ॐ है। उस पर देवता परमशिव और देवी हाकिनी हैं। इसकी इन्द्रिय है मन। त्रिकोणान्तर्गत शिवलिंग अर्धनारीश्वर का प्रतीक है अर्थात् प्रकृति-पुरुष का अनादि संयोग, जो संसार का कारण है। अतः इसके भेदन से मुक्ति होगी।

आज्ञा चक्र (षष्ठ)
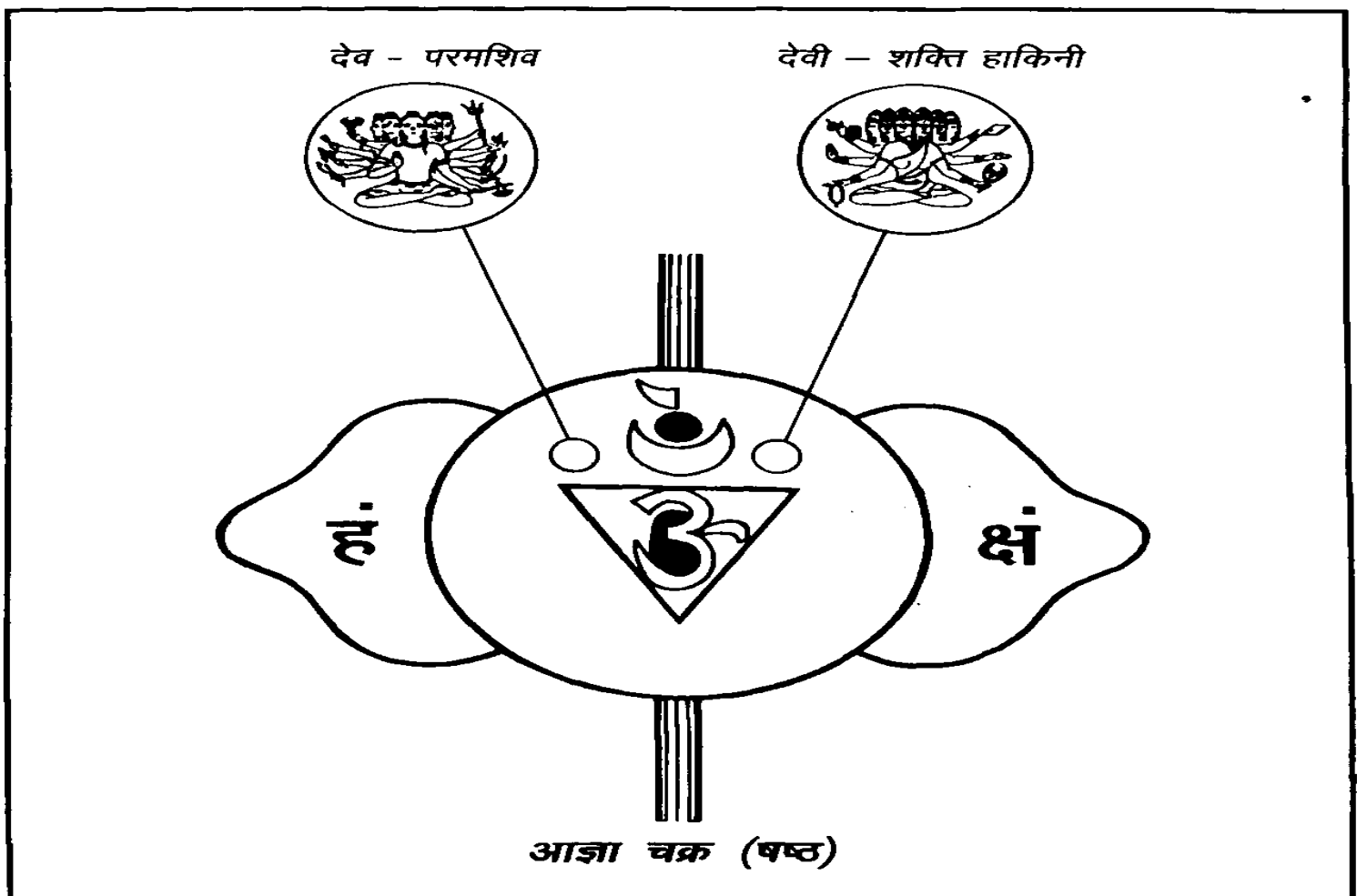
इसके जाग्रत् होने से मन एकाग्र होता है। बुद्धि कुशाग्र होती है। साधक सत्यसंकल्प होता है। दृश्य से अत्यंत पृथक् अपने द्रष्टृभाव (साक्षी भाव) का अनुभव करता है। कार्यकारण भाव, सत्यासत्य आदि अभ्यास का विवेक जाग्रत् होता है।

इसको जाग्रत् करने के लिए नासिकाग्र दृष्टि, त्राटक, अनुलोम-विलोम प्राणायाम, शाम्भवी मुद्रा आदि का अभ्यास उपयोगी है।

बिन्दुविसर्ग-चक्र

यह सृष्टि का मूल कारण है। कर्म यहां वासना और स्मृति के रूप में निहित हैं। शब्दार्थ है "बूँद का गिरना"। यहीं से अमृत बिन्दु टपकते हैं। इसी से सकल पदार्थ निष्पन्न होते हैं और इसी में लीन होते हैं।

कामकला विलास में लिखा है कि बिन्दु से ही शब्द और अर्थ एवं आकाशादि तत्त्व उत्पन्न होते हैं। अतः सांख्य एवं योग दर्शनों का महत्तत्त्व है और वेदान्त का ईश्वर तत्त्व है। बिन्दु-चक्र का विशुद्धि चक्र के साथ ललना-चक्र द्वारा विशुद्ध सम्बन्ध है। यह हिन्दुओं में द्विज जहां चोटी रखते हैं उस स्थान पर है।

बिन्दु को दूज के चन्द्रमा के आकार में माना गया है, जोकि कलाओं से सम्बन्ध को बताता है। नक्षत्र तारादि से युक्त आकाश में इसका अनुभव बताया गया है। अनन्तता रूपी सहस्रार से स्पष्ट सम्बन्ध भी इसका है। अतः ऊपर में एक चमकीला सफेद गोलाकार वृत्त भी इसमें मानते हैं। यही जीव-भाव की उत्पत्ति का कारण है क्योंकि बिन्दु शब्द का एक अर्थ है भेद या भाग, अर्थात् द्वैत। तात्पर्य है पूर्ण-अद्वैत में द्वैत
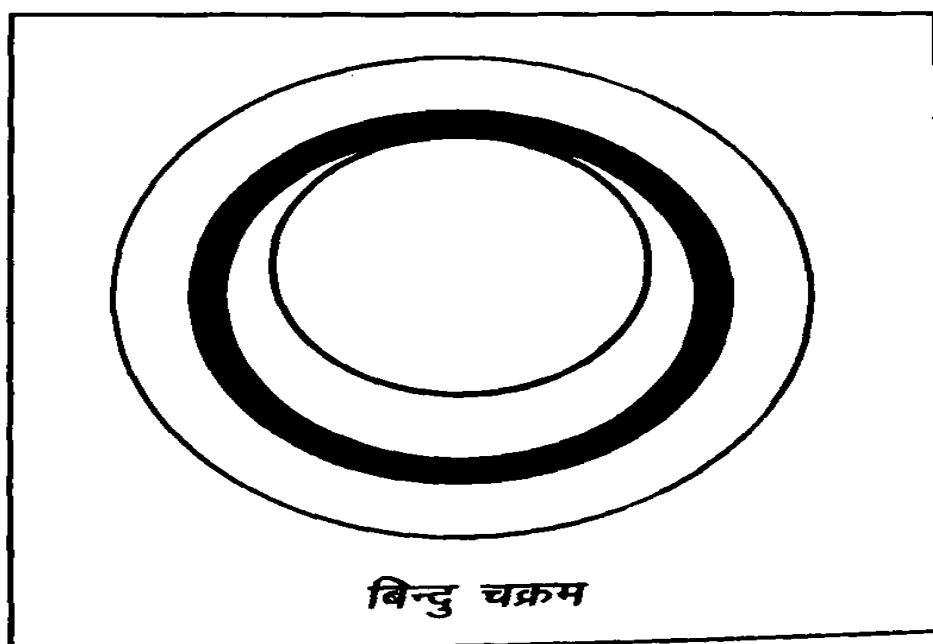
बिन्दु चक्रम

होना अर्थात् प्रतीत होना ही जीवन है। प्रवृत्ति और निवृत्ति — इन दोनों ही मार्गों से साधक यहां पहुंचकर ही अपने अहंभाव को त्यागकर सहस्रार की ओर आगे बढ़ सकता है।

इस चक्र को जाग्रत् करने के लिए मूर्छा-प्राणायाम और वज्रोलि-मुद्रा अथवा भ्रामरी प्राणायाम और योनि मुद्रा का अभ्यास करना होगा।

सहस्रार-चक्र

वास्तव में सहस्रार कोई चक्र नहीं है क्योंकि वह परात्पर अर्थात् निराकार होते हुए साकार जैसे प्रतीत होता है। शब्दार्थ है "एक हजार अरायें" अर्थात् अनन्त प्रवृत्ति का स्रोत = पूर्ण ब्रह्म।
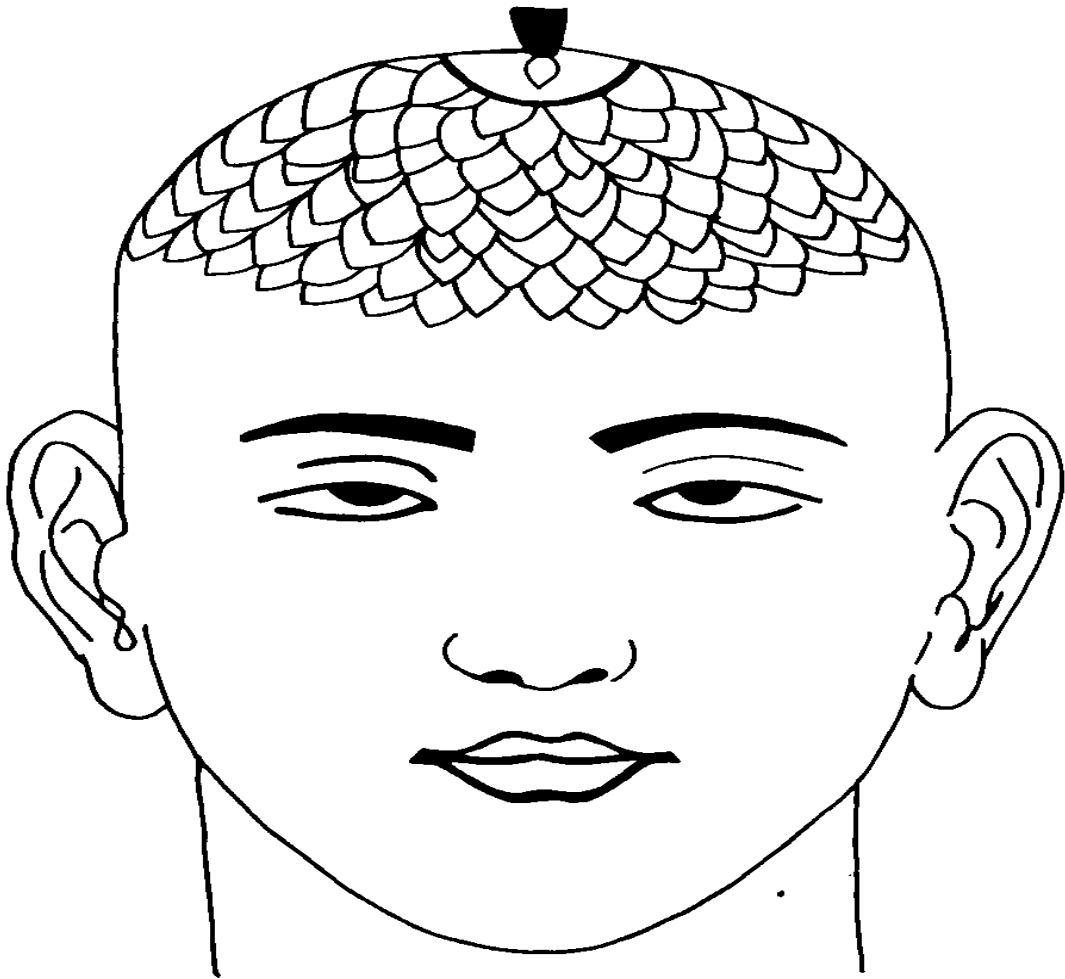
सहस्रार चक्र (सप्तम्)

Sahasrara Cakra (Seventh)

अतः इसे हजारों पंखुड़ियों वाले कमल के रूप में दिखाया व माना गया है। इसके बीच में उगता सूर्य और सूर्य के बीच में एक ज्योतिर्मय शिवलिंग को ब्रह्म, तथा उसका आवरण माया और विक्षेप को प्रतीक रूप से दिखाया गया है।

जब कुण्डलिनी शक्ति सहस्त्रार में पहुंचती है तो शिव-शक्ति अर्थात् जीव-ब्रह्म का ऐक्य होता है। यहीं पर समाधि आरम्भ होती है। इसी को *योगसूत्र* में धर्ममेघ समाधि कहा गया है। इसी को शास्त्रों में मोक्ष, कैवल्य, आत्मानुभूति, ब्राह्मी स्थिति, साक्षात्कार, स्वर्ग आदि शब्दों से वर्णन किया गया है। अतः सहस्त्रार चेतनता की पराकाष्ठा है। राजयोग में समाधि और तन्त्र में सहस्त्रार प्राप्ति दोनों समान हैं। साधन में फर्क यह है कि राजयोग में अष्टांगों का प्रयोग होता है जबकि तन्त्र में क्रियाओं का अभ्यास करना पड़ता है जिसे क्रियायोग कहते हैं अथवा कुण्डलिनी योग कहते हैं।

अध्याय १५

कुण्डलिनी विज्ञान

कुण्डलिनी उस महान् सुषुप्त गुप्त शक्ति का नाम है जो कि मूलाधार-चक्र में निहित है, जिसे सर्पाकार में दर्शाया गया है। इस महान् शक्ति को जगाने के लिए पूर्वाभ्यास अत्यन्त आवश्यक है और इस मार्ग में गुरु के बिना कुछ भी नहीं करना चाहिए। तैयारी में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, क्रियायोग एवं ध्यान का अभ्यास लगातार दीर्घकाल तक करते रहना चाहिए।

जब स्वेच्छापूर्वक नाड़ियों में एवं चक्रों में प्राण संचालन करने की क्षमता आ जाएगी तब दक्ष गुरु की देख-रेख में आप कुण्डलिनी जागरण कर षट्चक्रों का भेदन द्वारा सहस्रार में पहुंचकर आत्मानुभूति कर सकते हैं।

यद्यपि यह कहा गया है कि कुण्डलिनी मूलाधार में सुप्त है तथापि साधकों में पार्श्व उत्थित कुण्डलिनी देखी गई है। अर्थात् पूर्वजन्मों में की गई साधना के कारण इस जन्म में जन्म से ही उनकी कुण्डलिनी स्वाधिष्ठान, मणिपूर या अनाहतादि में स्थित रहती है। अतः कई लोगों को बचपन से ही दैवी शक्ति एवं कुछ आध्यात्मिक अनुभूतियां भी होती रहती हैं जिसे कोई समझ नहीं पाता है।

अनादि काल से ऋषि लोग अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को विभिन्न देवी-देवताओं के रूप में प्रतीकात्मक मूर्तियां बनाकर पूजने लगे, जिनको आज लोग केवल अन्ध-परम्परा से पूज रहे हैं किन्तु उनके आध्यात्मिक अर्थ को समझकर अपने अनुभवों से तालमेल करके साधना में आगे बढ़ने का प्रयास नहीं कर रहे हैं। इस कारण श्रद्धा, भक्ति, विश्वास टूटता जा रहा है। इसी कारण मूर्तिपूजा केवल भौतिक सुख-शांति तक सीमित रह गई है। जैसे पुराणों के आध्यात्मिक अर्थ केवल कथा के रूप में सीमित हो गए हैं।

कुण्डलं इव शीलं अस्या अर्थात् कुण्डल के समान स्वभाव वाली को कुण्डलिनी कहते हैं अथवा **कुण्डे लाट्यते या सा** अर्थात् कुण्ड में लीन रहने वाली को कुण्डलिनी

कहते हैं। अर्थात् गेंडुरी या चक्राकार में रहने का स्वभाव अथवा कुण्ड = मूलाधार में लीन = सुप्त रहने वाली को कुण्डलिनी कहा गया है। यह शक्ति जब विशिष्ट रूप से प्रकट होती है तो उसे काली, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती आदि नाम से व प्रतीकात्मक मूर्तियों के रूप में माना जाता है। काली मूलाधार में जाग्रत् कुण्डलिनी का स्वरूप है और दुर्गा सहस्रार में पहुंची हुई कुण्डलिनी का स्वरूप है। शेष देवियां अन्य चक्रों में पहुंची हुई कुण्डलिनी के ही विभिन्न स्वरूप हैं। अतः योग के अनुसार काली कुण्डलिनी की अज्ञानात्मक शक्ति का प्रतीक है और दुर्गा ज्ञानात्मक शक्ति का प्रतीक है।

इस कुण्डलिनी शक्ति को सर्प के आकार में समस्त विश्व की संस्कृतियों में स्वीकारा गया है। अतः विश्व भर की सभी संस्कृतियों की पुरातत्त्व की कलाकृतियों में सर्प को बहुत महत्त्व दिया गया है। यद्यपि इस शक्ति का कोई एक निश्चित रूप नहीं है क्योंकि वह निगुर्ण-निराकार है तथापि उसे कार्य के अनुसार अनन्त रूप माना गया है। वह बाह्य जगत् में सर्वत्र व्याप्त होने पर भी प्रत्येक शरीर में मूलाधार-चक्र में सर्पाकार के समान कुण्डली लगाए मुँह में पूँछ को दबाए प्रसुप्त कहा गया है।

इस महान् शक्ति को कुण्डलिनी योग के अभ्यासों से जाग्रत् करने से जो अनुभव होता है उसे विभिन्न शास्त्रों में इस प्रकार वर्णन किया गया है — "प्रकाशमय स्तम्भ के समान देदीप्यमान सुषुम्ना नाड़ी में अंगारे के समान लाल आँखों से युक्त करीब १० इंच लम्बा स्वर्णमयी सर्प जिसकी जिह्वा बिजली के समान चंचल है, वह तीव्र गति से सब चक्रों का भेदन करते हुए शिव के साथ ऐक्य होता है।"

इस कुण्डलिनी जागरण के अधिकारी सभी हो सकते हैं। यह वर्ण, जाति, धर्म, आदि से परे है और निष्ठापूर्वक निरंतर अभ्यास की अपेक्षा है। कुण्डलिनी जागरण से व्यक्ति में पूर्ण परिवर्तन हो जाता है। व्यक्तिगत संस्कार, प्रवृत्ति और रुचि के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास एवं परिवर्तन हो जाता है। वह कवि, गायक, वैज्ञानिक, किसी क्षेत्र अथवा विषय का विशेषज्ञ, त्रिकालज्ञ आदि कुछ भी बन जाएगा। थोड़ी भी असावधानी हो तो वह पागल, नास्तिक, विद्रोही आदि भी बन सकता है।

बिना योगाभ्यास के किसी विशेष घटना, दुर्घटना, तीव्र एकाग्रतापूर्वक किसी कार्य या विषय पर लगे रहना इत्यादि अनेकों कारणों से कुण्डलिनी जागरण हो सकता है किन्तु उसके नतीजे का कोई भरोसा नहीं, क्योंकि उस पर व्यक्ति का नियंत्रण नहीं रहता है। अधिकतर ऐसे लोगों का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है और किसी मार्ग में या व्यक्ति में निष्ठा न होने से उनका जीवन व्यर्थ भटकते हुए व्यतीत हो जाता है। इसलिए गुरु के मार्गदर्शन में एक निश्चित मार्ग को अपनाकर जीवन को साधना के लिए अर्पित करने वाले साधक ही सफल होते हैं।

ध्यान रहे यदि ऋद्धि-सिद्धियों की प्राप्ति के लिए आप कुण्डलिनी जागरण करना चाहते हों तो अवश्य आप खतरे से बाहर नहीं। आप यदि शिव-शक्ति का मिलन अर्थात् ब्रह्मानुभूति के लिये प्रवृत्त हों तो अवश्य आपको कोई बाधा नहीं आएगी। क्योंकि आप शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक परिवर्तन के साथ आध्यात्मिक प्रगति के लिए जब साधना करने लगेंगे तब साधक के अन्दर वैराग्य रहेगा और निष्ठापूर्वक अभ्यास करेगा। यही दो अभ्यास और वैराग्य सफलता की कुंजी हैं। जैसे कि *भगवद्गीता* में स्पष्ट शब्दों से कहा है —

अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ।। ६/३५ ।।

और

पातञ्जल योगसूत्र में —

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।। १/१२।।

कुण्डलिनी शक्ति वास्तव में स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर में नहीं अपितु कारण शरीर का विषय है। फिर भी वह आविद्यक चेतना रूपी महाशक्ति तीनों शरीर से सम्बद्ध होकर उत्थान करती है और ब्रह्मचेतना के साथ ऐक्य को प्राप्त करती है। यही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है। इसी को वेदान्त में जीव-ब्रह्म ऐक्य कहा गया है। शैव एवं शाक्त इसी को शिव-शक्ति का मिलन कहते हैं। सांख्य एवं योग में इसे प्रकृति का दर्शितविषया होना और पुरुष का अपवर्ग माना गया है। न्याय-वैशेषिक इसे तत्त्व ज्ञान प्राप्ति कहते हैं। पौराणिक इसे मोक्ष प्राप्ति कहते हैं और मीमांसक स्वर्ग कहते हैं।

इस मस्तिष्क में $१२,००,०००^{५००}$ अर्थात् १२ लाख को १२ लाख संख्या से ५०० बार गुणा करें तो जितनी संख्या होगी उतने शक्ति केन्द्र हैं। कुण्डलिनी समस्त शक्ति केन्द्रों को जाग्रत् कर सक्रिय होती है। सामान्य मनुष्य में १ से ३ प्रतिशत, विशेष बुद्धिजीवी में ५ प्रतिशत, स्वविषय में पराकाष्ठा प्राप्त करने वाले मनुष्य में ७ प्रतिशत और तथाकथित सिद्ध योगियों में १० प्रतिशत शक्ति केंद्र ही सक्रिय होता है। केवल ब्रह्मज्ञानी में शत-प्रतिशत जाग्रत् होता है। देवता आदि ब्रह्मा, विष्णु, महेश पर्यन्त जीवों में १० से ६० प्रतिशत तारतम्य माना गया है। तदनुसार उन्हें सुख-शांति-आनन्द की प्राप्ति होती है। इस संदर्भ में *तैत्तिरीय* एवं *बृहदारण्यक उपनिषद्* में की गई आनंद मीमांसा प्रकरण प्रमाण है।

प्राण शक्ति और चेतना शक्ति ये दो कुण्डलिनी—शक्ति का मुख्य स्वरूप हैं। प्राण-शक्ति क्रियाशीलता का कारण है और चेतना शक्ति ज्ञान का कारण है। इन दोनों शक्तियों का मस्तिष्क के संपूर्ण केन्द्रों में पूर्णतया सक्रिय होना ही कुण्डलिनी जागरण

का फल है — अर्थात् ज्ञान-क्रिया शक्ति का पूर्ण उदय।

इसलिए *हठयोग प्रदीपिका* में कहा गया है कि — जो कुण्डलिनी को जानता है वही योग को जानता है ।। ५/११० ।। अतः इस कुण्डलिनी को जानकर उसको जाग्रत् करने का प्रयास अवश्य करना चाहिए।

कुण्डलिनी जागरण अनेक प्रकार से हो सकता है । वे हैं — १. जन्म, २. मंत्र, ३.तपस्या, ४. जड़ी—बूटियाँ, ५. राजयोग, ६. प्राणायाम, ७. क्रियायोग, ८. शक्तिपात, ६. तंत्र, १०. शरणागति, ११. कर्मयोग, १२. भक्तियोग, १३. और ज्ञानयोग से।

व्यक्ति की सामर्थ्य के अनुसार २ से १३ में से किसी एक को चुनकर उस मार्ग के दक्ष गुरु से दीक्षा लेकर साधक को आगे बढ़ना चाहिए। कुण्डलिनी जागरण यद्यपि क्षण मात्र का विषय है फिर भी उसकी तैयारी के लिए अनेकों जन्म लगाने पड़ते हैं। अतः दृढ़ निश्चय होना चाहिए कि — "इस जन्म में हो या न हो फिर भी आमरण तक मैं निष्ठापूर्वक अभ्यास करूंगा"। नाड़ी, चक्र और तत्त्वों की शुद्धि अति आवश्यक है। इसके लिए आसन, प्राणायाम, नेति आदि षट्कर्म, मुद्रा एवं बन्धों के अभ्यास में दक्ष होना होगा। एकान्तवास, आश्रम जीवन, अनुशासन, निष्काम कर्मयोग और सात्त्विक आहार कुण्डलिनी जागरण की तैयारी में सहयोगी हैं।

कुण्डलिनी जागरण में बाधाएं भी अनेक हैं। जैसे भय, भ्रांति, गलत क्रिया का अभ्यास, क्रिया को गलत ढंग से करना, अनेक रोग, अशुद्धि, असंयमित आहार-विहार, सिद्धि और अहंकार।

अतः कुण्डलिनी जागरण को चार भागों में क्रमशः करना चाहिए — (१) इड़ा एवं पिंगला नाड़ी जागरण, (२) चक्रों का जागरण, (३) सुषुम्ना नाड़ी जागरण और (४) कुण्डलिनी जागरण।

प्रथम नाड़ी शोधन प्राणायाम के द्वारा आप इड़ा और पिंगला नाड़ियों को शुद्ध, संयमित एवं संतुलित कर लें। तत्पश्चात् चक्र जागरण को ७ प्रकार से किया जा सकता है। वे हैं १. चक्रों के स्वरूप पर बाह्य एवं अन्तःध्यान, २. संगीत के स्वरों द्वारा चक्र ध्यान, ३. चतुर्थ प्राणायाम; (प्राणायाम के साथ मंत्र और चक्रध्यान करने को चतुर्थ प्राणायाम कहते हैं), ४. योगनिद्रा, ५. उन्मनी (क्रिया) मुद्रा, ६. बीज मंत्र संचालन और ७. चक्रों के चित्र बनाना। इसके साथ ही शाम्भवी-मुद्रा, नासिकाग्र के साथ मूलबंध, व्रजोलि-मुद्रा, उड्डियान-बन्ध, अजपाजप, जालन्धर-बंध के साथ विपरीत करणी-मुद्रा और योनि-मुद्रा का नित्य अभ्यास चक्रों को क्रमशः जागरण करने में उपयोगी है। हठयोग और प्राणायाम के अभ्यास से सुषुम्ना नाड़ी जाग्रत् की जाती

है। अन्त में कुण्डलिनी क्रियाओं के अभ्यास से कुण्डलिनी जागरण करना उचित क्रम होगा।

क्रिया योग में १६ कुण्डलिनी क्रियाओं का वर्णन है। क्रियाओं को करने से पूर्व इनमें दक्ष होना है — १. सर्वांगासन, २. उज्जयी प्राणायाम, ३. सिद्धासन, ४. उन्मनी-मुद्रा (क्रिया), ५. खेचरी-मुद्रा, ६. अजपाजप, ७. उत्तानपादासन, ८. शाम्भवी-मुद्रा, ६. मूलबंध, १०. नासिकाग्रदृष्टि, ११. उड्डियान-बन्ध, १२. जालन्धर-बन्ध, १३. भद्रासन, १४. पद्मासन, १५. योनि-मुद्रा और १६. वज्रोलि-मुद्रा।

इस पूर्व तैयारी के बाद १६ क्रियाओं का अभ्यास आरम्भ करना है। वे हैं — १. विपरीत करणी-मुद्रा, २. चक्रानुसंधान, ३. नाद संचालन, ४. पवन संचालन, ५. शब्द संचालन, ६. महामुद्रा, ७. महाभेद-मुद्रा, ८. माण्डुकी-क्रिया, ६. ताड़न-क्रिया, १०. नौमुखी-मुद्रा, ११. शक्तिचालिनी, १२. शाम्भवी, १३. अमृतपान, १४. चक्रभेदन, १५. सुषुम्ना दर्शन, १६. प्राणाहुति, १७. उत्थान, १८. स्वरूपदर्शन, और १६. लिंग सञ्चालन।

अन्ततः ध्यानपूर्वक समाधि होगी।

चतुर्थ प्रकरण

योग द्वारा रोगोपचार

जैसे कि पूर्व में वर्णन किया गया है कि योग मुक्ति का साधन है और ऋषियों ने योगासनादि की रचना शरीर एवं चित्तशुद्धि पूर्वक परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के लिए ही की थी। फिर भी जब हम रुग्ण शरीर से दुनिया का काम चला नहीं सकते तो धर्म की साधना कैसे कर सकते हैं। इसलिए योग साधना से पहले हम शरीर को नीरोग बनाएं, तत्पश्चात् शुद्धिकरण करें तो अच्छा होगा। इसलिए इस अध्याय में योग द्वारा रोगोपचार का वर्णन है।

सब रोगों का मूल कारण पेट है, इसलिए पेट के रोगों से इस अध्याय को शुरू किया जाता है।

अपचन (बदहजमी/अजीर्ण/गैस)

आसन (**आ.**) — पवनमुक्तासन का वातनिरोधक अभ्यास समूह, सुप्तवज्रासन, उष्ट्रासन, त्रिकोणासन, मत्स्यासन, हलासन, सूर्य नमस्कार, पश्चिमोत्तानासन, शशांकासन और ताड़ासन।

प्राणायाम (**प्रा.**) — नाड़ी शोधन प्राणायाम।

मुद्रा एवं बन्ध (**मु.ब.**) — उड्डियान-बन्ध, अश्विनी-मुद्रा, अग्निसार-क्रिया।

हठ योग (**ह.यो.**) — लघु शंख-प्रक्षालन, कुंजल, नेति। योग्य शिक्षक की देख-रेख में नौलि, बस्ति किया जा सकता है।

शिथिलीकरण (**शि.**) — योगनिद्रा, रं बीज के साथ मणिपुर चक्र का ध्यान।

अल्सर

आ. = शशांकासन, शवासन। प्रा. = शीतली, शीतकारी, भ्रामरी। मु.ब. =
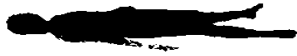
आकाशी-मुद्रा, योनि-मुद्रा, कोई बन्ध का अभ्यास नहीं। ह.यो. = अत्यन्त वर्जित है। शि. = त्राटक, अजप जप, योगनिद्रा एवं अन्तर्मौन। सुपाच्य आहार ही ग्रहण करें।

उदर रोग (आँत, आमाशय, अम्लीयता, ज्वर इत्यादि)

आ. = वातनिरोधक अभ्यास, शक्तिबन्ध समूह, मत्स्यासन, तोलांगुलासन, हलासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, ब्रह्मचर्यासन, वज्रासन। प्रा. = नाड़ी शोधन, भस्त्रिका, उज्जयी। मु.ब. = सभी मुद्रा एवं बन्ध। ह.यो. = कुंजल, लघु शंख–प्रक्षालन। शि. = त्राटक एवं ध्यान।

आँव गिरना

लघु शंख–प्रक्षालन से दोनों प्रकार की आँव दूर हो जाती है।

पेट में कृमि

आ. = नौकासन। ह.यो. = लघु शंख–प्रक्षालन, अग्निसार–क्रिया।

पांडु रोग

आ. = सूर्य नमस्कार, भुजंगासन, शलभासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, शीर्षासन। प्रा. = नाड़ी शोधन, शीतली, शीतकारी, खेचरी सहित उज्जयी। ह.यो. = लघु-शंख–प्रक्षालन।

पीलिया

आ. = पश्चिमोत्तानासन, उदरखण्ड में कहे सभी योग। सुपाच्य, सरल आहार ग्रहण करें। घी, तेल, मसाला अत्यंत वर्जित है।

पेचिश

आँव खण्ड में कहे योग करें। उपवास अत्युत्तम साधन है।

मधुमेह (डायबिटीज़, क्लोम ग्रंथि)

आ. = सूर्य नमस्कार, ताड़ासन, पश्चिमोत्तानासन, योगमुद्रा, सुप्तवज्रासन, भुजंगासन, हलासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, अर्धमत्यसेन्द्रासन, उष्ट्रासन, गोमुखासन, वातायनासन, शवासन। प्रा. = नाड़ी शोधन, भ्रामरी, उज्जयी, भस्त्रिका। ह.यो. = लघु शंख–प्रक्षालन। मु.ब. = सभी कर सकते हैं। शि. = अजपाजप, योगनिद्रा, ध्यान।

वायुनिकास (आँत से)

आ॰ = वातनिरोधकाभ्यास समूह, शशांकासन, सुप्तवज्रासन, भुजंगासन, कटिचक्रासन, मत्स्यासन, हलासन एवं सामने झुककर किए जाने वाले आसन। प्रा॰ = भस्त्रिका, कपालभाति। मु॰ब॰ = ताड़गी मुद्रा और सभी बन्ध। ह॰यो॰ = कुंजल, लघु एवं पूर्ण शंख-प्रक्षालन। शि॰ = योगनिद्रा, ध्यान।

दमा एवं फेफड़ों का सामान्य दोष (कास रोग)

आ॰ = सूर्य नमस्कार (मंद गति से), सर्वांगासन, सुप्तवज्रासन, मार्जार्यासन, उष्ट्रासन, लोलासन, मत्स्यासन, बद्धपद्मासन, शवासन। प्रा॰ = सभी। मु॰ब॰ = सभी। ह॰यो॰ = कुंजल, वस्त्रधौति, शंख-प्रक्षालन। शि॰ = योगनिद्रा, अजपाजप, अन्तर्मौन एवं ध्यान।

छाती (फेफड़ा, प्लूरसी, न्यूमोनिया)

आ॰ = सूर्य नमस्कार, पवनमुक्तासन – गठिया निरोधक अभ्यास समूह, खड़े होकर किए जाने वाले सभी आसन, मत्स्यासन, लोलासन, कुक्कुटासन, चक्रासन, धनुरासन, वृश्चिकासन एवं अष्टावक्रासन। प्रा॰ = सभी। मु॰ब॰ = सभी। ह॰यो॰ = कुंजल। शि॰ = योगनिद्रा (विशेषतः श्वास गिनती का) अजपाजप, ध्यान।

कमर व पीठ दर्द

आ॰ = सूर्य नमस्कार, पवनमुक्तासन – तीनों समूह, शशांकासन, मार्जार्यासन, लोलासन, ताड़ासन, कटिचक्रासन, सुप्तवज्रासन, भुजंगासन, पृष्ठासन, त्रिकोणासन, हलासन, धनुरासन, चक्रासन। प्रा॰ = भस्त्रिका, नाड़ी शोधन। मु॰ब॰ = सभी। ह॰यो॰ = लघु शंख-प्रक्षालन। शि॰ = ध्यान, योगनिद्रा।

अशुद्धरक्त (वृक्क, उपवृक्क, अधिवृक्क ग्रंथि)

आ॰ = सूर्य नमस्कार (थकने तक), सुप्तवज्रासन, शशांकासन, मार्जार्यासन, त्रिकोणासन, मत्स्यासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, हलासन, उष्ट्रासन, मयूरासन। प्रा॰ = भस्त्रिका। मु॰ब॰ = उड्डियान-बन्ध, सभी मुद्रा विशेषतः नासिकाग्रदृष्टि। ह॰यो॰ = अग्निसार-क्रिया, शंख–प्रक्षालन। शि॰ = योगनिद्रा, मणिपुर चक्र का ध्यान। नमक एवं फल का त्याग करें। जल अधिक पीजिए।

रक्तचाप (अधिकतम तनाव, हृदय रोग)

उच्च रक्तचाप *– आ॰ = पवनमुक्तासन (प्रथम दो समूह), आनन्दमदिरासन,*

शिथिलीकरण के सभी अभ्यास। *प्रा.* = नाड़ी शोधन प्राणायाम, शीतली, शीतकारी, उज्जयी और भ्रामरी। *मु.ब.* = अश्विनी, शाम्भवी, नासिकाग्र। कोई बन्ध नहीं। *ह.यो.* = नेति। *शि.* = शवासन, योगनिद्रा, अजपाजप, ध्यानाभ्यास।

निम्न रक्तचाप — *आ.* = सूर्य नमस्कार आदि सभी योगासन। *प्रा.* = सभी, विशेषतः भस्त्रिका। *मु.ब.* = सभी। *ह.यो.* = कुंजल, लघु शंख—प्रक्षालन। *शि.* = ध्यान।

अनिद्रा एवं चिन्ता (अपस्मार, असामर्थ्य, उन्माद, घबराहट, मूर्छा)

आ. = सूर्य नमस्कार, सर्वांगासन, मत्स्यासन, शीर्षासन, सुप्तवज्रासन, कूर्मासन, शशांकासन, भुजंगासन, पश्चिमोत्तानासन, शलभासन, शवासन। *प्रा.* = नाड़ी शोधन, कपालभाति, भ्रामरी, शीतली, शीतकारी। *मु.ब.* = शाम्भवी, मांडूकी, योनि, सभी बन्ध (थोड़े क्षण)। *शि.* = त्राटक, योगनिद्रा, ध्यान।

गठिया रोग

आ. = पवनमुक्तासन (प्रथम दो समूह)। मांसाहार को त्यागें। पानी खूब पीएं।

चर्बी (मोटापा)

आ. = सूर्य नमस्कार (तीव्र गति से), द्रुत हलासन, पादहस्तासन, शीर्षासन।

जोड़ों में सूजन

आ. = पवनमुक्तासन। उदरश्वसन। शिथिलीकरण एवं ध्यान। आसन आरम्भ करने से पहले नमक मिलाए हुए गरम पानी में हाथ डालकर कुछ समय रखें।

खाज-खुजली (चर्म रोग)

आ. = पवनमुक्तासन, मकरासन, "अशुद्धरक्त" शीर्षक देखें।

कंधे (भुजा)

आ. = मकरासन, पवनमुक्तासन (प्रथम समूह), उष्ट्रासन, बद्धपद्मासन, सूर्य नमस्कार एवं पीछे झुकने वाले आसन, भुजंगासन, गोमुखासन, वृश्चिकासन। *प्राणायाम, मु.ब.* = सभी। *ह.यो.* = कुंजल, नेति। *शि.* = ध्यान।

ग्रीवा

आ. = सुप्तवज्रासन, मत्स्यासन, ग्रीवासन, कंधरासन, मेरुदंड को मोड़ने वाले सभी

आसन। प्रा = नाड़ी शोधन। मु॰ब॰ = जालन्धर बंध। शि॰ = शवासन।

गंजापन

सिर के बल किए जाने वाले सभी आसन, विशेषतः शीर्षासन।

चेहरा (मुंहासे, झुर्रियां)

आ॰ = सूर्य नमस्कार, सर्वांगासन, हलासन, सिंहासन। उपवास अवश्य करें। प्रा॰ = सभी, विशेषतः भस्त्रिका। मु॰ब॰ = योगमुद्रा, अश्विनी-मुद्रा, आकाशी, विपरीतकरणी, जालन्धर। ह॰यो॰ = नेति, कुंजल। शि॰ = योगनिद्रा।

टॉन्सिल (खरखराहट, जुकाम)

आ॰ = पवनमुक्तासन, सिंहासन, मत्स्यासन, सुप्तवज्रासन। प्रा॰ = उज्जयी, शीतली, शीतकारी। ह॰यो॰ = नेति, कुंजल। शि॰ = त्राटक, शवासन।

दीर्घकालीन बदहजमी

"चिन्ता एवं अनिद्रा" और "उदर" शीर्षक देखें। अशुद्ध, भारी, अधिक एवं बासी भोजन और अनुचित विधि से पकाए भोजन को त्यागें। प्रतिदिन एक समय उपवास करें। नित्य कुंजल का अभ्यास करें।

पायरिया एवं मसूढ़ा

सिर के बल किए जाने वाले आसन। शीतली व शीतकारी प्राणायाम। प्रत्येक, दो या तीन घंटे में अंगुलियों से दांतों व मसूढ़ों की मालिश।

पैर

आ॰ = सूर्य नमस्कार, पवनमुक्तासन, उदराकर्षणासन, शलभासन, धनुरासन, अर्द्धचन्द्रासन, गरुड़ासन, वातायनासन, कूर्मासन, प्रणमासन इत्यादि। प्रा॰, मु॰ब॰ = सभी। शि॰ = योगनिद्रा।

जननांग (प्रोस्टेट ग्रंथि, गर्भ सम्बंधी रोग एवं लैंगिक समस्याएं)

आ॰ = सूर्य नमस्कार, शक्तिबन्ध समूह, शशांकासन, उष्ट्रासन, कटिचक्रासन, ताड़ासन, त्रिकोणासन, मत्स्यासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, गरुड़ासन, भुजंगासन। शि॰ = योगनिद्रा, अजपाजप, ध्यान। ब्रह्मचर्यासन श्रेष्ठ है।

पोलियो (लकवा आदि, विकलांगता)

आ॰ = भुजंगासन, पद्मासन, कन्धरासन, धनुरासन, त्रिकोणासन, शीर्षासन, अश्वसंचालनासन। प्रा॰ = नाड़ी शोधन। शि॰ = नासिकाग्र दृष्टि।

बहरापन (कान सम्बन्धी रोग)

सिर के बल किए जाने वाले आसन और नेति का अभ्यास करें।

बवासीर (गुदा सम्बन्धी रोग)

आ॰ =शशांकासन, सर्वांगासन (लम्बी अवधि तक), अश्विनी-मुद्रा। मूलबन्ध और योगनिद्रा।

मासिक धर्म (स्त्रियों की यौन समस्याएं)

आ॰ = सूर्य नमस्कार, शीर्षासन, भुजंगासन, पश्चिमोत्तानासन। उड्डियान एवं मूलबन्ध। अश्विनी एवं सहजोली मुद्रा। योगनिद्रा, अजपाजप और ध्यान।

साइटिका

आ॰ = पवनमुक्तासन, मत्स्यक्रीड़ासन, मकरासन, पीछे झुककर किए जाने वाले आसन। सामने झुककर किए जाने वाले आसन न करें।

स्लिपडिस्क

आ॰ = अद्वासन, ज्येष्टिकासन, मकरासन (लम्बी अवधि तक), भुजगासन, मेरु को घुमाने वाले सभी आसन, नमस्कारासन, शवासन एवं योगनिद्रा अति आवश्यक है।

पञ्चम प्रकरण

उपसंहार

इस ग्रंथ का उद्‌देश्य लोगों को योग में प्रवृत्त होने के लिए एक प्रेरणा का स्रोत होना एवं उन्हें अपनी सांसारिक दयनीय परिस्थितियों से ऊपर उठाकर जीवभाव से निकलकर ब्रह्मभाव की ओर ले जाना है।

योग एक अच्छा स्वास्थ्य और शान्त मन ही नहीं बल्कि संसार से मुक्ति देने वाला मार्ग है। **ज्ञानादेव तु कैवल्यं** इस वेदोक्ति के अनुरूप आपके शरीर एवं मन को उस ज्ञानानुभूति के योग्य बनाना ही योग का लक्ष्य है। अतः योग सांसारिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के सुख का सर्वोत्कृष्ट साधन है।

लेकिन गुरु के बिना स्वयं पुस्तक पढ़कर योगाभ्यास शुरु नहीं करना चाहिए अन्यथा योग से रोग उत्पन्न हो सकते हैं; जिसका इलाज संसार में किसी भी विधि से नहीं किया जा सकेगा। अतः अवश्य योग के लिए गुरु अथवा योग शिक्षक को ग्रहण कर लेना चाहिए।

आरम्भ करने के लिए किसी योग्य योग-प्रशिक्षक को गुरु बना सकते हैं किन्तु उच्च कोटि का अभ्यास आरंभ करने के लिए एक सिद्ध योगी संन्यासी को ही गुरु बनाना होगा।

किसी योगाश्रम में कुछ समय रहकर आश्रम के सादगी भरे जीवन, सरल सुपाच्य भोजन पद्धति एवं कर्म, भक्ति और योग का समन्वयात्मक दिनचर्या का संस्कार ग्रहण कर लेना आध्यात्मिक लाभ के लिए एवं सांसारिक सुख-शांति के लिए आवश्यक है।

आशा करता हूं इस ग्रंथ से सब प्रकार के साधकों एवं पाठकों को उचित प्रेरणा एवं योग सम्बन्धी सामान्य ज्ञान प्राप्त होगा। त्रुटियों के लिए क्षमा चाहते हुए योगियों के कृपाकांक्षी, सबका शुभेच्छु –

आपका आत्मा

स्वामी शान्तिधर्मानन्द सरस्वती

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

अनुक्रमणिका

'योग' एक गहन एवं व्यापक विषय है जिसमें 'पूर्णत्व' लाना अत्यन्त कठिन है। फिर भी स्वामीजी ने रोगी, आरम्भिक अभ्यासी व साधक के लिए योगसम्बंधी संपूर्ण जानकारी इस छोटे से ग्रन्थ में भरने का प्रयत्न किया है। ऋषियों, गुरुपरम्परा एवं स्वयं की अनुभूति के आधार पर ही नहीं, बल्कि उपनिषदादि ठोस शास्त्रीय प्रमाणों के साथ-साथ वैज्ञानिक शोध पर आधारित योग-रसायन का संकलन इस पुस्तक में नीहित है।

यद्यपि इसका लेखन अष्ठांग-योग को आधार मानकर किया गया है तथापि योग के सकल प्रभेदों को साधना की विभिन्न सीढ़ियों के रूप मे स्वीकार कर समावेश किया गया है। हठयोग, राजयोग, क्रियायोग, जपयोग, लययोग, कुण्डलिनी योग, नादयोग, स्वरयोग आदि भेदों का विभिन्न अंगों के अन्तर्गत संक्षेप मे विवेचन किया गया है। इसलिये इस ग्रन्थ का नाम 'पूर्णयोग' रखा गया है। योग सम्बन्धी समस्त विषयों को पन्द्रह अध्यायों में विभक्त कर विचार किया गया है, इसलिये इसको 'योग पञ्चदशी' नाम भी दिया गया है।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक जीवन में अत्यन्त उपयोगी एवं सुखमय जीवन का मार्गदर्शक ग्रन्थ है यह '**पूर्णयोग**'।

पुणे में जन्मे **स्वामी शान्तिधर्मानन्द सरस्वती** बाल्यावस्था से ही विलक्षण प्रतिभा

संपन्न थे। इन्जीनियरिंग की शिक्षा पाकर तथा अल्प समय मे ही सरकारी प्रतिष्ठान मे सेवा कर सेवा से स्वयं निवृत्त होकर आपने वर्तमान वैज्ञानिक युग के योगी परमहंस स्वामी सत्यानंद सरस्वती, बिहार योग विद्यालय, मुंगेर से योग शिक्षा एवं संन्यास दीक्षा ग्रहण की। ऋषिकेश, ओंकारेश्वर, बनारस आदि तीर्थ स्थलों में रहकर शास्त्रों का गुरूकुल पद्धति से अध्ययन करके वर्तमान में अपने ही आश्रम में आप स्वाध्याय करते हैं तथा शास्त्रों के निःशुल्क अध्यापन कार्य में रत्त हैं।

ISBN 81-8265-009-7
2nd Edition, 2005, xii, 243 p.; 22 cm.
मूल्य रू. 125 मात्र

प्रकाशक –
श्रीकुंज सद्भावना मंच
'श्रीकुंज', एफ-52 बाली नगर
रमेश नगर मेट्रो स्टेशन
नई दिल्ली - 110 015

वितरक –
डी. के. प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लि.
'श्रीकुंज', एफ-52 बाली नगर, रमेश नगर मेट्रो स्टेशन
नई दिल्ली - 110 015
दूरभाष : (011) 2545 3975, 2546 6019
फैक्स : (011) 2545 5926 ई-मेल : dkprintworld@vsnl.net
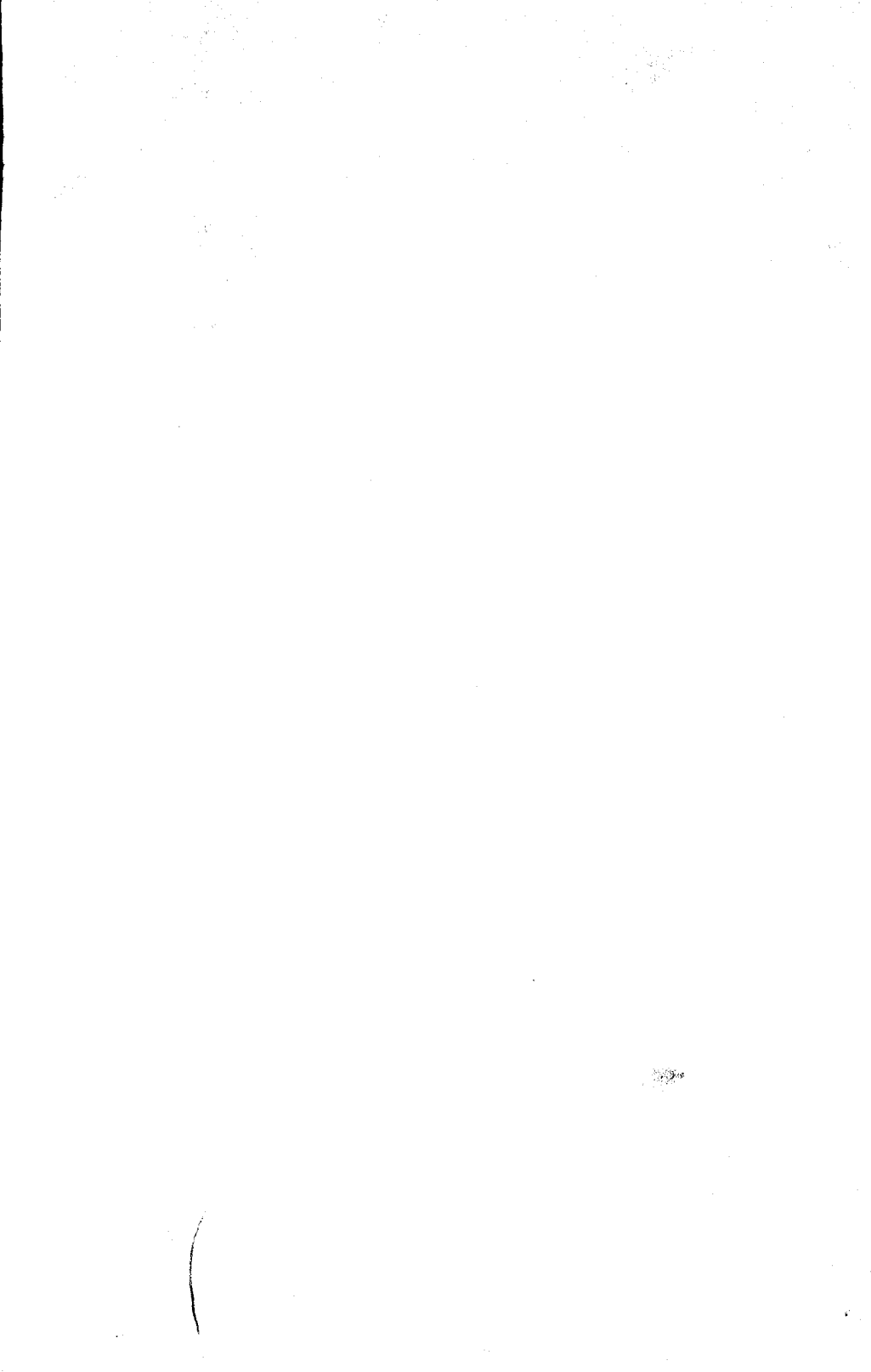
योग बिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैनयोग साधना
का
समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक
डॉ. सुव्रत मुनि शास्त्री

प्रकाशक
श्री आत्मज्ञान पीठ, मानसा मण्डी, भटिण्डा (पंजाब)
अक्टूबर 1991

परमपूज्य राष्ट्रसन्त उत्तरभारतीय प्रवर्तक
गुरुदेव भण्डारी श्री पद्मचन्द्र महाराज
के
हीरक जयन्ती महोत्सव
के अवसर पर प्रकाशित
जैनस्थानक गन्नौर मण्डी सोनीपत हरियाणा

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र की पी-एच०डी० उपाधि हेतु स्वीकृत शोध, प्रबन्ध

प्रकाशक
श्री आत्मज्ञानपीठ
मानसा मण्डी, भटिण्डा (पंजाब)

प्रथमावृत्ति
वीर निर्वाण संवत् २५१८
विक्रम संवत् २०४८ विजयदशमी
17 अक्टूबर 1991

मुद्रण व्यवस्था
मुद्रक प्रेस 2623, टिम्बर मार्कीट, अम्बाला छावनी.
दूरभाष : 24499

मूल्य :
साधारण संस्करण 100 रुपये मात्र
पुस्तकालय संस्करण 140 रुपये मात्र

जिनके

अमृततुल्य वात्सल्य एवं

सरस शुभङ्कर आशीर्वाद को

प्राप्त कर योगसाधना में

प्रवृत्त होकर योगविद्या में

कार्य करने की क्षमता पायी

उन्हीं

राष्ट्रसन्त परम पूज्य उत्तरभारतीय प्रवर्तक

गुरुदेव श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज

के

कर कमलों में

सभक्ति सविनय सादर

समर्पित

—सुव्रतमुनि शास्त्री

पूज्य गुरुदेव महामहिम उत्तर भारतीय प्रवर्तक श्री भण्डारी पद्म चन्द्र जी महाराज

जन्म तिथि :
विजयदशमी
वि० सम्वत् 1974
ई० सन् 1917

दीक्षा तिथि :
माघवदी पञ्चमी
वि० सम्वत् 1991
ई० सन् 1934

प्रकाशकीय

अपने विद्या रसिक पाठकों को एक मूल्यवान् योग ग्रंथ भेंट करते हुए हमें बहुत प्रसन्नता हो रही है। योग विद्या बहुत प्रिय और प्राचीन है। पुरातन आचार्यों, ऋषि-महर्षियों ने इस विद्या पर विविध भाषाओं में अनेक ग्रंथों की रचना की है। जैन श्रमण परम्परा में भी प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं कन्नड़ इत्यादि भाषाओं में योग ध्यानसाधना पर कितने ही ग्रंथ मिलते हैं। परन्तु वर्तमान में राष्ट्रभाषा हिन्दी में योग-परक ग्रंथ बहुत कम उपलब्ध हैं। प्रस्तुत ग्रंथ इसी कमी की पूर्ति का एक प्रशंसनीय प्रयास है।

हमारे परम श्रद्धेय राष्ट्रसन्त उत्तरभारतीयप्रवर्तक भण्डारी **श्री पद्मचन्द्र जी महाराज** के प्रशिष्य एवं परम श्रद्धेय उपप्रवर्तक **श्री अमरमुनि जी म०** के प्रथम अन्तेवासी डॉ० श्री सुव्रत मुनि शास्त्री जी म० ने कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से डॉ० श्री धर्मचन्द्र जी जैन के निर्देशन में आचार्य हरिभद्रसूरि की अनुपम योग विषयक कृति **योगबिन्दु** का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन कर पी-एच० डी० (डाक्ट्रेट) की उपाधि प्राप्त की। मुनि श्री सुव्रत जी म० की योग में विशेष रुचि है उसी का शुभ परिणाम है यह योग ग्रंथ—**योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैन-योगसाधना का समीक्षात्मक अध्ययन**। इसके लिए हम डॉ० श्री सुव्रत-मुनि शास्त्री जी म० के आभारी हैं जिन्होंने अनथक परिश्रम करके यह ग्रंथरत्न तैयार किया है। इसके प्रकाशन में डॉ० श्रीयुत धर्मचन्द्र जैन, निर्देशक पालि प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस ग्रंथ के संशोधन एवं प्रैस सम्बन्धी कार्य में निष्ठापूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

प्रकृत ग्रंथ के प्रकाशन में उदारमना जिन महानुभावों ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उनमें महातपस्विनी गुरुणी श्री हेमकुंवर जी म० सा० की सुयोग्य सुशिष्या महासती साध्वी श्री रविरश्मि जी महाराज के माता श्रीमती प्रसन्नादेवी धर्मपत्नी श्री ला० रत्नलाल जी

जैन के सुपुत्र श्रीविजयकुमार जैन, श्रीसुशीलकुमार जैन, श्रीपवन कुमार जैन मुक्तसर निवासी।

महासती श्री रविरश्मि जी म० के बुआ जी श्रीमती ईश्वरीदेवा जैन धर्मपत्नी श्री सुच्चामल जैन गीदड़वाहा मण्डी निवासी के सुपुत्र श्री कश्मीरीलाल जैन एवं कीमतीलाल जैन।

श्रीमती कैलाशवती जैन धर्मपत्नी स्व० श्री रत्नलाल जैन समाना निवासी के सुपुत्र श्रीअशोककुमार जैन, प्रधान एस० एस० जैन सभा समाना, श्रीसतीशकुमार जैन एवं श्रीवीरेन्द्र कुमार जैन।

श्री जगदीशचन्द्र जैन मालिक फर्म के० एल० जगदीश ब्रह्मपुरी लुधियाना। श्री भागमल कृष्णलाल बजाज, पद्मपुरमण्डी (राज०)।

ये उपर्युक्त सभी महानुभाव परम पूज्य गुरुदेव उ० भा० प्रवर्तक श्री भण्डारी जी म० के अनन्य भक्त हैं। धर्मध्यान और गुरुभक्ति में आप सभी की गहनरुचि है। हम इन सभी महानुभावों की आत्मवृद्धि की मंगल कामना करते हैं और इनके इस उदार सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद करते हैं साथ ही आशा है कि भविष्य में भी आपका हमें सहयोग मिलता रहेगा।

परम पूज्य राष्ट्रसन्त गुरुदेव उत्तरभारतीय प्रवर्तक भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के हीरक जयन्ती महोत्सव पर इस ग्रंथ का प्रकाशन सोने में सौरभ जैसा बन गया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रंथरत्न से श्रावकजन अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

मन्त्री
आत्मज्ञानपीठ, मानसा मण्डी,
भटिण्डा (पंजाब)

शुभाशंसा

जैनधर्मस्य आचार्येषु आत्मारामः प्रसिद्धः ।
आत्मारामस्य जैनस्य आचार्यस्य महात्मनः ॥१॥
विद्वांसस्तस्य वै शिष्याश्चत्वारः सागरोपमाः ।
ज्ञान-रत्नाकाराः सर्वे संस्कृतागम-कोविदाः ॥२॥

जैन धर्म के आचार्यों में प्रसिद्ध आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज थे । उन आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के सागर के समान गम्भीर चार शिष्य हैं जो कि ज्ञान रत्नों से सम्पन्न और संस्कृत आगम ज्ञान से युक्त हैं ॥ ११२ ॥

श्री हेमचन्द्रः प्रथमो अपरो ज्ञानिनां मुनिः ।
तृतीयो रत्नमुनि, श्रीमान् तूर्यो वाग्मी मनोहरः ॥३॥

उनमें प्रथम श्री हेमचन्द्र जी महाराज, दूसरे श्री ज्ञान मुनि जी महाराज, तीसरे श्री रतनमुनि जी महाराज और चौथे श्री मनोहर मुनि जी महाराज हैं ॥ ३ ॥

श्री हेमचन्द्रस्य मुनेः जैनागम पारदृश्वनः ।
भण्डारी पद्मचन्द्रोऽयं मुख्यशिष्यो विराजते ॥४॥

श्री हेमचन्द्र जी म० जैन आगमों के पारगामी विद्वान् थे, उनके प्रमुख शिष्य हैं श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज ॥४॥

भारतोत्तर भागस्य निर्देष्टा प्रथितो यतिः ।
भण्डारी नामवाच्योऽसो मुनिराजो विराजते ॥५॥

श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज उत्तर भारत जैन संघ के निर्देष्टा-प्रवर्तक हैं और जन सामान्य में वे भण्डारी जी महाराज के नाम से विख्यात हैं ॥५॥

वाग्मी धर्मभृतां धुर्यस्तच्छिष्योऽमरो मुनिः ।
जैनागमविशेषज्ञो लोककान्तशशी यथा ॥६॥

धार्मिक जनता के आधार भूत, वाग्मी श्री अमर मुनि जी महाराज, श्री भण्डारी जी म० के शिष्य हैं जो कि लोक में चन्द्रमा के समान प्रिय हैं ॥६॥

आदित्य इव तेजस्वी सत्यधर्म-परायणः ।
शिष्येष्वन्यतमस् यस्तस्य सुव्रतो मुनिरात्मवान् ॥७॥

सूर्य के समान तेजस्वी और सत्य धर्म परायण श्री अमर मुनि जी महाराज के शिष्यों के प्रमुख आत्मार्थी सुव्रत मुनि जो है ॥७॥

संस्कृतं वाङ्मयं श्रुत्वा शास्त्रिकक्षामतीतरत् ।
एम०ए, श्रेणिमुत्तीर्य अभ्यस्य सर्ववाङ्मयम् ॥८॥

सुव्रत मुनि जी महाराज ने संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करके शास्त्री परीक्षा पास की, फिर हिन्दी एवं संस्कृत का अभ्यास करके उनमें एम० ए० किया है ॥८॥

जैनयोगमधिकृत्य प्रबन्धमलिखद् यतिः ।
विद्यापीठे कुरुक्षेत्रे सम्मानमतिलब्धवान् ॥९॥

जैन योग को आधार बना कर कुरुक्षेत्र विश्व विद्यालय के तत्त्वावधान में शोध प्रबन्ध लिखकर मुनि जी ने उच्च-सम्मान प्राप्त किया है ॥९॥

पी०एच०डी० पद प्राप्त सुव्रतो मुनिनांवरः ।
उदयं भाविनं काङ्क्षे युवकस्य मुनेरहम् ॥१०॥

पी०एच०डी० उपाधि प्राप्त श्रेष्ठ युवक मुनि सुव्रत जी म० के उज्जवल भविष्य की मैं शुभ आशंसा करता हूं ॥१०॥

यशोदेव शास्त्री
(साहित्य-दर्शनाचार्य)
पूर्व प्रधानाचार्य श्री सरस्वती संस्कृत कालेज
खन्ना मण्डी (पंजाब)

मुक्तसर निवासी स्व० ला० श्री रत्न लाल जी जैन एवं
उनकी धर्मपत्नी स्व० श्रीमती प्रसन्ना देवी जी जैन
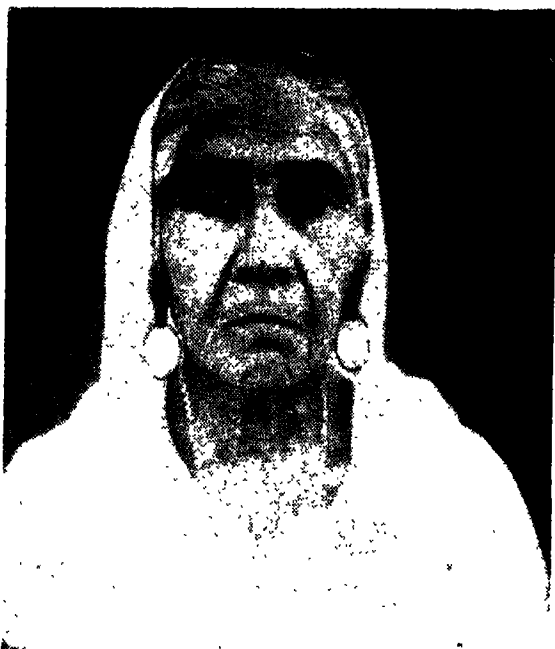
श्री ईश्वरी देवी जैन
गिदड़बाहा

श्री ला० रत्न लाल जी जैन
समाना (पंजाब)

वाङ्मुख

मानव का चरम लक्ष्य आध्यात्मिक विकास की पूर्णता और उससे लब्ध प्रज्ञाप्रकर्षजन्य पूर्णबोध सर्वज्ञत्व व स्वस्वरूप-प्रतिष्ठा की उपलब्धि है। इस परमकैवल्य वा परिनिर्वाण लाभ में अन्यतम विशिष्ट साधन **योग** है। यह योग जगत् की प्राचीनतम विद्या है। कोई भी ऐसा दर्शन, सम्प्रदाय व मजहब नहीं है जो योग की महिमा से अछूता हो।

योग की महिमा अचिन्त्य है। अनेकों ऋषि, महर्षियों एवं तपस्वियों ने योग ध्यान साधना के बल पर अलौकिक सुख को पाकर अपने जीवन को सफल बनाया है। आज भी भारतभू की गिरिगुफाओं, उपत्यकाओं, वनों, एवं श्मशानों में यति, मुनि, साधु-सन्त इस विद्या के पारायण से ज्ञानाराधन एवं शाश्वत सुख की खोज में लगे हुए हैं। पाश्चात्य जगत् भी इस विद्या के गूढ रहस्य को जानने में अहर्निश प्रयासरत है।

इस आध्यात्मयोग के क्षेत्र में जैन ध्यान साधना का अपना विशिष्ट स्थान है। बढ़ चढ़कर एक से एक योगावचर, तपस्वी, आचार्य, सन्त यहां हुए हैं जिनमें से एक बहुश्रुतधर, प्रतिभासम्पन्न, महान लेखक, विद्वान्, आचार्य श्री हरिभद्रसूरि हैं। आपने ही सर्वप्रथम अपनी अनुपम कृतियों में योग का नूतन मौलिक गहन चिन्तन किया है।

मन, वचन एवं कर्म का आत्मा के साथ एकाकार हो जाना, उनका तदनुकूल चलना ही **योग** है। हरिभद्र सूरि ने धर्मसाधना के समग्र उपक्रम को ही योग का सार स्वीकार किया है—**मोक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो** (योगविंशिका का० १)

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि 8वीं शताब्दी के इन पूज्य महायोगी आचार्यप्रवर हरिभद्र सूरि का अनुसरण करने वाले नवोदित युवक सन्त श्री सुव्रतमुनि शास्त्री नेसूरि की योगपरक चार रचनाओं में से अत्युपयोगी ग्रंथ **योगबिन्दु** को आधार बनाकर जैन वाङ्मय में योग साधना का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक शोध प्रबन्ध लिखा है जो आज **'योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैन योगसाधना का समीक्षात्मक अध्ययन'** इस नाम से प्रकाश

में आ रहा है।

श्रीमुनिसुव्रत जी शास्त्री राष्ट्र शिरोमणि सन्त उत्तर भारतीय प्रवर्तक गुरुदेव भण्डारी श्रीपद्मचन्द्र जी महाराज के प्रशिष्य और हरियाणा केसरी वाणीभूषण उत्तर भारतीय उपप्रवर्तक श्रीअमर मुनि जी महाराज के सुयोग्य शिष्य हैं। आधुनिक भारतीय अनेक भाषाओं के ज्ञाता होते हुए भी शास्त्री जी का संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं पर पूर्ण अधिकार हैं।

इसी कारण उपर्युक्त अपने खोजपूर्ण प्रबन्ध में आपने जैन-जैनेतर समस्त भारतीय वाङ्मय का आलोड़न-विलोड़न किया है और योगबिन्दु-गत **योगमाहात्म्य, योगाधिकारी,** योग के प्रकार—**अध्यात्मयोग, समता-योग, ध्यानयोग, भावनायोग** और **वृत्तिसंक्षययोग,** को विस्तार से स्पष्ट करते हुए योग साधना में आत्मा की स्थिति, उसका सर्वज्ञत्व, योग और कर्म, गुणस्थान और लेश्याओं की महत्ता का जैनदर्शनानुसार सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। एतदर्थ आपको बहुशः साधुवाद।

इसके अतिरिक्त विद्वान् सन्त के द्वारा पूर्व में और भी अन्य कतिपय मौलिक ग्रंथों का प्रणयन किया गया है जिनमें-मानवता की प्रकाश किरणें एवं पद्मपराग विशेष उल्लेखनीय हैं। मुझे विश्वास है कि प्रकृत ग्रन्थ रत्न भी इसी कड़ी में ध्यानयोग के जिज्ञासुओं एवं शोधकर्त्ता पाठकों को अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं शास्त्री जी के दीर्घजीवी योगसाधना की मंगलाकामना के साथ भविष्य में भी आपके द्वारा दुर्लभ जैन पाण्डुलिपियों के सम्पादन एवं प्रकाशन की अपेक्षा करता हूँ। ओम् शान्ति।

(डॉ० धर्मचन्द्र जैन)
रीडर
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या संस्थान,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

डी-११५, विश्वविद्यालय परिसर
७ अक्टूबर, १९९१

प्रस्तावना

वस्तु में अहम् बुद्धि और अहम् में वस्तु बुद्धि दुःख जनक मोह का कारण है। वस्तु एवं अहम् का विघटीकरण तथा अहम् को वास्तविक अहम् में स्थापना, योग स्वरूप है।

व्यक्ति एक है, दृश्य एक है, दृष्टियाँ अनेक है। दृष्टि ही दृष्टा के लिए दृश्य स्वरूप निश्चित करती है। इसमें इन्द्रियदृष्टि अत्यन्त स्थूल हैं। ओघदृष्टि का प्रतिरूप है। भ्रम एवं माया की जननी है। आत्म दृष्टि सूक्ष्मतम है। योगदृष्टि का प्रतिरूप है। परिशुद्ध व यथार्थ ज्ञान की जननी है।

यह ओघदृष्टि, वस्तु-देह बुद्धि से उत्पन्न परिछिन्न होती है, जो वासना का उद्गम स्थान है। वासना का उद्भव असौन्दर्य में सौन्दर्य, अयथार्थ में यथार्थ तथा अशुद्धि में शुद्धि का बोध कराता है। भ्रम से उपरत यथार्थ में 'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' का आत्यन्तिक अनुभवन ही योग है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग को ही संसार विच्छिन्नता का मूल कारण बतलाया है। योग उत्तम कल्पवृक्ष है, उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है। योग सब धर्मों में प्रधान है तथा सिद्धि (मुक्ति) का अनन्य हेतु है।[1] वास्तव में संयोग की दासता एवं वियोग का भय संसार आबद्धता तथा अभाव रूप अतृप्ति का मूलकारण है एवं योग उसका परम व अचूक निवारण है।

योग एक आधार है व योग एक युक्ति है संसार सागर से पार उतरने के लिए।[2] योग एक तीक्ष्ण कुठार है, समस्त विपदाओं का उन्मूलन करने के लिए।[3] दुःख का जीवन के साथ जो संयोग है, उससे विमुक्त होना ही योग है।[4] योग से प्राप्त मनोनिग्रह ही संसार-दुःख से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है।[5] इसी कारण गीता में भी ज्ञानी और तपस्वी की अपेक्षा योगी को अधिक श्रेष्ठ बताया है।[6] शास्त्रज्ञानी (द्रव्य ज्ञानी) एवं शारीरिक कष्ट रूप (द्रव्य तप) की अपेक्षा आत्म-स्थापना रूप योग इस-लिए श्रेष्ठ है क्योंकि आत्मस्थापना ही विद्वान् का ज्ञानी में एवं द्रव्य तप

का आत्म-विशुद्धि के परम कारण रूप भावतप में परिणमन का हेतु है।

ध्येय विहीन जीवन व्यर्थ क्रिया स्वरूप है। ध्येय विहीन साधक की तुलना **विवेक मार्तण्ड** में गधे के साथ की गई है[7]। जैसे गधा भी धूल से लथपथ रहता है, सदा सर्दी-गर्मी सहन करता है, पर उसका यह धूल में लोटना एवं सर्दी-गर्मी सहना व्यर्थ तथा उद्देश्य विहीन होता है, वैसे ही जिस साधक का संकल्प स्पष्ट नहीं है तब उसका धूल में जीवन व्यतीत करना तथा शारीरिक कष्टों को सहन करना केवल बाह्य आडम्बर मात्र है। उससे अन्तरशुद्धि रूप महत् लाभ उपलब्ध नहीं हो सकता। अतः किसी भी कार्य में संलग्न होने से पहले उसके उद्देश्य के प्रति स्पष्ट दृष्टि होना आवश्यक है। जीवन कोई न कोई ध्येय युक्त अवश्य ही होना चाहिए और केवल ध्येय युक्त ही नहीं, ध्येय भी उच्च होना आवश्यक है, अन्यथा विपरीत ध्येय जन्य परिणाम भी विपरीत ही होगा।

भारतीय संस्कृति का उच्चतम ध्येय है मोक्ष। संसार दुःख से विमुक्त होना ही परम पुरुषार्थ है[8] चाहे वह तत्त्वज्ञान हो, आचार हो, काव्य हो याकि नाटक मात्र, किन्तु काम विषयक कामशास्त्र का अन्तिम ध्येय चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष ही है।[9] इस कारण भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक संस्कृति के नाम से अभिहित किया गया है।

भारतीय विचारकों का चिन्तन बहुमुखी रहा है। उन्होंने जीवन के आवश्यक पहलुओं पर गहन व तीव्र अनुभूति पूर्ण तथ्यों को उद्घाटित किया है। शारीरिक एवं पदार्थिक आयामो से उपरत एक ऐसा भी आयाम है जो बौद्धिक तर्क एवं चर्चाओं से परे है। जो केवल अनुभव जन्य है और उस अनुभव का जनक है—योग।

योग एक ब्रह्मविद्या है। उसकी गति क्षर से अक्षर की ओर है। योग कोई सम्प्रदाय या दर्शन विशेष न होकर जीवन के अन्तर रहस्य की प्राप्ति की सहज प्रक्रिया है। योग का कार्य दर्शनशस्त्र की तरह सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं वरन् अन्तस् अनुभूतियों का जागरण है।

मोक्ष रूपी लक्ष्य सिद्धि का प्रधान व्यवधान है—मन और प्रधान सहयोगी भी है—मन। कहा भी गया है—**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः**[10]। व्यास ने भी कहा है—

संसार की नदियाँ तो एक ही दिशा में बहती हैं लेकिन चित्तरूपी महानदी उभयवाहिनी है। ऊर्ध्वगामिनी कल्याण का कारण है और अधोगामिनी पतन का कारण। आध्यात्म का प्रथम सोपान है— चित्त का ऊर्ध्वारोहण—'चेतो महानदी उभतोवाहिनी, वहति कल्याणाय पापाय च।[11]

उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा है।[12] उसी को आचार्य हेमचन्द्र ने योग के नाम से अभिहित किया है।[13] आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र में योग को परिभाषित करते हुए कहते हैं "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों मे मोक्ष अग्रणी है। योग उसका कारण है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही योग है।"[14] आचार्य हरिभद्रसूरि ने उन समस्त साधनों को योग माना है जिनसे आत्मशुद्धि होती है और मोक्ष के साथ संयोग होता है।[15] उपाध्याय यशोविजय जी का भी यही अभिमत है।[16] आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार आध्यात्मिकता एवं समता को विकसित करने वाला, मनोविकारों को क्षय करने वाला तथा मन, वचन एवं काया के कर्मों को संयत रखने वाला धर्म व्यापार ही श्रेष्ठ योग है।[17] यही भाव गीता में भी प्रकट हुआ है।[18]

महर्षि पतञ्जलि ने योग की परिभाषा देते हुए कहा है "चित्त की वृत्तियों का निरोध करना योग है।[19] याज्ञवल्क्य के अनुसार जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग होना योग है।[20] विष्णुपुराण में योग की इन शब्दों में परिभाषा की गई है "आत्मप्रयत्न सापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः" विज्ञान भिक्षु ने अपने ग्रन्थ योगसारसंग्रह में कहा है "सम्यक् प्रज्ञायते"। बौद्ध परम्परा में योग शब्द समाधि या ध्यान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हठयोग साहित्य में भी इसी प्रकार की परिभाषा मिलती है। रघुवंश में इसका अर्थ सम्पर्क, स्पर्श आदि से लगाया गया है। गणित में योग का अर्थ जोड़/संकलन होता है। ज्योतिषशास्त्र में योग को संयुति, दो ग्रहों का संयोग, तारापुंज, समयविभाग इत्यादि के रूप में स्वीकार किया गया है। चिकित्साशास्त्र में योग का अर्थ अनेक प्रकार के चूर्ण के अर्थ में अभिप्रेत है।

The great theosophist Annie Besant Calls it a Science of Psychology. As Dr. R.V. Ranade says or Yoga is a complete science, It is based upon the eternal laws of higher life, and does not require the support of any other science or philosophied

system. It is a science of psychology in much wider and deeper perspective. It follows the laws of psychology, applicable to the unfolding of the whole consciousness of man on every plane.

Sri Aurobindo says that all life is either consciously or unconsciously or subconsciously a yoga. It consists in a methodised effort towards selfperfection by the expression of the potentialities latent in the being and a union of the human individual with the universal and transcendent existence. We see partially expressed in man and the cosmos.

All life, when we look behind its appearances, is a vast Yoga of Nature, attempting to realise her perfection in an ever increasing expression of her potentialities and to unite herself with her own divine reality.

According to Swami Vivekananda, Yoga may be regarded as a means of comparising one's evolution into a single life or a few years or even a few months of bodily existince. Yoga is a kind of compressed but concentrated and intense activity according to the temprament of an individual.

योग एक ऐसा प्रयत्न है जिसमें साधक सहज व स्वभाविक अवस्था में रहता हुआ अपने स्वरूप बोध के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहता है। यद्यपि भारतवर्ष की रत्नगर्भा वसुन्धरा पर उत्पन्न हुए आर्य पुरुषों ने साधना की विविध प्रक्रियाओं की ओर निर्देश किया है तथापि यह सदा सर्वदा अनुभूत तथ्य रहा है कि साधनावस्था में यन्त्र की भान्ति कोई निश्चित मार्ग नहीं बनाया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति के लिए कोई निर्धारित मूल्य स्थापित नहीं किये जा सकते। साधना सामूहिक नहीं, व्यक्ति परक होती है। कुछ साधक एकत्रित होकर साधना कर सकते हैं फिर भी उनके अनुभव निजपरक एवं मर्यादित ही रहेंगे।

मनुष्य स्वयं का मित्र है और शत्रु भी है। उसका अन्तर ज्ञान ही उसका परम मार्गदर्शक है। जब तक वह स्वयं अपनी समस्याओं के

सम्बन्ध में अभीप्सापूर्ण प्रयत्न व सार्थक परिणामगामी चिन्तन नहीं करता तब तक समाधान परे ही रहता है। प्रत्येक को स्वयं के प्रश्न का उत्तर स्वयं ही ढूढ़ना होता है। किसी के बनाए हुए समाधान किसी के काम नहीं आ सकते। वे उसे मार्गदर्शन एवं प्रेरणा अवश्य दे सकते हैं फिर भी समाधान तो उसका स्वयं का ही होगा। प्रारम्भ में, अन्य के दर्शाए हुए मार्ग में उपादेयता दृष्टिगत हो सकती है किन्तु अन्ततोगत्वा वे मार्ग उसका साथ नहीं दे पाते।

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं में एक इकाई है। उसका स्वयं का व्यक्तित्व है, विशेषताएँ हैं, गुण दोष हैं। अतः व्यक्तिगत गुणदोषानुसार उसके व्यक्तित्वानुसार साधना का मूल स्वरूप एवं मूल ध्येय एक रहते हुए भी उत्तर स्वरूप एवं उत्तर ध्येय व्यक्ति से व्यक्ति परिवर्तित होते हैं। इसी उत्तरस्वरूप एवं उत्तर ध्येय के परिवर्तन ने योग में विविध विधाओं को जन्म दिया है। जैसे द्रव्य का मूल स्वरूप एक होते हुए भी उसकी पर्याय अनेक होती हैं। वैसे ही योग मूलतः एक होते हुए भी उत्तरप्रक्रियाओं व बाह्य स्वरूप की अपेक्षा विविध रूपों में प्रतीत होता है।

ये उपर्युक्त विविध रूप हमें तीन मूलधाराओं में मिलते हैं, वे धाराएं है—(१) वैदिक (२) बौद्ध एवं (३) जैन धारा।

ऋग्वेद में जहां योग संयोग अर्थों में मिलता है वहीं उपनिषदों विशेषकर पातञ्जलयोगदर्शन में आगत ध्यान एवं समाधि योग को ही दर्शाते हैं। इस तरह वैदिक दर्शन में योग से संयोग एवं ध्यान समाधि दोनों ही अर्थ अभिप्रेत हैं।

वस्तुतः योग का अत्यन्त परिष्कृत रूप हमें गीता में दृष्टिगोचर होता है। गीता में श्रीकृष्ण ने दो प्रकार की निष्ठा बतलाई है।[2] ज्ञान-निष्ठा और कर्मनिष्ठा इस अपेक्षा से योग भी दो प्रकार का है—ज्ञान-योग एवं कर्मयोग। भक्तियोग इन दोनों में ही समाविष्ट है क्योंकि बिना भक्ति, श्रद्धा और प्रेम के न तो ज्ञानार्जन हो सकता है और न ही कर्म कौशल्य प्रकट हो सकता है। अतएव भक्ति और कर्म में ही अनुस्यूत है।

बौद्ध दर्शन में भगवान् बुद्ध ने महर्षि पतञ्जलि की तरह आर्य अष्टाङ्गिकमार्ग को प्रबल प्रेरणा दी है। बौद्धाचार्यों ने अपनी कृतियों में सम्यक् समाधि, ध्यान व योग पर इसी अष्टाङ्गिक मार्ग में विस्तृत प्रकाश

डाला है। अतएव इसके लिए निकाय ग्रन्थों का परिशीलन अपरिहार्य है।

जैन धारा

जैन आगमों में योग शब्द प्रधानरूप से संयोग के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थों में इसे ध्यान एवं समाधि के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। मन-वचन-काया का आत्मा के साथ सम्यक् योग मनोयोग, वचनयोग एवं काय-योग कहे जाते हैं[23]। मन, वचन और काय-योग का पूर्ण निरोध ज्ञानाराधक का लक्ष्य है। इनका गोपन करना गुप्ति कहलाता है, जो तीन हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति।[24], जीवन के लिए आवश्य क्रियार्थ सम्यक् रूप से प्रवृत्ति करना समिति कहलाता है, ये पांच हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आयाणभंडमत्त निक्खेवणा और उच्चारपासवण खेल जल्लमल्ल सिंघाण परिट्ठावणिया समिति।[25] यह समिति और गुप्ति साधक जीवन का प्राण है। यही योग का स्वरूप है।

आगम तथा निर्युक्तियों में योग, ध्यान सम्बन्धी वर्णन यत्र-तत्र आंशिक रूप से उपलब्ध होता है। इन्हें महर्षि पतंजलि रचित **योगसूत्र** सदृश सूत्रबद्ध तथा क्रमबद्ध करने का परिणामगामी एवं सफल प्रयास जैनाचार्यों ने भी किया हैं, जिनमें प्रमुखतः आचार्य श्री हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजयजी तथा आचार्य शुभचन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग सम्बन्धी दो प्राकृत में एवं दो संस्कृत में, इस तरह चार महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। **योगशतक** एवं **योग विंशिका** तथा **योगबिन्दु** एवं **योगदृष्टिसमुच्चय**। इसके अतिरिक्त संस्कृत में रचित **षोडशक प्रकरण** में भी योग का वर्णन मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने **योगशास्त्र**, आचार्य शुभचन्द्र ने **ज्ञानार्णव** तथा उपाध्याय यशोविजयजी ने **आध्यात्मसार**, **आध्यात्मोपनिषद्** एवं **द्वात्रिंशत द्वात्रिंशिकाओं** की रचना की है, जिसमें योग सम्बन्धी गहन परन्तु सरल व स्पष्ट विवेचन दृष्टिगत होता है।

योगविंशिका में हरिभद्रसूरि ने योग के अस्सी भेद बतलाए हैं। सर्वप्रथम योग को पांच प्रकारों में विभक्त किया गया है,[26] जिनमें से प्रथम दो ज्ञानयोग एवं अन्य तीन कर्मयोग स्वरूप हैं।

(१) **स्थानयोग:** वीरासन, पद्मासन, पर्यङ्कासन इत्यादि द्वारा

योग स्थिरता का अभ्यास।

(२) **उर्ण (वर्ण) योग :** मंत्र (जप) के द्वारा शब्द उच्चारण के माध्यम से योग स्थिरता का अभ्यास।

(३) **अर्थयोग :** नेत्र आदि पदार्थों का वाच्यार्थ।

(४) **आलम्बन :** किसी पुद्गल विशेष पर मन का केन्द्रीकरण।

(५) **रहित योग :** निरालंब आत्मचिन्तन व आत्मलीनता रूप निर्विकल्प समाधि।

इन पांचों में से प्रत्येक को इच्छा, प्रवृति स्थिरता एवं सिद्धि इन चार भेदों में विभक्त किया गया है[27]।

(१) **इच्छा :** उपरोक्त क्रियाओं को करने का अंतर में उल्लास, उमंग का जागृत होना। यह अद्भुत भावों से युक्त तीव्र उत्कण्ठा इच्छा कहलाती है।

(२) **प्रवृति :** उपरोक्त क्रियाओं का उपशमभावपूर्वक यथार्थत: पालन प्रवृति कहलाता है।

(३) **स्थिरता :** इन क्रियाओं में सुदृढ़ता आने का नाम स्थिरता है।

(४) **सिद्धि :** जब साधक इन क्रियाओं पर पूर्णरूप से अधिकार प्राप्त कर लेता है, परिणामस्वरूप वह स्वयं तो आत्मशांति का अनुभव करता ही है किन्तु सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों को भी योग की ओर सहज रूप से उत्प्रेरित करता है तब वह सिद्ध योगी कहलाता है।[28]

उपरोक्त बीस भेदों में से प्रत्येक के और चार-चार भेद होते है[29]—

(१) **प्रीति अनुष्ठान :** योगिक क्रियाओं में अत्यधिक रूचि का उत्पन्न होना एवं रूचिपूर्वक उन प्रवृत्तियों में सन्नद्ध होना।

(२) **भक्ति अनुष्ठान :** उन क्रियाओं के प्रति अत्यधिक आदर और प्रेम रखते हुए उत्कृष्ट भावों से प्रयत्नशील होना।

(३) **आगमानुष्ठान :** शास्त्र वचनों को दृष्टिगत रखते हुए साधनानुरूप समुचित प्रवृत्ति करना।

(४) **असंगानुष्ठान :** साधना में जीवन का ओतप्रोत हो जाना धर्म का जीवन में एक रस हो जाना।

इस तरह योग के व्यवहार जन्य अस्सी भेद होते हैं। एक अन्य अपेक्षा से हरिभद्रसूरि ने **योगदृष्टिसमुच्चय**[30] में योग को तीन भागों में विभक्त किया है—

(क) **इच्छायोग :** जो धर्म/आत्म जागरण की इच्छा (आत्म-जिज्ञासा) किए हुए है, जिसने आगमश्रुत उसके अर्थ एवं शास्त्रीय सिद्धांतों को सुना हुआ है परन्तु अभी प्रमादवश जिसकी योग साधना में विकलता है ऐसे असंपूर्ण धर्मयोग को इच्छा योग कहते हैं।[31]

(ख) **शास्त्रयोग :** आगमश्रुत के ज्ञाता, श्रद्धावान् तीव्रबोधयुक्त तथा यथाशक्ति प्रमादरहित पुरुष की अविकल योग-साधना शास्त्रयोग कहलाता है।[32]

(ग) **सामर्थ्ययोग :** शास्त्र में जिसका उपाय दर्शाया गया है परन्तु शक्ति के उद्रेक/प्रबलता के कारण जिसका विषय शास्त्र से भी अतिक्रान्त है वैसा उत्तमयोग, सामर्थ्ययोग कहलाता है।[33]

जैन साधना पद्धति में योग हठपूर्वक नहीं वरन् योग का स्वरूप बड़ा ही सहज एवं स्वाभाविक है यह अनुभूत सत्य है कि मन को हठपूर्वक नियन्त्रण में करने का प्रयास मन को वश में करने रूप उपाय नहीं बन सकता। हठपूर्वक नियन्त्रित किया गया मन सहसा नियन्त्रण मुक्त होते ही स्वाभाविक वेग की अपेक्षा अति तीव्रगति से गतिमान् होता है। जो वर्षों से अर्जित साधना के पतन का कारण भी बन सकता है। योग को जीवन का सहजरूप देने हेतु जैनागमों में एक अत्यन्त सुन्दर शब्द आता है—"यत्ना"। कुछ भी करो यत्ना पूर्वक करो। यह बात **आचारांगसूत्र** में भी भगवान् महावीर के जीवनवृत्त का विवेचन करते हुए कही गई है।

भगवान् महावीर की तप साधना जागृति विवेक से युक्त थी। जिसके दो आधार थे—समाधि-प्रेक्षा और अप्रतिज्ञा। अर्थात् वे चाहे कितना ही कठोर तप करते लेकिन साथ में अपनी समाधि का सतत प्रेक्षण करते रहते और उनका यह तप किसी प्रकार के पूर्वग्रह/हठाग्रह युक्त नहीं था। इस से यह ज्ञात होता है कि भगवान् की तप साधना

सहज व समाधि युक्त थी।

आचारांगसूत्र[34] में और एक शब्द आता है—"आयतयोग" । इस का अर्थ वृत्तिकार ने मन-वचन-काया का संयतयोग किया है परन्तु इसकी अपेक्षा इसे तन्मयतायोग कहना अधिक उपयुक्त होगा। भगवान् किसी भी क्रिया को करते समय उसमें तन्मय हो जाते थे। यह योग अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना से परे केवल वर्तमान में रहने की क्रिया में पूर्णतया तन्मय होने की प्रक्रिया है। वे भगवान् चलते, खाते-पीते, उठते-बैठते समय सदैव निरन्तर इस आयतयोग का ही आश्रय लेते थे[35]। वे चलते समय केवल चलते थे। वे चलते समय न तो इधर-उधर झांकते, न बातें या स्वाध्याय करते और न ही चिन्तन करते थे। यही बात खाते समय भी, वे केवल खाते थे, न तो स्वाद की ओर ध्यान देते, न चिन्तन, व बातचीत। वर्तमान क्रिया के प्रति वे पूर्ण जाग्रत एवं सर्वात्मना समर्पित थे।[36]

पाञ्जल योगसूत्र में वर्णित अष्टांगयोग जैन दृष्टि पर अधिक निर्भर है जैसे कि—(१) **यम :** यम पाँच हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जैन दृष्टि अनुसार पांच महाव्रत भी ये ही हैं। यही बात हरिभद्रसूरि ने भी कही है।[37] इतना अवश्य है कि इन व्रतों के प्रति **योगसूत्र** की अपेक्षा जैनदृष्टि अधिक सूक्ष्म है। **योगशास्त्र** के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय प्रकाश में हेमचन्द्राचार्य ने व्रतों का विस्तृत वर्णन किया है।

(२) **नियम :** योग का द्वितीय चरण है नियम। यह नियम साधक-जीवन में तेजस्विता लाते हैं। पतंजलि के नियमों के समकक्ष हम **समवायाङ्गसूत्र** में बताए हुए बत्तीस योग संग्रह को रख सकते हैं[38]। मोक्ष की साधना को सुचारु रूप से सम्पन्न करने हेतु मन-वचन-काया के प्रशस्त व्यापार रूप यह बत्तीस योग संग्रह है। जैसे आलोचना आपत्सु दृढ़धर्मता, अनाश्रित उपधान, निष्प्रतिकर्मता, तितिक्षा, धृति, मति, सवेग, विनयोपगत प्रणिधि, अलोभता, निरपलाप इत्यादि।

(३) **आसन :** चित्त-स्थैर्य योग का प्राण है। इसकी सिद्धयार्थ काय-स्थैर्य का पद्धतिपूर्ण अभ्यास है। आसन का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से काया के साथ और परोक्षरूप से वचन एवं मन के साथ भी है। घेरण्ड

संहिता में ८४ लाख आसनों की चर्चा की गयी है। जिसमें ८४ आसन मुख्य हैं। इनमें भी शिवसंहिता में चार आसनों को मुख्यता प्रदान की गयी है—(१) सिद्धासन (२) पद्मासन (३) उग्रासन (४) स्वस्तिकासन।

जैनदर्शन में निर्जरा का पाँचवाँ भेद है—काय क्लेश, जिसकी तुलना पतंजलि के आसन के साथ आंशिक रूप से की जा सकती है। कायक्लेश तप चार प्रकार का है—

(१) आसन (२) आतापना (३) विभूषावर्जन (४) परिकर्म वर्जन। जैनागमों में कायक्लेश तप के अन्तर्गत निम्नोक्त आसन की चर्चा की गई है यथा—(१) **स्थान स्थितिक**: एक ही आसन में बैठे रहना। (२) **उत्कुटुकासनिक**: उकडू आसन में बैठना। (३) **वीरासनिक**: वीरासन में स्थित होना। (४) **नैषधिक**: पुट्ठे टिकाकर या पालथी लगाकर बैठना। (५) **आप्रावृतक**: खुजली आने पर देह को न खुजलाना।

इसके अतिरिक्त गोदोहिक, पद्मासन, पर्यंकासन का भी निर्देश किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने **योगशास्त्र** के चतुर्थ प्रकाश में पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दंडासन, उत्कुटिकासन, गोदोहिकासन, कायोत्सर्गासन इत्यादि की चर्चा की है।[39]

पतंजलि ने आसन की परिभाषा करते हुए आसन को स्थिर सुख कहा है।[40] यही बात आचार्य हेमचन्द्र ने भी **योगशास्त्र** के चतुर्थ प्रकाश में आसनों की चर्चा करने के पश्चात् कही है। कि साधक के लिए वही आसन उपयुक्त है जो उसे चित्तस्थिरता में उपयोगी बने।[41] अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार के आसन से ध्यान साधे जावे जिससे शरीर पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े अथवा शरीर के साथ किसी प्रकार का अन्याय न हो।

दशवैकालिकसूत्र में भी इसी अपेक्षा से कहा भी गया है कि यहाँ पर कायक्लेश तप का प्रधान ध्येय काया को क्लेश देना नहीं वरन् काया के क्लेश को सहन कर आसन सिद्धि द्वारा ध्यान में स्थिरता प्राप्त कर आत्मिक सुख को उपलब्ध करना है।

(४) **प्राणायाम**: प्राणों पर नियंत्रण प्राप्त करने का पद्धतिपूर्ण

अभ्यास प्राणायाम कहलाता है। इससे प्राणों से आबद्ध मन नियंत्रित हो जाता है। जैन परम्परा में पतंजलि इस वर्णित प्राणायाम को साधना की दृष्टि से निरुपयोगी माना गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने **योगशास्त्र** में प्राणायाम की विस्तृत चर्चा की है। उनकी यह मान्यता भी रही है कि प्राणायाम मानव को अधिक लाभकारी नहीं है कारण कि प्राणों के निग्रह से शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती हैं जिससे मन में चपलता उत्पन्न होती है। दूसरे पूरक, कुम्भक और रेचक क्रियाओं के करने में परिश्रम करना पड़ता है। इससे भी मन में संक्लेश उत्पन्न होता है और यह चित्तसंक्लेश मोक्ष में बाधक है।

एक अन्य अपेक्षा से चिंतन करने पर यह ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने प्राणायाम को हठपूर्वक नियंत्रण के रूप में न लेकर सहज श्वास-दर्शन के रूप में स्वीकृत किया है। जैसे हमारे यहाँ पर कायोत्सर्ग को श्वासोच्छ्वास के साथ संलग्न किया गया है। आचार्य भद्रबाहु ने सांवत्सरिक कायोत्सर्ग १००४ उच्छ्वास प्रमाण, चातुर्मासिक ५००, पाक्षिक ३००, रात्रिक ५०, दैवसिक १०० उच्छ्वास प्रमाण बताया है।

(५) **प्रत्याहर** : इंद्रियों का अपने विषयों से रहित होकर चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाना प्रत्याहार है।[42] प्रत्याहार की तुलना हम निर्जरा का छठा भेद प्रतिसंलीनता के साथ कर सकते हैं। औपपातिकसूत्र में प्रतिसंलीनता चार[43] प्रकार की बतलायी गयी है।

(१) **इंद्रिय प्रतिसंलीनता** : इंद्रियों का गोपन करना।

(२) **कषाय प्रतिसंलीनत** : क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों आवेगों का निरोध।

(३) **योग प्रतिसंलीनता** : मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृतियों का गोपन।

(४) **विविक्त-शयनासन** : सेवनता : एकांत स्थान में निवास।

(६) **धारणा**, (७) **ध्यान और** (८) **समाधि** :

महर्षि पतंजलि ने धारणा, ध्यान एवं समाधि को संयम के नाम से अभिहित किया है।[44] पतंजलि के अनुसार किसी एक देश अथवा ध्येय में चित्त को बांधना वा लगाना **धारणा** है।[45] उस ध्येय में चित्त की

एकताननता अर्थात् चित्त का उसी ध्येय में स्थिर हो जाना **ध्यान है,**[46] और जब केवल अर्थ या ध्येयमात्र का प्रतिभास या प्रतीति रह जाए, चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाए तब वह **समाधि** है।[47] महर्षि कपिल ने भी इसे ही समाधि कहा है।[48]

यदि मन को किसी स्थान में सेकंड भर धारण किया जाए तो उससे एक धारण होगी, यह धारणा द्वादश गुणित होने पर एक ध्यान और वह ध्यान द्वादश गुणित होने पर एक समाधि होती है।

जैनदर्शन में धारणा के स्थान पर 'एकाग्र मन सन्निवेशना' को ध्यान के पूर्व का चरण स्वीकार किया गया है। किसी एक आलंबन में मन की स्थापना करना इसका अर्थ है। **उत्तराध्ययनसूत्र** में इस 'एकाग्र मन सन्निवेशना' का फल चित्त-निरोध अर्थात् ध्यान बतलाया गया है।[49] उमास्वाति के अनुसार मन को चिन्तन का किसी एक आलंबन पर स्थिर हो जाना है।[50] **ध्यानशतक** अनुसार मन का किसी एक ही वस्तु पर अवस्थान ध्यान है।[51] **तत्वानुशासन** के अनुसार चित्त को विषय-विशेषपर केंद्रित करना ध्यान है।

संक्षेप में किसी एक अध्यवसाय पर चित्त का स्थैर्य ध्यान है। उस चित का विषयान्तर होना भावना, अनुप्रेक्षा तथा चिन्ता कहा जाता है। मनोयोग का निरोध ध्यान का प्रारंभिक स्वरूप है और अंतिम स्वरूप है तीनों योगों का पूर्ण निरोध। प्रथम धर्मध्यान, द्वितीय को शुक्लध्यान कहा जाता है। मध्य की स्थितियाँ धर्म एवं शुक्लध्यान की विविध भूमिकाएं हैं। शुक्लध्यान की तुलना समाधि के साथ की जा सकती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि

पुरुष का अर्थ है—आत्मा तथा महापुरुष का अर्थ है—महान् आत्मा जिसके अस्तित्व में जनसाधारण से विशेष व महान् गुणों का आविर्भाव हुआ है। जिनका आदर्श स्वयं में एक आदर्श बन गया है। भगवान् महावीर की अहिंसा, बुद्ध की करुणा, राम की मर्यादा, मीरा की भक्ति वैसे ही आचार्य हरिभद्रसूरि स्वयं में योग का एक स्वर्णिम अध्याय बनकर रह गये। आप जैन समाज के सौभाग्य की एक पर्याय

थे। आपका समय वि० सं० ७५७ से ८२७ पर्यन्त 'हरिभद्रयुग' नाम से अभिहित किया गया है।

आपके प्रति श्री जिनेश्वर सूरि के वन्दनामय उद्गार कितने सार्थक हैं :—

आकाश मण्डल को प्रकाशित करने वाला सूर्य कहाँ ?
और स्वयं को उद्भासित करने वाला जुगनू कहाँ ?
वैसे ही आपके सद्वचन कहाँ ? और उनका
स्पष्टीकरण करने वाला मैं कहाँ ?[62]

आचार्य हरिभद्रसूरि चित्तौड़ के उद्भट ब्राह्मण विद्वान् थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जिसकी कही हुई बात उन्हें समझ में नहीं आयेगी, वे उनका शिष्यत्व ग्रहण करेंगे। एक समय कारणवश जैन उपाश्रय के निकट खड़े हुए उन्होंने साध्वी याकिनी महत्तरा द्वारा उच्चारित एक प्राकृत गाथा सुनी, जो उन्हें समझ में नहीं आयी। तुरन्त प्रतिज्ञानुसार उनका शिष्यत्व ग्रहण करने हेतु तत्पर हो गए। यहाँ पर स्वयं की प्रतिज्ञा के प्रति उनकी प्रामाणिकता दृष्टिगोचर होती है। पश्चात् साध्वी याकिनी महत्तरा के निर्देशानुसार आचार्य जिनभद्र के पास दीक्षित हुए। साधना पथ पर गतिमान् होते हुए उनका द्रव्यश्रुत विकसित भावश्रुत रूप में परिणमित हुआ और जैन साहित्य आलोक में वे एक तेजस्वी नक्षत्र के रूप में उदित हुए।

वास्तव में आप एक प्रज्ञा पुरुष थे। उनकी युग प्रतिष्ठित बहुश्रुतता एवं नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के परिचायक योग, न्याय एवं जैन कथा साहित्य में जो रचनाएं प्रस्तुत की हैं वह उनके पश्चात् आने वाले आचार्यों के लिए प्रेरणास्रोत बनकर रह गयीं।

आगमों एवं निर्युक्तियों में बिखरे हुए अंशों को एकत्रित व सूत्रबद्ध कर उस पर स्वयं के मौलिक चिन्तन के आधार पर उन्होंने जो योग विषयक ग्रंथ लिखे हैं वे बड़े ही अनूठे व अपने आप में एक नई शैली को लिए हुए है। उन्होंने जिस शैली का अनुसरण किया उसके दर्शन अन्यत्र नहीं होते। जनश्रुति अनुसार उन्होंने १४४४ प्रकरण ग्रंथों को जैन साहित्यधार में प्रवाहमान किया था। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं पर आपका समान अधिकार था। आपने सांख्य, योग, न्याय, चार्वाक, बौद्ध

इत्यादि मतों पर आलोचनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया है, परन्तु इस आलोचनात्मक विवेचन में भी आपने अन्य विचारकों के नामों को सादर उल्लेख किया है जो आपकी विनयशीलता व औदार्य का परिचायक है। जर्मन विद्वान हर्मन जैकोबी के शब्द हैं कि 'उन्होंने प्राकृत में लिखित जैनागमों की संस्कृत टीकाएं, निर्युक्तियां एवं चूणियाँ लिखकर जैन जैनेतर जगत् का अत्यंत उपकार किया हैं।'

योग-बिन्दु

परम पुरुष जिनेश्वर भगवन्त के चरण-पद्मों में श्रद्धायुत वंदनरूप मंगलाचरण के पश्चात् आचार्य हरिभद्रसूरि ने अनेकानेक विशिष्ट अभिव्यंजनाओं से युक्त योगबिन्दु नामक अतिमहत्वपूर्ण साहित्य कृति योग का विशद् वर्णन किया है। जिसमें हरिभद्रसूरि ने विभिन्न परंपराओं से उपरत हो उसके मूलतत्व का स्पर्श किया है। इस मूलतत्व का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण-विवेचन उनके सम्प्रदायमुक्त व विशाल दृष्टि-कोण का परिचायक है। परंपराओं की विभिन्नता होते हुए भी समस्त संकेत और सभी दृष्टियाँ उसी एक तत्व की ओर है जिसे जैन एवं वेदान्त में पुरुष, सांख्य में क्षेत्रजित् और बोद्ध में ज्ञान कहा गया है। वैसे ही हिंसा-विरति को जैनदर्शन में व्रत और **पातंजल योग** में यम के नाम से जाना जाता है। इसी आधार पर आचार्य श्री ने सम्यग्दृष्टि एवं बोधिसत्व का निरपेक्ष तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है।

अव्याबाध सुख आपूरित शाश्वत जीवन प्रदान करने रूप अभ्यास, वह पथ है—योग। इस पथ का पथिक जीव तब होता है जब वह चरम पुद्गल परावर्तन में प्रवेश करता है अर्थात् कर्म शास्त्र की दृष्टि के अनुसार जब भव्य जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सातकर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम के भीतर कर अपूर्व परिणामों द्वारा राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि को तोड़ देता है। ऐसी परिपक्व अवस्था आने पर ही जीव योग का अधिकारी बनता है। उस समय उसके भीतर योग के प्रति उत्कृट अभिरुचि, प्रेरणा व अदम्य उत्साह जागृत होते हैं। जिसके आधार पर वह उत्तरोत्तर विकासोन्मुख अवस्थाओं को पार करता हुआ चरम-लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

भाग्य और पुरुषार्थ का वर्णन करते हुए हरिभद्रसूरि ने योग-बिन्दु में कहा है कि यह दोनों तत्त्व व्यक्ति के जीवन में समान महत्त्व रखते हैं। इनमें से जो अधिक बलवान् होता है वह जीवन-परिस्थियों को प्रभावित करता है। चरम पुद्गल परावर्तन के पूर्ववर्ती परावर्तनों में भाग्य पुरुषार्थ पर हावी होता है अर्थात् भाग्य बलवान् और पुरुषार्थ क्षीण होता है। चरम पुद्गल परावर्तन में पुरुष की उत्कर्षता उत्तरोत्तर वर्धित होती है। पुरुषार्थ के माध्यम से जीव भाग्य को वश में कर लेता हैं। यही साधक की अवस्था है। इसे ही एक अन्य रूप से अन्तरात्म-भाव भी कहा गया है। तीन प्रकार की आत्माएं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। पूर्ववर्ती परावर्तनों में स्थित जीव बहिरात्मा, चरम पुद्गल परावर्तन में प्रवेश करने पर पुरुषार्थ की तीव्रता बढ़ती तब वह अन्तरात्मभाव को उपलब्ध होता है। और यही भाव कारण बनकर कार्यरूप परमात्मभाव की उपलब्धि कराता है। चरम पुद्गल परावर्तन में स्थित जीव की विकासोन्मुख अवस्थाओं की चर्चा करते हुए पांच यौगिक अवस्थाएं वर्णित की गई है: (१) अध्यात्म (२) भावना (३) ध्यान (४) समता (५) वृत्तिसंक्षय।[53]

(१) **अध्यात्म** : अध्यात्मका सीधा सा अर्थ है—आत्मा का आत्मा में अधिष्ठित होना। स्व का स्व के सम्मुख होना। इसे योग-बिन्दु में इस प्रकार वर्णित किया गया है कि चारित्रगामी पुरुष का शास्त्रानुगामी तत्व-चिंतन, सेवित प्रमादमय भूलों को सम्यक् आलोचना व प्रतिक्रमण, देवादि के प्रति पूजनीयता तथा मैत्री आदि शुभ भावों से भावित अंतःकरण अध्यात्म कहलाता है।[54]

(२) **भावना** : सामायिक द्वात्रिंशिका के प्रथम श्लोक में आचार्य अमितगति ने चार भावनाएँ—मैत्री, प्रमोद, कारूण्य और माध्यस्थ को प्ररूपित किया है। जिसे बौद्ध दर्शन में चार ब्रह्म-विहार के नाम से जाना जाता है। अध्यात्मरत साधक को हरिभद्रसूरि ने इन्हीं उदात्तभावों को अंतकरण में उद्भूत कर उच्चत्तर आत्म-परिणामों को संप्राप्त करने हेतु निर्देश दिया है।

(३) **ध्यान** : शुभालम्बन पर चित्त की एकाग्रता ध्यान कहलाती है। जो दीपक की स्थिर लौ के समान स्थैर्य प्राप्त ज्योतिर्मय होता है तथा सूक्ष्म एवं गहनता युक्त होता है।

(४) **समता :** अविद्या द्वारा कल्पित इष्ट-अनिष्ट की वास्तविकता का बोध हो जाने पर इष्ट आकर्षण और अनिष्ट अनाकर्षण समाप्त हो, एक उपेक्षा, निःस्पृहता, निःसंगता का प्रादुर्भाव होता है उसे समता कहते है।[55]

(५) **वृत्तिसंक्षय :** आत्मा की कर्मों के साथ बन्ध होते रहने की जो अनादिकालीन वृत्ति है उसका संक्षय, सम्पूर्णरूप से क्षय हो जाना, मिट जाना वृत्ति संक्षय कहलाता हैं।[56] भावना, ध्यान और समता के सम्यक् अभ्यास से वृत्तिसंक्षय का आविर्भाव होता है।

योग की विभिन्न विधाओं की चर्चा करते हुए हरिभद्रसूरि ने साधन रूप जप सम्बन्धी उल्लेख भी किया है। उनके अनुसार जप किसी देव-मूर्ति के समक्ष, किसी द्रुमकुंज, सरोवर या नदीतट जैसे शुद्ध व नैसर्गिक स्थान पर करना चाहिए। जप में बाह्य-शुद्धि के साथ अंतरभावों का भी जपमय हो जाना अति-आवश्यक है। मन को हठपूर्वक जप में लगाने की अपेक्षा विक्षिप्तता का अनुभव होने पर कुछ समय विश्रांति के अनन्तर जप करना चाहिए। आचार्य श्री जी का यह सूचन उनके सहजतापूर्ण दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है।

साधनापथ पर अविरमित गति से बढ़ते हुए साधक प्रगतिसूचक संकेतरूप कुछ असाधारण विशिष्टताओं का भी अनुभव करता है। जैसे स्वप्न में देवदर्शन, किसी अन्य महापुरुष के दर्शन इत्यादि शुभ संकेतपूर्ण स्वप्नों का आना। यह स्वप्न मनोविकार जन्य न होकर यथार्थ प्रतीति से युक्त होते हैं तथा समय पाकर सत्य सिद्ध होते हैं।

कार्य-कारण भाव एक अटल वैधानिक नियम है। बिना कारण के कार्य घटित नहीं हो सकता, जो जैन-दर्शनानुसार पांच हैं। जिसे पंच-समवाय भी कहते हैं। यथा काल, स्वभाव, कर्म, नियति और पुरुषार्थ। हरिभद्रसूरि के अनुसार इसमें स्वभाव की प्रमुखता है। अन्य तत्वों के बीज स्वभाव में ही निहित हैं। वे इसी के सहायक रूप हैं।

हरिभद्रसूरि के मतानुसार चरम पुद्गलपरावर्तन में जो जीव नहीं है वे विभाववश सांसारिक भोगोपभोग में ही स्वयं को सुखी मानते हुए त्रिसंज्ञा आहार, भय और मैथुन में लिप्त रहते हैं। जिन्हें भवाभिनन्दी

की संज्ञा दी गई है।[57] ऐसे जीवों की धर्म-क्रिया केवल बाह्य-आडम्बर मात्र होती है जैसे श्रीमद् रायचंद्र ने आत्म-सिद्धि में कहा भी है।

"बाह्यक्रिया मां राचता अन्तर्भेद न कांई" भवाभिनन्दी की धर्म-क्रिया लोकानुरंजन तथा बाह्य-आडंबररूप हीन उद्देश्य से प्रेरित होने पर अंततः पापमय सिद्ध होती है। भवाभिनन्दी की यह धर्म-क्रिया लोकपंक्ति कहलाती है।[58] और दुःख का कारण बनती है। फिर भी अनाभोगिक मिथ्यात्वी की लोकपंक्ति रूप धर्म-क्रिया इतनी अनर्थकर नहीं होती पर हीन उद्देश्य को लेकर अभिगृहीत मिथ्यात्वी की धर्म-क्रिया अनर्थकर सिद्ध होती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने **योग-बिन्दु** में चरम-पुद्गल परावर्तन को अतिमहत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। चरम पुद्गल परावर्तन में स्थित जीव ही उनकी दृष्टि में योग का अधिकारी हैं। इनके पूर्ववर्ती परावर्तनों में न ही वह योग सम्मुख होता है न ही वह यथार्थ धर्म-क्रिया के आचरण से युक्त हो सकता है।[59] कारण उस समय उसकी परिणामदशा रूप योग्यता ऐसी नहीं होती कि वह योग सम्मुख हो सके। जैसे घृत, दधि इत्यादि बनने रूप योग्यता तृण में समाहित होते हुए भी जब तक वह तृण अवस्था में है तब तक घृत आदि प्राप्त नहीं हो सकते। आचार्य श्री ने स्वयं इस तथ्य की पुष्टि आचार्य गोपेन्द्र का तत् सम्बन्धी मत प्रकट करके की है।

संकल्पपूर्ण योग मार्ग पर गतिमान् साधक के लिए हरिभद्रसूरि ने समर्पण भाव को भी पूर्वसेवा, देव-पूजन इत्यादि के रूप में यथोचित महत्ता प्रदान की है। गुरु तथा देव के प्रति निष्ठा व भाव आपूरित हृदय, उनके दर्शन-पूजन तथा भक्ति व भक्तिमार्ग के प्रति रूचि। अद्वेष भावना पूर्व-सेवा कहलाती हैं। गुरु का अर्थ एक विशेष व्यक्ति मात्र न लेकर विशद दृष्टिकोण से माता-पिता, कलाचार्य, वृद्ध पुरुष, धर्मोपदेष्टा इत्यादि सत्पुरुषों को गुरु रूप स्वीकार किया है। और इनके प्रति विनययुक्त व्यवहार समादरभाव, यथा समय वंदन-पूजन का विधान किया है।[60] देव-पूजा के सम्बन्ध में सभी देवों की समादर भाव से अथवा किसी देव-विशेष का अन्य देवों के प्रति अद्वेषभाव रखते हुए पूजन का विधान है। विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यह पूर्वसेवा भी चरम-पुद्गल परा-

वर्तन में ही योगांगरूप है अन्यथा पूर्ववर्ती परावर्तनों में वह सांसारिक आसक्ति से युक्त होने के कारण योगांगरूप नहीं होती।

दान धर्म का प्रवेश-द्वार है। इसके महत्व को सिद्ध करते हुए आचार्य श्री ने सदाचरित पुरुष के लिए दान को भी योग के अन्तर्गत स्वीकृत करते हुए व्रतों, साधु-संत, पोड़ित, दुःखीजन कों पात्र बतलाया है। हेम चन्द्राचार्य रचित योगशास्त्र में वर्णित मार्गानुसारी को तरह यहां पर सदाचरण रूप विशेष बातों का उल्लेखकर हरिभद्रसूरि ने धर्म के प्रति अपनी व्यवहारिक व समग्रतापूर्ण दृष्टि का परिचय दिया है। साथ ही चन्द्रायाण, कृच्छ्र, भृत्युध्व पापसूदन इत्यादि पाप-नाशक तप का भी उल्लेख किया है।[61]

सर्वज्ञता की चर्चा करते हुए सांख्य एवं अन्य दार्शनिकों के मत का निरसन करते हूए युक्ति-युक्त सर्वज्ञता की सिद्धि करते हुए इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि चेतना स्वयं ज्ञानमय है तथा चेतना और ज्ञान अभिन्न है जैसे अग्नि और उसकी उष्णता। अतः प्रत्येक अवस्था में चेतना ज्ञान-युक्त होती है। सांसारिक-अवस्था में कर्मावरण की तरतमतानुसार ज्ञान का प्रकटीकरण न्यूनाधिक हो सकता है पर सर्वथा अभाव असम्भव है। मुक्तावस्था सम्पूर्ण कर्म-क्षय की अवस्था है। अतः मुक्तात्मा सर्वज्ञता को उपलब्ध होती है।

अन्त में हरिभद्रसूरि का यह कथन अत्यन्त दृष्टव्य है कि प्रज्ञावान् पुरुष इस ग्रन्थ के मननीय तथ्यों पर चिंतनात्मक आलोचना कर स्वयं को इनमें से जो योग्य व सारभूत लगे उसे जीवन में समुचित स्थान प्रदान कर[63]। साथ ही वास्तविक महानता द्योतक अपनी लघुता प्रस्तुत करते हुए कहते है कि योग के महासागर से वह केवल योगबिन्दु रूप बूंद ही निकालकर समक्ष रख रहे है। इस महान् एवं प्रशस्त कार्य से जो पुण्य निष्पत्ति, शुभ संपत्ति अर्जित की है उसके हकदार स्वयं ही न होकर समस्त जीवों को भवरोग के संताप से विमुक्त कराने में सहायक बने ऐसी मंगल-भावना के द्वारा उन्होंने करुणा का शिखर-स्पर्श करने का अत्यन्त शुभ प्रयत्न किया है।

श्री सुव्रत मुनि जी पंजाब जैन स्थानकवासो परम्परा, में द्वितीय मुनि हैं जिन्होंने आचार्य हरिभद्रसूरि कृत 'योगबिन्दु पर समीक्षात्मक

अध्ययन करते हुए शोध ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ नवीन शैली को लिए हुए सभी योग परम्पराओं की एकात्मता का वर्णन करता है।

योग के समीक्षात्मक अध्ययन के लिए हरिभद्रसूरि का स्थान सर्वोच्च है। योग को उच्च स्थिति पर ले जाने के लिए उनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार सांसारिक दुःखों को समाप्त करने वाली सभी धार्मिक नैतिक शिक्षाएँ तथा आध्यात्मिक धाराएँ योग कहलाती हैं। योग के सही अभ्यास के लिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से चार भागों का अनुसरण किया जाता है—प्रेम, भक्ति, आगम ज्ञान और अनासक्त भाव से। योग भक्ति से सम्बन्ध जोड़ने का मूल तत्त्व है, उसकी प्राप्ति का साधन है।

आचार्य हरिभद्रसूरि की महत्वपूर्ण कृति 'योग बिन्दु' पर डा० श्री सुव्रत मुनि जी ने सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रथम अध्ययन में योग का महत्त्व दर्शाते हुए भारतीय धर्म दर्शन के सन्दर्भ में योग का समीक्षण किया है। द्वितीय अध्ययन में जैन योग के प्रणेता आचार्य हरिभद्रसूरि का समय, जीवनदर्शन, व्यक्तित्व और कृतित्व पर सुन्दर प्रकाश डाला है। तीसरे अध्ययन में योगबिंदु के आधार पर योग के अधिकारी और योग की पांच भूमियों का विशद विश्लेषण करते हुए योग साधना के विकास का वर्णन है। चतुर्थ अध्ययन में योग और ध्यान का सम्यक् विवेचन के साथ योग साधक के गुणस्थान ऊर्ध्वारोहण का क्रम बतलाया गया है। अन्त में भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप और जैनदर्शन से तुलनात्मक अध्ययन करते हुए आत्मा, कर्म, लेश्या और ध्यान पर गहन चिन्तन प्रस्तुत किया है।

वर्तमान में हमारी प्राचीन साधना विधियाँ, जो पूर्व जैनाचार्यों के जीवन का अनुप्राण थी, प्रायः लुप्त सी होती जा रही हैं। पुनः प्राचीन ग्रन्थों का अवगाहन कर उन साधना विधिओं को जनजीवन में संचारित किया जाए, यह आवश्यक हो गया है। जैसे आचार्य भद्रबाहु ने महाप्राण की साधना की थी तथा हरिभद्रसूरि और हेमचन्द्राचार्य के ग्रन्थों से भी उनके साधनामय जीवन के परिचय की झलक सम्प्राप्त होती है। मुनि श्री जी ने इस दिशा में एक अत्यन्त सार्थक पूर्ण प्रयास किया है जिससे प्रेरित होकर साधना इच्छुक, उत्साही मुनिजनों को इस ओर प्रयासरत रहना चाहिए।

परम श्रद्धेय उत्तर भारतीय प्रवर्तक पूज्य भण्डारी पद्मचन्द्र जी म० सा० जैन विद्या के अध्ययन/अध्यापन एवं प्रचार प्रसार में विशेष अभि-रूचि रखते है। आपने वस्तुतः इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। आपके ही अनुगामी सुशिष्य श्रद्धास्पद उपप्रवर्तक श्री अमरमुनि जी म० सा० जैन धर्म की महती प्रभावना कर रहे हैं। इसी शृंखला में आपने ही एक विद्वान् सन्त डॉ० सुव्रतमुनि जी म० सा० तैयार किए है। निश्चित ही जैन समाज के समक्ष आपका यह विद्वत्तापूर्ण सफल प्रयास है।

मुनि श्रीसुव्रत जी म० स्वभाव से मधुर, विचारों से उद्यमशील, कुशलवक्ता एवं उदीयमान लेखक हैं। आपकी कई सुन्दर रचनाएं पूर्व में प्रकाशित हो चुकी हैं। आपके प्रस्तुत शोध प्रबन्ध से युवापीढ़ी अवश्य ही अध्ययन की प्रेरणा लेकर योग ध्यान साधना में प्रवृत्त होगी। इसी मंगल मैत्री के साथ······

जैन स्थानक **शिवमुनि**

गंगावती

दिनांक २८-२-१९९१

सन्दर्भ

१. योगबिन्दु, गाथा ३७
२. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। योग वासिष्ठ, ६-१/१३/३
३. योगः सर्वविपद्वल्लीविताने परशुः शितः। आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र, १/५
४. विद्याद् दुःख संयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्। गीता, ६/२३
५. संसारस्योस्य दुःखस्य, सर्वोपद्रवदायिनः।
उपाय एक एवास्ति, मनसः स्वस्य निग्रहः॥ योगवाशिष्ठ ४/३५/२
६. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन !॥ गीता, ६/४६
७. विवेक मार्तण्ड
८. अथ त्रिविधदुःखस्यात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। महर्षिकपिल, सांख्य सूत्र
९. स्थविरे धर्मं मोक्षं च। कामसूत्र, अ० २ पृ० ११
१०. मैत्रायणी आरण्यक, ६/३४-३

११. चेतोमहानदी उभयतोवाहिनी। वहति कल्याणाय वहति पापाय। च योग-सूत्र, व्यास-भाष्य
१२. तत्वार्थ सूत्र, १/१
१३. मोक्षोपायो योगो ज्ञान-श्रद्धान्-चरणात्मकः, अभिधान चिन्तामणि। १/७७
१४. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञान-श्रद्धान चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः॥ योगशास्त्र, १/१५
१५. मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धे विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेण॥ योगविंशिका, १
१६. मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते। द्वात्रिंशिका
१७. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ योगबिन्दु, ३१
१८. योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ गीता, २/४८
१९. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योग-सूत्र १/१२
२०. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो।
२१. अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ। उत्तराध्ययनसूत्र
२२. दे० गीता ३/३
२३. सम्यग्योग निग्रहो गुप्तिः। तत्त्वार्थसूत्र अ० ९, सू ४
२४. तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-मणगुत्ती-जाव-कायगुत्ती।
स्था० ३/१/३२६
२५. पंच समिईओ पण्णत्ताओ, तं जहा-ईरिया समिई—जाव-पारिट्ठावणिया समिई। स्था० अ० ५/३/४५७
२६. दुगमित्थकम्म जोगो तहा तियं नाण जोगो उ
ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ तन्तम्मि पंचहा एसो। योगविंशिका, २
२७. इक्किक्को य चउद्धा इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो।
इच्छापवित्ति थिरसिद्धिभेयओ समयनीई ए॥ वही, ४
२८. तज्जुत्त कहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा।
सव्वत्थुवसमसारं तप्पालणमो पवत्ती उ॥
तह चेव एयबाहग-चिंतारहियं थिरत्तणं नेयं।
सव्वं परत्थसाहग-रूवं पुण होइ सिद्धि त्ति॥ वही, ५, ६
२९. एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगया जुत्तं।
नेयं चउव्विहं खलु एसो चरमो हवइ जोगो॥ वही, १८

३०. इहैवेच्छादियोगानां स्वरूपमभिधीयते ।
योगिनामुपकाराय व्यक्तं योगप्रसंगतः ॥ योगदृष्टि समुच्चय, २

३१. कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः ।
विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ॥ वही, ३

३२. शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्य प्रमादिनः ।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥ वही, ४

३३. शास्त्रसन्दर्शितोपाय स्तदति क्रान्त गोचरः ।
शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥ वही, ५

३४. आचारांग वृत्ति, मूलपत्र ३१२ (आचारांग सूत्र, सं० युवाचार्य मधुकर मुनि जी पृ० ३३६)

३५. आयत जोग मायसोहीए। आचारांगसूत्र ६/४/१०६

३६. अधिक के लिए देखिए—युवाचार्य मधुकर मुनि जी द्वारा सं० आचारांग सूत्र, पृ० ३३६

३७. मुख्ये तु तत्र नैवासौ बाधकः स्याद् विपश्चिताम् ।
हिंसादिविरतावर्थे यमव्रतगतो यथा ॥ योगबिन्दु, २९

३८. समवायांगसूत्र, बत्तीसवा समवाय। योगसंग्रह

३९. योगशास्त्र, चतुर्थप्रकाश, १२४

४०. स्थिरसुखमासनम्। योगदर्शन २/४६

४१. योगशास्त्र, चतुर्थप्रकाश, १३४

४२. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। योग-दर्शन २/५४

४३. पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता। तंजहा—(१) इंदियपडिसंलीणया (२) कसाय पडिसंलीणया (३) जोग पडिसंलीणया (४) विवित्तसयणासणसेवणया। औपपातिक तपोधिकार।

४४. त्रयमेकत्र संयमः। योगसूत्र ३/४

४५. देश बन्धश्चित्तस्य धारणा। वही ३/१

४६. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। वही ३/२

४७. तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः। वही ३/३

४८. ध्यानं निर्विषयं मनः। महर्षिकपिल, सांख्यदर्शन ६/२५

४९. एगग्ग संन्निवेसेण निरोहं जणयइ। उत्तराध्ययन २९/२७

५०. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तत्वार्थसूत्र ९/२६

५१. चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि छउमत्थाणं झाणं। ध्यानशतक, ३

५२. सूर्यप्रकाश्यं क्व नु मण्डलं दिवः
खद्योतकः क्वास्य विभासनोद्यतः।
क्व धीरा गम्यं हरिभद्र सद्वचः
क्वाधीरहं तस्य विभासनोद्यतः॥—जिनेश्वर सूरि
५३. योग-बिन्दु, गा० ३१
५४. वही, गा० ३५८
५५. वही, गा० ३६४
५६. वही, गा० ४०५
५७. वही, गा० ८६
५८. वही, गा० ८८
५९. वही, गा० ९४
६०. वही, गा० १११—११५
६१. वही, गा० १३१
६२. वही, गा० ५०७

प्राक्कथन

जीवन में प्रारब्ध से वातावरण और संगति का महत्व अधिक होता है। शुभ वातावरण एवं संसर्ग में रह रहे बाल मन पर पड़े हुए संस्कार बड़े प्रबल होते हैं। मेरा बचपन प्रायः अपने बाबा जी के चरणों में ही बीता है। वे प्रभु के परम भक्त थे और प्रायः रात्रि में ईश्वर भक्ति में तल्लीन हो जाया करते थे तब मैं भी उनकी इस तल्लीनता का कभी-कभी अनुकरण करता था। उनके इस भक्तिमय वातावरण एवं संगति तथा उनकी दृढ़ आस्था और अनुरक्ति ने मुझमें भी ऐसे ही भाव भर दिए कि आगे चलकर इसी प्रभाव के कारण मेरा मन आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट हुआ और मैंने सन्यास ले मुनि बाना धारण कर लिया।

मुनि का लक्ष्य भवसागर से पार होना है, जो कि योग के द्वारा ही सम्भव है जैसे कि **उत्तराध्ययनसूत्र** में भी कहा है कि—

जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई। (२७.२)

अर्थात् योग युक्त साधक संसार सागर को पार कर जाता है। जिस प्रकार अग्नि से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार अविद्या और अज्ञानमल से मलिन आत्मा भी योगरूपी अग्नि से शुद्ध हो जाता—

मलिनस्य यथाहेम्नोवह्नेः शुद्धिर्नियोगतः।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्वदविद्यामलिनात्मनः।। योगबिन्दु, श्लोक ४१

योग की इसी महिमा से मेरा मन योग के विशेष अध्ययन के लिए उत्प्रेरित हुआ।

अपनी इस मनीषा की चर्चा जब मैंने विद्वानों से की तो उन्होंने मेरे साधक जीवन को ध्यान में रखते हुए किसी योग परक ग्रन्थ पर कार्य करने का परामर्श दिया। पूज्य गुरुदेव उत्तर भारतीय प्रवर्तक श्रीभण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज ने आचार्य हरिभद्रसूरि के महत्व

पूर्ण ग्रन्थ **योगबिन्दु** का नाम सुझाया। अपनी भावना को लेकर जब मैंने स्वनाम धन्य डा० गोपिकामोहन भट्टाचार्य, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र से परामर्श किया तो उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक इस पर शोध कार्य करने की अपनी स्वीकृति प्रदान की।

आचार्य हरिभद्रसूरि जैनदर्शन के ही नहीं भारतीय वाङ्मय के उद्भट विद्वान् एवं योगविद्या के प्रौढ़ ज्ञाता थे। उनके विषय में यह भी स्पष्ट है कि आर्हत परम्परा में आचार्य हरिभद्रसूरि ही एक ऐसे दिव्य जीवन वैभव को लेकर उद्भाषित हुए जो अनेक दृष्टियों से अनुपम और अद्भुत थे। वे प्रारम्भ में चित्रकूट या चितौड़ के राजपुरोहित पद पर सुशोभित थे। एक विशेष घटना से उनकी आस्था जैनधर्म के साथ सम्पृक्त हुई। उनका अथाह ज्ञान अन्तर्मुखी हुआ और वे संसार-वासना से विरक्त होकर श्रमण जीवन में दीक्षित हो गए। शीघ्र ही अपने सतत् परिश्रम एवं क्षयोपशमजन्य प्रतिभा के बल से उन्होंने जैनधर्मदर्शन पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया। आगे चलकर उन्होंने अल्पसमय में ही मुमुक्षुजनों के कल्याण हेतु अनेक ग्रन्थों की रचना की। जो आगम व्याख्या और धर्मदर्शन आदि अनेक रूपों में प्रकाश में आए हैं। विद्वानों की दृष्टि से आपका समय सन् ७५७ से ८२७ तक माना जाता है।

जैन वाङ्मय के क्षेत्र में उनकी एक अनुपम देन है—उनका जैन योग साहित्य। आचार्य हरिभद्रसूरि की यह प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने अपनी उच्च-एवं उदार दृष्टि से स्व-पर पन्थ का भेद किए बिना प्रत्येक से गुणग्रहण किया है। उनकी यह दृष्टि उनके योग साहित्य में स्पष्ट परिलक्षित होती है। हरिभद्रसूरि ने योगपरक चार रचनाएं लिखी हैं इनमें **योगबिन्दु** महत्वपूर्ण और असाधारण रचना है।

आचार्य हरिभद्रसूरि का यह ग्रन्थ अनेक योग परम्पराओं में प्रतिष्ठित ग्रन्थों के पूर्ण और यथार्थ अवगाहन के फल स्वरूप प्रणीत हुआ है। इसमें किसी रूढ़ परिभाषा अथवा शैली का आश्रय न लेकर एक नूतन शैली में सभी योग परम्पराओं के योग विषयक मन्तव्यों में एकता और अविरोध की स्थापना की गई है जैसा कि स्वयं ने कहा भी है—

सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः।
सन्नीत्यास्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विदः प्रति। योगबिन्दु, श्लोक २

अर्थात् 'योगबिन्दु' में सभी योग शास्त्रों में जो मूलगामी अविरोधी वस्तु है उसी की स्थापना की गयी है। इसी कारण मैंने 'योगबिन्दु' को अपने शोध का विषय चुना है।

इसमें योग की परम्पराओं के विचारों को दृष्टि में रखते हुए 'योग-बिन्दु' में आगत योग विषयक तत्त्वों का सम्यक् अध्ययन किया गया है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर प्रकृत प्रबन्ध को भी पांच अध्यायों में वर्गीकृत किया गया है।

प्रथम अध्याय **भारतीयवाङ्मय में योग साधना और योगबिन्दु** में योग का माहात्म्य, योग शब्द का अर्थ विश्लेषण करते हुए उसकी व्याख्या विभिन्न मतों के आधार पर की गई है। फिर योग विषयक वाङ्मय विशेषकर वैदिक, बौद्ध एवं जैन योग परक ग्रन्थों में योग की महत्ता पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। अन्त में 'योगबिन्दु' के सन्दर्भ में योग का समीक्षण किया गया है।

दूसरे अध्याय में **योगबिन्दु के प्रणेता आचार्य हरिभद्रसूरि** के प्रामाणिक जीवनवृत्त को प्रस्तुत किया गया है। युक्ति युक्त तथ्यों के द्वारा उनका समय निर्धारण करते हुए सूरि के अनुपम और गौरवशाली व्यक्तित्व की विविध विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, इसमें विशेषकर उनका साधुत्व, समाजसेवा, गुरुभक्ति, साहित्यिकदेन, उनकी शैली और दूसरे विद्वानों के प्रति उनकी उदारता आदि गुणों को प्रस्तुत किया गया है। इसी में आचार्य हरिभद्रसूरि के कृतित्व का भी उल्लेख करते हुए उनकी बहुमान्य प्रमुख-प्रमुख रचनाओं का समुचित परिचय आदि भी दिया गया है।

योगबिन्दु की विषय वस्तु नामक तीसरे अध्याय में योग के अधिकारी एवं अनधिकारी की चर्चा हुई है। योगबिन्दु में वर्णित योग भूमियों-**अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय** का यथोचित ढंग से वर्णन किया गया है और पुनः योग के विकास क्रम की विस्तार से चर्चा की गई है।

योगः ध्यान और उसके भेद नामक चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में ध्यान की महिमा का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद योग के सन्दर्भ में गुणस्थानों का भी क्या महत्त्व है? इसका विवेचन किया गया

है। साधक छठे गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक की श्रेणी को कैसे पार करता है ? इस पर भी विशेषरूप से यहां प्रकाश डाला गया है।

पांचवे अध्याय **योगबिन्दु और तत्त्वविश्लेषण** में जैन दृष्टि से आत्मा का स्वरूप उसका कर्तृत्व, भोक्तृत्व तत्त्वज्ञत्व तथा उसके सर्वज्ञत्व पर जैन दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त यहां आठकर्मों का वर्गीकरण कर जीव के साथ उनके सम्बन्ध का भी विवेचन किया गया है। इसके बाद कर्म उनका कर्तृत्व-अकर्तृत्व और कर्म एवं लेश्या एवं उनका परस्पर सम्बन्ध आदि विषयों की चर्चा करते हुए लेश्या के भेद एवं महत्व पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में योग और उसके फल>ज्ञान तथा मुक्ति मार्ग : सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर चर्चा की गई है। अनन्तर बन्ध और उसके कारणों का विवेचन करके निर्वाण के स्वरूप को समझाया गया है। इस प्रकार योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैनयोग विषयक तत्त्वों का विश्लेषण एवं समीक्षण करने का प्रयास किया है।

इस शोध प्रबन्ध के सन्दर्भ में सर्वप्रथम में पूज्य गुरुदेव परमकृपालु, उत्तरभारतीय प्रवर्तक श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज एवं परम श्रद्धेय गुरुदेव श्री अमर मुनि जी महाराज का अतीव कृतज्ञ हूं और उनकी अपार कृपादृष्टि एवं शुभ-आशीर्वादों को इसका मूल स्रोत मानता हूं। आपका सम्यक् निर्देशन स्नेह एवं प्रेरणा निरन्तर मिलती रही है। आपके असीम कृपाभाव को शब्दों की परिसीमित परिधि में नही बांधा जा सकता। आपका मैं चिरऋणी हूं। आपके चरणों में आते ही आपने मुझे विद्याध्ययन में प्रवृत्त किया और यहां तक पहुंचाया है। अतः यह सब आपकी कृपा का प्रसाद है। जो इस रूप में प्रकट हुआ है।

श्रद्धेय प्रवर विद्वद्रत्न श्री रत्न मुनि जी महाराज का भी मैं कृतज्ञ हूं। जो मेरे विद्या व्यासंग में मुझे प्रारम्भ से ही सहयोग देते रहे हैं और इस शोध कार्य में भी कई ग्रंथ उपलब्ध कराए हैं।

परम श्रद्धेय उपप्रवर्तक तपस्वी श्री सुदर्शन मुनि जी महाराज एवं उपप्रवर्तक परमादरणीय श्री प्रेमसुख जी महाराज का शुभ आशीर्वाद तथा उदार सहयोग मुझे समय-समय पर मिलता रहा है। अतः इनका भी मैं आभारी हूं। महासती साध्वी रत्न श्री पवनकुमारी जी महाराज

की सुशिष्या साध्वी श्री जितेन्द्र कुमारी जी महाराज ने भी अनेक ग्रंथ इस कार्य में उपलब्ध कराए हैं। अतः मैं उनके मंगलमय भविष्य की की कामना करता हूं।

श्रमणसङ्घीय युवाचार्य डा० शिवमुनि जी महाराज का भी मैं चिरऋणी हूं जिन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की प्रस्तावना लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है। आपका सहयोग सदैव स्मरण रहेगा और भविष्य में भी ऐसे ही सहयोग की अपेक्षा के साथ आपका धन्यवाद करता हूं। यहां मैं महासती परम विदुषी उपप्रवर्तिनी साध्वी रत्न श्री रविरश्मि जी महाराज का भी साधुवाद करता हूं ग्रंथ प्रकाशन में जिनकी महती प्रेरणा रही है।

मेरे इस भागीरथ कार्य में द्वितीय स्थान है विद्वद्वर्य स्व० डॉ० गोपिकामोहन भट्टाचार्य अध्यक्ष, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र का। उनकी सहृदयता और निष्काम उदारता से ही मेरा विषय विश्वविद्यालय में स्वीकृत हुआ, उनकी मूक प्रेरणा ज्ञान-साधना में मुझे प्रतिपल मार्ग दर्शन प्रदान करती रहेगी। उनके प्रति मेरा हार्दिक धन्यवाद है।

इस शोध प्रबन्ध के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण स्थान है धर्मनिष्ठ, सन्त सेवक डॉ० श्रीयुत, धर्मचन्द्र जैन, पालि प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र का। जिनके आत्मीयतापूर्ण उदारमार्ग दर्शन में मैंने यह शोध प्रबन्ध तैयार किया है। आप से समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव तो मिले ही, साथ में कितने ही अप्राप्य ग्रंथों को भी आपने निजी संग्रह और विभागीय पुस्तकालय से उपलब्ध कराकर हर प्रकार से सहायता दी है। उनकी इस उदारता के लिए मैं हृदय से आभारी हूं और भविष्य में भी इसी उत्तम सहयोग की आकांक्षा के साथ आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी, लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्या पीठ, दिल्ली डॉ० जे० सी० राय प्रधानाचार्य, एम० एम० एच० कालेज, गाजियाबाद एवं प्रो० ज० महेशचन्द भारतीय गाजियाबाद का भी मैं आभार मानता हूं। आप सभी से मुझे अनेक बहुमूल्य सुझाव और सहयोग प्राप्त हुए हैं। जैन धर्म दर्शन के प्रौढ़ विद्वान् श्री जयप्रसाद त्रिपाठी का भी सादर स्मरण करता हूं जिन्होंने भी समय-समय पर

अनेक उपयोगी सुझाव दिए हैं।

इस अवसर पर मैं अपने परम उपकारी समादरणीय पितामह श्री बनवारी लाल जी उपाध्याय का भी श्रद्धापूर्ण स्मरण करता हूं जिनकी दयादृष्टि से ही मैं ज्ञानाराधन में और युवावस्था मे अध्यात्म साधना में प्रवृत्त हुआ हूं। मैं उनका अत्यन्त ऋणी हूं। श्री रामपाल जी शर्मा एवं अपने अग्रज श्रीकृष्णपाल उपाध्याय के योगदान की भी मंगल कामना करता हूं। सुश्रावक श्री जे० डी० जैन गाजियाबाद की सेवाभक्ति भी इस कार्य में प्रशंसनीय है। अतः गुरुभक्तों का भी साधुवाद करता हूं जिन्होंने इस ग्रंथ के प्रकाशन में अपना उदार आर्थिक सहयोग दिया है। श्री के० एल० जैन एवं मास्टर श्री उग्रसेन जैन सफीदों तथा श्री सुशील कुमार जैन अम्बाला छावनी का भी साधुवाद करता हूं जिनका समय व समय सहयोग हमें मिलता रहा।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्याल कुरुक्षेत्र की लायब्रेरी के प्रबन्धकों को भी मैं साधुवाद देता हूं जिन्होंने मुझे अनेक ग्रंथ उपलब्ध कराए हैं। आचार्य श्री अमरसिंह जैन पुस्तकालय मानसा मण्डी के प्रबन्धकों का भी साधुवाद है जहां के भी कई ग्रंथों का मैंने सदुपयोग किया। प्रकाशक, मंत्री श्री आत्मज्ञानपीठ, मानसा मण्डी को भी साधुवाद देता हूं जिनके परामर्श से प्रकृत ग्रंथ का प्रकाशन सम्भव हो सका। श्री यशपाल जी सहगल मालिक मुद्रक प्रैस तथा उनके सभी सहयोगियों का भी मैं धन्यवाद करता हूं जिनकी तत्परता, लगन एवं सौजन्य से ग्रथ प्रकाशन में महती सहायता मिली है। अन्त में मैं उन सभी महानुभावों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूं जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष- रूप से मुझे सहयोग प्राप्त हुआ है।

विजय दशमी —सुव्रत मुनि शास्त्री

जैन स्थानक,
गन्नौर मण्डी, सोनीपत (हरियाणा)
दिनांक १७-१०-१९९१

संकेत विवरण

अंगु० नि०	: अंगुत्तर निकाय
अध्या० रा०	: अध्यात्म रामायण
अनु०	: अनुवाद
अभि० को० भा०	: अभिधर्म कोश भाष्य
अभि० दे० बौ० सि० वि०	: अभिधर्म देशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन
अभि० प्र०	: अभिधम्मत्थसंग्गहो प्रकाशिनी टीका
अयो० का०	: अयोध्याकाण्ड
अर्थविनि०	: अर्थविनिश्चयसूत्र निबन्धन
आ०	: आस्रव (आश्रव)
आ० नि०	: आवश्यकभाष्यनिर्युक्ति
उ०	: उद्देश
उत्त०, उत्तरा० सू०	: उत्तराध्ययनसूत्र
उपदेश पद प्र०	: उपदेशपद प्रकरण
उपा० दशाङ्ग०	: उपासकदशाङ्गसूत्र
ऐतरेय ब्रा०	: ऐतरेयब्राह्मण
कीजि०	: कीजिए
कुवलयमा०	: कुवलयमालाकहा
गा०	: गाथा
गो०	: गोम्मट्टसार
जिनसहस्र०	: जिनसहस्रनाम स्तोत्र
ज्ञाना०, ज्ञानार्ण०	: ज्ञानार्णव
त०सू०, तत्त्वा०, तत्त्वा० सू०, तत्त्वार्थसू०	: तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्वानु०	: तत्त्वानुशासन
तत्त्वार्थवा०	: तत्त्वार्थवार्तिक
तु०	: तुलना
द०	: दर्शन
दशवै०	: दशवैकालिक सूत्र

दे०	:	देखिए
ध्या०श०, ध्यानश०	:	ध्यानशतक
नं०	:	नम्बर
नो०	:	नोट
टी०	:	टीका
पंचवि०	:	पंचविंशति
परमात्मप्र०	:	परमात्मप्रकाश
परि०	:	परिशिष्ट, परिशीलन
पा० यो०	:	पातञ्जलयोगसूत्र
पा० यो० द०, पात० यो० द०	:	पातञ्जलयोगदर्शन
पुग्गलप०	:	पुग्गलपञ्ञाति
पृ०	:	पृष्ठ
प्र०	:	प्रथम, प्रकरण
प्र० अ०	:	प्रथम अध्ययन
बार० अनु०	:	बारह अनुप्रेक्षा
बु० च०, बुद्ध० च०	:	बुद्धचरित
भगवतीआ०	:	भगवती आराधना
भा०	:	भाग
भा०	:	भावना
भा० श०	:	भाव शतक
भू	:	भूमिका
म० नि०, मज्झिमनि०	:	मज्झिमनिकाय
महापु०	:	महापुराण
मि०	:	मिलाइए
मिलिन्द०	:	मिलिन्दपञ्ह (मिलिन्दप्रश्न)
यो०दृ०समु०, योग दृ० स०, योगदृष्टि समु०	:	योगदृष्टिसमुच्चय
यो० प्र०	:	योग प्राभृत
यो० बि०	:	योगबिन्दु
यो० वि०, योगवि०	:	योगविंशिका
यो० श०	:	योगशतक
यो० शा०	:	योगशास्त्र
ललित०	:	ललितविस्तर

लोकतत्वनि०	:	लोकतत्वनिर्णय
वि०	:	विवरण
वैशेषिक द०	:	वैशेषिक दर्शन
विसु०	:	विसुद्धिमग्ग
शा० रस०	:	शान्तसुधारस
शा०वा०समु०, शास्त्रावार्ता समु० शास्त्र०वा०, शास्त्रवा० समु०	:	शास्त्रवार्तासमुच्चय
श्लो०	:	श्लोक
श्रु०	:	श्रुतस्कन्ध
षोडषक०	:	षोडषकप्रकरण
षड्० समु०, षड्दर्शनसमु०	:	षड्दर्शनसमुच्चय
सं० नि०	:	संयुक्त निकाय
समदर्शी हरि०	:	समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि
सम० हरि०	:	समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि
समु०	:	समुच्चय
सर्वा० सि०	:	सर्वार्थसिद्धि
सू०	:	सूत्र
सूत्रकृत०	:	सूत्रकृतांग
स्था०	:	स्थानांगसूत्र
स्वा०	:	स्वामी
स्वामीका०	:	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा
हरि० प्र० क० सा० आ०	:	हरिभद्रसूरि के कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन
हरि० चरि०	:	हरिभद्रसूरिचरित
हि० अनु०	:	हिन्दी अनुवाद

विषय सूची

(ग) **हरिभद्रसूरि का व्यक्तित्व** (62— 77)

भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधिसन्त, समाज के यथार्थ सेवक, गुरुभक्त हरिभद्र, एक सफल टीकाकार हरिभद्रसूरि, कथा साहित्य में हरिभद्रसूरि का स्थान, **अन्य विशेषताएं**—समत्व दृष्टि और औदार्यगुण, तुलनात्मक दृष्टि, बहुमानवृति, स्व-परम्परा को नवीन दृष्टिदाता, भेदभाव मिटाने में कुशल एवं समन्वयकार हरिभद्र

(घ) **हरिभद्रसूरि का कृतित्व** (77—102)

(क) दार्शनिक ग्रन्थ, (ख) कथा साहित्य, (ग) योग-साहित्य, (घ) ज्योतिषपरक रचनाएं, (ङ) स्तुति-साहित्य, (च) आगमिक प्रकरण आचार एवं उपदेशात्मक रचनाएं : अप्राप्त वृत्तिग्रन्थ, आगम-टीकाएं अथवा वृत्तियों, व्याख्या प्रधान ग्रन्थ तथा अन्य उपलब्ध स्वतन्त्र भाष्य, वृत्ति एवं टीका ग्रन्थों की सूची, (क) **प्रमुख रचनाओं का परिचय** : (1) अनेकान्त जयपताका, (2) अनेकान्तवादप्रवेश, (3) अनेकान्तसिद्धि, (4) द्विजवदनचपेटा, (5) धर्मसंग्रहणी, (6) लोकतत्वनिर्णय, (7) षड्दर्शन-समुच्चय, (8) शास्त्रवार्तासमुच्चय, (9) सर्वज्ञसिद्धि (10) अष्टक प्रकरण, (11) उपदेशपद, (12) धर्मबिन्दु, (13) पंचवस्तुग, (14) पंचासग, (15) बीस विंशिकाएं, (16) संसारदावानल, (17) श्रावकधर्म, (18) श्रावकधर्मसमास, (19) हिंसाष्टक, (20) स्याद्वादकुचोदपरिहार, (21) सम्बोधप्रकरण, (ख) **अप्राप्त एवं उल्लिखित ग्रंथ** : (1) अनेकान्त प्रघट्ट, (2) अनेकान्तसिद्धि, (3) अर्हत् श्रीचूडामणि, (22) दरिसण सत्तरि, (23) षोडशकप्रकरण, (24) चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति, (ग) **कथा परक साहित्य** : (25) समराइच्चकहा, (26) धूर्ताख्यान, (घ) **योग सम्बन्धी रचनाएं** : (27) योगविंशिका, (28) योगशतक, (29) योग-दृष्टिसमुच्चय और (30) योगबिन्दु

योग बिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैनयोग साधना
का
समीक्षात्मक अध्ययन

परिच्छेद–प्रथम

भारतीय वाङ्मय में योगसाधना और योगबिन्दु

(क) योग का माहात्म्य :

योग साधना का प्रारम्भ कब हुआ ? इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कह पाना सम्भव नहीं है फिर भी लगता है और जैसे कि सभ्यता के अवशेषों में प्रमाण भी मिलते हैं, योग साधना का प्रचलन तभी से हुआ होगा जब मानव ने अपने जन्म के बाद बोलना सीखा, कारणकि चिन्तन, मनन एवं विजनन शक्ति मानव के स्वाभाविक गुणों से भिन्न नहीं है ।

प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की खोजों से ज्ञात होता है कि योग, साधना, ध्यान लगाना, कायोत्सर्ग करना, पद्मासन मुद्रा में ध्यानमग्न होना आदि वैदिककाल से भी पहले के भारतीयों की दैनिक चर्या का एक महत्त्वपूर्ण अंग था ।

उपलब्ध वेद, बौद्ध एवं जैनागम, उपनिषद्, पुराण, दर्शन एवं कर्मकाण्ड तथा ज्ञानप्रधान समस्त पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दर्शन योग, समापत्ति एवं ध्यान साधना की महिमा से ओतप्रोत है । वैदिक युग से लेकर आधुनिकयुग तक भी हम देखें तो पाते हैं कि आज भी योग की वही महिमा, गरिमा एवं उतनी ही अधिक आवश्यकता है जितनी कि पहले थी । पौर्वात्य ही क्या, समस्त पाश्चात्य जगत के मानव आज योग साधना के रहस्य की खोज में भटक रहे हैं । अतः योग का माहात्म्य स्वतः सिद्ध हो जाता है । हरिभद्रसूरि के वचनों में भी योग सर्वश्रेष्ठ, कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न, सभी धर्मों में प्रधान और सिद्धिरूप मोक्षपद प्राप्ति का सुदृढ़ सोपान है ।[1] वास्तव में योग ही भयंकर भवरोग के समूलघात की रामबाण औषधि है ।

---

१. योगः कल्पतरु श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः ।
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः ॥ योगबिन्दु, श्लो० ३७

योग शब्द का अर्थ :

'योग' शब्द संस्कृत में 'युज् धातु' में 'घञ्' प्रत्यय के मेल से बनता है। यद्यपि संस्कृत व्याकरण में 'युज्' नाम की दो धातुएं मिलती हैं, इनमें से एक का अर्थ 'जोड़ना' है[1], जबकि दूसरी का 'मन: समाधि'[2] अर्थात् 'मन को स्थिर करना' है। सामान्यतया दर्शन में योग का अर्थ- सम्बन्ध करना अथवा चित्त को स्थिर करना ही लिया गया है।

वैदिक साहित्य में योग शब्द :

प्राचीन साहित्य में सर्वप्रथम **ऋग्वेद** में 'योग' शब्द मिलता है, यहां इसका अर्थ 'जोड़ना' मात्र है।[3] ईसा पूर्व ७ वीं शदी तक रचित साहित्य में 'योग' शब्द 'इन्द्रियों को प्रवृत्त करना' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा ई०पू० ५ वीं से ६ वीं शदी तक रचित साहित्य में इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना' इस अर्थ में 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है'[4] जबकि उपनिषद् साहित्य में योग पूर्णत: आध्यात्मिक अर्थ में मिलता है[5]। कुछ एक उपनिषदों में योग साधना का विस्तृत वर्णन मिलता है।[6]

इस प्रकार **ऋग्वेद** में जोड़ने के अर्थ में प्रयुक्त 'योग' शब्द उपनिषद् काल तक आते-आते शरीर, इन्द्रिय एवं मन को स्थिर करने की साधना के अर्थ में भी प्रयोग किया जाने लगा।

महाभारत में योग के विभिन्न अंगों का विवेचन प्राप्त होता है।[7] **स्कन्दपुराण** में कई स्थानों पर योग की चर्चा है।[8] **भागवतपुराण** में

---

१. 'युज़ीयोगे' । हेमचन्द्र धातु पाठमाला, गण-७

२. 'युजि च समाधो:' । वही, गण-८

३. क त्त धा नो योग आ भु वत्, नधीनां योगमिन्त्विति ।
ऋग्वेद १. ५. ३; १. १८. ७

४. दार्शनिक निबन्ध (अंग्रेजी), पृ० १७६

५. अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।
कठोपनिषद् १, २, १२

६. दे० योगराजोपनिषद् अद्वयतारकोपनिषदादि

७. दे० महाभारत, शान्ति०, अनुशासन० और भीष्मपर्व

८. दे० स्कन्दपुराण, भाग १, अ० ५५

योग की चर्चा के साथ-साथ 'अष्टांगयोग' की व्याख्या, गरिमा तथा योग से प्राप्त होने वाली अनेक लब्धियों का वर्णन किया गया है।[1] **योगवाशिष्ठ** के छह प्रकरणों में योग के विभिन्न सन्दर्भों की व्याख्या आख्यानकों के माध्यम से की गई है।[2]

'योग' शब्द इस समय तक आते-आते इतना व्यापक और प्रचलित हो गया था कि गीता[3] के अठारह के अठारह अध्याय 'योग' और साधना के उपदेशों से ओतप्रोत है। वहां मिलता है जैसे—'ऊँ' तत्सत् इति **श्रीमद्भगवत् गीता** उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुन-विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय :।

पातञ्जलयोगदर्शन चित्तवृत्तिनिरोध को योग बतलाता है।[4] इसके अतिरिक्त '**न्यायदर्शन**' में भी योग को उचित स्थान दिया गया है[5]। **वैशेषिकदर्शन** के प्रणेता कणाद ने यम-नियम आदि पर काफी जोर दिया है[6] जबकि **ब्रह्मसूत्र** के तीसरे अध्याय में आसन एवं ध्यान आदि योग के अङ्गों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसी कारण से सम्भवतः महर्षि ने इसका नाम ही साधनापाद रखा है।[7]

सांख्यदर्शन में भी योग विषयक अनेक सूत्र मिलते हैं।[8] **तन्त्रयोग** के अन्तर्गत आदिनाथ ने हठयोग सिद्धान्त की स्थापना की है।[9] इसका उद्देश्य यौगिक क्रियाओं द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग पर प्रभुत्व तथा मन की स्थिरता प्राप्त करना है। **महानिर्वाणतन्त्र** और **षटचक्रनिरूपण**

---

१. दे० भागवतपुराण २. २८. ११. १५. १९. २०
२. दे० योगवाशिष्ठ, वैराग्य, मुमुक्षु, व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण प्रकरण
३. दे० श्रीमद्भगवद्गीता, अ० प्रथम का अन्त
४. दे० पात०यो० द०, १,२
५. दे० न्यायदर्शन, ४. २. ३६; ३. २. ४०; ४०. २. ४६
६. दे० वैशेषिकदर्शन, ६. २. २. ८
७. दे० ब्रह्मसूत्र, ४.१.७.११
८. रागोपहित ध्यानम्। सांख्यसूत्र, ३. ३०
वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धि। वही, ३. ३१
९. महानिर्वाणतंत्र, अध्याय-३

ग्रन्थों में योगसाधना का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ।[1]

बौद्धदर्शन में योग शब्द :

भगवान् बुद्ध ने योगसाधना को विरासत में प्राप्त किया था। अतः उन्होंने ज्यों का त्यों तो नहीं, कुछ परिवर्तन के साथ उसे अपने वचनों में ग्रहण कर लिया। अराडकलाम और उद्दकरामपुत्र जैसे ध्यानयोगी आचार्य भगवान् बुद्ध के गुरु थे। इन आचार्यों के अन्य शिष्यगण भी यत्र-तत्र ध्यानयोग की शिक्षा-दीक्षा देते थे। बुद्ध ने भी इन दोनों आचार्यों से **नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (आरूप्य ध्यान)** तक का योगाभ्यास किया था[2] फिर भी वे उससे सन्तुष्ट नहीं हुए और वे स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र साधना में तत्पर हो गए।

बोधि प्राप्त करने से पूर्व तथागत बुद्ध ने स्वयं श्वासोच्छ्वास के निरोध करने का प्रयत्न किया था। वे अपने शिष्य अग्गिवेस्सन से कहते भी हैं कि 'मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था इसलिए मैं मुख, नाक एवं कर्ण में से निकलते हुए सांस को रोकने का प्रयत्न करता रहा'।[3]

त्रिपिटक के अध्ययन से भी हमें मिलता है कि भगवान् बुद्ध जब कभी थोड़ा-सा भी समय खाली पाते थे तो वे उसी समय एकान्तचिन्तन में लग जाते थे, ध्यान में लीन हो जाते थे, समाधि में तल्लीन हो जाते थे। इसकी पुष्टि **मज्झिमनिकाय, ललितविस्तर**[4] और बुद्धचरित[5] आदि

---

१. पटचक्रनिरूपण, पृ० ६०, ६१, ८२, ९०

२. विस्तृत अध्ययन के लिए दे०—अभिधर्मदेशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, पृ० १७८

३. दे० वही, पृ० १७९ फुट नोट नं० २

४. दे० (क) मज्झिमनि० भाग २, पृ० ४८४-८७

(ख) तस्य मे भिक्षवे एतदभवत्-यदहं पितुरुद्याने जम्बुच्छायाम् निषण्णो विविक्तं कामैर्विविक्तं पापकैरकुशलैर्धर्मैः सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं प्रथमं ध्यानमुसंपद्य व्याहार्षं यावच्चतुर्थध्यान-मुपसंपद्य व्याहार्षं स्यात्स मार्गो बोधेर्जातिजरामरणदुःखसमुदया-नामसम्भवायास्तंगमायेति। तदनुसारि च मे विज्ञानमभूत। स मार्गो बोधेरिति। ललित०, पृ० १९३

५. दे० बु०च०, १२, १०१

ग्रन्थों से भी होती है।

भगवान् बुद्ध स्वयं अपने शिष्यों को भी बार-बार ध्यान करने की समाधिस्थ होने की प्रेरणा देते हैं, वे कहते हैं कि— एतानि भिक्खवे, रुक्खमूलानि, एतानि सुञ्ञागारानि, झायथ, भिक्खवे, मा पमादत्थ मा पच्छा विप्पटिसारिनो अहुत्थ। अयं वो अम्हाकं अनुसासनीति।[1]

यही उनका उपदेश था कि 'भिक्षुओ! ध्यान करो, ध्यान करने में प्रमाद मत करो।' वे सदैव समाधि या ध्यान की प्रशंसा करते थे। वे कहते थे कि जो ध्यानयोगी है उनका मन स्वस्थ एवं प्रसन्न रहता है। उसे समाधि सिद्ध होती है, जो सम्यक् समाधिस्थ हैं उसे ही ध्यान लाभ होता है।[2] ध्यान में लीन होने से धर्म प्राप्त होता है, जिससे परमपद की प्राप्ति होती है, जो दुर्लभ, शान्त, अजर, अमर और अक्षय है।[3] ध्यानयोग से समाहित चित्त से युक्त भिक्षु अनेक सिद्धियों को प्राप्त करता है तथा उसका विनिपात भी कभी नहीं होता, वह सम्बोधि परायण होकर निर्वाणगामी होता है।

इस प्रकार बौद्धधर्म में भी योगसाधना का अत्यन्त महत्त्व है। वह निर्वाणलाभ का सफल मार्ग है। कोई भी ऐसा बौद्ध सम्प्रदाय अवशिष्ट नहीं है जो ध्यानयोग की महत्ता पर प्रकाश न डालता हो।

इसमें भी कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सत्त्व योग के द्वारा ही विशेष बन्धन को प्राप्त करता है और योग ही वह निमित्त है, जिससे प्राणी भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। अतः योगमार्ग विषम है जैसे कहा भी है कि—

---

१. दे० सं०नि० २.१३३, पृ० १२१ तथा तुलना कीजिए-एतानि वो भिक्षवोऽरण्यायतनानि वृक्षमूलानि शून्यागाराणि पर्वतकन्दरगिरिगुहापलाल-पुञ्जानि अभ्यवकाशश्मशानवनप्रस्थप्रान्तानि शयनासनानि अध्यावसत। ध्यायत, भिक्षवो मा प्रमाद्यत। मा पश्चात् विप्रतिसारिणो भविष्यथ। इदमनुशासनम्। अर्थविनि०, पृ० ६७

२. दे० बु०च०, १२.१०५

३. दे० वही, १२.१०६

योगतो हि लभते विबन्धनं।
योगतोऽपि किलमुच्यते नरः ॥
योगवर्त्मविषमं गुरोर्गिराः।
बोध्यते तदखिलं मुमुक्षुणाम् ॥[1]

योगी सुख-दुःख की कल्पना से परे होता है क्योंकि वह यथार्थ स्वरूप का वेत्ता होता है। उसे सुख-दुःख के होने पर भी उनकी अनुभूति नहीं होती।[2] आर्चाय कहते हैं कि-यदि यह योग रूपी कल्पवृक्ष उन्मत हाथी से अथवा मिथ्याज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा नष्ट नहीं किया जाता है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि योगी निश्चितरूप से ही स्वाभीष्ट मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है[3] कारण कि उत्तम सुख वही है जो योग से उत्पन्न हुआ है, जो काम एवं विषय वासना की पीड़ा से विरहित, शान्त, निराकुल और स्थिर है तथा जिसमें जन्म, जरा, एवं मृत्यु का विनाश हो जाता है।[4] इसी से योग विषय वासना से उत्पन्न दुःख से रहित माना गया है।

जैनागमों में योग शब्द :

भारतीय दर्शन परम्परा में जैन दर्शन और उसमें भी योग, ध्यान साधना को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। यहां 'योग' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[5] यथा संयम, निर्जरा, संवर आदि अर्थों में भी योग शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के अर्थ में भी यह प्रयुक्त होता है।[6]

---

१. दे० पञ्चविंशति, १०.२६
२. वही, १०.२१
३. वही, १०.३५
४. निरस्तमन्मथातङ्कम् योगजं सुखमुत्तमम्।
शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ यो० प्रा०, ६.११, पृ० २००
५. (क) सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।
(ख) समाणं जोगणं।
(ग) जोगहीणं। आवश्यकसूत्र, पृ० २०. २५
वत्तीसार जोगसंगेहिं। समवांगसूत्र, सूत्र ३२ वां
६. तिविहे जोगे पणत्ते जं जहा-मणजोगे, वइजोगे, कायजोगे। स्था० १.३.६

संयम के अर्थ में योग :

उत्तराध्ययनसूत्र में अनेकशः 'योग' शब्द का प्रयोग किया गया है जैसे कि 'जोगवं उवहाणं'[1] योगवान् तथा इसी सूत्र में कहा गया है कि वाहन को वहन करते हुए बैल जैसे अरण्य को लांघ जाता है वैसे ही योग को वहन करते हुए वह साधक मुनि संसाररूपी अरण्य को पार कर जाता है—

> **वाहणे वहमाणस्स कंतारं अइवत्तई।**
> **जोए वहमाणस्स संसारो अइवत्तई ॥**[2]

यहां योग का अर्थ संयम है। **सूत्रकृतांगसूत्र** में भी 'जोगवं'[3] शब्द आता है जो संयम के अर्थ को बतलाता है जबकि **स्थानांगसूत्र** में 'जोगवाही'[4] शब्द समाधि में स्थिर 'अनासक्त पुरुष' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

मन वचन काय के अर्थ में योग शब्द :

उत्तराध्ययनसूत्र[5] और **तत्त्वार्थसूत्र**[6] आदि ग्रन्थों में मन-वचन-काय के व्यापार के अर्थ में भी 'योग' शब्द प्रयुक्त हुआ है किन्तु यहां मन, वचन और काय के व्यापार की प्रेरणामात्र दी गई है। उसीमें आगे बतलाया गया है कि योगों के व्यापार से आस्रव और उनके निरोध से संवर होता है[7] और इसके बाद इससे मुक्तिपद की प्राप्ति होती है।

---

१. उत्तरा० सू०, अ० ११

२. वही, २७,२

३. जयवं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा।
अणुसासणमेव पक्कम्मे, वीरेहिं सम्मं पवेदियं ॥
सूत्रकृतांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, २. १. ११

४. स्थानांगसूत्र, स्थान १०

५. (क) जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। उत्तरा० सूत्र २९. ३८
(ख) जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ। वही २९. ५३
(ग) मणसमाहरणयाएणं सएग्गं जणयइ। वही, २९.५७

६. तत्त्वार्थसूत्र ६.१-२

७. आस्रवनिरोधः संवरः। वही ९.१

आचारांगसूत्र जो सबसे प्राचीन जैन आगम है, उसमें साधुयोगी के लिए धूत-अवधूत शब्दों का प्रयोग हुआ है।[1] 'भावनायोग' भी जैन-दर्शन का मुख्यअंग है। भावनायोग, योग को पुष्ट करने के लिये प्रयुक्त होता है। **सूत्रकृतांगसूत्र** में बतलाया गया है कि जिसकी भावना की शुद्धि हो जाती है, वह पुरुष किनारे पर स्थित नाव के समान **विश्राम** करता है अर्थात् भवसागर से पार हो जाता है।

जैनागम में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को आस्रव कहा गया है।[3] ये ही आस्रव के पांच भेद भी हैं। इनमें भी मिथ्यात्व, कषाय एवं योग की प्रमुखता है क्योंकि अविरति और प्रमाद, कषाय के ही विस्तारमात्र हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि जैनागम में वर्णित आस्रव शब्द चित्तवृत्ति का ही पर्यायवाची है अर्थात् योगदर्शन सम्मत चित्तवृत्ति ही जैनागम में आस्रव है।

जैनागमोत्तरवर्ती ग्रन्थों में योग शब्द :

आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्रसूरि ने जैनागमों में यत्र-तत्र विकीर्ण हुए योग सम्बन्धी तथ्यों को स्वतन्त्ररूप से संग्रहीत किया और परम्परा से चली आ रही वर्णन-शैली को तत्कालीन विद्यमान परिस्थिति और लोकरुचि के अनुरूप नया मोड़ दिया। उन्होंने उसे और अधिक परिष्कृत एवं विस्तृत कर जैनयोग साहित्य में अभिनव युग को जन्म दिया। उनके द्वारा रचित योग ग्रन्थ[4] स्वतः इसके प्रमाण हैं। उक्त ग्रन्थों में उन्होंने केवल जैन परम्परा के अनुसार योग साधना का वर्णन करके ही सन्तोष कर लिया हो सो ऐसी बात नहीं अपितु **पातञ्जलयोगसूत्र** में वर्णित योगसाधना एवं परिभाषाओं की

---

१. आचारांगसूत्र १.६. १८१

२. भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खाति उट्टइ ॥ सूत्रकृतांगसूत्र, प्रथम स्क० अ० १५ गा० ५

३. पंच आसवदारा पण्णता तं जहा-मिच्छत्तं, अविरई, पमायो, कसाया जोगा समवायांगसूत्र, समवाय-५

४. योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगशतक और योगविंशिका

तुलना करने तथा उनमें उपलब्ध साम्य को बतलाने का प्रयत्न भी उन्होंने किया है ?[1] आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग की परिभाषा करते हुए बतलाया कि मोक्ष से जोड़ने वाला धर्म व्यापार ही योग है ।[2]

इसके बाद आचार्य हेमचन्द्र की अनुपम रचना **योगशास्त्र** आता है। **योगशास्त्र** में आचार्य हेमचन्द्र ने योग का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि योग वह है जो धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का कारण हो[3]। इस व्याख्या के अनुसार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही योग सिद्ध होता है। इसी रत्नत्रय को आचार्य उमास्वाति ने अपनी प्रसिद्ध रचना **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** में बहुत पहले ही मोक्ष का मार्ग घोषित किया था[4] जबकि इस विषय में मुनि मंगलविजय ने आचार्य हरिभद्र का ही अनुसरण किया है ।[5]

इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य शुभचन्द्र ने भी **ज्ञानार्णव** नामक योग ग्रन्थ लिखा है जो योग परम्परा में विशिष्ट स्थान रखता है। आचार्य हेमचन्द्र के **योगशास्त्र** और **ज्ञानार्णव** में विषय साम्य और शब्द साम्य काफी मिलता है। अतः योग के लक्षण के विषय में इनमें समानता परिलक्षित होना स्वाभाविक है। जैसे आचार्य हेमचन्द्र ने मोक्ष को मुख्य पुरुषार्थ माना है ऐसे ही आचार्य शुभचन्द्र भी मोक्ष को प्रमुख पुरुषार्थ मानते है। अन्तर केवल इतना ही हैं कि आचार्य हेमचन्द्र

---

१. समाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते ।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थं ज्ञानतस्तथा ।
असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः
निरुद्धाशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुवेधतः ॥ योगबिन्दु, श्लोक ४१९-२१

२. (क) मुक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो । योगविंशिका, गा० १

(ख) अध्यात्मभावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयम् ।
मोक्षेण योजनाद्योगः एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ योगबिन्दु, श्लोक ३१

३. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूपं, रत्नत्रयं च सः ॥ योगशास्त्र, अ० १, श्लोक १५

४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । तत्त्वार्थसूत्र अ० १.१

५. धर्मव्यापारत्वं योगस्य लक्षणं विदुः । योग प्रदीप २.३

ने मोक्षप्राप्ति का कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को माना है जबकि आचार्य शुभचन्द्र ने मोक्ष प्राप्त कराने का साधन 'ध्यान' को स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि—हे आत्मन्! तू संसार के दुःखों के विनाशार्थ ज्ञान रूपी सुधारस को पी और संसाररूपी समुद्र के पार होने के लिए ध्यान रूपी जहाज का अवलम्बन कर।[1]

इसके बाद उपाध्याय यशोविजय के योग ग्रन्थों पर हमारी दृष्टि जाती है। उपाध्याय यशोविजय का आगम ज्ञान, चिन्तन-मनन और योगानुभव विस्तृत एवं गम्भीर था। उन्होंने **अध्यात्मसार**, तथा **अध्यात्मोपनिषद्** आदि योगपरक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें जैन मान्यताओं का स्पष्ट एवं रोचक वर्णन करने के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के साथ जैन-दर्शन की समानता का भी उल्लेख किया गया है।

उपाध्याय ने **अध्यात्मसार** ग्रन्थ के योगाधिकार प्रकरण में प्रमुख रूप से योग पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। यहां उन्होंने योग को चार भागों में बांटा है और उन्होंने पहले कर्मयोग फिर ज्ञानयोग और उसके बाद ध्यानयोग पर आरूढ होकर मुक्ति लाभ की उपलब्धियों पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[2]

(ख) योग विषयक वाङ्मय

भारतीय वाङ्मय में योग विषयक ओजस्वी विचार अपने मूलरूप में अत्यन्त प्राचीन है। सर्वप्राचीन ग्रन्थ **ऋग्वेद** में योग द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्तियों का वर्णन, **कठ-तैत्तिरीय** आदि उपनिषदों में योग की परिभाषा, **महाभारत** और **गीता** जैसे दिव्य ग्रन्थों में वर्णित योग विषयक प्रचुर सामग्री को देखकर योग ध्यान-साधना की अतिव्यापकता एवं प्राचीनता का अनुमान सहज ही ज्ञात हो जाता है।

भारतीय साहित्य चाहे वह वैदिक हो या बौद्ध अथवा जैन सभी में

---

१. भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम्।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम्। ज्ञानार्ण० ३.१२

२. कर्मयोगं समभ्यस्य ज्ञानयोगसमाहितः।
ध्यानयोगं समारुह्य मुक्तियोगं प्रपद्यते॥ अध्यात्मसार, १४.८३

उपलब्ध योग सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिससे योग की परम्परा और उसके विकास क्रम का परिचय प्राप्त हो सकेगा।

१—वैदिक वाङ्मय में

जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है इस परम्परा के प्रमुख ग्रन्थ वेद हैं। वेदों में भी सब से प्राचीन **ऋग्वेद** है। फिर क्रमशः **यजुर्वेद, सामवेद** और **अथर्ववेद** आते हैं। तत्पश्चात् उपनिषद्, पुराण, महाभारत, गीता और इसके बाद बाकी सभी स्वतन्त्र योग परक ग्रन्थ समाहित होते हैं।

१—ऋग्वेद

इस विश्वविख्यात वेद ग्रन्थ में बीज रूप में अनेक योग परक मन्त्र मिलते हैं।[1] ऐसे ही **यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद** मे भी यत्र-तत्र योग सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। वहां योगाभ्यास तथा योग द्वारा प्राप्त विवेकख्याति के लिए प्रार्थना की गयी है कि ईश्वर की कृपा से हमें योगसिद्धि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो। वह ईश्वर अणिमा आदि सिद्धियों के साथ हमारी और आवे।[2]

वैदिक साहित्य में ही उपनिषदों का भी वैशिष्ट्य सर्व विख्यात है। यों तो उपनिषदों में योग शब्द, 'आध्यात्मिक' अर्थ में मिलता है[3] फिर भी विभिन्न उपनिषदों में योग एवं योग साधना का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसमें जगत् जीव और परमात्मा सम्बन्धी बिखरे हुए विचारों में योग की चर्चाएं अनुस्यूत हैं।[4]

---

१. स धानो योग आभुवत्। ऋग्वेद १.५.३
   (ख) स धीना योगमिन्वति। वही १.१८.७
   (ग) कदा योगो वाजिनो रासभस्य। वही, १.४.६
२. सामवेद, ३०१.२१०. ३; अथर्ववेद २०. ६६. १
३. (क) अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। कठोपनिषद्, १. २. २१
   (ख) तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ वही, २.३.११
४. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.४

मैत्रेयी एवं श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में तो स्पष्ट और विकसित रूप में योग की भूमिका प्रस्तुत हुई है। यहां तक कि योग योगोचित्त स्थान, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और कुण्डलिनी आदि का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। जिनमें केवल योग का ही वर्णन हुआ है, ऐसे उपषिदों की संख्या २१ है।[1]

२—पुराणों में

भागवतपुराण, स्कन्धपुराण, गरुड़पुराण और पद्मपुराण आदि में कई स्थलों पर योग की चर्चा हुई है। **भागवतपुराण** में तो स्पष्ट रूप से अष्टांग योग की व्याख्या, महिमा, तथा अनेक लब्धियों का वर्णन मिलता है।[2] **महाभारत** के विभिन्न पर्वों में योग के विभिन्न अंगों का विवेचन एवं विश्लेषण उपलब्ध होता है।[3]

३—गीता में

योग की व्यवस्थित एवं सांगोपांग भूमिका प्रस्तुत करने में श्रीमद् भगवत् **गीता** का अपना विशिष्ट स्थान है। **गीता** में विभिन्न योग पद्धतियों का संग्रह दिखाई पड़ता है, जिनका प्रमुख उद्देश्य एक है। इसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और समत्वयोग आदि का विशेष उल्लेख है।

---

१. (१) योगराजोपनिषद् (२) अद्वयतारकोपनिषद् (३) अमृतनादोपनिषद् (४) अमृतबिन्दूपनिषद् (५) मुक्तिकोपनिषद् (६) तेजोबिन्दूपनिषद् (७) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (८) दर्शनोपनिषद् (९) ध्यानबिन्दूपनिषद् (१०) नादबिन्दूपनिषद् (११) पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् (१२) मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१३) महावाक्योपनिषद् (१४) योगकुण्डल्योपनिषद् (१५) योगचूडामण्युपनिषद् (१६) योगतत्त्व-उपनिषद् (१७) योगशिखोपनिषद् (१८) वाराहोपनिषद् (१९) शाण्डिल्योपनिषद् (२०) ब्रह्मविद्योपनिषद् (२१) हंसोपनिषद्।

२. भागवतपुराण, ३.२८; ११.१५; १९-२०

३. विस्तृत अध्ययन के लिए दे०-महाभारत, शान्तिपर्व, अनुशासनपर्व एवं भीष्मपर्व।

गीता में निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों ही प्रकार के योगों की चर्चा हुई है जैसे कर्मफल की इच्छा का न होना,[1] विषयों के प्रति आसक्त न होना, समत्वयोग[2] निष्कामता[3] आदि।

इस प्रकार गीता के अठारह अध्यायों में अठारह[4] प्रकार के योगों का उल्लेख है जिनमें अनेकविध साधनाएं बतलाई गई हैं जैसे सभी कार्य भगवान् को अर्पण करना[5] एवं अवस्थाओं में संतुष्टि[6] और मन को एकाग्र करना आदि।

समभावयोग

गीता के अनुसार विशेष प्रकार के कर्म करने की कुशलता, युक्ति अथवा चतुराई योग है।[7] जब आत्मा का आत्मा के द्वारा साक्षात्कार

---

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ गीता, २.४७ तथा ४.२०

२. योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ वही, २.४८

३. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। वही, ४.१९

४. (१) ज्ञानयोग ३.३; १३.२४ (२) भक्तियोग १४.२६ (३) आत्मयोग १०, ६८; ११.४७ (४) बुद्धियोग १०.१०, १८.५७ (५) सातत्ययोग १०.९ १२.१ (६) शरणागतियोग ९.३२, १८.६४ (७) नित्ययोग ९.२२ (८) ऐश्वरीय योग ९.५; ११.४ (९) अभ्यासयोग ८.८, १२.९ (१०) ध्यान योग १२.५२ (११) दुःखसंयोग-वियोग योग ६.२३ (१२) सन्यासयोग ६.२; ९.२८ (१३) ब्रह्मयोग ५.२१ (१४) यज्ञयोग ४.२८ (१५) आत्म-संयम योग ४.२७ (१६) देवयोग ४.२५ (१७) कर्मयोग ३.३, ५.२, १३.२४ (१८) समत्वयोग २, २८; ६.२९

५. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ गीता १, २७

६. यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ वही ६.२०

७. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ वही २.५०

होता है, उस समय मनुष्य को पूर्ण सन्तोष मिलता है और परम आनन्द की अनुभूति में वह लीन हो जाता है। इस अवस्था में स्थित होकर वह विचलित नहीं होता।[1] यही योगमुक्ति की पहचान है, जहां पहुंचकर सत्त्व सुख-दुःख, हानि, लाभ, सिद्धि-असिद्धि में समान रहता है। इसी समभाव का नाम योग है।[2]

इस प्रकार **गीता** में प्रत्येक योग का वास्तविक अथवा स्वरूप-भूत लक्षण वर्णित है और हर हालत में आत्म-संयम, कामना, त्याग, प्राणिमात्र से प्रेम और निंदा-स्तुति में समभाव आदि गुणों की अपेक्षा रखी गयी है फिर भी कर्म-योग, राजयोग, भक्तियोग, एवं ज्ञानयोग में क्रमशः कर्म, ध्यान, भक्ति एवं ज्ञान पर विशेष जोर दिया गया है।[3]

संक्षेप में **गीता** एक मानव जीवन का विधान है। यह बुद्धि के द्वारा सत्य का अनुसंधान है और सत्य को मनुष्य की आत्मा के अन्दर क्रियात्मक शक्ति देने का प्रयत्न भी है। इसलिए प्रत्येक अध्याय के उपसंहारपरक वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है, जो एक अनिश्चितकाल से प्राप्त होता आ रहा, वह यह कि यह एक योगशास्त्र है अथवा ब्रह्म सम्बन्धी दर्शनशास्त्र का धार्मिक अनुशासन शास्त्र मात्र।[4]

४—स्मृतियों में

सम्पूर्ण स्मृतियों को आचार-विचार एवं नीतियों की अमूल्य निधि कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि इनमें वैदिक परम्परा विहित समस्त आश्रमों[5] का विस्तृत वर्णन किया गया है। **याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति** आदि में साधकों के अनेक कर्त्तव्यों और गृहस्थों के सत्कर्मों की चर्चा मिलती है।[6]

---

१. गीता ६. २०-२१
२. वही २.४८, तथा ३.१६
३. दे० जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० १८
४. (राधा०) भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ० ४६१
५. चत्वारा: आश्रमा: ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थ-परिव्राजका:। वाशिष्ठस्मृति, पृ० २०६
६. संध्या स्नानं जपो होमस्त्राध्यायदेवतार्च्यनम्……षट् कर्माणि दिने दिने। पाराशरस्मृति, ३६

वर्णों तथा आश्रमों के सम्यक् धर्म का पालन करने से ही मोक्ष की उपलब्धि होती है।[1] इस अवस्था में साधक अपनी इन्द्रियों पर संयम भी रखता है जिससे उसकी सारी क्रियाओं का सम्पादन उचित रूप से होता है। यही कारण है कि गृहस्थाश्रम में भी धर्म पालन करने से मोक्ष प्राप्ति का विधान किया गया। यौगिक क्रियाओं के अभ्यास के द्वारा[2] इन्द्रियों पर[3] विजय प्राप्त करना यम-नियम एवं अहिंसा आदि क्रियाओं तथा योगाभ्यास से आत्मदर्शन[4] करना आदि इन प्राचीन स्मृतियों में योग सम्बन्धी सभी क्रियाओं का वर्णन मिलता है जिससे मोक्षलाभ होता है। अतः ये स्मृति ग्रन्थ मोक्ष के सोपान हैं।

योगवासिष्ठ

योगवासिष्ठ वैदिक संस्कृति का एक ऐसा प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से मुख्यतः योग का निरूपण हुआ है तथा उसकी कथाओं, उपदेशों और प्रसंगों आदि से संसार सागर से निवृत्त होने की भी युक्ति बतलायी गयी है।

इसमें मन का विस्तृत वर्णन है। मन को ही शक्तिशाली एवं पुरुषार्थ का सहायक माना गया है। यहां तक कि मन के ही पूर्ण शान्त होने पर ब्रह्मत्व की उपलब्धि होती है।[5] मन को शान्त करने के अनेक उपायों का भी उल्लेख किया गया है। यहां यह बतलाया गया है कि संकल्प करना ही मन का कार्य है। मन ही ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा

---

१. योगशास्त्रं प्रवक्ष्यामि संक्षेपात् सारमुत्तमम्।
यस्य च श्रवणाद् यान्ति मोक्षमेव मुमुक्षवः॥ हारीत स्मृति, ८.२

२. प्राणायामेन वचनं प्रत्याहारेण च इन्द्रियम्।
धारणाभिवशकृत्वा पूर्वं दुर्धर्षणं मनः॥ वही ८.४

३. अरण्यनित्यस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तकस्य।
अध्यात्मचिन्तागतमानसस्यध्रुवा ह्यनावृत्तिमवेक्षकस्य॥
वासिष्ठस्मृति, २५८

४. इज्याचारदमाहिंसादानं स्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति, ८

५. योगवासिष्ठ, ५.८, ६.९

सत्त्व कर्म-बन्धन में फँसता है और उसी के द्वारा वह उन कर्म बन्धनों की कड़ियों को तोड़कर मुक्ति रमा की प्राप्त करता है। अतः मन की पूर्णशान्ति का माध्यम योग ही है। मन के स्थिर होने पर साधक जागृति, स्वप्न, एवं सुषुप्ति से भिन्न तुरीयावस्था की स्थिति में पहुंचने में समर्थ होता है। इन्हीं अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन **योगवासिष्ठ** में मिलता है।[१]

५—पातञ्जलयोगसूत्र

योग का व्यवस्थित एवं प्रामाणिक वर्णन करने का श्रेय महर्षि पतञ्जलि को ही जाता है। योगविद्या के प्रवर्तकों में महर्षि पतञ्जलि अग्रगण्य आचार्य है।

महर्षि पतञ्जलि ने अनेक प्राचीन ग्रन्थों में बिखरे हुए योग विषयक विचारों की अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा सजा-धजा कर **योगसूत्र** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। निःसन्देह यह ग्रन्थ उनकी उद्‌भट प्रतिभा और गम्भीर मेधाशक्ति का प्रतीक है।

योगसूत्र चार पादों में विभक्त है। प्रथम पाद में योग का लक्षण, उसक स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद का नाम साधना पाद है। इसमें दुःखों के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय विभूति पाद में धारणा, ध्यान-समाधि एवं सिद्धियों का वर्णन है तथा चतुर्थ कैवल्य नामक पाद में चित्त का स्वरूप तथा कैवल्य प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है।

६—अद्वैतदर्शन में

भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह दर्शन केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यवहारिक भी है। इसमें परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के लिए उन साधनों पर विचार किया गया है जो योग साधना के लिए अनिवार्य हैं।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया के कारण ही जीव संसार में भ्रमण

---

१. वही, ४.१६,१५-१८; ५.७८.१०

करता है। आत्म दर्शन में मग्न रहकर तथा योग पर आरूढ होकर ही साधक इस भवसागर से पार हो सकता है।[1] ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय में आसन एवं ध्यान आदि योगाङ्गों का वर्णन किया गया है। इसी कारण इसका नाम साधना पाद रखा गया है।[2]

७—सांख्यदर्शन

पातञ्जलयोग सांख्य सिद्धान्त की नींव पर ही खड़ा है। दूसरे, सांख्यदर्शन में योग की महत्ता इससे भी सिद्ध है कि गीता के दूसरे अध्याय को सांख्ययोग ही कहा गया है। सांख्यसूत्र (सांख्यदर्शन) का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वहां पर योग विषयक अनेक सूत्र हैं।[3]

८—वैशेषिकदर्शन में

वैशेषिकदर्शन के प्रणेता कणाद ने योग के अंग-यम-नियम ध्यान एवं धारणा आदि पर बहुत बल दिया है।[4] इतने से ही वैशेषिकदर्शन में योग की महत्ता सिद्ध हो जाती है।

९—न्यायदर्शन में

न्यायदर्शन में भी योग का समुचित वर्णन मिलता है।[5]

२—वैदिकतर वाङ्मय : बौद्ध

बौद्धधर्म में आत्मा को छोड़कर यदि कोई ऐसी वस्तु है, जो

---

१. उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया॥ विवेकचूडामणि, श्लोक ९

२. ब्रह्मसूत्र, ४.१.७-११

३. रागोपहतिर्ध्यानम्। सांख्यसूत्र ३.३
वृत्तिनिरोधात् तत् सिद्धिः। वही, ३.३१

४. अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्य गुरुकुलवास वानप्रस्थ
यज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय।
वैशेषिकद०, ६. २. २; ६. २.८

५. (क) समाधिविशेषाभ्यासात्। न्यायदर्शन. ४. २. ३६
(ख) अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः। वही, ४. २. ४०
(ग) तदर्थं यमनियमाभ्यासात्मसंस्कारो योगाच्चात्मविध्युपायैः॥
वही, ४. २. ४६

पुनर्जन्म करती है तो वह है एक मात्र सत्त्व का 'चित्त'। हम चाहे जिस नाम से भी पुकारें किन्तु बौद्धों ने इसके चित्त और चैतसिक भेद कर इन्हें अनेक भेदों में बांटा है। ८६ अथवा १२१ भेद तो चित्त के ही हैं और फिर ५२ प्रकार का चैतसिक होता है। ध्यान योग के क्षेत्र में चित्त की ११ वृत्तियों को आचार्यों ने अधिक महत्त्व दिया है।

१. विसुद्धिमग्ग

यह पालि साहित्य का एक अमूल्य ग्रन्थरत्न है। इसके लेखक आचार्य बुद्धघोष हैं, जिनका समय ईसा की चौथी शदी स्वीकार किया गया है। बुद्धघोष ने **विसुद्धिमग्ग** के अतिरिक्त प्रायः निखिल पालि साहित्य पर अट्ठकथाएं भी लिखी है।

विसुद्धिमग्ग का अर्थ निर्वाण प्राप्ति का पवित्र मार्ग है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि **विसुद्धिमग्ग** में आचार्य बुद्धघोष ने साधकों के लिए योगाभ्यास की युक्तियों को सरल एवं सुबोध भाषा में निबद्ध किया है। इसमें इतना मात्र ही नहीं है, गृहस्थों के लिए भी जगह-जगह पर इसमें सद्धर्म का उपदेश दिया गया है। बौद्ध-धर्म का ऐसा कोई अंग अवशिष्ट नहीं, जो **विसुद्धिमग्ग** में प्रतिपादित न किया गया हो। स्वयं बुद्धघोष कहते हैं कि चारों आगमों के बीच स्थित होकर यह **विसुद्धिमग्ग** उनके यथार्थ अर्थ को प्रकाशित करेगा।

विसुद्धिमग्ग की रचना बुद्धघोष ने सिंहल में जाकर की थी। यह दो गाथाओं पर आधारित है, वे हैं—

१—**प्रश्न रूप में**—अन्तो जटा बहि जटा, जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि, को इमं विजट्ये जटं॥

२ **उत्तर में** —सीले पट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्त पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजट्ये जटं॥

इस तरह यह कृति बुद्धघोष के पाण्डित्य का निदर्शन है। यह पूर्णतः शील, समाधि और प्रज्ञा को विस्तार से ललित शैली में स्पष्ट करता है।

विसुद्धिमग्ग में २३ अध्याय हैं, जो तीन भागों में विभक्त हैं। प्रथम दो भागों में शील के भिन्न-भिन्न प्रकार और उसे उपार्जन करने के उपायों पर गहन चिन्तन किया गया है। ३-१३ परिच्छेदों में विसुद्धिमग्ग की उच्चतर सीढ़ियों का वर्णन है। इसे ही बौद्धों के यहां समाधि कहा गया है। १५-२३ परिच्छेदों में प्रज्ञा का निरूपण है। प्रज्ञा की परिभाषा करते हुए बतलाया गया है कि स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद ये सभी प्रज्ञा की भूमियां हैं।

२. अभिधम्मत्थसंगहो

यह ग्रन्थ रत्न भी पालि भाषा में निबद्ध है। इसके रचयिता बर्मा निवासी आचार्य अनिरुद्ध हैं। विद्वानों ने इनका समय चौथी शदी का उत्तरार्ध और पांचवी शदी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है। अनुरुद्धाचार्य बुद्धघोष और वसुबन्धु के प्राय: समसामयिक हैं।

अभिधम्मत्थसंग्गहो का आधार बौद्ध धर्म का तृतीयपिटक अभिधम्म (अभिधर्म) पिटक है। इसी कारण उसे अभिधम्मपिटक का प्रवेश द्वार कहा गया है। इससे इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। इसका एक दूसरा महत्त्व और भी है और वह है कि बाद के आचार्यों ने इस पर टीका पर टीकाएं लिखीं हैं। इनकी संख्या लगभग १९ हैं, जिनमें से निम्न ११-१२ प्रमुख हैं। वे हैं—

(१) अभिधम्मत्थसंग्गह टीका
(२) अभिधम्मत्थविभावनी टीका
(३) अभिधम्मत्थसंग्गह सङ्क्षेप टीका
(४) परमत्थदीपिनी टीका
(५) अंकुर टीका
(६) नवनीत टीका
(७) अभिधम्मत्थ दीपक
(८) विभावनी टीका
(९) परमत्थसरूपभेदनी
(१०) अभिधम्मत्थसंग्गहभाषा टीका
(११) अभिधम्मत्थग हत्थदीपनी
(१२) अभिधम्मत्थप्रकाशिनी टीका

अभिधम्मत्थसंगहो की शैली सरल एवं सुललित है। इसका मुख्य विषय चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण है जिनका वर्णन ग्रन्थ के प्रारम्भिक छः परिच्छेदों में मिलता है। बाद के तीन परिच्छेदों मे बौद्ध धर्म के कतिपय जटिल प्रश्नों का समाधान किया गया है। इन परिच्छेदों के नाम हैं—चित्तसंग्रह, चैतासिकसंग्रह, पण्णिकसंग्रह, वीथिसंग्रह, वीथिमुक्त संग्रह, रूपसंग्रह, समुच्चयसंग्रह, प्रत्ययसंग्रह तथा कर्म स्थान-संग्रह। इस तरह अभिधर्म के समस्त तत्त्वों, धर्मों को इनमें कहीं संक्षप म तो कहीं विस्तार से समझाया गया है। बौद्धदेशों में अभी भी ज्ञानाभ्यास का प्रारम्भ **अभिधम्मत्थसंगहो** से ही कराया जाता है। जैसे भारत में गीता घर-घर पढ़ी जाती है वैसे ही बर्मा में **अभिधम्मत्थसंगहो** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही सब इस कृति की महत्ता प्रगट करते हैं।

३. अभिधर्मकोश

अभिधर्मकोश हीनयान और महायान को जोड़ने वाला बौद्धों का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह वैभाषिकों का प्रतिनिधित्व करता है जबकि कुछ एक के मत में यह सर्वास्तिवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इस अनुपम रचना के रचयिता विश्वख्याति प्राप्त विद्वान् आचार्य वसुबन्धु हैं। आप अपने समय में अपने विषय के सूक्ष्म ज्ञाता रहे हैं।

प्रारम्भ में आपका जीवन वैभाषिक बौद्धों की सेवा में बीता और बाद में आप अपने बड़े भाई असंग के प्रभाव से योगाचार बौद्धमत में में दीक्षित हो गए। आपका समय चौथी शताब्दी स्वीकार किया जाता है।

आपकी प्रमुख दो रचनाओं—**अभिधर्मकोश** एवं **विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि** ने आपको विद्वद् जगत में सर्वाधिक यश दिलाया है। अभिधर्मकोश और विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का महत्त्व इससे और भी बढ़ जाता है कि बाद के अनेक आचार्यों ने इन पर भाष्य एवं टीकाएं लिखी हैं।

अभिधर्मकोश पर स्वयं वसुबन्धु ने भाष्य भी लिखा है। इस तरह **अभिधर्मकोशभाष्य** आपकी प्रसिद्ध रचना है। अनन्तर छठी एवं ७वीं शदी के दो चीनी विद्वानों—परमार्थ और ह्वेनसांग ने इस पर पृथक्-

पृथक् अनुवाद लिखे। इसके बाद आचार्य यशोमित्र ने **अभिधर्मकोश-भाष्य** पर एक विस्तृत व्याख्या **अभिधर्मकोशभाष्य** व्याख्या नामक ग्रन्थ लिखा, जो भाष्य के साथ पहले जापान से प्रकाशित हुआ है। पश्चात् १९७२ में वाराणसी से श्रीद्वारिकादास शास्त्री ने इसे पुनः सम्पादित किया है। **अभिधर्मकोशभाष्य** अपने मूल में १९६७ में जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना से भी प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक प्रह्लाद प्रधान हैं।

अभिधर्मकोशभाष्य में कुल मिलाकर ६०० कारिकाएं हैं। इन्हें आठ परिच्छेदों में बांटा गया है। धातु, इन्द्रिय, लोक, कर्म, अनुशय, ज्ञान, पुद्गल और ध्यान इन विषयों पर इसमें विस्तार से तर्क सम्मत अध्ययन किया गया है। लगता है यह ग्रन्थ अत्यन्त गूढ़ है कारण कि अभी तक इसका देवनागरी में अनुवाद नहीं किया जा सका।

४. अभिधर्मदीप

यह विशाल काय विभाषा ग्रन्थ अभिधर्मकोश को आधार बनाकर लिखा गया है। इसके लेखक आचार्य दीपाकर हैं जिनका समय ४५०-५५० के मध्य माना जाता है। आचार्य दीपाकर ने अभिधर्मदीप पर स्वयं एक व्याख्या अथवा वृत्ति भी लिखी थी। इसी वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ का पूरा नाम **अभिधर्मदीपवृत्ति** मिलता है।

इस ग्रन्थ की खोज पं० राहुल सांकृत्यायन ने अपनी तिब्बत की यात्रा के दौरान की थी जो मूल रूप में आज भी बिहार रिसर्च इंस्टीट्यूट पटना में सुरक्षित है। विस्तृत भूमिका के साथ इसे सम्पादित कर डा० पद्मनाभ जैनी ने १९५७ में उक्त शोध संस्थान से ही प्रकाशित कराया है।

इस गन्थ में ५९७ कारिकाएं और आठ अध्याय हैं। स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, लोक, कर्म, अनुशय, मार्ग, ज्ञान और समाधि इन विषयों का इसमें विस्तार से सम्यक् विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त अभिधर्मदीप में महापुरुष के ३२ लक्षणों तथा ८० अनुव्यञ्जनों का भी वर्णन मिलता है। यही इसकी अपनी विशेषता भी है।

५. अर्थविनिश्चयसूत्र

इस ग्रन्थ की उपलब्धि भी स्व० पं० राहुल सांकृत्यायन को ही हुई थी। इसका मूल लेखक अज्ञात है किन्तु ८वीं शताब्दी के नालन्दा बिहार के प्रौढ़ भिक्षु एवं आचार्य वीरश्रीदत्त ने इस पर निबन्धन नामक टीका लिखी है। इसके दो प्राचीन संस्करण भी मिलते हैं। दोनों की भाषा तिब्बती है। पहला तिब्बती व्याख्या के साथ मिलता है जबकि दूसरे में तिब्बती अनुवाद के साथ संस्कृत व्याख्या भी है।

अर्थविनिश्चयसूत्र के प्रतिपादन की अपनी शैली है। प्रारम्भ में प्रतिपादित किए जाने वाले विषयों की सूची दी गई है। फिर उनका एक के बाद एक प्रश्न करके विशेष व्याख्यान किया गया है। उदाहरण के लिए भिक्षुओ ! पाँच स्कन्ध उपादान कौन से हैं ? जैसे कि वे हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान।

इसमें प्रतिपादित विषय हैं—स्कन्ध, उपादानस्कन्ध, धातु, आयतन, प्रतीत्यसमुत्पाद, आर्यसत्य, इन्द्रिय, ध्यान, आरूप्यसमापत्ति, ब्रह्मविहार, प्रतिपत्, समाधि, स्मृत्युपस्थान, सम्यक्प्रहाण, ऋद्धिपाद, पञ्चेन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग, अष्टाङ्गिकमार्ग, आनापानस्मृति, स्रोत-आपत्ति, तथागतबल, वैशारद्य, प्रतिसवित्, आवेणिकधर्म, महापुरुषलक्षण और अनुव्यञ्जन।

यह गन्थ निबन्धन टीका के साथ डा० एन० एच० सान्तानी के द्वारा सम्पादित होकर १९७० में जायसवाल शोध संस्थान पटना से प्रकाशित हुआ है।

६. अभिधर्मामृत

यह अनुपम कृति सम्राट् कनिष्क कालीन आचार्य घोषक की एक मात्र रचना है। **अभिधर्मामृत** अभिधर्म का सार है, जो मूलरूप में चीनी अनुवाद में थी। इस रचना का निबन्धन आचार्य घोषक ने कहां बैठकर किया, कहना कठिन है। सन् १९५३ में विश्वभारती शान्ति निकेतन से प्रकाशित तथा भिक्षुशान्ति शास्त्री द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ चीनी संस्करण का संस्कृत रूपान्तर है। विषय वस्तु के विभाजन एवं उसके वर्गीकरण करने की शैली अभिधर्मामृत की अपनी विशेषता है। कुछ

हमें **अभिधर्मकोश** में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं जबकि कतिपय विषयों का प्रतिपादन पालि महावग्ग से मिलता जुलता है। विषय प्रतिपादन यद्यपि संक्षिप्त है, फिर भी धर्मों की संख्या एवं गणना में पूर्ण साम्य है। इसमें १५ अध्याय हैं, जिनमें दानशील, लोक, धातु एवं गति, स्थित्याहभव, कर्म, उसके भेद, स्कन्ध, धातु, आयतन, संस्कार, प्रतीत्यसमुत्पाद, अनुशय, अनास्रव, पुद्‌गल, ज्ञान, ध्यान, संकीर्ण समाधियां, बोधिपाक्षिकधर्म चार आर्यसत्य और मिश्रकसंग्रह मुख्य हैं। इसमें शीर्षक के अनुरूप ही विषय का विस्तार से विवेचन किया गया है। ध्यान एवं चित्त की वृत्तियों का अध्ययन १० से १३ तक के अध्यायों में किया गया है।

७. अभिधर्मसमुच्चय

अभिधर्मसमुच्चय की भी अपनी नवीन शैली है। प्रायः जो **अर्थविनिश्चयसूत्र** से मिलती-जुलती है। यह संस्कृत भाषा में निबद्ध है। सम्पादन भी प्रह्लाद प्रधान ने किया है और यह रचना १९५० में शान्ति निकेतन से प्रकाशित की गई है। इस ग्रन्थ की खोज करने वाले भी बौद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन हैं। इसके चीनी और तिब्बती ऐसे दो अनुवाद भी मिलते हैं। चीनी भाषा का अनुवाद ७वीं शदी में ह्वेनसांग ने किया था तथा तिब्बती भाषा में अनुवाद ज्ञानमित्र ने। कुछ विद्वान् इसका पांचवा परिच्छेद प्रक्षिप्त मानते हैं।

अभिधर्मसमुच्चय में कुल पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम के तीन भाग हैं इसे त्रिधर्म परिच्छेद कहा गया है। स्कन्धधातु तथा उनके विकल्पों, विविध नयों सम्प्रयोगों पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद समन्वयांगम परिच्छेद है, जो विनिश्चय समुच्चय कहा गया है। दूसरे परिच्छेद में आर्यसत्यों का वर्णन है। तीसरे धर्मविनिश्चय परिच्छेद में द्वादशांग प्रवचन है। इसमें प्रतीत्यसमुत्पाद की परिचर्चा की गई है। चतुर्थ में प्राप्ति विनिश्चय पुद्‌गल और अभिसमय व्यवस्थान का प्रतिपादन मिलता है। अन्तिम पांचवा सांक्थय विनिश्चय परिच्छेद है जिसमें तर्कशास्त्र के वाद, जल्प-वितण्डा आदि पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

८. ललितविस्तर

ललितविस्तर नववैपुल्य सूत्रों में से एक है। यह महायान बौद्धों

का पूज्य ग्रन्थ है। इसका दूसरा नाम महाव्यूह भी मिलता है। इसकी रचना प्रथम शदी ईसा पूर्व मानी जाती है। इसका चीनी अनुवाद ३०० ई० में हुआ था। सन् १६७५ में इसके कुछ अध्यायों का अनुवाद अंग्रेजी विद्वान् लोफमान ने किया था जो वर्लिन से प्रकाशित हुआ है। इसी के १५ अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद भारतीय विद्वान् डा० राजेन्द्र लाल मित्रा ने सन् १८८१-१८८६ के मध्य किया था। सन् १८८४-१८९२ के बीच एनल द मूसें गिने फ्रेंच विद्वान् ने इसका फ्रेंच अनुवाद कर छः जिल्दों में प्रकाशित कराया था। डा० पी० एल० वैद्य ने दरभंगा से **ललितविस्तर** का देवनागरी में सम्पादन कर मूल रूप में उसे प्रकाशित कराया है, जो उपलब्ध होता है और कतिपय विश्वविद्यालयों में पढ़ाया भी जाता है।

ललितविस्तर में भगवान् बुद्ध के अवतरण एवं उनकी पृथ्वी पर की गयी ललित क्रीड़ाओं का मिश्रित संस्कृत भाषा में विस्तार से वर्णन किया गया है। वैसे तो यह पद्यमय रचना है फिर भी इसमें पुरानी परम्परा का भी दर्शन होता है। बीच-बीच में गाथाएं भी पायी जाती हैं। गौतम बुद्ध की प्रारम्भिक ध्यान साधना इसमें द्रष्टव्य है।

९. दशभूमीश्वरसूत्र

यह रचना भी नववैपुल्यों में से एक है। धर्मरक्षक ने २९७ ई० में दशभूमीश्वर का चीनी अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ में बोधिसत्व की साधना पर प्रकाश डाला गया है। बोधिसत्व की साधना दशभूमियों पर आधारित है। वे भूमियां हैं—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा। ध्यान साधना के क्षेत्र में दशभूमीश्वर का अपना महत्व है। इसका देवनागरी संस्करण दरभंगा से प्रकाशित हुआ है।

१०. समाधिराज सूत्र

यह रचना भी महायानी है और यह भी नववैपुल्यों में गिनी जाती है। इसका अपरनाम **चन्द्रप्रदीप** भी मिलता है। योगाचार की दृष्टि से इसमें विभिन्न समाधियों पर विस्तार से अध्ययन किया गया है। समाधि का चरमोत्कर्ष उसके सर्वज्ञत्व की प्राप्ति में होता है। यह ग्रन्थ भी दरभंगा से प्रकाशित हुआ है। सम्पादक डा० पी० एल० वैद्य हैं।

११. बोधिचर्यावतार

इसकी भी गणना नववैपुल्यों में की जाती है। इस कृति के लेखक ७वीं शदी के आचार्य शान्तिदेव हैं। सन् १९०२ में इसका पहला रूसी संस्करण निकला था। वारनेट ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया था। इसी का सन् १९०२ में ही लावाले पुसे ने पेरिस से फ्रेंच अनुवाद भी प्रकाशित किया था। इसी संस्करण में प्रज्ञाकरमति द्वारा इस पर कृत पञ्जिका टीका भी प्रकाशित की गई थी। इस ग्रन्थ पर इटालियन और जर्मन अनुवाद भी मिलते हैं।

यह महायान का आचार ग्रन्थ है। बोधिसत्व के आदर्श के जानने के लिए यह अनुपम रचना है। इसमें १९ परिच्छेद हैं। बोधिसत्व का स्वरूप उनकी चर्चा तथा उनकी विनय शीलता आदि का बहुत ही सांगोपांग वर्णन किया गया है। बोधि का अर्थ **'निर्मलज्ञान, अथवा प्रज्ञा'** है। यही बोधिसत्व का एक मात्र लक्ष्य है। बोधिसत्व परार्थी होता है, दूसरों को कष्टों में देखकर उसका हृदय करुणा से आप्लावित हो जाता है। वह उमके दुःखों को भोगने के लिए नरक में भी रहना पसन्द करता है। इन सबके पीछे उनका एक मात्र उद्देश्य होता है, सर्वज्ञत्व की उपलब्धि करना, जो योग साधना के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। शून्यवाद के रहस्य को जानने के लिए यह ग्रन्थ विशेष महत्त्व रखता है। इसका देव नागरी संस्करण भी उपलब्ध है।

१२. शिक्षासमुच्चय

यह आचार्य शांतिदेव की दूसरी रचना है। इसका ८१६-८३८ ई० के बीच तिब्बती अनुवाद किया गया था। इसका सन् १८९७ में रूसी संस्करण भी निकला था। इसके अतिरिक्त एक अन्य संस्करण १९०२ और १९२२ में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया गया था।

इस ग्रन्थ में १९ परिच्छेद और २६ कारिकाएं है। इसमें ऐसे भी कतिपय ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो आज लुप्त प्राय: हैं। बोधिसत्व की ध्यान साधना पर इसमें विस्तार से प्रकाश डाला गया है। महायान दर्शन के अध्ययन के लिए यह नितान्त भजनीय है।

१३. बुद्धचरित

इसके रचनाकार प्रथम शदी के बौद्धदार्शनिक अश्वघोष हैं। इनकी अब तक उपलब्ध तीन कृतियों में बुद्धचरित विशिष्ट है। यह महाकाव्य है जो संस्कृत के महाभारत और रामायण के बाद गिना जाता है किन्तु दुर्भाग्य यह है कि यह विद्वानों की दृष्टि में पूरा का पूरा अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका। प्रथम सर्ग का ३-५ भाग, २ से १३ तथा १४वें सर्ग का १-२ भाग में यह मिलता है। वैसे तो कुछ समय पूर्व प्रो० चौधरी द्वारा जॉन्सन के अंग्रेजी संस्करण के आधार पर २८ सर्गों का एक हिन्दी संस्करण मूल के साथ प्रकाशित किया गया है। बुद्धचरित में बुद्ध के जन्म से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक का साङ्गोपांग वर्णन किया गया है, जो साधना-बोध के लिए उपयोगी है।

जैन वाङ्मय

आध्यात्मिक दृष्टि से प्राचीन जैन आगमों की भारतीय वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण देन रही है। प्रायः सभी आगमों में साधक की जीवन चर्या एवं योग साधना विषयक दिशानिर्देश और नियमोपनियमों का विस्तार से वर्णन हुआ है। सभी विद्याओं के बीज जो कुछ अन्यत्र नहीं मिलते, मूल रूप से जैन आगमों में एकत्र प्राप्त होते हैं क्योंकि जैन परम्परा निवृति प्रधान और अधिक प्राचीन है। इसमें मुनि के आचार-विचार एवं व्यवहार तथा आत्मविकास का अंगोपांग सहित विश्लेषण किया गया है। मुनि को ही दूसरे शब्दों में योगी कहा जाता है। अतः योग सम्बन्धो चर्चा और योग के विकास का वर्णन प्रचुर रूप से जैन आगमों में उपलब्ध होता है।

जब जैन वाङ्मय पर विचार किया जाता है तब हम पाते हैं कि उसकी आचार भूत भित्ति तो आध्यात्मिक ही है। क्या योग अथवा ध्यान याकि समाधि सभी विषयों पर जितना गहन चिन्तन जैन वाङ्मय में किया गया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

जैन धर्म-दर्शन यद्यपि निवृत्ति प्रधान है फिर भी वह सत्वों की प्रवृत्ति पर भी उतना ही बल देता है जितना कि निवृत्ति पर किन्तु सत्व तो अधिकांश प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होते हैं, निवृति की ओर उतना नहीं कारण कि जैन दर्शन की निवृत्ति मार्ग भी अपनाना अधिक सरल

नहीं जितना कि निवृत्ति प्रधान अन्य वैदिक दर्शन पाये जाते हैं।

निवृत्ति परक जिन आगम ग्रन्थों में जैनयोग की चर्चा मिलती है उनमें कतिपय प्रमुख आगम ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

(१) आचारांगसूत्र
(२) सूत्रकृतांगसूत्र
(३) भगवतीसूत्र या व्याख्याप्रज्ञप्ति
(४) अनुयोगद्वारसूत्र
(५) स्थानाङ्गसूत्र
(६) समवायांगसूत्र
(७) औपपातिकसूत्र
(८) आवश्यकसूत्र

इनके अतिरिक्त और अन्य ग्रन्थ भी हैं जिनमें योग का विस्तृत वर्णन किया गया है।

आगमत्तोर कालीन जैन ग्रन्थ

आगमों ग्रन्थों में जो वस्तु-विवेचन सूत्र रूप में विभिन्न स्थलों में मिलता है उसे ही परवर्ती आचार्यों ने मनन कर अपनी कृतियों में विस्तार से वर्णन किया है। इसमें ध्यानयोग साधना के अंग विशेष कर अछूते नहीं रहे। आगमोत्तरकालीन योग से सम्बद्ध जो ग्रन्थ हमें उपलब्ध होते हैं वे निम्न प्रकार हैं

(१) **ध्यानशतक**

जैन योग विषय का प्राचीन ग्रन्थ **ध्यान शतक** है। इस ग्रन्थ के रचयिता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण है। इनका समय ईसा की सातवीं शदी माना जाता है। इसमें १०० श्लोक है और इसकी भाषा प्राकृत है। ध्यान के विस्तृत वर्णन के साथ-साथ इसमें आसन, प्राणायाम और अनुप्रेक्षाओं का भी मनोज्ञ वर्णन किया गया है।

---

१. आचार्य हरिभद्र सूरि ने इस पर टीका लिखी है

(२) मोक्षप्राभृत

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इनका समय अनुमानतः ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी निश्चित है।[1] मोक्षप्राभृत शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध है जिसमें केवल १०६ गाथाएं हैं। इन गाथाओं में मोक्षलाभ के लिए साधनायोग पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

गृहस्थ और मुनि दोनों ही प्रकार के साधकों की साधना का विधिविधान इसमें वर्णित है। इसकी रचना योगशतक के रूप में की गई प्रतीत होती है।

पातञ्जल योगदर्शन में योग के जिन यम-नियम आदि आठ अंगों का निरूपण किया गया है उनमें से प्राणायाम की छोड़ कर शेष सात का विषय यहां पर स्पष्ट रूप से जैन परम्परानुसार पाया जाता है।[2]

(३) समयसार

यह भी आचार्य कुन्दकुन्द की अनन्य रचना है। इसकी भाषा भी शौरसेनी प्राकृत है। इसमें ४३७ गाथाएं हैं। इसमें जैन योग का विशद विवेचन किया गया है। इनके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन मुनि-साधना के आचार-विचार से सम्बन्धित तीन रचनाएं और भी लिखी हैं, वे हैं—नियमसार, प्रवचनसार और समाधितन्त्र। ये सभी शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध है।

(४) तत्त्वार्थसूत्र

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य उमास्वाति या उमास्वामी है। इनका समय विक्रम की पहली से चौथी शदी के बीच निश्चित किया जाता है।[3] **तत्त्वार्थसूत्र मोक्ष** मार्ग का प्रतिपादक एक अनूठा संस्कृतसूत्र ग्रन्थ है। इसमें दस अध्याय हैं। इसके भी योग-निरूपण में प्रायः चारित्र का ही विशेष वर्णन किया गया है क्योंकि यथार्थ चारित्र से ही

---

१. दे० स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, प्रस्तावना, पृ० ७०

२. दे० भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ११६

३. विशेष के लिए दे०—संघवी, तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना, पृ० ६

आध्यात्मिक विकास होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के ९वें अध्याय में चार ध्यानों का सम्यक् विवेचन किया गया है। बाद में इसी ग्रन्थ पर अनेक वृत्ति एवं टीका ग्रन्थविशेष लिखे गए हैं जिनमें ध्यान का और सूक्ष्म चिन्तन किया गया है।

(५) इष्टोपदेश

योग विषयक इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य पूज्यपाद हैं। इनका समय विक्रम की पाँचवी-छठी शदी है। इष्टोपदेश ५१ श्लोकों की छोटी-सी रचना है जो अपने में गहनभाव छिपाए हुए है। इस ग्रन्थ में योग के निरूपण के साथ-साथ साधक की उन भावनाओं का भी वर्णन किया गया है जिनके चिन्तन से वह अपनी चांचल्य वृत्तियों को त्यागकर अध्यात्ममार्ग में लीन हो जाता है तथा बाह्य व्यवहारों का निरोध कर परम आनन्द की प्राप्ति करता है।

(६) समाधिशतक

पूज्यपाद का योग से सम्बन्धित यह दूसरा ग्रंथ है। इसमें १०५ श्लोक हैं। इस ग्रंथ में आत्मा की अवस्थात्रय-बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा का विशद एवं विस्तृत वर्णन किया गया है। ध्यान-साधना के द्वारा प्रयत्न-पूर्वक मन को आत्मतत्त्व में नियोजित करने का उपदेश भी दिया गया है। यही इसकी महत्ता है।

(७) परमात्मप्रकाश

इस ग्रंथ के रचयिता योगीन्दुदेव हैं। यह ग्रंथ अपभ्रंश भाषा में निबद्ध है। डा० हीरालाल जैन और डा० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार इस ग्रंथ का समय अनुमानतः ईसा की छठी शताब्दी है। ग्रंथ में मानसिक दोषों के परिहार के उपाय एवं त्रिविध आत्मा के विषय में समुचित विवेचन किया गया है। योगीन्दुदेव की योग परक एक अन्य रचना योगसार भी उपलब्ध होती है।

(८) हरिभद्रसूरि की पञ्च रचनाएं

जैन परम्परा में सर्व प्रथम हरिभद्रसूरि ने ही योग शब्द का

प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ में किया है। जैन योग को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी हरिभद्रसूरि को ही है। आप की योग सम्बन्धी पांच रचनाएं हैं—(१) योगविंशिका, (२) योगशतक, (३) योगदृष्टिसमुच्चय, (४) योगबिन्दु (५) और षोडशक।[1]

(९) योगसारप्राभृत

इस योग परक संस्कृत ग्रंथ के रचयिता वीतारागी आचार्य अमितगति हैं। इनका समय १०वीं शताब्दी है। योगसार प्राभृत में ४५० श्लोक हैं जिन्हें ९ अधिकारों में रखा गया है। इस ग्रंथ में योग सम्बन्धी अपेक्षित विषय का विस्तृत वर्णन है। अन्त में मोक्ष के विषय में भी यहां अधिक प्रकाश डाला गया है।

(१०) ज्ञानार्णव

आचार्य शुभचन्द्र कृत इस ग्रंथ ज्ञानार्णव के दो और नाम मिलते हैं—(१) **योगार्णव** और (२) **योगप्रदीप**। इनका समम विक्रम की १२वीं शताब्दी है। **ज्ञानार्णव** में ३९ प्रकरण है जिनमें २२३० श्लोक हैं। इसमें बारह भावना, भवबन्धन के कारण मन, आत्मा के साथ-साथ यम-नियम, आसन और प्राणायाम आदि का विश्लेषण है। इसके साथ ही मन्त्र, जप, शुभाशुभ शकुन, नाड़ी आदि का भी वर्णन किया गया है।

११ योगशास्त्र

यह ग्रंथ १२वीं शताब्दी के कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है। वस्तुतः यह ग्रंथ योग परम्परा में बहुत चर्चित है, जो कि एक हजार श्लोक प्रमाण है। इस पर उनकी एक स्वोपज्ञवृत्ति भी मिलती है। ग्रंथ में कथाओं के द्वारा विषय को और अधिक स्पष्ट किया गया है। वृत्ति के १२ हजार श्लोक हैं। योगशास्त्र पर ज्ञानार्णव का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

योगशास्त्र में १२ प्रकाश हैं। प्रथम तीन अध्यायों (प्रकाशों) में

---

१. विशेष के लिए दे०—प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय।

साधु गृहस्थों के आचारों का निरूपण किया गया है जबकि चतुर्थ अध्याय में कषायों पर विजय पाने तथा समतावृत्ति के स्वरूप का वर्णन है। पाँचवें में प्राणायाम को विषय बनाया गया है जो मोक्ष की सिद्धि में अनावश्यक है। छठे में परकायाप्रवेश, प्रत्याहार और धारणा के स्वरूप तथा उससे होने वाले परिणामों का वर्णन है। ७ से १० तक के अध्यायों में ध्यान की विस्तृत चर्चा मिलती है। ११वें और १२वें में क्रमशः शुक्लध्यान तथा स्वानुभव के आधार पर योग की चर्चा की गयी है।

(ग) जैनदर्शन में योग साधना और योगबिन्दु

जैन शब्द का अभिप्राय

जैनदर्शन पद संयुक्त है। इसमें जैन और दर्शन ये दो पद मिले हुए हैं। जिन शब्द से जैन पद बना है। जीतने के अर्थ में भवादि गण की परस्मैपदी 'जि' धातु में नक् प्रत्यय लगाकर (जि + नक्) **जिन** शब्द बना, जिसका अर्थ है—जीतना, विजय करना।[1] इसी 'जिन' शब्द में 'अण्' प्रत्यय लगने पर 'जैन' शब्द बनता, जिसका अर्थ है—**जैन सिद्धान्तों का अनुयायी, जैन मत को मानने वाला**[2] अर्थात् '**जिन**' के उपासक को जैन कहते हैं और 'जिन' उन्हें कहते हैं जिन्होंने क्रोध आदि कषाय चतुष्टय को तथा राग एवं द्वेष इन छः शत्रुओं को जीत लिया है।[3] इन क्रोध आदि को अपने अन्दर से जिन्होंने निकाल फेंका है ऐसे ये '**जिन**' ही अर्हन्त (अरहन्त-अरिहन्त) तथा वीतरागी भी माने जाते हैं।

अरहन्त < आर्य

इन्हें आर्य भी कहा जाता है। बौद्ध भी अर्हत् को आर्य बतलाते हैं। जिन्होंने राग-द्वेष एवं मोह का निश्शेषतः विप्रणाश कर दिया होता

---

१. दे०—आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ४०५

२. वही, पृ० ४०८

३. जयति रागद्वेषादिशत्रुनिति जिनः। षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ३

है।[1] जो अकुशल पाप कर्मों से दूर हट गए हैं, वे अर्हत् आर्य हैं,[2] जैनाचार्य भी आर्य की ऐसी ही व्याख्या करते हैं।[3] ये आर्य ही श्रमण और ब्राह्मण भी हैं।[4]

इस प्रकार के जिनों के द्वारा प्ररूपित अथवा उपदिष्ट वचनों को मानने वाले, अपने जीवन में उन्हें अक्षरशः उतारने वाले अथवा पालन करने वाले ही जैन कहे जाते हैं।

जैन दृष्टि से दर्शन पद

दर्शन शब्द भी व्याकरण के अनुसार भवादि गणी परस्मैपदी धातु 'दृश' से ल्युट् प्रत्यय लगने पर बनता है। यह 'दृश्' धातु चक्षु से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का बोध कराने वाली है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'दर्शन' का अर्थ होगा—देखना[5] परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका अर्थ

---

१. यो खो आवुसो रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो इदं वुच्चति अरहत्तं।
संनि० ३.२५२, पृ० २२४
यस्मा रागादिसंखाता सत्वेपि अरयो हता।
पञ्ञासत्वेन नाथेन तस्मापि अरहं मतो ति॥ विसु० ७.६, पृ० १३४
अस्स पुग्गलस्स रूपरागो अरूपरागो मानो उद्धच्चं अविज्जा अनवसेसा पहीणा अरहा। पुग्गल पं०, पृ० १८०

२. आरकास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा ति अरियो होति।
म० नि०, १.२८०, पृ० ३४३ तथा
आरात् याताः पापकेभ्यो धर्मेभ्यः इत्यार्याः। अभि० को० भा०, ३,४४, पृ० १५७
मि०-आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः। सूत्रकृता० ३. ४. ६

३. अज्ज इति अर्यते प्राप्यते यथामिलाषिततत्वजिज्ञासासुभिरित्यर्थः, आर्यो वा स्वामीत्यर्थः, समस्तेभ्यो हेयधर्मेभ्यः आरात् पृथक् यायते प्राप्यते अर्थात् गुणैरिति अथवा विषयकाठकर्तकत्वेनारासादृश्यादाराररत्नत्रयम्, तद्याति प्राप्नोति इति निरुक्त वृत्याऽऽकारलोपे कृते आर्यः, सर्वथा सकलकल्मश-राशिकलुषितवृत्तिरहित इत्यर्थः। उपा० दशाङ्ग, अ० १, पृ० ५५
तथा दे०-अर्यन्ते सेवन्ते गुणैर्गुणवद्‌ वा आर्याः। जिन सहस्र०, पृ० २२४

४. दे०-धम्मपद, गा० ४२०

५. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ४५०

इतना मात्र नहीं है। भारतीय भाषाओं एवं साहित्य में आत्मविद्या या तत्त्वविद्या या पराविद्या के लिए 'दर्शन' शब्द का प्रयोग निस्संकोच रूप से प्रयुक्त किया गया है।

यहां यह प्रश्न उठता हैं कि चक्षुरिन्द्रिय से पैदा होने वाले ज्ञान का बोध कराने वाला शब्द अतीन्द्रिय ज्ञान या अध्यात्मज्ञान के अर्थ में कैसे प्रयुक्त होने लगा ? इसका समाधान हमें उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों में बाह्य इन्द्रियों के ज्ञान की प्रामाणिकता के बारे में पर्याप्त विचार किया गया है।

किसी घटना को एक एक व्यक्ति ने सुना और दूसरे ने स्वयं मौके पर रहकर उसी घटना को देखा। इन दोनों व्यक्तियों ने किसी तीसरे व्यक्ति से इस घटना का वृतान्त कहा। तब कहने वाले दोनों में से किसी एक की बात प्रमाणिक मानी जाएगी, सभी की नहीं।

दूसरे, हम दैनिक जीवन में देखते भी हैं कि जिसने अपनी आंखों से घटना को देखा है, उसी की बात को सही माना और उसे ही प्रमुखता दी गयी क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय ही एक मात्र ऐसी इन्द्रिय है, जो जैसा घटना क्रम घट रहा होता है उसे उसी रूप में देखती है। इसीलिए घटना को देखने वाले की बात ही प्रमाणिक मानी जाती है। इस प्रकार अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय का स्थान सत्य के अधिक निकट भी ठहरता है। इसी वजह से, अन्य इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान की तुलना में चक्षुजन्यज्ञान, जिसे 'दर्शन' के नाम से जाना जाता है, का उत्कृष्ट स्थान है। बृहदारण्यकोपनिषद्[1] में इस विषय पर काफी चर्चा भी की गई है।

भारतीय वैयाकरणों ने भी, आंखों से देखने की इस प्रामाणिकता को स्वीकार कर, साक्षी शब्द का अर्थ—साक्षात्-द्रष्टा[2] किया है।

---

१. चक्षुर्वै सत्यम्, चक्षुर्हिवैसत्यम्। तस्माद्यदिनीं द्वौ विवदमानवेयातामहम-दर्शमध्यश्रोषमिति। य एवं ब्रूयादहमदर्शनमिति तस्माए श्रद्धाम, तद्वै तत्सत्यम्। बृहदारण्यकोपनिषद्, ५. १४. ४

२. साक्षात् द्रष्टा। साक्षातो द्रष्टेत्यस्मिन्नर्थे इन नाम्नि क्यात् साक्षी। सिद्धहैमशब्दानुशासन, लघुवृत्ति, ७. १. १९७

महाभारत के द्यूत पर्व[1] में इसी तथ्य को महात्मा विदुर के माध्यम से बड़े सुन्दर ढंग से उपस्थित किया गया है।

तात्पर्य यह है कि इस दुनिया के प्रतिक्षण के व्यवहार में अथवा स्थूल जीवन में दर्शन (आंख से देखने) को यह महत्त्व इसलिए मिला कि यह देखना संशय आदि से सर्वथा रहित अनुभव में आता है। इसीलिए इस अनुभव को प्राप्त करने वाले को द्रष्टा कहा गया है।

जिन ऋषियों, कवियों और योगियों ने आत्मा, परमात्मा याकि अन्य किसी अतीन्द्रिय वस्तु का साक्षात्कार किया अथवा अतीन्द्रिय पदार्थों का संशयादि से रहित अनुभव किया, वे ऋषि एवं कवि आदि इन अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के विषय में 'द्रष्टा' माने गए हैं। इन्होंने आध्यात्मिक पदार्थों के अनुभवों का यथार्थ तल-स्पर्शी साक्षात्कार किया है। अतः इनका यह साक्षात्कार ही 'दर्शन' है।

इस तरह दर्शन शब्द आत्मा, परमात्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्पष्ट, सन्देह रहित और अविचलित बोध के लिए[2] प्रयोग किया जाने लगा, जिसका अर्थ होता है—'ज्ञान शुद्धि का परिपाक' या 'सत्यता की पराकाष्ठा' अथवा अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ एवं अविकल ज्ञान।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'श्रद्धा' भी लिया गया है। पण्डित प्रवर सुखलाल संघवी ने दर्शन से अभिप्राय '**सबल प्रतीति**' लिया है[3] जबकि तत्त्वार्थसूत्रकार ने पदार्थों के वास्तविक स्वरूप में **श्रद्धान को** दर्शन कहा है[4] और उसमें सत्यता एवं यथार्थता का बोध कराने वाले सम्यक् पद को विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है।

---

१. समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चेति धारणात्।
तस्मात् सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥
महाभारत, सभा पर्व (द्यूतपर्व) २. ६१. ७६

२. संघवी, तत्त्वविद्या, पृ० ११

३. दे० न्यायकुमुदचन्द्र, २, प्राक्कथन

४. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्दर्शनम्। तत्त्वार्थसूत्र, १.२

दर्शन वस्तुतः वह है जो वस्तु या पदार्थ में व्याप्त अनन्त धर्मों की व्याख्या करता हुआ, मानव मात्र में भरे हुए अज्ञान अन्धकार को दूर करता है, ओर उसके अज्ञान के स्थान पर उनमें दिव्य-ज्योति रूप ज्ञान का प्रकाश भर देता है।[1] ज्ञान ही एक मात्र सत्य है, सत् है और अज्ञान असत्य है, असत् है। सत्य को देखने वाला, दिखलाने वाला ही दर्शन है। दर्शन ही एक ऐसी दिव्य ज्योति है, जिसके प्रकाश में पदार्थ के स्वरूप के ऊपर पड़े हुए असत्य के आवरण को हटाकर 'सत्य' को साक्षात्कार कराता है। **ईशावास्योपनिषद्** में इसी अर्थ में दृष्टि शब्द का प्रयोग मिलता है जैसे एक स्वर्णपात्र में सत्य का चेहरा छिपा हुआ है। हे पूषन् तुम उसे हटा दो, ताकि मैं उसके सच्चे स्वरूप (सत्य धर्म) को देख सकूं—

हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।[2]

इस विवेचन का यह अर्थ निकलता है कि दर्शन शब्द का शाब्दिक अर्थ चक्षुरिन्द्रिय से देखना है किन्तु दर्शनशास्त्रों में इसका अर्थ दिव्यज्ञान माना जाता है जिसके द्वारा हम सांसारिक अथवा भौतिक पारलौकिक तत्त्वों का प्रत्यक्ष कर पाते हैं।

इस चर्चा से एक और बात सामने आती है कि—अनन्त स्वरूपों वाले पदार्थों का विवेचन, अपने-२ दृष्टिकोणों से विभिन्न दार्शनिकों ने किया है। अतः उन-२ दार्शनिकों का पदार्थों के स्वरूप-विवेचन का जो दृष्टिकोण रहा है, वह उसी दर्शन के नाम से समाज में विख्यात हो गया।

ऐसे ही जैन दार्शनिकों ने पदार्थों के स्वरूप का जिस दृष्टिकोण से विश्लेषण किया वही दार्शनिक क्षेत्र में जैनदर्शन के नाम से विश्रुत हुआ।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु

जैनदर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और

---

१. दे० धर्म दर्शन मनन और मूल्यांकन, पृ० ५४
२. ईशावास्योपनिषद्, ५

कई बार इन अनन्त धर्मों में परस्पर विरोध-सा भी प्रतीत होता है, जैसे एक ही व्यक्ति में पिता, पुत्र, पति और भाई आदि अनेक परस्पर विरोधी गुण होते हैं। सामान्यतः यहां विरोध दिखाई पड़ता है क्योंकि जो पिता है वह पुत्र कैसे हो सकता है अथवा जो पति हैं वह भाई कैसे हो सकता है? इस विरोध का समाधान जैनदर्शन करता है। वह कहता है कि—

एक व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र और अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है। पत्नी की अपेक्षा से पति और बहिन की अपेक्षा से भाई है। यह सापेक्षवाद ही जैनदर्शन है और यही जैनदर्शन का अनेकान्तवाद सिद्धान्त है, जो जैनदर्शन की आधारभूत शिला है।

त्रिगुणात्मक वस्तु

विश्व के प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय (विनाश) और ध्रौव्य (स्थिरत्व) ये तीनों ही गुण पाए जाते हैं और यही जैनदर्शन की दृष्टि से वस्तु का स्वरूप है।[1] हर वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व साथ-साथ उपलब्ध होते हैं। जो वस्तु को सद्रूप मानते हैं, उन्हें इस कथन में सन्देह होने लगता है। इन सन्देहशील व्यक्तियों को सन्देह से ऊपर उठ कर तत्त्वज्ञान के धरातल पर पहुंचने के लिए जैनदर्शन के अनेकान्तवाद को सम्यक्तया समझना पड़ेगा।

अनेकान्तवाद

यह अनेकान्तवाद क्या है? इसका उत्तर देते हुए जैन दार्शनिकों का कहना है कि वस्तु में जो विभिन्न परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म, गुण और पर्याय आदि हैं उनको स्पष्ट करना अनेकान्त है।[2] यही जब सिद्धान्त का रूप ले लेता है तब उसे अनेकान्तवाद कहते हैं। वस्तु स्वभाव का नाम ही अनेकान्त है। इस वस्तु स्वरूप का विवेचन करने

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र ५/३०
सद्द्रव्यलक्षणम्। वही, ५/२९
गुणपर्ययवद् द्रव्यम्। वही, ५/३८

२. दे० न्याय दीपिका, ३.७६

वाले सिद्धान्त को अनेकान्तवाद नाम दिया गया है।[1]

इसे दूसरे शब्दों में किसी पदार्थ के स्वरूप को जानने का उपाय भी कहा जा सकता है। दार्शनिकों की भाषा में वस्तु को विभिन्न पहलुओं से देखने, जानने का यह विशिष्ट जैन दृष्टिकोण है। दार्शनिक क्षेत्र में इसे जैन विचार या मत के नाम से भी जाना जाता है। यह विचार जब आचार का रूप लेता है अथवा जब हम विचार को जीवन में क्रियात्मक रूप देते हैं तब वह साधना का विषय बन जाता है। यह साधना जब तन्मयतापूर्वक की जाती है तब ही योग साधना कहलाती है क्योंकि साध्य के प्रति इस तन्मयता को ही **पातञ्जलयोग सूत्र** में **योगश्चित्तवृत्ति निरोधः** कहा है[2] अर्थात् यह हमारी शक्ति जो बाहर बिखरी हुई है वहां से हटकर किसी एक ध्येय पर स्थिर होती है तो वही योग कहलाता है।

इसी को जैनदर्शन में **संवर** से अभिव्यक्त किया गया है।[3] जैसे योगदर्शन में चित्तवृत्तियों को बाहर से रोककर स्वरूपप्रदर्शन में प्रवृत होने का उल्लेख है[4] वैसे ही जैनदर्शन में इसके लिए **निर्जरा** शब्द का प्रयोग किया गया है, जो कि आत्मा में लगे हुए कर्ममल को दूर करने का साधन है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में योग के लिए प्रमुख रूप से तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है—आश्रव, संवर और निर्जरा।

जैन साधना में योग

जैन आगमों में अनेक स्थानों पर योग का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है। **उत्तराध्ययनसूत्र** में योग की चर्चा करते हुए कहा गया हैं कि जैसे बैल वाहन (गाड़ी) में जुता हुआ सही दिशा में चलकर विकट जंगल से पार हो जाता है वैसे ही साधक योग का आश्रय लेकर भवसागर

---

१. एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनम्। अनेकान्तः। समयसार-आत्मख्याति

२. दे० पा० यो०, १.२

३. आश्रवनिरोधः संवरः। तत्त्वार्थसूत्र, ६.१

४. तदाद्रष्टु स्वरूपे अवस्थानम्। पा० यो०, १.३

५. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्। तत्त्वार्थसूत्र १०.२

से पार हो जाता है[1] अर्थात् मोक्ष पद प्राप्त करता है। मोक्षपद को प्राप्त करने के लिए योग को उत्तम साधन माना है तथा ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय ही योग है।[2]

यह योग शास्त्रों का उपनिषद् है, मोक्ष प्रदाता है तथा समस्त विघ्न-बाधाओं को शमन करने वाला है। यह इसीलिए कल्याणकारी है।[3] यह इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति कराने वाला कल्पतरु एवं चिन्तामणि है। सब धर्मों में प्रधान यह योगसिद्धि स्वयं के अनुग्रह अथवा अध्यवसाय से मिलती है।[4]

साधना में मन का महत्व

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः[5] यह कथन बड़ा सार्थक है क्योंकि मन ही मानव के पास एक ऐसी वस्तु है जिसके बल पर वह ही कुछ से कुछ अधिक बन जाता है।[6] मन के म्लान होने पर[7] ही मनुष्य की हार और मन की प्रसन्नता में उसकी जीत निहित होती है।[8] किसी हिन्दी कवि ने भी कहा है कि 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत।' अतः मन ही मानव है। चित्त, विज्ञान और हृदय ये सभी मन के पर्यायवाची हैं।[9]

---

१. वाहणं वहमाणस्स कंतारं अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स संसारो अइवत्तई॥ उत्तरा० सू०, २७.२

२. ज्ञानदर्शनचारित्ररूप रत्नत्रयात्मकः।
योगो मुक्तिपद प्राप्ता उपायः प्रकीर्तितः॥ योगप्रदीप, १/१२३

३. शास्त्रस्योपनिषद्योगो योगो मोक्षस्य वर्तनी।
अपायशमनो योगो, योगकल्याणकारकम्॥ योगमाहात्म्य, द्वात्रिंशिका, गा० १

४. योगः कल्पतरु श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणि परः।
योगप्रधानं धर्माणां, योगः सिद्धेः स्वयं ग्रहः॥ योगबिन्दुः, श्लोक ३७

५. दे० मैत्रायणी-आरण्यक, ६.३४-६

६. मनो वै ब्रह्म। गोपथ ब्राह्मण, २.५.४

७. मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते। महाभारत, वनपर्व, २.१६

८. मनोऽस्य दैवं चक्षुः। छान्दोग्य-उपनिषद्, ८.१२.८

९. मनो वै दीदाय (मनः सर्वार्थप्रकाशकत्वाद् दीदाय दीप्तियुक्तं भवति)
मनसो हि न किंचन पूर्वमस्ति। ऐतरेय ब्राह्मण, ३.२

यद्यपि मन बड़ा चंचल[1] है फिर भी योगियों ने उसे अपने वश में करके अपने ही अनुरूप चलाया है। इसलिए मन का संयमी होना आवश्यक है। ध्यान योगसाधना में तो मन का वशीभूत होना और भी आवश्यक है। ध्यान का लक्षण ही है मन को विषयों से रहित करना— ध्यानं निर्विषयं मनः।[2]

मन के कारण ही इन्द्रियां चंचल होती हैं, जो आत्मज्ञान में बाधक हैं तथा एकोन्मुखता के मार्ग में भटकाव पैदा करती हैं। मन की अस्थिरता के कारण ही रागादि भावों की वृद्धि होती हैं तथा कर्मों का बन्ध होता है। अतः चंचल मन को स्थिर करना योग की पहली शर्त है क्योंकि मन ही समाधि, योग का हेतु तथा तप का निदान है और मन को स्थिर करने के लिए तप आवश्यक है। तप शिवशर्म अर्थात् मोक्ष का मूल कारण है।[3]

योगशास्त्र के अनुसार मन के चार भेद हैं[4]—

(१) विक्षिप्त मन,
(२) यातायात मन,
(३) श्लिष्ट मन और
(४) सुलीन मन

विक्षिप्त मन का स्वभाव चञ्चल होता है जबकि यातायात मन उसकी अपेक्षा कुछ कम चञ्चल होता है। इसलिए योग साधकों के लिए इन दो प्रकार के मन पर नियन्त्रण करना आवश्यक है।[5]

---

१. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ गीता, ६.३५

२. दे० सांख्यसूत्र, ६.२५

३. योगस्य हेतुर्मनसः समाधिपरं, निदानं तपश्च योगः।
तपश्च मूलं शिवशर्ममनः समाधिं भज तत्कथंचित्॥ अध्यात्मकल्पद्रुम, ६.१५

४. इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च।
चेतश्चतुःप्रकारं तच्चचमत्कारि भवेत्॥ योगशास्त्र, १२.२

५. विक्षिप्तं चलमिष्टं यातायातं च किमपि सानन्दम्।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि विकल्पविषयग्रहतत्स्यात्॥ वही, १२.३

श्लिष्ट मन की भूमिका यातायात मन के बाद प्रारम्भ होती है। इस मन के निरोध के अभ्यास से चित्तवृत्तियां शान्त हो जाती हैं तथा आन्तरिक शान्ति का अनुभव होने लगता है। सुलीन मन में आनन्द की अनुभूति के कारण चित्त एकाग्र होकर आत्मलीन हो जाता है। यही कारण है कि मन के संयम से साधक को परमानन्द की प्राप्ति होती है।[1] इसीलिए कहा गया है कि जिसने मन को वश में कर लिया है उसके लिए संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो वश में न की जा सके।[2] इस प्रकार मन की विजय, योग की सफलता की कुंजी है।

साधना में गुरु का महत्त्व

किसी भी कार्य की सफलता के लिए योग्य गुरु के मार्ग दर्शन की अत्यन्त आवश्यकता होती है और फिर योग साधना के साफल्य के लिए तो अनुभवी गुरु की प्राप्ति का तो कहना ही क्या है? क्योंकि बिना सद्‌गुरु के साधक के जीवन में विषयों तथा कषायों की चञ्चलता में वृद्धि होती रहती है तथा शास्त्राभ्यास एवं शुद्ध भावनाओं का भी ह्रास होता है।[3] अतः गुरु द्वारा साधक शास्त्र-वचनों का मर्म तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करता है, जिससे उसके आध्यात्मिक ज्ञान में वृद्धि होती हैं और आत्मविकास होता है। कहा भी है कि तत्त्वज्ञान अर्थात् ज्ञान की लब्धि दो प्रकार से होती हैं (१) पूर्व संस्कार से तथा (२) गुरु की उपासना से।[4]

१, श्लिष्टं स्थिरसानन्दं सुलीनमतिनिश्चलं परमानन्दम्।
तन्मात्रकविषयग्रहमुभयमपि बुधैस्तदाम्याम् ॥ वही, १२.४

२. ध्यानं मनः समायुक्तं मनस्तत्र चलाचलम्।
वशंयेन कृश्नं तस्य भवेद्वश्यं जगत् त्रयम् ॥ योगप्रदीप, ७६

३. तावद् गुरुवचः शास्त्रं तावत्तावच्चभावनाः।
कणायविषयेयविद् न मनस्तरली भजेत् ॥ योगसार, श्लोक ११६

४. तत्र प्रथमतत्त्वज्ञानैः संवादको गुरुर्भवति।
दर्शयिता त्वपरस्मिन् गुरुमेव भजेत् तस्मात् ॥ योगशास्त्र, १२.१५
तथा दे० मुनिसमदर्शी द्वारा सम्मादित-योगशास्त्र १२वें अ०, श्लोक १५ की व्याख्या

पूर्व संस्कार से उत्पन्न ज्ञान में भी गुरुसंवाद अर्थात् आत्मचर्चा निमित्तकारण होती है। संयम की वृद्धि, तत्त्वज्ञान आदि के लिए गुरु की सन्निधि आवश्यक है क्योंकि उनके सान्निध्य और उपदेश से योगसाधना में सफलता प्राप्त होती है।[1] गुरु-सेवा आदि धर्म-कृत्य बाधा रहित होकर करने से लोकोत्तरतत्त्व की सम्प्राप्ति होती है।[2] गुरु की भक्ति एवं सान्निध्य से साधक का मन ध्यान में इतना एकाग्र हो जाता है कि उस अवस्था में उसे तीर्थङ्कर के दर्शन का साक्षात् लाभ होता है और साधक को मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।[3]

साधना में जप का महत्त्व

जैन योग साधना के अन्तर्गत आत्मोपलब्धि का उपाय निर्जरा को कहा गया है और निर्जरा का प्रमुख उपाय तपश्चरण है।[4] तप बारह प्रकार का है[5] जिसमें ध्यान भी एक तप है। ध्यान के अन्तर्गत किसी एक मत विशेष का जाप किया जाता है। मन्त्र, देवता अथवा जिनेन्द्रदेव की स्तुति से सम्बन्धित होता है और ऐसे मन्त्रों से जहां पाप, क्लेश और विषाद आदि दूर होते हैं, वहां मानसिक एकाग्रता की भी प्राप्ति होती है।[6]

---

१. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन; पृ० ६२

२. एवं गुरुसेवादि च काले सद्योगविघ्नवर्जनया।
इत्यादिकृत्यकरणं लोकोत्तरतत्त्वसम्प्राप्ति ॥ षोडशक, ५.१६

३. गुरुर्भक्तिप्रभावेन तीर्थकृत् दर्शनं मतम्।
समापत्त्यादिभेदेन निर्वाणैकनिबन्धनम् ॥ योगदृष्टि समु०, श्लोक ६४

४. तपसा निर्जरा च। तत्त्वार्थसूत्र, ६.३

५. अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः। तत्त्वार्थसूत्र, ६.१६
प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्य स्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ वही, ६.२०
तथा मि०-योगशास्त्र, ४.८६-६०

६. सन्मन्त्रजपेनाहो, पापारिः क्षीयतेतराम्।
मोहाक्षस्मर चौराद्यैः कषायैः सह दुर्धरैः ॥
मनः परीक्षहादीनां, जयः कर्मनिरोधनम्।
निर्जराकर्मणां मोक्षः, स्यात्सुखं स्वात्मजं सताम्।
नमस्कार स्वाध्याय, (संस्कृत) श्लोक १५०-१५१, पृ० १४

ऐसे मन्त्रों के जाप से मोह, इन्द्रिय लिप्सा, काम आदि कषायों का शमन, होता है और मनोजय, परीषहजय कर्मनिरोध, कर्मनिर्जरा, मोक्ष तथा शाश्वत आत्मसुख भी प्राप्त होता है।[1]

इससे सिद्ध होता है कि जैन योग साधना में मन्त्रजप का भी अत्यधिक महत्त्व है।

योगसाधना और योगबिन्दु

प्रकृत रचना आचार्य हरिभद्रसूरि की अतीव उत्तम योगपरक रचना है। जैसे कि स्वयं आचार्य ने सर्वप्रथम सभी योग शास्त्रों से अविरुद्ध एवं सभी परम्पराओं के योग ग्रंथों के साथ समन्वय करते हुए श्रेष्ठ योगमार्ग के दर्शक इस ग्रंथ को प्रस्तुत करने की अवधारणा अभिव्यक्त की है।[2] अनन्तर योग के अधिकारी का उल्लेख किया है। जो जीव चरमावर्त में रहता है अर्थात् जिसका काल मर्यादित हो गया है जिसने मिथ्यात्व ग्रंथि का भेद कर लिया है और जो शुक्लपक्षी है, वही योग साधना का अधिकारी है।[3] इसके विपरीत जो अचरावर्त में स्थित है, वे मोहकर्म की प्रबलता के कारण संसार की विषय वासना और काम भोगों में आसक्त हैं। वे योग मार्ग के अधिकारी नहीं है। आचार्य ने उन्हें भवाभिनन्दी की संज्ञा से सम्बोधित किया है।[4]

चारित्र के विषय में हरिभद्रसूरि ने पांच योग भूमिकाओं का वर्णन किया है। आत्मभावों का विकास करते हुए साधक चारित्र की तीन भूमिकाओं को पार करके चतुर्थ भूमि समता-साधना में प्रवेश करता है वहां क्षपक श्रेणी धारण करता है। इसी ग्रंथ में सूरि ने पांच अनुष्ठानों का भी वर्णन किया है, वे हैं—विषम्, गर, अननुष्ठान, तद्धेतु और अमृत अनुष्ठान। इसमें प्रथम के तीन अनुष्ठान असत् हैं और अन्तिम के दो सदनुष्ठान हैं और योगसाधना के अधिकारी व्यक्ति सदनुष्ठान में ही अवस्थित होता है।

---

१. वही, पृ० १४

२. सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः
सन्नीत्या स्थापकं चेव मध्यस्थांस्तद्विदः प्रति ॥ योगबिन्दु, श्लोक २

३. चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः।
भिन्नग्रन्थिश्चारित्री च तस्यैव वदुदाहृतम् ॥ वही, श्लोक ७२

४. भवाभिनन्दिनः प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिता।
केचिद्धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपंक्तिकृतादरा ॥ वही, श्लोक ८६

परिच्छेद—द्वितीय

योगबिन्दु के रचयिता : आचार्य हरिभद्रसूरि

(क) जैन सन्त हरिभद्रसूरि : एक परिचय

भारतवर्ष ऋषियों, मुनियों और महान् सन्तों की जन्म एवं तपोभूमि है। ये सभी त्यागमार्ग अपनाकर गहन आत्मचिन्तन और आत्मस्वरूप प्राप्ति के विभिन्न साधनों पर एकान्त में मनोमन्थन करते थे। उससे जो उपलब्धि उन्हें होती थी उसे वे अपने तक ही सीमित नहीं रखते थे अपितु लोककल्याण के लिए उसे लिपिबद्ध कर दुनियां के समक्ष प्रस्तुत करते थे।

ऐसे महापुरुषों की उस देन के लिए यह भारत भूमि सदैव उनकी ऋणी रहेगी। इन महापुरुषों में जैन सन्तों एवं आचार्यों का विशेष स्थान है। जैन सन्तों की प्रवृत्ति सदैव अपनी संस्कृति के अनुरूप 'जीओ और जीने दो' 'अहिंसा परमो धर्मः' के उच्च आदर्शों को आत्म सात कर लोकहित में प्रयत्नशील रही है।

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक इन जैन सन्तों और आचार्यों ने भारतीय वाङ्मय के सृजन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। सब प्रकार की पद-प्रतिष्ठा और स्वार्थ से मुक्त होकर इनकी लेखनी लोकहित में निरन्तर चलती रही है। ज्ञान-दर्शन और योगनिष्ठ इन आचार्यों ने अपने अनन्य काव्य सर्जन द्वारा जो भारतीय संस्कृति के भण्डार को अक्षय बनाया है, वह उनकी अक्षुण्य यशःकीर्ति से सदैव गौरान्वित रहेगा। वे परम दिव्य, असीम आनन्द, मुक्तिपथ के समुद्बोधक, सर्वतो गरीयान और वरीयान् तत्त्व के पुरोधा और पुरस्कर्ता थे।

जैन आचार्यों ने प्रायः साहित्य की समस्त विधाओं पर अचूक लेखनी चलायी है और अपनी अद्वितीय साहित्यिक सर्जना से सरस्वती के

भण्डार को मण्डित किया है, इन आचार्यों में प्रमुख हैं—आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, जिनसेन, सिद्धसेन, हरिभद्रसूरि, अकलंक, विद्यानन्द, शीलांकाचार्य, हेमचन्द्र, अभयदेव, जिनप्रभ, प्रभाचन्द्र एवं यशोविजय आदि। इन्हीं के महान् उपकार से इस राष्ट्र की संस्कृति अजर, अमर, अमल और धवल बनी हुई है। इन्हीं पुण्यात्माओं तथा तपःपूत शब्द और भावों के अनन्य शिल्पी महान् साधकों में एक थे—हरिभद्रसूरि।

जैनधर्म-दर्शन के क्षेत्र में एक समस्या प्रारम्भ से यह रही है कि एक ही नाम के अनेक आचार्य हुए जिन्होंने अपनी प्रतिभा से निष्पन्न शास्त्रों से सरस्वती के भण्डार को अक्षुण्य बनाया है। हरिभद्रसूरि के विषय में भी कुछ ऐसा ही है। इस नाम के एक परम्परा में एकाधिक आचार्य हुए हैं। अतः यह सिद्ध करना एक जिज्ञासु के लिए कठिन हो जाता है कि अमुक-अमुक रचनाओं के लेखक कौन से हरिभद्र हैं ? फिर भी जिन हरिभद्रसूरि की हम यहां चर्चा करेंगे, वे प्रख्यात प्रतिभा के धनी हरिभद्रसूरि **समराइच्चकहा** और **धूर्ताख्यान** जैसे कथा ग्रथों और **अनेकान्तजयपताका, शास्त्रावार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय** तथा **योगबिन्दु** आदि अनेक दार्शनिक ग्रंथों के रचयिता हैं।

भारतीय वाङ्मय में हरिभद्रसूरि का साहित्यिक योगदान अतीव दिव्य, उत्तम और अनुपमेय है। प्राचीन साहित्यकार विशेषकर सन्तों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे आत्मश्लाघा से सदैव दूर रहते थे। अपने सद्योद्बोधन तक में भी वे आत्मकथा का उल्लेख करने में संकोच करते थे। हरिभद्रसूरि भी इसके अपवाद नहीं हैं। इसी कारण उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करके अपने विषय में कहीं भी कुछ नहीं लिखा।

ऐसी परिस्थिति में किसी भी साहित्यकार के विषय में कुछ लिखने के लिए हम जैसों के समक्ष दो ही उपाय शेष रह जाते हैं और वे हैं—आभ्यन्तर और बाह्यपक्ष।

आभ्यन्तर से अभिप्राय उस प्रकार की सामग्री से है जिसका उल्लेख ग्रंथकार ने स्वयं अपनी रचनाओं में किया हो, और बाह्य पक्ष से अर्थ उससे लिया जाता है जो उनके परवर्ती आचार्यों अथवा कवियों

द्वारा उनका गुणकीर्तन आदि किया गया हो अथवा उनकी रचनाओं की मूल सामग्री का अपनी कृतियों में यथोचित सदुपयोग किया गया हो परन्तु काव्य के क्षेत्र में ऐसा नहीं मिलता कि आचार्य ने अपनी पूर्व परम्परा का यत्किञ्चित् उल्लेख भी न किया हो। जो भी हो आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा हरिभद्रसूरि के विषय में बाह्य पक्ष ही अधिक प्रबल रूप में मिलता है। जिन परवर्ती रचनाकारों ने अपनी कृतियों में उनका उल्लेख किया है अथवा उनकी प्रशस्ति गायी है, उनमें हैं—

१. दशवैकालिक निर्युक्ति टीका[1]
२. उपदेशपद की प्रशस्ति[2]
३. पंचसूत्र टीका[3]
४. अनेकान्तजयपताका का अन्तिम अंश[4]
५. ललितविस्तरा[5]
६. आवश्यकसूत्र टीका प्रशस्ति[6]

उपर्युक्त ग्रंथ प्रशस्तियों में से अन्तिम (आवश्यकसूत्र टीका) प्रशस्ति ही अधिक यहां उपयोगी है जिसके आधार पर आचार्य हरिभद्रसूरि के जीवन पर निम्नलिखित प्रकाश पड़ता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय विद्याधर गच्छ के सन्त

---

१. महत्तरा याकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता
आचार्य हरिभद्रेण टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥ तथा
दे०—हरि०प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ४७ पर उद्धृत फुटनोट नं० २
२. आइणिमयहरियाए रइता एते उधम्य पुत्तेण हरिमद्दायारिएण।
वही, फुट नोट नं० ३
३. विवृत्तं च याकिनी महत्तरासुनूश्रीहरिभद्राचार्यः। वही, फुट नोट नं० ४
४. कृति धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोराचार्यहरिभद्रस्य। वही, फुट नोट नं० ५
५. कृति धर्मतो याकिनीमहत्तरासुनोराचार्यहरिभद्रस्य। हरि०चरि०, पृ० ७
६. कृतिः सितम्बराचार्यजिनभट्टनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्य-जिनदत्तशिष्यसाधर्मयतो जाइणीमहत्तरासूनोरल्प मतेराचार्यहरिभद्रस्य।
(पिटर्सन) थर्ड रिपोर्ट, पृ० २०२
तथा दे०—हरि०प्रा० क० सा०आ०परि०, पृ० ४८, पर उद्धृत फुट नो० नं० १

थे। गच्छाधिपति आचार्य का नाम जिनभट्ट और दीक्षा गुरु का नाम जिनदत्त था। इनके धर्म परिवर्तन में जो कारण बनीं, उसका नाम साध्वी याकिनी महत्तरा था। इन साध्वी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए हरिभद्रसूरि ने इनको अपनी धर्म माता लिखा है जिसका उल्लेख उनके ग्रंथों में मिलता है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य हरिभद्रसूरि भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् थे। विशेषकर आपकी गति काव्यशास्त्र, ज्योतिष एवं दर्शन साहित्य में थी। जैन जगत् में आप तार्किक दार्शनिक और सर्व-दर्शन समन्वयकार के रूप में जाने जाते हैं। इनके दर्शनपरक ग्रंथों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आपने बौद्धदर्शन का विशिष्ट अध्ययन किया था। इसका पुष्ट प्रमाण है—दिङ्नाग के **न्यायप्रवेश** पर टीका का लिखा जाना। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आप बौद्ध दर्शन के भी मर्मज्ञ विद्वान् और समीक्षक थे।

पूर्वोक्त प्रशस्तियों से इनके जीवन के विषय में जो तथ्य प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि—

१. हरिभद्रसूरि, जिनभट्ट की परम्परा में आचार्य जिनदत्त के शिष्य और उनके उत्तराधिकारी थे।
२. साध्वी याकिनी महत्तरा के उपदेश से आप जैनधर्म से प्रभावित होकर उसमें दीक्षित हुए थे।
३. इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी।

भले ही आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा तो क्या हुआ, उनके शिष्य और समकालीन आचार्य उनके पाण्डित्य के विषय में मौन साधकर थोड़े ही बैठे रहे, बल्कि उन्होंने हरिभद्रसूरि के विषय में जो कुछ भी लिखा है, वह निःसन्देह यथार्थ से परे नहीं है। ऐतिहासिक तथ्य, पौराणिक दन्त कथाएं, प्रशंसात्मक विवरण क्या किसी के भी व्यक्तित्व को अविश्वसनीय बना सकते, नहीं। जिन कतिपय आचार्यों ने हरिभद्रसूरि के व्यक्तित्व के विषय में अपनी रचनाओं में जिस-जिस प्रकार से उल्लेख किया है, उनमें प्रमुख हैं—

१. हरिभद्रसूरि के 'उपदेशपद' पर श्रीमुनिचन्द्रसूरि द्वारा कृत टीका प्रशस्ति (वि० सं० ११७४)
२. जिनदत्त का गणधर सार्धशतक (वि०सं० ११६८)

३. सुमति गणीकृत वृत्ति गणधर सार्धशतक (वि०सं० ११६८)
४. प्रभाचन्द्र का 'प्रभावक चरित' (वि०सं० १३३४)
५. राजशेखरसूरिकृत (प्रबन्ध कोष) अपर नाम चतुर्विंशति प्रबन्ध (वि० सं० १४०५)
६. भद्रेश्वर की कहावली (वि०सं० १४९७) में लिखित ताड़-पत्रीय पोथी (खण्ड-२, पत्र ३०० पर, पाटन के संघवी के० पाडे के जैन भण्डार से प्राप्त)।[1]

१. हरिभद्रसूरि का जन्म स्थल

भद्रेश्वर को कहावली के आधार पर हरिभद्रसूरि का जन्म स्थान 'पिवंगुइएबंभपुणीए' नाम की ब्रह्मपुरी नगरी थी[2] जबकि दूसरे ग्रंथों में हरिभद्रसूरि का जन्म स्थान चितौड़ बतलाया गया है।[3] इन दोनों में भिन्नता होने पर भी वस्तुतः इसमें विशेष विरोध ज्ञात नहीं होता। 'पिवंगुइए' ऐसा मूल नाम शुद्धरूप में उल्लिखित हो अथवा फिर कुछ विकृत रूप में प्राप्त हुआ हो, यह कहना कठिन है, किन्तु उसके साथ जो 'बंभपुणी' का उल्लेख है, वह तो 'ब्रह्मपुरी' का ही प्राकृत रूप है। इस तरह यह ब्रह्मपुरी कोई छोटा देहात या कस्बा अथवा कोई उपनगर हो सकता है फिर भी वह चित्तौड़ के आस-पास ही रहा होगा। इसीलिए उत्तर कालीन ग्रंथों में अधिक प्रख्यात चित्तौड़ का नाम निर्देश तो रह गया और 'ब्रह्मपुरी' गौण बन गया अथवा अधिक प्रचलित स्थान का नाम ही बाद में ग्रहण कर लिया गया होगा।[4]

२. हरिभद्रसूरि के माता-पिता

हरिभद्रसूरि के माता पिता का नामोल्लेख केवल '**कहावली**' में ही उपलब्ध होता है। उसमें माता का नाम गंगा और पिता का नाम शंकर

---

१. पिवंगुइए बंभपुणीए पाटन के संघवी के पाडे के जैन भण्डार की वि० सं० १४९७ में लिखित ताड़ पत्रीय पोथी, पत्र ३००। तथा मि० हरि० प्रा० क०सा० आ०परि० पृ० ४८
२. समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ० ६ पर पाद टिप्पण-11
३. वही
४. वही

भट्ट बतलाया गया है।[1] 'भट्ट' शब्द सूचित करता है कि वह जाति से ब्राह्मण थे। गणधरसार्धशतक की सुमति गणीकृत वृत्ति (रचना सं० १२९५) में तो हरिभद्रसूरि का ब्राह्मण के रूप में स्पष्ट निर्देश है ही।[2] जबकि प्रभावकचरित्र में इन्हें राजा का पुरोहित बतलाया गया हैं।[3]

३. हरिभद्रसूरि का विद्याभ्यास

हरिभद्रसूरि ने विद्याभ्यास कहां और किसके पास किया ? इसका भी कोई उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु ऐसा लगता है कि वे जन्म से ब्राह्मण थे और ब्राह्मण परम्परा में यज्ञोपवीत के समय से ही विद्याभ्यास प्रारम्भ हो जाता है। उनका पाण्डित्यपूर्ण साहित्य सर्जन से भी ऐसा प्रतीत होता है कि जिन्होंने अपने विद्याभ्यास का प्रारम्भ प्राचीन ब्राह्मण परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा से ही किया होगा और व्याकरण, दर्शन, साहित्य तथा धर्मशास्त्र आदि संस्कृत प्रधान विद्याओं के गहन ग्रंथों का सूक्ष्मतया अध्ययन एवं पारायण किया होगा। विविध विद्याओं के गहन अध्ययन एवं यौवन सुलभ चांचल्य के मद ने सम्भवतः उन्हें अभिमानी बना दिया था क्योंकि उनका दृढ़ संकल्प था कि जिस बात या विद्याओं को मैं न समझ सकूंगा, मैं उस ज्ञान की प्राप्ति हेतु उसका शिष्य बन जाऊंगा। इस संकल्प ने एक दिन सचमुच हरिभद्रसूरि का जीवन ही बदल दिया। उनका अभिमान चूर-चूर हो गया। वे एक दूसरी ही दिशा की ओर बढ़ चले।[4]

४. धर्म परिवर्तन

विधि की लीला बड़ी विचित्र है। एक समय हरिभद्र चित्तौड़ के मार्ग पर चले जा रहे थे। तभी उपाश्रय में से एक साध्वी द्वारा मधुर

---

१. संकरो नाम भट्टो, तस्य गंगा नाम भट्टिणी, तीसे हरिभद्दा नाम पंडित-ओ पुत्तो। कहावली, पत्र ३००

२. एवं सो पंडित्ताव्वमुव्वहमाणो हरिभद्दो नाम माहणो। धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में उद्धृत. पृ० ५ अ

३. अतितरलमतिः पुरोहितोऽभून्नृपविदितो हरिभद्र नाम वित्तः। प्रभावकचरित, शृङ्ग ९, श्लोक ८

४. विशेष अध्यय के लिए दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० १०

स्वर में उच्चरित निम्नलिखित गाथा को उन्होंने सुना—

चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीणं केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दुचक्की केसी अचक्की अ ॥[1]

गाथा प्राकृत भाषा में थी और वह भी थी संक्षिप्त एवं संकेत पूर्ण। अतः उसका अर्थ हरिभद्र की समझ में कैसे आ सकता था, परन्तु हरिभद्र स्वभाव से जिज्ञासु प्रकृति के थे। अतः गाथा का अर्थ जानने के लिए साध्वी महाराज के चरण कमलों में पहुँचे और उस गाथा का अर्थ बतलाने की प्रार्थना की।

साध्वी को हरिभद्र की विनयशीलता और बुद्धि-वैभव को परखने में देर नहीं लगी। उन्होंने अपने अन्तर्मन में अपने सामने भावी जिनशासन प्रभावक को खड़ा हुआ देखा। वे प्रार्थी से बोली कि तुम्हें हमारे गुरुवर्य जिनभट्ट के पास जाना होगा। हरिभद्र भी अवसरवादी थे। अतः तत्क्षण आचार्यश्री के पास पहुंच गए। आचार्यश्री भी धर्मदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् और व्यवहारकुशल थे।

प्रथम साक्षात्कार में ही आचार्य प्रवर ने हरिभद्र को पकड़ लिया, गाथा का अर्थ बतलाया, जिसे सुनते ही हरिभद्र अपने कृत अध्ययन को भूल से गए। उन्हें जो अपनी विद्वत्ता का गर्व था, वह चूर-चूर हो गया। उनके ज्ञानावरणीयकर्म का अन्तराय नष्ट हो गया और उन्होंने तुरन्त अपने को आचार्यश्री के चरणों में समर्पित कर दिया। इस तरह वे आचार्यश्री के प्रियपात्र बन गए।

५. आचार्य पद

तदनन्तर मुनिश्रीहरिभद्र ने जैनागमों एवं कर्म सिद्धान्त ग्रंथों का गहन अध्ययन एवं मनन किया। अदृष्ट कर्म का गम्भीर रहस्य, जीव के भेदाभेद एवं उनकी गति-अगति चौदह गुणस्थानों की प्रक्रिया, अनेकान्त-वाद, नय-प्रमाण एवं सप्तभंगी आदि विषयों का जो अन्य सम्प्रदाय के ग्रंथों में नाम मात्र भी उल्लेख नहीं था। उन्होंने उसका ज्ञान प्राप्त किया, जिससे उनकी आत्मा में वैराग्य और अति संवेग की तीव्र भावना जाग्रित होती गई। उनकी तार्किकता, प्रामाणिकता, निर्दोषता और ज्ञान

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ४२१

की श्रेष्ठता शुद्ध से विशुद्धतर होती गई, उनका कठोर परिश्रम, दृढ़निष्ठा और गुरुभक्ति ने अल्प समय में ही उन्हें समग्र जैन सिद्धान्तों का सूक्ष्म ज्ञाता बना दिया। उनकी संघ-सेवा और अनुपम योग्यता तथा पवित्र मुनि जीवन में विशुद्ध आस्था ने उन्हें अल्प समय में ही आचार्य बना दिया।[1]

(अ) याकिनी महत्तरा सूनु हरिभद्रसूरि

हरिभद्रसूरि के धर्म परिवर्तन में साध्वी याकिनी महत्तरा का महान् संयोग था। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी आपको अपनी धर्म माता के रूप में स्वीकृत किया था और वे अपने को 'याकिनी महत्तरा सूनु, कहकर गौरव का अनुभव भी करते थे।[2]

यद्यपि हरिभद्रसूरि के इस धर्म परिवर्तन के प्रसंग का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी अनेक विद्वानों ने हरिभद्र से सम्बन्धित ग्रंथों का सम्पादन करते समय इसका उल्लेख किया है। उनमें डा० याकोबी का नाम प्रमुख है। इन्होंने लिखा है कि 'आचार्य हरिभद्रसूरि को जैनधर्म का इतना गम्भीर ज्ञान होने पर भी अन्यान्य दर्शनों का इतना गहन और तत्त्वग्राही तलस्पर्शी ज्ञान था, जो उस काल में एक ब्राह्मण को ही परम्परागत शिक्षा दीक्षा के रूप में प्राप्त होना स्वाभाविक था, अन्य को नहीं।'

हरिभद्रसूरि ने स्वयं ही **धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनुः** ऐसे विशेषण का प्रयोग न किया होता, तो उनके जीवन में घटित यह असाधारण क्रान्ति की सूचना उत्तरकाल में जिज्ञासुओं का मनस्तोष न कर पाती और दूसरे यह मुख्य परम्परा से प्राप्त न होकर शायद एक मात्र दन्त कथा के रूप में विश्वास व अविश्वास की छाया से तिरोहित ही रह जाती।

---

१. दे० हरि०प्रा० क०सा० आ० परि०, पृ० ४६

२. समाप्ता चेयं शिष्यहितानामावश्यक टीका। कृति सिताम्बराचार्यजिनभट्ट-निगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी महत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य। आ०टीका प्रशस्ति तथा विशेष के लिए दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ० १२

(आ) भवविरह सूरि हरिभद्र

हरिभद्र के याकिनी महत्तरा सूनुः उपनाम के साथ-साथ एक और दूसरा विशेषण भी प्रसिद्ध है। वह है—'भवविरह'। स्वयं हरिभद्रसूरि ने अपनी कई रचनाओं में अपने को इस पद से उपलक्षित किया है।[1] इनमें 'योगबिन्दु'[2], 'योगशतक'[3], 'योगदृष्टि समुच्चय'[4] तथा 'धर्मबिन्दु'[5] की अन्तिम गाथा प्रमाण रूप में दी जा सकती है।

इस 'भवविरह' के पीछे इनका कौनसा अभिप्राय विशेष रहा, इसका उन्होंने कहीं भी उल्लेख नहीं किया है परन्तु उनके जीवन दर्शन का समवेक्षण करने से कुछ-कुछ ज्ञात होता है कि इसका श्रेय सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रकृष्टतम रचना **कहावली** को है[6] जिसमें पद-पद पर उक्त भवविरह से अपने को इंगित किया है।

भवविरह शब्द के साथ विद्वानों ने मुख्यतया जिन तीन घटनाओं को जोड़ा है, वे यों हैं—

(१) धर्म स्वीकार का प्रसंग
(२) शिष्यों के वियोग का प्रसंग
(३) याचकों को दिए जाने वाले आशीर्वाद और उनके द्वारा किए जाने वाले जय-जयकार का प्रसंग

---

१. पण्डितकल्याणविजय ने धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में, पृ० ६ से २१ पर जिन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में 'भवविरह' या 'विरह' शब्द का प्रयोग है, सभी प्रशस्तियां उद्धृत की हैं। उनमें अष्टक, ललितविस्तरा, अनेकान्तजयपताका पंचवस्तुटीका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षोडषक, संसारदावानल, उपदेशपद, पंचाशक, सम्बोध प्रकरण, योगबिन्दु आदि हैं

२. भवान्ध्यविहरात् तेन जनस्ताद् योगलोचनः। योगबिन्दु श्लोक ५२७

३. ऐसा चिय भवविरहो सिद्धीए सया अविरहो य। योगशतक गा० १०१

४. मात्सर्यविरहेणोच्चैः श्रेयोविघ्नप्रशान्तये। योगदृ०समु० श्लो २२८

५. स तत्र दुःखविरहादत्यन्तसुखसंगतः। धर्मबिन्दु, अध्याय ८, श्लोक ४८

६. हरिभद्दो भणइ भयवं पिउमे भवविरहो। कहावली पत्र ३००

७. चिरजीवउ भवविरहसूरित्ति। वही, पत्र ३०१ अ

(१) धर्म स्वीकार का प्रसंग

याकिनी महत्तरा जब हरिभद्रसूरि को अपने गुरु के पास ले गई तब उन्होंने उन्हें प्राकृत गाथा का अर्थ बतलाया। इसके बाद हरिभद्र ने सूरिवर से पूछा कि धर्म क्या है ? और उसका फल क्या है ? इस पर आचार्यश्री ने उन्हें 'सकाम और निष्काम' धर्म के दो भेद बतलाए। सकाम धर्म की आराधना का फल स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति है जबकि निष्काम धर्माराधना से 'भवाविरह' अर्थात् जन्मजरा और मरणादि से छुटकारा मिल जाता है। हरिभद्र ने भवविरह को ही श्रेयस्कर मानकर उसे ही अंगीकार कर लिया।[1] इस प्रकार हरिभद्र मोक्ष लाभ के उद्देश्य से श्रमणत्व में दीक्षित हुए और 'भवविरह' उनका विशेषण बन गया।

(२) शिष्यों के वियोग का प्रसंग

इस विषय में 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' का सम्पादन करते हुए मुनि जयसुन्दर विजय ने जिस घटना का उल्लेख किया है। उसे यहां ज्यों का त्यों देना कर्त्तव्य समझता हूं। जो इस प्रकार है—

हरिभद्रसूरि के दो भागिनेय पुत्र थे—हंस और परमहंस[3]। वे दोनों ही अत्यन्त मेधावी और विनयशील थे। दोनों ने ही हरिभद्रसूरि के पास दीक्षित होकर अनन्य भक्ति और कठोर परिश्रम से शास्त्राध्ययन कर प्रशंसनीय पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। इसके फलस्वरूप इनके मन में जैन धर्म के उत्कर्ष के लिए प्रबल भावना जागृत हो गई।

इन दोनों ने जैन धर्म की प्रभावना के लिए बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव पर अंकुश लगाने की सोची। गुरु से दोनों ने एक बौद्ध पाठशाला में जाकर छद्मवेश में अध्ययन करने की अनुमति मांगी। हरिभद्रसूरि ने इसे संकट पूर्ण जानकर उन्हें इससे दूर रहने की सलाह दी, परन्तु

---

१. (क) जाइणिमयहरियाए रइया ए ए उ धम्मपुत्रेण।
हरिभद्दायरियणं भवविरहं इच्छमाणणं॥ उपदेशपद प्र०टी०, १०३९
(ख) हरि०प्रा० क० सा० आ०परि०, पृ० ५०

२. शास्त्रवा० समु०, प्रस्तावना, पृ० ६

३. पं० सुखलाल ने इनके नाम जिनभद्र और वीरभद्र लिखे हैं
दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० १२

निडर एवं प्रबल उत्साही किसी के रोके भला कभी रुके भी हैं। होनहार प्रबल होती है। अन्ततः गुरुवर्य को स्वीकृति देनी ही पड़ी।

बौद्ध मठ में दोनों को बौद्ध वेशभूषा में रहना तो पड़ता था, किन्तु ये लग्न के पक्के थे। अत: साथियों के साथ बौद्धदर्शन का अध्ययन तो वे करते ही थे साथ ही अपने मन के प्रतिकूल जान पड़ने वाले सहपाठियों के मुंह बन्द करने के लिए वे कभी-कभी जैन मत से उनका खण्डन भी कर देते थे। वे एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे। वह यह था कि वे इस विषय को साथ के साथ भोजपत्रों पर अंकित करते जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि एक दिन इनके जैन होने का भेद खुल गया। तब बौद्धाचार्य और उसके प्रबल समर्थक इन पर क्रुद्ध ही नहीं हुए बल्कि इन्हें धोखे से मारने की योजना भी उन्होंने बना ली। इधर इनको भी इसका पता चल गया जिससे ये दोनों अवसर पाकर वहां से भाग निकले, फिर भी बौद्धों ने इनका पीछा करके इन्हें रास्ते में घेर लिया।

बौद्धों ने इनके साथ संघर्ष किया जिसमें इनमें से एक हंस मारा गया किन्तु परमहंस जो किसी तरह बच निकला था अपने भोजपत्रों सहित हरिभद्रसूरि के पास जा पहुंचा। वहां गुरुचरणों में भोजपत्र रखकर बौद्धों को क्रूरताभरी आप बीती सुनाते-सुनाते श्रम जन्य पीड़ा और भ्रातृवियोग के दुःख को न सहन कर पाने से वह भी अकालमृत्यु को प्राप्त हो गया।

इससे हरिभद्रसूरि के मन में बौद्धों के प्रति प्रतिशोध की प्रबल भावना भड़क उठी और उन्होंने राज्य सभा में जाकर बौद्धों से शास्त्रार्थ करने की घोषणा की। शर्त यह रखी कि पराजित होने वाले को उबलते हुए तेल के कड़ाहे में कूदना होगा। राजा की अध्यक्षता में शास्त्रार्थ शुरु हुआ। आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने अकाट्य तर्कों से एक-एक कर १४४४ बौद्ध विद्वानों को पराजित कर डाला। पूर्व शर्त के अनुसार पराजितों को उबलते हुए तेल के कड़ाहे में गिरना था कि इस विषय की सूचना किसी तरह आचार्य हरिभद्रसूरि के गुरुदेव को मिल गयी। उन्होंने अपने प्रभाव का प्रयोग कर इस अनर्थ को रुकवा दिया किन्तु शर्त के अनुसार कुछ एक विद्वानों की दृष्टि में यह नर बलि दी

गई थी ।[1]

इस घटना के निदान स्वरूप गुरु जी ने आचार्य हरिभद्रसूरि को निम्न तीन गाथाएं लिखकर भेजी थी—

१. गुणसेण अग्निसम्मा सीहाणंदा य तह पिआपुत्ता ।
सिहि जालिणि माइसुआ घण-घण सिरिओ य पइभज्जा ॥१॥

२. जयविजया य सहोअर धरणो लच्छी य तहप्पई भज्जा ।
सेणविसेणापित्तिय उत्ता जम्मम्मि सत्तमए ॥२॥

३. गुणचंद वाणमंतर समराइच्चगिरिसेण पाणो य ।
एगस्सतओ मुक्खो णतो अण्णस्स संसारो ॥३॥[2]

इन गाथाओं को पढ़ते ही हरिभद्रसूरि का प्रतिशोधात्मक क्रोध शान्त हो गया और इन्हीं गाथाओं को आधार बनाकर सम्भवतः हरिभद्रसूरि ने **समराइच्चकहा** की रचना की और जितने बौद्ध भिक्षु स्वाहा हुए थे, उनके पश्चाताप स्वरूप उतने ही प्रकरणग्रंथ लिखने की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी ।[3]

इस तरह उन्होंने शिष्यों के विरह से उत्पन्न दुःख से शान्तिलाभ प्राप्त किया और इसका स्मरण सूचक 'भवविरह' पद अपने उपनाम के रूप में सुरक्षित रखा ।

(३) याजकों को दिए जाने वाले आशीर्वाद और उनके द्वारा किए जाने वाले जय-जय कार का प्रसंग

जब कोई हरिभद्रसूरि के दर्शनार्थ आकर उन्हें प्रणाम करता था तब उसे हरिभद्रसूरि प्रत्युत्तर में आशीर्वाद स्वरूप जैसे आज कल **'धर्मलाभ'** कहा जाता है, वैसे ही 'भवविरह' कहकर आशीर्वाद देते थे । इस पर आशीर्वाद लेने वाला भक्त उन्हें **भवविरह सूरि 'बहुत जीए'** ऐसा कहकर सम्बोधित करते थे ।[4]

---

१. दे० हरि० प्रा० क०सा०, आ०परि०, पृ० ५१
२. समराइच्चकहा, प्रस्तावना, गा० २३-२५
३. हरि० प्रा० क०सा० आ० परि०, पृ० ५१
४. चिरं जीवउ भव विरह सूरित्ति । कहावली पत्र ३०१ अ

विचरण क्षेत्र

वैसे तो जैनसाधु का विचरण क्षेत्र समस्त भारतवर्ष होता है फिर भी कुछ परिस्थिति एवं कार्यवश सभी जैन साधु सर्वत्र विहार नहीं कर पाते। ऐसा ही हरिभद्रसूरि के विषय में भी ज्ञात होता है। मुख्य रूप से हरिभद्रसूरि राजस्थान और गुजरात में ही परिभ्रमण करते रहे किन्तु उनकी कृति 'समराइच्चकहा' में उत्तर भारत के नगरों और जनपदों के नाम मिलते हैं[1] जिससे ऐसा भी प्रतीत होता हैं कि उन्होंने उत्तर भारत की भूमि को अपने सद्धर्मामृत से सिञ्चित किया था।

पोरवाल वंश की स्थापना

हरिभद्रसूरि ने मेवाड़ में पोरवाल वंश की स्थापना करके उन्हें जैन परम्परा में दीक्षित किया था। ऐसी अनुश्रुति जातियों के इतिहास लिखने वालों ने लिखी है।[2]

(ख) हरिभद्रसूरि का समय

यद्यपि आचार्य हरिभद्रसूरि ने स्पष्ट रूप से अपने विषय में कहीं भी कुछ नहीं लिखा है फिर भी जो कुछ संक्षिप्त सूचना उनकी कृतियों में और उनके समकालीन विद्वान् लेखकों की रचनाओं में उपलब्ध होती है, उसी के आधार पर आधुनिक विद्वानों ने सूरि के समय को निश्चित करने का प्रयास किया है। अनेक अमूल्य ग्रंथ रत्नों की रचना करके भी यत्किञ्चित् प्रामाणिक ही न सही, झूठ-मूठ की भी कुछ सूचना न देने के कारण हरिभद्रसूरि के समय के विषय में आज भी विद्वानों में मतभेद पाया जाना स्वाभाविक है।

इस मतभेद के कारण कुछ विद्वान् उन्हें छठी शताब्दी में आविर्भूत हुआ मानते हैं तो कुछ उन्हें आठवीं शताब्दी का और कुछ उनका अस्तित्व इसके बाद स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हरिभद्रसूरि के समय के सम्बन्ध में निम्न तीन मान्यताएं प्रसिद्ध हैं —

---

१. समराइच्चकहा, पृ० ८४५, ५०१, ६१८

२. दे० धर्मसंग्रहणी, प्रस्तावना, पृ० ७

१. परम्परागत मान्यता

इसके अनुसार हरिभद्रसूरि का स्वर्गारोहण वि०सं० ५८५ अर्थात् ई० सन् ५२७ में हुआ था।[1]

२. मुनि जिनविजय जी मान्यता

मुनि जिनविजय ने अन्तः और बाह्य प्रमाणों को आधार बनाकर ई० सन् ७०० से ७७० तक आचार्य हरिभद्रसूरि का समय निर्धारण किया है।[2]

३. प्रोफेसर के० वी० आभ्यंकर की मान्यता है कि आचार्य हरिभद्रसूरि वि० सं० ८०० से लेकर ९५० के मध्य में इस भूधरा पर विद्यमान थे।[3]

प्रथम मान्यता के अनुसार 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के भूमिकाकार 'मुनि जयसुन्दरविजय' ने बड़े ही युक्ति पूर्वक हरिभद्रसूरि का समय छठी शताब्दी माना है।[4] उन्होंने अन्य विद्वानों के मतों का सतर्क खण्डन कर यथोचित प्रमाणों से स्वपक्ष की पुष्टि की है जबकि इसके ठीक विपरीत 'मुनि जिनविजय' ने अपने लेख में हरिभद्रसूरि का समय 'आठवीं शताब्दी' माना है और इसके प्रमाण में उन्होंने हरिभद्रसूरि द्वारा अपने ग्रंथों में उल्लिखित जैनेतर विद्वानों की नामावली उनके समय के क्रम से दी है। इस नामावली में जिन आचार्यों के नाम आए हैं, उनमें—

१. धर्मकीर्ति (ई०सं० ६०० से ६५० ई० तक)
२. भर्तृहरि (ई०सं० ६०० से ६५० ई० तक)

---

१. (क) पंचसए पणसीए विक्कम कालाउ झति अत्थमिओ।
हरिभद्रसूरिसरो भवियाण दिसऊ कल्लाणं। मेरुतुंगविचारश्रेणी
(ख) पंचसएपणसीएविक्कमभूपालझति अत्थमिओ।
हरिभद्दसूरिसरो धम्मरओ देउ मुक्खसुहं। प्रद्युम्न विचार, गा० ५३२

२. हरिभद्रस्य समयनिर्णयः, पृ० १७

३. दे० विंशतिर्विंशिका की प्रस्तावना, तथा दे० शास्त्री, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ०४३

४. दे० शास्त्रवार्तासमुच्चय, भूमिका, पृ० १३

३. कुमारिल भट्ट (ई०सं० ६२० से ७०० ई० तक)
४. शुभगुप्त (ई०सं० ६४० से ७०० ई० तक) और
५. शान्ति रक्षित (ई०सं० ७०५ से ७३२ तक)[1] प्रमुख हैं

उपर्युक्त तर्क से नि.सन्देह यह सिद्ध होता है कि हरिभद्रसूरि अवश्य ही आठवीं शताब्दी में आविर्भूत हुए होंगे।

कुछ दूसरे विद्वान्[2] इसके समर्थन के लिए **कुवलयमालाकहा** के रचयिता 'उद्योतनसूरि' द्वारा प्रदत्त गाथा[3] को प्रस्तुत करते हैं जिसमें हरिभद्रसूरि को उद्योतनसूरि ने अपना गुरु माना है। उद्योतनसूरि ने **कुवलयमालाकहा** को शक सम्वत् ७०० अर्थात् (ई०सं० ७७८) में समाप्त किया था।[4]

इससे ज्ञात होता है कि हरिभद्रसूरि ई० सन् के पूर्व अवश्य रहे होंगे[5] किन्तु मुनि जयसुन्दरविजय ने कहा है कि 'मुनि जिनविजय को इन पद्यों का अर्थ समझने में भ्रान्ति हुई है, क्योंकि जो गाथा मुनि जिनविजय ने पहले प्रस्तुत की है उसमें उन्होंने एक पंक्ति और पहले की देकर कहा है कि **कुवलयमालाकहाकार** 'उद्योतनसूरि के गुरु 'वीरभद्र' थे तथा वीरभद्र के गुरु थे—'हरिभद्रसूरि'[6] अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि हरिभद्रसूरि, उद्योतनसूरि के गुरु के गुरु थे।

दूसरी ओर दूसरी गाथा का अर्थ करते हुए स्वयं मुनि जयसुन्दरविजय ने लिखा है कि मुनि जिनविजय ने तो '**सो सिद्धन्तेण गुरु—**'

---

१. मुनिजिनविजय संस्कृत लेख—आचार्य हरिभद्रस्य समयनिर्णय:
२. दे० समराइच्चकहा: एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १
३. जो इच्छई भवविरहं को नु बंदए सुयणो।
समयसयसत्थ गुरुणो समरमियंका कहा जस्स ॥ कुवलयमालाकहा, अ० ६, पृ० ५
४. कुवलयमालाकहा, अनुच्छेद ४३०, पृ० २८२
५. दे० अर्ली चौहान डानस्टीज, पृ० २२२
६. आयरियवीरभद्दो महावरो कप्परूक्खोव्व।
सोसिद्धन्तेण गुरुजुत्तिसत्थेहिं जस्स हरिभद्दो।
बहुगथं सत्थवित्थरपत्थारियपयड सव्वथो ॥ शास्त्रवार्ता समुच्चय, भूमिका, पृ० १० पर उद्धृत

गाथा में आए 'तत्' पद के 'सो' से वीरभद्र का ग्रहण किया है, उसी पद्य के अगले पाद में 'जस्स' पद से 'मुनि जिनविजय' ने **कुवलयमालाकहा-कार** का ग्रहण किया है अर्थात् हरिभद्रसूरि, उद्योतनसूरि के गुरु थे, यह सिद्ध किया है।[1]

परन्तु व्याकरण के नियमानुसार 'तत्' पद से जिसका ग्रहण होगा, जस्स(यस्य) पद से भी उसी का ग्रहण होने से जस्स पद से यहाँ 'वीरभद्र' को ही लिया जाना चाहिए, नहीं तो विरोध की स्थिति उत्पन्न होगी, जो अनुचित है। अतएव व्याकरण के अनुसार इस गाथा का अर्थ होगा कि तर्कशास्त्र के विषय में हरिभद्र, वीरभद्र के गुरु थे, न कि उद्योतन-सूरि के। इस तरह हरिभद्रसूरि **कुवलयमालाकहा** कार के गुरु के गुरु थे। समर्थन में मुनि जयसुन्दरविजय ने **कुवलयमालाकहा** कार के ही एक अन्य पद्य को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है[2]। इस पद्य में उद्योतन-सूरि ने हरिभद्रसूरि का स्मरण किया है किन्तु उनको अपना गुरु होने की कोई सूचना नहीं दी। इससे सिद्ध होता है कि हरिभद्रसूरि **कुवलय-मालाकहाकार** उद्योतनसूरि के गुरु नहीं थे।[3]

पाश्चात्य जर्मन विद्वान् हर्मन जेकोबी का मत

कुछ विद्वान् जिनमें हर्मन जेकोबी प्रमुख है उन्होंने **उपमिति-भवप्रपञ्चकथाकार** श्रीसिद्धर्षि के गुरु के रूप में आचार्य हरिभद्रसूरि को माना है। इसके प्रमाण में उपमितिभवप्रपञ्चकथा के ये प्रशस्ति पद्य प्रस्तुत किए गए हैं—

> आचार्य हरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः,
> प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाद्ये निवेदितः :
> अनागतं परिज्ञाय चैत्यवन्दनसंश्रया,
> मदर्थेव कृता येन वृत्तिललितविस्तरा ।:[4]

---

१. दे० वही, पृ० १०

२. जो इच्छइ भवविरहं को वंदए सुजणो।
समयसयसत्थगुरुणो समरमियकाकहा जस्स ॥ कुवलयमा०, पृ० ४

३. शास्त्रवा०, मू०, पृ० ११

४. वही, पृ० ११ पर उद्धृत।

किन्तु मुनि जयसुन्दरविजय ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि—उपमितिभवप्रपञ्चकथा के रचयिता ने 'उपमिति—' की समाप्ति की जो सूचना दी है[1] उससे उसका समाप्ति समय वि०सं० की ११वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

यहां हमें मुनि जयसुन्दरविजय के कथन पर भी विशेष ध्यान देना होगा जैसे सिद्धर्षि को आचार्य हरिभद्रसूरि की **ललितविस्तरा** से बोध प्राप्त हुआ था। इस वाक्य से सिद्धर्षि अपना गुरु हरिभद्रसूरि को मानते हैं, जो स्वाभाविक-सा लगता है कारण कि प्रकट में भी एक व्यक्ति के अनेक गुरु आचार्य पाए जाते हैं। गुरु से प्रेरणा मिलना ही पर्याप्त है, जो किसी से भी प्राप्त हो सकती है। मुनि जयसुन्दर कहते हैं कि 'सिद्धर्षि' को आचार्य हरिभद्रसूरि की कृति 'ललितविस्तरा' से बोध प्राप्त हुआ था। इस कारण हरिभद्रसूरि, सिद्धर्षि के साक्षात् गुरु न होकर शास्त्रगुरु थे। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि का समय छठी शताब्दी में ही मानना युक्तियुक्त है। इसके प्रमाण में मुनि जयसुन्दरविजय कहते हैं कि हरिभद्रसूरि ने '**लघुक्षेत्रसमासवृत्ति**' नामक अपनी रचना के अन्त में अपने समय का स्पष्ट उल्लेख किया है। वहाँ पर जो गाथा है उसमें सम्वत् तिथि, मास, वार और नक्षत्र आदि का स्पष्ट निर्देश किया गया है।[2]

आचार्य हरिभद्रसूरि के छठी शताब्दी में आविर्भूत होने का एक और प्रमाण है, वह है—श्री मेरुतुंगसूरि द्वारा रचित '**प्रबन्ध चिन्तामणि**' नामक ग्रंथ, जिसमें मेरुतुंगसूरि ने एक गाथा उद्धृत की है।[3] यह गाथा अन्य ग्रंथों—**विचार श्रेणी** आदि में भी उपलब्ध होती है।

---

१. संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहिते तिलङ्घिते चास्याः।
ज्येष्ठे सित पञ्चम्यां पुनर्वसो गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥ वही

२. लघुक्षेत्र समासस्य वृत्तिरेषा समासतः।
रचिताइ बुधबोधार्थं श्रीहरिभद्रसूरिभि : ॥ १ ॥
पञ्चाशितिकवर्षे विक्रमतो व्रजति शुक्लपञ्चम्याम्।
शुक्रस्य शुक्रवारे पुष्ये शस्ये च नक्षत्रे ॥ २ ॥ लघुक्षेत्रसमासवृत्ति

३. पंचसए पणसीए विक्कम कालाउ झत्ति अत्थमिओ।
हरिभद्रसूरिसरो भवियाण दिसउ कल्लाणं ॥ शा०वा०समु०, भूमिका, पृ० ८ पर उद्धृत फुट नोट

इससे पता चलता है कि हरिभद्रसूरि ने वि०सं० ५८५ में स्वर्गलाभ किया था। अतएव आचार्य हरिभद्रसूरि का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित होता है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का मत

आधुनिक विद्वान् डा० नेमिचन्द्र शास्त्री हरिभद्रसूरि के समय की पूर्व सीमा ई०सं ७०० के आस-पास मानते हैं।[1] इसकी पुष्टि में वे कहते हैं कि **विचारश्रेणी** और **प्रबन्ध चिन्तामणि** में आगत गाथा '**पंचसए—**' का अर्थ एच०ए० शाह ने जिस प्रकार से किया है उसके अनुसार यहां वि०सं० के स्थान पर गुप्त सम्वत् का ग्रहण होना चाहिए।[2] इससे गुप्त सम्वत् ५८५ शक् सम्वत् ७०७ में और वि०सं० ८४३ में तथा ई०स० ७८५ में अन्तर्भूत होता है और यही हरिभद्रसूरि का स्वर्गारोहणकाल निश्चित होता है।

यतिवृषभ की **तिलोयपण्णति** (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) के अनुसार महावीर के निर्वाण के ४६१ वर्ष बाद शकारि नरेन्द्र विक्रमादित्य उत्पन्न हुए थे। इस वंश का राज्यकाल का प्रमाण २४२ वर्ष है और गुप्तों के राज्यकाल का प्रमाण २५५ वर्ष है। इसके अनुसार १८५-१८६ सन् के लगभग गुप्त सम्वत् का आरम्भ हुआ और इस गुप्त सम्वत् में ५८५ वर्ष जोड़ दिये जाए तब ई० सन् ७७०-७७१ के लगभग हरिभद्रसूरि का निर्वाण समय बैठता है जिसकी पुष्टि मुनि जिनविजय के लेख से भी हो जाती है।[3]

आदिशंकराचार्य से पूर्ववर्ती हरिभद्रसूरि

प्रोफेसर आभ्यंकर हरिभद्रसूरि के ऊपर शंकराचार्य का प्रभाव बतलाकर उन्हें शंकराचार्य का पश्चात्वर्ती मानते हैं।[4] किन्तु हरिभद्रसूरि के दर्शन विषयक ग्रंथों को देखने और उनके द्वारा प्रदत्त पूर्ववर्ती दार्शनिकों

---

१. हरि०प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ४३

२. वही

३. विशेष अध्ययन के लिए दे० अनेकान्तजयपताका, भाग-२, प्रस्तावना, तथा हरि०प्रा० क०सा० परि०, पृ० ४३ पर फुट नोट

४. दे० विंशतिविंशिका, प्रस्तावना, तथा हरि०प्रा० क०सा० आ०परि०, पृ० ४५ फुट नोट नं० १

के उल्लेखों से यह मत असत्य सिद्ध हो जाता है। यदि शंकराचार्य हरिभद्रसूरि के पूर्ववर्ती होते तब हरिभद्रसूरि उनका उल्लेख अपनी किसी न किसी रचना में अवश्य करते, जैसा कि उन्होंने धर्मकीर्ति आदि का उल्लेख किया है। अतः हरिभद्रसूरि निस्सन्देह शंकराचार्य के पूर्ववर्ती थे।

डा० महेन्द्रकुमार न्यायचार्य ने जयन्त की **न्यायमंजरी** का समय ई० ८०० से लगभग मानकर हरिभद्रसूरि का समय ८०० के बाद स्वीकार किया है। अपने इस कथन की पुष्टि में प्रमाण स्वरूप वे हरिभद्रसूरि द्वारा रचित **षड्दर्शसमुच्चय** में उपलब्ध जयन्तभट्ट की **न्यायमंजरी** के कुछ पद्य[1] उद्धृत करते हैं। परन्तु प्रकृत में यह स्वीकार करना असम्भव है कारण कि एक तो यह तिथि यदि मान भी ली जाए तब हरिभद्रसूरि, उद्योतनसूरि के गुरु के रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकेंगे। अतः डा० नेमिचन्द्रशास्त्री का कथन ठीक ही जान पड़ता है और जैसा कि वे स्वयं कहते भी हैं कि सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि हरिभद्रसूरि और जयन्तभट्ट इन दोनों ने किसी एक ही पूर्ववर्ती आचार्य की रचना से उक्त पद्य उद्धृत किए हैं।[2]

हरिभद्रसूरि के समय निर्णय में विद्वानों ने मल्लवादी को भी घसीट लिया है। इसका एक मात्र कारण है कि सटीक **नयचक्र** के रचयिता मल्लवादी का निर्देश हरिभद्रसूरि ने **अनेकान्तजयपताका** की टीका में किया है। डा० शास्त्री मानते हैं कि हरिभद्रसूरि सम्भवतः मल्लवादी के समसामयिक विद्वान् थे और जिनका समय ८२७ ई० सन् के आस-पास माना जाना चाहिए।[3]

इस दृष्टि से **कुवलयमालाकहाकार** उद्योतनसूरि के शिष्यत्व को यदि ध्यान में रखते हैं तो हरिभद्रसूरि का समय ई० सं० ७३० से ८३०

---

१. गभीरगर्जितारंभनिर्भिन्नगिरिगह्वरा।
रोलम्बगवलव्यालतमालमालमलिनत्विषः॥
त्वंगत्तडिल्लतासंगपिशंगोत्तुंगविग्रहा।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवं प्रायाः पयोमुचः॥ षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक ३०, तथा न्यायमंजरी, पृ० १२९

२. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ०परि०, पृ० ४५-४६

३. वही, पृ० ४६

के मध्य अर्थात् ९वीं शदी में चला जाता है, जो कुछ विद्वानों को सम्भवतः स्वीकार्य नहीं होगा।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि हरिभद्रसूरि के महान् एवं घटना प्रधान जीवन तथा उनके अनुपम साहित्यिक अवदान की विपुलता को दृष्टिगत करने से उनकी अधिकतम आयु का अनुमान १०० वर्ष के लगभग लगाया जा सकता है।[2] इससे उन्हें मल्लवादी के समकालीन और उद्योतनसूरि के गुरु मानने में भी कोई आपत्ति नही रह जाती।

यदि हरिभद्रसूरि द्वारा निर्देशित दार्शनिकों का समय सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर ८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक माना जाए तब विद्वानों का बहुमत भी इसी के पक्ष में जाता है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ७वीं शदी के आरम्भ और आठवीं शदी के अन्त तक इस नश्वर भूतल पर विद्यमान थे। पं० सुखलाल संघवी एवं श्रीहीरालाल कापड़िया ने भी हरिभद्रसूरि का यही समय (८वीं शदी) माना है।[3]

इसके अतिरिक्त पण्डित प्रवर सुखलाल संघवी के साथ डा० हीरालाल जैन, डा० ए०एन० उपाध्ये[4], प्रोफेसर दलसुख भाई मालवणिया[5] और डा० बिमलप्रकाश जैन[6] प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी आचार्य हरिभद्रसूरि का समय निश्चित रूप से आठवीं शताब्दी ही मानते हैं और यही प्रामाणिक भी लगता है।

(ग) हरिभद्रसूरि का व्यक्तित्व

आचार्य हरिभद्रसूरि बहुमुखी प्रतिभा के धनी एवं श्रेष्ठ साधक थे। उनका व्यक्तित्व बहु आयामी था। उनके हृदय में नवनीत-सी कोमलता थी और वाणी प्रचुर माधुर्य से ओतप्रोत थी। आपका व्यवहार

---

१. वही, पृ० ४७
२. वही,
३. दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ० १०
तथा श्रीहरिभद्रसूरि, पृ० ३४६
४. दे० षड्दर्शनसमुच्चय, प्रधान सम्पादकीय, पृ० ७
५. वही. प्रस्तावना, पृ० २०
६. दे० जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय, प्रस्तावना, पृ० २४

फूलों से भी अधिक मधुर, मन दया का सागर, वक्तव्य विद्वत्तापूर्ण एवं निष्पक्ष था। वे अपूर्व काव्यसर्जन शक्ति से सम्पन्न थे। उनका भाषा एवं भावों पर पूर्ण अधिकार था। वे भारतीय दर्शनों के मर्मज्ञ अधिकारी वेत्ता, समीक्षक एवं स्वयं एक चलती फिरती लायब्रेरी थे। उनकी स्मृति अत्यन्त जागरूक थी। मेधावी साधक और अनेक महान् गुणों के पुञ्ज आचार्य हरिभद्रसूरि का व्यक्तित्व स्वच्छ दर्पण था। अनेक व्यक्तित्व एवं गुणों का वर्णन वचनातीत हैं फिर भी उनके जीवन सागर की जिन कतिपय विशेषताओं को विद्वानों ने उजागर किया है, उन्हीं को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि सन्त

सन्त वही होता है जो स्व और पर का हित साधक हो—**परोपकाराय सतां विभूतयः**। प्रमाद से दूर निर्माण के कार्य में सतत प्रयत्नशील रहना, बाधाओं व मुसीबतों के आगे घुटने न टेकना, अपने पथ अथवा मंजिल की ओर बेधड़क बढ़ते चले जाना यही सन्त के विशेष गुण हैं। वस्तुतः ऊर्ध्वगामी होना सत्त्व का एकमात्र स्वभाव भी है। मंजिल पर पहुंचने के लिए उसे परस्पर का सहयोग आवश्यक होता है, इसीलिए जैनदर्शन में भी **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** की मंगल भावना भायी गयी है। अभिप्राय यह है कि सत्त्व का उद्देश्य परस्पर में एक दूसरे जीवों अथवा प्राणियों का उपकार करना ही है।

हरिभद्रसूरि के जीवन में यह सब कुछ घटित हुआ। उन्होंने स्व-हित के साथ-साथ परहित साधन भी निरन्तर किया। अनेक प्राणियों को कल्याणमार्ग में लगाया तथा अनेक ग्रंथ रत्नों को देकर भारतीय संस्कृति के भण्डार को अक्षय बना दिया। उनके ग्रंथों का अध्ययन अध्यापन कर सत्त्व आज भी लाभान्वित हो रहे हैं।

समाज के यथार्थ सेवक

सत्त्व कहीं किसी के घर में अपने कर्मोदय के वश जन्मता है और कहीं विशेष स्थान पर पहुंच कर वह जहां समाज से बहुत कुछ ग्रहण करता है, वहीं समाज को कुछ देता भी है। उसे बदलने का, उसकी उन्नति करने के प्रयत्न भी करने पड़ते है। हरिभद्रसूरि ने

भी समाजहित एवं राष्ट्रहित में अनेक पद यात्राएं कीं और अपने ज्ञान-बल के आधार पर धर्मोपदेश देकर उन्मार्ग से सन्मार्ग पर आरुढ़ किया। समाज में प्रचलित कुरीतियों, अनैतिक विश्वासों एवं परम्पराओं में परिवर्तन कराकर उदात्त भावना की प्रेरणा से उसे आध्यात्मोन्मुखी बनाने का सफल प्रयत्न किया ओर स्वात्मविकास करके विमुक्तिरसास्वादन भी किया।

गुरु भक्त हरिभद्र

जैनदर्शन में वीतरागी देव, गुरु एवं उनके द्वारा प्ररूपित शास्त्र-आगम को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है, फिर इसके प्रति भक्तिभावना का तो कहना ही क्या ? इनका प्रभाव एवं महिमा अचिन्त्य है। आचार्य हरिभद्रसूरि जैसे जैनदर्शन में आए हो नहीं कि उसके अगम्य प्रभाव की झलक उनके अपने गुरु के प्रति अनन्य भक्ति में मिलने लगती है। आपकी कृतियाँ और उनमें आगत अप्रत्यक्ष गुरुमहिमा इसका प्रबल प्रमाण हैं। आप में न केवल अपने पूज्य और आराध्य के प्रति ही बहुमान पाया जाता है बल्कि दूसरे सम्प्रदाय के महापुरुषों के प्रति भी उससे कहीं अधिक मान-सम्मान एवं पूज्यत्व की भावना उनमें व्याप्त थी। तभी सम्भवतः वे निष्पक्षरूप से इतने गहनतम दर्शन एवं कथा विषयक साहित्य के सफल रचयिता हुए।

एक सफल टीकाकार हरिभद्रसूरि

आचार्य हरिभद्रसूरि उच्चकोटि के टीकाकार थे। इसका कारण आपका संस्कृत, प्राकृत एवं तत्कालीन प्रचलित अधिकतम भाषाओं पर असाधारण अधिकार का होना था। विशेषकर संस्कृत और प्राकृत भाषा तो उनकी निजी सम्पत्ति थी, जिनमें अनुपम ज्ञान से परिपूर्ण उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियां आज उपलब्ध हैं। इनमें आगमों पर उनके द्वारा किए गए भाष्य एवं टीका ग्रंथों का विशेष महत्त्व है। इन्हीं में उपलब्ध संकेतों एवं ज्ञान स्रोतों से हरिभद्रसूरि के व्यक्तित्व का महनीय परिचय मिलता है।

उनके निखिल साहित्य का परिशीलन करने पर हम पाते हैं कि हरिभद्रसूरि ने जो उदात्त दृष्टि असाम्प्रदायिकवृत्ति और निर्भय विनम्रता अपनी कृतियों में प्रदर्शित की है वैसी उनके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती

किसी भी जैन अथवा जैनेतर विद्वान् में शायद ही दृष्टिगोचर हो।

हरिभद्रसूरि ने साहित्य, दर्शन और योग साधना के क्षेत्र में जो योगदान दिया है, उसमें उपलब्ध कतिपय विशेषताओं का दिग्दर्शन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

कथा साहित्य में हरिभद्रसूरि का स्थान

इसमें संदेह नहीं कि हरिभद्रसूरि कथाकार के साथ ही साथ उच्च-कोटि के मर्म ज्ञाता भी थे। जितनी चिन्तन मनन शीलता और गम्भीरता उनमें विद्यमान थी, उतनी अन्य साहित्यकारों में शायद ही दृष्टिगत हो। धार्मिक कथाओं के रचयिता होने पर भी जीवन की विभिन्न समस्याओं को सुलझाना और संघर्ष के घात-प्रतिघात प्रस्तुत करना इनकी अपनी विशेषता है। कौतूहल और जिज्ञासा का सन्तुलन कथाओं में अन्त तक बना रहता है। कथा जीवन के विविध पहलुओं को अपने में समेटे हुए पाठक का मनोरंजन करती हुई आगे बढ़ती हैं। प्रेम और लौकिक जीवन की विभिन्न समस्याएं **समराइच्चकहा** में उठाई गई हैं, जो पठनीय और भजनीय है।

हरिभद्रसूरि ने मानव जीवन की समस्याओं को उठाकर उन्हें यों ही नहीं छोड़ दिया, बल्कि उनके समाधान भी दिए हैं। संक्षेप में **समराइच्चकहा** के प्रत्येक भव की कथा शिल्प, वर्ण्य विषय, पात्रों का चरित्र-चित्रण, संस्कृति का निरूपण एवं विशिष्ट सन्देश आदि दृष्टियों से बेजोड़ है। **समराइच्चकहा** की भाषा-शैली अत्यन्त परिष्कृत है, इसके द्वारा प्राकृत कथा क्षेत्र को नयी दिशा प्राप्त हुई है।

यहां इतना ही निर्देश करना पर्याप्त होगा कि **समराइच्चकहा** ने धर्मकथाशैली को ऐसी प्रौढ़ता प्रदान की, जिससे यह शैली उत्तरवर्ती लेखकों के लिए भी आदर्श बन गई। इससे सिद्ध होता है कि हरिभद्रसूरि का कथा साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

धूर्ताख्यान तो अपने ढंग का अद्भुत कथा काव्य है। इस कृति द्वारा भारतीय साहित्य में हरिभद्रसूरि शैली की स्थापना की गयी। इसमें लेखक ने मनोरंजन और कुतूहल के साथ-साथ जीवन को स्वस्थ बनाने के लिए व्यंग्य शैली का अनुपम प्रयोग किया है। संक्षेप में यही कथा

साहित्य विषयक हरिभद्रसूरि की विशेषताएं हैं।

अब हम दर्शन और योग के क्षेत्र में हरिभद्रसूरि के विशिष्ट योग-दान की कुछ विशेषताओं का अध्ययन करते हैं—

समत्व दृष्टि और औदार्य गुण

आध्यात्मिकता का परम लक्ष्य समभाव और निष्पक्षता है। हरिभद्रसूरि ने जिसे अपने दार्शनिक ग्रंथों में बड़ी उदारता से साधा है। **लोकतत्त्वनिर्णय** ग्रन्थ[1] में जो कुछ आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है वह उनकी निष्पक्षता, तटस्थता और गुणग्राहकता का द्योतक है।

भारतीय दार्शनिकों में हरिभद्रसूरि ही एक मात्र ऐसे मनीषि आचार्य हैं जिन्होंने अपने ग्रंथ **षड्दर्शनसमुच्चय** की रचना में केवल उन-उन दर्शनों के मान्य देवों और तत्त्वों को यथार्थ रूप से निरूपित करने का प्रयास किया है, किसी के खण्डन करने की दृष्टि से उनको नहीं लिखा। आपका अनुकरण करने वाले आचार्य राजशेखर प्रभृति विद्वान् अपनी रचनाओं में वैसी उदारता नहीं दिखला सके[2]।

चार्वाक कोई दर्शन नहीं है—ऐसा विधान तो राजशेखर करते ही हैं[3] परन्तु साथ ही अन्त में पूर्व प्रचलित ढंग से चार्वाक दर्शन का खण्डन भी करते हैं[4]। जो परम्परागत होने पर भी लेखक की दृष्टि में कुछ न्यूनता सूचित करता है।

हरिभद्रसूरि की दृष्टि इस विषय में बड़ी उदात्त रही है। उन्होंने

---

१. बन्धुर्न नः स भगवान् रिपवोऽपि नान्ये,
साक्षान्न दृष्टचर एकतमोऽपि चैषाम् ॥
श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषम्,
वीरं गुणातिशयं लोलतयाश्रिताः स्मः ॥ लोकतत्त्वनि० १.३२
पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमदवचनं यस्य तस्य कार्यं परिग्रहः ॥ वही १.३८

२. दे० (संघवी) समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४३

३. नास्तिकस्तु न दर्शनम्। राजशेखर, षड्०समु०. श्लोक ४

४. वही, श्लोक ६५ से ७५

अपने प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ **षड्दर्शनसमुच्चय** में चार्वाक दर्शन को समान स्थान देकर अपना समत्व गुण स्थापित किया है। उनका मानना है कि न्याय और वैशेषिक दर्शन भिन्न नहीं है। अतः की गई प्रतिज्ञा के अनुरूप षड्दर्शनों का पूर्ति करने के लिए वे चार्वाक को भी एक दर्शन मान कर उसे बराबरी का स्थान देते हैं।[1]

आस्तिक एवं नास्तिक पद लोक तथा शास्त्र में विख्यात रहा है। यद्यपि पाणिनी ने परलोक आत्मा पुनर्जन्म जैसे अदृष्ट तत्व न मानने वाले को काशिकावृत्ति में नास्तिक और मानने वाले को आस्तिक बतलाया है जिन्होंने कालान्तर में साम्प्रदायिकता को धारण कर लिया। एक ने वेद को मुख्य मान कर वेद को प्रमाण मानने वाले को आस्तिक और प्रमाण न मानने वाले को नास्तिक की मान्यता दे दा, जबकि दूसरा इसका विरोधी था। वह परलोक आत्मा, पुनर्जन्म तो मानता था किन्तु वेदविहित क्रियाकाण्ड में विश्वास नहीं रखता था। आगे चल कर इस चर्चा ने ऐसा भयंकर रूप धारण कर लिया कि वेद-निन्दक का बहिष्कार करने की घोषणा मनुस्मृतिकार ने कर दी।[3]

दूसरी मान्यता वालों ने कहा कि जो हमारे शास्त्रों को न माने वह मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार आस्तिक नास्तिक पद का अर्थ तात्त्विक मान्यता से हटकर ग्रंथ और पुरस्कर्ताओं की मान्यता में रूपान्तरित हो गया फिर भी हरिभद्रसूरि इस साम्प्रदायिकवृत्ति के वशीभूत नहीं हुए, और वेद माने या न माने, जैनशास्त्र माने या न माने, परन्तु यदि वह

---

१. नैयायिक मतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह।
न मन्यन्ते मते तेषां पंचैवास्तिकवादिनः॥
षड्दर्शनसंख्या तु न पूर्यते तन्मते किल।
लोकायतमतक्षेपे कथ्यते तेन तन्मतम्॥ षड्दर्शनसमु०, श्लोक ७७-७८

२. अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः। पाणिनी ४. ४. ६०
न च मतिसत्तामात्रे प्रत्यय इष्यते। कस्तर्हि!
परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः।
काशिका

३. दे० मनुस्मृति, २.११

आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदि को मानता है, तो उनकी दृष्टि में उसे आस्तिक ही कहना चाहिए। उन्होंने कहा कि वैदिक या अवैदिक सभी आत्मवादी दर्शन आस्तिक हैं।[1] इसे हरिभद्रसूरि की साम्प्रदायातीत समत्वदृष्टि की विशेषता और उनके महान् व्यक्तित्व की उदात्तता ही कहा जाएगा।

तुलनात्मक दृष्टि

हरिभद्रसूरि ने परम्परागत प्रचलित खण्डन-मण्डन की परिपाटी में तुलनात्मक दृष्टि को जो और जैसा स्थान दिया है वह और वैसा स्थान उनके पूर्ववर्ती, समकालीन या उत्तरवर्ती किसी भी अन्य आचार्य के ग्रंथ में शायद ही प्राप्त हो सके। यथार्थ के अधिकाधिक समीप पहुंचा जा सके, इस हेतु से उन्होंने परमातावलम्बियों के मन्तव्य को हृदय में पहले अधिक गहरा उतारने का प्रयत्न किया है और अपने मन्तव्य के साथ उनके मन्तव्य का परिभाषा भेद अथवा निरूपणभेद होने पर भी किस तरह साम्य रखता है, यह उन्होंने स्व-पर मत की तुलना द्वारा अनेक स्थानों पर बतलाया है। परमत की समालोचना करते समय कदाचित् उससे अन्याय न हो जाए, वैसी पापभीरुवृत्ति उन्होंने दिखलाई, वैसी वृत्ति शायद ही किसी विद्वान् ने दिखलाई हो। यहां उनकी इस तुलनात्मक दृष्टि के कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

हरिभद्रसूरि ने भूतवादी चार्वाक की समीक्षा करके उसके भूत स्व-भाववाद का निरसन किया है और परलोक एवं सुख-दुःख के वैषम्य का स्पष्टी-करण करने के लिए कर्मवाद की स्थापना की। इसी प्रकार चित्त-शक्ति या चित्तवासना को कर्म मानने वाले मीमांसक और बौद्धमत का निराकरण करके जैन दृष्टि से कर्म का स्वरूप क्या है ? यह स्पष्ट किया है। इस अन्य चर्चा में उन्हें ऐसा लगा कि जैन परम्परा कर्म का उभयविध स्वरूप मानती है। चेतन पर पड़ने वाले भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव को, और भौतिक परिस्थितियों में पड़ने वाले चेतन संस्कार के प्रभाव को मानने के कारण, वह सूक्ष्म भौतिकवाद को द्रव्य और कर्म

१. एवमास्तिकवादानां कृत् संक्षेपकीर्तनम्।
षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक ७७

तथा जीवगत संस्कार विशेष का भावकर्म कहती है।

हरिभद्रसूरि ने देखा कि जैन परम्परा बाह्य भौतिक तत्त्व तथा आन्तरिक चेतन शक्ति इन दोनों के परस्पर प्रभाव वाले संयोग को मानकर उसके आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म का चक्र घटाती है, तो चार्वाक मत अपने ढंग से भौतिक द्रव्य का स्वभाव मानता है, जबकि मीमांसक तथा बौद्ध अभौतिक तत्त्व का तद्गत स्वभाव मानते हैं। अतः हरिभद्र ने इन दोनों पक्षों में आए हुए एक-एक पहलु को परस्पर के पूरक के रूप में सत्य मानकर कह दिया कि जैन कर्मवाद में चार्वाक[1] और मीमांसक या बौद्ध मन्तव्यों का समन्वय हुआ है।[2]

हरिभद्रसूरि मानों मानव मानस की गहनता नापते हुए इस तरह कहते हैं कि लोग जिन शास्त्रों एवं विधि-निषेधों के प्रति आदर भाव रखते हैं। वे शास्त्र एवं वे विधि-निषेध रूप उनके मत यदि ईश्वर प्रणीत हों तो वे सन्तुष्ट हो सकते हैं, और वैसी वृत्ति मिथ्या भी नहीं है। अतएव इस वृत्ति का पोषण होता रहे तथा तर्क और बौद्धिक समीक्षा की कसौटी पर सत्य साबित हो, ऐसा सार निकालना चाहिए। यह सार अपने प्रयत्न से विशुद्धि के शिखर पर पहुंचे हुए व्यक्ति को आदर्श मानकर उसके उपदेशों में कर्तृत्व की भावना रखता है।

हरिभद्रसूरि की कर्तृत्व विषयक तुलना इससे भी की जाती है जैसे कि वह स्वयं कहते हैं—जीव मात्र तात्त्विक दृष्टि से शुद्ध होने के कारण परमात्मा या उसका अंश है और वह अपने अच्छे बुरे भावों का कर्त्ता भी है। इस दृष्टि से देखें तो जीव ईश्वर है और वही कर्त्ता है। इस दृष्टि से देखें तो जीव ईश्वर है और वह कर्त्ता है। इस तरह कर्तृत्ववाद की सर्वसाधारण उत्कण्ठा को उन्होंने तुलना द्वारा विधायक रूप

---

१. कर्मणो भौतिकत्वेन यद्वैतदपि साम्प्रतम्।
आत्मनो व्यतिरिक्तं तत् चित्तभावं यतो मतम्॥ शास्त्रवार्ता समु० श्लोक ९५

२. शक्तिरूपं तदन्ये तु सूरयः सम्प्रचक्षते।
अन्ये तु वासनारूपं विचित्रफलदं मतम्॥ वही, श्लोक ९६

दिया है ।[1]

शान्तरक्षित की भांति हरिभद्रसूरि ने भी सांख्य मत के प्रकृति-कारणवाद की पर्यालोचना में भी दोनों की भूमिका में भेद देखा जाता है। शान्तरक्षित ने प्रकृतिपरीक्षा में सांख्य की दलीलों का क्रमशः निराकरण किया है परन्तु अन्त में वह प्रकृतिवाद से कोई उपादेय स्वरूप अपनी दृष्टि से नहीं बतलाते, जबकि हरिभद्रसूरि बतलाते हैं। प्रकृतिवाद का खण्डन करते समय हरिभद्रसूरि के मन को मानों ऐसा प्रतीत हुआ कि इस प्रकृतिवाद में कुछ रहस्य है और उसको बतलाना चाहिए। ऐसे ही विचार के कारण उन्होंने कहा कि जैन परम्परा भी अपनी दृष्टि से प्रकृतिवाद मानती है।[2]

बहुमानवृत्ति

सामान्य रूप से दार्शनिक परम्परा में सभी बड़े-बड़े विद्वान् अपने से भिन्न परम्परा के प्रति पहले से ही लाघव बुद्धि और कभी-कभी अवगणना बुद्धि से युक्त होते हैं। हरिभद्रसूरि अपने ढंग से परमत को समालोचना तो करते हैं परन्तु उस समालोचना में उस-उस मत के पुरस्कर्ताओं या आचार्यों को थोड़ी-सी भी लाघव दृष्टि से नहीं देखते बल्कि स्वदर्शन के पुरस्कर्ताओं और आचार्यों के समान ही उन्हें भी बहुमान देते हैं।

---

१. ततश्चेश्वरकर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम् ।
सम्यग्न्यायविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धयः ॥
ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तं व्रतसेवनात् ।
यतो भक्तिस्ततस्तस्याः कर्ता स्याद् गुणाभावतः ॥
तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः ।
तेन तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति ॥
कर्त्ताऽयमिति तद्वाक्ये यतः केषांचिदादरः ।
अतस्तदानुगुण्येन तस्य कर्तृत्वदेशना ।
परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मत आत्मैव चेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥ शास्त्रवार्ता समुच्चय, श्लोक २०३-७

२. प्रकृतिश्चापि सन्न्यायात् कर्मप्रकृतिमेव हि । वही, श्लोक २३२

आचार्य हरिभद्रसूरि ने जिस सांख्यदर्शन का युक्तियुक्त खण्डन किया है, उसी सांख्यमत के आद्य द्रष्टा के रूप में सर्वत्र विश्रुत और बहुमान्य महर्षि कपिल को उद्दिष्ट करके उन्होंने जो कुछ कहा है जैसे कि--मेरी दृष्टि से प्रकृतिवाद भी सत्य है क्योंकि उसके प्रणेता 'कपिल' दिव्य लोकोत्तर महामुनि है।[1] इस तरह साम्प्रदायिक खण्डन-के क्षेत्र में किसी विद्वान् ने अपने प्रतिवादी का इतने आदर के साथ निर्देश किया है तो वह हैं एकमात्र हरिभद्रसूरि ही।

ऐसे ही क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीन बौद्धवादों की समीक्षा करने पर भी हरिभद्रसूरि इन वादों के प्रेरक दृष्टि बिन्दुओं का अपेक्षा विशेष मे न्यायोचित स्थान देते हैं और महात्मा बुद्ध के प्रति आदरभाव व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि 'बुद्ध जैसे महामुनि एवं अर्हत का देशना अर्थहीन नहीं हो सकता' ।[2]

स्वपरम्परा को नवीन दृष्टिदाता

सामान्य दार्शनिक विद्वान् अपनी समग्र विचार शक्ति एवं पाण्डित्यबल पर परम्परा की समालोचना में लगा देते हैं और अपनी परम्परा को कहने जैसा सत्य स्फुरित होता हो, तब भी वे परम्परा के रोष का भाजन बनने का साहस नहीं दिखलाते और उस विषय में जैसा चलता है वैसा ही चलते रहने देने की वृत्ति रखकर अपनी परम्परा को ऊपर उठाने का अथवा उसकी दुर्बलता को दिखलाने का शायद ही प्रत्यन करते हैं किन्तु हरिभद्रसूरि इस विषय में सर्वथा निराले हैं। उन्होंने परवादियों के अथवा पर-परम्पराओं के साथ के व्यवहार में जैसी तटस्थ वृत्ति और निर्भयता दिखलाई है, वैसी ही तटस्थवृत्ति और निर्भयता स्वपरम्परा के प्रति भी कई मुद्दों को उपस्थित करने में दिखलाई है।

प्राकृत भाषा में लिखित **योगविंशिका** और **योगशतक** मुख्य रूप से जैन परम्परा की आचार-विचार प्रणालिका का अवलम्बन लेकर लिखे

---

१. एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि।
कपिलोक्त तत्त्वश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥ शास्त्रावार्ता समु० श्लोक २३७

२. न चैतदपि न न्याय्यं यतो बुद्धो महामुनेः।
सुवैद्यवद्विनाकार्यं द्रव्यासत्यं न भाषते ॥ वही, श्लोक ४६६

गए हैं, परन्तु ऐसा लगता है कि इन कृतियों के द्वारा जैन परम्परा के रूढ़ मानस को विशेष उदार बनाने का उनका आशय रहा होगा। इसी से उन्होंने जैन परम्परा में प्रचलित रूढ़ियों को यह भी सुना दिया है कि बहुजन सम्मत होना सच्चे धर्म का लक्षण नहीं है बल्कि सच्चा धर्म तो किसी एक मनुष्य की विवेकदृष्टि में होता है। ऐसा कहकर उन्होंने लोक संज्ञा अथवा **महाजनो येन गतः स पन्थः** का प्रतिवाद किया है।[1] उनकी यह आध्यात्मिक निर्भयता स्वपरम्परा को नई देन है।

निवृत्ति की दिशा में विशेष रूप से उन्मुख समाज में बहुत बार ऐसे आवश्यक धर्म की उपेक्षा होने लगती है। हरिभद्रसूरि ने शायद यह बात तत्कालीन समाज में देखी और उन्हें लगा कि आध्यात्मिक माने जाने वाले निवृत्तिपरक लोकोत्तर धर्म के नाम पर लौकिक धर्मों का उच्छेद कभी वाञ्छनीय नहीं है। इसी कारण उन्होंने देव, गुरु व अतिथि आदि की पूजा सत्कार के साथ दीन जनों को दान देने का भी विधान किया है।[2]

जैन परम्परा का धार्मिक आचार अहिंसा की नींव पर आधारित है परन्तु हिंसा-विरमण आदि पद अधिकांशतः निवृत्ति के सूचक होने से उनका भावात्मक पहलु उपेक्षित रहा है। हरिभद्रसूरि ने देखा कि हिंसा, असत्य निवृत्ति आदि अणुव्रत केवल निवृत्ति से ही पूर्ण नहीं होते किन्तु उनका एक प्रवर्तक पक्ष भी है। इससे उन्होंने जैन परम्परा में प्रचलित अहिंसा, अपरिग्रह जैसे व्रतों की भावना को पूर्ण रूप से व्यक्त करने के लिए मैत्री, करुणा, माध्यस्थ और उपेक्षा इन चार भावनाओं को **योगशतक** में गूंथकर[3] निवृत्ति धर्म का परस्पर उपकार करने वाला आध्यात्मिक रसायन तो तैयार किया ही साथ में जैनधर्म में नवीनता

---

१. मूत्तूण लोगसन्नं उडढूण य साहूसमयसम्भावं।
सम्मं पयट्टियव्वं बुहेण मइनिउणबुद्धीए॥ योगविंशि० गा० १६

२. पढमस्स लोगधम्मे परपीडा वज्जणाइ ओहणं।
गुरुदेवातिथिपूयाई दीणदाणाइ अहिगिच्च॥ योगशतक, गा० २५

३. दे० वही, गाथा ७८-७९
बौद्ध दर्शन में इन्हीं चार को ब्रह्म विहार अथवा अप्रामाण्य कहा है। जो एक योग्य साधक को परमावश्यक हैं। दे० अप्रमाणानि चत्वारि, मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षा च। अभि० को० भा०, ८, २९, पृ० ४५२

का भी पोषण किया है।

भेदभाव मिटाने में कुशल एवं समन्वयकार हरिभद्र

सामान्यत: बड़े-बड़े और असाधारण विद्वान् भी जब चर्चा में उतरते हैं तब उनमें विजिगीषा तथा स्वपरम्परा को श्रेष्ठ रूप में स्थापित करने की भावना ही मुख्य रहती है, जिससे सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के बीच तथा एक ही सम्प्रदाय का विविध शाखाओं में बहुत बड़ा मानसिक अन्तर पड़ जाता है। वैसे अन्तर के कारण विरोधी पक्ष में ग्रहण करने योग्य उदात्त बातों को भी शायद ही कोई ग्रहण कर सकता हो किन्तु इसके फलस्वरूप परिभाषाओं की शुष्क व्याख्या और शाब्दिक धोखा-धड़ी एवं विकल्प जाल के आवरण में सत्य की सांस घुट जाती है।

विरोधी समझे जाने वाले भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच अन्तर को कम करने का योगीगम्य मार्ग हरिभद्रसूरि ने विकसित किया है। सब कोई एक दूसरे से विचार एवं आचार उन्मुक्त मन से ग्रहण कर सकें, ऐसा द्वार खोल दिया है जो सचमुच ही निराला है। हरिभद्रसूरि ने अपने **योगबिन्दु** ग्रंथ में मध्यस्थ योगज्ञ को लक्ष्य करके कहा कि **योगबिन्दु** सभी योग शास्त्रों का अविरोधी अथवा विसंवाद रहित स्थापन करने वाला एक प्रकरण ग्रंथ है।[1]

श्री अरविन्द ने 'शब्दब्रह्माऽतिवर्तते' की जो बात कही है[2] उसी को बहुत पहले ही हरिभद्रसूरि ने 'सामर्थ्य योग' शब्द से सूचित किया है।[3]

हरिभद्रसूरि स्वभाव से ही समन्वयवादी थे। इसी से वे मिथ्याभिनिवेश या कुतर्कवाद का भी पुरस्कार नहीं करते और **योगदृष्टिसमुच्चय** में कुतंक, विवाद और मिथ्याभिनिवेश के ऊपर जो मार्मिक चर्चा की

---

१. सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वत: ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विद: प्रति ।। योगबिन्दु, श्लोक २

२. (अरविन्द) सिंथेसिस आफ योग, अ० ४

३. शास्त्रसन्दर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचर: ।
शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तम: ।। योगदृष्टिसमु०, श्लोक ५

है[1] वह भारतीय योगपरक ग्रंथों में शायद ही उपलब्ध हो।

हरिभद्रसूरि ने पंथ-पंथ और परम्परा-परम्परा के बीच होने वाले सर्वज्ञ विषयक विवाद को दूर करने का सरल और बुद्धिगम्य मार्ग बतलाया है। हरिभद्रसूरि कहते हैं कि सर्वज्ञत्व के विषय में चर्चा करने वाले हम तो हैं—अवाग्दर्शी या चर्मचक्षु, तब फिर अतीन्द्रिय सर्वज्ञत्व का विशेष स्वरूप हम कैसे जान सकते हैं।[2] अतः उसका सामान्य स्वरूप ही जानकर हम योगमार्ग में आगे बढ़ सकते हैं।

यहां यह प्रश्न उठता है कि ऐसा मान लेने पर तो सुगत, कपिल अर्हत् आदि सभी सर्वज्ञ हैं फिर उनमें यह पन्थ और उपदेश भेद क्यों हैं। इसका हरिभद्रसूरि ने तीन प्रकार से समाधान किया है—

(क) उनके मतानुसार भिन्न-भिन्न सर्वज्ञ के रूप में माने जाने वाले महान् पुरुषों का जो भिन्न-भिन्न उपदेश हैं, वह शिष्य अथवा अधिकारी भेद के कारण है[3]।

(ख) दूसरा यह कि वैसे तो महापुरुषों के उपदेशों का तात्त्विक दृष्टि से एक हा तात्पर्य होता है, परन्तु श्रोताजन अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करते हैं। फलतः देशना एक होने पर भी ग्रहण कर्त्ता की अपेक्षा से वह अनेक जैसी लगती है।[4]

---

१. न तत्त्वतो भिन्नमताः सर्वज्ञा बहवो यतः।
मोहस्तदधिमुक्तीनां तद्भेदाश्रयणं ततः। योगदृष्टिसमु०, श्लोक १०२

२. तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाग्दृशां सताम्।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकरः परः॥
निशानाथप्रतिक्षेपो तथाऽन्धानामसंगतः।
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवार्वाग्दृशामयम्॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक १३९-१४०

३. इष्टपूर्तानि कर्माणि लोके चित्राभिसन्धितः।
नानाफलानि सर्वाणि द्रष्टव्यानि विचक्षणैः॥
चित्रा तु देशनैतेषां स्याद्विनेयानुगुण्यतः।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः॥ वही, ११५ और १३४

४. दे० योगदृष्टि समु०, श्लोक १३६

(ग) तीसरा यह कि देश-काल अवस्था आदि परिस्थिति भेद को लेकर महापुरुष भिन्न-भिन्न दृष्टियों से अथवा अपेक्षा विशेष से भिन्न-भिन्न उपदेश देते हैं किन्तु मूल में वह एक ही होता है।[1] यही हरिभद्रसूरि की समन्वयवृत्ति है।

विश्वसर्जन के कारण के रूप में 'क्या मानना' इस विषय में अनेक प्रवाद पुरातन काल से प्रचलित हैं। काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत-चैतन्य और पुरुष (ब्रह्म) आदि तत्त्वों में से कोई एक को, तो कोई दूसरे को कारण मानता है। ये प्रवाद **श्वेताश्वतर उपनिषद** में तो निर्दिष्ट हैं ही[2] किन्तु साथ ही **महाभारत**[3] आदि में भी इनका निर्देश है। सिद्धसेन दिवाकर ने इन प्रवादों का समन्वय करके सबकी गणना सामग्री के रूप में कारण कोटि में की है[4] परन्तु ये सभी चर्चाएं सृष्टि के कार्य को लक्ष्य में रखकर हुई हैं जिन्हें हरिभद्रसूरि ने **योगबिन्दु** में स्थान तो दिया है और वह भी साधना की दृष्टि से ही। उन्होंने अन्त में सामग्री कारणवाद को स्वीकार करके कहा है कि ये सभी वाद एकान्तिक हैं, परन्तु साधना की फल सिद्धि में काल, स्वभाव, नियति, दैव, पुरुषार्थ आदि सभी तत्त्वों की अपेक्षा विशेष से अपना स्थान है।[5] इस तरह उन्होंने इन सभी आपेक्षिक दृष्टियों का विस्तार से स्पष्टीकरण किया है।

दार्शनिक परम्परा में विश्व के स्रष्टा, संहर्ता के रूप में ईश्वर की चर्चा आती है, कोई वैसे ईश्वर को कर्म निरपेक्ष कर्त्ता मानता है, तो कोई दूसरा कर्मसापेक्ष कर्त्ता मानता है।[6] कोई ऐसा भी दर्शन है जो

---

१. वही, श्लोक १३८
२. श्वेताश्वतर उपनिषद्, १.२
३. दे० महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २५, २८, ३२, ३३ एवं ३५
तथा मिला०-गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ० ११३-११७
४. दे० सन्मतितर्क-काण्ड ३, गा० ५३ और टीका के टिप्पण आदि
५. दे० शास्त्रवा० समु०, श्लोक १६४-६२, तथा योगबिन्दु, श्लोक १६७,२७५
६. ननुमहदेतदिन्द्रजालं यन्निरपेक्षः कारणमिति तथात्वेकर्मवैफल्यं सर्वकार्याणां समसमयसमुत्पादश्चेति दोषद्वयं प्रादुष्यात्। मैवमन्येथाः। सर्वदर्शनसंग्रह (नकुलीशपाशुपतदर्शन) पृ० ६५
तमिमं परमेश्वरः कर्मादिनिरपेक्षः. कारणमिति पक्षं वैषम्यनैर्घृण्यदोषदूषितत्वात् प्रतिक्षिपन्तः केचन् माहेश्वराः शैवागमसिद्धान्तत्वं यथावदीक्षमाणाः कर्मादिसापेक्षः परमेश्वरः कारणमिति पक्षं कक्षीकुर्वाणः पक्षान्तरमुपक्षिपन्ति। वही, (शैवदर्शन), पृ० ६६

स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में ईश्वर को मानता ही नहीं।[1]

योग परम्परा में जब ईश्वर का विचार उपस्थित होता है तो वह सृष्टि के कर्त्ता-धर्त्ता के रूप में नहीं, बल्कि साधना में अनुग्राहक के रूप में आता है। कई साधक ऐसी अनन्यभक्ति से साधना करने के लिए प्रेरित होते हैं जिससे स्वतन्त्र ईश्वर का अनुग्रह ही उनकी भक्ति में कारण दृष्टिगोचर है। इस बात को लेकर हरिभद्रसूरि ने अपना दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए कहा है कि महेश का अनुग्रह मानें तो भी साधक पात्र में अनुग्रह प्राप्त करने की योग्यता माननी ही पड़ेगी। वैसी योग्यता के बिना महेश का अनुग्रह भी फलप्रद नहीं हो सकता।[2] इससे सिद्ध होता है कि पात्र योग्यता मुख्य है। जब साधक में योग्यता आती है तभी वह अनुग्रह का अधिकारी भी बनता है।

इसके अभाव में ईश्वर के अनुग्रह को मानने पर या तो सभी को अनुग्रह का पात्र मानना पड़ेगा, या फिर किसी को भी नहीं। अब योग्यता को आधार मानने पर प्रश्न होता है कि ईश्वर कोई अनादि मुक्त, स्वतन्त्र व्यक्ति है या स्वप्रयत्न बल से परिपूर्ण हुआ कोई अनादि व्यक्ति विशेष? हरिभद्रसूरि कहते हैं कि अनादि मुक्त ऐसे कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि तर्क से होना सम्भव नहीं है[3] फिर भी प्रयत्न सिद्ध आत्मा को परमात्मा मानने में किसी आध्यात्मिक को आपत्ति नहीं हो सकती। अतः प्रयत्न सिद्ध वीतराग की अनन्यभक्ति द्वारा जो गुणविकास किया जाता है, उसे कोई ईश्वर का अनुग्रह माने तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं है।[4]

आचार्य हरिभद्रसूरि ने गुरुओं एवं देवों के प्रति भक्तिभावना के अतिरिक्त दूसरे एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्त्तव्य के प्रति भी उद्बोधन

---

१. दे० भारतीय तत्त्वविद्या, पृ० १०९-१११

२. विशेषं चास्य मन्यन्ते ईश्वरानुग्रहादिति।
प्रधानपरिणामात् तु तथाऽन्ये तत्त्ववादिनः ॥ योगबिन्दु, श्लोक २९५

३. अनादिशुद्ध इत्यादिर्यश्च भेदोऽस्य कल्प्यते।
तत्तत्तन्त्रानुसारेण मन्ये सोऽपि निरर्थकः ॥ योगबिन्दु, श्लोक ३०३

४. गुणप्रकर्षरूपो यत् सर्वैर्वन्द्यस्तथेष्यते।
देवतातिशयः कश्चित्स्तवादेः फलदस्तथा ॥ वही, श्लोक २९८

किया है। वह है रोगी, अनाथ अथवा निर्धन आदि निस्सहाय वर्ग की सहायता करना, परन्तु वह सहायता ऐसी नहीं होनी चाहिए कि जिससे अपने आश्रित जनों की उपेक्षा होने लगे।[1]

आध्यात्मिक अथवा लोकोत्तर धर्म के साथ ऐसे अनेकविध लौकिक कर्त्तव्यों को संकलित करके हरिभद्रसूरि ने जैन परम्परानुसार वर्णित प्रवर्त्तक धर्म का महत्त्व जिस विशुद्धता और युक्ति युक्त ढंग से प्रस्तुत किया है वह निवृत्ति प्रधान जैन परम्परा में टूटती कड़ी का सन्धान करती है।

इसके अतिरिक्त हरिभद्रसूरि के ग्रंथों में वर्णित अध्यात्म प्रवाह, लोकमंगल की सतत कामना, धर्म श्रद्धा का परिवर्धन, कुशल उपदेशात्मकता आदि अनेक विशेषताएं उनके व्यक्तित्व की परिचायक हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि के व्यक्तित्व में जहां अनेक विशेषताएं हैं, वहां मानव सुलभ कुछ दुर्बलताएं भी हैं जो उनके ग्रंथों में देखी जा सकती हैं जैसे धूर्ताख्यान में व्यंग्य प्रकिया।

यह सत्य है कि सभी सम्प्रदाय के पुराणों में कुछ-कुछ अद्भुत और आश्चर्य जनक बातें पायी जाती हैं। मनुष्य का यह स्वभाव है कि उसे अपने सम्प्रदाय की बातें तो अच्छी लगती हैं और दूसरे सम्प्रदाय की बाते खटकती हैं। हरिभद्रसूरि इस दुर्बलता से कहां तक बच सके हैं यह तो विद्वान् ही समझ सकते हैं।

उन्होंने इन्हीं मानवीय प्रवृत्ति के कारण वैदिक पुराणों की असंगत अस्वाभाविक मान्यताओं पर बड़ा ही तीक्ष्ण प्रहार कर उनके निराकरण करने का प्रयास किया है जो कहां तक औचित्य रखता है। इसका निर्णय विद्वान् पाठक स्वयं करेंगे।

(घ) हरिभद्रसूरि का कृतित्व

जैन योगी, प्रख्यात तार्किक, विचक्षण प्रतिभा के जाने-माने विद्वान् आचार्य हरिभद्रसूरि एक ऐसे सांध्यकाल में आविर्भूत हुए थे जबकि

---

१. चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः।
नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धिः स्याद् विशेषणादिकर्मणाम् ॥ वही; श्लोक ११९

मध्यममार्गी बौद्धों का प्रभाव दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा था। मात्र जैनदर्शन की ही नहीं बल्कि अन्य बौद्धेतर भारतीय सभी दर्शनों के अस्तित्व को भो भय उत्पन्न हो गया था। भारत में चारों ओर भारतीय वाङ्मय के एक से एक मर्मज्ञ विद्वानों का जन्म इसी युग में ही हुआ, फिर भी इस शास्त्रार्थ प्रधान युग में वही टिक पाता था, राजदरबार में उसी का बोल-बाला होता था, जो अपने अकाट्य तर्कों एवं प्रबल प्रमाणों से एक दूसरे के मतों एवं सिद्धान्तों का खण्डन कर देता था।

विद्वानों को राजप्रश्रय भी दिया जाता था किन्तु कुछ ऐसे स्वाभिमानी विद्वान् भो थे, जो राजप्रश्रय से परे होते हुए भी राजगुरु पद से विभूषित थे। आचार्य हरिभदसूरि अपने कार्य में ही मस्त रहने वाले आचार्य थे। उनका एक मात्र लक्ष्य जैन धर्म-दर्शन की प्रभावना करना था। वे कभी भी इससे पीछे नही हटे। जब भी आगे बढ़े तो झंझावात की तरह और जब भी कहीं रुके तो वहीं चट्टान की तरह निर्भय अडिग खडे रहे। आप जैसे आचार्यों के आविर्भाव के कारण ही आदिकाल से आज तक जैन धर्म-दर्शन जीवन्त बना हुआ है।

सूरि ने अपने गौरवशाली एवं सीमित जीवनकाल में जैन धर्म की ध्वजा फहराते हुए अनेक महनीय कार्य किए, विशेष कर उन्होंने भारतीय वाङ्मय को जो कुछ भी दिया है, वह हैं उनकी अमर रचनाएं। यहां हम उक्त कृतियों का वर्गीकरण करते हुए संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

वाङ्मय को चाहे वह न्याय दर्शन की विधा ही क्यों न हो अथवा साहित्य याकि काव्य-शास्त्र अथवा ज्योतिष-शास्त्र उनकी निर्द्वन्द्व लेखनी बेधड़क योग, स्तुति, कथा आदि उस समय में प्रचलित समस्त साहित्यिक विधाओं पर चलती गयी। यहां तक कि जैन आचार-दर्शन प्रधान आगम ग्रंथों पर कहीं टीकाएं, तो कहीं भाष्य लिखने से भी वे नहीं चूकें। पण्डित प्रवर सुखलाल संघवी के मतानुसार उनके द्वारा कृत वर्गीकरण को किञ्चित् परिवर्तन के साथ यहां ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर रहा हूं—

(क) दार्शनिक ग्रन्थ

(१) अनेकान्त जयपताका (स्वोपज्ञ टीका सहित)

(२) अनेकान्तवाद प्रवेश
(३) द्विजवदनचपेटा
(४) धर्मसंग्रहणी (प्राकृत)
(५) लोकतत्त्वनिर्णय
(६) शास्त्रवार्तासमुच्चय (स्वोपज्ञ टीका सहित)
(७) षड्दर्शनसमुच्चय
(८) सर्वज्ञसिद्धि (स्वोपज्ञ टीका सहित)
(९) दरिसणसत्तरि (प्राकृत)
(१०) चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी स्वतन्त्र रचनाएं आपने लिखी हैं जो आज अनुपलब्ध हैं किन्तु उनका सन्दर्भ मिलता है। वे हैं—

(१) अनेकान्तसिद्धि
(२) आत्मसिद्धि
(३) स्याद्वाद कुचोद्यपरिहार

आपने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों की दर्शन परक कृतियों पर वृत्ति अथवा टीकाएं भी लिखी हैं। इनमें दो ही ग्रंथ विशेष मिलते हैं। वे हैं—

(१) न्यायावतारवृत्ति
(२) न्यायप्रवेशटीका

(ख) **कथा साहित्य**

इसमें आचार्य द्वारा लिखी हुई दो ही रचनाएं मिलती हैं वे हैं—

(१) समराइच्चकहा और
(२) धूर्ताख्यान

ये दोनों ही रचनाएं प्राकृत भाषा में लिखीं गई हैं।

(ग) **योग साहित्य**

आचार्य ने योग परक विपुल साहित्य लिखा है। इनमें—

(१) योगबिन्दु

(२) योगदृष्टिसमुच्चय (स्वोपज्ञ टीका युक्त)
(३) योगशतक (प्राकृत)
(४) योगविंशिका (प्राकृत)
(५) षोडषप्रकरण (प्राकृत) आदि ग्रंथ विशेष हैं।

(घ) ज्योतिष परक रचनाएं

(१) लग्न शुद्धि
(२) लग्न कुण्डलिया (प्राकृत)

(ङ) स्तुति साहित्य

(१) वीरस्तव
(२) संसारदावानल स्तुति[1]

(च) आगमिक प्रकरण आचार एवं उपदेशात्मक रचनाएं[2]

(१) अष्टकप्रकरण
(२) उपदेशपद (प्राकृत)
(३) धर्मबिन्दु
(४) पंचवस्तु (स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित) प्राकृत
(५) पंचाशक (प्राकृत)
(६) बीसविंशिकाएं (प्राकृत)
(७) श्रावकधर्मविधिप्रकरण (प्राकृत)
(८) सम्बोधप्रकरण (प्राकृत)
(९) हिंसाष्टक (स्वोपज्ञ अवचूरि सहित)

इसके अतिरिक्त आचार्यवर ने व्याख्या एवं वृत्ति ग्रंथ भी लिखे हैं, वे तीन हैं—

(१) पंचसुत्त व्याख्या
(२) लघुक्षेत्रसमास या जम्बुक्षेत्रसमासवृत्ति
(३) श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति

---

१. दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ० १०६
२. वही, पृ० १०८

कुछ ऐसी भी रचनाएं या वृत्तिग्रंथ हैं जो आज अप्राप्त हैं, इसमें हैं—

(१) भावनासिद्धि (स्वतन्त्र रचना)
(२) वर्गकेवलिसूत्रवृत्ति

आगम टीकाएं अथवा वृत्तियां

(१) टीका ग्रंथ—(क) दशवैकालिकटीका
(ख) नन्द्यध्ययनटीका

(२) वृत्ति-विवृत्ति ग्रंथ—(ग) अनुयोगद्वारविवृत्ति
(घ) आवश्यकसूत्रवृत्ति
(ङ) चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति अथवा ललित विस्तार
(च) जीवाभिगमसूत्रलघुवृत्ति

व्याख्या प्रधान ग्रन्थ

(१) प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या

इसके साथ ही आचार्यश्री के कुछ टीका-वृत्ति ग्रंथ प्राप्त भी नहीं होते, इनमें हैं—

(१) आवश्यकसूत्रबृहट्टीका
(२) पिण्डनियुक्तिवृत्ति

आचार्य हरिभदसूरि के नाम से उपलब्ध कतिपय अन्य ग्रंथ भी हैं जिनकी संख्या २६ है—[1]

(१) अनेकान्तप्रघट्ट
(२) अर्हच्चूडामणि
(३) कथाकोश
(४) कर्मस्तववृत्ति
(५) चैत्यवन्दनभाष्य
(६) ज्ञानपंचक विवरण
(१४) पंच नियंठी
(१५) पंच लिंगी
(१६) बृहन्मिथ्यात्व मंथन
(१७) प्रतिष्ठाकल्प
(१८) वोटिकप्रतिबोध
(१९) यतिदिनकृत्य

१. परिशिष्ट, पृ० १०६

(७) दर्शसनप्ततिका
(८) धर्मलाभसिद्धि
(९) धर्मसार
(१०) नाणापंचगवक्खाण
(११) ज्ञानचित्तप्रकरण
(१२) न्यायविनिश्चय
(१३) परलोकसिद्धि
(२०) यशोधरचरित्र
(२१) वीरांगदकथा
(२२) संग्रहणीवृत्ति
(२३) सपचासत्तरि
(२४) संस्कृत आत्मानुशासन
(२५) व्यवहारकल्प
(२६) वेदबाह्यता निराकरण

इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे ग्रंथों एवं टीका ग्रंथों का उल्लेख डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपनी रचना **हरिभद्रसूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन** में किया है जिनका रचना हरिभद्रसूरि द्वारा की गई है। इन ग्रंथों में निम्नलिखित विशेष हैं—

(१) तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति (अपूर्ण)
(२) ध्यानशतक (जिनभद्र गणि रचित टीका सहित)
(३) भावार्थमात्र वेदिनी
(४) श्रावकधर्मतन्त्र
(५) ओघनिर्युक्ति
(६) जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति
(७) जम्बुद्वीपसंग्गहणी
(८) उपएसपगरण
(९) देवेन्द्र नरेन्द्रप्रकरण
(१०) क्षेत्रसमासवृत्ति
(११) जम्बूद्वीपवृत्ति
(१२) श्रावकप्रज्ञप्तिसूत्रवृत्ति
(१३) तत्त्वतरंगिनी
(१४) दिनशुद्धि
(१५) मुनिपतिचरित्र
(१६) संकितपच्चीसी
(१७) संबोधसत्तरी
(१८) सासयजिनकित्तण
(१९) लोकबिन्दु
(२०) वार्टिकप्रतिषेध इत्यादि[1]

संघर्षशील आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा केवल उपर्युक्त ग्रंथ ही लिखे अथवा रचे गए हों, सो ऐसी भी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त भी कुछ आचार्यों के मत में अपनी प्रतिज्ञा अनुसार हरिभद्रसूरि ने १४००, १४४० या १४४४ ग्रंथों की रचना की थी[2] जबकि कुछ आधुनिक विद्वान् आचार्यश्री द्वारा लिखित कृतियों की संख्या १८५ और ७५ तक

---

१. दे० हरिभद्रसूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ५३

२. दे० वही, पृ० ५० तथा शास्त्रवार्ता समु०, भूमिका

मानते हैं।[1] जो कुछ भी हो निस्सन्देह अतिशयोक्ति को परे कर आचार्य हरिभद्र ने जैसे कि उपर्युक्त तालिका भी कहती है, ७५ग्रन्थरत्नों की तो अवश्य ही रचना की होगी। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री आचार्यश्री के ज्ञान पुञ्जतेज के फलस्वरूप उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या कम से कम १०० मानते हैं।[2] जो यथोचित जान पड़ती है।

जैसे उषाकाल में उदित लालिमायुक्त सूर्य, दोपहर में अपने उत्तम प्रतापमयी यौवन से देदीप्यमान होता है और अन्त में ढलते हुए सांध्यकाल में पुनः वह प्रशान्त लालिमामय दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही ललित लालिमामयी बाल्यकाल से युक्त, यौवन में ज्ञान गरिमा से गौरवान्वित और अपने पश्चिम जीवन में शिष्यों के वियोग से हताश किन्तु अपने गुरुवर्य की आज्ञारूपी आशा को किरण से अध्यात्म प्रशान्त चित्तधारी आचार्य हरिभद्रसूरि की साधनामयी चारित्रिक झलक ही नहीं बल्कि आचार प्रधान जैनधर्म की प्रभावना का चरमोत्कर्ष क्या दर्शन, क्या योग, क्या काव्य अथवा कथा साहित्य उनकी समस्त रचानाओं में यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

जहां एक ओर वे जैनदर्शन के कृष्ण पक्ष में कुछ देर से उदित चन्द्रवत उदीयमान नक्षत्र हैं तो दूसरी ओर वहीं उसी पक्ष की शरद-कालीन लम्बी रात्रि की समाप्ति के साथ ही अस्त होने वाले दिनकर के प्रकाश में भी चमचमाते हुए उसी चन्द्र की तरह अपने लम्बे आयुष्य के काल में अधिकतम साहित्य की अनोखी देनरूपी यशः-कीर्ति से आज भी देदीप्यमान हैं।

यहां अब हम उनकी तपःपूत चिन्तन एवं साधनामयी प्रमुख कृतियों का विवरण के साथ उनकी विषय वस्तु एवं लेखन शैली और उनका प्राप्ताप्राप्त भाष्य तथा टीका आदि का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

(क) आचार्य हरिभद्र की दार्शनिक स्वतन्त्र रचनाएं

(१) अनेकान्तजयपताका

यह हरिभद्रसूरि की प्रसिद्ध दार्शनिक कृति है जिसका सर्वप्रथम

---

१. (हीरालाल) हरिभद्रसूरि (विषय सूची), पृ० १६-२२
२. दे० हरि प्रा० कथा सा० आ० परि०, पृ० ५०

उल्लेख **गुर्वावली** में मिलता है ।[1] इस ग्रन्थ का आधार सूरि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की कृति **सन्मति तर्क** या **सन्मति प्रकरण** के तीसरे और छठे काण्ड को बनाया है ।

जैसा कि ग्रंथ के शीर्षक से यह बिल्कुल ही स्पष्ट है कि आचार्य ने इस रचना में जैनदर्शन की आधारशिलाभूत सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' को विषय वस्तु के रूप में ग्रहण किया है । ग्रंथ के पारायण करने से यह भी ज्ञात होता है कि यह रचना विशेष आचार्य के जीवन को प्रौढावस्था में लिखी गयी थी ।

ग्रंथ की शैली एवं भाषा तत्कालोन प्रचलित परिस्थितियों के अनुरूप सरस, सरल एवं सुबोध्य संस्कृत है । प्रस्तुत ग्रंथ में छः अधिकार हैं, जिनमें क्रमशः सदसदरूपवस्तु - नित्यानित्यवस्तु-सामान्य-विशेषवाद, अभिलाख्यानभिलाख्य, योगाचारमतवाद, एवं मुक्तिवाद आदि विषयों पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है ।

इन विषयों के आधार पर यह कहना गलत न होगा कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने उक्त ग्रंथ में बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों को तर्क की कसौटी पर कसकर जैनदर्शन की दृष्टि से उनका सम्यक् खण्डन एवं प्रतिपादन के फलस्वरूप लिखा है । स्वयं आचार्य ने इस पर व्याख्या भी लिखी है । उदाहरणों का बहुल प्रयोग मिलता है । यह ८२५०२ श्लोक प्रमाण है ।

आचार्यश्री ने बाद में इस पर **अनेकान्तजय पताकोद्योतदीपिका** नामक टीका भी लिखी है, जिस पर बाद के आचार्य मुनिचन्द्र सूरि ने 'वृत्ति टिप्पण' लिखा है । यह हरिभद्रसूरि की बहुत ही प्रसिद्ध कृति है ।[2]

(२) अनेकान्तवादप्रवेश

यह कृति संस्कृत भाषा में निबद्ध गद्यात्मक शैली में लिखी गई है । इसमें ६२०२ गाथाएं हैं । इसकी रचना का एक मात्र उद्देश्य जैनधर्म के

---

१. हरिभद्रसूरि रचिता श्रीमदनेकान्तजयपताकाख्याः ।
ग्रन्थनगाविबुधानामप्यधुना दुर्गमा येऽत्र ॥ गुर्विली, ६८

२. यह कृति टीका साहित्य वृत्ति टिप्पण के साथ सन् १६५० और १६५७ में दो खण्डों में गायकवाड पौर्वात्य ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुई है ।

आधारभूत सिद्धान्त अनेकान्तवाद को और अधिक सरल तथा स्पष्ट करना है। इसे अनेकान्त जयपताका की 'स्वोपज्ञवृत्ति भी कहा जा सकता है'[1] फिर भी यह अपने में परिपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में जिन विषयों पर चर्चा की गई है—वे हैं—(१) सदसदवाद, (२) नित्यानित्यवाद, (३) सामान्यविशेषवाद, (४) अभिलाप्यानभिलाप्यवाद और (५) मोक्षवाद।

(३) अनेकान्तसिद्धि

संस्कृत भाषा में निबद्ध यह अनेकान्तसिद्धि नामक कृति अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख मात्र **अनेकान्तजयपताका** की व्याख्या में उपलब्ध होता है। इसकी विषय वस्तु इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है।

(४) द्विजवदनचपेटा[2]

विवादास्पद इस कृति का शीर्षक ही बड़ा रोचक है। इसका अर्थ है—'ब्राह्मण के मुख पर तमाचा'। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत ग्रंथ में वैदिक ब्राह्मणीय कर्मकाण्ड में आगत बाह्याडम्बर पर तेज प्रहार किया गया है। इसी कारण इसका अपरनाम 'वेदांकुश' भी मिलता है।[3]

कतिपय विद्वानों का मत है कि इस ग्रंथ की रचना हेमचन्द्रसूरि ने की थी जबकि कुछ विद्वान् इसे धर्मकीर्ति द्वारा लिखी हुई बतलाते हैं।[4] परन्तु डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के मत में इसके रचयिता हरिभद्रसूरि ही हैं।[5]

(५) धर्मसंग्रहणी[6]

प्रस्तुत कृति प्राकृत भाषा में बनाये गए १६३६ श्लोकों का संग्रह है। द्रव्यानुयोग से सम्बन्धित है। शैली तर्क प्रधान है। प्रारम्भिक

---

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० ६६
२. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ परि०, पृ० ५३
३. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० ६६
४. दे० वही
५. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ५३
६. दे० हरिप्रा० क० सा०, आ० परि०, पृ० ५३

२० गाथाओं में धर्म का स्वरूप है। जीव विषय चार्वाक दर्शन का खण्डन कर इसमें जैन दृष्टि से जीव के स्वरूप का सम्यक् विवेचन किया गया है। छः निक्षेपों का वर्णन, ज्ञान के भेद, सम्यक्त्व के अष्ट-अंग विवेचन, पंच महाव्रत, सर्वज्ञोपलब्धि और मुक्ति में सुख इत्यादि इसके प्रतिपाद्य विषय हैं। इसके अतिरिक्त इस विशिष्ट ग्रंथ में प्रसंगवश अनेकान्तदृष्टि से, कर्तृत्ववाद, नित्यानित्यवाद, क्षणिकवाद, अज्ञानवाद, सामान्य एवं समवाय तथा बाह्यार्थवाद का खण्डन भी किया गया है।

इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें अनेक लेखकों के नाम दिए गए हैं। इसी कारण यह कृति महत्वपूर्ण होते हुए भी इसका लेखक अन्य कोई अज्ञात कवि ही माना जाता है[1] जबकि डा० शास्त्री जी इसे हरिभद्रसूरि की ही रचना मानते हैं।[2]

(७) लोकतत्वनिर्णय

प्रस्तुत कृति पद्यात्मक है। इसकी भाषा संस्कृत है। इसमें कुल १४४ श्लोक हैं। इसका अपर नाम **नृतत्वनिर्णय** भी मिलता है। सन् १६०५ में इसका सर्वप्रथम सम्पादन एवं प्रकाशन किया गया था। इस पर गुजराती एवं इटालियन अनुवाद भी मिलता है।[3] **षड्दर्शन समुच्चय** की टीका 'तर्क रहस्य' में इसके दो श्लोक उद्धृत मिलते हैं।[4] इसमें यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि उपर्युक्त कृति १५वीं शदी में विद्वानों में प्रचुर प्रशंसा की पात्र बन चुकी थी।

१६२१ में प्रकाशित 'लोकतत्व निर्णय' के संस्करण को तीन भागों में बांटा गया है। इसके प्रारम्भ में जैनेतर देवों के नामों के साथ सृष्टि के स्वरूप एवं उसकी उत्पत्ति पर प्राप्त विविध मतमतान्तर पर चर्चा की गई है। अन्य भागों में आत्मा एवं कर्म, नियतिवाद एवं स्वभाववाद पर भी क्रमशः जैन एवं वैदिक धर्मानुसार खण्डन मण्डन के साथ विस्तार से वर्णन किया गया है।

---

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० ६६
२. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ५३
३. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० ११३ एवं हरि० प्रा० का० सा० आ० आ० परि०, पृ० ५६
४. दे० षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ११ पर उद्धृत श्लोक १-३२, ३८

(७) **षड्दर्शनसमुच्चय**

हरिभद्रसूरि की इस दार्शनिक कृति में क्रमशः बौद्ध, नैयायिक, सांख्य वैशेषिक एवं जैमिनीय (मीमांसा दर्शन) तथा जैन एवं चार्वाक दर्शन का प्रारम्भ में विशिष्ट परिचय के साथ उनके मुख्य-मुख्य तत्वों को लेकर जैन दृष्टि से खण्डन-मण्डन किया गया है।

इस पर सुयोग्य विद्वान् आचार्य गुणरत्न ने 'तर्क रहस्य टीका' लिखी है जिसमें गृहीत समस्त दर्शन के तत्वों को और अधिक स्पष्ट रूप से समझाया गया है। इसी कारण आज भी **षड्दर्शन समुच्चय** दर्शन के छात्रों में अधिक लोकप्रिय है और बड़ी रुचि के साथ अध्ययन की जाती है।

इस पर दूसरी टीका सोमतिलकसूरि की तथा एक अवचूरि भी प्राप्त होती है किन्तु अवचूरि के लेखक का नाम अज्ञात है। वर्तमान में षड्दर्शन समुच्चय पर गुजराती अनुवाद तो मिलता ही है, साथ ही भारतीय ज्ञान पीठ वाराणसी से इसका सटीक हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन भी किया जा चुका है, जिससे इसकी उपयोगिता का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है।

(८) **शास्त्रवार्तासमुच्चय**

हरिभद्रसूरि की दार्शनिक जगत् में यशः ध्वज का दूसरा मेरुदण्ड शास्त्रवार्तासमुच्चय रहा है। संस्कृत भाषा में निबद्ध इस कृति में ७०० श्लोक हैं जिन पर स्वयं आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'दिक्प्रदा' नाम की विस्तृत टीका भी लिखी है। इससे यह ग्रंथ और अधिक सुगम एवं सुवाच्य बन गया है, फिर भी आज के जिज्ञासुओं को यह अगम्य ही प्रतीत होता है। इसी कारण आधुनिक विद्वान् यशोविजय उपाध्याय ने इस पर सरल संस्कृत में ही **स्याद्वाद कल्पलता** नामक एक और अन्य टीका लिखी है। पाठक को 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' समझाने के लिए यह टीका वास्तव में 'कल्पलता' ही है।

शास्त्रवार्तासमुच्चय का विषय भूतचतुष्टयवाद, काल, स्वभाव, नियति एवं कर्मवाद का अन्यान्य दर्शनों के पक्षों का मण्डन और जैन सिद्धान्तानुसार उनकी समीक्षा करना है। न्याय-वैशेषिक सम्मत ईश्वर-

कर्तृत्व, सांख्य सम्मत प्रकृति-पुरुषवाद, बौद्धों के क्षणिकवाद में बाधक स्मरण आदि की अनुपपत्ति दिखाकर बाह्यार्थवाद का निराकरण भी किया गया है और अन्त में स्याद्वाद का स्वरूप मण्डन करते हुए वेदान्तदर्शन के अद्वैतसिद्धान्त का विस्तार से खण्डन किया गया है। इसके साथ ही मोक्ष मार्ग की भी मामांसा दृष्टव्य है। सर्वज्ञत्व, स्त्रीमुक्ति तथा शब्द एवं अर्थ का परस्पर सम्बन्ध आदि पर चर्चा भी प्रस्तुत ग्रंथ का विषय है। वर्तमान में इसका सटीक हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध होता है।

(९) सर्वज्ञसिद्धि

इस रचना में आचार्यश्री ने सर्वज्ञ को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने इसके निरुक्ति परक अर्थ पर प्रकाश डालते हुए सर्वज्ञवादी दर्शनों की मान्यता को पूर्व पक्ष में प्रस्तुत किया है और फिर जैन मतानुसार उनका खण्डन भी किया है। इसमें नामकरण का आधार कुछ विद्वान् बौद्धाचार्यशान्तिरक्षित अथवा रत्नकीर्ति द्वारा रचित 'सर्वज्ञसिद्धि कारिका' और 'सर्वज्ञसिद्धि संक्षेप' को बतलाते हैं[1] जबकि प्रकृत में ऐसा है नहीं, क्योंकि जैनों का समस्त आचार-विचार आगम ग्रंथों में उपलब्ध है जो सर्वज्ञप्रणीत है। इसी कारण जैनदर्शन में सर्वज्ञत्व पर खुलकर विस्तार से चिन्तन एवं मनन किया गया है।

सर्वज्ञसिद्धि गद्य-पद्यात्मक रचना है। इसके अन्त में 'विरह' पद का उल्लेख है। अनेकान्तजयपताका नामक ग्रंथ में इसका दो बार उल्लेख मिलने से विद्वानों का मत है कि यह कृति अनेकान्तजयपताका से पहले ही लिखी जा चुकी थी। जो भी हो किन्तु निस्सन्देह संस्कृत में रचित प्रस्तुत ग्रंथ बड़ा ही उपादेय एवं मननीय है।

(१०) अष्टक प्रकरण

इस ग्रंथ में ऋग्वेद एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण को आधार बनाकर लिखे हुए बत्तीस अष्टक मिलते हैं। यह आचार्यश्री की प्रसिद्ध रचना संस्कृत में निबद्ध है। छठे अष्टक को छोड़कर बाकी प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ पद्य हैं। पद्यों की कुल संख्या २५५ है। इस पर जिनेश्वरसूरि की टीका भी मिलती है। जिसका सारांश गुजराती में १९वीं शदी में बम्बई से

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १७७

छपा है । इसके अतिरिक्त यह रचना १९१८ ई० में यशोविजयगणि कृत टीका 'ज्ञानसार' के साथ भी प्रकाशित हुई है ।[1]

विषय वस्तु की दृष्टि से इसमें महादेव, स्नान, पूजा, अग्निकारिका भिक्षा, प्रत्याख्यान, ज्ञान, वैराग्य, तपवाद, धर्मवाद, एकान्त, नित्यानित्य, एकान्त पक्ष का खण्डन-मण्डन, मांस भक्षण, मद्यपान, मैथुन आदि के दूषणों पर प्रकाश डाला गया है । पाप-पुण्य, भावशुद्धि एवं दान उनका फल, तीर्थकृत देशना, केवलज्ञान और मोक्ष के स्वरूप पर निष्पक्ष प्रकाश डाला गया है । इसमें महाभारत, मनुस्मृति, न्यायावतार आदि से श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं । परवर्ती आचार्यों ने अष्टक के श्लोकों का प्रचुर प्रयोग किया है ।

(११) उपदेशपद

'उपदेशपद' नामक सूरि की रचना आर्या छन्द में निबद्ध प्राकृत भाषामय है । इसमें १०३९ पद्य हैं । इस पर दो टीकाएं भी मिलती हैं उनके नाम हैं—

१. वर्धमानसूरि की वि० सं० १०५३ में लिखित संस्कृतटीका और
२. मुनिचन्द्रसूरि कृत 'सुखसम्बोध' संस्कृतटीका

इसके कुछ भाग का गुजराती अनुवाद भी उपलब्ध होता है । इस पर पार्श्विलगणि की प्रशस्ति और इसके प्रथमादर्श को आम्रदेव ने लिखा है ।

११५३ वि० सं० की इसकी हस्तलिखित प्रति जैसलमेर के भण्डार में आज भी उपलब्ध है ।[2]

(१२) धर्मबिन्दु

संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रस्तुत रचना धर्मबिन्दु का एक अपना पृथक् ही महत्त्व है, वह है, इसका धर्मकीर्ति बौद्धाचार्य के हेतुबिन्दु के आधार पर लिखा जाना ।

---

१. वही, पृ० ७२ तथा पाद टिप्पण
२. विस्तृत अध्ययन के लिए दे० हरिभद्रसूरि, पृ० ८५

यह आठ अध्यायों में विभक्त गद्यात्मक कृति है। इसकी शैली सूत्रात्मक है फिर भी इसमें गाम्भीर्य झलकता है। जैन दृष्टि से धर्म का यथार्थ स्वरूप जैसे—श्रावकव्रत, उनके अतिचार, शिक्षाव्रत, दीक्षा, दीक्षाधिकारी और सिद्धों के स्वरूप का प्रतिपादन करना इसका विषय हैं। दीक्षार्थी के १६ गुणों के प्रतिपादन में संवादात्मकशैली इसमें अनुपम बन पड़ी है।

धर्मबिन्दु पर मुनिचन्द्रसूरि ने ३००० श्लोक प्रमाण विस्तृत संस्कृत टीका लिखी है जो समूल ताड़पत्रों पर प्रकाशित है। इसका समय ११८१ वि० सं० जाना जाता है।[1] इसका इटालियन व गुजराती अनुवाद भी मिलता है।

(१३) पंचवत्युग[2]

पंचवत्थुग यह पद इसको प्राकृत भाषा में रचा गया सिद्ध करता आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस पर स्वयं संस्कृत में टीका लिखी है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन १९२७ में हुआ था। इसमें कुल १७१४ गाथाएं पायी जाती हैं किन्तु टीका के अन्तर्गत ४०४० पद्य मिलते हैं। इस रचना पर सम्भवः बौद्ध ग्रंथ **अंगुत्तरनिकाय** की शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

यह निम्नलिखित पांच भागों में विभक्त हैं—

१. दीक्षा विधि
२. जैन श्रवणदिनचर्या
३. उपस्थान
४. श्रमणों के उपकरण और
५. तपश्चर्या, अनुज्ञा एवं सल्लेखना

इसके अतिरिक्त पंच स्थावर जीव, धर्म के अंग, तप और उसके भेदाभेदों पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य यशोविजय जी द्वारा इसे

---

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १०६
२. वही, पृ० ११८-१२०

आधार बना कर एक नवानतम रचना का निर्माण किया गया है जिसका नाम है—**मार्ग परिशुद्धि**। लगता है कि यह नामकरण यशोविजय ने ५वीं शदी के बौद्धाचार्य बुद्धघोष की कृति **विसुद्धिमग्ग** (विशुद्धिमार्ग) को पढ़ने के बाद उपर्युक्त एवं महत्त्वपूर्ण समझ कर रखा है।

पंचवत्थुग का गुजराती अनुवाद भी आज उपलब्ध होता है।

(१४) **पंचासग**[1]

पद्यात्मक आर्या छन्द में निबद्ध प्रस्तुत कृति को आचार्य ने प्राकृतभाषा में रचा है। इसे १९ भागों में बांटा गया है। १५वें अध्याय में ४४ और अवशिष्ट अध्यायों में ५०-५० श्लोक पाए जाते हैं, जिस कारण लगता है कि इसी को देखकर उपर्युक्त रचना का नाम पंचासग या पचाशक रखा गया जो संस्कृत पंचशतक का प्राकृत रूप है।

इस पर अभयदेवसूरि ने शिष्यहिता नामक टीका लिखी है। जो १९१२ में प्रकाशित हुई। सबसे पहले **पंचासग** पर श्रीवीरगणि के शिष्य के भी शिष्य यशोदेव ने वि० सं० ११७२ में चूर्णि लिखी थी, जिसका उल्लेख **जिनरत्नकोश** में मिलता है। १९५२ में यह उपोद्घात एवं परिशिष्ट के साथ प्रकाशित भी हुई है। इसके अतिरिक्त इस पर अज्ञात टीकाकार की टीका और पृथक्-पृथक् पंचासंगों पर विभिन्न आचार्यों का गुजराती अनुवाद भी मिलता है।

पंचासंगों में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है वह है—श्रावक और साधुओं के विविध विधि-विधान आदि।

(१५) **बीस विंशिकाएं**[2]

बीस अध्यायों वाली आचार्य हरिभद्रसूरि की यह रचना भी प्राकृतभाषा में लिखी गई है। **बीस-विंशिकाएं** इस शीर्षक से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक अध्याय में २०-२० गाथाएं हैं। विद्वानों के अनुसार इसकी १४वीं विंशिका पूरी नहीं मिलती।

---

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १२१-१२६
२. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १४१-१४८

बीस विंशिकाओं का प्रथम सम्पादन १९२७ में हुआ। अनन्तर १९३२ में प्रोफेसर आभ्यंकर ने अंग्रेजी टिप्पण, संस्कृत प्रस्तावना, छाया एवं परिशिष्ट के साथ इसको सम्पादित किया था।[1]

यशोविजयगणि ने इस पर 'विवरण टीका' लिखी है तथा कुछ विंशिकाओं का उल्लेख अपनी रचना **अध्यात्मसार** में भी किया है। इसकी कुछ-कुछ विंशिकाओं पर गुजराती अनुवाद और पं० सुखलाल संघवी का हिन्दी सार तथा आनन्दसागरसूरि का विवरण भी प्राप्त होता है।[2]

आचार्यश्री की इस रचना में कुलनीति, सद्धर्म, दान, पूजाविधि, श्रावक-धर्म, यतिधर्म, शिक्षा, भिक्षा, आलोचना, प्रायश्चित, योगविधान, केवलज्ञान एवं सिद्धसुख आदि विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इन विंशिकाओं का उल्लेख अथवा साम्य अनेक जैन-जैनेतर ग्रंथों में मिलता है। इनमें से कुछ के नाम हैं—योगबिन्दु, पंचाशक, आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, दशवैकालिकानिर्युक्ति और समरादित्यकथा इत्यादि।[3]

इनमें अनेक विंशिकाओं के विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसके साथ ही **श्वेताश्वतर उपनिषद्** और **तैत्तिरीय ब्राह्मण** में कुछ विंशिकाओं का साम्य भी दृष्टिगोचर होता है।

(१६) संसारदावानल[4]

यह आचार्यश्री द्वारा रचित तीर्थंकरों की स्तुतिपरक कृति अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसका अपरनाम **संसारदावास्तुति**[5] भी मिलता है। यह स्तुति ग्रंथ पं० सुखलाल संघवी के अनुसार संस्कृत-प्राकृत में निबद्ध है किन्तु डा० नेमिचन्द्र शास्त्री इसकी भाषा संस्कृत मानते हैं।

इस स्तोत्र का पारायण स्त्रियां अपने प्रतिक्रमण करते समय करती

---

१. दे० वही, पृ० १४१ का पाद टिप्पण
२. दे० वही, पृ० १४७-१४८
३. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ५३
४. वही,
५. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १६४

हैं। शुभतिलकलोले ने इस पर एक नया स्तोत्र रचा है। जो **प्रथम जिनस्तवन** के नाम से प्रकाशित है।[1] ज्ञानविमलसूरि ने इस पर संस्कृत टीका लिखी है।[2] एक अन्य अज्ञात लेखक की टीका का भी उल्लेख मिलता है। हिन्दी, गुजराती अनुवाद भी इसका प्रकाशित हुआ है।[3]

(१७) **श्रावकधर्म**

प्राकृत में इसका **सावगधम्म** हो जाता है। कुछ आचार्यों के अनुसार इसका **श्रावकधर्म** या **श्रावकधर्मतन्त्र** नाम भी है, किन्तु कुछ हस्तलिखित प्रतियों में इसका नाम **श्रावकविधिप्रकरण** दिया गया है।[4] जो भी हो, निस्सन्देह उपर्युक्त रचना में श्रावकों के धर्म पर सम्यक्तया विचार किया गया है। इनमें प्रमुख रूप से सम्यक्त्व, द्वादशव्रत, सल्लेखना आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

संघवी इसकी भाषा प्राकृत मानते हैं जबकि डा० शास्त्री इसे संस्कृत में रचित बतलाते हैं।[5] इसमें १२० पद्य हैं। मानदेवसूरि ने इस पर टीका लिखी है। इस रचना की अपनी एक विशेषता है और वह है इसका अकारादि क्रम में निबद्ध होना। गुजराती अनुवाद एवं संस्कृत छाया के साथ प्रकाशित इस ग्रंथ का नाम **श्रावकविधिप्रकरण** भी है।[6]

(१८) **श्रावकधर्मसमास**[7]

इसका दूसरा नाम **श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति** भी है। इस ग्रंथ में ४०३ पद्य हैं जिनमे श्रावकों के व्रतों, अतिचारों तथा पन्द्रह कर्मादानों का सरल निरूपण किया गया हैं। १९०६ में सर्वप्रथम इसका गुजराती में भाषान्तर किया गया था और वि० सं० १८६१ में केशवलाल प्रेमचन्द

१. वही, पृ० १६५ पर पाद टिप्पण-४
२. वही, पृ० १६६-६७
३. वही, पृ० १७९
४. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ५३
५. हरिभद्रसूरि, पृ० १७९ पर पाद टिप्पण
६. दे० वही, पृ० १८०
७. विस्तृत अध्ययन के लिए दे० वही, पृ० १५३

मोदी ने इसका सम्पादन किया था।

अभयदेवसूरि ने इस ग्रंथ का एक पद्य **पंचासग** की टीका में उद्धृत किया है जिससे इसके लेखन की प्राथमिकता सिद्ध होती है। लावण्य-विजय ने भी अपनी कृति **द्रव्यसप्तति** की (वि० सं० १७४४) स्वोपज्ञ टीका में **श्रावकधर्मसमास** के १४४ पद्यों को उद्धृत किया है।

जेठालाल शास्त्री ने इसका टीका सहित गुजराती में वि. सं० १९४८ में सम्पादन एवं भाषान्तर किया है जो प्रकाशित है। कुछ विद्वानों ने इस रचना को हरिभद्रसूरि द्वारा रचित होना स्वीकृत नहीं किया क्योंकि इसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में **श्रीउमास्वाती वाचककृता सावयपण्णती सम्मता**[1] लिखा मिलता है[1] किन्तु आधुनिक विद्वानों की खोज एवं पुष्ट प्रमाणों से तथा **तत्त्वार्थसूत्र** एवं **श्रावक-धर्मसमास** दोनों के विषय एवं शैली में भिन्नता होने से अब यह रचना आचार्य हरिभद्रसूरिकृत ही मानी जाती है।

(१९) **हिंसाष्टक**[2]

आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा लिखी गई प्रस्तुत कृति का स्वोपज्ञ अवचूरि के साथ सन् १९२४ में प्रकाशन हुआ था। आठ श्लोक प्रमाण इस ग्रंथ का विषय हिंसा का सम्यक् प्रतिपादन करना है। आचार्यश्री ने इसमें संसारियों को हिंसा से दूर रहने की प्रबल प्रेरणा दी है।

दशवैकालिक की टीका में इसका उल्लेख मिलता है। **हिंसाष्टक** में सुन्दोपसुन्द, **अनुयोगद्वारवृत्ति** का उल्लेख किया गया है। साथ ही इसमें हेमचन्द्रसूरि का भी जिक्र किया गया है जो सम्भवतः हरिभद्र से पूर्ववर्ती कोई आचार्य ही रहे होंगे।

(२०) **स्याद्वादकुचोद्यपरिहार**

यद्यपि यह रचना अप्राप्त है[3] फिर भी हरिभद्रसूरि की दृष्टि में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। इसी जैन-

---

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १८०
२. वही, पृ० १८३-१८५
३. दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ० १०९

दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त पर तत्कालीन जैनेत्तर विद्वानों की अनुचित कुशंकाओं के परिमार्जन स्वरूप उपर्युक्त कृति को रचा गया है क्योंकि कृति के शीर्षक से भी यही भाव झलकता है।

यह कृति संस्कृत में है, जिसकी रचना सम्भवतः सूरि ने **अनेकान्त-जयपताका** से पहले ही की हो, क्योंकि जिस आक्षेप का खण्डन **स्याद्वादकुचोद्यपरिहार** में किया गया है उसका उल्लेख आचार्य ने **अनेकान्तजयपताका** की स्वोपज्ञ टीका में भी किया है।[1]

(२१) सम्बोधप्रकरण

सम्बोध प्रकरण का दूसरा नाम **तत्त्वप्रकाशक** भी मिलता है।[2] पद्यात्मक शैली में रचे गए इस ग्रंथ में १६१० श्लोक हैं। भाषा संस्कृत है किन्तु स्व० पण्डित सुखलाल संघवी इसकी भाषा प्राकृत बतलाते हैं।[3]

इसमें १२ अध्याय हैं। विषयानुरूप अध्यायों का नामकरण किया गया है यथा—देव का स्वरूप, कुगुरु का स्वरूप, पार्श्वस्थ आदि का स्वरूप, गुरु का स्वरूप, सम्यक्त्व का निरूपण, श्राद्ध, प्रतिमा एवं व्रत, संज्ञा, लेश्या, ध्यान, मिथ्यात्व और आलोचना आदि।

(ख) अप्राप्त एवं उल्लिखित ग्रंथ

आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा लिखे गए कुछ ऐसे ग्रंथ भी हैं जिनका उल्लेख उनके ही अन्य ग्रंथों में या टीकाओं में मिलता है। जैसे—

१. अनेकान्त प्रघट्ट[4]
२. अनेकान्त सिद्धि[5]
३. अर्हत् श्रीचूडामणि[6]

---

१. इति श्रीसम्बोधप्रकरणं तत्त्वप्रकाशकनामश्वेताम्बराचार्यश्रीहरिभद्रसूरिभिः याकिनीमहत्तराशिष्यणी मनोहारी या प्रबोधनार्थमिति ज्ञेयः। श्रीहरिभद्र-सूरि, पृ०, १७५
२. दे० सम० हरि०, पृ० १०६
३. विस्तृत अध्ययन के लिए दे० श्रीहरिभद्रसूरि, पृ० ६७-७०
४. वही, पृ० ८१
५. दे० अनेकान्तजयपताका, खण्ड-२, व्या०, पृ० २१८
६. दे० समरा० क० सा० अ०, पृ० ७

४. आत्मानुशासन[1] और
५. आत्मसिद्धि[2] इत्यादि

(२२) दरिसणसत्तरि

इस रचना का दूसरा नाम **सम्मत्तसत्तरि** भी है।[3] इस कारण इस रचना का वर्ण्यविषय मुख्यतः सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का यथार्थ निरूपण करना है, जो आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है।

यह प्राकृत में निबद्ध पद्यात्मक कृति है। इस पर अनेक टीकाएं मिलती हैं। इनमें रुद्रपल्लीय गच्छ के संघतिलकसूरि द्वारा रचित संस्कृत टीका जो ७७११ श्लोक प्रमाण है, मुख्य है। इसका वि० सं० १४२२ दिया गया है। टीकाकार ने इसका नाम **तत्त्वकौमुदी** रखा है।[4]

दूसरे, इस पर गुणनिधानसूरि के शिष्य द्वारा लिखी गई 'अवचूरि' भी प्राप्त होती है। दूसरी टीका जो ३५७ श्लोक प्रमाण है, मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य शिवमण्डनगणि ने लिखी है।

दरिसणसत्तरि सम्मत्तसत्तरि नामक यह ग्रंथ टीका सहित १९१३ में प्रकाशित हुआ है। कुछ विद्वान् इसका **श्रावकधर्मप्रकरण** नाम भी बतलाते हैं[5] जो कि सर्वथा गलत है क्योंकि दोनों के विषय की भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

(२३) षोडशकप्रकरण

हरिभद्रसूरि की यह कृति संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसमें आर्य छन्द का प्रयोग है। इसको सोलह भागों अथवा अधिकारों में वर्गीकृत किया गया है। सोलहवें में ७० पद्य हैं जबकि शेष पन्द्रह अधिकारों में १६ पद्य हैं। सम्भवतः इसी आधार पर इसका नामकरण किया हुआ लगता है।

---

१. दे० धूर्ताख्यान, प्रस्तावना, पृ० १२-१३
२. विस्तृत अध्ययन के लिए दे० हरि० प्रा० सा० आ० परि०, पृ० १६१
३. दे० श्रीहरिभद्रसूरि, पृ० ९२
४. वही, पृ० ९३
५. वही, पृ० ९४

इसके प्रत्येक अधिकार का नाम एवं विषय अलग-अलग है, जो निम्न प्रकार है—(१) धर्म, (२) सद्धर्म देशना, (३) धर्म लक्षण, (४) धर्मच्छलिंग, (५) लोकोत्तरतत्त्व प्राप्ति, (६) जिनमन्दिर, (७) जिनबिम्ब, (८) प्रतिष्ठाविधि, (९) पूजास्वरूप, (१०) पूजाकल्प, (११) श्रुतज्ञान, (१२) दीक्षाधिकार, (१३) गुरुविनय, (१४) योगभेद, (१५) ध्येय स्वरूप और (१६) समरस।

इस रचना का उद्देश्य ऐसे साधक का उद्धार करना है जो किसी प्रकार ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। उसे इसके अध्ययन एवं मनन से बोध प्राप्त हो सकता है।[1]

षोडशक के ऊपर यशोभद्रसूरि ने १५०० श्लोक प्रमाण संस्कृत में ही एक विवरण लिखा है और न्यायचार्य यशोविजयगणि ने इस पर १२०० श्लोक प्रमाण वाली विस्तृत व्याख्या भी लिखी है। इसके प्रथम षोडशकों का गुजराती भाषान्तर भी हुआ है जो कि सम्पादित एवं प्रकाशित है।[2]

(२४) **चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति**

चैत्य से यहां अभिप्राय 'जैन आराध्य वीतरागी तीर्थंकर' लिया गया है। इसी कारण इसे **प्रणिपात**, **शक्रस्तव** और **नमोत्थुणं** आदि नामों से भी जाना जाता है। प्रकृत ग्रन्थ विवृत्ति सहित प्राप्त होता हैं और जैसे कि इसका नाम **चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति** है भी। इसी को स्वयं आचार्य हरिभद्रसूरि ने वृत्ति के आधार पर **ललितविस्तरा** भी कहा है। इसकी प्रेरणा आचार्यश्री को सम्भवतः बौद्ध नववैपुल्यसूत्र **ललितविस्तर** से मिली है।

यह मंगलसूत्र ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध है और इसकी विवृत्ति संस्कृत में है, जो ३३ पद्यमयोसूत्र श्रावकों के दैनिक साधना में सुपाठ्य है। मूलतः ग्रन्थ की विषय वस्तु वन्दना है फिर भी प्रणिपात, अहिंसा, कायोत्सर्ग, लोगस्तव, श्रुतस्तव, सिद्धान्त, वैयावृत्य तथा प्रार्थनासूत्र

---

१. दे० षोडशक प्रकरण (आगमोद्धारक उपक्रम) ऋ० के० श्वे० संस्था प्रकाशन)

२. दे० वही (जैन पुस्तक प्रचारक संस्था प्रकाशन, १९४८)

आदि इसके प्रमुख विषय हैं।

आचार्यश्री ने विवृत्ति के माध्यम से प्रत्येक पद की व्याख्या करते हुए समस्त दर्शनों की आचारविचार पद्धतियों का स्वरूप प्रस्तुत कर जैनदर्शनानुसार स्वीकृत मान्यताओं को जीवन में अपनाने की और उन्हें उतारने की प्रबल प्रेरणा दी है।

मुनिचन्द्रसूरि ने **ललितविस्तरा** पर २१५५ श्लोक प्रमाण पञ्जिका नामक टीका लिखी है: साथ ही श्रीमानतुंगविजय ने इसका हिन्दी अनुवाद भी किया हैं जो कि अब सटीक पञ्जिका के साथ १९६३ मे प्रकाशित भी किया गया है।[1]

(ग) कथा परक साहित्य

कथापरक रचनाओं में आचार्यश्री की दो ही रचनाएं मिलती हैं। वे हैं—(१) समराइच्चकहा और (२) धूर्ताख्यान

(२५) समराइच्चकहा

आचार्यश्री हरिभद्रसूरि द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध समराइच्च-कहा>समरादित्यकथा सूरि की ही नहीं, और न केवल जैन साहित्य की ही अपितु सम्पूर्ण भारतीय कथा साहित्य की सर्वोत्तम कृति है। इसके लिखने में आचार्य प्रवर का चाहे कोई भी मूल कारण रहा हो किन्तु निस्सन्देह जैसा कि विद्वानों का अभिमत है कि यह ग्रंथ सूरि ने प्रतिशोध की भावना के प्रतिफल स्वरूप लिखा था।

यह रचना आचार्यश्री हरिभद्रसूरि की कृतियों में सर्वाधिक प्राचीन एवं सर्वप्रथम ग्रंथ विशेष है। इसमें महाराजा समारादित्य के पूर्व के नौ जन्मों का वर्णन कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण ग्रंथ नौ भवों में विभक्त है। इसके पढ़ते ही पाठकों को बाण की कादम्बरी सहज ही स्मरण हो जाती है।

इसमें जन्म कथाओं के आधार से मानव के संस्कार सात्त्विक गुण, परस्पर में एक दूसरे के प्रति रागद्वेषमयी भावना का स्फुरण, बदले की प्रबल भावना, बध-बन्धन आदि, कुगुरुपूजन एवं उपासना, क्षेत्रादि के

---

१. चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति पञ्जिका टीका (चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति)

देवों का प्रभाव, श्रमणधर्माचरण और कुमार्ग के दुष्परिणामों आदि अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इससे सत्त्व का हेयोपादेय-विवेकबोध की ओर अग्रसर होने की प्रबल प्रेरणा दी गई है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति, सामाजिक रीतिरिवाज एवं परम्पराओं का स्वरूप, नवान चेतना का विकास, तत्कालीन प्रचलित शिल्प, वर्ण्य प्रथा, कृषि, स्थापत्यकला और राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन प्रसंगवश आ पड़ा है। देश-विदेश के सम्बन्ध, व्यापार, व्यापारमार्ग, उस समय के तपस्वी, साधु सन्तों के आचार-विचार एवं उनकी साधना की विविध प्रक्रियाओं एवं धारणाओं की सूचना का **समराइच्चकहा** अपने में एक प्रामाणिक दस्तावेज है।[1] सम्पूर्ण ग्रन्थ पर जैनधर्म-दर्शन की छाप स्पष्ट झलकती है। इसका शोध परक अध्ययन भी किया जा चुका है जो उपलब्ध है।

(२६) धूर्ताख्यान

धूर्ताख्यान भारतीय वाङ्मय का अनुपम व्यंग्य प्रधान कथा ग्रन्थ है। कथानक अत्यन्त सरल एवं सरस है। हरिभद्रसूरि ने सीधी आक्रमणात्मक शैली में पांच धूर्तों के माध्यम से रामायण, महाभारत एवं पुराणों में उपलब्ध अप्राकृतिक, अवैज्ञानिक, अबौद्धिक, असम्भव तथा अकाल्पनिक मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों पर तीव्र प्रहार किया है।[2] जिसे प्राणी के लिए तर्क की कसौटी पर कस कर नहीं समझाया जा सकता, तब उसका हल एक मात्र कथा और कथोपकथन ही रह जाता है जिनका कि आचार्यश्री ने **धूर्ताख्यान** में भरपूर लाभ उठाया है।

वीतरागी सन्त होते हुए भी उनके नारी जाति के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभाव थे। वे उसके विवेक चातुर्य से अत्यन्त प्रभावित थे। आश्चर्य नहीं, कि आख्यान के बहाने हरिभद्रसूरि ने नारी के धूमिल चारित्र को उजागर कर उसके आदर्श एवं सम्मान को और अधिक उन्नत बनाया है। इसकी झलक **धूर्ताख्यान** में आगत प्रासंगिक कथा से स्पष्ट मिल

---

१. समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ८

२. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० १७०

जाती है।[1]

भारतीय वाङ्मय में प्रचलित अनेक रूढ़ियों का धूर्ताख्यान में पर्दाफास किया गया है। यहां अन्धविश्वास पर करारी चोट की गई है, जिससे लेखक की वाक्विदग्धता और अनोखी कल्पना की सूझ-बूझ एवं निष्पक्षता स्पष्ट परिलक्षित होती है। सूरि' निस्सन्देह हास्य प्रधान एवं व्यंग्य पूर्ण शैली के लिखने में सिद्धहस्त थे।

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना करने में सूरि का उद्देश्य एकमात्र स्वच्छ समाज का निर्माण करना था और उसे कुवासनाओं, कुरीतियों के भंवर से बाहिर निकलना भी था। धूर्ताख्यान में प्रसंगवश जिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है। उनमें प्रमुख हैं—

(१) सृष्टि उत्पत्तिवाद,
(२) सृष्टि प्रलयवाद,
(३) त्रिदेव स्वरूप एवं उनकी मिथ्या मान्यताएं
(४) रूढ़िवादिता,
(५) अस्वाभाविक कतिपय मान्यताएं
(६) ऋषियों से सम्बन्धित असंगत कल्पनाएं एवं अमानवीय तत्त्व इत्यादि।[2]

(घ) योग सम्बन्धी रचनाएं

आचार्य हरिभद्रसूरि की भारतीय वाङ्मय की तीसरी महान् देन योग परक ग्रन्थ रत्नों की रचना है, जिससे योगदर्शन साहित्य के क्षेत्र में पतञ्जलि के बाद आपका ही नाम लिया जाता है। योग पर आपने विस्तार से अन्याय ग्रथों का गहन चिन्तन एवं मनन किया है। इससे भी आपकी योग साधना सिद्धि की पहुंच का एक सर्वोत्तम स्पष्ट प्रमाण मिलता है तथा जैन योगध्यान साधना के उत्कर्ष का भी बोध होता है।

आपने योग परक चार ग्रन्थों की रचना की है—

(१) योगविंशिका
(२) योगशतक

१. वही, पृ० १७१
२. वही, पृ० १७२

(३) योगदृष्टिसमुच्चय और
(४) योगबिन्दु

(२७) योगविंशिका

यह आचार्यश्री की योग पर प्रथम रचना है। यह प्राकृत भाषा में निबद्ध है। आचार एवं चारित्र निष्ठ साधक ही योग का अधिकारी है। यह इसमें स्पष्ट बतलाया गया हैं। इसमें आध्यात्मिक विकास की पांच भूमियों-स्थान, इसकी इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्ध आदि भेदों तथा अर्थ आलम्बन एवं तीर्थोच्छेद आदि अनालम्बन में विभक्त की गई है।

योगविंशिका पर उपाध्याय यशोविजय की हिन्दी टीका मिलती है। आचार्यश्री ने स्वयं भी इस पर स्वोपज्ञ नामक संस्कृत टीका लिखी है[1]। इसनें २० पद्य हैं।

(२८) योगशतक

आचार्य हरिभद्रसूरि की यह अनूठी रचना १०० पद्यों एवं प्राकृत भाषा में निबद्ध है। दो प्रकार के योग पर विचार किया गया है। वे हैं—निश्चययोग एवं व्यवहारयोग।

रत्नत्रय, आत्मा, उसके साथ इनका सम्बन्ध, योगाधिकारी, योग-साधना का विकास, एक योग भूमि से दूसरी भूमि पर पहुंचने का तरीका, योग के स्थूल एवं बाह्य साधनों के साधक एवं बाधक कारणों आदि विषयों पर **योगशतक** में विस्तार से चर्चा की गई है। इससे एक योग्य साधक यथा उचित योग की प्रक्रिया का आलम्बन लेकर क्रमशः अपना आत्मविकास करता हुआ, कर्मबन्धन से मुक्त होता है और अपने लक्ष्यभूत मोक्ष लक्ष्मी को हस्तगत कर लेता है। यह कृति भी हिन्दी अनुवाद एवं स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित प्रकाशित है।

(२९) योगदृष्टिसमुच्चय

सूरि द्वारा संस्कृत पद्यों में विरचित यह योग साधना परक ग्रन्थ आध्यात्मिक विकास का अनुपम नगीना है। इस पर स्वयं सूरि ने टीका

---

१. हरिभद्रयोग भारती (देश दर्शन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित)।

भी लिखी है। यह ग्रन्थ योगधिकारों में विभक्त किया गया है। योग की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर चरमावस्था तक का सांगोपांग वर्णन यहां मिलता हैं। प्रारम्भ में **पातञ्जलयोगदर्शन** के यम आदि अष्ट साधनों की तरह कर्ममलक्षय को दृष्टि में रखकर मित्रा, तारा, बला आदि आठ अंगों का वर्णन किया गया है जिसमें प्रवर्तमान साधक अपने उद्देश्य की उपलब्धि कर लेता है। योगियों की इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्य-योग, गोत्रयोग कुलयोग, प्रवृत्तचक्रयोग और सिद्धयोग आदि में विभाजित कर **योगदृष्टिसमुच्चय** में उनकी उपयोगिता पर विस्तारपूर्वक चिन्तन किया गया है।

(२०) योगबिन्दु

यह आचार्य का योग विषयक अन्तिम और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ५२७ श्लोक हैं। इसकी भाषा संस्कृत है। इसके आरम्भ में योग का अर्थ एवं महत्त्व बतलाया गया है। इसके बाद योगाधिकारी, अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय का वर्णन करते हुए साधना के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है उसके साथ ही साधक की योग्यतानुसार उनका वर्गीकरण तथा योगसाधना के उपायों का प्रस्तुत कृति में विस्तृत अध्ययन किया गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि की संस्कृत स्वोपज्ञ टीका भी इस पर उपलब्ध होती है। आचार्यप्रवर की यह अनुपम रचना ही शोधार्थी के लिए तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन के लिए उपादेय है।

परिच्छेद—तृतीय

योगबिन्दु की विषय वस्तु

(क) योग साधना का विकास

भारतीय आध्यात्मिक क्षेत्र में योग साधना का विकास क्रमबद्ध ढंग से उपलब्ध होता है। यहां पर हम इसी का योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करगे।

(१) वैदिक परम्परा में योग साधना का विकास

वैदिक साहित्य वेदत्रयी के नाम से प्रख्यात है, जो ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीन मार्गों का स्पष्ट निर्देश करती है। साधक इन्हीं तीन मार्गों पर चलकर अपना अभीष्ट लाभ करता है।[1] योग साधना और भक्ति इन मार्गों का पावन त्रिवेणीसंगम है।

भक्ति

'भक्ति' शब्द का ही पर्यायवाची शब्द है—उपासना। सत्व भक्ति में अपने इष्ट का निरन्तर चिन्तन-मनन और स्मरण करता है जबकि उपासना में वह अपने इष्ट को अपने हृदय में अधिष्ठित करके उनका बारम्बार अनुचिन्तन और स्मरण करता है।

उपासना[2]

उपासना का शाब्दिक अर्थ है—अपने इष्ट के समीप बैठना, अर्थात् जिसमें हमने अपने आराध्य की प्रतिष्ठापना की है, उसके समीप रहना। उसके समीप रहकर हम उसके अनुग्रह भाजन याकि कृपापात्र बन सकते हैं।[3] यहां पर विश्वास अथवा दृढ़ आस्था का प्राधान्य रहता है। संकल्प एवं दृढ़ आस्था के द्वारा साधक अपने पाप कर्मों से मुक्त हो जाता है।

---

१. दे० भक्ति का विकास. पृ० १११;

२. इस अर्थ में बौद्ध उपोसथ शब्द का प्रयोग करते हैं। दे० महावग्ग

३. ऋग्वेद संहिता, १-१२७-५

भक्ति अथवा ईश्वर में दत्तचित्तनिष्ठा का सिद्धान्त उपनिषदों में विस्तार से मिलता है जबकि **ऋग्वेद संहिता** में केवल भक्त और अभक्त शब्द मिलते हैं। इनका अर्थ सायणाचार्य ने सेवामान और असेवामान अर्थात् पूजने वाला और न पूजने वाला किया है।[1]

षड्दर्शनों में **पातञ्जलयोगशास्त्र** भक्ति के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखता है। उसका परम लक्ष्य है—जीवन के निजी स्वरूप का पहचानना। वहां कहा गया है कि ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं अपितु वह केवल योग साधना में मार्गदर्शन करने वाला परम गुरुतुल्य है। इससे पूर्व के योग साधना के विकास को देखने पर ज्ञात होता है कि **योगवासिष्ठ** में भी योग साधना के विकास क्रम का वर्णन सर्वाङ्गीण और समुचित ढंग से हुआ है। इस दृष्टि से **योगदर्शन** तथा **योगवासिष्ठ** में वर्णित योग-साधना के विकास क्रम को समझ लेना चाहिए।

पातञ्जल योगदर्शन में चूंकि चित्त की वृत्तियों का निरोध ही '**योग**' है। निरोध का अर्थ यहां कोई नया अवरोध खड़ा करना नहीं है अपितु विषयों का चिन्तन एवं उनमें आसक्तिपूर्वक प्रवृति का न होने देना ही निरोध है।

योगदर्शन में चित्त की पांच वृत्तियों अथवा भूमिकाओं का भी उल्लेख हुआ है जिनमें एक के बाद दूसरी अवस्था अथवा भूमिका(वृत्ति) क्रमशः चित्तशुद्धि की परिधि को बढ़ाती जाती है। वे पांच भूमिकाएं निम्नलिखित हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध।[2]

इनमें प्रथम तीन अर्थात् क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अज्ञान (अविकाश) की होने के कारण योगसाधना में उपयोगी नहीं हैं। दूसरे, क्षिप्तावस्था में रजोगुण के प्राधान्य के कारण साधक के चित्त की चंचलता बहुत अधिक होती है। अतः इन्हें अग्राह्य माना गया है।

---

१. दे० भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० १७

२. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रनिरुद्धमिति चित्तभूमयः।
पा० यो०. व्यास भाष्य, १.१

(१) क्षिप्त

चित्त प्रकृति का सात्त्विक परिणाम होने से प्रख्यापन (ज्ञान) स्वरूप है फिर भी जिस काल में सत्त्वगुण की न्यूनता होती है उस काल में वह तमोगुण से सम्बद्ध हो जाता है। इसी काल में शब्द, विषय आदि तथा अणिमा-महिमा आदि ऐश्वर्य को ही प्रिय जानकर उन्हीं में आसक्त होने से चित्त विह्वल हो जाता है[1], इसी अवस्था का नाम क्षिप्त है। इस तरह क्षिप्त रज प्रधान है। इस अवस्था में तमोगुण तथा सत्त्व गुण का निरोध रहता है।

(२) मूढ

इस अवस्था में रजोगुण का प्रभाव कम होता है और तमोगुण का आधिक्य बढ़ जाता है, जिससे मोह के आवरण से साधकों में कर्त्तव्य-अकर्तव्य का बोध नहीं हो पाता।

(३) विक्षिप्त

जब चित्त में तमोगुण शिथिल होता है और रजोगुण का आंशिक रूप से प्राबल्य बना रहता है तब सत्त्वगुण के उद्रेक से चित्त निष्कलंक दर्पण के समान प्रकाशित होकर एकाग्रता की ओर बढ़ता है किन्तु चित्त की यह स्थिरता स्थायी नहीं होती कारण कि योगविघ्नों के कारण शीघ्र ही चित्त चंचलता से अभिभूत हो जाता है, फिर भी पूर्व की अपेक्षा इस अवस्था में चित्त योग-साधना की ओर निरन्तर अभिमुख होता जाता है।

यद्यपि ये तीनों भूमिकाएं योगसाधना के विकास में विशेष उपयोगी नहीं हैं तब भी आंशिक एवं आपेक्षिक रूप में वृत्तियों का निरोध इन अवस्थाओं में बना रहता है। बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों के द्वारा चित्त का निरन्तर उग्र सम्पर्क बना रहना 'व्युत्थान'[2] दशा है, जो योग

---

१. प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति।
पा० यो०, १.२ पर भाष्य

२. व्युत्थान शब्द बौद्ध साधना में भी आता है।
विस्तृत अध्ययन से लिए दे० अभिप्र०, पृ० ६४७

की प्रतिपक्षीभूत है। इसीलिए इनकी परिगणना योग की कोटि में नहीं होती। अतः इन्हें अविकसित अवस्था भी कहा जाता है।

(४) एकाग्र

जब चित्त इन्द्रियद्वार से बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त न होकर एकमात्र अध्यात्म चिन्तन में निरत रहता है। तब यही चित्त की एकाग्र भूमिका कही जाती है। इस अवस्था में सत्त्वगुण शेष दो गुणों को अभिभूत कर देता है, जिससे साधक अविद्या आदि क्लेश तथा कर्म-बन्धनों को क्षीण करता है और चित्त को ध्येयवस्तु में एकाग्र करके निश्चल (स्थिर) बनाता है। चित्त की इस अवस्था को सम्प्रज्ञातयोग अथवा सम्प्रज्ञातसमाधि भी कहते हैं।[1] यहां से साधक असम्प्रज्ञात समाधि की ओर आगे बढ़ता है। इस एकाग्र अवस्था में केवल संस्कार शेष रहते हैं।

(५) निरुद्ध

एकाग्र अथवा सम्प्रज्ञातसमाधि की दशा में साधक आत्मा और चित्त के भेद का साक्षात्कार कर लेता है। वह इस तथ्य को स्पष्टतया जान लेता है कि प्राप्त विषयों के अनुरूप चित्त का परिणमन होता है, आत्मा का नहीं होता। ऐसी दशा में चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध होने से साधक के संस्कार समूह भी नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में कर्माशय दग्ध हो जाते हैं और उनका बीजभाव अन्तर्हित हो जाता है। इसी कारण यह अवस्था निर्बीज समाधि कहलाती है।[2] यहां योगसाधना का पूर्ण विकास हो जाता है जो कि कैवल्य की उपलब्धि में परम उपादय होता है।

योगवासिष्ठ के अनुसार योगसाधना के अन्तर्गत आत्म विकास की दो श्रेणियां मानी गई हैं—

(१) अविकासावस्था एवं (२) विकासावस्था

---

१. पातञ्जलयोगसूत्र १.१७ तथा विशेष के लिए देखिए (शास्त्री) पातञ्जलयोगदर्शन, पृ० ६

२. पातञ्जलयोगदर्शन, १.५१

(१) अविकासावस्था

इसके अन्तर्गत साधक की सात अवस्थाओं का वर्णन हुआ है जैसे कि—

(१) बीजजाग्रत
(२) जाग्रत
(३) महाजाग्रत
(४) जाग्रतस्वप्न
(५) स्वप्न
(६) स्वप्नजाग्रत और
(७) सुषुप्ति।[1]

(१) बीजजाग्रत

यह सृष्टि के आदि में चित्ति (चेतन्य) का नाम रहित और निर्मल चिन्तन का नाम है क्योंकि इसमें जाग्रत अवस्था का अनुभव बीजरूप से रहता है। इसी को बीजजाग्रत कहा जाता है।

(२) जाग्रत

परब्रह्म से तुरन्त उत्पन्न जीव का ज्ञान, जिसमें पूर्वकाल की कोई स्मृति नहीं होती **जाग्रता अवस्था** कहलाती है।

(३) महाजाग्रत

पहले जन्मों में उदित और दृढ़ता को प्राप्त ज्ञान महाजाग्रत है।

(४) जाग्रतस्वप्न

यह ज्ञान भ्रम की कोटि में आता है क्योंकि इसका उदय कल्पना द्वारा जाग्रत दशा में होता है और इस ज्ञान के द्वारा जीव कल्पना को भी सत्य मान बैठता है। इसी का नाम जाग्रतस्वप्न भी है।

(५) स्वप्न

महाजाग्रत अवस्था के भीतर निद्रावस्था में अनुभूत विषय के प्रति

---

१. तत्रारोपितमज्ञानं तस्य भूमीरिमाः श्रुणुः।
बीजजाग्रत्तथाजाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च॥
जाग्रतस्वस्नस्तथास्वप्नः स्वप्नजाग्रतसुषुप्तकम्।
इतिसप्तविधो मोहः पुनरेव परस्परम्॥ योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, ११७, ११-१२

जागने पर इस प्रकार का ज्ञान हो कि यह विषय असत्य है और इसका अनुभव मुझे थोड़े समय के लिए ही हुआ था। यही स्वप्न कहा जाता है।

(६) **स्वप्नजाग्रत**

इस अवस्था में अधिक समय तक जाग्रत अवस्था के स्थूल विषयों का, स्थूल देह का अनुभव नहीं होता और स्वप्न ही जाग्रत के समान होकर महाजाग्रत-सा प्रतीत होता है।

(७) **सुषुप्ति**

पूर्वोक्त अवस्थाओं से रहित, भविष्य में दुःख देने वाली वासनाओं से युक्त जीव की अचेतन स्थिति का नाम सुषुप्ति है।[1]

इनमें से प्रथम दो अवस्थाओं अथवा भूमिकाओं में राग-द्वेषादि कषाय का अल्प अंश होने के कारण वे वनस्पति एवं पशु-पक्षियों में पायी जाती हैं लेकिन आगे की ओर सभी भूमिकाओं में कषायों की अधिकता बढ़ती जाती है। इसी कारण भूमिकाएं सामान्य मानव में ही पायी जाती है कारण है कि क्रोध, मान, माया आदि की तीव्रता मनुष्य में ही होती है। इस प्रकार प्रथम भूमिका में जितना अज्ञानता होती है, उसके बाद वाली अवस्थाओं में उतनी अज्ञानता नहीं रहती फिर भी ये सात-भूमिकाएं अज्ञानानस्था की ही कही जाती हैं चूंकि भले-बुरे का ज्ञान उनमें नहीं हो पाता।

(२) **विकसित अवस्था**

इस अवस्था में पहले की अपेक्षा विवेकशक्ति की उपस्थिति के कारण साधक का मन आत्मा के वास्तविक रूप को पहचानने के लिए उत्सुक रहता है, जिससे बुरे विचारों को त्याग कर आत्मा के समीप ले जाने वाले प्रशस्त विचारों को मनोयोगपूर्वक ग्रहण कर सके।

इस सन्दर्भ में आत्मा को बोध देने वाली ज्ञान की सात भूमिकाओं का उल्लेख भी मिलता है, जो क्रमशः स्थूल आलम्बन से हटाकर साधक

---

१. योगवासिष्ठ, ३११७, २४

को सूक्ष्म से सूक्ष्मता की ओर ले जाती हैं, जहां मोक्ष की स्थिति है। यद्यपि मोक्ष और सत्य का ज्ञान दोनों पर्यायवाची हैं, कारण कि जिसको सत्य का ज्ञान हो जाता है, वह जीव फिर जन्म मरण नहीं करता।

योग स्थित ज्ञान की सात भूमिकाएं[1]

(१) शुभेच्छा

वैराग्य उत्पन्न होने पर साधक के मन में अज्ञान को दूर करने और शास्त्र एवं सज्जनों की सहायता से सत्य को प्राप्त करने की इच्छा का उत्पन्न होना शुभेच्छा है।

(२) विचारणा

शास्त्राध्ययन, सत्संग, वैराग्य और अभ्यास से सदाचार की प्रवृत्ति का उत्पन्न होना ही विचारणा है।

(३) तनुमानसा

शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से इन्द्रिय की विषयों के प्रति गमन सम्भव न होने से मन की स्थूलता का ह्रास होता है। इसे ही तनुमानसा कहते हैं।

(४) सत्त्वापत्ति

पूर्वोक्त तीनों भूमिकाओं के अभ्यास और विषयों की विरक्ति से आत्मा में चित्त की स्थिरता का होना की सत्त्वापत्ति है।

(५) असंसक्ति

इस भूमिका में पूर्व की चार भूमिकाओं के अभ्यास तथा सांसारिक विषयों में असंसक्ति होने से, सत्त्वगुण के प्रकाश से मन स्थिर हो जाता

---

१. ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा।
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्ति नामिका।
पदार्थमानवी षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता॥
योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, ११-८.५६

है और साधक आत्मा में ध्यानस्थ होने के लिए समर्थ हो जाता है।

(६) पदार्थ भावना

इसमें साधक पूर्वोक्त भूमिकाओं के अभ्यास से आत्मा में मन को दृढ़ कर लेता है तथा समस्त बाह्य पदार्थों की ओर से विमुख हो जाता है। ऐसी अवस्था में साधक को बाहरी सभी पदार्थ मिथ्या प्रतीत होते हैं।

(७) तुर्यगा

पहले बतलायी गई छः भूमिकाओं के द्वारा निरन्तर अभ्यास से जब साधक को भेद में भी अभेद की प्रतीति होने लगती है और वह जब आत्मभाव में अविचलित रूप से स्थिर हो जाता है तो ऐसी स्थिति को तुर्यगाभूमि कहते हैं।[1] इसे जीवन्मुक्त अवस्था भी बतलाया गया है। ध्यातव्य है कि विदेहमुक्ति तुर्यगावस्था से भिन्न है, एक नहीं, जैसा कि कुछ बौद्ध विद्वान् मानते हैं।

(२) बौद्ध योग साधना का विकास

वैदिक साधना की ही तरह बौद्ध परम्परा में भी योगसाधना के विकास के लिए चित्तशुद्धि को आवश्यक माना गया है क्योंकि इसके विकास की भूमिका नैतिक आचार-विचार के द्वारा चारित्र को विकसित और सशक्त बनाती है तथा चारित्र-विकास ही योगसाधना का परम लक्ष्य है।

बतलाया गया है कि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा[2] इन पांच साधनों के सम्यक्परिपालन द्वारा साधक अपने चारित्रिक गठन और विकास के माध्यम से विशुद्ध-अवस्था की प्राप्ति करता है। दूसरे शब्दों में निर्वाण अथवा विशुद्ध अवस्था की प्राप्ति के लिए क्रमशः छः अथवा सात स्थितियों का विधान किया गया है जिनसे साधना के

---

१. योगवासिष्ठ ३.११८.७-३६ तथा
योगवासिष्ठ एवं उसके सिद्धान्त, पृ० ४५२

२. दे० मिलिन्द० प्रश्न, २.१.८

विकास की प्रक्रिया में निखार आता है। ये स्थितियां निम्नलिखित हैं—

(१) अन्ध पृथक् जन	(४) सकृदागामी
(२) कल्याण पृथक् जन	(५) अनागामी और
(३) स्रोत-आपन्न	(६) अर्हत्[1]

इनको पार करता हुआ साधक अपने चारित्रबल से संयम, करुणा एवं वैराग्य को प्राप्त करता है। इन स्थितियों अथवा अवस्थाओं को और अधिक स्पष्ट करते हुए **मिलिन्दप्रश्न** में चित्त की सात अवस्थाओं का वर्णन[2] इस प्रकार किया गया है—

(१) संक्लेशचित्त

यह स्थिति अज्ञान अथवा मूढ़ता की है, क्योंकि इस अवस्था में योगी का चित्त राग-द्वेष, मोह एवं क्लेश से संयुक्त होता हैं तथा वह शील एवं प्रज्ञा की भावना परक चिन्तन भी नाम मात्र के लिए नहीं करता।

(२) स्रोत-आपन्नचित्त

यह भी अविकास की ही दूसरी अवस्था है। इस स्थिति में साधक बुद्ध कथितमार्ग को भलिभांति जानकर शास्त्र को अच्छी तरह मनन और चिन्तन करके भी चित्त के तीन भ्रममूलक संयोजनों[3] को ही नष्ट कर पाता है, सम्पूर्ण संयोजनों को नहीं।

(३) सकृदागामीचित्त

इस अवस्था में साधक शेष पांच संयोजनों को समाप्त कर देता है और उसका चित्त कुछ हल्का हो जाता है।

(४) अनगामीचित्त

---

१. मज्झिमनि० १.१

२. मिलिन्द० ४.१.३

३. ये दश संयोजना बन्धन हैं—(१) सक्कायदिट्ठी, (२) विचिकिच्छा, (३) सीलब्बतपरामास, (४) कामराग (५) पटिघ, (६) रूपराग (७) अरूपराग, (८) मान, (९) कौकृत्य एवं (१०) अविद्या।
विशुद्धिमार्ग (हि०) भाग-२, परिच्छेद २२' पृ० २७१

इस दशा में योगी साधक के बाकी पांच संयोजन नष्ट हो जाते हैं और साधक का चित्त पहले की अपेक्षा और अधिक ऋजु हो जाता है। इस तरह साधक का चित्त उपर्युक्त दस अवस्थाओं से हल्का और तेजस्वी हो जाता है फिर भी ऊपर की परियोजनाओं में उसका चित्त भारीं और मन्द बना ही रहता है।

(५) अर्हत् चित्त

इस अवस्था में योगी के सभी आस्रव तथा क्लेश सदा-सदा के लिए क्षीण हो जाते हैं और वह ब्रह्मचर्यवास को पूरा करके सभी प्रकार के भवपाशों का भी व्युच्छेद कर डालता है। फलस्वरूप उसका चित्त अत्यन्त विशुद्ध अथवा अतिनिर्मल बन जाता है।

ध्यान देने योग्य है कि इस अवस्था में चित्त की शुद्धि तो हो ही जाती है लेकिन प्रत्येकबुद्ध की अपेक्षा भारी एवं मन्द ही होती है।

(६) प्रत्येकबुद्धचित्त

इस अवस्था में साधक स्वयं अपना स्वामी होता है और उसे किसी भी आचार्य अथवा गुरु की अपेक्षा नहीं रहती है। यहां उसका चित्त और भी अधिक निर्मल और विशुद्ध होता जाता है और सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति में अग्रसर होता है।

प्रत्येकबुद्ध एकाकी विचरण करता हुआ सम्बोधि को धारण करके परिनिर्वृत्त हो जाता है। इसी से इसे सम्यक्सम्बुद्ध न कहकर प्रत्येकबुद्ध बतलाया गया है।

(७) सम्यक्सम्बुद्ध चित्त

यह साधना की पूर्ण अवस्था है। इसमें साधक सर्वज्ञ हो जाता है, जो दश व्रतों की धारणा करने वाले चार प्रकार के वैशारद्यों, दशबलों एवं अठारह आवेणिक बुद्धधर्मों से युक्त होता है। वह इन्द्रियों को सर्वथा जीत लेता है। यह अवस्था पूर्णतः अचल और शान्त होती है। साधक यहां सर्वज्ञ बन जाता है और परिनिर्वाण का धारक बन कर अन्य सत्त्वों को कल्याण मार्ग में लग जाने का सदुपदेश करता है जबकि प्रत्येकबुद्ध ऐसा नहीं करता। यही दोनों में वैशिष्ट्य है।

इस सन्दर्भ में महायानी विचारधारा को जान लेना भी आवश्यक है। महायान के अनुसार साधना की दश भूमिकाओं अथवा अवस्थाओं तथा पारमिताओं का उल्लेख किया गया है। वे भूमियां हैं[1]—(१) प्रमुदिता, (२) विमला, (३) प्रभाकरी, (४) अर्चिष्मति, (५) सुदुर्जया, (६) अभिमुखी, (७) दूरंगमा, (८) अचला, (९) साधुमती एवं (१०) धर्ममेघा।

(१) प्रमुदिता

इस स्थिति में साधक में जगत् के उद्धार के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने का महत्त्वाकांक्षा जाग्रत होती है। इस स्थिति में उसे बोधिसत्त्व कहते हैं। वह चित्त में जैसी बोधि के लिए संकल्प करता है और प्रमुदित होता है। उसकी यही अवस्था प्रमुदिता कहलाती है।

(२) विमला

इस स्थिति में दूसरे प्राणियों को उन्मार्ग से हटाने के लिए स्वयं साधक का ही प्राणातिपात विरमण रूप शील का आचरण करके दृष्टान्त उपस्थित करना होता है। यहां बोधिसत्त्व का चित्त परोपकार-भावना से विमल रहता है।

(३) प्रभाकरी

इसके अन्तर्गत साधक के लिए आठ ध्यान (रूपारूपी ध्यान) और मैत्री आदि चार ब्रह्मविहार[2] की भावनाएं करने का विधान किया गया

---

१. प्रज्ञा पारमिता, भाग-१, पृ० ९५-१०० तथा
दे० बोधिसत्त्वभूमि

२. बृहद्ब्राह्मम्। मैत्र्यादिभावनाया बृहत्फलत्वात्। अतो ब्राह्मविहारा इति। एतानि च मैत्र्यादीन्यप्रमाण सत्त्वावलम्बनत्वादप्रमाणान्युच्यन्ते।
अर्थविनि०, पृ० १4५ तथा मिलाइए—
कस्मा पनेता मेत्तीकरुणामुदिता उपेक्खा ब्रह्मविहारा ति वुच्चन्ति? वुच्चते। सेट्ठट्ठेन ताव निद्दोसभावेन चेत्थ ब्रह्मविहारता वेदितब्बा सत्तेसु सम्मापटिपत्तिभावेन हि सेट्ठा एते विहारा। यथा च ब्रह्मानो निद्दोसचित्ता—विहरन्ति इति सेट्ठट्ठेन निद्दोसभावेन च ब्रह्मविहारा ति वुच्चन्ति। विसु० ९.१०५-१०६

है। इसके साथ ही इसमें पहले किए हुए संकल्प के अनुरूप अन्य प्राणियों को दुःख मुक्त करने का प्रयत्न भी किया जाता है।

(४) अर्चिष्मती

प्राप्त गुणों को स्थिर करने के लिए तथा और गुण प्राप्त करने के लिए इस भूमिका परिपालन आवश्यक है। किसी भी प्रकार के दोषों का सेवन न हो और जितने में वीर्य पारमिता की सिद्धि हो उसे अर्चिष्मती भूमिका बतलाया गया है।

(५) सुदुर्जया

सुदर्जया ऐसे ध्यान पारमिता की प्राप्ति को कहते हैं, जिसमें करुणावृत्ति का विशेषकर अभिवर्द्धन और चार आर्यसत्यों का स्पष्ट भान होता है।

(६) अभिमुखी

इनमें महाकरुणा के द्वारा बोधिसत्त्व आगे बढ़ता हुआ अर्हत्व प्राप्त करता है और दश पारमिताओं में से विशेष रूप से प्रज्ञापारमिता उसे यहां पूर्ण करना होती है।

(७) दूरंगमा

सभी पारमिताओं को पूर्णरूप से साधने पर उत्पन्न होने वाली स्थिति का नाम दूरंगमा है।

(८) अचला

साधक इस स्थिति में शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। उसे सांसारिक प्रश्नों का स्पष्ट एवं प्रबुद्धज्ञान रखना पड़ता है जिससे कि उनसे किसी भी प्रकार विचलित होने की सम्भावना न हो।

(९) साधुमती

प्रत्येक जीव के मार्गदर्शन के लिए उस साधक को सत्त्व के कार्य-

कलाप जानने की शक्ति जब प्राप्त हो जाती है तब वह भूमि साधुमती कहलाती है।

(१०) धर्ममेघा

सर्वज्ञत्व उपलब्धि की अवस्था में साधक धर्ममेघा की भूमि में अवस्थित होता हैं। महायान की दृष्टि से इसी भूमि में पहुंचे हुए साधक को तथागत भी कहा जाता हैं।

इस प्रकार बौद्धयोग के अन्तर्गत योग साधना के विकास को अज्ञानावस्था के क्रमिक ह्रास के सन्दर्भ में देखा जाता है क्योंकि अज्ञान अवस्था को त्याग कर ही ज्ञानप्राप्ति सम्भव है, जो निर्वाणलाभ में अभीष्ट है।

३. जैन योगसाधना का विकास

जैन योग साधना की आधार शिला सम्यग्दर्शन की उपलब्धि है और इसकी चरम परिणति मुक्ति में होती है। इस प्रकार जैन योग-साधना का विकास क्रम हमें तीन श्रेणियों में उपलब्ध होता है—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यग्चारित्र।[1]

सम्यक्दर्शन

दर्शन शब्द जैन आगमों में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ हैं। इसका एक अर्थ हैं—देखना अर्थात् अनाकार ज्ञान और दूसरा अर्थ हैं—श्रद्धा।[2] केवल श्रद्धा ही साधना में कार्यकारी नहीं होती क्योंकि यह मिथ्या भी हो सकती है। यहां श्रद्धा का सम्यक् होना आवश्यक है। इसी कारण आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वों के प्रति साधक के यथार्थ श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन बतलाया है—**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**।[3]

---

१. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र १.१

२. साकारज्ञानं अनाकारं दर्शनम्। तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ८२

३. (क) तत्त्वार्थसूत्र १.२
   (ख) उत्तराध्ययनसूत्र, २८.१५
   (ग) स्थानांगसूत्रवृत्ति (अभयदेवसूरि) स्थान १

जड़ और चेतन जो मुख्य तत्त्व है उनको, उनके यथार्थरूप में देखना अथवा उनके प्रति स्व-स्वरूप में दृढ़ विश्वास का होना ही सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन योग साधना के विकास के लिए उत्तम एवं मनोज्ञ साधन हैं।

इसका महत्त्व बताते हुए जैनागम आचारांगसूत्र में तो यहां तक कहा गया है कि—सम्यग्दृष्टि साधक पापों का बन्ध नहीं करता।[1] कहीं सम्यग्दर्शन साधक को स्वतः (जन्मान्तरीय उत्तम संस्कारों के प्रभाव से अपने आप ही) हो जाता है और किसी को परतः (सत् शास्त्रों के स्वाध्याय तथा सद्गुरुओं की सत्संगति से) प्राप्त होता है।[2] सम्यग्दर्शन प्राप्त साधक के पांच लक्षण बतलाए गए हैं[3] वे हैं—(१) शम, (२) संवेग, (३) निर्वेद, (४) अनुकम्पा और (५) आस्तिक्य।

(१) शम

उदय में आए हुए कषाय को शान्त करना शम कहलाता है।

(२) संवेग

मोक्ष विषयक तीव्र अभिलाषा का उत्पन्न होना संवेग है।

(३) निर्वेद

सांसारिक विषय भोगों के प्रति विरक्ति अर्थात् उनको हेय समझ कर उनमें उपेक्षाभाव का उदित होना निर्वेद है।

(४) अनुकम्पा

दुःखी जीवों पर दया-भाव रखना, निस्वार्थभाव से उनके दुःख दूर करने की इच्छा और तदनुसार प्रयत्न आदि करना अनुकम्पा है।

---

१. समत्तदंसणिण करेइ पावं। आचाराङ्ग १.३.२

२. तन्निसर्गात् अधिगमाद्वा। तत्त्वार्थसूत्र १.३

३. कृपाप्रशमसंवेगनिर्वेदास्तिक्यलक्षणः गुणा भवन्तु यश्चित्ते स स्यात् सम्यक्त्व-भूषितः। गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक २६

(५) **आस्तिक्य**

सर्वज्ञ कथित तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा न करना तथा आत्मा एवं लोकसत्ता में पूर्ण विश्वास करना **आस्तिक्य** है।

आस्तिक्य गुणधारी साधक आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी होता है[1] अर्थात् इन विषयों के बारे में जैसा सर्वज्ञ ने कहा है, वैसा ही यथातथ्य विश्वास करता हैं।

विशुद्ध सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए उसे २५ मलदोषों का त्याग करना आवश्यक है।[2] सम्यग्दर्शन का अपर नाम सम्यग्दृष्टि भी है। दृष्टि उसको कहते हैं जिससे समीचीन श्रद्धा के साथ बोध हो और असत् प्रवृत्तियों का क्षय होकर सत् प्रवृत्तियां उद्भूत हों।[3]

योगदृष्टि को आधार बनाकर आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगसाधना के विकास को आठ दृष्टियों में विभक्त किया है। ये आठ दृष्टियां हैं—

(१) मित्रा (२) तारा (३) बला (४) दीप्रा
(५) स्थिरा (६) कान्ता (७) प्रभा और (८) परा[4]

इन दृष्टियों में प्रथम चार आद्य दृष्टियां सम्यग्दृष्टि में अन्तर्भूत हो जाती हैं क्योंकि इनमें आत्मा की प्रवृत्ति आत्मविकास की ओर न होकर संसाराभिमुख रहती है अर्थात् जीव का उत्थान एवं पतन होता रहता है। शेष चार दृष्टियां योगदृष्टि में समाहित हैं क्योंकि इनमें साधक की दृष्टि विकासोन्मुख होती है। पांचवी दृष्टि के बाद तो साधक सर्वथा उन्नतिशील बना रहता है, उनके पतन की सम्भावना ही नहीं रहती। इस प्रकार ओघदृष्टि, असत्दृष्टि और योगदृष्टि ये सद्दृष्टियां मानी

---

१. जे आयावई, लोयावई, कम्मावई, किरियावई। आचारांग, २.१.५

२. विशेष के लिए दे० जैन योग सिद्धान्त और साधना, पृ० १०६

३. सच्छ्रद्धासंगतो बोधो दृष्टिरित्यभिधीयते।
असत्प्रवृतिव्याघातात् सत्प्रवृत्तिपदावह:॥ योग दृ० स०, श्लोक १७

४. मित्रातारावला दीप्रास्थिरा कान्ताप्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधता॥ वही, श्लोक १३

गई हैं। दूसरे शब्दों में प्रथम चार दृष्टियों को अवेद्यसंवेद्यपद[1] अथवा प्रतिपाति[2] तथा अंतिम चार दृष्टियों को संवेद्यपद[3] अथवा अप्रतिपाति कहा गया है।

इन आठ दृष्टियों में साधक को किस प्रकार का ज्ञान अथवा विशेषतत्त्व का बोध होता हैं ? आचार्य ने उसको आठ दृष्टियों के द्वारा सोदाहरण यों समझाया है—

(१) तृणाग्नि, (२) कण्डाग्नि (३) काष्ठाग्नि
(४) दीपकाग्नि (५) रत्न की प्रभा (६) नक्षत्र की प्रभा
(७) सूर्य की प्रभा एवं (८) चन्द की प्रभा[4]।

जिस प्रकार इन अग्नियों को प्रभा उत्तरोत्तर तीव्र और स्पष्ट होती जाती है उसी प्रकार इन आठ दृष्टियों में भी साधक का आत्म-बोध स्पष्ट होता जाता है।

पातञ्जल योगदर्शन में प्रतिपादित यम-नियम आदि योग के आठ अंगों तथा खेद, उद्वेगादि आठ दोषों के परिहार[5] का वर्णन भी इन दृष्टियों के प्रसंग में किया गया है। वे आठ दृष्टियाँ हैं—

मित्रादृष्टि

इस दृष्टि में दर्शन की मन्दता अहिंसादि यमों के पालन करने की भावना और देवपूजन आदि धार्मिक क्रियाओं के प्रति लगाव रहता है।[6] यद्यपि साधक को इस दृष्टि में ज्ञान तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु उसे

---

१. अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्वपम्।
पक्षिच्छायाजलचर-प्रवृत्त्याभमत: परम् ॥ योगदृष्टि०, श्लोक ६७

२. प्रतिपातयुताश्चाऽऽद्याश्चतस्रो नोत्तरास्तथा:।
सापायऽपि चेतास्ता: प्रतिपातेन नेतरा: ॥ वही, श्लोक १९

३. दे० योगदृष्टि समु०, श्लोक ७० पर व्याख्या, पृ० २२

४. तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीपप्रभोपमा।
रत्नतारार्कचंद्राभा क्रमेणेक्वादिसन्निभा ॥ योगावतार द्वात्रिंशिका, २६

५. यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारत:।
अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणेषा सतां मता ॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक १६

६. मित्राद्वात्रिंशिका, श्लोक १

उससे स्पष्ट तत्त्वबोध नहीं होता, क्योंकि उसमें मिथ्यात्व अथवा अज्ञान इतना प्रगाढ़ होता है, जो उसके दर्शन और ज्ञान को दबाये रखता है फिर भी साधक सर्वज्ञ का अन्तःकरण पूर्वक नमस्कार करता है तथा औषधिदान, शास्त्रदान, वैराग्य, पूजा, श्रवण-पठन एवं स्वाध्याय आदि क्रियाओं व भावनाओं का पालन व चिन्त्वन करता है। साधक माध्यस्थ इत्यादि भावनाओं का चिन्तन करने और मोक्ष की कारणभूत सामग्री को जुटाते रहने के कारण इस स्थिति को **योगबीज** कहा जाता है।[1]

इस दृष्टि को यद्यपि तृणाग्नि की उपमा दी गयी है फिर भी इसमें साधक अपनी आत्मा के विकास की इच्छा तो करता ही है, साथ ही पूर्वजन्म के संस्कारों अथवा कर्मों के कारण वैसा नहीं हो पाता।

तारादृष्टि

इसमें साधक मोक्ष की कारणभूत सामग्रियों अर्थात् योग-बीज की पूर्ण रूप से तैयारी करके सम्यग्बोध प्राप्त करने में योग्यता हासिल कर लेता है। इसके अतिरिक्त वह यहां शौच आदि नियमों का भी पालन करते हुए कार्य करने में खेद-खिन्न नहीं होता बल्कि उसकी तात्त्विक जिज्ञासा जाग्रत होती जाती है[2] जिससे साधक कण्डाग्नि की तरह क्षणिक सत्य का अनुसन्धाता बन जाता है। इस दृष्टि में गुरु सत्संग के कारण साधक की अशुभ प्रवृत्तियां बन्द हो जाती हैं और संसार सम्बन्धी कोई भी भय उसे नहीं रहता। फलतः अनजाने में भी वह धार्मिक कार्यों में अनुचित व्यवहार नहीं करता।[3]

---

१. (क) करोति योगबीजानामुपादानमिह स्थितः।
अवन्ध्यमोक्षहेतूनामिति योगविदोः विदुः॥ योगदृ० समु०, २२

(ख) जिनेषु कुशलं चित्तं तन्नमस्कार एव च।
प्रणामादि च संशुद्धं योगबीजमनुत्तम्॥ वही, श्लोक २३

(ग) आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भावयोगिषु।
वैय्यावृत्त्यं च विधिवच्छुद्धाशयविशेषतः॥ वही, श्लोक २६

(घ) लेखना पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः।
प्रकाशनाथ स्वाध्यायश्चिन्ता भावनेति च॥ वही, श्लोक २८

२. तारायां तु मनाक् स्पष्टं नियमश्च तथाविधः।
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा॥ योगदृष्टि समु०, श्लोक ४१

३. भयं नातीव भवजं कृत्यहानिर्न चोचिते।
तथाऽनाभोगतोऽप्युच्चैर्न चाप्यनुचितक्रिया॥ वही, श्लोक ४५

वह अपने कार्यों को इतनी सावधानी से करता है कि उसे अपने धार्मिक अनुष्ठान व्रत, पूजा आदि के द्वारा दूसरों को जरा भी कष्ट नहीं होने पाता।[1] इस प्रकार साधक वैराग्य की तथा संसार की असारता सम्बन्धी योग-कथाओं को सुनने की इच्छा रखते हुए भी महनीय जनों के प्रति समताभाव के साथ उसका सदैव आदर एवं सम्मान करता है।[2]

यदि कहीं पहले से ही उसके मन में योगी, संयमी अथवा साधु आदि के प्रति अनादर के भाव होते हैं तब भी वह ऐसी स्थिति में अनादर और द्वेष के बदले सत्कार और स्नेह भरी सद्भावना का ही व्यवहार करता है। साधक संसार की विविधता तथा मुक्ति के सम्बन्ध में चिन्तन मनन करने में असमर्थ होकर भी सर्वज्ञ द्वारा निर्दिष्ट अथवा उपदिष्ट कथनों पर श्रद्धा रखता है।[3]

इस अवस्था में साधक को सम्यग्ज्ञान न होने से उपयोगी-अनुपयोगी पदार्थों की पहचान नहीं हो पाती। इसलिए वह अनात्मभाव को आत्मस्वरूप समझ बैठता है। इस प्रकार इस दृष्टि में साधक योग-लाभ प्राप्त करने की उत्कट आकाँक्षा रखते हुए भी अज्ञान के कारण अनुचित कार्यों में लगा रहता है। तात्पर्य यह है कि सत्कर्म में लगे रहने पर भी साधक में अशुभ प्रवृत्तियां बनी रहती हैं।

बलादृष्टि

इस दृष्टि में साधक सुखासनयुक्त होकर काष्ठाग्नि जैसा तेज एवं स्पष्ट दर्शन प्राप्त करता है। उसे तत्त्वज्ञान के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती है तथा उसको योगसाधना में किसी भी प्रकार का उद्वेग नहीं रह जाता।[4] इसमें साधक वैसे ही आनन्दानुभूति करता है जैसे सुन्दर युवक

---

१. कृत्येऽधिकेऽधिकगते जिज्ञासा लालसान्विता।
तुल्य निजे तु विकले संत्रासो द्वेषवर्जितः॥ वही, श्लोक ४६

२. भवत्यस्यामविभिन्नाप्रीतियोग कथासु च।
यथाशक्त्युपचारश्च बहुमानश्च योगिषु॥ ताराद्वात्रिंशिका, श्लोक ६

३. दुःखरूपो भवः सर्वं उच्छेदोऽस्य कुतः कथम्।
चित्रा सतां प्रवृत्तिश्च सा शेषा ज्ञायते कथम॥ योगदृटि समु०, श्लोक ४७

४. सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं दृढं।
परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरः॥ वही, श्लोक ४९

सुन्दरी युवती के साथ नाच-गाना सुनने में दत्तचित्त होकर अतीव आनन्द को अधिगत करता है, वैसे ही योगी भी शास्त्र-श्रवण व देव-गुरु की पूजादि में उत्साह एवं आनन्द की प्राप्ति करता है।[1]

पहली दो दृष्टियों की अपेक्षा इस दृष्टि में साधक के मन की स्थिरता सुदृढ़ होती है। कारण यह है कि चारित्र पालन का अभ्यास करते-करते साधक की वृत्तियां एकाग्र हो जाती हैं और तत्त्वचर्चा में भी वह स्थिर हो जाता है। यहाँ तक कि साधक विविध आसनों का सहारा लेकर चारित्र विकास की सभी क्रियाओं को अप्रमत्तभाव से सम्पन्न करता है। इससे उसकी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा कम हो जाती है।[2] धार्मिक कार्यों में वह पूर्णतया तल्लीन हो जाता है। उसे तत्त्वचर्चा सुनने को मिले अथवा न मिले किन्तु उसकी भावना निर्मल एवं इतनी अधिक पवित्र हो जाती है कि उसकी इच्छामात्र से ही उसका कर्मक्षय होने लगता है[3] और शुभ परिणामों के कारण समताभाव का विकास होता है। इसी के फल स्वरूप वह अपनी प्रिय वस्तुओं पर भी आग्रह नहीं रखता।[4] साधक को जीवन यापन के लिए जैसा कुछ मिल जाता है वह उससे ही सन्तुष्ट हो जाता है। इस प्रकार इस दृष्टि में साधक की प्रवृत्तियां प्रशान्त हो जाती हैं, तथा सुख देने वाले आसनों से मन स्थिर हो जाता है और समताभाव का उद्रेक हो जाता है जिससे आत्म-विशुद्धि बढ़ जाती है।

दीप्रादृष्टि

यह दृष्टि प्राणायाम एवं तत्त्वश्रवण से संयुक्त होती है तथा सूक्ष्म भावबोध से रहित भी होती है। इसमें उत्थान नामक दोष आता है

---

१. कान्तकान्तासमेतस्य दिव्यगेयश्रुतौ तथा।
यूनो भवति शुश्रुषा तथा स्यां तत्त्वगोचरा ॥ वही, श्लोक ५२

२. असाधुतृष्णात्वरयोरभावत्वात् स्थिरं सुखं चासनमाविरस्ति।
अध्यात्मतत्त्वालोक, ८६

३. श्रुताभावेऽपि भावेऽस्याः शुभभावप्रवृत्तितः।
फलं कर्मक्षयाख्यं स्यात् परबोधनिबन्धनम् ॥ योगदृष्टि समु०, श्लोक ५४

४. परिष्कारगतः प्रायो विघातोऽपि न विद्यते।
अविघातश्च सावद्यपरिहारान्महोदयः ॥ वही, श्लोक ५६

अर्थात् इसमें चित्त की शान्ति अंशमात्र भी नहीं रहती ।[1] दीपक के प्रकाश की भांति इस दृष्टि में साधक की आस्था दृढ़ और स्थिर होती जाती है फिर भी जैसे हवा के तीव्र झोंके से दीपक बुझ जाता है वैसे ही इस दृष्टि में भी साधक तीव्र मिथ्यात्व के उदय के कारण श्रद्धाहीन हो जाता है। योगिक अनुष्ठानों से इस दृष्टि में साधक शारीरिक और मानसिक स्थिरता को पाता है। जिस प्रकार प्राणायाम न केवल शरीर को ही दृढ़ करता है अपितु आन्तरिक नाड़ियों के साथ-साथ मन को भी शुद्ध करता है। उसी प्रकार इस दृष्टि में रेचक प्राणायाम की तरह बाह्य परिग्रहादि विषयों में ममत्व बुद्धि तो रहती है किन्तु पूरक प्राणायाम की तरह विवेक शक्ति में भी वृद्धि होती है और कुंभक प्राणायाम की तरह ज्ञान केन्द्रित हो जाता हैं। इसे भाव प्राणायाम भी कहा गया है।[2] इस पर जिस साधक ने अधिकार प्राप्त कर लिया हैं वह बिना संशय के प्राणों से भी अधिक धर्म साधना को महत्त्व देता है। वह धर्म के लिए प्राणों का त्याग करने में भी संकोच नहीं करता[3] अर्थात् इस दृष्टि में साधक की धार्मिक आस्था बहुत ही सुदृढ़ हो जाती है।

इस दृष्टि में यद्यपि साधक का चारित्रिक विकास होता है फिर भी वह अपूर्ण ही रहता है। वह लौकिक पदार्थों की अनित्यता को अच्छी तरह पहचान लेता है। इसी से वह इनका त्याग कर आत्मा वा परमात्मा के स्वरूप को जानने के लिए गुरुओं अथवा मुनियों के पास जाने को उत्सुक रहता है किन्तु तीव्र मिथ्यात्व के कारण वह कर्म करने में समर्थ नहीं हो पाता और न ही वह पूर्ण सम्यग्दर्शन ही प्राप्त कर पाता है। अतः यह दृष्टि मिथ्यात्वमय ही होता है।[4]

इन चार दृष्टियों में साधक को सम्यग्ज्ञान नहीं हो पाता इसीलिए इन्हें ओघदृष्टि कहा जाता है। यदि तत्त्वज्ञान हो भी जाए तो वह

---

१. प्राणायावमती दीप्रा न योगोत्थानवत्यलम्।
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता मूक्ष्मबोधविवर्जिता ॥ वही, श्लोक ५७

२. रेचनाद्बाह्यभावनामन्तर्भावस्य पूरणात्।
कुंभनान्निश्चितार्थस्य प्राणायामश्च भावतः ॥ ताराद्वात्रिंशि०, श्लोक १६

३. प्राणेभ्योऽपि गुरुधर्मः सत्यामस्यामसंशयम्।
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं न धर्मं प्राणसंकटे ॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक ५८

४. मिथ्यात्वमस्मिंश्च दृशां चतुष्केऽवतिष्ठते ग्रन्थ्यविदारणेन।
अध्यात्मतत्त्वालोक, १०८

अस्पष्ट ही रहता है।[1]

मिथ्यात्व की इसी सघनता के कारण इन दृष्टियों के जीवों को **अवेद्य-संवेद्यपद** कहा गया है[2] क्योंकि अज्ञानवश जीव अनेक अनुचित कार्यों के करने से दुःखी होता है। दूसरे शब्दों में इसे भवाभिनन्दी भी कहा गया है। इस अवस्था में जीव अपरोपकारी, मत्सरी, भयभीत, मायावी, संसार के प्रपंचों में रत और प्रारम्भिक कार्यों में निष्फल होता है।[3]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि ये चार दृष्टि यद्यपि मिथ्यात्व अवस्था की हैं जिसमें साधक यम, नियम आदि तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के विधिवत् पालन करने से शान्त, भद्र, विनीत, मृदु तथा चारित्र का विकास करते हुए मिथ्यात्व को घटाता है और योग साधना में प्रगतिशील होता है।[4]

स्थिरादृष्टि

इस दृष्टि में अप्रतिपाति सम्यग्दर्शन होता है। इस अवस्था को प्राप्त करते ही साधक ऊर्ध्वगामी हो जाता है। इसमें प्रत्याहार की साधना पूर्ण की जाती है। साधक स्व-स्व विषयों के सम्बन्ध से विरत होकर चित्त को स्वरूपाकार करता है। साधक की सभी क्रियाएं निर्भ्रान्त, निर्दोष और सूक्ष्मबोधयुक्त होती हैं।[5]

इस दृष्टि में साधक की मिथ्यात्व ग्रंथी का भेदन होने से मानसिक स्थिति सन्तुलित रहती है, फलतः उसे संसार के भोग-विलास क्षणभंगुर

---

१. नेतद्वतोऽयं तत्तत्त्वे कदाचिदुपजायते ॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक ६८

२. दे० अध्यात्मतत्त्वालोक, श्लोक १०६

३. क्षुद्रोलाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दीस्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक ७६

४. शान्तो विनीतश्च मृदुप्रकृत्या भद्रस्तथा योग्यचारित्रशाली ।
मिथ्यादृगप्युच्यत एव सूत्रे विमुक्तिपात्रंस्तुतधार्मिकत्वः ॥
अध्यात्मतत्त्वालोक १२०

५. स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।
कृत्यमभ्रान्तमनर्थं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक १५४

प्रतीत होते हैं, जिनसे वह मुक्त होकर चारित्र के विकास पर ही अपनी शक्ति केन्द्रित करता है और एक मात्र आत्मा को ही उपादेय मानता है।[1] इसको उपमा रत्न की प्रभा से दी गयी है, जो देदीप्यमान, शान्त, स्थिर और सौम्य होती है।

कान्तादृष्टि

इसमें साधक को सम्यग्दर्शन अविच्छिन्न रूप से रहता है। जैसे कान्ता (पतिव्रता स्त्री) घर के सभी कार्य करते हुए भी हृदय में पति का स्मरण करती रहती है, ऐसे ही कान्तादृष्टि का साधक दूसरी क्रियाएं करता हुआ भी सदैव आत्मानुभूति में निमग्न रहता है। चित्त परोपकार एवं सद्विचारों से ओतप्रोत होता है, जिसमे चित्त की सभी विफलताएं नष्ट हो जाती हैं।[2]

इसमें साधक की धारणा और सुदृढ़ हो जाती है। पूर्व दृष्टियों में ग्रंथि का भेद हो जाने से साधक यहां अपूर्व चारित्र का विकास करता है। कषायवृत्ति उपशान्त हो जाती है तथा उसकी प्रत्येक क्रिया अहिंसामय बन जाती है। सहिष्णुता के परिवर्धन से साधक क्षमाशील हो जाता है इससे वह सबका प्रियपात्र बन जाता है।[3] इसकी उपमा नक्षत्रों के आलोक से दी गयी है जिससे कि वह शान्त स्थिर और चिरप्रकाशयुक्त हो जाता है।

प्रभादृष्टि

इस दृष्टि में साधक योग के सातवें अंग 'ध्यान' की साधना करता है इससे उसका चित्त एकाग्र हो जाता है। शरीर निरोग और कान्तिमान होता है। उसमें प्रतिपाति तथा शम गुणों का आविर्भाव हो जाता है।[4]

---

१. एवं विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरास्तथा।
धर्मबाधापरित्याग-यत्नवन्तश्च तत्त्वतः ॥ योगदृष्टि समु०, श्लोक १५८

२. कान्तायमेतन्येषां प्रीतये धारणा परा।
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसाऽस्ति हितोदया ॥ वही, श्लोक १६२

३. अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात्समाचारविशुद्धितः।
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा ॥ वही, श्लोक १६३

४. ध्यानप्रिया प्रभावेन नास्यां रुगत एव हि
तत्त्वप्रतिपत्तियुता विशेषेण शमान्विता ॥ योगदृष्टि समु० श्लोक १७०

ऐसी स्थिति में प्राणियों के प्रति समता और असंगानुष्ठान उदित होता है, जिससे वह मोक्षमार्ग पर तीव्रता से अग्रसर हो जाता है।[1] यहां साधक परम वीतरागभाव को प्राप्त करने की ओर बढ़ता है। इसीलिए इसे प्रशान्तवाहिता विसंभाग परिक्षय, शिववर्त्म और ध्रुवाध्वा भी कहा गया है।[2] इसकी उपमा सूर्य के प्रकाश से दी गयी है जिससे वह बहुत सुस्पष्ट और तेजमय हो जाता है।

परादृष्टि

इस दृष्टि में साधक समाधिनिष्ठ सर्व संगों से रहित, आत्म-प्रवृत्तियों में जागरूक तथा उत्तीर्णशयी होता है।[3] वस्तुतः यह सर्वोत्तम तथा अन्तिम अवस्था है। इसमें परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। **पातञ्जलयोगदर्शन** में कथित योग के अन्तिम अंग असम्प्रज्ञात समाधि की यहां सिद्धि हो जाती है।

साधक सब इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। मोक्ष तक की इच्छा उसे नहीं रहती क्योंकि जो भी इच्छाएं होती हैं वे सभी कषाय-मूलक होती हैं। इस प्रकार अनाचार तथा अतिचार से वर्जित होने के कारण साधक क्षपक अथवा उपशमश्रेणी द्वारा आत्मविकास करता है।[4] आठवें गुण-स्थान के द्वितीय चरण से योगी प्रगति करते हुए क्षपक श्रेणी द्वारा चार घाति कर्मों को नष्ट करके केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।[5]

---

१. सत्प्रवृत्तिपदं चेहाऽसंगानुष्ठानसंज्ञितम्।
महापथप्रयाणं यदनागामिपदावहम्॥ वही, श्लोक १७५

२. प्रशांतवाहितासंज्ञं विसंभागपरिक्षयः।
शिववर्त्मध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः॥ वही, श्लोक १७६

३. समाधिनिष्ठा तु परा, तदासंगविवर्जिता।
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च॥ वही, श्लोक १७८
तथा मिला०—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिवसमाधिः॥ पा.यो. ३.३

४. निराचारपदोह्यस्यामतिचारविवर्जितः।
आरूढारोहणाभावगतितस्त्वस्य चेष्टितम्। यो० दृ०, समु० १७९

५, द्वितीयाऽपूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते
केवलश्रीस्ततश्चास्य निःसपत्नासदोदया॥ यो० दृ० समु० १८२

इस प्रकार वह साधक से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता हैं। इस क्रम में योगसन्यास नामक योग को प्राप्त करता है।[1] इसी से अन्तिम समय में शैलेशी अवस्था प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करता है।

इन आठ दृष्टियों में **पातञ्जलयोगदर्शन** में वर्णित अष्टांग योग का भी समावेश हो जाता है। इसके साथ ही आचार्य उमास्वाति द्वारा बतलाए गए ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी इनमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं।

यहां पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक होगा कि जैन आगम ग्रंथों में वर्णित चौदह गुणस्थानों और आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा कृत इस वर्गीकरण में कोई भिन्नता नहीं है कारण कि प्रथम चार दृष्टियों में प्रथम गुणस्थान, पांचवीं-छठी दृष्टि में पांचवा-छठा गुणस्थान, सातवीं दृष्टि में सातवां और आठवां गुणस्थान तथा शेष ९ से १४ तक के गुणस्थानों का आठवीं दृष्टि में समावेश हो जाता है।

इसी प्रकार योगबिन्दु में उल्लिखित योग साधना के विकास की पांच भूमिकाएं भी इन्हीं गुणस्थानों अथवा आठ दृष्टियों में अन्तर्भूत हो जाती हैं। वे **योगबिन्दु** में वर्णित पांच भूमियां इस प्रकार हैं।[2]

(१) अध्यात्म
(२) भावना
(३) ध्यान
(४) समता
(५) वृत्तिसंक्षय

इनका विस्तृत विश्लेषण आगे किया जायेगा।

(ख) योग का अधिकारी

योग के अधिकारी की चर्चा से पूर्व आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगी की विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार योगी उसे कहते हैं जो अपने

---

१. क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञ सर्वलब्धिफलान्वितः।
परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगान्तमश्नुते॥ वही, श्लोक १८५

२. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्। यो०बि०, श्लोक ३१

इष्ट-इच्छित लक्षित नगर की ओर यथाशक्ति गमन करने वाला पुरुष विशेष है। इसे इष्टपुर-पाथिक भी कहा जाता है, इसको जिसने गुरु-विनय आदि की परिपूर्ण उपलब्धिरूप योग को तो आत्मसात चाहें नहीं किया है फिर भी उस पर जो यथाशक्ति प्रगतिशील है, उसे ही योगी कहा जाता है।[1]

योगियों के भेद

आचार्य हरिभद्रसूरि ने चार प्रकार के योगी बतलाए हैं—(१) कुलयोगी, (२) गोत्रयोगी, (३) प्रवृत्तचक्रयोगी और (४) निष्पन्न योगी।[2]

(१) कुलयोगी

जो योगियों के कुल में जन्मे हैं, स्वभावतः योगधर्मी हैं और जो योगमार्ग का अनुशरण करने वाले हैं, वे **कुलयोगी** कहलाते हैं।[3] वे किसी से भी द्वेष नहीं रखते, देव गुरु एवं धर्म उन्हें स्वभाव से ही प्रिय होते हैं तथा ये दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध और जितेन्द्री होते हैं।[4]

(२) गोत्रयोगी

आर्यक्षेत्र के अन्तर्गत भारतभूमि में जन्म लेने वाले मनुष्य जो **भूमिभव्य** कहे जाते हैं, उन्हें **गोत्रयोगी** कहा जाता है।[5]

इसका कारण यह है कि भारतभूमि में योगसाधना के अनुकूल साधन और निमित्त आदि सहज ही उपलब्ध होते रहे हैं परन्तु केवल

---

१. अद्धेणं गच्छंतो सम्मयं सत्तीए इट्ठपुरपहिओ।
जह तह गुरुविणयाइसु पयट्ठओ एत्थ जोगित्ति ॥ यो०शा०, गा० ७

२. कुलादियोगभेदेन चतुर्धा योगिनो सतः।
अतः परोपकारोऽपि लेशतो न विरुध्यते ॥ यो० दृ० समु०, श्लोक २०८

३. ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये।
कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नापरे ॥ वही, श्लोक २१०

४. सर्वत्राऽद्वेषिणश्चैते गुरुदेवद्विजप्रियाः।
दयालवो विनीताश्च बोधवन्तो यतेन्द्रियाः ॥ वही, श्लोक २११

५. दे० जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० ७१

भूमि की भव्यता और साधनों की सुलभता से ही योगसाधना की सिद्धि नहीं की जा सकती, वह तो साधक की अपनी भव्यता, योग्यता और सुपात्रता से ही सिद्ध होती है किन्तु गोत्रयोगी में ऐसी योग्यता तथा सुपात्रता नहीं होनी बल्कि साधनों के सहज रूप ही प्राप्त होने पर भी वह यम-नियम तक का पालन नहीं करता। उसकी प्रवृत्तियां यहां संसाराभिमुखी हो जाती हैं। अतः ऐसे मनुष्य को योग का अधिकारी नहीं माना जा सकता।

(३) प्रवृत्तचक्रयोगी

जैसे चक्र के किसी भाग पर दण्ड को साध कर घुमा देने से वह पूरा का पूरा घूमने लगता है वैसे ही जिन मनुष्यों के किसी भी अंग से योगचक्र का स्पर्श हो जाता है तो वे योग में प्रवृत्त हो जाते हैं और उन्हें इसी कारण **प्रवृत्तचक्रयोगी** कहा जाता है।[1]

वे यम के चार[2] भेदों में से इच्छायम और प्रवृत्तियम को साध चुके होते हैं तथा स्थिरयम और सिद्धियम को साधने में प्रयत्नशील भी रहते हैं। यह **प्रवृत्तचक्रयोगी** आठ गुणों से युक्त होता है, वे गुण हैं[3]—

(१) शुश्रूषा

सत् तत्त्व सुनने की तीव्र अभिलाषा **शुश्रूषा** कहलाती है।

(२) श्रवण

अर्थ का मनन-अनुसन्धान करते हुए सावधानी पूर्वक वीतरागवाणी को सुनने का नाम **श्रवण** है।

(३) ग्रहण

सुने हुए को अधिग्रहीत करना **ग्रहण** कहलाता हैं।

---

१. प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यमद्वयसमाश्रयाः।
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्तं शुश्रूषादिगुणान्विताः॥ वही, श्लोक २१२

२. यमाश्चतुर्विधा इच्छाप्रवृत्ति स्थैर्यसिद्धयः। योगभेद द्वात्रिंशिका, श्लोक २५

३. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक २१२ पर संस्कृत टीका : अत एवाह शुश्रूषा-श्रवणग्रहणधारणविज्ञानेहापोहतत्त्वाभिनिवेशगुणयुक्ताः।

(४) धारण

ग्रहण किए हुए संस्कारों का चित्त में स्थिर होना धारण है।

(५) विज्ञान

यहां विज्ञान का अर्थ है—विशेषज्ञान अर्थात् पहले अवधारण किए हुए बोध को दृढ़ करना विज्ञान है।

(६) ईहा

चिन्तन, मनन, विमर्श एवं शंका समाधान करना ईहा कहलाती है।

(७) अपोह

तर्क-वितर्क के बाद बाध अंशक के निवारण का नाम अपोह है।

(८) तत्त्वाभिनिवेश

अन्तःकरण में तत्त्व का निर्धारण होना तत्त्वाभिनिवेश है।

योगी के तीन अवंचक होते हैं—(१) योगावंचक (२) क्रियावंचक (३) फलावंचक। प्रवृत्तचक्रयोगी इन तीनों को ही प्राप्त कर लेता है। इनका फल जो अमोघ होता है वही तृतीय फलावंचक है।[1]

प्रवृत्तचक्रयोगी सर्वप्रथम योगावंचक को धारणा करता है और फिर उसे शेष दोनों अवंचक भी प्राप्त हो जाते हैं।[2]

प्रवृत्तचक्रयोगी अपनी आत्मा की उन्नति के लिए यम-नियमों का पालन करता है तथा रागद्वेष के सोपानों को एक के बाद एक पार करता जाता है।

(४) निष्पन्नयोगी

जिसका योग निष्पन्न हो चुका होता है अथवा पूर्ण हो गया होता है वह निष्पन्नयोगी कहलाता है। ऐसा योगी सिद्धि के अति निकट होता

१. क्रियायोगफलाख्यं यत् श्रूयतेऽवंचकत्रयम्।
साधूनाश्रित्य परममिषुलक्ष्यक्रियोपमम्॥ योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक ३४

२. आद्यावञ्चकयोगाप्त्या तदन्यद्वयलाभिनः।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विदः॥ वही, श्लोक २१३

है इसलिए उसे धर्मव्यापार को भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। उसकी प्रवृत्ति सहज रूप में धर्ममय ही बनी रहती है।[1]

योग का अधिकारी

अन्तिम पुद्गल परावर्त में स्थित शुक्ल पाक्षिक-मोहनीय कर्म के तीव्र भाव से रहित, भिन्न ग्रंथि अर्थात् जिसकी मोह प्रसूत कार्मिक ग्रंथि टूट गयी है, जा चारित्र पालन के पथ पर समारुढ़ है, वही योग का अधिकारी है।[2]

योगाधिकारी के भेद

योगबिन्दु के अनुसार योग के अधिकारी साधक दो प्रकार के होते हैं—अचरमावर्ती तथा चरमावर्ती।

(१) अचरमावर्ती

इस साधक पर मोह आदि परभावों का अत्यधिक प्रभाव होता है। अतः उसकी प्रवृत्ति घोर सांसारिक, विवेक रहित एवं अध्यात्मिक भावनादि क्रिया कलापों से विमुख होती है।[3] सांसारिक पदार्थों में लोभ, मोह के कारण ही जीव को **भवाभिनन्दी** कहा गया है। यद्यपि अचरमावर्ती अथवा भवाभिनन्दी जीव धार्मिक व्रत नियमों का पालन-अनुष्ठान आदि करता है किन्तु यह सब श्रद्धाविहीन होता है। सद्धर्म एवं लौकिक कार्य भी वह कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की कामना से करता है। इस दृष्टि से इसे **लोकपंक्तिकृतादर** भी कहा गया है।[4]

---

१. जैन योग सिद्धान्त और साधना, पृ० ७९

२. (क) चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः।
भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम् ॥ योगबिन्दु, श्लोक ७२
(ख) अहिगारी पुण एतथं विण्णेओ अपुणबंधाइ त्ति।
तह तह नियत्तमयई अहिगारोऽणेगमेओ त्ति ॥ यो० श०, गा० ६

३. प्रदीर्घभवसद्भावान्मालिन्यातिशयात् तथा।
अतत्त्वाभिनिवेशाच्च नान्येष्वन्यस्य जातुचित् ॥ यो० बि०, श्लोक ७३

४. भवाभिनन्दी प्रायस्त्रिसंज्ञा एवं दुःखिताः।
केचित् धर्मवृतोऽपि स्युर्लोकपक्तिकृतादराः ॥ वही, श्लोक ७६ तथा दे० ८८

ऐसी भावना वाले जीव की स्थिति कभी स्थिर नहीं रहती और आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह में लिप्त रहने के कारण वह सदा दुःखी एवं संतप्त रहता है। वह सदा दूसरों की बुराइयां एवं प्रतिघातों में लगा रहता है। इस प्रकार वह जीव क्षुद्रवृत्ति, अपरोपकारी, भयभीत ईर्ष्यालु, मायाचारी और मूर्ख होता है।[1] ऐसे स्वभाव वाले साधक भले ही यम-नियमों का पालन करे किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि के अभाव में वे योगी नहीं हो सकते। वे भी योग के अधिकारी नहीं हो सकते, जो लौकिक प्रतिष्ठा हेतु अथवा लौकिक प्रदर्शन अथवा आकर्षण के भाव से योग साधना में प्रवृत्त होते हैं।

(२) **चरमावर्ती**

वस्तुतः योग साधना का प्रारम्भ यहीं से होता है।[2] 'चरमावर्त' में (चरम + आवर्त) इन दो शब्दों का मेल है। चरम का अर्थ है—अन्तिम और आवर्त का अर्थ है—भंवर, चक्र, किनारा, पुद्गलों का (आवर्त)। इस प्रकार इस भंवर अर्थात् आवर्त में विद्यमान साधक **चरमावर्ती** कहलाता है।

इसमें साधक स्वभाव से मृदु, शुद्ध तथा विशुद्ध होता है।[3] इस पर न्यून मोह का घेरा प्रगाढ़ नहीं होता। मिथ्यात्व की मलिनता भी अत्यन्त होती है। वह शुक्ल पाक्षिक होता है और उसका ग्रंथिभेद भी हो चुका होती है।[4] उसका संसार परिभ्रमण बहुत ही थोड़ा, केवल बिन्दु मात्र संसार चक्रो अवशिष्ट रहता है।[5] साधक समस्त आन्तरिक भावों से

---

१. क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलाम्यसंगतः॥ वही, श्लोक ८७

२. दे० योगशतक, परिशिष्ट, पृ० १०९

३. नवनीतादिकल्पस्तच्चरमावर्त इष्यते।
अत्रैवविमलो भावो गोपेन्द्रोऽपि यदम्यधात॥ योगलक्षुद्वा०, श्लोक १८

४. चरमे पुद्गलावर्ते, यतो यः शुक्लपाक्षिकः।
भिन्न ग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवेतदुदाहृतम्॥ योगबिन्दु, श्लोक ७२

५. चरमावर्तिनो जन्तोः सिद्धेरासन्नता ध्रुवम्।
भूयांसोऽमी व्यतिक्रान्तास्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ॥
मुक्त्यद्वेषप्राधान्य द्वात्रिंशिका, श्लोक २८
(जैन योग सिद्धान्त और साधना, पृ० ६५ पर उद्धृत)

परिशुद्ध होकर जिन धार्मिक क्रिया एवं अनुष्ठानों को करता है, उन्हें जैन परम्परा में योग माना गया है।[1]

चरमावर्त का साधक आध्यात्मिक उत्थान की ओर अग्रसर होते हुए समता की प्राप्ति करता है। जहां उसे प्रिय-अप्रिय, सुन्दर-असुन्दर से मोह-द्वेष नहीं रहता, बल्कि उसके सभी प्रलोभन एवं मिथ्यात्व समाप्त हो जाते हैं।

योग के सूक्ष्म ज्ञाता महर्षि पतञ्जलि ने भी योगाधिकारी पर चिन्तन किया है। आपके अनुसार ये अजिकारी दो प्रकार के होते हैं—भवप्रत्यय योगाधिकारी और उपायप्रत्यय योगाधिकारी। इसके बाद उन्होंने पुनः भवप्रत्यय के भी दो[2] भेद किए हैं—(१) विदेह और (२) प्रकृतिलय। भोजवृत्तिकार के अनुसार जो योगी वितर्कानुगत तथा विचारानुगत भूमि में प्रविष्ट होकर वहां प्राप्त आनन्दातिरेक को ही मोक्ष मानते हैं, वे विदेहयोगी कहे जाते हैं।[3]

इसके विपरीत जो साधक अस्मितानुगत समाधि के चित्त में उद्भूत अस्मितावृत्ति को आत्मा मान कर स्वयं को कृतार्थ मानने लगते हैं, उन्हें प्रकृतिलययोगी बतलाया गया है।[4]

इन दोनों श्रेणो के योगी वितर्कानुगत तथा विचारानुगत समाधि में पंच महाभूतों, इन्द्रियों और पांच सूक्ष्मों का साक्षात्कार कर लेने के कारण शरीर से आत्माध्यास छोड़ चुके होते हैं, किन्तु वास्तविक आत्म-दर्शन से वंचित होने से वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते। **सांख्यदर्शन** के निम्न वचनों का भी यही अभिप्राय सिद्ध होता है कि आनन्द की प्रगटता मात्र मुक्ति नहीं है—**नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिः विधर्मत्वात्**[5]। क्योंकि कारण

---

१. दे० योगलक्षण द्वात्रिंशिका, श्लोक २२
२. भवप्रत्ययो विदेशप्रकृतिलयानाम्। पा० योगसूत्र, १.१९
३. दे० पातंजलयोग सूत्र एक अध्ययन, पृ० १४८
४. यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोम परिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रं अवभाति साऽस्मिता। अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परं परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति, तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपाये, प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते। (भट्टाचार्य) पातंजलयोगसूत्र पर भोजवृत्ति, पृ० २९
५. सांख्यसूत्र, ५.७४

में लय होने से मुक्ति की उपलब्धि नहीं हो जाती है। कारण में लय होना तो जल में डुबकी लगाने के समान है।[1]

जैसे एक गोताखोर गोता लगाने के बाद अत्यधिक देर में निश्चित रूप से जल से बाहर आता है चूंकि उसको सदा सर्वदा जल में रहना सम्भय ही नहीं है वैसे ही प्रकृतिलयों को भी निश्चितकाल तक आनन्दोपभोग करने के बाद तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए जन्म ग्रहण करना पड़ता है।[2]

भवप्रत्यय को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि भव का अर्थ है—जन्म और प्रत्यय अर्थात् प्रति+अय=प्रत्यय>प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् प्रतीति प्रकट होने अथवा साक्षात्कार करना प्रत्यय कहलाता है। इस प्रकार भवप्रत्यय का अर्थ हुआ—जन्म से ही प्राप्तज्ञान। योग के सन्दर्भ में जन्म से प्राप्तज्ञान अथवा योग्यता और भवप्रत्यय के सन्दर्भ में इसका अभिप्राय होगा—'जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए आवश्यक योग्यता से युक्त होना।[3]

भाष्यकार व्यास के अनुसार भी विदेहों एवं प्रकृतिलयों की देवयोनि विशेष होती है, जिसमें से निश्चित अवधि के बाद जन्म लेना ही पड़ता है।[4] कुछ विद्वानों के अनुसार भी इन दोनों के विवेक ज्ञानशून्य होने से ये साधिकार चित्तवाले होते हैं। जैसे वर्षाकाल के आने पर मृत्तिकाभाव को प्राप्त हुए मण्डूक आदि के देह पुनः मण्डूकभाव को प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृति में लय को प्राप्त हुआ चित्त भी अवधि के अनन्तर फिर संसाराभिमुख हो जाता है।[5] अतः तत्त्वों में लीनता की अवधि के भोग पर आए हुए विदेह और प्रकृतिलय योगी जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता से युक्त चित्त वाले होते हैं।

---

१. न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्। सांख्यसूत्र ३.५४
२. तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिव अनुभवन्ति य।वन्नपुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम्। पातञ्जलयोगसूत्र पर व्यास भाष्य, पृ० ६०
३. दे० पातञ्जलयोग : एक अध्ययन, पृ० १४६
४. दे० पातञ्जलयोगसूत्र, १.१६ पर व्यास भाष्य
५. दे० पातञ्जल दर्शन प्रकाश, १.१६ पर प्रवचन

इससे भिन्न जो उपाय प्रत्यय योगी हैं, उन्हें श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा आदि प्रयासों के द्वारा क्रमशः असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्ति होती है।[1] भोज और व्यास दोनों ही श्रद्धा को चित्त की प्रसन्नता, वीर्य को उत्साह, स्मृति को अनुभूत ज्ञान को न भूलना, समाधि की समाहित तथा प्रज्ञा को ज्ञेय पदार्थों का विवेक मानकर, श्रद्धा से वीर्य, वीर्य से स्मृति, स्मृति से समाधि, समाधि से यथार्थज्ञान, यथार्थज्ञान से परवैराग्य और परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के क्रम को स्वीकार किया गया है।

सूत्रकार पतञ्जलि ने इन पूर्वोक्त उपायों की मन्दता और तीव्रता के आधार पर अधिकारियों के तीन भेद बतलाए हैं[3]--(१) मृदूपाय, (२) मध्योपाय और (३) अधिमात्रोपाय। पुनः संवेगों की मन्दता, तीव्रता के आधार पर उन तीन को तीन और अवान्तर वर्गों में विभाजित करके कुल नौ श्रेणियों में बांटा है जो वे हैं--(१) मृदूपाय, मृदूसंवेग, (२) मृदूपाय मध्यसंवेग (३) मृदूपाय तीव्रसंवेग, (४) मध्योपाय मृदुसंवेग (५) मध्योपाय मध्यसंवेग (६) मध्योपाय तीव्र सवेग (७) अधिमात्रोपाय मृदुसंवेग (७) अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग और (६) अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग नाम से अभिहित किए गए है।[4]

भोज ने संवेग से तात्पर्य क्रिया करने में कारणरूप दृढ़तर संस्कार बतलाया है[5] क्योंकि अभ्यास और वैराग्य दोनों के बल से

---

१. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। पा० योगसूत्र १.२०

२. तत्र श्रद्धायोगविषये चेतसः प्रसादः। वीर्यमुत्साहः। स्मृतिरनुभूतासम्प्रमोषः। समाधिरेकाग्रता प्रज्ञा प्रज्ञातव्यविवेकः।
तत्रश्रद्धावतो वीर्यं जायते, योगविषय उत्साहवान् भवति। सोत्साहस्य च पाश्चात्यासु भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते। तत्स्मरणाच्च चेतः समाधीयते। समाहितचित्तश्च भाव्यं सम्यक्विवेकेन जानाति। त एते सम्प्रज्ञातस्य समाधे. रूपायाः, तस्याभ्यासात् पराच्च वैराग्यात् भवत्यसंम्प्रज्ञातः। पातञ्जलयोगसूत्र, १.२० पर भोजवृत्ति

३. मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः। पातंजलयोगसूत्र, १.२२

४. तद्भेदेन नवयोगिनोभवन्ति। मृदुपाय, मृदुसंवेगो मध्मसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च। मध्योपाय-मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च। अधिमात्रोपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च। पातंजलयोगसूत्र, भोज वृत्ति, १.२२

५. संवेगः क्रियाहेतुः दृढ़तरः संस्कारः। वही, १.२१

चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। अतः संवेग का अर्थ वैराग्य करना अधिक समीचीन होगा।[1]

उपायों का सम्बन्ध अभ्यास अथवा क्रियात्मक साधना से है। ऐसी अवस्था में संवेग का अर्थ वैराग्य करने से योगफल प्राप्ति के दोनों हेतुओं की मन्दता-तीव्रता के आधार पर वर्गीकरण हो जाता हैं। यद्यपि इस आधार पर साधकों की नौ श्रेणियां बन जाती हैं तब भी सूत्रों में विभाजन की दृष्टि से मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय से तीन ही प्रमुख श्रेणियां बनतीं हैं।

इन मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय अधिकारियों को ही व्याख्याकारों ने मन्द, मध्यम और उत्तम या आरूरूक्षु युंजान और योगारुढ़ शब्दों से अभिहित किया है। अतः मृदूपाय को मन्दाधिकारी या आरूरूक्षु, मध्योपाय को मध्यमाधिकारी या युंजान एवं अधिमात्रोपाय को उत्तमाधिकारी या योगरुढ़ भी कहते हैं।[2]

इन तीन प्रकार के अधिकारियों के योग का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने निर्देश किया है कि—उत्तमाधिकारी के लिए प्रथमपाद में अभ्यास, वैराग्य और ईश्वर प्रणिधान, मध्यम के लिए क्रिया-योग और मन्दाधिकारी के लिए अष्टांग-योग अपेक्षित है। भावगणेश ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[3]

भोज और व्यास ने यद्यपि उत्तम के लिए समाहित चित्त और मध्यम तथा मन्द के लिए व्युत्थितचित्त का निर्देश किया है किन्तु उनकी मान्यता भी इससे भिन्न नहीं है।[4] मन्द और मध्यम अधिकारियों के

---

१. संवेग : वैराग्यम्। तत्त्ववैशारदी, २.२१

२. योगाधिकारिणास्त्रिविधा मन्दमध्यमोत्तमाः क्रमेणारूरूक्षु युंजान,, योगारुढरूपाः। पातञ्जलयोगसूत्र पर भावगणेश वृत्ति, २.१

३. समाहितचित्तस्योत्तमाधिकारिणो योगारोहयोग्यस्याभ्यासवैराग्याभ्यामेव क्रियायोगनिरपेक्षाभ्याम् योगनिष्पत्तिः पूर्वपादे प्रतिपादिता। यद्यपि वक्ष्यमाणायमनियमादयः सर्वेऽपि क्रियायोगास्तथापि तेभ्यः समाहृत्य प्रकृष्टसाधनत्रयं मध्यमाधिकारिणं प्रत्युपदिष्टम्। पातञ्जलयोगसूत्र पर भावगणेश वृत्ति, २.१

४. दे० पातञ्जलयोग एक अध्ययन, पृ० १५०

लिए क्रमशः क्रियायोग और अष्टांगयोग का विधान योगवार्तिक में विज्ञान भिक्षु ने और अधिक स्पष्ट रूप से समझाया है।[1]

योग की भूमियां

आध्यात्मिक दृष्टि से योग के बीज तथा विचार पुरातन जैन आगमों में प्राप्त हो जाते हैं फिर भी उनको क्रमशः व्यवस्थित स्वरूप देकर जैन योग को पृथक्तया स्थिर करने का आदिश्रेय आचार्य हरिभद्रसूरि को ही जाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने योग विषयक प्रमुख चार ग्रंथों में जैनयोग का सांगोपांग तथा क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत किया है। योगबिन्दु में उन्होंने जैन योग की पांच भूमियों का वर्णन किया है।[2] जो इस प्रकार है—

(१) अध्यात्म
(२) भावना
(३) ध्यान
(४) समता और
(५) वृत्तिसंक्षय

पातञ्जलयोगसूत्र में निर्दिष्ट सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात ये दोनों समाधियां भी इन्हीं में समाविष्ट हो जाती हैं।

अध्यात्मयोग

जैन आगमों[3] में मोक्षाभिलाषी आत्मा को अध्यात्मयोगी बनने

---

१. पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिणाम् अभ्यासवैराग्ये एव योगयोः साधनमुक्तम्, ततश्च मन्दाधिकारिणाम् तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानान्यपि केवलानि साधनान्येतत्पादस्यादावुक्तानि। अतः परं मन्दतराणाम् यमादीन्यपि योगसाधनानि वक्तव्यानि, ज्ञानसाधनप्रसंगेन। योगवार्तिक, २.२८

२. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ योगबिन्दु, श्लोक ३१

३. (क) अज्झप्पजोगसुद्धादाणं उवदिट्ठिए ठिअप्पा। सूत्रकृतांग०, १.१६.३
(ख) अज्झप्प ज्झाणजुत्ते (अध्यात्म (अध्यात्म ध्यान युक्त) प्रश्नव्याकरण ३, संवरद्वार व्याख्याकार ने इस सूत्र की निम्न व्याख्या की हैं— अध्यात्मनि आत्मानमधिकृत्य आत्मालंबनं ध्यानं चित्तनिरोधः तेन युक्तः। वही

की, योग से युक्त होने की बार-बार प्रेरणा दी गयी है। इसका कारण यह है कि चारित्रिक विकास के लिए अध्यात्मयोग के अनुष्ठान की नितान्त आवश्यकता है। इसीलिए आचार्यश्री ने सर्वप्रथम अध्यात्मयोग की भूमि का निर्देश मुमुक्षु साधक को दिया है।

अध्यात्मयोग से अभिप्राय क्या है? इस पर आचार्य ने कहा है कि—'उचित प्रवृत्ति से अणुव्रत, महाव्रत से युक्त, चारित्र का पालन करना, उसके साथ-साथ मैत्री आदि भावनापूर्वक आगमवचनों के अनुसार तत्त्वचिन्तन भी करना' अध्यात्मयोग कहलाता है।[1]

अध्यात्म में अधि और आत्म ऐसे ये दो पद हैं जिसका अर्थ है—आत्मा को आत्मा में अधिष्ठित करके रहना। इसका तात्पर्य है कि जो अपने में ही सदैव बना रहता है, अपने में ही रमण करता है, वह ही अध्यात्म है। अध्यात्म तत्सम्बद्ध बहुविध कार्य-कलाप में भी घटित होता है।[2]

अध्यात्मयोग के तत्त्वचिन्तन रूप लक्षण में दिए गए ये चार विशेषण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं—(१) औचित्य, (२) वृत्तसमवेतत्त्व, (३) आगमानुसारित्व और (४) मैत्री आदि भावना। इन पर विचार करने से अध्यात्म का वास्तविक रहस्य भली-भांति स्पस्ट हो जाता है।

(क) **औचित्याद्**

व्याख्याकार इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—**औचित्याद् 'उचित प्रवृत्तिरूपात्'** अर्थात् शास्त्र विहित शुभ प्रवृत्ति करने से अध्यात्म पुष्ट होता है।

(ख) **वृत्तयुक्तस्य**

इसकी टीका करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि 'वृत्तयुक्तस्याण्-

१. औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम्।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः॥ योगबिन्दु, श्लोक ३५८

२. एवं विचित्रमध्यात्ममेतदन्वर्थयोगतः।
आत्मन्यधीतिसंवृत्तेर्ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः॥ वही, श्लोक ४०४ तथा दे० इसी की संस्कृत टीका

व्रतमहाव्रतसमन्वितस्य' अर्थात् अणुव्रत और महाव्रतादि का पालन करने से भी अध्यात्मपुष्ट होता है।

(ग) **वचनात्तत्त्वचिन्तनम्**

इसकी टीका में टीकाकार ने लिखा हैं कि—'वचनाज्जिनप्रणीतात् तत्वचिन्तनं जीवादिपदार्थसार्थपर्यालोचनम्' अर्थात् जिन भगवान् द्वारा प्रणीत जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष आदि तत्त्वों का अर्थ सहित चिन्तन मनन करने से भी अध्यात्म की पुष्टि होती है।

(घ) **मैत्र्यादिसारम्**

इसकी टीका में टीकाकार ने लिखा है कि—**मैत्रीप्रमोदकरुणा-माध्यस्थ्यप्रधानैः सत्त्वादिषु अत्यन्तमतीव किमित्याह अध्यात्मं-योग-विशेषम्** अर्थात् प्राणी जगत् के प्रति मैत्री आदि भावनाओं का चिन्तन-मनन और आचरण करने से भी अध्यात्मयोग पुष्ट होता है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार इन भावनाओं के चिन्तन से उत्पन्न रसायन से ध्यान की पुष्टि भी होती है।[2] आचार्य उमास्वाति ने इन भावनाओं को अहिंसादि महाव्रतों के पालन में उपयोगी मानकर **तत्त्वार्थसूत्र** में इनका उल्लेख किया है।[3] आचार्य पतञ्जलि ने भी इन चार भावनाओं को चित्त की प्रसन्नता में उपयोगी मान कर इनका उल्लेख किया है।[4]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मैत्री आदि इन चार अध्यात्म भावनाओं के अत्यधिक उपयोगी होने से ही आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगभूमि में उन्हें स्थान दिया है, जिससे ये आध्यात्मिक

---

१. दे० योगबिन्दु, श्लोक ३५८ पर संस्कृत टीका, पृ० २४६

२, मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्म-ध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम्॥ योगशा०, ४.११

३. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु।
तत्त्वार्थसूत्र ७.६

४. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख,
पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ पा० यो०, ४.११७

भावनाएं भी कही जाती हैं। यहां क्रमशः इनका विश्लेषण किया जाएगा।

मैत्री भावना

जैन आगमों में **आवश्यकसूत्र** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैन साधक श्रमण और श्रमणी प्रतिदिन सुबह और सायंकाल इस सूत्र का आवर्जन एवं पारायण करते हैं। इसमें कहा गया है कि—

'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं ण केणइ'[1] अर्थात् विश्व में एक इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी प्राणी हैं, उन सबसे मेरी मैत्री अर्थात् मित्रता है, किसी से भी मेरा वैरभाव नहीं है। निस्सन्देह मैत्री भावना का यह उत्कृष्टतम आदर्श है। मैत्री का अर्थ ही है दूसरे में अपनेपन की भावना जागृत करना, दूसरे को दुःख न देने की अभिलाषा रखना।[2] इस संसार में जितने भी प्राणी हैं, सभी के साथ मेरे सम्बन्ध जुड़े हैं, सभी ने मुझ पर अनेक उपकार किए हैं। अतः वे सब मेरे कुटुम्बीजन उपकारी हैं। इस प्रकार का चिन्तन करना ही मैत्री है।[3]

आचार्य शुभचन्द के अनुसार 'संसार के समस्त जीव कष्ट, क्लेश और आपत्तियों से दूर रहकर सुखपूर्वक जीवें। परस्पर में वैर न रखें, पाप न करें और कोई किसी को पराभूत भी न करे।' यही मैत्री भावना है।[4]

इन परिभाषाओं के अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि मैत्री-भावना की पहली शर्त है—प्रत्येक जीव का हित चिन्तन करना, उसके

---

१. दे० आवश्यकसूत्र-आवश्यक-४

२. परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषा मैत्री। सर्वार्थसिद्धि ७.११

३. सर्वे पितृभ्रातृपितृव्यमातृपुत्राङ्गजा स्त्रीभगिनीस्नुषात्वम्।
जीवाःप्रपन्नाबहुशस्तदेतत् कुटुम्बमेवेति परो न कश्चित्॥
भावनायोग एक विश्लेषण, पृ० ३६० पर उद्धृत

४. जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः।
प्राप्नुवन्ति सुखं, त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम्॥ ज्ञानार्णव २७.७ तथा मिलाइए :
मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषामतिर्मैत्रीनिगद्यते॥ योगशास्त्र, ४.११८

जीवन के उत्थान और कल्याण की कामना करना तथा सत्त्व सभी पापों अथवा दुःखों से मुक्त हों ऐसो भावना रखना।

यजुर्वेद में मित्रता के संकल्प की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि' 'सभो प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं भी सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें'

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।[1]

ऐसी मैत्री भावना के चिन्तन से साधक के अन्तःकरण की विषमता दूर होती है और समता का आविर्भाव होता है।

जो साधक समस्त विश्व को समभाव से देखता है, उसकी भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है, वह किसी का भी अप्रिय या प्रिय नहीं करता है।[2]

प्रमोद भावना

अध्यात्मयोग की दूसरी भावना है—प्रमोद। **तत्त्वार्थसूत्र** की वृत्ति **सर्वार्थसिद्धि** में प्रमोद शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है कि 'मुख की प्रसन्नता, अन्तरंग की भक्ति एवं अनुराग को व्यक्त करना' प्रमोद है—
वदनं प्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भावितरागः प्रमोदः।[3]

उपाध्यायविनय विजय ने बताया है कि—गुणों के प्रति पक्षपात अथवा गुणों के प्रति अनुराग रखना ही प्रमोदभाव है—**भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः।**[4]

प्रमोद भावना की व्याख्या करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि 'जिन्होंने हिंसादि समस्त दोषों का त्याग कर दिया है, जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखने वाले हैं, उन महापुरुषों के गुणों के प्रति आदर

---

१. यजुर्वेद, ३६.१८
२. सव्वं जगं तू समयाणुपेही।
   पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा॥ सूत्रकृतांग, १.१०.६
३. सर्वार्थसिद्धि, ७.११.३४९ (वृत्ति)
४. शान्तसुधारस, प्रमोद भावना, १३.३

भाव होना, उनकी प्रशंसा करना, उनकी सेवा करना ही प्रमोद भावना है'।[1] प्रमोद को मुदिता के रूप में भी बतलाया गया है।

आचार्य शुभचन्द के अनुसार जो पुरुष तप, शास्त्राध्ययन और यमनियमादि में उद्यमयुक्त चित्त रखते हैं, ज्ञान ही जिनके नेत्र हैं, जो इन्द्रिय, मन और कषायों को जीतने वाले हैं तथा स्वतत्त्व के अभ्यास करने में निपुण हैं, जगत् को चमत्कृत करने वाले चारित्र से जिनका आत्मा अधिष्ठित है, ऐसे पुरुषों के गुणों में जो प्रमोद अथवा हर्ष का होना है, उसे ही सज्जनों ने 'मुदिता' कहा है।[2]

ऋग्वेद का एक मन्त्र भी इस विषय में विशेषता रखता है जैसे कि हम बड़े (गुणों से श्रेष्ठ), छोटे (गुणों में कम), युवा और वृद्ध—सभी गुणीजनों को नमस्कार करते हैं।[3] अतः सभी को एक दूसरे के गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए।[4]

गुणों को ग्रहण करने की सतत प्रेरणा देते हुए प्रभु महावीर कहते हैं कि—जब तक शरीरभेद अर्थात् मृत्यु नहीं होती तब तक गुणों की आराधना करते रहें—**कंखे गुणे जावसरीरभेअ**।[5]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अपने से गुणों में बड़े हैं, जिन में गुण अधिक हैं, उनके प्रति ईर्ष्या न करके गुण ग्रहण करना और उनके गुणों को देखकर प्रसन्न होना साधक के लिए श्रेयस्कर है।

इस प्रकार अध्यात्म के अन्तर्गत प्रमोद भावना के द्वारा गुणग्रहण

---

१. अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातोऽयं सः प्रमोदः प्रकीर्तितः। योगशास्त्र, ४.११६

२. तपः श्रुतयमो युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम्।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम्॥
जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता॥ ज्ञानार्णव, २७.११-१२

३. नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो
नमो युवभ्यो नमो नाशिनेभ्यः। ऋग्वेद, १.२७.१३

४. मिथःसन्तःप्रशस्तयः। वही, १.२६.९

५. उत्तराध्ययनसूत्र, ४.१३

का भाव साधक के अन्दर जागृत होता है और ईर्ष्याभाव समाप्त हो जाता है जिससे समता का विकास होता है।

करुणाभावना

करुणा भावना के अन्तर्गत साधक दूसरों के दुःख दूर करने को सदा तत्पर रहता है कारण कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दुःख के सभी प्रतिकूल हैं।[1]

अतः राजवार्तिककार आचार्य अकलंक ने करुणा की परिभाषा देते हुए बताया है कि दीनों पर अनुग्रह करना ही कारुण्य है।[2] जो जीव दीनता से तथा शोक भय रोगादिक की पीड़ा से दुःखित हों, पीड़ित हों तथा वध (घात) एवं बंधन सहित रोके हुए हों अथवा अपने जीवन की वाञ्छा करते हुए कि 'कोई हमको बचाओ', ऐसौ दीन प्रार्थना करने वाले हों तथा क्षुधा, तृषा, खेद आदिक से पीड़ित हों तथा शीत, उष्णादि से पीड़ित हों, निर्दय पुरुषों द्वारा मारने के लिए रोके गए हों, उन दुःखी जीवों को देखने-सुनने से उनके दुःख दूर करने की कोशिश करना ही करुणा भावना है।[3]

दीन, दुःखी, भयभीत और प्राणों की भीख चाहने वाले प्राणियों के दुःख को दूर करने की भावना होना ही कारुण्य है। यही करुणा भावना है।[4] दूसरों के दुःख की अनुभूति करना, उनके दुःख से द्रवित

१. सव्वेपाणापिआउया, सुहसाया दुक्ख पडिकूला॥ आचारांगसूत्र, १.२.३

२. दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्। तत्त्वार्थवा० ७.११.३.५८.१९

३. दैन्यशोकसमुत्त्रासरोगपीडार्दितात्मसु।
बधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम्॥
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैं व्यथितेषु च।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम्॥
मरणार्त्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया।
अनुग्रहमतिसेयं करुणेति प्रकीर्तिता॥ ज्ञानर्णव, २७.७-८-९

४. दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते॥ योगशास्त्र, ४.१२८

होना अर्थात् अनुकम्पा ही करुणा है।[1] कहा भी है—दीन दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बाहे।[2]

इस प्रकार करुणा की भावना में साधक अहंकार शून्य होकर, दूसरों के प्रति समर्पण की भावना से भर जाता है और अपने सुख की परवाह न कर दूसरों को सुख देकर समाधिस्थ होता है। यही करुणा है।

माध्यस्थभावना

विपरीत वृत्ति वाले और क्रूर कर्मी व्यक्ति के प्रति भी साधक को मन में द्वेष नहीं लाना चाहिए अपितु उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखे, यही माध्यस्थ भावना है। इससे साधक के मन की प्रसन्नता अविच्छिन्न बनी रहती है और समता का सम्पूर्ण विकास होता है इसी लिए **आचारांगसूत्र** में साधक को सम्बोधित करके कहा गया है कि—अपने धर्म के विपरीत रहने वाले व्यक्ति के प्रति भी उपेक्षा का भाव रखे, जो प्राणी अपने विरोधी के प्रति उपेक्षावान् (तटस्थता) रखता है और उसके कारण उद्विग्न नहीं होता, वह ही सर्वश्रेष्ट ज्ञानी है[3] क्योंकि जो साधक मनोज्ञ भावनाओं में आसक्त होता है, वह मन के प्रतिकूलभाव मिलने पर उनसे द्वेष भी करता है। इस प्रकार वह कभी सुखी और कभी दुःखी बना रहता है। दोनों ही स्थितियों में वह छटपटाता भी रहता है।[4]

जो प्राणी क्रोधी है, निर्दयी अथवा क्रूरकर्मी, मधु, मांस एवं मद्य और परस्त्री सेवन-लोभी है तथा जो व्यवसनों में आसक्त है ऐसे प्राणियों में तथा अत्यन्त पापी एवं देव-गुरु की निन्दा करने वाले और अपनी प्रशंसा करने वाले प्राणी के प्रति सत्त्व का द्वेष से रहित होकर,

---

१. शारीरं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखमसह्याप्नुवती दृष्टवा हा बराका। मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाऽशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्मपर्याय पुद्गलस्कन्धतदुपोदभवा विपदी विवशाः प्राप्नुवन्ति इति करुणा>अनुकम्पा भगवती आ० विवरण

२. दे० मेरी भावना

३. उवेहाएणं बहिया य लोगं, से सव्वलोगम्मि जे केइ विण्णू।
आचारांग सूत्र १.४.३

४, एगन्तरत्ते रुइरंसि भावे, अतालिसे से कुणइ पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पइ तेण मुणी विरागी॥ उत्तरा० ३२.६१

इन सभी में जो माध्यस्थ भाव रखता है उसी का नाम उपेक्षा है।[1] ये कितने सुन्दर भाव कहे हैं—देख दूसरों की बढ़ती को कभी न ईर्ष्या भाव धरूं। यही माध्यस्थ भावना है।

सर्वदा और सर्वत्र मात्र प्रवृत्ति परक भावनाएं ही साधक को नहीं होतीं, कई बार अहिंसा आदि महाव्रतों को स्थिर रखने के लिए तटस्थ भाव धारण करना भी बड़ा उपयोगी होता है। इसी कारण यहां विशेषकर अध्यात्म जगत् में माध्यस्थ भावना का विधान किया गया है। जब नितान्त संस्कारहीन अथवा किसी तरह की भी सद्वस्तु ग्रहण करने के अयोग्य पात्र मिल जाए और यदि उसे सुधारने के सभी प्रयत्नों का परिणाम अन्ततः शून्य ही दिखाई दे तब ऐसे व्यक्ति के प्रति तटस्थ-भाव रखना ही उचित है। अतः माध्यस्थ भावना का विषय अविनेय अथवा अयोग्य पात्र ही है।[2]

जो कल्याणकारी वचन नहीं सुनना चाहता उस पर कभी भी क्रोध नहीं करना चाहिए ओर उसे भला-बुरा भी नहीं कहना चाहिए। वह यदि उसे सुनेगा तो उसका ही कल्याण होगा और नहीं सुनेगा तो उसमें किसी को क्या हानि ? किन्तु उसके न सुनने, उसे बुरा भला कहने और उस पर क्रोध करने पर तो अपनी ही मानसिक शान्ति भंग होगी और आन्तरिक सुख भी नष्ट हो जाएगा।[3] अतः साधक को माध्यस्थभाव से ही रहना चाहिए। जो साधक तटस्थ रहता है, वही पूज्य होता है[4] कारण कि मनोज्ञ और अमनोज्ञ में तटस्थ रहना ही वीतराग है।[5] इसी

---

१. क्रोधविद्धेषु सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु।
मधु-मांस-सुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥
देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु।
नास्तिकेषु च माध्यस्थं तत्स्यादुपेक्षा प्रकीर्तिता ॥ ज्ञानार्णव, २७.१३-१४
तथा मिला०—क्रूर-कर्मसु निःशंकं देवता गुरुनिन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थमुदीरितम् ॥
योगशा० ४.१२१

२. (संघवी तत्त्वार्थसूत्र ७.६ पर व्याख्या, पृ० २७१-७२

३. योऽपि न सहते हितमुपदेशं, तदुपरि मा कुरु कोपं रे।
निष्फलया किं परजनतप्त्या कुरुषे निजसुखलोपं रे ॥ शान्तसुधारस भावना, १६.४

४. जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो। दशवै ९.३.११

५. समो जो तेसु य वीयरागो। उत्तरा० सू०, ३२.२२

कारण योगी साधक जगत को समभाव पूर्वक देखता हुआ किसी का भी प्रिय व अप्रिय नहीं करता[1] बल्कि वह अपने को माध्यस्थभाव में स्थिर रखना ही समुचित समझता है।

इस जगत् में जब कोई वस्तु नित्य हो तब तो उस पर राग किया जाए किन्तु जब सभी वस्तुएं अनित्य हैं, तब उन पर रागभाव क्यों करना ? अतः साधक का सदैव मध्यस्थ ही रहना उपयुक्त है।[2]

इन चार भावनाओं के निरन्तर चिन्तन मनन से अध्यात्म योगी साधक की आत्मा में ईर्ष्या भाव का नाश और करुणा का संचार होता है तथा गुणानुराग एवं राग-द्वेष की निवृत्ति होती है जिसमें साधक योगसाधना करने में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति कर सक्षम बनता है।

इस प्रकार के अध्यात्म योग के स्वरूप को जो[3] साधक आत्मसात् कर लेता है, उसके पापों का नाश और वीर्य का उत्कर्ष होता है। चित्त भी प्रसन्नता होता है तथा वस्तुतत्त्व का बोध एवं आत्मानुभव रूप अमृतत्व की प्राप्ति होती है।[4]

(२) भावना (वैराग्य भावना)

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार योग की दूसरी भूमि है—भावना। भावना का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाव शब्द से भावना शब्द बना है—**भावतीति भावना**। भाव का अर्थ है—विचार अथवा अभिप्राय। आचार्य शीलांक ने भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है—

---

१. सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा।
सूत्रकृता०, १.१०.६

२. स्याद्यदि किञ्चित् स्थायिवस्तु तत्र रुचिः स्यादुचिता नास्ति स्थिरं किञ्चिद् अपि दृश्यम्, तस्मात् स्यात् साऽनुचिता॥ भावना शतक, माध्यस्थ भावना, श्लोक २

३. सुखीर्ष्या दुःखितोपेक्षा पुण्यद्वेषधर्मिषु।
रागद्वेषौत्यजन्नेता लब्ध्वा अध्यात्मं समाचरेत॥ योगभेद द्वात्रिंशिका ७

४. अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम्।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु॥ योगबिन्दु, श्लोक ३५९
तथा मिला० योगभेद द्वात्रिंशिका, श्लोक ८

भावश्चित्ताभिप्रायः[1] अर्थात् चित्त का अभिप्राय भाव है। **आचाराङ्ग-सूत्र**[2] की टीका में 'अन्तःकरण की परिणति' विशेष को भाव कहा गया है। भाव ही भावना का रूप धारण करते हैं। अतः **आवश्यकसूत्र** की टीका में आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि 'जिसके द्वारा मन को भावित किया जाए[3] अथवा संस्कारित किया जाए, वह भावना है। आचार्य मलयगिरी ने 'परिकर्म' अर्थात् 'विचारों की साज-सज्जा' की भावना बतलाया है। जैसे शरीर को तेल, इत्र-फुलेल आदि से बारम्बार सजाया जाता है वैसे ही विचारों को अमुक-अमुक विचारों के साथ जोड़ना भावना कहलाती है—**परिकर्म्येति वा भावनेति वा**।[4]

बार-बार स्फुरित होने वाली विचार तरङ्गें भी भावना और अध्यवसाय बतलायी गयी हैं—**अध्यवच्छिन्नपूर्वपूर्वतरसंस्कारस्य पुनः-पुनस्तदनुष्ठानरूपाभावनेति**।[5] पूर्व से पूर्वतर संस्कारों की अस्खलित धारा का प्रवाह तथा उस धारा का कार्य रूप में परिणत करना भी भावना है। इसी कारण जैन विद्याविशारद जैनाचार्यों ने पुनःपुनः चिन्तन करने को ही भावना बतलाया है।[6]

भावना और अनुप्रेक्षा

आगमों में भावनाओं के स्थान पर अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग हुआ है। **स्थानांगसूत्र** में ध्यान के प्रकरण में धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की क्रमशः चार-चार अनुप्रेक्षाएं बतलाई गई हैं।[7]

आचार्य उमास्वाति ने भी भावना के स्थान पर अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया है—**अनित्याशरणसंसारैकत्वान्य—त्वाशुचि-आस्रवसंवरनिर्जरा-लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याताबानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः**।[8]

---

१. दे० उत्तराध्ययन, २६.२२ पर टीका।
२. भावोऽन्तःकरणस्य परिणति विशेषः। आचा० टीका श्रु० १, अ० २, उ० ५
३. भाव्यतेऽनयेति भावना। आवश्यकसूत्र ५ पर टीका (हारिभद्रीय)
४. दे० बृहत्कल्पभाष्य, भाग-२, गा० १२८५ पर वृत्ति, पृ० ३९७
५. दे० अनुयोग द्वारं टीका (अभिधान) राजेन्द्र कोश, पृ० १५०५)
६. आचारांगसूत्र प्रथम श्रु०, अ० ८, उ० ६ की टीका
७. धम्मस्सणं झाणस्य चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णताओ तं जहा, एगाणुप्पेहा, अणिच्चणुप्पेहा, असरणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा। स्थानांगसूत्र ४.१
८. तत्त्वार्थसूत्र ९.६

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी भावना के स्थान पर अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग किया है और बारह भावनाओं पर **बारस अणुवेक्खा** नामक स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना की है। स्वामिकार्तिकेय ने भी भावना को अधिक महत्व देकर एक अनुपम ग्रंथ 'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' की रचना की है।

उत्तराध्ययनसूत्र में भी 'अणुपेहा' शब्द आध्यात्मिक चिन्तन के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। वहां गौतम स्वामी ने पूछा है—भन्ते! अनुप्रेक्षा (अनुपेहा) से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है।[1]

भगवान् ने उत्तर में बतलाया है कि अनुप्रेक्षा (वैराग्य भावना, तत्त्व चिन्तन) से जीव आयुष्कर्म को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियों में सघन बन्ध वाली प्रकृति की शिथिल, दीर्घकालीन एवं तीव्र अनुभाववाली प्रकृति को अल्पकालीन तथा मन्द अनुभाव वाली बनाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भावना को ध्यान की पूर्व भूमिका माना है।[2] इनके अनुसार पूर्वकृत अभ्यास के द्वारा भावना बनती है और भावना का पुनः-पुनः अभ्यास करने पर ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

इस प्रकार भावना, अनुप्रेक्षा और ध्यान ये तीनों शब्द प्रायः समानार्थक से लगते हैं फिर भी अनुप्रेक्षा और भावना तो निःसन्देह एक ही अर्थ के वाचक हैं। भावना के विषय में कहा गया है कि—'भावना भवनाशिनी' अर्थात् शुभ भावना साधक के जन्म मरणरूप भवपरम्परा को समाप्त करती है।

सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि—जिस साधक की आत्मा भावनायोग से शुद्ध हो गई है, वह साधक जल में नौका के समान है। जैसे नौका तट पर विश्राम करती है वैसे ही भावनायोग से शुद्ध साधक को भी परम शक्ति प्राप्त होती है—

भावनाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
णावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई॥[3]

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २६.२२

२. पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ। ध्यानशतक, गा० ३० पर हारिभद्रीय टीका।

३. सूत्रकृतांगसूत्र, १.१५.५

जब आत्मा में शुभ भावों का उदय होता है तब अशुभ भावों का आना क्रमशः बन्द होता जाता है। इस प्रकार भावना कर्मनिरोध में सहायक है। साधक को धार्मिक प्रेम, वैराग्य और चारित्र का दृढ़ता की दृष्टि से इनका चिन्तन एवं मनन करना अभीष्ट है।[1]

आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि—ये भावनाएं चिन्तन, संवेग और वैराग्य की अभिवृद्धि के लिए हैं।[2] भावनाओं के अनुचिन्तन से वैराग्य उत्पन्न होता है जिससे साधक संयम एवं आत्मविकास की ओर उन्मुख होता हैं।[3]

योगदर्शन के अनुसार भावना और जीव में गहरा सम्बन्ध है। भावनाओं का चिन्तन करने से आत्मशुद्धि होती है। इसलिए वहां ईश्वर का बार-बार जप करने के बाद ईश्वर को भावना भानी चाहिए और ईश्वर की भावना के पश्चात पुनः जप करना चाहिए।[4] इन दोनों योगों की उपलब्धि होने पर परमेश्वर का साक्षात्कार होता है।

इसी प्रकार **जैनदर्शन** में भी भावनाओं का अत्यधिक महत्व प्रतिपादित हुआ है। भावनाओं का वर्गीकृत वर्णन सर्वप्रथम दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथ **बारस अनुवेक्खा** में हुआ है। इसके नामकरण से ही सूचित होता है कि इन वैराग्य वर्धक भावनाओं की संख्या बारह है। सम्भवतः आगमगत वर्णनों को आधार बनाकर वैराग्य प्रधान चिन्तन को एक व्यवस्थित रूप देने के लिए ही आचार्य ने उन्हें **बारह अनुप्रेक्षा** के नाम से संकलित किया हैं क्योंकि आठ अनुप्रेक्षा तो आगम में वर्णित ही हैं।[5] उनमें चार और जोड़ कर उन्हें बारह अनुप्रेक्षाओं के रूप में प्रस्तुत किया है। जो निम्नलिखित हैं—[6]

---

१. ताश्च संवेगवैराग्यप्रशमसिद्धये।
आलानितामनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्षमिच्छुभिः। ज्ञानार्णव, २.६

२. संवेगवैराग्यार्थम्। तत्त्वार्थसू० ७.७

३. वैराग्य उपावन माई, चिन्तो अनुप्रेक्षा भाई। छहढाला, ५.१

४. तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन, व्यास भाष्य १.२८

५. स्थानांगसूत्र, ४.१

६. अद्धवमसरणमेगत्तमण्णत्तसंसारलोयमसइत्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतिज्ज॥ बार० अनु० २

१.	अनित्य भावना	७.	अशुचि भावना
२.	अशरणभावना	८.	आश्रव भावना
३.	एकत्व भावना	९.	संवर भावना
४.	अन्यत्व भावना	१०.	निर्जरा भावना
५.	संसार भावना	११.	धर्म भावना
६.	लोक भावना	१२.	बोधिदुर्लभ भावना

आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती आचार्यों ने भी इन वैराग्य प्रधान बारह भावनाओं को बहुमान दिया है।

आचार्य उमास्वाति ने अपने दो प्रसिद्ध ग्रंथों में बारह भावनाओं का सुन्दर वर्णन किया है। **तत्त्वार्थसूत्र**[1] में अनुप्रेक्षा नाम देकर उनका संक्षेप में सूचनामात्र उल्लेख है, जबकि **प्रशमरतिप्रकरण** में—**भावना द्वादशविशुद्धा**, कह कर उनका वैराग्योत्पादक एवं ललित शैली में वर्णन किया गया है।[2]

यद्यपि उनके क्रम में थोड़ा बहुत आगे पीछे अन्तर भी मिलता है, फिर भी संख्या और नाम एक से ही हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथों में स्वतन्त्र शैली में इन्हें पल्लवित एवं पुष्पित किया है। उनमें प्रमुख हैं—श्रीमद्वट्टकेर[3], आचार्य शुभचन्द्र[4] आचार्य हेमचन्द्र[5], आचार्य नेमिचन्द्र[6], आचार्य सोमदेव[7], स्वामिकार्तिकेय[8] उपाध्याय विनयविजय[9] और शतावधानी रत्नचन्द्र[10]।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९.७
२. प्रशमरति प्र०, ८.१४९-५०
३. दे० मूलाचार, गा० ८
४. दे० ज्ञानार्णव. सर्ग २
५. दे० योगशास्त्र, ४.५५,५६
६. प्रवचनसारोद्धार, प्रथम भाग, द्वार ६७, पृ० ४५५
७. दे० यशस्तिलकचम्पू, २.१०५-५७
८. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा
९. दे० शान्तसुधारस, श्लोक ७-८
१०. दे० भावना शतक

अनित्य आदि बारह भावनाओं के स्वभाव को अच्छी प्रकार से जानकर उसके प्रति अनासक्त, अभय और आशंसा रहित हो जाना वैराग्यभावना कहलाती है। इनके चिन्तन से साधक ध्यान में स्थिरता प्राप्त करता हैं।[1]

अतः अध्यात्मयोगी के लिए इन भावनाओं का चिन्तन-मनन अतीव आवश्यक है। इससे साधक के वैभाविक संस्कारों का विलय, अध्यात्म-तत्त्व की स्थिरता और आत्मगुणों का उत्कर्ष होता है।

अब यहां वैराग्यप्रधान और योग की द्वितीय भूमि बारह भावनाओं का संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

(१) अनित्यभावना

इस भावना के अन्तर्गत संसार के पदार्थों की अनित्यता, नश्वरता आदि का चिन्तन करते हुए उनके प्रति होने वाली आसक्ति को विनष्ट किया जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि—'जिस शरीर, यौवन, रूप और सम्पत्ति पर तुम आसक्त हो रहे हो, उनकी स्थिति तो बादलों में चमकने वाली बिजली के समान क्षणिक है'।[2] तब फिर तुम किस पर, क्यों और कितने समय के लिए आसक्त हो रहे हो।

आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि 'मानव का मोह शरीर और ऐश्वर्य पर होता है किन्तु ये सभी अपने विनाश के कारणों से घिरे हुए हैं। आगे भी उन्होंने कहा है कि शरीर को रोगों ने, यौवन को बुढ़ापे ने, ऐश्वर्य को विनाश ने तथा जीवन को मृत्यु ने घेर रखा है[3] तब ऐसी स्थिति में हे साधक, क्यों इन पर ममत्व भाव रखते हो। तुम्हारा यह जो शरीर है, वह तो वैसे ही प्रतिक्षण गला जा रहा है'।[4] यद्यपि शरीर सभी

---

१. सुविदियं जगस्स भावे निसंगओ निब्भओ निरासो व।
वेरग्ग भाविभयणो झाणं सुनिच्चलो होइ॥ ध्यानशतक, गाथा ३५

२. जीवियं चेव रूपं च, विज्जुसंपाय-चंचलं।
जत्थ तं मुज्झसी रायं पेच्चरथं नावबुज्झये॥ उत्तरा०, १८.१३

३. वपुर्विद्धिरुजाक्रान्तं जरा कान्तं च यौवनम्।
ऐश्वर्यं च विनाशान्तं मरणान्तं च जीवितम्॥ ज्ञानार्णव, सर्ग २ अनित्यभावना, श्लोक १०

४. प्रतिक्षणं शीर्यन्ते इति शरीराणि। स्थानांग० ५०१ अभयदेवसूरि, टीका

पुरुषार्थों को सिद्धि का फल है फिर भी वह प्रचण्ड पवन से छिन्न-भिन्न बादलों के समान विनाशशील है।[1]

जिस शरीर से मानव इतना मोह करता है वह तो प्रातःकालीन घास के अग्रभाग पर पड़े हुए ओस-बिन्दु के समान बड़ा ही चंचल ,है जैसे वह वायु के झोंके के लगने से मिट्टी में मिल जाता है, वैसे ही मानव शरीर भी मौतरूपी वायु के झोंको के थपेड़ों को न सहता हुआ धराशायी हो जाता है।[2] इसलिए हे गौतम ! तुम क्षण भर भी प्रमाद मत करो, क्योंकि वह शरीर अनित्य है।[3] अशाश्वत है[4] एकमात्र आत्मा ही शाश्वत एवं ज्ञानमयी है।

यह समस्त लक्ष्मी भी वैसे ही चंचला है जैसे दीपक की लौ हवा के झोंके से कांपने लगती है। कोई पता नहीं कब तीव्र हवा का झोंका आए और इस दीपक को बुझा दें। तब हे मूढमति सत्व ! तू क्यों 'यह मेरी है' ऐसा मानकर हृदय से प्रसन्न हो रहा ?[5] जब इस प्रकार लक्ष्मी को भी विनाश रूपी हवा के झोंके लगते रहते हैं तब इसका भी कोई भरोसा नहीं, इसका कोई पता भी नहीं कि यह कब नष्ट हो जाए। फिर भी इसके पीछे सभी लगे रहते हैं, जिसे सभी परिजन लेना भी चाहते हैं, चुराना चाहते हैं, राजा गण विविध कानूनों से इसे हड़पना चाहते हैं। अग्नि जिसे जला देती हैं, पानी बहा ले जाता है, जमीन में गढ़ा धन यक्ष निकाल ले जाते हैं और यदि इसे बचा कर रखा भी जाए तो कुपुत्र उड़ा खा लेते हैं। ऐसे खतरे वाले और बहुत लोगों के हाथ

---

१. शरीरं देहिनां सर्वपुरुषार्थनिबन्धनम्।
प्रचण्डपवनोद्धूतं धनाधनविनश्वरम्॥ योगशास्त्र, ४.५८

२. कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्टइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाणजीवियं संयमं गोयम मा पमायए॥ उत्तरा०, १०.२

३. इमं सरीरं अणिच्चं। उत्तरा०, १९.१३

४. असासए सरीरम्मि। वही, १९.१४

५. वातोद्वेल्लितदीकपाङ्कुरसमां लक्ष्मीं जगन्मोहिनाम्।
दृष्टवा किं हृदि मोदसे हतमते मत्वाममश्रीरिति॥ भा०शा०, श्लोक २

की कठपुतली बनने वाले धन को धिक्कार है ।[1]

यहां आचार्य कहते है कि लक्ष्मी समुद्र की तरंगों के समान चंचल है, प्रियजनों का संयोग स्वप्नवत् क्षणिक है और यौवन वायु के समूह द्वारा उड़ाई गई आक (पौधा विशेष) की रुई के समान अस्थिर है ।[2] ऐसे वैचित्र्य प्रधान जगत् की नश्वरता देखकर मानव को अपने स्थिर चित्त से क्षण-क्षण में तृष्णारूपी काले भुजंग का नाश करने वाले निमर्मत्व भाव को जागृत करने के लिए अनित्यभावना का सदैव चिन्तन करना चाहिए ।[3]

इस तरह जो समस्त विषयों को क्षणभंगुर जानकर उनके प्रति अवशिष्ट महामोह को त्याग कर मन को निर्विषय बनाता है वह सुख को प्राप्त होता है ।[4]

(२) अशरणभावना

अनित्यता का बोध होने पर साधक को विचार करना चाहिए कि जो वस्तु अनित्य है तो वह हमारी रक्षक भी नहीं हो सकती । अनित्य पदार्थ कालशत्रु के द्वारा आक्रमण करने पर मानव को शरण देने में असमर्थ हैं, जो स्वयं ही स्थिर और अशाश्वत हैं, वह मृत्यु से बचाने में कैसे समर्थ हो सकता है । अशरणभावना का दिग्दर्शन कराते हुए **उत्तराध्ययनसूत्र** में कहा गया है कि जैसे कोई सिंह जब मृगों के समूह में से किसी एक

---

१. दायादाः स्पृशयन्ति तस्करगणाः मुष्णन्ति भूमीभुजो
गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मी करोति क्षणात् ।
अम्भः प्लावयति क्षितो विनिहितं, यक्षा हरन्ते हठाद्
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं, धिक् बह्वधीनं धनम् ॥ सिन्दूरप्रकरण, श्लोक ४४

२. कल्लोलचपलालक्ष्मीः संगमाः स्वप्नसन्निभाः ।
वात्याव्यतिरेकोत्क्षिप्ततूलतुल्यं च यौवनम् ॥ योगशास्त्र, ४.५९

३. इत्यनित्यं जगद्वृत्तं स्थिरचित्तः प्रतिक्षणम् ।
तृष्णा-कृष्णाहि मन्त्राय निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥ वही, ४.६०

४. चइऊण महामोहं विसए सुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहह ॥ स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक २२

मृग को उठा कर ले जाता है, शेष सभी मृग दूर खड़े देखते रह जाते हैं बल्कि अपनी-अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर छिप जाते हैं तब कोई भी उसे सिंह के मुख से छुड़ाने में समर्थ नहीं होता, वैसे ही स्थिति संसारी मनुष्यों की है। उसे मृत्यु के मुख से कोई भी नहीं छुड़ा सकता—

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मं सहरा भवंति ॥[1]

काल मृत्यु के सामने किसी की कुछ भी नहीं चलती, वह बड़ा बलवान् है। जब कालरूपी सिंह आता है तो माता-पिता, भाई-बन्धु आदि सभी एक ओर खड़े हो देखते रहते हैं, विवश होकर बिलखते तो हैं ही किन्तु किसी में इतनी शक्ति नहीं कि वे उस प्राणी को काल के मुख से बचा लें।[2]

काल ऐसा निर्दयी है कि किसी को भी अपने पंजे से नहीं छोड़ता। राजा हो, या रंक, चक्रवर्ती हो अथवा तीर्थङ्कर देव भी क्यों न हो उससे कोई भी नहीं बच पाता। काल के आक्रमण होने पर सभी के सारे के सारे उपाय रखे रह जाते हैं। कुछ भी काम नहीं आते। यदि कुछ काम आता भी है तो वह है मनुष्य का निष्काम भावमयी ज्ञान, मैत्रीगुण और सद्व्यवहार। चाहे प्राणी वज्र के समान सशक्त सुदृढ़ भवन में प्रविष्ट होकर उसके द्वार ही बन्द क्यों न कर लें और सोचे कि जहां काल नहीं आएगा, अथवा उसके आने पर सत्त्व प्राणों की भीख मांगे, तब भी मृत्यु उसे नहीं छोड़ती।[3] इसी का तो नाम समदर्शी है जो छोटे-बड़े सभी को अपना भोज्य बना लेती है।[4]

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र १३.२२

२. पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातुस्तनयानाञ्च पश्यताम्।
अत्राणो नीयते जन्तुः कर्मभिर्यमसद्मनि ॥ यो०शा० ४.६२

३. ऐसा ही भाव धम्मपद गाथा १२८ में भी व्यक्त किया गया है यथा
न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विविरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थट्ठितं न प्पसहेय्य मच्चू ॥

४. प्रविशति वज्रमये यदि सदनेतृणमथ घटयति वदने।
तदपि न मुंचति हत समवती निर्दय पौरुषवर्ती।
विनय ! विधीयतां रे श्री जिनधर्मशरणम् ॥ शा०रस० भा० २.३

जब यह कालरूपी बाज प्राणियों पर झपट्टा मारता है, तब देखता नहीं कि यह बूढ़ा है अथवा जवान या कि बच्चा है। किसी भी तरह का कोई विचार वह नहीं करता। बस यह तो आयु के समाप्त होने पर चुपचाप उसके प्राणों को छीन ले जाता है।[1] गीता में कहा है कि जो जन्मा है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है : **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**।[2]

इतना ही नहीं बल्कि यह भी किसी को कुछ ज्ञात नहीं हो पाता कि मृत्यु आएगी तो कब आवेगी।[3] आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'मणि, मन्त्र, तन्त्र, औषधि, हाथी, घोड़े अथवा सैनिक अथवा कोई भी विद्या मृत्यु के मुख में फंसे हुए प्राणी को नहीं बचा सकती—

मणिमन्तो सहरक्खा हयगय रहगो य सयलविज्जाओ।
जीवाणं वा हि मरणं तिसु लोगमरण समयम्मि॥[4]

यो यह सोचता है कि यह धन वैभव मेरी रक्षा करेगा, ये मेरे परिजन हैं, मैं इनका हूं, यह मेरी रक्षा करेंगे, तो यह उसकी भ्रान्ति है परन्तु मृत्यु के आने पर कोई शरण नहीं है।[5]

भावनाशतक में भी कहा हैं कि धन दौलत, राज्य, वैभव, नौकर एवं सुन्दर नारियां तभी तक सहायक हैं जब तक पुण्य प्रबल है किन्तु जब पुण्य क्षीण होने लगता है तो मृत्यु के गाल में समा जाते हैं और श्मशान ही उसकी एक मात्र शरण स्थली बन जाती है।[6]

---

१. डहरा बुड्ढा य पासह, गब्भत्थावि चयन्ति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयम्मि तुट्टई॥ सूत्रकृतांगसूत्र १, अ० २, उ. १ श्लो० २

२. गीता, २.२७

३. नाणागमोमच्चुमुहलस अत्थि। आचारांगसूत्र १.४.२

४. दे० वारसअणुवेक्खा, असरणभावना तथा मिला० मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावे कोई। छहढाला, ५.४

५. वित्तं पसवो य नाइयां, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एए मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जइ॥ सूत्रकृतांगसूत्र, १.२.३.१६

६. राज्यं प्राज्यं क्षितिरतिफलाकिङ्कराकामचारा:
साराहारामदनसुभगा भोगभूव्यां रमण्यं।
एतत् सर्वं भवति शरणं यावदेव स्वपुण्यं
मृत्यो तु स्यान्न किमपि विनाऽरण्यमेकशरण्यम्॥ भा०शत०. श्लोक, १६

अतः इस अशरण भूत संसार में धर्म ही एक सहारा अथवा शरण है, वह ही रक्षक है। जन्म, जरा, मृत्यु, भय, रोग एवं शोक आदि से पीड़ित जनों का संसार में जिनेश्वरदेव के उपदेश और उनके द्वारा निर्देशित धर्म ही त्राता और एकमात्र शरण है।[1] उसके सिवाय कोई रक्षक बचाने वाला नहीं है।[2]

जरा-मृत्यु के वेग में बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही एक ऐसा द्वीप है, उत्तम गति है और शरण है तथा ठहरने का स्थान है जहां जाकर जो प्राणी भयभीत है, वह निर्भय हो जाता है और उसे वह धर्म ही एकमात्र शरण स्थल है जहां वह शान्ति पूर्वक रह सकता है।[3]

संसार में यदि कोई मनुष्य का सच्चा साथी है तो वह है—धर्म जब धन-सम्पत्ति, पुत्र-पत्नी एवं स्वजन आदि सब साथ छोड़ देते हैं, तब एक मात्र धर्म ही प्राणी के साथ परलोक में जाता है[4] और उसी के कारण यथायोग्य गति एवं गोत्र आदि पाता है। इसलिए धर्म ही श्रेयस्कर है क्योंकि इसी से ही सच्चा सुख और मोक्ष मिलता है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप धर्म ही शरण है। परम श्रद्धा के साथ उसी को अपनाना चाहिए। इनके अतिरिक्त संसार में कोई शरण नहीं है।[5] आत्मा को क्षमा आदि उत्तम भावों से युक्त करना भी शरण है क्योंकि जो कषायों से आविष्ट है, वह स्वयं ही अपना घात करता है।[6]

---

१. जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके॥ प्रश०प्र०, श्लोक १५२

२. एक्कोहि धम्मो नरदेव ताणं।
न विज्जइ अन्नमिहेह किंचि॥ उत्तरा०, १४.४०

३. जरामरणवेगेणं बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं॥ वही, २३.६८

४. विमुखा बान्धव यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति। मनुस्मृति, ३.२४१

५. दंसण-णाण-चरित्तसरणं सेवेहि परमसद्धाए।
अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं॥ स्वामिकार्तिक०, गा० ३०

६. अप्पाणं पि य सरणं खमादिभावेहि परिणदं होदि।
तिव्वकसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण। वही, गा० ३१

(३) संसारभावना

इसमें साधक संसार के स्वरूप और उसके वैचित्र्य पर विचार करता है। संसार का अर्थ ही है—संसरण करना, गमन करना, चलते रहना, एक भव से दूसरे भव में भ्रमण करते रहना आदि—**संसरणं संसारः। भवाद् भवगमनं नरकादिषु पुनर्भ्रमणं वा।**

संसार के स्वरूप का वर्णन करते हुए **स्थानांगसूत्र** में बताया गया है कि संसार चार प्रकार है[1]—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसंसार। धर्माधर्मास्ति आदि यह षड्द्रव्यरूप द्रव्यसंसार है। चौदह राजुप्रमाण जगत् क्षेत्रसंसार है। दिन-रात, पक्ष-मास, पुद्गल परावर्तन तक का कालप्रमाण कालसंसार है। कर्मोदय के कारण जीव के राग-द्वेषात्मक जो परिणाम होते हैं, जिनके फलस्वरूप प्राणी जन्म मरण करता हैं उसी का नाम भावसंसार है।

संसार चतुर्गत्यात्मक भी बतलाया गया है[2] वे चार गतियां हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति। इन चारों गतियों के चोबीस दण्डक भी होते हैं और उनकी चौरासी लाख योनियां (उत्पत्ति स्थान) हैं।[3]

आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि संसार अनादि हैं, इसमें चार गतियां हैं। जीव अनन्त पुद्गल परावर्तों में से गुजरता है। ऐसे अनन्त पुद्गल परावर्त व्यतीत हो चुके हैं।[4]

आचार्य हेमचन्द्र संसार की विचित्रता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि संसारी जीव संसार रूपी नाटक में नट की भाँति चेष्टाएं करता है। विद्वान् कभी मरकर चाण्डाल बन जाता है तो कभी स्वामी अथवा सेवक के रूप में उत्पन्न होता है और प्रजापति भी कीट के रूप में जन्म लेते

---

१. दव्वसंसारे, खेत्तसंसारे, कालसंसारे भावसंसारे। स्थाना० ४.१.२६१

२. णेरइयसंसारे, तिरियसंसारे, मणुस्ससंसारे, देवसंसारे। स्थानां० ४.१.२६४

३. दे० भावनायोग एक विश्लेषण, पृ० १८६

४. अनादिरेषसंसारी नानागतिसमाश्रयः।
पुद्गलानां परावर्ता, अत्रानन्तास्तथा गताः॥ यो०बि०, श्लोक ७४

हैं ।[1] माता मरकर कभी बेटा तो कभी पत्नी, भाभी, पुत्र तो कभी पिता और कभी भाई मरकर भी अपना शत्रु बन जाता है ।[2]

यह संसार ही भयरूप है, दुःखों से घिरा हुआ है ।[3] जैसे ज्वर आने पर मानव बेचैन रहता हैं, ऐसे ही संसार में प्रत्येक प्राणी बेचैन रहता है ।[4] यहां पर विविध दुःख हैं । जन्म, जरा, रोग, मरण संयोग और वियोग आदि के दुःखों से संसार ओत-प्रोत है । जिधर देखो उधर दुःख ही दुःख है ।[5] बुद्ध ने भी कहा है[6] कि यह संसार दुःखान्धकार से ढका हुआ है, प्रतिपल जलते हुए इस जगत में क्या तो हंसी है और क्या तो आनन्द ? सभी कुछ नष्ट हो जाने वाला है ।

शरीर और मन की अनन्त वेदनाएं यहां पग-पग खड़ी है ।[7] **भगवतीसूत्र** में कहा गया है कि यह संसार तो जन्म, जरा और मृत्यु की आग में धधक रहा है । हलवाई की भट्टी की भांति यहां दुःखों की ज्वाला प्रज्वलित है ।[8] प्रतिदिन अनेकों प्राणी मृत्यु के मुख में, यमराज के घर

---

१. श्रोत्रिय:श्वपच: स्वामी पतिर्ब्रह्माक्रमिश्च सः ।
संसारे नाट्ये नटवत् संसात् संसारी हन्त चेष्टते ॥ यो०शा० ४.६५ तथा मिं०
सुमतिरमतिः श्रीमानश्री:सुखीसुखवर्जित:सुतनुरतनुस्वामी-अस्वामीप्रियः स्फुटमप्रियः नृपतिरनृप:स्वर्गीतिर्यङ्नरोऽपि च नारकस्तदिति, बहुधा नृत्यत्यस्मिन् भवो भवनाटके । प्रवचनसारो० भाग-१, पृ० ४५७
२. माता भूत्वा दुहिता, भगिनी भार्या च भवति संसारे ।
व्रजति सुत:पितृतां, भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव ॥ प्रशमरति, श्लोक १५६ तथा मिला०
अयणं भन्ते । जीवं, सव्वजीवाणं, माइत्ताए, पित्तिताए माइत्ताए, भगिणित्ताए, भज्जत्ताए, पुत्तत्ताए, धूयत्ताए, सण्हत्तार उववण्णपुव्वे ? हंतागोयमा । जाव अणंतक्खुत्तो ॥ भगवतीसूत्र १२.७
३. पास लोए महब्भयं । आचारांगसूत्र ६.१
४. एगतं दुक्खं जरिए व लोयं । वही,
५. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जन्तुणो ॥ उत्तरा० १६,१६
६. दे० धम्मपद. गा १४६
७. सारीरमाणसा चेव वेयणाउ अणंतसो ॥ उत्तरा० १६.४६
८. आलित्तं पलितेणं लोए भन्ते । जराए मरणेण य । भगवतीसू० २.१

जा रहे हैं। कोई भी ऐसा दिन नहीं जिस दिन कोई काल कवलित न हो—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषा स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम ॥[1]

इस प्रकार संसार के स्वरूप को जानकर सम्यक्त्व, व्रत, ध्यान आदि समस्त उपायों से मोह को त्याग कर अपने शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप का ध्यान करना ही श्रेयस्कर है—

इयं संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण।
तं झायह ससहावं संसरणं जेण णासेइ ॥[2]

अतः संसार की विचित्रता का चिन्तना मनन करते रहना सुख-दुःख रूप इस संसार से विरक्त होना तथा उससे छूटने का निरन्तर विचार करना ही संसारभावना है।

(४) एकत्वभावना

एकत्वभावना में यह चिन्तन स्फुरित होता है कि दुःख रूपी ज्वालाओं से जलते हुए संसार में सारभूत तत्त्व क्या है? धन, परिवार आदि सभी तो अनित्य और अशाश्वत हैं तब फिर इस विश्व में शाश्वत और सारभूत तत्त्व क्या है? कौन ऐसी वस्तु है जो जीव के साथ-साथ सदैव चलती है। जब साधक ऐसी वस्तु की खोज करता है तब उसे ज्ञात होता है कि आत्मा ही केवल शाश्वत है और यह एकमात्र नित्य एवं एकाकी है। इस संसार में उसका कुछ भी नहीं और वह भी किसी का नहीं है।[3]

अतः साधक को आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, जो कि एक विशुद्ध, अरूपी और ज्ञान-दर्शन स्वरूपी है। इसके अतिरिक्त जो बाहर दिखाई पड़ते हैं, माता-पिता, धन-वैभव आदि सभी आत्मा से भिन्न हैं, शरीर और आत्मा सर्वथा अलग-अलग हैं—

---

१. महाभारत, वनपर्व, युधिष्ठिर यक्षसंवाद
२. स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ७३
३. एगे अहमंसि न मे अत्थि कोई, न या ह मवि कस्सवि ॥ आचारांग० १.८.६

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाण मइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥[1]

इस संसार में पड़ा हुआ यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही शुभाशुभ गतियों में भ्रमण करता है। इसलिए अकेले को ही अपना हित करना चाहिए।[2]

जब यह जीव यहां से प्रयाण करता है तब सब कुछ उसका यहीं छूट जाता है। यह अपने शुभाशुभ कर्मो का फल अकेला ही भोगता है— **एगो सयं पच्चुण होइ दुक्खं ।**[3]

इसीलिए शास्त्रों में कहा है कि एक अपने आपको जीतना युद्ध में हजारों वीरों को जीतने से बढ़ कर है तथा यही सबसे बड़ी विजय है—

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगे जिणेज्ज अप्पाणं एस सो परमो जयो ॥[4]

इस प्रकार पूरे प्रयत्न से शरीर से भिन्न एक जीव को जानो, उस जीव के जान लेने पर क्षण भर में ही शरीर, मित्र, स्त्री धन-धान्य आदि सभी वस्तुएं हेय प्रतीत होने लगती हैं—

सव्वायरेण जाणह इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं।
अम्मि दु मुणिदे जोवे होदि असेसंखणे हेयं ॥[5]

ऐसे आत्मा के एकत्वभाव का चिन्तन करना ही एकत्व भावना है।

(५) **अन्यत्वभावना**

आत्मा के अतिरिक्त शेष जितने भी तत्त्व हैं यथा धन, परिजन, चलाचल सम्पत्तिआदि ये अन्य हैं, पर हैं। ऐसा चिन्तन करनाही अन्यत्व भावना है। संसार के समस्त पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं अर्थात् शरीर

---

१. समयसार, गाथा ३८
२. एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभाभवावर्ते।
तस्मादात्मिकहितमेकेनात्माना कार्यम् ॥ प्रशमरति प्रकरण, श्लोक १५३
३. सूत्रकृतांग, १.५.२.२२, पृ० ६२८
४. उत्तरा० ९.३४ तथा मिला० धम्मपद, गाथा १०३
५. स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ७९

और शरीरी दो पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। शरीरादि जड़ हैं जबकि आत्मा चेतन तत्त्व है। अतः उनका परस्पर एकत्व भाव नहीं है क्योंकि दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।[1] देह में अपनत्व बुद्धि होना अज्ञान जन्य है और देह का आत्मा से पृथकत्व बोध होना ही सद्ज्ञान है।[2]

यही भेद विज्ञान है, जो सम्यग्दृष्टि साधक का प्रथम लक्षण है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि—जो साधक अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभूति करता है वही शुद्ध भाव को प्राप्त होता है और जो अशुद्ध भाव का चिन्तन करता है, वह अशुद्ध भाव को प्राप्त करता है।[3] गुण-दृष्टि से सिद्धात्मा और संसारी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है—**आरिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीवा तारिसा होंती**[4] इसका चिन्तन करने से आत्मा तद्रूप होता है।

अतः आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, जो बाह्य सम्बन्ध से केवल मृत्यु पर्यन्त ही है[4] इससे सिद्ध होता है कि वे आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थ हैं। शास्त्र में भी कहा है—जब शरीर से प्राण निकल जाते हैं, तब तुच्छ शरीर को श्मशान में ले जाकर जला देते हैं और पत्नी पुत्र आदि अन्य दाता-संरक्षक की शरण लेते हैं।[5]

धन, पशु, ज्ञातिजन आदि को शरण मानने वाले मूढ़ हैं। वह इनके स्वभाव से परिचित नहीं है। वस्तुतः न ये किसी के रक्षक हैं और न इनका कोई रक्षक है। दोनों का सम्बन्ध क्षणिक और कृत्रिम हैं—

---

१. क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देह देहिनोः।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा॥ पंचविं, ६.४९
तथा मिला०—अन्यत्वभावनाशरीरस्य वैसादृश्याच्छरीरिणः।
धनबन्धुसहायानां तत्रान्यत्वं न दुर्वचम्॥ यो० शा०, ४.७०

२. देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥ अध्या०रा०, अयो०का० श्लोक ३३

३. सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेअप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो असुद्धं असुद्धप्पयं लहई॥ समयसार, गा० १८६

४. नियमसार, गा० ४७

५. तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से चिईगयं डहिउपावगेणं।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य दायारमन्नं अणुसंकमन्ति॥ उत्तरा०, १३.२५

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एए मम तेसु वि अहं नो ताणं सरणं विज्जई ॥[1]

ये कामभोग भी अन्य हैं और उनसे भिन्न यह आत्मा है। जब कामभोग वैभवादि आत्मा को किसी भी समय छोड़ सकते हैं तब फिर इनमें मूर्छा अर्थात् आसक्ति कैसी ?

अन्ने खलु काम भोगा, अन्नो अहमंसि।
से किं मंग पुणवयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ॥[2]

यह आत्मा स्वभाव से शरीरादि से विलक्षण भिन्न है।[3] जो महामति साधक अन्यत्वभावना से अपनी आत्मा को भावित करता है, उसके बाह्य पदार्थों का पूर्णतया नाश होने पर भी वह शोक नहीं करता,[4] क्योंकि जो आत्म तत्त्व है उसे कोई छिन्न-भिन्न अथवा नष्ट नहीं कर सकता।[5]

शरीरादि से आत्मा के भिन्न-चिन्तन को अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते हैं। अन्यत्व का चिन्तन करते हुए भी यदि यथार्थ में भेदज्ञान न हुआ, तो वह चिन्तन भी कार्यकारी नहीं होता।[6]

इस प्रकार समस्त पर पदार्थों से आत्मा को सदा भिन्न जानना तथा आत्मा और शरीर में अन्यत्व का बोध रखना, यही अन्यत्वभावना

---

१. सूत्रकृतांगसूत्र, १.२.३१६
२. वही, २.१.१३, पृ० ७५
३. अयमात्मास्वभावेन शरीरादेर्विलक्षणः। ज्ञानार्णव सर्ग २, अन्यत्व भा० श्लोक १
४. अन्यत्वभावनामेवं यः करोति महामतिः।
तस्य सर्वस्वनाशेऽपि, न शोकांशोऽपि जायते ॥
प्रवचनसारोद्धार भाग-१, द्वार ६७, अन्यत्वभावना, श्लोक १
५. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयति आपो, न शोषयति मारुतः॥ गीता २.२३
तथा मिला०—सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मे नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ॥ उत्तरा०, ९.१४
६. एवं बाहिरदव्वं जाणदि रूवा दु अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि य रच्चदे मूढो ॥ स्वामि कार्ति०, गा० ८१

की फलश्रुति है।

(६) लोकभावना

सभी प्राणी लोक में रहते हैं। साधक भी अशुद्ध अवस्था में लोक में रहता है और पूर्णशुद्ध अवस्था में भी लोक में ही रहेगा। अतः आत्मा का आवास एवं विकास और आधार लोक ही है। इसलिए लोकभावना में लोक का स्वरूप, आकार-प्रकार उसकी रचना के मूल तत्त्व क्या हैं? यहां साधक उसके नित्यानित्यत्व आदि का चिन्तन करता है।

दूसरे, लोक के स्वरूप का चिन्तन वही करता है जिसे लोक परलोक पर विश्वास होता है। जो कर्मफल को मानता है। इसलिए भगवान महावीर ने कहा है—आध्यात्मिक विकास चाहने वाला आत्मा एवं लोक का अपलाप नहीं करता।

लोकस्वरूप का चिन्तन हमें आत्माभिमुख करता है। इसलिए सूत्रकृतांग में कहा है कि यह मत सोचो कि लोकालोक नहीं है किन्तु विश्वास करो कि लोकालोक है, जीवाजीव हैं।[1]

लोक का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि धर्माधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, ये छः द्रव्य जहां पाए जाते हैं, वही लोक है—

धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गलजन्तवो।
एस लोगोत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥[2]

यह लोक अनादि है, स्वयं सिद्ध है, इसका कोई कर्त्ता नहीं और यह जीवादि से भरा है। यह अविनाशी है।[3] यह आकाश में स्थित है।[4] लोक का कोई भी ऐसा भाग नहीं है जहां जीवादि षड्द्रव्य न हो क्योंकि

---

१. णत्थि लोए अलोए वा णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए॥ सूत्रकृ० २.५.१२

२. उत्तराध्ययनसूत्र, २८.७

३. अनादिनिधनः सोऽयं स्वयं सिद्धोऽप्यनश्वरः।
अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम्॥ ज्ञाना०सर्ग २ लोकभावना श्लोक ४

४. स्वयं सिद्धो निराधारो गगने किन्त्ववस्थितः। योगशा० ४.१०६

इनका अवकाश ही लोक है—लोकाकाशेऽवगाहः ।[1]

लोक के अधः, मध्य और ऊर्ध्व ये तीन भाग हैं। अधोलोक में सात नरक भूमियां हैं जो घनोदधि (जमा हुआ पानी), घनवात (जमी हुई वायु) और तनुवात (पतली वायु) से वेष्टित है। ये तीनों इतने प्रबल हैं जिससे ही यह पृथ्वी धारण की हुई है।[2]

यह लोक अधोभाग में वेत्रासन के आकार का है अर्थात् नीचे विस्तार वाला और ऊपर क्रमशः सिकुड़ा हुआ है। मध्य में झालर के आकार का और ऊपर मृदंग के समान है। तीनों लोकों की यह आकृति मिलकर लोकाकाश बनता है।[3] जो साधक उपशम परिणामरूप परिणत होकर, लोक के स्वरूप का ध्यान करता है, वह कर्मपुञ्ज को नष्ट करके लोक शिखामणिरूप सिद्धत्व को प्राप्त होता है।[4] सिद्ध, मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार लोकभावना में लोकस्वरूप को समझकर साधक मनभ्रमण से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ५.१२

२. लोको जगत्त्रयाकीर्णाभुवः सप्तात्र वेष्टिताः।
घनोम्भोधि महावात तनुवतेर्महाबलः ॥ योगशा०, ४.१०४
तथा मिला०
वेष्टितः पवनः प्रान्ते महावेगैर्महाबलैः।
त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरुस्थितिः ॥ ज्ञानार्णव सर्ग २, लोकभावना, श्लोक २

३. वेत्रासनसमोऽधस्तान्मध्यतो झल्लरीनिभः।
अग्रे मुरजसंकाशो लोकः स्यादेवमाकृतिः ॥ योगशा०, ४.१०५
तथा मिला०—
अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः।
मृदङ्गसदृशश्चाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मकः ॥ ज्ञानार्णव सर्ग २, लोक भावना श्लोक ५

४. एवं लोयसहावं जो झायदि उवसमेक्कसब्भावो।
सो खविय कम्मपुंजं तिल्लोयसिहामणी होदि ॥ स्वामिकार्तिकेया०, गा० २८३

(७) **अशुचिभावना**

अशुचिभावना के अन्तर्गत साधक शरीर के अन्दर रही हुई आसक्ति को क्षय करता है। शरीर चाहे बाहर से देखने पर सुन्दर और आकर्षक दिखाई पड़ता हो किन्तु जैसे यहां आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि यह शरीर तो अनेक दुर्गन्धित पदार्थों से भरा हुआ है। यह रक्त, मांस, मज्जा एवं मल-मूत्र आदि से लिपटा हुआ है।[1] अतः शरीर के प्रति ममत्व अथवा प्रेमभाव रखना मूर्खता है। जब इस शरीर में मल मूत्रादि अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं तो यह आत्मा पवित्र कैसे हो सकता है ?[2]

यह शरीर अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक पदार्थ को भी वैसे ही अपवित्र बना देता है जैसे लवण सागर में पड़ते ही प्रत्येक वस्तु लवणमय हो जाती है, ऐसे ही इस शरीर में जो भी पदार्थ डाला जाता है वह भी दुर्गन्धमय हो जाता है, यही इसकी अशुचिता है।[3]

भगवतीसूत्र में शरीर की अशुचिता का वर्णन करते हुए बताया है कि यह शरीर दुःखों का घर है। यह हजारों रोगों का उत्पत्ति स्थल है। यह हड्डियों के आधार पर टिका है। नाड़ियों और नसों से जकड़ा हुआ है। मिट्टी के कच्चे घड़े के समान कमजोर भी है। अशुचिमय पदार्थों से पूर्ण तथा जरा (बुढ़ापे) और मृत्यु से घिरा है, सड़ना गलना इसका

---

१. असृग्मांसवसाकीर्णं शीर्णं कीकसपंजरम्।
शिराद्धं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते॥ ज्ञानार्ण, सर्ग २, अशुचि भावना, श्लोक २

२. रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रान्त्रवर्चसाम्।
अशुचीनां पदं कायः शुचित्वं तस्य तत्कुतः॥ योगशा०, ४.७२

३. लवणाकरे पदार्था पतिता लवणं यथा भवतीह।
काये तथामलास्युस्तदसावशुचिसदाकायः॥
प्रवचनसारोद्धार द्वार ६७, अशुचि भावना श्लोक १
तथा मिला०—
कर्पूरकुंकुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम्॥ ज्ञानार्ण सर्ग २, अशुचि भावना, श्लोक १२

स्वभाव है, इस विनाशशील शरीर को देर व सबेर छोड़ना ही पड़ता है।[1]

आचार्य उमास्वाति बतलाते हैं कि इस शरीर का आदि रज और वीर्य है और ये दोनों ही अपवित्र हैं। जिसके दोनों ही कारण अपवित्र हैं वह भला पवित्र कैसे हो सकता है। अतएव इस तत्त्व पर सम्यक् विचार करना चाहिए।[2] इस शरीर के नौ द्वारों से निरन्तर दुर्गन्ध बहता रहता है। ऐसे अपावन देह में पवित्रता की कल्पना करना महान् मोह की विडम्बना है।[3]

जो दूसरों के शरीर से विरक्त है और अपने शरीर से अनुराग नहीं करता तथा आत्मा के शुद्ध चिद्रूप में लीन रहता है उसी की भावना करना अशुचिभावना है—

जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूवि सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ॥[4]

इस प्रकार शरीर की अपवित्रता का निरन्तर विचार करते हुए उसके प्रति रही हुई आसक्ति को समाप्त करना ही अशुचि भावना है।

(८) आश्रवभावना

आत्मा परमात्मा में यदि कोई अन्तर करता है तो वह है—कर्म। आत्मा कर्मों से आवृत्त है और परमात्मा कर्मों से निरावृत्त। कर्म

---

१. एवं खलु अम्मयाओ। माणुस्सगं सरीरं दुक्खाययणं विविहवाहि सय सन्निकेयं अट्ठिकट्ठुट्ठियं छिराए हासजालडवणद्धसपिणद्धं मट्टियमंडं व दुब्बलं असुइ संकिलिट्ठं अणिट्टविय सव्वकालसंठप्पयं जरा कुणिम जज्जरघरं च सडण पडणविद्धंसण धम्मं।
भगवतीसूत्र ६.३३

२. अशुचिकरणासामर्थ्याद्युत्तरकारणाशुचित्वाच्च।
देहस्याशुचिभावः स्थाने-स्थाने भवति चिन्त्यः॥ प्रशमरति प्रकरण, श्लोक ११५

३. नवस्रोतः स्रवद्विस्ररसनिःस्यन्द पिच्छिले।
देहेऽपि शौचसंकल्पो महन्मोहविजृम्भितम् ॥ योगशास्त्र, ४.७३

४. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ८७

आत्मा को आवृत्त क्यों करते हैं? इसका चिन्तन करना ही आश्रव-भावना है।

आश्रव का लक्षण करते हुए आचार्य उमास्वाति कहते हैं कि शरीर, वाणी और मन को योग कहा जाता है, वही आश्रव है—**कायवाङ्मनः कर्मयोगः । स आश्रवः ।**[1] इन्हीं मन, वचन और काया की शुभाशुभ प्रवृत्तियों से कर्मों का बन्ध होता है। इस कारण मन, वचन काया का व्यापार ही आश्रवद्वार है।[2] आश्रवों का निरोध जब तक नहीं हो जाता है तब तक कर्म आत्मा को आवृत्त करते रहते हैं। ठीक वैसे ही जैसे नदी के उद्गम स्थान पर धुआंधार वर्षा होने पर नदी के प्रवाह को नहीं रोका जा सकता ऐसे ही मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति को विशुद्ध किए बिना कर्मावृत्तत्व नहीं रोका जा सकता।

मिथ्यात्व कषाय आदि के भेद से आश्रव भी २० प्रकार का बतलाया गया है।[3] जबकि स्वामी कार्तिकेय कषाय के ५७ भेद करते हैं। जो इन कषायों का त्याग करता है उसी योगी की आश्रव अनुप्रेक्षा सफल होती है:

एदे मोहयभावा जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो।
हेयंति मण्णमाणो आसव अणुवेहणं तस्स ।।[4]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ६.१-२

२. मनस्तनुवचः कर्म योग इत्यभिधीयते ।
स एवाश्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः ।। ज्ञानार्णव, सर्ग २, आस्रवभावना, श्लोक १
तथा मिला०—
मनोवाक्कायकर्माणि योगाः कर्मशुभाशुभम् ।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः ।। योगशा०, ४.७४
तथा, मनोवचो वपुर्योगः, कर्म येना शुभं शुभम् ।
भविनामाश्रवन्त्येते प्रोक्तास्तेनाश्रवाजिनैः ।।
प्रवचनसारोद्धार ६७, प्रथम भाग आश्रव भावना श्लोक १

३. विशेष के लिए दे० - प्रश्नव्याकरणसूत्र, आश्रव द्वार

४. स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ९४ तथा उसकी व्याख्या, पृ० ४६

आश्रवों के निरोध का उपाय बतलाते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि—अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियां रुक जाती हैं।[1]

इस प्रकार शुभाशुभ कर्माश्रव का विचार करके उनके विरोध के उपायों पर चिन्तन करना ही आश्रवभावना है।

१. संवरभावना

संवरभावना के अन्तर्गत साधक कर्मास्रव को रोकने के उपायों पर चिन्तन एवं मनन करता हुआ उन्हें पूर्णरूप से निरुद्ध करने की कोशिश करता है। संवर का लक्षण बतलाते हुए आचार्य कहते हैं—**आस्रवनिरोध संवरः**—आस्रव का रुक जाना संवर है।[2] यह संवर द्रव्यसंवर एवं भावसंवर के भेद से दो प्रकार का होता है। कर्मास्रव का रुकना द्रव्यसंवर कहा जाता है तो भव-भ्रमण की कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना भाव-संवर है।[3]

आगमग्रन्थों में संवर को मिथ्यात्व कषाय आदि के भेद से ५ भेदों में विभक्त किया गया है[4] जबकि **प्रश्नव्याकरणसूत्र** और **स्थानांगसूत्र** में

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगदर्शन १.२
तथा मिला०—असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्॥
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते॥ गीता ६.३५

२. तत्त्वार्थसूत्र ९.१

३. सर्वास्रवनिरोधो यः संवरः स प्रकीर्तितः।
द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुनः॥ ज्ञानार्णव सर्ग ३, संवरभावना श्लोक १
तथा मिला०—सर्वेषामाश्रवाणां तु निरोधःसंवरः स्मृतः।
स पुनर्भिद्यते द्वेधा द्रव्यभाव विभेदतः।
यः कर्मपुद्गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवरः।
भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भावः संवरः॥ योगशा०, ४.७९-८०
आश्रवाणां निरोधो यः, संवरः स प्रकीर्तितः।
सर्वतो देशतश्चेति द्विधा स तु विभज्यते॥ प्रवचनसारोद्धार द्वार ९७, संवरभावना श्लोक १

४. दे० प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवर द्वार

संवर के २० भेद गिनाए गए हैं।[1] इसी आगम स्थानांगसूत्र में ही एक दूसरे स्थान पर संवर के ५७ भेद भी बतलाए गए हैं।[2]

संवर में दृढ़ हुए साधक की तुलना वीर योद्धा से करते हुए आचार्य शुभचन्द्र बतलाते हैं कि जैसे सब प्रकार से सधा हुआ योद्धा युद्ध में बाणों से घायल नहीं होता वैसे ही संवरभावना का धारक साधक भी संसार में कर्मों से लिप्त नहीं होता।[3]

जब साधक साधना के द्वारा समस्त कल्पनाओं के जाल को छोड़कर अपने स्वरूप में मन को स्थिर करता है तब ही वह परम संवर का धारक होता है।[4]

जो संवर के कारणों को जानता हुआ भी उन्हें अपने आचरण में नहीं लाता है, वह दुःखों से संतप्त होकर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है।[5] अतएव साधक का संवर की भावना से अपनी आत्मा को भावित करना ही संवरभावना है।

(१०) निर्जराभावना

संवरभावना में साधक कर्मस्रोत का निरोध करता है। निर्जरा-भावना में वही पूर्व संचित कर्मसमूह को वैसे ही विनष्ट किया जाता है जैसे किसी बड़े तालाब में जल भरने के द्वार को रोक देने पर पहले से भरे जल को उलीच कर तालाब को रिक्त कर दिया जाता है अथवा सूर्य के ताप से उसे सुखा दिया जाता है, ऐसे ही संवर से कर्म जल रूपी

---

१. स्थानांगसूत्र १०.७.९

२. स्थानांगसूत्र, वृत्ति स्थान-१

३. असंयममयैर्बाणैः संवृतात्मा न भिद्यते।
यमी तथा सुसन्नद्धो वीरः समरसंकटे॥ ज्ञानार्णव सर्ग २, संवर भावना श्लोक ४

४. विहायकल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परम संवरः॥ वही, श्लोक ११

५. एदे संवरहेदुं वियारमाणो वि जोण आयरइ।
सो भमइ चिरं कालं संसारे दुक्खसंततो॥ स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० १००

स्रोत अवरुद्ध किया जाता है और संयम एवं तप के द्वारा करोड़ों भवों के पूर्व-बद्ध कर्मों की भी निर्जरा करके साधक उन्हें नष्ट कर देता है—

> जहामहातलागस्स सन्निरुद्धे जलागमे
> उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे।
> एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे
> भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ॥[1]

निर्जरा क्या है ? पूर्व संचित कर्मों अर्थात् संसार के बीजरूप कर्मों का क्षय करना ही निर्जरा है। यह सकाम और अकामनिर्जरा के भेद से दो प्रकार की होती है।[2] संयमी महामुनि तपस्या द्वारा कर्मसमूह को नष्ट करता है, इससे उसकी सकामनिर्जरा होती है, जबकि शेष प्राणियों की अकामनिर्जरा होती है।[3]

यद्यपि कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे हुए हैं फिर भी साधक ध्यानरूपी अग्नि से उन्हें वैसे ही नष्ट कर देता है जैसे अग्नि से सोने का मेल नष्ट होकर, जल कर सोना शुद्ध हो जाता है, ऐसे तपस्या से कर्मों की निर्जरा होने पर आत्मा परम विशुद्ध हो जाती है।[4]

इस प्रकार साधक को लौकिक अथवा अलौकिक हेतु को छोड़कर

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र ३०.५-६

२. यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः।
प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः ॥ ज्ञानार्णव सर्ग २ निर्जराभावना श्लोक १
तथा मिला०—संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामाकामवर्जिता ॥ यो०शा०, ४.८६
संसारहेतुभूताया, यः क्षयः कर्मसन्ततेः।
निर्जरा सा पुनर्द्वेधा, सकामाऽकामभेदतः ॥ प्रवचनसारोद्धार प्र०भा० द्वार ६७, निर्जरा भावना श्लोक १

३. निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम्। ज्ञानार्णव, सर्ग-२ निर्जरा भावना श्लोक २

४. ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम्।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्ध्यत्यङ्गी सुवर्णवत् ॥ वही, श्लोक ८

तप करना चाहिए।[1] निर्जरा तपरूप है।[2] साधक को बल, श्रद्धा, स्वास्थ्य, द्रव्य, क्षेत्र और कालादि का विचार करके तपस्या करना विहित है।[3]

जो साधक समतारूपी सुख में लीन है और बार-बार आत्मा का स्मरण करता है, इन्द्रियों और कषायों को जीतता है उसकी ही परम निर्जरा होती है।[4]

अतः निर्जराभावना में निर्जरा के स्वरूप, लक्षण और उसके साधनों पर बार-बार चिन्तन करने से साधक के मन में तप, दान और शील के प्रति आकर्षण बढ़ता है जिससे वह आत्मशुद्धि की ओर निरन्तर अग्रसर रहता है।

(११) **धर्मभावना**

इसके अन्तर्गत साधक धर्म के स्वरूप और साधना पर विचार करता है। धर्म की व्याख्या करते हुए आदिकवि वाल्मीकि कहते हैं 'जो धारण किया जाता है वह धर्म है'। धर्म के कारण ही सारी प्रजा और जगत् ठहरा हुआ है।[5] दुर्गति में गिरते हुए जीव को धारण करने वाला ही धर्म कहलाता है—**दुर्गतिप्रपतद्प्राणी धारणाद् धर्म उच्यते।**[6]

भगवान् महावीर ने धर्म का बड़ा ही उत्कृष्ट और सर्वोत्तम लक्षण

---

१. नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥
नो कित्तिवण्ण सद्द सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥ दशवैकालिक ९.४

२. तवसा निज्जरिज्जइ। उत्तरा० ३०.६

३. बलं थामं च पहोए सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निजजए॥ दशवैकालिक ८.३५

४. जो समसोक्खणिलीणो बारंबारं सरेइ अप्पाणं।
इंदियकसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा॥ स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ११४

५. धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मेण विधृता प्रजाः। वाल्मीकि रामायण, ७.५९

६. दे० योगशास्त्र, २.११

बतलाया है। उनके अनुसार अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जो इसे अपनाता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं —

धम्मो मंगलमुक्किठं अहिंसा संयमो तवो।
देवापि तं नमस्सन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥[1]

साधक विचारता है कि धर्म ही विश्व में मित्र, स्वामी, बन्धु और असहायों का सहारा तथा रक्षक है।[2] वह धर्म जिसके अंशमात्र को भी धारण करके साधक मुक्ति प्राप्त करता है। वह सत्य, अहिंसा और अस्तेय आदि रूप से दश प्रकार का स्वीकार किया गया है।[3]

जो साधक धर्म साधना करके पर भव में जाता है उसके कर्म अल्प रहते हैं। अतः उसकी वेदना भी कम होती है।[4] इस उत्तम धर्म से युक्त तिर्यञ्च भी देव होता है तथा उत्तम धर्म के आचरण से चाण्डाल भी सुरेन्द्र बन जाता है।[5] धर्मात्मा की सब जगह कीर्ति फैलती है, वह सब का विश्वास पात्र होता है, वह प्रिय भाषी होता है तथा स्व-पर मन को विशुद्ध करता है।[6]

---

१. दशवैकालिक १.१

२. धर्मो गुरूश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः।
अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं बिना ॥ ज्ञानार्णव, सर्ग २ धर्म भावना श्लोक ११

३. दशलक्ष्ययुतः सोऽयं जिनैर्धर्मः प्रकीर्तितः।
यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ति यमिनः शिवम् ॥ वही, श्लोक २
तितिक्षा मार्दव शौचमार्जवं सत्यसंयमौ।
ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चन्यं धर्म उच्यते ॥ वही, श्लोक २०
तथा मिला० - संयमः सूनृतं शौचं ब्रह्माकिञ्चनता तपः।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता मुक्तिश्च दशधा स तु ॥ यो०शा०, ४.९३

४. एवं धम्मंपि काऊणं जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणं ॥ उत्तरा० १९.२२

५. ता सव्वत्थ वि कित्ती ता सव्वत्थ विहवेइ वीसासो।
ता सव्वं पि य भासइ ता सुद्धं माणसं कुणइ ॥ स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ४२९

६. वही, गा० ४३०-३१

इस प्रकार साधक धर्म के स्वरूप और उसके फल का चिन्तन करता हुआ आत्मा को लोक और परलोक में सुखी बनाता है।

(१२) **बोधिदुर्लभभावना**

इसमें जीवन और विवेक तथा धर्मबुद्धि की दुर्लभता पर विचार किया जाता है। मनुष्य भव की दुर्लभता परक वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि आत्मा को मनुष्य भव प्राप्त करना बड़ा ही दुर्लभ है क्योंकि कर्मविपाक बहुत सघन है जिसके कारण आत्मा एक-एक योनि में असंख्य बार घूमा है। अतः सत्त्व को मानवजन्म लाभ कर क्षणमात्र का प्रमाद किए बिना ही धर्माचरण करना चाहिए—[1]

दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवागकम्मुणो समयं गोयम ! मा पमायए ॥[1]

मानव जन्म पा जाने के बाद भी आत्मा को चार बातों की उपलब्धि होना अतीव दुर्लभ है। वे हैं—मानवता, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पराक्रम—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं ॥[2]

सूत्रकृतांग में आता है कि मनुष्यो ! तुम धर्म तत्त्व को समझो, तुम क्यों नहीं समझते हो, कि सम्यक् बोध का प्राप्त होना बड़ा ही दुर्लभ है। ये बीती हुई रातें वापस नहीं आतीं और पुनः मानव जन्म मिलना भी अतिदुर्लभ है—

संबुज्झह, किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥[3]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र १०.४

२. वही, ३.१, तथा मिला०

छःठणाई सव्वजीवाणं दुल्लभाइं भवंति।
माणुस्सए भवे, आरियखेत्ते जम्मं, सुकुले पच्चायाती।
केवलि पन्नत्तस्स सवणया, सपस्सवासद्दहणया।
सद्दहियस्स वासम्मं काएण फासणया॥ स्थानांगसूत्र, ६.४८५
गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥ विष्णुपुराण २.३.२४

३. सूत्रकृतांगसूत्र १.२.१.१

इसलिए सम्यक् सम्बोध को प्राप्त करो।

सम्यक्त्व प्राप्त करके साधक धीरे-धीरे सम्यग्ज्ञान से अपने कर्मों का क्षय करता है जिससे अन्त में उसे मोक्ष मिलता है।[1]

दुर्लभ मानवपर्याय को प्राप्त करके जो पांचों इन्द्रियों के विषयों में रमते है, वे मूर्ख मनुष्य दिव्यरत्न को भस्म कर, उसे जलाकर राख करते हैं।[2] मनुष्यभव में भी सबसे दुर्लभ तत्त्व, सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति और उनका आदर पूर्वक संरक्षण करना है।[3]

आत्मस्वरूप का चिन्तन करना तथा मानव जीवन और सम्यक् सम्बोधि की दुर्लभता का अनुचिन्तन करना ही बोधिदुर्लभभावना हैं।

इस प्रकार इन बारह भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से चित्त समताभाव से युक्त होता है। इससे ही कषायों का उपशम होता है। सम्यक्त्व प्रकट होता है। वैराग्य में दृढ़ता आती है। साधक के द्वारा संसारिक दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि का चिन्तन मनन करने से उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी बन जाती है। इसीसे साधक के राग-द्वेष एवं मोह आदि क्लेश नष्ट हो जाते हैं और उसकी आत्मा परम विशुद्धता को धारण कर लेती है। इस कारण भावनाओं को वैराग्य की जननी कहा गया है। इन भावनाओं का चिन्तन करना भाग्यशाली मुनियों एवं योगियों को मिलता है।[5]

३. ध्यान

योगसाधना में ध्यान का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। मानव का

---

१. मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः स्मृतः। ज्ञानार्णव, सर्ग ३, श्लोक १३
तथा मिला०—इओ विद्धं समाणस्स पुणो संबोधि दुल्लहा।
सूत्रकृतांग १.१५.१८
अन्तो मुहुत्तमित्तंपि फासियं हुज्जजेहिं सम्मतं
तेसिं अवड्ढपुग्गलपरियट्ठो चेव संसारो। धर्मसंग्रह, अ० २.२१ की टीका

२. इय दुलहं मणुत्तं लहिऊणं य जे रमंति विसएसु।
ते लहिय दिव्व-रयणं भूइ णिमित्तं पजालंति ॥ स्वामिकार्ति०, गा० ३००

३. इय सव्वदुलहदुलहं दंसणणाणं तहा चरित्तं च।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि ॥ वही, गा० ३०१

४. विस्तृत अध्ययन के लिए दे० - भावनायोग एक विश्लेषण

मन सदा चंचल बना रहता है, उसे स्थिर रखने और अचञ्चल बनाने के लिए ध्यानयोग की प्ररूपणा की गयी है। ध्यान का वर्णन सूत्र रूप में जैन आगमों में प्रचुर रूप से मिलता है। इसका वर्णन करते हुए **प्रश्नव्याकरणसूत्र** में बतलाया गया हैं कि—**निव्वायस रयणप्प दीज्झाणमिव निप्पकम्पं**[1] अर्थात् स्थिर दीपशिखा के समान निश्चल-निष्कम्प तथा अन्य विषयों के संचार से रहित केवल एक ही विषय का धरावाही प्रशस्त सूक्ष्म बोध जिससे हो वह ध्यान कहलाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार—शुभ प्रतीकों के आलम्बन पर चित्त का स्थिरीकरण रूप ध्यान दीपक की लौ के समान ज्योतिर्मान तथा सूक्ष्म और अन्तःप्रविष्ट चिन्तन से संयुक्त होता है[2] जबकि शीलांकाचार्य ने मन वचन-काय के विशिष्ट व्यापार को ही ध्यान कहा है।[3]

तत्त्वार्थसूत्र में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एक ही विषय पर चित्त की एकाग्रता अर्थात् ध्येय विषय में एकाकारवृत्ति का प्रवाहित होना ध्यान बतलाया गया है।[4]

इस ध्यान योग में साधक की ध्येय वस्तुगत एकाग्रता इतनी बढ़ जाती है कि उसको उस समय ध्येय के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का बोध ही नहीं रहता। जिस आत्मा में यह ध्यानरूप योगाग्नि प्रज्वलित होती है, उसका कर्मरूप मल, जो अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपका हुआ है, भस्म हो जाता है[5] और उसके प्रकाश से रागादि

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवर द्वार-५

२. शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः।
स्थिरप्रदीपसदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम्॥ योगबिन्दु, श्लोक ३६२

३. ज्झाणजोगं समाहट्टुकायं विउसज्जे सव्वसो।
तितिक्खं परमं नच्चा आमोक्खाएपरिवएज्जासि॥ सूत्रकृता० १.८.२६
ध्यानचित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिकं तत्रयोगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारस्तं ध्यानयोगम्॥ वही टीका
ध्यान की विशेष चर्चा के लिए अग्रिम परिच्छेद चतुर्थ देखिए

४. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र ९.२७

५. सज्झायसुज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवेरयस्स।
विसुज्झईजं सि मलं पुरेकडं समीरियं रूप्प मलं व जोइणा॥
दशवैकालिक, ८.६३

का अन्धकारावरण नष्ट हो जाता है, चित्त सर्वथा निर्मल हो जाता है तथा सत्त्व को मोक्ष-मन्दिर का द्वार स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है।

४. समता

समता भी साधक के जीवन में अत्यधिक महत्व रखती है। गीता में समत्व को ही योग कहा है।[1] अविद्या (मूढ़ता) द्वारा कल्पित इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में की जाने वाली इष्टानिष्ट कल्पना को केवल अविद्या का प्रभाव समझ कर उनमें उपेक्षा धारण करना समता है[2] और उसमें निविष्ट मन, वचन और काय के व्यापार का नाम समतायोग हैं।

मानव के जीवन में समता के आ जाने अथवा योगी की वृत्ति में उसके आने से उनमें अनिर्वचनीय वैशिष्ट्य आ जाता है। इसके कारण वह प्राप्त ऋद्धियों-विभूतियों या चमत्कारिक शक्तियों का प्रयोग नहीं करता। उसके सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है और उसकी आकांक्षाओं, आशाओं के तन्तु टूटने लगते हैं।[3]

वास्तव में विश्व का कोई भी पदार्थ इष्ट अथवा अनिष्ट कारक नहीं है। यह संसार तो न ग्राह्य और न अग्राह्य है, इसमें अथवा इसके समस्त पदार्थों में जो साधक हर्ष-शोक आदि की अनुभूति करता है, वह मोह से प्रभावित होता है। वे विभाव संस्कार हैं, जो न तो आत्मा के गुण होते हैं और न ही आत्मा के साथ जिनका कोई सम्बन्ध ही होता है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। इस प्रकार के विचार एवं विवेक से आत्मा में रहे हुए विचार वैषम्य का नाश और समताभाव का परिणमन होने लगता है। इस सत् परिणाम के द्वारा किए जाने वाले चिन्तन को ही समतायोग वा साम्ययोग कहा जाता है।[4] यही आत्मा का यथार्थ गुण भी है।

---

१. समत्वं योग उच्यते। गीता, २.४८

२. अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
संज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते॥ योगबिन्दु, श्लोक ३६४

३. ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याप्रचक्षते॥ वही, श्लोक ३६५
तथा दे० योगभेद, द्वात्रिंशिका, श्लोक ६

४. दे० जैन योग सिद्धान्त और साधना, पृ० ८८

ध्यान और समता परस्पर सापेक्ष हैं। ध्यान के बिना समता की उपलब्धि नहीं हो सकती और समभाव के बिना ध्यान की सिद्धि होना भी असम्भव है। ध्यानयोग के साधक को समतायोग आवश्यक है और समतायोग के साधक को ध्यानयोग भी परमावश्यक है।

समत्व की प्राप्ति के बाद साधक को ध्यान करना चाहिए। समभाव की प्राप्ति के बिना ध्यान करना आत्मविडम्बना है क्योंकि समत्व के अभाव में ध्यान लगाना सम्भव नहीं है।[1] समभावरूपी सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह का अन्धकार नष्ट कर देने पर योगी अपनी आत्मा में परमात्म स्वरूप के दर्शन करने लगता है।[2] स्वयं आत्मा परमात्म स्वरूप में अवस्थित हो जाती है।

विषयों से विरक्त और समभाव से युक्त चित्त वाले साधकों की कषायरूपी अग्नि शान्त हो जाती है और सम्यक्त्व रूपी दीपक प्रदीप्त हो जाता है।[3]

इस प्रकार समता की साधना से साधक निर्भय हो जाता है। उसके कर्म बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। अतः समता साधक के आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा मानी जा सकती है क्योंकि सम्यक्त्वरूपी जलाशय में अवगाहन करने वाले पुरुषों का राग द्वेष-मल सहसा ही नष्ट हो जाता है।[4]

५. वृत्तिसंक्षय

वृत्तिसंक्षय अध्यात्म योग का अन्तिम सोपान है। इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि भावना, ध्यान और समता के

---

१. समत्वमवलम्ब्याथ ध्यानं योगी समाश्रयेत्।
बिना समत्वमारब्धे ध्याने स्वात्मा विडम्बयते ॥ योगशास्त्र ४.११२

२. रागादिध्वान्तविध्वंसे, कृते सामायिकांशुना।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति योगिनः परमात्मनः ॥ वही, ४.५३

३. विषयेभ्यो विरक्तानां साम्यवासितचेतसाम्।
उपशाम्येत् कषायाग्निर्बोधि दीपः समुन्मिषेत् ॥ योगशास्त्र, ४.१११

४. अमन्दानन्द जनने साम्यवारिणि मज्जताम्।
जायते सहसा पुंसां रागद्वेषमलक्षयः ॥ योगशास्त्र, ४.५०

अभ्यास से वृत्तिसंक्षय उद्भावित होता है, जिसका अर्थ आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का अपगम अर्थात् दूर होना है। दूसरे शब्दों में अनादिकाल से आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होते रहने की वत्ति, स्थिति या अवस्था का संक्षय होना, उनका मिट जाना, वृत्तिसंक्षय है।[1]

आत्मा में मन और शरीर के सम्बन्ध से उपलब्ध होने वाली विकल्प तथा चेष्टारूप वृत्तियों का अहर्निश भावव्यापार द्वारा निरोध करना, जिससे वे फिर से उत्पन्न न हों, वृत्तिसंक्षय कहा जाता है अथवा आत्यन्तिक क्षय अर्थात् समूल का नाश होने का नाम वृत्तिसंक्षय योग है—

अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ॥[2]

वृत्तियों के भेद और कारण

आत्मा की सूक्ष्म एवं स्थूल, आभ्यन्तर तथा बाह्य चेष्टाओं को वृत्ति कहा जाता है। वे आत्मा का अन्य पदार्थों के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होती हैं, जिसके कारण वृत्तियां उत्पन्न होती हैं, उसे योग्यता कहा जाता है।[3] जैसे वृक्ष का तना काट देने पर पत्र आदि की उत्पत्ति होने से नहीं रोका जा सकता वैसे ही संसाररूपी वृक्ष की स्थिति है। वृक्ष को समाप्त करने के लिए उसे जड़ से काटना होता है। ऐसे ही संसार रूप वृक्ष को समाप्त करने के लिए उसके मूल का उच्छेद करना आवश्यक है।[4]

पहले बतलायी गयी योग्यता, संसार रूपी वृक्ष की मूलभूत योग्यता है, वृत्तियां तरह-तरह के पत्ते हैं। यह परमतत्त्व अर्थात् यथार्थ वस्तु-

---

१, भावनादित्रयाभ्यासाद् वर्णितो वृत्तिसंक्षयः।
स चात्मकर्मसंयोगयोग्यतापगमोऽर्थतः ॥ योगबिन्दु, श्लोक ४०५

२. योगबिन्दु, श्लोक ३६६
तथा दे० योगभेद द्वात्रिंशिका, श्लोक २५

३. स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा आत्मनो वृत्तयो मताः।
अन्यसंयोगजाश्चैता योग्यताबीजमस्य तु। वही, श्लोक ४०६

४, पल्लवाद्यपुनर्भावो न स्कन्धापगमेतरोः।
स्यान्मूलापगमे यद्वद् तद्वद् भवतरोरपि ॥ वही, श्लोक ४०८

स्थिति है।[1]

वृत्तिसंक्षय के हेतु

उत्साह निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन तथा जनपद त्याग ये छः योग हैं जो कि वृत्तिसंक्षय के हेतु हैं।[2] जब पूर्व वर्णित योग साधन स्वभावानुगत हो जाते हैं, स्वायत्त हो जाते हैं, तो आत्मा के कर्म बन्ध की योग्यता का अपगम हो जाता है, यही योगी का एकमात्र लक्ष्य है।[3]

वृत्तिसंक्षय का परिणाम

वृत्तिसंक्षय से शैलेशी अवस्था की उपलब्धि होती है। इसमें मानसिक कायिक और वाचिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है और साधक की स्थिति मेरुवत् अकम्प अडोल हो जाती है तथा उसकी निर्बाध आनन्द विधायक मोक्षपद लाभ की स्थिति बन जाती है।[4]

इस प्रकार यह वृत्तिसंक्षय नाम का योग साधक को कैवल्य (केवलज्ञानदर्शन) तथा निर्वाण प्राप्ति के समय होता है। यद्यपि वृत्तिनिरोध ध्यान आदि की अवस्था में भी साधक प्राप्त कर सकता है किन्तु वह आंशिक ही होता है। सम्पूर्ण निरोध वृत्तिसंक्षययोग म ही निहित होता है।

कैवल्य-अवस्था में अर्थात् तेरहवें गुणस्थान (सयोगी केवली की स्थिति) में भी विकल्परूप वृत्तियां क्षय हो जाती हैं फिर भी चेष्टारूप वृत्तियों का आत्यन्तिक क्षय चौदहवें गुणस्थान (अयोगी केवली अवस्था) में ही होता है। अतः वृत्तिसंक्षययोग तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानों में हुआ माना जाता है। इस प्रकार वृत्तिसंक्षय के द्वारा कैवल्य प्राप्ति, शैलेषीकरण और मोक्षपद प्राप्ति—ये तीन फल साधना के (परिणाम) स्वरूप योगीसाधक को अधिगत होते हैं।

---

१. मूलं च योग्यता ह्यस्य विज्ञेयोदितलक्षणा।
पल्लवा वृत्तयश्चित्रा हन्त तत्त्वमिदं परम्॥ वही, श्लोक ४०६

२. उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात् सन्तोषात् तत्त्वदर्शनात्।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिः योगः प्रसिद्धयति॥ वही, श्लोक ४११

३. यथोदितायाः सामग्र्यास्तत्स्वभावनियोगतः।
योग्यतापगमोऽप्येवं सम्यग्ज्ञेयो महात्मभिः॥ योगबिन्दु, श्लोक २४

४. अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसंपरिग्रहः।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी॥ वही, श्लोक ३६७

परिच्छेद—चतुर्थ

योग : ध्यान और उसके भेद

योगसाधना में ध्यान का सर्वोपरि स्थान है। ध्यान की प्रक्रियाओं का प्रारम्भ पूर्व वैदिककाल में ही हो चुका था। कोई भी आध्यात्मिक उपलब्धि बिना ध्यानसाधना के भी प्राप्त होना सम्भव नहीं है क्योंकि पवित्र साधन से ही पवित्र साध्य की उपलब्धि होती है। योग, समाधि और ध्यान शब्द प्राय: एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। अत: ध्यान का आध्यात्मिक क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व है।

ध्यानसाधना के लिए हमारे ऋषि, यति और मुनिगण प्राय: कन्दराओं में ध्यानरत होते थे और इस योग आदि साधनाओं द्वारा वे स्वर्गत्व, अमरत्व, ईश्वरत्व, आत्मत्व एवं ब्रह्मत्व का लाभ कर अपना लक्ष्य सिद्ध करते थे। अत: योगी अथवा मुमुक्षु साधक के लिए ध्यान अत्यावश्यक है।

ध्यान शब्द **ध्यै चिन्तायाम्** धातु से चिन्तन अर्थ में 'ल्युट' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। कहा भी है[1] कि **निष्पन्नार्थो हि एष धातु:**[2] अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्व का मनन किया जाए, एकाग्र-चिन्तन किया जाए, उस प्रक्रिया का नाम ध्यान है।

(क) जैन ध्यानयोग : ध्यान के तत्त्व

भारतीय साधना में जैन ध्यानयोग का अपना विशिष्ट स्थान है। दूसरे शब्दों में कहें तो ध्यानसाधना ही जैन साधना का पर्याय बन गयी है। इसीलिए यहां ध्यान का जितना विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन हुआ है, उतना अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन मान्यतानुसार संयम अथवा चारित्र की विशुद्धि के लिए ध्यान सर्वोत्तम साधन माना गया है।

ध्यान का लक्षण एवं भेद

---

१. दे० संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ५०२

२. दे० अभि० को० भा०, पृ० ४३३ तथा अर्थविनि०, पृ० १७९

जैनदर्शन में 'ध्यान शब्द के लिए झान अथवा 'झाण' शब्द का प्रयोग हुआ है। चित्त को किसी एक लक्ष्य पर मुहूर्त भर के लिए एकाग्र करना ध्यान कहलाता है।[1] **तत्त्वार्थसूत्र** में एकाग्रता से चिन्तन के निरोध करने को ध्यान बतलाया गया है।[2] **सर्वार्थसिद्धि** में निश्चल अग्नि शिखा के समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है[3] जबकि **ध्यानशतक** में स्थिर अध्यवसाय ही ध्यान बतलाया गया है।[4] **तत्त्वानुशासन** में कहा गया है कि परिस्पन्दन से रहित जो एकाग्र चिन्ता का निरोध है, उसी का नाम ध्यान है।[5] यही योग है और यही प्रसंख्यान समाधि भी कहलाता है।[6] ध्यान को निर्जरा और संवर का कारण भी कहा गया है।[7]

वस्तुतः चित्त को किसी एक वस्तु अथवा बिन्दु पर केन्द्रित करना कठिन है क्योंकि यह किसी भी वस्तु पर अन्तर्मुहूर्त से अधिक देर तक ठहर नहीं पाता।[8] एक मुहूर्त ध्यान में व्यतीत हो जाने के बाद चित्त स्थिर नहीं रहता और यदि रह भी जाए तो वह चिन्तन कहलाएगा अथवा आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलाएगा।[9] इसे ही यदि दूसरे शब्दों में कहें तो ध्यान अथवा समाधि वह है, जिसमें संसार बन्धनों को तोलने वाले वाक्यों के अर्थों का चिन्तन किया जाता है अर्थात् समस्त कर्ममल नष्ट होने पर केवल वाक्यों का आलम्बन लेकर आत्मस्वरूप में

---

१. अन्तो मुहुत्तकालं चित्तस्सेकग्गया हवइ झानं। आव० नि० गा० १४६३

२. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र ९.२७
तथा तुलना कीजिए—एकाग्रेण निरोधो यः चित्तस्यैकत्र वस्तुनि तद्ध्यानं। महापु०, २१.८

३. ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति। सर्वा० सि०, पृ० ४५५

४. जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं। ध्यान श०, गा० २

५. एकाग्रचिन्तानिरोधो य परिस्पन्देन वर्जितः तद्ध्यानम्। तत्त्वानु०,गा० ५६

६. तदस्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम्।
प्रसंख्यानसमाधिः स्याद् ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम्। वही, गा० ६१

७. तद्ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम्। वही, गा० ५६

८. आमुहूर्तात्। तत्त्वार्थसूत्र ९.२८, तथा दे० ध्यान शतक, गा० ३

९. मुहूर्तात् परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत्।
बह्वर्थसंक्रमे तु स्याद्दीर्घापि ध्यानसन्ततिः। यो० शा० ४.११६

लीन होने का प्रयास किया जाता है।[1] इस अवस्था को तत्त्वानुशासन में समरसीभाव[2] और ज्ञानार्णव[3] में सवीर्य ध्यान कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में उत्तमसंहनन वाले के एकाग्रचिन्ता निरोध को ध्यान कहा गया है।[4] शास्त्र में संहनन छः प्रकार के बतलाए गए हैं[5]—(१) वज्र ऋषभनाराच संहनन, (२) ऋषभनाराच संहनन, (३) नाराच संहनन, (४) अर्द्धनाराच संहनन, (५) कीलिका संहनन और (६) सम्वर्तक संहनन। इनमें प्रथम तीन संहनन ध्यान के लिए उत्तम माने गये हैं।[6] फिर भी मोक्ष का अधिकारी वज्र ऋषभनाराच संहनन संस्थान वाला साधक ही होता है क्योंकि योगी नाना आलम्बनों में स्थित अपनी चिन्ता को जब किसी एक आलम्बन में स्थिर करता है तब उसे एकाग्र निरोधयोग की प्राप्ति होती है, जिसे समाधि तथा प्रसंख्यान कहा गया है।[7]

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि आलम्बन दो प्रकार के माने गए हैं—रूपी और अरूपी। अरूपी आलम्बन मुक्त आत्मा को माना गया है तथा इसे अतीन्द्रिय होने के कारण अनालम्बन योग भी कहा है।[8]

रूपी आलम्बन इन्द्रिय गम्य माना गया है। यद्यपि रूपी अथवा सालम्बन ध्यान के अधिकारी योगी छठे गुणस्थान[9] तक अपने चरित्र का विकास करने में समर्थ होते हैं, जबकि अनालम्बन योगी के अधिकारी

---

१. योगप्रदीप, गा० १३८
२. तत्त्वानुशासन, गा० १३७
३. दे० ज्ञानार्णव, अध्याय ३१, सवीर्य ध्यान का वर्णन
४. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र ९.२७
५. छव्विहे संघयणे पण्णत्ते, तं जहा—वइरोसभणारायसंघयणे, उसभणाराय संघयणे, नारायसंघयणे, अद्धनारायसंघयणे, कीलियसंघयणे, छेवट्ठसंघयणे। स्थानांगसूत्र, प्र० उ०, सू० ६
६. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ६२५
७. तत्त्वानुशासन, गा० ६०-६१
८. आलंबणं पि एयं रूविमरूवी य इत्थ परमु त्ति।
तग्गुणपरिणइरूवो सुहुमो अणालम्बणो नाम॥ योगविंशिका, गा० १९
९. अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम्॥ ज्ञानार्णव, २८.२५

सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक अपना आत्मविकास करते हैं।[1] सालम्बन ध्यान ही जब सांसारिक वस्तुओं से हटकर आत्मा के वास्तविक स्वरूप दर्शन में तीव्र अभिलषित हो जाता है, तब अनालम्बन ध्यान की निष्पत्ति होती है और आत्म साक्षात्कार होने पर ध्यान रह ही नहीं जाता क्योंकि यह निरालम्बन ध्यान एक विशिष्ट प्रयत्न है, जो केवलज्ञान प्राप्त होने से पूर्व अथवा योगनिरोध करते समय किया जाता है।

इस प्रकार निरालम्बन ध्यान की सिद्धि हो जाने पर संसार अवस्था उच्छिन्न हो जाती है और केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद ही अयोगावस्था प्रकट होती है, जो परम निर्वाण का ही अपर नाम है।[2]

ध्यान के पर्याय के रूप में तप, समाधि, धीरोध, स्वान्तनिग्रह, अन्तःसंलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव आदि का प्रयोग भी किया गया है।[3]

ध्यान के तत्त्व

ध्यान के तीन प्रमुख तत्त्व माने गये हैं– (१) ध्याता, (२) ध्येय और (३) ध्यान[4], जबकि आचार्य शुभचन्द्र ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान का फल ये चार तत्त्व मानते हैं।[5]

१. ध्याता

जो मुमुक्षु हो अर्थात् मोक्ष की इच्छा रखने वाला हो, संसार से

---

१. अप्रमत्तः सुसंस्थानो वज्रकायो वशी स्थिरः।
पूर्ववित्संवृत्तो धीरो ध्याता संपूर्णलक्षणः॥ ज्ञाना०, २८.२६

२. एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव।
तत्तो अजोगजोगो कमेण परमं च निव्वाणं॥ यो० बि०, गा० २०

३. योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तः निग्रहः।
अन्तःसंलनिता चेति तत्पर्यायाः स्मृताः बुधैः॥ तत्त्वानुशासन, पृ० ६१

४. ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याताध्येयं तथा फलम्। यो० शा०, ७१

५. ध्याताध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम्। ज्ञाना०, ४.५

विरक्त हो, आसन में स्थिर हो, जितेन्द्रिय हो, क्षोभ रहित हो, शान्त चित्त हो, जिसका मन वश में हो, संवर युक्त हो और धीर हो, इन आठ गुणों में युक्त साधक ही ध्याता, ध्यान करने वाला होता है ।[1]

२. ध्यान

ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ही ध्यान है ।[2] निश्चय नय से कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण को षट्कारमयी आत्मा कहा गया है, यही ध्यान है ।[3]

३. ध्येय

जिसका ध्यान किया जाता है वही ध्येय है ।

ध्यानसाधना के आवश्यक निर्देश

ध्यान की साधना की सफलता के लिए बतलाया गया है कि साधक परिग्रह के त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतधारण, मन का संयम और इन्द्रियविजय से युक्त होना चाहिए[4] कारणकि ध्यान की सिद्धि के लिए योगी को अपने चित्त का दुर्ध्यान, वचन का असंयम और काया की चंचलता का निषेध करना चाहिए[5] तथा समस्त दोषों से मुक्त होकर चित्त को स्थिर बनाना चाहिए ।[6] सद्गुरु, सम्यक् श्रद्धान, निरन्तर

---

१. मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः ।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥ वही, ४.६

२. ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।
यत्र वा ध्यायते यद्वा, ध्याति र्वाध्यानमिष्यते ॥ तत्त्वानु०, श्लोक ६७

३. स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः :
षटकारकामस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ वही, श्लोक ७४

४. संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनो ॥ वही, श्लोक ७५

५. निरुन्ध्याच्चित्तदुर्ध्यानं निरुन्ध्यादयतं वचः ।
निरुन्ध्यात् कायचांपल्यं, तत्त्वतल्लीनमानसः ॥ योगसार, श्लोक १६३

६. मामुज्झह मा रज्जह माद्रुसहइट्ठणिट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छहिजइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ बृहद्रव्यसंग्रह, गा० ४८

अभ्यास तथा मनः स्थिरता का ध्यान की सिद्धि के लिए विशेष महत्त्व बतलाया गया है ।[1]

ध्यान के अंग

ध्यान के निम्नलिखित अंग हैं—पूरक, कुम्भक, रेचक, दहन, प्लवन, मुद्रा, मन्त्र, मण्डल, धारणा, कर्माधिष्ठाता, देवों का संस्थान, लिंग, आसन, प्रमाण और वाहन आदि—जो कुछ भी शान्त क्रूर कर्म के लिए मन्त्रवाद आदि के कथन हैं वे भी सभी ध्यान के अंग हैं ।[2] संक्षेप में आचार मीमांसा की सारी ही बातें ध्यान के अन्तर्गत परिगणित होती हैं ।

वास्तव में जप, तप, व्रत और ध्यान आदि सभी क्रियाएं बिना स्वच्छ-शुद्ध मन के करने से अभीष्ट की उपलब्धि नहीं होती[3] क्योंकि मन की शुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है । इसके अभाव में व्रतों का अनुष्ठाम वृथा देह दण्ड मात्र है ।[4] इसके लिए इन्द्रियों का नियन्त्रण आवश्यक है, जब तक इन्द्रियों का नियन्त्रण नहीं होता तब तक कषायों का क्षय भी नहीं होता ।[5] अतः ध्यान की शुद्धता अथवा सिद्धि ही कर्मसमूह को नष्ट करती है[6] और आत्मा का ध्यान शरीरस्थित आत्मा के स्वरूप को जानने में समर्थ होता है[7] क्योंकि ध्यान जहां सब अतिचारों का प्रतिक्रमण है[8] वहां आत्मज्ञान की प्राप्ति से ही कर्मक्षय यथा कर्मक्षय से

---

१. ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
गुरुपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥ तत्त्वानुशासन, श्लोक २१८

२. वही, श्लोक २१३-२१६

३. किं व्रतैः किं व्रताचारैः किं तपोभिर्जपैश्च किम् ।
किं ध्यानैः किं तथा ध्येयैर्न चित्तं यदि भास्वरम् । योगसार, श्लोक ६८

४. मनः शुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥ ज्ञाना०, २२.१४

५. अदान्तैरिन्द्रियहयैश्चलैरपथगामिभिः । यो० शा०, ४.२५,८

६, दे० ज्ञानार्णव, २०.१४

७. एवमभ्यासयोगेन ध्यानेनानेन योगिभिः ।
शरीरांतः स्थितः स्वात्मा यथावस्थोऽवलोक्यते ॥ योगप्रदीप, श्लोक १६

८. झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेवहि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥ नियमसार, गा० ९३

मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

ज्ञातव्य है कि ध्यान के द्वारा शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के फलों की प्राप्ति सम्भव है अर्थात् इससे चिन्तामणिरत्न भी उपलब्ध होता है और खली के टुकड़े भी।[2] इस प्रकार ध्यान सिद्धि की दृष्टि से बाह्य वृत्तियों के निरोध के साथ स्ववृत्ति तथा साम्यभाव का होना भी अनिवार्य हैं।[3] साधक को आत्मदर्शन के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ दिखाई ही नहीं देते।[4] अगर साधक को सांसारिक चिन्ताओं का ध्यान अनायास हो भी जाए तो भी उन वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके गुरु अथवा भगवान् का स्मरण करते हुए निर्जन स्थान में सर्वप्रकार की कामचेष्टाओं से रहित होकर सुखासन से बैठना चाहिए[5] कारण कि इससे भी ध्यान में शुद्धता आती है।

ध्यान के हेतु

ध्यान के हेतुओं का उल्लेख भी प्राचीन ग्रंथों में मिलता है जो निम्नलिखित हैं—वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रन्थता, समचित्तता और परीषहजय[6]। इसके अतिरिक्त असंगता, स्थिरचित्तता, उर्मिस्मय, सहनशीलता[7] आदि का वर्णन भी इस प्रसंग में हुआ है।

---

१. मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानं साध्यं मतं तच्च तद्ध्यानं हितमात्मनः॥ यो० शा०, ४.११३

२. इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम्।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्तां विवेकिनः॥ इष्टोपदेश, २०

३. ततः स्ववृत्तित्वाद् बाह्यध्येय प्राधान्यापेक्षा निर्वत्तितामवति।
तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ६२६

४. तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यत्र किंचनाऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः॥ तत्त्वानुशा०, श्लोक १७२

५. योगशतक, गा ५६.६०

६. वैराग्यतत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषहजयश्चेति पंचैते ध्यानहेतवः॥ बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृ० २०७ पर उद्धृत।

७. दे० उपासकाध्ययनसूत्र, ३९.६३४

ध्यान के भेद-प्रभेद

विभिन्न जैन आगमों[1] एवं योग विषयक जैन ग्रंथों[2] में ध्यान के प्रमुख चार भेदों का उल्लेख मिलता है वे हैं—आर्त,(२) रौद्र, (३) धर्म्य और (४) शुक्लध्यान। इनमें प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त और अन्तिम दो प्रशस्त ध्यान माने गए हैं। अन्तिम दो धर्म्य एवं शुक्ल ध्यान को ही **तत्त्वार्थसूत्र** में मोक्ष का मूल कारण बतलाया गया है।[3] बाकी तो संसार-चक्र से व्यतिरिक्त नहीं हैं।

ज्ञानार्णव में ध्यान के तीन भेद-प्रशस्त, अप्रशस्त और शुद्ध बतलाए गए हैं।[4] हेमचन्द्राचार्य ने ध्यान को ध्याता, ध्येय और ध्यान के रूप में विभाजित किया है और ध्येय के चार भेद स्वीकार किए हैं[5]। वे हैं—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (२) स्वरूप और (४) रूपातोत। ध्येय के इन चार भेदों का वर्णन **ज्ञानार्णव** में भी आता है।[6] रामसेनाचार्य ने ध्येय के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद किए हैं[7] जो वर्गीकरण की अपनी विशेषता रखता है। इनके अनुसार द्रव्य ध्येय ही

---

१. चत्तारि झाणा पण्णता, तं जहा—अट्टेझाणे, रोद्देझाणे, धम्मेझाणे, सुक्के-झाणे। स्थानाङ्गसूत्र, सूत्र ४, प्रथम उद्देशक तथा
दे० समवायांगसूत्र, चतुर्थ समवाय, औपपातिक सूत्रः तपोधिकारा, भगवती सूत्र, शतक २५, उद्देशक ७

२. अट्टेणातिरिक्खगई रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं।
धम्मेण देवलोयं सिद्धिगई सुक्कझाणेणं ॥ ध्यान शतक, गा० ५
तथा—यच्चतुर्धा मतं तज्ज्ञैः क्षीणमोहैर्मुनीश्वरैः
पूर्वप्रकीर्णकाङ्गेषु ध्यानलक्ष्यसविस्तरम् ॥ ज्ञानार्णव, ४.१
आर्तरौद्रधर्म शुक्लानि। त० सू० ९.२९

३. परे मोक्षहेतू। त० सू० ९.३०

४. संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात्।
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा ॥ ज्ञानार्णव, ३.२७

५. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥ योगशास्त्र, ७.८

६. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः ॥ ज्ञाना०, ३७.१

७. नामं च स्थापनं द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम् ॥ तत्त्वानु०. श्लोक ९९

पिण्डस्थ ध्यानरूप में उपस्थित हुआ है।[1] क्योंकि ध्येय पदार्थ ध्याता के शरीर में स्थित आत्मा ही ध्यान विषय माना गया है और पिण्डस्थ ध्यान का कार्य भी वही है। इसके अतिरिक्त ध्येय के २४ भेदों का वर्णन भी प्राप्त होता है[2] जिनमें बारह ध्यान क्रमशः—ध्यान, शून्य, कला, ज्योति, बिन्दु, नाद, तारा, लय, मात्रा, पद और सिद्धि हैं तथा इन ध्यानों के साथ परमपद जोड़ने से ध्यान के और अन्य भेद बन जाते है।

उपर्युक्त ध्यान के भेद प्रभेदों के विवेचन से पूर्व आगमों एवं योग ग्रंथों में सर्वमान्य ध्यान के चार भेदों का विवेचन करते हैं—

१. आर्तध्यान

आर्त का अर्थ—दुःख है। दुःख से उत्पन्न होने वाला[3] अथवा प्रिय वस्तु के वियोग एवं अप्रिय वस्तु के संयोग[4] आदि के निमित्त से या आवश्यक मोह के कारण सांसारिक वस्तुओं में रागभाव करना[5] आर्त-ध्यान है। रागभाव से जो मूढ़ता आती है, वह अज्ञान के कारण है। परिणाम स्वरूप अवाञ्छनीय वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति होने पर जीव दुःखी होता है। यही आर्तध्यान है।[6]

यह ध्यान चार तरह से होता है—

१. अप्रियवस्तुसंयोग
२. प्रियवस्तुवियोग
३. प्रतिकूलवेदना और

---

१. तत्त्वानुशासन, श्लोक १३४
२. सुन्नुकुलजोइबिन्दुनादो तारो लओ लवोमत्ता।
पयसिद्धपरमजुयाझाणइं हुंति चउवीसं॥
नमस्कारस्वाध्याय (प्राकृत), पृ० २२५
३. स्थानांगसूत्र, प्रथम उद्देशक, सूत्र १२, पृ० ६७५
४. समवायांगसूत्र. ४ समवाय
५. दशवैकालिकसूत्र, प्रथम अध्ययन
६. ऋते भवमथार्त्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम्।
दिग्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात्॥ ज्ञाना०, २५.२३

४. निदानआर्तध्यान ।[1]

(१) अप्रियवस्तुसंयोग आर्तध्यान

द्वेष से मलिन जीव को अनिच्छित विषय शब्दादि तथा ऐसी वस्तु से सतत् छुटकारा पाने का सतत् चिन्तन करना[2] अप्रियवस्तु संयोग आर्तध्यान है ।

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार अग्नि, सर्प, सिंह, जल आदि चल तथा दुष्ट राजा, शत्रु आदि स्थिर और शरीर स्वजन धन आदि के निमित्त से मन को जो क्लेश होता है[3] वह अनिष्ट संयोग आर्तध्यान है । इस प्रकार का भाव बौद्धों ने दुःख नामक आर्यसत्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है ।[4]

(२) प्रियवस्तुवियोग अथवा इष्टवियोग आर्तध्यान

पांचों इन्द्रियों के अनुकूल इष्ट एवं प्रिय पदार्थों की प्राप्ति के लिए छटपटाना, उन पदार्थों के साधनरूप चल-अचल अभीष्ट माता-पिता आदि स्वजन को प्राप्त करने की उत्कृष्ट अभिलाषा, भौतिक सुखों का संयोग सदा बना रहे ऐसी चिन्ता तथा उनके वियोग होने से भविष्य में दुःखी न होने की चिन्ता, यह आर्तध्यान का दूसरा भेद इष्टवियोग आर्तध्यान है । इसे भी बौद्धों ने प्रथम आर्यसत्य के रूप में माना है ।

---

१. स्थानाङ्गसूत्र, प्रथम उद्दे० सूत्र १२, पृ० ६७५
तथा दे० औपपातिक सूत्र. तपोधिकार;
भगवतीसूत्र, शतक २५, उद्दे० ७; एवं तत्त्वार्थसूत्र, ९.३१-३४

२, अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूणं दोसमइलस्स ।
धणियं वियोगचिंतणमसं पओगाणुसरणं च ॥ ध्यान श०, गा० ६

३. दे० ज्ञानार्णव, २५.२५-२८

४. दे० अभिधर्मदेशना : बौद्धसिद्धान्तों का विवेचन, चार आर्य सत्य नामक अध्याय, दुःख आर्य सत्य की व्याख्या ।

५. दे० स्थानाङ्गसूत्र प्र०उ० सूत्र १२; भगवतीसूत्र, शतक २५, उद्दे० ७, तथा औपपातिकसूत्र तपोधिकार.
तथा —इट्ठाणविसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स ।
अवियोगऽज्झवसाणं तहसंजोगाभिलासोय ॥ ध्यानशतक, गा० ८ तथा दे० ज्ञानार्णव, २५.३०-३१

(३) प्रतिकूलवेदना आर्तध्यान

अपने तथा अपने व्यक्ति के शरीर में सोलह महारोगों में से किसी एक रोग से उत्पन्न हो जाने पर, अस्त्र-शस्त्र से घायल हो जाने पर, असह्यवेदना से चित्त के व्याकुल हो जाने पर अथवा किसी भी व्यथा से व्यथित होने पर मोहासक्त जीव खिन्न होकर जो चिन्ता करता है, वह आर्तध्यान का तीसरा भेद प्रतिकूलवेदना आर्तध्यान है।[1]

(४) निदानानुबन्धी अथवा भोगार्त्तध्यान

इस लोक में अथवा परलोक में वासनाजन्य क्षणिक सुखों की कामना करना, भोगों की लालसा करना, संयम, तप एवं ब्रह्मचर्य आदि शुभ क्रियाओं के बदले में नाशवान् पौद्गलिक सुखों को प्राप्त करने के लिए निदान करना[2] अथवा देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि के सौन्दर्य आदि गुणों की तथा सुख समृद्धि की याचना स्वरूप निदान करने का जो चिन्तन होता है अर्थात् अपनी साधना के बदले में लौकिक वैभव की कामना करना है, यही चतुर्थ आर्तध्यान निदानानुबन्धी है।[3]

---

१. दे० स्थानांगसूत्र, प्र० उ०, सूत्र १२; भगवतीसूत्र, श्लोक २५, उद्दे ७; औपपातिकसूत्र तपोधिकार

तथा—(क) तहसूलसीस रोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं।
तदसपओगचिंता तप्पडिआराउलमणस्स ॥ ध्यान श०, गा० ७

(ख) कासश्वास भगन्दरोदरजराकुष्ठातिसारज्वरैः।
पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैः रोगैः शरीरान्तकैः ॥
स्यात्सत्त्वप्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्व्याकुलत्वं नृणां,
तद्रोगार्त्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम् ॥ ज्ञानार्णव, २५.३२-३३

२. परिजुसि य कामभोग-संयओगसंपउत्ते, तस्स अविप्पओग सतिसमणागए यावि भवइ। स्थाना०, प्र० उ० सूत्र १२, तथा दे० भगवतीसूत्र शतक २५, उद्दे० ७; औपपातिसूत्र तपोधिकार; तत्त्वार्थसूत्र ९.३४

३. देविंदचक्कवट्टित्तणाइं गुणसिद्धिपत्थणमईयं।
अहमं नियाणाचतणमण्णाणाणुगयमच्चं तं ॥ ध्यान श०, गा० ९
तथा—भोगाभोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनीरूपसाम्राज्यलक्ष्मी।
राज्यं क्षीणारिचक्रं विचितसुखवधूलास्यलीलायुवत्यः ॥
ज्ञानार्णव, २५.३४ तथा दे० वही, ३५-३६

आर्तध्यान के लक्षण

शास्त्रकारों ने आर्तध्यान के चार लक्षण भी बताए हैं वे हैं :—

१. क्रन्दन अर्थात् रोना ३. आंसू बहाना और
२. शोक करना। ४. विलाप करना।[1]

ये चारों ही आर्तध्यान की पहचान हैं। जिस व्यक्ति में ये लक्षण पाए जाते हैं, वह आर्तध्यानी होता है।

आर्तध्यान की त्रिविध लेश्याएं

आर्तध्यान की लेश्या[2] तीन प्रकार की हैं, वे हैं—कृष्ण, नील एवं कापोत।[3]

इस ध्यान में अज्ञान की प्रधानता होती है, रागद्वेष अधिक बढ़ जाता है, जिसके कारण जीव सदा भयभीत, शोकाकुल सन्देहशील, प्रमादी, कलहकारी, विषयी, निद्रालु, सुस्त, खेदखिन्न तथा मूर्च्छा-ग्रस्त रहने लगता है।[4]

आर्तध्यानी की बुद्धि स्थिर नहीं रहती। वह रागद्वेष के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। ऐसे कुटिल चिन्तन के कारण वह तिर्यञ्चगति में गमन करता है।[5]

उसका मन आत्मा से हटकर सांसारिक पदार्थों पर केन्द्रित रहता है और इच्छित अथवा प्रिय वस्तुओं के प्रति अतिशय मोह करता है

---

१. अट्टस्सणं झाणस्स चत्तारिलक्खणापण्णता, तं जहा-कंदणया सोयणया, तिप्पणया, परिदेवना। स्थानां० प्र० उ०, सूत्र १२
तथा दे० भगवतीसूत्र शतक २५, उद्दे० ७, औपपातिकसूत्र तपोधिकार
२. लेश्या के विषय में अगला अध्याय देखिए
३. कावोयनीलकालालेस्साओनाइसंकिलिटठाओ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ॥ ध्यान श०, गा० १४
तथा दे० ज्ञाना०, २५.४०
४. ज्ञानार्णव, २५.४३
५. रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया।
अट्टंमि य ते तिण्णिवि, तं तं संसारतरुबीयं॥ ध्यान श०, गा० १३

जिससे उनके वियोग में दुःखी होता है। इसलिए इस ध्यान को अशुभ कहा गया है। यह ध्यान संसारभ्रमण का मूल है।[1] आर्तध्यान अविरति, देशविरति और प्रमादनिष्ठ संयमधारी को भी होता है। इसलिए इसे समस्त प्रमादों का मूल समझकर साधुजनों को इसे छोड़ देना चाहिए।[2]

यह ध्यान जीवों को अनादिकाल के अप्रशस्तरूप संस्कार से, बिना पुरुषार्थ के, स्वयं ही उत्पन्न होता है।[3]

रौद्रध्यान

रौद्र का अर्थ है—क्रोध, बर्बर, भयानक आदि।[4] इस अवस्था में मनुष्य जो चिन्तन करता है, उसे ही रौद्रध्यान कहा जाता है। तत्त्वदर्शी पुरुषों ने क्रूर आशय वाले प्राणी को रौद्र कहा है, उस रौद्र प्राणी के भाव, कार्य अथवा परिणाम को ही रौद्र कहते हैं।[5] इसका वर्ण लाल होता है।

चुगली करना, अनिष्ट सूचक वचन बोलना, गाली देना रूखा बोलना यहां तक कि असत्य वचन, जीवघात का आदेश आदि का प्रणिधान (एकाग्र मानसिक चिन्तन) रौद्रध्यान है। यह मायावी, प्रच्छन्न पापी, ठगी करने में निपुण होता है।[6] आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार जीवों की हिंसा में प्रवीणता हो, पापोपदेश में निपुणता हो, नास्तिक मत में चातुर्य हो, जीव घात करने में निरन्तर प्रगति हो तथा

१, एवं चउव्विहं रोगद्दोसमोहं कियस्स जीवस्स।
अट्टज्झाणं संसाइवद्धणं तिरियगइमूलं॥ वही, गा० १०

२. तदविरयदेसविरयपमायपरसंजयाणुगं झाणं।
सव्वप्पमायमूलं वज्जेव्वं जइजणेणं॥ ध्यान श०, गा० १८
तथा ज्ञाना०, २५.३६

३. एतद्विनापि यत्नेन स्वमेव प्रसूयते।
अनाद्यसत्समुद्भूत संस्कारादेव देहिनाम्॥ ज्ञानार्णव, २५.४१

४. दे० संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ८६३

५. रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः।
रुद्रस्य कर्मभावो वा रौद्रमित्यभिधीयते॥ ज्ञानार्णव, २६.२

६. पिसुणासब्भासब्भूयभूय घायाइवयणपणिहाणं।
मायाविणोइसंधणपरस्सपच्छन्नपावस्स॥ ध्यान श०, गा० २०

निर्दयी पुरुषों की निरन्तर संगति हो, स्वभाव से ही उसमें क्रूरता हो, दुष्ट भाव हो, तो उसको प्रशान्त चित्तवाले पुरुषों ने रौद्रध्यान कहा है।[1]

यह ध्यान अशुभ अथवा अप्रशस्त है। इसमें कुटिल भावों का चिन्तन होता है। इसमें हिंसा, झूठ, चोरी, धन-रक्षा में लीन होना-छेदन-भेदन आदि प्रवृत्तियों में राग आदि आते हैं। पूर्ववत् इसके भी चार भेद शास्त्रों एवं योग ग्रन्थों में बतलाए गये हैं।[2] वे हैं---हिंसानुबंधी, मृषानुबंधी, चौर्यानन्द एवं विषयसंरक्षानुबन्धी।

(१) हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान

अत्यधिक क्रोध से जकड़े हुए मन का लक्ष्य जीवों को पीटने, बींधने, बान्धने, जलाने, चिह्नित करने और मार डालने इत्यादि पर आ जाता है। यह स्थिति निर्दय हृदय वाले को होती है और ऐसा सत्त्व नरकगामी होता है।[4] जीवों के समूह को अपने से तथा अन्य के द्वारा मारे जाने, पीड़ित किए जाने, ध्वंस किये जाने और घात करते-कराने पर जो हर्ष का कारण माना जाता है, उसे ही हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान कहते हैं।[5]

(२) मृषानुबन्धी रौद्रध्यान

दूसरों को ठगने वाले, मायावी, छिपकर पापाचरण करने वाले पिशुन, चुगल खोर, झूठा कलंक लगाने वाले, हिंसाकारी वचन बोलने

१. हिंसाकर्माणि कौशलं निपुणतापापोपदेशं भृशं।
दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः।
संवासः सह निर्दयै विरतं नैसर्गिकी क्रूरता
यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः॥ ज्ञाना०, २६.६

२. दे० स्थानांगसूत्र, प्रथम उद्दे० सूत्र १२, भगवती सूत्र ३०७, शतक २५; औपपातिसूत्र, तपोधिकार

३. वही, तथा हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्। तत्त्वार्थसूत्र ९.३६

४. सत्तवहवेहबंधणडहणङ्कणमारणाइपणिहाणं।
अइ कोहग्गहघत्थनिग्धिणमणसोऽहमविवागं॥ ध्यान श०, गा० १९

५. हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धि सा रौद्रमुच्यते॥ ज्ञाना० २६.४

वाले, असत्यभाषी, झूठी गवाही देने वाले, असत्य से सम्बन्धित जितने भी कार्य हैं, उनमें मन लगाकर यह सोचना कि मैं किस प्रकार का झूठ बोल कर, अपना स्वार्थ सिद्ध करूं और लोगों में निर्दोष भी कहला सकूँ इत्यादि रूपों को धारण करने वाला मृषानुबन्धी दूसरे प्रकार का रौद्र-ध्यान है।[1]

जो मनुष्य कल्पनाओं के समूह से पाप रूपी मैल से मलिन चित्त होकर कुत्सित चेष्टाएं करें, उसे निश्चय करके मृषानन्द नामक रौद्र-ध्यानी बतलाया गया है।[2] मृषानन्दी सत्त्व मनोवाञ्छित फल प्राप्ति के लिए झूठ को सत्य बतलाकर लोगों को ठगता है और अपने को दूसरों से चतुर समझता है।

(३) चौर्यानन्द रौद्रध्यान

तीव्र क्रोध, द्वेष, लोभ आदि के वशीभूत होकर परद्रव्य हरण करने के लिए उपाय सोचना, चोरी के संकल्प से लेकर चोरी करने तक जितनी भी क्रियाएं प्रक्रियाएं हैं वे सभी चौर्यानन्द रौद्रध्यान के अन्तर्गत आती हैं। किसी के अधिकार वाली वस्तु का अपहरण करना चोरी है, ऐसी चेष्टाओं वाले चिन्तनमनन को स्तेयानुबन्धी या चौर्यानन्द रौद्रध्यान कहते हैं[3] और जो चोरी के कार्यों के उपदेश के आधिक्य से युक्त है अथवा चौर्यकर्म में चातुर्य एवं चोरी के कार्यों में ही दत्तचित्त है वह चौर्यानन्द रौद्रध्यान है।[4]

(४) विषय संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान

इन्द्रियों के विषयों शब्द आदि की लालसाओं का पूर्ण करने के

---

१. ध्यान शतक, गा० २०

२. असत्यकल्पनाजालकश्मली कृतमानसः ।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥ ज्ञाना०, २६.१६

३. दे० स्थानांगसूत्र १२ पर व्याख्या, पृ० ६८१, भगवतीसूत्र, शतक २५ उद्दे०७ पर भाष्य तथा दे० औपपातिक सूत्र, तपोधिकार
तथा-तह तिव्वकोहलहाउलस्समूओव धायणमणज्जं ।
परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्ख ॥ ध्यान शत०, गा २१

४. चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि ।
यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते ॥ ज्ञाना०, २६.२४

लिए भोग्य पदार्थों का जुटाना, उन्हें सुरक्षित रखने के लिए भोगों के प्रधान साधन रूप धन की रक्षा करना, परिग्रह में लीन रहना, नीति-अनीति, न्याय-अन्याय आदि की उपेक्षा करके धन-संग्रह करने की चिन्ता करना, सभी को शंका की दृष्टि से देखना जो-जो उस धन के भागीदार हैं, उनसे द्वेष करना, इत्यादि रूपों में किया गया चिन्तन ही विषय संरक्षानुबन्धी रौद्रध्यान है।[1] क्रूर परिणामों से युक्त होकर तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र से शत्रुओं को नष्ट करके, उनके ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति को भोगने की इच्छा रखना अथवा शत्रु से भयभीत होकर अपने धन, स्त्री, पुत्र राज्यादि के संरक्षार्थ भांति-भांति की चिन्ता करना ही विषय संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है।[2]

इस प्रकार रौद्रध्यानी सर्वदा अपध्यान में लीन रहता है और दूसरे प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने के उपाय सोचता रहता है। फलतः वह भी दूसरों के द्वारा पीड़ित होता है, ऐहिक परलौकिक भय से आतंकित होता है। अनुकम्पा से रहित, नीचकर्म में निर्लज्ज एवं पाप में आनन्द मनाने वाला होता है। इस तरह यह रौद्रध्यान संसार का मूल तथा नरक गति का कारण है।[3]

रौद्रध्यान के लक्षण

शास्त्रकारों ने रौद्रध्यानी के चार लक्षण बतलाए हैं[4]—

---

१. स्थानांगसूत्र १२ पर व्याख्या, पृ० ६८१, भगवतीसूत्र, शतक २५, उद्दे० ७ पर व्याख्या, औपपातिकसूत्र, तपोधिकार
तथा—सदाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमणिट्ठं।
सव्वाभिसंकणपरोवधायकलुसाउलं चित्तं। ध्यान श०, गा० २२

२. आरोप्य चापं निशितैः शरैर्निकृत्य वैरिव्रजमुद्धताशम्।
दग्ध्वा पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्येऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम्॥ ज्ञाना० २६ ३०-३३

३. रोद्दज्झाणं संसारवद्धणं नरयगइमूले॥ ध्यान शतक, गाथा २४

४. रुद्दस्सणं झाणस्स चत्तारिलक्खणापण्णता तं जहा-ओसण्णदोसे, बहुदोसे, अन्नाणदोसे, आमरणंतदोसे। स्थानां०, प्र०उ०, सूत्र १२
भगवतीसूत्र उद्दे० ७, शतक २५; तथा—
लिंगाइतस्स उस्सण्ण बहुलनानाविहामरण दोसा।
तेसिंचिय हिंसाइस बाहिरकरणोवउत्तस्स॥ ध्यान श०, गा० २६

(१) रौद्रध्यानी की प्रवृत्ति हिंसादि पांच आस्रवों में पाई जाती है। जिसकी प्रवृत्ति दोषों के सेवन में लगी हुई है और जिसमें प्रायः द्वेष अर्थात् दूसरों को मारने अथवा उन्हें किसी न किसी तरह नुकसान पहुंचाने की तीव्र इच्छा रहती है।

(२) रौद्रध्यानी की प्रवृत्ति दोषों में बहुलता होने के कारण उसमें पापों की अधिकता पाई जाती है।

(३) रौद्रध्यानी की प्रवृत्ति अज्ञानमयी होती है क्योंकि कुशास्त्रों के अध्ययन से उसके ऐसे ही संस्कार बन जाते हैं।

(४) यह रौद्रध्यानी स्वकृत पापों का अन्त तक प्रायश्चित नहीं करता। यही रौद्रध्यानी के चार लक्षण हैं किन्तु आचार्य शुभचन्द्र क्रूरता, दण्ड, पारुष्यता, वञ्चकता और कठोरता ये चार रौद्रध्यान के लक्षण मानते हैं।[1]

रौद्र ध्यानी की लेश्याएं

इस ध्यानी के परिणाम चूंकि क्रूर होने हैं अतः इसकी लेश्याएं भी अप्रशस्त अर्थात् कृष्ण नील और कापोत होती हैं।[2] रौद्रध्यान प्रायः पंचम गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।[3] यह क्षायोपशमिकभाव है इसका काल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होता है। इस ध्यान का आधार (object) सदैव खोटी वस्तु ही होती है।[4]

आर्त एवं रौद्र दोनों ही ध्यान निन्दनीय हैं। ये प्रायः आरम्भ परिग्रह और कषायों से मलिन अन्तःकरण वाले ग्रहस्थों में स्वभावतः

---

१. क्रूरता दण्डपारूष्यं वञ्चकत्वं कठोरता।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः॥ ज्ञाना० २६.३७

२. कापोय-नील-कालालेस्साओ तिव्वसंकिलिट्ठाओ।
रोद्दज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणाम जणियाओ। ध्यान श०, गा २५
तथा—कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम्।
रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात्पञ्चगुणभूमिकम्॥ ज्ञानार्णव, २६.३६

३. अविरय देसासंजय जणमणसंसेवियमहण्णं। ध्यान शत०, गा० १३

४. क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकः।
दुष्टाशयवशादेतदप्रशस्तावलम्बनम्॥ ज्ञानार्णव, १६.३९

पाये जाते हैं।[1] कभी-कभी ये यति-मुनियों में भी पूर्व कर्म के उदय से पाये जाते हैं। बाहुल्य से ये संसार के कारण हैं।[2] ये दुर्ध्यान हैं, जो जीवों के अनादि काल के संस्कार से बिना ही यत्न के स्वतः निरन्तर उत्पन्न होते हैं।[3] अतः दोनों ही सयत्न त्याज्य हैं।

३. धर्म ध्यान

धर्म का चिन्तन ही धर्मध्यान है। तब प्रश्न उठता है कि धर्म किसे कहते हैं ?

धर्म का स्वरूप

धर्म शब्द का प्रयोग भारतीय वाङ्मय में अनेक अर्थों में किया गया है। **अथर्ववेद** में इसका प्रयोग धार्मिक क्रियाओं और संस्कारों से उत्पन्न होने वाले गुण के अर्थ में मिलता है।[4] **छान्दोग्योपनिषद्** में धर्म-शब्द का प्रयोग आश्रमों में विलक्षण कर्त्तव्यों की ओर संकेत करता है।[5] **महाभारत** के अनुशासन पर्व में[6] अहिंसा के लिए और वनपर्व में[7] आनृशंस्य के लिए **परम धर्म** शब्द का उल्लेख किया गया है। **मनुस्मृति** में आचार को ही धर्म माना गया है।[8]

धर्म शब्द की निष्पत्ति संस्कृत की 'धृ' धारणे धातु से हुई है।[9]

---

१. इत्यार्त्तरौद्रे गृहिणामजस्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवतः स्वतोऽपि।
परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्किते‌ऽन्तःकरणे विशङ्कम् ॥
वही, २६.४१

२. क्वचित्क्वचिदमी भावाः प्रवर्त्तन्ते मुनेरपि।
प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्रायः संसारकारणम् ॥ वही, २६.४१

३. वही, २६.४३

४. अथर्ववेद. ९.१७

५. छान्दोग्योपनिषद्, १.१३

६. महाभारत, अनुशासनपर्व ११५.१

७. वही, वनपर्व, ३७३.७३

८. आचारः प्रथमो धर्मः। मनुस्मृति, १.१०८

९. धारणात् धर्म इत्याहुः। वाल्मीक रामायण ७.५

इसका अर्थ होता है—धारण करना।[1] कुछ विद्वान् इसे 'धृ' धरणे धातु से निष्पन्न मानते हैं, जिसका अर्थ हैं—धरना अर्थात् जैसे एक वस्तु को किसी स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर धर देना धर्म है, उसी प्रकार संसार के प्राणियों को बुरी गति में जाने से जो बचाता है या दुःखों से छुटकारा दिलाता है, साथ ही उत्तम सुख की प्राप्ति भी जो कराता है अथवा उच्चगति में ले जाता है, वह धर्म ही तो है।[2]

धर्म गिरे हुए जीवों को उठाकर उन्नत या उच्च स्थान पर स्थापित करता है। इसी लिए यह धर्म है। इस पर जब गहराई से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि धारण करने और धरने में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं हैं, अपितु ये दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर हैं। धर्म में दोनों ही बातें आ जाती हैं। जो जीव संसार के दुःखों में उलझ कर पतित बना पड़ा है, वह यदि उनसे छुटकारा चाहता है तो वह धर्म को धारण करेगा और धर्म भी उसे पतित स्थान से उठाकर उत्तम सुख वाले स्थान में पहुंचा देगा।

इस संसार में जितने भी जीव हैं वे भी सभी दुःखी हैं। अतः सभी कोई ऐसा स्थान चाहते हैं जहां पर थोड़ासा भी दुःख न हो। ऐसे अभीष्ट स्थान पर जो जीव को पहुंचाता है, वही धर्म है।[3]

---

१. दे० धर्मदर्शन मनन और मूल्यांकन, पृ० ५

२. यस्माज्जीवं नरकतिर्यग्योनिकुमानुषदेवत्वेषु प्रपतन्तं धारयतीति धर्मः। उक्त च दुर्गतिप्रसृतान् जीवान् यस्माद्धारयते यतः।
धत्ते चैतान् शुभस्थाने तस्माद् धर्म इति स्थितः। दशवैका०, जिन० चूर्णि, पृ० १५
देशयाभि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्,
संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥ रत्नकरण्डक श्रावकाचार, श्लोक १.२

३. (क) इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः। सर्वार्थसिद्धि, ९.२
(ख) धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदव्ययः॥ पंचाध्य०, उत्तरार्ध, श्लोक श्लोक ७१५
(ग) धत्ते नरकपाताले निमज्जज्जगतां त्रयम्।
योजयत्यपि धर्मोऽयं सौख्यमत्यक्षमङ्गिनाम्॥ ज्ञाना०, धर्म भावना, २.१२ पृ० ४६
(घ) महापुराण, २.२७
(च) तत्त्वार्थवार्तिक, ९.२.३

प्रवचनसार की तात्पर्याख्यावृत्ति[1] के कर्त्ता के अनुसार धर्म वह है—'जो मिथ्यात्व, राग आदि में हमेशा सँसरण कर रहे भवसंसार से जो प्राणियों को ऊपर उठाता है और विकार रहित शुद्ध चैतन्यभाव में परिणत करता है।' **परमात्मप्रकाशकार** के अनुसार धर्म जीव को मिथ्यात्व, रागादि परिणामों से बचाता है और उसे अपने निजी शुद्धभाव में पहुंचा देता है[2] जिससे सत्त्व अहर्निश कल्याण मार्ग में संलग्न रहता है।

महापुराण[3] और **चारित्रसार**[4] में भी धर्म के विषय में यही आशय प्रकट किया गया है। **द्रव्यसंग्रह** की टीका में भी ऐसा ही मिलता है।[5]

जैन आचार्यों ने धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है कि धर्म उत्कृष्ट मंगल है और वह अहिंसा, संयम और तप रूप है।[6] जबकि तीर्थंकरों ने धर्म को दश लक्षण वाला बतलाया है। वे हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य।[7] इन धर्मों पर वृत्ति लिखते हुए आचार्य अभयदेव ने जो व्याख्या की है, वह भी उपर्युक्त चर्चा की पुष्टि करती है।[8] **समवायांगसूत्र**[9] और **तत्त्वार्थ**-

१. मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः। प्रवचनसार, तात्पर्याख्यावृत्ति, ७.६

२. भाव विसुद्धणु अप्पाणउ धम्मभणे विणु लेहु।
चणइदुक्खहं जो धरइ जीव पडंतउएहु ॥ परमात्म प्र०, २.६८

३. महापुराण, २.३७

४. चारित्रसार, गा० ३

५. निश्चयेन संसारपतन्तमात्मानं धरतीति विशुद्धज्ञान-दर्शनलक्षण-निजशुद्धात्मा भावनात्मभावनात्मको धर्मः। व्यवहारेण तत्साधनार्थदेवेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तमक्षमादिदशप्रकारो धर्मः। द्रव्यसंग्रह, टीका, पृ० ३५

६. धम्मो मंगलमुकिट्ठं अहिंसा संयमो तवो। दशवै०का० १.१

७. दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते तं जहा-खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे ॥ स्थानांगसूत्र १०.१६

८. खंतीयमद्दवज्जव मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचण बंभं च जइ धम्मो। स्थानांगसूत्र वृत्ति पत्र १८३

९. दसविहे समण धम्मे पण्णत्ते, तं जहां-खंती, मुत्ती, अज्जवे,
मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए बंभचेरवासे ॥ समवायांग १०

सूत्र[1] में भी ऐसा ही मिलता है।

स्वामि कार्तिकेय ने अपने ग्रंथ **स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा** में पूर्व कथित दश लक्षण रूपधर्म से भिन्न परिभाषा दी है। उनके अनुसार वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है। क्षमा आदि दश प्रकार के भाव धर्म है। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र) धर्म है और जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।[2] इस प्रकार सत्वों का जो स्वभावरूप सदाचरण है वही वास्तविक धर्म है।

वत्थु सुहावो धम्मो, खमादि दस विहो धम्मो रयणत्तयं च धम्मो और **जीवाणं रक्खणं धम्मो** में अलग-अलग जिन भावों की अभिव्यक्ति की गई है, वे सब इसमें समाहित हो जाते हैं। आत्मा का अपना जो मूल स्वभाव है, उसके जो निजी परिणाम है, उस स्वभावरूप परिणमन को चारित्र में प्रतिफलित होना बतलाया गया है। इसलिए चारित्र ही धर्म है—**चारित्तं खलु धम्मो**।[3]

रयणत्तयं च धम्मो जिस दृष्टि से कहा गया है वह धर्म के व्यवहारिक-सांसारिक दृष्टिकोण को लक्षित करता है। ऐसे ही **जीवाणं रक्खणं धम्मो** भी व्यवहारिक दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त करता है। और **चरित्तं खलु धम्मो** की दृष्टि निश्चयात्मक और आध्यात्मिक धरातल पर खड़े रहने वाले की दृष्टि है अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर देखने से **रयणत्तयं च धम्मो** का कथन किया गया है, जबकि ऊपर से देखने वाली दृष्टि से **चरित्तं खलु धम्मो** का कथन किया गया है। इस प्रकार ये चाहे देखने में भिन्न प्रतीत होते हैं फिर भी तात्त्विक दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मानव का आचरण ही धर्म है।

धर्म ध्यान का अधिकारी

यह प्रशस्त ध्यान माना गया है कारणकि इस ध्यान से जीव का

---

१. उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः। तत्त्वार्थसूत्र, ९.६

२. धम्मो वत्थु सुहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मं जीवाणं रक्खणधम्मो॥ स्वामिकार्ति०, ४.७८

३. दे० प्रवचनसार, गा० ७

उत्थान होता है और आत्म चिन्तन की ओर प्रवृत्त होने से रागभाव का उपशम होता है। अतः यह आत्मविकास का प्रथम सोपान है। स्थानांग-सूत्र में इस ध्यान को श्रुत, चारित्र और धर्म से युक्त बतलाया गया है।[1] धर्मध्यान उसमें होता है जो दशविध धर्मों का पालन करता है तथा प्राणियों की रक्षा करने के लिए सदा तत्पर रहता है।[2] प्रमाद से रहित तथा जिनका मोह क्षीण होने लगा है ऐसे ज्ञानी ही धर्मध्यान का अधिकारी है।[3]

धर्मध्यानी के लिए ध्याता, ध्येय, ध्यान उसका फल, स्वामी, ध्यान का स्थान, काल और अवस्था, ध्यान योग्य मुद्राओं को अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए।[4]

निर्विघ्न ध्यान देश, काल एवं परिस्थति के अनुसार सम्पादित होता है[5] और इसके लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य उपेक्षित है जिनसे सहज मन को स्थिर किया जाता है, कर्मास्रव अवरुद्ध होता है ओर वीतराग भाव को प्राप्त किया जाता है। आचार्य शुभचन्द्र[7] और हेनचन्द्र ने[8] ध्यान की सफलता के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं का चिन्तन उपयोगी बतलाया है।

धर्मध्यान की सिद्धिहेतु आवश्यक निर्देश

ध्यान की सिद्धि के लिए विभिन्न निर्देश प्राचीन आचार्यों ने दिए हैं—जैसा कि 'ध्याता ऐसी जगह कभी ध्यान न करे जहां स्त्री, पशु व

---

१. स्थानांगसूत्र ४.२४७
२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, स्वोपज्ञ भाष्य ६.२६
३. दे० ध्यानशतक, गा० ६३
४. तत्त्वानुशासन, श्लोक ३७
५. वही, श्लोक ३८-३९
६. ध्यानशतक, गाथा ३०-३४
७. चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते विधेया धर्मस्य सिद्धये॥ ज्ञानार्णव, २७.४
८. मैत्रीप्रमोदकारुण्य माध्यस्थानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम्॥ यो० शा०, ४.११७

क्षुद्र प्राणी आदि हों। वह साधक ऐसे निर्जन स्थान पर चला जाए, जहां किसी भी प्रकार की बाधा की सम्भावना न हो और वह किसी भी जगह दिन अथवा रात्रि में ध्यान करने के लिए बैठ सके।[2] यह भी निर्देश है कि ध्यान का आसन सुखदायक होना चाहिए जिससे ध्यान में स्थिरता बनी रहे।[3]

धर्म ध्यान की विधि

ध्याता पुरुष जब ध्यान करने के लिए उद्यत हो तब उसे इन बातों का भी ध्यान रखना चाहिए—

(१) ऐसे आरामप्रद आसन पर बैठे कि जिससे लम्बे समय तक बैठने पर भी मन विचलित न हो।

(२) दोनों ओंठ मिले हुए हों।

(३) दोनों नेत्र घ्राण के अग्र भाग पर स्थापित हों।

(४) दांत इस प्रकार रखें कि ऊपर के दांतों के साथ नीचे के दांतों का स्पर्श न हो।

(५) मुख मण्डल प्रसन्न हो।

(६) पूर्व या उत्तर दिशा में मुख हो।

(७) प्रमाद से रहित हो।

(८) मेरुदण्ड को सीधा रखकर सुव्यवस्थित आकार से बैठें।[4]

ध्यान बैठकर, लेटकर अथवा खड़े होकर किसी भी आसन में किया

---

१. तत्त्वानुशासन, श्लोक ९०-९५

२. कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
न उ दिवसनिसावेलाइ नियमणं झाइणो भणियं॥ ध्यानश०, गा० ३८

३. जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यानसाधनम्॥ यो० शा०, ४.१३४

४. सुखासनसमासीनः सुश्लिष्टाधरपल्लवः।
नासाग्रन्यस्तदृग्द्वन्द्वोदन्तैर्दन्तान् संस्पृशन्॥
प्रसन्नवदनः पूर्वाभिः मुखो वाप्युदङ्मुखः।
अप्रमत्तः सुस्थानो ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत्॥ वही, ४.१३५-१३६

जा सकता है।[1] साधक समस्त चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्म स्वरूप में लीन हो जाए। यह नहीं सम्भव है जहाँ शोरगुल झगड़ा और दूषित वातावरण न हो तथा ऐसा स्थान निर्जन, पहाड़, गुफा आदि ही हो सकता है।[2]

धर्मध्यान के भेद-प्रभेद

शास्त्रकारों ने धर्म ध्यान के प्रमुख चार भेद बतलाए हैं[3], यहां पर क्रमशः उनका विवेचन किया जाता है।

१. आज्ञाविचय धर्मध्यान

प्रमाणपूर्वक बोध कराने वाले प्रवचन को 'आज्ञा' कहते हैं और अर्थों का निर्णय करना 'विचय' कहलाता है। आज्ञा द्वारा पदार्थों के स्वरूप से परिचित होना और अरिहन्त भगवान् की आज्ञा को सत्य मानकर दृढ़ श्रद्धा के साथ तत्त्वों का चिन्तन-मनन करने के लिए मनोयोग लगाना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।[4] इस प्रकार से इस ध्यान में मुख्यतः सर्वज्ञ वचनों का आलम्बन लिया जाता है और मन को सूक्ष्म से

---

१. जच्चिय देहावत्था जियाणझाणोवरोहिणी होई।
   झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा॥ ध्यान श०, गा० ३९

२. रागादिवागुराजालं निकृत्याचिन्त्यविक्रमः।
   स्थानामाश्रयते धन्यो विविक्तं ध्यानसिद्धये॥ ज्ञानार्णव, २७.२०
   तथा—तीर्थं वा स्वस्थताहेतु यत्तद्वा ध्यानसिद्धये।
   कृतासनजयो योगी विविक्तं स्थानमाश्रयेत्॥ यो० शा०, ४.१२३

३. दे० भगवतीसूत्र, शतक २५, उद्दे० ७, स्थानांगसूत्र ४० उ० सूत्र १२;
   औपपातिकसूत्र तपोधिकार।
   तथा—(क) आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात्।
   इत्थं वा ध्येयभेदेन धर्मध्यानं चतुर्विधम्॥ यो० शा०, १०.७
   (ख) आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा।
   विजयो यः पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम्॥ ज्ञाना० ३३.५
   तथा—तत्त्वानुशासन, श्लोक ९८

४. दे० (क) स्थानांगसूत्र, पर व्याख्या, पृ० ६८४
   (ख) योगशास्त्र ४.८-९
   (ग) ज्ञानार्णव, अ० ३०

सूक्ष्मता की ओर बढ़ाया जाता है।

२. अपायविचय धर्मध्यान

संसार में जितने भी अनर्थ होते हैं। उन सब का मूल कारण राग, द्वेष, कषाय, प्रमाद, आसक्ति एवं मिथ्यात्व है। इन राग-द्वेषादि दोषों से छुटकारा पाने के लिए मनोयोग लगाना 'अपायविचय' धर्मध्यान है।[1] योगशास्त्र के अनुसार राग-द्वेष से उत्पन्न दुर्गति के कष्टों का चिन्तन 'अपायविचय' धर्मध्यान है।[2] इस ध्यान में कर्मों के विनाश के उपायों पर सोचा जाता है।[3]

३. विपाकविचय धर्मध्यान

निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप विशुद्ध निर्मल, सत्, चित् और आनन्द रूप है, किन्तु कर्मों के कारण आत्मा के वे गुण दब जाते हैं। कर्मफल का अवसर आने पर उसके विषय में शास्त्र निर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुरूप चिन्तन करना, कर्म सिद्धान्त में उपयोग लगाना एवं जिस रूप में विपाक का उदय हो रहा हो उसके मूल का अन्वेषण करना विपाकविचय धर्मध्यान है।[4] 'विपाक' शब्द कर्मों के शुभ-अशुभ फल के उदय का द्योतक है। अतः कर्मों की विचित्रता अथवा कर्मफल के क्षण-क्षण में उदित होने की प्रक्रियाओं के बारे में विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है[5] अभिप्राय यह है कि इस ध्यान में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से चिन्तन किया जाता है कि उदय, उदीरणा कैसे और

---

१. स्थानांगसूत्र, पृ० ६८४

२. रागद्वेषकषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्तयेत्।
यत्रापायांस्तदपायविचयध्यानमिष्यते। यो० शा०, १०.१०

३. अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः॥ ज्ञानार्णव, ३४.१

४. दे० स्थानांगसूत्र, पृ० ६८१

५. स विपाकः इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम्॥ ज्ञानार्णव, ३५.१
तथा—प्रतिक्षणसमुद्भूतो यत्र कर्मफलोदयः।
चिन्त्यते चित्ररूपैः स विपाकविचयोदयः॥ यो० शा०, १०.१२

किस कारण से होती है तथा उनको नष्ट कैसे किया जा सकता है ।[1]

४. संस्थानविचय धर्मध्यान

लोक, द्वीप, समुद्र, द्रव्य, गुण-पर्याय, जीव आदि सभी पदार्थ किसी न किसी संस्थान अर्थात् आकार को लिए हुए हैं । संस्थान रहित अर्थात् निराकार कुछ भी नहीं है, लोक के अन्तर्वर्ती सभी पदार्थ संस्थान वाले हैं, उनका चिन्तन करना अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ इनमें से किसी एक में मनोयोग देना संस्थानविचयधर्मध्यान है ।[2]

अनादि अनन्त किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परिणामी स्वरूप वाले लोक की आकृति का जिस ध्यान में विचार किया जाता है वह संस्थानविचय धर्मध्यान है ।[3] इस ध्यान में संसार के नित्य-अनित्य पर्यायों का चिन्तन होने से वैराग्य की भावना दृढ़ होती है और साधक शुद्ध आत्म स्वरूप की ओर बढ़ता है ।

किसी भी कार्य में सफलता के लिए अभ्यास नितान्त अपेक्षित है । ध्यान की सफलता के लिए भी अभ्यास की महती आवश्यकता है । ध्यान में सफलता के लिए पहले किसी स्थूल पदार्थ को आलम्बन बनाया जाता है फिर भी साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है[4] ।

आलम्बन को ही दूसरे शब्दों में ध्येय कहा जाता है । ध्येय के चार भेद किए गए हैं—

---

१. कर्मजातं फलं दत्तं विचित्रमिह देहिनाम् ।
आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम् ॥ ज्ञानार्णव, ३५.२

२. दे० स्थानांगसूत्र, पृ० ६८४

३. अनाद्यनन्तस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः ।
आकृतिं चिन्तयेत् यत्र संस्थानविचयस्तु सः ॥ यो० शा०, १०-१४
तथा, ज्ञानार्णव, अध्याय ३६

४. (क) अलक्ष्यं लक्ष्यसम्बन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मंविचिन्तयेत् ।
सालम्बाच्च निरालम्ब तत्त्ववित् तत्त्वमञ्जसा ॥ ज्ञाना०, ३३,४
(ख) स्थूले वा यदि वा सूक्ष्मे साकारे वा निराकृते ।
ध्यानं ध्यायेत स्थिरं चित्तं एकप्रत्ययसंगते ॥ योगप्रदीप, श्लोक १३६

(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत।[1] इन्हें ही संस्थानविचय ध्यान के चार भेद बतलाया गया है।[2]

(१) पिण्डस्थध्यान

पिण्ड का अर्थ है—शरीर। इसका अभिप्राय है—शरीर के विभिन्न अंगों पर मन को केन्द्रित करना। **योगशास्त्र** तथा **ज्ञानार्णव** के अनुसार इसके पांच भेद हैं—

> (१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी (३) वायवी, (४) वारुणी और (५) तत्त्ववती।[3] इन्हें धारणा भी कहा जाता है।

इन पांच धारणाओं के माध्यम से साधक उत्तरोत्तर आत्मकेन्द्रित ध्यान में स्थित होता है।

(१) पार्थिवी[4]

सर्वप्रथम साधक को पार्थिवी धारणा में हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसका नाम तिर्यग्लोक अथवा मध्यलोक है। मध्य लोक एक रज्जु, प्रमाण विस्तृत है। इस मध्यलोक के बराबर लम्बे चौड़े क्षीरसागर में जम्बूद्वीप के बराबर एक लाख योजनविस्तार वाले और एक हजार पंखुड़ियों वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उसके बाद उसके मध्य में केसराएं हैं और उसके अन्दर देदीप्यमान पीली प्रभा से युक्त मेरु पर्वत के बराबर एक लाख योजन ऊंची कर्णिका है, ऐसा चिन्तन करना

---

१. पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः॥ यो० शा०, ७.८
तथा योगसार, श्लोक ९८

२. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः॥ ज्ञाना०, ३७.१

३. पार्थिवी स्यादथाऽऽग्नेयीमारुतीवारुणी तथा।
तत्त्वभूः पञ्चमी चेति पिण्डस्थे पञ्च धारणा॥ यो० शा०, ७.९
तथा—पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम्॥ ज्ञानार्णव, ३७.३

४. दे० योगशा० ७.१०-१२; ज्ञानार्णव, ३७.४-९; योग प्रदीप, २०.४,५,८

चाहिए। उस कर्णिका के ऊपर एक उज्ज्वल सिंहासन है और उस सिंहासन के ऊपर आसीन होकर कर्मों का समूल-उन्मूलन करने में उद्यत अपने आपका चिन्तन करना चाहिए। चिन्तन की इस प्रक्रिया को पार्थिवी धारणा और पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं।

(२) **आग्नेयीधारणा**[1]

इस धारणा के विषय में बतलाया गया है कि साधक नाभि के भीतर सोलह पंखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करें और तत्पश्चात् उस कमल की कर्णिकाओं पर अर्हं महामन्त्र की स्थापना करके उसकी प्रत्यक पंखुड़ी पर क्रमशः अ, आ आदि सोलह स्वरों को स्थापित करना चाहिए। फिर ऐसा चिन्तन करे कि उस महामन्त्र से धुंआ निकल रहा है तथा अग्नि की ज्वाला ऊपर उठ रही है। इसके बाद हृदय में आठ पंखुड़ी से युक्त अधोमुख कमल की अर्थात् अष्ट कर्मों की कल्पना करे। पुनः उसे चिन्तन करना चाहिए कि नाभिस्थित कमल से उठी प्रबल ज्वालाओं से वे कर्म नष्ट हो रहे हैं और 'र' से व्याप्त हासिया चिन्ह से युक्त धूम रहित अग्नि प्रज्वलित है, ऐसा चिन्तन करे।

इसके बाद वह चिन्तन करे कि देह एवं कर्मों को दग्ध करके अग्नि दाह का अभाव होने के कारण धीरे-धीरे वह शान्त हो रहा है। शरीर से बाहर तीन कोण वाले स्वस्तिक से युक्त और अग्निबीज 'रेफ' से युक्त जलते हुए वह्निपुर का चिन्तन उसे करना चाहिए। अनन्तर शरीर के अन्दर महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न हुई शरीर की ज्वाला से तथा बाहर की वह्निपुर की ज्वाला से देह और आठ कर्मों से बने कमल को तत्काल भस्म करके अग्नि को शान्त कर देना चाहिए। इस तरह के चिन्तन को 'आग्नेयीधारणा' कहते हैं।

---

१. विचिन्तयेत्तथानाभौ कमलं षोडशच्छदम्।
कर्णिकायां महामन्त्रं प्रतिपत्रं स्वरावलिम्॥
रेफबिन्दु कलाक्रान्तं महामन्त्रे यदक्षरम्।
तस्य रेफाद्विनिर्यान्तीं शनैर्धूमशिखां स्मरेत्॥ यो० शा०, ७.१३-१४ तथा १५-१८
तथा—ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्कमलं नाभिमण्डले।
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम्॥
रेफरुद्धं कलाबिन्दुलाञ्छितं शून्यमक्षरम्।
लसदिन्दुच्छटाकोटिकान्ति व्याप्तहरिन्मुखम्॥ ज्ञानार्णव, ३७.१० एवं १२ तथा अधिक के लिए दे० वही, गा० १८-१९

(३) वायवीधारणा[1]

इस धारणा में साधक पूर्व वर्णित आग्नेयी धारणा के पश्चात् समग्र तीनों लोकों को भरने वाले, पर्वतों को चलायमान करने वाले और समुद्र को क्षुब्ध करने वाले प्रचण्ड पवन का चिन्तन करता है और इसके बाद वह आग्नेयीधारणा में देह और अष्ट कर्मों के जलने पर जो राख बनी थी उसे उड़ा देने का चिन्तन करता है। अपने दृढ़ अभ्यास से वह उस पवन को शान्त भी कर देता है जिससे चिन्तन एवं ध्यान में और साधुता आती है। वही वायवीधारणा है।

(४) वारुणीधारणा

वारुणीधारणा में अमृत-सी वर्षा करने वाले मेघों से व्याप्त आकाश का चिन्तन किया जाता है। अनन्तर 'अर्ध चन्द्राकार कलाबिन्दु से युक्त वरुण बीज 'वं' से उत्पन्न हुए अमृत के समान जल से आकाश-तल भर गया है तथा पहले जो राख उड़ी थी वह इस जल से धुल कर साफ हो रही है' ऐसा साधक चिन्तन करता है।

इस प्रकार इस अमृत वर्षा का चिन्तन होना ही वारुणीधारणा है।[2]

---

१. ततस्त्रिभुवनाभोगं पूरयन्तं समीरणम्।
चालयन्तं गिरीनब्धीन् क्षोभयन्तं विचिन्तयेत्॥
तच्चभस्मरजस्तेनशीघ्रमुद्धूयवायुनां।
दृढाभ्यास: प्रशान्तिं तमानयेदिति मारुती॥ योगशास्त्र ७.१९,२०
तथा—विमानपथमापूर्य संचरन्तं समीरणम्।
स्मरत्यविरतं योगी महावेगं महाबलम्॥
चालयन्तं सुरानीकं ध्वनन्तं त्रिदशाचलम्।
दारयन्तं घनव्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम्॥ ज्ञानार्णव, ३७,२०-२१
तथा दे० गा० २२-२३

२. (क) स्मरेद्वर्षत्सुधासारैर्घनमालाकुलं नभ:।
ततोऽर्धेन्दु समाक्रान्तं मण्डलं वारुणांकितम्॥ यो० शा० ७.२१
तथा २२

(ख) वरुण्यां स हि पुण्यात्मा घनजालचितं नभ:।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुलं स्मरेत्॥ ज्ञाना० ३७.२४ तथा
दे० अधिक के लिए २५, २६-२७

(५) तत्त्ववतीधारणा

इसमें सात धातुओं से रहित चन्द्रमा के समान उज्ज्वल तथा सर्वज्ञ के समान शुद्ध आत्म स्वरूप का चिन्तन करना बतलाया गया है। पुनः सिंहासनस्थ अतिशयों से युक्त महिमासम्पन्न अपने शरीर में स्थित निराकार आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। यही तत्त्ववती धारणा है। इस पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाला योगी मोक्ष के अनन्त सुख को प्राप्त करता है।[1]

इन धारणाओं से युक्त पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाले साधक पर दुष्ट विधाएं उच्चाटन मारण आदि का कोई प्रभाव नहीं होता और शाकिनी, पिशाच आदि शक्तियां भी उसके समक्ष निस्तेज हो जाती हैं। दुष्ट हाथी, सिंह आदि हिंसक प्राणी भी उस साधक पर घात करने में असमर्थ रहते हैं।[2]

पदस्थध्यान

इस ध्यात के अन्तर्गत साधक अपने को बार-बार एक ही केन्द्र पर स्थिर करता है और मन को अन्य विषयों से पराङ्मुख बनाकर केवल सूक्ष्म वस्तु को ध्यान का विषय बनाता है। अपनी रुचि तथा अभ्यास के अनुसार मन्त्राक्षर पदों का आलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है,

---

१. (क) सप्तधातुविनाभूतं पूर्णेन्दुविशदद्युतिम्।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं शुद्धबुद्धिः स्मरेत्ततः॥ यो० शा०, ७.२३ तथा २४-२५

(ख) सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम्।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति संयमी॥ ज्ञाना०, ३७.२८ तथा अधिक के लिए दे० गा० २९-३०

२. (क) अश्रान्तमितिपिण्डस्थे कृताभ्यासस्य योगिनः।
प्रभवन्ति न दुर्विधा मन्त्रमण्डलशक्तयः॥ यो० शा० ७.२६ तथा २७-२८

(ख) विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहककूराभिचाराः क्रियाः,
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम्।

(ग) शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासनां।
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशाद् भानोर्यथाकौशिकाः॥ ज्ञाना० ३७.३३

उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं।[1] पदस्थ का अर्थ ही है पदों (अक्षरों) पर ध्यान केन्द्रित करना। इस ध्यान का मुख्य आलम्बन है—शब्द, क्योंकि आकाशादि स्वर तथा ककरादि व्यंजन से ही शब्दों की उत्पत्ति होती है। अतः इसे वर्णमातृका ध्यान भी कहते हैं[2], जो पांच प्रकार से निष्पन्न होता है।

अक्षरध्यान के बाद शरीर के तीन केन्द्रों अर्थात् नाभिकमल, हृदय-कमल और मुखकमल की कल्पना की जाती है और नाभिकमल में सोलह पंखुड़िया वाले कमल की कल्पना करके उसमें अ, आ आदि सोलह स्वरों का ध्यान करने का विधान है।[3]

हृदयकमल में कर्णिका एवं पत्रों सहित चौबीस दल वाले कमल की कल्पना करके उस 'क' वर्ग आदि पांच वर्गों के व्यंजनों का ध्यान करने का विधान है[4] तथा मुखकमल में अष्ट पत्रों से सुशोभित कमल के ऊपर प्रदक्षिणा क्रम से विचार करते हुए प्रत्येक य, र, ल, व, श, ष, ह, इन आठ वर्णों का ध्यान करने का विधान है।[5] इस प्रकार से ध्यान करने वाला योगी सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता हो जाता है और उसका संदेह नष्ट हो जाता है : **श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः।**[6]

---

१. क) यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते।
तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः॥ यो० शा० ८.१
(ख) पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः॥ ज्ञाना० ३८.१

२. (क) संस्मरन मातृकामेवं स्यात् श्रुतज्ञानपारगः॥ यो० शा०, ८.४
(ख) ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।
निःशेषशब्दविन्यासजन्मभूमिं जगन्नुताम्॥ ज्ञाना०, ३८.२

३. दे० योगशा० ८.२

४. वही, ८.३
तथा—चतुर्विंशतिपत्राढ्यं हृदि कञ्जं सकर्णिकम्।
तत्र वर्णानिमान्ध्यायेत्संयमी पञ्चविंशतिम्॥ ज्ञाना० ३८.४

५. (क) वक्त्राब्जेऽष्टदले वर्णाष्टकमन्यत्ततःस्मरेत्। योगशास्त्र. ८.४
(ख) ततो वदनराजीवे पत्राष्टकविभूषिते।
परं वर्णाष्टकं ध्यायेत्सञ्चरन्तं प्रदक्षिणम्॥ ज्ञानार्णव, ३८.५

६. वही, ३८.६

मन्त्र एवं वर्णों के ध्यान में समस्त पदों का स्वामी 'अर्हं' माना गया है, जो रेफ से युक्त कला एवं बिन्दु से आक्रान्त अनाहत मन्त्रराज है।[1] इस ध्यान के विषय में बतलाया गया है कि साधक को एक सुवर्ण-कमल की कल्पना करके उसके मध्यवर्ती कर्णिका पर विराजमान निष्कलंक निर्मल चन्द्र की किरणों जैसे आकाशवाणी एवं सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त 'अर्हं' मन्त्र का स्मरण करना चाहिए। तत्पश्चात् मुखकमल में प्रवेश करते हुए भ्रूलता में भ्रमण करते हुए, नेत्र पत्रों में स्फुरायमान होते हुए, भालमण्डल में स्थित होते हुए, उज्ज्वल चन्द्रमा के साथ स्पर्धा करते हुए ज्योतिर्मण्डल में भ्रमण कर सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त कुंभक के द्वारा इस मन्त्रराज का चिन्तन एवं मनन करना चाहिए।[2]

इस प्रकार इस मन्त्रराज की स्थापना करके मन को क्रमशः सूक्ष्मता की ओर 'अर्हं' मन्त्र पर केन्द्रित किया जाता है अर्थात् अलक्ष्य में अपने को स्थिर करने पर साधक के अन्तःकरण में एक ऐसी ज्योति प्रकट होती है। जो अक्षय तथा इन्द्रियों के अगोचर होती है।[3] इस ज्योति का नाम आत्मज्योति है तथा इसी से साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रणव का ध्यान

इसमें साधक हृदयकमल में स्थित शब्द ब्रह्म-वचन विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर, व्यंजन से युक्त, पंच परमेष्ठी के वाचक मूर्धा में स्थित-चन्द्रकला से झरते हुए अमृत के रस से सराबोर

---

१. यद्वामन्त्राधिपं धीमानूर्ध्वाधोरेफसंयुतम् ।
कलाबिन्दुसमाक्रान्तमनाहतयुतं तथा ॥ यो० शा०, ८.१८
तथा मिलाइए ज्ञानार्णव, ३८.७-८

२. (क) कनकाम्भोजगर्भस्थं सान्द्रचन्द्रांशुनिर्मलम् ।
गगने संचरन्तं च व्याप्नुवन्तं दिशः स्मरेत् ॥ यो० शा० ८.१९
तथा दे० वही, ८.२०-२२
(ख) ज्ञानार्णव, ३८.१६-१९

३. क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः ।
दधतोऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ॥ ज्ञानार्णव, ३८.२८

महामन्त्र प्रणव का ध्यान करता है[1]। इसकी विशेषता यह है कि वह स्तम्भन कार्य में पीत, वशीकरण में लाल, क्षोभित कार्य में मूंगे के समान, द्वेष में कृष्ण, कर्मनाशक अवस्था में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वर्ण का होता है।[2] इस ध्यान से यह सूचित होता है कि ओंकार का ध्यान आश्चर्यजनक एवं लौकिक कार्यों के लिए भी उपयोगी होता है और कर्मक्षय में भी उपयोगी होता है।

पंच परमेष्ठी मन्त्र का ध्यान

इसके अन्तर्गत आठ पंखुड़ी वाले सफेद कमल का चिन्तन होता है। उस कमल की कर्णिका में स्थित सात अक्षर वाले **नमो अरिहंताणं** इस पवित्र मन्त्र का चिन्तन किया जाता है। फिर साधक सिद्ध आदिक चार मन्त्रों का दिशाओं के पत्रों में क्रमशः अर्थात् पूर्वदिशा में **नमो सिद्धाणं** का, दक्षिण दिशा में **नमो आयरियाणं** का पश्चिम दिशा में **नमो उवज्झायाणं** का और उत्तर दिशा में **नमो लोए सव्वसाहूणं** का चिन्तन करता है। विदिशा वाली चार पंखुड़ियों में अनुक्रम से चार चूलिकाओं का अर्थात् आग्नेय कोण में **एसो पंच णमुक्कारो** का, नैऋत्य-कोण में **सव्वपावप्पणासणो** का, वायव्य कोण में **मङ्गलाणं च सव्वेसिं** का और ईशान कोण में **पढमं हवइ मंगलं** का ध्यान होता है।[3]

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार पूर्वादि चार दिशाओं में तो **नमो अरिहंताणं** आदि का तथा चार विदिशाओं में क्रमशः रत्नत्रय **सम्यग्-दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः सम्यक्चारित्राय नमः** तथा **सम्यक्तपसे**

---

१. तथा हृत्पद्ममध्यस्थं शब्द ब्रह्मैककारणम्।
स्वरव्यञ्जनसंवीतं वाचकं परमेष्ठिनः॥ यो० शा०, ८.२९ तथा ३०
तथा मिलाइए ज्ञानार्णव, ३८.३३-३५

२. पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये क्षोभणे विद्रुमप्रभम्।
कृष्णं विद्वेषणं ध्यायेत् कर्मघातिशशिप्रभम्। यो० शा०, ८.३२
तथा—जाम्बूनदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम्।
ध्येयं वश्यादिकं रक्तं चन्द्राभं कर्मशातने॥ ज्ञाना० ३८.३७

३. अष्टपत्रेसिताम्भोजे कर्णिकायां कृतस्थितिम्।
आद्यं सप्ताक्षरं मन्त्रं पवित्रं चिन्तयेत्ततः॥ यो० शा० ८.३३ व ३४

नमः का चिन्तन किया जाता है ।[1]

इस मन्त्र के ध्यान के विषय में कहा है कि इस लोक में जिन योगियों ने आत्यन्तिकी मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त किया है, उन सभी ने एक मात्र इसी महामन्त्र की आराधना की है ।[2]

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं जिनका नित्य प्रति जप करने से मनोरोग शान्त होते हैं, कष्टों का निवारण होता है और कर्मों का आस्रव अवरुद्ध हो जाता है, क्योंकि यह मत्र पंच पदों तथा पंच परमेष्ठी की महिमा से ओतप्रोत है। षोडशाक्षर मन्त्र है—**अरिहंत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-साहू**[3], छः अक्षरों का जप है—**अरिहंत-सिद्ध**, चार अक्षर वाला है—**अरिहंत**, दो अक्षरों वाला है—**सिद्ध** एव एक अक्षर वाला है **अ** ।[4] इन मन्त्रों का जप पवित्र मन से करना चाहिए, क्योंकि समस्त कर्मों को दग्ध करने की शक्ति इन्हीं में समाविष्ट है ।[5]

इसी प्रकार **ओं, ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौं, ह्रः असि आ उसा नमः** इस पंचाक्षरमयी विद्या का जप करने से साधक संसार के कर्मबन्धन सदा-सदा के लिए तोड़ देता है[6] और एकाग्र चित्त से मंगल, उत्तम, शरण पदों का जाप करता हुआ मोक्षलाभ करता है ।[7]

---

१. दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात् ।
सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा ॥ ज्ञाना० ३८.४०

२. वही, ३८.४१

३. गुरुपंचकनामोत्था विद्या स्यात् षोडशाक्षरा ।
जपन्शतद्वयं तस्याश्चतुर्थस्याप्नुयात्फलम् ॥ यो० शा० ८.३८
तथा—मिलाइए-स्मर पंचपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम् ।
गुरुपंचकनामोत्थां षोडशाक्षरराजिताम् ॥ ज्ञानार्णव. ३८.४८

४. दे० ज्ञानार्णव, ३८.५०-५३

५. वही, ३८.५४

६. पञ्चवर्णमयी पञ्चतत्त्वा विद्योद्धृता श्रुतात् ।
अभ्यस्यमाना सततं भवक्लेशं निरस्यति ॥ यो० शा० ८.४१
तथा मिलाइए ज्ञानार्णव ३८.५५-५६

७. यो० शा०, ८.४२ तथा तुलना कीजिए-ज्ञानार्णव, ३८.५७

'क्ष्वीं' विद्या का जाप करने का भी विधान है, जिसे भाल प्रदेश पर स्थित करके एकाग्र मन से चिन्तन करने से कल्याण होता है।[1] अतः साधक को कभी ललाट पर क्ष्वीं विद्या का तो कभी नासाग्र पर प्रणव ॐ का तथा कभी शून्य अथवा अनाहत[2] का अभ्यास करना चाहिए। इससे अनेक सिद्धियों तथा निर्मल ज्ञान का उदय होता है।[3]

इस प्रकार पदस्थ ध्यान में पदों का आलम्बन चित्त को एकाग्र करने हेतु लिया जाता है और जप विधियों का अभ्यास किया जाता है, इससे अनेक लब्धियां प्राप्त होती हैं किन्तु जो राग-द्वेषादि से पूरित होकर ध्यान करता है, उसको कोई भी सिद्धि नहीं मिलती।[4]

इन मन्त्र पदों के अभ्यास से विलीन हुए समस्त कर्मों के बाद आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रतिभास होता है[5] और उस स्वरूप में उपयोग प्राप्त होने से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है, और केवलज्ञान की उपलब्धि होती है यही इसका फल है। यही निर्वाण व मुक्ति भी है।

रूपस्थ ध्यान

इस ध्यान में साधक अपने मन को तीर्थंकर अथवा सर्वज्ञदेव पर

---

१. शशिबिम्बादिवोद्भूतां स्रवन्तीममृतं सदा।
विद्या क्ष्वीं इति भालस्थां ध्यायेत्कल्याणकारणम्॥ यो० शा० ८.५७
तथा—स्मरसकलसिद्धविद्यां प्रधानभूतां प्रसन्नगम्भीराम्।
विधुबिम्बनिर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रां महाविद्याम्॥ ज्ञानार्णव, ३८.८१

२. उबिन्द्वाकारहरोर्ध्वरेफबिन्द्वानवाक्षरम्।
भालाधः स्यन्दिपीयूषबिन्दुं विदुरनाहतम्॥ ज्ञानार्णव, पृ० ३६८ पर उद्धृत गाथा १

३. नासाग्रे प्रणवःशून्यमनाहतमितित्रयम्।
ध्यायन् गुणाष्टकं लब्ध्वा ज्ञानमाप्नोति निर्मलम्॥ यो० शा० ८.६०
तथा—नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्नत्यन्तनिर्मलम्।
ध्याताज्ञानमवाप्नोति प्राप्य पूर्वं गुणाष्टकम्॥ ज्ञाना० ३८.८७

४. वीतरागस्य विज्ञेयाध्यानसिद्धिध्रुवं मुनेः।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्त्तस्येह देहिनः॥ वही, ३८.११४

५. विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम्।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत्॥ ज्ञाना० ३८.११६

केन्द्रित करता है। वह तीर्थंकर के गुणों एवं आदर्शों को अपने समक्ष रखता है तथा उन्हें अपने जीवन में आरोपित करता हुआ अपने चित्त को स्थिर करता है। अरिहन्त के स्वरूप का आलम्बन करके की जाने वाली साधना ही रूपस्थध्यान कहलाती है।[1]

रूपस्थध्यान का साधक राग-द्वेषादि विकारों से रहित, शान्त कान्तादि समस्त गुणों से युक्त तथा योग मुद्रा समन्वित, अमन्द आनन्द के प्रवाह को बहाने वाले जिनेन्द्र देव के दिव्य भव्य रूप का निर्मल चित्त से ध्यान करने वाला योगी भी रूपस्थध्यान वाला होता है।[2] वह सर्वज्ञदेव परम ज्योति का आलम्बन करके उनके गुणों का बारम्बार चिन्तवन करता हुआ अपने मन में विक्षेप से रहित होकर उनके स्वरूप को प्राप्त करता है।[3] जबकि इसके विपरीत राग-द्वेष का ध्यान करने वाला स्वयं रोगी द्वेषी बन जाता है।[4] कारण कि साधन के परिणाम जिन-जिन भावों से युक्त होते हैं, उन्हीं के अनुरूप वे परिणत हो जाते हैं। साधक की आत्मा उस-उस भाव से वैसी ही तन्मयता को प्राप्त हो जाती है जैसे निर्मल स्फटिकमणि जिस वर्ण से युक्त होता है वह तद्रूप हो जाता है।[5] अतः जगत् के अद्वितीय नाथ शिवस्वरूप निष्कलंक

---

१. सर्वातिशययुक्तस्य केवलज्ञानभास्वतः ।
अर्हतां रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते ॥ यो०शा० ९.७
तथा—आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम् ।
ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्कसमान्तस्थं स्वयम्भुवम् ॥ ज्ञानार्णव, ३९.१

२. रागद्वेषमहामोहविकारैरकलङ्कितम् ।
शान्तं कान्तं मनोहारिसर्वलक्षणलक्षितम् ॥
तीर्थङ्करपरिज्ञातयोगमुद्रा मनोरमम् ।
अक्षाणरमन्दमानन्दनिःस्यन्दं दददद्भुतम् ॥ यो०शा० ९.८-९ तथा १०

३. (क) अनन्यशरणं साक्षात्संलीनैकमानसः ।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ॥ ज्ञानार्णव, ३९.३२
(ख) योगी चाभ्यासयोगेन तन्मयत्वमुपागतः ।
सर्वज्ञीभूतमात्मानमवलोकयति स्फुटम् ॥ यो०शा० ९.११

४. दे० यो०शा०, ९.१३

५. दे० वही, ९.१४

वीतराग भगवान् का ध्यान करना चाहिए ।[1]

रूपातीतध्यान

रूपातीत ध्यान का अर्थ है—निराकार, चैतन्य स्वरूप, निरंजन सिद्ध परमात्मा का ध्यान[2] अथवा जिस ध्यान में ध्यानी मुनि चिदानन्द-मय शुद्ध अमूर्त परमाक्षररूप आत्मा को आत्मा से ही स्मरण करते हैं, यही रूपातीत ध्यान कहलाता है ।[3]

इस ध्यान में ध्याता और ध्येय का भेद समाप्त होकर एक रूपता प्रकट होती है अर्थात् साधक सिद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाता है । इस-लिए ध्याता और ध्येय की इस एकरूपता को समरसी भी कहा जाता है ।[4]

इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ध्यानों द्वारा क्रमशः शरीर, अक्षर, सर्वज्ञदेव और सिद्धात्मा का चिन्तन किया जाता है क्योंकि स्थूल ध्येयों के बाद क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येय का ध्यान करने से मन में स्थिरता आती है और ध्याता एवं ध्येय में कोई अन्तर नहीं रह जाता ।

---

१. त्रैलोक्यानन्दबीजं जननजलनिधेर्यानपात्रं पवित्रं
लोकालोकप्रदीपं स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाढ्यम् ।
कस्यामप्यग्रकोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठं
देवं विश्वैकनाथं शिवमजनघं वीतरागं भजस्व ॥ ज्ञानार्णव, ३९.४६

२. अमूर्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः ।
निरन्जनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद्रूपवर्जितम् ॥ यो०शा० १०.१

३. चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं परमाक्षरम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥ ज्ञानार्णव, ४०.१६

४. अनन्यशरणीभूय स तस्मिन् लीयते तथा ।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं तथा व्रजेत् ॥
सोऽयं समरसिभावस्तदेकीकरणं मतम् ।
आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ॥ योगशास्त्र २०.३-४
तथा—पृथक्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि ।
प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते ॥ ज्ञानार्णव, ४०,३०

धर्मध्यान के चार आलम्बन

धर्म ध्यान की सफलता के लिए शास्त्रों में इसके चार आलम्बनों का कथन किया गया है।[1] वे हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा।

(१) वाचना

विनय, संवर और निर्जरा पूर्वक सूत्रों का पठन पाठन करना वाचना है।

(२) पृच्छना

शंका होने पर गुरुओं से पूछना एवं मन को समाहित करना पृच्छना है।

(३) परिवर्तना

अध्ययन किए हुए शास्त्रों की पुनरावृत्ति करते रहना परिवर्तना है।

(४) अनुप्रेक्षा

सूत्र में वर्णित भावों का विशेष चिन्तन मनन करना तथा अनुसंधान पूर्वक अध्ययन करना, भूले हुए सूत्र एवं अर्थों पर पुनःपुनः उपयोग लगाकर उन्हें स्मरण करना अनुप्रेक्षा है। इन चार आलम्बनों से धर्म ध्यान में सफलता प्राप्त होती है।

धर्मध्यान के चार लक्षण[2]

शास्त्रों में इसके चार लक्षण बतलाए गए हैं। जिस आत्मा में धर्म

---

१. धम्मस्सणं झाणस्स चत्तारि आलंवणा पण्णत्ता तं जहा वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा। स्थानांगसूत्र, सूत्र १२, प्र०उ०
तथा—दे० भगवतीसूत्र, उ० ७. शतक २५; औपपातिकसूत्र तपोधिकार

२. धम्मणस्सणं झाणस्स चत्तारिलक्खणा पण्णत्ता, तं जहा, आणारुई, णिसग्गरुई, सुत्तरुई, ओगाढरुई। स्थानां० सूत्र १२, प्र०उ०; भगवती सूत्र, ३०६, शतक २५०; औपपातिक सूत्र, तपोधिकार
तथा—आगमउवएसाणाणिसग्गओजं जिणप्पणीयाणं।
भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिगं॥ ध्यान, शतक गा० ६७

का अवतरण हो जाता है उसमें स्वभाविक रूप से चार प्रकार की रुचि उत्पन्न हो जाती है, उन्हीं से मालूम हो जाता है कि साधक के मन में धर्मध्यान अंकुरित हो गया है, वे लक्षण हैं—

(१) **आज्ञारुचि**

सूत्रों की व्याख्या को **आज्ञा** कहते हैं अथवा आप्त वचन ही **आज्ञा** है। अरिहन्त सर्वोत्कृष्ट आप्त हैं। इसलिए उनकी वाणी ही **आज्ञा** है। इस आज्ञा के अनुकूल जीवन यापन करने वाले श्रेष्ठ साधक भी आप्त ही हैं। अतः उनकी आज्ञा में रुचि उत्पन्न होना ही आज्ञारुचि है।

(२) **निसर्गरुचि**

बिना किसी उपदेश के स्वतः ही जातिस्मरणज्ञान के रूप में देव-गुरु-धर्म मे रुचि होना ही निसर्गरुचि है।

(३) **सूत्ररुचि**

सूत्रों के अध्ययन, चिन्तन एवं मनन में रुचि होना ही सूत्ररुचि है।

(४) **अवगाढ़रुचि**

द्वादशाङ्ग का विस्तार पूर्वक ज्ञान प्राप्त करके जो श्रद्धा जागृत होती है अथवा गुरुओं के उपदेश से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह अवगाढ़रुचि है।[1]

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएं

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं शास्त्रों में कही गई हैं[2] वे हैं—
(१) एकत्वानुप्रेक्षा, (२) अनित्यानुप्रेक्षा, (३) अशरणानुप्रेक्षा, (४) संसारानुप्रेक्षा।

(१) एकत्व भावना से भावित होना अर्थात् एक आत्मा ही अपना है, ऐसा चिन्तन करना **एकत्वानुप्रेक्षा** है।
(२) संसार में आत्मा के लिए कोई भी स्थान, पर्याय अथवा शक्ति शरणभूत नहीं हैं, ऐसा चिन्तन करना **अशरणानुप्रेक्षा** है।
(३) संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा चिन्तन करना **अनित्यानुप्रेक्षा** है।

---

१. विशेष के लिए दे०—स्थानांगसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ६८५

२. धम्मस्सणं झाणस्य चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा। स्थानांग सूत्र, प्र०उ० सूत्र १२, तथा भगवतीसूत्र ३०६, शतक २५; औपातिकसूत्र, तपोधिकार

(४) चारों गतियों और सभी अवस्थाओं में होने वाले आत्मा के आवागमन का चिन्तन करना **संसारानुप्रेक्षा है।**

इनमें से पहली अनुप्रेक्षा के ज्ञान की परिपक्वता विज्ञानरूप, संयम और तप में दृढ़ता लाने वाली वैराग्य की जननी है। तीसरी भावना आसक्ति को हटा कर निर्मोहत्व को जगाती है और चतुर्थ त्यागभावना को पुष्ट करती है।

धर्मध्यान की लेश्याएं

धर्मध्यान में स्थित साधक के भावों के अनुसार तीव्र, मन्द और मध्यम प्रकार की पीत, पद्म एवं शुक्ल ये तीन लेश्याएं होती हैं। जैसे-जैसे ध्यान की तीव्रता बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे क्रमशः साधक का चित्त अधिकाधिक विशुद्धि वाला होता जाता है[1] और लेश्याएं भी विशुद्धतर होती जाती हैं। इसी कारण आचार्य शुभचन्द्र धर्मध्यान में शुक्ललेश्या ही मानते हैं।[2]

धर्म ध्यान के इस विश्लेषण एवं भेद प्रभेदों के द्वारा योगी ध्यान की स्थिरता को प्राप्त करता है। उसका चित्त किसी एक ही ध्येय में केन्द्रित हो जाता है। ऐसी स्थिति में योगी शरीरादि परिग्रहों एवं इन्द्रियादिक विषयों से सर्वथा निवृत होकर निज स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[3] उस अवस्था में प्राप्त आनन्द अनुभवगम्य होता है, जो कि इन्द्रियों से अगम्य होता है।[4] इस ध्यान को साधना वही कर सकता है, जो प्राणों के नाश होने का अवसर आने पर भी साधना का परित्याग नहीं करता, जो जीवों के सुःख दुःख का ज्ञाता, परीषह विजेता मुमुक्षु,

---

१. होन्ति कम्मविशुद्धाओ लेस्साओ पीयपद्मसुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्वमंदाइ भेयाओ ॥ वही, गा० ६६
तथा—धर्मध्याने भवेद् भावः क्षायोपशमिकादिकः।
लेश्याक्रमविशुद्धा स्युः पीतपद्मसिताः पुनः ॥ यो०शा०, १०.१६

२. अतिक्रम्य शरीरादिसङ्गानात्मन्यवस्थितः।
नैवाक्षमनसो योगं करोत्येकाग्रताश्रितः ॥ ज्ञानार्णव, ४१.११

३. अस्मिन्नितान्तवैराग्यव्यतिषंगतरङ्गिते।
जायते देहिनां सौख्यं स्वसंवेद्यमतीन्द्रियम् ॥ यो०शा० १०.१७

४: वही, ७.२-७

रागद्वेषादि एवं निन्दा-प्रशंसा से मुक्त है, जो समता धारी है, परोपकार में रत और जो प्रशस्त बुद्धि भी है।

४. शुक्लध्यान

शुक्ल का अर्थ है—धवल, किन्तु यहां इसे विशद (निर्मल) के अर्थ में ग्रहण किया गया है। यह सर्वोत्तम ध्यान है। इसकी पूर्णता केवलज्ञान की प्राप्ति में होती है। शुक्लध्यान का मूल हेतु कषायों का निश्शेषतः क्षय होना अथवा उपशम होना बतलाया गया है।[1] ध्यानशतक में शुक्लध्यान का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है कि 'जो निष्क्रिय, इन्द्रियातीत ध्यान, धारणा से रहित है और जिसमें चित्त अन्तर्मुख है, वह शुक्लध्यान है।[2] शुक्लध्यान की अवस्था प्रत्येक साधक को सहज उपलब्ध नहीं होती। इसको धारण करने का अधिकार उसे ही होता है, जो वज्रऋषभ नाराच संहनन और संस्थान वाला, ग्यारह अंग एवं चौदह पूर्वो का ज्ञाता है, जिसका आचरण विशुद्ध है, ऐसा वह मुनि ही शुक्लध्यान के समस्त अंगों का धारक होता है[3] अर्थात् विचक्षण ज्ञान के पुञ्जीभूत सत्त्व विशेष को ही शुक्लध्यान की अवस्था धारण करने का सुयोग मिलता है।

शुक्लध्यान के भेद

आगमों[4] एवं योग ग्रंथों[5] में शुक्लध्यान के चार भेद प्रतिपादित

---

१. (क) कषायमलविश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते।
यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम् ॥ ज्ञाना० ४२.६

(ख) शुचं क्लमयतीति शुक्लं, शोकं गलपयतीत्यर्थः। ध्यानशतक, श्लोक १ पर टीका

२. निष्क्रियं करणातीतं ध्यानाधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥ ज्ञानार्णव, ४२.४

३. आदिसंहननोपेतः पूर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः।
चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति ॥ वही, ४२.५
तथा योगशास्त्र, ११.२

४. सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोआरे पण्णते, तं जहां-पुहुत्तवियक्के सवियारी, एगत्तवियक्केअवियारी, सुहुमकिरिए, अणियट्ठी, समुच्छिन्नकिरिए अवयडिवाई स्थानांगसूत्र १२, पृ० ६७५

५. ज्ञेयं नानात्वश्रुतविचारमैक्यं श्रुताविचारं च।
सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्चतुर्धा तत् ॥ यो० शा० ११.५

किए गए हैं। वे हैं—पृथकत्व वितर्कसविचारी, (२) एकत्व वितर्क अविचारी, (३) सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति और (४) उत्सन्न क्रिया अप्रतिपाती।

(१) पृथकत्ववितर्क सविचारी

पृथकत्व, वितर्क एवं विचार ऐसे इन तीन शब्दों के प्रयोग से यह पद बना है। पृथकत्व का अर्थ है—एक द्रव्य के आश्रित उत्पाद आदि पर्यायों का पृथक्-पृथक् भाव से चिन्तन करना। वितर्क शब्द श्रुत ज्ञान का परिचायक है और शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में तथा एक योग से दूसरे योग में संक्रमण करना ही सविचारी है। जब कोई ध्यान करने वाला पूर्वधर हो तब पूर्वगत श्रुत के आधार पर और पूर्वधर न हो तब अपने में सम्भावित श्रुत के आधार पर किसी भी जड़ या चेतन द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति और द्रव्य आदि पदार्थों का नैगम आदि विविध नयों के द्वारा चिन्तन करना और यथासम्भावित श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, किसी एक पर्याय से दूसरे पर्याय मर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर तथा एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक योग से दूसरे योग पर विचारधारा को प्रवाहित करना, विचार सहित ध्यान को ही पृथक् वितर्क सविचारी शुक्लध्यान कहते हैं।[1]

---

१. (क) स्थानाङ्गसूत्र, पृ० ६८७-८८

(ख) उप्पायट्ठिइ भंगाइ पज्जयाणं जमेगवत्थुंमि।
नाणानयाणुसरणं पुव्वगय सुयाणुसारेणं॥
सविचारमत्थवं जणजोगंतरओ तयं पढमसुक्कं।
होइ पुहुत्तवितक्कं सविचारमरागभावस्स॥ ध्यानशा० ७७-७८

(ग) एकत्रपर्यायाणां विविधनयानुसरणं श्रुताद्द्रव्ये।
अर्थव्यञ्जनयोगान्तरेषु संक्रमणयुक्तमाद्यं तत्॥ यो०शा० ११.६

(घ) पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते॥ ज्ञानार्णव, ४२.१३

(ङ) समाधितन्त्र, श्लोक ६२

(२) एकत्वश्रुत अविचारी

इस ध्यान में भी श्रुत के आधार पर ही अर्थ, व्यञ्जन और योग के संक्रमण से रहित एक पर्याय विषयक ध्यान किया जाता है।[1] इसमें वितर्क का संक्रमण नहीं होता और इसके विपरीत एक रूप में स्थिर होकर चिन्तन किया जाता है। जहां पहले प्रकार के ध्यान के अन्तर्गत योगी का मन अर्थ, व्यञ्जन और योग में चिन्तन करते हुए एक ही आलम्बन में उलट फेर करता है, वहीं इस ध्यान में योगी का मन स्थिरत्व को धारण कर सबल हो जाता है और आलम्बन का उलटफेर भी बन्द हो जाता है इसके साथ ही एक ही द्रव्य के विभिन्न पर्यायों के विपरीत एक ही पर्याय को ध्येय बना लिया जाता है। इस तरह जिसने प्रथम ध्यान के द्वारा अपने चित्त को जीत लिया है, जिसके समस्त कषाय शान्त हो गए हैं तथा जो कर्मरज को सर्वथा नष्ट करने के लिए तत्पर है ऐसे साधक हो द्वितीय ध्यान के धारक बनते हैं।[2] फलतः इस ध्यान की सिद्धि होने के बाद सदा के लिए घातिया कर्म विनष्ट हो जाते हैं।[3] आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध अवस्था केवलदर्शन एवं केवलज्ञानमय हो जाती है[4] जिससे योगी साधक को सम्पूर्ण जगत् हस्तामलकवत् दृष्टिगोचर होने लगता है।[5] केवली इतना समर्थ होता है कि वह समस्त संसार के भूत, भविष्य एवं वर्तमान इन तीनों कालों की घटनाओं को एक साथ निरन्तर जानता है, वह उसे प्रत्यक्ष देखता है। केवली अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि चार अनन्त चतुष्टय के धारी होते हैं।[6] समस्त जगत् इनके चरणों में

---

१. जं पुण सुणिक्कंपं निवाय सरणप्पईवमियचित्तं।
उप्पाय ठिइ भंगाइ याणमेगंमि पज्जाए।
अवियारमत्थवंजणजोगंतरओ तयं वितिय सुक्कं।
पुव्वगय सुयालंबणमेगत्तवितक्कमविचारं। ध्यानश० ७९-८० तथा दे० यो०शा० ११.७

२. अविचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः।
सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः॥ ज्ञाना० ४२.१४

३. दे० यो०शा०, ११.२२

४. दे० ज्ञानार्णव, ४२.३०

५. योगशास्त्र, ११.२३

६. दे० ज्ञानार्णव, ४२.४४

नतमस्तक हो जाता है। सभी उनके धर्म प्रवचनों-उपदेशों को अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं। वे जहां भी जाते हैं वहां किसी भी प्रकार का दुःख, महामारी अथवा दुर्भिक्ष आदि नहीं होते। ऐसे केवललब्धि प्राप्त तीर्थङ्कर देव सहज रूप से स्व-पर कल्याणकारी होते हैं। तीर्थंकर नामकर्म के उदय के कारण उन्हें अनेक देव देवाङ्नाएं आकर वन्दना करने लगते हैं। उनके उपदेश श्रवण के लिए देवों द्वारा वृहद् समवशरण की रचना की जाती है। पशु-पक्षी सभी आपसी वैर-भाव छोड़कर उनके पास एक स्थान पर बैठते हैं और सभामण्डप के मध्य में स्थित तीर्थंकर भगवान् चार शरीर के रूप में (चतुर्मुख) दिखाई देते हैं।[1] यद्यपि इन्हें अनेक अन्य लब्धियों भी प्राप्त होती हैं, परन्तु उनका भोग करने की उनकी इच्छा नहीं होती।

जिन साधकों के तीर्थङ्कर नाम कर्म का उदय नहीं होता, वे भी अपने इस ध्यान के बल से केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। आयुष्कर्म के निःशेष क्षय होने तक ये साधारण जीवों को उपदेश देते हैं और अन्त में आयु के क्षय होने पर निर्वाण प्राप्त करते हैं।[2] इस प्रकार चाहे तीर्थंकर हों अथवा सामान्य केवली, जिन्होंने योग के चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर लिया है, वे विशुद्ध आत्मा परमात्मा हैं और वे ही हम सभी के ध्यातव्य हैं।

(३) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति

चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करने से पूर्व आयुष्कर्म के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जब केवली भगवान् मन और वचन इन दो योगों का सर्वथा निरोध कर लेते है, और उनके काययोग का भी निरोध हो जाता है, तब उस समय केवली भगवान् की कायिकी उच्छ्‌वास आदि सूक्ष्मक्रिया ही रह जाती है। उनके इस योग का क्रम है कि पहले स्थूल काययोग के आश्रय से मन और वचन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है। उसके बाद मन और वचन के सूक्ष्मयोग का आलम्बन करते हैं। मन और वचन के सूक्ष्मयोग का भी जब निरोध कर लिया जाता है, तब वह सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान पूर्ण होता है। यह क्रिया

---

१. दे० यो० शा० ११.२४-४४

२. तीर्थङ्कर नाम संज्ञं न यस्य कर्मास्ति सोऽपि योगबलात्।
उत्पन्नकेवलः सन् सत्यायुषि बोधयत्युर्वीम्॥ यो०शा० ११.४८

तेरहवें गुणस्थान की है ।[1]

यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि जब कभी वेदनीय नाम और गोत्रकर्मों की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है, तब वे तीर्थङ्कर अथवा सामान्य केवली, वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म को आयुष्कर्म के समान के लिए समुद्घात किया करते हैं[2] जिससे केवली तीन समय में अपने आत्मप्रदेशों को दण्ड, कपाट एवं प्रस्तर के रूप में फैला देते हैं और चौथे समय में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं । लोक में अपने आत्म-प्रदेशों को व्याप्त करके योगी तीनों घातिया कर्मों (वेदनीय, नाम और गोत्र) की स्थिति घटाकर उन्हें आयुकर्म के बराबर कर लेते हैं। तत्पश्चात् उसी क्रम में वे आत्म प्रदेशों को पूर्ववत् शरीर में प्रविष्ट कर अवस्थित होते हैं । इस प्रकार समुद्घातक्रिया पूर्ण हो जाती है ।[3]

समुद्घात करने के पश्चात् आध्यात्मिक विभूतियों से सम्पन्न तथा अचिन्तनीय वीर्य से युक्त वह योगी बादरकाययोग का अवलम्बन करके बादरवचनयोग और बादरमनोयोग का शीघ्र निरोध कर लेते हैं । फिर सूक्ष्मयोग में स्थित होकर बादरकाययोग का निरोध करते हैं क्योंकि बादर काययोग का निरोध किए बिना सूक्ष्मकाययोग का निरोध सम्भव नहीं है । अनन्तर सूक्ष्मकाययोग के अवलम्बन से सूक्ष्ममनोयोग और सूक्ष्म-वचनयोग का भी निरोध हो जाता है इसके बाद सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्म-क्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान धारण किया जाता है ।[4]

इस ध्यान में योगी को मोक्ष प्राप्ति का समय समीप आ जाने पर तीन योगों में मनोयोग एवं वचन का निरोध होकर भी केवल सूक्ष्मकाय-योग की क्रिया अर्थात् श्वासोच्छ्वास ही शेष रहता है ।[5] इस प्रकार इसमें

---

१. स्थानांगसूत्र, व्याख्या, पृ० ६८६ तथा
मिला०-ध्यान श० गा० ८१; ज्ञाना० ४२.४२, यो०शा० ११.४९

२. यदायुरधिकानि स्यु: कर्माणि परमेष्ठिनः ।
समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥ ज्ञाना० ४२.४३
तथा—आयु: कर्मसकाशादधिकानि स्युर्यदान्यकर्माणि ।
तत्साम्याय तदोपक्रमते योगी समुद्घातम् ॥ यो० शा० ११.५०

३. ज्ञानार्णव ४२.४६, ४७; यो०शा० ११.५१-५२

४. ज्ञानार्णव ४२.४८-५१; योग शा० ११.५३-५५

५. योगशा० ११.८ तथा अध्यात्मसार, ५.७८

मन, वचन एवं काय का निरोध होता है और काययोग के अन्तर्गत केवल श्वांस जैसी सूक्ष्मक्रिया ही अवशिष्ट रहती है। साधक योगी अन्तिम समय में इसका भी त्याग करके मुक्त हो जाता है।[1]

(४) उत्सन्न क्रियाप्रतिपाति

यह ध्यान चौदहवें गुणस्थान से होता है। इसमें उपर्युक्त ध्यान की अवशिष्ट सूक्ष्मक्रिया की भी निवृत्ति हो जाती है तथा अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पांच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय में केवली भगवान् शैलेशी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, जहां वे पर्वत की भांति निश्चल रहते हैं।[2] यहां पर केवलज्ञानी उपान्त्य में ७२ कर्म प्रकृतियों तथा इसके भी अन्तिम समय में अवशिष्ट १३ कर्म प्रकृतियों को भी नष्ट कर देते हैं।[3] इस प्रकार समस्त कर्मों का नाश करके केवली भगवान् इस संसार से पूर्णतः अपना सम्बन्ध समाप्त कर लेते हैं और सीधे ऊर्ध्वगमन करके लोक के शिखर सिद्धशिला पर विराजमान हो जाते हैं कारण कि उससे आगे लोकाकाश नहीं है और न ही धर्मास्तिकाय ही है। अतः आगे गति नहीं है। यह सिद्ध परमात्मा लोक के शिखर पर अवस्थित होकर स्वाभाविक गुणों के वैभव से परिपूर्ण अनन्तकाल तक रहता है।[4]

शुक्लध्यानी के लक्षण

जो मुमुक्षु शुक्लध्यान में अवस्थित है, उसकी पहचान कैसे हो सकती है, इसकी जानकारी के लिए आगम संग्रह कर्त्ताओं ने चार लक्षण बतलाए हैं।[5] वे हैं—(१) अपीड़ित (२) असम्मोह (३) विवेकयुक्त

---

१. स्थानांगसूत्र व्याख्या, पृ० ६८६

२. योगशा० ११.५६-५७

३. ज्ञानार्णव, ४२.५२ एवं ५४

४. अवशेषविनिर्मुक्तो लोकाग्रं समये प्रभुः।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते॥
धर्मो गतिस्वभावोऽस्त्यधर्मः स्थिति लक्षणः।
तयोर्योगात्पदार्थानां गतिस्थिती उदाहृतः॥ वही, ४२.६०-६१

५. सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा-अव्वहे, असम्मोहे, विवेगे, विउस्सग्गे। स्थानांगसूत्र १२, पृ० ६७६
तथा भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक ७, औपपातिकसूत्र ३० तपोधिकार

और (४) ममता से रहित।

(१) **अपीड़ित**

शुक्लध्यान में अवस्थित साधक भयंकर से भयंकर परीषह और घोर उपसर्गों से विचलित नहीं होता, वह किसी प्रलोभन में भी नहीं फंसता, वह किसी भी समय व्याकुल भी नहीं होता, विश्व की कोई भी शक्ति उसे ध्यान से विचलित नहीं कर सकती और वह कभी भी व्यथित भी नहीं हो सकता। इसी कारण सूत्रकार ने उसका पहला लक्षण 'अव्वहे' कहा है, जिसका अर्थ है—व्यथा का अनुभव न करना। ऐसी ज्ञान दशा शुक्लध्यान में ही हो सकती है।

(२) **असम्मोह**

शुक्ल ध्यानी का दूसरा लक्षण है—असंमोह। साधक देवादिक माया से मोहित नहीं होता। मोह की २८ प्रकृतियां उसमें उदित नहीं हो पातीं, उसे मोह जनक निमित्त कितने ही मिलें परन्तु वह अपने ध्येय में ही स्थिर रहता है, ममता भी उसका स्पर्श करने से डरती है।

(३) **विवेक**

यह शुक्लध्यान का तीसरा लक्षण है। जब ध्यानी को यह निश्चय हो जाता है कि मैं देह नहीं, आत्मा हूं, तब वह देह नाशक कष्ट होने पर भी खेद नहीं मानता, क्योंकि उसे ज्ञात है कि कष्ट की अनुभूति देह को होती है, आत्मा को नहीं। वह तो शुद्ध है, व्यथा मुक्त है और आनन्द स्वरूप है।

(४) **व्युत्सर्ग**

यह शुक्लध्यानी साधक का चतुर्थ लक्षण है अनासक्तभाव पूर्वक देह और उपधि का परित्याग करना व्युत्सर्ग कहलाता है। जिसको अपनी देह पर भी ममत्व नहीं है, वह बाह्य उपकरणों पर क्या ममत्व कर सकता है? इस प्रकार शुक्ल ध्यानी में उक्त चारों लक्षण पाए जाते हैं।[1]

---

१. चालिज्जेह बीहइ व धीरो न परीसहोवसग्गेहिं।
सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु॥
देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे।
देहोवहि वुसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ॥ स्थानांगसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ६६० पर उद्धृत

शुक्लध्यान के आलम्बन[1]

कोई भी आत्मा उन्नति के शिखर पर किसी न किसी आलम्बन से ही पहुंच सकता है। जब तक पूर्ण विकास नहीं हो जाता तब तक साधक को आलम्बन की आवश्यकता रहती है। शुक्लध्यानी के चार आलम्बन होते हैं और वे हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष।

(१) क्षमा

क्रोध के अभाव में उत्पन्न होने वाले गुण को क्षमा कहते हैं। किसी के द्वारा प्राणान्तकारी व्यथा देने पर भी उस पर क्रोध न करना, अपितु उसका हित चिन्तन करना, उसे उपकारी समझकर कृतज्ञता प्रकट करना, उससे मैत्रीभाव स्थापित करना, परम शान्त रहकर आत्मा में रमण करना ही क्षमा है।

(२) मार्दव

मान के अभाव से उत्पन्न हुए गुण को मार्दव कहते हैं। आत्मा में अभिमान से कठोरता उत्पन्न होती है। अभिमान सभी बुराइयों का मूल है और सभी गुणों का मूल विनय अर्थात् मार्दव है। जिसके जीवन में सुकोमलता एवं मृदुता उत्पन्न हो जाती है, वही शुक्लध्यान का ध्याता होता है।

(३) आर्जव

आत्मवंचना और परवंचना का नाम माया है। अपने दोषों को ढकना तथा दूसरे को ठगना परवंचना कहलाती है। इस माया को समाप्त कर देना ही आर्जव है। यह आत्मा का परम गुण है। इस गुण के होने पर ही शुक्लध्यान और अधिक पुष्ट होता है।

(४) सन्तोष

शुक्लध्यान का चौथा गुण सन्तोष है। लोभ से मुक्ति पाना ही

---

१. सुक्कस्सणं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तं जहा खंती, मुत्ती, मद्दवे, अज्जवे। स्थानाग सूत्र, सूत्र १२; पृ० ६७६ तथा भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक, ७; औपपातिकसूत्र ३०, तपोधिकार

सन्तोष है। आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को पाने की इच्छा न करना ही सन्तोष है। जब आत्मा में ऐसी परिणति हो जाती है तब शुक्लध्यान के प्रासाद पर आरोहण करने के लिए सन्तोष सोपान की तरह आलम्बन बन जाता है।

शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएं

शुक्लध्यान की सार्थकता अनुप्रेक्षा के साथ है। इसी को वैदिक-दर्शन में निदिध्यासन कहते हैं। अनुप्रेक्षा से श्रुतज्ञान विज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है और परमानन्द की अनुभूति होने लगती है। इन्हीं से कर्मों की महान् निर्जरा होती है। शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएं हैं—(१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, (२) विपरिणामानुप्रेक्षा, (३) अशुभानुप्रेक्षा और (४) अपायानुप्रेक्षा।[1] ये चार अनुप्रेक्षाएं आती हैं।

(१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा

इस संसार चक्र से आत्मा ने अनन्त बार जन्म मरण किए हैं, क्योंकि संसार भी अनादि है और आत्मा भी अनादि है। इस संसार सागर से पार होना अत्यन्त दुष्कर है। आत्मा अनन्त बार भव भ्रमण कर चुका है। इस प्रकार के चिन्तन अथवा भावना का नाम ही अनन्त-वर्तितानुप्रेक्षा है—

एसअणाइ जीवो संसारो सागरोव्व दुत्तारो।
नारयतिरियनरामरभवेसु परिहिंडए जीवो॥[2]

(२) विपरिणामानुप्रेक्षा

वस्तुओं के परिणमन पर विचार करना जैसे कि संसार और देव-लोक के सभी स्थान विनाशशील हैं। उत्तम भौतिक ऋद्धि और सुख सभी अनित्य हैं, इत्यादि विपरिणमनरूप चिन्तन को विपरिणामानुप्रेक्षा कहते हैं—

---

१. सुक्कस्सणंझाणस्स चत्तारि अणुप्पेहा पण्णत्ता, तं जहा अणंतवत्तियाणुप्पेहा, विपरिणामाणुप्पेहा, असुभाणुप्पेहा, अपायाणुप्पेहा। स्थानांगसूत्र, सूत्र १२, पृ० ६७६ तथा भगवतीसूत्र शतक २५ उद्देशक ७; औपपातिकसूत्र ३०, तपोधिकार

२. दे० स्थानांगसूत्र, पृ० ६९२ पर उद्धृत गाथा

सव्वट्ठाणाइं असासयाइं इह चेव देवलोगे य ।
सुरअसुरनाईणं सिद्धिविसेसासुहाइं च ।।[1]

(३) अशुभानुप्रेक्षा

संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना अशुभानुपेक्षा है, जैसे यह सर्वांग सुन्दर रूप से गर्वित मनुष्य मर कर स्वयं अपने ही कलेवर में कृमि के रूप में उत्पन्न होता है ऐसी भावना के चिन्तन का नाम अशुभानुप्रेक्षा है—

धीसंसारे जम्भि जुवाणओ परमरुवगव्विओ ।
मरिऊण जायई किमतित्थेव कडेवरे नियए ।।[2]

(४) अपायानुप्रेक्षा

आस्रवों से होने वाली हानि जीवों को दुःख देने वाले घोर अति-घोर संकट में डालने वाले उपायों का चिन्तन करना अपायानुप्रेक्षा है। अतः वश में नहीं किया हुआ क्रोध और मान, बढ़ता हुई माया और लोभ ये चार कषायें संसार एवं पुनर्जन्म के मूल को सींचने वाली हैं। ऐसी एकाग्र विचार धारा ही अपायानुप्रेक्षा है—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया माया य लोहो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारिएएकसिणा कसाया, सिंचति मूलाइ पुणब्भवस्स ।।[3]

शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों में श्रुतज्ञान का यथासम्भव आलम्बन लेना ही होता है। अतः इन्हीं दो में अनुप्रेक्षाओं की उपयोगिता होती है।

शुक्लध्यान में लेश्या

प्रथम दो शुक्ल ध्यानों में शुक्ललेश्या और तृतीय शुक्लध्यान में परमशुक्ललेश्या होती है, जबकि चतुर्थ शुक्लध्यान लेश्या से रहित होता है।[4]

---

१. दे० वही,
२. स्थानागसूत्र, पृ० ६६२ पर उद्धत गाथा
३. वही
४. सुक्का लेसाए दो, ततियं पुण परमसुक्क लेसाए ।
थिरयाजियसेलेसं लेसाइयं परमसुक्कं ।। ध्यान शतक, गा० ८६

(ख) योगबिन्दुगत योग के भेद

आचार्य हरिभद्रसूरि योगमार्ग के अनुभवी महान् साधक थे। इसीलिए इन्होंने स्वानुभव के आधार पर योग के विषय में महत्त्वपूर्ण मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनके ग्रंथ योगबिन्दु में उन्होंने योग के सर्व प्रथम पांच भेद किए हैं—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय—

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद् योग एव श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥[1]

ये योग हैं, कारण कि ये आत्मा को मोक्ष से जोड़ते हैं अथवा इनके माध्यम से आत्मा सर्वबन्धनों से मुक्त हो जाती है। ये पांचों उत्तरोत्तर उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ हैं अर्थात् अध्यात्म से भावना' भावना से ध्यान, ध्यान से समता तथा समता से वृत्तिसंक्षय क्रमशः एक से एक उच्चतर आध्यात्मिक विकास के सूचक हैं।[2]

इसके अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र ने एक अन्य प्रकार से भी योग के भेद किए हैं—

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं सानुबन्धस्तथापरः।
सास्रवोऽनासक्तश्चेति संज्ञाभेदेन कीर्तितः ॥[3]

अर्थात् तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबन्ध, निरनुबन्ध सास्रव और अनास्रव ये योग के छः भेद हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर हरिभद्र के अनुसार योग के ११ भेद हो जाते हैं। यहां पर इनमें अन्तिम छः का विश्लेषण करेंगे।

(१) तात्त्विक योग

इसके अन्तर्गत साधक केवल निर्वाण को लक्ष्य में रखकर ही साधना में प्रवृत्त होता है।[4] जब साधक सभी लौकिक कामनाओं को

१. योगबिन्दु, श्लोक ३१
२. विशेष के लिए देखिए—प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय ३
३. योगबिन्दु, श्लोक ३२
४. योगबिन्दु, श्लोक ३२ पर संस्कृत टीका

छोड़कर साधना में प्रवृत्त होता है तो वही साधना तात्त्विकयोग है। अध्यात्मयोग तथा भावना योग अपुनर्बन्धक के व्यवहारदृष्टि से और चारित्री के निश्चयदृष्टि से साधे जाते हैं।[1] यद्यपि इस श्लोक में सम्यक्दृष्टि का उल्लेख नहीं है किन्तु टीककार के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में उसे अपुर्नबन्धक के साथ जोड़ा जा सकता है।[2]

चारित्री को ध्यान, ममता, तथा वृत्तिसंक्षय संज्ञकयोग उसकी शुद्धि आन्तरिक निर्मलता के अनुरूप निश्चितरूप में प्राप्त होते हैं। वे ही तात्त्विकयोग होते हैं।[3]

(२) अतात्त्विक योग

निजस्वरूपस्थ होने के लिए प्रवृत्त न होकर केवल लोक रंजनार्थ योग का जो अभिप्राय लिया जाता है, वही अतात्त्विक योग है।[4] अथवा जो केवल मौज-मस्ती और भरण-पोषण के लिए जो साधक वेश धारण करते हैं और वैसी चेष्टाएं करते हैं उनका योग अतात्त्विक है। सकृत् आवर्तन में विद्यमान तथा उन जैसे और व्यक्तियों के अध्यात्मयोग और भावनायोग भी अतात्त्विक होते हैं क्योंकि उनमें साधकों जैसा वेश आदि केवलबाह्य प्रदर्शन मात्र होता है, जो आचरण वे करते हैं, प्रायः अनिष्टकर तथा दुर्भाग्यपूर्ण फलप्रद होता है।[5]

(३) सानुबन्धयोग

जिस योग में साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त करने तक निरन्तर

---

१. अपुनर्बन्धकस्यायं व्यवहारेण तात्त्विकः।
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्यस्तु ॥ यो० वि० श्लोक ३६९

२. निश्चयेन निश्चयनयमतेनोपचारपरिहाररूपेण उत्तरस्य तु अपुनर्बन्धकसम्यक् दृष्ट्याऽपेक्षया चारित्रिण इति। यो० बि० श्लोक ३६९ पर संस्कृत टीका हारिभद्रीय योग भारती, पृ० २५२

३. योगबिन्दु, श्लोक ३७१

४. तात्त्विकीभून एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया।
अविच्छिन्नः सानुबन्धस्तु छेदवानपरो मतः ॥ यो० बि०, श्लोक ३३

५. सकृदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः।
प्रत्यपायफलप्रायस्तथावेषादिमात्रतः ॥ वही, श्लोक ३७०

विघ्न बाधाओं को पार करता हुआ, आगे बढ़ता रहता है, उसे ही सानुबन्धयोग कहते हैं।[1] उसको उत्तरवर्ती विकास श्रृंखला सहित यथावत् रूप से इस योग की प्राप्ति होती है।[2]

(४) निरनुबन्धयोग

जिस योग में साधक की साधना भंग हो जाए, उसका बीच में विच्छेद होना अर्थात् जब गतिरोध साधक को आगे बढ़ने से रोक देते हैं, तब उसकी इस अवस्था को निरनुबन्धयोग कहा जाता है।[3] आचार्य हरिभद्रसूरि ने साधना में आने वाले विघ्नों को अपाय संज्ञा दी है। जिसकी साधना अपायों से मुक्त नहीं, उसके योग को ही निरनुबन्धयोग बतलाया गया है।[4]

अपायरहित साधना परायण महापुरुषों ने अतीत में संचित पापाशय हिंसा, असत्य, चौर्य, लोभ, अहंकार, छल, क्रोध, द्वेष, व्यभिचार आदि से सम्बन्धित त्रिविध कर्मों को अपाय कहा है, उन्हें 'निरूपक्रम संज्ञा' दी गई है। उनका फल अवश्य ही भोगना होता है।[5]

(५) सास्रवयोग

सास्रव का अर्थ है—आस्रव से युक्त। आस्रव का विश्लेषण करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है कि—**आस्रवो बन्धहेतुत्वाद् बन्ध एवेह यन्मतः।** अर्थात् कर्म बन्ध का जो हेतु है वही आस्रव है और वह आत्मा के लिए बन्धन रूप है। वस्तुतः कर्म बन्ध का मुख्य कारण कषाय है और आस्रव कषाय से अनुप्रेरित होता है क्योंकि बन्धन के साथ उसकी वास्तविक संगति है।[6] जो कषायों से युक्त होता है, उसका योग ही

---

१. दे० योगबिन्दु, श्लोक ३७१

२. वही,

३. वही, श्लोक ३३

४. अस्यैव त्वनपायस्य सानबन्धस्तथा स्मृतः।
   यथोदितक्रमेणैव सोपायस्य तथाऽपरः॥ वही, श्लोक ३७२

५. अपायमाहुः कर्मैव निरपायाः पुरातनम्।
   पापाशयकरं चित्रं निरूपक्रमसंज्ञकम्॥ वही, ३७३

६. योगबिन्दु, श्लोक ३७६

सास्रवयोग कहा जाता है और वह सास्रवयोगी अनेक जन्म मरण ग्रहण करने के बाद मोक्ष पाता है।[1] अतः इसे दीर्घसंसारी भी कहा गया है।[2] सास्रवयोग उस साधक के सधता है जिसके अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करने में अभी अनेक जन्म पार करने शेष हैं। जो अनास्रवा है, वह चरमशरीरी है और जो सास्रवी है वह अचरमशरीरी होता है।[3]

अनास्रवयोग

अनास्रव का अर्थ है निश्चयनय के अनुसार सर्वथा आस्रव रहित अवस्था तथा व्यवहारनय के अनुसार साम्परायिक आस्रवरहित अवस्था का नाम अनास्रवयोग है यह लगभग आस्रव रहित अर्थात् अल्प आस्रव वाली अवस्था विशेष है। यहां साधक शीघ्र ही अनास्रव दशा प्राप्त कर लेता है।[4]

व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित अर्थ भी निश्चयनय के विपरीत नहीं जाता क्योंकि वह सर्वत्र तत्संगत ही होता है। यों तो निश्चय और व्यवहार दोनों ही अभिमत यथार्थतः स्वीकृत अर्थ को ही प्रकट करते हैं। इस प्रकार अनास्रवयोग उसके सधता है जो उसी जन्म में मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अनास्रवी केवल एक ही जन्म से गुजरता है, उसे अगला जन्म नहीं लेना पड़ता।[5]

जो चमरशरीरी हैं, वे वर्तमान शरीर के बाद और शरीर धारण नहीं करते। जिनके सम्परायवियोग अर्थात् कषाय वियाग होता है अर्थात् जिनके कषाय नहीं रहे हैं, उसके साम्परायिक आस्रव बन्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में अन्य अतिसामान्य आस्रव के गतिमान रहने पर भी वह अनास्रव कहा जाता है क्योंकि वह बन्ध बहुत मन्द, अल्प एवं लघु होता है।

---

१. अस्यैव सास्रवः प्रोक्तो बहुजन्मान्तरावहः ॥ यो० बि०, श्लोक ३७५

२. सास्रवो दीर्घसंसारस्ततोऽन्योऽनास्रवः परः।
अवस्थाभेदविषयाः संज्ञा एता यथोदिताः ॥ वही, श्लोक ३४

३. एवं चरमदेहस्य संपरायवियोगतः।
इत्वरास्रवभावेऽपि स तत्राऽनास्रवो मतः ॥ वही, ३७७

४. निश्चयेनात्र शब्दार्थः सर्वत्र व्यवहारतः।
निश्चयव्यवहारौ च द्वावायभिमतार्थदौ ॥ वही, ३७८

५. पूर्वव्यावर्णितन्यायादेकजन्मा त्वनास्रवः। वही, श्लोक ३७५

जैनदर्शन के अनुसार बारहवें, गुणस्थान क्षीण-मोह और तेरहवें सयोगी-केवली गुणस्थानों में इसी प्रकार का कर्म बन्ध होता है। वस्तुतः इस विवेचन के अनुसार जो पारिभाषिक रूप में अनास्रव कोटि के अन्तर्गत जाता है।

(ग) गुणस्थान और योग

गुणस्थानों का वर्णन कर्मबन्ध की प्रक्रिया में जितना प्रचुर रूप से देखा जाता है, उतना ही उनका योगसाधना में भी प्रयोग आवश्यक है। ये योगसाधना के स्थल हैं। उसकी भूमि विशेष हैं। इन्हें साधना की श्रेणियां भी कहा जा सकता है। साधना की पूर्णता के लिए एक साधक को इन्हें पूर्ण करना भी अनिवार्य है।

गुणस्थान का स्वरूप

आगमों में जीव के स्वभावज्ञान, दर्शन और चारित्र, का नाम गुण है और इन गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के उत्कर्ष एवं अपकर्ष कृतस्वरूप विशेष का भेद गुणस्थान कहलाता है।[1] आत्मा के गुणों की शुद्धि-अशुद्धि के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के कारण आश्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा हैं। कर्मों का आश्रय और बन्ध होने पर आत्म-गुणों में अशुद्धि का उत्कर्ष होता है तथा संवर एवं निर्जरा के द्वारा कर्मों का आश्रव और बन्ध के रुकने वा क्षय होने से गुणों की विशुद्धि में उत्कर्ष और अशुद्धि में अपकर्ष होता है।

इस तरह जीवों के परिणामों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्धि बढ़ती जाती है, विशुद्धि से आत्मगुणों का विकास होता है। आत्मगुणों के इसी विकास क्रम को गुणस्थान कहते हैं।[2] **समवायांगसूत्र**[3] **समयसरा**[4] और **प्राकृत पंचसंग्रह**[5] आदि ग्रंथों में गुणस्थान को जीवस्थान भी कहा

---

१. दे० कर्मग्रन्थ ४, पृ० ११
२. वही, पृ० १२, १३
३. कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दसजीवट्ठाणा पण्णत्तो।
   समवायांगसूत्र, समवाय १४,५
४. समयसार, गाथा ५५
५. दे०, प्राकृत पंचसंग्रह

गया है जबकि गोम्मट्टसार में इसी को जीवसमास बतलाया गया है।[1]

कर्म ग्रंथों में जीवस्थान और गुणस्थान को अलग-अलग बतलाया गया है।[2] यद्यपि इनमें संज्ञा भेद होने पर भी कोई अर्थ भेद नहीं है फिर भी व्याख्याकारों के मतानुसार इनमें पर्याप्त अन्तर हैं।

जीवस्थान

जीवों के स्थान अर्थात् जीवों के सूक्ष्म बादर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीव के विभिन्न भेदों को जीवस्थान कहते हैं।[3] इस दृष्टि से जीवस्थान तथा गुणस्थान में पर्याप्त अन्तर है किन्तु धवलाकार इनमें अभेद मानते हुए कहते हैं कि चौदह जीवस्थानों से यहां चौदह गुणस्थान ही अपेक्षित हैं।[4]

गुणस्थानों की संख्या

प्रायः सभी ने गुणस्थानों की संख्या चौदह मानी है। वे हैं—[5]

(१)	मिथ्यादृष्टि	(८)	निवृत्तिबादर
(२)	सासादनदृष्टि	(९)	अनिवृत्तिबादर
(३)	मिश्रदृष्टि	(१०)	सूक्ष्मसाम्पराय
(४)	अविरतसम्यग्दृष्टि	(११)	उपशान्तमोहनीय
(५)	देशविरति सम्यग्दृष्टि	(१२)	क्षीणमोहनीय
(६)	प्रमत्त संयत	(१३)	सयोगकेवली और
(७)	अप्रमत्तसंयत	(१४)	अयोगकेवली

---

१. मिच्छो सासणमिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदापमत्तइदरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य॥
उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलि जिणो अजोगीय।
चउद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा॥ गो० जीव काण्ड, गा० ९-१०

२. इह सुहुमबायरेगिंदिबितिचउअसन्निसन्निपंचिंदी।
अपजत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा॥ कर्मग्रन्थ ४, गा० २

३. दे० वही, ४, पृ० ६

४. चतुर्दशानां जीवस्थानां चतुर्दशगुणस्थानामित्यर्थः। धवला १.१-२

५. मिच्छादिट्ठी, सासायणसम्मादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, निअट्टिबायरे, अनिअट्टिबायरे सुहुमसंपराए, उवसामए, खीणमोहे, सजोगीकेवली, अयोगीकेवली। समवायांगसूत्र, समवाय १४

(१) मिथ्यादृष्टि

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले परिणामों के कारण जीव विपरीत श्रद्धान करने वाला हो जाता है। इस प्रकार के विपरीत श्रद्धा वाले जीव के स्वरूप विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान अथवा मिथ्यात्व दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।[1] इस गुणस्थानवर्ती जीव को यथार्थ धर्म उसी प्रकार अच्छा नहीं लगता जैसे पितज्वर से पीड़ित व्यक्ति को मीठारस अच्छा नहीं लगता।

यद्यपि इस गुणस्थान में जीवों को कषायों की तीव्रता और मन्दता की अपेक्षा संक्लेश की हीनाधिकता होती रहती है। फिर भी उनकी दृष्टि विपरीत ही बनी रहने से उन्हें आत्म स्वरूप का यथार्थ भाव नहीं हो पाता और जब तक निजस्वरूप का यथार्थ बोध नहीं होता तब तक जीव मिथ्यादृष्टि ही बना रहेगा।

(२) सासादनगुणस्थान

जब कोई जीव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का और अनन्तानुबन्धी कषायों का उपशम करके सम्यक्दृष्टि बनता है, तब वह उस अवस्था में अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है। उस काल के भीतर कुछ समय शेष रहते हुए यदि अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय आवे तब वह नियम से गिरता है और एक समय से लेकर छह आवली काल तक छोड़े गए सम्यक्त्व का कुछ आस्वाद लेता रहता है। इसी मध्यवर्ती पतनोन्मुखी दशा का नाम सासादन गुणस्थान है। इसमें जीव क्योंकि सम्यक्त्व की विराधना करके गिरता है। अतः इसे सासादन सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा मिश्रदृष्टि गुणस्थान

प्रथम बार उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता हुआ जीव मिथ्यात्व कर्म के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन विभाग करता

---

१. मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणां होदि।
णयधम्मं रोचिदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो॥ गोम्मट्टसार जीव काण्ड, गा० १७ तथा मिला० कर्म ग्रन्थ २, पृ० १३

२. दे० कर्मग्रन्थ भा० २, पृ० १५

है। इनमें से उपशम सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण होते ही यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाता है, तो वह अर्धसम्यक्त्वी और अर्धमिथ्यात्वी जैसी दृष्टि वाला हो जाता है। इसे ही तृतीय सम्यग्-मिथ्यात्वदृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इसका काल अन्तर्मुहूर्त हा है। अतः उसके पश्चात् यदि सम्यक्त्वप्रकृति का उदय हो जाए तो वह ऊपर चढ़कर सम्यक्त्वी बन जाता है और यदि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाए तो वह नीचे गिरकर मिथ्यात्वदृष्टि गुणस्थान में आ जाता है।[1]

गोम्मटसार के अनुसार जिस प्रकार दही और गुड़ को परस्पर इस तरह से मिलाने पर कि फिर उन दोनों को पृथक्-पृथक् न कर सकें उस द्रव्य के प्रत्येक परमाणु का रस मिश्ररूप (खट्टा और मीठा मिला हुआ) होता है। इसी प्रकार मिश्र परिणामों में भी एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप परिणाम रहते हैं।[2]

(४) अविरतसम्यक्दृष्टि गुणस्थान

दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम करके जीव सम्यक्दृष्टि बनता है। उसे आत्मस्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है। फिर चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण वह उस सत्य मार्ग पर चलने पर असमर्थ रहता है और संयम आदि के पालन करने की भावना होने पर भी व्रत आदि का लेशमात्र भी पालन नहीं कर पाता। इस प्रकार विरति या त्याग के अभाव के कारण इसे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है।[3] **गोम्मटसार** के अनुसार दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति तथा चार अनन्तानुबन्धी कषाय इन सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक और सर्वथा क्षय से क्षायिक

---

१. दे० कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० २०
तथा मिला०—सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
णयसम्मंमिच्छंपि य सम्मिस्सो होदि परिणामो॥ गो० जी०, गा० २१

२. दहिगुडमिव वा मिस्सं, पुहभावंणंवकारिदु सक्कं।
एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो॥ गोम्मटसार, जीव काण्ड, गा० २२

३. दे० कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० २३

सम्यग्दर्शन होता है। यहां पर अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहा करता है। यही कारण है कि इस गुणस्थान वाले जीव को असंयत-सम्यग्दृष्टि कहते हैं।[1]

(५) विरताविरत गुणस्थान

जब सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम या क्षयोपशम होता है, तब वह त्रस-हिंसादि स्थूल पापों से विरत होता है, किन्तु स्थावर हिंसादि सूक्ष्म पापों से तो वह अविरत ही रहता है। ऐसे देशविरत अणुव्रती जीव को विरताविरत गुणस्थान वाला कहा जाता है।[2] गोम्मट्टसार में इसे देशविरत या देशसंयत भी कहा गया है।[3]

(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान

जब सम्यग्दृष्टि जीव के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम अथवा क्षयोपशम होता है तब वह स्थूल और सूक्ष्म सभी हिंसादि पापों का त्याग कर महाव्रतों को जिसे सकल संयम भी कहते हैं, धारण करता है फिर भी उसके संज्वलन और नोकषायों के तीव्र उदय होने से कुछ प्रमाद बना ही रहता है। ऐसे प्रमाद युक्त संयमी को प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाला कहा जाता है।[4]

(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

जब प्रमत्तसंयत जीव के संज्वलन और नोकषायों का मन्द उदय होता है, तब वह इन्द्रिय विषय विकथा निद्रादि रूप समस्त प्रमादों से रहित होकर शील संयम का पालन करता है। ऐसे साधु को अप्रमत्त-संयत गुणस्थान वाला कहा जाता है[5]

---

१. सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खया दु खइयो य।
   विदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य॥ गो० जीवकाण्ड गा० २६

२. दे० कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० २५

३. पच्चक्खाणुदयादो संजयभावो ण होदि णावरि तु।
   थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ॥ गो० जीवकाण्ड गा० ३०

४. समवायांगसूत्र समवाय १४, तथा मिला०-गोम्मट्टसार, जीवकाण्ड, गा० ३२

५. दे० कर्मग्रन्थ २, तथा गोम्मट्टसार, जीव काण्ड, गा० ४५

सातव गुणस्थान से ऊपर साधक को दो श्रेणियां पार करनी होती हैं वे हैं— उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। जो जीव चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय करने के लिए उद्यत होता है, वह क्षपकश्रेणी पर आरोहण करता है। दोनों अवस्थाओं का काल अन्तमुंहूर्त ही होता है।

(८) निवृत्तिबादर उपशमाक क्षपक गुणस्थान :

अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का उपशमन करने वाला जीव इस आठवें गुणस्थान में आकर अपनी अपूर्व विशुद्धि के द्वारा चारित्रमोहनीय की अवशिष्ट २१ प्रकृतियों का उपशम करते हुए उपर्युक्त सात प्रकृतियों को विशेषतः क्षय करने में तत्पर होता है। इस गुणस्थान वाले समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में भिन्नता रहती है और बादर संज्वलन कषायों का उदय रहता है। इसीसे इसे निवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं।[1]

(९) अनिवृत्तिबादर उपशामक क्षपक गुणस्थान

इसमें आने वाले एक समयवर्ती सभी जीवों के परिणाम एक से होते हैं, उनमें भिन्नता नहीं होती, अतः इसे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनिवृत्तिबादर सम्पराय गुणस्थान भी है। बादर का अर्थ है—स्थूल और संपराय का अथ है-कषाय। अर्थात् इसमें स्थूल कषाय का उदय होता है। इसमें दो श्रेणी उपशम और क्षपक है। उपशमश्रेणी वाला जीव चारित्र-मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम और क्षपकश्रेणी वाला जीव उन सभी का क्षय करके दसवें गुणस्थान में प्रविष्ट हो जाता है।[2]

गोम्मट्टसार के लेखक के अनुसार अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरण के काल में आदि, मध्य अथवा अन्त के एक समयवर्ती अनेक जीवों में जिस प्रकार शरीर की अवगाहना आदि बाह्य कारणों से तथा ज्ञानावरण आदि कर्म को क्षयोपशम आदि अन्तरंग कारणों से परस्पर में भेद पाया जाता है, उसी प्रकार जिन परिणामों के निमित से परस्पर में भेद नहीं पाया जाता उनको अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

१. दे० कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० २८; समवायांग, सूत्र १४

२. दे० कर्मग्रन्थ २, पृ० ३३ तथा समवायांग सूत्र १४

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का जितना काल है, उतने ही, उसके परिणाम हैं। इसलिए उसके काल के प्रत्येक समय में अनिवृत्तिकरण का एक ही परिणाम होता है। तथा ये परिणाम अत्यन्त निर्मल ध्यान रूप अग्नि की शिखाओं की सहायता से कर्मवन को भस्म कर देते हैं।[1]

(१०) सूक्ष्मसम्पराय उपशामक क्षपक गुणस्थान

इसमें आने वाले सभी श्रेणीयों के जीव सूक्ष्म लोभ का वेदन करते है। अतः इसे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान कहते हैं। सूक्ष्मसम्पराय का अर्थ है सूक्ष्म कषाय। उपशमश्रेणी वाला जीव उस सूक्ष्म लोभ का उपशम करके ग्यारहवें गुणस्थान में पहुंचता है और क्षपकश्रेणी वाला जीव उसका क्षय करके बारहवें गुण में पहुंचता है। दोनों श्रेणियों के इस भेद को बतलाने के लिए ही इस गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसम्पराय उपशामक क्षपक नाम दिया गया है। इसमें सूक्ष्म लोभ संज्वलन व लोभ के सूक्ष्म खण्डों का वेदन होता है। इसकी काल स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।[2]

गोम्मटसार के अनुसार जिस प्रकार धुले हुए गुलाबी वस्त्र में लालिमा-सूक्ष्म रह जाती है उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग एव लोभकषाय से युक्त है, उसको सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान कहते हैं।[3]

(११) उपशान्तमोह गुणस्थान

निर्मली फल से युक्त जल की तरह अथवा शरद ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने वाले सरोवर के जल की तरह, सम्पूर्ण मोहनीयकर्म के उपशम से होने वाले निर्मल परिणामों को उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं।[4] इसका दूसरा नाम उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थगुणस्थान भी है।

---

१. एकम्हि कालसमये, संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।
णणिवट्टंति तहावि य परिणामेहिंमिहोजेहिं ॥ गो० जीवकाण्ड गा० ५६

२. दे० कर्मग्रन्थ, भाग 2, पृ० ३५ तथा समवायांगसूत्र, समवाय १४

३. गोम्मटसार, जीव काण्ड, गा० ५८

४. गोम्मटसार, गा० ६१

उपशमश्रेणी वाला जीव दशवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्म लोभ का उपशमन करके इस गुणस्थान में आता है और मोहकर्म की सभी प्रकृतियों का पूर्ण उपशम कर देने से यह उपशान्तमोह गुणस्थान वाला कहा जाता है।[1] इसका काल लघु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसके समाप्त होते ही वह नीचे गिरता हुआ सातवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। यदि उसका संसार परिभ्रमण शेष है, तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान तक को प्राप्त कर सकता है।

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान

क्षपकश्रेणी पर चढ़े हुए दसवें गुणस्थानवर्ती जीव उसके अन्तिम समय में सूक्ष्म लोभ का भी क्षय करके क्षीण मोही होकर बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है क्योंकि उसका मोहनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है। अतः उसका 'क्षीणमोहगुणस्थान' यह नाम सार्थक है। इस गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। साधक इसमें ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण कर्म की नौ और अन्तराय कर्म की पांच इन उन्नीस प्रकृतियों की असंख्यात गुणी निर्जरा प्रतिसमय करता है और अन्त में सब का पूर्णरूप से क्षय करके केवल-ज्ञान-दर्शन का लाभ करता है और तेरहवें गुणस्थान को धारण कर लेता है।[2]

गोम्मट्टसार के अनुसार जब साधक का चित्त मोहनीयकर्म से सर्वथा मुक्त हो जाता है तब वह स्फटिक के निर्मल पात्र में रक्खे हुए जल के समान विशुद्ध हो जाता है। उसकी इसी स्थिति को क्षीणमोह अथवा क्षीणकषाय नामक बारहवां गुणस्थान कहते हैं।[3]

(१३) सयोगीकेवली गुणस्थान

इस गुणस्थान में केवली भगवान् के योग विद्यमान रहते हैं। यद्यपि वे इस गुणस्थान में घातीय चार कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर चुके हैं फिर भी योग का प्रयोग होने से वे संयोगकेवली ही कहे जाते हैं। इस

१- दे० कर्मग्रंथ, भाग-२, पृ० ३७

२. समवायागसूत्र समवाय १४, तथा मिला० कर्मग्रंथ, भाग-२, पृ० ४०

३. णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गंथो वीयरायेहिं ॥ गो० जीवका०, गा० ६२

स्वरूपावस्थिति विशेष को संयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं। संयोग-केवली को जिन, जिनेन्द्र और जिनेश्वर भी कहा जाता है।[1]

(१४) अयोगीकेवली गुणस्थान

इस गुणस्थान में योगों का पूर्णतः अभाव हो जाता है। इससे उन्हें अयोगीकेवली कहा जाता है। इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ और लृ इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल प्रमाण है। इतने ही भीतर वे वेदनीय आयु, नाम और गोत्रकर्म की सत्ता में स्थित प्रकृतियों का क्षय करके शुद्ध निरजंन सिद्ध होते हुए सिद्ध स्थिति में प्रतिष्ठित होते हैं। ये अनन्त असीम सुख के स्वामी बन जाते हैं। क्योंकि इस गुणस्थान में योग विशेष रूप से नष्ट हो जाता है। इसलिए इसे अयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।[2]

इस तरह शीलसम्पन्न, निरुद्ध, अशेष आस्रव, सभी कर्मों से विमुक्त और योग रहित साधक के ये चतुर्दश गुणस्थान होते हैं।[3]

योग और गुणस्थान का सम्बन्ध

जैनदर्शन में मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का नाम योग है[4] और इसे बन्धन का कारण भी माना गया है क्योंकि उससे कर्मों का आश्रव होता है।[5] मन और वचन के चार-चार तथा काय के सात भेद मिलाकर योग के १५ प्रकार होते हैं[6]—

---

१. समवायांगसूत्र, समवाय १४ तथा मिला० कर्मग्रंथ, २, पृ० ४१
तथा—असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो। गो० जीव काण्ड, गा० ६४

२. समवायांगसूत्र, पृ० ४१ से ४४ तथा कर्मग्रन्य, भाग २, पृ० ४३

३. सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस-आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगी केवली होदि॥ गो० जीवकाण्ड, गा० ६५

४. तत्त्वार्थसूत्र, ६.१

५. वही, ६.२

६. कर्मग्रन्थ, भा० ४, पृ० ६०-६१ तथा गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा० ३४

(क) मनोयोग के चार भेद

१. सत्यमनोयोग
२. असत्यमनोयोग
३. मिश्रमनोयोग
४. और व्यवहार मनोयोग

(ख) वचनयोग के चार भेद

१. सत्य वचन योग
२. असत्य वचन योग
३. मिश्रवचन योग
४ और व्यवहार वचन योग

(ग) काययोग के सात भेद

(१) औदारिक काययोग
(२) औदारिक मिश्र काययोग,
(३) वैक्रियकाय योग
(४) वैक्रिय मिश्र काययोग,
(५) आहारक काय योग,
(६) आहारक मिश्रकाय योग और
(७) कामणकाय योग

इस प्रकार ये कुल मिलाकर योग के १५ भेद हैं।

गुणस्थान और योगों का परस्पर एक दूसरे के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि इन योगों में से प्रत्येक जीव में (एक इन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक) कोई न कोई योग अवश्य पाया जाता है। इस प्रकार योग का जो आधार है, वही आत्मा गुणस्थान का भी आधार है। अतः इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रत्येक जीव में तीन प्रमुख योगों में से कम से कम एक योग और उसके भावों के अनुसार कोई न कोई गुणस्थान अवश्य रहता है। यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि चौदवें गुणस्थान में पहुंचकर आत्मा का पूर्ण विकास होने से वह सिद्ध, बुद्ध पद को प्राप्त हो जाता है।

एक समय में एक जीव में गुणस्थान तो एक ही होता है, किन्तु योगों की संख्या १ से लेकर १५ तक हो सकती है।

६ से १३ गुणस्थान तक की श्रेणी पार करना

छठा गुणस्थान है--'अप्रमत्तसंयत', इसमें साधक पांच महाव्रत अहिंसा आदि का पालन करते हुए अपने भावों को विशुद्ध से विशुद्धतर बनाता जाता है। यद्यपि इसमें संकल्पों को रोकने वाली, प्रत्याख्याना-

वरण कषाय का अभाव होने से पूर्व संयम तो हो जाता है किन्तु संज्वलन आदि कषायों के उदय से संयम में दोष उत्पन्न करने वाले प्रमाद के होने से इसे प्रमत्तसंयत कहते हैं ।[1]

इस गुणस्थान में साधक साधना की उत्कृष्ट अवस्था में पहुंचने के कारण चौदह पूर्व का धारी तो बनता ही है और साथ ही उसे आहार-कलब्ध की भी प्राप्ति हो जाती है ।[2]

छठे प्रमत्तसंयत और सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में इतना ही अन्तर है कि छठे गुणस्थान में प्रमादयुक्त होने से साधना में अतिचार-आदि दोष लगने की सम्भावना रहती है जबकि सातवें गुणस्थान में अंशमात्र भी प्रमाद नहीं रह जाता है। इसीलिए इसका नाम भी अप्रमत्तसंयन है। ये दोनों गुणस्थान एक समय में नहीं होते, किन्तु गति सूचक यन्त्र की सुई की भांति अस्थिर रहते हैं अर्थात् कभी सातवें से छठा और कभी छठे से सातवां गुणस्थान क्रमशः होते रहते हैं ।[3]

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की समय स्थिति जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। उसके बाद वे अप्रमत्त मुनि या तो आठवें गुणस्थान में पहुंचकर उपशम क्षपक श्रेणी में हैं याकि फिर छठे गुणस्थान में ही रहते हैं ।[4]

इस छठे और सातवें गुणस्थान के स्पर्श से जो साधक विशेष प्रकार की विशुद्धि प्राप्त करके उपशम या क्षपकश्रेणी में पहुंचता है, उसे अपूर्वकरण या निवृत्तिबादर नामक आठवां गुणस्थान कहा जाता है, क्योंकि इसमें अप्रमत्तसाधक की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्यख्यानावरण और सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन बादर कषायों की निवृत्ति हो जाती है।

यद्यपि उपशम और क्षपक श्रेणियों का प्रारम्भ नौवे गुणस्थान में होता है फिर भी उनकी आधार शिला इसी आठवें गुणस्थान निवृत्ति-

१. दे० कर्मग्रंथ, भाग-२, पृ० २६
२. वही, पृ० २७
३. वही, पृ० २८
४, वही,

बादर में ही रखी जाती है।[1]

नौवां गुणस्थान है—अनिवृत्तिबादर। इससे बादर (स्थूल) संपराय (कषाय) उदय में होता है क्योंकि इसमें जितने समय होते हैं, उतने ही परिणाम होते हैं। एक समय में एक ही परिणाम होता है। अतएव इसमें भिन्न समयवर्ती परिणामों में विसादृश्य और एक समयवर्ती परिणामों में सादृश्य होता है। इन परिणामों के द्वारा कर्मक्षय हो जाता है।[2]

इस गुणस्थान में सूक्ष्मकषाय और उनमें भी संज्वलन लोभ के सूक्ष्म लोभ की ही अनुभूति साधक को होती है। इसका वेदन करने वाला चाहे उपशमश्रेणी वाला हो, अथवा क्षपकश्रेणी वाला, वह यथाख्यातचारित्र के अत्यन्त निकट होता है।[3]

सम्पूर्ण मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले साधक के निर्मलपरिणामों को उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवां गुणस्थान बतलाते हैं। जैसे कीचड़युक्त जल में निर्मली डालने से कीचड़ नीचे बैठ जाता है और ऊपर स्वच्छ जल रह जाता है अथवा शरद ऋतु में निर्मल हुए सरोवर के जल की तरह इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म के उदयरूप कीचड़ का उपशम तथा ज्ञानावरण का उदय होने से इस गुणस्थान का यथार्थ नाम उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ है।[4]

---

१. दे० कर्मग्रंथ, भाग-२, पृ० २८

२. णणिवट्टंति तहावि य परिणामेहि मिहोजेहिं।
होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेकपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिंणिद्दड्ढकम्मवणा॥ गो० जीवकाण्ड, गा० ५६-५७ तथा मिला० कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० ३३

३. अणुलोहंवेदतो जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहमसापराओ, जहखादेणूणओ किंचि॥ गो० जीवकाण्ड, गा० ६०
तथा मिला०—कर्मग्रंथ, भाग-२, पृ० ३५

४. कदकफलं जुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसतमोहो उवसंतकसायओ होदि॥ गो० जीवकाण्ड, गा० ६१
तथा—कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० ३६

जब साधक सूक्ष्मकषाय को भी साधना के द्वारा क्षय कर देता है तब वह बारहवें गुणस्थान क्षीणकषाय में पहुंच जाता है।[1] ज्योंहि साधक सम्पूर्ण कषाय को नष्ट कर चार घातिकर्मों को भी नष्ट कर देता है, तब वह उसी समय तेरहवें गुणस्थान सयोगीकेवली में पहुंच जाता है[2] और संसारचक्र से सदा-सदा के लिए छूट जाता है। यही उसका निर्वाण व मुक्तिलाभ है।

१. गो०, जीवकाण्ड, गा० ६२ तथा कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० ३९-४०

२. गो०, जीवकाण्ड, गा० ६३ व ६४ तथा कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० ४०, जैनतत्त्वकलिका, पृ० २०२

परिच्छेद—पंचम

योगबिन्दु एवं तत्त्वविश्लेषण

जब आत्मा की खोज होने लगी, तब यह कहा जाने लगा कि अन्नमय आत्मा जिसे शरीर भी कहा जाता है, रथ के समान है, उसे चलाने वाला रथी ही वास्तविक आत्मा है।[1] आत्मा प्राण का भी प्राण है।[2] जैसे मनुष्य की छाया का आधार स्वयं मनुष्य ही है, उसी प्रकार प्राण भी आत्मा पर अवलम्बित है।[3] विश्व का आधार भी प्राण ही है[4] और वह देवों का भी देव है।[5] आत्मा को प्रज्ञा और प्रज्ञान[6] और उसे ही विज्ञान भी बतलाया गया है।[7]

वैदिक दार्शनिकों ने आत्मा को आनन्दमय स्वीकार किया है[8] किन्तु इन दार्शनिकों के विचारों और मतों में भी निरन्तर परिष्कार होता गया और उन्होंने कहा कि आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप और अन्तर्यामी है।[9] वही द्रष्टा श्रोता और विज्ञाता है।[10] आत्मा ही चिन्मात्र सूर्य के प्रकाशरूप और ज्योतिमय है।[11]

इसके अतिरिक्त आत्मा को उन्होंने अजर अमर, अक्षर, अमृत

---

१. दे० छान्दोग्योपनिषद् का सार, हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग-२, पृ० १३१
२. केनोपनिषद्, १.४.६
३. प्रश्नोपनिषद्, ३.३
४. छान्दोग्य-उपनिषद्, ३.१५
५. बृहदारण्यक-उपनिषद्, १.५.२२-२३
६. ऐतरेय-उपनिषद्, ३.३
७. वही, ३,२
८. तैत्तिरीय-उपनिषद्, २.५
९. बृहदारण्यक-उपनिषद् ३.७.२२ तथा ४.५.१३
१०. वही, ३७,२३ व ३.८.११
११. मैत्रेय्युपनिषद्, ३.१६-२१

अव्यय, नित्य, ध्रुव और शाश्वत भी माना है।[1]

भगवान् बुद्ध ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान, चक्षु आदि इन्द्रियां, उनके विषय और ज्ञान, मन, मानसिकधर्म और मनोविज्ञान इन सब पर एक-एक करके विचार किया और सब को अनित्य और अनात्म की संज्ञा दी है। वे श्रोताओं को कहते हैं कि आत्मा जैसी कोई वस्तु ढूंढने पर भी नहीं मिल सकती।[2] अतः आत्मा नहीं है।

भगवान् बुद्ध ने रूपादि सभी वस्तुओं को जन्य माना है और यह व्याप्ति बनाई हैं कि जो जन्य है, उसका निरोध आवश्यक है।[3] अतः बौद्धमत में अनादि अनन्त आत्मतत्त्व का कोई स्थान नहीं है।

बुद्ध केवल इतना ही प्रतिपादित करते हैं कि प्रथम चित्त था। इसीलिए दूसरा उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होने वाला वही नहीं है और उससे भिन्न भी नहीं है, किन्तु वह उसकी धारा में ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बुद्ध का उपदेश था कि जन्म जरा, मरण आदि किसी स्थायी ध्रुव जीव के नहीं होते किन्तु वे सब अमुक कारणों से उत्पन्न होते हैं।

इतना होते हुए भी बुद्धमत की दृष्टि में जन्म, जरा, मरण इन सबका अस्तित्व तो है परन्तु बौद्ध यह स्वीकार नहीं करते कि इन सब का स्थायी आधार भी है।[4] तात्पर्य यह है कि बुद्ध को जहां चार्वाक का देहात्मवाद अमान्य है वहीं उपनिषद् सम्मत सर्वान्तर्यामी नित्य, ध्रुव, शाश्वत-स्वरूप आत्मा भी स्वीकार्य नहीं है।

(क) जैन दर्शन में आत्मा

जैन दर्शन द्वैतवादी है। वह जीव और अजीव ये दो प्रमुख तत्त्व मानता है। अजीव जड़तत्त्व है जबकि जीव चैतन्य। जैन जीव को

---

१. कठोपनिषद्. ३.२, बृहदा० ४.४.२०, श्वेता० १.६ इत्यादि
२. संयुक्तनिकाय १२.७० तथा ३२-३७
दीर्घनिकाय, महनिदान सुत्त १५, एवं विनयपिटक, महावग्ग १.६.३८-४६
३. यंकिंचि समुदयधम्मं सव्वं तं निरोधधम्मं। महावग्ग १.६.२९
सब्बे सङ्खारा अनिच्चा, दुक्खा, अनत्ता॥ अंगुत्तर निकाय तिकनिपात १३४
४. संयुत्तनिकाय १२-३६, अंगुत्तर निकाय, ३; विशुद्धिमग्ग, १७.१६१-१७४

आत्मा भी कहते हैं। इसके अनुसार जीव, आत्मा, चेतना और चैतन्य ये सभी एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं।

जीव के विषय में कहा गया है कि आयुष्कर्म के योग से जो जीते हैं एवं जीवेंगे उन्हें 'जीव' कहा जाता है।[1] दूसरे प्रकार से जो प्राणों के आधार पर जिए हैं, जी रहे हैं और जीएंगे, उन्हें जीव कहा जाता है। प्राण के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव प्राण। बल, इन्द्रिय, आयुष्य और श्वासोच्छ्वास 'द्रव्यप्राण' कहे जाते हैं जबकि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग 'भावप्राण' माने जाते हैं।[2]

जैन दर्शन में जीव का लक्षण 'उपयोग' (चेतना व्यापार) किया गया है।[3]

आत्मा अनेक शक्तियों का पुञ्ज है, उनमें प्रमुख शक्तियां हैं—ज्ञानशक्ति, वीर्यशक्ति, संकल्पशक्ति आदि।[4] दूसरे शब्दों में इन्हें उपयोग कहा जाता है—**द्रव्यं कषाययोगावुपयोगो ज्ञानदर्शने चेति**।[5] जीव स्वरूपतः अनादि निधन, अविनाशी और अक्षय है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से उसका स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता, तीनों कालों में एक समान रहता है, इसलिए वह नित्य है किन्तु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता रहता है। अतः अनित्य है। जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक आभूषण बनते हैं। मूल रूप में फिर भी वह

---

१. जीवः प्राणधारणे अजीवन् जीवन्ति जीविष्यन्ति आयुर्योगेनेति निरुक्तवशाद्-जीवाः। जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। प्रशमरति, भाग-२, पृ० १

२. पाणेहि चदुहि जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो, पाणा पुण बलमिंदियमाऊ-उस्सासो॥ पंचास्तिकाय, गा० ३०

३. जीवो उवओगलक्खणो। उत्तरा० २८.१०
तथा—उपयोगो जीवस्य लक्षणम्॥ तत्त्वार्थसूत्र २.८
सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्। प्रशमरति, भाग-२, श्लोक १९४

४. नाणं च दसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवयोगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥ उत्तरा० २८.११

५. दे० प्रशमरति, भाग २, श्लोक १९९

सोना ही रहता है, केवल उसके नाम और रूप में अन्तर पड़ जाता है, वैसे ही चार गतियों और चौरासी लाख जीव योनियों में भ्रमण करते हुए आत्मा की पर्यायें बदलती रहती हैं। उसके नाम और रूप परिवर्तित होते हैं, किन्तु जीवद्रव्य सदैव वैसा का वैसा ही रहता है।[1]

आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है, वह अमूर्त है और अरूपी सत्ता वाला है।[2] अमूर्त होने के कारण वह इन्द्रियों और मन के द्वारा नहीं जाना जा सकता।[3] अतः अतीन्द्रिय है।

आत्मा का कर्तृत्व

जैन दर्शनानुसार मानव जीवन में जो सुख-दुःख, ऊंच-नीच, छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब की जो विचित्रता दिखाई देती है। उसका कारण कोई अन्य शक्ति न होकर स्वयं मानव शरीर में विद्यमान उसका आत्मा ही है। अपने पूर्वजन्म में आत्मा जैसे-जैसे कर्म करता है, वैसे-वैसे ही परिणामों का यहां उसे भुगतान भी करना पड़ता है। कर्मों से बन्धा जीव अमूर्त होते हुए भी मूर्त शरीर को धारण करके[4] अन्य सुख-दुःख आदि को भोगता है। कर्मों से बन्धा हुआ यह आत्मा ही वेतरणी नदी का रूप लेता है और यही कूटशाल्मलीवृक्ष भी होता है। आत्मा ही कामदुहा धेनु है और नन्दनवन भी यही आत्मा है।[5]

अतः जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का जितना सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। इसके प्रमाण के रूप में जैन दर्शन में उपलब्ध विपुल कर्मसिद्धान्त साहित्य को देखा जा

---

१. दे० जैनतत्त्वकलिका. आत्मवाद, पृ० ११६

२. दे० आचारांगसूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अ० ५, ३, ६ सूत्र ५६३-६६

३. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावाविय होइ निच्चं। उत्तरा० १४.१६

४. (क) कम्मुणा उवाही जायइ। आचारांगसूम १.३.१

(ख) एको दरिद्रो एकोहि श्रीमानिति च कर्मणः॥ पंचाध्यायी, २.५०

(ग) कम्मओ णं भन्ते। जीवे नो अकम्मओ विमुत्तिभावं परिणमई॥ भगवतीसूत्र १२.१२०

(घ) अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥ उत्तरा० २०.३७

५. अप्पा नईवेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणु, अप्पा मे नन्दनं वणं॥ उत्तरा० २०,३६

सकता है।[1] सूत्रकृतांगसूत्र में बताया गया है कि जीव पूर्वजन्म में जैसा कर्म करता है वैसा ही फल उसे मिलता है।[2]

इसके अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति किसी को सुख-दुःख देने वाला नहीं है। कर्मों के कारण ही आत्मा अतिमूढ़, दुःखित और अत्यन्त वेदना से युक्त मनुष्येतर योनियों में जन्म लेकर पुनः-पुनः पीड़ित होता है।[3] विविध प्रकार के कर्मों को करके नानाविध जातियों में उत्पन्न होकर पृथक्-पृथक् रूप में प्रत्येक संसारी जीव समस्त विश्व को स्पर्श कर लेता है।[4]

अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण ही जीव कभी देवलोक में देव, तो कभी नरक में नारकी, कभी असुरयोनि में असुर तथा कभी तिर्यग्योनि में पशु-पक्षी बन जाता है।[5] जैसे चिरकाल तक भौतिक पदार्थों का भोग करके भी क्षत्रिय लोग भोगों से विरक्त नहीं होते, वैसे ही कर्मों से बद्ध जीव विविध योनि में भ्रमण करता हुआ भी उनसे मुक्ति की इच्छा नहीं करता।[6]

इस तरह कर्मबद्ध यह आत्मा ही अपने को कर्त्ता समझती है। उसके कर्मबन्ध का कारण भी राग और द्वेष ही है।[7] राग-द्वेष से मोह उत्पन्न होता है और मोह से कषाय उत्पन्न होती है। अतः प्रकारान्तर से मोह[8] भी कर्मबन्ध का कारण माना गया है और कषाय[9] भी।

---

१. कर्मग्रन्थ, कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह, सप्ततिका, महाकर्म, प्रकृतिप्राभृत, षट्खण्डागम आदि प्रमुखरूप से द्रष्टव्य हैं।

२. जं जारिसं पुव्वमकासिकम्मं तमेव आगच्छति संपराए। सूत्रकृतांगसूत्र ५.२.२३

३. कम्मसंगेहि सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो॥ उत्तरा० ३.६

४. समावन्नाण संसारे नाणा गोत्तासु जाइसु।
कम्मानाणा विहा कट्टु पुढो विस्संभिया पया॥ वही, ३.२

५. एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहि गच्छई॥ वही, ३.३

६. उत्तरा० ३.२

७. रागो य दोसो वियकम्मबीयं। वही, ३२.७

८. कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति। वही,

९. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते। तत्त्वार्थसूत्र ८.२

आत्मा का भोक्तृत्व

जो आत्मा कर्म करता है वही उनका भोग भी कर्ता है, जैसे सेंध लगाता हुआ, पकड़ा गया चोर अपने कृतकर्मों के फलानुसार दण्ड को भोगता है। इसी प्रकार जीव भी अपने कृतकर्मों के कारण लोक तथा परलोक में विविध प्रकार से सुख-दुःख पाता है। किए हुए कर्मों को भोगे बिना उसका छुटकारा नहीं होता।[1] आत्मा स्वयं अकेला ही कृतकर्मों के सुख-दुःख रूप फल को भोगता है क्योंकि कर्म कर्त्ता के ही पीछे चलता है।[2] इन प्रमाणों के आधार पर यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि आत्मा ही कर्मों का भोक्ता है, किन्तु जैसे उपनिषदों में जीवात्मा को कर्त्ता और भोक्ता मानकर भी परमात्मा को दोनों से रहित माना गया है, वैसे ही जैनदर्शन में जीव के कर्म कर्तृत्व और भोक्तृत्व को व्यावहारिक दृष्टि से ही माना गया है। निश्चय दृष्टि से तो जीव कर्म का कर्ता भी नहीं है तो फिर वह भोक्ता कैसा होगा ?[3]

जैनदर्शन व्यवहार और निश्चय इन दो दृष्टियों से ही किसी भी पदार्थ का निर्णय करता है। व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा कर्मों का कर्त्ता है, कारण कि व्यवहार में आत्मा का कर्तृत्व स्पष्ट प्रकट है। फिर भी व्यवहार में उसे कर्मों का कर्त्ता तभी तक माना जाता है, जब तक वह कषाय और योग से युक्त है किन्तु जब वही अकषायी और अयोगी हो जाता है तब वही आत्मा अकर्ता भी होता है।

तत्त्वज्ञ आत्मा

जो आत्मा नौ तत्त्वों को जानता है और उनपर श्रद्धा करता है, वही तत्त्वज्ञ कहलाता है, उसे जैनदर्शन में बुद्ध[4] और सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इसे ही ज्ञानी आत्मा भी कहा जाता है।[5] बौद्धदर्शन में इसे

---

१. तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ॥ उत्तरा०, ४.३

२. एक्को सयं पच्चणु होई दुःखं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं। वही, १३,२३

३. परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पिय परं अकुव्वनो।
सोणाणमओ जीओ कम्माणमकारओ होदि ॥ समयसार, गा० ९३

४. बुद्धे परिनिव्वुडे चरे। उत्तरा० १०.३६

५. ज्ञानसम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम्।
चारित्रं विरतानां तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥ प्रशमरति भा०, २, श्लोक २०१

बोधिसत्त्व कहा गया है। सम्यक्दृष्टि और बोधिसत्व में तात्त्विक रूप से कोई अन्तर नहीं होता।

परोपकार में हार्दिक अभिरुचि, प्रवृत्ति में बुद्धिमत्ता, विवेकशीलता, धर्ममार्ग का अनुसरण, भावों में उदात्तता, उदारता तथा गुणों में अनुराग ये सब बोधिसत्त्व तथा सम्यग्दृष्टि में समानरूप से पाए जाते हैं।[1] सम्यग्दर्शन और बोधि वास्तव में एक ही वस्तु है। बोधिसत्त्व वही पुरुष होता है, जो बोधि से युक्त हो तथा कल्याण पथ पर सम्यग्गतिशील हो। सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही होता है।[2] दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।

करुणा आदि गुणों से युक्त, परहित साधन में विशेष अभिरुचि, सदाचारी, प्रज्ञावान्, उत्तरोत्तर विकास पथ पर अग्रसर आध्यात्मिक गुणों से युक्त सत्पुरुष यत्नशील रहता है।[3] जो उत्तमबोधि से युक्त है, भव्यत्व के कारण अपनी उद्दिष्ट मोक्ष यात्रा में आगे चलकर तीर्थङ्कर पद प्राप्त करने वाला है, वह बोधिसत्त्व है।[4] सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही होता है।

चारित्र के बिना सम्यक्त्व तो हो सकता है, किन्तु सम्यक्त्व के बिना न तो ज्ञान और न चारित्र ही हो सकता है। अतः चारित्र से पूर्व सम्यक्त्व होना आवश्यक है।[5] इसी कारण से मोक्षमार्ग का कथन करते हुए आचार्य ने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का ही उल्लेख किया है।[6]

सर्वज्ञ आत्मा

जैनदर्शन में सर्वज्ञ के लिए केवली शब्द का प्रयोग हुआ है। केवली

---

१. परार्थरसिको धीमान् मार्गगामी महाशयः।
गुणरागी तथेत्यादि सर्वं तुल्यं द्वयोरपि॥ योगबिन्दु, श्लोक २७२

२, वही, श्लोक २७३

३. योगबिन्दु, श्लोक २८७

४. वही, श्लोक २७४

५. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं॥ उत्तरा० २८,२९
नादंसणिस्स नाणं नाणेण विना न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥ वही, २८.३०

६. सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्ष मार्गः। तत्त्वार्थसूत्र १.१

अथवा सर्वज्ञ वही होता है, जो साधक १२वें गुणस्थान में पहुंचकर अन्तर्मुहूर्तकाल में ही एक विविध प्रकार के कर्मावरण (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय) को क्षय करके[1] शाश्वत निरतिशय, अनुपम, अनुत्तर, निरवशेष, सम्पूर्ण वस्तुओं को जानने के कारण भूत, वर्तमान और भविष्यत्काल के द्रव्य-गुण और पर्यायों को सभी प्रकार से देखता है।[2] यही सर्वज्ञ है और यही केवली भी है।

केवली (सर्वज्ञ) केवलज्ञानरूपी नेत्र से अतीन्द्रिय-इन्द्रियों द्वारा अगम्य पदार्थों को साक्षात् देखते हुए धर्मोपदेश करने में प्रवृत्त होते हैं, जिसके लिए वे अधिकृत भी हैं।[3] ऐसे निर्मम, निरहंकारी, वीतरागी तथा अनास्रवी मुनि केवलज्ञान को प्राप्त कर शाश्वत परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं।[4]

चैतन्य आत्मा का स्वरूप भी यही है। वह ज्ञान से पृथक् नहीं। इसलिए सर्वज्ञत्व मुक्तावस्था से पूर्व तथा पश्चात् दोनों ही स्थितियों में होता है। आत्मा का स्वभाव ही है—स्वस्वरूप में प्रगटना या अवस्थित होना।[5] **योगदर्शन** के अनुसार पुरुष के कार्य का सम्पादन कर चुकने पर निष्प्रयोजन हुए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना और चितिशक्ति का अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाना कैवल्य है, जिसकी प्राप्ति का

---

१. छद्मस्थवीतरागः कालं सोऽन्तर्मुहूर्तमथ भूत्वा।
युगपद्विविधावरणान्तरायकर्मक्षयमवाप्य। प्रशमरति, भाग-२, श्लोक २६८

२. शाश्वतमनन्तमनतिशयमनुत्तरनिरवशेषम्।
सम्पूर्णमप्रतिहतं सम्प्राप्तः केवलज्ञानम्॥
कृत्स्ने लोकालोके व्यतीतः साम्प्रतं भविष्यतः कालान्।
द्रव्यगुणपर्यायाणां ज्ञाताद्रष्टा च सर्वार्थैः॥ वही, २६९-७०
तथा मिला०—मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।
तत्त्वार्थ० १०.१

३. साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा।
अधिकारवशात् कश्चित् देशनायां प्रवर्तते॥ यो० बि०, श्लोक ४२५

४. निम्ममो निरहंकारो वीयरागो अणासवो।
सम्पत्तो केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए॥ उत्तरा०, ३५.२१

५. चैतन्यमात्मनो रूपं न च तज्ज्ञानतः पृथक्।
युक्तितो युज्यतेऽन्ये तु ततः केवलमाश्रिता॥ यो० बि० श्लोक ४२८

अनन्यतम साधन विशुद्ध विवेकज्ञान है।[1]

जैनदर्शन में साधक की यह अवस्था आठवें गुणस्थान के द्वितीय चरण से प्रारम्भ होती है जिसमें साधक क्षपकश्रेणी द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट करके पूर्णकर्म सन्यासयोग प्राप्त करता है और बिना किसी बाधा के केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।[2]

(ख) **आत्मा एवं कर्म**

सामान्य लोगों में विभिन्न व्यवसायों, कार्यों या व्यवहारों के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग होता है। खाना-पीना आदि जितने भी दैनिक जीवन के कार्य हैं उनके लिए भी कर्म शब्द प्रयुक्त होता है। नैयायिकों ने उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि सांकेतिक कर्मों के लिए इसका व्यवहार किया है।

पौराणिक लोग व्रत आदि धार्मिक क्रियाओं को, कर्मकाण्डी मीमांसक यज्ञयाग आदि को, स्मृतिकार विद्वान् चार आश्रम और चार वर्णों के नियत कार्यों को कर्म रूप में मानते हैं। जबकि कुछ दार्शनिक संस्कार, आशय, अदृष्ट और वासना आदि अर्थों में इसका प्रयोग करते हैं।[3]

जैनदर्शन में कर्म शब्द इन सबसे विलक्षण एवं विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो मनोविज्ञान सम्मत भी है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है, उसे तथा उसके निमित्त से जो कर्म योग्य पुद्गल द्रव्य अपने आत्म प्रदेशों के साथ मिला लिया जाता है, उस आत्म सम्बद्ध पुद्गल द्रव्य को कर्म कहते हैं।[4]

---

१. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यं।
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तेरिति ॥ यो० द०, ४.३४
तथा —विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। वही, २.२६

२. द्वितीयाऽपूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते।
केवलश्रीस्ततश्चास्य निःसपत्नासदोदया ॥ योगदृ० समु०, श्लोक १७७

३. दे० जैनतत्त्वकलिका, पृ० १५५

४. कीरइजिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥ कर्मग्रंथ, भाग-१ गा १

अष्ट मूल कर्म

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय को मिलाकर ये आठ मूल कर्म होते हैं ।[1] जो कर्म आत्मा के ज्ञानगुण और दर्शनगुण को आवृत अथवा ढक लेते हैं । उन्हें क्रमशः ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं । ऐसे ही जिस कर्म से आत्मा सुख-दुःख की अनुभूति करता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं । जिस कर्म से आत्मा में सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति (मोह) उत्पन्न होती है वह मोहनीय कर्म है । आत्मा विभिन्न योनियों में रहने की आयु का बन्ध जिससे करता है, उसे ही आयुः कर्म विशेष कहते हैं । जिस कर्म से आत्मा शुभ-अशुभ अथवा मान अपमान को प्राप्त करता है । वह नामकर्म तथा जिससे आत्मा ऊंच-नीच कुल अथवा गोत्र में जन्म लेता है उसे गोत्रकर्म कहते हैं । आत्मा के दान-भोग आदि कार्यों में जो बाधा अथवा रुकावट उत्पन्न करता है, उसे ही अन्तरायकर्म कहते हैं ।[2]

कर्म यद्यपि पुद्गलात्मक होने से जड़ और मूर्त है; फिर भी चेतन आत्मा के सान्निध्य में आने से जैसे साइकिल आदि वाहन मनुष्य के सम्पर्क से गतिशील होते हैं वैसे ही ये चेतन की भांति कार्य करते हैं ।

मूर्तकर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध

जैसे मूर्त घट का अमूर्त आकाश से सम्बन्ध होता है वैसे ही मूर्तकर्म का अमूर्त आत्मा से संयोग होता है[3] किन्तु आत्मा एकान्तरूप से अमूर्त नहीं, वह मूर्त भी है । जैसे अग्नि और लोहे का सम्बन्ध होने पर लोहा अग्निरूप हो जाता है वैसे ही संसारी जीव तथा कर्म का अनादि काल से सम्बन्ध होने के कारण जीव भी कर्म के परिणामरूप हो जाता है । अतः वह उस रूप में मूर्त भी है ।

---

१. नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा ।
वेयाणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥
नामकम्मं च गोयं च अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइ अट्ठेव उ समासओ ॥ उत्तरा० सू० ३३.२-४

२. दे० जैनतत्त्वकलिका, पृ० १६५

३. मुत्तस्सामत्तिमत्ता जीवेण कथं हवेज्ज संबंधो ।
सोम्मघडस्स व णभसा जधं वा दव्वस्स किरियाए ॥
गणधरवाद गा० १६३५

इस प्रकार मूर्त कर्म से कथंचित् अभिन्न होने के कारण जीव भी कथंचित् मूर्त हो जाता है। इसलिए अमूर्त आत्मा से मूर्तकर्म का सम्बन्ध होने में कोई भी बाधा अथवा आपत्ति नहीं है। जैनदर्शन के अनेकान्तवाद सिद्धान्त के अनुसार संसारी आत्मा चेतन तथा मूर्तामूर्त है। अतः उस पर मूर्त कर्म का प्रमुख होना स्वाभाविक है।[1]

आत्मा और कर्म का अनादि सान्त सम्बन्ध

कर्म प्रवाह अनादिकालीन होने से संसारी जीव अनादिकाल से कर्म-परमाणुओं से बन्धा हुआ चला आ रहा है। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की बीजांकुर-सन्तति अनादि है वैसे ही देह से कर्म और कर्म से देह सन्तति अनादि है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध भी है। जिनका परस्पर कार्य-कारण भाव होता है, उनकी सन्तति भी अनादि होती है।[2] इसे जैन आगमों में बलाका और अण्डे से समझाया गया है, जैसे अण्डे से बलाका और बलाका से अण्डा उत्पन्न होता है[3] कारण कि इनका सम्बन्ध अनादि है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि स्वीकार किया गया है।[4]

---

१. मुत्तेणामुत्तिमतो उवघाताणुग्गहा कधं होज्ज।
जह विण्णाणादीणं मदिरापाणोसधादीहिं॥ गणधरवाद, गा० १६३७-३८
तथा निरा०—जीवपरिणामहेदुं कम्मत्त पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मनिमित्तं जीवो वि तहेव परिणमई॥ प्रवचन-सारवृत्ति, ४५५
जम्हाकम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे-णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि।
मुत्तो फासदिमुत्तं मुत्तो मुत्तेण बन्धमणुहवदि।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहिदत तेहिं उग्गहदि॥ पंचास्तिकाय, गा० १४१-४२

२. देहस्स नत्थि गाणा ... ...विरुद्धमितं।
सव्वाभावे विणसो घेप्पति किं खरविसाणस्य॥ गणधरवाद, गा० १६३९

३. जहा य अण्डप्पभवा बलागा, अण्डं बलागप्पभवं जहा य। उत्तरा०सू०, अ० ३२.६

४. यथाऽनादिः सजीवात्मा, यथाऽनादिश्च पुद्गलः।
द्वयो बन्धोऽप्यनादि स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः। पंचाध्यायी, २.३५

कर्म और आत्मा का यह सम्बन्ध अनादि और सान्त है, क्योंकि इन दोनों के आदि का तो पता नहीं किन्तु इनका सम्बन्ध विच्छेद जरूर होता है। आत्मा उग्र, तप, त्याग, वैराग्य, संयम, ज्ञान-दर्शन और चारित्र को आराधना से उपलब्ध प्रबल ज्ञानशक्ति को परास्त कर देता है[1] अथवा आत्मा की प्रबल शक्ति के सामने कर्मशक्ति एक क्षण भी स्थिर नहीं रह पाती। यदि कर्मशक्ति पर आत्मशक्ति की जोत न मानी जाए तब तो तप त्यागमय साधना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

कर्म का कर्तृत्व और अकर्तृत्व

कर्म के बिना जीव कर्तृत्व रहित है, ठीक वैसे ही जैसे मदिरा जब तक बोतल में बन्द होती है, उसका कोई प्रभाव नहीं होता, किन्तु जैसे ही उसका प्रयोग किया जाता है, तो फिर उसका प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है। ऐसे ही कर्म में कर्तृत्व अथवा अकर्तृत्व कुछ भी नहीं होता है। वास्तव में तो आत्मा कथंचिद् कर्ता और कथंचित् अकर्त्ता है।

(ग) कर्म एवं लेश्या

लेश्या का कर्मों के साथ अपरिहार्य सम्बन्ध है। संसार में जितने भी प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, वे सभी रूप-रंग और आचार-विचारों में एक जैसे नहीं हैं। इसका कारण कर्म-वैचित्र्य को ही माना गया है। इस कर्म-वैचित्र्य को केवल जैन-बौद्ध[2] ही स्वीकार नहीं करते, बल्कि हिन्दू-धर्म[3] में भी लेश्यागत कर्म-वैचित्र्य की बहुल चर्चा की गई है।

कर्मगत आत्म परिणामी लेश्या

प्राणी जैसे-जैसे चिन्तन मनन अथवा विचार करता है, उनका

---

१. खवित्तापुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो॥ उत्तरा० २५.४५

२. अभिधर्मकोश, २.५९-६०, पर भाष्य

३. षड्जीववर्णा परमं प्रमाणं कृष्णः धूम्रो नील यथास्यमध्यम्॥
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम्॥
महाभारत, शान्ति पर्व, २८०.३३

वैसा-वैसा ही वर्ण और पुद्गल का आकर्षण होता जाता है। मन के विचारों में जो चंचल लहरियां होती हैं वे पुद्गलों से सम्मिश्रित होती हैं। इस कारण वैचारिक समूह पुद्गलरूप होता है। जैसे स्फटिक स्वस्वरूप से उज्ज्वल होता है परन्तु उसके समीप में जिस वर्ण की वस्तु रख दी जाती है, वह स्फटिक भी उसी वर्ण का प्रतिभाषित होने लगता है। ऐसे ही आत्मा स्फटिक के समान उज्ज्वल और निर्मल है। उसके पास जिस वर्ण के परिणाम होगें वह आत्मा भी उसी वर्ण वाला प्रतिभाषित होने लगेगा। इस प्रकार लेश्या कर्मगत आत्मपरिणामी है।

लेश्या कर्मश्लेष के कारणभूत शुभाशुभ परिणाम वाली होने पर भी आचार्यों ने उसको भिन्न-भिन्न अर्थों-अध्यवसाय[1], अन्तःकरण[2] की वृत्ति, तेज[3] दीप्ति[4], ज्योति[5], किरण[6], देहसौन्दर्य[7], ज्वाला[8], सुख[9] एवं वर्ण[10] में प्रयोग किया है। कुछ एक आधुनिक विद्वान् लेश्या का अर्थ मनोवृत्ति, विचार अथवा तरंग भी करते हैं।[11] लेश्या 'लिश्' धातु में यत् और टाप् (स्त्री लिंग) प्रत्यय लगकर बना है, जिसका मूल अर्थ-जाना, सरकना, छोटा होना[12] और पकड़ना[13] आदि है।

जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होता है वह लेश्या—**लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या।**[14] योग परिणाम को भी

१-२. दे० अभिधान राजेन्द्र, पृ० ६७४

३-४. दे० पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ९०५

५. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ९६७

६-७. पाइसद्दमहण्णवो, पृ० ९०५

८. वही, पृ० ७२६

९. दे० भगवतीसूत्र, १४.९.१०-१२

१०. वही, १४.९.१०-१२

११. दे० (मुनि सुशील कुमार), जैनधर्म, पृ० १२२

१२. (मैकडानल), संस्कृत अंग्रेजी कोष

१३. (मोनियर विलियम) संस्कृत-अंग्रेजी कोष

१४. दे० प्रशमरति, भाग १, परिशिष्ट, पृ० २२५ पर उद्धृत तथा
मिला०-स्थानाङ्गसूत्र, ७५ पर टीका

आचार्यों ने लेश्या बतलाया है।[1] उनका कहना है कि काले-नीले इत्यादि द्रव्यों के सान्निध्य से उत्पन्न हुए जीव का जो परिणाम है, वही लेश्या है।[2] जीव जिसके द्वारा अपने को पुण्य-पाप में लिप्त करे उसी का नाम लेश्या बतलाया गया है।[3] आचार्य नमिचन्द्र चक्रवर्ती गोम्मट्टसार में लेश्या को कषाय के उदय से रंगी हुई मन-वचन-काय की प्रवृत्ति मानते हैं।[4] इस तरह लेश्या योग से मिश्रित कषाय की प्रवृति मात्र है।

लेश्या का कोई क्रम नहीं, यह शाश्वत भाव है। यह लेश्या लोका-लोक, लोकान्तालोक दृष्टि, ज्ञान एव कर्म आदि की तरह अनादि काल से विद्यमान है और अनन्तकाल तक रहेगी।

भेद-दृष्टि से यह लेश्या द्रव्य और भाव इन दो रूपों में उपलब्ध होती है।[5] श्लेष की तरह इसे तीन भागों में भी बांटा गया है—वर्ण-बन्ध, कर्मबन्ध और स्थितिबन्ध।[6] वर्णभद से लेश्या-कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पदम् और शुक्ल छ प्रकार की बतलायी गई है।[7] इनमें से प्रथम तीन अशुभ और अपवित्र होती हैं तो शेष तीन-पात, पद्म और

---

१. योगपरिणामो लेश्या। स्थानांगसूत्र १.५१ टीका त. ा त<. ा दे॰
भग० १,२,१८ पर टीका

२. कृष्णादिद्रव्यसान्निध्यजनितो जीवपरिणामो लेश्या। भग० १२.३.५
आत्मनः सम्बन्धनी कर्मणो योग्यलेश्याकृष्णादिकाचर्मणो वा लेश्या।
वही, १४.९.१ पर टीका

३. लिम्पइ अप्पो कीरइ एदीए णिय अपुण्णापुण्णं च।
जीयोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा॥ गोम्मट्टसार जीव काण्ड, गा० ४८९

४. जोगपउत्तीलेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होई। वही, गा० ४९०
तथा मिला०—कृष्णायोदयतो योगप्रवृत्तिरूप दर्शिता।
लेश्याजीवस्सकृष्णादि···॥ तत्त्वार्थश्लोक वा० २,६.११
कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या॥ तत्त्वार्थवा० २.६.८
तथा दे० तत्त्वार्थवृत्ति २.६ पर व्याख्या

५. द्विविधालेश्या-द्रव्यलेश्या भावलेश्याभेदात्॥ तत्त्वार्थवृत्ति, २.६

६. श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थिति त्रिविधस्त्रयः। स्थानांगसूत्र १.५१ पर टीका

७. साषडविधा-कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या। तत्त्वार्थवृत्ति, २.६ तथा उत्तराध्ययनसूत्र, ३४.३

शुक्ल, शुभ और प्रशस्त बतलायी गई हैं।[1] इनके वर्ण भी छः होते हैं—काला, नीला, लाल, काला और मिश्रित जैसा लाल, पीला और सफेद।[2]

द्रव्य लेश्या पुद्गल विपाक की शरीर नामकर्म के उदय से होती है।[3] यह अजीव पदार्थ अनन्त प्रदेशी, अष्ट स्पर्शी पुद्गल है। इसकी अनन्त वर्गणाएं होती हैं। इसके द्रव्यार्थिक और प्रादेशिक स्थान अनन्त हैं। यह परस्पर में द्विविध परिणामी-अपरिणामी भी होती है। द्रव्यलेश्या आत्मगत और अजीवोदय निष्पन्न है। गुरु-लघु अज्ञेय है। प्रथम तीन अमनोज्ञ रसवाली और बाद की तीनों मनोज्ञ रसवाली हैं। शीत-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध स्पर्शवाली, अविशुद्ध-विशुद्ध वर्णवाली, स्थूल द्रव्य कषाय मन भाषा से सूक्ष्म-औदारिक शरीर पुद्गलों एवं शब्द पुद्गलों से तैजस एवं वैक्रियिक शरीर भी सूक्ष्म है। इन्द्रियग्राह्य योगात्मा के समकालीन [illegible]ह्य, नौकर्म पुद्गल-रूप पाप-पुण्य बन्ध से परे प्रायोगिक पौद्गलिक [illegible] संस्थान और पारिणामिक-भाव वाली द्रव्य लेश्या होती है।[4] इस तरह यह आत्म भावों मे ग्रहीत नही होती। यह सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से निर्मित [illegible] संरचना है। यह हमारे मनोभावों और तज्जनित कर्मों की सापेक्षरूप में कारण अथवा कार्य बनती है।

मोहनीयकर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम और क्षय से जो जीव के प्रदेशों की चंचलता होती है, वही भावलेश्या है।[5] कषायोदय से रञ्जित योगप्रवृत्तिरूप भावलेश्या औदयिकी कही गयी है।[6] यह जीव परिणामी लेश्या वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित होती है।[7] यह अगुरुलघु

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, गा७ ५६.५७
२. वही, गा० ४-६
३. दे० तत्त्वार्थवार्तिक, २.६
४. दे० (बाठिया) लेश्या कोश
५. वही
६. तत्त्वार्थवार्तिक, २.६ : भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदायिकीत्युच्यते।
७. भावलेस्सं पडुच्च अवण्णा अरसा, अगंधा, अफासा, एवं जाव सुक्कलेस्सा। भगवती, सूत्र १२.३.५

असंख्य संस्थान और जीवोदयनिष्पन्न होती है।[1] यह भावलेश्या आत्मा का अध्यवसाय अथवा अन्तःकरण की प्रवृत्ति है। यह लेश्या सुगति और दुर्गति का हेतु बनती है। अतः लेश्याओं का भाव की अपेक्षा अधिक महत्त्व है।

(१) कृष्ण-लेश्या

आश्रवों में प्रवृत्त, गुप्तियों-मन वचन काय के संयम का जो पूर्णपालन नहीं करते, जो षट्काय के जीवों की हिंसा में रत हैं, ऐसे तीव्र आरम्भ परिणत क्षुद्र, साहसी, निर्दयी, क्रूर और अजितेन्द्रिय पुरुष की कृष्ण लेश्या होती है।[2] कृष्णलेश्या वर्ण से स्निग्ध, अञ्जन और नेत्र की तारिका के समान अत्यन्त काली होती है।[3] रस, गन्ध और स्पर्श की अपेक्षा यह अत्याधिक कड़वी, दुर्गन्धयुक्त और कर्कश होती है।[4] इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक मुहूर्त अधिक तैंतीस सागर की होती है।

(२) नील-लेश्या

जो कदाग्रही, ईर्ष्यालु, मायावी, निर्लज्ज विषयासक्त, द्वेषी, प्रमादी और रस लोलुप हैं, वह नील-लेश्या का धारक होता है।[5] यह नील-लेश्या स्निग्ध वैडूर्यमणि के तुल्य वर्ण वाली होती है। रस में अत्यधिक कटु है। गन्ध एवं स्पर्श में कृष्णलेश्या के समान होती है। इस लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर की होती है।

(३) कापोतलेश्या

कापोतलेश्या का धारक वचन से वक्र, दुराचारी, कपटी, सहृदयता-हीन, अपने दोषों को ढकने वाला परिग्रही, मिथ्यादृष्टि, अनार्य मर्मभेदक,

---

१. दे० लेश्याकोश
२. उत्तराध्ययनसूत्र, ३४.२१-२२
३. वही, ३४.१-४
४. वही, ३४.१८
५. वही, ३४.२४

चोर और स्वयं अपने में जलने वाला होता है।[1] यह रस में अधिक कसैली और वर्ण में कुछ काला और लाल से मिश्रित होती है। रस गन्ध और स्पर्श से यह पहले जैसी ही होती है। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है।[2]

(४) तेजोलेश्या

जो स्वभावतः नम्र, निष्कपट, अचंचल, विनीत, इन्द्रियवशी, स्वाध्याय एवं तप में रत, दृष्टि में ऋजु पापभीरु और हितैषी होता है। उसे ही पौद्गलिक तेजोलेश्या होती है। इस लेश्या का वर्ण दीपक की लौ के समान लाल होता है। यह रस में पके हुए आम के रस की तरह मीठी, पुष्प की तरह सुगन्धित और कोमल स्पर्श वाली होती है।

(५) पद्मलेश्या

जो व्यक्ति प्रसन्नचित है और जिसमें कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ की मात्रा स्वल्प है। जो जितेन्द्रिय एवं अल्प भाषी, योगी है, वह पद्मलेश्या का धारक होता है। रस में यह कसैली और सुगन्धित होती है। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त अधिक तेंतीस सागर की होती है।

(६) शुक्ललेश्या

जो खोटे ध्यान से रहित धर्म्य और शुक्ल ध्यान का धारक है। जिसका चित्त प्रशान्त और इन्द्रियां पूर्ण रूप से वश में है। जो समिति और गुप्ति का धारक सरागी अथवा वीतरागी है उसे शुक्ललेश्या होती है। शुक्ललेश्या का वर्ण शंख के समान श्वेत होता है। यह रस से मीठी और सुगन्ध वाली लेश्या होती है। जघन्य स्थिति इसकी अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट मुहूर्त अधिक तेंतीस सागर की होती है।[3]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, ३४,२५-२६
२. वही, ३४.३६
३. दे० वही, ३४.३१-३२

आचार्य श्रुतसागरसूरि ने इन लेश्याओं को एक दृष्टान्त के द्वारा यों समझाय है—

आम के फल खाने के लिए छः पुरुषों के छह प्रकार के भाव होते हैं इनमें से एक आम खाने के लिए पेड़ को जड़ से उखाड़ना चाहता है। दूसरा पेड़ को पीड़ से काटना चाहता है। तीसरा फलों के लिए डालियां मात्र काटने की इच्छा व्यक्त करता है। चाथा इनमें से फलों के गुच्छों को तोड़ना चाहता है जबकि पांचवा केवल पके-पके फलों को तोड़ने की बात सोचता है। छठा परमतृप्त है। यह नीचे गिरे हुए फलों को खाने की सोचता है। ऐसे ही भाव कृष्ण आदि लेश्याओं के परिणाम वाले जीवों के होते हैं।[1]

स्वर्ग एवं नरक में लेश्या

देवों में क्रमशः पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएं होती हैं। पहले चार स्वर्गों में पीत, पांच से दशवें स्वर्ग तक तीन कल्पयुगलों में पद्म और ग्यारहवें से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के देवों में शुक्ल लेश्या होती है। इस तरह ऊपर-ऊपर के देवों की लेश्या निर्मल होती जाती है।[2]

नारकियों में लेश्या अशुभ-अशुभतर होती है। प्रथम एवं द्वितीय नरक में कापोत, तृतीय वालुका प्रभा में कापोत और नील, पंक प्रभा नामक चौथे नरक में नील लेश्या, पांचवें धूम-प्रभा में नील और कृष्ण, तम प्रभा में कृष्ण तथा सातवें महातम प्रभा में परम कृष्ण लेश्या होती है। यद्यपि ये अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती हैं परन्तु जहां जिस लेश्या के जितने अंश बतलाये गये हैं उन्हीं के अन्तर्गत परिवर्तन होता है। नारकी लेश्या से लेश्यान्तर नहीं होते।

लेश्या और ध्यान

आर्त और रौद्रध्यान में कापोत, नील और कृष्ण ये तीन लेश्याएं होती हैं। रौद्रध्यानी जीव में तीव्र और संक्लिष्ट परिणामी लेश्याएं होती

---

१. उम्मूलखंध साहगुंच्छा चूणिऊण तहय पडिदादो।
जह एदेसिं भावा तहविध लेस्सा मुणेयव्वा॥ पंचसंग्रह १.१९२

२. दे० तत्त्वार्थवार्तिक, ४.२२, पृ० २३७

हैं जबकि आर्त ध्यान में उपगत जीव के लेश्या कम संक्लिष्ट होती है। धर्म्य और शुक्लध्यान में अवशिष्ट शुभ लेश्याएं होतीं हैं किन्तु किसमें कौन लेश्या होती है, यह स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। चौदहवें गुणस्थान में जब जीव अयोगी और अलेशी हो जाता है तब भी उसके शुक्लध्यान का चौथा समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपातीभेद होता है किन्तु यहां उसके कोई लेश्या नहीं होती।

गुणस्थानों में प्रथम से लेकर छठवें गुणस्थान तक छहों लेश्याएं होती हैं किन्तु सप्तम में अन्तिम तीन और आठवें से बारहवें तक एकमात्र शुक्ललेश्या होती है तथा तेरहवें गुणस्थान में भी एकमात्र शुक्ललेश्या पायी जाती है[1] जबकि ११वें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में कषाय का पूर्णतः अभाव हो जाता है फिर भी भूतपूर्व प्रज्ञापननय की अपेक्षा से वहां लेश्या का सद्भाव बना रहता है क्योंकि उक्त गुणस्थानों में जो योगधारा पहले कषाय से अनुरञ्जित थी वही अब भी बह रही है। अतएव उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के शुक्ललेश्या का होना बतलाया गया है। अयोगकेवली के इस प्रकार का कोई योग ही नहीं है। इस कारण वे लेश्यारहित होते हैं।[2]

इस तरह लेश्या और कषाय का प्रगाढ़ सम्बन्ध है और वे सत्त्व के मन में उठने वाले शुभ-अशुभ परिणामों की द्योतक हैं। सत्त्व के जन्म के साथ उनका आविर्भाव होता है और उसी के साथ वे विलय को प्राप्त होती हैं। सत्त्व मृत्यु समय में जिस-जिस प्रकार के विचार करता है उन्हें उस-उस प्रकार की लेश्याएं पुनर्जन्म में प्राप्त होती हैं।

---

१. भगवती सूत्र, २५.७.५१-५२

२. दे० तत्त्वार्थवार्तिक, २.६, पृ० १०६
तथा अत्र कश्चित् उपशान्तकषायक्षीणकषाययोः सयोगकेवलिनि च शुक्ललेश्या वर्तते इति सिद्धान्तवचनमिति तेषां कषायानुरञ्जनभावाभावसद्भावौदायिको भावः कथं घटते। सत्यम् पूर्वभाव प्रज्ञापनापेक्षया कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्ति सैवोच्यते। कस्मात् ? भूतपूर्वकस्तद्वदुपचार इति परिभाषणात्। योगाभावाद् अयोग-केवली अलेश्य इति निर्णीयते ॥
तत्त्वार्थवृत्ति, २.६, पृ० ८५

(घ) योग : योगफल>ज्ञान एवं मुक्ति

योगसाधन का फल विशदज्ञान और उससे मुक्ति अथवा निर्वाण का लाभ है। यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि के लिए दर्शन और चारित्र का भी सम्यक् होना अत्यन्त आवश्यक है और मुक्ति मार्ग भी है—**सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रा ण मोक्षमार्गः**। जैन दृष्टि से यहां हम इसी मार्ग का अध्ययन करेंगे—

(१) सम्यग्दर्शन :

जैनधर्म में सम्यग्दर्शन मुक्ति का प्रथम सोपान है। सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए **उत्तराध्ययनसूत्र** में कहा गया है कि—

जीवाजीवाय बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरो मोक्खो सन्तेए तहिया नव॥
तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स सम्मत्तं वियाहियं॥[1]

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित जीवादि नौ तत्वों में भावपूर्ण श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है।

पंचाध्यायी में आता है कि यदि श्रद्धा, प्रतीति, रुचि आदि गुण स्वानुभूति सहित हैं तभी वह सम्यग्दर्शन हो सकता है अन्यथा वह लक्षणाभास ही है, क्योंकि स्वानुभूति के बिना श्रद्धा केवल शास्त्रों अथवा गुरु आदि के उपदेश के श्रवण से होती है और वह तत्वार्थ के अनुकूल होते हुए भी वास्तविक शुद्ध श्रद्धा अथवा सम्यग्दर्शन नहीं कहला सकती।[2]

---

१. उत्तरा० २८.१४-१५
तथा मिला० (क) सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सोहु सुदिट्ठी॥ सूत्रप्राभृत, गा० ५
(ख) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् तत्त्वार्थसूत्र, १,२-४
(ग) अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम् अशुद्धतरनयसमाश्रयणात्।
षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० १५१

२. स्वानुभूति सनाथाश्चत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासा, नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः॥
विनास्वानुभूतिं तु या श्रद्धाश्रुतमात्रतः।
तत्त्वानुगताऽप्यर्थाच्छ्रद्धानानुपलब्धितः॥ पंचाध्यायी उत्तरार्ध, श्लोक ४१५-२१

समयसार के अनुसार समस्त नयों के पक्षों से रहित जो कुछ कहा गया है, वह सब समयसार है। इसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जानना चाहिए।[1]

(२) सम्यग्ज्ञान :

सब द्रव्य, गुण और पर्यायों का बोध ही ज्ञान है—'**दव्वाण य गुणाण य पज्जवाणं च सव्वेसिं नाणं नाणीहि देसियं**।'[2] **प्रवचनसार** में कहा है कि जो जानता है वही ज्ञान है।[3] सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है। सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन तत्त्वों पर श्रद्धा अथवा विश्वास किया जाता है, उनको विधिवत् जानने का प्रयत्न करना ही सम्यग्ज्ञान है।[4] निश्चयनय की दृष्टि से अपने को जान लेना सम्यग्ज्ञान है।[5]

जैनदर्शन में ज्ञान पांच प्रकार का स्वीकार किया गया है। वे हैं—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान—

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।
ओहीनाणं तइयं मणनाणं च केवलं॥[6]

मतिज्ञान :

यह इन्द्रियज्ञान है।[7] मतिज्ञान के और भी अनेक भेद आचार्यों ने किए हैं। इसके लिए **तत्त्वार्थसूत्र** और उसकी टीकाओं को देखना चाहिए। जो अर्थाभिमुख नियत बोध है, उसे आभिनिबोधिकज्ञान भी कहा जाता है।[8] यह मतिज्ञान का अपर नाम है।

---

१. समयसार, गा० १४४;   २. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २.८४
३. जो जाणादि सो णाणं। प्रवचनसार गा० ३५
४. नाणेण जाणई भावे। उत्तरा० सू० अ० २८.३५
तथा मिला० स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। प्रमेयरत्न माला, गा०१
५. आपरूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है। छहढाला, ३.८
६. उत्तराध्ययय सूत्र, अ० २८.५
७. तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम्। तत्वार्थसूत्र १.१४
८. अत्थाभिमुहो नियओ बोहो जो सोमओ अभिनिबोहो
प्रशमरति, भाग-२, पृ० ५७ पर उद्धृत

श्रुतज्ञान :

आत्मा के द्वारा जो सुना जाए वह श्रुतज्ञान है। यह मतिपूर्वक होता है पहले उसके दो भेद किए गए और फिर अनेक भद।[1] यद्यपि इस ज्ञान में इन्द्रियां और मन सहायक होते हैं, फिर भी शब्दार्थ के पर्यालोचन से उत्पन्न ज्ञान ही श्रुतज्ञान कहा जाता है।[2]

अवधिज्ञान

इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखता हुआ केवल आत्मा के द्वारा रूपी एवं मूर्त पदार्थों का साक्षात् कार करने वाला ज्ञान, अवधिज्ञान कहलाता है, अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधि रूपी द्रव्यों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, अरूपी को नहीं। यही इसकी मर्यादा है। अथवा अवशब्द अधो अर्थ का वाचक है, जो अधोऽधो विस्तृत वस्तु के स्वरूप को जानने की शक्ति रखता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अथवा बाह्य अर्थ का साक्षात् करने का जो आत्मा का व्यापार होता है, उमे अवधिज्ञान कहते हैं। इससे आत्मा का प्रत्यक्ष नही होता।[3] विषय बाहुल्य की अपेक्षा से ही ये विविध व्युत्पत्तियां की गई हैं।

मनःपर्यायज्ञान

मनःपर्यय यह शब्द मन + परि + अयन इन शब्दों के मेल से बना है। इसका अर्थ है—मन के समस्त धर्मों को सब प्रकार से जानना। इस ज्ञान में ज्ञाता दूसरों के मन में उत्पन्न विचारों को बिना बतलाए

---

१. श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥ वही तत्त्वार्थसूत्र १.२०

२. शब्दार्थपर्यायलोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगम विशेषः। (नन्दीसूत्र टीका), प्रशमरति, भाग-२, पृ० ५८ पर उद्धृत।

३. अवशब्दोऽय शब्दार्थः, अवअधोऽधो विस्तृतवस्तु धीयते परिच्छि।तेऽनेनेत्यवधिः अथवा अवधिर्मर्यादा रूपीष्वेव परिच्छेदकत्तगा प्रवृत्तिरूपातदुपलक्षितं-ज्ञानमप्यवधिः यवा अवधानम् आत्मनोऽर्थसाक्षात्करण व्यापारोऽवधिः अवधिश्चासौ ज्ञानम्। अवधिज्ञानम्॥ नन्दीसूत्र, वृत्ति, पृ० ६३

ही जान लेता है। अतः इसे मनः पर्याय ज्ञान कहा जाता है।[1] बौद्धधर्म में भी ऐसा ही चेतोपरिवित्तर्कज्ञान बतलाया गया है।

केवलज्ञान

यह एक मात्र विशुद्ध, निर्मल, परिपूर्ण, असाधारण एवं ऐसा अनन्तज्ञान है।[2] यह ज्ञान साधक को कठिनाई से उपलब्ध होता है। इसके प्राप्त होने पर साधक भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

जो एक है, उसे किसी भी इन्द्रिय या मन की अपेक्षा नहीं होती। केवलज्ञान के होते ही कर्मों का आवरणरूप मल पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है और आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह सर्वद्रव्य एवं सर्वपर्यायों को प्रकाशित करने वाला, एकमात्र अप्रतिपाती और शाश्वत-ज्ञान है।[3] यही आत्मा का स्वभाविक गुण भी है।[4]

केवलज्ञान दो प्रकार का होता है—भवार्थ केवलज्ञान और सिद्ध केवलज्ञान। भवार्थ केवलज्ञान के पुनः दो भेद हो जाते हैं—संयोगी केवली और अयोगी केवली।[5] ऊपर वर्णित पांचों ज्ञानों में से प्रथम दो परोक्ष और शेष सभी प्रत्यक्षज्ञान होते हैं।[6]

सम्यक्चारित्र

कर्मों के चिरसंचित कोश को रिक्त करना ही सम्यक्चारित्र कहलाता है।[7] आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ से रहित अर्थात्

---

१. पज्जवणं पज्जवणं पज्जाओ वा मणम्मि माणसो वा।
तस्स व पज्जयादि नाणं मणपज्जवं नाणं॥ प्रशमरति, भाग-२, पृ० ५६ पर उद्धृत

२. केवलमेगं सुद्धं सगलमसाहारणं अणन्तं च (विशेषावश्यक भाष्य), प्रशमरति भाग २, पृ० ५६ पर उद्धृत

३. अह सव्वदव्वपरिणाम भावविण्णत्तिकारणमणतं।
सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलं नाणं। नन्दीसूत्र गा० ६६

४. आत्मनः स्वभाव एतत् केवलज्ञानम्। प्रशमरति, भाग-२, पृ० २६७

५. केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं; तं जहा-भवत्थ केवलनाणं च, सिद्धकेवलनाणं च। भवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-सजोगिभवत्थ केवलनाणं च, अयोगिभवत्थ केवलनाणं च॥ नन्दीसूत्र, सूत्र १६

६. तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-पच्चक्खं च परोक्खं। च। नन्दीसूत्र सूत्र २

७. एयं चयरित्तकरं चारित्तं होई आहियं। उत्तरा०सू० २८.३३

दर्शनमोह और चारित्रमोह से विरहित आत्म परिणति को चारित्र बतलाया है। इसी को धर्म भी कहा गया है। इस तरह सम्यग्दर्शन और उसके अविनाभावी सम्यग्ज्ञान के साथ समस्त इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष न करना ही सम्यक चारित्र है।[1]

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के बाद चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है, क्योंकि दृष्टि में परिवर्तन होकर दृष्टि परिशुद्ध और यथार्थ बन जाती है। अज्ञान पूर्वक चारित्र का ग्रहण सम्यक् नहीं होता, इसलिए चारित्र का आराधन सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक् कहा गया है।[2]

जैन आगमों में चारित्र के पांच भेद किए गए हैं, वे हैं—(१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहार विशुद्धि, (४) सूक्ष्मसम्पराय और (५) यथाख्यातचारित्र।[3]

(१) सामायिकचारित्र

जब राग द्वेष परिणाम शान्त हो जाता है, चित्त में समता आ जाती है तब इस चारित्र की प्राप्ति होती है। इस चारित्र की प्राप्ति के बाद मन में किसी प्रकार का ईर्ष्याभाव अथवा मोह आदि नहीं रहता। यह मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है—जीवन पर्यन्त के लिए और कुछ समय के लिए। कुछ समय अर्थात् अन्तर्मुहूर्त या इससे अधिक मुहूर्तों के लिए गृहस्थ स्वीकार करता है और जीवनपर्यन्त का सामायिक चारित्र साधु ग्रहण करता है।

(२) छेदोपस्थापनाचारित्र

छेदोपस्थापना में दो पद हैं—छेद और उपस्थापना। छेद, उच्छेद अर्थ में है और उपस्थापना का अर्थ है—पुनः उसे स्थिर या धारण करना। जैसे पहले किसी ने दीक्षा ली हुई हो और उसके बाद जब वह

---

१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ प्रवचनसार, गा० ७

२. नहि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानान्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ३८

३. सामाइयत्थपढमं छेओवट्ठावणं भव बीयं।
परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च॥ उत्तरा० २८.३२-३३

श्रुत का विशिष्ट ज्ञानलाभ प्राप्त कर लेता है तो पुनः उसकी जीवन शुद्धि हेतु नये शिरे से दीक्षा दी जाती है। यही छेदोपस्थापनाचारित्र कहलाता है।

(३) सूक्ष्मसंपरायचारित्र

सम्पराय कषाय को कहते हैं जिसमें यत्किंचित् कषाय का भाव विद्यमान रह जाता है। वही सूक्ष्मसम्परायचारित्र कहलाता है।

(४) परिहारविशुद्धिचारित्र

कर्मभव को दूर करने के लिए जो विशिष्ट तप का अवलम्बन लेना पड़ता है। उससे होने वाली आत्मविशुद्धि को ही परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं।

(५) यथाख्यातचारित्र

आत्मा में स्थित लोभादि कषायों का जब निश्शेषतः अभाव हो जाता है तब यथाख्यातचारित्र प्राप्त होता है। जिसको इस चारित्र की प्राप्ति होती है वह सिद्धावस्था के निकट अरिहंत केवली होता है।

बन्ध और उसके कारण

कषाय के सम्बन्ध से जीवात्मा से जो कर्म योग्य पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है, वही बन्ध कहलाता है।[१] स्वभावतः जीव अमूर्त है फिर भी वह अनादिकाल से कर्म सम्बन्ध वाला होने से मूर्तवत् हो जाता है। वह पुद्गल की अनन्त वर्गणाओं में से कर्म योग्य वर्गणाओं को वैसे ही ग्रहण करता और विकृत हो जाता है, जैसे दीपक बत्ती द्वारा तेल को ग्रहण करके उसे अपनी उष्णता से ज्वाला में परिणत कर देता है। आत्म प्रदेशों के साथ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त पुद्गलों का यह सम्बन्ध ही बन्ध कहलाता है। कर्मग्रंथ के कर्त्ता के अनुसार नवीन कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं।[२]

---

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स बन्धः।
तत्त्वार्थसूत्र, ८.२-३

२. अभिनवकम्मग्गहणं बंधो। कर्मग्रन्थ, भाग-२, गा० ३

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्ध चार प्रकार होता है।[1] जीव द्वारा जो कर्मरूप में ग्रहण किए जाते हैं, उसी समय उनमें चार अंशों का निर्माण होता है। वे अंश ही बन्ध के भेद बनते हैं।

बन्ध के कारण

प्रायः सभी जैन दार्शनिक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग[2] ये बन्ध के पांच सामान्य हेतु मानते हैं। कुछ दार्शनिक कषाय और योग इन दो को ही बन्ध के कारण मानते है, क्योंकि उनके मत में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद का कषाय में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अधिकतर आचार्य ऊपर वर्णित पांच कारण ही मानते हैं।

मिथ्यात्व

मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्यादर्शन, जो सम्यग्दर्शन से विपरीत होता है। अयथार्थ में यथार्थ श्रद्धान ही मिथ्यात्व है। जैसे रस्सी को सर्प मान लेना।

अविरति

पापों से विरत न होना अविरति है।

प्रमाद

प्रमाद का अर्थ है—आत्मविस्मरण अर्थात् कुशल कार्यों में अनादर, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति में असावधानी।

कषाय

जो आत्मगुणों को कषे अर्थात् नष्ट करे अथवा जन्ममरणरूपी संसार को बढ़ावे वह कषाय कहलाती है। ये चार प्रकार की होती है—क्रोध, मान, माया और लोभ।

योग

मन-वचन-काया के व्यापार प्रवृत्ति अर्थात् हलन-चलन को योग

---

१. प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः॥ तत्त्वार्थसूत्र ८.४

२. मिथ्यात्वदर्शनाविरति प्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः॥ वही, ८,१

कहते हैं।[1]

मुक्ति : निर्वाण

जैनदर्शन में निर्वाण का बड़ा महत्त्व है और अध्यात्म दृष्टि से साधक का इसे प्राप्त करना ही मुख्य उद्देश्य है। मुक्ति, मोक्ष और निर्वाण ये सभी एकार्थक हैं। निर्वाण शब्द, निर उपसर्ग पूर्वक 'वा' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगकर बनता है, जिसका अर्थ है—माया या प्रकृति से मुक्ति पाकर परमात्मा से मिल जाना या शाश्वत आनन्द को प्राप्त करना।[2] जैनदर्शन में रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से ही मोक्ष>निर्वाण होता है।[3] इसके अतिरिक्त **उत्तराध्ययनसूत्र** में तप को भी मोक्ष का कारण बतलाया है।[4] यह निखिल कर्मों का क्षय रूप है। बौद्ध इसे तृष्णा का क्षय बतलाते हैं। वे इसे अस्तंगम, विराग और निरोध भी कहते हैं।

द्वेषादि भावों के कारण यह आत्मा चतुर्गति रूप संसार में जन्म मरण करता है। द्वेषादि जन्य विकारी भाव जब साधना से दूर हो जाते हैं तब वह स्वभाव में स्थित हो जाता है। इसकी स्वस्वरूप, उपलब्धि ही निर्वाण है।

यहां ध्यान देना चाहिए कि तेरहवें गुणस्थान अथवा सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति शुक्लध्यान में योग (क्रिया) की प्रवृत्ति रहने के कारण केवल-ज्ञान की प्राप्ति होते हुए भी मुक्ति नहीं होती। अतः जब सम्पूर्ण योग (क्रिया) का पूर्ण निरोधरूप चारित्र सम्पन्न होता है तभी मोक्ष अथवा निर्वाण होता है।[5]

---

१. संघवी, तत्त्वार्थसूत्र, पृ० १६३-१६४
२. दे० आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश पृ० ५३६
३. तत्त्वार्थसूत्र १.२
४. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदंसिहि॥ उत्तरा० २८.२
५. (क) मोक्षः कर्मक्षयो नाम भोगसंक्लेशवर्जितः। पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका, गा० २२
जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २२८ पर उद्धृत
(ख) बन्धहेत्वाभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। तत्त्वार्थसूत्र १,२-३

इस प्रकार संसार बन्धन एवं उसके कारणों का सर्वथा अभाव तथा आत्मविकास की पूर्णता ही मोक्ष है अर्थात् संवर निर्जरा द्वारा कर्मों का सम्पूर्ण उच्छेद होना मोक्ष कहलाता है।[1] संवर द्वारा जहां आत्मा में नये कर्मों का प्रवेश सर्वथा रुक जाता है वहां निर्जरा से संचित कर्मों का पूर्णतः क्षय हो जाता है और तभी आत्मा अनन्त सुख एवं आनन्द का अनुभव करता है।

संसार बन्धन का कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-मन, वचन, काय की प्रवृत्ति है और इन्हीं कारणों से जीव अपनी विवेक शक्ति को खोकर भ्रान्ति की अवस्था में संसार की सभी वस्तुओं को अपनी समझने लगता है, जो संसार भ्रमण का हेतु है।

मोहनीय कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय से जीव को केवलज्ञान प्राप्त होता है।[2] केवलज्ञान की यह अवस्था ही आत्मा की अरहन्त अवस्था है। यहां ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है। फिर भी इस अवस्था में मन, वचन और काय के योग में सूक्ष्मकाययोग का व्यापार चलता रहता है।

इसके बाद आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का पूर्णतः क्षय करना होता है। जब साधक अन्तिम शुक्लध्यान में सूक्ष्म काययोग अर्थात् अल्प शारीरिक प्रवृत्ति का भी सर्वथा, त्याग कर देता है तब वह अचल, निरापद और शान्त सुख स्थान को प्राप्त कर लेता है। यह उसकी सिद्धावस्था है।

सिद्धावस्था को प्राप्त आत्मा ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाश के अग्रभाग में स्थित हो जाती है।[3] जहां रागरहित होकर[4] सदैव

---

१. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलम्। वही, १.१

२. नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥ समाधितन्त्र, श्लोक ७५

३. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। तत्त्वार्थसूत्र १०.५

४. कर्मबन्धनविध्वंसादूर्ध्वव्रज्या स्वभावतः।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति॥ तत्त्वानुशासन, श्लोक २३१

परमानन्द का अनुभव करती है।[1] यह अवस्था ज्ञान मात्र प्रकाश पुञ्ज स्वरूप ही होती है, उसका हमारे जैसा कोई शरीर नहीं होता।

इस तरह अनन्त आत्मा उस लोकाकाश के प्रदेशों में विराजमान होने पर भी परस्पर अव्याघात रहने से एक दूसरे से मिलकर अभिन्न नहीं हो जाते। प्रत्येक आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रहता है। ऐसी आत्मा संसार परिभ्रमण नहीं करती क्योंकि वीतराग, वीतमोह और वीतद्वेष होती है। एक दीपक के प्रकाश में जैसे अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है। उसी तरह एक सिद्धक्षेत्र में अनन्तसिद्धों को अवकाश देने की जगह होती है। सिद्धों में अगुरूलघु का गुण होता है जिसके कारण वह लोहे के समान गुरुता के कारण आत्मा नीचे आने को विवश नहीं होती और न ही वह रुई के समान हल्का होने से वायु का अनुगमन ही करती है।[2]

यह सिद्धावस्था शरीर, इन्द्रिय और मन के विकल्प एवं कर्म से रहित होकर अनन्तवीर्य को प्राप्त होती है और नित्य आनन्द स्वरूप में लीन रहती है।[3] इस तरह यह कर्ममुक्त आत्मा निराबाध संक्लेश रहित एवं सर्वशुद्ध अवस्थित रहती है।[4]

---

१. मुक्त्युपायेषु नोचेष्टामल नायैव यतत: ।
मुक्त्यद्वेषप्राधान्य द्वात्रिंशिका श्लोक १,
जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २३० पर उद्धृत

२. वृहद्रव्यसंग्रह, श्लोक १४,
जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २३० पर उद्धृत

३. निष्कल: करणातीतो निर्विकल्पो निरंजन: ।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दित: ॥ ज्ञानार्णव, ४२.७३

४. एकान्तक्षीणसंक्लेशो निष्ठितार्थस्ततश्च स: ।
निराबाध :सदानन्दो मुक्तावात्माऽवतिष्ठते ॥ योगबिन्दु, पृ० ४

उपसंहार

वेदों में योग शब्द का बहुल प्रयोग हुआ है, जिससे भारतीय ऋषियों की योगप्रक्रिया के विषय में ज्ञात होता है कि वे योग में पूर्णतया निमग्न हो जाते थे और इसी के बल पर उन्होंने मुक्ति लाभ किया था परन्तु वहां पर यह नहीं मिलता कि योग क्या है ? योग प्रक्रिया कैसी है ? उपनिषदों में योग की चर्चा वेदों की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्टरूप में उपलब्ध होती है किन्तु बाद के स्मृति; बौद्ध एवं जैन आगमों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वहां पर योगक्रिया को अध्यात्म साधना का प्रमुख अंग माना गया है। यहां इसके भेद प्रभेदों की व्याख्या कर योग को मोक्ष प्राप्ति का प्रधान कारण बतलाते हुए योग का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे-जैसे भारतीय प्रबुद्ध चिन्तकों का ध्यान आध्यात्मिकता में बढ़ता गया वैसे-वैसे ही योग साधना में उनकी रूचि भी अधिक बढ़ती गई और अन्ततः उन्होंने योग को मुक्तिलाभ का अनन्य साधन उद्घोषित कर दिया। तदुपरान्त परवर्ती अध्यात्म-निष्ठ आचार्यों ने इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से पर्याप्त मात्रा में साहित्य सृजन किया है जिनमें जैन आचार्यों का विशेष महत्व है। उनमें भी आचार्य हरिभद्रसूरि एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

हरिभद्रसूरि ने जहां कथा, काव्य, ज्योतिष और दर्शन पर अनेक महत्व पूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, वहां उन्होंने योग पर भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चार ग्रन्थों की रचना की। वास्तव में ज्यों-ज्यों योग का विकास होता गया त्यों-त्यों उस पर नये-नये दृष्टि कोणों से चिन्तन एवं मनन होता रहा और उस चिन्तन को आचार्यगण अपने-अपने अनुरूप लिपिबद्ध करते गये।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पूर्व परम्परा से चली आ रही वर्णन शैली को परिस्थिति एवं लोक रूचि के अनुरूप नया मोड देकर परिमार्जन के साथ योग साहित्य मे अभिनव युग का सूत्रपात किया। उनके बनाए हुए योग विषयक ग्रन्थों में उनकी गहन अनुभूति की अभिव्यक्ति झलकती है। उनके योग परक चार ग्रन्थ-योगविंशिका, योगशतक, योगदृष्टि समुच्चय और योगबिन्दु, इसके ज्वलन्त प्रमाण है। इनमें भी 'योगबिन्दु'

विशिष्ट है। आचार्य हरिभद्र ने माध्यस्थ वृत्ति का अवलम्बन एवं संकीर्ण पक्षपात से दूर हट कर योग-वेत्ताओं और योग-जिज्ञासुओं के लिए सभी योग शास्त्रों से अविरुद्ध समस्त योग परम्पराओं के सिद्धान्तों के साथ समन्वित उत्तम योग मार्ग का प्रतिस्थापन किया है, जैसा कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्पष्ट रूप से परिलक्षित भी होता है—

सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थास्तद्विदः प्रति ॥ (योगबिन्दु श्लोक २)

आचार्य हरिभद्रसूरि योग को मोक्ष का मुख्य साधन मानते हैं और उनके मत में योग की परम्पराओं में उक्ति भिन्नता होने पर भी मूलतः सैद्धान्तिक कोई अन्तर नहीं है—

मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न ततः क्वचित् ।
साध्याभेदात् तथा भावे तूक्तिभेदो न कारणम् ॥(योगबिन्दु श्लोक ३)

इसके साथ ही वे उद्घोषित करते हैं कि योग का अभ्यास ही विद्वत्ता का फल है जो विद्वान् योगाभ्यास नहीं करता वह स्त्री-पुत्र आदि संसार के समान ही शास्त्र संसार में विचरण करता है—

पुत्रदारादिसंसारः पुंसा संमूढचेतसाम् ।
विदुषां शास्त्रसंसारः सयोगरहितात्मनाम् ॥ (वही, श्लोक ५.६)

योगबिन्दु इस प्रकार अन्य अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण है। प्रारम्भ में योग का अर्थ एवं उसकी व्याख्या करते हुए, भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक त्रिवेणी वैदिक, बौद्ध एवं जैन योग के ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। तदनन्तर जैनयोग साधना में योग के माहात्म्य पर प्रकाश डाला गया है और साथ ही योगबिन्दु के सन्दर्भ में योग का समीक्षण किया है।

इसके बाद योगबिन्दु के रचयिता जैन जगत् के महान् दार्शनिक परम-अध्यात्म योगी आचार्य हरिभद्रसूरि के प्रामाणिक जीवन दर्शन, समय निर्धारण तथा उनके अनुपम व्यक्तित्व और उनकी अत्युत्तम साहित्यिक देन पर रोशनी डाली गयी है।

योगबिन्दु के अनुसार योग के अधिकारी एवं अनधिकारी की व्याख्या करते हुए योगबिन्दु में प्रतिपादित योग का पांच भूमियों का विवेचन प्रस्तुत है। इसी क्रम में योग साधना के विकास का वर्णन किया गया है। इसमें जहां तक हो सका है पाद-टिप्पणियों में मूल ग्रन्थों को उद्धृत किया है।

इससे आगे योग के प्राणतत्व ध्यान का विश्लेषण करते हुए विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किये गए हैं। गुणस्थानों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनके साथ योग के सम्बन्ध पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही छठे गुणस्थान तक के साधना क्रम को बतलाकर योगबिन्दुगत योग के भेदों का प्रतिपादन किया गया है।

बाद में आत्मा के स्वरूप पर विचार करते हुए आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व, उसकी तत्त्वज्ञता तथा सर्वज्ञता का यथासाध्य प्रतिपादन किया गया है। आत्मा एवं कर्म का सम्बन्ध, कर्म एवं लेश्या, निर्वाण के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर भी प्रकाश डाला गया है। बाद में कर्मबन्ध का विवेचन कर निर्वाण प्राप्ति का सम्यक् निरूपण किया गया है।

अन्त में यही कहना चाहूँगा कि योग एक अति प्राचीन गहन विद्या है जिसके अध्ययन की कोई इयत्ता नहीं है। यद्यपि यहां पर मैंने योग के प्रमुख विषयों को चुनकर उनकी व्याख्या करने का प्रयास किया है फिर भी मैं अनुभव करता हूं कि इन विषयों पर और भी उपयोगी सामग्री प्राचीन ग्रन्थों में भरी हुई है जिसका और भी अध्ययन होना अपेक्षित है। परन्तु मैंने साधु जीवन की कठिनाइयों और शोध प्रबन्ध के कलेवर को दृष्टि में रखकर अपने अध्ययन को सीमित रखा है। फिर भी योग परक उपर्युक्त तत्त्वों का अध्ययन करने से वस्तुतः मुझे नवीन बोध प्राप्त हुआ है। अतः मुझे विश्वास है कि योग के अध्येताओं के लिए यह शोध प्रबन्ध बड़ा ही लाभकारी सिद्ध होगा, ओम अस्तु।

o—o

सहायक ग्रंथ सूची

१. अंगुत्तर निकाय, प्रथम भाग, अनु० भदन्त कोसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९५६

२. अर्थवेद, सेक्रेन्डबुक्स आफ दी ईस्ट, भाग-४२, मैक्समूलर आक्सफोर्ड प्रेस, लन्दन १८९७

३. अर्थविनिश्चयसूत्र निबन्धनम्, सम्पादक, डॉ० एन० एच० साम्तोगो, पटना, १९७१

४. अध्यात्मतत्त्वलोक, न्यायविजय हेमचन्द्र जैन सभा, पटना, १९४३

५ अध्यात्म कल्पद्रुम, मुनिसुन्दरसूरीश्वर, भोगीलाल साकलचन्द, अहमदाबाद, १९३८

६. अध्यात्मरामायण (मूल)

७. अध्यात्मसार, उपाध्याय यशोविजय, केशरबाई ज्ञान भण्डार, स्थापक, जामनगर, वि० सं० १९९४

८ अनुयोगद्वारसूत्र (जैनागम) ब्यावर प्रकाशन

९. अनेकान्तजयपताका, हरिभद्रसूरि, प्र० यशोविजय ग्रंथ, माला, भावनगर, वी० सं २४३६

१०. अभिधर्मकोश, आचार्य नरेन्द्रदेव, इलाहाबादः १९५८

११. अभिधर्मदेशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, डॉ० धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९८२

१२. अभिधान राजेन्द्र कोश, विजयराजेन्द्रसूरि, अभिधान राजेन्द्र प्रचारक सभा रतलाम, १९३४

१३. अर्ली चौहान डान स्टडीज

१४. आचारांगसूत्र, (जैनागम), लुधियाना प्रकाशन, १९६३-६४

१५. आवश्यकनिर्युक्ति भाष्य, आगमोदय समिति, बम्बई, १९१६

१६. आवश्यकसूत्र, (जैनागम) लुधियाना प्रकाशन, वी० सं० २५०६

१७. ईशावस्योपनिषद, सम्पा० बा० ल० शास्त्री, प्रका० पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२

१८. उत्तराध्ययनसूत्र, (जैनागम, मूल) लुधियाना प्रकाशन

१९. उपदेशपद टीका, मुनिचन्द्रसूरि, मुक्तिकमल मोहनलाल जैन बड़ौदा

२०. उपासकदशांगसूत्र, (जैनागम) अनु० आचार्य श्रीआत्माराम, लुधियाना प्रकाशन, १९६५
२१. ऐतरेयब्राह्मण, गीता प्रैस, गोरखपुर
२२. औपपातिकसूत्र (जैनागम), ब्यावर प्रकाशन, १९८५
२३. ऋग्वेद (संहिता) सम्पा० श्री दा० सातवलेकर, सतारा, १९४०
२४. कठोपनिषद्, बम्बई, १९२२
२५. कर्मग्रंथ (१-१० भाग) देवेन्द्रसूरि, व्याख्या मुनि श्री मिश्रीमल ब्यावर, १९८०
२६. कुवलयामालाकहा, उद्योतनसूरि, सं० ए० एन० उपाध्ये, प्र० सिंघी जैन ग्रंथ माला भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं० २०१५
२७. कहावली (प्राकृत) भद्रेश्वरसूरि (अप्रकाशित)
२८. केनोपनिषद्, सम्पा० बा० ल० शास्त्री, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२
२९. गणधरवाद, आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, प्राकृत भारती, संस्थान, जयपुर, १९८२
३०. गीता, गीता प्रैस, गोरखपुर
३१. गुणस्थान क्रमारोह, अमोलक ऋषि, अमोलक जैन, ज्ञानालय, धूलिया
३२. गुर्वावली, मुनिचन्द्रसूरि, यशोविजय जैन, ग्रथ माला, बनारस
३३. गोपथब्राह्मण, गीता प्रैस, गोरखपुर
३४. गोम्मट्टसार जीवकाण्ड, नेमिचन्द्र, अनु० खूबचन्द्र शास्त्री, परश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२७
३५. गोम्मट्टसार, चामुण्डरायविरचित, मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वी० सं० २४४३
३६. चरित्रसार, चामुण्डराय विरचित, माणिकचन्द दि० जैन, ग्रंथ-माला बम्बई, वी० सं० २४४३
३७. चैत्यवन्दनसूत्र प्रशस्ति, पञ्जिका टीका, प्रका० दिव्यदर्शन साहित्यसमिति, अहमदाबाद
३८. छहढाला, पं० दोलतराम, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर सोनगढ़, वी० नि० सं० २५८७
३९. छान्दोग्योपनिषद् (१०८ उपनिषद्) सम्पा० बा० ल० शास्त्री. प्रका० पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२

४०. जिनसहस्रनामस्तोत्र, पं० आशाधर, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, वि० सं० २०१०
४१. जैन तत्त्वकलिका, आचार्य श्री आत्माराम सं० मानसा मण्डी, १९८२
४२. जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० अर्हत्दासदिगे पार्श्वनाथ, विद्याश्रम वाराणसी, १९८१
४३. जैनयोग चतुष्ट्य, आचार्य हरिभद्रसूरि, सम्पा० डा० छगनलाल शास्त्री, ब्यावर १९८२
४४. जैनयोग सिद्धान्त और साधना, आचार्य श्रीआत्माराम, सम्पा० श्री अमर मुनि, प्रकाशन, मानसा मण्डी, १९८२
४५. तत्त्वविद्या, पं० सुखलाल संघवी
४६. तत्त्ववैशारदी (योगभाष्य की टीका), वाचस्पतिमिश्र (मूल)
४७. तत्त्वानुशासन, सम्पा० जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, १९६३
४८. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अकलंकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १९४४
४९. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, विवेचक पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६
५०. तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागर सूरि), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४९
५१. तैत्तीय उपनिषद् (१०८ उपनिषद्) सम्पा० वा० ल० शास्त्री, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२
५२. दशवैकालिकसूत्र, प्रका० सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९८३
५३. दीर्घनिकाय, सम्पा० भिक्षु जगदीश काश्यप एवं राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३६
५४. द्रव्यसंग्रह, सम्पा० डा० दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी
५५. धर्मदर्शन मनन और मूल्यांकन, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, उदयपुर (राज०) १९८५
५६. धम्मपद, धर्मरक्षित, बनारस, १९५३
५७. धर्मबिन्दु, हरिभद्रसूरि, आगमोदय समिति, बम्बई, १९२४
५८. धर्मबिन्दूपनिषद् (१०८ उपनिषद्) सं० पा० वा० ल० शास्त्री, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२

५९. धर्मसंग्रहणी, मुनि श्रीकल्याणविजय, श्रीदेवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत
६० धूर्ताख्यान, हरिभद्रसूरि, सम्पा० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, भारतीय विद्या भवन, बम्बई
६१. ध्यानबिन्दूपनिषद्, सम्पा० वा० ल० शास्त्री, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२
६२. धवला पुस्तक १, २ आचार्य वीरसेन, जैन आगमोद्धार फण्ड अमरावती, (महाराष्ट्र)
६३. ध्यानशतक, जिनभद्रगणी, क्षमाश्रमण, जामनगर, वि० सं० १९९७
६४. नमस्कारस्वाध्याय, जैन साहित्य विकास मण्डल बम्बई, १९६२
६५. नन्दीसूत्र, अनु० आचार्य आत्माराम जी म०, लुधियाना, १९६६
६६. नियमसार, आ० कुन्दकुन्द, सोनगढ़ (गुजरात) वीर नि० सं० २५०३
६७. न्याय कुमुदचन्द्र, सम्पा० स्व० डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, बम्बई १९३८
६८. न्यायदर्शन, सम्पा० द्वारकादास शास्त्री, वाराणसी, १९६६
६९. पंचाध्यायी, राजमल्ल, सम्पा० पं० देवकी नन्दन शास्त्री वर्णी, जैन शास्त्र माला, बनारस, वी० नि० सं० २५७३
७०. पंचास्तिकाय, कुन्दकुन्द, रायचन्द जैन शास्त्र माला, बम्बई, वी० सं २५३१
७१. पंचविंशति, अनु० बालचन्द्र जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९६२
७२. पंचसंग्रह (प्राकृत), भारतीय ज्ञानपीठ, १९६०
७३. परमात्मप्रकाश, योगिन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२७
७४. पातंजलदर्शन, प्रकाश० स्वामी बालकराम कृत
७५. पातञ्जलयोग-एक अध्ययन, डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, दिल्ली, इन्दु प्रकाशन, १९७८
७६. पातंजलयोगदर्शन, (भाव गणेश वृत्ति)
७७. पातञ्जल योगदर्शन (भोज वृत्ति), अजमेर, १९३१
७८. पातञ्जल योगदर्शन (व्यास भाष्य) सूरत, १९५८

७९. पाराशर स्मृति, सम्पा० रामशर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६
८०. पाइसद्दमहण्णवो, सम्पा० पं० हरगोविन्द दास, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल और पं० दलसुख भाई मालवणिया, प्राकृत ग्रंथ परिषद्, काशी
८१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमृतचन्द्र, प्रभावकमण्डल बम्बई, वी० नि० सं० २४३१
८२. प्रभावकचरित्र, चन्द्रप्रभसूरि, सम्मा० जिनविजयसिंघी, जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, १९५७
८३. प्रशमरति भाग-२ उमास्वाति, विवेचक भद्रगुप्त विजय, मेहसाना (गुजरात), वि० सं० २०४२
८४. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३५
८५. प्रवचनसारोद्धार, नेमिचन्द्र सूरि, सम्पा० पदमसेन मुनिचन्द्र-विजय, पिंडवाडा, (राज०), १९७६
८६. प्रमेयरत्नमाला अनु० जयचन्द्र, अनन्त कीर्ति ग्रंथ माला, समिति, बम्बई
८७. प्रज्ञापनासूत्र, सम्पा० ज्ञानमुनि, व्यावर प्रकाशन १९८६
८८. प्रज्ञापारमिता, हरिभद्र सम्पा० बो० भट्टाचार्य ओरिएन्टल इन्स्टिट्यूट, कलकत्ता, १९३२
८९. पाहुडदोहा, रामसिंह मुनि, सम्पा० हीरालाल जैन कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, वि० सं० १९९०
९०. वाल्मीकि रामायण, गीता प्रैस, गोरखपुर प्रकाशन
९१. बुद्धचरित, सम्पा० महन्त रामचन्द्र दास शास्त्री, वाराणसी, १९६३
९२. बोधिचर्यावतार, सम्पा० पी० एल० वैद्य, दरभंगा, १९६०
९३. बोधिसत्वभूमि, सम्पा० नलिनाक्षदत्त, पटना, वि० सं० २०२२
९४. बृहद्द्रव्यसंग्रह नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, भावनगर, (गुजरात), वि० सं० २०३३
९५. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई १९३२
९६. ब्रह्मसूत्र (मूल) वाराणसी, वि० सं० २०२२
९७. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, डा० रतिभानुसिंह, इलाहाबाद
९८. भक्ति का विकास, डा० मुंशीराम, वाराणसी, १९५८

९९. भगवती आराधना (आ० शिवाचार्य), सम्पा० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, सोलापुर प्रकाशन, १९७८

१००. भारतीय तत्त्वविद्या, सुखलाल संघवी

१०१. मज्झिमनिकाय, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३३

१०२. महाभारत, गीता प्रैस, गोरखपुर, संवत २०२१

१०३. महावग्ग, सम्पा० भिक्षु जगदीश काश्यप, नव नालंदा प्रकाशन

१०४. महानिर्वाणतन्त्र (मूल)

१०५. महापुराण, आचार्य जिनसेनकृत, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९५१

१०६. मैत्रेयोपनिषद्, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३८

१०७. मैत्रायणी आरण्यक, गीता प्रैस, गोरखपुर

१०८. मिलिन्दप्रश्न, अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप सारनाथ, १९३७

१०९. मनुस्मृति, सम्पा० राम शर्मा संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६

११०. मूलाचार, वट्टकेर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथ माला बम्बई वी० नि० सं० २५४९

१११. मूलाराधना, शिवाचार्य, जैन पब्लिकेशन, कारंजा, १९३५

११२. यजुर्वेद, सम्पा० श्री दा० सातवलेकर, सतारा, १९४०

११३. यशस्तिलक चम्पू, सोमदेवसूरि, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई, सन् १९०१

११४. याज्ञवल्क्य स्मृति, सम्पा० रामशर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६९

११५. योगकुण्डल्योपनिषद् (१०८ उपनिषद्), बम्बई, १९३२

११६. योगसार प्राभृत, सम्पा० जुगल किशोर मुख्तार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६४

११७. योगप्रदीप, मंगल विजय हेमचन्द्र सावचन्द्रशाह, कलकत्ता, वी० सं० २४६६

११८. योगदृष्टि समुच्चय, हरिभद्रसूरि, सम्पा० डा० छगनलाल शास्त्री, ब्यावर, प्रकाशन, १९८२

११९. योगबिन्दु, (मूल) आचार्य हरिभद्रसूरि ब्यावर प्रकाशन

१२०. योगविंशिका, ,, ,, ,, ,,

१२१. योगशतक, ,, ,, ,, ,,

१२२. योगवाशिष्ठ, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, तुकाराम जावजी, द्वितीय आवृत्ति बम्बई, सन् १६१८
१२३. योगशास्त्र, हेमचन्द्र, सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा, १६६३
१२४. योगावतार, द्वात्रिंशिका, उपाध्याय यशोविजय
१२५. योगसार, योगिन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १६३७
१२६. रत्नकाण्ड श्रावकाचार, समंतभद्र प्रका० माणिकचन्द दिगम्बर जैन, ग्रंथ माला, बम्बई, वी० सं० २५५१
१२७. ललितविस्तर, (नववैपुल्य), सम्पा० पी० एल० वैद्य, दरभंगा १६६०
१२८. लाटीसंहिता, राजमल्ल, सम्पा० दरबारीलाल, माणिकचन्द, दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, वी० सं० १६८५
१२६. लेश्याकोश, मोहनलाल बांटिया, चोरडिया डावरलेन, कलकत्ता, १६६६
१३०. वाशिष्ठ, स्मृति, सम्पा० श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १६६६
१३१. विवेक चूडामणि, शंकराचार्य, अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा, १६६६
१३२. विशुद्धमार्ग, (विसुद्धिमग्ग का हिन्दी अनुवाद) भाग-२, अनु० भिक्षु धर्म रहित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १६५६
१३३. विंशतिविंशिका, हरिभद्रसूरि, सम्पा० डा० अभ्यंकर आर्यभूषण मुद्रणालय कौशाम्बी पूना, १६३२
१३४. विशुद्धिमग्ग, सम्पा० धर्मानन्द कौशाम्बी, बम्बई, १६४०
१३५. विष्णुपुराण, अनु० मुनिलाल गुप्त, गीता प्रेस, गोरखपुर
१३६. वैशेषिक दर्शन, कणाद, सम्पा० शंकर दत्त शर्मा, मुरादाबाद, १६२५
१३७. बृहदकल्पभाष्य, अमोलक ऋषि, हैदराबाद, सिकन्दराबाद जैन संघ, वी० नि० सं० २४४६
१३८. बृहदारण्यक, प्रका० पाण्डरंग जावजी, बम्बई, १६३२
१३६. शान्तसुधारस, अनु० मनसुख भाई. फी० मेहता, भगवान दास मेहता, भावनागर. वी० सं० २४६२
१४०. श्वेताश्वतरोपनिषद्, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई. १६३२
१४१. श्रीहरिभद्रसूरि, हीलालाल रसिकलाल, बड़ोदरा, १६६३
१४२. षट्खण्डागम, खण्ड-४, सम्पा० डा० एच० एल० अमरावती, १६४६

१४३. षड्दर्शन समुच्चय, आ० हरिभद्रसूरि, विवेचक डा० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, १९८१

१४४. षट्चक्रनिरूपण, तान्त्रिक टेक्स प्रकाशन

१४५. षोडषक प्रकरण, हरिभद्रसूरि, जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा सूरत, वो० सं० २४६२

१४६. षोडषक (मूल) हरिभद्रसूरि

१४७. समवायांगसूत्र (जैनागम), ब्यावर प्रकाशन

१४८. समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५०

१४९. समराइच्चकहा, अनु० प० कन्हैयालाल न्यायतीर्थ, तिलोकरत्न स्थानकवासी, धार्मिक बोर्ड, पाथर्डी, १९७७

१५०. समराइच्चकहा, एक सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० झिनकू यादव, वाराणसी, १९७७

१५१. समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पं० सुखलाल संघवी, जोधपुर, १९६३

१५२. सन्मतितर्कसूत्र, सिद्धसेन दिवाकर, (मूत्र मात्र)

१५३. सन्मति प्रकरण, सम्पा०, सुखलाल संघवी

१५४. संयुक्त निकाय, सम्पा० जगदीश काश्यप. नालन्दा, १९५४

१५५. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सम्पा० डा० ए० एन० उपाध्ये रायचन्द्र आश्रम, अगास, १९७०

१५६. संस्कृत-अंग्रेजी कोष, मॅक्डानल, आक्सफोर्ड, १९२४

१५७. संस्कृत-अंग्रेजी कोष. मोनियर विलियम, दिल्ली, १९६३

१५८. संस्कृत हिन्दी कोश, वामनशिवराम आप्टे, दिल्ली, १९६६

१५९. संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ, सम्पा० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, इलाहाबाद, प्रकाशन

१६०. समाधितन्त्र, पूज्यपाद सम्पा० जुगल किशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट सरसावा, १९३९

१६१. सांख्यसूत्र (मूल)

१६२. सामवेद, सम्पा० सातवलेकर, सतारा (महाराष्ट्र), १९४०

१६३. सिद्धहेमशब्दानुशासन, आचार्य हेमचन्द्र

१६४. सिंथेसिसभाव योग०, ले० अरविन्द

१६५. सूत्रकृतांगसूत्र (जैनागम), ब्यावर, प्रकाशन, १९८२

१६६. सूत्र प्राभृत (मूल), आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीमहावीर प्रकाशन, वीरनि० सं० २४७८

१६७. सर्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य, वाराणसी, १९६४

१६८. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५

१६९. स्कन्धपुराण, भाग-१, कलकत्ता, १९६०

१७०. हरिभद्रसूरि चरित्र, पं० हरगोविन्ददास, विक्रमचन्द सेठ, यशोविजय ग्रंथ माला, भावनगर

१७१. हरिभद्रस्य समय निर्णयः, लेखक मुनि श्री जिनविजय, अनेकान्त विहार, अहमदाबाद

१७२. हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, वैशाली १९६५

१७३. हरिभद्रयोग भारती, हरिभद्रसूरि, प्रका० दिव्यदर्शन ट्रस्ट, गुलाल बाड़ी, बम्बई, वि० सं० २०३६

१७४. हारीतस्मृति, सम्पा० रामशर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६

१७५. हेमचन्द्र धातु पाठ माला, गुणविजय जैन, ग्रंथ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद, १९३०

१७६. ज्ञानसार, पद्मसिंह, टीका त्रिलोक, चन्द, दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत, वी० सं २४७०

१७७. ज्ञानार्णव, शुभचन्द्राचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल रायचन्द आश्रम, अगास, १९८१

शुद्धिपत्र

पृ०	पैरा	पङ्क्ति	फुट नोट संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
7	1	2	—	जोगवउवहाणं	जोगव उवणाहवं
16	1	2	—	रमा की	रमा को
16	3	2	—	उसक	उसके
17	2	—	—	वैविकतर	वैदिकोत्तर
19	2	10	—	अनुरुद्धाचार्य	अनिरुद्धाचार्य
23	3	22	—	धर्माविनिश्च	धर्मविनिश्य
25	2	14	—	उमके	उसके
27	3	—	—	आगमत्तोर	आगमोत्तर
27	3	14	—	आगमों	आगम
41	—	—	9	यौग	योग
41	2	12	—	एक मत विशेष	एक मन्त्र विशेष
44	2	15	—	आर	और
49	—	1	—	पणर्ग	पणगं
49	4	27	—	जाग्रित	जागृत
54	4	—	—	याजकों	याचकों
59	2	6	—	जसे	जैसे
68	1	3	—	हरिभद्रसरि	हरिभद्र सूरि
68	2	10	—	परमातावलंबियों	परमतावलम्बियों
78	1	3	—	भारताय	भारतीय
81	(ङ)	9	—	विंस्तार	विस्तर
84	—	—	1	गुर्विलि	गुर्वावलि
86	—	12	—	(7)	(6)
91	1	1	—	नवानतम	नवीनतम
102	—	10	—	(20) योग बिन्दु	(30) योग बिन्दु
111	—	21	—	अनगामीचित्त	अनागामीचित्त
143	—	—	2	मेरो भावना	मेरी भावना

146	4	21	—	धस्मंवाख्यातबानु॰ चिन्तनमभक्षाः	धर्मस्वाख्याततत्त्वा- नुचिन्तनमनुपेक्षाः
153	—	—	—	सद्वहार	सद्व्यवहार
154	—	—	—	यो	जो
161	—	—	—	बाह्य	बाह्य
182	—	—	—	घ्याया	ध्याता
2:6	6	15	—	धम	धर्म
225	1	3	—	भा	भी
201	—	1	—	ह्रों	ह्रों-२
		7	—	भा	भी
212	2	7	—	पच	पञ्च
217	—	5	—	उनका	उनकी
233	4	20	—	समयसरा	समयसार
234	3	15	—	प्रयत्त	प्रमत्त
242	—	11	—	वक्रिय	वैक्रिय
	—	14	—	कामणकाय	कार्मणकाय
250	2	11	—	पक्षा	पक्षी
251	1	7	—	प्रभावों	प्रमाणों
256	2	12	—	जन	जैन

लेखक की अन्य रचनाएं

1. मानवता की प्रकाश करणें
2. पद्मपराग
3. तीर्थङ्कर स्तुति
4. दो दिव्य विभूतियां
5. सुव्रत गीत
6. पद्मशतक
7. परमतपस्वी श्री पन्नालाल जी म० चालीसा
8. गुरुगुण चालीसा
9. मुनि श्री प्रेमसुख चालीसा
10. महासती पद्मावती चालीसा
11. अनेक निबन्ध एवं कविताएं जो कि विभिन्न जैन ग्रंथों एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं

.. kapilamunipraNIta tattvasamAsa ..

॥ कपिलमुनिप्रणीत तत्त्वसमास ॥

Document Information

Text title : tattvasamaasa
File name : tattvasamaasa.itx
Category : vedanta
Location : doc_yoga
Author : Muni Kapila
Language : Sanskrit
Subject : philosophy/hinduism/religion
Transliterated by : Haresh Bakshi hareshbakshi at hotmail.com
Proofread by : Haresh Bakshi hareshbakshi at hotmail.com
Latest update : February 6, 2003
Send corrections to : Sanskrit@cheerful.com
Site access : http://sanskritdocuments.org

August 3, 2016

sanskritdocuments.org

॥ कपिलमुनिप्रणीत तत्त्वसमास ॥

अथातस्तत्त्वसमासः ॥ १॥

अष्टौ प्रकृतयः ॥ २॥

षोडश विकाराः ॥ ३॥

पुरुषः ॥ ४॥

त्रैगुण्यम् ॥ ५॥

सञ्चरः प्रतिसञ्चरः ॥ ६॥

अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च ॥ ७॥

पञ्चाभिबुद्धयः ॥ ८॥

पञ्च दृग्योनयः ॥ ९॥

पञ्च वायवः ॥ १०॥

पञ्च कर्मात्मानः ॥ ११॥

पञ्चपर्वा अविद्या ॥ १२॥

अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ॥ १३॥

नवधा तुष्टिः ॥ १४॥

अष्टधा सिद्धिः ॥ १५॥

दश मौलिकार्थाः ॥ १६॥

अनुग्रहः सर्गः ॥ १७॥

चतुर्दशविधो भूतसर्गः ॥ १८॥

त्रिविधो बन्धः ॥ १९॥

त्रिविधो मोक्षः ॥ २०॥

त्रिविधं प्रमाणम् ॥ २१॥

॥ इति ॥

Encoded by Haresh BakShi hbakShi@soundofindia.com
The notes corresponding to numbers and items:
अष्टौ प्रकृतयः ॥ २॥

jaDatattva has two categories: prakRiti and vikRiti. The eight prakRiti-s
are: 3 pradhAna 1) mUla pprakRiti 2) mahattattva 3) ahaMkAra; and
five tanmAtrA-s: 4) shabda 5) sparsha 6) rUpa 7) rasa 8) gandha.
षोडश विकाराः ॥ ३॥

They are: 5 sthUla bhUta [1-5]; 11 indriya-s [6-16]
5 sthUla bhUta-s 1) AkAsha 2) vAyu 3) agni 4) jala 5) pRithvI
5 j nAnendriya-s 6) shrotra 7) tvachA 8) netra 9) rasanA 10) ghrANa
5 karmendriya-s 11) vANI 12) hasta 13) pAda 14) upastha 15) gudA
and 16) manaH
त्रैगुण्यम् ॥ ५॥

they are: 1) sattva 2) rajas 3) tamas
पञ्चाभिबुद्धयः ॥ ८॥

The 5 'vRitti-s' of buddhi are:
1) pramANa 2) viparyaya 3) vikalpa 4) nidrA 5) smRiti
पञ्च दृग्योनयः ॥ ९॥

5 j nAnendriya-s: 1) shrotra 2) tvachA 3) netra 4) rasanA 5) ghrANa
पञ्च वायवः ॥ १०॥

5 life forces: 1) prANa 2) apAna (30 samAna 4) vyAna 5) udAna
पञ्च कर्मात्मानः ॥ ११॥

karmendriya-s: 1) vANI 2) hasta 3) pAda 4) upastha 5) gudA
पञ्चपर्वा अविद्या ॥ १२॥

The avidyA-s, the 5 knots or joints, are:
1) avidyA 2) asmitA 3) rAga 4) dveSha 5) abhinivesha
अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ॥ १३॥

11 ashakti-s exist on the annihilation of the 11 indriya-s.

17 ashakti-s arise from the buddhi: 9 opposites of the 9 tuShTi-s
see .14.); and 8 opposites of siddhi-s, i.e. asiddhi-s see .15..
नवधा तुष्टिः ॥ १४॥

Of the 9, 4 are adhyAtmika [1-4], and 5 are bAhya [5-9].
1) prakRiti 2) upAdAna 3) kAla 4) bhAgya
5) shabda-tuShTi 6) sparsha-tuShTi 7) rUpa-tuShTi
8) rasa-tuShTi 9) gandha-tuShTi
अष्टधा सिद्धिः ॥ १५॥

They are as under; their opposites are the 8 asiddhi-s:
The 8 siddhi-s: 1) Uha 2) shabda 3) adhyayana 4) suhRit-prApti 5) dAna 6) AdhyAtmika duHkhahAna 7) Adhibhautika duHkhahAna 8) Adhidaivika duHkhahAna
दश मौलिकार्थाः ॥ १६॥

10 mUla dharma-s : 1) astitva 2) saMyoga 3) viyoga 4) sheShavRittva
5) ekatva 6) arthavattva 7) parArthya 8) anyatA 9) akartRitva 10) bahutva
चतुर्दशविधो भूतसर्गः ॥ १८॥

The 14 bhUta worlds are: The bhUta-s, here, are deva-s, having 8 daivika sRiShTi-s [1-8];
5 tiryak yoni-s (?nimal/lower worlds?[9-13];
1 human world [14].
1) brAhma 2) prAjApatya 3) aindra 4) daiva 5) gAndharva
6) pitrya 7) videha 8) prakRiti-laya;
9) pashu 10) pakShI 11) sarIsRipa 12) kITa 13) sthAvara
14) human – these are the 14 yoni-s (worlds)
त्रिविधो बन्धः ॥ १९॥

The 3 bandha-s are: 1) vaikRitika 2) dAkShiNika 3) prakRitika.
त्रिविधो मोक्षः ॥ २०॥

The three types of liberation (from the bandha-s mentioned in .19.):
Liberation from 1) vaikArika bandha 2) dAkShiNika bandha

3) prakRitika bandha.
त्रिविधं प्रमाणम् ॥ २१ ॥

The 3 means of acquiring correct perception (pramANa) are:
1) pratyakSha 2) anumAna 3) Agama or Aptavachana.
एतत् सम्यग् ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात् ।
न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते ॥ २२ ॥

.. kapilamunipraNIta tattvasamAsa ..
was typeset on August 3, 2016

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*

प्रकाशक—

वैदिक-साहित्य प्रचारिणी सभा,

देहली।

मुद्रक—

ला० सेवाराम चावला

चन्द्र प्रिंटिंग प्रेस, देहली।

प्रकाशक का वक्तव्य

दिक साहित्य प्रचारिणी सभा की ओर से यह सातवीं पुस्तक पाठकों की सेवा में भेंट है। माननीय ग्रन्थकार के नाम से आर्य-संसार ही नहीं, सभी विज्ञ जनता सुपरिचित है। उनका पारायण विशद है, चिन्तन गहन है, अध्ययन गम्भीर है। योग जैसे असाधारण विषय की जितनी सुन्दर, हृदय-स्पर्शी एवं व्यावहारिक व्याख्या इस ग्रन्थ में मिलती है उतनी अन्यत्र—अब तक के छपे हुये किसी भी ग्रन्थ में—नहीं मिलती। प्रत्येक मनुष्य, जिसे जरा भी योगाभ्यास की ओर रुचि है, वह इस ग्रन्थ के लखाये हुए मार्ग पर आरूढ़ होकर अनायास ही अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। हिन्दी जगत् में अब तक इसके जोड़ी का कोई शास्त्र नहीं है। इसमें योग की आवश्यकता योग का ज्ञान, योग का मर्म, योग की भक्ति, योग की सफलता के साधन जिस प्रकार बतलाये गये हैं; वह सर्वथा पूर्ण और उपादेय हैं, और उनका चमत्कारिक प्रभाव सहज ही पाठक की दृष्टि में आलोकित होने लगता है।

श्री पूज्य स्वामी जी ने यह अमूल्य वस्तु सभा को प्रदान की है। मैं इस महती कृपा के लिये अत्यन्त आभारी हूँ। प्रत्येक आत्मार्थी, प्रत्येक नर-नारी जो अपने को जानने, समझने, अपने अन्तर की अद्भुत शक्तियों को विकसित करने की चाह रखता है, इस उज्ज्वल ग्रन्थ रत्न को पाकर अपने को कृतार्थ समझेगा। मैं ऐसे सब जिज्ञासुओं को, ऐसे सब योग-प्रेमियों को, इसे आग्रहपूर्वक स पता हूँ।

श्री सेठ बैजनाथ जी भरतिया भिवानी निवासी ने इस पुस्तक के छपाने का समस्त भार अपने ऊपर लेकर इस सभा को बहुत कुछ प्रोत्साहन दिया है। अतएव मैं उनको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

प्रधान

देहली — वैदिक साहित्य प्रचारिणी सभा

१।१।३६

द्वितीय संस्करण की भूमिका

लगभग २ वर्ष हुए जब प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के सामने उपस्थित की गई थी इस अल्प समय में ही प्रथमावृत्ति की सब प्रतियाँ समाप्त हो गईं और यह द्वितीय संस्करण उनके सामने उपस्थित किया जा रहा है। इससे सिद्ध है कि पाठकों ने इसे अपनाया है। यद्यपि इस संस्करण में प्रस्तुत रूप से और भी कुछ परिवर्तन करने का विचार था परन्तु समयाभाव से ऐसा नहीं किया जा सका है। केवल प्रथम संस्करण में जो प्रेस सम्बन्धी त्रुटियाँ रह गई थीं वे यथासम्भव दूर कर दी गई हैं।

—नारायण स्वामी

विषय सूची

(उपोद्‌घात)

विषय-सूची

योग दर्शन

उपोद्घात

॥ ओ३म् ॥

"उपोद्घात

योग का लक्षण

"युज्" धातु से योग शब्द सिद्ध होता है जिस (धातु) के अर्थ मिलना, जुलना आदि के हैं। "युज्यतेऽसौयोगः"। जो युक्त करे, मिलावे उसे योग कहते हैं। योग दर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने "योगस्समाधि" कहकर योग को समाधि बतलाया है जिसका भाव यह है कि जीवात्मा इस उपलब्ध समाधि के द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करे। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने "योगः कर्मसु कौशलम्" कहकर कर्म में कुशलता और दक्षता का नाम योग ठहराया है।

योग और पश्चिमी विद्वान्

कतिपय पश्चिमी और पश्चिमी दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों ने योग को चित्त की एकाग्रता के द्वारा अन्तःकरण और शरीर से पृथक् हुए आत्मा का साक्षात्कार करना बतलाया है[1]। परन्तु डाक्टर रेले ने योग के लक्षण इस प्रकार किये हैं:—"योग उस विद्या को कहते हैं जो मनुष्य के अन्तःकरण को इस योग्य बना देवे कि वह उन स्फुरणों के अनुकूल होता हुआ संसार में हमारे

(१) असली शब्द ये हैं:—"Self Concentration with a view to seeing the Soul as it looks when it is abstracted from Mind and Matter." (Mysterious Kundalini P. 10)

चारों ओर जो असीम सज्ञान व्यापार हो रहे हैं उनको बिना किसी की मदद के जाने, ग्रहण करे और बचावे"[२]। डाक्टर रेले ने इस अन्तिम लक्षण को सबसे अधिक अपने अनुकूल समझा है।

महर्षि पतञ्जलि और योग

इस प्रकार अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढङ्ग से योग की परिभाषायें की हैं, परन्तु योगियों के मुकुटमणि, योगि शिरोमणि पतञ्जलि ने योग की परिभाषा इस प्रकार की है:—योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः[३]। अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों के रोक देने का नाम है। चित्त की वृत्तियाँ क्या हैं? उनके रोकने का भाव क्या है? इन प्रश्नोंके समझे बिना परिभाषा का भाव समझा नहीं जा सकता। इन प्रश्नों के समझने से पहले यह समझ लेना उपयोगी होगा कि चित्तकी इन वृत्तियों के रोकने की जरूरत क्यों होती है?

जीवात्मा और उसका कर्तृत्व

योग दर्शन, ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है। इनमें से जीव है जिसके कर्तृत्व में सहायता देने के लिए इस दर्शन की रचना हुई है। वेद में ईश्वर को

---

(२) डाक्टर रेले के शब्द ये हैं:—"Yoga is the science which raises the capacity of the human mind to respond to higher vibrations, and to perceive, catch and assimilate the infinite conscious movements going on arround us in the Universe. (The mysterious Kundalini by Dr. Vasant G. Rele. p. 10 & 11)

(३) योग दर्शन १ । २

"वाचिव्याहृतायाम्"¹ कहा गया है। अर्थात् ईश्वर वाच्य के वाचक व्याहृति 'भूर्भुवःस्वः' हैं। भू सत्तायाम् धातु से 'भूः' सत् के अर्थ से और भुवः का अर्थ अवकल्कने धातु से चित्त है और स्वः आनन्द को कहते हैं। इस प्रकार 'भूर्भुवः स्वः' के अर्थ सच्चिदानन्द हैं। 'भूर्भुवः स्वः' अथवा सच्चिदानन्द शब्द पर विचार करने से जीव के कर्तृत्व का उद्देश्य निश्चित हो जाता है। सत् प्रकृति को कहते हैं, सत्+चित् जीव का नाम है, सच्चिदानन्द ईश्वर को कहते हैं। सच्चित जीव की एक ओर प्रकृति का गुण सत् और दूसरी ओर ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है। प्रश्न यह है कि जीव को अपने कर्तृत्व का उद्देश्य, किस को प्राप्त करना, बनाना चाहिये ? सत् जो प्रकृति का गुण है वह जीव को पहले ही से प्राप्त है इसलिये प्राप्त की प्राप्ति का यत्न व्यर्थ है परन्तु ब्रह्म का स्वरूप 'आनन्द' जीव को अप्राप्त है इसलिये जीव के कर्तृत्व का अन्तिम उद्देश्य आनन्द को प्राप्त करना ठहरता है। उस (जीव) के पूरे उद्देश्य को इस प्रकार कह सकते हैं।

"प्राप्त संसार (प्रकृति रूप जगत्) को इस प्रकार काम में लाना चाहिये कि जिससे वह अन्त में आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति का साधन बन जावे।" आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न हैं। जीव का यह ज्ञान और प्रयत्न (कर्म) रूप, पुरुषार्थ जीव के बाहर (जगत्) में भी काम करता है और जीवके अन्दर भी। जब वह बाहर काम करता है

---

१ देखो यजुर्वेद अध्याय ८ मन्त्र ३४

तब उसका नाम बहिर्मुखी वृत्ति होता है और जब अन्दर काम करता है तब उसका नाम अन्तर्मुखी वृत्ति होता है। जीव चूँकि प्रयत्नशील है इसलिये दोनों वृत्तियों में से एक न एक सदैव जारी रहती है। यदि बहिर्मुखी बन्द होती है तो स्वयमेव अन्तर्मुखी वृत्ति काम करने लगती है और जब अन्तर्मुखी वृत्ति बन्द होती है तब बहिर्मुखी वृत्ति स्वतः अपना काम जारी कर देती है। बहिर्मुखी वृत्ति जब जारी रहती है तब जीव अन्तःकरणों के माध्यम से जगत् में इन्द्रियों द्वारा काम किया करता है परन्तु अन्तर्मुखी वृत्ति होने पर वह आत्मानुभव और परमात्मदर्शन किया करता है।

योग दर्शन की शिक्षा

महामुनि पतंजलि ने अपने कल्याणकारी दर्शन में उपर्युक्त उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए, इसीलिये शिक्षा यह दी है कि जगत् को इस प्रकार काम में लाओ कि जिससे यह भी अधिक से अधिक काम की वस्तु सिद्ध हो और अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति का साधन भी बन सके। इसके लिये उन्होंने दो कर्त्तव्य बतलाये हैं:—

पहला कर्त्तव्य—चित्त की वृत्तियों को एकाग्रित करना॥ चित्त के इस प्रकार एकाग्र हो जाने से मनुष्य को, संसार अधिक से अधिक सुखदायक बन सकता है।

सांसारिक सुख का कारण

सांसारिक सुख की तह में घुसने से पता लगता है कि दुनियाँ में सुख जिसे कहते हैं वह न अच्छे अच्छे स्वादिष्ट भोजनों में है, न

अच्छी अच्छी क़ीमती पोशाकों के पहनने में है और न संसार के अन्य विषयों में। सुख असल में चित्त की एकाग्रता में है। भोजनादि जिस विषय के साथ भी चित्त लग जाता है, वह विषय सुखदाई प्रतीत होने लगता है और जिस विषय के साथ चित्त नहीं लगता वह रूखा सूखा निस्सार सा प्रतीत होने लगता है। एक मनुष्य अपने अनुकूल अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन करते हुए उसका आनन्द ले रहा है, परन्तु अचानक पुत्र की मृत्यु की खबर सुनने और चित्त के भोजन से हट कर पुत्र की स्मृति की ओर चले जाने से अब वह भोजन सुखदाई नहीं रहा। अब उसका एक एक लुक़मा गले में अटकता है। कारण स्पष्ट है; अब चित्त भोजन के साथ नहीं रहा। अस्तु! योग दर्शन ने चित्त की एकाग्रता की उपयोगिता बतलाते हुये शिक्षा यह दी है कि इस चित्त की एकाग्रता को इस प्रकार काम में लाना चाहिये कि जिससे उसका मुँह चित्त के निरोध की ओर फेरा जा सके।

चित्त का निरोध क्यों होना चाहिये?

जब तक चित्त एकाग्रित रहता है, तब तक चित्त की वृत्तियाँ अपने काम में लगी हुई हैं और तत्परता के साथ अपना काम कर रही हैं। यहाँ तक आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति ही काम करती है। चित्त की एकाग्रता बहिर्मुखी वृत्ति की सीमा के अन्तर्गत ही है। परन्तु उद्देश्य अन्तर्मुखी वृत्ति का जागृत करना है। उसके जागृत करने या काम में लाने का साक्षात् साधन अज्ञात है।

इसलिये असांक्षात् साधन से काम लिया जाया करता है और वह असांक्षात् साधन यह है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध करके वहिर्मुखी वृत्तिका काम बन्द कर दिया जावे। इसीलिये योग दर्शन में चित्त की वृत्तियों में निरोध का विधान किया गया है। बहिर्मुखी वृत्ति के बन्द होने से अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जागृत होकर अपना काम करने लगती है।

चित्त और उसकी वृत्तियाँ

चित्त को यदि एक-सरोवर मानें तो उस सरोवर में उठी हुई लहरों को चित्त की वृत्तियाँ मानना पड़ेगा। इस चित्त रूपी सरोवर का एक किनारा बुद्धि से मिला हुआ आत्मा रूपी गंगा की ओर है और उसका दूसरा विरोधी किनारा इन्द्रियों से मिला हुआ जगत् की ओर है। चित्त रूपी सरोवर में उठने वाली वृत्ति रूपी लहरें पाँच प्रकार की हैं—(१) प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (आप्तोपदेश) (२) विपर्य्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान (३) विकल्पअर्थात वस्तु शून्य कल्पितनाम (४) निद्रा सोना (५) स्मृति अर्थात् पूर्व श्रुत और दृष्ट पदार्थ का स्मरण*। चित्त में जितनी अच्छी वा बुरी वृत्तियाँ हो सकती हैं, वे सभी इन्हीं पाँच प्रकारों के अन्तर्गत हुआ करती हैं। इन वृत्तियों को समष्टि रूप से अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। इनमें दोनों प्रकार की बातें सम्मिलित हैं। परन्तु हैं ये सब की सब इन्द्रियों के माध्यमसे जगत् की ओर

---

* देखो योग दर्शन १। ६

जाने वाली। ऊपर जो कुछ वर्णन हुआ है उसको एक चित्र से जो नीचे दिया गया है भली प्रकार समझा जा सकेगा:—

आत्मा रूपी गंगा और उसकी नहर

चित्र में (क) चिन्ह वाली आत्मा रूपी गंगा है—(ख) उसकी नहर है—(ग) बुद्धि

(क)

आत्मा रूपी गङ्गा (झ) (अन्तर्मुखी वृत्ति)

(घ)

बुद्धि (ग)

(च) चित्त रूपी सरोवर

चित्त की वृत्तियां रूपी नहर

आत्मा रूपी गङ्गा की नहर

(ख) बहिर्मुखी वृत्ति

(छ) इन्द्रियाँ

(ज)

इन्द्रिय विषय मय-जगत्
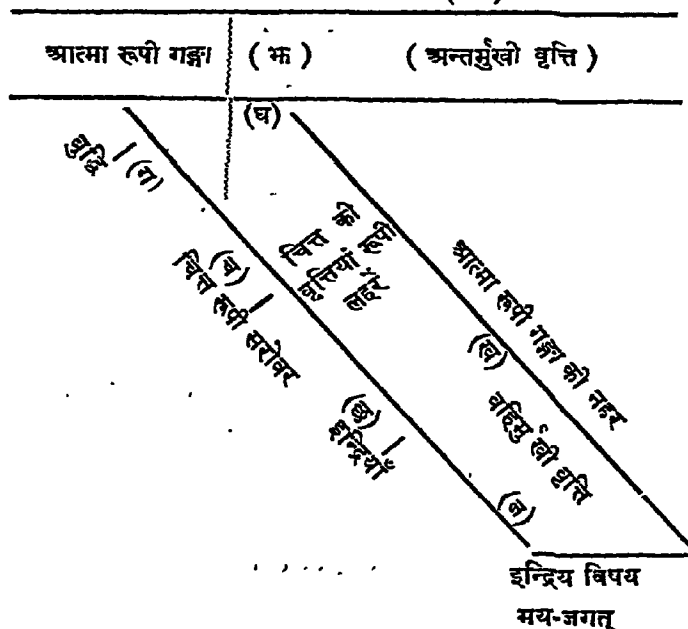
अर्थात् बहिर्मुखी वृत्ति रूपी नहर का प्रारम्भ है। (च) चित्त

रूपी सरोवर और (घ) उसकी वृत्ति रूपी लहरें हैं। (छ) इन्द्रियाँ और (ज) इन्द्रिय विषय रूप संसार है। (झ) गंगा और नहर के पुल के फाटक जिनके खोलने और बन्द करने से पानी चाहे गंगा की धारा में बहाया जा सकता है चाहे नहर में भेजा जा सकता है। चित्त की वृत्तियों से निरुद्ध होने का भाव यह है कि (झ) रूपी पुल के फाटकों में से वे फाटक बन्द हो गये जिनमें होकर गंगा का, वहिर्मुखी वृत्ति रूप जल, गंगा की नहर रूपी जगत् में जाया करता था। इसका मतलब यह हुआ कि चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से अब आत्मा की वहिर्मुखी वृत्ति बन्द होगई। इसका अनिवार्य परिणाम यह निकलता है कि आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हो गई। गंगा का जल यदि नहर में न जायगा तो आवश्यक है कि गंगा अपनी धारा में वहे। बस योग के अद्वितीय आचार्य्य महामुनि पतंजलि का आशय इस योग दर्शन की रचना से केवल इतना ही था कि चित्त की वृत्तियों के निरोध द्वारा आत्मा की वहिर्मुखी वृत्ति को बन्द करके उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति को जागृत कर दें। योग दर्शन में जितने भी साधन वतलाये गये हैं वे इसी परिणाम पर पहुँचाने के अचूक साधन हैं।

चित्त की एकाग्रता

अच्छा, यदि चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने ही से योगी

के उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है तो फिर चित्त की एकाग्रता का बीच में अड़ंगा किस लिये लगाया गया। उत्तर स्पष्ट है कि चित्त को एकाग्र किये बिना, निरुद्ध नहीं कर सकते। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। एक अत्यन्त चञ्चल और खिलाड़ी बालक है। अनेक प्रकार के खेलों में सदैव व्यग्र रहता है। इष्ट यह है कि इस बालक को इन खेलों से हटा कर शिक्षा प्राप्ति के श्रेष्ठ कार्य में लगाया जावे। बालक से जब यह कहते हैं कि तुम इन खेलों को छोड़ दो तो वह हूँ, हां, कह कर बात टाल देता है परन्तु अपनी शरारत से बाज नहीं आता। अब क्या करना चाहिये? एक बुद्धिमान् गुरु, जिसने मनुष्य स्वभाव का भली भाँति अध्ययन किया था, मिल जाता है। उस गुरु ने बालक के साथ खेलना शुरु करके उसे रज़ामन्द कर लिया कि उसके बहुसंख्यक खेलों में से सब से अच्छे एक खेल को खेलें और बाकी सबको छोड़ देवें। बालक ऐसा ही करने लगा। बालक का अब जब कि एक ही खेल रह गया तो वह गुरु के कहने से कभी कभी उसे भी छोड़ देने लगा। अन्त में कुछ काल के बाद उससे वह खेल भी छूट गया और वह अनेक अच्छे कामों में लग गया। चित्त का भी ठीक यही हाल है, उसकी चञ्चलता को छुड़ा कर जब तक उसे एक काम में नहीं लगाते तब तक उससे सब कुछ छूट जाना अत्यन्त कठिन काम है। इसीलिये चित्त को एकाग्र करना निरुद्ध करने के लिये अनिवार्य्य था। अब प्रश्न यह है कि अच्छा, इस चित्त को एकाग्र किस प्रकार किया जावे?

योग के आठ अङ्ग

योग दर्शन में इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये आठ अंगों का विधान किया गया है। वे अंग इस प्रकार हैं:—(१) यम,(२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान और (८) समाधि।

योग के ये आठ अंग किस प्रकार चित्त की एकाग्रता के साधन हैं, यही बात है जो यहां प्रकट की जाती है:—

१—यम

कर्म विज्ञान का यह प्रारम्भिक पाठ है कि मनुष्य को यह समझ लेना चाहिये कि सुख दुःख प्राप्ति के दो साधन होते हैं। एक मनुष्य के अपने कर्म फल और दूसरा अन्यों के कर्म। इसीलिये मनुष्य के दो कर्तव्य ठहराये गये हैं कि वह अपने को भी अच्छा बनावे और अपने को अच्छा बनाने के साथ ही अन्योंको भी अच्छा बनावे"[1]। एक मनुष्य अपने को कितना ही अच्छा क्यों न बना लेवे परन्तु यदि उसके पड़ोसी बुरे हों तो वह कभी सुख और शांति से नहीं रह सकता उसे सदैव अपने पड़ोसी के दुष्ट कर्मों से दुखी होना पड़ेगा। यदि कोई व्यक्ति योग की प्रक्रिया को काम में लाना चाहता है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके चारों ओर शांति

---

१ आर्य्यसमाज के ९ वें नियम में इसीलिये प्रकट किया गया है कि मनुष्य को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

का वातावरण हो अन्यथा वह कुछ भी नहीं कर सकता। इसी लिये योग के आठ अंगों में सब से पहले शान्ति का वातावरण उत्पन्न करने का विधान किया गया है। उस वातावरण के उत्पन्न करने का साधन "यम" है। यम के अन्तर्गत ५ बातें हैं जिनको आचरण में लाने से वायु-मंडल सुधरा करता है:—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह।

अहिंसा—मन, वाणी और क्रिया से किसी भी प्राणी को तकलीफ न देना। योगी जब पूर्ण रूप से अहिंसक हो जाता है तब उसके प्रति समस्त प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं। अमरीका के तपस्वी थौरियो के लिये लिखा है कि जब वह वाल्डन नामक झील के किनारे रहता हुआ अहिंसा का अभ्यास करता था[2] तो उसके शरीर से शहद की मक्खियाँ लिपट जाती थीं, परन्तु कोई उसे डसती न थी, बिच्छू पाँवों से चिपट जाते थे परन्तु वे भी उसे डंक नहीं मारते थे। इसी प्रकार की बात, महाकवि बाण ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "हर्ष चरित" में लिखी है। उसने एक जगह लिखा है कि एक बार राजा हर्षवर्धन एक तपोभूमि में गया जहाँ का आचार्य दिवाकर था और जहाँ अनेक ब्रह्मचारी शिक्षा पाते थे, वहाँ राजा ने देखा कि उन अहिंसक गुरु शिष्यों के प्रभाव से सिंहों ने उनके लिये हिंसा वृत्ति का त्याग

---

१ योग दर्शन २। ३५

2 Walden by Thoreau.

दिया था और वे उनकी तपोभूमि में उसी प्रकार रहते थे जैसे पाले हुए घरेलू कुत्ते।

सत्य—मन, वचन और क्रिया तीनों में सत्य के प्रतिष्ठित होने से योग दर्शन के भाष्यकार व्यास के लेखानुसार, योगी की वाणी अमोघ हो जाती है और फिर वह जो कुछ भी कहता है वह सत्य ही हो जाता है। यदि वह किसी को कह दे कि तू धार्मिक हो जा, तो वह धार्मिक हो जाता है इत्यादि।[1]

अस्तेय—मन, वाणी और क्रिया किसी से भी चोरी न करना और न चोरी की भावना रखना।

ब्रह्मचर्य—शरीर में उत्पन्न हुये रक्त वीर्य की रक्षा करते हुये लोकोपकारक विद्याओं का अध्ययन करना। मनुष्य के भीतर ब्रह्मचर्य से "मातृवत्परदारेषु" की भावना उत्पन्न होकर योगी को संसार के लिये निर्दोष बना देती है।

अपरिग्रह—धन के संग्रह करने, रखने और खोये जाने, धन की इन तीन अवस्थाओं को दुःखजनक समझ उससे अधिक, जिससे जीवन यात्रा पूरी हो सके, धन की इच्छा न करना अपरिग्रह कहा जाता है।

योगी इन पाँच बातों पर आचरण करने से अपने को इस योग्य बना लेता है कि जिससे उसे दूसरे के कर्मों से दुखी न होना पड़े।

---

१ देखो योग दर्शन २। ३६ का व्यासभाष्य।

(२) नियम—

अपने कर्म के फल से भी दुखी न होना पड़े इस लिये योगी को नियमों का पालन करना चाहिये। वे नियम ये हैं:—

शौच—बाह्य और अन्तःकरणों को शुद्ध रखना।

सन्तोष—पुरुषार्थ से जो कुछ प्राप्त हो उस से अधिक की इच्छा न करना और अन्यों के धनादि को अपने लिये लोष्टवत समझना।

तप—शीतोष्ण, दुःख सुखादि को एक जैसा समझते हुये नियमित और संयमित जीवन व्यतीत करना।

स्वाध्याय—ओङ्कार का श्रद्धा-पूर्वक जप करना और वेद, उपनिषदादि उद्देश्य साधक ग्रन्थों का निरन्तर अध्ययन करना।

ईश्वर प्रणिधान—ईश्वर का प्रेम हृदय में रखते और ईश्वर को अत्यन्त प्रिय और परम गुरु समझते हुये, अपने समस्त कर्मों को उसके अर्पण करना।

ये पांच नियम हैं। इनके पालन करने से मनुष्य अपने को इस योग्य बना लेता है कि अधर्म और पाप से सम्पर्क न रख सके। इन ५ यमों के पालन करने से मनुष्य नियमों के पालन करने में समर्थ हुआ करता है और नियमों के पालने से यमों के अनुकूल आचरण रखने में अभिरुचि बढ़ा करती है।

(३) आसन—

आसन सुख पूर्वक बैठने को कहते हैं। यद्यपि आसनों की

संख्या ८४ कही जाती है और उनमें से प्रत्येक की उपयोगिता भी है परन्तु राजयोग में आसन सुख पूर्वक बैठने ही का नाम है जिससे वह किसी आयन्दे की, की जाने वाली क्रिया में, विघ्न-कारक न हो सके।

आसन की एक और उपयोगिता—और वह उपयोगिता यह है कि वह भूख के कम लगने का कारण होता है। इसके समझने के लिये यह समझ लेना आवश्क है कि प्राण और अपान की, इस सम्बन्ध में, उपयोगिता, अनुपयोगिता क्या है?

प्राण और अपान पर एक वैज्ञानिक दृष्टि—जो श्वास बाहर जाता है उसे प्राण (Expired Air) कहते हैं और जो अन्दर आता है उसे अपान (Inspired Air)। प्राण में कारबोनिक एसिड गैस (Carbonic Acid) की औसत प्रायः ४·२८ फीसदी होती है। दिन की अपेक्षा रात्रि में यह शरीर से अधिक निकल जाता है। भूख की इच्छा, अनिच्छा, कारबोनिक एसिड गैस के शरीर से अधिक और कम निकलने पर निर्भर होती है। शरीर के हिलने जुलने' व्यायाम करने, चलने फिरने, भोजन करने आदि से, बैठे रहने की अपेक्षा, यह गैसशरीर से अधिक निकल जाती और इसीलिये भूख अधिक लगती है। भूख, प्यास की इच्छा भी अभ्यास में बाधक हुआ करती है इसीलिये योग का तीसरा अंग आसन (बिना किसी प्रकार की गति किये, शान्ति के साथ एक ढंग से बैठे रहना) ठहराया गया हैं.जिससे भूख भी बाधक न हो सके। पातंजल योगाभ्यास

के लिये पद्मासन अन्य आसनों की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

मिताहार—भोजन करने के बाद कारबोनिक एसिड के शरीर से निकलने की मात्रा, भोजन न करके भूखा रहने की अपेक्षा, अधिक बढ़ जाती है। सीक्वीन (Sequin) एक विद्वान् के अनुभव में यह बात आई है कि जब वह उपवास करता था तो केवल १२१० घन इञ्च शुद्ध वायु (Oxygen) काम में आता था परन्तु भोजन करने के बाद पाचन क्रिया के मध्य १६०० घन इञ्च प्राण प्रद (Oxygen) व्यय हुआ। कारबोनिक एसिड के शरीर से कम निकलने के उद्देश्य ही से जिससे भूख बाधक न हो सके योगी कभी उपवास भी करता है और कभी अल्पाहार ग्रहण करता है और मिताहारी (नियमित आहार वाला) तो उसे सदैव होना ही चाहिये। कोई कोई अभ्यासी दिन में कुछ भी नहीं खाते केवल रात्री में थोड़ा सा भोजन किया करते हैं। ऐसे योगी नक्त-भोजी कहलाते हैं।

कारबोनिक एसिड के निर्माता तत्व——जिस कारबोनिक ऐसिड गैस के शरीर से अधिक निकल जाने से भूख अधिक लगा करतीहै वह १२ अंश कार्बन और ३१ अंश प्राणप्रद (Oxygen) वायु से मिल कर बना करता है। यह यदि वायु में चार या पांच भी प्रति-शतक हो तो ऐसी वायु में कोई चीज भी न जल सकेगी। अस्तु अधिक प्राण-प्रद के काम में

आने का अभिप्राय यही हुआ कि कारबोनिक एसिड शरीर से अधिक निकला।

गुफाओं में रह कर अभ्यास करना— उष्ण ऋतु की अपेक्षा शीतकाल में, शीतोष्ण (Temperature) में शीत की अधिकता से भी कारबोनिक एसिड शरीर से अधिक निकलता है और इसीलिये भूख भी अधिक लगा करती है। इसी कारण से पुराने योगी, मांद में रहने वाले पशुओं की भांति, गुफाओं में रहा करते थे क्योंकि जितना भी बाहर का शीतोष्ण, प्राणियों के भीतरी शीतोष्ण के निकट होगा उतनी ही भूख कम लगेगी। कारण स्पष्ट है कि ऐसे वाह्य शीतोष्ण में शीत की मात्रा अधिक नहीं हो सकती, इसलिये भूमध्य रेखा के समीपवर्ती रहने वालों की अपेक्षा ध्रुव देश के समीपवर्ती प्राणियों को भूख की इच्छा अधिक हुआ करती है। एक बात और भी है और वह यह कि जो स्थान चारों ओर से घिरे होते हैं जैसे गुफा, उनमें रहने वाले, कारबोनिक एसिड, उन स्थानों में, रहने वालों की अपेक्षा जो चारों ओर से खुले रहते हैं, कम खर्च करते हैं। इसी लिये उन्हें भूख भी कम सताती है। इन कारणों से योगियों को छोटे द्वार वाली गुफाओं में रहना अधिक रुचिकर होता है।

कम बोलना अथवा मौनावलम्बन—यदि मनुष्य चुप रहे तो उसकी अपेक्षा, नियत समय में बोलने अथवा उच्च स्वर से बोलने वाले, अधिक कारबोनिक एसिड व्यय करते हैं इसीलिये

योगी मौन रहना अपने लिये अधिक अच्छा समझते हैं। इससे भी वे भूख की चिन्ता से मुक्त रहते हैं।

चित्त की एकाग्रता की उपयोगिता—चित्त से काम लेने की अपेक्षा उसे स्थान विशेष, भ्रूमध्यादि में एकाग्रित कर देने से भी कारवोनिक एसिड कम खर्च होता है इसलिये योगियों को चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करने से भी भूख का कष्ट कम हो जाता है।

एक परीक्षण—पृथ्वी के सूखे भाग में रहने वाला एक जन्तु विशेषतः "बोम्बस" [Bombus] जाति में से था, आध घण्टे तक शान्ति से गति शून्य रहा। फल यह हुआ कि उसके श्वास गहरे और लम्बे हो गये। उन श्वासों की मात्रा एक मिनट में ८५ रही। वह जन्तु इसी हालत में १४० मिनट जब रह चुका तब उसके श्वासों की संख्या एक मिनट में केवल ४६ रह गई। इसके बाद १८० मिनट गुजरने पर उसके श्वास गिनती में आने के अयोग्य हो गये।"[1]

अधिक बैठने की आदत से भूख कम हो जाती है—
चलने फिरने और शारीरिक परिश्रम करने की अपेक्षा, चुपचाप बैठ कर कुछ न करने या दिमागी काम करने से, भूख कम लगने

---

१ इस परीक्षण का उल्लेख किसी ग्रन्थ से जो (Natural History) पर था, डाक्टर पाल ने अपने एक निबन्ध में किया है (A Treatise on the Yoga Philosophy by Dr. N. C. Paul p. 4 & 5).

लगती है क्योंकि इससे श्वास की संख्या कम हो जाने से कार-बोनिक एसिड के खर्च होने की मात्रा भी कम हो जाती है। जिन लोगों को बैठने का अधिक काम रहता हो उन्हें भोजन सदैव कम करना चाहिये और भोजन में दूध या ऐसी ही कोई हलकी और दस्तावर गिज़ा खानी चाहिये।

जलाशय के किनारे अभ्यास की उपयोगिता—पृथ्वी के उस भाग में जहाँ नमी अधिक हुआ करती है, वहाँ के रहने वाले सूखे भाग में रहनेवालों की अपेक्षा कारबोनिक एसिड कम खर्च करते हैं। इसीलिये उन्हें भूख भी कम तकलीफ़ देती है। मनु ने अपने धर्म शास्त्र में इसीलिये जलाशय के किनारे सन्ध्या आदि के करने का विधान किया है।

पहाड़ पर अभ्यास की उपयोगिता—समुद्र के धरातल की अपेक्षा उससे ऊँचे स्थान पहाड़ आदि में, वहाँ के रहने वाले कारबोनिक एसिड कम व्यय करते हैं इसलिये पहाड़ तपस्या और अभ्यास के लिये अधिक उपयोगी स्थान समझे जाते हैं।

शीतल जल पान—जो लोग ठण्डा पानी अधिक पिया करते हैं वे कारबोनिक एसिड़ अधिक खर्च किया करते हैं इसी लिये अभ्यास करने वाले अल्पाहार के साथ अल्प जल ही पान किया करते हैं।

अधिक मोटेपन की अनुपयोगिता—जो लोग अधिक मोटे और भारी होते हैं वे भी अधिक कारबोनिक एसिड खर्च करते हैं और इसीलिये उन्हें अधिक और अनावश्यक भूख लगा

करती है। योग शास्त्र की अपेक्षा,सम्पत्ति शास्त्र की दृष्टि से, ऐसे लोग, किसी देश के लिये, अधिक हानिकारक होते हैं। कई आदमियों का भोजन यह अकेले ही चट कर जाते हैं और उसके बदले में काम कम से कम करते या कर सकते हैं। योगी अपने को सदैव हल्का और चुस्त इसी लिये बना लिया करते हैं कि जिस से भूख कम तक़लीफ दे।

अधिक भोजन से आयु का ह्रास—अधिक भोजन करने से मनुष्य की आयु भी कम हो जाती है। इतिहास गवाही देता है कि औस्तन जो लोग अल्पाहारी थे उनकी आयु अधिक हुई। उदाहरण के लिये देखिये:—

सं०	नाम व्यक्ति	आयु
(१)	सेन्ट एन्थोनी (St. Anthony)	१०५ वर्ष
(२)	जेम्स दी हरमिट (James the Hermit)	१०४ ,,
(३)	अरसेनियस जो राजा अरकेडियस का शिक्षक था (Arsenius, tutor of the Emperor Arcadius) ...	१२० ,,
(४)	साइमन (Simon the Stylite)	११२ ,,
(५)	रोमोल्ड (Romauld)	१२० ,,

डाक्टर पाल ने कैसियन [Cassian] के हवाले से लिखा है कि इन लोगों का भोजन २४ घण्टे में १२ औंस रोटी और पर्याप्त मात्रा में जल था।

१२ औंस रोटी के निर्माता वस्तु—इस १२ औंस रोटी में क्या क्या और कितनी-कितनी वस्तुयें होती थीं उनका विवरण इस प्रकार है:—

(१) जल	२३०४	ग्रेन
(२) कार्बन (Carbon)	१५३४.८	,,
(३) प्राणप्रद वायु (Oxygen)	१५२४	,,
(४) हाईड्रोजन (Hydrogen)	२०५.२	,,
(५) नाइट्रोजन (Nitrogen)	७२	,,
(६) नमक	१२०	,,

अतः स्पष्ट है कि २४ घण्टे में उपर्युक्त पुरुषों ने १५०० ग्रेन से कुछ अधिक कारबोनिक एसिड खर्च किया और ६ बार से कम एक मिनट में श्वास लिया। कम भोजन करने या बिल्कुल न करने से श्वास की संख्या कम हो जाती है जैसा कि कहा जा चुका है, शरीर का ह्रास भी कम हो जाता है और इसीलिये आयु की वृद्धि होती है।

आसन के प्रकरण में ऊपर जो कुछ कहा गया है उस से आसन की उपयोगिता भली भाँति प्रकट होती है। अब प्राणायाम पर विचार कीजिये।

(४) प्राणायाम

योगांगों में प्राणायाम की बड़ी उपयोगिता है। योग दर्शन में बतलाया गया है कि प्राणायाम से प्रकाश पर जो तमादि का

आवरण आ जाता है वह क्षीण हो जाता है[1] और प्रत्याहार आदि आगे के अङ्गों के सिद्ध करने की योग्यता भी आ जाती है[2]। प्राणायाम से इनके सिवा शारीरिक और मानसिक उन्नति भी होती है जिसका विवरण नीचे दिया जाता है:—

प्राणायाम और शारीरिकोन्नति—प्राणायाम से शारीरिक उन्नति किस प्रकार होती है इस बात के जानने के लिये एक दृष्टि शरीर के अन्दर होने वाले अनिच्छित कार्य्यों में से, हृदय और फेफड़े के कार्य्यों पर, डालनी चाहिये।

हृदय का स्थूल कार्य—समस्त शरीर से अति सूक्ष्म नलियाँ हृदय में आती हैं और हृदय से समस्त शरीर में जाया करती हैं। पहली नलियाँ "शिरा" और दूसरी "धमनि" कहलाती हैं। शिराओं का काम यह है कि समस्त शरीर से अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिये हृदय में लाया करें। हृदय, उस रक्त को, फेफड़े द्वारा, शुद्ध करता है और शुद्ध रक्त को, धमनियों के द्वारा, समस्त शरीर में, भेज दिया करता है। रक्त अशुद्ध क्यों होता है? इस का कारण यह है कि समस्त शरीर व्यापार में उसका प्रयोग होता है। शुद्ध रक्त में कुछ चमक लिये हुये अच्छी सुरखी होती है परन्तु शरीर-व्यापार में आने से वह अशुद्ध हो जाता है और उस में कुछ मैलापन आ जाता है। शुद्ध रक्त में (Oxygen) काफी मात्रा में रहता है। काम में आने से यह मात्रा कम होकर उस

---

१ योग दर्शन २ । ५२

२ योग दर्शन २ । ५३

की जगह एक विषैली वायु (Carbonic Acid Gas) रक्त में आ जाती है और इसी परिवर्तन से रक्त का रंग मैला, स्याही माइल हो जाता है। हृदय में जब अशुद्ध रक्त शिराओं के द्वारा पहुँचता है तो हृदय उसे फेफड़े में भेजता है।

फेफड़े का काम—यहीं से फेफड़े का काम शुरू होता है। फेफड़े स्पंज को भांति असंख्य छोटे छोटे घटकों (Cells) का समुदाय है। एक शरीर-वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया है कि लम्बाई चौड़ाई मात्र में फैला देने से फेफड़ा १४००० वर्गफ़ोट जगह घेरेगा। ये घटक एक मांस पेशी (डायेफ्राम=Diaphragm) की चाल से खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब ये घटक खुल जाते हैं तब एक ओर से तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु दोनों उन्हें भर देते हैं। प्रकृति का एक विलक्षण नियम उनमें काम करता है। उस नियम के वशीभूत होने से जिसमें जो वस्तु नहीं होती वह दूसरे से खींच लेता है। रक्त में तो शुद्ध वायु (Oxygen) नहीं होता वह उसे श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से अलग कर लेता है। और श्वास द्वारा लिये हुये वायु में कार्बन वायु नहीं होता। वह उसे अशुद्ध रक्त में से ले लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि रक्त में से कार्बन वायु के निकल जाने और शुद्ध वायु के आ जाने से वह शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध हुआ रक्त धमनियों के द्वारा शरीर में चला जाता है और अशुद्ध हुई वायु निःश्वास के द्वारा बाहर निकल जाती है। यह कार्य प्रतिक्षण हुआ करता है।

हृदय की धड़कन—हृदय से रक्त का शुद्ध होने के लिये फेफड़े में एक बार जाना और फेफड़े से शुद्ध होकर रक्त का हृदय में वापिस आ जाना, इन्हीं दो क्रियाओं से हृदय की धड़कन बनती है। औसतन एक मिनट में ७२ ऐसी धड़कनें, एक प्रौढ़ पुरुष के हृदय में, हुआ करती हैं। विशेष अवस्थाओं में, आयु के न्यूनाधिक होने आदि कारणों से, धड़कनों की संख्या भी न्यूनाधिक हो जाया करती है। २४ घन्टे में इस प्रकार, एक शरीर-शास्त्रज्ञ के हिसाब से, २५८ मन रक्त हृदय से शुद्ध होने के लिये आता और इतना ही शुद्ध होकर फेफड़े से हृदय में वापिस चला जाता है। इस धड़कन की आवाज "लब+डप" शब्दों के उच्चारण जैसी होती है।

फेफड़े में शुद्ध वायु न पहुंचने का परिणाम—अस्तु! अब विचारणीय बात यह है कि यदि हृदय से रक्त शुद्ध होने के लिये फेफड़े में जावे परन्तु श्वास द्वारा पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुंचे या सब कोषों [घटकों] में जहाँ रक्त पहुँच चुका है, शुद्ध वायु न पहुँचे तो उसका परिणाम क्या होगा।

फेफड़े के मुख्यतया तीन भाग हैं (१) ऊपरी भाग जो प्रायः गर्दन तक है (२) मध्य भाग जो दोनों ओर हृदय के इधर उधर हैं (३) निम्न भाग जो "डाये फ्राम" के ऊपर दोनों ओर हैं। साधारण रीति से जो श्वास लिया जाता है वह पूर्ण श्वास नहीं होता इसीलिये फेफड़े के सब भागों, अथवा सब भागों के

समस्त घटकों में नहीं पहुँचता तो ऊपरी भाग फेफड़े का रोगी होना शुरू हो जाता है और अन्त में वह "ट्यूबर क्यूलोसिस" (Tuberculosis) जैसे रूप को ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार फेफड़ों के मध्य और निम्न भागों के रोगी हो जाने से खाँसी, श्वास, निमोनिया और जीर्ण-ज्वरादि अनेक रोग, जो फेफड़ों से सम्बन्धित हैं, होने लगते हैं। इस प्रकार पर्याप्त वायु फेफड़ों में न पहुँचने से जहाँ एक ओर फेफड़े से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होते हैं तो दूसरी ओर रक्त शुद्ध नहीं होने पाता और वह बिना शुद्ध हुए, अशुद्ध रक्त ही हृदय में लौट कर वहाँ से समस्त शरीर में धमनियों के द्वारा फैल जाता है। बार बार इस प्रकार दूषित रक्त के शरीर में फैलने से मामूली खाज से लेकर कुष्ट रोग तक हो जाया करते हैं। इन सब दुष्परिणामों से बचने के लिये आवश्यक है कि प्राणायाम के द्वारा फेफड़ों के समस्त भागों में, वायु बहुतायत से पहुँचा करे। जिससे उन्हें भी पुष्ट बनाया जावे और रक्त को भी उपर्युक्त दोषों से पृथक रक्खा जावे।

प्राणायाम से कारबोनिक एसिड के निकलने में कमी—प्राणायाम के सम्बन्ध में एक विद्वान् ने जिसका नाम वीरार्ट (Vierordt) था अनेक परीक्षण किये और उन परीक्षणों का फल यह निकला कि जब मनुष्य निःश्वास रहा तो कारबोनिक एसिड गैस बहुत कम मात्रा में उसके शरीर से निकली[1] जिसका

---

1 A Treatise on the Yoga Philosophy by N. C. Paul P. 8-14.

फल स्वाभाविक रीति से यह हुआ कि वह भूख के कष्ट से मुक्त रहा।

जप से भूख में कमी—प्राणायाम के साथ जप भी किया गया। जप चाहे प्राणायाम के साथ किया गया या विना प्राणायाम के परन्तु था वह मानसिक ओ३म् का जप, तो प्रत्येक दशा में फल यह निकला कि कारबोनिक एसिड गैस कम मात्रा में निकली। उपवास के बाद जिस क्रिया से भूख कम से कम लगती है वह ओ३म् का मानसिक जप है। यदि मनुष्य प्रतिदिन १२००० वार ओ३म् का जप किया करे तो उसे बहुत थोड़े भोजन की जरूरत रह जाती है। जप से कुम्भक की अवधि भी वढ़ती है और जिन शब्दों से भी कुम्भक की मात्रा वढ़ती है वह मूर्च्छोत्पादक (Hypnotic word) समझे जाते हैं। डक्टर रैकलिफ (Dr. Radcliff) का कहना है कि एक लड़का ४५० वार "कप (Cup) शब्द के उच्चारण करने से सो गया। जप की अवस्था में केवल ८ औंस रोटी-दाल खाना भूख के निवारणार्थ पर्याप्त समझा गया है। अनेक वार परीक्षण करने से भी ऐसा ही प्रमाणित हुआ है।

एक उदाहरण—एक बच्चे का शीतोष्ण, जिसके श्वास जल्द जल्द चला करते हैं १०२·५ (F) होता है परन्तु एक बूढ़े आदमी का, जिसके लिये कम भोजन की जरूरत हुआ करती है शीतोष्ण (Temperature) केवल ६६·५ (F) होता है। एक चिड़िया जिसका टेम्प्रेचर १०६ से १०६ तक होता है, केवल

1. A Treatise on the Yoga by H.C. Paul p. 13

तीन दिन बिना भोजन के जिन्दा रह सकती है परन्तु एक साँप जो चिड़िया की अपेक्षा थोड़ी गर्मी रखता है, थोड़ा पुरुषार्थ करता है और इसीलिये थोड़ी कारबोनिक एसिड निकालता है, ३ मास और इससे भी अधिक बिना भोजन के जीवित रह सकता है। इसी प्रकार प्राणायाम का जितना भी अधिक अभ्यास होगा उतनी ही कम भूख लगेगी और आयु की वृद्धि भी होगी।

मेंढक और प्राणायाम—कुछ एक प्राणियों के नाम यह दिखलाने के लिये अङ्कित किये जाते हैं कि वे एक मिनट में कितने श्वास लेते हैं:—

सं०	नाम प्राणी			कितने श्वास एक मिनट में लेते हैं
१	कबूतर	—	—	३४
२	मामूली चिड़िया	—	—	३०
३	बतख	—	—	२१
४	बन्दर	—	—	३०
५	मनुष्य	—	—	१२
६	सुअर	—	—	३६
७	कुत्ता	—	—	२८
८	बिल्ली	—	—	२४
९	बकरी	—	—	२४
१०	घोड़ा	—	—	१६
११	मेंढक	—	—	३

इस चित्र से प्रकट है कि मेंढक सब से कम श्वास लेता है।

मेंढ़क के लिये, विद्वानों ने बतलाया है कि वह ११० वर्ष तक जीवित रहता है। नवम्बर के मध्य में यह जमीन के नीचे चला जाता है और फिर ५ मास के बाद अप्रेल के मध्य में निकलता है। इस प्रकार यह ५ मास तक बिना भोजन और बिना श्वास के रहा करता है।

(५) प्रत्याहार—

इन्द्रियों का अपने विषयों से पृथक् हो जाना प्रत्याहार कहलाता है। इन्द्रियों का अपने विषयों से पृथक् होने का अर्थ यह है कि आत्मा का सामर्थ्य जो बहिर्मुखी वृत्ति द्वारा चित्त और इन्द्रियों के माध्यम से व्यय हो रहा था अब काम में आने से रुक गया और रुक कर आत्मा में लौट गया। इसीलिये प्रत्याहार का उद्देश्य योग जगत् में आत्म-शक्ति का एकत्रीकरण समझा जाता है। आत्म-शक्ति शरीर से पृथक् होकर, शरीर में, जो ममता मनुष्य जोड़े रखता है, उसे दूर कर देने का कारण बन जाती है और तब योगी शरीर को आत्मा से पृथक्, आत्मा के हाथ का शस्त्रवत्, समझने लगता है और अपना अधिकार समझता है कि उसे जब चाहे, हाथ की वस्तु की तरह, पृथक् कर दे। जब योगी यम, नियम का पालन करते हुये भोजनादि की व्यवस्था, योगियों की मर्यादानुकूल, रखने लगता है और प्राणायाम का अभ्यास करते हुये १० मिनट तक श्वास रोके रखता है तब उसको अपनी इन्द्रियों पर अधिकार हो जाता है। और वह धारणा के अभ्यास करने में समर्थ होता है।

(६) धारणा—

चित्त का किसी केन्द्र पर केन्द्रित कर देना, धारणा कही जाती है। जो शक्ति प्रत्याहार के अभ्यास से एकत्रित हुई है उसे नाभि-चक्र, नासिका के अग्रभागादि पर लगा देना धारणा है। प्रत्याहार से इन्द्रियों पर अधिकार होता है तो धारणा से मन अधिकृत हुआ करता है। जब प्राणायाम का अभ्यास इतना अधिक बढ़ जाता है कि योगी २१ मिनट ३६ सेकिण्ड बिना श्वास के रह सके तब इससे अनायास धारणा की सिद्धि हो जाती है। धारणा की सिद्धि से, 'ध्यान' के अभ्यास करने के योग्य, योगी हो जाता है।

(७) ध्यान —

योगदर्शन में, धारणा में ज्ञान का एकसा बना रहना, ध्यान कहा गया है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि जिस लक्ष्य पर चित्त एकाग्र हुआ है, इस एकाग्रता का ज्ञान, एकसा (निरन्तर) बना रहे। सांख्य के आचार्य्य महामुनि कपिल ने ध्यान की परिभाषा एक दूसरे प्रकार से की है। उन्होंने "ध्यानं निर्विषयं मनः[2]।" सूत्र के द्वारा मन के निर्विषय होने का नाम ध्यान बतलाया है। परन्तु भाव दोनों का एक ही है। जब मन किसी लक्ष्य पर एकाग्र हो रहा है तब निश्चित है कि वह निर्विषय है क्योंकि "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्[3]" की व्यवस्थानुसार, मन एक समय में, दो विषयों को, ग्रहण नहीं कर सकता। विषय का अभिप्राय,

(१) योगदर्शन ३।२। (२) सांख्य दर्शन। (३) न्याय दर्शन १।१।१६।

साधारणतया, इन्द्रिय विषय ही होता है, इसलिये जब मन किसी लक्ष्य पर एकाग्रित है और एकाग्रता में निरन्तरता है, तब यह योग दर्शनानुसार ध्यान है और इस ध्यान में मन निर्विषय है। सांख्य दर्शन में यही बात इस प्रकार वर्णित है कि जब मन निर्विषय है तो वह ध्यान की अवस्था में है। स्पष्ट है कि भाव दोनों का एक ही है। प्राणायाम का अभ्यास इतना हो जाने पर जिससे योगी ४३ मिनट १२ सेकिण्ड श्वास रोके रक्खे, यह ध्यान की अवस्था योगी को प्राप्त हो जाती है।

(८) समाधि—

ध्यानावस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनों का ज्ञान योगी को बना रहता है, परन्तु जब यह हालत हो जाती है कि ध्याता भूल जाता है कि वह ध्याता है और यह भी कि ध्यान रूपी कोई क्रिया वह कर रहा है, इसका भी उसे ज्ञान नहीं रहता और केवल ध्येय ही उसके लक्ष्य में रह जाता है, तब इस अवस्था का नाम समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में योगी को दुःख, सुख, शीतोष्णादि का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, अब उसकी दृष्टि में न कोई मित्र है न शत्रु। न किसी बात में वह अपना मान समझता है और न अपमान। सोना, चाँदी, मिट्टी के ढेले से अधिक प्रतिष्ठा की वस्तु उसके लिये बाक़ी नहीं रह जाती। प्राणायाम के द्वारा जब एक घण्टा २६ मिनट और २४ सेकिण्ड तक योगी बिना श्वास के रहने लगता है, तब उसे समाधि की सिद्धि हो जाती है।

अष्टांग योग का परिणाम

जब इस प्रकार से योगी अष्टांग योग का अभ्यास करता है तब इससे उसका चित्त स्थिर रीति से एकाग्र हो जाता है और इस चित्त की एकाग्रता से उसे सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि हो जाती है।

योग के दो भेद

योग के दो भेद हैं (१) सम्प्रज्ञात (२) असम्प्रज्ञात। इन्हीं को सबीज और निर्बीज समाधि भी कहते हैं। सम्प्रज्ञात योग के समझने के लिये, इस योग के चार भेदों को, समझना चाहिए। इन भेदों का समष्टि नाम "समापत्ति" है।

समापत्ति और उसके चार भेद

जब चित्त की वृत्ति क्षीण हो जाती है और वह स्फटिकमणि के सदृश, निर्मल होकर ग्रहण (इन्द्रिय), ग्रहीता (अहङ्कार विशिष्ट-आत्मा) और ग्राह्य (इन्द्रियों के विषय) में, स्थित होती हुई उन्हीं के से रूप को प्राप्त हो जाती है, तब इस अवस्था का नाम योग दर्शन की परिभाषा में समापत्ति होता है, इस (समापत्ति) के चार भेद हैं:—

(१) सवितर्का—चित्त का किसी स्थूल पदार्थ (वृक्ष, गौ आदि) की तदाकारता प्राप्त कर लेने पर जब तक शब्द अर्थ और इन दोनों के मेल से जो ज्ञान होता है, उनके विकल्प का ज्ञान रहे तो वह सवितर्का है।

(२) निर्वितर्का—जब उसी स्थूल पदार्थ की तदाकारता होने पर केवल अर्थ का ज्ञान रह जावे तब निर्वितर्का समापत्ति कही जाती है।

(३) सविचारा—जब किसी सूक्ष्म वस्तु (सूक्ष्म भूत अथवा प्रकृति) की तदाकारता के साथ शब्द अर्थ और ज्ञान का विवेक बाक़ी रहे तब सविचारा।

(४) निर्विचारा—और जब केवल अर्थ का ज्ञान बाक़ी रह जावे तब निर्विचारा समापत्ति कही जाती है।

इन चारों भेदों की सिद्धि होने पर सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि की सिद्धि हो जाती है। भेदों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि इन में, चित्त की एकाग्रता, स्थूल या प्रकृति पर्यन्त सूक्ष्म विषयों तक, सीमित रहती है अर्थात् आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति ही काम करती रहती है। जब तक यह अवस्था चित्त की रहती है, तब तक चित्त एकाग्रता की सीमा में रहता है। चित्त की एकाग्रता की सीमा भी निर्विचारा समापत्ति में, इस जगह तक है, जहां चित्त अलिंग (प्रकृति) में एकाग्र हो जाता है।[1] इस के बाद चित्त की एकाग्रता और एकाग्रता का लक्ष्य, सूक्ष्म विषय दोनों की समाप्ति होकर, आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति का क्षेत्र भी समाप्त हो जाता है। इस के बाद चित्त के निरोध की सीमा का प्रारम्भ होता है। इस सीमा में घुसने से पहिले, जो योग्यता योगी को, सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि से, प्राप्त हो जाती है उसका कुछ उल्लेख कर दिया जावे तो अच्छा होगा। इस योग्यता का नाम योगदर्शन में विभूति रक्खा गया है।

योग की विभूति

योग की विभूति समझने से पहले संयम शब्द को समझ

---

1 देखो योग दर्शन 1 । ४५

लेना आवश्यक है। चित्त की एकाग्रता की योग्यता के भेद से, जो दर्जे, योगी के हो जाते हैं, वे तीन हैं :—

(१) धारणा की योग्यता वाले।

(२) ध्यान की योग्यता वाले।

(३) समाधि की योग्यता वाले।

इन तीनों योग्यताओं को एक साथ काम में लाने का नाम ही संयम है।[1] संयम कर सकने वाले योगी की, योग्यता के सम्बन्ध में, यह समझ लेना चाहिये कि जगत् में जो काम किये जा सकते हैं; चाहे उन्हें कोई साधारण पुरुष (अयोगी) असंभव ही क्यों न समझता हो, वे सभी काम, सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध योगी द्वारा, किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये कतिपय विभूतियों का यहां उल्लेख किया जाता है :—

पहली विभूति[2]—कहा गया है कि तीनों परिणामों[3] में संयम करने से अतीत (भूत) और अनागम (भविष्य) का ज्ञान योगी को हो जाता है[4]। साधारण स्त्री पुरुषों के लिये यह बात असम्भव समझी जाती है परन्तु योगी के लिये सर्वथा

(१) योग दर्शन ३। ४।

(२) योग दर्शन की टीका में, जो विभूतियों की संख्या पड़ी है, उन्ही के अनुसार, यहाँ जिस विभूति का भी उल्लेख किया जायगा, उन पर, संख्या, डाली जायंगी।

(३) योग दर्शन ३। १३

(४) योग दर्शन ३। १६

सम्भव है। संसार में, सम्भव— असम्भव शब्दों का प्रयोग, प्रयोग करने वाला, अपनी योग्यता को, लक्ष्य में रख कर ही किया करता है। एक बलशाली पुरुष के लिये २५—३० मन का पत्थर, अपनी छाती पर रख लेना, सम्भव है परन्तु एक निर्बल पुरुष के लिये, यह काम असम्भव है, अस्तु!

विभूति की व्याख्या—विभूति की सम्भावना समझने के लिये अतीत और अनागत शब्दों का भाव समझ लेना चाहिये। मनुष्य के अन्तःकरणों में, चित्त, वासना, स्मृति और संस्कारों का भंडार है। अन्तःकरण का, सविस्तार विवरण, आगे दिया जायगा। चित्त में, ये स्मृति और वासना आदि जन्म जन्मान्तर से, संगृहीत रहती हैं। सूक्ष्म शरीर की, स्थूल शरीर के साथ, मृत्यु न होने से, वह चित्त बराबर हज़ारों लाखों वर्ष से, जीवात्मा के साथ, बना रहता है और इसलिये अतीत (भूत) काल की स्मृति आदि भी, उस में, बनी रहती है। साधारण पुरुष उन्हें नहीं जान सकता परन्तु संयम करने से योगी के लिये, चित्त की स्मृति आदि का, पुराना भंडार ऐसा ही प्रत्यक्ष हो जाता है जैसे संसार के अन्य वर्तमान पदार्थ।

अनागत की सत्ता, फल अथवा कार्य्य-रूप में, होती है और उस का कारण, मनुष्य के वर्तमान और भूतकालिक किये जा रहे और किये गये कर्म, हुआ करते हैं। मनुष्य जितने भी कर्म करता है वे सब भी चित्त में अङ्कित रहते हैं और इन्हीं को कर्म की रेखा कहते हैं। योगी संयम द्वारा चित्त को साक्षात

कर के उन्हें और उन के द्वारा आयन्दे होने वाले इष्ट या अनिष्ट को भली प्रकार जान लिया करता है। इस प्रकार अतीत और अनागत दोनों का ज्ञान योगी को हो जाया करता है। इस में कुछ भी असम्भवता या अस्वाभाविकता नहीं है। अवश्य कोई भी योगी अतीत और अनागत का उतना ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है जितना ईश्वर को है, सो इसका दावा भी, विभूति सूचक सूत्र में, नहीं किया गया है।

दूसरी विभूति—दूसरी विभूति यह है कि योगी को अन्य प्राणियों (पशु पक्षी आदि) की बोली का ज्ञान हो जाता है। यह कुछ बहुत विलक्षण बात नहीं है। अनेक विद्वान्, जिन्होंने, अपना समय, पशु पक्षियों के विवरण जानने में, व्यय किया है, बहुत से पशु पक्षियों की बोली समझने लगते हैं।

चौथी विभूति—दूसरों के चित्त का ज्ञान प्राप्त कर लेना योगियों के लिये तो कुछ भी दुस्तर नहीं है जब कि आकृति विद्या (Science of facial expression) आदि के जानने वाले अयोगी विद्वान् भी, बहुत सी बातें, दूसरों के चित्त की इन विद्याओं की सहायता से जान लिया करते हैं।

नवमी विभूति—"सूक्ष्म, व्यवहित (आड़ में रहने वाली, चीजें) और दूर का ज्ञान हो जाना।" ये सूक्ष्म और व्यवहितादि शब्द, आँखों की योग्यता को कसौटी मानकर बनाये गये हैं। आँखों की रोशनी के लिये दीवार मनुष्य-शरीर आदि बाधक हैं। और वे आँख के प्रकाश को रोक लेते हैं उसे

पार नहीं जाने देते। परन्तु ऐसी रोशनी हैं जिनके लिये शरीरादि बाधक नहीं हैं जैसे "ऐक्स-रे" (X-Ray) जब योगी इतना शक्ति-सम्पन्न हो जाता है कि मन और चित्तादि से उसी प्रकार काम ले सके जैसे कि आँखों से लिया जाता है तब उसके लिये शरीर और दीवार आदि की आड़ नहीं रहा करती और उसे सूक्ष्म, दूर और आड़में होने वाली वस्तुओं का ज्ञान होजाया करता है।

दसवीं विभूति—"सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान हो जाना।" शरीर के अन्दर, जो रीढ़ की हड्डी में, नाड़ी है उसे सुषुम्णा या ध्रुव और उसके इधर उधर जो नाड़ियां हैं उन्हें इडा और पिंगला कहते हैं। इन्हीं का पारिभाषिक नाम ध्रुव, चन्द्र और सूर्य है, इन्हीं नाड़ियों में से सूर्य नाड़ी में संयम करने से भुवन का ज्ञान होजाता हैं। यह बात कुछ भी आश्चर्य्य की नहीं रहती यदि बेतार की तारवर्क़ी (Wireless telegraphy) की कार्य्य-प्रणाली को समझ लिया जावे। उसका बहुत स्थूल रूप यहां दिया जाता है।

बेतार की तार वर्क़ी की स्थूल-कार्य्य प्रणाली—इस कार्य्य प्रणाली का सुगमता से ज्ञान हो जाय इसके लिये चित्र (ज) और (ट) देखिये:—

१—"अ,क,ख" बेतार की तारवर्क़ी का खम्भा है। "त, ग," दूसरा खम्भा है जहाँ खबर भेजनी है।

अ
त
वायु
वायु
वायु
वायु
वायु
वायु
वायु
वायु
वायु
चित्र ट
चित्र ज
क
थ
न
ध
प
द
च
छ
ख
ग
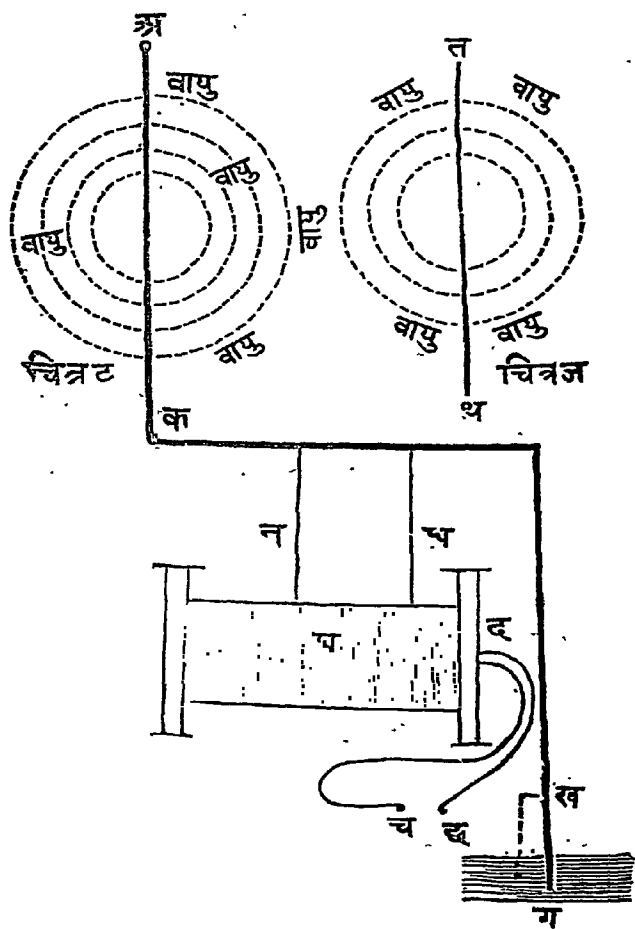
२—अ क वायु में सीधा खड़ा रहता है, उसका सिरा (अ) ऐसे मसाले से भर दिया जाता है जिस से बिजली इस रास्ते से खम्भे से निकल न सके।

३—"घ" जहाँ वहुत वेग के साथ बिजली पैदा होती है।

४—च और छ वे पुरजे हैं जहाँ बिजली की चोटें उत्पन्न होती हैं अर्थात् ऊपर का पुरजा 'च' नीचे के पुरजे 'छ' से इतने वेग से टकराता है कि प्रति क्षण अनेक चोटें उत्पन्न होती रहती हैं।

५—ग. पृथिवी है और ख के द्वारा "अ क" का सम्बन्ध पृथिवी से है। "अ क" एक तरफ वायु से और दूसरी ओर पृथिवी से सम्बन्धित है।

६—"घ"में विद्युत् उत्पन्न होता है और उसी विद्युत् से "च," "छ" से टकराकर, शीघ्रता से, चोटें मारता है। उन चोटों के प्रभाव से उत्पन्न हुआ विद्युत "अ क" तक "द, ध, न" के रास्ते से पहुँच कर नीचे ऊपर घूमने लगता है। यदि अ क की नोक 'अ' खुली होती तो बिजली, उधर से निकल कर, वायु में चली जाती, परन्तु उसके बन्द होने के कारण, वह विद्युत्, उसी अ,क खम्भे में वेग पकड़ता है और अत्यन्त वेगवान होजाने पर "अ,क" खम्भे के चारों ओर वृत्ताकार होकर घूमने लगता है जैसा चित्र (ट) में दिखाया गया है। "अ क" में धनात्मक(Positive) और ऋणात्मक (Negative) बिजलियां, एक दूसरे के बाद, घूमा करती हैं। इसी विद्युत

में जो समाचार कि "त थ" में भेजना है, वह मौजूद रहता है। वायु में भी दोनों प्रकार का विश्वव्यापी विद्युत् रहता ही है। इस लिये "अ,क" के चारों ओर घूमने वाला सन्देशपूर्ण विद्युत, वायुवाले विद्युत् में, होकर "त थ" के चारों ओर उपरोक्त प्रकार से घूमने वाले विद्युत् में पहुँच जाता है और इस प्रकार वह सन्देश पूर्ण विद्युत् "त थ" खम्भे में पहुँच जाता है जैसा कि चित्र (ज) में दिखाया गया है। और सन्देश जहां भेजना था वहां वह ले लिया जाता है।

विभूति का विवरण

यह है बेतार के तारवर्क़ी की कार्य्य प्रणाली। इसको लक्ष्य में रखते हुये, जब हम शरीर पर, दृष्टि डालते हैं तो वह भी विद्युत् का एक यन्त्र कहा जा सकता है। मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय में से एक ओर धनात्मक, और दूसरी ओर ऋणात्मक विद्युत् बहता और उत्पन्न होता रहता है। पृथ्वी और सूर्य्य में उपस्थित ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत्, शरीर के विद्युत् को खींचते रहते हैं। प्राणायाम करते हुये जब बल पूर्वक रेचक और देर तक ठहरने वाला बाह्य-कुम्भक किया जाता है, और दुहराया तिहराया जाता है तब शरीर पसीना पसीना हो जाता है, नसें तड़पने लगती हैं, रक्त में उबाल सा आने लगता है, चेहरा सुर्ख़ हो जाता है, हृदय की धड़कन मध्यम पड़ने लगती है, नब्ज़ छूटने सी लगती है और हृदय तथा मस्तिष्क दोनों में विद्युत् का वेग बहुत बढ़ जाता है। इस अवस्था को प्राप्त हुये शरीर की तुलना बेतार की तारवर्क़ी यन्त्र से करो।

शरीर और यन्त्र की समता

सुषम्णा का निचला भाग मूलाधार पृथ्वी स्थानीय है और यहीं से इडा और पिंगला (चन्द्र+सूर्य्य) एक दूसरे को काट कर मस्तिष्क की ओर चलती हैं। इन नाड़ियों को "अ,क,ख" स्कन्ध स्थानी समझें। इनकी ऊपरी नोक अ "ब्रह्मरन्ध्र" चक्र है। जिस "घ" प्रकार में विद्युत् उत्पन्न होकर "अ,क,ख" में पहुँचता है इसी प्रकार, योगी, प्राणायम के द्वारा, उदय होते हुये सूर्य्य से, विद्युत् ग्रहण करने के अभ्यास से, वहु मात्रा में विद्युत् ग्रहण करता तथा उसमें रेचक और पूरक द्वारा चोट लगने के सदृश, वेग उत्पन्न करता इस वेग में आये हुये विद्युत् को, कुण्डलिनी मुद्रा के अभ्यास से, योगी सूर्य्य, चन्द्र और ध्रुव नाड़ियों में ब्रह्मरन्ध्र की ओर भेजता है। इस अभ्यास को करते हुये योगी, गीता के निम्न वाक्यानुकूल, अपने शरीर के सभी द्वारों को जहाँ से विद्युत और प्राण बाहर जा सकते थें, वन्द किये रखता है:—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योग-
धारणाम्॥ (गीता ८। १२)

जिस प्रकार "अ" नोक के वन्द होने से विद्युत् की चोटों के निकलने का मार्ग वन्द रहता है इसी प्रकार इन सूर्य्य, चन्द्र और ध्रुव, शरीर में खड़ी नाड़ियों के द्वार, बन्द होने से विद्युत् बाहर न जाकर इन्हीं नाड़ियों और शरीर के चारों ओर घूम कर

वायु में रहने वाले विश्वव्यापी विद्युत् से मेल करके, उनके अन्तर्गत जो भी क्रियायें, होती हैं अथवा जो कुछ उनके अन्दर निहित होता है, उन सब परोक्ष की बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इन क्रियाओं के साथ योगी, अपनी धारणा, ध्यान और समाधि से उत्पन्न शक्ति को भी सूर्य्यादि नाड़ियों में (संयम द्वारा) लगा कर, इन क्रियाओं में, सीमा और अत्यन्त उत्तेजना भी पैदा कर देता है जिससे इष्ट सिद्धि में और भी अधिक सुलभता हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि सूर्य्य नाड़ी में संयम करके योगी शरीर से बाहर परोक्ष रूपी भवन का ज्ञान प्राप्त कर लिया करता है।

ग्यारहवीं और बारहवीं विभूतियों में आये तारा व्यूह का अर्थ शरीरस्थ सूक्ष्मातसूक्ष्म नाड़ी हैं जो इन्हीं सूर्य, चन्द्र और ध्रुव नाड़ियों से मिल कर नाड़ी गुच्छक (Nervous System) और सूर्य्यादि चक्र (Plaxus) बनाती हैं जिनका और जिनकी गति आदि का ज्ञान, इन्हीं चक्रों द्वारा, सूर्य, चन्द्र और ध्रुव नाड़ियों में संयम से, योगी को हो जाया करता है।

तेरहवीं विभूति नाभि, शरीर का केन्द्र, समझी और मानी जाती है। केन्द्र में संयम करने से शरीर रचना का ज्ञान हो जाना स्पष्ट ही है। अन्य विभूतियों के सम्बन्ध में जो ज्ञातव्य था वह सूत्रों की व्याख्या में अङ्कित किया जा चुका है। सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध योगी की अपूर्व योग्यताओं का वर्णन करने के बाद, अब असम्प्रज्ञात योग की ओर चलना चाहिये और देखना चाहिये कि चित्त की वृत्तियों का निरोध, किस प्रकार किया जा सकता है।

चित्त की वृत्तियों का निरोध

जिस समय, चित्त की वृत्तियों की, एकाग्रता हो जाने से, मन और इन्द्रियां, योगी के वश में हो जाती हैं, तब वह अपनी उपलब्ध सामर्थ्य से, मन और इन्द्रियों के काम को बन्द करके, जागृतावस्था को, सुषुप्तावस्थावत् बना देता है। इसका फल यह होता है कि मन और इन्द्रिय दोनों का, काम रुक जाने से, आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति का काम बन्द हो जाता है। दोनों वृत्तियों में से, एक न एक सदैव जारी रहती हैं, जैसा पहला कहा जा चुका है, इसलिये बहिर्मुखी वृत्ति के बन्द होने का अनिवार्य्य फल यह होता है कि अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हो जाती है। इस अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत होने का तात्पर्य यह है कि चित्त की वृत्तियां निरुद्ध हो गईं। इतना जान लेने पर अब यह बतलाने चेष्टा की जाती है कि साक्षात् साधन, चित्त की वृत्तियों के रोकने के, क्या हैं?

चित्त की वृत्तियों के रोकने के कुछ एक सहायक साधन

किस साधन से कौन सी वृत्ति निरुद्ध हो जाती है, अब यह बतलाया जाता है:—

चित्त की वृत्तियां ५ हैं। उनमें से

(१) स्मृति वृत्ति का निरोध, आसन की सिद्धि और प्राणायाम के अभ्यास से, होता है।

(२) निद्रावृत्ति का निरोध, प्रत्याहार और धारणा के अभ्यास से, होता है।

(३) विकल्प वृत्ति का निरोध, ध्यान से, होता है।

(४) विपर्यय वृत्ति का निरोध, समाधि से, होता है। इस प्रकार इन ४ वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से, पांचवीं प्रमाण वृत्ति स्वयमेव निरुद्ध हो जाती है।

वृत्तियों के निरोध का कोशों पर प्रभाव

(१) स्मृति वृत्ति के निरोध से, अन्नमय कोष का आवरण, बाधा रहित हो जाता है।

(२) निद्रा वृत्ति के निरोध से, प्राणमय कोष निर्दोष हो जाता है।

(३) विकल्प वृत्ति के निरोध से, मनोमय कोष का परित्याग हो जाता है।

(४) विपर्यय वृत्ति के निरोध से, विज्ञानमय शरीर परित्यक्त हो जाता है।

इस प्रकार बचा हुआ केवल आनन्दमय कोष होता है जो अन्त में शरीर के साथ छूट जाता है।

वृत्तियों के निरोध होने पर योगांगों का अवस्थाओं पर प्रभाव

(१) प्राणमय से, जागृत अवस्था पर।

(२) प्रत्याहार से, स्वप्नावस्था पर।

(३) धारणा से, सुषुप्तावस्था पर।

(४) ध्यान से मूर्च्छावस्था पर।

(५) समाधि से, मृत्यु पर।

अधिकार प्राप्त करके योगी स्वेच्छया अपने स्वरूप (आत्म स्वरूप) में प्रतिष्ठित होता है।

आसन की सिद्धि का अभिप्राय

स्मृति के निरोध के लिये आसन की सिद्धि की बात ऊपर कही गई है। जहां तक राजयोग का सम्बन्ध है, आसन साधने के लिये अनेक प्रकार के आसनों के अभ्यास की जरूरत नहीं है किन्तु पद्मासनादि में से किसी एक आसन में ४ घण्टे ४८ मिनट या कम से कम ३ घण्टा ३६ मिनट पर्यन्त विना दुःख और विना किसी अंग के हिलाये बैठे रहना, यह आसन की पूर्वाङ्ग सिद्धि है। इसके बाद अन्नमय (स्थूल) शरीर का संयमन करके उसी आसन में, विना गिरे (लेटे), सो सकना यह आसन की अन्तिम सिद्धि है।

चित्त की वृत्तियों के निरोध पर्यन्त विवरण देने के बाद अब यह बतला देना आवश्यक है कि किस प्रकार कोई नया आदमी जिसे योगाभ्यास करने की इच्छा हो, अभ्यास कर सकता है।

योगाभ्यास का क्रियात्मक रूप, यमों का साधना

सब से पहली बात, जो जिज्ञासु में होनी चाहिए, और जिसके विना, कोई भी, योग की दुनियाँ में, दाखिल नहीं हो सकता, श्रद्धा है। किसी पुरुष को भी, जिसका हृदय श्रद्धा से शून्य है, योग नहीं आ सकता।

श्रद्धा

श्रद्धा किसे कहते हैं । श्रद्ध (श्रत+धा) सचाई के धारण करने का नाम है । सचाई का ज्ञान तर्क से हुआ करता है और ज्ञान होने पर उसे हृदय में धारण कर लेना, श्रद्धा कहलाता है । हृदय में धारण कर लेने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य उस के विपरीत आचरण न कर सके । श्रद्धा रखते हुये सब से पहले, यमों के हृदय में धारण करने का, अभ्यास करना चाहिये । अभ्यास किस प्रकार हो ? यमों में से एक अहिंसा को लेकर, वह प्रकार बतलाया जाता है:—

(१) सब से पहिले अहिंसा के ग्रहण और धारण करने की प्रबल इच्छा मनुष्य के हृदय में होनी चाहिये ।

(२) उसे ऐसे ग्रन्थों का अध्ययन करते रहना चाहिये जिस में अहिंसा की श्रेष्ठता बतलाते हुये, हिंसा के दोष दिखलाये गये हों ।

(३) अभ्यासी जहाँ रहता हो वहाँ मोटे अक्षरों में "अहिंसा परमो धर्मः" । इस या ऐसे ही वाक्यों को, आमने सामने, इधर उधर, चारों ओर मोटे कागज़ पर लिख कर टाँग ले, जिस से बिना इच्छा के, अनायास, अभ्यासी की दृष्टि, उस पर पड़ती रहे ।

(४) प्रातः काल उठते ही, बिस्तर छोड़ने से पहले, उसे अहिंसा पालन रूप व्रत को धारण करते हुये, ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि उस का प्रयत्न सफल हो । उसे उच्च स्वर से

३ वार यह उच्चारण करना चाहिये कि "मैंने अहिंसा पालने का व्रत लिया है; मैं कदापि कोई कार्य्य उस व्रत के विपरीत न करूँगा"। और समयों में भी इस व्रत का स्मरण करते रहना चाहिये।

(५) रात्रि में सोते समय फिर उपर्युक्त वाक्य को, उस के एक एक शब्द को, भली प्रकार ध्यान में रखते हुये, उच्च स्वर से, उच्चारण कर के, ईश्वर से, उस की पूर्ति की प्रार्थना, करते हुये, सो जाना चाहिये, इस प्रकार, कि सोते समय के अन्तिम विचार, यही हों।

कम से कम एक मास तक, इस क्रिया को, इसी प्रकार काम में लाना चाहियें। इस के बाद अहिंसा के साथ सत्य को शामिल कर के पूरे दूसरे मास में अहिंसा और सत्य दोनों के, सम्मिलित व्रत के ग्रहण करने की चेष्टा, करनी चाहिये। जो अहिंसा परक वाक्य कमरे में चारों ओर लगाये गये थे अब उस के स्थान में यम परक पूरे सूत्र को जिस में पाँचों यमों का वर्णन है[1] लगा लेना चाहिये। इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिये कि कोई काम इस व्रत के विपरीत न हो। यदि कभी भूल से कोई विपरीत कार्य्य हो जाय तो उस का उसी दिन प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये।[2] दो मास बीतने पर अब

(१) सूत्र ३० पाद (२)

(२) ऐसे अवसरों पर दो प्रकार के प्रायश्चित्त उपयोगी होते हैं। (क) या तो एक दिन उपवास कर लिया जाय (ख) या रात्रि में दो घण्टे सार्थक गायत्री मन्त्र जप लिया जावे।

पाँचों यमों को अपने वृत्त में सम्मिलित कर के उन सब का उपर्युक्त भाँति अभ्यास करे। यह अभ्यास (सम्पूर्ण) तीसरे मास तक जारी रखना चाहिये। यह यमों का प्रारम्भिक अभ्यास है।

नियमों का अभ्यास

यम के अभ्यास में ३ मास व्यतीत कर के, ३ मास नियमों के अभ्यास में, इस प्रकार व्यतीत करने चाहियें कि यम वाले सूत्र के साथ नियम वाले सूत्र को[1] शामिल कर के अब चौथे मास से, व्रत में, दोनों सूत्रों को, सम्मिलित कर के, समस्त उपर्युक्त क्रियायें दोनों सूत्रों के सम्बन्ध में करनी चाहियें। इस प्रकार छः मास तक, तो पूर्ण तत्परता से, ये अभ्यास करने चाहियें। उस के बाद इस बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि यम और नियम के विपरीत आचरण करने से अभ्यासी कभी योगी नहीं बन सकता, इसलिये उन्हें (यम नियमों को) सदैव ध्यान में रखते हुए दूसरी क्रियायें करनी चाहियें।

आसन का अभ्यास

यम और नियमों के अभ्यास के साथ साथ ही आसन और प्राणायाम दोनों का अभ्यास किया जा सकता है। आसन का अभ्यास पद्मासन[2] से शुरू करो। पद्मासन से बैठ कर बिना हिले

---

(१) देखो योग दर्शन पाद २ सूत्र ३२।

(२) यदि किसी को किसी कारण से यह पद्मासन अनुकूल न

जुले, बिना शरीर की स्थिति बदले, जितनी देर बैठ सकते हो बैठो। जब न बैठ सको तब आसन-भंग करके किसी प्रकार से भी बैठ कर दो चार मिनट आराम लेकर, फिर उसी आसन का अभ्यास शुरू कर दो। कम से कम दो घण्टे तक यह अभ्यास करते हुए देखो कि कितनी वार तुम्हें आसन भंग करने के लिये विवश होना पड़ा। दूसरे दिन इच्छा रक्खो कि उससे कम मात्रा में आसन भंग हो। इसी प्रकार उत्तरोत्तर आसन के भंग होने की मात्रा, कम करते करते यहाँ तक पहुँच जाओ, कि दो घण्टे में, एक वार भी आसन भंग न करना पड़े। जब दो घण्टे, एक आसन से बैठने का अभ्यास पूरा हो जावे, तब इस अभ्यास को बढ़ा कर कम से कम इतना कर लेना चाहिये कि जिससे ३ घंटा ३६ मिनट तक एक आसन से बैठा जा सके। इतना अभ्यास कर लेने से आसन सिद्ध हुआ समझा जा सकता है।

प्राणायाम का अभ्यास

आसन के अभ्यास के साथ साथ ही प्राणायाम का अभ्यास भी शुरू किया जा सकता है। अच्छा तो यह होता है कि एक घण्टा एक आसन से बैठने का अभ्यास कर लेने के बाद प्राणायाम शुरू किया जावे। प्राणायाम का अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये कि पहले केवल रेचक का अभ्यास किया जावे अर्थात् नियमित आसन से बैठ कर मुँह बन्द रखते हुए नाक से श्वास

हो तो वह अन्य किसी सुगम आसन से बैठ कर यह अभ्यास कर सकता है। शीर्षासन आदिकों की गणना, सुगम आसनों में, नहीं है।

निकाल दो, कुछ क्षणों के बाद फिर निकाल दो। इस प्रकार बीच बीच में बहुत थोड़ा थोड़ा अवकाश दे दे कर श्वास निकालते रहो, जब इसमें असाधारणता न मालूम पड़े, तब इसे छोड़ कर पूरक (श्वास भीतर ले जाने) का अभ्यास करो और यह भी रेचक की तरह थोड़ा थोड़ा अवकाश देकर, बराबर करते जाओ। जब इसमें भी असाधारणता न मालूम पड़े तो इसे छोड़ कर अब पूरा प्राणायाम करना शुरू कर दो। इस प्रकार कि पहले रेचक करो और रेचक करके बाह्य कुम्भक करते हुए बिना श्वास लिये रहो। जब चित्त घबड़ाने लगे तब पूरक करके आभ्यन्तर कुम्भक रखते हुए श्वास को भीतर ही रोके रक्खो। जब भीतर और अधिक श्वास न रोका जा सके तब फिर रेचक करते हुए दूसरा प्राणायाम शुरू करदो। इस प्रकार प्रारम्भ में यह अभ्यास १५ मिनट से शुरू करके क्रमशः बढ़ाते हुए एक घण्टे तक पहुँचाओ और यत्न करो कि आभ्यन्तर कुम्भक तीन मिनट तक हो जावे। इतना हो जाने पर समझना चाहिए कि अभ्यासी का प्राणायाम की दुनियां में प्रवेश हुआ और अब वह अनेक प्रकार के प्राणायाम कर सकता है। प्राणायाम की जरूरत समाधि पर्यन्त रहती है। जो चित्र नीचे दिया जाता है उससे प्रकट होगा कि प्राणायाम में कितनी उन्नति कर लेने से अभ्यासी, प्रत्याहार आदि योग के अन्तिम अंगों की सिद्धि कर सकता है। प्राणायाम की प्रत्येक क्रिया के साथ, ओ३म् का मानसिक जप करते रहना चाहिये। इस जप का विवरण आगे दिया जायगा।

सं०	योगाङ्ग	पूरक	कुम्भक	रेचक
(१)	प्राणायाम	१२ सेकिंड	३२४ सेकिंड	२४ सेकिंड
(२)	प्रत्याहार	"	६४८ "	"
(३)	धारणा	"	१२९६ "	"
(४)	ध्यान	"	२५९२ "	
(५)	समाधि	"	५१८४ "	"

नोट (२)—रेचक और पूरक का अभ्यास इसप्रकार करना चाहिए जिस से वे उपर्युक्त अवधि ही में पूरे हुआ करें। १५-२० दिन में, ध्यान रखने से, यह होजाया करता है। पूरक और रेचक की मात्रा, आरम्भ में कम की जासकती है परन्तु उनमें निस्बत यही रहनी चाहिए।

नोट (३) कुम्भक की मात्रा, ५१८४ सेकिंड अथवा एक घण्टा २६ मिनट २४ सेकिंड हो जाने पर, समाधि लगना प्रारंभ हो जाता है।

प्रत्याहार—प्रत्याहार का शब्दार्थ पीछे खींच लेना, पीछे हटा लेना, इन्द्रिय-दमन आदि है। यहाँ योग-दर्शन में इस अंग का उद्देश्य यह है कि आत्मा की शक्ति, जो बहिर्मुखी वृत्तिद्वारा, समस्त इन्द्रियों और शरीर के अन्य अंगों में फैली हुई है, उसे एकत्रित करलेना। जिस का फल यह होता है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से समागम बन्द हो जाता है और इस प्रकार इन्द्रियां निगृहीत हो जाती हैं। इसकी सिद्धि के दो साधन हैं।

(१) प्राणायाम का अभ्यास बढ़ा कर इतनी योग्यता रेचक पूरक और कुम्भक की कर लेनी चाहिए जो ऊपर वाले चित्र में, प्रत्याहार के सामने, अंकित हैं।

(२) अभ्यासी को, अपने हृदय को, निम्नांकित भावों से भर लेना चाहिए।

(क) मैं आत्मा हूँ। शरीर मेरे कार्यों का साधन औजार की तरह मेरे अधिकार में है।

(ख) मैं शरीर से पृथक् हूँ और शक्ति, विचार और चेतना का केन्द्र हूँ।

(ग) मैं अमर हूँ। मेरा कभी नाश नहीं हो सकता।

समय समय पर सोते जागते, उठते बैठते, चलते फिरते सदैव इनका स्मरण करते रहना चाहिए जिस से अभ्यासी को इनका निश्चयात्मक ज्ञान होने लगे। प्राणायाम की पूर्ति और इन तीनों विचारों का, निश्चयात्मक ज्ञान होजाने से, अभ्यासी अनुभव करने लगता हैं कि उसका इन्द्रियों पर अधिकार है और यह कि इन्द्रियों का उनके विषयों से सम्बन्ध टूटा हुआ है।

धारणा—धारणा की पूर्ति के लिए ३ प्रकार के अभ्यास का करना आवश्यक है :—(१) प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाते २ पूरकादि की मात्रा उतनी कर लेने से, जो उपर्युक्त चित्र में धारणा के सामने अंकित है, चित्त, भली भांति एकाग्रित हो जाता है।

(२) निम्न भावों से हृदय को पूरित करके उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनी चाहिये जिससे उनकी सत्यता में कुछ भी सन्देह बाक़ी न रहे।

(क) मैं स्वतन्त्र आत्मा हूं। चित्तादि अन्तःकरण मेरे कार्यों के साधन औज़ार की तरह हैं।

(ख) मैं अन्तःकरण से पृथक् हूँ और उसका स्वामी हूं।

(ग) मैं अमर हूँ समस्त शक्तियों का केन्द्र हूँ। मैं कदापि नहीं मर सकता।

(३) चित्त की एकाग्रता के, कुछ के प्रारम्भिक अभ्यास करके, उन बातों में चित्त लगाना चाहिये जिनका वर्णन योग दर्शन के पहले पाद में ३२ से लेकर ३८ वें सूत्र तक में है।

चित्त की एकाग्रता के प्रारम्भिक अभ्यास—ये अभ्यास दो प्रकार के हैं (१) स्थूल (२) सूक्ष्म। स्थूल अभ्यास यह है कि किसी दीवार या बोर्ड आदि पर एक रुपये के बराबर निशान हरे रंग से बना लो (देखो चित्र (क) पृष्ठ ५२) और उसको नियम से प्रति दिन एक घण्टा या जितना अधिक सम्भव हो चित्त लगा कर देखो और उसे लक्ष्य बनाकर देखते हुए, यत्न करो कि तुम्हारे चक्षुओं की एक एक प्रकाश किरण, उस लक्ष्य के भीतर हो जावे और उस लक्ष्य के बाहर कुछ न दिखाई दे। २ मास तक अभ्यास करने से, इसमें सफलता होने लगती है। जब (क) लक्ष्य के बाहर कुछ न दिखाई दे तब वही अभ्यास क्रमशः ख, ग, घ, च, छ और ज में करना चाहिये जब यहां तक उन्नति हो जावे
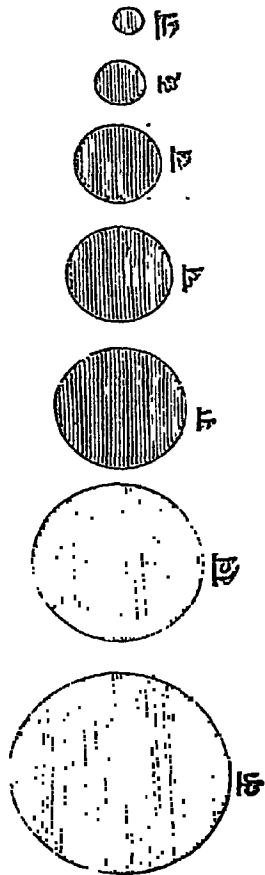
कि (ज) विन्दु के वाहर कुछ न दिखाई देवे तब इस स्थूल अभ्यास को समाप्त समझ कर, इसके बाद का सूक्ष्म अभ्यास करना चाहिये। यह सूक्ष्म अभ्यास यह है कि चित्र (क) को आंख बन्द करके चिन्तन करो। जब अच्छी तरह से यह चित्र जहन में आ जावे तब इसके दो टुकड़े करके, एक को छोड़कर, दूसरे अर्थ चन्द्राकार टुकड़े पर, चित्त लगाओ। जब वह कल्पना में ऐसा ही स्पष्ट हो जावे जैसा लक्ष्य (क) था तब फिर उसके भी दो ख्याली टुकड़े करके उनमें से एक को छोड़ दो और दूसरे टुकड़े पर चित्त लगाओ। जब यह टुकड़ा भी वैसा ही स्पष्ट हो जावे जैसा लक्ष्य (क) था तब फिर इसके भी दो टुकड़े करो। इसी प्रकार टुकड़े करते और एक को छोड़कर दूसरे टुकड़े में चित्त लगाते जाओ। यहां तक कि लक्ष्य (क) का सौवां ($\frac{1}{100}$) टुकड़ा तुम्हें इतना ही स्पष्ट दिखाई देने लगे जैसा लक्ष्य (क), तब समझना चाहिये कि यह सूक्ष्म अभ्यास भी पूरा होगया। इन प्रारम्भिक अभ्यासों के करने से चित्त के एकाग्र कर लेने की कुंजी अभ्यासी के हाथ आ जाती है। अब जिस वस्तु में भी, चित्त एकाग्र करना चाहोगे, हो जायगा। जप से भी चित्त एकाग्र हो जाता है उसका आगे वर्णन होगा।

ध्यान—धारणा के अभ्यासों से चित्त एकाग्र हो जाता है। यह एकाग्रता जब बराबर बनी रहती है तब इसी समावस्था का नाम ध्यान हो जाता है। उसको इस प्रकार समझना चाहिये कि प्रत्याहार और धारणा के अभ्यासों से, अभ्यासी का,

इन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों पर, अधिकार हो जाता है। ध्यान की अवस्था प्राप्त होने के लिये अन्तः और बाह्य दोनों करणों का काम बन्द करना चाहिये। जब इनका काम बन्द हो जाता है तब आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति का काम भी, मानों बन्द हो जाता है तब अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जागृत होकर अपना काम करने लगती है और उस समय अभ्यासी का आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी अवस्था को प्राप्त कर लेना ध्यान है। धारणा के अभ्यासों तक जितनी क्रियायें बतलाई गई हैं उन सभी का सम्बन्ध अन्तः और बाह्य करणों से रहता है परन्तु ध्यान की सीमा में पहुंचने के अर्थ यह हैं कि इन सब, दोनों प्रकार के करणों का काम बन्द हो गया और ध्यानावस्था में पहुंचने का, इसीलिये, अर्थ यह है कि अब अभ्यासी आत्मरत हो कर आत्मक्रीड़ा में लग गया। इस अवस्था तक पहुंचाने या ध्यानावस्था लाने के लिये प्राणायाम और जप भी साधन हैं। जब अभ्यासी रेचक पूरकादि का इतना अभ्यास कर लेता है जो ऊपर दिए हुए चित्र में ध्यान के सम्मुख अङ्कित हैं तब भी उससे बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होकर ध्यानावस्था में आने के द्वारा, अन्तर्मुखी वृत्ति का काम, जो केवल आत्मा से सम्बन्धित है प्रारम्भ हो जाता है। जप की बात आगे कही जायगी।

समाधि—आत्मरत हो कर जिस आत्मक्रीड़ा का प्रारम्भ ध्यानावस्था में अभ्यासी करता है उसकी पूर्ति इस समाधि की अवस्था में हो जाती है। इसका भी साक्षात् अभ्यास प्राणायाम

और जप के सिवा और कुछ नहीं है। एक घण्टा या उससे भी अधिक जब योगी बिना श्वास लिये रहने लगता है तब समाधि अवस्था का प्रारम्भ हो जाता है। यदि समाधि घण्टों ही नहीं रहती बल्कि दिनों और सप्ताहों तक पहुँचती है[1]। इसका अधिक

---

(१) बिहार (पटना) के मेडीकल कौलिज में, जो मेडीकल ज्यूरिस प्रूडेन्स (Eedical Jurisprudence) पढ़ाया जाता है, उसमें एक परीक्षण का उल्लेख है:—१८८६ ई० में देहली में डाक्टर एच० सी० सैन और उनके भाई म० चन्द्रसेन म्यूनिसिपल सेक्रेटरी ने एक योगी की, जो पद्मासन से समाधि की अवस्था में बैठा हुआ था, जाँच की। नबज़ बिलकुल बन्द थी, हृदय की धड़कन का भी कुछ चिह्न अवशिष्ट नहीं था। उस योगी को, इसी हालत में उठाकर एक ईंटों से बनी हुई कोठरी में रख दिया गया और देहली के सिटी मजिस्ट्रेट ने, कोठरी का ताला लगाकर उस पर अपनी मुहर कर दी। २३ दिन बीतने के बाद कोठरी खोली गई। योगी उसी अवस्था में बैठा हुआ मिला परन्तु उसके चेहरे से मौत के चिह्न दिखाई देते थे। उसकी खाल कड़ी हो गई थी। वह कोठरी से निकाला गया और मुँह से शहद मला गया और शरीर की तेल से मालिश की गई। सायंकाल को कुछ जीवन के चिह्न दिखाई देने लगे। उसको एक चम्मच दूध पिलाया गया। कई दिन वह मामूली भोजन करने योग्य हो गया और इस जाँच के कई वर्ष बाद तक वह ज़िन्दा देखा गया था।

(Premature Burial by W. Tebb 1896 P. 44 & 45 puoted in the Lyon's Medical Jurisprudence for India by L. A. Waddrll C. B. p. 79)

वर्णन करना व्यर्थ है। उपनिषद् के शब्दों में इतना ही कह देना काफी है:—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि
यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥ (मैत्र्युपनिषद् ६।३४)

अर्थात् मलों के दूर होने पर समाधिस्थ होकर आत्मरत होने से जो आनन्द प्राप्त होता है वह वाणी से नहीं कहा जा सकता, यह तो स्वयं अन्तःकरण से ग्रहण किया जाता है। अस्तु! क्रियात्मक योग का वर्णन करने के बाद, जप का कुछ वर्णन कर देना आवश्यक है।

जप

जप का आरम्भ योगाभ्यास में प्रारम्भ ही से किया जाता है। इसकी दो सूरतें हैं। प्रारम्भ में तो जप गुण-वृद्धि के लिये किया जाता है और अन्त में वाच्य को हृदय में प्रत्यक्ष करने के लिये। दोनों का विवरण कुछ खोलकर नीचे दिया जाता है:—

जप की पहली सूरत गुण वृद्धि—इस पहली सूरत वाले जप के लिये ईश्वर के ऐसे गुण वाचक नामों को छाँट लिया जाता है जिन गुणों की मनुष्य में आने की सम्भावना होती है। उदाहरण के लिये मित्र, वरुण, आर्य्यमा, ओम् आदि नामों का जप किया जा सकता है क्योंकि इन नामों से ईश्वर की समदृष्टता, श्रेष्ठता

न्याय और रक्षा आदि गुणों का प्रभाव, जप कर्ता की आत्मा पर, पड़कर बार बारके अभ्याससे, वे गुण उसमें आ जाया करते हैं। परन्तु सविता, (रचयिता) सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, फलदाता आदि नामों की, जप के लिये, सार्थकता नहीं है। क्योंकि इन नामों से जो गुण प्रकट होते हैं, उनकी मनुष्यों में आने की सम्भावना नहीं है*। इसलिये जप को पहली सूरत यह है कि उससे अर्थ के चिन्तन द्वारा चित्त को एकाग्र किया जावे और अपने में, साथ साथ, गुण वृद्धि भी, की जावे।

जप की दूसरी सूरत परमात्म प्रत्यक्ष—जप की दूसरी सूरत यह है कि वाचक के अर्थ (वाच्य) को हृदय में देखा जावे। यह जप की अत्यन्त उत्कृष्ट और अन्तिम सूरत है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिये जप असाधारण मात्रा में किया जाता है। यह असाधारण मात्रा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के भेदों से चार हिस्सों में बँटी हुई है—(१) प्रत्याहार की सिद्धि के लिये यदि ओम् का मानसिक जप लगातार एक आसन से ९६००० बार किया जावे तो सफलता हो सकती है। इसी प्रकार धारणा के लिये १४४०००

---

* राम, कृष्ण आदि का नाम, यदि ईश्वर के नाम ठहराये भी जा सकें, तो भी इनकी जप के लिये कुछ भी उपयोगिता नहीं है। कृष्ण के अर्थ काले आदि के हैं, इस गुण के मनुष्य में लाने का प्रश्न भी नहीं हो सकता। राम के अर्थ ("रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः" की व्युत्पत्ति से) सर्व व्यापक या सर्वाधार भी किये जावें तब भी यह गुण मनुष्य में नहीं आ सकता।

ध्यान के लिये १७२८००० और समाधि के लिये २०७३६००० बार जपने से योगी सफल मनोरथ हुआ करता है। जप की मर्य्यादा यह नहीं है कि इतनी विस्तृत संख्या कोई गिने, किन्तु नियम के साथ १००० बार सार्थक ओम् का जप करके देख लिया जाता है कि कितना समय इस जप में लगा और इसी हिसाब से पूरे जप की समाप्ति की अवधि निकाल कर जप शुरू करने से पहले भली भाँति समझ लिया जाता है कि इतने काल तक जप में बैठना है। छः घण्टे लगातार एक आसन से बैठकर जप करने से मन की चञ्चलता दूर होकर वह बिलकुल शिथिल और इन्द्रियों से काम लेने से, उदासीन सा हो जाता है। बस इसके बाद जितनी देर भी अधिक बैठा जाता है उससे उतना ही अधिक आत्मिक कल्याण हुआ करता है।

जप और प्राणायाम

प्राणायाम की प्रत्येक क्रिया के साथ ओम् का मानसिक जप किया जाया करता है। जितना ही अधिक जप किया जाता है उतनी ही अधिक कुम्भक की मात्रा बढ़ती जाती है। इस प्रकार प्राणायाम से जप और जप से प्राणायाम की उपयोगिता बढ़ती है। ओंकार का जप ही सर्वश्रेष्ठ जप है इसीलिये योगाचार्य्य पतञ्जलि और इसीलिये वेद ने भी "ओं क्रतो स्मर" (हे जीव ओम् का जप कर) के द्वारा ओंकार के जप का विधान किया है। अस्तु ! यहाँ तक पहुँचने के बाद अन्तः और बहिः वृत्तियों को समझने के लिये अन्तःकरणों का समझ लेना आवश्यक है:—

अन्तःकरण

अन्तःकरण इच्छा-शक्ति की प्रेरणानुसार काम करते हैं।

१—इच्छा शक्ति=इच्छा नहीं अपितु शक्ति है। (ईश्वर में यही शक्ति है=ईक्षण+तप)

२—इच्छा शक्ति का विकास उससे काम लेने से होता है। (सन्ध्या में उसका प्रयोग)

इच्छा से काम लेने से तत्काल परिणाम निकलता है।

३—इच्छा शक्ति के विकास से मनुष्य में समता आती है। समता =वासना + चेष्टा का अभाव।

४—इच्छा शक्ति सहस्र दल में मस्तिष्क के ठीक ऊपर रहती है। शक्ति से नीचे बुद्धि (मेधा) का स्थान है। उससे नीचे (मस्तिष्क के मध्य में) साधारण (तार्किक) बुद्धि का स्थान है। वक्ष में हृदय से ठीक ऊपर मन (इन्द्रियों के नियंता) की जगह है। हृदय और नाभि के बीच में चित्त रहता है। इसके नीचे सूक्ष्म-प्राण रहते हैं।

५—इच्छा शक्ति (Will) इन अन्तःकरणों के द्वारा काम करती है।

१ बुद्धि के द्वारा	=विचार+ज्ञान
२ मन ,,	=इन्द्रिय व्यापार
३ चित्त ,,	=भाव (Emotion)+वासना
४ प्राण ,,	=भोग के लिये।

जब इ । करणों का काम ठीक चलता है तब शक्ति के काम में वाधा न पड़ने से शक्ति का विकास और वृद्धि होती है। परन्तु इसके लिये आवश्यक है कि तामसिक उदासीनता और राजसिक (अनियमित) कर्तव्य से वचते रहें।

६—चित्त जब प्राण शेष ३ के व्यापार में दखल देता है तो इन्द्रियों की गुलामी होती है।

जब चित्त शेष ३ के व्यापार में दखल देता है तो भावुकता पढ़कर मन+बुद्धि वेकार होत है।

जब मन शेष ३ काम में दखल देता तो वह, केवल इन्द्रिय ज्ञान ही से सब की नाप तौल करता है।

जब बुद्धि (तर्क) उच्च बुद्धि (ज्ञान) में दखल देती है तब श्रद्धा और भक्ति का ह्रास होता है।

जब बुद्धि (उच्च) तर्क के काम में दखल देती है तब मनुष्य अन्धविश्वासी बनता है।

इसलिये आवश्यक है कि प्रत्येक अन्तःकरण अपनी सीमा में रहकर अपना ही काम करे। ये समस्त अन्तःकरण आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति के स्टेशन हैं। इन्हीं के द्वारा इच्छाशक्ति* काम करती है। इसी बहिर्मुखी वृत्ति का रोक देना योग का अन्तिम उद्देश्य है। योग का यही कार्य्य पंच कोशों के एक दूसरे विभाग के द्वारा भी वर्णन किया जाता है उसका विवरण इस प्रकार है।

---

* इच्छा शक्ति आत्मा की उस शक्ति का नाम है। जिसके द्वारा आत्मा कुछ करने या न करने का निर्णय किया करता है।

पञ्च कोश

अन्नमय, प्राणमय, और मनोमय कोशों को, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश से, पृथक् करता है। विज्ञानमय कोश मानो एक दीवार है जो इन दोनों को पृथक् पृथक् रखता है। पहले ३ कोश (अन्नमय, प्राणमय और मनोमय) मन तक समाप्त हो जाते हैं। विज्ञानमय कोश बुद्धि से सम्बन्धित है और उस के आगे कारण-शरीर स्थानीय आनन्दमय कोश है, जिसका सम्बन्ध केवल ईश्वरोपासना से है। योग का काम यह है कि ऐसा वातावरण पैदा करदे कि जिससे जो लहर (Vibration) पहले तीन कोशों की ओर से उठती है उन्हें, बुद्धि की जागृति का कारण बनाते हुए, आनन्दमय कोश ग्रहण कर लेवे। प्रारम्भिक अवस्था में, अभ्यासी के लिये, योग का काम यह है कि उसके हृदय में ईश्वर का वह उच्च प्रेम पैदा कर के, जो सांसारिक वासनाओं और प्रलोभनों से सर्वथा पृथक् हो और जो मानस सरोवर में ऐसी लहर पैदा करने का कारण बन जावे जो इन्द्रियों की ओर जाने वाली न हो किन्तु अपने भीतर बुद्धि की ओर चलने वाली हो। इस लहर के द्वारा इच्छा और वासनाओं की दुनियाँ (मनोमय-कोश) का सम्बन्ध, आनन्द और मेल (Harmony) के जगत् (आनन्दमय कोश) के साथ, जुड़ जाता है। यह लहर अन्त में आनन्दमय कोश में जाकर समाप्त हो जाती है और अपनी समाप्ति के साथ ही बहिर्मुखी वृत्ति को भी समाप्त कर देती है और यही योग का अन्तिम ध्येय हुआ करता है।

दश चक्र

अन्त:करण के उपर्युक्त विवरण के साथ ही चक्रों (Plexuses) का हाल जान लेना भी आवश्यक है। कुण्डलिनी की जागृति का कारण इन्हीं चक्रों में, प्राण पहुंचना है। चक्रों को वैज्ञानिक रूप समझा जा सके, इसके लिये शरीर के अन्तर्व्यापार का कुछ हाल जान लेना आवश्यक है :—

नाड़ी सन्धान—(Nervous system) दो भागों में विभक्त है (१) मस्तिष्क मेरु दण्ड विभाग (The cerebro-spinal system) (२) सहानुभावी विभाग (The Sympathetic system) । पहला विभाग मस्तिष्क से लेकर रीढ़ की हड्डी (Spinal cord) और उसकी शाखाओं से सीमित है। समस्त इन्द्रिय व्यापार इस विभाग के द्वारा होता है।

दूसरा विभाग छाती, पेट और पेट के नीचे के भागों तक है और शरीर का अन्तर्व्यापार इस विभाग का काम है।

पहला विभाग

मस्तिष्क के ३ भाग हैं (१) मुख्य मस्तिष्क (cerebrum) जो खोपड़ी के ऊपर वाले अगले, मध्य और पिछले भागों में रहता है।

(२) दूसरा मस्तिष्क (cerebellum) जो खोपड़ी के नीचे वाले पिछले भाग में रहता है।

(३) तीसरा मस्तिष्क (Medula oblongata) जो मेरु दण्ड का ऊपरी भाग है और दूसरे मस्तिष्क के सम्मुख आगे से शुरू हो जाता है ।

मुख्य मस्तिष्क (पहला मस्तिष्क) बुद्धि Intelleect की गोलक है।

दूसरा मस्तिष्क इच्छानुवर्तिनी मांस पेशियों Voluntary muscles) में गति का संचार करता है। वह चित्त का गोलक है।

तीसरे मस्तिष्क या मेरु-दण्ड के छोर और मुख्य मस्तिष्क से ज्ञान तन्तुयें (Cranial nerves) निकलकर और भिन्न भिन्न शाखाओं में विभक्त हो कर शिर, प्रत्येक इन्द्रिय छाती पेट तथा श्वास लेने से सम्बन्धित सभी अवयवों में फैल जाते हैं:—

रढ़ की हड्डी में जो नाली (Spinal canal) ऊपर से नीचे तक गई है, जिस में गुद्दी भरी रहती है और जिस को मेरु दण्ड (Spinal cord or spinal marrow) कहते हैं, उस में से थोड़ी दूर से ये शाखायें (सन्देशतन्तु) फूटती हैं और तन्तु जाल द्वारा शरीर के प्रत्येक अंग प्रत्यङ्ग में फैल जाती हैं।

मेरुदण्ड टेलीफोन का मुख्य तार (Telephone cable) है और तन्तु जाल (Emerging nerves) उस से सम्बन्धित निजू तारों के सदृश हैं।

दूसरा सहानुभावी विभाग

इस दूसरे विभाग में नाड़ी गुच्छक (Ganglia) की दो

(१) नाड़ी गुच्छक गुद्दी की ढेरी है जिस में नाड़ी घटक भी

शृंखलायें (Double chain of ganglia) मेरुदण्ड के दहने बायें दोनों ओर हैं (बाईं ओर वाली=इडा और दहिने ओर वाली=पिंगला)। इन दो शृंखलाओं के सिवा शिर, गले, छाती और पेट में भी नाड़ी गुच्छक फैले हुए हैं। ये गुच्छक परस्पर तन्तुओं (Philasments) द्वारा नये रहते हैं। और मस्तिष्क मेरु विभाग से भी ज्ञान और शक्ति तन्तुओं (Motor and sensory nerves) द्वारा सम्बन्धित रहते हैं। इन्हीं ढेरों (Ganlia) से असंख्य तन्तु निकल कर शरीर के अवयवों और रुधिर की नालियों इत्यादि में जाल की तरह फैले रहते हैं। कई स्थानों पर ये तन्तु एकत्रित होकर मिल जाते हैं। जिन्हें नाड़ी ग्रन्थिचक्र (Plexuses) कहते हैं।

दश चक्रों का विवरण

इन चक्रों में प्राणायाम से उत्तेजना पहुंचती है। ये चक्र इस प्रकार हैं:—

(१) **मूलाधार चक्र**—गुदा के पास है। इस में उत्तेजना प्राप्त होने से वीर्य स्थिर और अभ्यासी ऊर्ध्व-रेता बनता है।

(२) **स्वाधिष्ठान चक्र**—मूलाधार से चार अंगुल ऊपर है। इस में उत्तेजना पहुंचने से प्रेम और अहिंसा के भाव जागृत होते हैं। शरीर से रोग और थकावट दूर होकर स्वस्थता लाभ होती है।

शामिल है। Aganglion is a mass of nervous matter including nerve cells).

(३) मणि पूरक चक्र—ठीक नाभि स्थान में है। इस के उत्तेजित होने से शारीरिक और मानसिक दुःख कम हो जाते हैं। मन स्थिर होने लगता है और आत्मा अपने को शरीर से पृथक् अनुभव करने लगता है।

(४) सूर्य चक्र—(Solar plexus) यह चक्र पेट के ऊपर हृदय की धुकधुकी के ठीक पीछे, रीढ़ की हड्डी के दोनों ओर रहता है इसका अधिकार भीतरी सभी अवयवों पर है। प्राण का कोष इसी चक्र में रहता है। इस पर चोट लगने से मनुष्य तत्काल मर जाता है[1]। मस्तिष्क प्राण के लिये इसी चक्र का आश्रय लेता है। यह चक्र पेट का मस्तिष्क समझा जाता है।

(५) मनश्चक्र—आमाशय से कुछ ऊपर। प्राणायाम में कुम्भक से इस को उत्तेजना मिलती है। तार्किक मनन-शक्ति और इस शक्ति वाले मस्तिष्क का विकाश इस से हुआ करता है।

(६) अनाहत चक्र—हृदय स्थान में है। हृदय के समस्त व्यापार इस से नियमित हुआ करते हैं।

(७) विशुद्धि चक्र—कण्ठ में है। कण्ठ के मूल में जहाँ दोनों ओर की हड्डियाँ आती हैं, बीच में अङ्गूठे के बराबर

---

(१) पहलवान कुश्ती के समय इसी पर पेट लगा कर प्रतिद्वन्द्वी को बलहीन कर दिया करते हैं।

नर्म जगह होती है वही इस चक्र का स्थान है। इस पर संयम करने से बाह्य जगत् की विस्मृति और आन्तरिक कार्य का प्रारम्भ होता है। तारुण्य और उत्साह प्राप्त होता है।

(८) आज्ञा चक्र—दोनों भ्रुओं के मध्य में है। इस से शरीर पर प्रभुत्व, नाड़ी और नसों में स्वाधीनता आती है।

(९) सहस्रार चक्र—तालु स्थान के ऊपर है और समस्त शक्तियों का केन्द्र है।

(१०) अमर गुहा (ललाट) चक्र—ललाट के ऊर्ध्व भाग में है। सं०, २, ५, ६, और ९ वें चक्रों को क्रमशः, इन्हें, इनके बाद के चक्रों में, सम्मिलित समझ कर अनेक जगह, छः ही चक्र बतलाये गये हैं।

भोजन

मांस, मछली, प्रत्येक प्रकार के नशे, तेल, प्याज, मिर्च, खटाई आदि योगी के लिए अभक्ष्य पदार्थ से हैं। दूध, चावल, जौ, गेहूं मुख्य रीति से उस के भोज्य हैं। आसन अधिक करने वालों के लिये केवल दूध उपयोगी भोजन है। नमक यदि न खाया जाय तो अधिक अच्छा है, अन्यथा थोड़ी मात्रा में खाया जा सकता है।

इन चक्रों में उत्तेजना पहुँचाने के लिये कुण्डलिनी के जागृत करने के अभ्यास किये जाते हैं। राज योग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं इसलिये उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया।

ध्यान देने योग्य कुछ बातें

(१) क्रियात्मक योग का विवरण जो ऊपर दिया गया है, यथासम्भव यत्न किया गया है कि सुगमता से समझा जासके और उसके अनुसार कार्य्य किया जासके। फिर भी कुछ कठिनताओं का आना स्वाभाविक है उनकी निवृत्ति के लिए जानकारों की सम्मति लेनी आवश्यक है।

(२) कई सुगमता-प्रिय कहा करते हैं कि राजयोग में यम नियम के पालन करने का बड़ा झंझट है। इस पचड़े को दूर करना चाहिए। माँग और पूर्ति (Demand & supply) साथ साथ चलती है। इस (यम नियम की) पचड़ दूर करने की माँग ने उसकी पूर्ति करने वाले भी पैदा कर दिये। इस समय कई सम्प्रदाय बन गये जिन्होंने उस (यम नियम वाले) पचड़े को दूर कर दिया और सुगम तरीके चित्त की एकाग्रता के बतला दिये। उनमें से कुछेक का यहाँ उल्लेख किया जाता है :—

(क) शब्द सुनना—कानों को मोम लगी हुई रुई से बन्द करलो और सुनने की इच्छा से शान्त होकर बैठ जाओ। कुछ नाद सुनाई देने लगेगा। प्रारम्भ में वह गूँ, गाँ की भांति ही होता है परन्तु कुछ सप्ताह अभ्यास करने पर वह अच्छे सुरीले बाजे की आवाज की तरह सुनाई देने लगता है। और उस ओर चित्त लगने से, कुछ शान्ति सी प्रतीत होने लगती है इसी प्रकार भीतरी प्रकाश का देखना है। आंख बन्द करके

प्रकाश देखने की दशा से बैठ जाओ और चित्त उसी ओर लगाये रक्खो। पहले कुछ चमक दिखाई देगी उसके बाद प्रकाश दिखाई देने लगेगा।

चेतावनी

इस प्रकार से शब्द सुनने और प्रकाश देखने आदि की क्रियायें सुगम तो जरूर हैं परन्तु उनका मनुष्य के आचार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। एक चोर और व्यभिचारी भी इन शब्दादि को उसी प्रकार सुन सकता है जिस प्रकार एक सदाचारी। परन्तु राजयोग की विशेषता यही है कि उसे चरित्रहीन नहीं प्राप्त कर सकता। वह योग दो कौड़ी का भी नहीं है जिसमें समय लगने और पुरुषार्थ व्यय करने से अभ्यासी सदाचारी भी, न बन सके। इस लिए योग के अभ्यास की इच्छा करने वालों को चाहिए कि इस सुगम-प्रियता को छोड़ कर अपने को श्रेष्ठ बनाने ही की सद्भावना से प्रेरित हों और ऐसे ही मार्ग का आश्रय लें जिससे उनका कल्याण हो।

अन्तिम शब्द

योग-दर्शन पूर्वी मनो-विज्ञान है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें ऐसे अभ्यास बतलाये गये हैं जिन से मनुष्य अधिकसे अधिक शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति कर सकता है। यदि कोई योग के अन्तिम अंग तक नहीं पहुँचना चाहता तो कुछ हर्ज नहीं है। वह थोड़े से थोड़ा समय, दिन में न सही रात्रि ही में सही, निकाल कर, यम नियमों में से किसी भी एक का जो उसको अधिक से अधिक रुचिकर हो अभ्यास कर

सकता है। उसी एक बात को सिद्ध कर लेना उसके कल्याण का कारण बन जायगा। उस एक बात के सिद्ध कर लेने का मतलब यह होगा कि उस व्यक्ति का हृदय आत्मा की आवाज को सुनता है। याद रक्खो वहाँ शान्ति नहीं रहती और न रह सकती है जहाँ आत्मा की आवाज नहीं सुनी जाती। मनुष्य जब गाढ़ निद्रा में आकर सो जाता है तो वह यदि दुःखि है तो अपने को दुःखी नहीं समझता, यदि रोगी है तो अपने को रोगी नहीं समझता, यदि वह राजा या रङ्क है तो अपने को राजा या रङ्क नहीं समझता। निष्कर्ष यह है कि वह निद्रा के आनन्द में इतना मग्न है कि दुनियां की कोई चीज भ उसे दुःखी या सुखी नहीं बना सकती। यही अवस्था उस अभ्यासी की हो जाती है जो प्रभु के प्रेम में मग्न है और जिसका चित्त उसकी भक्ति में लीन हो रहा है। इस अभ्यासी को भी अब कोई वेदना वेदना नहीं है, कोई सुख सुख नहीं है। वह इन सब से ऊँचा हो चुका है। योग-दर्शन चाहता है कि दुनियां की अशान्तियों से घबराये हुए व्यक्ति थोड़ा अभ्यास करके, इस शान्ति का भी स्वाद चख लिया करें। और इसी का संकेत उसने "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" में किया है। गाढ़ निद्रा की शान्ति तो तम का परिणाम होती है। परन्तु यह ईश्वर प्रेम की शान्ति सत्व का फल होती है। इससे मन प्रफुल्लित होता है, आत्मा में बल आकर उसे उत्कृष्ट बनाता है। संसार के सभी प्राणी उसे ईश्वर के अमृत पुत्र के रूप में दिखाई देते हैं। उसे जितनी शान्ति

रात्रि में रहती है उतनी ही दिन में भी। उसके लिये इन दोनों में अब कुछ अन्तर नहीं है आहा! वे कैसे सौभाग्यशाली हैं जिन्होंने इस रस को चखा या चख रहे हैं!! ईश्वर करे कि इस रसास्वादन की इच्छा अनेक बहिनों और भाइयों को पैदा हो। एवमस्तु!

शमित्योश्म्

बलिदान भवन देहली
माघ कृष्णा ६
संवत् १९८८ वि०

नारायण स्वामी

योग-दर्शन

सभाष्य

योग-रहस्य

समाधि-पाद

(१) योग का उद्देश्य

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अर्थः—(अथ) अब (योग) योग का (अनुशासनम्) आदेश करते हैं।

व्याख्या—"युज्यतेऽसौ योगः ।" जो युक्त करे मिलावे उसे योग कहते हैं।

महर्षि व्यास ने योग को "योगस्समाधि" समाधि बतलाया है जो चित्त की विशेष अवस्थाओं में प्राप्त होती है। चित्त की ५ अवस्थायें हैं:—(१) क्षिप्र—जिसमें चित्त की वृत्तियाँ अनेक

(१) दर्शन वेदों के उपाङ्ग कहलाते हैं। योगदर्शनकार ने वेद मंत्रों में वर्णित मूल-शिक्षा (योग) का इस दर्शन में विस्तार किया है। उदाहरण के लिये कुछेक वेद मन्त्र यहाँ उद्धृत करते हैं:—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ १ ॥
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥

सांसारिक विषयों में गमन करती हैं (२) मूढ़-जिसमें चित्त कर्तव्याकर्तव्य को भूल कर मूर्खवत् हो जाता है। (३) विक्षिप्त—जिसमें

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्य्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥
युञ्जते मन उत युञ्जेत धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। विहोत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥ (यजुर्वेद अध्याय ११ मन्त्र १-५)

अर्थः—(सविता) ऐश्वर्य चाहने वाला मनुष्य (तत्वाय) तत्व के लिये (प्रथम) पहले (मनः) मन को (युञ्जानः) युक्त करता हुआ (अग्नेः) प्रकाश वाले ईश्वर के (ज्योतिः) प्रकाश को (निचाय्य) निश्चय करके (पृथिव्याः) भूमि (अधि) पर (आभरत्) अच्छे प्रकार धारण करे ॥ १ ॥

(वयम्) हम (युक्तेन) योग में लगाये हुए (मनसा) मन (शक्त्या), और उपलब्ध सामर्थ्य से (सवितुः) जगत् के उत्पादक (देवस्य) ईश्वर के (सवे) यज्ञ=ऐश्वर्य में (स्वर्ग्याय) सुख प्राप्ति के लिए (प्रवेश करें) ॥ २ ॥

(सविता) वह ईश्वर (तान्) ऐसे (देवान्) विद्वानों को (प्रसुवाति) उत्पन्न करे (यतः) जो (युक्त्वाय) मन को योग

चित्त व्याकुल और व्यग्र हो जाता है। (४) एकाग्र—जिसमें चित्त की वृत्तियां अनेक विषयों की ओर से खिंच कर एक ओर लग जाती हैं (५) निरुद्ध—जिस में चित्त की वृत्तियां चेष्टा-रहित हो जाती हैं।

नोट (१)—प्रथम की ४ अवस्थाओं में सत, रज और

में लगाकर (सविता) श्रेष्ठ (धिया) बुद्धि से (दिवम्) दिव्य गुण (स्वः) सुख (बृहत्) महान् (ज्योतिः) प्रकाश को (करिष्यतः) प्राप्त करें ॥३॥

(विप्रा) बुद्धिमान् (होत्रा)-ध्यानी (बृहतः) महान् (विपश्चितः) ज्ञानी (वयुनावित्) उत्कृष्ट ज्ञान युक्त योगी (एकः) उस अद्वितीय (सवितुः) जगत्कर्ता (विप्रस्य) ज्ञानी (देवस्य) ईश्वर की (इत्) ही (मही) श्रेष्ठ (परिष्टुतिः) स्तुति को (युंजते मनः) मन (उत) और (युंजते धियः) बुद्धि को उस में लगाकर (विदधे) धारण करें ॥४॥

(शृण्वन्तु) सुनो (विश्वे) समस्त (अमृतस्य पुत्राः) अमृत पुत्रो ! (ये) जिन (दिव्यानि) ईश्वर के दिव्य धामों को योगी जन (अन्तस्थ) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं। उसी (पूर्व्यं) पूर्व ऋषियों से सेवित (ब्रह्म) ईश्वर को (श्लोकः) सत्य वाणी से युक्त हो कर मैं (नमोभिः) सत्कार=नम्रता के साथ (युजे) साक्षात् करता हूँ (वाम्) तुम (योग के अनुष्ठान करने और कराने वाले) दोनों (सूरेः) योगियों को (पथ्येव) उत्तमगति के अर्थ (एतु) प्राप्त होवे।

तमोगुण का संसर्ग रहता है, परन्तु ५ वीं अवस्था में इन गुणों का संस्कार-मात्र रह जाता है। इसी अवस्था को प्राप्त होकर योगी "निस्त्रैगुण्य" कहलाता है।

नोट (२)—क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थाओं में योग नहीं हो सकता! एकाग्र अवस्था में योग होता है, उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं, वह ४ प्रकार का होता है। देखो इसी पाद का सूत्र २०। निरुद्ध अवस्था में असम्प्रज्ञात योग होता है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

अर्थ—योग चित्त की वृत्तियों के रोकने को कहते हैं।

व्याख्या—चित्त का तीन प्रकार का स्वभाव (शील) होता है (१) प्रख्या=दृष्ट वा श्रुत पदार्थों का विचार (२) प्रवृत्ति=उन पदार्थों (विषयों) के साथ सम्बन्ध (३) स्थिति=विषयों (उन पदार्थों) में स्थिति। "प्रख्या" ३ प्रकार का है :—(१) जब चित्त अधिकतर सत्व-गुण से युक्त होता है तब केवल ईश्वर का चिन्तन करता है (२) जब सत्व-गुण के साथ रजोगुण भी चित्त में अधिक होता है, तब योगी धर्म और वैराग्य का चिन्तन करता है।

नोट—योगी, इस अवस्था को, "परं प्रसंख्यात" कहते हैं।

(३) जब चित्त अधिकतर तमोगुण युक्त होता है तब अधर्म अज्ञान, और विषयासक्ति का चिन्तन करता है।

जो ज्ञान (चित्त) शक्ति परिणामों से रहित, और शुद्ध होती है वह 'सत्व-गुण' प्रधान होती है। उस में रजो-गुण और

तमोगुण का सर्वथा अभाव (तिरोभाव) हो जाता है। परन्तु चित्त इस वृत्ति से भी उपरत (विरक्त) हो जाता है तब इसे भी त्याग देता है। उस समय केवल सत्व गुण के संस्कार के आश्रय से रहता है। उसी संस्कार शिष्ट दशा को असम्प्रज्ञात योग अथवा निर्विकल्प समाधि कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय के सिवा कुछ भी प्रतीति नहीं होती—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

अर्थ—तब द्रष्टा (देखने वाले) की अपने रूप में स्थिति हो जाती है।

व्याख्या—कैवल्य=मोक्ष में जिस प्रकार ज्ञान शक्ति रहती है उसी प्रकार निर्विकल्प (असम्प्रज्ञात) समाधि में भी यह (ज्ञान) शक्ति रहती है परन्तु उस समय द्रष्टा (जीव) का ज्ञेय, केवल अपना रूप (आत्म-सत्ता) होता है। द्रष्टा का तीन प्रकार से वर्णन किया जाता है:—

(१) द्रष्टा=चित—विषयों की ओर न जाकर वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से अपने रूप में ठहरा हुआ चित्त।

(२) द्रष्टा=जीवात्मा अपने रूप में ठहरी हुई स्थिति वाला जीव।

(३) द्रष्टा=परमात्मा—जब जीवात्मा अपने रूप में स्थित होने की अपेक्षा आनन्द कन्द, प्रज्ञानघन, सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार चाहता है तब उसी चराचर के द्रष्टा (साक्षी) परमात्मा के स्वरूप में उसकी स्थिति हो जाती है।

दूसरे पक्ष के सम्बन्ध में एक शंका की जाती है कि जब नेत्र अपने को नहीं देख सकता तब जीव किस प्रकार अपने रूप का द्रष्टा हो सकता है ? समाधान इस का यह है कि स्थूल दृष्टि से जीव बाह्य विषयों को और सूक्ष्म (दिव्य) दृष्टि से अपने रूप और परमात्मा को देखता है। इस दूसरे देखने को अनुभव (निदिध्यासन) कहते हैं।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

अर्थ—(इतरत्र) अन्य अवस्थाओं में (वृत्तिसारूप्यम्) वृत्तियों के समान रूप होता है।

व्याख्या—निरुद्ध अवस्था के सिवा अन्य अवस्थाओं में जीव चित्त की वृत्ति के रूप को धारण कर लिया करता है।

आत्मा चित्त और चित्त की वृत्तियों से पृथक् है। जब जीवात्मा किसी वस्तु के देखने आदि की इच्छा करता है, तब नेत्रादि के द्वारा, उसकी प्रेरणा से, चित्त की वृत्ति, बाहर निकल कर दृश्य वस्तु के रूप में परिणत हो जाती है और इस प्रकार पदार्थाकार हुई चित्त वृत्ति, जिस मार्ग से बाहर गई थी उसी के द्वारा, चित्त (अन्तःकरण) में और चित्त के द्वारा जीव तक पहुँच जाती है और इस प्रकार ज्ञेय वस्तु का ज्ञान जीव को हो जाया करता है। वृत्ति और वृत्तिमान में समवाय सम्बन्ध होने से चित्त ही वृत्ति रूप कह दिया जाया करता है। चित्त अयस्कान्त मणि (चुम्बक पत्थर) के सदृश है जो यदि रोका न जावे तो लोहे के सदृश विषयों को अपनी ओर खींच लिया करता है इसलिये

उसके निरोधकी जरूरत है। परन्तु जीव स्फटिक मणि (विल्लोर) की भांति है जो स्वयं तो सदैव शुद्ध रहता है परन्तु बाहर से देखने वालों को, समीपस्थ रूप रंग वाले पदार्थ के सदृश रूप रंग वाला प्रतीत हुआ करता है। इसी वाह्य और स्थूल दृष्टि से जीव को चित्त वृत्ति का रूप धारण करलेने वाला कहा और समझा जाया करता है।

(२) वृत्तियों के रूप

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

अर्थ—वृत्तियां पांच प्रकार की हैं, वे क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की होती हैं।

व्याख्या—क्लेश (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों) की हेतु, वृत्तिको, (जिस से संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध रूप कर्म फल उत्पन्न होते हैं) क्लिष्ट वृत्ति कहते हैं, और जिसमें केवल आत्मख्याति अर्थात् सांसारिक विषयों से विरक्ति पूर्वक, ईश्वर का चिन्तन होता है, अथवा जो वृत्ति गुणाधिकार (सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग) से रहित हो, वह अक्लिष्ट कहलाती है—अथवा जो दुःखस्थल में उत्पन्न हों वे क्लिष्ट और जो सुखस्थल में उत्पन्न हो वे क्लिष्ट कहलाती हैं।

प्रत्येक वृत्ति से तदनुकूल संस्कार उत्पन्न होते हैं। पुनः वे संस्कार उसी वृत्ति को उत्पन्न करते हैं। वृत्ति फिर संस्कार को और संस्कार फिर वृत्ति को। अक्लिष्ट वृत्ति और उससे बने

संस्कार चक्र मोक्ष प्राप्ति तक का कारण होते हैं परन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोहादि से संबन्धित क्लिष्ट वृत्तियों में फंसने से मनुष्य दुःख चक्र में पड़ जाता है और अनेक प्रकार के क्लेश भोगता है।

प्रमाण–विपर्यय–विकल्प–निद्रा–स्मृतयः ॥ ६ ॥

अर्थ—वे ५ ये वृत्तियें हैं। (१) प्रमाण=यथार्थ ज्ञान का साधन (२) विपर्यय=मिथ्या ज्ञान (३) विकल्प=वस्तु शून्य, कल्पित नाम, यथा "खपुष्प" (आकाश का फूल) (४) निद्रा=सोना (५) स्मृति=पूर्व श्रुत वा दृष्ट पदार्थ का स्मरण।

इन वृत्तियों का व्याख्यान आगे सूत्रों में स्वयं दर्शनकार ने किया है:—

प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमाः प्रमाणानि ॥७॥

अर्थ— उन (५ वृत्तियों) में से (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) और आगम, प्रमाण वृत्तियाँ हैं।

(१)प्रत्यक्ष—आँख, कान आदि इन्द्रियों द्वारा चित्तकी वृत्तियों का बाहर हो, बाह्य विषय (वस्तु) से संयोग कर और तदाकार हो उसी मार्ग से लौटकर चित्तद्वारा आत्मा को उस वस्तु का ज्ञान कराना, प्रत्यक्ष कहलाता है।

(२) अनुमान—अनुमेय (जिस पदार्थ का अनुमानकरना हो) पदार्थ को समान जाति वालों में मिलाने और भिन्न जातीय पदार्थों से पृथक करने वाले सम्बन्ध को प्रकाशित करने वालीवृत्ति को अनुमान कहते हैं। जैसे. चद्र और तारे घूमते हैं परन्तु हिमालय पर्वत गमन क्रिया रहित है इस लिए चद्र और तारों को

देश देशान्तर में देखने और हिमालय को अन्यत्र कहीं न देखने से निश्चय हो गया कि हिमालय गति रहित है। इसीको अनुमान कहते हैं।

(३) आगम—आप्त (सत्यवक्ता और धर्म-तत्त्ववेत्ता) पुरुष के देखे और अनुमान किये हुए, विषय का शब्दों द्वारा उपदेश आगम वृत्ति कहलाती है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

अर्थ—(अतद्रूप) वस्तु के स्वरूप से भिन्न स्वरूप में (प्रतिष्ठम्) ठहरने वाला मिथ्याज्ञान 'विपर्यय' कहलाता है।

व्याख्या—अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहाजाता है—इसी को अविद्या=विपरीत ज्ञान भी कहते हैं। इस विपर्यय वृत्ति के ५ भेद हैं:—(१) अविद्या (२) अस्मिता (३) राग (४) द्वेष (५) अभिनिवेश[1]। इनका व्याख्यान आगे किया गया है (देखो साधन-पाद के सूत्र ३ से ६)।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

अर्थ—शब्द ज्ञान (मात्र) पर (अनुपाती) गिरने वाला (परन्तु) वस्तु से शून्य 'विकल्प' कहलाता है। जैसे—वन्ध्या पुत्र (बाँझ का लड़का), 'खपुष्प'= आकाश का फूल।

---

(१) इन्हीं ५ भेदों को कवि ने इस प्रकार लिखा है:—

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोह्यन्धसंज्ञकः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता॥

अर्थात्—अविद्या (मिथ्या ज्ञान) के ५ पर्व सांख्य और योग में वर्णित हैं:—(१) तमस् (२) मोह (३) महामोह (४) तामिस्र (५)अन्ध

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

अर्थ—अभाव के (प्रत्यय) ज्ञान का (आलम्बना) आश्रय लेनी वाली वृत्ति निद्रा है।

व्याख्या—जागृत कर्तृत्व का अभाव होने से निद्रा को अभाव का सहारा लेनी वाली वृत्ति कहा गया है परन्तु इस का अभिप्राय यह नहीं है कि वह ज्ञान शून्य वृत्ति है। मनुष्य सोकर उठता है और अनुभव करता है कि मैं सुख पूर्वक सोया। यदि निद्रा ज्ञान शून्य ही वृत्ति होती तो सुख पूर्वक सोने का ज्ञान किस प्रकार हो सकता था।

अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

अर्थ—(अनुभूत विषयः) अनुभव में आये विषय का (असम्प्रमोषः) न खोया जाना 'स्मृति' कहलाता है।

व्याख्या—किसी वस्तु की स्मृति का अभिप्राय उस वस्तु के ज्ञान की स्मृति से हुआ करता है। बिना वस्तु ज्ञान के वस्तु की स्मृति असम्भव है। महामुनि व्यास के मतानुसार स्मरण में तीन कारण होते हैं:—

(१) राग अर्थात् सुख निमित्त (२) द्वेष अर्थात् दुःख निमित्त (३) मोह अर्थात् अविवेक। ग्राह्य विषय में प्रसन्नता पूर्वक जो बोध उत्पन्न होता है वह "प्रत्यय" कहलाता है। वह प्रत्यय अथवा ग्राह्य विषय और प्रमाण जिन के द्वारा पदार्थ ग्रहण किया जाता है; ये दोनों अपने समान संस्कार उत्पन्न करते हैं। वह संस्कार (नेत्रांजनवत्) अपने समान ही अनुभूत विषय और उस के

ज्ञान की स्मृति को उत्पन्न करता है परन्तु उस स्मृति में भी बोध रूप बुधि है।* यह बुद्धि और स्मृति दोनों दो दो प्रकार की हैं:—(१) 'भावित स्मर्तव्य'—स्वप्नावस्था में जो जागृत अवस्था के अनुभूत पदार्थों की स्मृति होती है वह 'भावित स्मर्तव्य' स्मृति और बुद्धि कहलाती है। (२) जागृत अवस्था में जो स्वप्नावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है उसे 'अभावित स्मर्तव्य' स्मृति और बुद्धि कहते हैं। समस्त स्मृति इन पांचों वृत्तियों के अनुभव से होती हैं। इन वृत्तियों के निरोध हो जाने पर ही योग हो सकता है।

(३) वृत्तियों के निरोध के साधन

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

अर्थ—(चित्त-वृत्तियों के वार वार रोकने के) अभ्यास और वैराग्य से उन (चित्त की वृत्तियों) का निरोध होता है।

व्याख्या—चित्त रूपी नदी की दो धारायें हैं:—(१) विवेक भूमी में वहती हुई कल्याण (कैवल्यं) सागर में गिरती है (२) अविवेक और विषय भूमी में बहती हुई अधर्म सागर में गिरति है। जब ईश्वर के निरन्तर चिन्तन, सत्य के धारण, शास्त्र के अभ्यास और वैराग्य से दूसरी धारा सूख जाती है तब पहली धारा द्विगुण वेग से वहती है और चित की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं।

---

*विषय ग्रहण के ज्ञान को बुद्धि कहते हैं।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

अर्थ—उन (अभ्यास) और वैराग्य दोनों में से (चित्त के) स्थिर करने के यत्न को अभ्यास कहते हैं।

व्याख्या—चित्त को वृत्ति रहित करके उसके ठहराने को स्थिति कहते हैं। उस स्थिति के प्राप्त करने के लिये परमध्येय परमेश्वर में उत्साह और दृढ़ता के साथ चित्त लगाना चाहिये। विघ्न बाधाओं से न कभी दुखी होना चाहिये और न चित्त में ग्लानि लानी चाहिये। इस प्रकार निरन्तर यत्न करने से वह स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसी यत्न का नाम अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितोदृढ़भूमिः ॥ १४॥

अर्थ—वह (अभ्यास) सत्कार (श्रद्धा) के साथ लगातार चिरकाल पर्यन्त सेवन करने से दृढ़ भूमि (जड़ पकड़े हुए) हो जाता है।

व्याख्या—तप, ब्रह्मचर्य्य और श्रद्धा के साथ जब उस अभ्यास को निरन्तर बहुत काल तक सेवन करते हैं तब वह (अभ्यास) जड़ पकड़ जाता है।

दृष्टाऽऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

अर्थ—देखे और सुने विषयों की तृष्णा से रहित (चित्त का) वशीकार वैराग्य कहाता है।

व्याख्या—सुन्दर स्त्री, उत्तम अन्न पान आदि (दृष्ट) देखे और स्वर्ग की प्राप्ति, दिव्य विषयों का उपभोग आदि (आनुश्रविक) सुने हुये विषयों से सर्वथा तृष्णा रहित होकर चित्त को वश में कर लेने का नाम वैराग्य है। सांसारिक विषयों से वैराग्य उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य उनके दोषों को वार २ अपनी दृष्टि में लाता रहे। क्यों मनुष्य को इन विषयों की ओर जाना चाहिये ? क्या इनसे तृष्णा की निवृत्ति हो सकती है ? ययाति ने इन प्रश्नों का वड़ा सुन्दर उत्तर दिया है:—

महाभारत में कथा आई है कि ययाति शुक्राचार्य के शाप से वूढ़ा होगया परन्तु फिर उनकी कृपा से जवान हो गया और उसने चिरकाल तक विषयोपभोग करके अन्त में कहा:—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

[महा० अ० ७५-४६]

अर्थात् विषयों के उपभोग से शान्ति नहीं होती किन्तु जैसे घृत डालने से अग्नि की ज्वाला वढ़ा करती है इसी-प्रकार भोग से तृष्णा वढ़ती रहती है। भर्तृहरि के ये वाक्य यहां कैसे अच्छी तरह जुड़ जाते हैं:—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

आर्थात् भोगों को हमने नहीं भोगा किन्तु हम ही भोगे गये ।

तप नहीं तपे गये किन्तु हम ही तपे गये। समय नहीं कटा किन्तु हम ही कट गये। तृष्णा जीर्ण नहीं हुई किन्तु हम ही जीर्ण हो गये।

सांख्याचार्य्य ने भी कहा है:—

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेत्यनुवृत्तिदर्शनात्।

अर्थात् दुःखों की निवृत्ति रूप सिद्धि सांसारिक (दृष्ट) पदार्थों से नहीं हो सकती क्योंकि उनसे दुःख निवृत्ति होते ही पुनः दुःख की अनुवृत्ति होना देखा जाता है। अर्थात् भूख की निवृत्ति के लिये मनुष्य भोजन करता है परन्तु भोजन के बाद ही फिर भूख लगनी शुरू हो जाती है।

अस्तु ? इस प्रकार विषयों के दोष पर बार बार दृष्टि रखने से उनसे वैराग्य होने लगता है।

तत्परमपुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ—उस परमेश्वर के कीर्तन से गुणों में तृष्णा नहीं रहती।

व्याख्या—वैराग्य की पूर्णता तब होती है जब मनुष्य के हृदय में, ईश्वर प्रेम, अंकुरित होता है। ज्यों ज्यों यह प्रेम बढ़ता जाता है त्यों त्यों मनुष्य तृष्णा-रहित होता जाता है और तृष्णा ज्यों ज्यों जीर्ण होती जाती है मनुष्य का हृदय त्यों त्यों वैराग्य का मन्दिर बनता जाता है। वैराग्य दो प्रकार का होता है:—(१) प्रत्यक्ष गुणों से उपरत (वैरागी होना (२) अप्रत्यक्ष गुणों से उपरत होना। पहली विरागता के साधन ज्ञान, और कर्म दोनों हैं परन्तु दूसरी विरागता—अप्रत्यक्ष गुणों से उपरति का साधन केवल ज्ञान है इसी

लिये महामुनि व्यास ने उसे "तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्" कहा है। योगी जब दूसरी उपरति को प्राप्त कर लेता है तब उसका हृदय ईश्वर प्रेम से इतना उत्कृष्ट हो जाता और उपासना की वह उस उच्च गति को प्राप्त करलेता है जिस में व्यास के शब्दों में योगी समझने लगता है कि :—

"प्राप्तम् प्रापणीयम्", "क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः"।
"छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः।"

अर्थात् "जिस की मुझे इच्छा थी उसे पा लिया।" जिनको मैं दूर करना चाहता था वे क्लेश दूर हो गये।" "जिसकी गाँठें सटी हुई थीं, ऐसी संसार रूपी बेड़ी, कट गई।" इसी ज्ञान की उत्कृष्ट अवस्था का नाम वैराग्य है।

(४) समाधि के भेद

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥१७॥

अर्थ—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के रूप को, क्रम पूर्वक, प्राप्त करने से, सम्प्रज्ञात समाधि (की सिद्धि) होती है।

व्याख्या:—(१) वितर्कानुगत—चित्त के स्थिर करने में स्थूल आश्रय लेना। जैसे—घट के कारण मृत्तिका, मृत्तिका के कारण अणु को लक्ष्य बनाना और फिर उस के कारण परमाणु पर स्थूल दृष्टि रखना।

(२) विचारानुगत—चित्त के स्थिर करने में सूक्ष्म आश्रय लेना यथा—शरीर के अन्तर्गत सूक्ष्म अवयवों का विचार करना और

विचारते हुये रजोवीर्य से चेतना की -उत्पत्ति असाध्य समझ कर जगत्-कर्ता में अपनी स्थिति का संपादन करना।

(३) आनंदानुगत— स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों (सं० १,२) का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने और अपने को उन सब से पृथक् जानने से जो संतोष (शान्ति या आनन्द) होता है उसे आनन्दानुगत योग कहते हैं।

(४) अस्मितानुगत—एक जीव ही जिस में विचार्य्य रहता है वह ज्ञान अस्मिता कहलाता है।

सम्प्रज्ञात योग इन चारों के अनुगत (आश्रित या अधीन) है। इन में से पहला (सवितर्क) स्थूल आश्रय सहित, दूसरा वितर्क रहित और विचारसहित, तीसरा वितर्क और विचाररहित और आनन्द सहित, चौथा वितर्क; विचार और आनन्द रहित केवल अपने स्वरूप (अहम्=जीव) के विचार सहित होता है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

अर्थ—जिस में (पूर्व विराम प्रत्यय) चित्त-वृत्तियों के अवसान मात्र का अभ्यास करते करते (संस्कारशेष) संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं वह (अन्यः) दूसरा (असम्प्रज्ञात) योग है।

व्याख्या—चित्त की समस्त वृत्तियों के अवसान (अन्त) का नाम "विराम" है। विराम प्रत्यय (ज्ञान) के अभ्यास करते २ जब ऐसी अवस्था आजाती है जिसमें चित्तकी वृत्तियों के केवल संस्कार शेष रह जाते हैं वह असम्प्रज्ञात समाधि है। संस्कार उस गुणको

कहते हैं जो निमित्त के नाश होने पर किंचिन्मात्र शेष रह जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि को निवृत्ति निराश्रय समाधि भी कहते हैं। इसीलिए महर्षि व्यास के लेखानुसार इसका उपाय "निर्वस्तुक आलम्बन" है। अर्थात् अत्यन्त वैराग्य के साथ, निराकार ईश्वर के आश्रय में दृढ़ता प्राप्त करना ही, इस का साधन है। इस साधन को काम में लाने से चित्त अथवा चित्त की वृत्तियों का अभाव सा भान होने लगता है। यह असम्प्रज्ञात (निर्बीज) समाधि दो प्रकार की है :—

(१) भवप्रत्यय (२) उपाय प्रत्यय।

(५) समाधि की सिद्धि के दर्जे

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१६॥

अर्थ—(विदेह) जो देह (की ममता) छोड़ देते और जो प्रकृति में लय हो जाते हैं उन्हें "भवप्रत्यय" नामक (असम्प्रज्ञात) समाधि की सिद्धि होती है।

व्याख्या-विदेह निराकार ईश्वर को भी कहते हैं, अतः विदेहलय का भाव यह हुआ कि वे योगी जो ईश्वर में लीन हो जाते हैं। प्रकृतिलय का भाव यह है कि योगी ने शरीर की ममता इतनी छोड़ दी है मानो उसका शरीर, अपने कारण प्रकृति में, लीन होचुका है। ऐसे योगी ही प्रकृतिलय कहलाते हैं। विदेह का अर्थ यह नहीं है कि शरीर रहित हो जाना जैसा कि कई टीकाकार करते हैं। जनक को भी तो विदेह कहते हैं। क्या वह शरीरधारी नहीं था?

"भव" नाम जगत् का है, "भव" जन्म को भी कहते हैं। भवप्रत्यय का तात्पर्य्य यह है कि वह योगी जिसे शरीर की तो सुध नहीं है परन्तु केवल इतना ज्ञान है कि उस का जन्म हुआ था या वह जगत् में है। व्यास जी ने लिखा है कि ये भव-प्रत्यय-समाधि-सिद्ध योगी, अपने संस्कार से, चित्त द्वारा मोक्ष का सा आनन्द भोगते हैं। जब तक चित्त निरुद्ध रहता है, तबतक आनन्द भोगते हैं, परन्तु जब चित्त इस निरुद्धावस्था से लौटकर अपने अधिकार से प्राकृत पदार्थों में लग जाता है, तब वह आनन्द बाक़ी नहीं रहता।

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

अर्थ—(विदेह और प्रकृतिलयों के सिवा) अन्यों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा से (उपाय प्रत्यय नामक दूसरा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध) होता है।

व्याख्या—उपायप्रत्यय वह योग है जो उपाय (पुरुषार्थ) से प्राप्त किया जाता है। उपाय के साधन पाँच हैं :—

१—श्रद्धा=सचाई का धारण करना [श्रत् सत्यं दधाति यासा श्रद्धा (निरुक्त)] मनुष्य के भीतर सत्य (योग) का प्रेम उत्पन्न होकर जब वह (प्रेम) इतना तीव्र हो जाता है कि वह उस सत्यता को आचरण में लाने के लिये विवश सा हो जाता है तब उसके भीतर श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह श्रद्धा, योगी की माता के समान, रक्षा करती है। इस श्रद्धा से योगी के भीतर विश्वास और आह्लाद उत्पन्न होता है। उस विश्वास और आह्लाद से योगी वीर्यवान (शक्ति और उत्साह संपन्न) होता है। वीर्यवान् होने से उसके भीतर स्मृति जागृत होती

है और पवित्र पुनीत स्मरण आ आ कर योगी के हृदय को उत्साह से भर देते हैं। इस प्रकार उत्साह से भरा हुआ योगी अपने चित्तको समाहित पाता है। इस प्रकार चित्त के समाहित होने से उसके भीतर प्रज्ञा (बुद्धि=सत्यासत्य विवेक करने वाली शक्ति) का प्रकाश होता है। इस प्रकाश से यथार्थ ज्ञान हो कर योगी तत्वज्ञानी बनता है। इस प्रकार प्रज्ञा और विवेक के निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से योगी को इन उपायों द्वारा असंप्रज्ञात योग की सिद्धिहोती है। ये उपाय-प्रत्यय-सिद्ध योगी तीन प्रकार के होते हैं:—(१) मृदूपाय=अल्प उपाय वाले (२) मध्योपाय=अर्थात् मध्यम उपाय करने वाले (३) अधिमात्रोपाय=अर्थात् उत्तम उपाय करने वाले।

तीव्रसंवेगानामासन्नः॥२१॥

अर्थ—तीव्र अच्छे वेग वालों को (असम्प्रज्ञात योग)समीप है।

व्याख्या—मृदूपाय योगी भी, तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) मृदु-संवेग—जिन की क्रिया की गति या संस्कार लघु वा शिथिल है।

(२) मध्य-संवेग—जिन की क्रिया की गति या संस्कार मध्यम है।

(३) तीव्र-संवेग—जिन की क्रिया की गति या संस्कार उत्तम है।

ये भेद योगियों के, तप, श्रद्धा आदि क्रियाओं में, अल्प वा तीव्र वेग दिखलाने के कारण से, होते हैं। ऐसेही तीन तीन भेद अन्य मध्योपाय और अधिमात्रोपाय के भी, समझने चाहिएँ।

मृदुमध्याऽधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

अर्थ—(तीव्र-संवेग के भी) मृदु, मध्य, अधिमात्र (रूपी तीन तीन भेद) होने से भी विशेष (शीघ्रतर और शीघ्रतम उपायप्रत्यय योग प्राप्त होता) है।

व्याख्या—तीव्र-संवेग के ये जो तीन भेद हैं इन में से उत्तरोत्तर योग की प्राप्ति में शीघ्रता होती है अर्थात् मृदूपाय तीव्र-संवेग की अपेक्षा, मध्योपाय तीव्र-संवेग वाले योगी को, उपाय प्रत्यय समाधि की सिद्धि, शीघ्र होती है और अधिमात्रोपाय तीव्र-संवेग वाले को, उस से भी अधिक शीघ्र योग सिद्ध होता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

अर्थ—अथवा ईश्वर की भक्ति विशेष से (समाधि की सिद्धि होती है)

व्याख्या—जो मनुष्य ईश्वर के प्रेम और चिन्तन में निमग्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं तो इससे उन को समाधि की सिद्धि हो जाया करती है।

ब्रह्म-निरूपण

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

अर्थ—क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओं से (अपरामृष्ट) असंबद्ध पुरुष विशेष, ईश्वर कहलाता है।

व्याख्या—क्लेश=पाँच क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश।

कर्म=शुभाशुभ कर्म।

विपाक=कर्मफल।

आशय=कर्म और कर्मफल से उत्पन्न वासना, जो जन्म का कारण, हुआ करती है।

पुरुष (जीव) का सम्बन्ध इन क्लेश, कर्म आदि से अन्तःकरण के द्वारा होता है परन्तु ईश्वर जो पुरुष=जीव नहीं किन्तु पुरुष विशेष है, उस का इन से साक्षात् या असाक्षात् किसी प्रकार से भी, सम्बन्ध नहीं। जीव निमित्त विशेष से मन और इन्द्रिय के द्वारा कर्म किया करता है। परन्तु ईश्वर को इस प्रकार के निमित्त प्रभावित नहीं कर सकते। क्योंकि उसके ज्ञान कर्म और बल सभी स्वाभाविक हैं जैसा कि उपनिषद् में कहा गया है "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"। "केवल-जन[1]" अर्थात् मुक्त जीव भी, इन क्लेशादि से मुक्त, होते हैं तो क्या वे भी पुरुष विशेष (ईश्वर) हो सकते हैं? उत्तर ये है कि नहीं। क्योंकि वे पहले बन्धन में थे। उन की मुक्ति और बन्धन दोनों नैमित्तिक होते हैं परन्तु ईश्वर, स्वभाव ही से, शुद्ध बुद्ध, मुक्त स्वरूप है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्[2]॥२५॥

(१) जैन विद्वान अपने तीर्थंकरों को भी "केवलीजन" कहते हैं।

(२) स्वामी हरिप्रसाद ने अपनी वैदिक वृत्ति में इस सूत्र के पाठ में "सर्वज्ञबीजम्" के स्थान में "सर्वज्ञबीजम्" पाठ माना है—अर्थ तो प्रायः व्यास आदि टीकाकारों ने सार्वज्ञबीजम् के ही किये हैं परन्तु

अर्थ—उस (ईश्वर) में (सर्वज्ञबीजम्) संपूर्ण ज्ञान के निमित्त की (निरतिशयम्) अत्यन्ता (सीमा) भी है।

व्याख्या—सर्वज्ञ किसे कहते हैं ? व्यास ने उत्तर दिया है कि जिस में (सर्वज्ञवीजम्) सर्वज्ञता का निमित्त (निरतिशयम्) अतिशय (अत्यन्ता) से रहित अर्थात् ससीम हो जाय वह सर्वज्ञ है। भाव इसका यह हुआ कि ईश्वर पूर्णज्ञानी है। कोई ज्ञान ऐसा नहीं जो उसमें न हो और उससे बाहर नहीं हो।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात् ॥ २६ ॥

अर्थ—वह यह (ईश्वर) पूर्व ऋषियों का भी गुरु है और काल से विभक्त नहीं होता।

व्याख्या—ऋषि दो प्रकार के होते हैं। १—दैव्य-ऋषि २—श्रुत-ऋषि। इन में दैव्य ऋषि वे होते हैं जिन को ईश्वर की ओर से जगत् के प्रारम्भ में ज्ञान मिला करता है और श्रुत ऋषि वे हैं जो पहले ऋषियों तथा उन के प्रचलित किये हुये ज्ञान (वेद) की शिक्षा से ऋषि बना करते हैं। इन्हीं को वेद में पूर्व और नूतन ऋषि कहा गया है[२]। इस सूत्र में ईश्वर को पहले ऋषियों का भी गुरु बतलाया

सूत्र में प्रयुक्त "सर्वज्ञवीजम्" ही आर्ष पाठ प्रतीत होता है क्योंकि स्वामी हरिप्रसाद को छोड़ कर प्रायः सभी ने 'सर्वज्ञवीजम्' ही पाठ माना है।

(१) देखो ऋग्वेद मंडल १० सूक्त ७१

(२) अग्निःपूर्वेभिऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति। ॥ऋ० १। १ २॥

अर्थ—वह अग्नि पूर्व (पहले) नूतन (पहलों के बाद हुये) ऋषियों से स्तुति के योग्य है। वह देवों को प्राप्त करता है।

है। मनुष्यों में कालकृत सीमा होती है इसलिये उनके वास्ते यह प्रश्न बना रहता है कि उनका गुरु कौन है। परन्तु ईश्वर कालकृत सीमा से बद्ध नहीं इसीलिये उसे पूर्व ऋषियों का गुरु कहा है।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

अर्थ—उस (ईश्वर=वाच्य (का वाचक प्रणव (ओम्) है।

व्याख्या—ईश्वर वाच्य और ओम् वाचक है। अर्थात् ईश्वर अर्थ है और ओम् शब्द है। शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य होते हैं इसलिये ईश्वर और ओम् का वाच्य वाचक सम्बन्ध भी नित्य है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

अर्थ—उस (ओम्) का जप और उस (ओम्) के अर्थ (ईश्वर) का अनुभव।

व्याख्या—क्यों जप करना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि जप करने से ईश्वर के दिव्यगुणों का प्रभाव जपने वालों के हृदय पर पड़ता है और पर्याप्त जप से वह गुण उपासक में आ भी जाते हैं।

मनुष्य यदि प्राणायाम के साथ स्थिर आसन होकर तीन घण्टे निरन्तर जप करे और चित्त को ईश्वर के अनुभव करने में लगाये रक्खे तो यह अनुभूत बात है कि उसका चित्त ठहर जाता है।

(७) योग के विघ्न

ततः प्रत्यक् चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

अर्थ—उस (ईश्वर प्रणिधान और उसके साधन सार्थक

जप) से प्रत्यक चेतना का ज्ञान और (अन्तराय) विघ्नों को अभाव हो जाता है।

व्याख्या—प्रत्यक् शब्द का अर्थ भीतर है। इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वह (प्राक्) केवल बाहर का ज्ञान होता है परन्तु 'प्रणिधान" से (प्रत्यक्) भीतर का ज्ञान होता है अर्थात् आत्मा की अन्तर्मुखवृत्ति जागृत हो जाती है। योग की क्रिया करते हुए जिन विघ्नों का योगी को सामना करना पड़ता है उनका विवरण अगले सूत्र में दिया है।

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादालस्याविरति-भ्रान्ति दर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवास्थितत्वानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

अर्थ—(१) व्याधि, (२) स्त्यान, (३) संशय, (४) प्रमाद, (५) आलस्य, (६) अविरति, (७) भ्रान्ति-दर्शन, (८) अलब्धभूमिकत्व, और (९) अनवस्थितपन; ये चित्त के विक्षेप करने वाले विघ्न हैं।

व्याख्या—चित्त के विक्षेप, स्वयं योग के विघ्न नहीं हैं किन्तु चित्त की वृत्तियों के साथ मिल कर, विघ्नकारक हो जाते हैं। यदि चित्त की वृत्तियां सुप्त या निरुद्ध हों तो ये विघ्न, बाधा नहीं डाल सकते। विक्षेप ये हैं:—

(१) व्याधि—रोगादि, शरीर के वीर्य और रस आदि के बिगड़ने से शरीर में विकलता उत्पन्न हो जाती है।

(२) स्त्यान—जिसमें चित्त दुष्ट कर्म करने का चिन्तन करता है अथवा जिसमें कर्म रहित होने की चेष्टा करता है।

(३) संशय—जो दोनों विरोधी-पक्षों का खंडन व समर्थन

करे जिससे मनुष्य द्विविधा में पड़ जाता है कि कोई विशेष काम करे या न करे।

(४) प्रमाद—योग के साधन (उपायों) का चिन्तन न करना।

(५) आलस्य—शरीर या चित्त के भारीपन से, चेष्टा रहित हो जाना।

(६) अविरति—चित्त का, विषय के संसर्ग से, आत्मा को मोहित वा प्रलोभित कर देना।

(७) भ्रान्तिदर्शन—मिथ्याज्ञान, कुछ का कुछ देखना या समझना।

(८) अलब्धभूमिकत्व, योग या समाधि की भूमियों का प्राप्त न होना।

(९) अनवस्थितत्व—योगभूमियों को प्राप्त होकर भी चित्त का स्थिर न होना।

इन्हीं को "नवयोगमल" "योग के प्रति-पक्षी" अथवा "योगान्तराय" अर्थात् "योग के विघ्न" भी कहते हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

अर्थ—(१) दुःख (२) दौर्मनस्य, (३) अंगमेजयत्व, (४) श्वास और (५) प्रश्वास; ये विक्षेपों के साथ होने वाले (उपविघ्न या विघ्नों के साथी) हैं।

व्याख्या—(१) दुःख तीन प्रकार के हैं—(क) "आध्यात्मिक"

अर्थात् मन और शरीर के रोग, (ख) "आधिभौतिक" जो दूसरे प्राणियों (व्याघ्र, चोर आदि) से होते हैं (ग) "आधिदैविक" जो इन्द्रियों की चञ्चलता, मन के विकार और अशुद्धता आदि से होते हैं। (२) इच्छा की पूर्ति न होने से मन में जो क्षोभ उत्पन्न होता है उसे "दौर्मनस्य" कहते हैं। (३) आसन के स्थिर न होने से शरीर का हिलना जुलना "अंगमेजयत्व" कहलाता है (४) बाहर के वायु का नासिका के छिद्रों द्वारा भीतर जाना "श्वास" और (५) उसी का बाहर निकलना "प्रश्वास" कहलाता है। ये उपविघ्न विक्षिप्त चित्त वालों ही को होते हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

अर्थ—उन (विघ्न और उपविघ्नों) को दूर करने के लिये एक तत्त्व का अभ्यास करे।

व्याख्या—व्यास जी ने चित्त का लक्षण इस प्रकार किया है:—"एकमनेकार्थमवस्थितं चित्तम्" अर्थात् जो एक होने पर अनेक विषयों में स्थित है वह चित्त है। चित्त के अनेक विषयों की ओर जाने का नाम ही विघ्न है। इसीलिये सूत्र में कहा गया है कि एक तत्त्व (अद्वितीय ब्रह्म) का आश्रय लेने से चित्त को एकाग्र करे। चित्त यद्यपि चञ्चल है परन्तु सांसारिक विषयों में उसे एकाग्र होते हुये देखा जाता है इसीलिये उसे ओम् के जपादि में लगाकर भी एकाग्रित किया जा सकता है। इस प्रकार चित्त के एकाग्र करने अथवा विघ्नोपविघ्नों के दूर करने के लिये

एक क्रिया मेरे अनुभव में आई है और वह न केवल मुझे अनुकूल पड़ी किन्तु जिस जिस को भी मैं ने बतलाया इन्हें भी लाभदायक सिद्ध हुई। वह क्रिया यह है:—मनुष्य जिस समय कोई भी अभ्यास करना चाहे तो एकांत में किसी शांत स्थान पर बैठ कर ईश्वर को हृदय में साक्षी रूप समझते हुये प्रतिज्ञा करे कि मैं अमुक क्रिया करूंगा और पूरा किये बिना किसी अवस्था में भी उसे न छोड़ूंगा। इस प्रतिज्ञा को प्रातः-सायं प्रतिदिन दो समय दुहरा लेना चाहिये और अन्य समय में भी उसका चिन्तन करते रहना चाहिये। यदि इतना यत्न करते हुये भी विघ्न-उपस्थित हो तो उस मनुष्य को चाहिये कि यह विचार करते हुये कि मैं अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ कर पातकी बनना चाहता हूं, अपने को खूब लज्जित करे और मलामत भी करता जाय। ऐसा करने से उस व्यक्ति के हृदय में, अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करने के लिये, अपने से ग्लानि उत्पन्न होगी और वह भविष्य के लिये बहुत सावधान होकर यत्न करेगा कि अब अपनी प्रतिज्ञा को फिर भङ्ग न करे। योग-दर्शन के वार्तिककार ने एक तत्व का भाव कोई स्थूल लक्ष्य बतलाया है परन्तु वेदादि सत्शास्त्र ईश्वर के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं इसलिये एकतत्व का अर्थ हमने अद्वितीय ब्रह्म ही किया है।

(८) चित्त की एकाग्रता के साधन

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

अर्थ—सुखी पुरुषों में मित्रता, दुखियों पर करुणा, पुण्यात्माओं पर हर्ष और पापियों में उपेक्षा की भावना से चित्त निर्मल होता है।

व्याख्या—मैत्री, करुणा और हर्ष से चित्त में उत्साह और शान्ति रहती है और पापियों की उपेक्षा करने से मनुष्य क्रोध से बचता है। उत्साह, शान्ति और क्रोध के अभाव से चित्त की एकाग्रता शीघ्र होने लगती है। यह चित्त के स्थिर करने का पहला उपाय है।

प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

अर्थ—अथवा प्राण को (प्रच्छर्दन) बलपूर्वक बाहर निकालने और (विधारण) रोकने से (भी चित्त स्थिर होता है)।

व्याख्या—चित्त के स्थिर करने का दूसरा उपाय प्राणायाम है, प्राणायाम से प्राण वश में होता है और प्राण के वश में होने से चित्त भी ठहरने लगता है[1]।

दिव्या वा विषय प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी ॥३५॥

अर्थ—अथवा (दिव्य) विषय वाली चित्त की वृत्ति उत्पन्न होकर मन की स्थिति को बांधने वाली होती है।

व्याख्या—नासिका को अग्र भाग में, समस्त शक्ति के साथ, चित्त लगाने से दिव्य गन्ध का अनुभव होने लगता है उसे "गन्ध-प्रवृत्ति" कहते हैं। जिह्वा के अग्र भाग में चित्त लगाने से रस का अनुभव, तालु में चित्त लगाने से रूप का (दिव्यदृष्टि), जिह्वा के

(१) प्राणायाम का विस्तार पूर्वक वर्णन साधन पाद के सूत्र ४९,५० तथा ५१ की व्याख्या और उपोद्घात में है।

मध्य भाग में चित्त लगाने से स्पर्शानुभव (दिव्य-स्पर्श), जिह्वा के मूल-भाग (जड़) में चित्त लगाने से शब्द-ज्ञान (दिव्य-श्रवण-शक्ति) होने लगता है। इस प्रकार रस, रूप, स्पर्श और शब्द-प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो कर चित्त को स्थिर और संशय को दूर करती हैं। शास्त्र की शिक्षाओं में निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न करने के लिये, अभ्यासी के लिये आवश्यक है कि इन दिव्य विषयों में से, कम से कम एक की सिद्धि कर लेवे जिससे शास्त्र की शिक्षाओं के लिये उसके हृदय में सन्देह न रहे और श्रद्धा पैदा हो जावे। यह उत्पन्न हुई श्रद्धा, माता के सदृश, योगी की रक्षा करती है। यह चित्त के स्थिर करने का तीसरा उपाय है।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अर्थ—अथवा शोक से रहित और प्रकाशयुक्त प्रवृत्ति (उत्पन्न हो कर मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है)।

व्याख्या—हृदय कमल में जब प्राण धारण किया जाता है तब योगी की बुद्धि प्रकाशयुक्त और आकाश के समान विस्तृत (संकोच रहित) हो जाती है। उस (बुद्धि) में स्थिर होने से सूर्य्य, चन्द्र और मणियों के प्रकाश के समान जाज्वल्यमान ज्ञान प्राप्त होता है। इस अवस्था में उसकी दशा तरंग रहित महासागर के समान, शान्त और निश्चय होती है और वह प्रभु-प्रेम में मग्न रहने लगता है। इस प्रवृत्ति को प्रकाशयुक्ता (ज्योतिष्मती) प्रवृत्ति कहते हैं। यह चित्त के स्थिर करने का चौथा उपाय है।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—अथवा राग रहित चित्त (स्थिर हो जता है)।

व्याख्या—किसी वस्तु को प्राप्त करके उसके रखने की इच्छा का नाम राग है। राग से वासना बनती है और वह वासना बंधन का हेतु होती है। उस वासना के चक्र से छूटने का साधन वीत राग होना ही है। यह चित्त के स्थिर करने का पांचवाँ उपाय है।

स्वप्न-निद्रा-ज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

अर्थ—अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान का आश्रय लेने से (चित्त स्थिर हो जाता है)।

व्याख्या—स्वप्न में बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं रहता और निद्रा (सुषुप्ति) में बाह्य और अभ्यन्तर दोनों का ज्ञान नहीं रहता। यही स्वप्न और सुषुप्ति की सी अवस्था, जागृत में योगी को, मन को निर्विषय करते हुये, बनानी चाहिये तब चित्त ठहर जाता है। यह छठा उपाय चित्त स्थिर करने का है।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

अर्थ—अथवा जो अभिमत (इच्छानुकूल) हो उसका ध्यान करने से (भी चित्त स्थिर हो जाता है)।

व्याख्या—हृदय कमल, नासिकाग्रभाग, नाभिचक्र, ब्रह्मरन्ध्र आदि में जो अधिक से अधिक रुचि के अनुकूल हो उसमें चित्त लगाने से भी चित्त ठहर जाता है। यह सातवाँ उपाय चित्त के स्थिर करने का है।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्यवशीकारः ॥ ४० ॥

अर्थ—परमाणु और परम महत्त्व तक इस (चित्त) का वशीकार हो जाता है।

व्याख्या—जब उपर्युक्त सात उपायों में से किसी को काम में लाकर योगी चित्त को स्थिर करने में सफलता प्राप्त कर लेता है तब उसका अधिकार हो जाता है कि चाहे तो चित्त को परमाणु जैसी सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु में लगावे या किसी बड़ी से बड़ी वस्तु में।

(६) समाधि और उसके भेद

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिसकी वृत्तियाँ क्षीण हो गई हैं, ऐसे (चित्त)के ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य में (तत्स्थ) स्थिर होकर, स्फटिक मणि के सदृश, (तदञ्जनता) उन्हीं के स्वरूप को प्राप्त (तदाकार) हो जाना समापत्ति (कहलाता है)।

व्याख्या—इस सूत्र में 'समापत्ति' का लक्षण किया गया है। अभिजात (उत्तम जाति के) स्फटिक मणि में, अपना कोई रंग नहीं होता परन्तु उसमें गुण यह होता है कि उसके समीप जिस प्रकार के रंग की भी कोई वस्तु हो वह उसी रंग की दिखाई देने लगती है। उसके समीप यदि 'जवा कुसुम' सुर्ख रंग के फूल को रक्खें तो वह सुर्ख ही सुर्ख दिखाई देने लगती है, इसी प्रकार नीले

पीले आदि रंगवाली किसी वस्तु के समीप रखने से वह वैसी ही दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार चित्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प आदि अपनी पाँचों वृत्तियों से (देखो सूत्र ६) क्षीण होकर, स्फटिक मणि के तुल्य, निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। तब ग्रहीता (अहङ्कार विशिष्ट आत्मा) ग्रहण (इन्द्रियाँ) और ग्राह्य (इन्द्रियों के विषय) जिसमें भी उसे लगावें वह उसी के आकार या स्वरूप को धारण करने लगता है। चित्त की इसी अवस्था का नाम समापत्ति' है। यह समापत्ति चार प्रकार की है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

अर्थ—उनमें जो शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित हो वह सवितर्का समापत्ति है।

व्याख्या—इन चार समापत्तियों के दो ग्रूप (श्रेणियाँ) हैं:—(१) एक सवितर्का और निर्वितर्का का जो स्थूल विषयों से सम्बन्धित है। (२) दूसरा सविचारा और निर्विचारा जो सूक्ष्म विषयों से सम्बन्धित है। उनमें से प्रथम पहले ग्रूप का वर्णन करते हैं। स्थूल विषयों पर विचार करने के लिये एक 'गो' की कल्पना करो इसमें तीन बातें हैं गो शब्द, उसका अर्थ (पशुविशेष) और इन शब्द और अर्थ को मिलाने से जो कुछ समझा जाता है वह ज्ञान। यदि योगी गो में चित्त लगावे और चित्त लगानेसे जब तक उसके चित्त में इन तीनों के विकल्प रहें अर्थात् ये तीनों (शब्द, अर्थ और ज्ञान)

भिन्न भिन्न प्रतीत होते रहें तब तक उस समाधि को सवितर्का कहेंगे। परन्तु जब समाधिस्थ बुद्धि में अर्थमात्र का ज्ञान रह जाता है तब उसे निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। अगले सूत्र में उसका वर्णन है:—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

अर्थ—स्मृति के मार्जित होने पर अपने स्वरूप से शून्य सी, अर्थ मात्र का जिस में भान हो; वह निर्वितर्का (समापत्ति है)।

व्याख्या—स्मृति के मार्जित (शुद्ध) होने का तात्पर्य यह है कि उसने बाह्य ग्राह्य विषयों की ओर काम करना छोड़ दिया है इसलिये अभ्यासी को, वस्तु के शब्द की, स्मृति नहीं रहती और इसीलिये शब्द और अर्थ से जो ज्ञान होता है वह भी नहीं रहता और चित्त इस प्रकार ग्रहणात्मक रूप को त्याग देता है और अपने स्वरूप में, ग्रहणात्मक वृत्तियों के निश्चेष्ट हो जाने से, शून्य सा हो जाता है। अब केवल अर्थ (ग्राह्य विषयाकार) स्वरूप से भान होने लगता है। इसी अवस्था का नाम निर्वितर्का समापत्ति होता है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

अर्थ—इस ही (प्रकार) से सूक्ष्म विषय वाली सविचारा और निर्विचारा (समापत्ति) व्याख्यान की गई (समझनी चाहिये)।

व्याख्या—जिस प्रकार किसी स्थूल विषय पर चित्त लगाने और शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों के बोध बने रहने को सवितर्का समापत्ति और केवल अर्थ ज्ञान रह जाने को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। इसी प्रकार किसी सूक्ष्म विषय पर चित्त लगाने और शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों के बोध बने रहने को "सविचारा" और उसी सूक्ष्म विषय के केवल अर्थाकार ज्ञान को "निर्विचारा समापत्ति" कहते हैं। अर्थात् जो किसी (शब्दादि के) आलम्ब से समाधि है वह सविचारा और निरालम्ब अर्थाकार होना, निर्विचारा।

सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

अर्थ—और सूक्ष्म विषय, अलिङ्ग (चिह्नरहित कारणावस्था वाली प्रकृति) तक है।

व्याख्या—पञ्च स्थूल भूत और उन के कार्य स्थूल विषय कहलाते हैं। इन पञ्च स्थूल भूतों के बाद सूक्ष्म भूत (शब्द, अर्थ, रूप, रस, गंध), अहङ्कार, महत्तत्त्व और सत, रज, तम, की साम्यावस्था वाली प्रकृति तक सूक्ष्म विषय की सीमा है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

अर्थ—वे ही (चार प्रकार की समापत्ति) सबीज समाधि (कही जाती हैं)।

व्याख्या—स्थूल अर्थ से (१) सवितर्का (२) निर्वितर्का और सूक्ष्म अर्थ से (३) सविचारा और (४) निर्विचारा, चार प्रकार की समाधि है। इन्हें सबीज इसलिये कहते हैं कि इन में चित्त एकाग्र होता है निरुद्ध नहीं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

अर्थ—निर्विचार (समाधि) के नैर्मल्य में (अध्यात्म) बुद्धिसत्त्व प्रसन्न=निर्मल हो जाता है।

व्याख्या—बुद्धिसत्त्व, रजोगुण और तमोगुण के आवरण से रहित होने और केवल सतोगुण में स्थित होने से निर्मलता प्राप्त कर लेता है और यह निर्मलता तब स्थिर हो जाती है जब योगी, प्रकृति पर्यन्त समस्त सूक्ष्म ग्राह्य विषयों का, प्रत्यक्ष कर लेता है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

अर्थ—इसमें प्रज्ञा (बुद्धि) ऋतम्भरा कही जाती है)

व्याख्या- उस निर्मल हुए बुद्धि सत्त्व (सूत्र ४७) को ऋतम्भरा इस लिये कहते हैं कि वह बुद्धि निर्भ्रम और केवल पूर्ण सत्य को, धारण करने वाली हो जाती है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

अर्थ—(यह निर्मल ऋतम्भरा प्रज्ञा) विशेष अर्थ वाली होने से, श्रुत (शास्त्र) और अनुमान की प्रज्ञा से, भिन्नविषया (है)।

व्याख्या—शास्त्र और अनुमान की प्रज्ञा से, केवल श्रवण, दर्शन और मनन होता है परन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा से निदिध्यासन (अनुभव या साक्षात् या चखकर स्वाद लेना) भी। इसी लिये उसको पहलि प्रज्ञा से भिन्नविषया कहा गया है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी

अर्थ— इस (ऋतम्भरा प्रज्ञा) से उत्पन्न हुआ संस्कार अन्य संस्कारों को दूर कर देने वाला (होता है)।

व्याख्या—इस समाधिज प्रज्ञा (ऋतम्भरा) से उत्पन्न हुए संस्कार विषय वासना के संस्कारों को, नष्ट कर देते हैं। उनके नष्ट होने से विषय वासना का ज्ञान भी बाकी नहीं रहता। ये (ऋतम्भरा वाले संस्कार, समाधिज बुद्धि (ऋतम्भरा) को पैदा करते हैं, उससे फिर वही संस्कार उत्पन्न होकर फिर वही समाधिज बुद्धि पैदा होती है। यही क्रम चलता रहता है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजसमाधिः ॥ ५१ ॥

अर्थ—उस (ऋतम्भरा वाले संस्कार) के भी रोक देने पर सब के रुक जाने से, निर्बीज (असंप्रज्ञात) समाधि (की सिद्धि हो जाती है)।

व्याख्या—ऋतम्भरा प्रज्ञा से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं वे, उक्त प्रकार की दृष्टि से निरोधज होते हैं। इन निरोधज संस्कारों के बार बार उत्पन्न होने से निरोध बल इतना बढ़ जाता है कि वे अपने जन्म दाता निरोधज संस्कार का भी, निरोध करने लगते हैं। जब इस प्रकार निरोध के बार २ अभ्यास से निरोधज संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं, तब सबीज (सम्प्रज्ञात) समाधि का बीज भी नष्ट हो जाता है। उस (बीज) के नष्ट होने से निर्बीज समाधि की, स्वयमेव सिद्धि हो जाती है। इसी को असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति कहते हैं।

इति प्रथमः समाधिपादः।

पहला समाधि पाद समाप्त हुआ।

साधन-पाद

(१०) क्रिया योग

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रिया योगः ॥१॥

अर्थ—तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर-परायणता) क्रिया योग है।

व्याख्या—कष्टों का प्रसन्नता से सहना, नियमित जीवन बनाना, समय विभागानुसार कार्य करना, तप कहलाता है। कर्म और क्लेश, वासना और उन वासनाओं से बने विषय जाल, और चित्त की मलिनता, बिना तप के दूर नहीं होती।

ओम् के पवित्र जप और वेद उपनिषदादि सत्शास्त्रों के नियम पूर्वक अध्ययन तथा आत्म निरीक्षण को स्वाध्याय कहते हैं। निष्काम भावना से कर्म करना और उन्हें ईश्वर के अर्पण करना तथा ईश्वर के आश्रय को दृढ़ता से ग्रहण करना और उसके प्रेम में मग्न रहना ईश्वर प्रणिधान है। इस प्रकार इन तीनों तप आदि को काम में लाने से, क्रिया योग की सिद्धि होती है।

(११) क्लेश निवृत्ति के साधन

समाधिभावनार्थःक्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

अर्थ—(वह क्रिया योग) समाधि के उत्पन्न करने और क्लेशों के कम करने के लिए (प्रयुक्त होता है)।

व्याख्यान—क्रिया योग के प्रयोग में लाने के दो उद्देश्य होते हैं:—(१) समाधि को प्राप्त करना, (२) क्लेशों को कम करना। योगाग्नि ही से क्लेशों के बीज जलकर उत्पन्न होने के अयोग्य हो जाते हैं।

अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥३॥

अर्थ—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं।

नोट—इनकी व्याख्या स्वयं दर्शनकार ने आगे के (५—९) सूत्रों में की है।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनु विच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

अर्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार (अवस्था में रहने वाले) अगले (अस्मिता आदि चार) क्लेशों का क्षेत्र अविद्या है।

व्याख्या—क्लेशों की चार अवस्थायें हैं:—(१) 'प्रसुप्तता'—जिसमें क्लेश सोये से रहते हैं। (२) 'तनुता'—जिस में क्लेश सूक्ष्म रहते हैं। (३) विच्छिन्नता—जिस में क्लेश सजातीय वा विजातीय क्लेशों से दबे रहते हैं। (४) 'उदारता'—जिसमें क्लेश पूर्ण रूप से काम में आ रहे हैं। इन में से जो योगी विदेह प्रकृतिलय हैं (देखो सूत्र १९ प्रथम पाद) उन के क्लेश प्रसुप्त (सोये हुए) रहते और वे उन्हें कुछ भी क्लेशित नहीं कर सकते और जो क्रिया योगी हैं (देखो सूत्र २ इसी पाद का) उनके क्लेश 'तनुता' (सूक्ष्म) अवस्था में रहते हैं। बाक़ी जो दो क्लेशों की 'विच्छिन्नता' और 'उदारता' की अवस्थायें

हैं, इनमें सांसारिक विषय वासनाओं में फँसे हुये नर नारी रहा करते हैं।

अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्य शुचि सुखात्म-ख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अर्थ—अनित्य में नित्यता, अशुचि में शुचिता, दुःख में सुख और अनात्मा (जड़) में आत्मापन (चेतना की भावना करना) अविद्या है।

व्याख्या—मिथ्या (विपरीत) ज्ञान का नाम अविद्या है। जो चीज नित्य नहीं है जैसे जगत्, राज्य, सम्पत्ति आदि, उन्हें नित्य समझना, जो वस्तु अपवित्र हैं उन्हें पवित्र मानना, जो विषय भोगादि दुःख हैं उन्हें सुख ठहराना और जड़ को चेतन समझना अविद्या है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

अर्थ—द्रष्टा और दर्शन शक्ति को एक मानना "अस्मिता" (कहलाता है)।

व्याख्या—द्रष्टा जीवात्मा है और दर्शन शक्ति (देखने का साधन) बुद्धि और अन्य अन्तःकरण हैं, इनमें अभेद ज्ञान रखना अर्थात् जीवात्मा और अन्तःकरणों को एक ही (अभिन्न) समझने को अस्मिता कहते हैं।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

अर्थ—सुख (अनुभव करने) के पीछे रहने वाली अभिलाषा का नाम राग है।

व्याख्या—जिन वस्तुओं या विषयों से मनुष्य संसार में सुखोपभोग करता है उनके रखने या पुनः काम में लाने की इच्छा उसके भीतर रहा करती है। उसी इच्छा को राग कहते हैं।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

अर्थ—दुःख (भोगने) के बाद पीछे रहने वाली घृणा को द्वेष कहते हैं।

व्याख्या—जिन वस्तुओं से संसार में मनुष्य को दुःख हुआ करता है उनसे जो भाव भोक्ता में घृणा या क्रोध के रूप से छाया रहता है उसी (भाव) का नाम द्वेष है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

अर्थ—स्वरस (पूर्व जन्म में मरने के दुःख) के साथ बहने-वाला, (मूर्ख के) समान विद्वानों पर भी चढ़ा हुआ (क्लेश) अभिनिवेश कहलाता है।

व्याख्या—पिछले जन्म में भोगे, दुःख और सुख से उत्पन्न द्वेष और राग, मनुष्य के अन्तःकरण में वासना के रूप में मौजूद रहते हैं। उन्हीं दुःखों में से मरने का भी एक दुःख है। प्रत्येक प्राणी ने उसका पिछले जन्म में अनुभव किया है, इसीलिये उससे डरता भी रहता है। इसी मृत्युके भयका नाम अभिनिवेश क्लेश है।

ते प्रति प्रसव हेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

अर्थ—वे (क्लेश) अपने कारण में (हेयाः) हटाने चाहिये सूक्ष्म होने पर।

व्याख्या—इन पञ्च क्लेशों के हटाने का उपाय, इस सूत्र में बतलाया गया है कि पहले उन्हें क्रिया योग से (देखो सूत्र२ इसी पाद का) हलका करना चाहिये जब वे हलके (सूक्ष्म) हो जावें तब उन्हें उनके (प्रति प्रसव) उत्पत्ति स्थान (कारण) में लौटा देना चाहिये।

ध्यान हेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

अर्थ—उन क्लेश वृत्तियों को ध्यान से हटाना चाहिये।

व्याख्या—क्लेश की जिन वृत्तियों का अल्प व्यवहार है वे स्थूल वृत्ति और जिनका व्यवहार अधिक है वे सूक्ष्म वृत्ति कहलाती हैं। जिस प्रकार मैले वस्त्र से पहले स्थूल मल छुड़ाया जाता है उसके बाद सूक्ष्म मल, क्योंकि उसके छुड़ाने के लिये विशेष यत्न करना पड़ता है। इसी प्रकार चित्त से इन क्लेश वृत्तियों को, जो स्थूल हैं उन्हें शुद्ध विचार से और जो सूक्ष्म हैं उन्हें ध्यान (चित्त की एकाग्रता) से दूर करना चाहिये।

(१२) कर्म

क्लेश मूलः कर्माशयोऽदृष्टाऽदृष्ट जन्म वेदनीयः ॥ १२ ॥

अर्थ—क्लेश का मूल, दृष्ट और अदृष्ट जन्मों के कर्मों की वासनायें हैं (ऐसा) जानना चाहिये।

व्याख्या—वर्तमान जन्म को दृष्ट और बीते हुये जन्मों को अदृष्ट कहते हैं। मनुष्य जैसा कर्म करता है उससे उसी प्रकार की वासना बनती है औ यह वासना मनुष्य के चित्त में, कर्म की रेखा के रूप में रहा करती है। मनुष्य का चित्त जन्म जन्मान्तर की वासनाओं का भण्डार हुआ करता है। मनुष्य जितने भी क्लेश भोगता है उनका कारण वे वासनायें ही हुआ करती हैं। इसी व्यवस्था का संकेत इस सूत्र में किया गया है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

अर्थ—मूल के रहते हुये उनका फल (१) जाति (योनि), (२) आयु और (३) भोग (होते हैं)।

व्याख्या—क्लेश का मूल वासनायें होती हैं, यह बात कही जा चुकी है, उसी मूल (कर्म वासना समूह) के चित्त में रहने से उन (कर्मों) का फल जाति, आयु और भोग के रूप में कर्त्ता को मिला करता है। जाति का अभिप्राय मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियों से है। आयु की नाप तोल वर्षों पर नहीं किन्तु श्वासों की संख्या से की जाती है। मनुष्य अपनी आयु, मिले हुये जन्म में, अपने अच्छे बुरे कर्मों के द्वारा घटा बढ़ा सकता है। सुकर्म से आयु बढ़ती है, दुष्कर्म (नशे, व्यभिचार आदि) से आयु का ह्रास होकर, अकाल ही में, मृत्यु हो जाती है। भोग पर भी मनुष्य के वर्तमान कर्म का प्रभाव पड़ा करता है। कर्म फल से प्राप्त भोग रूप रोग, चिकित्सा शास्त्र के अनुकूल विधान करने से समय से पहले कम या दूर हो जाता है।

ते ह्लाद परिताप फलाः पुण्याऽपुण्य हेतुत्वात् ॥१४॥

अर्थ—वे (जाति, आयु और भोग) पुण्य और पाप रूप कारण से; हर्ष और शोक रूप फल वाले (होते हैं)।

व्याख्या—कर्मों के फल जाति, आयु और भोग के रूप में होते हैं। ये अच्छे बुरे दोनों प्रकार के होने से, दुःख और सुख का कारण, होते हैं। दुःख बुरी वस्तु होने से त्यागने योग्य होना ही चाहिये। परन्तु सुख तो अच्छी वस्तु है, इसलिये ग्रहण करने योग्य है। तो इस अंश में तो ये (जाति, आयु और भोग रूप) भोग अच्छे ही समझे जाने चाहिये। इसका उत्तर अगले सूत्र में दिया जाता है।

(१३) ये सब दुःख ही हैं

परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष को तो परिणाम-दुःख, ताप दुःख और संस्कार-दुःख तथा गुण वृत्तियों के विरोध से सब दुःख ही हैं।

व्याख्या—दुःख और सुख का लक्षण इस प्रकार किया जाता है:—

"या भोगेन्द्रियाणां तृप्तेः उपशांतिः तत्सुखम्।" अर्थात् जो भोग करनेवाली इन्द्रियों की तृप्ति की शांति है वही सुख है।

"या लौल्यादनुपशांतिस्तत्दुःखम्।" अर्थात् जो (विषय की इच्छा से इन्द्रियों की) चञ्चलता से अशान्ति होती है वही दुःख

है। ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि इन्द्रियों की विषय भोगसे तृप्ति अथवा उनकी इच्छा की अपूर्त्ति ही, सुख और दुःख, कही जाती है। इन लक्षणों से स्पष्ट है कि संसार में जिसे सुखकहते हैं वह भी इन्द्रियों के भोग ही का नाम है। परन्तु विवेकी पुरुष इन्हें सुख नहीं समझता अपितु दुःख ही मानता है। उसके कारण ये हैं—

परिणाम दुःख—संसार के जितने भी भोग्य(भोजन वस्त्रादि हैं सभी परिणामी हैं। स्वच्छ वस्त्र क्षण क्षण में मैला होता रहता है, युवावस्था घड़ी घड़ी में बुढ़ापे से परिवर्तित होती रहती है जिस पत्नी को रूप, यौवन सम्पन्ना देखकर पति प्रसन्न होता था वह रूप और यौवन पल-पफ में क्षीण हो रहा है। निष्कर्ष यह है कि सांसारिक भोग कोई भी ऐसा नहीं जिसमें परिवर्तन न होता हो। इसीलिये सुख की समस्त सामग्री, परिणाम दुःख मिश्रित होने से, दुःख ही कही जा सकती है।

ताप-दुःख—मनुष्य जब सुखों का उपभोग करता है तब उसके हृदय में उन सुखों के बाधक साधनों से द्वेष रहता है, द्वेष से चित्त सदैव संतापित होता है। यह: संताप स्वयमेव दुःख है। इस लिये सुखों में, दूसरा दुःख जो मौजूद रहा करता है, वह ताप दुःख है।

संस्कार दुःख—मनुष्य जब पुण्य कर्म करता है तो उससे उसे सुख मिलता है। इस सुख से संस्कार (वासना) उत्पन्न होता है। उस संस्कार (वासना) की स्मृति से उसमें राग, राग से प्रवृत्ति

(फिर उसी कर्म के करने की इच्छा), प्रवृत्ति से कर्म उससे फिर वही वासना, राग, प्रवृत्ति और कर्म। इस संसार चक्र से मनुष्य का छूटना, सुख की इच्छा छोड़े विना, सम्भव नहीं इसलिये इस चक्र की फँसावट, ज्ञानी पुरुषों के लिये, बन्धन रूपी दुःख ही है।

गुण प्रवृत्ति—गुण "सत्", "रज", "तम" तीन हैं और ये तीनों परस्पर विरोधी हैं। एक की प्रबलता में शेष दो सदैव विरोध करते रहते हैं। इस प्रकार, जब तक गुणों की प्रवृत्ति मनुष्य के हृदय में बाकी रहती है, यह देवासुर संग्राम मनुष्य के भीतर जारी ही रहता है। योगी जब तक निस्त्रैगुण्य नहीं होता इस संग्राम रूपी दुःख से बच नहीं सकता। अतः अब यह बात साफ़ हो गई कि विवेकी को संसारिक सुख भी दुःख ही है। ये दुःख, काल की दृष्टि से, तीन अवस्थाओं में रहा करते हैं:— (१) भूत दुःख, (२) वर्तमान दुःख (३) अनागत (भावी) दुःख। इनसे बचने के लिये मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है:—

(१४) दुःख जो दूर करना चाहिये

हेयं दुखःमनागतम् ॥ १६ ॥

अर्थ—(जो) दुःख अनागत (अर्थात् अभी आया नहीं है परन्तु आ सकता) है (वही) हटाने के योग्य है।

व्याख्या—जो दुःख मिल चुका है उसके हटाने का विचार व्यर्थ है, जो दुःख वर्तमान काल में मिल रहा है, वह भी, भूत

काल में किये हुये कर्मों का फल होने से, अनिवार्य है। भावी, दुःख हमारे वर्तमान काल के कर्मों के फल रूप होते हैं इस लिये वर्तमान काल के कर्मों को ठीक करके वह भावी (अनागत) दुःख हटाये जा सकते हैं। उसी के हटाने का यत्न करना चाहिये।

(१५) दुःख के कारण

द्रष्टा दृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः ॥ १७ ॥

अर्थ—द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेय का हेतु (है)।

व्याख्या—द्रष्टा जीवात्मा है और दृश्य प्रकृति से उत्पन्न हुये शरीरादि कार्य हैं। इनके संयोग ही से (हेय) संसार के दुःख उत्पन्न हुआ करते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि द्रष्टा दृश्य, और इनके संयोग की निवृत्ति रूप प्रतिकार (चिकित्सा) समझ लिया जावे।

प्रकाश क्रिया स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

अर्थ—प्रकाश, क्रिया और स्थिति शील, पञ्चभूत और इन्द्रिय स्वरूप, भोग और मोक्ष प्रयोजन वाला (पदार्थ) दृश्य (कहलाता है

व्याख्या—प्रकृति के ३ गुणों में सत्व गुण का शील (स्वभाव) प्रकाश, रजोगुण की क्रिया और तमोगुण की स्थिति (अक्रियत्व) है। इनमें से रज, और, तम भोगार्थ और सत्व मोक्षार्थ है। इन तीन गुणों के कार्य, संसार के सभी पदार्थ, दृश्य कहलाते हैं।

यद्यपि सभी कार्य इन गुणों के आधीन हैं और ये गुण बुद्धिमें रहते हैं तथापि फलरूप मोक्ष और भोग का भोक्ता जीवात्मा ही है। इसका कारण यह है कि यदि प्रकृति के इन ३ गुणों का सम्पर्क जीवात्मा से न रहे तो फिर ये कुछ नहीं कर सकते क्योंकि उनमें जड़ता है। उनमें जो कुछ भी कर्तृत्व है उसका कारण वह चेतना का प्रकाश है जो जीवात्मा के सम्पर्क से उनमें आ आया करता है। इसलिये असली कारण कर्तृत्व और भोक्तृत्व का जीवात्मा ही है। मन, बुद्धि आदि सेना रूप उसके साधन ही कहे जा सकते हैं। जिस प्रकार सेना के कर्तृत्व का श्रेय राजा ही को मिला करता है, इसी प्रकार जीवात्मा, जो इन समस्त अन्तः और बाहिः करणों का राजा रूप ही है, कर्ता और भोक्ता कहा जाता है।

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १६ ॥

अर्थ—विशेष, अविशेष, लिंगमात्रा, अलिंग (प्रकृति के) गुणों की ४ अवस्थायें हैं।

व्याख्या-(१) विशेष=५ स्थूल भूत+१० ज्ञान व कर्मेन्द्रिय+१ मन कुल १६।

(२) अविशेष=५ तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)+१ अहङ्कार कुल ६।

(३) लिंगमात्रा=१ महतत्त्व।

(४) अलिंग=मूल प्रकृति।

योग २४।

यही २४ पदार्थ सांख्य को भी अभिमत हैं। यहाँ तक दृष्य का स्वरूप वर्णन किया गया है। अब द्रष्टा का लक्षण करते हैं:—

द्रष्टा दृशि मात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययाऽनुपश्यः ॥ २० ॥

अर्थ द्रष्टा दृशि (ज्ञान) मात्र है और शुद्ध भी, (और) प्रत्ययों के अनुसार देखने (जानने) वाला है।

व्याख्या—आत्मा को गुणी और उसके ज्ञान को गुण कह कर दोनों में संवाय सम्बन्ध कहना भी दर्शनकार को इष्ट नहीं है। किन्तु ज्ञान मात्र कहने का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा ज्ञान स्वरूप है। स्वरूप, सत्ता (ज्ञान=वस्तुतत्त्व=Thing in itself) को कहते हैं और जो उस सत्ता में न्याय, दया आदि के सदृश होते हैं, वे गुण कहलाते हैं। सूत्र का भाव यह है कि ज्ञान द्रष्टा (आत्मा) का गुण नहीं किन्तु उसकी सत्ता व स्वरूप है, प्रत्यय का तात्पर्य्य बुद्धि को हुई प्रतीतियों से है। प्रत्यय के अनुसार देखने (जानने) का मतलब यह है कि आत्मा (जीव) शुद्ध होने से अपने सांनिध्य मात्र से उन प्रतितियों (प्रत्ययों) को, जो बुद्धि को होती रहती है, साथ ही साथ देखने (जानने) वाला होता है।

तदर्थ एव च दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

अर्थ—दृश्य (प्रकृति) का आत्मा=स्वरूप केवल द्रष्टा के लिये है।

व्याख्या—जगत् में प्रकृति विकृत होकर जो अनेक वस्तुयें उत्पन्न किया करती है वे सभी जीवात्मा के लिये होती हैं। प्रकृति के अपने लिए कुछ नहीं होता। यदि यह कहा जावे कि जीवात्मा जब मुक्त हो जाता है तब उसके लिये यह कुछ भी नहीं होता इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है:—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

अर्थ—कृतार्थ के प्रति नष्ट भी अन्यों के प्रति सामान्यतया अनष्ट है।

व्याख्या— जो जीव कृतार्थ (मुक्त) हो गये हैं, उन के लिए यद्यपि प्राकृतिक भोग नष्ट हैं परन्तु अन्यों के लिये तो जो अभी मुक्त नहीं हुए, ये सभी भोग उपयोगी हैं। संसार में मुक्त और बद्ध दोनों प्रकार के जीव सदैव रहा करते हैं इसलिए प्रकृति की सर्वथा अनुपयोगिता कभी नहीं होती।

स्व स्वामी शक्त्योः स्वरूपोपलब्धि-हेतुः संयोगः ॥२३॥

अर्थ—स्व (प्रकृति) और स्वामी (जीव) की शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि का हेतु संयोग है।

व्याख्या—स्व=प्रकृतिरूपी मिलकीयत=भोग्य,

स्वामी=जीवरूपी मालिक=भोक्ता

प्रकृति जड़ है और पुरुष (जीव) चेतन होने से जड़ प्रकृति पर अपना अधिकार रखता है और इसीलिए सूत्र में उसे मालिक कहा गया है।

द्रष्टा (जीव) और (दृश्य) प्रकृति के संयोग से जो दृश्य पदार्थों की प्राप्ति होती है उसी का नाम भोग है। इस भोग की प्राप्ति संयोग से होती है, जिसका सूत्र में उल्लेख है। इस संयोग से भोग्य (प्रकृति) और भोक्ता (पुरुष) की शक्तियों का स्वरूप प्रकट हो जाता है। प्रकृति की शक्ति के प्रकट होने का भाव

यह है कि सांसारिक पदार्थ अधिक से अधिक भोग्य होने के योग्य हो जावें और पुरुष की शक्ति के प्रकट होने का तात्पर्य यह है कि वह अधिक से अधिक भोक्ता बनने की योग्यता वाला हो जावे। जब दोनों की शक्तियाँ इस प्रकार प्रादुर्भूत होकर संयुक्त होती हैं तब इसी संयोग से बन्धन की उत्पत्ति होती है। जब पुरुष स्वयमेव प्रकृति से मेल कर के संयोग और संयोग से बन्धन पैदा किया करता है तो वह आखिर यह करता क्यों है ?

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

अर्थ—उस (संयोग) का हेतु अविद्या है।

व्याख्या—बन्धन के कारण संयोग को, पुरुष (भोक्ता) अविद्या अर्थात् अपने मिथ्या ज्ञान से पैदा करता है।

(१६) चिकित्सा

तदऽभावात्संयोगाऽभावो हानंतद्दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

अर्थ—उस (अविद्या) के अभाव से संयोग का अभाव (होता है और वही) हान द्रष्टा (पुरुष) का मोक्ष है।

व्याख्या—उस अविद्या से मनुष्य किस प्रकार बचे ? सूत्र में उस की चिकित्सा (हान) यह बतलाई गई है कि उस को दूर करना चाहिए। उसके अभाव होने से, उस से उत्पन्न सयोग का अभाव होगा और उसी संयोग के अभाव का नाम मोक्ष है।

(१७) चिकित्सा के साधन

विवेक ख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥२६॥

अर्थ—स्थिर विवेक ख्याति हान का उपाय है।

व्याख्या—पहले सूत्र में हान (इलाज) यह बतलाया गया है कि अविद्या की निवृत्ति की जावे। अब बतलाते हैं कि उस चिकित्सा के लिए आप को किया करना चाहिये।

विवेक ख्याति उस विवेक (ज्ञान) को कहते हैं जो बुद्धि, चित्त आदि दृश्य पदार्थों के, आत्मा से भिन्न होने से, सम्बन्धित है। वह उपाय यह है कि मनुष्य के भीतर, दृश्य पदार्थों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान, स्थिर रीति से रहने लगे। जब मिथ्या ज्ञान इस विवेक ख्याति के निरन्तर अभ्यास से, दग्ध-बीज हो जाता है तब तमोगुण और रजोगुण के प्रभाव नष्ट हो जाते हैं और उस समय सत्वगुण के प्रकाश में स्थित योगी का ज्ञान प्रवाह शुद्ध और निर्मल हो जाता है। मिथ्या ज्ञान के दूर होने से विवेक ख्याति दृढ़ होती है और विवेक ख्याति के क्रमशः दृढ़ होते रहने से मिथ्या ज्ञान (अविद्या) दूर होने लगता है। यही उपाय है जिसका अभ्यास होना चाहिये।

तस्य सप्तधा प्रान्त भूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

अर्थ—उस (विवेक ख्याति वाले) की सात प्रकार की प्रान्त भूमि वाली प्रज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—प्रान्त भूमि, "प्रान्त" कहते हैं दूसरे किनारे को— "भूमि" का तात्पर्य योग भूमि से है। प्रान्त भूमि का अभिप्राय यह है कि योगी उस अवस्था को पहुँच जावे जिसमें उसकी प्रज्ञा

परले किनारे तक पहुँचने वाली हो जावे। वे ७ प्रकार की प्रज्ञा (बुद्धि) ये हैं:—

प्रज्ञा विमुक्ति

(१) ज्ञेय शून्यावस्था। अर्थात् जो जानना था जान लिया अब कुछ ज्ञातव्य बाकी न रहने से जिज्ञासा का अन्त हो गया।

(२) हेय शून्यावस्था। अर्थात् जो कुछ छोड़ने योग्य था अविद्या आदि ५ क्लेशों को छोड़ दिया अब कुछ छोड़ने योग्य (हेय) बाकी नहीं रहा। इसलिए छोड़ने की इच्छा (जिज्ञासा) का भी अन्त हो गया।

(३) प्राप्य-प्राप्त-अवस्था। अर्थात् प्राप्य (ज्ञान) जो कुछ था पा लिया अब कुछ प्राप्तव्य बाक़ी न रहने से प्रेप्सा=प्राप्त करने की इच्छा का भी अन्त हो गया।

(४) चिकीर्षा शून्यावस्था। अर्थात् ज्ञान का उपाय कर चुका अब कुछ कर्तव्य शेष न रहने से करने की इच्छा (चिकीर्षा) का भी अन्त हो गया।

इन चारों का एक नाम प्रज्ञा की विमुक्ति है।

चित्त विमुक्ति

(५) बुद्धि सत्व कृतार्थता। अर्थात् बुद्धि आदि (अन्तः-करणों) का कार्य समाप्त हो गया।

(६) गुणलीनता। अर्थात् प्रकृति के, अन्तःकरण रूप में परिणत हुये गुण, अपने कारण (प्रकृति) में लीन हो गये।

(७) आत्म स्थिति। प्रकृति के तीनों गुणों से बाहर होकर आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति हो गई। अब यह जीव) आत्मा, परमात्मा को साक्षात् करेगा। अब कुछ बाक़ी नहीं रहा।

इन तीनों को चित्त की विमुक्ति कहते हैं।

(१८) अष्टांग योग

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्यातेः ॥२८॥

अर्थ—योग के (आठ) अंङ्गों के अनुष्ठान से, अशुद्धि के क्षय होने पर, विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होता है।

व्याख्या—मनुष्य के हृदय में शुद्धि और अशुद्धि दोनों का समावेश होता है। अशुद्धि रहने से तम और रज गुणों से हृदय भरपूर रहता है परन्तु शुद्ध हो जाने पर केवल सत्वगुण का प्रकाश उनमें रहने लगता है। इसलिये अशुद्धि के क्षय के लिये योग के यमनियमादि ८ अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिये। इन नियमों के अनुष्ठान से अशुद्धि दूर होकर ज्ञान का प्रकाश होते होते वह अन्तिम ज्ञान जिसे विवेक ख्याति कहते हैं योगी के हृदय में आकर हृदय को प्रकाशित कर देता है।

यम नियमाऽऽसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

अर्थ—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि; ये (योग के) आठ अङ्ग हैं।

नोट—इनमें से प्रत्येक अङ्ग की व्याख्या आगे के सूत्रों में है।

(१६) यम

अहिंसा सत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ॥३०॥

अर्थ—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) अपरिग्रह, ये ५ यम कहलाते हैं।

व्याख्या—विषयों से, मन सहित इन्द्रियों के उपरत करने का नाम यम है। (१) मन, वचन और कर्म से किसी को पीड़ा न देना **अहिंसा**, (२) मन, वाणी और कर्म से वही सोचना, कहना और करना जो अन्तरात्मा के अनुकूल हो **सत्य**, (३) पराये धन के लेने का मन, वचन और कर्म से यत्न न करना= **अस्तेय**, (४) इन्द्रिय संयम करते हुये वीर्य रक्षा करना **ब्रह्मचर्य** और (५) भोग साधनों के संग्रह के लोभ से मुक्त होना **अपरिग्रह** कहलाता है।

जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

अर्थ—(वे यम) जाति, देश, काल और समय से न कटने वाले सार्वभौम (आलमगीर) महाव्रत हैं।

व्याख्या—जाति देशादि से न कटने का अभिप्राय यह है कि इनके द्वारा ये अहिंसा आदि महाव्रत संकुचित न किये जावें।

जाति के द्वारा सङ्कोच—गो और ब्राह्मण को न मारेंगे अन्यों को मारें तो कुछ हर्ज नहीं।

देश के द्वारा सङ्कोच—ब्रज में रह कर वहाँ शिकार न करूँगा। अन्य स्थलों के लिए यह पाबन्दी नहीं है।

काल के द्वारा सङ्कोच—एकादशी को मांस न खाऊंगा। अन्य तिथियों में खाना निषिद्ध नहीं है।

समय के द्वारा सङ्कोच—अपने बनाये नियम और की हुई अपनी प्रतिज्ञा के विपरीति हिंसा न करूँगा। कल्पना करो एक आदमी ने प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि अपने लिए किसी प्राणी का वध न करूँगा परन्तु अन्यों के लिए वध करने में दोष नहीं है।

इस प्रकार जाति आदि के द्वारा सङ्कोच का फल यह होता है कि अहिंसा आदि सर्व देश और सर्व काल में पालनीय नहीं रहते और तब इनको महाव्रत भी नहीं कह सकते।

(२०) नियम

शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

अर्थ—(१) शौच, (२) सन्तोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय और (५) ईश्वर प्रणिधान; ये (पाँच) नियम हैं।

व्याख्या—(१) बाहर और भीतर शरीर और मन आदि को पवित्र रखना शौच, (२) तत्परता से किये हुये कर्म का

जो फल मिले उस से अधिक का लोभ न करना **सन्तोष,** (३) गरमी, सर्दी आदि द्वन्द्वों का सहन करते हुये, समय विभागानुसार सभी कामों का करना **तप,** (४) ओम् का जप और वेदोपनिषदादि सद्ग्रन्थों का अध्ययन **स्वाध्याय** और (५) निष्कामभावना से कर्म करते हुए उन्हें ईश्वरार्पण करना **ईश्वर प्रणिधान** कहलाता है।

(२१) यम और नियम के फल

वितर्कबाधने प्रतिपक्ष भावनम् ॥३३॥

अर्थ—वितर्क के हटाने में प्रतिपक्ष की भावना (करनी चाहिये)।

व्याख्या—वितर्क=विरोधी तर्क। अहिंसा आदि यम और शौचादि नियमों में जब मनुष्य के भीतर इस के विरोधी विचार उत्पन्न हों तो उन्हें उन (विरोधी विचारों) के विरुद्ध भावना कर के हटाना चाहिये। विरुद्ध भावना का भाव यह है कि मनुष्य अपने भीतर ग्लानि पैदा करे और अपने को धिक्कारे कि मैंने निश्चय किया था कि अहिंसा आदि का पालन करूँगा अब मैं स्वयं उन्हें तोड़ रहा हूँ। अपनी प्रतिज्ञा का भङ्ग कर के मैं अपने को पातकी बना रहा हूं।

इत्यादि—वितर्क के उदाहरण:—

[१] "क" ने मुझे गाली दी है इसलिये मैं उसे अवश्य मारूँगा।

(२) 'ख' ने मना करने पर भी 'ग' पर नालिश करदी है इसलिये मैं झूंठी गवाही देकर उसका अभियोग खारिज करा दूंगा।

(३) 'क' ने मेरा धन चुरा लिया है इसलिये मैं भी उसकी चोरी करके उसे ठीक करूंगा।

(४) इस रूपवती का तो सतीत्व नष्ट ही करूंगा।

(५) जितना धन 'क' के पास है उतना धन तो कहीं न कहीं से मेरे पास आही जाना चाहिये।

(६) आज तो सरदी अधिक है इसलिये न नहाऊंगा।

(७) हम तो सन्तोपी जीव हैं इसलिये पुरुपार्थ की हमको क्या जरूरत है।

(८) आज कुछ अच्छा पदार्थ पाकशाला में बना है इसलिये समय से कुछ पहले ही भोजन करना अच्छा है।

(९) जी नहीं चाहता कि इस समय कुछ पढ़ूँ इसलिये आज स्वाध्याय न सही।

(१०) सब कर्म ईश्वरार्पण करना व्यर्थ है। ईश्वर को भला किसने देखा है। इत्यादि।

वितर्का हिंसादयः कृत कारितानुमोदिता लोभक्रोध मोहपूर्वका मृदु-मध्याऽधिमात्रा दुखाऽज्ञानाऽनन्त फला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥

अर्थ—हिंसादि वितर्क (१) कृत, (२) कारित,(३) अनुमोदित। (१) लोभ, (२) क्रोध, (३) मोह पूर्वक। (१) मृदु, (२) मध्य, (३) अधिमात्र भेद वाले हैं, जिनके फल दुःख और अज्ञान अनन्त हैं। इसलिये (इनका) प्रतिपक्ष (विरोध) करना चाहिये।

व्याख्या—यम और नियम में वर्णित अहिंसादि १० बातों के विरुद्ध, हिंसा, असत्य, स्तेयादि १० वितर्क हैं। कृत (जो स्वयं किया जावे), कारित, (जो दूसरों से कराया जावे) और अनुमोदित (अन्यों के द्वारा की हुई हिंसा का समर्थन)। भेद से प्रत्येक वितर्क (हिंसा आदि) तीन तीन प्रकार के हैं।

अब इन तीन २ भेदों के, लोभ, क्रोध और मोह भेदों से, फिर तीन २ भेद हो जाते हैं—जैसे एक हिंसा वितर्क को लें तो इसके ३ भेद कृत, कारित और,अनुमोदित होते हैं, अब ये तीन भेद लोभ, क्रोध और मोह के संपर्क से फिर तीन २ प्रकार के होकर नौ (९) हो गये। अब ये ९ भेद फिर मृदु (हलका), मध्य (मृदु से अधिक परन्तु अधिमात्रा से कम) और अधिमात्रा (सबसे अधिक) भेद से तीन २ प्रकार के होकर २७ हो गये। इसी प्रकार असत्य और अस्तेय आदि वितर्कों के भेद से बहुत भेद वितर्कों के होकर अनन्त अज्ञान और दुःख का कारण हो जाते हैं। इसी हेतु से सूत्र में आदेश किया गया है कि इनका प्रतिपक्ष (विरोध) करना चाहिये जिससे इन वितर्कों से छुटकारा पाकर अभ्यासी अहिंसा आदि में प्रतिष्ठित होकर उनसे लाभ उठा सके।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः ॥३५॥

अर्थ—अहिंसा में (निश्चलता पूर्वक) स्थित होने पर उस (अहिंसक योगी) के समीप (सभी प्राणियों का) वैर छूट जाता है ।

व्याख्या—छोटे बालक सर्वथा निर्दोष होते हैं । उनकी भीतरी अहिंसा आदि (निर्दोषता) की झलक, उन (बच्चों) की भोली आँखों, उनके भोले चेहरे की आकृति आदि से देखने वालों को, आ जाया करती है । कई बार देखा और सुना गया है कि इसी प्रकार के बालकों को भेड़िये उठा ले गये परन्तु उनकी अहिंसा पूर्ण आँखों को देखते ही भेड़िये के भीतर से हिंसा वृत्ति जाती रही और ऐसे बच्चों को मरने की जगह, उन (भेड़ियों) ने रक्षा की, पाला और पाल पोस कर बड़ा किया । ऐसे ही भेड़िये के द्वारा पाला हुआ एक १३-१४ वर्ष का बालक, इटावा के कलेक्टर द्वारा, आर्य्य समाज बरेली के अनाथालय में लाया गया था । उसे मैंने भी देखा था । उस में अधिकतर बातें भेड़ियों की, चबड़-चबड़ कर पानी पीना आदि, उस समय भी बाक़ी थीं । मनुष्य का हृदय भी अहिंसा के अभ्यास से ऐसा ही निर्दोष हो जाता है और तब उसके साथ भी कोई वैर नहीं करता ।

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाऽऽश्रयत्वम् ॥३६॥

अर्थ—सत्य में स्थित होने पर क्रिया और फल का आश्रय हो जाता है ।

व्याख्या—जब अभ्यासी सत्य के आचरण से मन, वाणी और क्रिया तीनों प्रकार से सत्य में स्थित हो जाया करता है तब

क्रिया और उस क्रिया के फल दोनों का आश्रय स्थान उसकी वाणी हो जाती है अर्थात् जो वह कह देता है वैसा ही हो जाता है। व्यास ने लिखा है कि ऐसे सत्यवादी की वाणी अमोघ (सफल) हो जाया करती है। वह यदि किसी (पापी) को कह देवे कि धार्मिक होजा, तो अवश्य वह पाप छोड़ कर धार्मिक हो जावेगा।

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥

अर्थ—चोरी न करने (की मर्यादा) में स्थित हो जाने पर सब रत्न प्राप्त होने लगते हैं।

व्याख्या—मनुष्य की जब नियत ठीक हो जाती है और मन, वाणी और क्रिया, किसी प्रकार से भी वह दूसरे के धन में लोभ नहीं करता तो ऐसे निर्लोभी पुरुष को किसी प्रकार की भी कमी नहीं रहती और सभी वस्तुयें उसे स्वयमेव प्राप्त होने लगती हैं।

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होने पर वीर्य का लाभ होता है।

व्याख्या—ब्रह्मचर्य के नियमानुकूल आचरण करने से अतिशय वीर्य की प्राप्ति होती है और ऐसा ब्रह्मचारी सब कुछ कर सकने में समर्थ हो जाता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥३९॥

अर्थ—अपरिग्रह में स्थिर होने से जन्म क्यों कर हुआ इस का बोध हो जाता है।

व्याख्या—जन्म जन्मान्तर के संस्कार, वासना और स्मृति का भण्डार चित्त है। मरने पर चित्त का बिगाड़ कुछ नहीं होता। ज्यों का त्यों बना रहता है। शुद्ध संस्कार वाले बालक, जब तक वे सांसारिक छल छिद्र से रहित रहते हैं, अपने पहले जन्म का हाल बतला दिया करते हैं। पीछे सांसारिक लोभ और मोह का आवरण पड़ जाने से उसे भूल जाया करते हैं। चित्त का अध्ययन करने के लिये उस आवरण का हटा देना आवश्यक है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य सम्पन्न होने के बाद जब अभ्यासी लोभ को भी त्याग दिया करता है तब उसका हृदय शुद्ध और चित्त आवरण रहित हो जाता है और फिर उसको अपने पहले जन्म का हाल जान लेने में कोई कठिनता नहीं होती।

शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

अर्थ—शौच से अपने अङ्ग से घृणा (होती है) और अन्यों से संसर्ग छूट जाता है।

व्याख्या—योगी शौच के अभ्यास से जब हृदय को शुद्ध और पवित्र कर लेता है तब उसे मल मूत्रादि, अनेक अपवित्र वस्तुओं के भण्डार अपने शरीर से भी घृणा होने लगती है। जब वह इस प्रकार अपने ही शरीर को निन्दित समझने लगता है तब अन्यों के, ऐसे ही निन्दित शरीर से किस प्रकार संसर्ग रख सकता है।

सत्त्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयाऽऽत्मदर्शन योग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

अर्थ—सत्व (बुद्धि) की शुद्धि, मन का अच्छा-पन, (चित्त की) एकाग्रता, इन्द्रिय का जीतना और आत्मा के दर्शन (साक्षात्कार करने) की योग्यता भी (शौच से होती है) ।

व्याख्या—बाह्य और अभ्यन्तर शुद्धि की स्थिरता से, योगी की बुद्धि निर्मल हो जाती है । बुद्धि की निर्मलता से मन भी शुद्ध हो जाता है और मन की शुद्धता चित्त की चञ्चलता को दूर कर देती है जिससे वह एकाग्र होने लगता है । मन की शुद्धि और चित्त की एकाग्रता से इन्द्रियें उसके वश में हो जाती हैं और इन सब से उसके भीतर आत्म-साक्षात्कार करने की योग्यता, दूसरे शब्दों में, आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत करने की योग्यता आ जाती है ।

सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः ॥ ४२ ॥

अर्थ—सन्तोष से अनुत्तम सुख प्राप्त होता है ।

व्याख्या—अनुत्तम शब्द के दो अर्थ हैं । एक जो उत्तम न हो, दूसरा जिससे बढ़ कर कोई उत्तम न हो । यहां यही दूसरा अर्थ अभिप्रेत है । सन्तोष से मनुष्य तृष्णा रहित हो जाता है और तृष्णा रहित होने से जो सुख प्राप्त होता है उसकी उपमा किसी भी सुख से नहीं दी जा सकती । एक जगह कहा है:—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्य महत्सुखम् ।
तृष्णा क्षय सुखस्यैतेनार्हतः षोड़शीं कलाम् ॥

अर्थात् संसार में जो काम सुख है और जो अन्य महान् दिव्य सुख है, वे तृष्णाक्षय सुख की सोलहवीं कला (अंश= भाग) के समान भी नहीं।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

अर्थ—तप से शरीर और इन्द्रिय की सिद्धि और अशुद्धि का क्षय होता है।

व्याख्या—तप के अनुष्ठान से अशुद्धि (मल) क्षीण हो जाती है और अशुद्धि के क्षीण हो जाने से काय (देह) सिद्धि (अणिमादि। सूत्र ४४ तथा ४५ विभूतिपाद) और इन्द्रिय सिद्धि (दूर श्रवण, दिव्यदर्शनादि। सूत्र ४० आदि विभूति पाद) हो जाती है।

स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः ॥ ४४ ॥

अर्थ—स्वाध्याय से इष्ट (मन चाहे) देवता का मेल होता है।

व्याख्या—देवता वेद मन्त्रों के विषय (Subject) को कहते हैं। जब वेदादि सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय किया जाता है तो उससे मन्त्रों में वर्णित अनेक विद्याओं का ज्ञान हो जाता है।

समाधि-सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

अर्थ—ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

व्याख्या—जब योगी जो कुछ भी करता है, ईश्वरार्पण करके ही करता है और अपना-पन कुछ नहीं रखता तब उसे संप्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो जाती है।

(२२) आसन

स्थिर सुखमासनम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिसमें स्थिर सुख हो वह आसन (कहलाता है)।

व्याख्या—आसन के अनेक भेद हैं और उनकी अनेक उपयोगितायें भी हैं परन्तु राज योग में आसन का तात्पर्य यह है कि योगी पद्मासन आदिकों में से किसी ऐसे आसन से बैठे जिससे उसे स्थिर रीति से सुख मालूम हो।

प्रयत्न शैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—प्रयत्न की शिथिलता और अनन्तों के सामुख्य में आने से आसन की सिद्धि होती है।

व्याख्या—आसन की सिद्धि के लिये दो बातों की जरूरत है:—

(१) प्रयत्न की शिथिलता—आसन करने वाले को क्रिया शून्य सा बन जाना चाहिये। जिससे शरीर किसी प्रकार से भी हिल जुल न सके। (२) अनन्त का अभिप्राय अनन्त पशु-पक्षियों से है जिनके सामुख्य में आने से अनेक प्रकार के आसन उनसे सीखे जाते हैं जैसे मयूरासन, कुक्कुटासन, उष्ट्रासन इत्यादि। दूसरा भाव अनन्त का विभुत्व से है जैसे कोई सर्व देशी (सर्वव्यापक) वस्तु हिल जुल नहीं सकती इसी प्रकार अनन्त (ईश्वर आकाशादि) को लक्ष्य में रखते हुए उसी प्रकार का गति शून्य अपने को बनाना चाहिये।

ततो द्वन्द्वाऽनभिघातः ॥ ४८ ॥

अर्थ—उस (आसन की सिद्धि) से द्वन्द्वों की चोट नहीं लगती।

व्याख्या—द्वन्द्व=गरमी सरदी आदि के क्लेशों से, आसन की सिद्धि द्वारा, योगी बच जाया करता है।

(२३) प्राणायाम

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

अर्थ—उस (आसन) के स्थिर होजाने पर श्वास और प्रश्वास की गति रोकना प्राणायाम है।

व्याख्या—श्वास=बाहर की वायु का भीतर ले जाना।

प्रश्वास=भीतर की वायु का बाहर निकालना। इनकी गति रोक देना अर्थात् न श्वास भीतर लें और न बाहर निकालें, प्राणायाम कहलाता है। प्राण वायु का नाम है, आयाम कहते हैं फैलाने, विस्तार देने को। प्राणायाम का भाव यह है कि दोनों प्रकार के श्वासों का विस्तार देना अर्थात् उन्हें देर देर में भीतर लेना और बाहर निकालना।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भ वृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

अर्थ—(१) बाह्य (२) आभ्यन्तर (३) स्तम्भवृत्ति (३ प्रकार

का प्राणायाम) देश काल और संख्या से देखा हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

व्याख्या—(१) बाह्य-श्वास का बाहर निकाल देना, इसी को रेचक कहते हैं, (२) आभ्यन्तर=पूरक, श्वास का भीतर ले जाना, स्तम्भवृत्ति=कुम्भक, बाहर या भीतर न ले जाकर प्राण को जहाँ का तहाँ रुका रहने देना। इन तीनों में से प्रत्येक प्राणायाम तीन तीन प्रकार का होता है। (१) देशपरिदृष्ट=समीप या दूर के वायु का खींचना, (२) काल परिदृष्ट=समय की विशेष मात्रा में श्वास का लेना या निकालना (३) संख्या परिदृष्ट=संख्या विशेष में श्वास का लेना या निकालना। ये सभी प्राणायाम दीर्घ (विस्तृत) भी होते हैं और सूक्ष्म भी।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

अर्थ—बाहर और भीतर (दोनों देशों में) आक्षेप करने (फेंकने) वाला चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या—श्वास को बाहर निकाल कर बाहर ही रुका रहने देना बाह्य कुम्भक और श्वास को भीतर ले जाकर भीतर ही रुका रहने देना आभ्यन्तर कुम्भक कहा जाता है। इस चौथे प्राणायाम का तीसरे से अन्तर यह है कि तीसरा बिना रेचक या पूरक के श्वास का जहाँ का तहां रोक देना है परन्तु चौथे में पूरक या रेचक के बाद श्वास रोका जाता है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—उस (प्राणायाम के सिद्ध होने) से प्रकाश पर पड़ने वाला परदा हट जाता है।

व्याख्या—मनुष्य के भीतर जो सत्व गुण है उस पर तमस् और रजस् का परदा पड़कर उसे ढांप दिया करता है जिससे मनुष्य में अनेक दोष आ जाते हैं परन्तु प्राणायाम के अभ्यास से रजस् और तमस् गुणों का ह्रास होकर सत्व की वृद्धि होती है और मनुष्य उन दोषों से मुक्त हो जाता है। जैसा मनुस्मृति में भी कहा है:—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

॥ मनु० ६। ७१ ॥

अर्थात्—जैसे अग्नि में, धौंके हुये (स्वर्णादि) धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं इसी प्रकार प्राण के रोकने (प्राणायाम) से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

अर्थ—धारणा (के अभ्यास कर सकने) में मन की योग्ता हो जाती है।

व्याख्या—धारणा चित्त के एकाग्र करने को कहते हैं। इस धारणा की योग्यता प्राणायाम के सिद्ध होने से, हो जाती है। इस सूत्र में आये धारणा शब्द में प्रत्याहार को सम्मिलित समझना चाहिये क्योंकि प्रत्याहार के अभ्यास के बाद ही धारण के अभ्यास

शुरू किये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्याहार और धारणा दोनों की योग्यता प्राणायाम से हो जाती है।

(२४) प्रत्याहार

स्वविषयासंप्रयोगचित्तस्य स्वरूपाऽनुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

अर्थ—इन्द्रियों का अपने विषय से मेल न होना और चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा करने लगना प्रत्याहार (कहाता) है।

व्याख्या—प्रत्याहार कहते हैं पीछे हटने को। यहाँ इन्द्रियों का अपने विषय से पीछे हटना अभिप्रेत है। जब चित्त का इन्द्रियों से मेल होता है तब इन्द्रियाँ अपने २ विषय की ओर चलती हैं। यदि मेल न हो तो इन्द्रियाँ भी अपने २ विषय से मेल न रक्खेंगी। सूत्र का भाव यह है कि जब चित्त इन्द्रियों से मेल न रखकर अपने स्वरूप में स्थित हो तब उसकी निरुद्धावस्था होती है। बस चित्त की इसी निरुद्धावस्था का अनुकरण करके जब इन्द्रियाँ भी अपने २ विषय से मेल न रखकर निरुद्ध हो जावें तो इस अवस्था को प्रत्याहार कहेंगे।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—इस (प्रत्याहार की सिद्धि) से इन्द्रियाँ पूर्णतया वश में हो जाती हैं।

व्याख्या—चित्त की एकाग्रता इन्द्रियों के विषयों में न होकर जब अन्य ओर हो जाती है तब न चित्त विषयों की ओर जाता है और न इन्द्रियाँ। इस प्रकार चित्त का इन्द्रियों सहित विषयों की ओर न जाना जितेन्द्रियता कही जाती है। यही जितेन्द्रियता प्रत्याहार से प्राप्त हो जाती है।

इति द्वितीयः साधनपादः।

द्वितीय साधनपाद समाप्त हुआ।

विभूति पाद

(२५) धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

अर्थ—चित्त का (किसी) देश में बाँधना धारणा (कहलाता है)।

व्याख्या—अपने शरीर के नाभि-चक्र, हृदय-कमल, भ्रूमध्य, नासिका के अग्रभाग, जिह्वा के अग्रभाग या ब्रह्म-रन्ध्र (मूर्धा) अथवा किसी बाह्य-विषय में चित्त का, वृत्तियों के माध्यम से, ठहराना धारणा कहाता है।

(२६) ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

अर्थ—उस (धारणा) में प्रत्यय (ज्ञान) का एक सा बना रहना ध्यान कहा जाता है।

व्याख्या—देश विशेष (नाभि-चक्रादि) में चित्त का ठहरना धारणा कहा गया है। यह चित्त का ठहराव जब स्थिर हो जावे और ध्येय का ज्ञान एक जैसा बना रहे और दूसरा किसी प्रकार का ज्ञान चित्त में न आवे तो इस अवस्था का नाम ध्यान कहा जायगा।

(२७) समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

अर्थ—उसी (ध्यान) में जब अर्थ (ध्येय) मात्र का प्रकाश रह जावे और (ध्याता) अपने रूप से शून्य सा हो जावे तो उसे समाधि (कहेंगे) ।

व्याख्या—ध्यान और समाधि में अन्तर यह है कि ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनों का ज्ञान योगी को रहता है; परन्तु समाधि में अर्थ (ध्येय) मात्र का प्रकाश रह जाता है। ध्याता और ध्यान न रहते हों यह नहीं होता। ये रहते जरूर हैं परन्तु इनका स्वरूप शून्य सा हो जाता है। ध्याता पर ध्येय के स्वभाव का पूर्ण आवेश हो जाता है। इस आवेश का फल यह होता है कि ध्याता को अपनी सुध बुध नहीं रहती और वह केवल ध्येय के प्रकाश ही में निमग्न और तल्लीन सा हो जाता है।

(२८) वृत्तियों के निरुद्ध होने से पहली बातें

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

अर्थ—तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) एकत्रित होकर संयम (कहलाते हैं) ।

व्याख्या—इन तीनों को किसी एक लक्ष्य पर लगाना, योग दर्शन की परिभाषा में, संयम करना कहलाता है।

तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ ५ ॥

अर्थ—उस (संयम) के जय (सिद्ध होने) होने से प्रज्ञा का आलोक (प्रकाश) हो जाता है।

व्याख्या—धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास और इन तीनों के किसी एक ध्येय पर लगा सकने की योग्यता प्राप्त हो जाने से योगी की बुद्धि निर्मल हो जाती है और उस (प्रज्ञा के नैर्मल्य) से योगी ऐसे काम ले सकता है जो साधारण बुद्धि वालों को आश्चर्य में डालने वाले होते हैं।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

अर्थ—उस (संयम) का भूमियों में विनियोग (होता है)।

व्याख्या—संयम करने की योग्यता, अभ्यास से, बढ़ती है। अभ्यास बार-बार एक ही काम के करने से पूरा होता है। पहले सब से नीचे दरजे का अभ्यास करे, इसके बाद क्रमशः ऊँचे दरजे का अभ्यास करता और बढ़ाता जावे। उन्हीं दरजों को योग-दर्शन की परिभाषा में भूमि कहते हैं। विनियोग के अर्थ लगाना, काम में लाना आदि हैं। तात्पर्य यह हुआ कि योग की शक्ति, योग की भूमि में, लगाई जाती है तभी उसकी वृद्धि होती है।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

अर्थ—(ये) तीन (धारणा, ध्यान और समाधि) पहलों (यम नियमादि) से अन्तरङ्ग हैं।

व्याख्या—यम से प्रत्याहार पर्यन्त बहिरङ्ग और इनकी अपेक्षा धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग हैं।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

अर्थ—तो भी (उपर्युक्त तीनों धारणा, ध्यान और समाधि) निर्बीज (या असम्प्रज्ञात समाधि) का वहिरङ्ग है।

व्याख्या—धारणा, ध्यान और समाधि ये साक्षात् साधन सबीज या सम्प्रज्ञात समाधि के हैं परन्तु निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि के ये असाक्षात् कारण ही कहे जा सकते हैं। इसीलिये इन्हें निर्बीज समाधि की अपेक्षा वहिरङ्ग कहा गया है।

(२९) परिणाम विवरण

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

अर्थ—व्युत्थान संस्कार का छिपना और निरोध संस्कार का प्रकट होना और निरोध क्षण के चित्त से जिनका सम्बन्ध हो, उसे निरोध परिणाम कहते हैं।

व्याख्या—व्युत्थान के अर्थ विरोधाचरण के हैं। योग-दर्शन में व्युत्थान चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों को कहते हैं। जिस समय चित्त निरुद्ध होता है तब ये व्युत्थान दब जाया करते हैं।

ये दोनों (व्युत्थान और निरोध) चित्त के धर्म हैं जिनमें से एक के उदय होने पर दूसरा अस्त हो जाया करता है। चित्त के तीन परिणाम हैं (१) निरोध परिणाम (२) समाधि परिणाम (३) एकाग्रता परिणाम। इनमें से इस सूत्र में पहले निरोध परिणाम का लक्षण किया गया है। जब चित्त का व्युत्थान संस्कार दब जाता है और चित्त निरुद्ध होकर संस्कार मात्र रह जाता है

तो चित्त की इस परिवर्तित संस्कार-शेष अवस्था को निरोध-परिणाम कहते हैं।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

अर्थ—संस्कार से उस (चित्त) की प्रशान्त-वाहिता होती है।

व्याख्या—जब व्युत्थान संस्कार दब जाता है और निरोध संस्कार प्रकट हो जाता है तो इससे चित्त निर्मल होकर शान्त हो जाता है।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः॥११॥

अर्थ—चित्त की सर्वार्थता (सब विषयों में लगा रहना) का क्षय और एकाग्रता का उदय होना समाधि परिणाम कहलाता है।

व्याख्या—जब चित्त की ऐसी अवस्था हो जावे कि वह प्रत्येक विषय की ओर न जाकर किसी एक केन्द्र पर एकाग्रित हो जावे तो चित्त की इस एकाग्रित अवस्था का नाम समाधि परिणाम होता है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः ॥ १२ ॥

अर्थ—शान्त बीते हुये को कहते हैं और उदित वर्तमान को, शान्त प्रत्यय वह ज्ञान है जो चित्त में पहले का है और उदित प्रत्यय वह ज्ञान है जो चित्त में अब आया है। जिस अवस्था में यह दोनों ज्ञान (शान्त और उदित) एक जैसे होकर रहने लगें तो चित्त की इस परिवर्तित अवस्था का नाम एकाग्रता परिणाम है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

अर्थ—इससे (पञ्च) भूतों और इन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्थापरिणाम (भी) कहा गया (समझो)।

व्याख्या—ऊपर जो चित्त के तीन परिणाम कहे गये हैं ऐसे ही पञ्चभूतों और इन्द्रियों में भी, धर्म, लक्षण और अवस्था भेद से, तीन परिणाम होते हैं जिन्हें धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम कहते हैं। इन तीनों परिणामों का विवरण इस प्रकार है:—

पाँच भूत और इन्द्रियां सभी सत्व, रज और तम भेद से त्रिगुणात्मक हैं। परिणाम इन्हीं गुणों में हुआ करता है। परिणाम का अर्थ यह है कि एक गुण को छोड़कर दूसरे का धारण करना। इनमें पहला धर्म-परिणाम है। जैसे पांच भूतों में से एक भूत पृथ्वी का परिणाम मनुष्य, पशु और पक्षियों के शरीर तथा घर घटादि हैं दूसरा परिणाम लक्षण परिणाम है। इस परिणाम का कारण काल भेद है, जैसे पूर्व शरीर, वर्त्तमान शरीर और भविष्यत् शरीर। धर्म-परिणाम इस परिणाम से पृथक् नहीं रहता बल्कि धर्म-परिणाम ही काल भेद से लक्षण परिणाम हो जाता है। तीसरा अवस्था परिणाम जैसे पुराना घर, नया घर, जवान आदमी, बूढ़ा आदमी इत्यादि।

योगाचार्य लक्षण परिणाम के भविष्यत् परिणाम को साक्षात् रूप से, नहीं परन्तु शक्ति-रूप से अवस्थित मानते हैं। उन्होंने उदाहरण दिया है कि पीपल, वट और आम आदि के बीज से अवसर पाकर क्रम पूर्वक पीपल, वट और आम आदि के ही वृक्ष बनेंगे। इसका मतलब यह है कि भावी वृक्ष शक्ति रूप से वर्त्तमान बीज में उपस्थित हैं और यह ठीक है।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

अर्थ—शान्त (बीते हुये), उदित (वर्त्तमान) और अव्यपदेश्य (बतलाने या निर्देश करने के अयोग्य=भविष्यत् धर्मों में गिरने (वा रहने) वाला धर्मी (कहलाता है)।

व्याख्या—बने हुये, बनते हुये और बनने वाले प्रत्येक घड़े में मिट्टी मौजूद रहती है। इसीलिये घड़ा धर्म और मिट्टी धर्मी है। प्रकृति के जितने भी विकार महत्तत्व से लेकर स्थूल भूत पर्यन्त हैं; इनमें से जो भी मिट्टी के सदृश धर्मी होंगे वे सभी सापेक्ष धर्मी ही कहे जावेंगे। निरपेक्ष धर्मी तो केवल कारण रूप प्रकृति ही है। एक बात इस धर्म और धर्मी के सम्बन्ध में याद रखने योग्य है कि अन्य दर्शनों में गुण गुणी को प्रायः धर्म और धर्मी कहा गया है परन्तु योग दर्शन में धर्म और धर्मी शब्द कार्य और कारण के लिये प्रयुक्त हुये हैं।

क्रमान्यत्वं परिणामाऽन्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

अर्थ—क्रम भेद परिणाम भेद में हेतु है।

व्याख्या—क्रम भेद का भाव यह है कि कपाससे रुई निकाली गई, रुई से सूत बना और सूत से वस्त्र तय्यार हुआ। तो यहाँ वस्त्र तक पहुँचने में यह जितना क्रम-भेद हुआ वही क्रम-भेद अनेक परिणामों का कारण है। कपास से रुई, फिर रुई से सूत, फिर सूत से वस्त्र ये तीन (धर्म) परिणाम क्रम भेद से ही हुए हैं। ये भेद धर्म परिणाम के हैं इन्हीं में काल और अवस्था भेद से अनेक लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम होते हैं। इन अन्तिम परिणामों का कारण भी वही क्रम-भेद है।

(३०) विभूति

पहली विभूति

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

अर्थ—तीनों परिणामों के संयम से अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) का ज्ञान होता है।

व्याख्या—संसार के तीनों कालों में होने वाले समस्त पदार्थ इन्हीं तीन (धर्म, लक्षण और अवस्था) परिणामों के अन्तर्गत रहते हैं। जब योगी इन्हीं (तीन) परिणामों में संयम करेगा तो उसको उस पदार्थ के, जिससे ज्ञान के लिये उसने संयम किया है, भूत और भविष्यत् का ज्ञान हो जायगा। ऊपर कहा जा चुका है (देखो सूत्र १३ की व्याख्या) कि भविष्यत्, शक्ति रूप से, वर्तमान में मौजूद रहता है ऐसी दशा में भविष्यत् के ज्ञान हो जाने का आश्चर्य ही क्या हो सकता है ? यहां से उन विभूतियों

(सिद्धियों) का वर्णन शुरू हुआ है जिन्हें योगी-जन प्राप्त कर लिया करते हैं। संयम करने का अभिप्राय अपनी समस्त (धारणा, ध्यान और समाधि से उपलब्ध) आत्मशक्तियों को किसी एक विषय में लगा देने से है।

दूसरी विभूति

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

अर्थ—शब्द, अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान) में अन्य में अन्य का अभ्यास (अशुद्ध कल्पना) करने से सब सङ्कर (एकमेव) हो जाते हैं। (परन्तु) उनके विभाग (शब्द, अर्थ और ज्ञान) में संयम करने से सब की बोली का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—शब्द वाचक जैसे जल, अर्थ वाच्य अर्थात् वह पतली चीज़ जिसके पीने से प्यास शान्त होती है और ज्ञान चित्त की वृत्तियों की तदाकारता। ये तीनों पृथक् २ अपनी २ सीमा रखते हैं। साधारण लोग जो इस सीमा को नहीं समझते एक की जगह दूसरे का प्रयोग करते हैं, परन्तु योगी, यथार्थ ज्ञानी होने से, तीनों की पृथक् २ सीमाओं को जानता है, वह शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता को भी जानता है। सम्बन्ध की नित्यता के कारण शब्द से अर्थ पृथक् नहीं किया जा सकता। जब योगी किसी शब्द में, चाहे वह मनुष्य की बोल चाल का शब्द हो अथवा पशु पक्षियों का, संयम करता है तो उसे उस

शब्द का अर्थ ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार वह प्रत्येक प्राणी की बोली समझ सकता है।[१]

तीसरी विभूति

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

अर्थ—संस्कार के साक्षात् करने से पूर्व जाति (जन्म) का ज्ञान (हो जाता है) ।

व्याख्या—मनुष्य का सूक्ष्म शरीर जो मन, बुद्धि और चित्तादि का समुदाय होता है, मृत्यु होने पर स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने से, नष्ट नहीं होता सूक्ष्म शरीर में चित्त, जन्म जन्मान्तर के रिकार्ड के रूप में होता है। उसमें तीन चीजें होती हैं (१) स्मृति (२) वासना (३) संस्कार। (१) जन्म जन्मान्तर का प्राप्त ज्ञान स्मृति रूप में रहता है, (२) किये हुये अच्छे बुरे कर्म वासना के रूप में (फल प्राप्ति के लिये) और (३) जन्म जन्मान्तर के पड़े हुये प्रभाव (Impressions) संस्कार के रूप में चित्त में रहते हैं। अनेक बालक जिनके अच्छे संस्कार होते हैं, पिछले जन्म

---

(१) किपलिङ्ग ने अपनी जङ्गल बुक में लिखा है कि एक मनुष्य जिसको उसने मौगली (Mowgli) लिखा है वह भेड़ियों से उनकी भाषा बोलकर बातचीत किया करता था (Jungle book by Kipling)। स्टूअर्ट (Stewart) महोदय एक दूसरे व्यक्ति हैं, जिनका हाल इङ्गलैण्ड के (Daily Hearld) में छपा है, जो भेड़ियों से न केवल बातचीत करते थे बल्कि उनके साथ खेलते भी थे। (Vide Leader Dated 5-9-1931.)

का हाल बता दिया करते हैं परन्तु ज्यों-ज्यों वे बड़े होते जाते हैं त्यों-त्यों उनकी नैसर्गिक शुद्धता कम होने लगती है, और उनके अन्तःकरणों पर माया और मोह का आवरण पड़ने लगता है। इसका फल यह होता है कि पिछले जन्म का चित्त रूप रिकार्ड (लेख पत्र) साथ होते हुये भी उसे जान नहीं सकते। परन्तु जब योगी उस आवरण को, अपनी उपलब्ध शुद्धता और यथार्थ-ज्ञता से हटा दिया करता है तब वह चित्त रूपी पट्टिका के पढ़ने के योग्य होकर अपने पिछले जन्म का हाल जान लिया करता है। योग दर्शन के इस सूत्र में स्मृति वासना और संस्कार सब का, एक नाम संस्कार दिया गया है। संस्कार के साक्षात करने का भाव उपर्युक्त आवरण का चित्त से हटा देना मात्र है।

चौथी विभूति

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

अर्थ—प्रत्यय के (साक्षात् करने से) दूसरों के चित्त का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—मनुष्य के चित्त की प्रवृत्ति कि वह राग युक्त है या दोष युक्त, उसके चेहरे, उसकी आँखों आदि से, अनुभवी पुरुषों को अथवा उन विद्वानों को, जिन्होंने आकृति विद्या (Seience of Facial Expressiou) का अध्ययन किया है, ज्ञात हो जाया करती है। अनुभव और आकृति-विद्या के अध्ययन दोनों से योगी की शक्ति जिससे वह संयम करता है, अधिक होती है, इसलिये

योगी को पराये चित्त का प्रकार समझने में कुछ भी कठिनता नहीं होती। अवश्य योगी यह नहीं जान सकता कि किसी दूसरे के चित्त की प्रवृत्ति किस विषय (धन-स्त्री आदि) की ओर है क्योंकि योगी ऐसे विषयों में संयम नहीं कर सकता क्योंकि इसमें उसके पतन होने का भय है।

पांचवीं विभूति

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २० ॥

अर्थ—काय (शरीर) के रूप में संयम करने से उस शरीर की ग्राह्य शक्ति रुक जाने और उस (शरीर के रूप) का आँख के प्रकाश से संयोग न रहने पर (योगी) अन्तर्धान (हो सकता है) ।

व्याख्या—जहाँ आँखों में देखने की शक्ति है वहाँ रूपवाली वस्तुओं में दिखाई देने की योग्यता (ग्राह्य शक्ति) भी होती है यदि वह योग्यता न हो या न रहे तो फिर कोई उस रूप वाली वस्तु को नहीं देख सकता। योगी अपने शरीर के रूप में संयम करके उसकी (शरीर के रूप से दिखाई देने की योग्यता) ग्राह्यशक्ति को रोक देता है। फल उसका यह होता है कि कोई दूसरा उस (योगी) को नहीं देख सकता। यही योगी का अन्तर्धान होना है।

छठी विभूति

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म, तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २१ ॥

अर्थ—कर्म (के) सोपक्रम और निरुपक्रम (दो भेद) हैं उस (कर्म) में संयम करने अथवा अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—आयु नियत करने वाले कर्म के दो भेद हैं। (१) सोपक्रम, जो शीघ्र फल देने वाले और (२) निरुपक्रम, जो देर से फल देने वाले होते हैं। आयु इन्हीं कर्मों का फल होती है इसलिये कारणरूप, किये हुये कर्म के भेदों में, संयम करने से, कार्य्यरूप मृत्यु का ज्ञान, हो जाता है।

अरिष्ट तीन प्रकार के हैं (१) आध्यात्मिक अर्थात् भीतर के घोष (अनहद शब्द) के सुनने का अभ्यास होते हुये, उनका, कान बन्द कर लेने पर भी सुनाई न देना (२) आधिभौतिक अर्थात् भयप्रद सूरतों वा मरे हुये अपने सम्बन्धियों का इस प्रकार से दिखाई देना कि मानों वे सामने ही खड़े हैं (३) आधिदैविक अर्थात् आकाशस्थ नक्षत्र वा तारों का उलटा पुलटा दिखाई देना। अरिष्ट का अर्थ वे बुरे चिह्न हैं जो मरने से पहले दिखाई देने लगते हैं। इसलिये इन अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

सातवीं विभूति

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२२॥

अर्थ—मैत्री आदि में संयम करने से बल (प्राप्त हो जाता है)।

व्याख्या—पहले पाद के ३३ वें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा, इन चार भावनाओं का वर्णन किया गया है। इनमें से

प्रथम तीन में संयम हो सकता है। उन में संयम करने से योगी को मैत्र, करुणा और मुदिता का बल प्राप्त हो जाता है। उपेक्षा में संयम इसलिये नहीं हो सकता कि कोई भी अनिष्ट वस्तु, पाप आदि, योगी के संयम का विषय नहीं बन सकती। उपेक्षा करने का भाव भी यही है कि योगी उन (पापियों) से पृथक् रहना चाहता है।

आठवीं विभूति

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥२३॥

अर्थ—बलों में (संयम करने से) हाथी आदि के बल (प्राप्त) हो जाते हैं।

व्याख्या—हाथी, सिंह आदि जिसके बल में भी संयम किया जावेगा उसी का बल योगी को प्राप्त हो जावेगा। योगी यम नियम का पालन करके जिसमें ब्रह्मचर्य्यादि अनेक दिव्य-बल-प्रद नियम सम्मिलित हैं, स्वयमेव अत्यन्त बलवान् होता है फिर संयम के द्वारा उसके लिये और भी बल बढ़ा लेना क्या कठिन बात है?

नवमी विभूति

प्रवृत्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥२४॥

अर्थ—प्रवृत्ति के आलोक (प्रकाश) को (उनमें) रखने से सूक्ष्म व्यवहित (आड़ में रहने वाले पदार्थ) और दूर का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—पहले पाद के सूत्र ३६ में ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की बात कही गई है। उसी प्रवृत्ति के प्रकाश को सूक्ष्म, दृष्टि से ओझल

और दूर के पदार्थ के साथ संयुक्त करने से योगी को उनका ज्ञान हो जाता है।

दसवीं विभूति

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥२५॥

अर्थ—भुवन का ज्ञान सूर्य में संयम करने से (हो जाता है)।

ग्यारहवीं विभूति

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥२६॥

अर्थ—चन्द्र में (संयम करने से) नक्षत्रों की स्थिति (Position) का ज्ञान (हो जाता है)।

बारहवीं विभूति

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥२७॥

अर्थ—ध्रुव में (संयम करने से) उन (नक्षत्रों) की गति का ज्ञान (हो जाता है)।

सूत्र २५, २६ और २७ की व्याख्या—इन सूत्रों में सूर्य, चन्द्र और ध्रुव का अर्थ बाह्यसूर्य चन्द्रादि नहीं है किन्तु इनका अभिप्राय आन्तरिक सूर्य चन्द्रादि से है। शरीर में तीन नाड़ियां इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा हैं। इनमें से इड़ा जो शरीर के दक्षिण भाग से शुरू होकर ऊपरी उत्तरी भाग तक जाती है वह सूर्य। और पिंगला जो शरीर के बायें भाग से प्रारम्भ हो ऊपरी दक्षिण भाग तक गई है वह चन्द्र और इन दोनों के मध्य खड़ी नाड़ी, जो रीढ़ की हड्डी से होकर गई है, ध्रुव कहलाती है। किस प्रकार

इनमें संयम करने से भुवन, नक्षत्र और नक्षत्रों की गति का ज्ञान होता है इसके समझने में, बेतार के तार वरकी की कार्यप्रणाली समझने से सुगमता होती है। इसलिए उसका विवरण उपोद्‌घात में दिया गया है। मनुष्य शरीर ब्रह्मांड का सूक्ष्म रूप है। इसलिए भुवन शरीर को भी कहते हैं और बाह्य ब्रह्मांड को भी। सुषुम्णा नाड़ी शरीर की मुख्य नाड़ी है और जितने (सूर्यादि) चक्र हैं वे सब इसी में हैं। इसलिए इस नाड़ी में संयम करने से समस्त शरीर का भी ज्ञान हो जाता है और शरीर के बाहर का भी। शरीर के अन्तर्गत के ज्ञान में, समस्त नाड़ी जो नक्षत्र स्थानी हैं, और उनकी गति के प्रकार आदि का सभी ज्ञान सम्मिलित हैं।

तेरहवीं विभूति

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥२८॥

अर्थ—नाभि-चक्र में (संयम करने से) शरीर की बनावट ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—शरीर त्रिदोष वात, पित्त और कफ और सात धातु (१) त्वचा, (२) चर्म, (३) मांस, (४) स्नायु, (५) अस्थि, (६) मज्जा (चर्बी), और शुक्र का समुदाय है। नाभि केन्द्र को कहते हैं। शरीर का केन्द्र होने ही से नाभि, "नाभि-चक्र" कहलाता है। इस चक्र में संयम करने से योगी को समस्त शरीर का, कि वह किस प्रकार उपर्युक्त वस्तुओं से बना और उनका संग्रह है, ज्ञान हो जाता है।

चौदहवीं विभूति

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥२६॥

अर्थ—कंठ कूप में (संयम करने से) भूख प्यास की निवृत्ति (होजाती है)।

व्याख्या—जिह्वा के नीचे सूत के समान एक नश है उस तंतु के अधो भाग में कंठ, और कंठ के अधो भाग में कूप (छिद्र) है जहां उदान वायु रहता है। किये हुए भोजनादि को यही वायु आमाशय में पहुँचाता है और जब आमाशय ख़ाली होता है तो उसकी खबर भी यही (उदान) वायु देता है। कंठ कूप में संयम करने से उदान का काम रुका रहता है, काम रुकने का अभिप्राय यह है कि वह अब भूख प्यास की ख़बर नहीं दे सकता। जब तक ख़बर न हो मनुष्य भूख प्यास की चिन्ता से निवृत्त रहता है। इसलिए जब तक योगी संयम किये रहेगा उसे भूख प्यास तकलीफ़ न दे सकेंगी।

पन्द्रहवीं विभूति

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३०॥

अर्थ—कूर्म नाड़ी में (संयम करने से) स्थिरता (होती है)।

व्याख्या—कंठ कूप के नीचे वक्षःस्थल में, कछुए के आकार की, एक नाड़ी है, उसी को कूर्म नाड़ी कहते हैं। उसमें संयम करने से योगी का चित्त स्थिर हो जाता है।

सोलहवीं विभूति

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—मूर्धा की ज्योति में (संयम करने से) सिद्धों का दर्शन होता है।

व्याख्या—शिर में कपाल (खोपड़ी) के भीतर एक अत्यन्त प्रकाशमान छिद्र होता है उसमें संयम करने से योगी के चेहरे की आकृति इस प्रकार की हो जाती है जिससे, योग में निपुण व्यक्ति, उसे देख कर समझ ले कि वह योगाभ्यासी है और इस प्रकार समझ लेने पर उस अभ्यासी से, सिद्धि प्राप्त योगी, मिलने में संकोच नहीं करते जैसा कि अयोगियों से, वे सदैव किया करते हैं। यही सिद्ध दर्शन का तात्पर्य है।

सतरहवीं विभूति

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—अथवा प्रातिभ ज्ञान (Intuitinal insight) से प्रत्येक वस्तु का (ज्ञान हो जाता है)।

व्याख्या—'भा' प्रकाश को कहते हैं। प्रतिभा वह प्रकाश (ज्ञान) जो भीतर से उत्पन्न हो। इसी प्रतिभा से प्रतिभ शब्द बनाया गया है। प्रातिभ के अर्थ भी वही हैं जो प्रतिभा के हैं। अर्थात् वह ज्ञान जो भीतर (आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति) से उत्पन्न हो। इस ज्ञान के उत्पन्न होने का तात्पर्य यह है कि आत्मा प्राकृतिक आवरण से मुक्त होगया और अब स्वयमेव ज्ञान प्राप्त

करता है किसी अन्तः या बाह्य करण की, ज्ञानोपलब्ध करने में, उसे अपेक्षा नहीं। ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर आत्मा के लिए, विना किसी प्रतिबन्ध के, जो चाहे वह प्रत्यक्षवत् हो जाता है। व्यास ने अपने भाष्य में लिखा है कि मस्तिष्क में एक तारा (स्थान विशेष) है जो प्रतिभा उत्पन्न करता है इसीलिए उसे प्रातिभ कहते हैं। उसी प्रातिभ पर संयम करने से योगी सब कुछ जान लिया करता है। इसका भी तात्पर्य यही है कि भीतर से ज्ञान (Intuitional insight) उत्पन्न किया जावे।

अठारहवीं विभूति

हृदये चित्तसंवित् ॥३३॥

अर्थ—हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान (हो जाता) है।

व्याख्या—हृदय कमलाकार एक पिंड है। चित्त उसी में रहता है। इसलिये उस पिंड में संयम करने से उसके भीतर रहने वाले चित्त का साक्षात् ज्ञान योगी को हो जाता है। चित्त के साक्षात् होने का तात्पर्य यह है कि उसके भीतर रहने वाली वासना आदि का ज्ञान योगी को हो गया।

उन्नीसवीं विभूति

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाऽविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३४॥

अर्थ—बुद्धि और पुरुष (जीव) में (एक दूसरे से जो) अत्यन्त भिन्न हैं, अभेद ज्ञान (दोनों को एक समझना) भोग कहलाता है। यह भोग पदार्थ है, स्वार्थ में संयम करने से जीव का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—बुद्धि और पुरुष प्रकार की दृष्टि से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। बुद्धि जड़ है परन्तु पुरुष (जीव) चेतन है। बुद्धि में चेतना का प्रकाश जीव ही से आता है जब कि जीव स्वयमेव चेतना प्रकाश युक्त है। परन्तु सांसारिक भोगों को भोगते हुये इन दोनों की भिन्नता को विसार दिया जाता है और बुद्धि अथवा मन अपने को जीव ही समझने लगता है। और जीव भी रज और तम की अधिकता से भिन्नता के विचार पर स्थिर सा नहीं रहता और इस प्रकार बुद्धि और जीव के अभिन्नता ज्ञान ही से भोग की सृष्टि रची जाती है। स्पष्ट है कि ये भोग-इन्द्रियों और अन्तः-करण द्वारा ही साक्षात् रीति से भोगे जाते हैं। जीव को तो असाक्षात् भोक्ता ही कहा जा सकता है। इसलिये भोग पदार्थ हुआ। जब इस बुद्धि भोग्य और भोग साधनों से सर्वथा भिन्न जीव इस पदार्थ भोग का त्याग करके अपने ही अर्थ में संयम करता है अर्थात् संयम का विषय स्वयमेव जीव बन जाता है तब उस संयम से जीव अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

वीस से पचीसवीं विभूति

ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शाऽऽस्वादवार्त्ता जायन्ते ॥ ३५ ॥

अर्थ—उस (आत्म स्वरूप का ज्ञान हो जाने) के बाद प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वात (ये ६ सिद्धियां) प्राप्त हो जाती हैं।

व्याख्या—प्रातिभ दूर तथा आड़ में रहने वाली वस्तुओं का ज्ञान हो जाना, श्रावण दिव्य शब्द सुनने की योग्यता, वेदना दिव्य स्पर्श ग्रहण शक्ति, आदर्श दिव्य रूप ग्रहण कर सकना, आस्वाद दिव्य रस का ज्ञान और वार्त्ता दिव्य गन्ध ग्रहण की योग्यता। ये ६ विभूतियां और भी, आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर, योगी को प्राप्त हो जाती हैं।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३६ ॥

अर्थ—वे (उपयुक्त ६ सिद्धियाँ) समाधि में तो विघ्न हैं (परन्तु) व्युत्थान में सिद्धियां हैं।

व्याख्या—ये उपयुक्त ६ सिद्धियाँ स्थिर चित्त वाले योगी का जब यह कैवल्य समाधि लगाता हो, विघ्न रूप हैं क्योंकि उनसे ईश्वर दर्शन में विघ्न पड़ता है परन्तु उन योगियों को जिन्हें केवल चित्त के एकाग्र करने की योग्यता प्राप्त हुई है और जो व्युत्थान (समाधि से जाग उठने की सी अवस्था) में रहते हैं, अवश्य सिद्धियाँ हैं।

छब्बीसवीं विभूति

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेऽऽशः ॥ ३७ ॥

अर्थ—चित्त के बन्धन का कारण शिथिल और प्रचार

(मार्ग) का ज्ञान हो जाने से (चित्त) पराये शरीर में प्रवेश हो सकता है।

व्याख्या—चित्त (मन) अत्यन्त चंचल है उसके एक शरीर (स्थूल) में स्थित रहने का कारण कर्म का बंधन है। जब धारणा ध्यान और समाधि के अभ्यास से योगी, सकाम कर्म छोड़ कर केवल निष्काम कर्म का आश्रय लेता है, तो वासनाओं के न बनने से, (सकाम) कर्म का वन्धन शिथिल होजाता है, और संयम से योगी चित्त के चलने का मार्ग (नाड़ी) जान लेता है तब उसके चित्त में अपने से भिन्न शरीर में जाने की योग्यता प्राप्त होजाती है। चित्त के परशरीर में प्रवेश का अभिप्राय यह है कि योगी अपने चित्त को, दूसरे शरीर में भेज कर उस (दूसरे शरीर) का हाल जान लेता है, यह अभिप्राय नहीं है कि दूसरे शरीर को अपने चित्त के अनुसार चलाने लगता है हां कुछ काल (क्षण) के लिए तो यह भी सम्भव है।

सत्ताईसवीं विभूति

उदानजयाज्जलपङ्ककण्ठकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३८॥

अर्थ—उदान (कंठ में रहने वाले प्राण)के जीत लेने से जल, कीचड़ और कांटे आदि से असङ्ग (रहता है) और (इच्छानुसार) उत्क्रान्ति (मरना) होती है।

व्याख्या—पांच प्राणों में से उदान वह है जिसका स्थान कंठ है और जो वंधन ग्रस्त मनुष्य की आत्मा को मरने पर दूसरे शरीर में ले जाया करता है। इस उदान में संयम करने से

मनुष्य का शरीर बहुत हलका हो जाता है और उदान पर उस (योगी) का अधिकार भी हो जाता है।

शरीर के हलके होने से उसे जल, कीचड़ आदि का भय नहीं रहता। वह सुगमता से उन्हें उलंघन कर लेता है और उदान पर अधिकार होने से, आत्मा, उसके बन्धन से, स्वतन्त्र हो जाता है और योगी इच्छानुसार अपने आत्मा को शरीर से निकालता है और इस प्रकार अपनी आयु भी बढ़ा सकता है।

अट्ठाईसवीं विभूति

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—समान (नाभिस्थ प्राण) के जय से, तेजस्विता (आ जाती है)।

व्याख्या—नाभि चक्रशरीर का केन्द्र है इस पर अधिकार हो जाने से, योगी की तेजस्विता, बढ़ जाती है। इस पर अधिकार, "समान प्राण" में संयम करने से हो जाता है।

उन्तीसवीं विभूति

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥४०॥

अर्थ—श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य शब्द सुनाई देने लगते हैं।

व्याख्या—श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द दोनों का कारण आकाश (Ether) है। जब इस कार्य्य और कारण भाव में योगी सँयम करता है तो आकाश में उपस्थित ऐसे सूक्ष्म और मधुर शब्दों को,

जिन्हें साधारणतया कानों से नहीं सुन सकते और जिन्हें दिव्य शब्द भी कहते हैं, सुनने लगता है। शरीर के अन्तर्गत होने वाले घोष को भी दिव्य शब्द कहते हैं, उनको भी कान से कोई नहीं सुन सकता। उनके सुनने के लिये भी कान को बन्द कर लेना ही पड़ता है।

तीसवीं विभूति

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—शरीर और आकाश (Space) के सम्बन्ध में संयम करने और लघु (हलके) तूल (रुई के फोये) में समापत्ति (संयम करने) से आकाश गमन (की सिद्धि हो जाती है)।

व्याख्या—शरीर और आकाश (अवकाश) में आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध में संयम करने और रुई के फोये सदृश किसी हलकी वस्तु में संयम करके, तदाकारता प्राप्त हो जाने से, योगी का शरीर बहुत हलका हो जाता है और हलका होकर जल या मकड़ी के जाले तक पर चलने में कोई कठिनता नहीं होती। अनेक सरकसों में देखा गया है कि अभ्यास करने से, सरकस के खिलाड़ी तार पर बाईसिकल चला सकते हैं; स्वयं दौड़ सकते हैं, फिर योगी के संयम और अभ्यास से, आकाश गमन की योग्यता प्राप्त हो जाने में आश्चर्य ही क्या हो सकता है।

इकतीसवीं विभूति

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशाऽऽवरणक्षयः ॥ ४२ ॥

अर्थ—(शरीर से) बाहर अकल्पिता-वृत्ति महा-विदेहा (कहलाती है) उससे प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है।

व्याख्या—यत्न पूर्वक शरीर से बाहर हो जाने वाली मन की वृत्ति 'कल्पिता' कहलाती है, परन्तु विना यत्न के जो मन की वृत्ति बाहर रहने लगती है उसे 'अकल्पिता' कहते हैं। इस अकल्पिता वृत्ति को महा विदेहा भी कहे जाने का कारण यह है कि यह शरीराभिमान शून्या होती है अर्थात इसे शरीर की अपेक्षा नहीं होती। इस (अकल्पिता) वृत्ति के प्रादुर्भूत हो जाने से, रजो गुण और तमोगुण मूलक आवरण दूर हो जाते हैं।

बत्तीसवीं विभूति

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४३ ॥

अर्थ—(पञ्च महाभूतों) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से महाभूत जीते जाते हैं।

व्याख्या—(१) स्थूल—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की स्थूलता।

(२) स्वरूप—पृथ्वी का काठिन्य, जल का गीलापन, अग्नि की उष्णता, वायु की गति और

आकाश का अनावरण (न रुकना) स्वरूप है।

(३) सूक्ष्म—स्थूल भूतों की पञ्चतन्मात्रा=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह सूक्ष्म हुये।

(४) अन्वय=सत्व, रज और तम भेद से त्रिगुणान्वयिनी पृथ्वी, इसी प्रकार त्रिगुणान्वयी जल, अग्नि और आकाश ये ५ अन्वय हुये।

(५) अर्थवत्व—५ भूतों का भोग मोक्ष रूप अर्थ वाला होना अर्थवत्व है।

ये २५ रूप पञ्च महाभूतों के हुये। इनसे बाहर भूतों का भूतत्व और कुछ नहीं है। इसलिये जब योगी इन पञ्चभूतों के उपर्युक्त २५ रूपों में संयम करता है तो उसका, प्रकृति के विकार, इन ५ भूतों पर, अधिकार हो जाता है, यही भूत जय का अभिप्राय है।

तेंतीसवीं से ब्यालीसवीं तक विभूति

ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥४४॥

अर्थ—उस (भूत जय) से अणिमादि का प्रादुर्भाव, देह की संपदा (ऐश्वर्य) और उन (५ भूतों) के धर्मों (कार्यों) के चोट से बचाव हो जाता है।

व्याख्या—५ महाभूतों के अधिकृत हो जाने से (सूत्र ४३), योगी को, १० सिद्धियां और भी, प्राप्त हो जाती हैं।

(१) अणिमा=देह को सूक्ष्म कर लेना।

(२) लघिमा=शरीर को हलका कर लेना।

(३) महिमा=शरीर को बढ़ा सकना।

(४) प्राप्ति=जिस पदार्थ को चाहे प्राप्त कर लेना।

नोट—५ भूतों के स्थूल रूप में संयम करने से ये ४ विभूतियां प्राप्त होती हैं।

(५) प्राकाम्य=बिना रुकावट के इच्छा का पूरा होना।

नोट—यह सिद्धि, पंच भूतों के स्वरूप में संयम करने से, सिद्ध होती है।

(६) वशित्व=५ महाभूतों और भौतिक पदार्थों का अपने वश में कर सकना।

नोट—यह भूतों के सूक्ष्म रूप में संयम करने का फल है।

(७) ईशित्व=शरीर और अन्तःकरणों का अधिकार में हो जाना।

नोट—यह विभूति अन्वय में संयम करने से प्राप्त होती है।

(८) यत्र कामावसायित्व=प्रत्येक संकल्प का पूरा हो जाना।

नोट—यह सिद्धि अर्थवत्त्व में संयम करने से प्राप्त होती है।

---

(१) इन अणिमादि ८ विभूतियों के सिवा भोजवृत्ति में "गरिमा" (भारी हो सकना) नाम की एक नवीं विभूति और लिखी है परन्तु वह "महिमा" के अन्तर्गत आ जाती है इस लिये उसे पृथक् नहीं लिखा गया।

(९) काय सम्पत्—इसका विवरण आगे के ४५वें सूत्र में दिया गया है।

(१०) तद्धर्मानभिघात = पञ्च महाभूतों के कार्य, योगी के लिए विघ्नकारक नहीं होने पाते।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४५ ॥

अर्थ—रूप, लावण्य और वज्र संहननत्व का नाम काय-संपत् है।

व्याख्या—मुखाकृति का अच्छा होना रूप और सौंदर्य का नाम लावण्य है। वज्र के तुल्य शरीर के अंग प्रत्यंग का दृढ़ होना "वज्रसंहननत्व" कहलाता है और तीनों गुणों का एक नाम कायसंपत है।

तेतालीसवीं विभूति

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥४६॥

अर्थ—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व में संयम करने से इन्द्रिय-जय होता है।

व्याख्या—(१) इन्द्रियों की, देखने, सुनने और सूंघने आदि वृत्तियों को, "ग्रहण" कहते हैं। (२) इन्द्रियों के गोलक और उनकी बाह्य बनावट, "स्वरूप" कही जाती है। (३) मैं देखता हूं, मैं सुनता हूँ इत्यादि अहङ्कार रूप भावना का नाम अस्मिता है। (४) इन्द्रियों के साथ लगे हुये तीन गुण सत्व, रज और तम अन्वय कहे जाते हैं। (५) भोग मोक्ष रूप फल अर्थवत्त्व कहा

जाता है। इन पांच के अन्तर्गत इन्द्रियों से सम्बन्धित प्रत्येक बात आ गई। इसलिये इनमें संयम करने से, योगी का, इन्द्रियों पर अधिकार, हो जाता है।

चवालीस से छियालीस तक, ३ विभूतियां

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४७ ॥

अर्थ—उस (इन्द्रिय जय) से मनोवेग, विकरणभाव (होता है) और प्रकृति भी जीती जाती है।

व्याख्या—(१) मनोजवित्व=मन के समान शरीर का वेग-वान होना।

(२) विकरण भाव=इन्द्रियों से काम न लेकर भी इन्द्रियों के इष्ट विषय को प्राप्त कर लेना (Un-instrumental perception) विकरण भाव कहलाता है।

(३) प्रकृति पर यथेष्ट अधिकार प्राप्त कर लेना 'प्रधान जय' कहा जाता है।

ग्रहण में संयम करने से मनोजवित्व, स्वरूप में संयम का फल विकरण भाव और शेष तीन अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से प्रधान जय की प्राप्ति होती है।

नोट—इन तीनों (मनोजवित्व, विकरण भाव और प्रधान जय) सिद्धियों का, एक सम्मिलित नाम "मधु प्रतीक" है।

सैंतालीसवीं और अड़तालीसवीं विभूति

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४८ ॥

अर्थ—सत्व (बुद्धि) और पुरुष (जीव) के भेद ज्ञान का (फल) सब भावों का अधिष्ठाता और सर्वज्ञ होना है।

व्याख्या—बुद्धि जड़ और आत्मा से प्रकाश पाने पर भी ससीम ज्ञान और शक्ति वाली रहती है परन्तु आत्मा (जीव) अप्राकृतिक, चेतन और स्वरूप से शुद्ध, निर्मल और स्वयं प्रकाश वाला है। जब मनुष्य आत्मा का अध्यारोप बुद्धि में करता और बुद्धि को आत्मा समझने लगता है तो इसका फल यह होता है कि बुद्धि की जड़ता, ससीमता आदि का आवरण बुद्धि और आत्मा के बीच में आ जाने से मनुष्य अधिक अल्पज्ञता का अनुभव करने लगता है। परन्तु जब इन बुद्धि और आत्मा के भेद का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है तब योगी की बुद्धि और आत्मा के बीच से उपर्युक्त आवरण हट जाता है। तब आत्मा, अपने उपास्य परमात्मा में, लवलीन होकर, उसके गुण सर्वभाव अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व को प्राप्त कर लिया करता है। ईश्वर के गुणों सर्व-अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व के प्राप्त कर लेने का मतलब यह नहीं है कि जहां तक इन गुणों का सम्बन्ध है, उस जीव और ईश्वर में, कुछ अन्तर नहीं रहा। क्योंकि ईश्वर में तो ये गुण नित्यता रखते हैं और उसका इन से समवाय सम्बन्ध है परन्तु जीव में इनकी अनित्यता होती है, इसलिये जीव का, इन गुणों से संयोग सम्बन्ध है। ईश्वर की तरह जीव सर्वाधार और सर्वज्ञ भी नहीं होता—विभूति का अभिप्राय अन्य साधारण अयोगियों की अपेक्षा योगी का अधिक आधार और ज्ञान वाला होता है।

नोट—इन दोनों सिद्धियों का सम्मिलित नाम "विशोका" है क्योंकि इनके प्राप्त हो जाने से मनुष्य शोक रहित हो जाता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥४६॥

अर्थ—उस (विभूति) से भी वैराग्य हो जाने और दोष के बीज का क्षय हो जाने से कैवल्य (मुक्ति) हो जाती है।

व्याख्या—जब योगी सूत्र ४८ में कहे अनुसार सर्वभाव, अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व को अपने उपास्यदेव से प्राप्त कर लेता है तब उसका प्रेम, प्रभु की ओर, और भी अधिक बढ़ने लगता है और प्राकृतिक (इन्द्रिय विषयों से) सुख उसे निस्सार जँचने लगते हैं। इसका फल यह होता है कि भविष्य में नवीन दोष बीज (वासना) नहीं उत्पन्न होता और जो इस समय हैं वह क्षीण हो जाते हैं। इस प्रकार वासना के अभाव से भावी जन्म का अभाव होकर योगी आवागमन के चक्र से छूट जाता है। इसी का नाम कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति है और जब तक वर्तमान शरीर और जीवन रखता है वह मुक्त जीव कहलाता है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाऽकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् ॥५०॥

अर्थ—स्थानियों (समीप रहने वालों) के निमन्त्रण में, फिर अनिष्ट न लगने (के भय) से संग और स्मय (घमण्ड) नहीं करना चाहिये।

व्याख्या—(१) सवितर्का, (२) निर्वितर्का, (३) सविचारा और (४) निर्विचारा समाधियों की योग्यता की दृष्टि से चार

प्रकार के योगी होते हैं। इन में से प्रथम श्रेणी के योगी तो प्रारम्भिक अभ्यास वाले होते हैं, इन्होंने पर चित्तादि के जानने की योग्यता अभी प्राप्त नहीं की। इन्हें तो अयोग्य समझ कर कोई निमन्त्रण ही नहीं देता। द्वितीय श्रेणी के योगी वे हैं जिन्होंने, निर्वितर्का समाधि द्वारा, मधुमती ऋतंभरा प्रज्ञा को पाकर पञ्चभूतों और इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति का यत्न जारी कर रक्खा है। इन्हीं को गृहस्थ नर नारी आदर सत्कार पूर्वक निमंत्रण देते हैं। तृतीय श्रेणी के योगी वे हैं जिन्होंने स्वार्थ संयम से विशोका विभूतियों को प्राप्त कर लिया है। चतुर्थ श्रेणी के योगी वे हैं जिन्होंने मधुमती, मधुप्रतीका और विशोका विभूतियों को प्राप्त करके उनसे भी वैराग्य प्राप्त कर लिया है। इनमें तीसरे और चौथे श्रेणी के योगियों को पूर्ण जितेन्द्रिय होने से किसी प्रकार से भी पतित होने का भय नहीं है। यह सूत्र केवल द्वितीय श्रेणी के योगियों से सम्बन्धित है। उन्हीं के लिये कहा गया है कि यदि उन्हें निमन्त्रण दिया जावे तो नम्रता के साथ उसे अस्वीकार कर देवे और उस संग से अपने को बचाये रक्खे। परन्तु यह समझ कर कि बहुत लोग उसे निमन्त्रण देते हैं, अभिमान भी न करे क्योंकि जहाँ वह सङ्ग उसके लिये हानिकारक नियम है उसी प्रकार यह अभिमान भी हानिकारक है। क्योंकि यह नियम है कि जब मनुष्य अपने को बड़ा समझने लगता है तभी उसकी भावी उन्नति रुक जाती है।

उनचासवीं विभूति

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५१॥

अर्थ—क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकजज्ञान (प्राप्त हो जाता है)।

व्याख्या—समय के परमाणु का नाम क्षण है। एक क्षण के बाद दूसरे, तीसरे क्षण के बराबर आते रहने को क्रम कहते हैं। असल में, समय वस्तु शून्य और केवल बुद्धि की निर्माण की हुई एक वस्तु है। परन्तु व्यवहार में प्रायः सभी लोग वस्तु के सदृश मानते हैं और प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु उसके अन्तर्गत रहती है और उसके परिणाम भी क्षण और उनके क्रम के भीतर ही हुआ करते हैं। अपरिणामी केवल आत्मा और परमात्मा है। विवेकज ज्ञान का भाव यह है कि आत्मा को प्राकृतिक पदार्थों शरीर, चित्त और बुद्धि आदि से पृथक् समझा जावे। जिस समय योगी क्षण और उनके क्रम में संयम करता है तो उसे प्राकृतिक पदार्थों की यथार्थ सीमा, परिणामी होने के कारण, ज्ञात हो जाती है और अपरिणामी होने से आत्मा को वह इन से पृथक् समझने लगता है, इसका निश्चयात्मक ज्ञान हो जाना ही विवेकज ज्ञान कहलाता है।

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥५२॥

अर्थ—जाति, लक्षण और देश से भिन्नता का निश्चय न कर सकने से दो तुल्य (पदार्थों) में उस (विवेकज ज्ञान) से (भिन्नता का) ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—गाय और बुलबुल के भेद का ज्ञान जाति से होता है। दो गायों में भेद, उनके रंग आदि रूप लक्षण से होता है। परन्तु जब रंग आदि (लक्षण) भी समान हों तब उनमें देश से अन्तर होता है कि एक गाय मथुरा की ओर की है और दूसरी रूहतक प्रान्त की। परन्तु जब देश भी दोनों का एक हो और जाति, लक्षण और देश तीनों में से किसी से भी उन में भिन्नता न की जा सके तब विवेकज ज्ञान से उनकी भिन्नता जानी जाया करती है। इसी प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ अणु और परमाणुओं की भिन्नता का ज्ञान भी विवेकज ज्ञान वाले योगी को हो जाता है।

(३१) विवेकज ज्ञान और कैवल्य

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—तारक (स्वयमेव उत्पन्न ज्ञान), सब को विषय बनाने वाले (Omni-objective), सब प्रकार से विषय बनाने वाले (Semper-objective) और क्रम की अपेक्षा रहित (Simultaneous) ज्ञान को विवेकज ज्ञान कहते हैं।

व्याख्या—विवेकज ज्ञान का लक्षण यह है कि उसमें चार बातें होनी चाहियें—(तारक—तारक का शब्दार्थ आंख की पुतली है; जिस प्रकार पुतली में स्वयमेव प्रकाश होता है इसी प्रकार जो ज्ञान, बिना सिखलाये और उपदेश किये, स्वयमेव उत्पन्न होता है उसे तारक कहते हैं। (२) सबको विषय बनाने

का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक बात को बिना किसी रोक टोक के जान सकना। (३) प्रत्येक बात को उसके प्रत्येक पहलू से जान सकना। (४) क्रम की अपेक्षा रहित हो कर एक ही समय में कई बातों को जान सकना। मन में युगपत ज्ञान अर्थात् एक समय में एक से अधिक विषय के ज्ञान व ग्रहण को होना संभव नहीं बतलाया जाता है परन्तु विवेकज ज्ञान उत्पन्न कर लेने के योग्य हो जाने पर, योगी, इस नियम के भी बंधन से मुक्त हो जाता है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष (जीव) की शुद्धि समान होने पर कैवल्य (मोक्ष) हो जाता है।

व्याख्या—जब बुद्धि से अज्ञान और अविद्या दूर हो जाती है तो उससे राग द्वेषादि की भी निवृत्ति हो जाती है। इन (रागादि) के निवृत्त होने से वासनोत्पादक सकाम कर्म छूट जाते हैं। इन (सकाम) कर्मों के छूटने से जन्म छूट जाता और जन्म के छूट जाने से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होकर मोक्ष हो जाती है। जब योगी की बुद्धि इसी क्रम से इसी अन्तिम ध्येय की ओर चलने लगती है तो जब वह सकाम कर्मों की निवृत्ति तक पहुँच जाती है तो उसकी निर्मलता ऐसी ही होने लगती है जैसे कि आत्मा की। बस इसी मार्ग पर और एक दो स्टेशन चलने से बुद्धि और आत्मा दोनों सर्वतो-भावेन शुद्ध और निर्मल हो जाते हैं और ऐसा योगी जीवन-मुक्ति और शरीर छोड़ने के बाद मुक्त हो जाता है।

इति तृतीयः विभूतिपादः।

तीसरा विभूति पाद समाप्त हुआ।

कैवल्य पाद

(३२) सिद्धि और चित्त

जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

अर्थ—जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न हुईं, ये (पांच) सिद्धियां हैं।

व्याख्या—पांच सिद्धियाँ संसार में पाई जाती हैं।

पहली सिद्धि

जन्म से प्राप्त होती है जैसे पशुओं का पानी में तैरना, पक्षियों का आकाश में उड़ना आदि।

दूसरी सिद्धि

औषधि के द्वारा अनेक रोगों का दूर हो जाना अथवा सोमरस पान से शरीर को पुनः युवा बना लेना आदि।

तीसरी सिद्धि

मन्त्र के जप से होती है; चित्त की एकाग्रता आदि।

चौथी सिद्धि

तपस्वी जीवन बनाने से प्राप्त होती है जिसका वर्णन द्वितीय पाद के ४३ वें सूत्र में है। अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि के क्षय हो जाने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है।

पांचवीं सिद्धि

समाधि से होती जिसका वर्णन विभूति पाद में किया गया है।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

अर्थ—प्रकृति के चारों ओर से आकर (शरीर में) भर जाने से जात्यन्तर परिणाम हो जाता है।

व्याख्या—जात्यन्तर परिणाम यह है जिस प्रकार का शरीर और अन्तःकरण जन्म से किसी व्यक्ति को मिला है उनमें, औषधि सेवन, सात्विक भोजन के ग्रहण करने और समाधि के द्वारा अनेक विभूतियां के प्राप्त कर लेने से इतना अपूर्व परिवर्तन हो जाता है कि परिवर्तित शरीर, जन्म से मिले शरीर से सर्वथा भिन्न मालूम होने लगता है। जात्यन्तर परिणाम का यह मतलब नहीं है कि मनुष्य से पशु या पशु से मनुष्य हो जाता है।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां, वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

अर्थ—(औषध सेवन आदि) निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक (प्रेरक) नहीं (परन्तु) उस (उस औषध सेवनादि) से वरण भेद, किसान के समान अवश्य हो जाता है।

व्याख्या—वरण-भेद रुकावट दूर हो जाने को कहते हैं। ये औषध सेवनादि पांच निमित्त (देखो- इसी पाद का पहला सूत्र) प्रकृतियों की प्रेरणा नहीं करते कि वह बाहर से आकर योगी के शरीर में प्रविष्ट हो जावे, इनका काम केवल यह है कि बाहर की प्रकृतियों के शरीर में दाखिल होने में जो रुकावट होती है उसे दूर कर दें। जिस तरह किसान एक

क्यारी से दूसरी क्यारी में जब पानी पहुँचाना चाहता है तो पानी के साथ कोई यत्न नहीं करता कि वह दूसरी क्यारी में चला जावे बल्कि दूसरी क्यारी में पानी के जाने में जो मेंड़ रूपी रुकावट होती है, मेड़ को तोड़ कर उस रुकावट को दूर कर देता है। उस रुकावट के दूर हो जाने से, पानी स्वयमेव दूसरी क्यारी में पहुँच जाता है। इसी तरह शरीर से रुकावट दूर हो जाने से बाहर की प्रकृति शरीर में स्वयमेव दाखिल हो जाती है।

निर्माण चित्तान्यस्मितामात्रात् ॥४॥

अर्थ—केवल अस्मिता (अहङ्कार) से चित्तों की (उत्पत्ति होती है)।

व्याख्या—चित्तों का उपादान कारण अहङ्कार है। इसी (अहङ्कार) से अनेक चित्तों को योगी उत्पन्न कर लेता है।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥

अर्थ—एक चित्त अनेक चित्तों का भिन्न भिन्न प्रवृत्ति में प्रयोजक (प्रेरक) होता है।

व्याख्या—असली चित्त जो सूक्ष्म शरीर का एक अङ्ग है प्रत्येक व्यक्ति के साथ रहा करता है। योगी शक्ति-शाली होता है इसलिये वह असली एकचित्त के सिवा और भी अनेक चित्त, चित्तों के उपादन (Material Cause) अहम् तत्व से उत्पन्न कर लिया करता है परन्तु इन चित्तों को भिन्न भिन्न कार्यों (प्रवृत्तियों) में लगाना उस असली एक चित्त ही के अधीन रहता है। योग-दर्शन में चित्त शब्द मन और चित्त दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

चित्त स्मृति, वासना और संस्कारों का भंडार है, मन का कार्य भिन्न भिन्न संकल्पों का उत्पन्न करना है। इस सूत्र में जो चित्त की उत्पत्ति लिखी है वह केवल प्रवृत्ति के लिहाज़ से लिखी गई है। अर्थात् ऐसे चित्त की उत्पत्ति का भाव केवल इतना है कि भिन्न भिन्न प्रवृत्ति वाले चित्तों का उत्पन्न कर सकना।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥६॥

अर्थ—उन (उत्पन्न चित्तों) में से ध्यान द्वारा उत्पन्न हुआ चित्त आशय (वासना) रहित होता है।

व्याख्या—जो चित्त, समाधि की सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद, उसी समाधि से उत्पन्न होता है वह वासना रहित होता है। वासना सकाम कर्म से उत्पन्न होती है। जब योगी समाधि लगा सकने के दर्जे में पहुँच जाता है तब उसके भीतर सकामता नहीं रहती। उसकी प्रवृत्ति सकामता शून्य होती है। इसलिये उनका प्रवृत्ति रूप चित्त वासना रहित होता है। सूत्र में प्रयुक्त ध्यान शब्द समाधि के लिये प्रयुक्त हुआ है।

(३२) कर्म और वासना

कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

अर्थ—योगी के कर्म पाप पुण्य रहित (होते हैं) परन्तु अन्यों के तीन प्रकार के।

व्याख्या—योगी निष्काम होता है इसलिये उसके कर्मों को न पाप कह सकते हैं न पुण्य। किन्तु वे इन दोनों से ऊँचे होते हैं। पाप

पुण्य, दुःख सुखादि द्वन्द्वों का सम्बन्ध प्राकृतिक भोगों से है। योगी इन भोगों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता इसलिये उसके कर्म भी इनसे असम्बन्धित होते हैं, परन्तु जो अन्य साधारण पुरुष हैं उनके कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) शुक्ल=पुण्य, (२) कृष्ण=पाप, (३) शुक्ल कृष्ण (पाप पुण्य)=मिश्रित। उदाहरणार्थ—अहिंसा सत्यादि सात्विक कर्म=पुण्य, (२) मद्य, मांस का सेवनादि तामस कर्म=पाप (३) रजोगुणी कर्म जिनमें पाप और पुण्य दोनों मिश्रित हैं।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाऽभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—उन (तीन प्रकार के उपर्युक्त कर्मों) में उन्हीं के फलानुकूल गुणों वाली वासनाओं का प्रादुर्भाव होता है।

व्याख्या—योगियों से भिन्न पुरुषों के कर्म तीन प्रकार के ऊपर कहे गये हैं। उन कर्मों के जैसे भी अच्छे, बुरे फल होते हैं उन्हीं के अनुकूल वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् यदि एक व्यक्ति ने चोरी की है तो इस दुष्ट कर्म के फलानुसार ही वासना बनेगी। इस प्रकार से बनी हुई वासना का काम यह होता है कि जिस कर्म की वह वासना होती है उसी कर्म के फिर करने की प्रेरणा करती रहती है। साधारण जन सकामता प्रिय होते हैं इसलिये उनके कर्मों से वासनाओं का बनना अनिवार्य है। वासना से कर्म, कर्म से फल, फलानुसार फिर वही वासना सकाम कर्म करके इस चक्र से निकलना सम्भव नहीं।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कार-योरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

अर्थ—जाति, देश और काल से व्यवहित (पृथक् या दूर) होने पर भी, स्मृति और संस्कार के एक रूप होने से, (वासनाओं में) निरन्तरता रहती है।

व्याख्या—जाति से फ़ासिला होने का अभिप्राय यह है कि जब वासनायें बनी थीं उसके बाद अनेक जन्म बीत गए हों। इस प्रकार से चाहे अनेक जन्म (जाति) बीच में आ चुके हों अथवा देश से व्यवधान (फ़ासिला) हो गया हो अथवा सैकड़ों वर्ष बीत चुके हों तब भी वासनायें निरन्तर बनी रहती हैं और इस प्रकार उनके निरन्तर बने रहने का कारण यह है कि स्मृति और संस्कार दोनों एकसे बने रहते हैं। इस निरन्तरता के रखने पर भी वासनायें तिरोहित सी रहती हैं। परन्तु जब कोई अभिव्यञ्जक (प्रगट करने वाला) कारण आकर उपस्थित होता है तो वे झट प्रकट हो जाती हैं। अवश्य जब विरोधी वासनायें किसी एक वासना को दबा लेती हैं तब अभिव्यञ्जक कारण उपस्थित होनेपर भी वह प्रकट नहीं होती।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

अर्थ—उन (वासनाओं) की अनादिता है, आशिष के नित्य होने से।

व्याख्या—आशिष (कल्याण की इच्छा) के नित्य होने का

तात्पर्य यह है कि मनुष्य में अपने कल्याण की इच्छा सदैव बनी रहती है। इस इच्छा के सदैव बने रहने का कारण वासनाओं का मौजूद होना है। इसीलिए वासनाओं को, सूत्र में अनादि कहा गया है। अनादित्व का तात्पर्य प्रवाह से अनादिता का है। कहा जा चुका है कि सकाम कर्म कर्त्ता सदैव अपने लिए शुभ फलकी इच्छा किया करता है, यह फलेच्छा, फल मिलनेपर, वासना पैदा करती है, वासनासे फिर वही फलेच्छा उत्पन्न होती है। यह चक्र बराबर इसी प्रकार से जन्म जन्मान्तर से चला आता है और मुक्ति होने पर्यन्त बराबर इसी तरह चलता रहेगा। मोक्ष की अवधि कितनी ही लम्बी क्यों न हो, फिर भी वह हद वाली ही होती है और उस अवधि के बीतने पर फिर जीव को संसार में आना ही पड़ता है। संसार में आने और संसार में रहने की इच्छा होने पर फिर उसी वासना के पुराने जाल में फंसना पड़ता है, इसीलिए वासना प्रवाह से अनादि कही जाती है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥११॥

अर्थ—हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से (वासनायें) संगृहीत होती हैं। (इसलिए) इन (हेतु आदि) के अभाव से उन वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

व्याख्या—(१)हेतु, क्लेश और कर्म को कहते हैं, (२) फल नाम जाति, आयु और भोग का है, (३) अधिकार सहित चित्त, वासनाओं का भण्डार होने से, आश्रय कहलाता है, और (४)

इन्द्रियों के विषयों को आलम्बन कहते हैं। इन हेतु आदि ४ कारणों के उपस्थित होने से वासनायें उत्पन्न होती हैं इसलिये इन्हीं के अभाव से वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। इनके अभाव होने ही से मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये निष्कर्ष यह है कि केवल मोक्ष हो जाने ही पर वासनाओं का अभाव होता है।

अतीताऽनागतं स्वरूपतौऽस्त्यऽध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) की सत्ता धर्मों के भेद से होती है।

व्याख्या—ऊपर के सूत्र में जो हेतु आदि के अभाव से वासना का अभाव कहा गया है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि हेतु आदि अथवा वासना का अत्यन्ताभाव हो जाता है किन्तु भाव यह है कि ये हेतु आदि और वासना अतीत हो जाती हैं। जिस प्रकार वर्त्तमान की सत्ता है इसी प्रकार भूत और भविष्यत् की भी सत्ता वास्तविक रीति से है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट होजावेगी। देवदत्त कथा कह रहा है यह वर्त्तमान की एक घटना है। कथा समाप्त हो जाने के बाद यह घटना वर्त्तमान काल से निकल कर भूतकाल में चली जायगी और तब कहेंगे कि देवदत्त कथा सुना रहा था। स्वरूप में अवश्य अन्तर आ गया सही परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि "देवदत्त कथा सुना रहा था।" यह घटना असत्य या निर्मूल थी। इसीलिए भूतकाल की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। भविष्यत् में इस घटना का रूप यह होगा कि "देवदत्त

कथा सुनावेगा। भविष्यत काल की यह बात वर्त्तमानकाल में परिवर्त्तित हुई और अन्त में भूतकाल में चली गई। इसीलिये भविष्यतकाल की भी सत्ता का मानना अनिवार्य है। चूंकि भूत और भविष्यतः की वास्तविक सत्ता है इसलिये वासना का वर्तमान में अभाव हो गया सही परन्तु उसके अतीत-काल में चले जाने से उसका अत्यन्ताभाव नहीं हुआ। मोक्ष प्राप्ति के लिये इतना काफ़ी है कि वर्तमानकाल में चित्त वासनारहित हो। इसलिये वासना के अत्यन्ताभाव न होने से भी, मुक्ति की प्राप्ति में बाधा का कारण, वह नहीं हो सकती।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

अर्थ—वे (धर्म) व्यक्त और सूक्ष्म गुण स्वरूप हैं।

व्याख्या—व्यक्त वर्त्तमान को कहते हैं और भूत तथा भविष्यत् का नाम सूत्र में सूक्ष्म है। इसलिये सूत्र का भाव यह है कि प्रकृति के तीन गुणों सत, रज और तम के प्रभाव से प्रकृति का जितना भी कार्य्य महत्तत्वादि के रूप में है और जिन्हें (सूत्र १२ में) धर्म कहा गया है। वे दो अवस्थाओं में रहते हैं :—(१) व्यक्त=वर्तमान (२) सूक्ष्म=भूत तथा भविष्यत्।

(३४) विज्ञानवादियों का खंडन

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ—परिणाम के एक होने से वस्तु तत्व (वस्तु का एकत्व) है।

व्याख्या—सरसों, तेल निकालने की मशीन आदि के संयोग का परिणाम तेल है इसी प्रकार तेल, बत्ती, लेम्प और दियासलाई के मेल का परिणाम जलता हुआ लेम्प है । इसी प्रकार प्राकृतिक पदार्थों के त्रिगुणात्मक होने पर भी उनका परिणाम वह पदार्थ जिस रूप में वह मौजूद है एक ही होता है ।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विविक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

अर्थ—वस्तु के एक होने पर भी चित्त के भेद से उन दोनों (चित्त और ज्ञेय वस्तु) का मार्ग है ।

व्याख्या—आचार्य्य ने इस सूत्र में इस शंका का समाधान किया है कि विज्ञान (चित्त) ही एक वस्तु है और वही कारण रूप से अनेक नामों से कहा और माना जाता है । आचार्य्य का समाधान यह है कि चित्त के भेद से एक ही वस्तु अनेक रूपों में देखी और मानी जाती है । जैसे स्त्री एक वस्तु है उससे पति के चित्त को सुख, सपत्नी के चित्त को दुःख और संन्यासी के चित्त को वैराग्य होता है । यदि स्त्री रूप वस्तु, चित्त से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता वाली न होती तो उपर्युक्त अनेक चित्त वाले व्यक्ति उसे (स्त्री को) भिन्न-भिन्न रूप में न देख सकते । अतः स्पष्ट है कि चित्त और ज्ञेय पदार्थ भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं ।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥१६॥

अर्थ—वस्तु एक चित्त-तन्त्र (अर्थात् एक ही चित्त के आधीन) नहीं है । जब उस (वस्तु) में प्रमाण (चित्त) न लगा हो तब क्या हो ?

व्याख्या—यही नहीं कि चित्त ही एक वस्तु हो बल्कि यह भी कि वस्तु एक ही चित्त के आधीन भी नहीं रहती। यदि घट से हट कर चित्त पट में लग जावे तो क्या घट बिना चित्त के है? यदि हो तो अन्यों को उस घट की उपलब्धि कैसे होती है? क्योंकि माना तो यह था कि वस्तु एक ही चित्त के आधीन है। इसलिये स्पष्ट हो गया कि वस्तु एक ही चित्त के आधीन भी नहीं।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम् ॥१७॥

अर्थ—चित्त के वस्तूपरागापेक्षित होने से वह (वस्तु) ज्ञात और अज्ञात होती है।

व्याख्या—किसी वस्तु के दृष्टि के सामने होने से उसका जो प्रभाव दृष्टि पर पड़ा करता है उसे उपराग कहते हैं। वस्तु के जानने के लिये चित्त को इसी उपराग की अपेक्षा होती है। यदि वस्तु का उपराग है तो वह जान ली जाया करती है। यदि नहीं तो वह फिर नहीं जानी जा सकती।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्याऽपरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

अर्थ—चित्त की वृत्तियां सदा ज्ञात रहती हैं। उस (चित्त) के स्वामी पुरुष (जीवात्मा) के अपरिणामी होने से।

व्याख्या—चित्त को, परिणामी होने से, वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, उसके सामने होने की अपेक्षा होती है। परन्तु चित्त के स्वामी (जीव) को इस प्रकार की कोई आवश्यकता

नहीं। वह अपरिणामी है, और सदैव इसीलिये चित्त की वृत्तियों का ज्ञाता रहता है।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १६ ॥

अर्थ—वह (चित्त) दृश्य होने से स्वयं प्रकाश नहीं।

व्याख्या—द्रष्टा होने से जीवात्मा, ज्ञान और चेतना का प्रकाशवाला है। परन्तु दृश्य वस्तु, प्राकृतिक होने से जड़ और चेतना के प्रकाश से शून्य होती है। चित्त भी दृश्य है इसलिये वह भी जड़, ज्ञान और चेतना के प्रकाश से रहित है।

एकसमये चोभयाऽनवधारणम् ॥ २० ॥

अर्थ—एक समय में दोनों ग्रहण भी न हो सकेंगे।

व्याख्या—यदि आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न की जावे और चित्त ही को सब कुछ माना जावे जैसा कि कुछ अनात्मवादी कहते हैं तो उसका फल यह होगा कि चित्त और उसके विषय घटपटादि का एक समय में ग्रहण न हो सकेगा। चित्त और उसके विषय घटपटादि दोनों प्राकृतिक होने से जड़ हैं और परिणामी भी। एक चित्त ने एक विषय को ग्रहण करना चाहा। जिस समय चित्त ने चाहा उस क्षण के बाद चित्त भी बदल गया और जिस वस्तु को ग्रहण करना चाहा वह भी बदल गई। इस प्रकार क्षण-क्षण में चित्त और उसके विषय घटपटादि के बदलते रहने से दोनों का एक समय में ग्रहण न हो सकेगा। परन्तु ग्रहण होता है। इसलिये मानना पड़ेगा कि जीवात्मा चित्त से भिन्न और अपरिणामी है।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥२१॥

अर्थ—(यदि) एक चित्त को (चित्तान्तर) अन्य चित्त का दृश्य माने तो चित्त का चित्त मानना रूप अतिप्रसङ्ग (अनवस्था-दोष) होगा और स्मृति का संकर (गड़बड़) हो जायगा।

व्याख्या—यदि अनात्मवादी यह पक्ष उपस्थित करें कि एक चित्त को दूसरे चित्त का द्रष्टा मानें तो फिर उस द्रष्टा चित्त को भी दृश्य होना पड़ेगा और उसका द्रष्टा एक तीसरे चित्त को मानना पड़ेगा। इसी प्रकार जो जो द्रष्टा होगा, उसे दृश्य और उसके लिये पृथक्-पृथक् अन्य चित्तों को द्रष्टा स्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार चित्त का चित्त और फिर उसका चित्त मानना रूप अनवस्था दोष होगा। इसके सिवा दूसरा दोष यह आवेगा कि स्मृति में भी गड़बड़ हो जायगा। चित्त-स्मृति का भण्डार है। चित्त के द्रष्टा और फिर दृश्य बनने रूप चक्र में आने से स्मृति भी संकरत्व को प्राप्त होगी। इसलिये इन दोषों से बचाव का तरीका यही है कि आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जावे।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥२२॥

अर्थ—चेतन और अपरिणामी (जीवात्मा) के उस (चित्त) के आकार को प्राप्त होने पर अपने चित्त का ज्ञान होता है।

व्याख्या—चित्त के आकार वाला जीवात्मा के हो जाने का यह अभिप्राय नहीं है कि सचमुच आत्मा अपने स्वरूप को

छोड़ चित्ताकार बन जाता है। अभिप्राय केवल यह है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि शुद्ध और बिना किसी रङ्ग के केवल श्वेत होता है परन्तु जब उसके पास लाल, पीले, हरे इत्यादि किसी रंग के भी फूल रख देते हैं तो वह मणि उसी रंग का दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार जीवात्मा तो शुद्ध, रङ्ग और आकार से रहित, अप्राकृतिक है परन्तु चित्त के समीप होने से, मणि की तरह, वह चित्त में चित्ताकार वाला सा प्रतीत होने लगता है। चित्त का आत्मा में इस प्रकार आभास होने से, आत्मा को चित्त का यथार्थ ज्ञान हो जाया करता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तंचित्तं सर्वार्थम् ॥२३॥

अर्थ—द्रष्टा और दृश्यों से उपरक्त (रंगा हुआ) चित्त सर्वार्थ (प्रतीति वाला होता है)।

व्याख्या—चित्त जिस समय द्रष्टा (जीवात्मा) से उपरक्त होता है तब वह द्रष्टा प्रतीत होने लगता है और जब दृश्यों से उपरक्त होता है तब दृश्य मालूम होने लगता है। इन दोनों से एक साथ उपरक्त होने से चित्त को सर्वार्थ (समस्त दृश्य पदार्थों) का ज्ञान होता है। इस प्रकार चित्त को द्रष्टा और दृश्य दोनों से उपरक्त होकर दोनों के रूप में प्रतीत होने से बौद्धादि मतों के विद्वान् चित्त ही को सब कुछ समझने लगते हैं और उस (चित्त) से भिन्न द्रष्टा (जीव) और दृश्य (जगत) का मानना अनावश्यक समझते हैं परन्तु यह उनका भ्रममात्र

है क्योंकि द्रष्टा (जीव) और दृश्य (जगत्) से उपरक्त न होने पर चित्त का मूल्य, मिट्टी के एक तुच्छ ढेले से बढ़ कर कुछ नहीं।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

अर्थ—वह (चित्त) असंख्य वासनाओं से चित्रित (अनेक रंगवाला) भी परार्थ है (अन्यों=द्रष्टा और दृश्य के साथ) जुड़ कर काम करने वाला होने से।

व्याख्या—कर्त्ता को, "स्वतन्त्रः कर्त्ता" के नियमानुसार, कर्म में स्वतन्त्र होना चाहिये परन्तु चित्त स्वतन्त्रता से कुछ नहीं कर सकता। उस पर यदि द्रष्टा का प्रभाव न पड़े तो वह स्वयमेव कुछ नहीं कर सकता और यदि दृश्य वस्तुओं का संनिधान न हो तो उसे जगत् की किसी वस्तु का भी ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये जब चित्त की यह दशा है कि द्रष्टा और दृश्य के साथ जुड़े (मेल हुये) विना कुछ नहीं कर सकता तो मानना पड़ेगा कि वह पर (जीव) के अर्थ ही है और जो कुछ यह करता है जीव की प्रेरणा से और जीव के लिये ही करता है। इसलिये कुछ विद्वानों का यह मानना कि वही (चित्त ही) सब कुछ है ठीक नहीं।

मनुष्य जब कर्म करता है तब वह कर्म वासना के रूप में चित्त में अंकित हो जाता है। यह वासनाओं की रेखायें कर्मों की विभिन्नता के लिहाज से तरह तरह के रंग वाली होती हैं और इन्हीं को कर्म की रेखा कहते हैं। जिसके लिये लोकोक्ति

है कि "कर्म की रेखा टरे न टारे"। सूत्र में कहा गया है कि इन वासनाओं से रंग विरंगा होने पर भी, चित्त कर्तृत्व में स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्रता से, जीव की प्रेरणा बिना, कुछ नहीं कर सकता।

(३५) आत्म साक्षात्कार

विशेषदर्शिन आत्मभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

अर्थ—विशेष दर्शिन को आत्मभाव भावना की निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या—योग दर्शन में, 'विशेष-दर्शिन' जीवात्मा और चित्त के निश्चयात्मक भेद-ज्ञान रखने वाले को कहते हैं। इसी विशेष-दर्शिन के दर्शन का नाम विशेप-दर्शिन है। "आत्मभाव भावना" इन विचारों को कहते हैं कि मैं कौन हूँ ? कहाँ था ? किस प्रकार यहाँ आया हूँ ? इत्यादि। जिस समय योगी, अपनी विशेष दृष्टि, से जीवात्मा और चित्त का विभेदक निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह, मैं कौन था ? कहां से आया ? इत्यादि प्रश्नों की जानकारी की इच्छा से मुक्त हो जाता है। वह समझने लगता है कि मरना जीना, आना जाना, इन सब बातों का सम्बन्ध केवल चित्त और शरीर से है और मैं (आत्मा) इनसे सर्वथा भिन्न, अजर और अमर हूँ। मरने जीने का मुझ से कोई सम्बन्ध ही नहीं। इसलिये फिर मुझे इस प्रकार की चिन्ता क्यों करनी चाहिये ! इसी का नाम आत्मभाव की निवृत्ति है।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥२६॥

अर्थ—तब विवेक से गंभीर हुआ चित्त कैवल्य (मोक्ष) की ओर फिर जाता है।

व्याख्या—आत्मभाव भावना के निवृत्त होने पर, चित्त, विवेक अर्थात् इस ज्ञान से कि जीवात्मा और चित्त (अन्तःकरण) एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, भर जाता है और ऐसा विवेक पूर्ण चित्त का झुकाव, मोक्ष की ओर हो जाता है और उसकी वृत्तियाँ विषयों से पृथक् रहने लगती हैं।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

अर्थ—उस (विवेक प्रत्यय) के छिद्रों में संस्कारों से अन्य प्रत्यय (होते हैं)।

व्याख्या—विवेक प्रत्यय ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीवात्मा और अन्तःकरणका एक दूसरे से सर्वथा भिन्न समझना है। जब इस विवेक में छिद्र (विघ्न) उत्पन्न होते हैं अर्थात् विवेक ढीला ढाला सा हो जाता है तब विवेक में इस प्रकार की शिथिलता आजाने पर पुराने विषय-वासना के संस्कार जागृत हो उठते हैं और उन से भी अनेक छिद्र (विघ्न) उत्पन्न हो जाते हैं।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥२८॥

अर्थ—उनका हान (त्याग) क्लेश के समान कहा गया।

व्याख्या—क्लेशों के दूर करने की विधि द्वितीय पाद के आरंभ में (देखो सूत्र २ से १० तक) वर्णित है उन्हीं उपायों से इन उत्पन्न हुए छिद्रों (विघ्नों) को भी दूर करना चाहिए।

प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥२९॥

अर्थ—प्रसंख्यान में भी लालच न करने वाले (योगी) को विवेकख्याति की पूर्णता से धर्ममेघ नाम वाली समाधि (की सिद्धि हो जाती है)।

व्याख्या—अन्तःकरण और शरीर से जीवात्मा को सर्वथा पृथक् समझने का नाम प्रसंख्यान है। जब योगी को प्रसंख्यान का भी लोभ बाक़ी नहीं रहता और वह पूर्ण त्यागी और वैरागी हो जाता है, तब उसकी विवेक ख्याति, पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, और योगी पूर्ण निष्काम हो जाता है, और उसका—विवेक एक रस बना रहता है। इस अवस्था का नाम विवेक-ख्याति की पूर्णता है। इस पूर्णता प्राप्त विवेक-ख्याति से योगी को, धर्ममेघ समाधि की सिद्धि हो जाती है, इस समाधि की प्राप्ति का फल मोक्ष है। महर्षि व्यास के लिखे क्रमानुसार योगी "सम्प्रज्ञात" योग की सिद्धि कर लेने पर, उससे आगे बढ़कर 'प्रसंख्यान' की सिद्धि करता है और प्रसंख्यान के सिद्ध हो जाने पर धर्ममेघ समाधि को प्राप्त कर लिया करता है—इस धर्ममेघ समाधि के संस्कारों से "व्युत्थान" संस्कार बिलकुल दब जाते हैं और योगी निर्बीज समाधि की ओर चलने लगता है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥३०॥

अर्थ—तब क्लेश और कर्म निवृत्त हो जाते हैं।

व्याख्या—क्लेश का पहले वर्णन हो चुका है। कर्म का तात्पर्य पुण्यापुण्य कर्म से है जो सुख दुःख रूपी (द्वन्द्व) फल देने वाले होते हैं। आत्मा शुद्ध है, निर्मल है। परन्तु इन्हीं क्लेश और कर्मों का आवरण, उसके जगत् में कर्म के साधन-रूप अन्तःकरणों पर पड़ जाता है। तब आत्मा विवश सा हो जाता है। परन्तु जब इस धर्ममेध समाधि की सिद्धि हो जाती है तब वह आवरण उठ जाता है और चित्त भी मलिनता-रहित हो जाता है। अब शुद्ध आत्मा, रास्ते की बाधा हट जाने से, अपने अन्तिम ध्येय की ओर चल पड़ता है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेय-मल्पम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—तब सब आवरण और मल से पृथक् हुये ज्ञान के अनन्त होने से ज्ञेय अल्प (थोड़ा) रह जाता है।

व्याख्या—इस दर्जे पर पहुँचे हुये योगी का ज्ञान निर्मल और अनन्त (अन्य अयोगियों की अपेक्षा बहु मात्रा वाला) होता है। रजोगुण और तमोगुण का आवरण (परदा) अब उस ज्ञान से हट चुका है और क्लेश तथा वासना का मल भी दूर हो चुका है। अब योगी इस स्थिति में है कि उसके लिये जानने की बातें बहुत थोड़ी बाक़ी रह गई हैं। अधिकतर बातों को वह अपने विस्तृत ज्ञान से जान लिया करता है। जानने योग्य जो रह गया है उसका सम्बन्ध जगत् से नहीं किन्तु सर्वज्ञ और

असीम शक्तिवाले ईश्वर की ही कुछ बातें हैं जिन्हें वह नहीं जान सका है। जगत् के सम्बन्ध में ऐसी कोई मुख्य बात नहीं जिसे वह न जान सकता हो।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

अर्थ—तब कृतार्थ गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या—जब योगी का ज्ञान विस्तृत हो जाता और ज्ञेय अल्प रह जाता है तब उस (योगी) से सम्बन्धित प्रकृति के गुण, सत्व, रज और तम भी, कृतार्थ हो जाते हैं अर्थात् इनमें विषमता नहीं रहतीं और विषमता न होने से प्रतियोगिता भी जाती रहती है अर्थात् रज और तम में से कोई भी उस व्यक्ति पर आधिपत्य जमाने का यत्न नहीं करते। ऐसी अवस्था प्राप्त गुणों में अदल बदल भी नहीं होता अर्थात् ये गुण अब किसी प्रकार से भी योगी के काम में बाधा नहीं डाल सकते।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

अर्थ—क्षण का प्रतियोगी (विरोधी) परिणाम के अपरान्त से ग्रहण करने के योग्य "क्रम" (कहलाता है)।

व्याख्या—ऊपर सूत्रों में जिस 'क्रम' की बात कही गई है उस (क्रम) की परिभाषा में बतलाया गया है कि क्रम वह है जो क्षण में वस्तुओं के स्वरूप को बदलता रहता है और जो अपरान्त अर्थात् सब से अन्त में होने वाले परिणाम से

ग्रहण किया जाता है। क्रम सिलसिले को कहते हैं। किसी सिलसिले का प्रारम्भ एक विशेष क्षण से होता है और उसकी समाप्ति एक दूसरे क्षण में होती है। पहले क्षण को, जहाँ से क्रम शुरू होता है **पूर्वान्त** और अन्तिम क्षण को जहाँ वह क्रम समाप्त होता है **उत्तरान्त** या **अपरान्त** कहते हैं। क्रम की समाप्ति पर ही उस क्रम की सत्ता निर्भर समझी जाती है। इसलिये सूत्र में कहा गया है कि क्रम सबसे अन्त में होने वाले परिणाम से ग्रहण किया जाता है और क्रम का काम यह है कि वह पदार्थों के स्वरूप को क्षण-क्षण में बदलता रहता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

अर्थ—पुरुषार्थ शून्य गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना शक्ति का अपने स्वरूप में स्थिति हो जाना कैवल्य है।

व्याख्या—जब योगी सत, रज, और तम प्रकृति के गुणों से काम लेना छोड़ देता है तब उनके रहने का कोई प्रयोजन बाकी नहीं रहता। इसलिये वे अपने कारण (प्रकृति) में लौट जाते हैं और तब चिति शक्ति (जीवात्मा) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। अर्थात् आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होकर अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हो जाती है, इसी अवस्था का

नाम कैवल्य (मोक्ष) है। कैवल्य अवस्था को इसलिये कहते हैं कि आत्मा इसमें तनहा र: . है। प्रकृति के समस्त गुण अपने कारण में चले जाते हैं।

इति चतुर्थः कैवल्यपादः।

चौथा कैवल्य पाद समाप्त हुआ।

योग चिन्तन
जप
एवं
ध्यान

(सरल भाषा में आवश्यक जानकारी
और
अनुभवी व प्रभावित
जप एवं ध्यान विधि)

मदन लाल अनेजा

प्रकाशक :

मानव संस्कार फाऊन्डेशन

मो० 09873029000, 011-22423715

प्रकाशक :

मानव संस्कार फाऊन्डेशन

4 ए (तीसरी मंजिल) नया गोविन्द पुरा,
राम मन्दिर गली, दिल्ली-110051.

मो० 09873029000, 011-22423715

ISBN : 978-93-5104-240-2

प्रथम संस्करण : **2013**

मूल्य : **₹ 80.00**

मुद्रक :
वैदिक प्रेस,
कैलाशनगर, दिल्ली-**31**
दूरभाष : **011-22081646**

Justice K. G. Balakrishnan
Chairperson
(Former Chief Justice of India)

National Human Rights Commission
Faridkot House, Copernicus Marg,
New Delhi-110 001 India
Phone : 91-011-23382514
Fax : 91-11-23384863, 23386521
E-mail : chairnhrc@nic.in

दो शब्द

महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योग दर्शन निसंदेह समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए न केवल हितकारी है अपितु उपयोगी भी। योग दर्शन में बताये गये प्रथम दो अंग–यम (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) और नियम (शुद्धि, स्वाध्याय, सन्तोष, तप एवं ईश्वर प्रणिधान) का यदि सही ढंग से पालन जीवन में किया जाय तो न केवल मानव अधिकारों के संरक्षण में पर्याप्त सफलता मिलेगी अपितु समाज, राष्ट्र व विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती है ।

प्रस्तुत पुस्तक–योग चिन्तन–''जप एवं ध्यान'' में श्री मदन लाल अनेजा ने अष्टांग योग की सरल हिन्दी भाषा में व्याख्या करते हुए जप एवं ध्यान संबंधी सभी विषयों पर बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है। प्रतिदिन ध्यान में बैठने की विधि बताते हुए लेखक ने प्राणायाम व संकल्प प्रक्रिया 2 और 5 के अंतर्गत साधक के हृदय में सभी प्राणियों के मानवाधिकार के संरक्षण और उनका उल्लंघन न करने का संकल्प दिलाकर मानव अधिकारों के प्रति एक नई मुहिम की शुरूआत की है।

लेखक ने ईश्वर–स्तुति–प्रार्थना–उपासना–ध्यान हेतु व्यक्तिगत आचरण, श्वसन क्रिया, प्राणायाम व संकल्प के पालन करने पर विशेष ध्यान दिया है । इनका अभ्यास करने से प्रत्येक साधक को ध्यान में सफलता मिलने के साथ–साथ समाज में भी उसका आचरण प्रशंसनीय होगा। फलस्वरूप, मानव अधिकारों के संरक्षण में वृद्धि होगी ।

आशा है जप व ध्यान की भ्रान्तियों के दूर करने के साथ–साथ मानव अधिकारों के संरक्षण में भी यह ग्रन्थ पाठकों के बीच काफी लोकप्रिय हो सकेगा ।

(न्यायमूर्ति के. जी. बालाकृष्णन)

प्रशंसनम्

श्री मदनलाल अनेजा द्वारा लिखित **"योग चिन्तन–जप एवं ध्यान"** नामक पुस्तक को पढ़ने और समझने का अवसर प्राप्त हुआ । आज का मानव भौतिकवाद और असन्तोष के कारण सदा परेशान रहता है । मन सदा–सर्वदा चंचल रहता है । एक–दूसरे को देखकर ईर्ष्या–द्वेष करता है । ध्यान का लक्षण है–"ध्यानं निर्विषयं मनः" अर्थात् सभी विषयों से मन को हटाने के बाद ही ध्यान में मन लगता है । ध्यान किसका किया जाय । जिसका ध्यान करने से मन शान्त और परमसन्तोष का अनुभव करे । इस आपाधापी की दुनियां में ध्यान ही एक मात्र सहारा है । परमपिता परमात्मा का ध्यान करने से परमानन्द की प्राप्ति होती है । ध्यान करने से सभी प्रकार की बुराईयां समाप्त होती हैं । जीवन निर्मल और पवित्र बन जाता है ।

ध्यान के समय "ओ३म्" का जाप करना चाहिए । प्राणायाम मन्त्र का पाठ करना चाहिए । बहुत पुरानी कहावत है–"मन चंगा तो कठौती में गंगा" । जैसे हम आसन, प्राणायाम और व्यायाम से शरीर को चंगा करते हैं । ठीक वैसे ही ध्यान से हम अपने मन को चंगा करते हैं । संस्कृत की उक्ति है–"मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षमोः" मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है । चित्त को बाह्य विषयों से हटाकर परमसत्ता के साथ जोड़ कर चिन्तन–मनन करना ही ध्यान कहाता है ।

मैं इस बहुमूल्य ग्रन्थ के लेखन के लिए मान्य विद्वान् श्री मदन लाल अनेजा जी को साधुवाद देता हूँ ।

डा० मनुदेव बन्धु
16–8–2012 प्रोफेसर, वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

विषय सूचि

भूमिका

आज के सामाजिक व धार्मिक वातावरण पर यदि हम एक दृष्टि डालें तो विदित होता है कि शहरों व गांवों में काफी संख्या में लोग अव भी जप, सन्ध्या ध्यान में रुचि लेते हैं, समय लगाते हैं । लेकिन इसमें या तो उनको पूर्ण सफलता मिलती नहीं या फिर केवल नाम मात्र के लिए ही उनका संबंध ईश्वर से जुड़ पाता है । उपासना काल में 5-7 मिनट भी मन केन्द्रित नहीं हो पाता । विभिन्न प्रकार के विचार - एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा-मन में उठते रहते हैं । मन को संयम में रखने के लिए, इसकी वृत्तियों को रोकने के लिए अलग-अलग गुरुजन अपने अपने तरीके से भिन्न-भिन्न उपाय बताते रहते हैं ।

योग के व्यवसायीकरण के कारण समाज में विभिन्न भ्रान्तियां व अज्ञान फैला हुआ है । लेकिन सत्य यही है कि कोई भी विधि या उपाय जो वेद सम्मत् नहीं है, हमें ध्यान साधना में पूर्ण सफलता नहीं दे सकता। यही कारण है कि आजकल अधिकतर साधक, जो वैदिक विधि से ध्यान नहीं करते, अन्त में निराश होकर या तो ध्यान-सन्ध्या का अभ्यास छोड़ देते हैं या फिर 10-15 मिनट किसी भी आसन में बैठकर खानापूर्ति कर लेते हैं ।

ध्यान क्या है । ध्यान का उद्देश्य क्या है। किसका ध्यान करना चाहिए। ध्यान कैसे करना चाहिए । वेदानुकूल पद्धति क्या है । ध्यान करने की आयु क्या है । शरीर के भीतर धारणा करें या बाहर । यदि शरीर के भीतर करें तो किस अंग को केन्द्र मानें । ध्यान में मन कैसे लगायें। मन ध्यान में क्यों नहीं लगता । मन को एकाग्र करने का उपाय क्या है। ध्यान के क्या लाभ हैं । इससे हमारे शरीर व स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है । यह सभी विषय वेदों और भिन्न-भिन्न आर्ष ग्रन्थों में मिल जाते हैं ।

प्रस्तुत पुस्तक में उपरोक्त सभी जानकारी सरल हिन्दी भाषा में, संक्षिप्त में एक ही स्थान पर वर्णन करने का प्रयास किया गया है जिससे साधकों को आसानी से ठीक व शुद्ध ज्ञान प्राप्त होने के साथ-2, ध्यान साध ना में पूर्ण सफलता मिल सके ।

इसके अतिरिक्त ओ३म् व गायत्री मन्त्र की जप विधि एवं ध्यान विधि / प्रक्रिया लेखक अपने व्यक्तिगत अभ्यास और अनुभूति के आधार पर साधकों के लिए प्रस्तुत कर रहा है ताकि सभी भक्त इसका लाभ उठा सकें ।

इस पुस्तक को लिखने में मुझे जिन विद्वानों व आचार्यों की पुस्तकों से विचारों का आधार मिला, मैं उन सभी का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ ।

—मदन लाल अनेजा
4 ए नया गोविन्द पुरा, दिल्ली-51
मो० 09873029000

भाग – 1

योग चिन्तन

प्रभु भक्तों, ईश्वर की कृपा से अपने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप हमें यह मानव शरीर मिला है । इसलिए हमारा यह कर्तव्य बनता है कि हम इस जीवन के मूल्य को जानें, इसका लक्ष्य पहचानें और भोगवाद एवं योगवाद में समन्वय करते हुए ध्यान व ईश्वर भक्ति को अपने जीवन का एक आवश्यक अंग बनायें ।

ध्यान एक आध्यात्मिक व मानसिक अभ्यास है । एक औषधि है। परमपिता परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव का निरन्तर चिन्तन मनन करना ही ध्यान कहलाता है । ध्यान में आत्मा को परमात्मा के पास बिठाना होता है । जैसे-2 आत्मा परमात्मा के निकट होती जाती है, उस को परमात्मा के गुण कर्म और स्वभाव की अनुभूति होती चली जाती है । आत्मा उन गुणों और स्वभाव को अपने आचरण में लाना शुरू कर देता है । वैसे वैसे आत्मा पर परमेश्वर के आनन्द की कृपा होती जाती है और वह ईश्वर के साक्षात्कार का अधिकारी बनती जाती है ।

ध्यान ही एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें जीव ईश्वर से नित्य प्रतिदिन वार्तालाप करता है । अपने सूक्ष्म शरीर रूपी पुस्तक का प्रातः सांय निरीक्षण करता है ताकि इस पर कोई कुसंस्कार या अशुभ कर्म अंकित न हो पाये व दिनचर्या ठीक रहे ।

ईश्वर निराकार है । यह अनुभूति का विषय है । वह हमारे हृदय में रहता है । इसकी अनुभूति शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म, और शुद्ध उपासना व ध्यान से ही हो सकती है ।

ध्यान के अभ्यास से हमारा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य भी ठीक रहता है । यह मन की उलझन, भटकाव और असमंजस को दूर करने के साथ-2 हमें शान्ति व आनन्द की अनुभूति करवाता है । हमारे जीवन को निर्मल व सरल बनाता है । हमारे नकारात्मक विचारों व विकारों को दूर करने में हमारी सहायता करता है । हमारे अन्दर सुविचार

पैदा करता है । एकाग्रता से कार्य करने की शक्ति पैदा करता है । सत्य बोध का विकास करता है । हमारी गुप्त शक्तियों को जगाता है । हमारी स्मृति और बुद्धि को बढ़ाता है ।

इसके अतिरिक्त ध्यान के अभ्यास से ही हमारी मन और इन्द्रियां संयम में रहती हैं । मनुष्य आत्म दर्शन और ईश्वर साक्षात्कार का अधिकारी बन जाता है जो कि मनुष्य जन्म का मुख्य लक्ष्य है ।

वेद, उपनिषद और आर्ष ग्रन्थों के अनुसार हमें सर्वान्तर्यामी ईश्वर का ही ध्यान करना चाहिए । धारणा व ईश्वर ध्यान शरीर के भीतर ही मन को हृदय प्रदेश, आज्ञा चक्र या ब्रह्मरन्ध्र पर केन्द्रित करके करना चाहिए । धारणा का केन्द्र बिन्दु बार-2 बदलना नहीं चाहिए । ईश्वर का ध्यान व उपासना करने से हमें सच्चा ज्ञान, बल, शान्ति, उत्साह, प्रेम, धैर्य, सहनशीलता, ओज, तेज और आनन्द आदि गुणों की प्राप्ति होती है । हमारे बुरे संस्कार धीरे-2 नष्ट होना प्रारम्भ कर देते हैं । इसके विपरीत ध्यान न करने से हमारे कुसंस्कार नहीं मिटते । हम शारीरिक व मानसिक रोगों से या तो ग्रस्त रहते हैं या होने पर अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं । सही रूप से धर्म का पालन नहीं कर पाते । जीवन के मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता नहीं मिलती ।

ध्यान में ईश्वर सम्बन्धी विचार मन में बने रहते हैं । ईश्वर साकार नहीं है अतः ईश्वर को साकार रूप मानकर ध्यान करना अज्ञानता है । यह धारणा बिल्कुल गलत है कि साकार का ध्यान करना सरल है व निराकार का कठिन । ईश्वर के प्रति निष्ठा, श्रद्धा, रुचि, विश्वास नहीं है तो ध्यान में मन नहीं लगता है और न ही ध्यान से लाभ होता है ।

ध्यान का अभ्यास बचपन से ही शुरू कर देना चाहिए । इससे युवा अवस्था में अधिक लाभ होता है । इससे स्वास्थ्य ठीक रहता है । आयु बढ़ती है । जीवन में सुख शान्ति आती है । वृद्धावस्था में ध्यान का अभ्यास शुरू करने वाला व्यक्ति रोग व कमजोरी होने के कारण आसन सिद्ध नहीं कर पाता । फलस्वरूप पूर्ण सफलता नहीं मिलती ।

आप सौभाग्यशाली हैं कि आपकी रुचि ध्यान में है । आशा है कि अब आपको और भटकना नहीं पड़ेगा । आइये, योगाभ्यास सीखने का

प्रयत्न करें । ईश्वर कृपा आप पर अवश्य होगी ।

अब हम उन विषयों का संक्षिप्त में चिन्तन मनन करेंगे जिनका शुद्ध ज्ञान होने से हमें ध्यान में सफलता मिलती है । इसके अतिरिक्त व्यवहार काल में हमारा आचरण उत्तम होता जाता है । यह विषय हैं ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति, सृष्टि, शरीर, कर्म, सुख-दुःख, जन्म, मृत्यु व जीवन का लक्ष्य संबंधी ज्ञान । इसके विपरीत, यदि इन विषयों का शुद्ध ज्ञान हमें (वेदानुसार) नहीं है या हम उस पर विश्वास नहीं करते तो हमें ईश्वर भक्ति, ध्यान और ईश्वर साक्षात्कार में सफलता नहीं मिल सकती और हम अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते।

जीवन का लक्ष्य

धन, सम्पत्ति, शक्ति, विद्या आदि सबका अन्त में नाश होता है । इनसे मनुष्य को वास्तव में सन्तोष नहीं होता, तृप्ति नहीं होती । ये केवल हमारे जीने के साधन है उद्देश्य नहीं । इनसे आत्मा की तृप्ति नहीं होती। फलस्वरूप वह अपने लक्ष्य ईश्वरीय आनन्द को प्राप्त नहीं कर पाती । अतः समस्त दुःखों से छूटना, पूर्ण आनन्द को प्राप्त करना और ईश्वर की अनुभूति महसूस करना और दूसरों को भी करवाना, मनुष्य का परम लक्ष्य है । इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर हमें भोगवाद एवं योगवाद के बीच समन्वय बनाने की आवश्यकता है । यदि हम हमेशा भोगवाद अर्थात् धन कमाना, खर्च करना व भौतिक वस्तुओं के संग्रह करने पर ही अपना सारा समय और शक्ति लगायेंगे तो ईश्वर की अनुभूति या साक्षात्कार इस जन्म में संभव नहीं है। इसलिए हम अपने जीवन में व्यर्थ की बातों, अत्यधिक भोगों, व अनुचित इच्छाओं पर समय न लगायें । हमें धर्मानुसार पैसा कमाने के साथ-साथ समाज सेवा और ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना उपासना के लिए भी उचित समय निकालना चाहिए ताकि हम ईश्वर भक्ति के अधिकारी वन सकें ।

ध्यान में सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हम अपने व्यवहार काल में योगवाद व सत्य आचरण को कितना महत्व देते हैं । जैसे-जैसे योगवाद और सत्याचरण को अधिक महत्व व समय दिया जायेगा, फलस्वरूप उतनी ही गति से हमें ध्यान में सफलता मिलती चली जायेगी।

विभिन्न विषयों का शुद्ध ज्ञान

(ख) ईश्वर सम्बन्धित शुद्ध ज्ञान विज्ञानः-

ईश्वर एक सत्तात्मक पदार्थ है । यह एक वस्तु है । वैदिक दर्शनों में वस्तु उसको कहते हैं जिसमें कुछ गुण, कर्म, स्वभाव होते हैं । ईश्वर सब जगह विद्यमान है । यह चेतन है, निराकार है, अखण्ड है । इसका कोई रंग, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, भार, आकार नहीं है ।

ईश्वर का मुख्य व निज नाम ओ३म् है । ईश्वर के मुख्य पांच कार्य हैं (1) सृष्टि की उत्पत्ति करना अर्थात् सृष्टि को बनाना । (2) पालन करना । (3) संहार करना (4) जीवों को उनके कर्मानुसार फल देना (5) वेदों का ज्ञान देना।

महर्षि दयानन्द ईश्वर को अनादि व सर्वशक्तिमान मानते हैं । उनके अनुसार ईश्वर सब कुछ कर सकता है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह जो चाहे करे । वरन् इसका अर्थ है कि वह सृष्टि उत्पत्ति, पालन और प्रलय तथा सब जीवों के पाप-पुण्यों की यथायोग्य व्यवस्था करने में कभी भी किसी की सहायता नहीं लेता । वह असम्भव बातों को नहीं करता । वह न्याय हेतु अपनी शक्ति का प्रयोग करता है । वह स्वभाविक नियमों के विपरीत नहीं चलता है ।

उपनिषदों में ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि तथा नित्य तत्व माना है । इनका जन्म कभी नहीं होता । यह सृष्टि / जगत् के कारण हैं। इनका कोई कारण नहीं है । किसी को किसी ने नहीं बनाया है । जीव प्रकृति का भोग करता है और फंस जाता है । परमात्मा न भोग करता है और न फंसता है । महर्षि दयानन्द ने वेदों व अन्य वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद ईश्वर के 100 गुण, कर्म, स्वभाव का वर्णन "सत्यार्थ प्रकाश" में किया है । इनमें से उन्होंने ईश्वर के 20 नाम (गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार) आर्यसमाज के दूसरे नियम में सम्मलित किये हैं जो अर्थसहित इस प्रकार हैं:-

(1) **सच्चिदानन्दस्वरूप :** ईश्वर सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है।

(2) **निराकार :** ईश्वर की कोई आकृति, मूर्ति या रंग रूप नहीं है ।
(3) **सर्वशक्तिमान् :** सृष्टि के रचने, पालने व प्रलय करने में ईश्वर किसी की सहायता नहीं लेता है ।
(4) **न्यायकारी :** ईश्वर जीव को उसके कर्मोनुसार फल देता है ।
(5) **दयालु :** ईश्वर मनुष्य को सभी प्रकार के सुख साधन प्रदान करता है जैसे–सूर्य का प्रकाश, जल, वायु, अग्नि आदि ।
(6) **अजन्मा :** ईश्वर जीव की तरह शरीर से संयोगरूपी जन्म नहीं लेता है ।
(7) **अनन्त :** ईश्वर की विशालता की कोई सीमा नहीं है ।
(8) **निर्विकार :** ईश्वर सभी प्रकार के विकारों से रहित है । ईश्वर में जड़ पदार्थों के विकार जैसे सड़ना, गलना आदि नहीं पाये जाते। ईश्वर चेतन जीव के दोषों - काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार द्वेष आदि से भी परे है ।
(9) **अनादि :** ईश्वर की उत्पत्ति नहीं हुई ।
(10) **अनुपम :** ईश्वर से अच्छा कोई भी अन्य पदार्थ या वस्तु सृष्टि में नहीं है ।
(11) **सर्वाधार :** ईश्वर ही सबका आधार है । पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश–गंगा - सभी का निर्माणकर्ता व आधार ईश्वर है ।
(12) **सर्वेश्वर :** ईश्वर ऐश्वर्य से युक्त है । सृष्टि में जो भी धन, सम्पत्ति, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, ग्रह, उपग्रह आदि हैं । इन सबका मालिक ईश्वर ही है ।
(13) **सर्वव्यापक :** ईश्वर सभी स्थान और तीनों लोकों में विद्यमान है।
(14) **सर्वान्तर्यामी :** ईश्वर सभी जड़ व चेतन पदार्थों के अन्दर–बाहर विद्यमान है ।
(15) **अमर :** ईश्वर प्राणी के शरीर की तरह समाप्त नहीं होता । अर्थात् मृत्यु से परे है ।
(16) **अजर :** ईश्वर हमारे शरीर की तरह कभी भी रोग ग्रस्त व बूढ़ा नहीं होता ।
(17) **अभय :** ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक होने के कारण

भय से रहित है ।
(18) **नित्य :** ईश्वर भूतकाल, वर्तमान काल व भविष्यकाल सभी कालों में सदा रहता है ।
(19) **पवित्र :** ईश्वर पाप–कर्म व अविद्या से परे है ।
(20) **सृष्टिकर्ता :** ईश्वर सृष्टि का जन्मदाता, पालनकर्ता व प्रलयकर्ता हैं ।

ईश्वर प्राप्ति या साक्षात्कार के उपाय हैं सत्संग, आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय व उनमें लिखी बातों को आचरण में उतारना, ईश्वर भक्ति, ध्यान व प्रभु की कृपा । प्रभु कृपा पाने के लिए मनुष्य को दुश्चरित को तयागना चाहिए, चित्त को एकाग्र करना चाहिए, तृष्णाओं और इच्छाओं को संयम में रखना चाहिए, आत्मिक ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए ।

(ख) प्रकृति व सृष्टि सम्बन्धित शुद्ध ज्ञान–विज्ञानः–

(1) **प्रकृति :** प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं – सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण से बनी है । यह परमाणु जड़ पदार्थ हैं । इनमें ज्ञान व चेतन शक्ति नहीं है । यह परमाणु अनादि व अनन्त हैं । यह न उत्पन्न होते हैं न नष्ट होते हैं । जगत की रचना करने के लिए कारण के रूप में प्रकृति की आवश्यकता होती है । जैसे घड़ा बनाने के लिए मिट्टी की आवश्यकता ।

यह सारी प्रकृति वास्तविक है । माया या स्वप्न नहीं है । इस प्रकृति को कभी किसी ने नहीं बनाया है । इसके पदार्थों से भोग प्राप्त करने का हर जीवात्मा को अधिकार है । यह भोग सब जीवों को यथायोग्य व्यवहार पूर्वक प्राप्त होता रहता है ।

ईश्वर अपनी शक्ति द्वारा प्रकृति से संसार रचता है । प्रकृति भोग्य है । यह आत्मा के लिए विभिन्न रूप धारण करती है । ईश्वर ने प्रकृति को कुछ नियमों के अन्दर रखा हुआ है । प्रकृति उनका उल्लंघन कभी नहीं करती । सृष्टि में हमें जो कुछ दीखता है यह प्रकृति और आत्मा के संयोग का ही फल है ।

(2) **सृष्टि (संसार):**–ईश्वर ही सृष्टि की रचना करता है । वह

सूक्ष्म परमाणुओं को लेकर अपनी शक्ति व ज्ञान द्वारा जीव के लिए संसार बनाता है ।

प्रत्येक सृष्टि का आरम्भ भी है और अन्त भी । अन्त होने के बाद सृष्टि फिर बनती है यह क्रम बराबर चलता रहता है । प्रत्येक सृष्टि में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि के समान पिण्ड बनते हैं ।

सृष्टि में तीन तत्व काम कर रहे हैं । पहला परमात्मा, दूसरा जीवात्मा तथा तीसरा प्रकृति । ईश्वर ने सृष्टि की रचना इस उद्देश्य से की है ताकि जीवात्मा दुःख और वासनाओं से मुक्त होकर आनन्दमयी परमात्मा का साक्षात्कार कर सके । यह रचना जीवात्मा के हित के लिए की गई है । उसको दुःखी करने के लिए नहीं । पूर्व कर्मानुसार जीव को शरीर, आयु व भोग मिलते हैं । ये सुख और दुःख दोनों प्रदान करते हैं। संसार या सृष्टि के अभाव में यह सुख-दुःख भोगना असंभव है ।

एक सृष्टि की आयु 4 अरब 32 करोड़ वर्ष होती है । यह आयु सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलयुग से मापी जाती है विक्रम संवत् 2064 (ई० स० 2000) में वर्तमान कलयुग के 5107 वर्ष बीत चुके हैं।

(ग) जीवात्मा सम्बन्धित शुद्ध ज्ञानः–

जीवात्मा :–जीवात्मा को आत्मा व जीव नाम से भी पुकारा जाता है । यह सत व चेतन है । शरीर व ईश्वर से भिन्न है । यह अनादि और अनन्त है । इसे ईश्वर ने नहीं बनाया । जब से ईश्वर है तभी से यह है इसके कार्य न तो ईश्वर की मर्जी से होते हैं न ईश्वर की योजना और सर्वज्ञता के अनुसार होते हैं । अपने कर्मों के अनुसार यह मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटाणु, आदि का शरीर धारण करती है । यह मानव शरीर में संसार के भोग भोगने और दुःखों की निवृत्ति करके मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । यह ईश्वर का अंश नहीं है । यदि ऐसा होता तो यह अज्ञानी न होता ।

आत्मा सूक्ष्म, नित्य, अजर, अमर, सत्य, एकदेशी, अल्पज्ञ, व कर्म करने में स्वतन्त्र है । किन्तु फल भोगने में ईश्वराधीन है । इसमें रंग, रूप, भार, गंध नहीं है । इसका कोई लिंग नहीं होता । यह स्थान नहीं घेरती।

एक सूई की नौंक पर विश्व की सभी जीवात्माएं आ सकती हैं। जीवात्मा शरीर में मुख्य रूप से हृदय प्रदेश में रहता है । किन्तु गौण रूप से यह नेत्र, कण्ठ आदि स्थानों में भी निवास करता है ।

हमारी दृष्टि में आत्मायें अनन्त हैं परन्तु ईश्वर के ज्ञान स्वरूप में आत्मायें सीमित हैं । सभी आत्माओं का स्वरूप एक सा है । हमें दिखने वाला भेद शरीर, बुद्धि, ज्ञान, बल, कर्म आदि के कारण प्रतीत होता है।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, दुःख-सुख की अनुभूति करना जीवात्मा के लक्षण हैं । आत्मा के कर्म करने के दो साधन हैं ।

(1) **आन्तरिक साधन–**मन, बुद्धि और अहंकार ।

(2) **बाहरी साधन–**हाथ, पैर, नाक, कान एवं मुंह ।

शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श – इन पांचों विषयों को जानने के लिए पांच ज्ञानेन्द्रियां आत्मा की सहायता करती हैं - कान-शब्द सुनने के लिए, जीभ-रस चखने के लिए, नेत्र-रूप देखने के लिए, नासिका-गन्ध सुंघने के लिए और त्वचा छूने के लिए । इन ज्ञानेन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर खुलते हैं । इसी प्रकार पांच कर्मेन्द्रियां-वाणी, हाथ, पांव, गुदा और उपस्थ (मुतेन्द्रिय) जीवन को चलाने में जीवात्मा की मदद करती हैं । यह सब ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां बाहरी विषयों को ही ग्रहण करती हैं । इसके अतिरिक्त मन इन्द्रिय द्वारा शरीर के अन्दर संकल्प, वासना, सुख-दुःख का संसार रचा जाता है । जब यह इन्द्रियां संयम में नहीं रहती तो जीवात्मा को अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफलता नहीं मिलती ।

जीवात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव को जानने से हमें शरीर, इन्द्रियां और मन पर अधिकार प्राप्त हो जाता है । हम बुरे कार्यों को करने से बचते हैं।

(घ) शरीर सम्बन्धित शुद्ध ज्ञान-विज्ञान

मानव शरीर पंच महाभूत से निर्माण होता है - जल, वायु, आकाश, अग्नि व पृथ्वी । यह तीन प्रकार का है

(1) स्थूल शरीरः–

मानव शरीर हाड़ मांस व हड्डियों का बना दिखाई देता है । यह

मृत्यु होने के बाद छूट जाता है । इसके द्वारा जीवात्मा कर्म फल का भोग करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । शरीर उत्पन्न होता है, बढ़ता है, सर्दी और गर्मी महसूस करता है, बृद्ध होता है और अन्त में समाप्त हो जाता है ।

हमारे जीवन का मुख्य लक्ष्य है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करना । धर्म – बुद्धि के लिए, अर्थ3– शरीर के लिए, काम – मन के लिए, और मोक्ष आत्मा के लिए । यह कार्य शरीर के द्वारा ही हो सकता है । इसीलिए हमें अपने शरीर को स्वस्थ रखना चाहिए । इसकी रक्षा करनी चाहिए । इसको शक्तिशाली बनाना चाहिए । इसको स्वस्थ रखने के चार उपाय है ।

(क) **सात्विक आहार**–ऐसा भोजन जिससे शरीर के अन्दर सात्विक शक्ति पैदा हो । सात्विक भोजन से हमारा मन, विचार व आचरण अच्छा बनता है । हम निरोग रहते हैं ।

(ख) **निद्रा**–सोने की वह स्थिति जिसमें कोई चिन्ता न हो । अच्छी, गहरी व सुखद नींद से हम शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ रहते हैं ।

(ग) **ब्रह्मचर्य**–खाये हुए भोजन से बने तत्व को संभाल कर रखना ब्रह्मचर्य कहलाता है । भोजन से रस बनता है रस से रक्त, रक्त से चर्वी, चर्वी से हड्डियां, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य और वीर्य से ओज बनता है । इस ओज से मानव का मुखमण्डल चमकता है । बुद्धि तीव्र व प्रज्ञा हो जाती है । यह ओज ही आत्मा का भोजन है । अत: लम्बी आयु व उपासना में सफलता के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। गृहस्थ में भी ब्रह्मचर्य पालन के कुछ नियम है उनका अनुकरण करना चाहिए।

(घ) **नियमित व्यायाम**–भोजन को पचाने और शरीर को स्वस्थ रखने के लिए नियमित व्यायाम, आसन व श्वसन क्रियायें अति लाभदायक हैं । इनसे शरीर हल्का होता है, कार्यक्षमता बढ़ती है, सभी अंग स्वस्थ रहते हैं । बुढ़ापा जल्दी नहीं आता है, आलस्य दूर रहता है, शरीर के विभिन्न दोष दूर होते हैं, मन निर्मल व प्रसन्न रहता है ।

आसन व व्यायाम करते समय मन में भावना करें कि मेरा अमुक अंग (जिसके लिए व्यायाम या आसन कर रहे हैं) प्रभु की कृपा से स्वस्थ है या हो रहा है । भावना युक्त क्रिया करने से लाभ अधिक व शीघ्र होता है ।

कुछ सूक्ष्म / प्रारम्भिक व्यायाम हैं–

(1) आंखों का व्यायाम (2) गर्दन का व्यायाम (3) मुख, जिह्वा व गले का व्यायाम (4) हाथ की अंगुलियों के व्यायाम (5) कलाई का व्यायाम (6) कन्धों का व्यायाम (7) कमर का व्यायाम (8) घुटनों का व्यायाम (9) पैर का व्यायाम।

कुछ लाभदायक श्वसन क्रियायें भी अवश्य करनी चाहिए । इनसे प्राण वायु शरीर की प्रत्येक कोशिका तक आसानी से पहुँच जाती है और अशुद्ध वायु बाहर निकल जाती है । दो महत्वपूर्ण श्वसन क्रियायें हैं

(1) दीर्घ श्वसन (slow, long and deep breathing) (2) मध्य श्वसन (slow, long and not very deep breathing) ।

इसके अतिरिक्त अनुलोम विलोम व नाड़ी शोधन प्राणायाम भी श्वसन क्रियायों में सम्मिलित हैं । ये क्रियायें किसी भी योग शिक्षक से सीखी जा सकती हैं ।

अपने स्वास्थ्य व आयु के अनुसार हमें कुछ आसनों का निर्धारण करके उन्हें प्रतिदिन नियम से करने चाहिए । आसनों का निर्धारण करते समय प्रयत्न करें कि एक सप्ताह में शरीर के सभी अंगों का व्यायाम हो जाये ।

इस शरीर को अन्नमय कोश भी कहते हैं क्योंकि यह अन्न के आश्रय पर जीवित रहता है । कोश का अर्थ है भण्डार । अन्नमय कोश के अन्दर प्राणमय कोश है । उसके भीतर मनोमय कोश है । फिर विज्ञानमय कोश है और अन्त में आनन्दमय कोश है ।

(1) **अन्नमय कोश :** यह स्थूल शरीर है । यह पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश – पांच भूतों से आत्मा के कर्मो के अनुसार बनता है। यह उत्पन्न होता है, बढ़ता है, घटता है, रोगी होता है, अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है । आत्मा संसारिक सुख दु:ख इसी के द्वारा भोगता है।

अन्नमय कोश सभी कोशों का आधार है ।

(2) **प्राणमय कोश :** इसके अन्तर्गत पांच **प्राण और पांच कर्मेन्द्रियां आती हैं । यह क्रिया शक्ति का कोश है ।**

(क) **पांच प्राण**-1. प्राण वायु, 2. अपान वायु, 3. समान वायु, 4. उदान वायु और 5. व्यान वायु

(ख) **पांच कर्मेन्द्रियां**-1. हाथ, 2. पैर, 3. जिह्वा, 4. उपस्थ, 5. गुदा ।

(3) **मनोमय कोश :** इसके अन्तर्गत मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां आती हैं जिनके नाम है घ्राण (गन्ध अनुभव करना) रसना (स्वाद लेना) चक्षु (देखना) श्रोत्र (सुनना) और त्वक (स्पर्श करना)। **यह कोश इच्छा शक्ति का केन्द्र है ।**

(4) **विज्ञानमय कोश :** यह बुद्धि और पांच ज्ञानेन्द्रियों के मिलने से बनता है । **यह ज्ञान-शक्ति का भण्डार है ।** इसमें आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का सच्चा ज्ञान रहता है ।

(5) **आनन्दमय कोश : यह परमात्मा का निवास स्थान है ।** जब क्रिया शक्ति, इच्छा शक्ति और ज्ञान शक्ति शान्त हो जाती हैं तब आनन्दमय कोश की अनुभूति होती है । यहाँ पर ईश्वर का साक्षात्कार होता है ।

(2) सूक्ष्म शरीर :

यह स्थूल शरीर के अन्दर विद्यमान है । सूक्ष्म शरीर में 18 तत्व हैं-पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं, मन, बुद्धि व अहंकार। स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता । जब तक जीवात्मा की मुक्ति न हो जाये, यह जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर चलता रहता है ।

सूक्ष्म शरीर में हमारा प्रत्येक कर्म - अच्छा या बुरा - लिखा जाता है इस जन्म में और पूर्व जन्मों में आत्मा जो भी कर्म करता है वह सब सूक्ष्म शरीर में लिखा रहता है । इसी शरीर के सहारे आत्मा अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-2 योनियों को प्राप्त करता रहता है ।

यह अत्यन्त सूक्ष्म है । यह छोटे बड़े सभी प्राणियों के स्थूल शरीर में रहता है । मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर अन्दर की सारी सुक्ष्म शक्तियों और इन्द्रियों के भोगों के रिकार्ड को एकत्र करके अपने साथ ले जाता है । यह रिकार्ड कीपर है जो कभी भी रिकार्ड रखने में गलती नहीं करता और आत्मा इसी के अनुसार अन्य योनी में भेज दिया जाता है ।

हमें सूक्ष्म शरीर को पवित्र व वासना रहित बनाना चाहिए । इसको निरन्तर पढ़ना चाहिए । पढ़कर त्रुटियों को सुधारना चाहिए। जो लोग प्रतिदिन इस सूक्ष्म शरीर रूपी पुस्तक का स्वाध्याय करते हैं और त्रुटियों का सुधार करते जाते हैं उनको मृत्यु के समय कोई पश्चाताप नहीं होता क्योंकि मृत्यु के समय जब पृष्ठ के बाद पृष्ठ जीवात्मा के सामने खुलते हैं उस समय अन्तिम पृष्ठ पर ट्रांसफर की आज्ञा लिखी होती है । उस पर लिखा होता है कि हे जीवात्मा ! अब मनुष्य शरीर से तेरा परिवर्तन अमुक अच्छी योनि में होगा जैसे मनुष्य या देवता की योनि ।

इसके विपरीत जो मनुष्य अच्छे कर्म नहीं करते, वे मृत्यु के समय अपने पृष्ठों को देखकर पश्चाताप करते हैं और अपना नीच पशु योनि में ट्रान्सफर का आर्डर पढ़कर रोते हैं । लेकिन अब आंसू बहाने से स्थिति नहीं बदलती ।

(3) कारण शरीर :

सत्व, रज और तम - इन तीनों तत्वों को कारण शरीर कहते हैं । सभी जीवों का कारण शरीर एक सा ही होता है । इसके विपरीत सभी जीवों का स्थूल शरीर व सूक्ष्म शरीर अलग-अलग होता है।

(ङ) शरीर इन्द्रियां :

शरीर में कुल ग्यारह इन्द्रियां हैं । पांच ज्ञानेन्द्रियां-1. घ्राण (गन्ध की अनुभूति के लिए, 2. रसना-स्वाद के लिए, 3. चक्षु-देखने के लिए, 4. श्रोत्र-सुनने के लिए, 5. त्वक्-स्पर्श करने के लिए ।

पांच कर्मेन्द्रियां-1. हस्त-लेने के लिए व कार्य करने के लिए

2. पाद–चलने के लिए, 3. जिह्वा–बोलने के लिए व भोजन करने के लिए, 4. उपस्थ–मूत्र त्याग व उत्पत्ति के लिए, 5. गुदा–मल त्याग करने के लिए । ग्यारहवीं इन्द्रिय–मन

यह सभी इन्द्रियां जड़ हैं । साधक को चाहिए कि इनका दास न बने । इनका स्वामी बने । इसी में कल्याण है । ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां मन से जुड़कर कार्य करती है । मन आत्मा से जुड़कर कार्य करता है । मन इन्द्रियों का कमान्डर है । इन्द्रियों के माध्यम से शरीर जो कुछ प्राप्त करता है वह सब मन का भी भोजन बन जाता है ।

मन

मन एक जड़ वस्तु है । इसका मुख्य कार्य संकल्प और विकल्प करना है । मन का संबंध इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं से है। विषय वासनाओं को संयम में रखकर हम मन को मोक्ष की ओर ले जा सकते हैं । मन की पांच अवस्थायें हैं (1) क्षिप्त–चंचल (2) मुढ़–ज्ञान–विज्ञान से शून्य (3) विक्षिप्त–अशान्त एवं व्याकुल (4) एकाग्र (5) निरूद्ध।

क्षिप्त अवस्था में मन संसार के कार्यों में फंसा रहता है । कभी भी संतुष्ट अनुभव नहीं करता है । सदा व्यस्त रहता है ।

मूढ़ अवस्था में मन भूल जाता है कि उसे क्या करना चाहिए या क्या नहीं करना चाहिए । यह धर्म, अधर्म, कर्तव्य–अकर्तव्य के बारे में नहीं सोचता । केवल काम, क्रोध व लोभ का गुलाम हो जाता है ।

विक्षिप्त अवस्था में मन व्याकुल होकर कार्य करता है । कभी–2 दु:ख जनक विषयों को छोड़कर सुख जनक विषयों में लीन हो जाता है और उसी में स्थिर रहता है ।

एकाग्र अवस्था में मन किसी एक बाहरी या आभ्यन्तर वस्तु में स्थिर हो जाता है । चित्त की रजोवृत्ति और तमोवृत्ति वश में हो जाती है। मन में सात्विक वृत्ति उत्पन्न होने लगती है ।

निरूद्ध अवस्था में मन की सभी वृत्तियां स्थिर हो जाती है । कोई हलचल व अशान्ति नहीं रहती । निरूद्ध अवस्था ही ध्यान के लिए सर्वोत्तम स्थिति है ।

मन के तीन गुण/दोष हैं–(1) राग (2) द्वेष (3) मोह ।

मन को प्राणायाम के द्वारा एकाग्र करना संभव है । लेकिन निरुद्ध अवस्था के लिए प्राणायाम के साथ–2 अष्टांग योग का आचरण में पालन करना आवश्यक है ।

मन अशुद्ध होने के मुख्य कारण है–मांसाहार करना, नशा करना, अश्लील साहित्य पढ़ना, अविद्या का होना व सत्य आचरण न करना ।

मन को वश में करने के उपाय है –

(1) विद्या अर्थात् ज्ञान–अध्यात्मिक ज्ञान (2) बुरे संकल्पों को त्यागना (3) सत्संग व स्वाध्याय (4) अष्टांग योग का पालन (5) प्राणायाम (6) ईश्वर भक्ति–उपासना (7) व्यवहार काल में मन पर संयम ।

मन की मुख्य विशेषता है कि यह एक समय में एक ही कार्य कर सकता है दो नहीं । इसलिए प्राणायाम की कुछ क्रियायों व ध्यान से इसे कुछ सीमा तक संयम में रखा जा सकता है । पूर्ण रूप से इसे वश में करने के लिए उपारोक्त सभी उपायों का पालन करना चाहिए ।

मन को शुद्ध करने से शांति प्राप्त होती है । जीवन में स्थिरता व संतुष्टि की उपलब्धि होती है ।

अन्त:करण

आत्मा के निकटतम साधन मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार हैं । इनके समुह को अन्त:करण कहते हैं । सत्संग, भक्ति व ध्यान से अन्त:कण शुद्ध पवित्र, व धार्मिक हो जाता है तत्पश्चात् हमें श्रेष्ठ कर्म करने की प्रेरणा मिलती है । मन, चित्त, बुद्धि व अहंकार के कार्य निम्नलिखित हैं–

चित्त : चित्त की उत्पत्ति अहंकार से हुई है । यह जड़ है यह सत्, रज् और तम् से बनी एक वस्तु है । सृष्टि के आरम्भ में यह हर एक जीवात्मा को मिलता है । यह मुक्ति मिलने पर या महाप्रलय होने पर नष्ट होता है । यह चेतन इसलिए दिखाई देता है क्योंकि उस पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है । यह आत्मा के साथ रहता है मस्तिष्क का भाग नहीं है यह सूक्ष्म शरीर का भाग है । यह संस्कारों का भण्डार है । यह

सदा चलायमान, अस्थिर व चंचल बना रहता है ।

सभी प्रकार की वासनाएं, संकल्प, इच्छायें, संस्कार और विचार - जो हमारे अन्दर पैदा होते हैं या एकत्र होते हैं, उन सब का यह भण्डार है । हमारे सभी प्रकार के कर्मों के संस्कार भी इसमें जमा होते रहते हैं। इसका स्वभाव है-देखी हुई, सुनी हुई ओर कही गई बातों को बार-2 स्मरण करना । इस प्रकार बार-2 चिन्तन करने से इन बातों की ओर इसका लगाव हो जाता है । लगाव के कारण इसको कोई दूसरी बात अच्छी नहीं लगती । इस प्रकार चित्त में अच्छी या बुरी बात टिक जाने की प्रवृत्ति होती है ।

मनुष्य के चित्त में पाप और पुण्य-दोनों संस्कार रहते हैं । दोनों में लगातार संग्राम होता रहता है । कभी पाप की विजय होती है तो कभी पुण्य की । चित्त में बैठे लोभ के संस्कारों के कारण ही हम काम, क्रोध या लोभ के कार्य करते हैं । इसके विपरीत पुण्य संस्कारों के कारण हम दान, समाज सेवा आदि करते हैं । अतः पूर्व जीवन के संस्कारों के अनुसार हमारा वर्तमान जीवन चलता है । **चित्त एक समय में विभिन्न स्थानों पर विद्यमान रहता है । यह एक समय में विभिन्न विचार या योजनाएं बना सकता है । इसके विपरीत मन एक समय में एक ही कार्य कर सकता है ।**

प्राण और शरीर के साथ चित्त का गहरा संबंध है । प्राण और शरीर को स्थिर करने से चित्त शान्त रहने लगता है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार की साधना से चित्त निर्मल हो जाता है । यह जितना निर्मल होगा, ध्यान में उतनी जल्दी ही सफलता मिलेगी । अशुद्ध चित्त या चंचल चित्त से ध्यान होना असंभव है ।

मन की तरह चित्त की भी पांच अवस्थायें हैं । मन व चित्त की अवथायें लगभग एक सी है ।

(1) **क्षिप्त चित्तः**-इस अवस्था में चित्त अधिक चंचल होता है । रजः और तमः गुण अधिक होने के कारण चित्त किसी एक विषय में स्थिर नहीं रहता । सुख के लिए वह विभिन्न विषयों को ढूंढता रहता है। ऐसे चित्त वाले व्यक्ति द्वारा पाप करने की सम्भावना अधिक होती है ।

ऐसा व्यक्ति कभी भी सन्तोष जनक अध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता।

(2) **मूढ़ चित्तः**-मूढ़ चित्त वाले व्यक्तियों की बुद्धि मलिन होती है । शरीर के सुख को ही यह सब कुछ समझते हैं । यह व्यक्ति काम, क्रोध, निद्रा, आहार, भोग, विलास वाला ही जीवन व्यतीत करते हैं ।

(3) **विक्षिप्त चित्तः**-विक्षिप्त चित्त वाले लोग अपने चित्त को किसी भी विषय में (मुख्य रूप से धार्मिक) केन्द्रित रख सकते हैं । ऐसे व्यक्ति अपने चित्त को निरूद्ध करके ध्यान में सफलता पा सकते हैं । ऐसे लोग मानव श्रेणी में आते हैं । ऐसे व्यक्ति साधारण साधक होते हैं।

(4) **एकाग्र चित्तः**-ऐसे व्यक्तित्व वाले व्यक्ति अपने चित्त को संयम में रखते हैं । ये व्यक्ति समाज सेवा, साहित्य सेवा, लेखन या अन्य श्रेष्ठ कार्यों में अपना चित्त एकाग्र कर लेते हैं ।

(5) **निरूद्ध चित्तः**-जब चित्त पूर्णतयः शान्त रहता है, वह किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करता है, सुख-दुःख में अप्रभावित रहता है, ऐसी स्थिति को निरूद्ध चित्त कहते हैं । निरूद्ध चित्त वाले व्यक्तियों को ध्यान साधना में सफलता जल्दी मिलती है ।

चित्त को संयम में रखने के लिए अर्थात् एकाग्र व निरूद्ध बनाने के लिए निम्नलिखित उपाय हैं ।

(1) जो लोग सुखी हैं उनके साथ मित्रता रखें । उनके साथ द्वेष, ईर्ष्या न करें ।
(2) जो लोग दुखी हैं उन पर करूणा करें । यथा संभव व यथा योग्य उनकी सहायता करें । उनके दुःखों को दूर करने की कोशिश करें ।
(3) जो लोग पुण्य के मार्ग पर चल रहे हैं उनके लिए प्रसन्नता का भाव रखें ।
(4) जो लोग अन्याय व पाप के मार्ग पर चल रहे हैं जिनको धर्म के मार्ग पर लाने का प्रयत्न सफल नहीं हुआ, उनसे दूर रहें । ऐसे रहो जैसे वे तुम्हारे लिए संसार में हैं ही नहीं । अर्थात् उनके साथ उपेक्षा का व्यवहार करें ।
(5) सदा प्रसन्न रहें ।

बुद्धि :

हम अपने दैनिक चर्या में कर्म करने के लिए समय-2 पर जो भी निर्णय लेते रहते हैं वे सभी निर्णय बुद्धि द्वारा लिये जाते हैं। बुद्धि भी जड़ है। परन्तु आत्मा के सम्पर्क में आकर यह सक्रिय हो जाती है। बुद्धि मन को नियंत्रण में रखती है। बुद्धि को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं:-

1. **बुद्धि**–ऐसी बुद्धि जिससे हम अपने जीवन को चलाने के लिए समय-2 पर ठीक या गलत निर्णय लेते हैं।
2. **कुबुद्धि**–ऐसी बुद्धि जिसके द्वारा हम अपने स्वार्थ के लिए समाज व अन्य मनुष्यों के हित का ध्यान नहीं रखते।
3. **सुबुद्धि**–ऐसी बुद्धि जो हमें निष्कर्म व सुकर्म करने के लिए प्रेरित करती है।

बुद्धि के बिगड़ने के मुख्य कारण हैं-

(1) बुरी संगत (2) भ्रम (3) इन्द्रियों का वश में न होना (4) आधुनिक दूषित वातावरण (5) असात्विक आहार और (6) बुरे साहित्य का पढ़ना (7) टेलीविजन पर दिखाये जाने वाले अश्लील कार्यक्रम व दूषित सिनेमा (8) अभिमान (अहंकार)।

बुद्धि को सुबुद्धि बनाने के उपाय हैं-

(क) अच्छी संगति (ख) भ्रम या वहम को वश में रखना (ग) इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना (घ) सात्विक आहार लेना (ङ) आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय करना व सत्संग (च) प्रसन्नता (छ) योग (ज) परिश्रम व तप।

अधिकतर रोगों और बुराइयों के होने का कारण बुद्धि बिगड़ना है।

बुद्धि और भाग्य में अन्तर है। बुद्धि से भाग्य बनता है। बुद्धि न हो या इसका सही प्रयोग न किया जाये तो सौभाग्य भी दुर्भाग्य बन जाता है। अच्छे कर्म करने के लिए सुबुद्धि की आवश्यकता होती है। इसलिए बुद्धि भाग्य से ज्यादा महत्व रखती है।

अहंकार :

अहंकार "मैं" की अनुभूति करवाता है। यह केवल मेरी सत्ता अर्थात् "मैं हूँ" पर ही ध्यान देता है।

कर्म :

जीवात्मा सदा सुख की प्राप्ति और दुःख से छुटकारा पाना चाहता है। इसके लिए वह जो भी चेष्टा मन, इन्द्रिय या शरीर से करता है उसे कर्म कहते हैं। सृष्टि के नियमानुसार जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्म का फल भोगने में परतन्त्र है। जीवात्मा अल्पज्ञ है। इसका सामर्थ्य बहुत कम है। अपने बुरे कर्मों के फल को भोगना या प्राप्त करना भी नहीं चाहता। इसलिए परमेश्वर ने फल व्यवस्था अपने अधिकार में ले रखी है। कुछ अशुद्ध कर्मो का दंड परिवार और समाज में अच्छी व्यवस्था बनाये रखने के लिए माता-पिता, गुरु और न्यायपालिका भी देते हैं।

कर्म मुखयतः मन, वाणी या शरीर से होता है। कर्म हमारी सबसे बड़ी पूजा है। कर्मफल के अनुसार ही हम जन्म, सुख, दुःख पाते हैं। हमारा प्रत्येक कर्म हमारे सूक्ष्म शरीर पर अंकित हो जाता है। सुक्ष्म शरीर प्रत्येक योनि में जीवात्मा के साथ रहता है। यही कर्म हमें जीवन मरण के बन्धन में बांधते हैं।

मन से तीन प्रकार के अच्छे कर्म किये जा सकते हैं-

(1) दया (2) अस्पृहा (अनिच्छा) और (3) आस्तिकता।

मन द्वारा द्रोह, स्पृहा और नास्तिकता अशुभ कार्य भी किये जा सकते हैं।

वाणी से किये जाने वाले शुभ कर्म हैं-

(1) सत्य बोलना (2) हितकर बोलना (3) मीठा बोलना।

चार प्रकार के अशुभ कर्म मनुष्य वाणी से कर सकता है।

(1) झूठ बोलना (2) अहितकर बोलना (3) कठोर बोलना और (4) व्यर्थ बोलना।

शरीर के द्वारा जीवात्मा तीन प्रकार के शुभ कर्म कर सकता है-

(1) दान देना (2) सेवा करना (3) रक्षा करना।

बुरे कर्म भी जीवात्मा शरीर द्वारा कर सकता है-

(1) हिंसा करना (2) चोरी करना (3) व्यभिचार करना।

शुभ (अच्छे) कर्म करने से हमें अच्छा फल मिलता है । हमारे संस्कार अच्छे बनते हैं । चित्त की शुद्धि होती है व मन ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना और ध्यान में लगता है । इसके विपरीत बुरे कर्म करने पर हमें दु:ख की प्राप्ति होती है, बुरे संस्कार बनते हैं, हम अधर्म के रास्ते पर चलना शुरू कर देते हैं, ईश्वर साधना में मन नहीं लगता । अन्त में मृत्यु के बाद विभिन्न प्रकार की नीच योनियों में जाकर कष्ट सहने पड़ते हैं ।

दान, दक्षिणा, ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि से बुरे कर्मों के फलों को नष्ट नहीं किया जा सकता है । इनके करने से केवल अच्छे संस्कार बनते हैं, पुण्य प्राप्त होता है । भविष्य मे बुरे कर्म करने की प्रवृत्ति से छुटकारा मिलता है ।

जीवात्मा जो भी अच्छे बुरे कर्म करता है - मानसिक, वाचिक या शारीरिक - सभी का फल, ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार उसको भोगना पड़ता है ।

वैदिक कर्म फल व्यवस्था के अनुसार अच्छे और बुरे कर्मों का फल अलग-2 मिलता है । यहाँ पर जमा घटा का सिद्धान्त लागू नहीं होता है । जीवात्मा को सभी कर्मों का फल सुख-दु:ख के रूप में मिलता है। हमारे शुभ व अशुभ कर्मों से हमारे सात जन्म और सात पीढ़ियां प्रभावित होती हैं अर्थात् हमारे शुभ कर्मों के फल का लाभ धीरे-धीरे अगले सात जन्मों तक तो मिलता ही है इसके साथ-2 हमारी अगली सात पीढ़ियों में पैदा होने वाली सन्तान भी इसमें भागीदार बनती है । इसके विपरीत हमारे अशुभ कर्मों का फल दु:ख के रूप में धीरे-धीरे न केवल हमें अगले सात जन्मों तक भुकतना पड़ता है बल्कि हमारी भविष्य की सात पीढ़ियों में होने वाली सन्तान भी दु:ख को भोगती है । **यही कारण है कि अधर्म से एकत्रित किया हुआ धन दो या तीन पीढ़ियों के बाद अवश्य ही खत्म हो जाता है । अत: हमें अपने आचरण में अष्टांग योग का अवश्य पालन करना चाहिए ।**

फल की दृष्टि से कर्म दो प्रकार के होते हैं ।

(1) **निष्काम कर्म:**-जो कर्म संसारिक फल को प्राप्त करने के

लिए न किये जायें, उन्हें निष्काम कर्म कहते हैं । सभी कर्म जो केवल ईश्वर या मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से किये जायें, इस श्रेणी में आते हैं । यह कर्म सदैव अच्छे होते हैं-बुरे नहीं । इनका फल ईश्वर अनुभूति या ईश्वर आनन्द की प्राप्ति के रूप में होता है । यह कर्म हमें बन्धनों से मुक्त रखते हैं ।

(2) **सकाम कर्म :**-ऐसे कर्म जिनका उद्देश्य धन, यश, सन्तान आदि प्राप्त करना होता है, सकाम कर्म कहलाते हैं । यह तीन प्रकार के होते हैं-

(क) **अच्छे कर्म**- सेवा, दान, परोपकार करना आदि ।

(ख) **बुरे कर्म**- चोरी करना, असत्य बोलना, धोखा देना आदि

(ग) **मिश्रित कर्म**- खेती करना आदि । इसमें पाप और पुण्य दोनों मिश्रित रहते हैं ।

इन कर्मों का फल अच्छा और बुरा दोनों हो सकता है । इनका फल इस जीवन में भी भोगा जा सकता है और मरने के बाद अन्य योनियों में भी ।

एक अन्य दृष्टिकोण से कर्म चार प्रकार के होते हैं-

(1) **कर्म**-वे कर्म जो हम दूसरों के उपकार के लिए करते हैं जैसे : गरीबों और दुखियों की सहायता करना, गरीबों के लिए अस्पताल, स्कूल या अनाथालय खोलना ।

(2) **अकर्म**-वे सभी क्रियायें जो हम अपने जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए करते हैं जैसे-खाना, पीना, सोना, धर्मानुसार कमाना, ईश्वर स्तुति प्रार्थना उपासना आदि करना ।

(3) **विकर्म**-ऐसी क्रियायें जिनका उद्देश्य दूसरों को हानि पहुँचाना होता है विकर्म कहलाते हैं जैसे-दूसरों से लड़ना या एक दूसरों को लड़ाना, घृणा करना या पैदा करवाना, लड़ाई-झगड़े करना या करवाना, दूसरों को नीचा दिखाना आदि ।

(4) **सुकर्म**-ऐसी क्रियायें जिनसे स्वयं के साथ-2 दूसरों को भी लाभ हो जैसे-दान देना, यज्ञ करना, दूसरों का सही मार्गदर्शन करना आदि ।

सुख–दुःख :

प्रसन्नता या स्वतंत्रता आदि जिसको प्राप्त करने के बाद मनुष्य छोड़ना नहीं चाहता, सुख कहलाता है । इसके विपरीत पीड़ा या कष्ट आदि जिससे मनुष्य बचना चाहता है, दुःख कहलाता है ।

जब परिस्थितियां हमारे अनुकूल होती हैं तो हमें सुख की अनुभूति होती है । परिस्थितियां प्रतिकूल होने पर हमें दुःख की अनुभूति होती है। संसार में पूर्ण सुख नहीं है । अस्थाई सुख है । सुख के साथ कोई न कोई दुःख भी लगा रहता है ।

दुःख की अनुभूति होने पर ही हम ईश्वर के सुख व आनन्द का अनुभव कर सकते हैं ।

सुख का आधार धर्म है । दुख का आधार अधर्म है । सुख प्राप्त करने और दुःख से छुटकारा पाने के लिए हमें अविद्या का नाश करना चाहिए, अपनी बुद्धि को सुबुद्धि बनाना चाहिए, वेदों और आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए । अच्छे कर्म करने के साथ–2 अपनी इन्द्रियों को संयम में रखना चाहिए ।

सुख–दुःख की अनुभूति मन की अवस्था पर निर्भर करती है । यदि मन अच्छा सोचेगा तो शुभ कार्य होंगे । फलस्वरूप सुख पैदा होगा । इसके विपरीत यदि मन गलत सोचेगा तो अशुभ कार्य होंगे और अन्त में दुःख भोगना पड़ेगा । मन के बिना कोई भी इन्द्रिय कार्य नहीं करती । अतः सुख प्राप्ति के लिए मन शुभ संकल्प वाला बनाना चाहिए ।

मनुष्य के अन्दर से सात बड़े दुःख पैदा होते रहते हैं – भय, अहंकार, मोह, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ । इन से बचने का एक ही उपाय है कि हमारा मन शुद्ध, साफ और पवित्र विचारों वाला हो । **प्राणायाम और योगाभ्यास मन को शुद्ध व संयम करने में बहुत सहायक होते हैं ।**

स्वर्ग–नरक :

स्वर्ग या नरक किसी विशेष स्थान का नाम नहीं है । जो व्यक्ति विद्वान व समपन्न माता पिता के यहाँ जन्म लेता है, धर्मानुसार धन कमाता

है, शुद्ध भक्ति व ईश्वर उपासना करता है । सभी ऐश्वर्य, सुख, शान्ति, आनन्द को प्राप्त करता है इस स्थिति को स्वर्ग कहते हैं ।

पंचमहायज्ञ, स्वाध्याय, दान, पुण्य, समाज सेवा आदि स्वर्ग प्राप्ति के साधन हैं ।

जीवन में अभाव, कष्ट, दुःख, पीड़ा बाली स्थिति को नरक कहते हैं । नरक प्राप्ति के मुख्य कारण हैं–असत्य बोलना, अशुभ कर्म करना, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, मांसाहार व पूर्व कर्मफल ।

अशुभ कर्मों के कारण मरने के पश्चात् नीच योनि में जन्म लेना भी नरक प्राप्ति कहलाती है ।

मोक्ष :

स्वामी दयानन्द के अनुसार मोक्ष कोई आने जाने वाला पदार्थ नहीं है तथा इसकी प्राप्ति शरीर को भी नहीं होती । जब आत्मा विद्या द्वारा अपने सम्पूर्ण अज्ञान को हटाकर मुक्ति सुख का अनुभव करता है, यही मोक्ष है ।

संसार के बन्धनों से छूटकर मुक्ति प्राप्त करने के लिए महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के नवम सम्मुल्लास में परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, साधन चतुष्टय एवं योगाभ्यास का निर्देश करते हैं । इनसे जीव के गुण, कर्म, स्वभाव सुधरते हैं । योगाभ्यास अर्थात् ध्यान से मन आदि सब आन्तरिक पदार्थों का साक्षात्कार होता है ।

पुनर्जन्म :

महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के नवम सम्मुल्लास में वर्णन करते हैं कि जन्म अनेक होते हैं । यदि एक ही जन्म माने तो ईश्वर न्यायकारी न रह सकेगा । ईश्वर तो स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है । वह पूर्व जन्म के पाप–पुण्य के बिना किसी को सुख–दुःख नहीं दे सकता है ।

नाना प्रकार के जन्म मरण में जीव तब तक पड़ा रहता है जब तक वह उत्तम कर्म, शुद्ध उपासना व ज्ञान के द्वारा मुक्ति प्राप्त नहीं कर लेता है ।

उपासना :

समाज में दो प्रकार की उपासना प्रचलित हैं- निर्गुण उपासना और सगुण उपासना । निर्गुण उपासना का अर्थ निराकार (ईश्वर) की उपासना से लिया जाता है । सगुण उपासना में ईश्वर को साकार भी माना जाता है । इस मत के अनुसार ईश्वर अवतार लेता रहता है जो कि वेद सम्मत नहीं है। ऋषि दयानन्द ने भी अपने सभी ग्रन्थों में इस साकार मत को मान्यता नहीं दी है। उनके अनुसार सगुण एवं निर्गुण ईश्वर अलग-अलग नहीं है।

सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, सृष्टिकर्ता, न्यायकारी, नित्य, दयालु और पवित्र आदि गुणों के कारण ईश्वर सगुण कहलाता है ।

अजन्मा, अनादि, अनन्त, अनुपम, अजर, अमर, निराकार, निर्विकार एवं अभय आदि ईश्वर के निर्गुण लक्षण हैं । **अतः ईश्वर सगुण व निर्गुण एक ही है ।**

जड़ वस्तुओं की उपासना करने से हम अज्ञान, अधर्म और क्लेशों में लिप्त रहते हैं । ईश्वर को निराकार मान कर उपासना करने से शुद्ध ज्ञान, धर्म व आनन्द की प्राप्ति होती है । अतः हमें संसारिक वस्तुओं की उपासना को छोड़कर केवल ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करनी चाहिये ।

उपासना काल

वह समय जिस वक्त हम ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना व ध्यान करते समय अपने मन और चित्त को एकाग्र करके केवल ईश्वर का ही ध्यान करते हैं उसे उपासना काल कहते हैं । उपासना काल में ही हम वास्तव में ईश्वर के समीप बैठते हैं । उससे विशेष रूप में प्रतिदिन प्रातः व सायं वार्तालाप करते हैं । निष्काम कार्य करने की प्रेरणा लेते हैं। यह समय 1 मिनट से लेकर घंटों तक हो सकता है और भक्त की श्रद्धा और भक्ति पर निर्भर करता है ।

व्यवहार काल :

ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना, ध्यान का समय छोड़कर वाकी दिन

की दिनचर्या व कार्य पद्धति व्यवहार काल कहलाती है । उपासना काल में ध्यान व ईश्वर से वार्तालाप में सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि व्यवहार काल में हमारा आचरण धर्मानुसार है या नहीं । जैसे-2 व्यवहार काल में हमारे आचरण में उन्नति व सुधार होता जाता है वेसे-वैसे व उसी गति से हमें ईश्वर भक्ति व ध्यान में सफलता प्राप्त होती जाती है । इसके विपरीत **यदि व्यवहार काल में हमारा आचरण ठीक नहीं है तो न तो भक्ति व ध्यान में मन लगता है और न ही ईश्वर कृपा होती है ।**

पर विद्या :

पर विद्या का अर्थ है आध्यात्मिक ज्ञान । वेदों और उन पर आधारित आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना, चिन्तन करना, मनन करना व उनके अनुसार अपना जीवन चलाना । आध्यात्मिक ज्ञान व उस पर आचरण करने से जन्म मृत्यु के आवागमन से छुटकारा मिल जाता है । जीवन में शान्ति की अनुभूति होती है । ईश्वर का आनन्द प्राप्त होता है । आज हमें वैज्ञानिक व आर्थिक उन्नति के बाद भी सभी जगह अशान्ति ही अशान्ति दिखाई देती है । इसका मुख्य कारण है कि मनुष्य ने पर विद्या को भुला दिया है ।

अधिकतर आर्यसमाजों में रविवारीय सत्संग का आयोजन होता है। इसमें उपस्थित होकर भी हम वेदानुसार आध्यात्मिक ज्ञान आसानी से प्राप्त कर सकते हैं ।

अपर विद्या :

इसका अर्थ है भौतिक ज्ञान । इसको अध्यात्म की भाषा में अविद्या भी कहते हैं । भौतिक ज्ञान में उन्नति करना भी अति आवश्यक है । आज के युग में भौतिक विकास के अभाव में जीवन जीना असंभव है। वेद व उपनिषद भी हमें भौतिक विकास करने की प्रेरणा देते हैं । वे हमारा मार्गदर्शन करते हैं कि विद्या और अविद्या में मनुष्य को समन्वय बना कर चलना चाहिये । भौतिक ज्ञान से मनुष्य को अपना जीवन सुखी बनाना चाहिए ।

मस्तिष्क द्वारा अर्जित संसारिक ज्ञान (भौतिक) शरीर के मृत होने पर नष्ट हो जाता है । परन्तु इसके द्वारा अर्जित शुद्ध ज्ञान, विद्या और

किये गये शुभ व निष्काम कार्य के संस्कार सूक्ष्म शरीर का हिस्सा बन जाते हैं और सदैव जीवात्मा के साथ रहकर अच्छा फल देते हैं ।

जन्म :

जन्म लेना हमारे वश में नहीं है । हम अपने कर्मफल के कारण परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार संसार में जन्म लेते हैं । हम स्वयं अपनी योनि, माता-पिता, परिवार या स्थान को निश्चित नहीं कर सकते हैं । यह पूर्व जन्म के कर्मों के आधार के अनुसार ही ईश्वर द्वारा निश्चित किया जाता है । पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के अनुसार ही हमें यह मानव देह प्राप्त हुई है । इस जीवन में किये गये अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार हमें नया जन्म व शरीर मिलेगा । अतः शान्त मृत्यु व इसके बाद अच्छी योनि में जन्म पाने के लिए हमें अपने कर्म और आचरण को ठीक करना चाहिए ।

मृत्यु :

मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा की नहीं । अपने कर्मों के अनुसार या निर्वल और रोगी शरीर को जब आत्मा छोड़ती है तो उसे मृत्यु कहते हैं । इस प्रकार पुराना शरीर को छोड़कर आत्मा नया शरीर धारण कर लेता है । जो मनुष्य अच्छे कर्म करता है, उसको ईश्वर पर विश्वास होता है कि उसको अगला जन्म अच्छा ही मिलेगा । वह मृत्यु से डरता नहीं बल्कि शान्ति से मृत्यु का सामना कर लेता है । इसके विपरीत जो व्यक्ति अच्छे कर्म नहीं करते, उनके लिए मृत्यु भयानक और दुःखदायी होती है।

मृत्यु का चिन्तन हमें अधर्म और बुराइयों से बचाने के साथ-2 प्रभु भक्ति की ओर भी ले जाता है ।

पंच महायज्ञ :

मनुष्य की संरचना ईश्वर की सर्वोत्तम रचना है । मानव शरीर समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है । इस शरीर के माध्यम से हम शुभ व निष्कर्म करते हुए मोक्ष को प्राप्त करने के अधिकारी बनते हैं । मानव जीवन को सफल बनाने में पंचमहायज्ञ का बहुत बड़ा योगदान है । ये

संक्षिप्त में निम्नलिखित हैं ।

(1) **ब्रह्मयज्ञ :** प्रातः सूर्य निकलने से पहले ब्रह्मबेला में शौच, मुंह-हाथ धोना, स्नान करने के पश्चात् और सायं सूर्यास्त के समय नित्य प्रतिदिन ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना उपासना, ध्यान व सन्ध्या करना ब्रह्मयज्ञ कहलाता है । आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन भी ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत आता है।

ब्रह्मयज्ञ का पालन करने से हमें विद्या धर्म आदि गुणों की प्राप्ति होती है ।

(2) **देव यज्ञ :** प्रातः एवं सायं-दोनों समय अथवा कम से कम प्रातःकाल नित्य प्रतिदिन हवन करने की प्रक्रिया को देवयज्ञ या अग्निहोत्र कहते हैं । देवयज्ञ में घी, सामग्री, समिधा आदि वस्तुओं के द्वारा यज्ञ करते हैं । अग्निहोत्र (हवन) से वायु की शुद्धि होती है, दुर्गन्ध व मलिनता का नाश होता है । विविध रोगों से मुक्ति मिलती है, **यज्ञ करते समय दीर्घ श्वसन क्रियाओं का प्रयोग करने से शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा रहता है और आयु लम्बी होती है ।** स्थान की पवित्रता होती है, परोपकार की भावना व आत्मिक उन्नति होती है। ईश्वर भक्ति में मन लगता है ।

साधारणतयः हमें वैदिक विधि से ही यज्ञ करना चाहिए । वैदिक विधि से यज्ञ करना कठिन नहीं है । इस विधि को किसी भी आर्यसमाज में 8-10 बार जाकर सीखा जा सकता है ।

जब तक वैदिक विधि से यज्ञ करना न आ जाये तब तक निम्न विधि से भी प्रातः प्रतिदिन यज्ञ कर सकते हैं । यह विधि बहुत ही सरल है।

(1) शुद्ध आसन में बैठ जायें और 3 बार लम्बे श्वास लें ।
(2) (क) गायत्री मंत्र का एक बार उच्चारण करें ।
(2) (ख) कविता रूप में गायत्री मंत्र के अर्थ का उच्चारण करें।
(3) इसके बाद शुद्ध जल लेकर निम्नलिखित 3 मन्त्रों से तीन बार आचमन करें अर्थात् सीधे हाथ में तीन बार जल लेकर निम्नलिखित मन्त्र बोलने के बाद पीयें ।

(क) **ओ३म् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ।**

मन में निम्नलिखित भाव रखें–
हे ईश्वर ! यह जल हमारे लिए सुखदायक हो ।

(ख) **ओ३म् अमृतापिधानमसि स्वाहा ।**
मन में निम्नलिखित भाव रखें–
हे ईश्वर ! आप विश्व के धारक व पोषक हैं ।

(ग) **ओ३म् सत्यं यशः श्रीर्मयी श्रीः श्रयतां स्वाहा ।**
मन में निम्नलिखित भाव रखें–
हे भगवन् ! हमें सत्यनिष्ठा, सुयश, सम्पत्ति और श्रेय दो ।

(4) अब हवन कुण्ड में कुछ सामग्री (10-15 ग्राम) डालें । इसके बाद उस पर 3-4 कपूर की टिकिया रखें ।

(5) अब हवन कुंड में 5 से 6 समिधायें (आम की लकड़ियां) वर्गाकार में (सामने दिये चित्र के अनुसार) रखें । हवनकुंड के आकार के अनुसार समिधायें कुल्हाड़ी की सहायता से पतली व छोटी पहले ही कर लें ।

(6) अब माचिस से दीपक प्रज्वलित करें । फिर श्रुवा (चम्मच) में कपूर लेकर उसको दीपक से स्पर्श करके जलायें व हवन की अग्नि प्रज्वलित करें । (हवन कुण्ड में डालें) अग्नि प्रज्वलित के साथ-2 गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते रहें और हवन कुण्ड में 5-7 चम्मच घी सभी तरफ धीरे-धीरे डालें ताकि अग्नि पूर्ण रूप से प्रज्वलित हो जाये।

(7) अब गायत्री मंत्र के प्रत्येक पूर्ण उच्चारण के बाद स्वाहा बोल कर घी और सामग्री की 11 या 21 आहुतियां दें ।

(8) इसके बाद पूर्ण आहुति का मंत्र- **ओ३म् सर्वं वै पूर्णम् स्वाहा ।** का तीन बार उच्चारण करें । प्रत्येक उच्चारण के बाद घी व सामग्री की आहुति दें । अन्तिम आहुति के साथ एक छुआरा या मीठी खील या कुछ हलवा हवन कुण्ड में डालें ।

(9) फिर **सर्वे भवन्तु सुखिनः**-मंगल कामना मंत्र का उच्चारण करें ।

(10) तत्पश्चात् शान्ति पाठ करें ।
(यदि शान्ति पाठ का उच्चारण न कर सकें तो **ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः** बोल कर यज्ञ / हवन पूर्ण करें ।

हवन करने के लिए निम्न वस्तुयें चाहियें :-

1. एक छोटा हवन कुण्ड, 2. समिधा व कपूर, 3. हवन सामग्री, 4. देशी घी ।

समिधा व हवन सामग्री किसी भी आर्यसमाज मन्दिर से या बाजार से खरीदी जा सकती है ।

(3) **पितृयज्ञ :** अपने माता-पिता एवं अन्य वृद्ध सम्बन्धियों व विद्वानों की आज्ञा का पालन व सेवा करना पितृयज्ञ कहलाता है ।

इससे हमारे अन्दर कृतज्ञता की भावना जगती है । हमारा ज्ञान बढ़ता है । समाज उन्नति करता है ।

(4) **बलिवैश्वदेव यज्ञ :** सभी जीवों पर दया करना व यथासंभव यथाशक्ति प्रतिदिन उनको भोजन आदि देना बलिवैश्वदेव यज्ञ कहलाता है। जैसे प्रातः काल गाय को आटा या रोटी खिलाना, पक्षियों और अन्य जीव जन्तुओं को दाना देना, पानी देना, कुत्ते को रोटी व दूध देना आदि।

इसके पालन से हम पाप कर्म से बचते हैं । ईश्वर के दिये हुए धन का सदउपयोग होता है । मन को शान्ति का अनुभव होता है ।

(5) **अतिथि यज्ञ :** धार्मिक, परोपकारी, सत्य उपदेशक, पक्षपात रहित विद्वान, शान्त व सर्वहितकारी मनुष्यों के साथ-2 घर में आये अन्य अतिथियों की अन्न, भोजन आदि से सेवा करना अतिथि यज्ञ कहलाता है।

अतिथियों की सेवा करने से हमारे अन्दर विनम्रता का भाव पैदा होता है । हमारा धार्मिक ज्ञान बढ़ता है । समाज उन्नति करता है ।

नोट : जो गृहस्थी पंच महायज्ञ नित्य करते हैं वे कभी दुःखी नहीं रहते। उनमें दुःखों से लड़ने की शक्ति पैदा हो जाती है । कष्ट आने पर उनका आसानी से मुकाबला कर लेते हैं । उनके घरों व परिवारों में सदा सुख व शान्ति रहती है । ऐसे मनुष्य वास्तव में मानव कहलाते हैं ।

भाग – 2

अष्टांग योग

अष्टांग योग की सरल व्याख्या

हम सभी भक्त ईश्वर के दर्शन करना चाहते हैं । उसकी अनुभूति करना चाहते हैं । उसकी कृपा पाना चाहते हैं । अनेक महापुरुषों और ऋषियों ने अपनी–अपनी योग्यता व अनुभव के अनुसार ईश्वर प्राप्ति और उसकी कृपा के अनेकों उपाय बताये हैं व इस विषय पर अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें से एक प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम है–योगदर्शन। इसके रचयिता महर्षि पतञ्जलि हैं । यह ग्रन्थ वेदों पर आधारित है । ऋषि ने वेदों व अन्य ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया । तत्पश्चात् अपने अनुभव व वेदों के आधार पर मानव कल्याण के लिए और ईश्वर साक्षात्कार हेतु एक कार्यक्रम/विधि बताई जिसका पालन करने से हम संसारिक कार्य करते हुए ईश्वर की अनुभूति व आनन्द प्राप्त कर सकते हैं । इस ग्रन्थ में महर्षि पतञ्जलि ने योग में सफलता के लिए आठ निर्देश / उपाय बताये हैं । इन्हें योग के आठ अंग के नाम से जाना जाता है । इनके पालन करने से अर्थात् अपने आचरण में लाने से हमें न केवल ध्यान में सफलता मिलती है बल्कि हमारा जीवन शान्त, पवित्र, तेजोमयी और सुखमय बनता है । अष्टांग योग में बतायी गई बातें सभी मनुष्यों के कल्याण व उन्नति के लिए हैं चाहे वह व्यक्ति किसी भी जाति या समुदाय का हो । **यदि प्रत्येक मनुष्य अष्टांग योग के पहले सात अंगों का एक साथ पालन करना शुरू कर दे तो निसन्देह समाज, राष्ट्र व विश्व में मानव अधिकारों की रक्षा व शान्ति स्थापित हो सकती है ।**

अष्टांग योग के पालन करने से मुख्य रूप में निम्न लाभ हैं–

1. सुख–शान्ति, सन्तोष व तृप्ति जीवन में मिलती है ।
2. शरीर निरोग, मन स्थिर और प्रज्ञा बुद्धि की प्राप्ति होती है ।
3. अविद्या का नाश व जीवन की कठिनाइयों में सही निर्णय लेने की क्षमता बढ़ती है ।

4. शरीर, मन व इन्द्रियों पर नियन्त्रण रहता है ।
5. काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, द्वेष का नाश और सेवा, परोपकार, दया व दान की भावना में वृद्धि होती है ।
6. शारीरिक व मानसिक दु:खों को सहन करने की शक्ति बढ़ती है ।
7. ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति और बुरे कर्मों से मनुष्य बचता है ।
8. आत्मा–परमात्मा का दर्शन होता है / अनुभूति होती है ।
9. समाज में शान्ति स्थापित होती है ।

योग का प्रथम अंग – यम

इसके पांच विभाग हैं । सामाजिक उन्नति व शान्ति के लिए इनका पालन करने से लाभ होता है ।

(1) अहिंसा :

मन, वाणी और शरीर से सदैव सभी प्राणियों के साथ द्वेषभाव त्याग कर प्रेमपूर्वक व्यवहार करना अहिंसा कहलाती है । कोई क्रिया अहिंसक है या हिंसक इसका निर्णय न्याय–अन्याय की कसौटी पर किया जाता है । न्यायपूर्वक दंड देना अहिंसा की और अन्यायपूर्वक सुख लेना हिंसा की श्रेणी में आता है ।

मन में किसी का बुरा करने का विचार, किसी को हानि पहुँचाने या मारने का विचार, कठोर वचन बोलना, किसी को शारीरिक दु:ख देना, चोट पहुँचाना, मार डालना–सभी कार्य हिंसा के अन्तर्गत आते हैं ।

अहिंसा का पालन करने से हमारे मन, वाणी व शरीर के विकार कम /दूर होते हैं । हमारा मन शान्त होता है और ध्यान में लगता है । सभी प्राणियों के प्रति मन से द्वेष भाव छूट जाता है । इसके विपरीत अहिंसक व्यक्ति का मन अशान्त, असन्तोष, अतृप्त व भयपूर्ण होता है जिसे वह दान–पुण्य व समाज–सेवा करके दूर करना चाहता है जो कि असंभव है।

(2) सत्य :

सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में हमें सदा उद्यत

रहना चाहिए । यह सभी जानते हैं कि सत्य सबसे बड़ा धर्म और झूठ सबसे बड़ा पाप है । धर्म का आधार ही सत्य है । अतः हमें सदैव सत्य बोलना चाहिए । मीठा बोलना चाहिए । अप्रिय सत्य व प्रिय झूठ नहीं बोलना चाहिए । असत्य का आचरण करना ईश्वर भक्ति में मुख्य रूप से बाधक है ।

बिना मतलब के बोलना, दूसरों की निन्दा करना, कठोर शब्द बोलना या जिस सत्य को बोलने से किसी निरपराध व्यक्ति को कष्ट या हानि होवे यह सब पाप की श्रेणी में आते हैं । इन सबसे यथा संभव बचने का प्रयास करना चाहिए ।

सत्य का पालन करने से जीवन में निर्भीकता आती है, समाज में मनुष्य का विश्वास बनता है, मन शान्त होता है व ईश्वर साक्षात्कार में सफलता के साथ-2 सभी उत्तम कार्यों में सफलता मिलती है ।

इसके विपरीत असत्य को आचरण में लाने से मानसिक चिन्तायें बढ़ती हैं, आत्मग्लानि होती है और हमारे पाप कर्म बढ़ते हैं । अतः हमें हमेशा सत्य का ही पालन करना चाहिए ।

(3) अस्तेय :

मन, वाणी और शरीर से चोरी छोड़ देना अस्तेय कहलाता है । दूसरों की वस्तु बिना पूछे ले लेना या प्रयोग करना चोरी की श्रेणी में आता है चाहे वह वस्तु अपने किसी रिश्तेदार या संबंधी की ही क्यों न हो । बिना परिश्रम या अन्याय द्वारा धन एकत्रित करना भी चोरी के अन्तर्गत आता है । दूसरों के मानव अधिकारों का हनन करना, रिश्वत लेना, कार्यकाल में कर्तव्य का पालन न करना, कार्य में लापरवाही वरतना, पूरा न तोलना, उचित मूल्य से अधिक लेना, झूठ बोलकर सामान बेचना आदि कार्य भी अस्तेय (चोरी) की श्रेणी में आते हैं । इन सब दुर्गणों से हमें बचना चाहिए ।

अभावग्रस्त गरीब व्यक्ति दूसरे के पदार्थों को छीनने या पाने का सदा प्रयत्न करते हैं । अतः उनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें हमेशा अपने पदार्थ यथा शक्ति व यथासंभव उनको दान करने चाहिए ।

इससे अस्तेय की स्थापना होती है ।

अस्तेय का पालन करने से शान्ति, प्रसन्नता, सन्तुष्टि व सुख की अनुभूति होती है । हम समाज में विश्वास पात्र व श्रद्धेय वन जाते हैं । हमारी अध्यात्मिक उन्नति होती है और हमें भौतिक पदार्थों की प्राप्ति होती है । इसके साथ-2 हम प्रभु साक्षात्कार के अधिकारी भी बनते हैं।

(4) ब्रह्मचर्य :

सभी इन्द्रियों पर यथायोग्य संयम रखना ब्रह्मचर्य कहलाता है । यह संयम मन, वचन व कर्म से करना चाहिए । इसके अन्तर्गत वाल्यावस्था में विवाह न करना व उपस्थ इन्द्रिय का संयम रखना, वेद व आर्ष ग्रन्थ पढ़ना, विवाह के बाद भी ऋतुगामी बना रहना, और परस्त्री गमन आदि व्यभिचार को मन, बचन, कर्म से त्याग देना आता है।

आचार्य चरक के अनुसार यदि हम अपने शरीर को स्वस्थ रखना चाहते हैं, उसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे रोग मुक्त बनाना चाहते हैं, ईश्वर का आनन्द पाना चाहते हैं तो हमें अपने वीर्य की रक्षा करनी चाहिए । अतः हम जो कुछ खाते हैं उसके सत्व को संभाल कर रखें । हमारे भोजन से एक प्रकार का रस बनता है, रस से रक्त बनता है, रक्त से चर्वी बनती है, चर्वी से हड्डी बनती है, हड्डी से मज्जा बनती है, मज्जा से वीर्य बनता है, वीर्य से ओज बनता है । इसी ओज से हमारा मुखमण्डल चमकता है, दिमाग तेज होता है और यह ओज ही आत्मा का भोजन है । ईश्वर के आनन्द और अनुभूति को प्राप्त करने में यह अति सहायक होता है ।

ब्रह्मचर्य के पालन के लिए महापुरुषों व ऋषियों के चरित्र का चिन्तन करना चाहिए, आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए । इसके साथ-2 सात्विक भोजन, नियमित निद्रा, उचित दिनचर्या, आसन, प्राणायाम व व्यायाम करना चाहिए । कुसंगति व मन को विचलित करने वाले दृश्य, अश्लील सिनेमा, टेलीविजन पर दिखाये जाने वाले दूषित कार्यक्रम व गन्दे उपन्यास आदि से बचना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य का पालन करने से शारीरिक तथा बौद्धिक बल की वृद्धि होती है । ध्यान में सफलता जल्दी मिलती है ।

(5) अपरिग्रह :

मन, वाणी व शरीर से अपनी योग्यतानुसार अनावश्यक भौतिक पदार्थों की इच्छा न करना, उनका संग्रह न करना, अनावश्यक विचारों को मन में या तो न आने देना या उनको मन से निकाल देना अपरिग्रह कहलाता है । इसके विपरीत उचित या अनुचित साधनों का ध्यान न रखते हुए, धन, सम्पत्ति व अनावश्यक भौतिक पदार्थ एकत्रित करना परिग्रह कहलाता है । परिग्रह की आदत सदैव दूसरों को किसी न किसी रूप में पीड़ा देने के साथ–2 स्वयं के लिए भी परेशानी पैदा करता है । क्योंकि फिर हम अपने मुख्य लक्ष्य को छोड़कर धन व सम्पत्ति की रक्षा में ही लगे रहते हैं । जितना अधिक धन व भौतिक वस्तुओं का संग्रह हम करते जाते हैं, हमारा मोह उनके लिए उतना ही बढ़ता जाता है । फलस्वरूप यह हमारी ध्यान प्रक्रिया व मुक्ति में बाधा डालता है । अत: अपनी भौतिक भोग विलास की आवश्यकताओं को जीवन में सदा सीमित रखना चाहिए एवं सदैव प्रयत्न करना चाहिए कि हमारी कमाई धर्मानुसार हो और अधिक धन होने पर वह समाज के विकास कार्यों पर लगें ।

अपरिग्रह का पालन करने से हम छल, कपट, झूठ, अन्याय व ईर्ष्या से बचते हैं । आत्म चिन्तन व प्रभु भक्ति में मन लगता है । मन शान्त रहता है । ध्यान में सफलता मिलती है । हमारे अन्दर आत्मा के स्वरूप को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है ।

योग का दूसरा अंग – नियम

इनका पालन करने से हमारी अध्यात्मिक उन्नति होती है । व्यक्तिगत विकास होता है । ध्यान साधना में सहायता मिलती है । इनकी संख्या भी पांच है ।

(1) शौच :

शौच से तात्पर्य शुद्धि से है ं मन वाणी व शरीर की पवित्रता को शौच या शुद्धि कहते हैं । यह दो प्रकार की होती है–

(क) **बाह्य शुद्धि :** इसके अन्तर्गत अपने वस्त्र, बाह्य स्थान,

शरीर व धनोपार्जन को पवित्र रखना आता है ।

(ख) **आन्तरिक शुद्धि :** इसके अन्तर्गत स्वाध्याय, सत्संग, प्राणायाम, सत्य बोलना, धर्मानुसार आचरण करना और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या आदि पर संयम रखना या उनका त्याग करना आता है ।

ध्यान में सफलता के लिए और अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिए बाह्य व आन्तरिक – दोनों प्रकार की शुद्धि का विशेष महत्व है। इनका ध्यान न रखने से मनुष्य अपने वास्तविक लक्ष्य को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता । आजकल समाज में केवल बाह्य (बाहरी) शुद्धि पर ही ध्यान दिया जा रहा है । अधिकतर लोग पार्को में व स्वास्थ्य केन्द्रों में शरीर की बाहरी शुद्धि व देखरेख पर ही अपना ज्यादा समय व धन लगाते नजर आते हैं । स्वाध्याय व सत्संग आदि की ओर लोगों का आकर्षण न के बराबर है । फलस्वरूप अधिकतर लोगों में शान्ति और आत्म विश्वास की कमी पायी जाती है ।

शौच के पालन करने से हमें अपने शरीर के प्रति आसक्ति नहीं रहती । शरीर की नश्वरता का बोध होता है ं इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर की स्वस्थता पर ध्यान नहीं देना है । शौच का पालन करने से ध्यान में मन लगता है । मन प्रसन्न रहता है । अत: हमें जीवन को दीर्घायु बनाने के लिए, आत्मिक शान्ति व ईश्वर साक्षात्कार के लिए अपने आहार–विहार व मन की शुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

(2) सन्तोष :

अपनी योग्यता, शक्ति, ज्ञान व साधनों का पूर्ण प्रयोग करने के बाद जो फल प्राप्त होता है, उससे सन्तुष्ट होना सन्तोष कहलाता है । जो कुछ हमारे पास है उससे अधिक का लोभ न करना सन्तोष है । यदि पूर्ण पुरुषार्थ करने के बाद फल की प्राप्ति आशा से कम हो तो चिन्तित व हताश नहीं होना चाहिए । हाँ, कोशिश निरन्तर जारी रखना चाहिए । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि व्यक्ति अपनी योग्यता व सामर्थ्य को न बढ़ाये या उसे न पहचान कर कम पुरुषार्थ करे और उसी में सन्तोष कर ले । यह सामाजिक व आर्थिक उन्नति में बाधक नहीं है । इसका पालन

करने से सामाजिक व आर्थिक उन्नति तो होती ही है इसके साथ-2 जीवन में निराशा नहीं आती ।

आजकल हमारी दृष्टि अधिकतर फल पर जाती है अपनी योग्यता व साधनों पर नहीं । यहीं से असन्तोष की भावना का जन्म होता है और यह जीवन को दुखमय बनाता चला जाता है । इसका एक ही उपाय है - अपने विचारों को शुद्ध करें, नियन्त्रण में रखें और ठीक दिशा में परिश्रम करते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करें । इसलिए हमें अपने परिवार में, माता-पिता में, अपनी पत्नी में, जो भी भोजन मिले उसमें तथा जो भी हमारे पास धन साधन है, उसमें सदा सन्तोष रखना चाहिए ।

सन्तोष का पालन करने से मन शान्त व प्रसन्न रहता है । सुख की अनुभूति होती है, आत्म विश्वास बढ़ता है, अधिक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है । अत्यधिक विषय भोगों को भोगने की इच्छा धीरे-2 नष्ट होने लगती है ।

(3) तप :

धर्म तथा न्याय का पालन और शुभकार्य करते हुए, लाभ हानि, सुख-दुःख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को प्रसन्नता से सहना तप है । जो मनुष्य सुख में अहंकार नहीं करता और दुःख में घबराता नहीं, वही तपस्वी है ।

तप को तीन भागों में बांटा जा सकता है:-

(1) **शरीर का तप :** अपनी इन्द्रियों को वश/संयम में रखना व उनका ठीक-2 उपयोग करना शरीर का तप है । इसके अतिरिक्त माता-पिता, गुरुओं, विद्वानों, निर्धन व कमजोर की सेवा करना भी शरीर का तप कहलाता है ।

(2) **वाणी का तप :** सत्य बोलना, मीठा बोलना, उपयुक्त व कम बोलना, मर्यादा में बोलना आदि वाणी के तप के अन्तर्गत आता है ।

(3) **मन का तप :** मन सभी इन्द्रियों का राजा है । सभी इन्द्रियां मन के आदेशानुसार कार्य करती है । इसलिए मन के तप के बिना शरीर व वाणी का तप नहीं हो सकता । अपने मन को निर्मल, एकाग्र करने के

साथ-2 बुद्धि को सुबुद्धि बनाना मन का तप कहलाता है । इसमें प्राणायाम व योग बहुत सहायक होते हैं ।

हमारे अन्दर पवित्रता तप के बिना नहीं आ सकती । हमें मन में अपवित्र विचार नहीं आने देने चाहिये, सत्य का आचरण करना चाहिए । छल, कपट, क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, मोह का त्याग व बड़ों की सेवा व आदर सत्कार करना चाहिए ।

तप के बिना मन व चित्त की वृत्तियों को दूर करना व इन्द्रियों पर संयम रखना असंभव है ।

ईश्वर भक्ति में सफलता के लिए हमें अपनी सभी क्रियायों में यथा संभव तप का पालन और त्याग की भावना उत्पन्न करनी चाहिए ।

योग्यता व उपलब्धता के अनुसार साधनों का हम प्रयोग करें । लेकिन इनके अभाव में भी प्रसन्नता से रहना आना चाहिए । भौतिक पदार्थों की कमी के कारण सीमित संसारिक सुख होते हुए भी परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, ध्यान से हमें अपने आप को वंचित नहीं करना चाहिए। महर्षि दयानन्द के अनुसार हमें थोड़ा थोड़ा दुःख, थोड़ा-2 कष्ट, थोड़ी-2 पीड़ा सहन करते रहना चाहिए ताकि योगाभ्यास में सफलता प्राप्त हो सके।

तप का पालन करने से शारीरिक, मानसिक व आत्मिक उन्नति होती है । हमारा शरीर वलवान हो जाता है । इन्द्रियां और मन वश में हो जाते हैं । बड़ी-2 समस्याओं के सुलझाने में प्रेरणा और ध्यान में सफलता मिलती है ।

(4) स्वाध्याय :

आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन, चिन्तन, मनन व ईश्वर के मुख्य नाम "ओ३म्" का जप करना स्वाध्याय कहलाता है ।

जीवन में पूर्ण सफलता, मन की शान्ति व मोक्ष की प्राप्ति के लिए हमें भौतिक विद्या व अध्यात्मिक विद्या - दोनों का ही अध्ययन करना चाहिए । दोनों में समन्वय बनाकर जीवन में आगे बढ़ना चाहिए । भौतिक शास्त्र / विद्या के बिना हम संसार में मिलने वाले भौतिक सुखों से वंचित

रहेंगे । अध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में आत्मा व परमात्मा की अनुभूति नहीं हो सकती । अतः जीवन को सुखी, शान्त, प्रसन्न, तृप्त व आनन्दमयी बनाने के लिए दोनों विद्यायों का अध्ययन, चिन्तन, मनन करना चाहिए । भौतिक व अध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति में समन्वय बनाकर चलना चाहिए ।

व्यवहार काल में कुछ समय निकाल कर हमें आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन के द्वारा ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव, ईश्वर प्राप्ति के उपाय व उसमें आने वाली बाधाओं के निवारण का चिन्तन करते रहना चाहिए ताकि ध्यान के समय केवल वे ही बातें सामने आयें अन्य नहीं । इसके साथ-2 हमें उपासना काल में ईश्वर के निज नाम "ओ३म्" का जप, गायत्री मंत्र का जाप व अन्य वैदिक मन्त्रों का जप अर्थ के साथ करना चाहिए । जप करते समय प्राणायाम, श्वास, प्रश्वास क्रियायें व धारणा का भी यथा संभव प्रयोग करना चाहिए । ऐसा करने से ध्यान में मन लगता है ।

स्वाध्याय करने से ज्ञान की वृद्धि के साथ-2 ईश्वर के प्रति श्रद्धा व रुचि बढ़ती है । मन व चित्त की वृत्तियों पर संयम होने लगता है । हम तरह-तरह के दुःखों से बचते हैं और लाभकारी वस्तुओं के उपभोग से सुख प्राप्त करते हैं ।

(5) ईश्वर प्रणिधान :

जब हम अपना प्रत्येक कार्य/कर्म यह जानते हुए करते हैं कि ईश्वर मुझे देख रहा है, सुन रहा है, जान रहा है, यह कार्य उसकी उपस्थिति में हो रहा है, तो ऐसी मानसिक स्थिति को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं ।

हमें अपने सभी कार्य ईश्वर की व्यापकता को मन, बुद्धि व आत्मा में रखते हुए करने चाहिए ताकि हम ईश्वर के साथ अपना संबंध जोड़ सकें और गलत कार्य न कर सकें ।

ईश्वर प्रणिधान का दूसरा अर्थ है ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करना । अपने तन, मन, धन को सदैव ईश्वर के प्रति समर्पित करते रहना अर्थात् उसकी आज्ञानुसार, निर्देशानुसार उनका सदुपयोग करना ।

ईश्वर प्रणिधान का पालन करने से हम पाप कर्म से बचते हैं । हमें प्रत्येक आत्मा व जड़ वस्तु में ईश्वर का आभास होता है । हमारा मन ध्यान में लगता है ।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की साधना से हमारे तीनों शरीरों - स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर व कारण शरीर की शुद्धि होती है । तप से शरीर व इन्द्रियों की शुद्धि होती है । स्वाध्याय से मन, व बुद्धि की शुद्धि होती है । ईश्वर प्रणिधान से चित्त की शुद्धि होती है । **इन तीनों की साधना को क्रिया योग भी कहते हैं ।**

योग का तीसरा अंग-आसन

आजकल आसन के नाम पर अनेक योग क्रियायें समाज में चल रही हैं । इनको हम दो भागों में बांट सकते हैं ।

(1) **शारीरिक व मानसिक दृष्टि से लाभदायक**

शरीर को स्वस्थ व निरोग रखने के लिए हठयोग में विभिन्न प्रकार के आसन बताये गये हैं । इन आसनों को करने से शरीर का प्रत्येक अंग सक्रिय व स्वस्थ बना रहता है । यह आसन किसी योगाचार्य के मार्गदर्शन में ही सीखने चाहियें ।

(2) **अध्यात्मिक दृष्टि के लिए उपयोगी**

यह आसन ध्यान या समाधि में बैठने के लिए उपयोगी होते हैं । यह आसन महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं । इनका मुख्य उद्देश्य ध्यान व समाधि में सफलता प्राप्त करना है । इसके लिए हम जिस स्थिति में सुखपूर्वक व स्थिरता के साथ बैठ जायें, उसे आसन कहते हैं। वैसे तो हम शरीर की स्थिरता बनाते हुये किसी भी आसन में ध्यान के समय बैठ सकते हैं लेकिन पद्मासन, सिद्धासन, सुखासन व स्वस्तिकासन अधिक उपयुक्त हैं । **जो साधक रोग ग्रस्त होने के कारण इनमें से किसी एक भी आसन में नहीं बैठ सकते, वे लकड़ी की चौकी या कुर्सी पर बैठकर और / या दीवार आदि का सहारा लेकर प्राणायाम व ध्यान का अभ्यास कर सकते हैं ।**

आसन में बैठते हुए शरीर को सीधा रखें, ढीला छोड़ें व गति रहित

रखें अर्थात् शरीर स्थिर अवस्था में रहे । कमर, छाती, गर्दन व सिर सीधी रेखा में रखें ताकि सुषम्ना नाड़ी सीधी रहे । यदि आवश्यकता हो तो कमर के पीछे एक तकिया लगाकर दीवार का सहारा लिया जा सकता है । धारणा, ध्यान व समाधि के लिए आसन का अभ्यास अति आवश्यक है । आसन की स्थिरता के बिना मन को एकाग्र करना और ध्यान में पूर्णतः लगाना असंभव है । आसन की सिद्धि हो जाने पर हमें गर्मी–सर्दी, भूख–प्यास आदि कम सताते हैं । चित्त में निम्न भावनायें प्रकट नहीं होती हैं । शरीर की स्थिरता से चित्त स्थिर होने लगता है । फलस्वरूप प्राण वायु भी स्थिर होने लगता है ।

आसन का अभ्यास कम आयु में ही शुरू कर देना चाहिए । पचास वर्ष के बाद आसन का अभ्यास करना कठिन हो जाता है। इस आयु में लातों की हड्डियां मोटी होती जाती हैं और पैरों को मोड़ने में कष्ट होता है ।

नोट–जो साधक किसी कारणवश कुर्सी, चौकी या दीवार आदि का सहारा लेकर भी प्राणायाम व ध्यान का अभ्यास नहीं कर सकते, उनको किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है । ऐसे साधक शव आसन में लेटकर शरीर को पूर्ण रूप से ढीला छोड़ दें व शरीर को स्थिर कर लें । तत्पश्चात् प्राणायाम व ध्यान का अभ्यास शुरू कर दें । कुछ ही दिनों के अभ्यास के बाद उनको भी प्राणायाम व ध्यान में सफलता मिलती जायेगी ।

योग का चौथा अंग–प्राणायाम

किसी भी सुविधाजनक आसन में बैठकर मन की चंचलता को रोकने के लिए श्वास–प्रश्वास की जो क्रिया की जाती है उसे प्राणायाम कहते हैं । यह एक महत्वपूर्ण क्रिया है । इसका प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है । इसके साथ-2 हमारी इन्द्रियां, मन और चित्त की मलिनता और अशुद्धि भी दूर हो जाती हैं अतः शारीरिक, मानसिक व अध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए सभी को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये ।

अध्यात्मिक उन्नति, ध्यान में सफलता व ईश्वर की अनुभूति श्वसन क्रियायों और प्राणायाम के अभ्यास के बिना असंभव है ।

योगदर्शन में केवल चार प्राणायामों का वर्णन है । यह बहुत आसान हैं । इनके करने की ठीक विधि किसी योगाचार्य से भी सीखी जा सकती है । इनका विवरण सूक्ष्म में इस प्रकार है ।

(1) बाह्य प्राणायाम :

इसे बाहरी कुम्भक या प्रथम प्राणायाम भी कहते हैं । इसमें प्राणवायु को धीरे-धीरे फेफड़ों से बाहर निकाला जाता है । पूर्ण प्राण वायु बाहर निकलने पर उसे यथा शक्ति बाहर ही रोकना चाहिए । जब प्राण वायु बाहर न रूक सके तो उसे धीरे-2 भीतर लें । फिर पुनः यही क्रिया करें । इस प्रकार इसे 3 से 21 बार कर सकते हैं । **यह क्रिया जप व ध्यान में बहुत सहायक होती है ।**

(2) आभ्यन्तर प्राणायाम :

इसे आन्तरिक कुम्भक या दूसरा प्राणायाम भी कहते हैं । इसमें श्वास को धीरे-2 अन्दर भरते हैं । श्वास को अन्दर भरकर यथाशक्ति रोकना चाहिए । जब श्वास अन्दर न रूक सके तब धीरे-2 श्वास को बाहर निकालना चाहिए । फिर पुनः यही क्रिया करें ।

नोटः-एक समय में केवल एक ही प्राणायाम करें– या तो बाह्य प्राणायाम करें या आभ्यन्तर प्राणायाम । एक प्रकार के प्राणायाम के अभ्यास के समाप्त होने पर दूसरा शुरू कर सकते हैं ।

(3) स्तम्भवृत्ति प्राणायाम :

बाह्य या आभ्यन्तर कुम्भक न करके प्राणवायु को अचानक ही जहाँ का तहाँ यथाशक्ति रोका जाता है । प्राणवायु न रूकने पर सूक्ष्म श्वास प्रश्वास की क्रिया की जाती है । उसके बाद पुनः स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की स्थिति बनाई जाती है । यह क्रिया ध्यान में बहुत सहायक होती है ।

(4) बाह्य आभ्यान्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम :

यह क्रिया बाह्य और आभ्यनतर प्राणायाम को मिलाकर की जाती

है । बाह्यकुम्भक के समय जब श्वास अन्दर आने लगे तो उसे धक्का देकर यथा शक्ति बाहर ही रोकना चाहिए । इसी प्रकार आभ्यन्तर कुम्भक में जब श्वास भीतर से बाहर निकलना चाहे तो उसे यथाशक्ति बाहर न निकलने देना और बाहर से और श्वास अन्दर लेना चाहिए । दोनों स्थितियों में श्वास को रोकने के बाद धीरे-2 छोड़ना चाहिये । **इसके अभ्यास से मन व इन्द्रियां संयम में होने लगती हैं ।**

प्राणायाम का अभ्यास शुरू करने से पहले प्रतिदिन सुबह दोनों नासिकाओं को साफ करना चाहिए । स्नान करने से पहले अंगुली से दोनों नासिकाओं में सरसों का तेल लगाना चाहिए । तत्पश्चात् प्रत्येक नासिका से धीरे-2 श्वास अन्दर ले ताकि कुछ तेल का अंश नासिका के द्वारा अन्दर चला जाये । इस प्रकार प्रतिदिन करने से नासिका में जमा मल मुलायम होकर धीरे-2 बाहर निकलता रहता है और नासिका साफ व मुलायम रहती है । सप्ताह में एक या दो बार दोनों नासिकाओं में बादाम रोगन की तीन-तीन बूंदें रात को सोते समय डालने से नासिकायें मुंलायम रहती हैं व सिर दर्द नहीं होता ।

प्राणायाम करने से पहले नाड़ी शुद्धि क्रिया (अलोम विलोम क्रिया) करनी चाहिए ताकि हमारे मेरूदण्ड के अन्दर की तीन आध्यात्मिक नाड़ियां-इडा, पिंगला और सुषम्ना सदा सक्रिय रहें ।

कपालभाति, भस्त्रिका, अनुलोम-विलोम नाड़ी शोधन आदि प्राणायाम हठ योग के अन्तर्गत आते हैं । ये शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ठीक विधि से करने पर लाभदायक होती हैं । इनका वर्णन यहाँ पर नहीं किया जा रहा है ।

प्राणायाम में प्रयोग होने वाली क्रियाओं के नाम

(क) **पूरक :** प्राणायाम में श्वास के अन्दर लेने की क्रिया को पूरक कहते हैं ।

(ख) **रेचक :** श्वास को भीतर से बाहर निकालने की क्रिया को रेचक कहते हैं ।

(ग) **कुम्भक :** श्वास को अन्दर या बाहर रोकने की क्रिया को कुम्भक कहते हैं । शरीर और मन को स्थिर करने से ही कुम्भक का अभ्यास ठीक होता है ।

जप व ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए उपरोक्त तीनों प्रकार की क्रियायों का अभ्यास पर्याप्त समय तक करना चाहिए । यह क्रियायें जप व ध्यान में बहुत सहायक होती हैं ।

श्वसन क्रियायें

श्वसन अर्थात् "श्वास लेना" की तीन महत्वपूर्ण क्रियायें या अवस्थायें हैं-दीर्घ, मध्यम और सूक्ष्म ।

(क) **दीर्घ श्वसन :** श्वास को धीरे-2 लम्बा व गहरा लेना और इसी प्रकार धीरे-2 छोड़ना, दीर्घ श्वसन कहलाता है । दीर्घ श्वसन (पूरक विधि) में श्वास को मन्द गति से लम्बा व गहरा अन्दर ले जाना होता है।

दीर्घ श्वसन (रेचक विधि) में श्वास को धीरे-2 मन्द गति से बाहर निकालना होता है ।

(ख) **मध्य श्वसन :** इसमें श्वास मध्यम गति से लिया जाता है अर्थात् बहुत धीमा नहीं-बहुत गहरा नहीं ।

(ग) **सूक्ष्म श्वसन :** इसमें श्वास की गति धीमी तो होती है लेकिन गहरी नहीं होती ।

उपरोक्त श्वसन क्रियायें प्राणवायु को शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँचाने में सहायक होती हैं । इनमें मुख्य दीर्घ श्वसन क्रिया है । **इन क्रियायों के करने से शरीर स्वस्थ रहता है, शरीर के अनेक विकार दूर होते हैं, मानसिक एकाग्रता बढ़ती है, मन शान्त व संयम में हो जाता है। श्वसन क्रियायों और प्राणायाम के अभ्यास से मन जप व ध्यान में लग जाता है । सफलता मिलती है ।**

इसके अतिरिक्त दीघ्र श्वसन के अभ्यास से स्मृति शक्ति तथा मन की एकाग्रता बढ़ती है, ज्ञान की वृद्धि होती है, नाड़ी तन्त्र सुव्यवस्थित होता है, फेफड़े शक्तिशाली होते हैं, इन्द्रियों पर संयम होता है, ब्रह्मचर्य पालन में सहायता मिलती है और स्वास्थ्य अच्छा होता है ।

श्वसन क्रियायें हानिरहित हैं । इन्हें कोई भी व्यक्ति कुछ ही दिनों के अभ्यास से सीख सकता है । अपने शरीर को स्वस्थ रखने के साथ-2 अध्यात्मिक लाभ भी उठा सकता है ।

नोट : बूढ़े व निर्बल/कमजोर व्यक्ति बहुत अधिक गहरा श्वास न लें। इसके अतिरिक्त शीत ऋतु में भी सभी को खुले वातावरण में अधिक गहरा श्वास नहीं लेना चाहिये । इससे ठण्ड लगने की सम्भावना हो सकती है ।

प्रस्तुत ध्यान विधि में श्वास प्रश्वास व प्राणायाम का प्रयोग किया गया है । अतः साधक इन क्रियायों का पर्याप्त अभ्यास कर लें ।

प्राणायाम व श्वसन क्रियायें करते समय सावधानियां

1. प्राणायाम और श्वसन क्रियाओं के करने का ठीक समय प्रातः काल है ।
2. ये खाली पेट होने पर या खाना खाने के 4 या 5 घंटे बाद ही करें ।
3. यदि भोजन न पचा हो या मल त्याग न हुआ हो तो प्राणायाम/श्वसन क्रियायें न करना अच्छा है ।
4. प्राणायाम व श्वसन क्रियायें शुद्ध व खुले स्थान जहाँ पर शुद्ध वायु हो, वहीं पर बैठकर करना चाहिए । बहुत सर्दी के मौसम में खुले स्थान पर बैठने से बचें ।
5. प्राणायाम व श्वसन क्रियाओं की मात्रा मौसम / ऋतु के अनुसार अपनी सामर्थ्य, आयु व स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर तय करनी चाहिए । अधिक सर्दी में बहुत गहरा लम्बा श्वास न लें । ठंड लग सकती है । हृदय रोग व उच्च रक्तचाप से पीड़ित व्यक्ति प्राणायाम व श्वसन क्रियाओं की मात्रा निश्चित करते समय अपने डाक्टर से सलाह ले लें ।
6. प्राणायाम, श्वसन क्रियाओं की मात्रा, संख्या पर ध्यान न देकर, उसकी विधि और कुशलता पर ध्यान देना चाहिए ।
7. प्राणायाम, श्वसन क्रियाओं को करने वाले का भोजन शाकाहारी व सात्विक होना चाहिए ताकि पूर्ण लाभ मिल सके ।

8. प्राणायाम, श्वसन क्रियायें करते समय यदि सिर भारी हो जाये, सिर दर्द होने लगे या चक्कर आने लगे या कोई अन्य शारीरिक परेशानी हो तो ये क्रियायें न करें और किसी निपुण योगाचार्य की सलाह लें ।
9. प्राणायाम व श्वसन क्रियाओं की संख्या शीत ऋतु में अधिक हो सकती है । ग्रीष्म ऋतु में कम होनी चाहिए । वर्षा ऋतु में न अधिक न कम ।
10. प्राणायाम, विशेष रूप से हठ योग के अन्तर्गत वाले प्राणायाम, अच्छे शिक्षक से सीख कर ही शुरू करना चाहिए, नहीं तो हानि भी हो सकती है ।
11. प्राणायाम व श्वास प्रश्वास क्रिया द्वारा ओ३म् का जाप व ध्यान करने से मन की चंचलता को रोकने में सहायता मिलती है । आत्मा के ऊपर जो अज्ञान का आवरण है वह धीरे-2 नष्ट होता जाता है ।

योग का पांचवा अंग-प्रत्याहार

प्रत्याहार का अर्थ है-अपनी इन्द्रियों को संयम में रखना, मन पर नियन्त्रण रखना । मन को वश में करने से सभी इन्द्रियां स्वयं वश में हो जाती हैं । इसके लिए संकल्प और तप की आवश्यकता है । त्याग की भावना अपने अन्दर उत्पन्न करनी होती है । त्याग की भावना व तपस्या का निरन्तर अभ्यास इन्द्रियों को जीतने में सफलता प्रदान करता है । जब तक व्यक्ति विषय भोगों में सुख समझता रहता है तब तक प्रत्याहार की सिद्धि होना असंभव है ।

प्रत्याहार का पालन करने से इन्द्रियां विषय भोगों में नहीं फंसती, ध्यान में एकाग्रता बढ़ती है और मनुष्य आत्म दर्शन का अधिकारी बनता है ।

योग का षष्ठ अंग-धारणा

धारणा का अर्थ चित्त को एक स्थान में रखना है अर्थात् चित्त में एक ही विषय का चिन्तन करना । प्रारम्भ में ध्यान करते समय मन को मस्तक, भ्रूमध्य, नासिका का अग्र भाग, जीभ का अग्र भाग या हृदय पर

केन्द्रित करना चाहिए ।

कुछ समय के लिए ओ३म् व गायत्री मंत्र आदि में भी धारणा करनी चाहिए । इसके बाद शरीर के अन्दर धारणा करनी चाहिए । वास्तव में धारणा करने का विधान शरीर के अन्दर ही है । ध्यान वहीं पर किया जाता है ।

आत्मा और परमात्मा दोनों ही हमारे शरीर में विद्यमान हैं । अत: ध्यान व धारणा शरीर के बाहर नहीं किये जा सकते । हमें चाहिए कि जितने धारणा स्थल हैं सभी पर धारणा लगाने का प्रयत्न करें । जिस स्थान पर मन टिक जाये उसे ही धारणा का केन्द्र बिन्दु बना लें ।

धारणा में सफलता के लिए यम नियम का पालन, आसन की सिद्धि, प्राणायाम का अभ्यास और इन्द्रियों पर संयम रखना अति आवश्यक है ।

धारणा से मन एकाग्र, प्रसन्न, व शान्त रहता है । ईश्वरीय ध्यान शीघ्र नहीं टूटता । टूटने पर पुन: शीघ्रता से लग जाता है । धारणा न होने से ध्यान नहीं होता है ।

योग का सातवां अंग-ध्यान

ध्यान हमारे जीवन का सबसे उत्तम कार्य है । इसे जितनी अच्छी विधि व शान्ति से किया जाय, उतना ही लाभकारी है । ध्यान में सफलता व्यक्तिगत अभ्यास व शुद्ध आचरण पर निर्भर करती है । अभ्यास के बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलती । अत: हमें ध्यान में सफलता के लिए निरन्तर अभ्यास व प्रयास करते रहना चाहिए । ध्यान में असफलता का कारण अविद्या, नियमित अभ्यास न करना या शुद्ध आचरण का पालन न करना ही होता है ।

शरीर के अन्दर मन को धारणा स्थल पर टिका कर ईश्वर के दर्शन, अनुभूति व गुण, कर्म, स्वभाव आदि का लगातार चिन्तन मनन करना ध्यान कहलाता है ध्यान में चित्त की चंचलता बिल्कुल नहीं रहती है । चित्त पूर्णतय: स्थिर हो जाता है । यह चित्त की सर्वश्रेष्ठ स्थिर अवस्था है । जिस प्रकार जल में डुबकी लगाकर मनुष्य कुछ समय के लिए पानी के भीतर ही रुका रहता है इसी प्रकार ध्यान में जीवात्मा परमेश्वर के बीच कुछ समय के लिए आनन्दस्वरूप ज्ञान में मग्न होकर

फिर बाहर आ जाता है । इसका अर्थ मस्तिष्क को विचार शून्य करना नहीं है । ध्यान में सफलता के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार व धारणा का अभ्यास अति आवश्यक है ।

ध्यान का अभ्यास करने व ध्यान में बैठने से मन प्रसन्न व शान्त होता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, अहंकार से छुटकारा मिलता है। बुद्धि की एकाग्रता बढ़ती है, नाड़ी तन्त्र व्यवस्थित रहता है । सभी प्रकार के मानसिक रोगों को समाप्त करने में राम बाण का कार्य करता है । शारीरिक रोगों को समाप्त करने में भी ध्यान प्रक्रिया कुछ सीमा तक सहायक होती है । टेंशन, डिप्रेशन, हृदयरोग आदि नहीं होते हैं । जीवन में सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास होता है । प्रभु दर्शन का मार्ग खुल जाता है ।

ध्यानावस्था व अनुभूतियाँ

ध्यान का पूर्ण अभ्यास होने पर ध्यानकर्ता स्वयं को संसारिक दु:खों से मुक्त महसूस करता है । संसारिक व्यक्तियों को दु:खों से परिपूर्ण देखता है । वह इन्द्रियों के विषय भोगों में सुख के साथ जो दु:ख मिश्रित है उसे ठीक प्रकार से जान लेता है । इसके विपरीत संसारिक व्यक्ति यह तथ्य नहीं जान पाता है ।

बाहरी कुम्भक व स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की स्थिति में जब साधक पूर्ण ध्यानावस्था में होता है तो वह ईश्वर आनन्द का अनुभव करता है। इस आनन्द का अनुभव करने के बाद अब कोई अन्य पदार्थ प्राप्त करने की उसमें इच्छा नहीं रहती है । इस स्थिति / क्षण में योगी को अपना शरीर फूल की तरह हल्का व कोमल महसूस होता है । योगी जान लेता है कि अब मैंने अविद्या, कुसंस्कार, अधर्माचरण, अनुचित उपासना आदि अगला जन्म देने वाले कारणों को समझ लिया है। वह उनको धीरे-धीरे क्षीण करता चला जाता है और मोक्ष का अधिकारी होने का प्रयत्न करता रहता है ताकि जन्म जन्मान्तर के चक्र से मुक्ति मिल सके ।

निरन्तर व नियमित ध्यान में बैठने से समाधि (योग का आठवां अंग) की प्राप्ति होती है।

भाग – 3

जप व ध्यान

जप–ध्यान–सन्ध्या की पूर्व तैयारी

1. स्थान शान्त, एकान्त, स्वच्छ व हवादार होना चाहिए । नगरों में आजकल बहुमंजली इमारतें बनती जा रही है जो कि शुद्ध वायु का सेवन करने में अड़चन पैदा करती हैं । ऐसी परिस्थिति में मौसम / ऋतु का ध्यान रखते हुए, यदि मकान की छत पर जाकर जप, सन्ध्या व ध्यान किया जाय तो अधिक लाभ होता है ।
2. शौच, मंजन, व्यायाम व स्नान आदि के बाद स्वच्छ, ढीले व ऋतु के अनुसार ढीले वस्त्र, जप व ध्यान के समय पहनने चाहिए।
3. शौच, मंजन व हाथ मुंह धोने के बाद भी (स्नान से पहले) जप, सन्ध्या, ध्यान किया जा सकता है ।
4. जप, सन्ध्या व ध्यान में मन लगने के लिए **व्यवहार काल** में ईश्वर प्रणिधान का पालन करना चाहिए ।
5. टेलीफोन व दरबाजे की घंटी, रसोई की आवाज व घर के अन्य शोर से बचना चाहिए ।
6. प्रातःकाल सूर्योदय से कम से कम 1–2 घंटे पहले उठ जाना चाहिए। जप, ध्यान, सन्ध्या की प्रक्रिया सूर्योदय से पहले पूर्ण करने का प्रयत्न करें ।
7. (a) सात्विक आहार का पालन करें व रात्रि के समय भोजन कम से कम करें ।

   (b) जप व ध्यान में बैठने के 3 घं० पूर्व खाना आदि न खायें। चाय या दूध (कम मात्रा में) ले सकते हैं । लेकिन वह भी साधना में बैठने के 1 घं० पहले ।

   (c) यदि खाना खाने के बाद जप या ध्यान के लिए बैठना हो, तो श्वास प्रश्वास व प्राणायाम क्रियायों का प्रयोग न करें ।
8. प्रतिदिन संकल्प करें कि ईश्वर साक्षात्कार व अनुभूति मेरा लक्ष्य है । मैं ईश्वर का ही ध्यान करूंगा ।
9. उपासना में बैठने से पूर्व चिन्तन करें कि सभी संबंधी, मित्र आदि स्वतन्त्र आत्मायें हैं और अपने–2 कर्मफल के अनुसार इस संसार में उन्होंने जन्म लिया है । इनसे मेरा कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है ।
10. उपासना में बैठते समय शरीर, आत्मा, ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करें । अनुभव करें कि ईश्वर मेरे सामने विद्यमान है।

जप व जप सम्बन्धित ध्यान रखने योग्य बातें :

1. किसी मन्त्र या शब्द के बार–2 उच्चारण करने को जप कहते हैं । मन्त्र जप के अभ्यास करने से रजोगुण का प्रभाव कम होता जाता है ˙ सत्वगुण की मात्रा बढ़ती जाती है । जप करते–2 ध्यान लगने लगता है । मन, चित्त व बुद्धि की मलिनता धीरे–2 दूर होने लगती है । चित्त निर्मल व शुद्ध हो जाता है ।
2. **जप में सफलता के लिए निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए–**

(क) मन्त्र या शब्द का सही / ठीक उच्चारण करना ।

(ख) मन्त्र या शब्द के अर्थ को जानना ।

(ग) अर्थ के अनुरूप विचार करना या भावना बनाये रखना ।

(घ) मन्त्र में दिये गये निर्देश के पालन हेतु यथा संभव कर्म करना व मन्त्र की भावना को आचरण में लाना ।

(ङ) श्वास प्रश्वास की क्रियाओं का मन्त्र उच्चारण करते समय उपयोग करना ।

(च) दोनों नासिकाओं को साफ रखना ताकि श्वास प्रश्वास सुगमता से हो सके ।

3. जप चार प्रकार से किया जा सकता है ।

(i) **वाचिक जप :** जब हम किसी मन्त्र या शब्द का उच्चारण ऊंचे व दीर्घ स्वर में करते हैं तो उसे वाचिक जप कहते हैं।

(ii) **उपांशु जप :** जब हम किसी मन्त्र या शब्द का उच्चारण बिना ध्वनि के (केवल होठ हिलाकर) दीर्घ स्वर में करते हैं तो उसे उपांशु जप कहते हैं ।

(iii) **मानसिक जप :** जब हम किसी मन्त्र या शब्द का उच्चारण केवल मन से (बिना होठ हिलाये) करते हैं तो उसे मानसिक जप कहते हैं ।

(iv) **अजपा जप :** पर्याप्त अभ्यास होने पर जब मानसिक जप उपासना काल व व्यवहार काल में स्वयं होने लगता है तो उसे अजपा जप कहते हैं ।

4. वाचिक जप के पर्याप्त अभ्यास के बाद उपांशु जप, इसके पूर्ण अभ्यास के बाद मानसिक जप व अन्त में अजपा जप का अभ्यास करना चाहिए ।

5. अजपा जप तक पहुँचने में लगभग एक वर्ष लग जाता है ।

6. सत्यार्थ प्रकाश में महर्षि दयानन्द द्वारा बताये गये ईश्वर के किसी भी नाम का जप ध्यान से पहले करना चाहिये । ध्यान में शीघ्र सफलता मिलती है ।

7. जिन मन्त्रों या शब्दों से ईश्वर का शुद्ध स्वरूप हमारे सामने उपस्थित होता है, उन्हीं मन्त्रों या शब्दों का जप करना चाहिए। उदाहरण के लिए-(1) ओ३म् का जप (2) गायत्री मन्त्र का जप (3) प्राणायाम मन्त्र का जप (4) ओ३म् असतो मा सद्‌गमय का जप (5) ओ३म् विश्वानि देव-----आदि ।

8. ओ३म् जप ही श्रेष्ठ जप है । इसके जप में शारीरिक चंचलता बिल्कुल नहीं होती । शरीर स्थिर होने लगता है और

ध्यान की स्थिति शीघ्र आने लगती है । **इसी कारण प्रस्तुत पुस्तक में ध्यान विधि के अन्तर्गत ओ३म् के जप, उच्चारण पर विशेष ध्यान दिया गया है ।**

9. जप के समय व स्थान का नियमित पालन करें ।

10. यदि आप जल्दी में हैं या अन्य किसी कार्य में मानसिक रूप से व्यस्त हैं तो जप न करें । **ड्राईविंग करते समय मानसिक जप भी कभी न करें, दुर्घटना हो सकती है ।**

11. जप करने से पहले सुनिश्चित कर लें कि जब तक (नियमित निर्धारित समय तक) जप करना है उस समय किसी प्रकार की कोई न तो जल्दी है और न ही अन्य कोई कार्य तुरन्त करने के लिए आपकी प्रतीक्षा कर रहा है । यदि ऐसा है तो पहले उसको पूर्ण कर लीजिए ।

12. शरीर, सिर, गर्दन, छाती, कमर सीधी रखें । शरीर सीधा परन्तु ढीला रहे ।

13. मन में भावना रखें कि जप से मुझे सुख, शान्ति, प्रसन्नता व आनन्द मिलता है ।

14. आसन पर बैठने का गद्‌दा 1 से 1½'' मोटा होना चाहिए ।

जप व ध्यान मुद्रायें :

हाथों को जप के समय घुटनों या गोद में तीन प्रकार से रख सकते हैं-

(क) **द्रोंण मुद्रा में**-हाथ की उंगलियों को परस्पर मिलायें और हथेली के बीच गढ्ढा सा बनायें । हथेली कटोरा सा दिखाई देगी । अब दोनों हथेलियों को भूमि की ओर मोड़कर दोनों घुटनों के ऊपर रखें । कोहनियां कुछ मुड़ी हुई हों । हाथों को थोड़ा ढीला छोड़ दें ।

(ख) **ज्ञान मुद्रा में**-अंगूठे व तर्जनी उंगली के अग्र भाग को मिलाये । बाकी तीन अंगुलयों को मिलाकर सीधा रखें । मुद्रा बनाकर हथेलियों को आकाश की ओर करते हुए

घुटनों के ऊपर रखें ।

(ग) **पद्म मुद्रा में**-प्रत्येक हाथ की पांचों उंगलियों को आपस में मिलायें । दायें हाथ की हथेली को बायें हाथ की हथेली के ऊपर रखें । इसके पश्चात् दोनों हथेलियों को नाभि के नीचे गोद में रखें ।

16. जप, सन्ध्या व ध्यान के लिए सुखासन, सिद्ध आसन, पद्मासन या स्वस्तिकासन का प्रयोग करें ।

नोट–जो साधक किसी कारणवश उपरोक्त आसन में नहीं बैठ सकते या कुर्सी / चौकी / दीवार आदि का सहारा लेकर भी प्राणायाम व ध्यान का अभ्यास नहीं कर सकते, उनको किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है । ऐसे साधक शव आसन में पतले गद्दे पर लेटकर शरीर को पूर्ण रूप से ढीला छोड़ दें व शरीर को स्थिर कर लें । तत्पश्चात् प्राणायाम व ध्यान का अभ्यास शुरू कर दें । कुछ ही दिनों के अभ्यास के बाद उनको भी प्राणायाम व ध्यान में सफलता मिलती चली जायेगी ।

"ओ३म्" शब्द व गायत्री मंत्र की जप विधि

ओ३म् व गायत्री मंत्र की जप विधि एवं ध्यान विधि लेखक अपने व्यक्तिगत अभ्यास और अनुभूति के आधार पर लिख रहा है । ओ३म् व गायत्री मंत्र के विधि अनुसार जप व अभ्यास से शरीर, मन व चित्त की चंचलता धीरे-धीरे खत्म होने लगती है । शरीर स्थिर होने लगता है और ध्यान की आंशिक स्थिति शीघ्र आने लगती है ।

"ओ३म्" शब्द की जप विधि

(1) धीमा (धीरे-2) लम्बा श्वास नासिका से अन्दर ले (पूरक क्रिया)

(2) ध्यान, मन को आज्ञाचक्र पर केन्द्रित करें ।

(3) धीरे-2 श्वास छोड़ते हुए "ओ३म्" का उच्चारण करें । (रेचक क्रिया)

ओ----------------३----------------म्

(4) ओ३म् का उच्चारण व श्वास बाहर निकलने की क्रिया एक साथ समाप्त होनी चाहिए । ओ३म् का उच्चारण समाप्त होते समय धीरे-2 मुख बन्द होता चला जायेगा **और अन्तिम अक्षर 'म' का उच्चारण नाक से तब तक करते रहें जब तक पूरा श्वास बाहर न चला जाये ।**

(5) श्वास बाहर निकलने के बाद श्वास को यथाशक्ति बाहर ही रोकें अर्थात् बाहरी कुम्भक की स्थिति में रहें ।

(6) बाहरी कुम्भक की स्थिति में "ओ३म्" शब्द के अर्थ का मानसिक चिन्तन करें-जैसे ईश्वर सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, धारक व प्रलयकर्ता है ।

नोट : यदि कुम्भक की स्थिति में रहने का अभ्यास अभी नहीं है तो एक या दो सूक्ष्म श्वास लें और पुनः कुम्भक की स्थिति में उपरोक्त मानसिक चिन्तन यथा शक्ति करें ।

(7) इस प्रकार यह एक चक्र पूरा हुआ ।

(8) इसी प्रकार पहले 11 चक्र का अभ्यास करें । धीरे-2 इसे बढ़ाते जायें । फिर 21, या 31 चक्र अपनी क्षमता, समय, योग्यता, स्वास्थ्य के अनुसार प्रतिदिन सुबह (ब्रह्म मुहुर्त में) व सांय काल सन्ध्या के समय करें ।

(9) इस विधि का प्रयोग तीनों प्रकार के जप - वाचिक, उपांशु व मानसिक-में किया जा सकता है ।

(10) श्वास प्रश्वास कितना लम्बा, कितना गहरा व कुम्भक का समय कितना हो-यह प्रत्येक साधक के शारीरिक स्वास्थ्य पर निर्भर करता है । अतः श्वास, प्रश्वास व कुम्भक की प्रक्रिया अपने स्वास्थ को ध्यान में रख कर करें । यदि कुम्भक करने में परेशानी हो तो सूक्ष्म श्वास ले सकते हैं।

(11) यदि लम्बा गहरा श्वास की प्रक्रिया में सिर भारी हो या शरीर में असुविधा का अनुभव हो रहा हो तो श्वास प्रश्वास

व कुम्भक की अवधि कम कर लेनी चाहिए ।

(12) जिन साधकों को उच्च रक्तचाप रहता है वे अधिक लम्बा, अधिक गहरा श्वास प्रारम्भ में न लें । अधिक देर तक कुम्भक की प्रक्रिया भी न करें । वे धीरे-2 अभ्यास से इस प्रक्रिया को बढ़ायें ।

उपरोक्त विधि से लाभ

1. दीर्घ व गहरा श्वास प्रश्वास की प्रक्रिया में विशेष प्रयत्न की जरूरत नहीं पड़ती । यह हानि रहित क्रिया है । इससे शरीर की सभी कोशिकायें सक्रिय (Active) हो जाती हैं ।
2. श्वसन तन्त्र सुव्यवस्थित होने लगता है ।
3. दीर्घ श्वसन की आदत डालने से सुक्ष्म नाड़ियां सक्रिय होती हैं । शुद्ध होती हैं । बलशाली होने लगती हैं ।
4. शारीरिक व मानसिक कार्यक्षमता और स्फूर्ति बढ़ती है ।
5. शरीर स्वस्थ व दीर्घ आयु को प्राप्त करता है ।
6. जप काल (उपासना काल) में रीढ़ की हड्डी व गर्दन सीधा रखने से रीढ़ व कमर संबंधी रोग नहीं होते हैं ।
7. मन की चंचलता पर नियन्त्रण लगता है । मन धीरे-2 शान्त होने लगता है ।
8. कुछ क्षण के लिए कुम्भक करने से शरीर में स्थिरता आती है जो कि ध्यान के लिए अति आवश्यक है ।
9. ईश्वर भक्ति में मन लगता है ।
10. दीर्घ श्वास प्रश्वास, जप व ध्यान की तरफ पहला सक्रिय कदम है ।

गायत्री मन्त्र की जप विधि

तैयारी : गायत्री मन्त्र का जप करने के लिए "ओ३म् जप तैयारी विधि " व "ध्यान रखने योग्य" बातों का पुनः चिन्तन करें ।

जप विधि

1. गायत्री मन्त्र को चार चरण में बांटा गया है

(1) **ओ३म् भूर्भवः स्वः** – पहला चरण
(2) **तत् सवितुर्वरेण्यम्** – दूसरा चरण
(3) **भर्गो देवस्य धीमहि** – तीसरा चरण
(4) **धियो यो न प्रचोदयात्** – चौथा चरण

2. गायत्री मन्त्र के अर्थ को अच्छी तरह कंठस्थ कर लें । साधकों की सुविधा के लिए सरल भाषा में भावार्थ निम्नलिखित है-

सरल भावार्थ : प्रभु आप प्राण स्वरूप, दु:ख विनाशक, सुख स्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक व देवस्वरूप हैं ।

मैं आपके इस स्वरूप को अपने अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) में धारण करता हूँ। आप मेरी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें ।

कविता भावार्थ :

तूने हमें उत्पन्न किया, पालन कर रहा है तू ।
तुझसे ही पाते प्राण हम, दुखियों के कष्ट हरता है तू ।।
तेरा महान् तेज है, छाया हुआ सभी स्थान ।
सृष्टि की वस्तु वस्तु में, तू हो रहा है विद्यमान ।।
तेरा ही धरते ध्यान हम, मांगते तेरी दया ।
ईश्वर हमारी बुद्धि को, श्रेष्ठ मार्ग पर चला ।।

3. मन में संकल्प करें कि उपरोक्त भावार्थ के अनुसार मैं प्रयास करके अपनी बुद्धि को सन्मार्ग पर लगाऊंगा ।

4. (क) ध्यान को मूलाधार या आज्ञाचक्र में ले जायें ।
(ख) धीरे-2 लम्बा गहरा श्वास नासिका से अन्दर लें (पूरक करें)
(ग) धीरे-2 श्वास छोड़ते हुए (रेचक विधि) गायत्री मन्त्र के पहले चरण का उच्चारण करें ।

ओ------------३------------म्--भूर्भवः स्वः

(घ) यथाशक्ति श्वास को बाहर ही रोकें (कुम्भक) । यदि कुम्भक की स्थिति में असुविधा हो तो एक या दो सूक्ष्म श्वास ले सकते हैं ।

(ङ) इस स्थिति (बाहरी कुम्भक) में प्रथम चरण का मानसिक उच्चारण जितनी बार सम्भव हो, करें ।

(च) तत्पश्चात् तीन सामान्य श्वास लें ।

5. (क) पुनः ध्यान को नाभि या आज्ञाचक्र पर ही केन्द्रित रखें।

(ख) धीरे-2 लम्बा गहरा श्वास नासिका से अन्दर लें (पूरक करें)

(ग) धीरे-2 श्वास छोड़ते हुए (रेचक क्रिया) गायत्री मन्त्र के दूसरे चरण का उच्चारण करें ।

ओ----------३----------म्--तत् सवितुर्वरेण्यम्

(घ) यथा शक्ति श्वास को बाहर ही रोकें (बाहरी कुम्भक) यदि कुम्भक की स्थिति में असुविधा हो तो सूक्ष्म श्वास ले सकते हैं ।

(ङ) इस स्थिति (बाहरी कुम्भक) में दूसरे चरण का मानसिक उच्चारण जितनी बार सम्भव हो, करें ।

(च) तत्पश्चात् तीन सामान्य श्वास लें ।

6. उपरोक्त विधि के अनुसार तीसरे व चौथे चरण का अभ्यास करें।

इस प्रकार यह एक चक्र पूरा हुआ । ऐसे तीन चक्र 2-3 मास तक प्रातः काल (ब्रह्म मुहुर्त) व सायं काल रोज करें । इसके अभ्यास के तुरन्त पश्चात् गायत्री मंत्र का पूर्ण उच्चारण निम्नलिखित विधि से शुरू करें व आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करें ।

1. (क) ध्यान को आज्ञाचक्र, हृदय, नाभि या मूलाधार में मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्थिर करे । **कृपया ध्यान, धारणा का केन्द्र बार-2 न बदलें ।**

(ख) धीरे-2 लम्बा गहरा श्वास नासिका से अन्दर लें (पूरक)

(ग) श्वास धीरे-2 छोड़ते हुए (रेचक) पूर्ण गायत्री मन्त्र का

उच्चारण करें । कोशिश करें कि पूरा श्वास बाहर निकलने तक मन्त्र का उच्चारण चलता रहे ।

(घ) यथाशक्ति श्वास को बाहर ही रोकें (बाहरी कुम्भक) । इस स्थिति में मन्त्र का मानसिक उच्चारण करें या अर्थ का चिन्तन करें ।

(ङ) यदि कुम्भक की स्थिति में न रहा जाये तो एक या दो सूक्ष्म श्वास ले सकते हैं ।

इस प्रकार यह एक चक्र पूरा हुआ । इसी प्रकार से अधिक चक्र (जाप) 5, 11, या 21 अपनी क्षमता, समय, योग्यता, स्वास्थ्य के अनुसार प्रतिदिन सुबह-शाम नियमित समय पर करें ।

इस विधि का प्रयोग वाचिक, उपांशु या मानसिक-तीनों प्रकार के जप में किया जा सकता है ।

इस विधि की सावधानियां व लाभ हेतु "ओ३म् जप विधि" में दिये गये निर्देशों, बातों का अनुकरण करें ।

भाग – 4

उपासना व ध्यान

ध्यान विधि की तैयारी

जो तैयारी जप या सन्ध्या करने से पूर्व बतायी गई है उसी का अनुकरण करें ।

इसके अतिरिक्त ध्यान विधि में प्रयोग होने वाले निम्नलिखित शब्दों व मन्त्रों को अर्थ सहित याद कर लें ।

(1) ईश्वर के 20 मुख्य विशेषताएं (नाम) (गुण, कर्म, स्वभाव) निम्नलिखित क्रम में याद कर लें ।

(क) सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सृष्टिकर्ता

(ख) अजन्मा, अनादि, अनन्त, अनुपम, अमर, अजर, अभय

(ग) निराकार, न्यायकारी, निर्विकार, नित्य

(घ) दयालु, पवित्र

निम्नलिखित मन्त्र भी अर्थ के साथ याद कर लें ।

(2) प्राणायाम मंत्र :

ओ३म् भूः ओ३म् भूवः ओ३म् स्वः ओ३म् महाः ओ३म् जनः, ओ३म् तपः ओ३म् सत्यम् ।

अर्थ :

पहला चरण : ओ३म् भूः

प्रभू ! आप भूः स्वरूप हैं । प्राणदाता हैं । सभी के प्राणों की अन्न, जल, अग्नि व वायु द्वारा रक्षा करते हैं। मुझे भी प्रेरणा दीजिए। मैं भी यथाशक्ति दूसरों के प्राणों की रक्षा कर सकूं। अहिंसा के मार्ग पर चलूं।

दूसरा चरण : ओ३म् भुवः

प्रभु ! आप भुवः स्वरूप हैं । दुःख विनाशक हैं । सभी के दुःखों को न्यायपूर्वक दूर करते हैं । मुझे भी प्रेरणा दीजिए । मैं भी

यथाशक्ति दूसरों के संसारिक दुःखों को दूर कर सकूं ।

तीसरा चरण : ओ३म् स्वः

हे सर्वरक्षक प्रभु ! आप स्वः स्वरूप हैं । सुखदायक हैं । सभी प्राणियों को उनके कर्मानुसार सुख प्रदान करते हैं । मुझे भी प्रेरणा दीजिए–मैं भी यथाशक्ति दूसरों को सुख प्रदान कर सकूं । **उनके मानव अधिकारों की रक्षा कर सकूं ।** निर्मल, गरीब, दुःखी व रोगियों की सहायता कर सकूं ।

चौथा चरण : ओ३म् महः

हे प्रभो ! आप महः स्वरूप हैं । महान् हैं । श्रेष्ठ हैं । मुझे भी प्रेरणा दीजिए । मैं भी सुकर्म व निष्काम कार्य करता हुआ महानता के गुण अपने अन्दर ला सकूं ।

पांचवां चरण : ओ३म् जनः

हे प्रभु ! आप जनः स्वरूप हैं । सृष्टि के उत्पत्ति कर्ता हैं, पालक हैं, धारक हैं, प्रलयकर्ता हैं । आपको बार–2 नमन् करता हूँ ।

छटा चरण : ओ३म् तपः

हे प्रभु ! आप तपः स्वरूप हैं । सृष्टि में सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पृथ्वी आदि सभी आपके अनुसार नियम से कार्य कर रहे हैं । मुझे भी प्रेरणा दीजिए । मैं भी अपना जीवन तपस्वी बनाऊं । नियमित जीवन निर्वाह करूं ।

सातवां चरण : ओ३म् सत्यम्

हे प्रभु ! आप सत्य स्वरूप हैं । सत्यवादी है । मुझे भी प्रेरणा दीजिए । मैं भी सत्य के रास्ते पर चलूँ ।

(3) **ओ३म् असतो मा सद्गमय ।**
ओ३म् तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
ओ३म् मृत्योमा अमृतंगमय ।

अर्थ–

पहला चरण : ओ३म् असतो मा सदगमय

हे प्रभु ! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले जाइये । प्रेरणा दीजिए मैं सत्य का पालन करूं । छल, कपट व असत्य का त्याग करूं।

दूसरा चरण : ओ३म् तमसो मा ज्योतिर्गमय

हे प्रभु ! मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाइये । अविद्या से विद्या की ओर ले जाइये । अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रेरित कीजिए। प्रेरणा दीजिए । मैं वेद और आर्ष ग्रन्थों का चिन्तन करूं । अष्टांग योग का पालन करूँ । उनके अनुसार अपना जीवन चलाऊं ।

तीसरा चरण : ओ३म् मृत्योर्मा अमृतंगमय ।

हे प्रभु ! मुझे मृत्यु रूपी दु:खों से छुड़ाकर मोक्ष रूपी आनन्द प्राप्त कराइये । मुझे प्रेरणा दीजिए । मैं सुकर्म व निष्काम कार्य करूं । योगाभ्यासी बनूं । आवागमन के चक्र से मुक्ति पाऊँ । आपका सच्चा पुत्र कहलाने का अधिकारी बनूं ।

(4) **गायत्री मंत्र**

गायत्री मंत्र व इसके अर्थ के लिए गायत्री मंत्र की जपविधि देखें ।

(5) **सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः ।**
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दु:ख भागभवेत् ।

अर्थ : हे ईश्वर ! सभी सुखी हों । कोई दु:खी न हों । सब नीरोग रहें । सब एक दसूरे को प्रेम भाव से देखें । सबका हर प्रकार से कल्याण हो ।

(6) **त्वमेव माता च पिता त्वमेव,**
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥

हे ईश्वर ! तुम ही मेरी माता हो, पिता हो, मित्र हो, सखा हो, गुरु हो, आचार्य हो, राजा हो, उपास्य हो ।

प्रभु ! मुझे प्रेरणा दीजिए मेरा यह सम्बन्ध आपके साथ सदा बना रहे । मैं अपने सारे कार्य आपकी उपस्थिति मानकर करूं । मेरा मार्ग दर्शन कीजिए ।

(7) **हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादि कर्मणा । धर्मार्थ काममोक्षणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्न ।**

हे ईश्वर ! आपकी कृपा से मैं शीघ्र ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करूं ।

(8) **ओ३म् नमः शम्भवाय च, मयोभवाय च, नमः शंकराय च, मयस्कराय च, नमः शिवाय च, शिवतराय च ॥**

हे प्रभु ! आप सुख प्रदाता हैं । हमारा कल्याण करने वाले हैं । मंगल स्वरूप हैं । आपको हमारा बारम्बार नमस्कार हो ।

(9) शान्ति पाठ

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्ति-रोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः ।
सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे ईश्वर ! सूर्यादि, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, ओषधियां, वनस्पतियां सभी शान्तिदायक हैं । हे प्रभु, अपनी कृपा से ऐसी शान्ति सभी को प्रदान कीजिए ।

ध्यान विधि :

इस पुस्तक में बताई गई ध्यान विधि के अनुसार ध्यान में लगभग आधे घण्टे से एक घण्टा लगता है । इस समय को अपने स्वास्थ्य, लगन, रुचि व समय के अनुसार बढ़ाया जा सकता है । ध्यान विधि में श्वास प्रश्वास क्रिया, बाह्य प्राणायाम (कुम्भक), स्तम्भवृत्ति प्राणायाम, ओ३म् का जाप तथा सरल वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया गया है । इनका अभ्यास व श्वास प्रश्वास क्रियाओं के साथ सही उच्चारण करने में काफी समय लगता है। लेकिन कोई भी साधारण साधक इनको कुछ ही दिनों में सफलतापूर्वक सीख सकता है । पूर्ण अभ्यास के बाद सफलता भी अवश्य मिलती है ।

साधकों व प्रभु भक्तों की सुविधा के लिए ध्यान प्रक्रिया को चार चरणों में बांटा गया है । प्रत्येक चरण – एक, दो, तीन और चार का अभ्यास कम से कम तीन-तीन महीने करना है । साधक प्रथम चरण का अभ्यास तीन महीने करने के बाद ही दूसरे चरण में प्रवेश करें । इसी

प्रकार दूसरे और तीसरे चरण का कम से कम तीन-तीन महीने अभ्यास होने पर चौथे चरण अर्थात् वास्तविक ध्यान में प्रवेश करें। इसके साथ-2 प्रतिदिन व्यवहार काल में अपनी दिनचर्या को ठीक रखें। यम, नियम व आसन का पालन करें।

इस प्रकार ध्यान में सफलता के लिए कम से कम एक वर्ष लग जाता है। मुझे विश्वास है कि प्रभु आपको इस शुभ कार्य में पूर्ण सफलता प्रदान करेगा।

ध्यान विधि के चार चरणों की निम्न विशेषताएं हैं।

(1) **पहला चरण :** इस चरण में शब्दों और मन्त्रों का उच्चारण करते हुए केवल दीर्घ श्वसन व सुक्ष्म श्वसन प्रक्रिया का अभ्यास किया गया है। इस प्रक्रिया से मन शान्त होता है। ईश्वर भक्ति में मन लगता है। मन्त्र व शब्द कंठस्थ हो जाते हैं। दीर्घ श्वसन के अभ्यास से स्वास्थ्य अच्छा बना रहता है।

(2) **दूसरा चरण :** इस चरण में मन्त्रों का उच्चारण पहले चरण की भांति दीर्घ श्वसन प्रक्रिया के साथ किया जाता है। इसके अतिरिक्त मन्त्रों के अर्थ का भी उच्चारण किया जाता है। इसके लाभ भी पहले चरण की तरह हैं। मन्त्रों के अर्थ कण्ठस्थ हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त हमारा चित्त भी शान्त होने लगता है।

(3) **तीसरा चरण :** इस चरण में मन्त्रों का उपांशुविधि द्वारा उच्चारण करते हैं। **दीर्घ श्वसन प्रक्रिया के साथ-2 बाह्य प्राणायाम (बाहरी कुम्भक) एवं स्तम्भवृत्ति प्राणायाम का भी प्रयोग किया गया है।** इस चरण के अभ्यास के बाद शरीर में पूर्ण स्थिलता आ जाती है और मन व चित्त पूर्ण रूप से ईश्वर के ध्यान में लग जाते हैं।

(4) **चौथा चरण :** इस चरण में सभी मन्त्रों का केवल मानसिक चिन्तन / उच्चारण ही किया जाता है। श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया व प्राणायाम की सहायता पहले की तरह ली जाती है।

इस स्थिति में ध्यान की पूर्ण विधि सम्पन्न होती है। हम

वास्तविक ध्यान में प्रवेश करते हैं।

नोट : साधकों व भक्तों से निवेदन है कि वे सीधा तीसरे या चौथे चरण में प्रवेश करने का प्रयत्न न करें। ध्यान करना एक तप है। इसमें सफलता हमारे शुद्ध आचरण, विभिन्न क्रियाओं के निरन्तर अभ्यास, सुविचार और प्रभु कृपा के द्वारा ही मिलती है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए लेखक ने ध्यान सीखने हेतु साधकों के लिए कम से कम एक वर्ष का अनुमान लगाया है। फलस्वरूप ध्यान प्रक्रिया को चार भागों में बांट दिया गया है ताकि प्रभु भक्त ध्यान प्रक्रिया को आसानी से सीख सकें और ईश्वर के आनन्द को प्राप्त कर सकें।

ध्यान विधि-पहला चरण-प्रातःकाल

1. (i) ध्यान की तैयारी से सम्बन्धित बातों का अनुकरण करते हुए किसी भी आसन में सुख पूर्वक बैठ जायें।

   (ii) यदि शब्द, मन्त्र कंठस्थ हैं तो आंखें बन्द कर लें अन्यथा आंखें खोल कर रखें व मन्त्र, शब्द पढ़कर उच्चारण करें।

   (iii) शब्द / मन्त्र का जप करते हुए दीर्घ श्वसन विधि का प्रयोग बताया गया है। यदि दीर्घ व गहरा श्वास लेने से शरीर या मस्तिष्क में कुछ असुविधा प्रतीत हो तो बहुत गहरा श्वास अन्दर न लें। उच्चरक्तचाप से पीड़ित साधक भी प्रारम्भ में अधिक गहरा श्वास अन्दर न लें। ऐसी स्थिति में श्वास कम गहरा लें। लेकिन श्वास को लम्बा करते हुए धीरे-2 मन्त्र के उच्चारण के साथ छोड़ें ताकि मन्त्र का उच्चारण व पूर्ण श्वास एक साथ बाहर निकले।

2. (a) सर्व प्रथम तीन बार दीर्घ श्वसन प्रक्रिया करें।

   (b) तत्पश्चात् गहरी श्वास अन्दर लेकर छोड़ते हुये गायत्री मंत्र का धीरे-2 उच्चारण करें।

तत्पश्चात् पांच संकल्प निम्न प्रकार करें-

3. (क) दीर्घ श्वसन क्रिया के साथ ओ३म् का उच्चारण करें अर्थात्

पहले धीमा लम्बा गहरा श्वास अन्दर लें फिर धीरे-2 श्वास छोड़ते हुए ओ३म् का उच्चारण करें । जब तक पूरा श्वास बाहर नहीं चला जाता, ओ३म् का उच्चारण चलता रहे ।

(ख) इसके पश्चात् दो या तीन सामान्य श्वास लें ।

(ग) तत्पश्चात् संकल्प लें–

संकल्प (i)

हे परमेश्वर ! आप मुझे देख रहे हैं । सुन रहे हैं । जान रहे हैं । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ । उपासना काल में अपना मन आपसे हटाकर इधर-उधर नहीं ले जाऊंगा । आपकी उपासना प्रतिदिन सुबह-शाम हृदय से करूँगा ।

(घ) तत्पश्चात् 2 या 3 बार सूक्ष्म श्वास लें ।

पुनः बिन्दु (क) में ऊपर दिये गये निर्देश के अनुसार ओ३म् का उच्चारण करें । इसके बाद 2-3 सामान्य श्वास लें । तत्पश्चात् संकल्प नं० 2 बोलें

संकल्प (ii)

हे प्रभु ! मैं एक आत्मा हूँ । अपने कर्मों के फलानुसार और आपकी कृपा से मुझे यह मानव शरीर प्राप्त हुआ है । मैं संकल्प लेता हूँ । **मन, वचन व कर्म से कभी भी किसी भी प्राणी को हानि नहीं पहुँचाऊंगा** । काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, अहंकार पर संयम रखूंगा ।

तत्पश्चात् 2 या 3 बार सूक्ष्म श्वास लें ।

इसी प्रकार ओ३म् का उच्चारण करने के बाद नीचे दिये तीन संकल्प और लें ।

संकल्प नं० (iii)

हे प्रभु ! मैं अपने जीवन में यम नियम का पालन करूँगा । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के साथ-साथ शुद्धि, सन्तोष, स्वाध्याय, तप, व ईश्वर प्रणिधान को अपने जीवन का अंग बनाऊंगा । अपने सभी कार्य धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करूंगा ।

संकल्प नं० (iv)

हे प्रभु ! मैं व्रत धारण करता हूँ । अपनी शक्ति व योग्यता के अनुसार निरन्तर पंच महायज्ञ का पालन करूंगा । अविद्या को दूर करूंगा ! विद्या की वृद्धि करूँगा । गरीब, कमजोर, रोगी व दुखियों की यथाशक्ति सहायता करूंगा ।

संकल्प (v)

हे प्रभु ! मुझे प्रेरणा दीजिए ! मैं न्यायकारी बनूं, सत्यमयी बनूं । दयालु बनूं, पवित्र बनूं, अहिंसक बनूं, निष्काम कर्म करूं । **कभी भी किसी के मानव अधिकारों का उल्लंघन न करूं** । जन्म जन्मान्तर के चक्र से मुक्ति पाऊँ ।

नोट : संकल्प में बहुत बड़ी प्रेरणा व शक्ति होती है । प्रतिदिन प्रातः और सायं संकल्प दोहराने और उसके अनुसार अपना आचरण करने से हमारे ऊपर प्रभु की कृपा होती है, सभी शुभ कार्य सफल होते हैं। प्रभु भक्ति में मन लगता है । इसके विपरीत जो प्रभु भक्त उपरोक्त पांच संकल्पों के अनुसार अपनी जीवनचर्या ठीक नहीं करते, उनको ध्यान में कब व कितनी सफलता मिलेगी, इसका निर्णय वे स्वयं कर सकते हैं ।

ईश्वर स्तुति

(4) **प्रभु के गुण, कर्म, स्वभाव का अनुभव कराने वाले नामों का वाचिक उच्चारण, चिन्तन-मनन !**

(i) (क) लम्बा, गहरा, श्वास धीरे-2 अन्दर लें (पूरक करें) फिर श्वास को धीरे-2 बाहर छोड़ते हुए लम्बे स्वर में वाचिक उच्चारण करें–

"ओ३म् सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वराय नमो नमः"

(ख) वाक्य का उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए ।

(ग) तत्पश्चात् तीन सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) मन की धारणा किसी एक दिये गये स्थान पर बनायें रखें या मन को मन्त्र पर ही केन्द्रित करें ।

(ड़) इस प्रकार यह ईश्वर के एक गुण का वाचिक उच्चारण हुआ ।

इसी उपरोक्त विधि से ईश्वर के अन्य गुण, कर्म, स्वभाव का वाचिक उच्चारण, चिन्तन मनन / अभ्यास करें ।

(ii) **ओ३म् सर्व शक्तिमान् परमेश्वराय नमो नमः**
(iii) **ओ३म् सर्वव्यापक परमेश्वराय नमो नमः**
(iv) **ओ३म् सर्वान्तर्यामी परमेश्वराय नमो नमः**
(v) **ओ३म् सर्वाधार परमेश्वर नमो नमः**
(vi) **ओ३म् सर्वेश्वर परमेश्वराय नमो नमः**
(vii) **ओ३म् सृष्टिकर्ता परमेश्वराय नमो नमः**
(viii) **ओ३म् अजन्मा परमेश्वराय नमो नमः**
(ix) **ओ३म् अनादि परमेश्वराय नमो नमः**
(x) **ओ३म् अनन्त परमेश्वराय नमो नमः**
(xi) **ओ३म् अनुपम परमेश्वराय नमो नमः**
(xii) **ओ३म् अमर परमेश्वराय नमो नमः**
(xiii) **ओ३म् अजर परमेश्वराय नमो नमः**
(xiv) **ओ३म् अभय परमेश्वराय नमो नमः**
(xv) **ओ३म् निराकार परमेश्वराय नमो नमः**
(xvi) **ओ३म् न्यायकारी परमेश्वराय नमो नमः**
(xvii) **ओ३म् निर्विकार परमेश्वराय नमो नमः**
(xviii) **ओ३म् नित्य परमेश्वराय नमो नमः**
(xix) **ओ३म् दयालु परमेश्वराय नमो नमः**
(xx) **ओ३म् पवित्र परमेश्वराय नमो नमः**

नोट : ***ईश्वर स्तुति का लाभ जब ही होता है जब हम उसमें बताये गये ईश्वर के गुणों को (जो संभव हों) अपने हृदय में धारण करते हैं और उन को अपने आचरण में पालन करते हैं ।***

(5) **प्राणायाम मन्त्र का वाचिक उच्चारण व चिन्तन**

(क) धीरे–2 लम्बा, गहरा श्वास अन्दर लें (पूरक)

(ख) धीरे–2 श्वास छोड़ते हुए मंत्र के पहले चरण का उच्चारण करें–

(i) **ओ------------३------------म्---भूः**

(ग) मन्त्र का उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए ।
श्वास पूर्ण बाहर निकलने के पश्चात् (अर्थात् रेचक के बाद) तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) मन की धारणा किसी एक दिये गये स्थान पर बनाये रखें या मन को मन्त्र पर ही केन्द्रित करें ।

(ङ) इस प्रकार प्राणायाम मन्त्र के पहले चरण का वाचिक उच्चारण, चिन्तन हुआ ।

इसी प्रकार उपरोक्त विधि से प्राणायाम मन्त्र के अन्य छः चरणों का वाचिक उच्चारण, चिन्तन, अभ्यास करें ।

(ii) **ओ------------३------------म्---भुवः**
(iii) **ओ------------३------------म्---स्वः**
(iv) **ओ------------३------------म्---महः**
(v) **ओ------------३------------म्---जनः**
(vi) **ओ------------३------------म्---तपः**
(vii) **ओ------------३------------म्---सत्यम्**

इसके पश्चात् दीर्घ श्वास ले कर एक साथ पूर्ण मन्त्र का वाचिक उच्चारण उपरोक्त विधि से पुनः करें ।

ओ३म् भूः ओ३म् भूवः ओ३म् स्वः ओ३म् महाः ओ३म् जनः, ओ३म् तपः ओ३म् सत्यम् ।

ईश्वर प्रार्थना–

(6) **असतो मा सदगमय मन्त्र का वाचिक उच्चारण/चिन्तन**

(क) धीमा, गहरा, लम्बा, श्वास अन्दर लें (पूरक)

(ख) धीरे-2 श्वास छोड़ते हुए पहले चरण का उच्चारण करें ।

(i) **ओ--------३--------म् असतो मा सदगमय**

(ग) मन्त्र का उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिये । श्वास पूर्ण बाहर निकलने के पश्चात् तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) मन की धारणा किसी एक दिये गये स्थान पर बनाये रखें या मन को मन्त्र पर ही केन्द्रित रखें ।

(ङ) इस प्रकार इस मन्त्र का एक चरण पूर्ण हुआ । इसी प्रकार मन्त्र के अन्य दो चरणों (उपरोक्त विधि से) का वाचिक उच्चारण / चिन्तन करें ।

(ii) **ओ--------३--------म्- तमसो मा ज्योतिर्गमय**

(iii) **ओ--------३--------म्- मृर्त्योमा अमृतंगमय**

इसके बाद दीर्घ श्वास लेकर श्वास छोड़ते हुए पूर्ण मन्त्र का एक साथ वाचिक उच्चारण करें ।

ओ३म् असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृर्त्योमा अमृतंगमय ।

(7) **गायत्री मन्त्र का उच्चारण / चिन्तन**

गायत्री मन्त्र का उच्चारण **गायत्री मन्त्र जप विधि** में विस्तार से दिया गया है । गायत्री मन्त्र के चारों चरणों का उच्चारण दीर्घ श्वास की प्रक्रिया द्वारा करें ।

(8) तत्पश्चात् **त्वमेव माता च पिता त्वमेव** का उच्चारण अर्थ सहित **सामान्य श्वास प्रक्रिया** से करें ।

नोट :–प्रार्थना के पश्चात् हाथ पर हाथ रखकर बैठना उचित नहीं है । इसके बाद हमें उचित व श्रेष्ठ पुरुषार्थ करना चाहिए । प्रार्थना के

उपरान्त जैसा व्यक्ति शुभ सोचता है, वेसा ही होने का वातावरण बनता जाता है और धीरे-2 पुरुषार्थ के द्वारा सभी मंगल कामनाओं में सफलता मिलती जाती है ।

(9) इसके पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण, चिन्तन सामान्य श्वास के साथ करें । अर्थात् **दीर्घ श्वसन प्रक्रिया का प्रयोग न करें ।**

(i) सर्वे भवन्तु सुखिनः मन्त्र (सर्वमंगल कामना मन्त्र)

(ii) हे ईश्वर दयानिधे (समर्पणमन्त्र)

(iii) ओ३म् नमः शम्भवाय च (नमस्कार मन्त्र)

(iv) शान्ति पाठ

इसके बाद प्रभु का धन्यवाद करें । यदि थकावट हो गई हो तो पांच मिनट शव आसन में लेट जायें ।

सायंकाल के संकल्प :

सर्वप्रथम धीमा, गहरा, लम्बा, श्वास लेकर ओ३म् का उच्चारण तीन बार करें । तत्पश्चात् बोलें–

हे प्रभु ! मैंने जो भी संकल्प प्रातः उपासना काल में किये थे उनको आज व्यवहार काल में पालन करने की कोशिश की है । प्रभु, मुझे प्रेरणा दीजिए मैं इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकूं ।

ध्यान विधि–दूसरा चरण

दूसरे चरण में शब्दों व मन्त्रों का वाचिक उच्चारण दीर्घ श्वसन प्रक्रिया के साथ पहले चरण की तरह ही करना है । इसके साथ-2 प्रत्येक मन्त्र के उच्चारण के बाद उसके अर्थ का भी वाचिक उच्चारण, चिन्तन, मनन किया जाता है ।

दूसरे चरण की विधि निम्न प्रकार है ।

1. पहले चरण में दिये गये निर्देश, क्रिया व अभ्यास 1, 2, 3 का पालन करें / अनुकरण करें / दोहरायें ।

4. **प्रभु के गुण, कर्म, स्वभाव का अनुभव कराने वाले**

नामों का अर्थ सहित वाचिक उच्चारण, चिन्तन-मनन

4. (i) (क) लम्बा, गहरा, श्वास धीरे-2 अन्दर लें (पूरक करें)।

(ख) धीरे-2 श्वास बाहर छोड़ते हुए लम्बे स्वर में वाचिक उच्चारण करें–

"ओ३म् सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वराय नमो नमः"

(ग) मन्त्र का उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए। पूर्ण श्वास निकलने के बाद 2-3 सामान्य सूक्ष्म श्वास लें।

(घ) इसके पश्चात् सामान्य श्वास लेते हुए अर्थ का उच्चारण करें।

प्रभु ! आप सर्वदा रहने वाले हैं। चेतन हैं। ज्ञानयुक्त हैं। आनन्द स्वरूप हैं।

4. (ii) उपरोक्त विधि (4 (i) क, ख, ग, घ के अनुसार) बाकी नामों का वाचिक उच्चारण के साथ-साथ अर्थ का भी उच्चारण करें–

ओ३म् सर्वान्तर्यामी परमेश्वराय नमो नमः
प्रभु ! आप सभी जड़ और चेतन पदार्थों के अन्दर बाहर विद्यमान हैं।

(iii) **ओ३म् सर्वव्यापक परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप सभी स्थान और तीनों लोकों में विद्यमान हैं।

(iv) **ओ३म् सर्वशक्तिमान परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप सृष्टि के रचयिता व पालनहार हैं। प्रलय कर्ता हैं। जीवों को कर्मानुसार फल देते हैं। इन कार्यों में किसी की सहायता नहीं लेते हैं।

(v) **ओ३म् सर्वाधार परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश-गंगा, ग्रह, उपग्रह के निर्माणकर्ता हैं। आधार हैं।

(vi) **ओ३म् सृष्टिकर्ता परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप सृष्टि के रचयिता हैं। पालन कर्ता हैं।

प्रलयकर्ता हैं।

(vii) **ओ३म् सर्वेश्वर परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! सृष्टि में सभी धन आपका है। सम्पत्ति आपकी है। ज्ञान आपका है। बल आपका है। ऐश्वर्य आपका है।

(viii) **ओ३म् अजन्मा परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप जीवात्मा की तरह जन्म नहीं लेते हैं।

(ix) **ओ३म् अनादि परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप उत्पत्ति शून्य हैं। सदा रहने वाले हैं।

(x) **ओ३म् अनन्त परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप विशाल हैं। आपकी विशालता की कोई सीमा नहीं है।

(xi) **ओ३म् अनुपम परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आपसे अच्छा कोई भी पदार्थ सृष्टि में नहीं है।

(xii) **ओ३म् अमर परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप मृत्यु से परे हैं।

(xiii) **ओ३म् अजर परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप जीव की तरह रोग ग्रस्त नहीं होते हैं। बूढ़े नहीं होते हैं।

(xiv) **ओ३म् अभय परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप भय से रहित हैं।

(xv) **ओ३म् न्यायकारी परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप जीवों को उनके कर्म के अनुसार फल देते हैं।

(xvi) **ओ३म् निर्विकार परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप जड़ पदार्थों के विकारों से रहित हैं। दोषों से परे हैं।

(xvii) **ओ३म् निराकार परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आपकी कोई आकृति नहीं है। मूर्ति नहीं है। रंग रूप नहीं है।

(xviii) **ओ३म् नित्य परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप भूतकाल, वर्तमानकाल व भविष्यकाल तीनों में विद्यमान हैं ।

(xix) **ओ३म् दयालु परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप जीवात्मा को प्रकाश, जल, वायु, अग्नि आदि सुख प्रदान करते हैं ।

(xx) **ओ३म् पवित्र परमेश्वराय नमो नमः**
प्रभु ! आप पाप-कर्म से परे हैं । अविद्या से परे हैं ।

5. **प्राणायाम मन्त्र के सातों चरणों का अर्थ सहित वाचिक उच्चारण / चिन्तन / मनन :–**

(i) (क) धीरे-2 लम्बा गहरा श्वास अन्दर लें (पूरक)

(ख) धीरे-2 श्वास छोड़ते हुए पहले चरण का उच्चारण करें।
ओ-------------३-------------म्---भूः

(ग) मन्त्र का उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए ।

पूर्ण श्वास निकलने के बाद तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) इसके पश्चात् "ओ३म् भूः" के अर्थ का सामान्य श्वास लेते हुए उच्चारण करें ।

प्रभु ! आप भूः स्वरूप हैं । प्राणदाता हैं । सभी के प्राणों की अन्न, जल व वायु द्वारा रक्षा करते हैं । मुझे भी प्रेरणा दीजिए। मैं भी यथाशक्ति दूसरों के प्राणों की रक्षा कर सकूं । अहिंसा के मार्ग पर चलूं ।

(ङ) मन की धारणा किसी एक दिये स्थान पर बनाये रखें या मन को मन्त्र पर ही केन्द्रित रखें ।

इस प्रकार प्राणायाम मन्त्र के पहले चरण का उच्चारण अर्थ सहित पूर्ण हुआ।

इसी प्रकार उपरोक्त विधि से प्राणायाम मन्त्र के अन्य छः चरणों का वाचिक उच्चारण / अभ्यास अर्थ सहित करें ।

6. "असतो मा सदगमय" मन्त्र के तीनों चरणों का अर्थ सहित वाचिक उच्चारण / चिन्तन / मनन

(क) धीरे-2 लम्बा गहरा श्वास अन्दर लें । (पूरक)

(ख) धीरे-2 श्वास छोड़ते हुए पहले चरण का वाचिक उच्चारण करें।
ओ-----------३-----------म् असतो मा सदगमयः

(ग) मन्त्र का उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए ।

पूर्ण श्वास बाहर निकलने के बाद तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) मन की धारणा किसी एक दिये स्थान पर बनाये रखें या मन को मन्त्र पर ही केन्द्रित रखें ।

(ङ) इसके पश्चात् सामान्य श्वास लेते हुए मन्त्र के अर्थ का वाचिक उच्चारण करें ।

हे प्रभु ! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले जाइये । प्रेरणा दीजिए । मैं सत्य का पालन करूं । छल, कपट व असत्य का त्याग करूं ।

इसी प्रकार उपरोक्त विधि से इस मन्त्र के शेष दो चरणों का अर्थ सहित उच्चारण करें ।

इसके बाद दीर्घ श्वास लेकर पूर्ण मन्त्र का एक साथ वाचिक उच्चारण करें ।

7. गायत्री मन्त्र का अर्थ सहित उच्चारण

गायत्री मन्त्र के चारों चरणों का उच्चारण दीर्घ श्वसन विधि से करने के बाद उसके अर्थ – सरल अर्थ व कविता अर्थ का उच्चारण करें ।

नोट : *उच्चारण / अभ्यास के लिए "जप विधि" देखें ।*

8. **त्वमेव माता च पिता त्वमेव** का उच्चारण अर्थ सहित सामान्य श्वास प्रक्रिया से करें ।

9. इसके पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण / चिन्तन सामान्य श्वास प्रक्रिया के साथ करें अर्थात् **दीर्घ श्वसन प्रक्रिया का प्रयोग न करें ।**

(क) सर्वे भवन्तु सुखिनः मंत्र
(ख) हे ईश्वर दयानिधे (समर्पण मंत्र)
(ग) ओ३म् नमः शम्भवाय चः (नमस्कार मन्त्र)
(घ) शान्ति पाठ

इसके बाद प्रभु का धन्यवाद करें । यदि थकावट हो गई हो तो पांच मिनट शव आसन में लेट जायें ।

सायंकाल के संकल्प :

सर्वप्रथम धीमा, गहरा, लम्बा, श्वास लेकर ओ३म् का उच्चारण तीन बार करें । तत्पश्चात् बोलें–

हे प्रभु ! मैंने जो भी संकल्प प्रातः उपासना काल में किये थे उनको आज व्यवहार काल में पालन करने की कोशिश की है । प्रभु, मुझे प्रेरणा दीजिए । मैं इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकूं ।

प्रथम व द्वितीय चरण की समीक्षा

1. ध्यान विधि के प्रथम व द्वितीय चरण का तीन–तीन मास अभ्यास करने के बाद सभी मन्त्र साधक को कंठस्थ हो जाते हैं ।
2. साधक को सभी मन्त्रों के अर्थ याद हो जाते हैं ।
3. लम्बा, गहरा, धीमा श्वास लेने का पर्याप्त अभ्यास हो जाता है।
4. मन्त्र व उसके अर्थ का उच्चारण, चिन्तन, मनन उपांशु व मानसिक विधि द्वारा करना आसान हो जाता है।
5. ध्यान आज्ञाचक्र, हृदय, नाभि या मूलाधार पर आसानी से स्थिर बना रहता है ।
6. तीसरे चरण में कुम्भक का प्रयोग करना आसान हो जाता है।
7. ध्यान में लगभग आधा घं० एक ही आसन में बैठने का अभ्यास हो जाता है ।

ध्यान विधि - तीसरा चरण

1. इसमें संकल्प विधि पहले दो चरणों से भिन्न है । प्रत्येक संकल्प लेने से पहले ओ३म् के उच्चारण के साथ पूर्ण श्वास बाहर

निकलने पर बाहरी कुम्भक का प्रयोग किया जाता है । बाहरी कुम्भक की स्थिति में ही संकल्प किया जाता है ।

2. इसमें उपांशु व मानसिक विधि द्वारा मन्त्रों का जप किया जाता है अर्थात् पहली बार मन्त्र या शब्द का उच्चारण बिना ध्वनि के (केवल होठ हिलाकर) दीर्घ स्वर में करते हैं । यदि उपांशु विधि से असुविधा हो तो वाचिक विधि से करते रहते हैं ।

3. मन्त्र या शब्द का उच्चारण दीर्घ श्वास लेकर शुरू किया जाता है । **उच्चारण करने के बाद यथाशक्ति बाहरी कुम्भक लगाते हैं ।**

4. **बाहरी कुम्भक की स्थिति में** मन्त्र या शब्द के अर्थ का मानसिक उच्चारण करते हैं । या इसका चिन्तन, मनन स्वयं ही होता रहता है ।

5. **बाहरी कुम्भक की स्थिति में जितना अधिक समय तक रहने का अभ्यास और प्रभु चिन्तन किया जाता है, उतना ही ध्यान में मन अधिक लगता है और सफलता मिलती है ।**

6. मन्त्रों के उपांशु जप के बाद बाहरी कुम्भक और स्तम्भवृत्ति प्राणायाम के द्वारा ध्यान में प्रवेश किया जाता है । यहीं से वास्तविक ध्यान शुरू होता है ।

तीसरे चरण की प्रक्रिया विस्तृत रूप से निम्न प्रकार है ।

1. पहले चरण में दिये गये निर्देश के अनुसार ध्यान की तैयारी करें।
2. सर्वप्रथम तीन बार दीर्घ श्वसन प्रक्रिया करें ।
3. गायत्री मन्त्र के उच्चारण के साथ ध्यान विधि शुरू करें
4. पांचों संकल्प निम्न प्रकार करें–

4. (क) दीर्घ श्वसन क्रिया के साथ ओ३म् का उच्चारण करें अर्थात् पहले धीमा लम्बा गहरा श्वास अन्दर लें फिर धीरे–2 श्वास छोड़ते हुए ओ३म् का उच्चारण करें । जब तक पूरा श्वास बाहर नहीं चला जाता, ओ३म् का उच्चारण चलता रहे ।
(ख) तत्पश्चात् बाहरी कुम्भक की स्थिति बनाये रखें । यदि असुविधा हो तो 1–2 सूक्ष्म श्वास ले सकते हैं ।
(ग) तत्पश्चात् संकल्प लें (कुम्भक स्थिति में)–

संकल्प (i)

हे परमेश्वर ! आप मुझे देख रहे हैं । सुन रहे हैं । जान रहे हैं । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ । उपासना काल में अपना मन आपसे हटाकर इधर–उधर नहीं ले जाऊंगा । आपकी उपासना प्रतिदिन सुबह–शाम हृदय से करूँगा ।

(घ) तत्पश्चात् 2 या 3 बार सूक्ष्म श्वास लें ।

पुनः बिन्दु (क) और (ख) में ऊपर दिये गये निर्देश के अनुसार ओ३म् का उच्चारण करें व बाहरी कुम्भक की स्थिति बनाये रखें । तत्पश्चात् कुम्भक की स्थिति में संकल्प (ii) बोलें–

संकल्प (ii)

हे प्रभु ! मैं एक आत्मा हूँ । अपने कर्मों के फलानुसार और आपकी कृपा से मुझे यह मानव शरीर प्राप्त हुआ है । मैं संकल्प लेता हूँ मन, वचन व कर्म से कभी भी किसी भी प्राणी को हानि नहीं पहुँचाऊंगा । काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, अहंकार पर संयम रखूंगा ।

तत्पश्चात् 2 या 3 बार सूक्ष्म श्वास लें ।

इसी प्रकार ओ३म् का उच्चारण करने के बाद और कुम्भक स्थिति में नीचे दिये तीन संकल्प और लें ।

संकल्प नं० (iii)

हे प्रभु ! मैं अपने जीवन में सदैव यम नियम का पालन करूँगा । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के साथ–साथ शुद्धि, सन्तोष, स्वाध्याय, तप, व ईश्वर प्रणिधान को अपने जीवन का अंग बनाऊंगा । अपने सभी कार्य धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करूंगा ।

संकल्प नं० (iv)

हे प्रभु ! मैं व्रत धारण करता हूँ । अपनी शक्ति व योग्यता के अनुसार निरन्तर पंच महायज्ञ का पालन करूंगा । अविद्या को दूर करूँगा । विद्या की वृद्धि करूँगा । गरीब, कमजोर, रोगी व दुखियों की यथाशक्ति सहायता करूंगा ।

संकल्प (v)

हे प्रभु ! मुझे प्रेरणा दीजिए ! मैं न्यायकारी बनूं, सत्यमयी बनूं। दयालु बनूं, पवित्र बनूं, अहिंसक बनूं, निष्काम कर्म करूं । कभी भी किसी के मानव अधिकारों का उल्लंघन न करूं । जन्म जन्मान्तर के चक्र से मुक्ति पाऊँ । आपका सच्चा पुत्र कहलाने का अधिकारी बनूँ ।

नोट : ***संकल्प में बहुत बड़ी प्रेरणा व शक्ति होती है । प्रतिदिन प्रातः और सायं संकल्प दोहराने और उसके अनुसार अपना आचरण करने से हमारे ऊपर प्रभु की कृपा होती है, सभी शुभ कार्य सफल होते हैं। प्रभु भक्ति में मन लगता है । इसके विपरीत जो प्रभु भक्त उपरोक्त पांच संकल्पों के अनुसार अपनी जीवनचर्या ठीक नहीं करते, उनको ध्यान में कब व कितनी सफलता मिलेगी, इसका निर्णय वे स्वयं कर सकते हैं ।***

5. **प्रभु के गुण, कर्म, स्वभाव का अनुभव कराने वाले शब्दों का निम्न प्रकार उपांशु व मानसिक उच्चारण करें ।**

(क) लम्बा, गहरा श्वास धीरे–2 अन्दर लें (पूरक करें) फिर श्वास को धीरे–2 बाहर छोड़ते हुए लम्बे स्वर में (उपांशु विधि द्वारा) उच्चारण करें ।

ओ-----------३-----------म् (रेचक स्थिति में)

सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वराय नमो नमः (बाहरी कुम्भक स्थिति में)

(ख) **बाहरी कुम्भक की स्थिति में मन्त्र का जितनी बार हो सके मानसिक उच्चारण करें । संभव हो तो ईश्वर के नाम के अर्थ (पेज 75-76 के अनुसार) मानसिक उच्चारण या चिंतन करें ।**

(ग) इसके पश्चात् तीन सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) मन की धारणा किसी एक दिये गये / बताये गये स्थान पर बनाये रखें ।

इस प्रकार यह ईश्वर के एक गुण का उपांशु व मानसिक विधि

से (बाहरी कुम्भक स्थिति द्वारा) उच्चारण हुआ ।

उपरोक्त विधि से ईश्वर के अन्य 19 गुणों का चिन्तन, मनन, अभ्यास उपाँशु व मानसिक विधि द्वारा (बाहरी कुम्भक का प्रयोग करते हुए) करें ।

(6) **प्राणायाम मन्त्र का (उपांशु) उच्चारण / चिन्तन**

(क) धीरे-2 लम्बा गहरा श्वास अन्दर लें । (पूरक)

(ख) धीरे-2 श्वास छोड़ते हुए मन्त्र के पहले चरण का (उपांशु विधि से) उच्चारण करें

(i) **ओ------------३------------म्---भूः**

(ग) मन्त्र का उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए ।

(i) **पूर्ण श्वास बाहर निकलने पर बाह्य कुम्भक करें।**

(ii) **कुम्भक की स्थिति में ओ३म भूः मन्त्र के अर्थ का मानसिक उच्चारण करें ।**

(iii) इसके पश्चात् तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) मन की धारणा किसी भी एक स्थान (शरीर के अन्दर) पर बनाये रखें ।

(ङ) इस प्रकार प्राणायाम मन्त्र के पहले चरण का उपांशु व मानसिक विधि द्वारा उच्चारण **अर्थ सहित** पूर्ण हुआ ।

इसी प्रकार उपरोक्त विधि से प्राणायाम मन्त्र के अन्य छः चरणों का उपांशु व मानसिक जाप अर्थ के साथ करें ।

(ii) **ओ------------३------------म्---भुवः**
ओ------------३------------म्---स्वः
ओ------------३------------म्---महः
ओ------------३------------म्---जनः
ओ------------३------------म्---तपः
ओ------------३------------म्---सत्यम्ः

इसके पश्चात् उपरोक्त पूर्ण मन्त्र का दीर्घ श्वास लेकर एक साथ उच्चारण करें (उपांशु विधि द्वारा)

(7) **असतो मा सदगमय मन्त्र का (उपांशु व मानसिक) उच्चारण**

(क) धीमा, गहरा, लम्बा, श्वास अन्दर लें (पूरक)

(ख) धीरे-2 श्वास छोड़ते हुए पहले चरण का (उपांशु उच्चारण करें।

(i) **ओ-------३-------म्--असतो मा सदगमय ।**

(ग) मन्त्र का उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए ।

(i) **पूर्ण श्वास बाहर निकलने पर बाह्य कुम्भक करें।**

(ii) **कुम्भक की स्थिति में पुनः उपरोक्त मन्त्र के अर्थ का मानसिक उच्चारण करें ।**

(iii) इसके पश्चात् तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) शरीर के अन्दर किसी भी एक स्थान पर मन की धारणा बनाये रखें।

(ङ) इस प्रकार इस मन्त्र के एक चरण का उपांशु व मानसिक उच्चारण अर्थ सहित पूर्ण हुआ ।

इसी प्रकार मन्त्र के अन्य दो चरणों का उच्चारण, जाप करें ।

(ii) **ओ------३------म्---तमसो मा ज्योतिर्गमय॥**

(iii) **ओ------३------म्---मृत्योर्मा अमृतंगमय ॥**

इसके बाद दीर्घ श्वास लेकर पूर्ण मन्त्र का एक साथ (उपांशु या मानसिक) उच्चारण करें ।

(8) **गायत्री मन्त्र के चारों चरणों का उच्चारण**

(क) धीमा, गहरा, लम्बा, श्वास अन्दर लें (पूरक)

(ख) धीरे-2 श्वास छोड़ते हुए पहले चरण का (उपांशु) उच्चारण करें।

ओ------------३------------म्--भूर्भुवः स्वः

(ग) मन्त्र का उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए ।

(i) पूर्ण श्वास बाहर निकलने पर कुम्भक करें ।

(ii) **कुम्भक की स्थिति में उपरोक्त मन्त्र का पुनः जितनी बार हो सके मानसिक उच्चारण करें ।**

(iii) इसके पश्चात् तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) शरीर के अन्दर मन की धारणा किसी एक स्थान पर बनाये रखें ।

(ङ) इस प्रकार इस मन्त्र के एक चरण का उच्चारण पूर्ण हुआ।

(i) इसी प्रकार उपरोक्त विधि के अनुसार शेष तीन चरणों का उच्चारण करें ।

(ii) (क) तत्पश्चात् पूर्ण गायत्री मन्त्र का दीर्घ श्वास लेकर (उपांशु विधि द्वारा) उच्चारण करें ।

(ख) फिर बाहरी कुम्भक की स्थिति में पुनः गायत्री मंत्र का मानसिक उच्चारण करें ।

(iii) इसके बाद आधा मिनट या 4–5 सामान्य श्वास लें ।

ईश्वर उपासना–ध्यान

(9) (क) (i) **इसके पश्चात् आसन को (यदि इच्छा हो) बदल लें और स्तम्भवृत्ति प्राणायाम करें। अर्थात् प्राणवायु/श्वास को यथाशक्ति जहाँ का तहाँ रोक दें ।**

(ii) इस अवस्था में निम्न मन्त्र का मानसिक उच्चारण बार–2 करते रहें ।

"आनन्दमयी परमेश्वर"

(iii) जब श्वास लेने की इच्छा हो तो सूक्ष्म श्वास लेकर फिर स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की स्थिति में आ जायें और उपरोक्त मन्त्र का मानसिक उच्चारण करते रहें ।

(iv) उपरोक्त प्रक्रिया के अनुसार 1 मिनट से 2 मिनट तक ध्यान का अभ्यास करें । इसमें यथाशक्ति अधिक समय भी लगाया जा सकता है ।

(ख) उपरोक्त प्रक्रिया के अनुसार नीचे लिखे दो और मन्त्रों का भी अभ्यास करें

''चैतन्यमयी परमेश्वर''

''सत्यमयी परमेश्वर''

(ग) इसके पश्चात् तीनों मन्त्रों का (स्तम्भवृति स्थिति में) एक

साथ मानसिक उच्चारण (जितनी बार संभव हो सके) करते रहें । श्वास लेने की इच्छा हो तो सूक्ष्म श्वास लेकर फिर स्तम्भवृति प्राणायाम की स्थिति में आते रहें । इस ध्यान क्रिया का समय धीरे–धीरे बढ़ाते रहें और ईश्वर अनुभूति का आनन्द पायें ।

''आनन्दमयी, चैतन्यमयी, सत्यमयी परमेश्वर''

ध्यान की समाप्ति / पूर्ण होने पर निम्नलिखित मन्त्रों का **सामान्य श्वास लेते हुए** (वाचिक या उपांशु विधि) द्वारा उच्चारण करें

(1) त्वमेव माता च पिता त्वमेव

(2) सर्वे भवन्तु सुखिनः

(3) हे ईश्वर दयानिधे

(4) ओ३म् नमः शम्भवाय च

(5) शान्ति पाठ

इसके पश्चात् प्रभु का धन्यवाद करें । यदि थकावट हो गई हो तो पांच मिनट शव आसन में लेट जायें ।

नोटः-सच्ची श्रद्धा तथा विश्वास सहित की गई उपासना से हृदय में शान्ति व आनन्द की लहर जाग्रित हो जाती है । हमारा हृदय कुछ ही क्षणों में ऐसा आनन्द का अनुभव करता है जो स्वादिष्ट से स्वादिष्ट भोजन से भी प्राप्त नहीं होता ।

सायंकाल के संकल्प :

सर्वप्रथम धीमा, गहरा, लम्बा, श्वास लेकर ओ३म् का उच्चारण तीन बार करें । तत्पश्चात् बोलें–

हे प्रभु ! मैंने जो भी संकल्प प्रातः उपासना काल में किये थे उनको आज व्यवहार काल में पालन करने की कोशिश की है । प्रभु ! मुझे प्रेरणा दीजिए, मैं इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकूं ।

तीसरे चरण की समीक्षा

(1) तीसरे चरण में दी गई क्रियाओं का अभ्यास तीन महीने तक करने से उपांशु व मानसिक जप सिद्ध होने लगता है ।

(2) उपासना काल में मन व चित्त पूर्णतया शान्त व शिथिल होने लगता है ।

(3) आसन व प्राणायाम सिद्ध होने लगता है अर्थात् उपासना काल में शरीर का कोई भी अंग नहीं हिलता है । साधक का अपने शरीर और श्वास प्रश्वास पर पूर्ण अधिकार हो जाता है ।

(4) ध्यान में लगभग 45 मिनट तक एक ही आसन में बैठने का अभ्यास हो जाता है ।

(5) **ध्यान के चौथे चरण में प्रवेश के लिए पूर्ण तैयारी हो जाती है ।**

ध्यान विधि – चौथा चरण

1. ध्यान के चौथे चरण में बताये गये सभी मन्त्रों का मानसिक उच्चारण किया जाता है । शब्दों व मन्त्रों के उच्चारण में होठ नहीं हिलाये जाते हैं । ध्वनि की कोई भी आवाज नहीं होती है ।

2. मन्त्रों का मानसिक उच्चारण पहले की तरह दीर्घ श्वास लेकर किया जाता है।

3. मन्त्र का मानसिक उच्चारण व श्वास बाहर निकलने की प्रक्रिया पूर्ण होने के बाद बाहरी कुम्भक यथाशक्ति लगाते हैं और इस स्थिति में मन्त्र का पुनः मानसिक उच्चारण करते हैं या मन्त्र के अर्थ का चिन्तन करते हैं ।

4. मन्त्र या शब्द के अर्थ का वाचिक या उपांशु उच्चारण नहीं करते हैं । इसका चिन्तन, मनन स्वयं ही होता रहता है ।

5. पूर्ण शरीर स्थिर व शान्त हो जाता है । शरीर का कोई भी अंग नहीं हिलता है ।

6. ध्यान में लगभग 1 घंटे तक एक ही आसन में बैठने का अभ्यास हो जाता है ।

7. प्रत्येक मन्त्र के जप / उच्चारण के बाद बाहरी कुम्भक या स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की स्थिति में ध्यान (ईश्वर का चिन्तन–मनन) किया जाता है ।

8. यदि बैठे हुए आसन में असुविधा हो रही हो तो स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की स्थिति में आसन बदल लेते हैं अर्थात् पैरों की स्थिति बदल दी जाती है ताकि अधिक समय तक ध्यान में बैठा जा सके।

चौथे चरण की प्रक्रिया में संकल्प और जप आदि सभी मानसिक विधि से किया जाता है । उपांशु जप का प्रयोग नहीं किया जाता है । **शेष सभी क्रियायें व विधि तीसरे चरण के अनुसार ही हैं ।**

नोट : यदि मानसिक उच्चारण के द्वारा ध्यान / जप करने में असुविधा हो रही हो तो तीसरे चरण में दी गई प्रक्रिया का अभ्यास तीन महीने और करें ।

चौथे चरण की प्रक्रिया विस्त्रित रूप में निम्नलिखित है ।

1. पहले चरण में दिये गये निर्देश के अनुसार ध्यान की तैयारी करें।
2. प्रथम तीन बार दीर्घ श्वसन प्रश्वसन की प्रक्रिया करें ।
3. गहरा श्वास लेकर मानसिक विधि से गायत्री मन्त्र के उच्चारण के साथ ध्यान विधि शुरू करें ।
4. तीसरे चरण के निर्देशानुसार गहरा श्वास लेते हुए ओ३म् के मानसिक जप के साथ सभी संकल्प करें । अर्थात् ओ३म् का उच्चारण व संकल्प मन ही मन में बोलें ।
5. **प्रभु के गुण, कर्म, स्वभाव का अनुभव कराने वाले शब्दों का मानसिक उच्चारण ।**

(क) लम्बा, गहरा धीमा श्वास अन्दर लें (पूरक) फिर श्वास को धीरे–2 बाहर छोड़ते हुए लम्बे स्वर में तीसरे चरण के अनुसार मानसिक उच्चारण करें–
ओ---------------३---------------म्
सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वराय नमो नमः

(ख) बाहरी कुम्भक की स्थिति में मन्त्र का जितनी बार हो सके मानसिक उच्चारण करें । संभव हो तो ईश्वर के नाम के अर्थ (पेज 75–76 के अनुसार) मानसिक उच्चारण या चिंतन करें ।

(ग) इसके बाद तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) मन की धारणा किसी एक दिये गये / बताये गये स्थान पर बनाये रखें

इस प्रकार यह ईश्वर के एक गुण का मानसिक उच्चारण/चिन्तन (कुम्भक स्थिति द्वारा) हुआ । इसी प्रकार अन्य 19 गुणों का चिन्तन मनन करें ।

6. **प्राणायाम मंत्र का मानसिक उच्चारण / चिन्तन**

(क) धीमा, गहरा, लम्बा श्वास अन्दर लें (पूरक)

(ख) धीरे–2 श्वास छोड़ते हुए मन्त्र के पहले चरण का मानसिक उच्चारण करें ।

(i) **ओ------------३------------म्---भूः**

(ग) मन्त्र का मानसिक उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए ।

(i) पूर्ण श्वास बाहर निकलने पर बाह्य कुम्भक करें ।

(ii) कुम्भक की स्थिति में पुनः "ओ३म् भू" का मानसिक उच्चारण करें या इसके अर्थ का मानसिक चिन्तन करें।

(iii) इसके पश्चात् तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) मन की धारणा किसी भी एक स्थान (शरीर के अन्दर) पर बनाये रखें ।

(ङ) इस प्रकार प्राणायाम मंत्र के पहले चरण का मानसिक उच्चारण/चिन्तन **अर्थ सहित** पूर्ण हुआ ।

इसी प्रकार उपरोक्त विधि से प्राणायाम मन्त्र के अन्य छः चरणों का (अर्थ सहित) मानसिक जाप करें ।

(ii) **ओ------------३------------म्---भुवः**
ओ------------३------------म्---स्वः
ओ------------३------------म्---महः
ओ------------३------------म्---जनः
ओ------------३------------म्---तपः
ओ------------३------------म्---सत्यम्

इसके पश्चात् उपरोक्त पूर्ण मन्त्र का दीर्घ श्वास लेकर एक साथ मानसिक उच्चारण करें ।

(7) **असतो मा सदगमय का मानसिक उच्चारण/चिन्तन**

(क) धीमा, गहरा, लम्बा श्वास अन्दर लें (पूरक)

(ख) धीरे–2 श्वास छोड़ते हुए पहले चरण का मानसिक उच्चारण (जाप) करें ।

(i) **ओ---------३---------म्--असतो मा सदगमय**

(ग) मंत्र का मानसिक उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए ।

(i) पूर्ण श्वास बाहर निकलने पर बाह्य कुम्भक करें ।

(ii) कुम्भक की स्थिति में पुनः उपरोक्त मंत्र का मानसिक उच्चारण करें या **इसके अर्थ का मानसिक चिन्तन करें ।**

(iii) इसके पश्चात् तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) शरीर के अन्दर किसी भी एक स्थान पर मन की धारणा बनाये रखें ।

(ङ) इस प्रकार इस मन्त्र के एक चरण का मानसिक उच्चारण अर्थ सहित पूर्ण हुआ ।

इसी प्रकार मंत्र के अन्य दो चरणों का अर्थ सहित मानसिक उच्चारण / जाप / चिन्तन करें ।

(ii) **ओ-------३-------म् तमसो मा ज्योतिर्गमय ।**

(iii) **ओ-------३-------म् मृत्योमा अमृतंगमय ॥**

इसके बाद दीर्घ श्वास लेकर पूर्ण मन्त्र का मानसिक उच्चारण/ चिन्तन करें ।

(8) **गायत्री मंत्र के चारों चरणों का मानसिक उच्चारण**

(क) धीमा, गहरा, लम्बा श्वास अन्दर लें (पूरक)

(ख) धीरे–2 श्वास छोड़ते हुए पहले चरण का मानसिक उच्चारण करें।

(i) **ओ-----------३-----------म् भूर्भवः स्वः**

(ग) मन्त्र का उच्चारण व श्वास का बाहर निकलना एक साथ पूर्ण होना चाहिए ।

(i) पूर्ण श्वास बाहर निकलने पर कुम्भक करें ।

(ii) **कुम्भक की स्थिति में पुनः उपरोक्त मंत्र का मानसिक उच्चारण करें ।**

(iii) इसके पश्चात् तीन सामान्य सूक्ष्म श्वास लें ।

(घ) शरीर के अन्दर किसी भी एक स्थान पर मन की धारणा बनाये रखें।

(ङ) इस प्रकार इस मन्त्र के एक चरण का मानसिक उच्चारण पूर्ण हुआ।

(i) इसी प्रकार उपरोक्त विधि के अनुसार शेष तीनों चरणों का मानसिक उच्चारण करें ।

(ii) तत्पश्चात् पूर्ण गायत्री मन्त्र का पहले दीर्घ श्वास लेकर मानसिक उच्चारण करें ।

(iii) इसके बाद आधा मिनट या 4–5 सामान्य श्वास लें।

ईश्वर उपासना–ध्यान

(9) (i) अब आसन को (यदि इच्छा हो) बदल लें और स्तम्भ-वृत्ति प्राणायाम की स्थिति में आ जायें। अर्थात् प्राणवायु/श्वास को यथा शक्ति जहाँ का तहाँ रोक दें ।

(ii) इस अवस्था में निम्न मन्त्र का मानसिक उच्चारण बार–2 करते रहें ।

"आनन्दमयी परमेश्वर"

(iii) जब श्वास लेने की इच्छा हो तो सूक्ष्म श्वास लेकर फिर स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की स्थिति में आ जायें और उपरोक्त मन्त्र का मानसिक उच्चारण करते रहें ।

(iv) उपरोक्त प्रक्रिया के अनुसार 1 मिनट से 2 मिनट तक ध्यान का अभ्यास करें । इसमें यथाशक्ति अधिक समय भी लगाया जा सकता है ।

(ख) उपरोक्त प्रक्रिया के अनुसार नीचे लिखे दो और मन्त्रों का भी अभ्यास करें

''चैतन्यमयी परमेश्वर''

''सत्यमयी परमेश्वर''

(ग) इसके पश्चात् तीनों मन्त्रों का **(स्तम्भवृति स्थिति में)** एक साथ मानसिक उच्चारण (जितनी बार संभव हो सके) करते रहें । श्वास लेने की इच्छा हो तो सूक्ष्म श्वास लेकर फिर स्तम्भवृति प्राणायाम की स्थिति में आते रहें । इस ध्यान क्रिया का समय धीरे-धीरे बढ़ाते रहें और ईश्वर अनुभूति का आनन्द पायें ।

''आनन्दमयी, चैतन्यमयी, सत्यमयी परमेश्वर''

ध्यान की समाप्ति / पूर्ण होने पर निम्नलिखित मन्त्रों का सामान्य श्वास लेते हुए (वाचिक या उपांशु विधि द्वारा) उच्चारण करें

(1) त्वमेव माता च पिता त्वमेव

(2) सर्वे भवन्तु सुखिनः

(3) हे ईश्वर दयानिधे

(4) ओ३म् नमः शम्भवाय च

(5) शान्ति पाठ

इसके पश्चात् प्रभु का धन्यवाद करें । यदि थकावट हो गई हो तो पांच मिनट शव आसन में लेट जायें ।

सायंकाल के संकल्प :

सर्वप्रथम धीमा, गहरा, लम्बा, श्वास लेकर ओ३म् का उच्चारण तीन बार करें । तत्पश्चात् बोलें–

हे प्रभु ! मैंने जो भी संकल्प प्रातः उपासना काल में किये थे उनको आज व्यवहार काल में पालन करने की कोशिश की है । प्रभु, मुझे प्रेरणा दीजिए ! मैं इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकूं ।

नोटः- जो साधक ध्यान विधि के चौथे चरण को मानसिक प्रक्रिया से करने में असमर्थ हैं या कुछ असुविधा अनुभव करते हों, वे गायत्री मन्त्र व संकल्प-विधि को उपांशु या वाचिक विधि से कर सकते हैं । इसी प्रकार ध्यान के पूर्ण होने पर पांच मन्त्रों (त्वमेव माता च पिता त्वमेव से लेकर शान्तिपाठ तक) का भी उपांशु या वाचिक उच्चारण कर सकते हैं ।

ध्यान विधि का सूक्ष्म में क्रम

साधकों व भक्तों की सुगमता के लिए पूर्ण ध्यान विधि का क्रम सूक्ष्म में पुनः नीचे दिया जा रहा है ।

1. तीन गहरी, लम्बी श्वास क्रियायें करें ।

2. गायत्री मन्त्र का वाचिक / मानसिक उच्चारण करें ।

3. पांच संकल्प वाचिक / मानसिक उच्चारण की विधि से करें अर्थात् बाहरी कुम्भक की स्थिति में संकल्प बोलें ।

4. प्रभु के गुण, कर्म, स्वभाव का अनुभव कराने वाले शब्द, मन्त्रों का वाचिक / मानसिक उच्चारण श्वास प्रश्वास के साथ करें और अर्थ का भी चिन्तन करें ।

5. प्राणायाम मन्त्र के सातों चरणों का वाचिक / मानसिक उच्चारण करें । यथा शक्ति बाहरी कुम्भक लगायें व पुनः इस स्थिति में प्रत्येक चरण का मानसिक उच्चारण करें या अर्थ का चिन्तन करें ।

6. असतो मा सदगमय मन्त्र के तीनों चरणों का उच्चारण वाचिक/ मानसिक रूप में करें । कुम्भक की स्थिति बनाकर पुनः मानसिक उच्चारण करें या अर्थ का चिन्तन करें ।

7. गायत्री मन्त्र के चार चरणों का उच्चारण वाचिक / मानसिक विधि से करें ।

8. स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की स्थिति में दिये गये तीन मन्त्रों से ध्यान करें।

ध्यान की समाप्ति/पूर्ण होने पर निम्न मन्त्रों का वाचिक, उपांशु या मानसिक उच्चारण करें ।

(क) त्वमेव माता च पिता त्वमेव

(ख) सर्वे भवन्तु सुखिनः

(ग) हे ईश्वर दयानिधे

(घ) ओ३म् नमः शम्भवाय च

(ङ) शान्ति पाठ

(च) ईश्वर धन्यवाद व शव आसन में लेटना ।

ध्यान की सूक्ष्म विधि

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि ध्यान में बैठकर प्रभु की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना जीवन का सर्व श्रेष्ठ कार्य है । यह कार्य शान्ति के साथ व पूर्ण समय लगा कर प्रतिदिन प्रातः व सायं करना चाहिए । परन्तु कभी-2 परिस्थितियों को देखते हुए साधक / भक्त के पास ध्यान में बैठने के लिए या तो पर्याप्त समय (कम से कम आधा घण्टा) नहीं होता या किसी बिमारी के कारण वह आसन में नहीं बैठ सकता । ऐसी परिस्थिति में या यात्रा में साधक नीचे दी गई सूक्ष्म विधि से ध्यान कर सकते हैं ।

भोजन करने के बाद भी केवल सूक्ष्म विधि का ही प्रयोग करें ।

सूक्ष्म विधि का क्रम (मानसिक उच्चारण द्वारा)

1. तीन गहरी लम्बी श्वास क्रियायें करें ।
2. गायत्री मंत्र का मानसिक उच्चारण करें ।
3. बताये गये संकल्प करें ।
4. प्रभु के गुण, कर्म, स्वभाव बाले कुछ मन्त्रों का मानसिक उच्चारण समय की उपलब्धता व स्थिति के अनुसार करें ।
5. एक बार प्राणायाम मन्त्र का मानसिक उच्चारण करें ।
6. एक बार असतो मा सद्गमय मन्त्र का मानसिक उच्चारण करें।
7. फिर एक बार गायत्री मन्त्र का मानसिक उच्चारण करें ।
8. "स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की स्थिति में बैठकर, आनन्दमयी/ चैतन्यमयी / सत्यमयी परमेश्वर" में से किसी एक का या तीनों का मानसिक उच्चारण के साथ समय की उपलब्धता के अनुसार ध्यान करें ।

9. मानसिक उच्चारण से शान्ति पाठ करें ।

10. (a) **किसी भी मन्त्र के मानसिक या वाचिक उच्चारण में दीर्घ श्वसन विधि का प्रयोग न करें ।**

(b) **यदि खाली पेट हैं या खाना खाये 3 घं. हो गये हैं तो प्रत्येक मन्त्र के उच्चारण–मानसिक या वाचिक–के बाद बाहरी कुम्भक स्थिति करके पुनः मन्त्र का मानसिक उच्चारण करें अन्यथा कुम्भक का प्रयोग न करें ।**

उपसंहार

जिस प्रकार हम प्रतिदिन श्वास लेते हैं । श्वास प्रश्वास की क्रिया बन्द नहीं कर सकते, इसी प्रकार हमें ध्यान, व्यायाम व स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिए । इसको छोड़ना उचित नहीं है ।

इस पुस्तक में दी गई ध्यान विधि व उससे जुड़ी अनेक क्रियायें – श्वसन, प्राणायाम आदि ईश्वर आनन्द के साथ–2 स्वास्थ्य व शान्ति प्राप्त करने के लिए हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष व अहंकार धीरे–2 संयम में आते जाते हैं और हम सुख, शान्ति और आनन्द की ओर बढ़ते जाते हैं ।

पुस्तक में मैंने जो कुछ भी लिखा है वह वेद व आर्ष ग्रन्थों के स्वयं के अध्ययन पर आधारित होने के साथ–साथ अपने व्यक्तिगत अनुभव के अनुसार है ।

जो साधक व भक्तगण ध्यान के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं या अपने संशय दूर करना चाहते हैं वे लेखक से दूरभाष (मो० 09873029000) पर सायं 8 बजे से 9 बजे तक सम्पर्क कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त निःशुल्क **ध्यान प्रशिक्षण शिविर** में भी लेखक को आमन्त्रित कर सकते हैं ।

मैं उस परमपिता परमेश्वर का उपकार मानता हूँ, उसे हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिसकी प्रेरणा से यह पुस्तक सामान्य भक्तों व मनुष्यों के लिए लिखी गई है । मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह सभी भक्तों पर असीम कृपा करें ताकि सभी को ध्यान में पूर्ण सफलता मिले ।

❑❑❑

भाग–तीन

(उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए)

कक्षा – 9 से 12 के लिए

''आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः''

2015–2016

राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् छत्तीसगढ़, रायपुर

निःशुल्क वितरण हेतु

प्रकाशन वर्ष – 2015

एस. सी. ई. आर. टी. रायपुर, छत्तीसगढ़

मार्गदर्शक

संचालक

राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, रायपुर (छ.ग.)

सहयोग

जिला जीवन विज्ञान अकादमी दुर्ग–भिलाई

मानव आस्था केन्द्र–रायपुर, गायत्री शक्तिपीठ रायपुर

स्थायी समिति के सदस्य : डॉ. एस.एस. त्रिपाठी, डॉ. निरूपमा शर्मा,

श्री बी.व्ही. देशपाण्डे, श्री सुरेश कुमार ठाकुर

समन्वयक एवं सम्पादक

श्री बी.पी.तिवारी

लेखक–समूह

श्री गजानन्द प्रसाद देवांगन,डॉ. सन्तोषकुमार तिवारी, श्री घनश्यामलाल डडसेना, श्री तोकनकुमार शर्मा, श्री लच्छूराम निषाद, श्री छगनलाल सोनवानी,

श्रीमती रेखा चौधरी, श्री शिवशंकर नामदेव, श्री नारायणसिंह चन्द्राकर

ले–आउट डिजाइनिंग एवं टायपिंग

रेखराज चौरागड़े, कुमार पटेल

चित्रांकन

समीर श्रीवास्तव, अजय सक्सेना

प्रकाशक

छत्तीसगढ़ पाठ्यपुस्तक निगम, रायपुर

मुद्रक

प्राक्कथन

आज सम्पूर्ण विश्व में 'योग' के कारण क्रांति आ गई है। योग को एक विज्ञान के रूप में मान्यता दी गई है। ऐसी स्थिति में 'छत्तीसगढ़ शासन' ने विद्यार्थियों को संस्कारित करने के लिए 'योग' की उपादेयता एवं अनिवार्यता को समझा है। इसलिए शासन ने योग एवं मूल्य शिक्षा को पाठ्यक्रम में शामिल किया है।

सृजन पालन एवं विनाश की शक्ति की शाश्वतता को एक स्थित प्रज्ञ ही अनुभूति कर सकता है और यह स्थितप्रज्ञता चित्त वृत्तियों के निरोध की अवस्था में ही हो सकती है। महर्षि *पतञ्जलि* ने भी लिखा है– योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध योग से ही संभव है।

पंचमहाभूत ***" क्षितिजल पावक गगन समीरा"*** से ही मनुष्य के शरीर एवं मन की संरचना हुई है। मन की चेतना शक्ति ब्रह्म के सन्निकट होती है। व्यक्ति को उसी चेतना शक्ति के आधार पर जीवनी शक्ति प्राप्त होती है। व्यक्ति का आचार–विचार, उसकी मानसिकता सभी कुछ उसी चेतना शक्ति के वृद्धि पर निर्भर करता है। इसी से व्यक्ति परम आनंद का अनुभव करता है।

आज मनुष्य नैतिकता की दौड़ में यंत्रवत हो गया है। उसका आध्यात्मिक विकास अवरूद्ध सा हो गया है। अर्थ प्राप्ति की भागमभाग में, संवेदनशीलता लुप्तप्राय हो गई है। शाश्वत जीवन मूल्य जीवन से दूर हो चुके हैं। अतएव भौतिकता और आध्यात्मिकता का सामंजस्य आवश्यक हो गया है और इसके लिए एक मात्र योग ही वह सुगम पथ है, जिसके माध्यम से इस उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है।

योग एक विज्ञान के साथ वह जीवन शैली एवं पद्धति है, जिससे मनुष्य निरोग, स्वस्थ, सुन्दर, पवित्र और सक्षम रहता हुआ, जीवन पर्यन्त सुख और आनंद का अनुभव करते हुए उच्चशिखर को प्राप्त कर सकता है। योग सत्यं शिवं सुन्दरम् की प्रखर अभिव्यक्ति है अतः ईश्वर के प्रति पूर्ण आस्था, विश्वास एवं आत्मसर्मपण का ही नाम योग है।

आज योग की उपादेयता को समझते हुए शासन ने प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर तक की कक्षा– 1 से 12वीं तक के लिए योगशिक्षा पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का दायित्व राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् को सौंपा है।

विद्यालयों में योग शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों के मन, बुद्धि, व चित को पुष्ट करने के साथ –साथ शारीरिक विकास पर भी बल दिया जा सकेगा।

प्राथमिक स्तर पर बच्चों के उम्र के अनुरूप योगासनों का अभ्यास कराया जावेगा, साथ ही

व्यक्तिगत स्वच्छता परिवेशीय स्वच्छता, नियमितता, वाणी व्यवहार, राष्ट्रीय प्रेम एवं स्वावलम्बन के मूल्यों को संस्कारित किया जावेगा।

पूर्व माध्यमिक स्तर पर प्राणायाम, ध्यानमुद्रा, शरीर, मन व आत्मशक्ति के विकास हेतु छात्रों के स्तर के अनुरूप आसनों का अभ्यास कराया जावेगा। साथ ही, सामाजिक, राष्ट्रीय प्रेम, कर्तव्यपालन, पारस्परिक सहयोग, जीवन संघर्ष के लिए सक्षम बनाना पर्यावरण जागरूकता एवं भारतीय संस्कृति के प्रति आदर भावों आदि मूल्यों को भी विकसित किया जावेगा।

उच्चतर स्तर की कक्षाओं में उपर्युक्त मूल्यों एवं आसनों के अभ्यास के साथ कुछ कठिन एवं उपयोगी आसनों का अभ्यास कराया जावेगा। सभी आसनों का पूर्वाभ्यास भी कराया जावेगा। प्राणायाम के साथ तीन बंधों का अभ्यास भी कराया जावेगा। साथ ही शाश्वत जीवन मूल्य, समाज के प्रति जागरूकता, अस्तेय, दैनिक जीवन में समता, सहयोग, सामाजिक कुरीतियों के प्रति जागरूकता, धर्म, जाति, भाषा, लिंग के पूर्वाग्रह से दूर होना, नशीले पदार्थों का त्याग, विश्वबंधुत्व की भावना, पर्यावरण सजगता के साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास किया जावेगा।

इस तरह योगाभ्यास से जीवन मूल्यों को व्यवहारगत बनाने के साथ–साथ विद्यार्थियों के मन, बुद्धि व हृदय में रूपान्तरण कर चरित्र को उदात्त बनाया जायेगा।

पाठ्यपुस्तक के निर्माण में प्रबुद्ध लेखकों के प्रति हम कृतज्ञ हैं। जिनकी निष्ठा और लगन के फलस्वरूप पाठ्यपुस्तक अपनी बहुआयामी आकृति पा सकी है।

अंत में पाठ्यपुस्तक के निर्माण में जिनकी परोक्ष व अपरोक्ष रूप से सहभागिता रही है, उनके प्रति हम साधुवाद ज्ञापित करते हैं।

हमें विश्वास है, योगशिक्षा पाठ्यपुस्तक नवचेतना का संचार कर विद्यार्थियों, शिक्षकों, पालकों व समाज में आत्मोन्नयन के लिए उपयोगी होगी।

संचालक
राज्य शैक्षिक अनुसंधान और
प्रशिक्षण परिषद्, रायपुर

अनुक्रम

पाठ्यक्रम

उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विभाग (कक्षा 9 से 12)

निर्देश :– 1. पूर्व की कक्षाओं के आसनों का अभ्यास अवश्यकतानुसार कराएँ।

2. सुखासन, पद्मासन, वज्रासन, शीर्षासन, सर्वागासन, सूर्यनमस्कार और शवासन का अभ्यास प्रत्येक कक्षा के छात्र– छात्राओं को कराएँ

आसन

1. गोमुखासन
2. गोरक्षासन
3. अर्ध मत्स्येन्द्रासन
4. स्वस्तिकासन
5. सिद्धासन
6. वृश्चिकासन
7. भद्रासन
8. बकासन
9. उदराकर्षण आसन
10. आकर्ण धनुरासन
11. गर्भासन
12. कुक्कुटासन
13. विपरीतकरणी
14. योगमुद्रा

निर्देश – 1 पूर्व कक्षाओं में करायें प्राणायाम, मुद्राएँ, दृष्टि और षटकर्म का अभ्यास उच्चतर माध्यमिक विभाग के छात्र–छात्राओं को भी कराएँ।

2. प्राणायाम कराते समय नीचे लिखें तीन बंध का अभ्यास कराया जाना आवश्यक है।

बंध
1. मूल बंध
2. उड्डियान बंध
3. जालन्धर बंध

स्थूल व्यायाम : क्रमांक 1 से 5 तक।

सूक्ष्म व्यायाम : क्रमांक 1 से 48 तक।

अध्याय : एक

1.1 योग शिक्षकों के लिए सामान्य निर्देश

1. योग शिक्षा का कार्यभार उन्हीं अध्यापकों को दिया जाना चाहिए जिन्होंने इस बारे में स्वाध्याय और अभ्यास किया हो और इस कारण इस विषय में कुछ निष्ठा बनी हो अर्थात् योग का शिक्षक इस विषय में अच्छी जानकारी और अनुभव रखता है।

2. योग शिक्षकों को शिक्षा पाठ्यक्रम की पुस्तिका, इसकी भूमिका तथा उनमें निहित किसी एक योग्य पद्धति को अच्छी तरह पढ़ना चाहिए व उसी के अनुसार अभ्यास करना चाहिए। ऐसी पुस्तकें उनके स्वाध्याय हेतु विद्यालय में रखी जाएँ तथा उन पुस्तकों में योगासन सचित्र होने चाहिए।

3. जो भी आसन या क्रिया सिखानी हो, उसकी विधि और लाभ विद्यार्थियों को पहले समझा देने चाहिए।

4. योगासन या क्रिया का कार्यक्रम कराते समय कब, कौन से आसन या क्रिया कैसे कराई जाए, यह ध्यान में रखना चाहिए।

5. योग करते समय विद्यार्थी अपना ध्यान कहाँ एकाग्र करें यह अवश्य बताना चाहिए।

6. शरीर के भाग पर जोर पड़ने वाले आसन करने के बाद उसके विरुद्ध भाग पर जोर पड़ने वाले आसन अवश्य कराने चाहिए जैसे – हलासन के बाद चक्रासन।

7. किस प्रकार की वेश–भूषा में योग सुविधापूर्वक हो सकता है – यह शिक्षक स्वयं भी ध्यान में रखें और विद्यार्थियों को भी बताएँ।

8. योगासन खाली पेट करवाना चाहिए अर्थात् खाना के तीन–चार घंटे बाद ही योग कराया जा सकता है। बालक से पूछें कि उसने कब, कैसे भोजन किया या प्रातः शौच हुआ या नहीं, यह जानकार ही योगासन कराना चाहिए वरना हानि हो सकती ।

9. सात्विक आहार और स्वास्थ्य का सम्बन्ध जानें।

10. योगासन करते समय यदि किसी बालक से गलती हो या उससे उससे योग न होता हो तो उसे डाँटना नहीं चाहिए।

11. बालकों को योग क्रिया कराते समय शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि बालक उस

आसन को सरलता से कर रहा है, कहीं जोर जबरदस्ती तो नहीं कर रहा अथवा किसी विद्यार्थी को परेशानी तो नहीं हो रही है।

12. प्रत्येक आसन की अन्तिम सही स्थिति तक पहुँचने के लिए अनेक सरल–चरणों का ज्ञान होना चाहिए। उसके लिए स्वयं भी आसनों की रचना सोचते व करते रहना चाहिए।

13. प्रत्येक आसन के पश्चात् शवासन द्वारा अंग शिथिल कराकर ही दूसरा आसन कराएँ।

14. योग सिखाते समय छात्रों की आयु, शक्ति व बीमारी आदि का ठीक विचार करके धीरे– धीरे अभ्यास कराना चाहिए।

15. किन आसनों व क्रियाओं के करने से किन रोगों का नाश हो जाता है – यह शिक्षक को अवश्य मालूम होना चाहिए।

16. शिक्षक कक्षा में कहानी द्वारा विषय स्पष्ट करें।

17. योग शिक्षक आपस में अवश्य परामर्श करें, परन्तु विद्यार्थियों के सामने नहीं।

18. अधिक आसन व क्रियाएँ करने के स्थान पर कम आसन व क्रियाएँ अधिक समय तक करना उपयोगी रहता है।

19. योग शिक्षक व्यावहारिक जीवन में योग विषय का ज्ञाता रहे। इस दृष्टि से उसका स्वयं का निरन्तर एवं प्रत्यक्ष अनुभव के व्यावहारिक रूप के लिए चल रहे योग केन्द्र से भी जीवन्त सम्पर्क रखें तथा अपने लिए भी 'सिखाने की पद्धति' की जगह 'सीखने की पद्धति' को जीवन में उतारे।

20. बालकों के घरेलू वातावरण को जानने के लिए शिक्षक–अभिभावक सम्मेलन आदि आयोजित करने चाहिए तथा अभिभावकों को भी योग का महत्व बताना चाहिए।

21. योग शिक्षक को योग कराते समय स्थान का भी उचित चुनाव करना चाहिए जैसे खुला स्थान बड़ा हाल। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि –

    (अ) योग समतल स्थान पर करें।

    (ब) स्थान छायादार हो तथा वहाँ पर किसी प्रकार का शोर न हो।

    (स) योग आसन मोटी दरी पर करना चाहिए।

22. योग बहुत बड़े समूह में न करवा कर छोटे समूह में करवाना चाहिए।

23. योग में केवल आसन ही नहीं, आसन के साथ साधारण प्राणायाम तथा योग प्रक्रियाओं के प्रति रुचि और निष्ठा विकसित होनी चाहिए।

24. धीरे–धीरे शिक्षक ऐसी आसन श्रृंखला व योग श्रृंखला बता सके जिसे बालक नियमित रूप से अपने घर पर भी ठीक से करना प्रारम्भ कर सकें।

25. विद्यालय समय से पूर्व या बाद में छात्रों का योग वर्ग लगाया जा सकता है।

1.2 योग को विद्यालय में प्रभावी बनाने के सम्बन्ध में कुछ सुझाव

1. योग विषय में रुचि रखने वाले शिक्षकों को ही इस दिशा में क्रमशः आगे बढ़ाए जाएँ। क्रमशः सबकी रुचि बढ़ानी है, यह उद्देश्य हो।

2. प्रार्थना सभा बड़ी प्रभावी बनाई जाए। ॐ जप, मौन, ध्यान का भी प्रार्थना सभा में समावेश हो। योग सम्बन्धी, विशेषकर यम नियम की व्याख्या करने वाली कहानियाँ प्रार्थना सभा में सुनाई जाएँ।

3. योग कक्ष या ध्यान–कक्ष की व्यवस्था विद्यालय स्तर पर की जाए।

4. आवासी विद्यालयों में इसे नित्य प्रति कार्यक्रम में रखा जाए।

5. योग प्रशिक्षण की प्रक्रिया अनवरत बनाये रखने की आवश्यकता है।

6. योग की प्रक्रिया की प्रत्यक्ष जानकारी के लिए योग डायरी बनवाना उपयुक्त रहेगा।

7. मन्द–बुद्धि के बच्चों के लिए योग की विशेष कक्षाएँ ली जाएँ तथा उनके विकास का मूल्यांकन किया जाए।

8. योग पखवारा मनाया जाए जिसमें योग के बारे में विस्तार से बताएँ।

9. योग के अंतर्गत मौन दिवस का आयोजन किया जाए।

10. ॐ या कोई मन्त्र अधिकतम लिखने (लिखित जप के रूप में) के लिए प्रेरित किया जाए।

11. आने वाली महापुरुष की जयन्ती पर महापुरुष के सम्बन्ध में जीवन का वह हिस्सा लिखना

जिसमें योग का प्रभावी रूप आया हो।

12. अनेक विद्यालयों को मिलाकर इकाई बना सकते हैं और उनकी योग पर भाषण प्रतियोगिता रखी जा सकती है।

13. प्रायः बच्चों या बड़ों की बैठक में भी प्रारम्भ में ऊँकार और ध्यान का थोड़ा कार्यक्रम कराकर फिर अन्त में किसी भजन से समाप्त करना उपयोगी होगा।

14. कक्षा शिक्षण में बेला प्रारम्भ होने से पूर्व ध्यान या ऊँकार कराये तब शिक्षण प्रारम्भ करें, अधिक आनन्द आयेगा।

15. कक्षा में शिक्षण के पूर्व गत दिवस की अध्यापित विषय वस्तु को ध्यान की स्थिति में स्मरण करना तथा आने वाली विषय वस्तु से सहसम्बन्ध जोड़ने के लिए भी कहा जा सकता है।

16. विद्यालय के वार्षिकोत्सव में योगासन का अच्छा एवं प्रभावी प्रदर्शन रखा जायें यह ध्यान में रहें कि समग्र–योग के साथ समष्टीकरण किये बिना इसका योग–दृष्टि से कोई मूल्य न होगा। केवल प्रदर्शन वृत्ति को बढ़ावा मिलेगा।

17. प्रदर्शनी लगाई जाए – (विषय देकर)– सत्यम्, शिवम् या सुन्दरम् कार्य का आधार लिया जाए।

18. बालक के शरीरिक व मानसिक विकास में योग का क्या परिणाम रहा, यह अनुभव कर, उसे बताएँ।

19. मनोवैज्ञानिक आधार लेकर विद्यार्थी के आयु–वर्ग के अनुसार कुछ परीक्षण किया जाए फिर उस पर क्या क्रमिक परिवर्तित परिणाम आते हैं। इसका अध्ययन किया जाए।

अध्याय : दो

2.1 गुरुवन्दना

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात् परमब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

2.2 श्री सरस्वती वन्दना

या कुन्देन्दुतुषारहार धवला या शुभ्रवस्त्रावृत्ता

या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।

या ब्रह्मच्युतशंकर प्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता

सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा।।

जो कुन्दपुष्प, चन्द्रमा, बर्फ (तुषारहार) के समान धवल (श्वेत) हैं, जो शुभ्र (श्वेत) वस्त्र धारण करती हैं, जिनके हाथ उत्तम वीणा से सुशोभित हैं, जो श्वेतकमलासन पर विराजमान हैं, ब्रह्म, विष्णु, महेश आदि देवों के द्वारा जिनकी वंदना की जाती है, सब प्रकार की जड़ता को दूर करने वाली ऐसी भगवती सरस्वती मेरा पालन करें, मेरी रक्षा करें।

2.3 प्रार्थना–1

वह शक्ति हम दो दयानिधे, कर्त्तव्य मार्ग पर डट जावें।

पर सेवा पर उपकार में हम, निज जीवन सफल बना जावें।।

हम दीन दुःखी निबलों विकलों के, सेवक बन सन्ताप हरें।

जो हैं अटके भूले भटके, उनकों तारें खुद तर जावे।। वह शक्ति हमें दो .....

छल दम्भ द्वेष पाखण्ड झूठ, अन्याय से निश दिन दूर रहें।

जीवन हो शुद्ध सरल अपना, शुचि प्रेमसुधा रस बरसावें ।। वह शक्ति हमें दो .....

निज आन–मान मर्यादा का प्रभु ध्यान रहे अभिमान रहे।

जिस देश–जाति में जन्म लिया, बलिदान उसी पर हो जावें।। वह शक्ति हमें दो ....

प्रार्थना–2

शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।

शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।।

वही आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ।

अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ।

अखिल विश्व का जो परम आत्मा है।

वही आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ।। 1 ।। शिवोऽहम् .....

अमर आत्मा है मरणशील काया।

सभी प्राणियोंके जो भीतर समाया।

वही आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ ।। 2 ।। शिवोऽहम् ......

जिसे शस्त्र काटे न अग्नि जलावे।

बुझावे न पानी न मृत्यु मिटावे।

वही आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ ।। 3 ।। शिवोऽहम् .....

है तारों सितारों में आलोक जिसका।

है चन्दा व सूरज में आभास जिसका।

वही आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ ।। 4 ।। शिवोऽहम् .....

जो व्यापक है, कण कण में है वास जिसका।

नहीं तीनों कालों में हो नाश जिसका।

वही आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ ।। 5 ।। शिवोऽहम् .....

अजर और अमर जिसको वेदों ने गाया।

वही ज्ञान अर्जुन को हरि ने सुनाया।

वही आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ ।। 6।।

शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।

शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।।

पाठ्यक्रम के अन्त में तीन बार ओ३म् का सस्वर उच्चारण करते हुए भ्रामरी प्राणायाम करें ।

2.4 गायत्री मंत्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं।

भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

(यजु.३६/३) (ऋ–३६२/१0)

भावार्थ : उस प्राणस्वरूप, दुखनाशक, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें।

2.5 शान्ति पाठ

ओ३म् असतो मा सद्गमय,

तमसो मा ज्योतिर्गमय,

मृत्योर्मा अमृतं गमय,

सर्वेषां शान्तिर्भवतु,

सर्वेषां पूर्णं भवतु,

सर्वेषां मंगलं भवतु,

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्ता, न्यायेन मार्गेण मही महीशा।

गो ब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं, लोकाः समस्ताः सुखिनों भवन्तु।।

ओ३म् त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।

उर्वारुकमिव बंधनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्।।

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ९ शान्तिः ।

पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।

वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः।

सर्व शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः

सा मा शान्तिरेधि।। ओ३म् शान्तिः! शान्तिः! शान्तिः।। **(अजुर्वेद ३६/१७)**

नाऽहं कर्ता हरि कर्ता

हरि कर्ता हि केवलम्

नाऽहं कर्ता गुरु कर्ता

गुरु कर्ता हि केवलम्

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।

त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव।

त्वमेव सर्वं मम देव देव।।

योग क्या है :–

(भवतापेन तप्तानाम् योगो हि परमौषधम्)

योगासन

योग शब्द 'युज्' धातु से बना, जिसका अर्थ होता है जोड़ना। जीवात्मा का परमात्मासे मिल जाना, एक हो जाना ही योग है।

योगाचार्य महर्षि पतञ्जली ने सम्पूर्ण योग के रहस्य को अपने योगदर्शन में सूत्रों के रूप में उपदेश किया है।

चित्त को एक जगह स्थापित करना 'योग' है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है –

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्

जिस योग साधन द्वारा आत्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार हो वही परमधर्म है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' में श्री कृष्ण ने कहा है – ''योगः कर्मसु कौशलम्''

प्रत्येक काम को कुशलता से सम्पन्न करना योग है।

कृष्ण ने गीता में यह भी कहा है – ''समत्वं योग उच्यते''

समता की भावना ही श्रेष्ठ योग है।

2.6 योगासन हेतु सावधानियाँ

1. योगासन करने से पूर्व शौच, स्नान आदि से निवृत्त हो जाएँ।
2. प्रातःकाल योगासन करना अधिक लाभकारी है।
3. योगासन करने के तुरन्त बाद स्नान नहीं करना चाहिए। पसीना को पंखे से न सुखाएँ, शरीर का ताप सामान्य होने पर स्नान करें।
4. योगासन के आधा घंटा पश्चात् दूध, दलिया, फल या अँकुरित अनाज थोड़ी मात्रा में अवश्य लेना चाहिए।
5. आसन एकान्त तथा धूल, मिट्टी व धुआ रहित स्थान पर किया जाना चाहिए। घर की छत, पार्क, नदी के किनारे अथवा ऐसे खुले स्थान पर करना चाहिए जहाँ शुद्ध हवा आती जाती हो। अधिक ठंड में योगासन खुले कमरे में करें।
6. आसन करते समय शरीर पर वस्त्र कम से कम और ढ़ीले होनें चाहिए।
7. समतल भूमि पर गरम कंबल मोटी दरी बिछाकर ही आसन करें। खुली भूमि पर बिना कुछ बिछाकर आसन कभी न करें, जिससे शरीर में निर्मित होने वाला विद्युत प्रवाह नष्ट न हो जाए।
8. श्वास मुँह से न लेकर नाक से ही लेना चाहिए।
9. आसन करते समय शरीर के साथ जबरदस्ती न करें, अतः धैर्य पूर्वक आसन करें।
10. आसन के पूर्व थोड़ा ताजा जल पीना लाभदायक है। आक्सीजन और हाइड्रोजन में विभाजित होकर संधि स्थानों का मल निकालने में जल बहुत सहायक होता है।
11. आसन की स्थिति में श्वासप्रश्वास का विशेष ध्यान रखें।
12. आसन करते समय शरीर में जिस स्थान पर खिंचाव पड़ रहा हो, कष्ट होने लगे या पीड़ा का अनुभव हो तो उस अभ्यास को तुरन्त बंद कर देना चाहिए।
13. आसन जितने समय तक सरलता से कर सकें उतने समय तक ही करें।
14. आसन नियमित तथा एकाग्रचिन्त होकर प्रसन्न मुद्रा में करना चाहिए।
15. आसन में प्रतिस्पर्धा नहीं करना चाहिए।
16. रुग्णावस्था में कुशल योग शिक्षक की देख–रेख में विशेष आसन करना चाहिए।
17. भोजन के चार घंटे बाद ही आसन किया जा सकता है।

अध्याय : तीन

3.1 अष्टाँग योग

योग के द्वारा विभिन्न दशाओं को पार करता हुआ व्यक्ति मन और आत्मशक्ति का विकास करता हुआ आत्मज्ञान को प्राप्त होता है।

हमारे ऋषि–मुनियों ने योग के द्वारा शरीर मन और प्राण की शुद्धि तथा परमात्मा की प्राप्ति के लिए आठ प्रकार के साधन बतलाए हैं, जिसे अष्टाँग योग कहते है। ये हैं–

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

1. **यम–** सामाजिक व्यवहार में आने वाले नियमों को यम कहते हैं। जैसे किसी को न सताना, यातना न देना, लोभ लालच न करना, चोरी, डकैती न करना अर्थात् कोई ऐसा कार्य न करना जिससे मानव समाज के किसी भी अंग का अहित होता है।

2. **नियम–** इसका संबंध आपके अपने चरित्र से है। व्यक्तिगत चरित्र स्वच्छ और उत्तम होना चाहिये। जब आपका अपना चरित्र ठीक होगा तो आप समाज के एक श्रेष्ठ अंग बन जायेंगे। श्रेष्ठ समाज उत्तम व्यक्तियों से ही मिलकर बनता है।

3. **आसन–** शरीर के विभिन्न अंगों के विकास के लिये जो यौगिक क्रियाएँ की जाती हैं। उन्हें आसन कहा जाता है।

4. **प्राणायाम–** यूं तो प्राण विज्ञान बहुत व्यापक विषय है, परन्तु इसके अनेक अंगों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

   प्राण + आयाम अर्थात् प्राणों का आयाम

   1. प्राण वायु को सन्तुलित रूप से लेना।
   2. नियमित रूप से गहरी और लंबी साँस लेना।
   3. प्राण पर सदैव ध्यान रखना।

5. **प्रत्याहार–** किसी भी वस्तु में लिप्त न होना यानी ''पद्मपत्रमिवाम्भसा'' ''जल में जैसे कमल है रहता जग में वैसे रहना'' पर वह जल में गीला नहीं होता उसी प्रकार रहना। संसार में आसक्ति अनासक्तभाव से रहना प्रत्याहार है।

6. धारणा— अपने मन को एकाग्र करना या एकाग्रचित होना ही धारणा है। यह बहुत बड़ी बात है और जीवन में सफलता की कुंजी है।

7. ध्यान— प्रभु का चिन्तन करना और उसके स्मरण में चित को लगाना ध्यान कहलाता है।

8. समाधि— समाधि लग जाने पर मनुष्य के अन्तर में स्वतः ही प्रकाश दिखने लगता है।

लाभ— इन आठों प्रक्रियाओं से मानसिक आध्यात्मिक और शरीरिक विकास होता हैं। और आपका शरीर स्वस्थ होगा। उसके विकार दूर होंगें आपका मन स्वच्छ होगा और आप एक आदर्श व्यक्ति कहलाएँगे।

1. यम

''अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः''

यम का अर्थ है व्रत—पंचव्रत :— जिसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह कहते हैं।

1. अहिंसा— अहिंसा का अर्थ है, हिंसा न होना। मन वचन कर्म से किसी प्राणी को न सताना अहिंसा है।

2. सत्य— सत्य का एक अर्थ है — झूठ न बोलना।

   जिस वार्तालाप और व्यवहार से सबका हित हो वह सत्य है।

3. अस्तेय— चोरी न करना। पराई वस्तु को उसके स्वामी से पूछे बिना न लेना अस्तेय है।

4. ब्रह्मचर्य— ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है इन्द्रिय संयम।

   शरीर की शक्ति का रक्षण ब्रह्मचर्य है।

5. अपरिग्रह— अपरिग्रह का एक और नाम है असंग्रह अर्थात् संग्रह न करना। अनावश्यक वस्तुएँ द्रव्य आदि को एकत्र ना करना अपरिग्रह है।**म**

2. नियम

शौचसंतोषतपःस्वध्यायईश्वरप्रणिधानानि नियमाः

i. शौच

शौच का अर्थ है पवित्र। शरीर और मन दोनों की पवित्रता से वास्तविक अर्थ पूरा होता है।

ii. सन्तोष

'सम्' उपसर्ग पूर्वक ''तुष् प्रीतौ'' धातु से संतोष शब्द बना है।

सन्तोष का अर्थ – प्रसन्नता, खुशी, आनन्द है, जैसे भी भली बुरी परिस्थिति सामने हो उसमें प्रसन्न रहना, संतोष है। अथवा शरीर से पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त धन से अधिक की लालसा न करना, न्यूनाधिक की प्राप्ति पर शोक और हर्ष न करना।

iii. तप

भूख प्यास, शीत उष्ण, स्थान तथा आसन के कष्टों को सहन करना। तप का तात्पर्य 'कष्ट सहन' है।

iv. स्वाध्याय

आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये नित्य नियम से पठन–पाठन स्वाध्याय कहा जाता है।

v. ईश्वर प्रणिधान

प्रणिधान माने हैं – धारण करना, स्थापित करना। ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर को धारण करना, ईश्वर को स्थापित करना। अथवा जितने भी कर्म बुद्धि, वाणी और शरीर से किये जाते हैं, और छोटी से छोटी क्रियामात्र को परमगुरु भगवान् अथवा ईश्वर को अर्पण करते जाना तथा उन कर्मो के फलों को भी भगवान् को अर्पण कर देना, ईश्वर प्रणिधान है।

3. आसन

''स्थिरसुखमासनम्''

'आसन' शरीर की वह स्थिति है जिसमें आप अपने शरीर और मन के साथ शान्त स्थिर एवंसुख से रह सकें।

4. प्राणायामायाम

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।" (योगदर्शन २/४६)

अर्थात् आसन की स्थिरता होने पर श्वास–प्रश्वास की स्वाभाविक गति का नियमन करना–रोकर सम कर देना "प्राणायाम" है।

5. प्रत्याहार

"स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरुपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।"

अपने–अपने विषयों के संग से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के रूप में अवस्थित हो जाना प्रत्याहार है।

6. धारणा

"दशबन्धः चित्तस्य धारणा"

चित्त को किसी एक विशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है।

7. ध्यान

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।"

ध्यान धारण शक्ति का प्रसार है।

8. समाधि

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरुप–शून्यमिव समाधिः।

केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाता है वही (ध्यान ही) समाधि कहलाता है।

3.2 शरीर रचना

जीवधारी के शरीर की रचना पंच महाभूतो (आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी) से हुई है। इन पाँच तत्वों का प्रतिनिधित्व हमारे शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ करती हैं। अकाश का गुण है शब्द, और शब्द हम कान से सुनते है। वायु का गुण है स्पर्श, स्पर्श हम त्वचा से करते हैं। अग्नि का गुण

है प्रकाश, प्रकाश हम आँखों से देखते हैं। जल का गुण है स्वाद, स्वाद का अनुभव हमें जिह्वा से होता है। पृथ्वी का गुण है गंध, गंध का ज्ञान हमें नासिका से होता है। इसके अलावा पाँच कमेन्द्रियाँ है – (मुख, हाथ, पांव, लिंग और गुदा)

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियां शरीर के संस्थान ग्रंथियाँ आदि 24 तत्वों से हमारे शरीर का संचालन होता है। इन सब पर शासन करने वाला है मन। मन पर शासन करने वाली बुद्धि। बुद्धि का शासक अहंकार और उसका स्वामी है जीवात्मा।

शरीर में सब संस्थानों का एक अपना मुख्य कार्य है जो उन अंगों को स्वस्थ रखने में सहायक होते है।

1.	अस्थि संस्थान	–	हड्डियाँ
2.	संधि–संस्थान	–	संधियाँ
3.	मांस संस्थान	–	मांसपेशियाँ
4.	रक्त और रक्त वाहक संस्थान	–	जैसे हृदय, धमनी और शिरा
5.	श्वासोच्छवास संस्थान	–	जिनसे हम साँस लेते है जैसे नासिका, टेंटुआ (गर्दन) फुफ्फुस आदि।
6.	पोषण संस्थान	–	मुख, दाँत, मेदा, (आमाशय)छोटी बड़ी आँते, यकृत।
7.	मूत्र वाहक संस्थान	–	गुर्दा, मूत्राशय आदि।
8.	वात या नाड़ी संस्थान	–	मस्तिष्क, नाड़ियाँ, बात सूत्र आदि।
9.	विशेष ज्ञानेन्द्रियाँ	–	चक्षु, कान, त्वचा, नासिका, और जिह्वा।
10.	उत्पादक संस्थान	–	अंड, शिश्न, योनि, गर्भाशय आदि।

इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार की ग्रंथियाँ है जो हमारे शरीर में कार्य करती है।

योगासनों का प्रभाव रीढ़, मांस पेशियों, रक्त संस्थान, नाड़ी संस्थान तथा पाचन यंत्रों पर पड़ता है। हृदय, फेफड़े तथा मस्तिष्क से इनका घनिष्ठ संबंध है इसलिए इन सब अंगों के कार्यो एवं रचना की संक्षिप्त व्याख्या, योगशिक्षा के भाग 2 में दी जा रही है।

मेरुदण्ड (रीढ़) – गर्दन, पीठ और कमर के बीच में रीढ़ होती हैं। इसे 26 भाग होते है। जो आपस में बंधे रहते हैं। हमारे शरीर के स्वास्थ्य और यौवन का संबंध इसी रीढ़ के स्वस्थ होने से है। रीढ़ में जितनी लचक रहेगी ये 26 मोहरें

साफ रहेंगे, इनके मुड़ने–तुड़ने में रुकावट नहीं होगी और हमारा स्वास्थ्य और यौवन भी बना रहेगा इन 26 अस्थियों में से 7 गर्दन में 12 पीठ में, 5 कमर में और शेष दो कमर के नीचे गुदाके पास होती है जो नौ के जोड़ से दो बनती है। इन्हीं के मध्य से सिर के पिछले भाग से सुषुम्ना नाड़ी निकल कर गुदाद्वार के पास तक आती है। जो सारे शरीर का नियंत्रण करती है।

मांसपेशियाँ – अस्थि पिंजर के भीतर शरीर के कार्य को चलाने के लिये कोमल अंग होते है। जो सौत्रिक तन्तुओं द्वारा इन अस्थियों से जुड़े रहते हैं। अस्थियों को ढकने तथा ग्रंथियों और अन्य कोमल अंगों की रक्षा के लिये मांसपेशियाँ होती हैं। जिनसे शरीर सुडौल बनता है। मांस का यह विशेष गुण है कि यह सिकुड़ कर मोटा और छोटा हो जाता है फिर अपनी पूर्व दशा को प्राप्त कर लेता है। मांस की सिकुड़ने को ''संकुचन'' और फैलने को ''प्रसार'' कहते है।

गतियाँ – हमारे शरीर में दो प्रकार की गतियाँ होती है। एक वे जो हमारी इच्छानुसार होती है जैसे – चलना, फिरना,बोलना, हाथ उठाना, भोजन चबाना आदि। क्योंकि ये गतियाँ इच्छा के आधीन होती है इस लिये इन्हें ऐच्छिक गति कहते हैं।

दूसरी गतियाँ वे हैं जो हमारे बस में नही है हम उनको अपनी इच्छा से रोक नहीं सकते और जो रुके उन्हें चला नहीं सकते उन्हें अनैच्छिक गतियाँ कहते हैं जैसे हृदय की धड़कन आंत्रगति, आंखों पर प्रकाशीय प्रभाववश गति आदि।

3.3 रक्त संस्थान फुफ्फुस और हृदय

हृदय

मनुष्य का हृदय उसकी बंद मुठ्ठी से बहुत कुछ मिलता जुलता है और वह छाती में बाईं तरफ फेफड़ों के बीच में स्थित है जिसे अक्सर तेज दौड़कर आने के बाद तथा घबराहट के समय तेज से धड़कता हुआ अनुभव किया जा सकता है। सारे शरीर को हृदय से रक्त देने तथा उसे वापस हृदय में लाने के लिये दो प्रकार की नलियाँ होती है जो सारे शरीर में फैली रहती है इनमें से कई तो बाल से भी बारीक होती है रक्त को ले जाने वाली ये नलियाँ ''धमनियाँ'' कहलाती है जबकि अशुद्ध रक्त को हृदय में वापस लाने वाली नालियाँ ''शिराएँ''

हृदय की दाईं ओर दायाँ, और बाईं ओर बायाँ फेफड़ा है। हृदय एक थैली के समान आवरण से ढका रहता हैं। जिसे ''हृदय कोश'' कहते हैं। हृदय मांस से निर्मित एक कोष्ठ है, जिसके भीतर रक्त भरा रहता है। यह भीतर से दो भागों में विभक्त रहता है। इन दोनों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता है प्रत्येक द्वार सौत्रिक तन्तु से निर्मित है। और वे नीचे तरफ को ही खुलते हैं।

आकृति 8 : हृदय की रचना

आकृति 9 : फेफड़ों में रक्त का शुद्धीकरण

इसलिए रक्त ऊपर के भाग से नीचे की ओर आ तो सकता है लेकिन ऊपर की ओर जा नहीं सकता इस प्रकार हृदय में चार भाग होते है। हृदय कभी एक सा नहीं रहता । वह कभी सिकुड़ता है तो कभी फैलता है। सिकुड़ने और फैलने से उसकी धारणा शक्ति घटती बढ़ती रहती है। फुफ्फुस रक्त को शुद्ध करने वाला अंग है इन अंगों में सम्पूर्ण दायाँ भाग अशुद्ध तथा बायाँ भाग शुद्ध रक्त का लेनदेन करता है। हृदय के कोष्ठ रक्त को आगे की ओर धकेल कर फैलने लगते है। और शीघ्र ही पूर्ण दशा को प्राप्त होते है। यह कार्य एक मिनट में 70 से 75 बार होता है। जिसे हम नाड़ी स्पन्दन भी कहते है। छोटे बच्चों में हृदय की घड़कन तेज और बुढ़ापा आने पर यह मन्द पड़ जाती हैं।

हृदय एक बार में 60 से 80 ग्राम रक्त पम्प करता है। हृदय एक मिनट में 5 से 8 लीटर के लगभग रक्त शरीर को भेजता है यह क्रम जीवन पर्यन्त चलता रहता है।

3.4 श्वासक्रम

वायु का नासिका द्वारा फेफड़ों में जाना और बाहर निकलना ''श्वासक्रम'' कहलाता है। श्वास सदा नाक से ही लेना चाहिये मुख से नहीं। नासिका में इस प्रकार के यंत्र हैं, जो श्वास को पहले छान कर गरम करते है। फिर उसे फेफड़ों में भेजते हैं। इस प्रकार कोई भी विकार नासिका द्वारा फेफड़ों में नहीं पहुँच सकता जबकि मुख में इस प्रकार के यंत्र नहीं है।

साधारण स्वस्थ मनुष्य एक मिनट में 13 से 20 बार तक श्वास लेता है। बचपन में यह संख्या अधिक होती है। शारीरिक परिश्रम से जैसे– व्यायाम, भागना, दौड़ना, खेलकूद आदि में यह संख्या अधिक हो जाती है। खड़े रहने में और दिन के समय में साँस जल्दी–जल्दी चलती है।

मस्तिष्क

योगासन एवं प्राणायाम की पूरी व्यवस्था मस्तिष्क तथा नाड़ी मंडल को स्वस्थ व शान्त करने की है। ताकि मस्तिष्क शरीर के अंगों को चला सके और उन पर नियंत्रण रख सके। मस्तिष्क दो भागों में बटा हुआ है। ''वृहद् मस्तिष्क'' और ''लघु मस्तिष्क''।
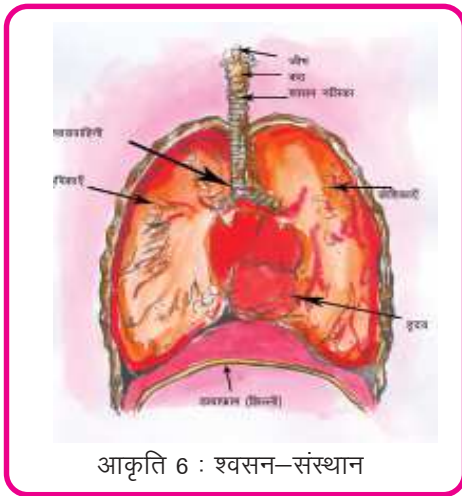
आकृति 6 : श्वसन–संस्थान

आकृति 7 : कूपिकाएँ और केशिकाएँ

मस्तिष्क सारे शरीर के कार्य को नाड़ी सूत्रों द्वारा चलाता है। ये नाड़ी सूत्र डोरी के समान परत होते है। सभी नाड़ियां एक समान नहीं होती है।

ये नाड़ियाँ मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं जैसे कि वे नाड़ियाँ जिनका पेशियों की गति से सम्बन्ध होता है। ''चालक नाड़ियाँ'' कहलाती है। और वे नाड़ियाँ जिनका चेतना या संवेदन से सम्बन्ध है, संवेदनिक नाड़ियाँ कहलाती है। लेकिन कुछ नाड़ियाँ मिश्रित रहती हैं।

सुषुम्ना की रचना

योग में सुषुम्ना का बड़ा नाम आता है। चक्रों का होना भी इसी पर माना गयाहै। इन चक्रों के खुलने से व्यक्ति पूरी तरह तनाव मुक्त निरोगी व विश्राम की स्थिति में रहता है। सुषुम्ना नाड़ी मंडल का वह भाग है जो कपाल के महाछिद्र से प्रारम्भ होकर रीढ़ में से उसके आखिरी मोहरे से ऊपर वाले मोहरे तक आता है। सुषुम्ना कुछ बेलनाकार और रस्सी की सी होती है। इसका पिछला भाग मध्य रेखा में दबा रहता है। इन नाड़ियों के बाएँ भाग को ''इड़ानाड़ी'' मंडल तथा दाएँ भाग को ''पिंगला नाड़ी'' मंडल कहते हैं। इनका सीधा संबंध नासिका की इड़ा (चन्द्र नाड़ी) पिंगला (सूर्य नाड़ी) से होता है।

पाचन तंत्र

शरीर में अनेक क्रियाएँ चलती रहती है। जिसके लिये ऊर्जा की आवश्यकता होती है। तथा क्रियाओं के संचालन में कई कोशिकाएँ या ऊतक टूट–फूट जाते है। अतः इनके निर्माण व ऊर्जा की पूर्ति के लिए आहार की आवश्यकता होती है।

आहार के निम्न घटक होते हैं।

1. कार्बोहाइड्रेट
2. प्रोट्रीन
3. वसा
4. विटामिन
5. लवण
6. पानी

हम इन घटकों को भोजन के रूप में करते है। उसे उसी रूप में अवशोषित नहीं किया जाता हैं। अतः भोजन को पाचन की आवश्यकता होती है।

पाचन – जटिल यौगिक को सरल यौगिक में बदलनेकी क्रिया पाचन कहलाता है। हमारे शरीर में भोजन के लिये 10 मी. लम्बी एक माँसल नलिका होती है। जिसे आहार नाल कहते है। इसके निम्न भाग होते है।

मुह ग्रसिका – ग्रास नलिका आमाशय, ग्रहणी, छोटी आंत, बड़ी आंत मलद्वार

मुँह – यह पाचन प्रणाली का मुख्य द्वार है इसमें एक प्रकार का रस स्त्रवित होता है जो मुँह को हमेशा तर रखता है मुँह में भोजन को चबाने की क्रिया सम्पन्न होती है।

ग्रसनी– मुख गुहा के पीछे का कीप की तरह का भाग होता है। यह 5 से.मी. लम्बी होती है। यह ग्रसनी के बाद 26 से.मी. लम्बी नली होती है। जो ग्रीवा से होती हुई कशेरुका तक स्थित है।

आमाशय– ग्रास नलिका का अंतिम भाग एक फूली हुई थैली में खुलता है। जिसे अमाशय कहते हैं। यह आहारनाल की सबसे बड़ी गुहा है यहां भोजन का पाचन होता है।यह 26 से. मी. लम्बा तथा चौड़ाई 10 से. मी. होता है।

ग्रहणी– यह आमाशय के दूसरे छोर से शुरु होता है। यह 52 से.मी. लम्बा अर्ध चंद्राकार होता है।

छोटी आँत – यह 6 1/2 मी. लम्बी 2 से.मी. चौड़ी नलिका होती है। इसकी लम्बी नलिका उदर

में कुण्डली के समान लिपटी रहती है।

बड़ी आँत – यह पाचन प्रणाली का अंतिम भाग होता है जो छोटी आँत को चारों ओर से घेरे रहती है। इसकी लम्बाई 2 मी. तथा चौड़ाई 7से.मी. होती है। बड़ी आँत का अंतिम भाग घूमकर नीचे मलाशय में आता है।

गुदाद्वार – आहार नली का अंतिम छोर शरीर के बाहर की ओर एक द्वार के रूप में खुलता हैं। जिससे मल विसर्जित होता है। वह मलद्वार कहलाता है।

ग्रहणी क्षत
(DUODENAL ULCER)
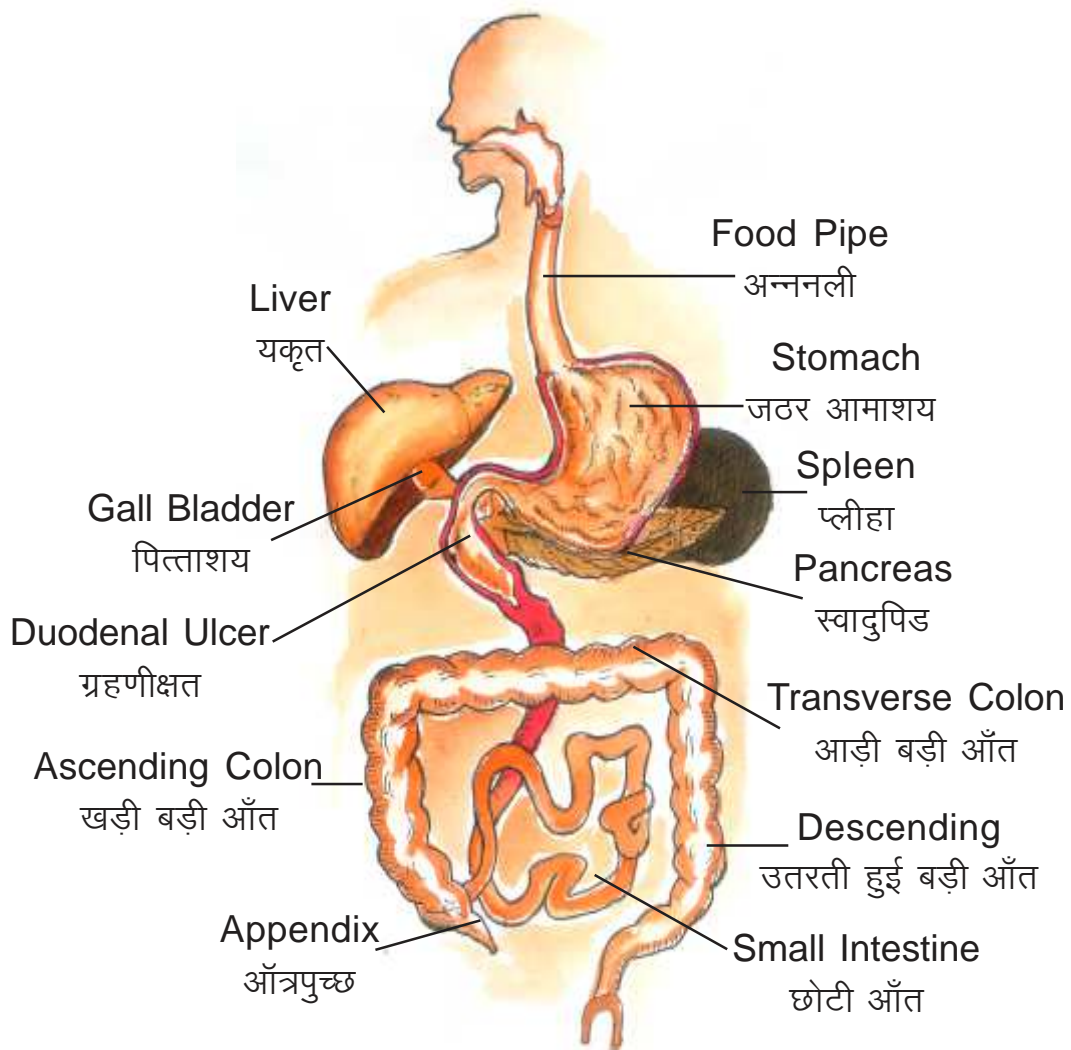
अध्याय : चार

4.1 आसन का तात्पर्य और प्रकार

आसन का तात्पर्य :– '' आसन शरीर की वह स्थिति हैं जिसमें आप अपने शरीर और मन को शान्त स्थिर एवं सुख से रख सकें।

'' स्थिरसुखमासनम्''

सुख पूर्वक बिना कष्ट के एक ही स्थिति में अधिक से अधिक समय तक बैठने की क्षमता को आसन कहते है।

योग शास्त्रों में परम्परा के अनुसार चौरासी लाख आसन हैं ये जीव जन्तु के नामों पर आधारित है। इन आसनों के बारे में कोई नहीं जानता इसलिए चौरासी आसनों को ही प्रमुख माना गया है। और अब कालान्तर में बत्तीस आसन ही प्रसिद्ध हैं।

आसनों को अभ्यास शारीरिक, मानसिक एवं अध्यात्मिक रूप से स्वास्थ्य लाभ एवं उपचार के लिए किया जाता है।

आसनों को दो समूहों में बाँटा गया है:–

1. गतिशील आसन
2. स्थिर आसन

1. गतिशील आसन:– वे आसन जिनमें शरीर शक्ति के साथ गतिशील रहता है।
2. स्थिर आसन :– वे आसन जिनमें अभ्यास को शरीर में बहुत ही कम या बिना गति के किया जाता है।

आसनों को विभिन्न रूपों में बाँटा गया है। जैसे प्रारंभिक समूह के आसन '' वायु निरोधक अभ्यास '' शक्ति बंध के आसन, बैठकर, खड़े होकर, झुककर, मुड़कर, लेटकर, ध्यान के आसनों के रूप में किये जाते है।

''आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः।

चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितं पुरा ।।

तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशेन शतं कृतम्

तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम्

4.2 स्वस्तिकासन

स्थिति – स्वच्छ कम्बल या वस्त्र पर पैर फैलाकर बैठें।

विधि– बाएँ पैर को घुटने से मोड़कर दाहिनी जंघा और पिंडली के बीच इस प्रकार स्थापित करें कि बाएँ पैर का तल छिप जाए तत्पश्चात् दाहिने पैर के पंजे और तल को बाएँ पैर के नीचे से जांघ और पिंडली के मध्य स्थापित करने से स्वस्तिक आसन बन जाता है। ध्यान मुद्रा में बैठें तथा रीढ़ सीधी कर श्वास खींचकर यथाशक्ति रोकें। इस क्रिया को पैर बदलकर भी करें।

चित्र क्र. 4.1

लाभ–

1. पैरो का दर्द, पसीना आना, दूर होता है।
2. पैरों का गर्म या ठण्डापन दूर होता है। ध्यान हेतु श्रेष्ठ आसन है।

4.3 भद्रासन

विधि–

1. वज्रासन में बैठ जाइए।
2. घुटनों को जितना सम्भव हो सके, दूर–दूर कर लीजिए।
3. पैरों की अंगुलियों का संपर्क जमीन से बना रहें।
4. अब पंजों को इतना अलग करिए कि उनके बीच में नितम्ब फर्श पर जम जाएँ।
5. बिना किसी तनाव के घुटनों का फासला और बढ़ाइए। हाथों को

चित्र क्र. 4.2

घुटनों पर रखिए हथेलियाँ नीचे की ओर रहें।

6. जब शरीर सुख की स्थिति में हो तब (नासिकाग्र दृष्टि) दृष्टि और मन को नाक के अग्र भाग पर स्थिर कीजिए।

लाभ— मूलाधार चक्र क्रियाशील होता है।

4.4 गोमुखासन

विधि—

1. दोनों पैर सामने फैलाकर बैठें। बाएँ पैर को मोड़कर एड़ी को दाएँ नितम्ब के पास रखें।
2. दाएँ पैर को मोड़कर बाएँ पैर के ऊपर इस प्रकार रखें कि दोनों घुटनें एक दूसरे के ऊपर हो जाएँ।
3. दाएँ हाथ को ऊपर उठाकर पीठ की ओर मोड़िए तथा बाएँ हाथ को पीठ के पीछे नीचे से लाकर दाएँ हाथ को पकड़िए। गर्दन व कमर सीधी रहे।
4. एक ओर से लगभग एक मिनट तक करने के पश्चात् दूसरी ओर से इसी प्रकार करें।

चित्र क्र. 4.3

टीप— जिस ओर का पैर ऊपर रखा जाए उसी ओर का (दायाँ/बायाँ) हाथ ऊपर रखें ।

लाभ—

1. अण्डकोषवृद्धि एवं आन्त्रवृद्धि में विशेष लाभप्रद है।
2. धातु रोग, बहुमूत्र एवं स्त्री रोगों में लाभकारी है।
3. यकृत, गुर्दे एवं वक्षस्थल को बल देता है। संधिवात, गठिया को दूर करता है।

4.5 गोरक्षासन

विधि—

1. दोनों पैरों की एड़ी तथा पंजे आपस में मिलाकर सामने रखिए।
2. अब सीवनी नाड़ी (गुदा एवं मूत्रेन्द्रिय के मध्य) को एड़ियों पर रखते हुये उस पर बैठ जाइए। दोनों घुटनें भूमि पर टिके हुए हों। हाथों को ज्ञानमुद्रा की स्थिति में घुटनों पर रखें।

चित्र क्र. 4.4

लाभ–

1. मांस पेशियों में रक्त संचार ठीक रूप से होकर वे स्वस्थ होती है।
2. मूलबंध को स्वाभाविक रूप से लगाने और ब्रह्मचर्य कायम रखने में यह आसन सहायक है। इंद्रियों की चंचलता समाप्त कर मन में शान्ति प्रदान करता है। इसलिए इसका नाम गोरक्षासन है।

4.6 अर्द्धमत्स्येन्द्रासन

विधि–

1. दोनों पैर सामने फैलाकर बैंठें। बाएँ पैर को मोड़कर एड़ी को नितम्ब के पास लगाएँ।
2. बाएँ पैर को दाएँ पैर के घुटनें के पास बाहर की ओर भूमि पर रखें।
3. बाएँ हाथ को दाएँ घुटने के समीप बाहर की ओर सीधा रखते हुये दाएँ पैर के पंजे को पकड़ें।
4. दाएँ हाथ को पीठ के पीछे से घुमाकर पीछे की ओर देखें।
5. इसी प्रकार दूसरी ओर से इस आसन को करें।

चित्र क्र. 4.5

लाभ–

1. मधुमेह एवं कमर दर्द में लाभकारी है।
2. पृष्ठ देश की सभी नस–नाड़ियों में (जो मेरुदण्ड के इर्द–गिर्द फैली हुई है) रक्त संचार को सुचारु रूप से चलाता है।
3. उदर विकारों को दूर कर आँखों को बल प्रदान करता है।

4.7 योगमुद्रासन

स्थिति– भूमि पर पैर सामने फैलाकर बैठ जाइए।

विधि–

1. बाएँ पैर को उठाकर दाईं जांघ पर इस प्रकार लाइए कि बाएँ पैर की एड़ी नाभि के नीचे आए।
2. दाएँ पैर को उठाकर इस तरह लाइए कि बाएँ पैर की एड़ी के साथ नाभि के नीचे मिल जाए।

चित्र क्र. 4.6

3. दोनों हाथ पीछे ले जाकर बाएँ हाथ की कलाई को दाहिने हाथ से पकड़े। फिर श्वास छोड़ते हुए सामने की ओर झुकते हुए नाक को जमीन से लगाने का प्रयास करें। हाथ बदलकर किया करें। पुनः पैर बदलकर पुनरावृत्ति करें।

लाभ– चेहरा सुंदर, स्वभाव विनम्र व मन एकाग्र होता है।

4.8 उदराकर्षण या शंखासन

स्थिति– काग आसन में बैठ जाइए।

विधि–

1. हाथों को घुटनों पर रखते हुये पंजों के बल उकडू (कागासन) बैठ जाइए। पैरों में लगभग एक सवाफुट का अन्तर होना चाहिए।
2. श्वास अन्दर भरते हुये दाएँ घुटने को बाएँ पैर के पंजे के पास टिकाइए तथा बाएँ घुटनें को दाईं तरफ झुकाइए। गर्दन को बाईं ओर से पीछे की ओर घुमाइएँ व पीछे देखिए। थोड़े समय रुकने के पश्चात् श्वास छोड़ते हुए बीच में आ

चित्र क्र. 4.7

जाइए। इसी प्रकार दूसरी ओर से करें।

लाभ–

1. यह शंखप्रक्षालन की एक क्रिया है।
2. सभी प्रकार के उदर रोग यथा कब्ज, मन्दाग्नि, गैस, अम्लपित्त, खट्टी–खट्टी डकारें का आना एवं बवासीर आदि निश्चित रूप से दूर होते हैं।
3. आँत, गुर्दे, अग्नाशय तथा तिल्ली संबंधी सभी रोगों में लाभप्रद है।

4.9 आकर्ण धनुरासन

विधि–

1. दाहिने पैर को मोड़कर बाएँ पैर पर रखिए।
2. बाएँ हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा तथा दाएँ हाथ से बाएँ पैर का अंगूठा पकड़िए।
3. श्वास अन्दर भर कर दाएँ पैर को बाएँ कान के पास लाइए। कुछ समय इस स्थिति में रुक कर पुनः दण्डासन की स्थिति में आ जाइए इसी तरह दूसरे पैर से करें।

चित्र क्र. 4.8

4.10 विपरीतकरणी आसन

यह आसन सर्वांगासन की भांति ही है। यह सर्वांगासन से सरल है। अतः प्रारंभिक अवस्था में इसका अभ्यास करना चाहिये।

जिनकी गर्दन की मांसपेशियाँ कठोर हैं तथा जो धड़ को सीधा नहीं कर सकते, उन्हें इस आसन का अभ्यास करना चाहिये।

विधि–

1. पीठ के बल सीधे लेट जाइए।
2. दोनों हाथ जमीन पर बाजू में तथा हथेलियाँ नीचे की ओर खुली रहें।
3. हाथों का सहारा देकर दोनों पैरों को
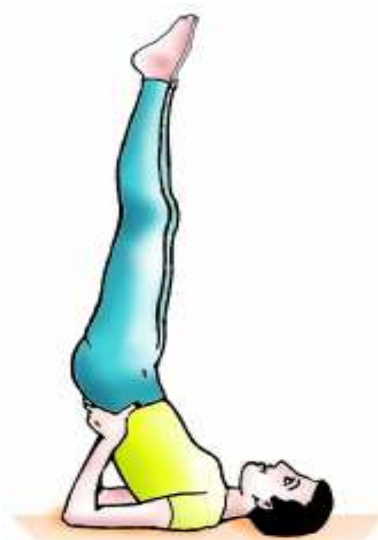
चित्र क्र. 4.9

धीरे–धीरे ऊपर उठाइए।

4. हाथों को कोहनियों से मोड़िए तथा हथेलियों से दबाव डालकर पीठ को 45 अंश के कोण पर ही रखें।
5. ठुड्डी का स्पर्श छाती से नहीं किया जाता है।

लाभ–

1. जठराग्नि तेज होती है।
2. भूख लगती है, शरीर स्वस्थ रहता है।
3. चेहरा तेजस्वी रहता है बाल जल्दी सफेद नहीं होते है।
4. दिमागी ताकत बढ़ती है।
5. पैरों की सूजन, हाथी पांव की प्रांरभिक सूजन ठीक हो जाता है।
6. कण्ठमाला, फोड़े, मुँहासे, खाज आदि रक्त विकार तथा अन्य रोगों से मुक्ति मिलती है।

4.11 सर्वांगासन

स्थिति – दरी या कम्बल बिछाकर पीठ के बल लेट जाएँ।

विधि– दोनों पैरों को धीरे–धीरे उठाकर 90 अंश तक लाएँ बाहों और कोहनियों की सहायता से शरीर के निचले भाग को इतना ऊपर ले जाएँ कि वह कंधो पर सीधा खड़ा हो जाए पीठ को हाथों का सहारा दें हाथों के सहारे से पीठ को दबाएँ कण्ठ से ठुड्ठी लगाकर यथाशक्ति रखें। फिर धीरे–धीरे पूर्व अवस्था में पहले पीठ को जमीन से टिकाएँ फिर पैरों को भी धीरे–धीरे सीधा करें।

चित्र क्र. 4.10

लाभ–

1. थायराइड को सक्रिय एवं स्वस्थ बनाता है।
2. मोटापा, दुर्बलता, कद वृद्धि की कमी एवं थकानादि विकार दूर होते हैं।
3. एड्रिनल, शुक्र ग्रन्थि एवं डिम्ब ग्रन्थियों को सबल बनाता है।

4.12 हलासन

स्थिति– भूमि पर पीठ के बल लेट जाइए। दोनों पैर आपस में मिले हुए और शरीर से चिपकाकर हाथ बगल में रखें। दोनों पैरों को एक साथ उठाकर श्वास छोड़ते हुए सिर को पीछे जाने दें। पैरों को सिर के पीछे भूमि पर टिका दें। श्वास की गति सामान्य रहेगी। धीरे–धीरे वापस आएँ।

चित्र क्र. 4.11

समय– 30 सेकेण्ड

लाभ–

1. मेरुदण्ड को स्वस्थ एवं लचीला बनाता है।
2. निम्न रक्तचाप (लो ब्लड प्रेशर) को दूर करता है।
3. रक्त संचार (ब्लड सर्कुलेशन) ठीक करता है।
4. कमर, पेट का मोटापा दूर होता है। शरीर की दुर्गन्ध दूर होती है, मुख की कान्ति एवं नेत्रों की ज्योति बढ़ती है।

आवश्यक निर्देश :–

1. पूर्व कक्षाओं के आसनों का अभ्यास आवश्यकतानुसार करायें:– ताड़ासन, तिर्यक ताड़ासन, कटिचक्रासन, पादहस्तासन, कोणासन, द्विकोणासन, त्रिकोणासन, गरूड़ासन, वज्रासन, मार्जारीआसन, उष्ट्रासन, सुप्तवज्रासन, पश्चिमोत्तानासन, नौकासन, चक्रासन, मत्स्यासन, भूजंगासन, शलभासन, धनुरासन आदि।
2. पवनमुक्तासन भाग 1 से 20 तक ।
3. शवासन का अभ्यास आसन के अन्त में कराएँ।

अध्याय : पाँच

सूर्य नमस्कार

सूर्य नमस्कार बारह आसनों का योग है इसमें शरीर के सम्पूर्ण अंगों का आसन होता है इससे आत्म विश्वास, आत्मबल की वृद्धि एवं शरीर के समस्त विकार दूर हो जाते हैं। सूर्य से प्रार्थना करें कि हे सूर्य भगवान! हमारे अन्दर आत्मबल व मनोबल की वृद्धि हो इस भाव से सूर्य का ध्यान करें।

ओ३म् –तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।

ओ३म् – वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।।

ओ३म् – बलमसि बलं मयि धेहि।

ओ३म् – ओजोऽस्योजो मयि धेहि।।

ओ३म् – मन्युरसि मर्न्युमयि धेहि।

ओ३म् – सहोऽसि सहो मयि धेहि।।

प्रथम अवस्था (प्रणाम आसन)

ओ३म् मित्राय नमः

विधि– कम्बल या दरी पर पूर्व की ओर मुख करके खड़े हो जाएँ। पैरों की एड़ी व पंजे मिले हों, दोनों हाथों को जोड़कर प्रणाम की मुद्रा में छाती पर रखें।

द्वितीय अवस्था (हस्तउत्तानासन)

ओ३म् रवये नमः

विधि – दोनों नासिका रन्ध्रों से श्वास भरते हुए सामने से दोनों हाथों को ऊपर उठाते हुए गर्दन सहित पीछे ले जाएँ व ऊपर देखें, सिर दोनों हाथों के मध्य में रखें।

तृतीय अवस्था (पादहस्तासन)

ओ३म् सूर्याय नमः

विधि– दोनों नासिका रन्ध्रों से धीरे–धीरे श्वास छोड़ते हुए सामने की ओर कमर से झुके, हथेलियाँ पैरों के दोनों ओर भूमि को स्पर्श करने का प्रयास करें एवं सिर को घुटने पर लगाने का प्रयास करें। ध्यान रहे घुटने न मुड़ने पाए।

चतुर्थ अवस्था (अश्वसंचालनासन)

ओ३म् भानवे नमः

विधि– श्वास खीचकर बाएँ पैर को यथा शक्ति पीछे ले जाएँ और पंजे को भूमि पर स्थापित करें, दाहिना घुटना ऊपर उठाकर सीने को तानें सामने देखते हुए श्वास को सामान्य रखें अश्व की भांति शरीर को रखें। ध्यान रहे दाहिना पैर व दोनों हाथ समानान्तर अवस्था में हो।

पंचम अवस्था (पर्वतासन)

ओ३म् खगाय नमः

विधि– धीरे से श्वास लेते हुए आगे वाले पैर को पीछे ले जाएँ तथा पैरों के अंगुलियों व हाथों में दबाव देते हुए नितम्बों को ऊपर उठाए तथा दृष्टि नाभि पर रखें।

षष्ठम अवस्था (अष्टांगनमन आसन)

ओ३म् पूष्णे नमः

विधि– शरीर के आठ अंगों को धरती पर स्पर्श कराएँ पहले दोनों घुटनों, छाती दोनों हाथ ठुड्ठी व पैर से जमीन को स्पर्श करें। श्वासप्रश्वास सामान्य रखें।

सप्तम अवस्था (भुजंगासन)

ओ३म् हिरण्यगर्भाय नमः

विधि – जमीन पर पेट के सहारे लेट जाएँ व दोनों हाथों के सहारे श्वास अन्दर भरते हुए धीरे–धीरे छाती के भाग को नाभि तक ऊपर उठाएँ तिलक के स्थान को देखने का प्रयास करें।

अष्टम अवस्था (पर्वतासन)

ओ३म् मरीचये नमः

विधि– श्वास खीचतें हुए दोनों पैरों के पंजों के सहारे झुक जाएँ व कमर के भाग को पर्वत की भांति ऊपर उठा लें व नाभि को देखने का प्रयास करें।

नवम अवस्था (अश्वसंचालनासन)

ओ३म् आदित्याय नमः

विधि– चतुर्थ अवस्था की तरह एक पैर को दोनों हाथों के मध्य में ले आएँ व घुटनों को मोड़कर छाती को घुटनों पर लगाकर ऊपर की ओर देखने का प्रयास करें दूसरे पैर को यथा सामर्थ्य घुटने जमीन पर स्पर्श करते हुए स्थित रहें।

दशम् अवस्था (पादहस्तासन)

ओ३म् सवित्रे नमः

विधि– तृतीय अवस्था की भांति श्वास लेते हुए पीछे पैर को आगे की ओर ले जाएँ। दोनों हथेलियों से जमीन स्पर्श करते हुए सिर को घुटने पर यथा सम्भव स्पर्श करने का प्रयास करें।

एकादश अवस्था (हस्तउत्तानासन)

ओ३म् अर्काय नमः

विधि— द्वितीय अवस्था की तरह श्वास अन्दर भरते हुए धीरे–धीरे कमर से शरीर को सीधा करें और हाथों को गर्दन सहित यथा सम्भव ऊपर से पीछे ले जाने का प्रयास करें।

द्वादश अवस्था (प्रणाम आसन)

ओ३म् भास्कराय नमः

विधि— श्वास छोड़ते हुए दोनों हाथों को जोड़ते हुए हृदय स्थल पर लाएँ व सूर्य भगवान को धन्यवाद दें।

लाभ— सूर्य नमस्कार यौगिक व्यायामों में सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इस एक व्यायाम से मनुष्य आसन मुद्रा और प्राणायाम के लाभ से लाभान्वित होता है। फेफड़ों के अन्दर शुद्ध प्राणवायु का प्रचुर मात्रा में संचार होनेके कारण अभ्यासी का शरीर सूर्य के समान कान्तिवान बन जाता है। शरीर के सभी अंग इससे प्रभावित होते हैं। फलस्वरूप सीना चौड़ा व पुष्ट होता है, भुजाएँ सुन्दर, कमर पतली, जंघा पिण्डली और पैर अतिसुन्दर हो जाते हैं। चर्म सम्बन्धी बीमारियाँ दूर होती है, जठराग्नि को प्रदीप्त कर उदर सम्बन्धी विकारों का विनाश कर उदर की अनावश्यक चर्बी को कम कर देता है। मेरुदण्ड और कमर लचीली हो जाती है। आलस्य और अतिनिद्रा दूर होती है।

सावधानी— हार्निया के रोगी इसे न करें।

उच्चरक्त चाप के रोगी न करें।

प्राणायाम

चित्र क्र. 5.2

प्राण का अर्थ ऊर्जा अथवा जीवनी शक्ति है तथा आयाम का तात्पर्य ऊर्जा को नियंत्रित करना है। इस नाड़ी शोधन प्राणायाम के अर्थ में प्राणायाम का तात्पर्य एक ऐसी क्रिया से है जिसके द्वारा प्राण का प्रसार विस्तार किया जाता है तथा उसे नियंत्रण में भी रखा जाता है।

नाड़ी शोधन प्राणायाम

किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठें। पीठ कमर गर्दन सिर लंबवत् सीधा रखें। पैरों के घुटने भूमि पर टिके रहें।

प्रथम चरण मे बायाँ हाथ बाएँ घुटने पर रखें। दाएँ हाथ की तर्जनी और मध्यमा को भ्रूमध्य पर रखें। अंगूठे से दाहिना तथा अनामिका से आवश्यकतानुसार बाईं नासिका रंध्र बंद करें। बाईं नासिका से पूरक करें तथा पुनः उसी से रेचक करें दाहिना स्वर बंद रहेगा। इस प्रकार इसे पाँच बार करें। पुनः ऐसा ही दाईं नासिका रंध्र से करें। बाईं नासिका बंद रखें। एक नासिका रंध्र से एक बार श्वास लेने और छोड़ने को एक चक्र कहा जाता है।

द्वितीय चरण में दाईं नासिका रंध्र को अंगूठे से बंद करें, बाईं से पूरक करें। अब बाईं नासिका रेचक रंध्र को चौथी अंगुली से बंद कर दाईं से रेचक करें। पुनः दाईं से पूरक कर बाईं से रेचक करें। यह एक चक्र पूरा हुआ।

लाभ–

1. नाड़ी शोधन प्राणायाम से मन शान्त और प्रसन्न रहता है।
2. साधक आनन्द और सुरक्षा का अनुभव करता है।
3. इड़ा और पिंगला नाड़ियों में प्राण का प्रवाह समान होता है तथा इन से विषाक्त तत्व विलग होते हैं।
4. नाड़ियाँ शुद्ध होती है।

अनुलोम–विलोम प्राणायाम

विधि– ध्यान के किसी भी आसन में बैठे। बाईं नासिका से श्वास धीरे–धीरे भीतर खीचें श्वास यथाशक्ति रोकने (कुम्भक) के पश्चात दाएँ स्वर से श्वास छोड़ दें। पुनः दाईं नसिका से श्वास खींचे यथाशक्ति श्वास रुकने (कुम्भक) के बाद बाएँ स्वर से श्वास धीरे–धीरे निकाल दें।

जिस स्वर से श्वास छोड़े उसी स्वर से पुनः श्वास लें और यथाशक्ति भीतर रोककर रखें। क्रिया सावधानी पूर्वक करें, जल्दबाजी न करें।

लाभ – 1. शरीर की सम्पूर्ण नस नाड़ियाँ शुद्ध होती है।

2. शरीर तेजस्वी व फूर्तीला बनता है।

3. भूख बढ़ती है।

4. रक्त शुद्ध होता है।

सावधानी– 1. नाक पर अंगुलियों को रखते समय उसे इतना न दबाएँ कि नाक की स्थिति टेढ़ी हो जाए।

2. श्वास की गति सहज ही रहे।

3. कुम्भक को अधिक समय तक न करें।

शीतली प्राणायाम

किसी भी आराम दायक आसन में बैठिए घुटने जमीन पर टिके हो तथा पीठ कमर गर्दन और सिर सीधे रहें। हाथों को घुटनों पर रखे। जीभ अधिक से अधिक बाहर निकाल कर उसे नाली की तरह मोड़ लीजिए। मुड़ी हुई जीभ तथा मुख से श्वास खींचिए मानों आप हवा को चूसते हुए पेट के भीतर ले जा रहे हैं। जीभ को सामान्य स्थिति में लाकर मुख के भीतर ले जाइए तथा मुख बंद कर धीरे–धीरे नासिका से श्वास छोड़ें।

चित्र क्र. 5.3

लाभ– 1. इस प्राणायाम से रक्त की अशुद्धता दूर होती है।

2. उच्च रक्त चाप में पर्याप्त राहत मिलती है।

3. मानसिक आत्मिक तथा मांसपेशियों के तनाव दूर होते हैं।

4. गहरी शान्ति का अनुभव होता है।

5. इस प्राणायाम से प्यास की तीव्रता में भी कमी आती है।

सावधानी– इस प्राणायाम का अभ्यास शीतकाल में न करें

शीतकारी प्राणायाम

किसी भी आरामदायक आसन में सीधे बैठें। घुटने जमीन से लगाए रखें। जीभ को पलटकर तालू से सटा लीजिए। दाँतों को भींचकर होठों को अधिक से अधिक खुला रखें। दाँतों के बीच से मुख द्वारा श्वास लीजिए। होठों को बंदकर धीरे–धीरे नाक से श्वास को छोड़िए।

लाभ – इसके लाभ और प्रभाव शीतली प्राणायाम के समान है।

चित्र क्र. 5.4

भस्त्रिका प्राणायाम

विधि– ध्यान के किसी सुखद आसन में बैठें। मेरुदण्ड सीधे रहे। नेत्र बंद और शरीर शिथिल रखें।

प्रथम अवस्था–

बाएँ हाथ को बाएँ घुटने पर रखें दाहिने हाथ को मस्तक पर भ्रूमध्य के पास रखें। प्रथम एवं द्वितीय अंगुली को कपाल पर रखें अंगूठा दाएँ नथुने के बाजू में तथा तीसरी अंगुली को बाएँ नथुने के बगल में रखें। अंगूठे से दाहिने नथुनें को बंद करें बाएँ नथुने से जल्दी–जल्दी 20 बार श्वास लें। यह क्रिया उदर के फूलने एवं पिचकाने के साथ जल्दी–जल्दी लयबद्ध हो, फिर एक पूरक कर दोनों नथुनों को अुगूठे एवं तृतीय अंगुली से बंद करे लें जालंधर एव मूलबंध या कोई एक का अभ्यास कर क्षमता अनुसार रुककर बंधों को शिथिल कर रेचक करें। दाहिनी ओर से ठीक यही क्रिया दुहराएँ यह एक आवृति है इसी प्रकार तीन आवृति करें।

द्वितीय अवस्था–

पूर्व स्थिति अनुसार बैठकर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखें, अब दोनों नासाछिद्रों से एक ही साथ 20 बार लय बद्ध श्वसन करें। दीर्घ पूरक कर श्वास रोकिए जालंधर एवं मूलबंध या कोई एक का अभ्यास करें। क्षमता अनुसार समय पश्चात बंधों को शिथिल कर रेचक करें। इसकी भी तीन आवृति करें।

लाभ– 1. फेफड़े मजबूत बनते हैं। श्वास रोग, क्षय रोग में लाभकारी होता है।

2. गले के सभी प्रकार के जलन एवं पुराने कफ को दूर करता है।
3. जठराग्नि को प्रदीप्तकर पाचन शक्ति बढ़ाता है।
4. मन को स्थिरता एवं शान्ति प्रदान करता है।

विशेष– इस प्राणायाम में फेफड़ों का उपयोग लोहार की धौकनी की तरह होता है।

सावधानी– गर्मी की अधिकता में इसे न करें। दुर्बल प्रकृति के व्यक्ति/बच्चे इसे न करें या धीरे–धीरे करें। बलपूर्वक श्वसन क्रिया न करें। हृदय रोगी व उच्च रक्तचाप वाले इसे न करें या कुशल योग निर्देशक की सलाह पर करें।

कपालभाति प्राणायाम

विधि– इस प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ है मस्तिष्क की आभा को बढ़ाने वाली क्रिया। इस प्राणायाम की स्थिति ठीक भस्त्रिका के ही समान होती है परन्तु इस प्राणायाम में मात्र रेचक अर्थात श्वास की शक्ति पूर्वक बाहर छोड़ने में जोर दिया जाता है। श्वास लेने में जोर न देकर छोड़ने में ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस प्राणायाम में पेट के पिचकाने और फुलाने की क्रिया पर जोर दिया जाता है। इस प्राणायाम को यथाशक्ति अधिक से अधिक करें।

लाभ–
1. हृदय, फेफड़े एवं मस्तिष्क के रोग दूर होते हैं।
2. कफ, दमा, श्वास रोगों में लाभदायक है।
3. मोटापा, मधुमेह, कब्ज एवं अम्लपित्त के रोग दूर होते हैं।
4. मस्तिष्क एवं मुखमण्डल का ओज बढ़ता है।

भ्रामरी प्राणायाम्

स्थिति– किसी ध्यान के आसन में बैठें।

विधि– आसन में बैठकर रीढ़ को सीधा कर हाथों को घुटनों पर रखें। तर्जनी को कान के अन्दर डाले। दोनों नाक के नथुनों से श्वास को धीरे–धीरे (ॐ) शब्द का उच्चारण करने के पश्चात् मधुर आवाज में कण्ठ से भौंरे के समान गुंजन करें। नाक से श्वास को धीरे–धीरे बाहर छोड़ दें। पूरा श्वास निकाल देने के पश्चात्

चित्र क्र. 5.5

भ्रमर की मधुर आवाज अपने आप बंद होगी। इस प्राणायाम को 3–5 बार करें।

लाभ–

1. मन की चंचलता दूर होती है एवं मन एकाग्र होता है।
2. उच्च रक्तचाप पर नियंत्रण करता है।
3. हृदय रोग के लिए फायदेमंद है।
4. वाणी तथा स्वर में मधुरता आती है।
5. पेट के विकारों का शमन करती है।

अध्याय – छः

6.1 मुद्राएँ

1. ज्ञानमुद्रा

विधि– किसी भी आसन में बैठकर करें। तर्जनी अँगुली को मोड़कर अंगूठे के मध्य में लगा दें और शेष तीनों अंगुलियों को आपस में मिलाकर सामने की ओर फैला दें। हाथों को घुटने पर रखें। हथेलियों नीचे की ओर रखें। ऐसा करने में ज्ञानमुद्रा बनती है। इस मुद्रा के करने से शरीर में गरिमा शक्ति का विकास होता है। साधक को तीनों गुणों (सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण) को वश में करने के लिए इस मुद्रा का उपयोग किया जाता है। सिद्ध योगी इसी मुद्रा में बैठते हैं।

चित्र क्र. 6.1

2. चिन्मुद्रा

विधि– किसी भी आसन में सुख पूर्वक बैठकर अंगूठे से तर्जनी अंगुली को मिलाएँ और सभी अंगुलियों को सीधा रखें हाथ की स्थिति घुटने पर ऊपर की ओर खुला रहे।

चित्र क्र. 6.2

3. ब्रह्माञ्जलि मुद्रा

विधि– किसी भी आसन में बैठकर करें। बाईं हथेली पर दाईं हथेली रखने से अञ्जलि के रूप में ब्रह्माञ्जलि बनती है। इसे नाभि के नीचे आसनबद्ध एड़ियों पर रखा जाता है। इसको करने से अभ्यासी के शरीर के अन्दर हलकापन का विकास होता है। लघिमा शक्ति ब्रह्माञ्जलि मुद्रा को सिद्ध कर लेने से प्राप्त होती है। साधक यदि इस मुद्रा को सिद्ध कर लेते हैं तो उन्हें व्यावहारिक जीवन में भी सफलता प्राप्त होती है।

चित्र क्र. 6.3

6.2 बंध

योग्याभ्यास का यह छोटा परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग है यह अन्तः शारीरिक प्रक्रिया है। इस अभ्यास के द्वारा व्यक्ति शरीर के विभिन्न अंगो तथा नाड़ियों को नियन्त्रित करने में समर्थ होता है। बन्ध का शाब्दिक अर्थ हैं, बाँधना या कड़ा करना। इस अभ्यास के लिए आवश्यक शारीरिक क्रियाओं का वर्णन ही इस वर्ग के अन्तर्गत किया गया है। शरीर के भिन्न– भिन्न अंगो को धीरे से परन्तु शक्तिपूर्वक संकुचित एवं कड़ा किया जाता है। रक्त का जमाव दूर होता है। यह अंग विशेष रूप से सम्बंधित नाड़ियों के कार्यो को नियमित करता है। परिणामतः शारीरिक कार्य एवं स्वास्थ्य में उन्नति होती है।

बन्ध शारीरिक अभ्यास है, परन्तु अभ्यास के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त विचारों एवं आत्मिक तरंगों में प्रवेश कर ये चक्रों पर सूक्ष्म प्रभाव डालते हैं। सुषुम्ना नाड़ी में प्राण के स्वतंत्र प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करने वाली ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि तथा रुद्रग्रन्थि इस अभ्यास से खुल जाती है। इस प्रकार आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है। उच्च अभ्यासी सुषुम्ना नाड़ी की जकड़न का अनुभव कर सकते है। यह आध्यात्मिक शक्ति की उच्च अवस्था को प्राप्त व्यक्ति यह ज्ञात करेंगें कि यह अनुभव ठीक वैसा ही जैसा चक्रों के जागरण के समय होता है

जालन्धर बन्ध

स्थिति – पद्मासन, सिद्धासन या वज्रासन में सीधे बैठ जाइए।

विधि–

1. श्वास को अन्दर भर लीजिए। दोनों हाथ घुटनों पर टिके हों अब ठोड़ी को थोड़ा नीचे झुकाते हुए कण्ठकूप में लगाइए।
2. दृष्टि भ्रूमध्य में स्थित कीजिए। छाती आगे की ओर तनी हुई होगी। यह बंध नाड़ी जाल के समूह को बांधे रखता है।

लाभ –

1. कंठ मधुर एवं सुरीली होती है।
2. गले के सभी रोगों में लाभप्रद है।

चित्र क्र. 6.4

उड्डीयान बन्ध

स्थिति – ध्यान के किसी भी आसन पद्मासन या सिद्धासन में बैठिए।

विधि – 1. घुटने भूमि पर सटा कर रखने का प्रयास करें।

2. हथेलियों को घुटनों पर रखें। श्वास बाहर निकालकर पेट को ढ़ीला छोड़िए जालन्धर बन्ध लगाते हुये छाती को थोड़ा ऊपर की ओर उठाइए।

चित्र क्र. 6.5

3. उदर की मांसपेशियों को अधिक से अधिक ऊपर तथा भीतर की ओर संकुचित कीजिए अर्थात पेट को कमर से लगा दीजिए। यह पूर्णावस्था है।

4. यथाशक्ति करने के पश्चात पुनः श्वास लेकर पूर्ववत दुहराइए। प्रारम्भ में तीन बार करना पर्याप्त है।

मूलबन्ध

स्थिति – पद्मासन या सिद्धासन में बैठ जाइए।

विधि–

1. हथेलियों को घुटनों पर रखिए।
2. नेत्र बन्द रखिए।
3. पूरे शरीर को शिथिल कीजिए।
4. लंबी सांस लीजिए (पूरक) और रोक लीजिए (अंतःकुम्भक)
5. मूलाधार प्रदेश के स्नायुओं में आकुंचन क्रिया करते हुए उन्हें ऊपर की ओर खींच कर रखना। यह अंतःकुम्भक की पूर्णावस्था है।

चित्र क्र. 6.6

6. क्षमतानुसार स्थिर रहिए। तत्पश्चात स्नायुओं को ढीला कीजिए।
7. धीरे–धीरे श्वास छोड़िए (रेचक क्रिया)

लाभ –

1. मूलाधार चक्र की जागृति कर कुण्डलिनी जागरण में सहायक है।
2. कोष्ठबद्धता और बवासीर दूर कर जठराग्नि को तेज करता है।
3. वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाता है।

महाबंध –

जब तीनों बन्ध एक साथ लगाया जाता है तब उसे महाबन्ध या त्रिबन्ध कहते हैं।

6.3 दृष्टि

1. नासाग्रदृष्टि – इसमें दृष्टि नाक के अग्रभाग पर स्थित की जाती है। इसमें पंच तत्वों का दर्शन होता है। आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी और जल इनके तात्विक रहस्य इसी दृष्टि से प्राप्त होता है।

2. मध्यदृष्टि – इसमें दृष्टि टीका लगाने वाले स्थान पर अर्थात् आज्ञाचक्र पर रखते हैं। इससे प्रकाश या ज्योति का दर्शन होता है।

3. अर्धउन्मीलितदृष्टि – इसमें आधी आँखें खुली हुई और आधी बंद होती है। इसके अभ्यास से शाम्भवी और उन्मनी मुद्राओं की सिद्धि होती है।
(शिव की अधखुली आँखें)

4. समदृष्टि– समदृष्टि में निगाह बिलकुल सामने रहती है तथा आँखें खोलकर स्थिर रखते हैं। त्राटक का अभ्यास करने वालों के लिये यह दृष्टि अधिक उपयोगी है।

5. नेत्र बंद या अन्तःदृष्टि – आँखें सहजरूप से बन्द रखते हैं। ध्यान के लिये सबसे अच्छी है।

6.4 षटकर्मः–

कुंजल क्रिया

आवश्यक सामग्री– गुनगुना जल, ठंडा जल, नमक, जग, गिलास

विधि– उकडू बैठ जाइए। लगभग छः गिलास गुनगुना पानी लीजिए और जितनी जल्दी हो सके, इसे पी लीजिए। खड़े होकर आगे झुकिए। दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा को गले में अधिक से अधिक अन्दर डालिए। नाखून छोटे तथा साफ हों। इसके बाद जिह्वा के पिछले भाग पर मध्यमा से दबाव डालिए। इससे वमन होगा और पेट का सम्पूर्ण जल तेजी से बाहर आ

चित्र क्र. 6.7

जाएगा। जल के पूर्णतः निकलते तक जिह्वा पर दबाव डाले रहिए।

समय– प्रतिदिन प्रातः काल शौच निवृति के बाद बिलकुल खाली पेट में यह क्रिया करें।

लाभ– कुंजल से अमाशय में स्थित कफ, पित्त, एवं बिना पचा हुआ अन्न आदि बाहर निकल जाता है। कफ रोग, श्वास, दमा अम्लपित्त, में काफी लाभदायक। सिर में चक्कर आने में भी यह क्रिया लाभदायक है। बाद में इसे सप्ताह में एक बार भी किया जा सकता है।

चित्र क्र. 6.8

सावधानी– अभ्यास के 20 मिनट बाद तक अन्न ग्रहण न करें।

सीमाएँ– दमा, पेट के नासूर, हृदय विकार व हार्निया में निर्देशक से सलाह लेकर करें।

जलनेति

आवश्यक सामग्री– जलनेति पात्र, गुनगुना जल, नमक

विधि– खड़े होकर या कागासन में बैठकर यह क्रिया किया जा सकता है। जलनेति पात्र में हाथ की ऊपरी त्वचा को सहने लायक गुनगुना जल लें। नमक, अश्रुजल के समान नमकीन हो। नेति पात्र के टोंटी को जो श्वास हमारा चल रहा है उसमें या बाईं नासिका छिद्र में डालें। सिर को थोड़ा तिरछा करें। थोड़ी देर के लिये श्वास रोंके बाद में मुँह खोलकर मुँह से श्वास लें। जल का प्रवाह एक नाक से होकर दूसरे नाक छिद्र से बाहर निकालें।

चित्र क्र. 6.9

यह क्रिया स्वाभाविक रुप से होगी। इसमें लोटे की स्थिति, सिर का झुकाव सही हो तथा श्वसन क्रिया मुँह से हो। दोनों नासिका छिद्रों से बारी–बारी क्रिया करें। पश्चात् जल पात्र हटा लें। नासिका को बिलकुल शुष्क करें। दोनों पैरों को पास में लाएँ दोनों हाथ पीछे बांध कर रखें। कमर से सामने की ओर झुके। सिर ऊपर उठा रहे। 30 सेकण्ड तक इस स्थिति में रुकें रहे। झुकी स्थिति में ही नासिका से धौंकनी की तरह श्वसन क्रिया करें।

पुनः सीधे खड़े हो जाएँ। एक नथुना बंद कर खुले नथुने से तीव्र गति से श्वास लें

व छोड़े, इससे नासिका का जल कण बिलकुल निकल जाता है।

लाभ (जलनेति)– यह अभ्यास जुकाम तथा वायु रन्ध्र दोष (sinusitis) के उपचार में मदद करता है। आँख,कान, गले की अनेक बीमारियों जैसे बहरेपन, दृष्टि दोष, गले की कौड़ी का बढ़ना, श्लेष्मा झिल्ली आदि दोषो के निवारण में मदद करता है। मिर्गी या अपस्मार, उन्माद, विक्षेप, अत्यधिक सिरदर्द, अनियंत्रित, क्रोध आदि विकारों पर अच्छा प्रभाव डालता है।

सावधानी– जल का प्रवाह सिर्फ नासिका से हो, गले या मुंह से नहीं। यदि ऐसा है तो सिर की स्थिति हमारी ठीक नहीं हैं।

सीमाएँ– नासिका से रक्तस्राव की दीर्घकालीन बीमारी की अवस्था में योग्य निर्देशक की सलाह पर ही करें।

●●●

अध्याय – सात

स्थूल एवं सूक्ष्म व्यायाम

स्थूल व्यायाम की क्रियाएं–

1. हृदय गति अथवा एंजिन दौड़।
2. सर्वांग पुष्टि
3. उर्ध्वगति
4. उत्कूर्दन
5. रेखागति

1. एंजिन दौड़

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– अंगूठा छिपाकर मुठ्ठियाँ बद करें। कोहिनियाँ कमर से सटाएँ। कोहनी से हाथ मोड़कर जमीन से समान्तर सामने की ओर फैलाएँ। करतल भाग एक दूसरे के सामने रखें। श्वास को खींचकर बाएँ पैर को घुटने तक 90^0 के कोण पर उठाएँ। दाहिने हाथ को सामने फैकें। श्वास को छोड़कर दाहिने हाथ और बाएँ पैर पूर्व स्थिति में लाएँ। श्वास को छोडें तुरन्त श्वास खींचकर दाहिना पैर घुटने तक 90^0 के कोण तक उठाएँ बाएँ हाथ को सामने फैकें। श्वास को छोड़कर दाहिना पैर और बायाँ हाथ पूर्व स्थिति में लाएँ। क्रिया को इस प्रकार आठ–दस बार करने के पश्चात् श्वासप्रश्वास के साथ जल्दी–जल्दी अपने स्थान पर दौड़े थकान आने पर क्रिया समाप्त करें।

चित्र क्र. 7.1

लाभ – हाथ व पैरों का दर्द मिटता है। शरीर की स्थूलता कम होती है। सीना जंघाएँ और पिण्डलियाँ पुष्ट बनकर उनका दर्द मिटता है। दौड़ लगाने वाले साधकों के लिए विशेष लाभकारी है। शरीर फुर्तीला और शक्तिशाली बनकर साधक अधिक समय तक काम करने की क्षमता प्राप्त करता है।

2. सर्वांग पुष्टि

स्थिति– दोनों पैरों को फैलाकर खड़े हो।

विधि– दोनों पैरों को फैलाकर सीधे खड़े हो जाएँ। अंगूठा छिपाकर हाथों की मुठ्ठियाँ बन्द करें। दोनों हाथों को नीचे झुकाकर बाएँ टखने के पास बायाँ हाथ नीचे और दाहिना हाथ कलाई के ऊपर स्थापित करें। श्वास को खींचकर धीरे–धीरे दोनों हाथों को नीचे से ऊपर की ओर बाएँ कन्धे के बाजू से सिर तक ले जाएँ और दाहिने टखने की ओर श्वास को छोड़ें। दाहिना हाथ नीचे ओर बायाँ ऊपर रखें। पुनः श्वास खींचकर दोनों हाथों को नीचे से ऊपर दाहिने कन्धे तक लाते हुए सिर के ऊपर तक ले जाएँ। बाईं ओर मुड़ते हुए दोनों हाथों को बाएँ कन्धे से नीचे की ओर बायें टखने तक लाएँ। श्वास को छोड़ें हाथ को बदल बदलकर बायाँ हाथ नीचे और दाहिना हाथ ऊपर रखें। इस प्रकार क्रिया को तीन बार करें।

चित्र क्र. 7.2

लाभ–

1. इस क्रिया के माध्यम से समस्त अंग पुष्ट बनते हैं।
2. शरीर लचीला बनकर साधक का ठिगनापन दूर होता है।
3. क्षय–रोगियों के लिए विशेष लाभकारी है।
4. फेफड़ों के रोग दूर होते हैं।
5. कमर व पीठ का दर्द मिटता है।
6. पाचन क्रिया तीव्र बनती है।
7. शरीर सुन्दर व कांतिवान बनता है।
8. उम्र में प्रथम 20 वर्ष तक साधक की लम्बाई बढ़ती हैं।

3. उर्ध्वगति

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– श्वास को खीचतें हुए बाएँ पैर को 90^0 कोण पर ऊपर उठाएँ। बाएँ हाथ को कन्धे के बाजू में फैलाकर कोहिनी से मोड़ते हुए सिर की ओर ऊपर उठाएँ हाथ को सिर के ऊपर ताने हथेलियाँ सामने रखें। श्वास छोड़कर बाएँ पैर को जमीन पर

टिकाएँ। बाएँ हाथ को सिर के ऊपर फैलाएँ श्वास को खींचकर दाहिने पैर की जमीन से 90° अंश कोण पर ऊपर उठाएँ दाहिने हाथ को कन्धे के बाजू में फैलाकर कोहनी से मोड़ते हुए सिर की ओर ले जाएँ। श्वास को छोड़कर दाहिने पैर को जमीन पर टिकाते हुए दाहिने हाथ को सिर के ऊपर फैलाएँ। बाएँ हाथ को बाएँ कन्धे के बाजू में फैलाकर कोहिनी से मोड़ते हुए सिर की ओर ले जाएँ। इस प्रकार क्रिया को धीरे–धीरे 8 से 10 बार करने पश्चात् अपने स्थान पर दौड़ते हुए यथाशक्ति करें। थकान आने पर क्रिया को समाप्त करें।

चित्र क्र. 7.3

लाभ–

1. हाथ और पैर पुष्ट बनते है।
2. फेफड़े के रोग नष्ट होते हैं।
3. शरीर स्थूलता दूर होती है।
4. हाथ और पैर ठन्डे होने की शिकायत दूर होती है।
5. जंघाओं का मोटापा दूर होता है।
6. खिलाड़ी साधकों के लिए विशेष लाभकारी है।

उत्कूर्दन

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– अंगूठा छिपाकर दोनों हाथों की मुठ्ठियाँ बन्द करें। दोनों हाथों को कन्धों के सामने जमीन से समानान्तर फैलाएँ। हथेली एक दूसरे के सामने रखें। श्वास को खींचकर दोनों हाथों को सामने से चक्राकार में घुमाते हुए कुहनी से मोड़कर कमर से सटायें। हाथों को जमीन से समानान्तर रखें। श्वास को छोड़ें श्वास को अन्दर खींचते हुए उछलकर दोनों एड़ियों से नितम्ब को ठोकें। श्वास छोड़ते हुए हाथों को कन्धों के सामने फैलाएँ और पैरों को जमीन से टिकाएँ। इस प्रकार क्रिया को पाँच बार करें।

चित्र क्र. 7.4

लाभ–

1. उम्र के प्रथम 20 वर्ष तक साधक की लम्बाई बढ़ती है।

2. कुण्डली जागरण में सहायक है।

3. हाथ और पैर पुष्ट बनते हैं। तथा उनका दर्द मिटता है।

4. नितम्ब व जंघाएँ पतली बनती है।

5. सीना चौड़ा, और पुष्ट बनता है।

6. फेफड़ों के रोग नष्ट होते हैं।

5.रेखागति

स्थिति– 1. समावस्था में खड़े रहे।

विधि– श्वास को खींचकर बाएँ पैर की एड़ी को ऊपर उठाकर बाजू से अर्द्धचक्राकार ले जाते हुए दाहिने पैरे के अंगूठे के आगे रखें। श्वास को खींचकर दाहिने पैर की एड़ी को ऊपर उठाकर बाजू से अर्द्ध चक्राकार घुमाते हुए बाएँ पैर से अंगूठे के आगे रखें श्वास छोड़ें। सामने देखते हुए 10 कदम आगे चलें।

चित्र क्र. 7.5

2. श्वास को खींचकर दाहिने पैर की एड़ी को ऊपर उठाकर दाहिनी ओर अर्द्धचक्राकार में पीछे की ओर से दाहिने अंगूठे को बाईं एड़ी के पीछे खड़ा करें। श्वास छोड़ें एवं पुनः श्वास खींचकर बाएँ पैर की एड़ी को ऊपर उठाकर बाईं ओर अर्द्ध चक्राकार घुमाते हुए बाएँ अंगूठे को दाहिनी एड़ी के पीछे रखें। इस प्रकार 10 कदम पीछे चलें। चलते समय सामने देखें।

लाभ– मन एकाग्र होता है। इसके निरन्तर अभ्यास से पतली रस्सी या तार पर चलने की क्षमता साधक को प्राप्ति होती है। आरक्षक सैनिक और सर्कस में काम करने वाले व्यक्तियों के लिए विशेष लाभकारी है। शरीर सन्तुलित बनकर पुष्ट बनता है।

7.2 यौगिक सूक्ष्म व्यायाम

मानव शरीर की रचना बड़ी विचित्र है। इसक निर्माण में किसी प्रकार की कोई कमी

चित्र क्र. 7.6

नहीं है। इसकी रचना सर्व प्रकार से पूर्ण है। कई अंगों से मिलकर एक दिमाग बनता है जिसे संस्थान कहा गया है। अतः भाग सक्रिय रहे इसके लिए यौगिक सूक्ष्म व्यायाम बहुत उपयोगी है। सूक्ष्म व्यायाम 17 तत्वों को प्रभावित करता है। पाँच प्राण–प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान पाँच कर्मेन्द्रियाँ–हस्त, पाद,वाक्, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ चक्षु, नासिका, कान, त्वचा, जिह्वा मन और बुद्धि, इस तरह 17 तत्व प्रभावित होते हैं।

सूक्ष्म व्यायाम के आविष्कारक स्वामी कार्तिकेय एवं लिपिबद्धकर्ता स्वामी धीरेन्द्र ब्रह्मचारी हैं। इसमें 48 क्रियाएँ हैं जिससे समुचित शरीर का व्यायाम हो जाता है।

1. यौगिक सूक्ष्म क्रियाएँ

क्रिया नं. 1 यौगिक प्रार्थना

समावस्था–एड़ी, पंजा अंगूठा मिलाकर सीधे खड़े होकर सामने की ओर देखें हाथों को जंघा से सटाएँ करतल भाग अन्दर की ओर रखें, इसे समावस्था कहते हैं।

विधि– हाथ जोड़कर अंगूठे को गले पर स्थापित करें। भुज बल्लियों से वक्षस्थल को दबाएँ। श्वास को सामान्य रखें मन एकाग्र होने पर हाथों को ढीला छोड़ें, कम से कम आधा मिनिट भगवान् का ध्यान करें।

लाभ–
1. मन की एकाग्रता बढ़ती है।
2. मानसिक शान्ति ओर आत्म साक्षात्कार के लिए लाभकारी है।
3. मनोवहा नाड़ियों पर दबाव होने के कारण मन को संयम में लाया जाता है।
4. मानसिक रोग ठीक होते हैं।

2. उच्चारण स्थल व विशुद्ध चक्र शुद्धि

स्थिति– समावस्था में खड़े होंगे।

विधि– बाएँ हाथ की कनिष्ठिका अनामिका मध्यमा और तर्जनी चारों को गले पर स्थापित करें, करतल भाग अन्दर की ओर रखें, दाहिने हाथ की तर्जनी को बाएँ पर उल्टा स्थापित करें, दोनों हाथों को कन्धों के सीध में रखें, गर्दन को इसी अवस्था में रखते हुए हाथों को बाजू से पूर्व अवस्था में लाएँ। 25 बार सीने के बल श्वासप्रश्वास करें, क्रिया को समाप्त करें ध्यान को विशुद्ध चक्र या कण्ठ पर केन्द्रित करें।

लाभ–
1. कण्ठ की समस्त नाड़ियाँ जहाँ वात पित्त, कफ की मात्राएँ एकत्र हो जाती हैं

इस क्रिया को करने से वे पेट में चली जाती हैं और शब्दों का उच्चारण स्पष्ट होने लगता है।

2. हकलाना और तुतलाना जैसे विकार ठीक होते हैं। कटु स्वर मधुर बनता है।
3. संगीतज्ञों के लिए विशेष लाभकारी है।
4. मस्तिष्क के विचार ठीक होते हैं।
5. विचार शक्ति की वृद्धि होती है।

चित्र क्र. 7.7

3. बुद्धि तथा धृति शक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े हों।

विधि– गर्दन को धीरे–धीरे ऊपर ले जाएँ। भ्रूमध्य (दोनों भौंए के बीच) में देखें, क्रिया को इस कल्पना के साथ करिए जिसमें दुर्बद्धि हटकर उनका विकास हो, वह तीव्र प्रखर हो, 25 बार श्वास–प्रश्वास सीने के बल करें। ध्यान को शिखा मण्डल या चोटी पर केन्द्रित करें।

चित्र क्र. 7.8

लाभ–
1. शिखा मंडल के रोग दूर करने में सहायक हैं।
2. वृद्धि विकसित होती है।
3. शरीर के इन्द्रियों में शारीरिक व मानसिक क्षमता बढ़ती है।
4. इच्छा शक्ति अथवा संकल्प शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।
5. मन्द बुद्धि तीव्र होती है।
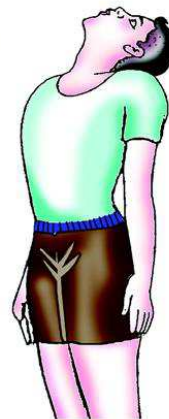
4. स्मरण शक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– पैर के अंगूठे के अन्दाजन 4½ फिट दूरी पर देखें। क्रिया को इस कल्पना के साथ

करें कि हम विस्मरण को दूर कर स्मरण शक्ति तीव्र ओर प्रखर कर रहे हैं तथा उसका विकास कर रहे हैं। 25 बार सीने के बल श्वासप्रश्वास करें।

ध्यान को तालु स्थान पर रखें।

लाभ–

1. तालु स्थान से शिखा मंडल तक के अंगों का हिस्सा कफ विकार से मुक्त होता है।
2. मस्तिष्क की थकान दूर होती है। विस्मृति दूर होती है।
3. विक्षिप्त अवस्था पागलपन ठीक करने में सहायक है।
4. मानसिक शक्ति तीव्र बनती है।

चित्र क्र. 7.9

5. मेधा शक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– ठुड्डी कण्ठ में लगाएँ, नेत्र बन्द रखें। 25 बार श्वासप्रश्वास सीने के बल करें ध्यान को गर्दन के पीछे गठीले स्थान पर (वीरेवाहा नाड़ी का स्थान है) केन्द्रित करें। क्रिया को समाप्त कर पूर्व स्थिति में आएँ।

लाभ–

1. कण्ठ की ग्रन्थियों की शुद्धि होती है।
2. सहस्त्रार चक्र से निकलने वाला अमृत शरीर को तथा मनको विकसित करने में सहायक है।
3. शरीर से आलस्य, निद्रा जैसे दोष ठीक होते हैं ओर ऊर्जा शक्ति तीव्र बनती है।
4. शरीर के कफ विकार ठीक होते हैं। विस्मरण व बुद्धि मन्दता भी ठीक हो जाते हैं।
5. साधक का शरीर फुर्तीला और आकर्षक बनता है।

चित्र क्र. 7.10

6. नेत्र शक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– नाक के अग्र भाग को देखते हुए गर्दन को धीरे–धीरे ऊपर की ओर ले जाएँ। टीका, बिन्दी, तिलक लगाने वाले स्थान को लगातार अपलक देखना है, आरम्भ में आधा मिनट देखें, नेत्रों में आँसू आने पर वैसे ही सूखने दें, श्वास को सामान्य रखें धीरे–धीरे सामान्य स्थिति में वापस आएँ। ध्यान नेत्रों पर रखें।

चित्र क्र. 7.11

लाभ–

1. नेत्रों की ज्योति बढ़ती है, आँखों से आँसू आना, कम दिखाई देना आदि विकार नष्ट होते हैं।
2. आकर्षण शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, साधक दूसरे व्यक्ति जो प्रभावित करने की क्षमता प्राप्त करता है।
3. त्राटक क्रिया के लिए सहायक है। मन एकाग्र बनाकर चित्त शुद्धि होती है।
4. इसके निरन्तर अभ्यास से और अधिक समय बढ़ाने से चश्मा छूट सकता है।

7. कपोल शक्ति विकासक

स्थिति – समावस्था में खड़े रहें।

विधि – हाथों की अंगुलियों को परस्पर मिलाए अंगूठे से नाक बन्द करें, गर्दन को ऊपर ले जाएँ। मुँह को काक चोंच की तरह बनाएँ जिस तरह सीटी बजाते हैं। इस प्रकार आठ अंक मन में गिनते हुए मुँह से श्वास को अन्दर खींचे तुरन्त मुख को बन्द करें। गालों को फुलाएँ नेत्र बन्द रखें ठुड्डी को कण्ठ में स्थापित करें। 32 अंक तक मन में गिनते हुए श्वास को रोकें–तत्पश्चात् गर्दन सीधी कर अंगूठा हटाकर सोलह अंक तक मन में गिनते हुए नाक से श्वास को बाहर छोडें। श्वास को रोकते समय कनिष्ठका सीने पर रखें। दोनों हाथों को कन्धों के सीध में रखें क्रिया को तीन बार दुहराइए।
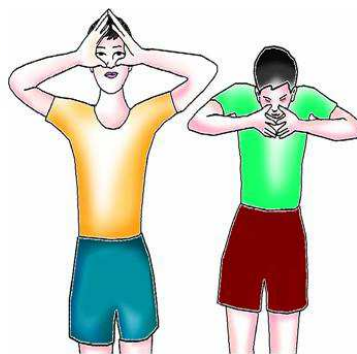
चित्र क्र. 7.12

लाभ–

1. साधक दीर्घायु बनता है।
2. प्यास कम होती है।
3. मुख के रोग दूर होते हैं।
4. दाँत मज़बूत और मुँह की दुर्गन्ध दूर होती है।
5. मुख प्रफुल्लित होकर गालों की झुर्रियों, चेहरों के फोड़े, फुन्सियाँ ठीक होते हैं। सौंदर्य प्रसाधनों की आवश्यकता नहीं होती है।
6. सिर दर्द, नेत्र दोष, पेट की गर्मी, बालों का पकना, झड़ना आदि विकार ठीक होते हैं। चेहरे की नस नाड़ियाँ फुर्तीली बनती है।

8. कर्ण शक्ति विकासक

स्थिति – समावस्था में खड़े रहें।

विधि– हाथ के अंगूठे से कान बन्द करें तर्जनी से नेत्र और मध्यमा से नाक को बन्द करें। क्रिया नम्बर सात के समान गर्दन को ऊपर ले जाएँ। आठ अंक तक मुँह से श्वास भरे गालों को फुलाएँ ठुड्डी कण्ठ में लगाएँ। 32 अंक तक मन में गिनते हुए श्वास को रोकें। दोनों हाथों को कन्धों के सीध में रखें। तथा जमीन के समानान्तर रखें। गर्दन को सीधा कर मध्यमा हटाते हुए नाक से 16 अंक में श्वास को बाहर छोड़ें। क्रिया तीन बार करें।

चित्र क्र. 7.12

लाभ–

1. कान से आने वाला मैल,कान का बहना, कम सुनाई देना आदि विकार नष्ट होते हैं।
2. कर्ण रन्ध्र की शक्ति जागृत होती है और वे पुष्ट बनते हैं।
3. कान, नाक आँख और मुँह बन्द करने से सुषुम्ना नाड़ी का मार्ग शुद्ध होता है जिनके कारण विविध प्रकार के नाद सुनाई देते हैं।
4. प्राणायाम के लिए विशेष लाभकारी क्रिया है।

9. ग्रीवा शक्ति विकासक नं. 1 भाग क.

स्थिति – समावस्था में खड़े रहें।

विधि– (क) श्वास खींचते हुए गर्दन को बाएँ कंधे के सीध में ले जाएँ बिना रुके गर्दन को दाहिने ओर लाएँ, श्वास छोड़े दाहिने कंधे से सीध में देखें। क्रिया को इसी तरह 10 बार दोहराएँ।

(ख) श्वास खींचकर गर्दन को नीचे से ऊपर की ओर ले जाएँ। ऊपर देखें, श्वास छोड़कर गर्दन को नीचे, की ओर वापस लाएँ। क्रिया को 10 बार करें।

चित्र क्र. 7.13

चित्र क्र. 7.13.ब

10. ग्रीवा शक्ति विकासक नं. 2

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– ठुड्डी कण्ठ में लगाएँ। नेत्र बन्द न करें। श्वास खींचकर रोकें, सिर को बाएँ कंधे की ओर से चक्राकार में घुमाते हुए सामने लाएँ श्वास छोड़ें, पुनः श्वास भरें। चक्राकार में दाहिनी ओर से बाईं ओर सिर को वापस लाएँ। पूर्ण चक्र होने पर श्वास छोड़ें। प्रयास करें कि दोनों समय गर्दन को इतना झुकाएँ कि कान कंधे से स्पर्श करने का प्रयास करें। कंधों को न उठाएँ। क्रिया को तीन बार करें।

चित्र क्र. 7.14

11. ग्रीवा शक्ति विकासक नं. 3

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– श्वास छोड़कर पेट पिचकाएँ, श्वास खींचकर पेट फुलाते हुए गले की नसें तानें। क्रिया को 10 बार करें।

क्रिया नं. 9, 10, 11 के लाभ

चित्र क्र. 7.15

1. ग्रीवा के समस्त दोष दूर होते हैं। गर्दन का मोटापा कम होता है।
2. टॉन्सिल, कण्ठमाला आदि रोग ठीक होते हैं।
3. स्वर मधुर व सुरीला बनता है। हकलाहट और तुतलापन जैसे विकार ठीक होते हैं। गर्दन पुष्ट और मजबूत बनती है।

12. स्कन्ध तथा बाहुमूल शक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– अंगूठा छिपाकर मुठ्ठी बन्द करें क्रिया नं. सात और आठ की तरह गर्दन को ऊपर ले जाएँ काकचोंच बनाएँ आठ अंक मन में गिनने तक मुँह से श्वास को अन्दर खींचे। मुँह को बन्द करके गालों को फुलाएँ ठुड्डी कण्ठ में लगाएँ नेत्रों को बन्द रखें। 32 अंक मन में गिनते हुए कन्धों को ताकत के साथ नीचे ऊपर घुमाए हाथों को कड़ा रखें। कोहनी से हाथ को न मोड़े गर्दन को सीधा कर 16 अंक में नाक से श्वास को बाहर छोड़ें। कन्धों का हिलाना बन्द करें। क्रिया तीन बार दुहराएँ।

चित्र क्र. 7.16

लाभ–

1. कन्धों की हड्डियाँ ओर मांस पेशियाँ शुद्ध बनाकर शक्तिशाली बनती है।
2. कन्धें सुडौल व सुन्दर बनते है। कन्धों का दर्द मिटता है। गर्दन के विकार ठीक होते है।

13. भुजबंध शक्ति विकासक

स्थिति – समावस्था में खड़े रहें।

विधि – अंगूठा छिपाकर मुठ्ठी बन्द करें कोहनी से हाथ को मोड़कर कोहनी से अंगुली तक

का हिस्सा जमीन से समानान्तर रखें। श्वास खींचकर हाथ को कन्धों के सामने फेकें। श्वास छोड़कर हाथों को पूर्व स्थिति में लाएँ। क्रिया को 5 से 10 बार दुहराएँ। हाथों को पूर्व स्थिति में लाएँ।

चित्र क्र. 7.17 चित्र क्र. 7.17.ब

लाभ–
1. भुजाओं व कन्धों का दर्द मिटता है।
2. भुजबन्ध पुष्ट बनते हैं।
3. स्थूल भुजाएँ सन्तुलित बनती हैं।
4. आरक्षक व सैनिक के लिए लाभकारी है।
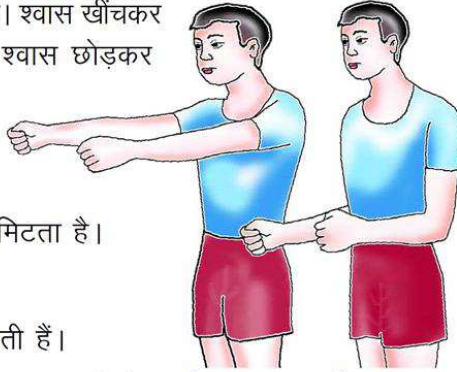
14. कोहनी शक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– (क) अंगूठा छिपाकर मुठ्ठी बन्द करें। कोहनियाँ कमर से सटाएँ। करतल भाग आगे व कर पृष्ठ पीछे रखें। श्वास को लेते हुए कोहनी से हाथ को मोड़कर कन्धे तक लाएँ श्वास छोड़कर हाथ को पूर्व स्थिति में ले जाएँ। इस तरह दस बार करें।
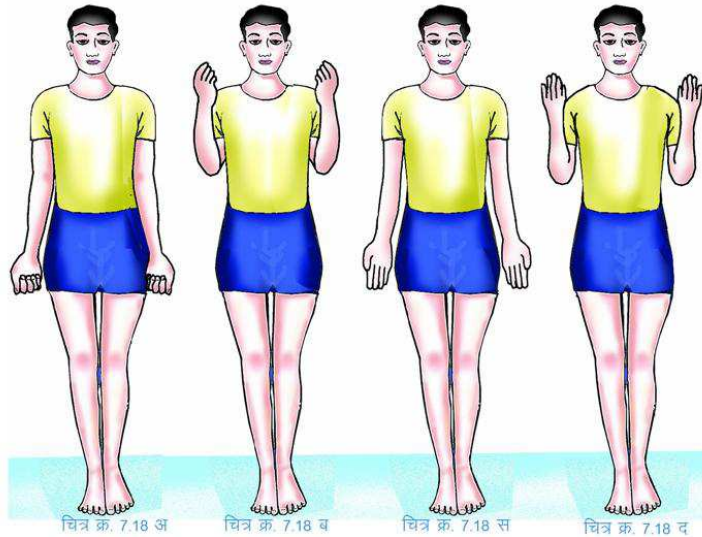
चित्र क्र. 7.18 अ चित्र क्र. 7.18 ब चित्र क्र. 7.18 स चित्र क्र. 7.18 द

(ख) हाथ की मुठ्ठियाँ खोलें। अंगुलियाँ सटाएँ। करतल आगे करपृष्ठ पीछे रखें। कोहनियाँ कमर से सटाएँ भाग क के समान विधि को दस बार करें।

लाभ–
1. कोहनी का दर्द मिटता है।
2. हड्डियों के जोड़ पुष्ट बनते हैं।
3. कोहनियाँ सुन्दर व आकर्षक बनती हैं।

15. भुजबल्ली शक्ति विकासक

स्थिति – समावस्था में खड़े रहें।

विधि–
(क) श्वास खींचकर बाएँ हाथ को बांजू से कन्धें के ऊपर ले जाएँ। भुजबन्ध को कान से स्पर्श कराएँ हथेली बाहर की ओर रखें, श्वास छोड़कर स्थिति में लाएँ, क्रिया 10 बार करें।

(ख) श्वास खींचकर दाहिने हाथ को बाजू से कन्धें के ऊपर ले जाएँ, भुजबन्ध कान से स्पर्श करें हथेली का तल भाग बाहर की ओर रखें। श्वास छोड़ते हुए हाथ को नीचे लाएँ। क्रिया दस बारे करें।

(ग) श्वास खींचकर दोनों हाथों को बाजू से कन्धों के ऊपर ले जाएँ, हथेली का तल भाग बाहर की ओर रहे भुजबन्ध कान से स्पर्श करें, श्वास छोड़कर हाथों को पूर्व स्थिति में लाएँ क्रिया को दस बार करें।

चित्र क्र. 7.19

लाभ–
1. भुजाएँ पुष्ट व बलशाली बनती है।
2. कोहनी से कलाई का हिस्सा सन्तुलित बनकर उसके दर्द मिटते हैं, भुजबल्लियाँ शक्तिशाली बनकर हाथों से कार्य करने की क्षमता बढ़ती है।

16. पूर्ण भुजा शक्ति विकासक भाग क

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि–
(क) अंगूठा छिपाकर बाएँ हाथ की मुठ्ठी बन्द करें, मुठ्ठी खड़ी रखें, हाथ को कन्धे के सामने जमीन के समानान्तर फैलाएँ, हाथ को कड़ा करें, श्वास को कड़ा करें श्वास खींचकर रोके, हाथ को चक्राकार में दस बार ऊपर से नीचे

घुमाएँ, कोहनी से हाथ को मोड़कर श्वास छोड़ते हुए हाथ को समाने फेंके।

भाग (ख) भाग 'क' के समान बाएँ हाथ को नीचे से ऊपर दस बार घुमाएँ, कोहनी से हाथ को मोड़कर श्वास छोड़ते हुए हाथ को सामने फेकें।
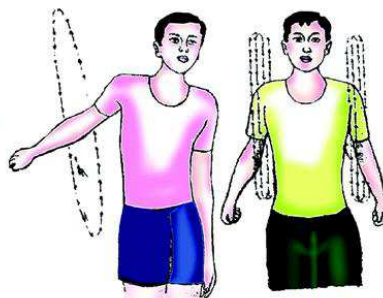
चित्र क्र. 7.20 अ चित्र क्र. 7.20 ब

भाग (ग) अंगूठा छिपाकर दाहिने हाथ की मुठ्ठी बन्द करें, कन्धें के सामने हाथ को जमीन से समानान्तर फैलाएँ, श्वास खींचकर रोकें, दाहिने हाथ को चक्राकार में दस बार ऊपर से नीचे घुमाएँ, कोहनी से हाथ मोड़कर श्वास छोड़ते हुए हाथ सामने फेकें क्रिया समाप्त करें।

भाग (घ) भाग ग के समान विधि को नीचेसे ऊपर घुमाते हुए दस बार करें।

(च) अंगूठा छिपाकर मुठ्ठी बन्द करें, दोनों हाथ की कन्धें के सामने जमीन से समानान्तर फैलाएँ, विधि को दस बार भाग क, ख, ग के समान ऊपर से नीचे घुमाकर पूरा करें।

लाभ–
1. शरीर के वायु विकार ठीक होते हैं।
2. हाथों की नस नाड़ियाँ व जोड़ों का दर्द मिटता है।
3. हाथों की सौंदर्य वृद्धि होती है। भुजाएँ शक्तिशाली व पुष्ट बनती है।

17. मणिबन्ध शक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

क्रियाविधि– (क) अंगूठा छिपाकर मुठ्ठियाँ बन्द करें दोनों हाथों को कन्धों के सामने जमीन से समानान्तर फैलाएँ दोनों हाथों में कन्धों के बराबर अन्तर रखें, करतल भाग नीचे की ओर रखें, श्वास को खींचते हुए कलाई को ताकत के साथ धीरे–धीरे नीचे से ऊपर ले
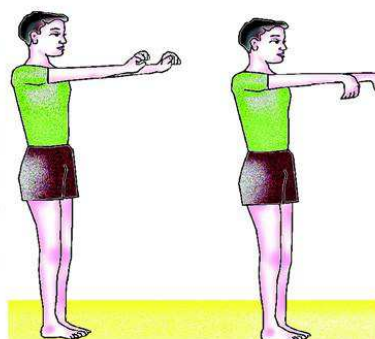
चित्र क्र. 7.21 अ चित्र क्र. 7.20 ब

जाएँ, श्वास छोड़कर कलाई को ऊपर से नीचे की ओर लाएँ, क्रिया को पाँच बार करें।

(ख) अंगूठा छिपाकर मुठ्ठियां बन्द करें, हाथों को कोहनी से मोड़कर सीने से सामने जमीन से समानान्तर रखें, श्वास खींचते हुए कलाई को ताकत के साथ धीरे–धीरे नीचे से ऊपर ले जाएँ, श्वास छोड़कर कलाई की ताकत के साथ ऊपर से नीचे लाएँ, विधि को पाँच बार करें।

18. कर पृष्ठ शक्ति विकासक – क

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

क्रियाविधि–(क) हाथ की मुठ्ठियाँ खोलकर अंगुलियाँ सटाएँ हुए दोनों हाथों को कन्धे के सामने जमीन से समानान्तर फैलाएँ श्वास को खींचकर हथेली को ताकत के साथ धीरे–धीरे नीचे से ऊपर ले जाएँ। श्वास को छोड़कर हथेली को धीरे–धीरे ऊपर से नीचे लाएँ, क्रिया को पाँच बार करें।

चित्र क्र. 7.21अ

(ख) कोहनी से हाथ को मोड़कर सीने के सामने जमीन के समानान्तर फैलाएँ, करतल भाग नीचे रखें शेष विधि को भाग क के समान पाँच बार करें।

चित्र क्र. 7.21अ चित्र क्र. 7.21ब
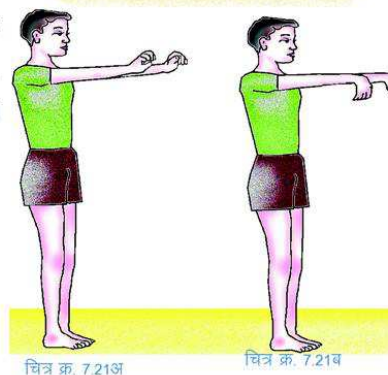
19. कर तल शक्ति विकासक – क

स्थिति– (क) दोनों हाथों की अंगुलियाँ फैलाकर कन्धों के सामने हाथों को जमीन से समानान्तर रखें करतल भाग नीचे की ओर हो श्वास को खींचते हुए हथेली को ताकत के साथ धीरे–धीरे नीचे से ऊपर तानें श्वास को छोड़कर हथेली को ताकत के साथ ऊपर से नीचे लाएँ, क्रिया को पाँच बार करें।

(ख) दोनों हाथों को कोहनी से मोड़कर अंगुलियों फैलाते हुए सीने के सामने जमीन से समानान्तर रखें करतल भाग जमीन की ओर रखें शेष विधि भाग–क के समान पाँच बार दुहराएँ।
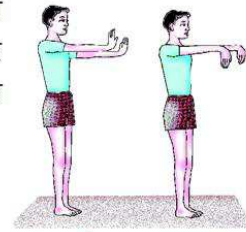
चित्र क्र. 7.22 अ
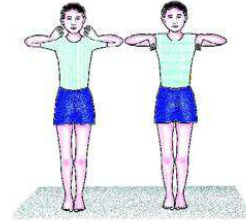
चित्र क्र. 7.22 ब

20. अंगुली मूल शक्ति विकासक – क

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

क्रियाविधि– दोनों हाथों की कलाई तक, के हिस्से को कड़ा रखते हुए कन्धों के सामने जमीन से समानान्तर फैलाये हथेली को ढीला छोड़े, करतल भाग जमीन की ओर रखें श्वास सामान्य रखते हुए अंगुलियों को ताकत के साथ 10–15 बार आगे पीछे हिलाएँ।
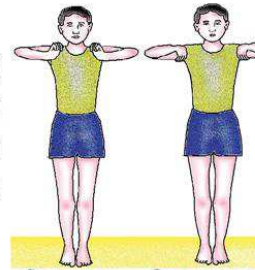
चित्र क्र. 7.23 चित्र क्र. 7.23 ब

21. अंगुली शक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

क्रियाविधि–(क) दोनों हाथों का पंजा फैलाते हुए कन्धों के सामने जमीन के समानान्तर तानें, श्वास को सामान्य रखकर दस–पंद्रह बार अंगुलियों के अग्र भाग को ताकत के साथ ऊपर से नीचें मोड़ें।

(ख) कोहनी से हाथ को मोड़ कर सीने के सामने जमीन से समानान्तर तानें भाग–क के समान पंजों को फैलाएँ 10–15 बार विधि को पूरा करें।

17 से 21 तक क्रिया के लाभ

इन समस्त क्रियाओं के करने से कलाई, करपृष्ठ करतल एवं अंगुलियाँ पुष्ट बनती हैं और उनके विकार ठीक होते हैं। हथेलियाँ शक्तिशाली बनती है इन क्रियाओं के करने से मनोवहा नाड़ियाँ प्रभावित होती है जिनसे शरीर और मन एकाग्र होकर अध्यात्मिक उन्नति होती है हाथों का कंपन ठीक होता है। जोड़ों का दर्द मिटता है। टंकण यन्त्र परकार्य करने वाले साधक लाभान्वित होते हैं।

चित्र क्र. 7.23

चित्र क्र. 7.23

22. वक्ष स्थल शक्ति विकासक नं. – 1

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

क्रियाविधि– करतल भाग अन्दर की ओर रखते हुए हाथों को जंघा पर स्थापित करें श्वास भरकर दोनों हाथों को ऊपर ले जाएँ हाथों के मध्य सिर को रखें ऊपर देखें, श्वास छोड़ते हुए हाथों को धीरे–धीरे पहली अवस्था में लाएँ क्रिया तीन बार करें।

चित्र क्र. 7.24

23. वक्ष स्थल शक्ति विकासक नं. 2

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

क्रियाविधि– दोनों हाथों को जंघा के बाजू में रखें। श्वास को अन्दर लेते हुए दोनों हाथों को बाजू से पीछे की ओर पीठ की तरफ तानें, ऊपर देखें सीना फुलाएँ। श्वास छोड़कर दोनों हाथों को पूर्व अवस्था में लाएँ क्रिया को तीन बार करें।

चित्र क्र. 7.25

दोनों के लाभ–1. फैफड़े पुष्ट बनकर उनके रोग नष्ट होते हैं।

2. हृदय रोग दूर होता है। टी.बी., दमा, कफ, खांसी आदि

रोग नष्ट होते हैं।

3. रीढ़ की हड्डी का टेड़ापन दूर होता है। सीना चौड़ा व पुष्ट बनता है।

24. उदर शक्ति विकासक (अजगरी) नं.–1

चित्र क्र. 7.26

स्थिति – समावस्था में खड़े रहें।

विधि– श्वास को बाहर निकालकर पेट पिचकाते हुए पीठ की ओर ले जाएँ श्वास को यथा शक्ति रोकें, श्वास को अन्दर खींचते हुए पेट फुलाएँ, श्वास को यथा शक्ति रोकें। क्रिया तीन बार करें।

25. उदर शक्ति विकासक क्रिया नं. – 2

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि क्रिया नम्बर दो के समान बाईं हथेली को अंगूठा छोड़कर शेष अंगुलियों को गले पर स्थापित करें, दाएँ हाथ की तर्जनी बाएँ हाथ पर उल्टी टिकाएँ, गर्दन को इसी अवस्था में रखते हुए दोनों हाथों को बाजू से नीचे लाएँ, श्वास बाहर निकालकर पेट पिचकाएँ, श्वास को अन्दर लेकर पेट को फुलाएँ, ध्यान को पेट पर केन्द्रित करें, बिना रुके हुए जल्दी–जल्दी क्रिया को पच्चीस बार करें।
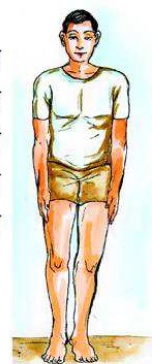
चित्र क्र. 7.26 ब

26. उदर शक्ति विकासक क्रिया नं. – 3

स्थिति – समावस्था में खड़े रहें।

विधि– क्रिया नम्बर तीन के समान गर्दन को धीरे–धीरे ऊपर ले जाएँ। भ्रूमध्य में देखें। श्वास छोड़कर पेट पिचकाएँ। श्वास अन्दर लेकर पेट फुलाएँ। बिना रोके हुए क्रिया पच्चीस बार करें।
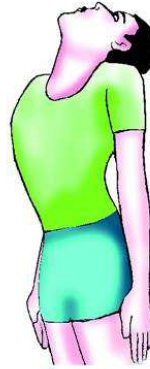
चित्र क्र. 7.27

27. उदर शक्ति विकासक नं. – 4

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– क्रिया नं. 4 के के समान पैर के अंगूठे से अंदाजन 4½ फीट दूरी से देखें। श्वास छोड़कर पेट पिचकाएँ। श्वास खींचकर पेट को फुलाएँ। बिना रुके हुए क्रिया को पच्चीस बार करें।

चित्र क्र. 7.28

28. उदर शक्ति विकासक क्रिया नं. – 5 'कुम्भक'

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– क्रिया नं. 7, 8, 12 के समान गर्दन को धीरे–धीरे ऊपर ले जाएँ। काकचोंच बनाते हुए आठ अंक मन में गिनें। मुँह से श्वास अन्दर लें। मुँह को बन्दकर तुरन्त गालों को फुलाएँ, ठुड्डी कण्ठ कूप से लगाएँ। नेत्रों को बन्द करें। साधक चक्कर आने की स्थिति में नेत्र खोल दें। यथाशक्ति पेट फुलाएँ। 32 अंक तक श्वास को अन्दर रोकें। गर्दन सीधी करते हुए 16 अंक में नाक से श्वास बाहर निकाले क्रिया एक बार करें।

चित्र क्र. 7.29

29. उदर शक्ति विकासक नं. – 6

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– अंगूठा पेट की ओर रखते हुए दोनों हाथों को कमर पर स्थापित करें 60 अंश कोण पर आगे झुके। सामने देखें, श्वास को छोड़कर पेट पिचकाएँ। श्वास खींचकर पेंट फुलाएँ, 25 बार करें।

चित्र क्र. 7.30

30. उदर शक्ति विकासक क्रिया नं. – 7

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– क्रिया विधि अंगूठा पेट की ओर रखकर दोनों हाथों को कमर पर स्थापित करें। 90 अंश कोण पर आगे झुकें। सामने देखें। श्वास छोड़कर पेट को पिचकाएँ। श्वास को खींचकर पेट को फुलाएँ। क्रिया 25 बार करें।

चित्र क्र. 7.31

31. उदर शक्ति विकासक क्रिया नं. – 8

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– अंगूठा पेट की ओर रखते हुए दोनों हाथों को कमर पर स्थापितकरें 60 अंश के कोण पर आगे झुके सामने देखें, श्वास छोड़कर आंतरिक शक्ति से पेट को जल्दी–जल्दी हिलाएँ। क्रिया को यथाशक्ति करें।

चित्र क्र. 7.31 ब

32. उदर शक्ति विकासक क्रिया नं. – 9

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– अंगूठा पेट की ओर रखकर दोनो हाथों को कमर पर स्थापित करें 90 अंश कोण पर आगे झुके सामने देखें पेट से श्वास को बाहर निकाले। खाली पेट को आंतरिक शक्ति से आगे पीछे हिलाएँ। इस क्रिया को एक बार यथाशक्ति करें।

चित्र क्र. 7.32

33. उदर शक्ति विकासक क्रिया नं. 10 (नौलि)

स्थिति– दोनों पैरों में एक हाथ का अन्तर रखकर खड़े हों, दोनों हाथों को नीचे झुककर घुटने पर स्थापित करें।

1.क्रिया विधि–मध्य नौलि नाक से श्वास को बाहर निकालकर पेट को खाली करें। आंतरिक शक्ति से खाली पेट को आगे–पीछे हिलाएँ। श्वास लेने की इच्छा होने पर पेट का हिलाना बंद करें इस विधि को मध्य नौलि कहते हैं।

2.बाम नौलि – पुनः श्वास को बाहर निकाले, पेट को खाली करें, आंतरिक शक्ति से खाली पेट को दाहिने घुटने को किंचित दबाते हुए बाएँ से दाएँ यथा–शक्ति घुमाएँ। श्वास लेने की इच्छा होने पर क्रिया को बन्द करें। इसे बाम नौलि कहते हैं।

3.दक्षिण नौलि – श्वास को बाहर निकाल कर पेट को खाली करें। बाएँ घुटने को किंचित दबाते हुये आंतरिक शक्ति से खाली पेट को दाहिने से बाएँ घुमाएँ, श्वास लेने की इच्छा पर क्रिया समाप्त करे इस विधि को दक्षिण नौलि कहते हैं।
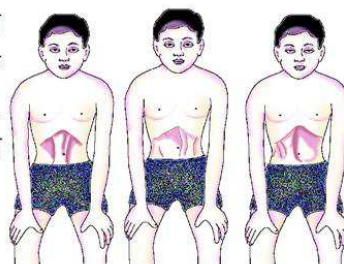
चित्र क्र. 7.33

"24 से 33 तक को क्रियाओं के लाभ"

1. पेट के समस्त विकार दूर होते है।
2. पेट के समस्त अंग शक्तिशाली बनते है।
3. पेट का मोटापा कम होता है।
4. आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है।
5. साधक दीर्घ आयु वाला बनता है।
6. कुण्डली जागरण में सहायक है।
7. पांचन संस्थान अपना कार्य तीव्र गति से करने लगती है।
8. नाभि केन्द्र को ठीक रखने में सहायक है।
9. रक्त का संचार भली–भांति होने लगता है।
10. शरीर की समस्त नाड़ियाँ शुद्ध बनती है।

34. कटि शक्ति विकासक क्रिया नं. 1 भाग – क

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– (क) दोनों हाथों को पीछे ले जाएँ, दाएँ हाथ से बाईं कलाई को पकड़े, अंगूठा छिपाकर बाईं मुठ्ठी बन्द करें, श्वास अन्दर लेते हुए गर्दन कमर को यथा शक्ति पीछे ले जाएँ ऊपर देखें, पीछे झुकें श्वास को छोड़कर सिर को शरीर का भार सम्हालते हुए, घुटने तक लाने का प्रयास करें, क्रिया को तीन बार करें।

चित्र क्र. 7.34

(ख) बाएँ हाथ से दाहिने हाथ की कलाई पकड़े अंगूठा छिपाकर दाहिनी मुठ्ठी बन्द करें। शेष क्रिया (क) के समान पूरी तीन बार में करें।

35. कटि शक्ति विकासक क्रिया नं. – 2

स्थिति– समावस्था में खड़े रहेंगे।

विधि– दोनों पैरों को यथा शक्ति फैलाएँ, अंगूठा पेट की ओर रखते हुए हाथों को कमर पर स्थापित करें, श्वास अन्दर भरते हुए गर्दन कमर को अधिक से अधिक पीछे झुकाएँ ऊपर देखें श्वास को छोड़कर सिर को अधिक से अधिक नीचे लाएँ क्रिया तीन बार करें, तीसरी बार क्रिया करते समय दोनों हाथों को जमीन पर टिकाएँ और सिर को जमीन पर टिकाने का प्रयास करें। सिर टिकाकर हाथों को कमर पर रखें। यथाशक्ति रुकें। तत्पश्चात् हाथ के सहारे उछलकर पूर्व स्थिति में आएँ।

चित्र क्र. 7.35

36. कटि शक्ति विकासक क्रिया नं. – 3

स्थिति– दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखते हुए खड़े हो।

विधि– करतल भाग अन्दर रखते हुए जंघा से सटाएँ, श्वास को लेते हुए गर्दन कमर को अधिक से अधिक पीछे की ओर झुकाएँ, ऊपर देखें, श्वास को छोड़कर सिर को शरीर का तोल सम्हालते हुए घुटने तक लाने का प्रयास करें, नेत्र खुले रखें। दोनों हाथों को पीठ की ओर तानें क्रिया को जल्दी–जल्दी 10 बार करें।

चित्र क्र. 7.36

37. कटि शक्ति विकासक क्रिया नं. – 4 भाग (क)

स्थिति– (अ) समावस्था में खड़े रहें।

विधि– दोनों हाथों को कंधों के बाजू से जमीन से समानान्तर फैलाएँ, हथेली जमीन की

ओर रखें अंगुलियाँ सटाएँ, श्वास को अन्दर भरते हुए बाएँ 30 अंश के कोण पर झुकाएँ। दाहिने हाथ को 150° कोण ऊपर तानें इस प्रकार दोनों हाथों को एक रेखा में रखें, साथ–साथ गर्दन कमर को भी झुकाएँ श्वास को बाहर निकालते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएँ पुनः श्वास खींचते हुए गर्दन कमर के साथ दाहिने हाथ को 30 अंश के कोण पर नीचे की ओर झुकाएँ बाएँ हाथ को 150° पर ऊपर तानें। दोनों हाथ एक रेखा में रखें, श्वास छोड़कर पूर्व स्थिति में जाएँ ये क्रिया 10 बार करें।

चित्र क्र. 7.37
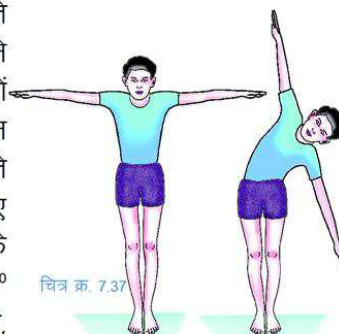
स्थिति– (ख) दोनों पैरों में एक हाथ का अन्तर रखकर सीधे खड़े हो जाए।

विधि– भाग क के समान क्रिया का 10 बार पूरा करे।

38. कटिशक्ति विकासक क्रिया नं. – 5

स्थिति– दोनों पैरों मे एक हाथ का अन्तर रखकर सीधे खड़े हों।

विधि– दोनों हाथों को कन्धों के सामने करतल भाग एक दूसरे के सामने रखते हुए जमीन से समानान्तर फैलाएँ हाथों के कन्धों के बराबर अन्तर रखें, अंगुलियाँ सटाएँ। श्वास को निकालते हुए बाएँ हाथ को बाईं ओर जमीन से समानान्तर अर्धचक्राकार में पीछे की ओर ले जाएँ, दाहिने हाथ को कोहनी से मोड़कर दाहिनी हथेली को बाएँ कन्धे तक लाएँ। बाएँ हाथ के अंगूठे को पीछे देखें। श्वास को लेते हुए दोनों हाथों को पूर्व स्थिति में लाएँ, पुनः श्वास को बाहर करते हुए दाहिने हाथ को दाहिनी ओर अर्धचक्राकार में जमीन से समानान्तर पीछे की ओर ले जाएँ बाएँ हाथ को कोहनी से मोड़कर दाहिने कन्धे के समीप लाएँ, दाहिने हाथ के अंगूठे को पीछे देखें। श्वास लेते हुए दोनों हाथों को पूर्व स्थिति में लाएँ, क्रिया को 10 बार करें।

चित्र क्र. 7.38
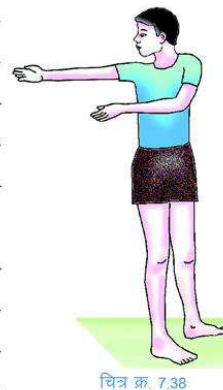
34 से 38 तक क्रियाओं के लाभ

1. इन क्रियाओं के अभ्यास से कमर सुन्दर सुडौल और पतली होती है तथा लचीली बनती है।

2. कमर के दर्द मिटते हैं, कमर पुष्ट बनकर नृत्य कलाकारों के लिये उपयोगी है।
3. शरीर कान्तियुक्त और फुर्तीला बनता है।
4. उम्र के प्रथम 20 वर्ष तक साधक की लम्बाई बढ़ती है।

39. मूलाधर चक्र शुद्धि भाग – क

स्थिति– (क) समावस्था में खड़े रहें।

क्रियाविधि– श्वास को बाहर निकालें, पेट खाली करके मल द्वार को आंतरिक शक्ति से नाभिकी ओर खींचे शरीर में कंपन होने पर क्रिया समाप्त करें। क्रिया एक बार करें।

स्थिति– (ख) दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रख कर खड़े हों।

क्रियाविधि– भाग क के समान क्रिया को एक बार में पूरा करें।

लाभ–
1. प्राण अपान वायु एकत्र होने से कुण्डली जागृत में सहायक है। शरीर हल्का बनता है।
2. मस्तिष्क में ताजगी की अनुभूति होती है। शरीर शक्ति सम्पन्न बनता है।
3. कब्जियत दूर होती है। बवासीर की बीमारी मिटती है।
4. शरीर फुर्तीला और दीर्घायु बनता है।

चित्र क्र. 7.39

40. उपस्थ तथा स्वाधिष्ठान चक्र शुद्धि

स्थिति– दोनों पैरों में एक हाथ का अन्तर रखकर सीधे खड़े हो जायें।

विधि– श्वास को अन्दर खींचकर मूत्रेन्द्रिय ओर गुदा एक साथ यथाशक्ति नाभि की ओर खींचे। शरीर में कंपन होने पर क्रिया समाप्त करें। क्रिया एक बार करें।

लाभ–
1. मूत्राशय तथा गुदा के रोग ठीक होते हैं।
2. मधुमेह, भगन्दर, बवासीर जैसे रोग ठीक होते हैं।
3. महिलाओं के लिये विशेष लाभकारी है ।
4. गर्भाशय सम्बन्धी रोग ठीक होते हैं।
5. ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक है। स्वप्नदोष दूर होते हैं।

चित्र क्र. 7.40

41. कुण्डलिनी शक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– श्वास खींचते हुए बाएँ पैर की एड़ी उठाकर नितम्ब पर ठोकें श्वास छोड़कर पैर को पूर्व स्थिति में लाएँ पुनः श्वास खींचकर दाहिने पैर की एड़ी से नितम्ब पर ठोकें। श्वास छोड़कर दाहिने पैर को पूर्व स्थिति में लाएँ। 10 बार क्रिया करें।

चित्र क्र. 7.41

लाभ–

1. कुण्डली जागरण में सहायक है।
2. शरीर पुष्ट व फुर्तीला बनता है।
3. ज्ञान का समवर्धन होता है।
4. ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होती है।
5. मोक्ष प्राप्ति में सहायक है।

42. जंघा शक्ति विकासक (1) भाग – क

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि–

(क) श्वास को अन्दर खींचतें हुए कूदकर दोनों पैरों को बाजू में फेकें। दोनों हाथों को कन्धों के बाजू से सिर के ऊपर ले जाएँ। श्वास छोड़कर दोनों पैरों को हाथों के साथ कूदकर पूर्व स्थिति में लाएँ। क्रिया 10 बार करें।

(ख) श्वास को छोड़कर कूदते हुए दोनों पैरों को जंघा के बाजू में फेकें। दोनों हाथों को कन्धों के बाजू से सिर के ऊपर ले जाएँ हथेली बाहर की ओर रखें। श्वास को छोड़कर कूदते हुए और पैर को पूर्व स्थिति में लाएँ। क्रिया को 10 बार करें।

चित्र क्र. 7.42

43. जंघा शक्ति विकासक (2) भाग – क

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– (क) दोनों हाथों को जमीन से समानान्तर कन्धों के सामने फैलाएँ। हथेलियाँ जमीन की ओर रखें। श्वास को खींचकर (खींचते हुए) दोनों घुटने मिलाकर कुर्सी के समान बैठें। श्वास को छोड़कर पूर्व स्थिति में खड़े हो जाएँ क्रिया तीन बार करें।

चित्र क्र. 7.43

(ख) दोनों हाथों को कंधों के बाजू में जमीन के सामानान्तर फैलाएँ। श्वास को खींचकर पंजों पर खड़े होते हुए घुटने फैलाकर नीचे बैठें श्वास छोड़कर पूर्व स्थिति में आ जाएँ। क्रिया तीन बार करें।

चित्र क्र. 7.43 ब

लाभ–

1. जंघाएँ शक्तिशाली बनती है सुन्दर सुडौल बनती है।
2. जंघाओं का दर्द मिटता है।
3. जंघाओं का मोटापन कम होता है।
4. अधिक पैदल चलने वालों को थकान से मुक्ति मिलती है।
5. घुटना का दर्द मिटाता है।

44. जानुशक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि – श्वास को खींचते हुए बाएँ पैर की एड़ी को ऊपर उठाकर नितम्ब से स्पर्श करें। श्वास छोड़कर पैर को फुटबॉल को किक मारते हैं वैसे सामने फेकें। इसी विधि को दाहिने पैर से भी करें। क्रिया 10 बार करें।

लाभ–

1. जोड़ों का दर्द मिटता है।
2. गठियां की बीमारी ठीक होती है।
3. कुण्डली जागरण में सहायक है।
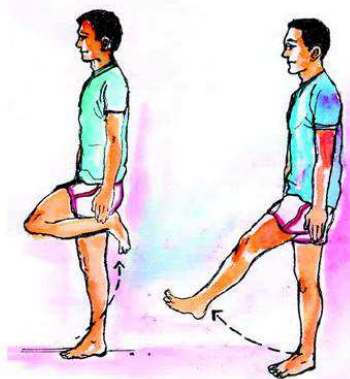
चित्र क्र. 7.44

4. खिलाड़ियों के लिए उपयुक्त है।
5. घुटने सुन्दर सुडौल बनते है।

45. पिण्डली शक्ति विकासक

स्थिति – समावस्था में खड़े रहें।

विधि– अंगूठा छिपाकर मुठ्ठी बन्द करें। दोनों हाथों को जमीन से समानान्तर कंधों के सामने फैलाएँ करतल भाग एक दूसरे के सामने रखें। श्वास को खींचकर घुटने मिलाते बैठक लगाएँ। एड़ियों को जमीन पर टिकाकर रखें। श्वास छोड़कर खड़े होने के पूर्व दोनों हाथों को कंधों के सामने से चक्राकार में घुमाते हुए सीने के पास लाएँ। हाथों को तत्पश्चात् नीचे फेकें और पूर्व स्थिति में आ जाएँ क्रिया को पाँच बार करें।
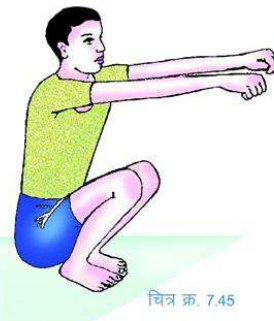
चित्र क्र. 7.45

लाभ–
1. पिण्डलियाँ पुष्ट बनती है।
2. इनका दर्द मिटता है। जोड़ों का दर्द दूर होता है।
3. ब्रह्मचर्य की वृद्धि होती है।
4. कन्धे व हाथों का दर्द मिटता है।
5. सीना चौड़ा ओर पुष्ठ बनता है।
6. शरीर फुर्तीला बनता है।

46. पाद मूल शक्ति विकास भाग– क

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि–
(क) एड़ियाँ उठाकर पंजों पर खड़े हो जाएँ। श्वास सामान्य रखें। अपने स्थान पर 10–15 बार धीरे–धीरे उछलें। पंजों को जमीन पर टिकाकर रखें।

(ख) श्वास को सामान्य रखते हुए अपने स्थान पर पंजों को (बल पर) ऊपर नीचे 10–15 बार कूदें।

लाभ–
1. पैरों का दर्द मिटता है।
2. घुटने व जंघाएँ पुष्ट बनते हैं।

3. ब्रह्मचर्य की वृद्धि होती है।
4. पैर की अंगुलियों का दर्द मिटता है।

चित्र क्र. 7.46

चित्र क्र. 7.46 ब

47. गुल्फ, पादतल, पाद पृष्ठ शक्ति विकासक भाग (क)

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– (क) बाएँ पैर को जमीन से सामने की ओर लगभग 9'' ऊपर उठाकर तानें। पंजे से 0 को बनाएँ और मिटाएँ। श्वास को सामान्य रखते हुए क्रिया को तीन बार करें।

(ख) बाएँ पैर को पीछे की ओर तानें जमीन से लगभग 9'' ऊपर उठाकर पीछे की ओर तानें। पंजे से 0 को बनाएँ और मिटाएँ। श्वास को सामान्य रखते हुए क्रिया को तीन बार करें।

चित्र क्र. 7.47

(ग) भाग ''क'' के समान दाहिने पंजे से तीन बार क्रिया को पूरा करें।

(घ) दाहिने पैर को जमीन से लगभग 9'' पीछे उठाकर तानें, भाग ख के समान क्रिया तीन बार करें।

लाभ– 1. पैर की अंगुलियाँ, पंजें, पैर का पृष्ट भाग और तलुओं का दर्द मिटता है।

2. पैर सुन्दर सुडौल बनते हैं मोंच को दूर करने के लिए उपयुक्त है। अधिक चलने, दौड़ने से अधिक थकावट दूर होती है।

48. पादांगुली शक्ति विकासक

स्थिति– समावस्था में खड़े रहें।

विधि– दोनों हाथों की सहायता से पैर के पंजों को पल्टा कर आपस में जोड़ें, श्वास को सामान्य रखें, अंगुलियों के बल कूद कर सीधे खड़े हो जाएँ, क्रिया एक बार में पूरी करें।

लाभ–
1. पैरों की अंगुलियों को विशेष बल प्राप्त होता है।
2. पंजे व अंगुलियों का दर्द मिटता है।
3. चलने दौड़ने से होने वाली थकान दूर होती है।
4. अंगुलियों व पैर के पंजे लचीले होते हैं। तथा उनका दर्द भी मिट जाता है।

चित्र क्र. 7.48

परिशिष्ट

प्रस्तावित मूल्य शिक्षा पाठ्यक्रम

प्राथमिक स्तर –

1. **स्वच्छता–**

   व्यक्तिगत – शारीरिक स्वच्छता अपने कपड़े, मोजे, जूते, वस्त्र की सफाई। पुस्तकों को स्वच्छ रखना।

   परिवेशीय – जहाँ स्वयं छात्र बैठते हैं उसकी सफाई अभ्यास, स्वच्छता की आदत।

2. **नियमितता** – सोने, जागने, विद्यालय जाने की आदत, प्रार्थना में उपस्थित रहने की आदत।

3. **शिष्टाचार** – माता–पिता परिवार के बड़े जनों, शिक्षकों के साथ शालीन भाषा का प्रयोग। सहपाठी के प्रतिप्रेम सम्मानपूर्वक व्यवहार।

4. **राष्ट्रीयता** – जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी का राष्ट्र प्रेम, राष्ट्र चिह्नों का ज्ञान।

5. **श्रम सहयोग** – अपने स्वयं के लिए दूसरों के लिए श्रम व सहयोग का कार्य। अपना कार्य स्वयं करने की आदत।

पूर्व माध्यमिक स्तर

1. देश भक्ति और राष्ट्रीयता।
2. सामाजिक एवं लोकतांत्रिक मूल्य, भाई–चारा, तीज–त्यौहारों में धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक मूल्य, लोकतांत्रिक मूल्य।
3. कर्त्तव्य पालन अपने प्रति, परिवार, सामाजिक कर्त्तव्य।
4. सहयोग और सहायता की भावना– पारस्परिक सहयोग, करूणा, सहयोग, सम्मान।
5. दया करूणा सहनशीलता–प्राणियों के प्रति दया का भाव इस प्रकार का ज्ञान पारिवारिक व सबके लिए।
6. साहस और निडरता की भावना– जीवन संघर्ष में स्पर्धा।

7. पर्यावरण और प्राकृतिक साधनों के प्रति जागरूकता।
8. भारतीय संस्कृति परम्परा का ज्ञान और उसके प्रति आदर भाव।

उच्चतर माध्यमिक स्तर

1. अस्तेय और सच्चाई पर चलने का प्रयास।
2. समाज में बेईमानी, भ्रष्टाचार, अन्याय और शोषण के विरूद्ध जागरूकता।
3. दैनिक जीवन में समता व सहयोग की भावना का विकास।
4. समाजिक कुरीतियों की पहचान व उन्हें दूर करने का सक्रिय प्रयास।
5. धर्म, जाति, भाषा और लिंग के पूर्वाग्रह से ऊपर उठना।
6. सभी धर्मों का आदर करना और उसके मूलभूत सत्य को समझाना।
7. तम्बाकू, शराब और नशीले पदार्थों और बुरी आदतों से बचाव इनके प्रयोग से अपने अन्य लोगों को बचाने की सक्रियता।
8. विश्व बंधुत्व की भावना का विकास।
9. वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास।

मानवीय मूल्यों के घटक

सत्य	सदाचरण	शान्ति	प्रेम	अहिंसा
सत्यवादिता	स्वच्छता	संयम	सद्भाव	दयालुता
जिज्ञासा	आरोग्य–वर्द्धक	षड्–रिपुओं से	जीवनधारियों के	शिष्टाचार
ज्ञान–पिपासा	रहन सहन	छुट कारा	प्रति दया	सौजन्यता
खोज वृत्ति	परिश्रम की महत्ता	षड्–सद्गुणों का	सहानुभूति	सेवा–भावना
आत्म–विवेचन	समय का सदुपयोग	विकास	मित्रता	भाईचारा
विवेक	नियमित जीवन	अनुशासन	देश–भक्ति	भद्रता
धर्म–निरपेक्षता	समय की पाबन्दी	पवित्रता	भक्ति	पर पीड़न से
सब धर्मों का आदर	स्वावलम्बन	सहनशीलता	सहिष्णुता	विरक्ति
विश्व व्यापी स्वयम्भू	स्वयं–सेवा	निष्ठा	मानवता	दूसरों की संस्कृति
सत्य	आज्ञा–पालन	आत्मानुशासन		का आदर करना
	कर्त्तव्यनिष्ठा	आत्म–नियंत्रण		करूणा
	सादा–जीवन	आत्म–सम्मान		विश्व–प्रेम
	ईमानदारी	व्यक्ति की गरिमा		नागरिक दायित्वों
	दूरदर्शिता	का मान		का भान
	सबका सम्मान	एकाग्रता		लोकतांत्रिक
	श्रद्धा	ध्यान		सामान्य हित
	सेवा–भावना	शांति		राष्ट्रीय–चेतना
	आत्म–निर्भरता			राष्ट्रीय–एकता
	स्वप्रेरणा			राष्ट्रीय–अखण्डता
	व्यवहार कुशलता			अस्पृश्यता की
	साहस, नेतृत्व			भावना से दूर
	निष्ठा, न्याय			राष्ट्रीय–संपत्ति की
	सामुदायिक कार्य			सुरक्षा
	सत् की भावना			समाज–सेवा
	समानता			सामाजिक–न्याय
	आत्म–त्याग			सामाजवाद
				पारस्परिक–निर्भरता

॥ श्रीशिवरहस्यान्तर्गता ऋभुगीता ॥

.. Ribhu Gita from Shiva Rahasya ..

sanskritdocuments.org

August 2, 2016

.. Ribhu Gita from Shiva Rahasya ..

॥ श्रीशिवरहस्यान्तर्गता ऋभुगीता ॥

Document Information

Text title : RibhugItA shivarahasyAntargataM
File name : RGall.itx
Category : gItA
Location : doc_giitaa
Language : Sanskrit
Subject : religion
Transliterated by : Anil Sharma anilandvijaya at gmail.com
Proofread by : Sunder Hattangadi (sunderh at hotmail.com)
Description-comments : shivarahasyAntargatam
Latest update : February 24, 2013
Send corrections to : Sanskrit@cheerful.com
Site access : http://sanskritdocuments.org

August 2, 2016

sanskritdocuments.org

॥ श्रीशिवरहस्यान्तर्गता ऋभुगीता ॥

१ ॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

हेमाद्रिं किल मातुलुङ्गफलमित्यादाय मोदाधिको
मौढ्यान्नाकनिवासिनां भयपरैर्वाक्यैरिव प्रार्थितः ।
नीलीशाम्बरनीलमम्बरतलं जम्बूफलं भावयन्
तं मुञ्चन् गिरिमम्बरं परिमृशन् लम्बोदरः पातु माम् ॥ १.१॥

वामं यस्य वपुः समस्तजगतां माता पिता चेतरत्
यत्पादाम्बुजनूपुरोद्भवरवः शब्दार्थवाक्यास्पदम् ।
यन्नेत्रत्रितयं समस्तजगतामालोकहेतुः सदा
पायाद्दैवतसार्वभौमगिरिजालङ्कारमूर्तिः शिवः ॥ १.२॥

सूतः -
जैगीषव्यः पुनर्नत्वा षण्मुखं शिवसंभवम् ।
पप्रच्छ हृष्टस्तं तत्र मुनिभिर्गणपुङ्गवैः ॥ १.३॥

जैगीषव्यः -
करुणाकर सर्वज्ञ शरणागतपालक ।
अरुणाधिपनेत्राब्ज चरणस्मरणोन्मुख ॥ १.४॥

करुणावरुणाम्भोधे तरणिद्युतिभास्कर ।
दिव्यद्वादशलिङ्गानां महिमा संश्रुतो मया ॥ १.५॥

त्वत्तोऽन्यत् श्रोतुमिच्छामि शिवाख्यानमनुत्तमम् ।
त्वद्वाक्यकञ्जपीयूषधाराभिः पावयाशु माम् ॥ १.६॥

सूतः -
इति तस्य गिरा तुष्टः षण्मुखः प्राह तं मुनिम् ॥ १.७॥

श्रीषण्मुखः -
शृणु त्वमगजाकान्तेनोक्तं ज्ञानमहार्णवम् ।
ऋभवे यत्पुरा प्राह कैलासे शङ्करः स्वयम् ॥ १.८॥

ब्रह्मसूनुः पुरा विप्रो गत्वा नत्वा महेश्वरम् ।
ऋभुर्विभुं तदा शंभुं तुष्टाव प्रणतो मुदा ॥ १.९॥

ऋभुः -
दिवामणिनिशापतिस्फुटकृपीटयोनिस्फुर-
ल्ललाटभसितोल्लसद्वरत्रिपुण्ड्रभागोज्वलम् । var was त्रिपुण्ट्र
भजामि भुजगाङ्गदं विधृतसामिसोमप्रभा-

विराजितकपर्दकं करटिकृत्तिभूष्यत्कटिम् ॥ १.१०॥

फालाक्षाध्वरदक्षशिक्षकवलक्षोक्षेशवाहोत्तम-
त्र्यक्षाक्षय्य फलप्रदावभसितालङ्काररुद्राक्षधृक् ।
चक्षुःश्रोत्रवराङ्गहारसुमहावक्षःस्थलाध्यक्ष मां
भक्ष्यीभूतगरप्रभक्ष भगवन् भिक्ष्वर्च्यपादाम्बुज ॥ १.११॥

गङ्गाचन्द्रकलाललाम भगवन् भूभृत्कुमारीसख
स्वामिंस्ते पदपद्मभावमतुलं कष्टापहं देहि मे ।
तुष्टोऽहं शिपिविष्टहृष्टमनसा भ्रष्टान्न मन्ये हरि-
ब्रह्मेन्द्रानमरान् त्रिविष्टपगतान् निष्ठा हि मे तादृशी ॥ १.१२॥

नृत्ताडंबरसज्जटापटलिकाभ्राम्यन्महोडुच्छटा
त्रुट्यत्सोमकलाललामकलिका शम्याकमौलीनतम् ।
उग्रानुग्रभवोग्रदुर्गजगदुद्धाराग्रपादाम्बुजं
रक्षोवक्षकुठारभूतमुमया वीक्षे सुकामप्रदम् ॥ १.१३॥

फालं मे भसितत्रिपुण्ड्ररचितं त्वत्पादपद्मानतं ??
पाहीशान दयानिधान भगवन् फालानलाक्ष प्रभो ।
कण्ठो मे शितिकण्ठनाम भवतो रुद्राक्षधृक् पाहि मां
कर्णौ मे भुजगाधिपोरुसुमहाकर्ण प्रभो पाहि माम् ॥ १.१४॥

नित्यं शङ्करनामबोधितकथासारादरं शङ्करं
वाचं रुद्रजपादरां सुमहतीं पञ्चाक्षरीमिन्दुधृक् ।
बाहू मे शशिभूषणोत्तम महालिङ्गार्चनायोद्यतौ
पाहि प्रेमरसार्द्रयाऽद्य सुदृशा शम्भो हिरण्यप्रभ ॥ १.१५॥

भास्वद्बाहुचतुष्टयोज्ज्वल सदा नेत्रे त्रिनेत्रे प्रभो
त्वल्लिङ्गोत्तमदर्शनेन सुतरां तृप्तैः सदा पाहि मे ।
पादौ मे हरिनेत्रपूजितपदद्वन्द्वाव नित्यं प्रभो
त्वल्लिङ्गालयप्रक्रमप्रणतिभिर्मान्यौ च धन्यौ विभो ॥ १.१६॥

धन्यस्त्वल्लिङ्गसङ्गेप्यनुदिनगलितानङ्गसङ्गान्तरङ्गः
पुंसामर्थैकशक्त्या यमनियमवरैर्विश्ववन्द्य प्रभो यः ।
दत्वा बिल्वदलं सदम्बुजवरं किञ्चिज्जलं वा मुहुः
प्राप्नोतीश्वरपादपङ्कजमुमानाथाद्य मुक्तिप्रदम् ॥ १.१७॥

उमारमण शङ्कर त्रिदशवन्द्य वेदेड्य हृत्
त्वदीयपरभावतो मम सदैव निर्वाणकृत् ।
भवार्णवनिवासिनां किमु भवत्पदाम्भोरुह-

प्रभावभजनादरं भवति मानसं मुक्तिदम् ॥ १.१८॥

संसारार्गलपादबद्धजनतासंमोचनं भर्ग ते
पादद्वन्द्वमुमासनाथ भजतां संसारसंभर्जकम् ।
त्वन्नामोत्तमगर्जनादघकुलं सन्तर्जितं वै भवेद्
दुःखानां परिमार्जकं तवकृपावीक्षावतां जायते ॥ १.१९॥

विधिमुण्डकरोत्तमोरुमेरुकोदण्डखण्डितपुराण्डजवाहबाण
पाहि क्षमारथविकर्षसुवेदवाजिहेषान्तहर्षितपदाम्बुज विश्वनाथ ॥ १.२०॥

विभूतीनामन्तो न हि खलु भवानीरमण ते
भवे भावं कश्चित् त्वयि भवह भाग्येन लभते ।
अभावं चाज्ञानं भवति जननाद्यैश्च रहितः
उमाकान्त स्वान्ते भवदभयपादं कलयतः ॥ १.२१॥

वरं शंभो भावैर्भवभजनभावेन नितरां
भवाम्भोधिर्नित्यं भवति विततः पांसुबहुलः ।
विमुक्तिं भुक्तिं च श्रुतिकथितभस्माक्षवरधृक्
भवे भर्तुः सर्वो भवति च सदानन्दमधुरः ॥ १.२२॥

सोमसामजसुकृत्तिमौलिधृक् सामसीमशिरसि स्तुतपाद ।
सामिकायगिरिजेश्वर शम्भो पाहि मामखिलदुःखसमूहात् ॥ १.२३॥

भस्माङ्गराग भुजगाङ्ग महोक्षसङ्ग
गङ्गाम्बुसङ्ग सुजटा निटिल स्फुलिङ्ग ।
लिङ्गाङ्ग भङ्गितमनङ्ग विहङ्गवाह-
सम्पूज्यपाद सदसङ्ग जनान्तरङ्ग ॥ १.२४॥

वात्सल्यं मयि तादृशं तवनचेच्चन्द्रार्ध चूडामणे
धिक्कृत्यापि विमुच्य वा त्वयि यतो धन्यो धरण्यामहम् ।
सक्षारं लवणार्णवस्य सलिलं धारा धरेण क्षणात्
आदायोज्झितमाक्षितौ हि जगतां आस्वादनीयां दृशाम् ॥ १.२५॥

त्वत् कैलासवरे विशोकहृदयाः क्रोधोज्झिताश्चाण्डजाः
तस्मान्मामपि भेदबुद्धिरहितं कुर्वीश तेऽनुग्रहात् ।
त्वद्भक्तामल निर्जरोज्झित महासंसार संतापहं
विज्ञानं करुणाऽदिशाद्य भगवन् लोकावनाय प्रभो ॥ १.२६॥

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम् ।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति

भक्तास्त्वत्पादपद्मे किमु भजनवतः सर्वसिद्धिं लभन्ते ॥ १.२७॥

स्कन्दः -
इत्थं ऋभुस्तुतिमुमावरजानिरीशः
श्रुत्वा तमाह गणनाथवरो महेशः ।
ज्ञानं भवामयविनाशकरं तदेव
तस्मै तदेव कथये श्रृणु पाशमुक्त्यै ॥ १.२८॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शंकराख्ये षष्ठांशे
ऋभुस्तुतिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

२ ॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

ईश्वरः -
श्रुणु पद्मजसंभूत मत्तः सूत्रविधिक्रमम् ।
ज्ञानोत्पादकहेतूनि श्रुतिसाराणि तत्त्वतः ॥ २.१॥

व्यासा मन्वन्तरेषु प्रतियुगजनिताः शांभवज्ञानसिद्ध्यै
भस्माभ्यक्तसमस्तगात्रनिवहा रुद्राक्षमालाधराः ।
कैलासं समवाप्य शङ्करपदध्यानेन सूत्राण्युमा-
कान्तात् प्राप्य वितन्वते स्वकधिया प्रामाण्यवादानहो ॥ २.२॥

जिज्ञास्यं ब्रह्म एवेत्यथपदविदितैः साधनप्राप्त्युपायै-
र्योगैर्योगाद्युपायैर्यमनियममहासांख्यवेदान्तवाक्यैः ।
श्रोतव्यो भगवान् न रूपगुणतो मन्तव्य इत्याह हि
वेदोद्बोधदवाक्यहेतुकरणैर्ध्येयः स साक्षात्कृतेः ॥ २.३॥

जन्माद्यस्य यतोऽस्य चित्रजगतो मिथ्यैव तत्कारणं
ब्रह्म ब्रह्मात्मनैव प्रकृतिपरमदो वर्तमानं विवर्तेत् ।
श्रुत्या युक्त्या यतो वा इतिपदघटितो बोधतो वक्ति शंभुं
नाणुः कालविपाककर्मजनितेत्याचोदना वै मृषा ॥ २.४॥

योनिः शास्त्रस्य वेदस्तदुभयमननाद्ब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञा
निःश्वासाद्वेदजालं शिववरवदनाद्वेधसा प्राप्तमेतत् ।
तस्मात् तर्कवितर्ककर्कशधिया नातिक्रमेत् तां धियं
स्वाम्नायक्रियया तदप्रकरणे योनिर्महेशो ध्रुवम् ॥ २.५॥

तत्त्वस्यापि समन्वयात् श्रुतिगिरां विश्वेश्वरे चोदना
सा चानिर्वचनीयतामुपगता वाचो निवृत्ता इति ।
आत्मैवैष इतीव वाक्यसुवृतिर्वृत्तिं विधत्ते धिया

वेदान्तादिषु एक एव भगवानुक्तो महेशो ध्रुवम् ॥ २.६॥

नासद्वा वीक्षते यज्जडमिति करणैर्गन्धरूपादिहीनं
शब्दस्पर्शादिहीनं जगदनुगतमपि तद्ब्रह्म किंरूपमीष्टे ।
गौणं चेदपि शब्दतो जगदिदं यन्नामरूपात्मकं
तच्चात्राविशदीश्वरोऽर्थवचसा मोक्षस्य निष्ठाक्रमः ॥ २.७॥

हेयत्वावचनाच्च तच्छ्रुतिगिरां स्थूलं प्रदृष्टं भवे-
द्रूपं नारूपतोऽपि प्रकरणवचनं वा विकारः किलेदम् ।
स्वाप्यायादपि तद्वदापि परमानन्दो यदीत्थं परः
सामान्याच्च गतेरथाप्यनुभवे विद्योतते शङ्करः ॥ २.८॥

श्रुतत्वाद्वेदान्तप्रतिपदवचः कारणमुमा-
सनाथो नाथानां स च किल न कश्चिज्जनिभवः ।
स एवानन्दात्मा श्रुतिकथितकोशादिरहितो
विकारप्राचुर्यान्न हि भवति कार्यं च करणम् ॥ २.९॥

तद्धेतुव्यपदेशतोऽपि शिव एवेति चानन्दकृत्
मन्त्रैर्वर्णकृतक्रमेण भगवान् सत्याद्यनन्तोच्यते ।
नैरन्तर्यानुपपत्तितोऽपि सुखिता चानन्दभेदोऽर्थतः
कामाच्चाननुभावतो हृदि भिदा जायेद्भयं संसृतेः ॥ २.१०॥

पुच्छं ब्रह्म प्रतिष्ठितेति वचनाच्छेषी महेशोऽव्ययः ।
आकाशान्तरतोऽपि भौतिकहृदाकाशात्मता वाक्यतो
ब्रह्मैव प्रतिभाति भेदकलने चाकल्पना कल्पतः ॥ २.११॥

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्वा न हि खलु न भेदः परशिवे
अतोत्थानं द्वैते न भवति परे वै विलयने ।
तदर्हं यत्सूक्ष्मं जगदिदमनाकारमरसं
न गन्धं न स्पर्शं भवति परमेशे विलसितम् ॥ २.१२॥

अधीनं चार्थं तद्भवति पुनरेवेक्षणपरं
स्वतन्त्रेच्छा शंभोर्न खलु करणं कार्यमपि न ॥ २.१३॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च शङ्कर परानन्दे प्रमोदास्पदे
प्रज्ञानं न हि कारणं प्रकृतिकं प्रश्नत्रयस्यार्थवत् ।
न विज्ञेयं देहप्रविलयशतोत्थानगणना
स मृत्योर्मृत्युस्तद्भवति किल भेदेन जगतः ॥ २.१४॥

महद्वच्चाणीयो भवति च समो लोकसदृशा
तथा ज्योतिस्त्वेकं प्रकरणपरं कल्पितवतः ।

न संख्याभेदेन त्रिभुवनविभवादतिकरं
स्वभावोऽयं शश्वन्मुखरयति मोदाय जगताम् ॥ २.१५॥

प्राणादुद्गतपञ्चसंख्यजनिता तद्वत्त्रिवच्च श्रुतं
तच्छ्रोत्रं मनसो न सिद्धपरमानन्दैकजन्यं महः ।
ज्योतिष्कारणदर्शिते च करणे सत्ता सदित्यन्वहं
चाकर्षा भवति प्रकर्षजनिते त्वत्तीति वाक्योत्तरम् ॥ २.१६॥

जाग्रत्त्वावचनेन जीवजगतोर्भेदः कथं कथ्यते
लिङ्गं प्राणगतं न चेश्वरपरं ज्योतिः किलैक्यप्रदम् ।
अन्यार्थत्वविवेकतोऽर्थगतिकं चाकल्पयद्वाक्यतः ।
प्रज्ञामित्यपरः क्रमस्थितिरसावन्यो वदन्तं मृषा ॥ २.१७॥

प्रकृत्यैवं सिद्धं भवति परमानन्दविधुरं
अभिध्योपादेशाद् भवति उभयाम्नायवचनैः ।
भवत्यात्मा कर्ता कृतिविरहितो योनिरपि च
प्रतिष्ठा निष्ठा च त्रिभुवनगुरुः प्रेमसदनः ॥ २.१८॥

अभिध्योपादेशात् स बहु भवदीक्षादिवशतः
समासाचोभाभ्यां प्रकृतिजसमाम्नायवचनात् ।
अतो ह्यात्मा शुद्धः प्रकृतिपरिणामेन जगतां
मृदीव व्यापारो भवति परिणामेषु च शिवः ॥ २.१९॥

आनन्दाभ्यासयोगाद्विकृतजगदानन्दजगतो
अतो हेतोर्धर्मो न भवति शिवः कारणपरः ।
हिरण्यात्माऽऽदित्येऽक्षिणि उदेतीह भगवान्
नतेश्चाधाराणां श्रवणवचनैर्गोपितधियः ॥ २.२०॥

भेदादिव्यपदेशतोऽस्ति भगवानन्यो भवेत् किं ततः
आकाशादिशरीरलिङ्गनियमाद्याप्यं हि सर्वं ततः ।
तज्ज्योतिः परमं महेश्वरमुमाकान्ताख्यशान्तं महो
वेदान्तेषु नितान्तवाक्यकलने छन्दोऽभिधानादपि ॥ २.२१॥

भूतादिव्यपदेशतोऽपि भगवत्यस्मिन् महेशे ध्रुवं
यस्माद्भूतवराणि जायत इति श्रुत्याऽस्य लेशांशतः ।
विश्वं विश्वपतेरभूत् तदुभयं प्रामाण्यतो दर्शनात्
प्राणस्यानुगमात् स एव भगवान् नान्यः पथा विद्यते ॥ २.२२॥

न वक्तुश्चात्मा वै स खलु शिवभूमादिविहितः
तथैवायुर्देहे अरणिवहवत् चक्रगमहो ।
अदृश्यो ह्यात्मा वै स हि सुदृशतः शास्त्रनिवहैः

शिवो देवो वामो मुनिरपि च सार्वात्म्यमभजत् ॥ २.२३॥

प्रसिद्धिः सर्वत्र श्रुतिषु विधिवाक्यैर्भगवतो
महाभूतैर्जातं जगदिति च तज्जादिवचनैः ।
अतोऽणीयान् ज्यायानपि द्विविधभेदव्यपगता
विवक्षा नोऽस्तीति प्रथयति गुणैरेव हि शिवः ॥ २.२४॥

संभोगप्राप्तिरेव प्रकटजगतः कारणतया
सदा व्योमैवेत्थं भवति हृदये सर्वजगताम् ।
अतोऽत्ता वै शर्वश्चरमचरभूतं जगदिदं
महामृत्युर्देशो भवति शिखरन्नाद इति च ॥ २.२५॥

प्रकरणवचनेन वेदजाते
भगवति भवनाशने महेशे ।
प्रविशति शिव एव भोगभोक्तृ-
नियमनदर्शनतो हि वाक्यजातम् ॥ २.२६॥

विशेषणैः शङ्करमेव नित्यं
द्विधा वदत्येवमुपाधियोगात् ।
अतोऽन्तरा वाक्यपदैः समर्थितः
स्थानादियोगैर्भगवानुमापतिः ॥ २.२७॥

सुखाभिधानात् सुखमेव शंभुः
कं ब्रह्म खं ब्रह्म इति श्रुतीरितः ।
श्रुतोपवाक्योपनिषत्प्रचोदितः
गतिं प्रपद्येत बुधोऽपि विद्यया ॥ २.२८॥

अनवस्थितितोऽपि नेतरो भगवानेव स चक्षुषि प्रबुध्येत् ।
भयभीताः खलु यस्य सोमसूर्यानलवाय्वंबुजसंभवा भ्रमन्ति ॥ २.२९॥

अन्तर्यामितयैव लोकमखिलं जानात्युमायाः पतिः ।
भूतेष्वन्तरगोऽपि भूतनिवहा नो जानते शङ्करम् ॥ २.३०॥

न तत्स्मृत्या धर्मैरभिलषणतो भेदविधुरं
न शारीरं भेदे भवति अगजानायकवरे ।
अदृश्यत्वाद्धर्मैर्न खलु भगवानन्यदिति च
परादादित्यं चामतिरपि च भेदप्रकलने ॥ २.३१॥

भेदादेश्च विशेषणं परशिवे रूपं न नाम प्रभा ।
भावो वा भवति प्रभाविरहितं ब्रह्मात्मना चाह तत् ॥ २.३२॥

स्मृतं मानं शंभौ भगवति च तत्साधनतया-

प्यतो दैवं भूतं न भवति च साक्षात् परशिवे ।
अभिव्यक्ती चान्यः स्मृतिमपि तथाऽन्योऽपि मनुते
तथा सम्पत्तिर्वै भुवि भवति किं शंभुकलने ॥ २.३३॥

यं मुक्तिव्यपदेशतः श्रुतिशिखाशाखाशतैः कल्पिते
भिद्येद्ग्रन्थिरपि प्रकीर्णवचनात् साक्ष्येव बाह्यान्तरा ।
शब्दो ब्रह्मतयैव न प्रभवते प्राणप्रभेदेन च
तच्चाप्युत्क्रमणस्थितिश्च विलये भुंक्त्येऽप्यसौ शङ्करः ॥ २.३४॥

तं भूमा सम्प्रसादाच्छिवमजरमात्मानमधुना
श‍ृणोतीक्षेद्वापि क्षणमपि तथान्यं न मनुते ।
तथा धर्मापत्तिर्भवति परमाकाशजनितं
प्रशस्तं व्यावृत्तं दहरमपि दध्याद्यपदिशत् ॥ २.३५॥

अलिङ्गं लिङ्गस्थं वदति विधिवाक्यैः श्रुतिरियं
धृतेराकाशाख्यं महिमनि प्रसिद्धेर्विमृशता ।
अतो मर्शान्नायं भवति भवभावात्मकतया
शिवाविर्भावो वा भवति च निरूपे गतधियाम् ॥ २.३६॥

परामर्शे चान्यद्भवति दहरं किं श्रुतिवचो
निरुक्तं चाल्पं यत् त्वनुकृति तदीयेऽह्नि महसा ।
विभातीदं शश्वत् प्रमतिवरशब्दैः श्रुतिभवैः ॥ २.३७॥

यो व्यापकोऽपि भगवान् पुरुषोऽन्तरात्मा ।
वालाग्रमात्रहृदये किमु सन्निविष्टः ॥ २.३८॥

प्रत्यक्षानुभवप्रमाणपरमं वाक्यं किलैकार्थदं
मानेनापि च संभवाभ्रमपरो वर्णं तथैवाह हि ।
शब्दं चापि तथैव नित्यमपि तत् साम्यानुपत्तिक्रिया
मध्वादिष्वनधीकृतोऽपि पुरुषो ज्योतिष्यभावो भवेत् ॥ २.३९॥

भावं चापि शुगस्य तच्छ्रवणतो जात्यन्तरासंभवात्
संस्काराधिकृतोऽपि शङ्करपदं ये वक्तुकामा मनाक् ।
ज्योतिर्दर्शनतः प्रसादपरमादस्माच्छरीरात् परं
ज्योतिश्चाभिनिविश्य व्योम परमानन्दं परं विन्दति ॥ २.४०॥

स्मृतीनां वादोऽत्र श्रुतिविभवदोषान्यवचसा
स एवात्मा दोषैर्विगतमतिकायः परशिवः ।
स विश्वं विश्वात्मा भवति स हि विश्वाधिकतया
समस्तेषु प्रोतो भवति स हि कार्येषु करणम् ॥ २.४१॥

प्रधानानां तेषां भवति इतरेषामनुपमो-
प्यलब्धोऽप्यात्मायं श्रुतिशिरसि चोक्तोऽणुरहितः ।
स दृश्योऽचिन्त्यात्मा भवति वरकार्येषु करणं
असद्वा सद्वा सोऽप्यसदिति न दृष्टान्तवशगम् ॥ २.४२॥

असङ्गो लक्षण्यः स भवति हि पञ्चस्वपि मुधा
अभीमानोद्देशादनुगतिरथाक्षादिरहितः ।
स्वपक्षादौ दोषाश्रुतिरपि न ईष्टे परमतं
त्वनिर्मोक्षो भूयादनुमितिकुतर्कैर्न हि भवेत् ॥ २.४३॥

भोक्रापत्तेरपि विषयतो लोकवेदार्थवादो
नैनं शास्ति प्रभुमतिपरं वाचि वारंभणेभ्यः ।
भोक्ता भोगविलक्षणो हि भगवान् भावोऽपि लब्धो भवेत्
सत्त्वाच्चापि परस्य कार्यविवशं सद्वाक्यवादान्वयात् ॥ २.४४॥

युक्तेः शब्दान्तराच्चासदिति न हि कार्यं च करणं
प्रमाणैर्युक्त्या वा न भवति विशेषेण मनसा ।
परः प्राणोद्देशाद्धितकरणदोषाभिधधिया
तथाश्माद्या दिव्या ??? द्योतन्ति देवा दिवि ॥ २.४५॥

प्रसक्तिर्वा कृत्स्ना श्रुतिवरबलादात्मनि चिरं
स्वपक्षे दोषाणां प्रभवति च सर्वादिसुदृशा ।
विकाराणां भेदो न भवति वियोज्यो गुणधियां
अतो लोके लीलापरविषमनैर्घृण्यविधुरम् ॥ २.४६॥

स कर्मारंभाद्वा उपलभति यद्येति च परं
सर्वैर्धर्मपदैरयुक्तवचनापत्तेः प्रवृत्तेर्भवेत् ।
भूतानां गतिशोपयुज्यपयसि क्षारं यथा नोपयुक्
अवस्थानं नैव प्रभवति तृणेषूद्यतमते-
स्तथाभावात् पुंसि प्रकटयति कार्यं च करणम् ॥ २.४७॥

अङ्गित्वानुपपत्तितोऽप्यनुमितो शक्तिज्ञहीनं जगत्
प्रतिषिद्धे सिद्धे प्रसभमिति मौनं हि शरणम् ।
महद्दीर्घं ह्रस्वं उभयमपि कर्मैव करणे
तथा साम्ये स्थित्या प्रभवति स्वभावाच्च नियतम् ॥ २.४८॥

न स्थानतोऽपि श्रुतिलिङ्गसमन्वयेन
प्रकाशवैयर्थ्यमतो हि मात्रा ।
सूर्योपमा प्रमवतित्वतथा उदत्वा-
त्तद्दर्शनाच्च नियतं प्रतिबिम्बरूपम् ॥ २.४९॥

तदव्यक्तं न ततो लिङ्गमेतत्
तथोभयव्यपदेशाच्च तेजः ।
प्रतिषेधाच्च परमः सेतुरीशः
सामान्यतः स्थानविशेषबुद्ध्या ॥ २.५०॥

विशेषतश्चोपपत्तेस्तथान्यदतः फलं चोपपद्येत यस्मात् ।
महेश्वराच्छ्रुतिभिश्चोदितं यत् धर्मं परे चेश्वरं चेति चान्ये ।
न कर्मवच्चेश्वरे भेदधीर्नः ॥ २.५१॥

भेदान्न चेति परतः परमार्थदृष्ट्या
स्वाध्यायभेदादुपसंहारभेदः ।
अथान्यथात्वं वचसोऽसौ वरीयान्
संज्ञातश्चेद्व्याप्तिरेव प्रमाणम् ॥ २.५२॥

सर्वत्राभेदादनयोस्तथान्यत्
प्राधान्यमानन्दमयः शिरस्त्वम् ।
तथेतरे त्वर्थसामान्ययोगात्
प्रयोजनाभावतयाऽप्ययाय ते ॥ २.५३॥

शब्दात्तथा ह्यात्मगृहीतिरुत्तरात्
तथान्वयादितराख्यानपूर्वम् ।
अशब्दत्वादेवमेतत् समान-
मेवं च संविद्वचनाविशेषात् ॥ २.५४॥

तद्दर्शनात् संभृतं चैवमेषोऽनाम्नायाद्वेद्यभेदात् परेति ।
गतेरर्थादुपपन्नार्थलोके शब्दानुमानैः सगुणोऽव्ययात्मा ॥ २.५५॥

यथाधिकारं स्थितिरेव चान्तरा
तत्रैव भेदाद्विशिषन्हीतरवत् ।
अन्यत्तथा सत्यकृत्या तथैके
कामादिरत्रायतनेषु चादरात् ॥ २.५६॥

उपस्थिते तद्वचनात् तथाग्नेः
संलोप एवाग्निभवः प्रदाने ।
अतोऽन्यचिन्तार्थभेदलिङ्गं बलीयः
क्रिया परं चासमानाच्च दृष्टेः ॥ २.५७॥

श्रुतेर्बलादनुबन्धेमखे वै
भावापत्तिश्चात्मनश्चैक एव ।
तद्भावभावदुपलब्धिरीशे
सद्भावभावादनुभावतश्च ॥ २.५८॥

अङ्गावबद्धा हि तथैव मन्त्रतो
भूम्नः क्रतोर्जायते दर्शनेन ॥ २.५९॥

रूपादेश्च विपर्ययेण तु दृशा दोषोभयत्राप्ययं
अग्राह्याः सकलानपेक्ष्यकरणं प्राधान्यवादेन हि ।
तत्प्राप्तिः समुदायकेऽपि इतरे प्रत्यायिकेनापि यत्
विद्याऽविद्या असति बलतो धुर्यमार्याभिशंसी ॥ २.६०॥

दोषोभयोरपि तदा स्वगमोऽभ्युपेया ।
स्मृत्या सतो दृशि उदासीनवद्व्रजेत ॥ २.६१॥

नाभावादुपलब्धितोऽपि भगवद्वैधर्म्यस्वन्यादिवत्
भावेनाप्युपलब्धिरीशितुरहो सा वै क्षणं कल्प्यते ।
सर्वार्थानुपपत्तितोऽपि भगवत्येकाद्वितीये पुनः ।
कार्त्स्न्येनात्मनि नो विकारकलनं नित्यं पतेर्धर्मतः ॥ २.६२॥

संबन्धानुअपपत्तितोऽपि समधिष्ठानोपपत्तेरपि
तच्चैवाकरणं च भोगविधुरं त्वं तत्त्वसर्वज्ञता ।
उत्पत्तेरपि कर्तुरेव कारणतया विज्ञानभावो यदि
??? निषेधप्रतिपत्तितोऽपि मरुतश्चाकाशतः प्राणतः ॥ २.६३॥

अस्तित्वं तदपीति गौणपरता वाक्येषु भिन्ना क्रिया
कार्यद्रव्यसमन्वयायकरणं शब्दाच्च ब्रह्मैव तत् ।
शब्देभ्योऽप्यमतं श्रुतं भवति तद् ज्ञानं परं शांभवं
यावल्लोकविभागकल्पनवशात् भूतक्रमात् सर्जति ॥ २.६४॥

तस्यासंभवतो भवेज्जगदिदं तेजःप्रसूतं श्रुतिः
चापः क्ष्मा मरुदेव खात्मकथयन्तल्लिङ्गसंज्ञानतः ॥ २.६५॥

विपर्ययेण क्रमतोऽन्तरा हि विज्ञानमानक्रमतो विशेषात् ।
न चात्मनः कारणताविपर्यश्चराचरव्यापकतो हि भावैः ॥ २.६६॥

नात्मा श्रुतो नित्यताशक्तियोगान्नानेव भासत्यविकल्पको हि ।
संज्ञान एवात्र गतागतानां स्वात्मानं चोत्तरणेनाणुरेव ॥ २.६७॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां सुखयति सदानन्दनतनुं
विरोधश्चान्द्रोपद्रव इव सदात्मा निखिलगः ।
गुणादालोकेषु व्यतिकरवतो गन्धवहतः
परो दृष्टो ह्यात्मा व्यपदिशति प्रज्ञानुभवतः ॥ २.६८॥

यावच्चात्मा नैवा दृश्येत दोषैः
पुंस्त्वादिवत्त्वसतो व्यक्तियोगात् ।

मनोऽन्यत्रायदि कार्येषु गौणं विमुखः
कर्ता शाश्वतो विहरति उपादानवशतः ॥ २.६९॥

अस्यात्मव्यपदेशतः श्रुतिरियं कर्तृत्ववादं वदत्
उपालब्धुं शक्तेर्विपरति समाध्या क्षुभितया ।
परात्तत्तु श्रुत्याप्यनुकृति सुरत्वक्षुभितया
परो मन्त्रो वर्णैर्भगवति अनुज्ञापरिहरौ ।
तनोः संबन्धेन प्रविशति परं ज्योतिकलने ॥ २.७०॥

आसन्नतेव्यतिकरं पररूपभेदे
आभास एव सुदृशा नियतो नियम्यात् ।
आकाशवत् सर्वगतोऽव्ययात्मा
आसन्धिभेदात् प्रतिदेशभावात् ॥ २.७१॥

तथा प्राणो गौणः प्रकृतिविधिपूर्वार्थकलना-
दघस्तोये सृत्यः प्रथितगतिशेषेण कथितः ।
हस्तादयस्त्वणवः प्राणवायोः
चक्षुस्तथा करणत्वान्न दोषः ॥ २.७२॥

यः पञ्चवृत्तिर्मनवच्च दृश्यते तथाणुतो ज्योतिरसुश्च खानि ।
भेदश्रुतेर्लक्षणविप्रयोगादात्मादिभेदे तु विशेष वादः ॥ २.७३॥

आत्मैकत्वात् प्राणगतेश्च वह्नेः ते जागतीवाश्रुतत्त्वान्न चेष्टा ।
भोक्तुर्न चात्मन्यविदीकृता ये ते धूममार्गेण किल प्रयान्ति ॥ २.७४॥

चरणादिति चान्यकल्पनां स्मरन्ति सप्तैव गतिप्ररोहात् ।
व्यापारवैधुर्यसमूहविद्या ते कर्मणैवेह तृतीयलब्धाम् ॥ २.७५॥

तद्दर्शनं तद्वदतोऽप्यविद्या सव्योपपत्तेरुत दौविशेषात् ।
चिरन्तपः शुद्धिरतो विशेषात् ते स्थावरे चाविशेषार्थवादः ॥ २.७६॥

सन्ध्यांशसृष्ट्या किल निर्ममे जगत् पुत्रेषु मायामयतोऽव्ययात्मा ।
कृत्स्नं मायामयं तज्जगदिदमसतो नामरूपं तु जातम् ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितोऽपि परमानन्दं तिरोधानकृत् ॥ २.७७॥

देहयोगात् ह्रसते वर्धते यः
तत्रैवान्यत् पश्यते सोऽथ बोधात् ।
स शोशुचानस्मृतिशब्दबोधः ॥ २.७८॥

नानाशब्दादिभेदात् फलविविधमहाकर्मवैचित्र्ययोगात्
ईष्टे तां गुणधारणां श्रुतिहितां तद्दर्शनोद्बोधतः ।
तद्दर्शनात् सिद्धित एव सिध्यते आचारयोगाद्दततच्छ्रुतेश्च ॥ २.७९॥

वाचा समारंभणतो नियामतः
तस्याधिकाप्रात्वकस्योपदेशात् ।
तुल्यं दृशा सर्वतः स्याद्विभागः
अध्यापयात्रान्नविशेषतस्तु ते ॥ २.८०॥

कामोपमर्देन तदूर्ध्वरेतसा
विमर्शतो याति स्वतत्त्वतोऽन्यः ।
अनुष्ठेयं चान्यत् श्रुतिशिरसि निष्ठाभ्रमवशात् ।
विधिस्तुत्या भावं प्रवदति
रथाग्नेराधानमनुवदति ज्ञानाङ्गमपि च ॥ २.८१॥

प्राणात्यये वापि समं तथान्नं
अबाधतः स्मृतितः कामकारे ।
विहिताश्रमकर्मतः सहैव कार्यात्
तथोभयोर्लिङ्गभङ्गं च दर्शयेत् ॥ २.८२॥

तथान्तरा चापि स्मृतेर्विशेषतः
ज्यायोऽपि लिङ्गाभयभावनाधिका ।
सैवाधिकारादर्शनात् तदुक्तं
आचारतः स्वामिन ईज्यवृत्त्या ॥ २.८३॥

स्मृते ऋत्विक्सहकार्यं च कृत्स्नम् ।
तन्मौनवाचा वचनेन कुर्वन् ।
तदैहिकं तदवस्थाधृतेश्च ॥ २.८४॥

आवृत्त्याप्यसकृत्तथोपदिशति ह्यात्मन्नुपागच्छति
ग्राहं याति च शास्त्रतो प्रतीककलनात् सा ब्रह्मदृष्टिः प्रभोः ।
आदित्यादिकृतीषु तथा सतीरपि कर्माङ्गताध्यानतः
तस्माच्चास्थिरतां स्मरन्ति च पुनर्यत्रैव तत्र श्रुता ॥ २.८५॥

आप्रायणात् तत्र दृष्टं हि यत्र तत्रागमात् पूर्वयोऽश्लेषनाशौ ।
तथेतरस्यापि पतेदसंसृतौ अनारब्धाग्निहोत्रादिकार्ये ॥ २.८६॥

अतोऽन्येषामुभयोर्यत्र योगात्
विद्याभोगेन वाङ्मनसी दर्शनाच्च ।
सर्वाण्यनुमनसा प्राण एव
सोऽध्यक्षेत उपदर्शेन कच्चित् ॥ २.८७॥

समानवृत्त्या क्रमते चासु वृत्त्या
संसारतो व्यपदेशोपपत्तेः ।
सूक्ष्मप्रमाणोपमर्दोपलब्ध्यस्थितिश्च

तथोपपत्तेरेष ऊष्मा रसैके ॥ २.८८॥

अत्र स्मर्यनानुपरताविधिवाक्यसिद्धे-
वैयासकिर्मुनिरेषोव्ययात्मा ।
अविभागो वचनाद्धार्द एव
रश्म्यनुसारी निशितो दक्षिणायने ।
योगिनः प्रतिसृतैस्तथार्चिरात्
वायुमद्धटितो वरुणेन ॥ २.८९॥

अतिवाहिकविधेस्तदलिङ्गात् तद्वदत्र उभयोरपि सिद्धिः ।
तद्वैतेन गतिरप्युपावृतो विशेषसामीप्यसकार्यहेतौ ॥ २.९०॥

स्मृतिस्तथाऽन्योऽपि च दर्शनेन काये तथा प्रतिपत्तिप्रतीकः ।
विशेषदृष्ट्या सम्पदाविर्भवेन स्वेनांशत्वान्मुक्तिविज्ञानतो हि ॥ २.९१॥

आत्मप्रकाशादविभागेन दृष्टः तद्ब्रह्मणोऽन्यद्युतितन्मात्रतोऽन्यः ।
उपन्यासादन्यसंकल्पभूत्या रथवान्योऽप्युथाह ॥ २.९२॥

भावमन्यो उभयं न स्वभावा
भावे सम्पत्तिरेवं जगत् स्यात् ।
प्रत्यक्षेणोपदेशात् स्थितिरपि
जगतो व्यक्तिभावादुपासा
भेदाभासस्थितिरविकारावर्तिरिति च ॥ २.९३॥

तथा दृष्टेर्द्रष्टुर्विपरीतदृष्टेः श्रुतिवशात्
तथा बुद्धेर्बोद्धा भवति अनुमानेन हि बुधः ।
भोगे सामान्यलिङ्गात् शिवभजनभवे मान्यमनसा
अनावृत्तिः शब्दो भवति विधिवाक्येन नियतम् ॥ २.९४॥

तवोक्तः सूत्राणां विधिरपि च सामान्यमुभय-
प्रकृष्ट श्रुत्यैव प्रभवति महानन्दसदने ॥ २.९५॥

स्कन्दः -
त्रिनेत्रवक्त्रसुचरित्ररूपं मन्त्रार्थवादाम्बुजमित्ररूपाः ।
प्रहृष्टरूपा मुनयो वितेनिरे मतानुसारीण्यथ सूत्रितानि ॥ २.९६॥

न तानि बुद्ध्युद्भवबोधदानि विश्वेशपादाम्बुजभक्तिदानि ॥ २.९७॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे शिवेन
ऋभुं प्रति सूत्रोपदेशो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

३ ॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

सूतः -
ततो महेशात् संश्रुत्य सूत्राणि ऋभुरेव हि ।
कैलासेशं महादेवं तुष्टाव विनयाञ्जलिः ॥ ३.१॥

लब्धज्ञानो महादेवान् मुनिभ्योऽकथयच्च तत् ।
तत् स्तुतिं च शृणुष्वेति जगाद गिरिजासुतः ॥ ३.२॥

जैगीषव्यं महात्मानं जितषड्वर्गमुत्तमम् ।

स्कन्दः -
संस्तुत्य सांबमीशानमृभुर्ज्ञानमविन्दत ।
शांभवः स महायोगी तुष्टावाष्टतनुं हरम् ॥ ३.३॥

ऋभुः -
गन्धद्विपवरवृन्दत्वचिरुचिबन्धोद्यतपट
गन्धप्रमुख मदान्धव्रजदलि हरिमुखनखरोद्यत्
स्कन्धोद्यन्मुख बन्धक्षुरनिभ निर्यद्रसदसृभिन्दन्नगधर
विन्ध्यप्रभशिव मेध्यप्रभुवर ।
मेध्योत्तमशिव भेद्याखिलजगदुद्यद्भवगत
वेद्यागमशिव गद्यस्तुतपद पद्यप्रकटहृ -
दुद्यद्भवगद वैद्योत्तम पाहि शम्भो ॥ ३.४॥

चण्डद्विपकर काण्डप्रभभुज दण्डोद्यतनग
खण्डत्रिपुर महाण्डस्फुटदुडुपशिखण्ड ।
द्युतिवर गण्डद्वय कोदण्डान्तक दण्डितपाद पाहि शंभो ॥ ३.५॥

किञ्चिज्जललव सिञ्चद्द्विजकुल मुञ्चद्वृजिन
कुलुंचद्विजपति चञ्चच्छविजट कुञ्चत्पदनख
मुञ्चन्नतवर करुणा पाहि शंभो ॥ ३.६॥

देव शङ्कर हरमहेश्वर पापतस्कर अमरमयस्कर ।
शिवदशंकर पुरमहेश्वर भवहरेश्वर पाहि शंभो ॥ ३.७॥

अङ्गजभङ्ग तुरङ्गरथाङ्ग जलधिनिषङ्ग
धृतभुजङ्गाङ्ग दृशि सुपतङ्ग
करसुकुरङ्ग जटधृतगङ्ग
यमिहृदिसङ्ग भजशिवलिङ्ग भवभयभङ्ग ॥ ३.८॥

शंबरकरशर दम्बरवरचर डंबरघोषण दुंबरफलजग
निकुरुंबभरहर बिंबितहृदिचिर लंबितपदयुग
लंबोदरजनकान्तकहर शिव बिन्दुवरासन

बिन्दुगहन शरदिन्दुवदनवर कुन्दधवल गणवृन्दविनत
भवभयहर परवर करुणाकर फणिवरभूषण
स्मर हर गरधर परिपाहि ॥ ३.९॥

रासभवृषभेभ शरभाननगणगुणनन्दित-
त्रिगुणपथातिग शरवणभवनुत तरणिस्थित वरुणालय
कृतपारण मुनिशरणायित पदपद्मारुण पिङ्गजटाधर
कुरु करुणां शङ्कर शं कुरु मे ॥ ३.१०॥

जम्भप्रहरण कुम्भोद्भवनुत कुम्भप्रमथ निशुम्भद्युतिहर
भिन्दद्रणगण डिम्भायितसुर तारकहरसुत
कुंभ्युद्यतपद विन्ध्यस्थितदितिमान्ध्यप्रहर मदान्धद्विपवर
कृत्तिप्रवर सुधान्धोनुतपद बुध्यागमशिव
मेध्यातिथिवरद ममावन्ध्यं कुरु दिवसं
तव पूजनतः परिपाहि शंभो ॥ ३.११॥

कुन्दसदृश मकरन्दनिभसुरवृन्दविनुत कुरुविन्दमणिगण
वृन्दनिभाङ्घ्रिजमन्दर वसदिन्दुमकुट शरदंबुजकृश
गरनिन्दनगल सुन्दरगिरितनयाकृति
देहवराङ्गबिन्दुकलित शिवलिङ्गगहन सुतसिन्दुरवरमुख
बन्धुरवरसिन्धुनदीतट लिङ्गनिवहवरदिग्वस पाहि शंभो ॥ ३.१२॥

पन्नगाभरण मारमारण विभूतिभूषण शैलजारमण ।
आपदुद्धरण यामिनीरमणशेखर सुखद पाहि शंभो ॥ ३.१३॥

दक्षाध्वरवरशिक्ष प्रभुवर त्र्यक्ष प्रबलमहोक्षस्थित
सितवक्षस्स्थलकुलचक्षुःश्रवस वराक्षस्रज हर ।
वीक्षानिहताधोक्षजात्मज वरकक्षाश्रय पुरपक्षविदारण
लीक्षायितसुर भिक्षाशन हर पद्माक्षार्चनतुष्ट
भगाक्षिहराव्यय शङ्कर मोक्षप्रद परिपाहि महेश्वर ॥ ३.१४॥

अक्षयफलद शुभाक्ष हराक्षततक्षककर
गरभक्ष परिस्फुरदक्ष क्षितिरथ सुरपक्षाव्यय ।
पुरहर भव हर हरिशर शिव शिव
शङ्कर कुरु कुरु करुणां शशिमौले ॥ ३.१५॥

भजाम्यगसुताधवं पशुपतिं महोक्षध्वजं
वलक्षभसितोज्ज्वलं प्रकटदक्षदाहाक्षिकम् ।
भगाक्षिहरणं शिवं प्रमथितोरुदक्षाध्वरं
प्रपक्षसुरतामुनिप्रमथशिक्षिताधोक्षजम् ॥ ३.१६॥

श्रीनाथाक्षिसरोजराजितपदांभोजैकपूजोत्सवै-
र्नित्यं मानसमेतदस्तु भगवन् सद्राजमौले हर ।
भूषाभूतभुजङ्गसङ्गत महाभस्माङ्गनेत्रोज्वल-
ज्वालादग्धमनङ्गपतङ्गदृगुमाकान्ताव गङ्गाधर ॥ ३.१७॥

स्वात्मानन्दपरायणांबुजभवस्तुत्याऽधुना पाहि माम्
MISSING .
गिरिजामुखसख षण्मुख पञ्चमुखोद्यतदुर्मुखमुख-
हर आखुवहोन्मुख लेखगणोन्मुख शङ्कर खगगमपरिपूज्य ॥ ३.१८॥

कोटिजन्मविप्रकर्मशुद्धचित्तवर्त्मनां
श्रौतसिद्धशुद्धभस्मदग्धसर्ववर्ष्मणाम् ।
रुद्रभुक्तमेध्यभुक्तिदग्धसर्वपाप्मनां
रुद्रसूक्ति उक्तिभक्तिभुक्तिमुक्तिदायिकाम् ।
पुरहर इष्टतुष्टिमुक्तिलास्यवासना
भक्तिभासकैलासमीश आशु लभ्यते ॥ ३.१९॥

स्कन्दः -
तत्स्तुत्या तोषितः शंभुस्तमाह ऋभुमीश्वरः ।
प्रसन्नः करुणाम्भोधिरम्भोजसुतमोदनः ॥ ३.२०॥

ईश्वरः -
वेदान्तपाठपठनेन हठादियोगैः
श्रीनीलकण्ठपदभक्तिविकुण्ठभावाः ।
ये कर्मठा यतिवरा हरिसौरिगेहे
सालावृकैर्वरकठोरकुठारघातैः ॥ ३.२१॥

भिन्नोत्तमाङ्गहृदयाश्च भुसुण्डिभिस्ते ।
भिक्षाशना जरठरासभवद्भ्रमन्ति ॥ ३.२२॥

विद्युच्चञ्चलजीवितेऽपि न मनागुत्पद्यते शांभवी
भक्तिर्भीमपदाम्बुजोत्तमपदे भस्मत्रिपुण्ड्रेऽपि च ।
रुद्राक्षामलरुद्रसूक्तिजपने निष्ठा कनिष्ठात्मनां
विष्ठाविष्टकुनिष्ठकष्टकुधियां दुष्टात्मनां सर्वदा ॥ ३.२३॥

भ्रष्टानां दुरदृष्टतो जनिजरानाशेन नष्टात्मनां
ज्येष्ठश्रीशिपिविष्टचारुचरणांभोजार्चनानादरः ।
तेनानिष्टपरंपरासमुदयैरष्टाकृतेर्न स्मृतिः
विष्ठापूरितदुर्मुखेषु नरके भ्रष्टे चिरं संस्थितिः ॥ ३.२४॥

अज्ञायत्तेष्वभिज्ञाः सुरवरनिकरं स्तोत्रशास्त्रादितुष्टं

सत्राशं मन्त्रमात्रैर्विधिविहितधिया सामभागैर्यजन्ति ।
श्राद्धे श्रद्धाभरणहरणभ्रान्तरूपान्पितॄंस्ते
तत्तच्छ्रद्धासमुदितमनः स्वान्तरा शम्भुमीशम् ॥
नाभ्यर्चन्ति प्रणतशरणं मोक्षदं मां महेशम् ॥ ३.२५॥

आर्याः शर्वसमर्चनेन सततं दूर्वादलैः कोमलैः
बिल्वाखर्वदलैश्च शङ्करमहाभागं हृदन्तः सदा ।
पर्वस्वप्यविशेषितेन मनसा गर्वं विहायादरात्
दुर्गाण्याशु तरन्ति शङ्करकृपापीयूषधाररसैः ॥ ३.२६ ॥

श्रीचन्द्रचूडचरणांबुज पूजनेन
कालं नयन्ति पशुपाशविमुक्तिहेतोः ।
भावाः परं भसितफाललसत्त्रिपुण्ड्र-
रुद्राक्षकङ्कणलसत्करदण्डयुग्माः ॥ ३.२७॥

पञ्चाक्षरप्रणवसूक्तधिया वदन्ति
नामानि शांभवमनोहरदानि शंभो ।
मुक्तिप्रदानि सततं शिवभक्तवर्याः
ये बिल्वमूलशिवलिङ्गसमर्चनेन ॥ ३.२८॥

कालं नयेद्विमलकोमलबिल्वपत्रैः
नो तस्य कालजभयं भवतापपापम् ।
सन्तापभूपजनितं भजतां महेशम् ॥ ३.२९॥

शश्वद्विश्वेशपादौ यमशमनियमैर्भूतिरुद्राक्षगात्रो
विश्वत्रस्तो भुजङ्गाङ्गदवरगिरिजानायके लब्धभक्तिः ।
मुग्धोऽप्यध्यात्मविद् यो भवति भवहरस्यार्चया प्राप्तकामः ॥ ३.३०॥

शब्दैरब्दशतेऽपि नैव स लभेत् ज्ञानं न तर्कभ्रमैः
मीमांसा द्वयतस्तथाद्वयपदं किं सांख्यसंख्या वद ।
योगायासपरंपरादिविहितैर्वेदान्तकान्तारके
श्राम्यन् भक्तिविवर्जितेन मनसा शम्भोः पदे मुक्तये ॥ ३.३१॥

किं गङ्गया वा मकरे प्रयाग-
स्नानेन वा योगमखक्रियाद्यैः ।
यत्रार्चितं लिङ्गवरं शिवस्य
तत्रैव सर्वार्थपरंपरा स्यात् ॥ ३.३२॥

श्रीशैलो हिमभूधरोऽरुणगिरिर्वृद्धाद्रिगोपर्वतौ
श्रीमद्धेमसभाविहार भगवन् नृत्तं त्रिनेत्रो गिरिः ।

कैलासोत्तरदक्षिणौ च भगवान् यत्रार्चने शङ्करो
लिङ्गे सन्निहितो वसत्यनुदिनं शाङ्गस्य हृत्पङ्कजे ॥ ३.३३॥

तत्राविमुक्तं शशिचूडवासं
ॐकारकालञ्जर रुद्रकोटिम् ।
गङ्गाबुधेः सङ्गममम्बिकापति-
प्रियं तु गोकर्णकसह्यजातटम् ॥ ३.३४॥

यत्राभ्यर्णगतं महेशकरुणापूर्णं तु तूर्णं हृदा
लिङ्गं पूजितमप्यपास्तदुरितं तीर्थानि गङ्गादयः ।
पुण्याश्वाश्रमसंघका गिरिवरक्षेत्राणि शंभोः पदं
भक्तियुक्तभजनेन महेशे शक्तिवज्जगदिदं परिभाति ॥ ३.३५॥

कर्मन्दिवृन्दा अपि वेदमौलि-
सिद्धान्तवाक्यकलनेऽपि भवन्ति मन्दाः ।
कामादिबद्धहृदयाः सितभस्मपुण्ड्र-
रुद्राक्ष शङ्करसमर्चनतो विहीनाः ॥ ३.३६॥

हीना भवन्ति बहुधाप्यबुधा भवन्ति
मत्प्रेमवासभवनेषु विहीनवासाः ॥ ३.३७॥

अष्टम्यामष्टमूर्तिर्निशि शशिदिवसे सोमचूडं तु मुक्त्यै
भूतायां भूतनाथं धृतभसिततनुर्वीतदोषे प्रदोषे ।
गव्यैः पञ्चामृताद्यैः फलवरजरसैर्बिल्वपत्रैश्च लिङ्गे
तुङ्गे शाङ्गेऽप्यसङ्गो भजति यतहृदा नक्तभुक्त्यैकभक्तः ॥ ३.३८॥

ज्ञानानुत्पत्तये तद्धरिविधिसमताबुद्धिरीशानमूर्तौ
भस्माक्षाधृतिरीशलिङ्गभजनाशून्यं तु दुर्मानसम् ।
शंभोस्तीर्थमहत्सुतीर्थवरके निन्दावरे शाङ्करे
श्रीमद्रुद्रजपाद्यद्रोहकरणात् ज्ञानं न चोत्पद्यते ॥ ३.३९॥

ईशोत्कर्षधियैकलिङ्गनियमादभ्यर्चनं भस्मधृक्
रुद्राक्षामल सारमन्त्र सुमहापञ्चाक्षरे जापिनाम् ।
ईशस्थाननिवासशांभवकथा भक्तिश्च संकीर्तनं
भक्तस्यार्चनतो भवेत् सुमहाज्ञानं परं मुक्तिदम् ॥ ३.४०॥

आद्यन्तयोर्यः प्रणवेन युक्तं
श्रीरुद्रमन्त्रं प्रजपत्यघघ्नम् ।
तस्यांघ्रिरेणुं शिरसा वहन्ति
ब्रह्मादयः स्वाघनिवृत्तिकामाः ॥ ३.४१॥

अपूर्वाथर्वोक्त श्रुतिशिरसि विज्ञानमनघं
महाखर्वाज्ञानप्रशमनकरं यो विरचयेत् ।
मुने हृत्पर्वाणां विशसनकरं सप्तमनुभि-
र्व्रतं शीर्षण्यं यो विरचयति तस्येदमुदितम् ॥ ३.४२॥

गुरौ यस्य प्रेम श्रुतिशिरसि सूत्रार्थपदगं
मयि श्रद्धा वृद्धा भवति किल तस्यैष सुलभः ।
अनन्यो मार्गोऽयम् अकथितमिदं त्वय्यपि मुदा
यदा गोप्यो मुग्धे सुविहितमुनिष्वेव दिश वै ॥ ३.४३॥

स्कन्दः -
इति स्तुत्वा शंभोः प्रमुदितमनास्त्वेष स ऋभुः
मुनिर्नत्वा देवं नगमगपदीशस्य निलयम् ।
यतो गङ्गा तुङ्गा प्रपतति हिमाद्रेः शिखरतो
मुनीन्द्रेष्वाहेदं तदपि शृणु विप्रोत्तम हृदा ॥ ३.४४॥

ऋभुः -
पतन्त्वशनयो मुहुर्गिरिवरैः समुद्रोर्वरा
भवत्वधरसम्प्लवा ग्रहगणाः सुरा यान्त्वघः ।
भवज्जनिम पूजनान्मम मनो न यात्यन्यतः
शपामि प्रपदे प्रभोस्तव सरोरुहाभे हर ॥ ३.४५॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे
शिवऋभुसंवादो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

---

४ ॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

स्कन्दः -
हिमाद्रिशिखरे तत्र केदारे संस्थितं ऋभुम् ।
केदारेशं पूजयन्तं शांभवं मुनिसत्तमम् ।
भस्मरुद्राक्षसम्पन्नं निःस्पृहं मुनयोऽब्रुवन् ॥ ४.१॥

मुनयः -
पद्मोद्भवसुतश्रेष्ठ त्वया कैलासपर्वते ।
आराध्य देवमीशानं तस्मात् सूत्रश्रुतीरितम् ॥ ४.२॥

ज्ञानं लब्धं मुनिश्रेष्ठ त्वं नो ब्रूहि विमुक्तये ।
येन संसारवाराशेः समुत्तीर्णा भवामहे ॥ ४.३॥

सूतः -

ऋभुर्मुनीनां वचसा तुष्टः शिष्टान् समीक्ष्य तान् ।
अष्टमूर्तिपदध्याननिष्ठांस्तानभ्युवाच ह ॥ ४.४॥

ऋभुः -
नागोप्यं भवतामस्ति शांभवेषु महात्मसु । var was अस्मि
त्रिनेत्रप्रेमसदनान् युष्मान् प्रेक्ष्य वदामि तत् ॥ ४.५॥

शाङ्करं सूत्रविज्ञानं श्रुतिशीर्षमहोदयम् ।
श‍ृणुध्वं ब्रह्मविच्छ्रेष्ठाः शिवज्ञानमहोदयम् ॥ ४.६॥

येन तीर्णाः स्थ संसारात् शिवभक्त्या जितेन्द्रियाः । var was तीर्णास्थ
नमस्कृत्वा महादेवं वक्ष्ये विज्ञानमैश्वरम् ॥ ४.७॥

ऋभुः -
विश्वस्य कारणमुमापतिरेव देवो
विद्योतको जडजगत्प्रमदैकहेतुः ।
न तस्य कार्यं करणं महेशितुः
स एव तत्कारणमीश्वरो हरः ॥ ४.८॥

सूतः सायकसंभवः समुदिताः सूताननेभ्यो हयाः
नेत्रे ते रथिनो रथाङ्गयुगली युग्यान्तमृग्यो रथी ।
मौवीमूर्ध्नि रथः स्थितो रथवहश्चापं शरव्यं पुरः
योद्धुं केशचराः स एव निखिलस्थाणोरणुः पातु वः ॥ ४.९॥ var was नः
निदाघमथ संबोध्य ततो ऋभुरुवाच ह ।
अध्यात्मनिर्णयं वक्ष्ये नास्ति कालत्रयेष्वपि ॥ ४.१०॥

शिवोपदिष्टं संक्षिप्य गुह्यात् गुह्यतरं सदा ।
अनात्मेति प्रसङ्गात्मा अनात्मेति मनोऽपि वा ।
अनात्मेति जगद्वापि नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.११॥

सर्वसंकल्पशून्यत्वात् सर्वाकारविवर्जनात्
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.१२॥

चित्ताभावे चिन्तनीयो देहाभावे जरा च न ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.१३॥ var was ब्रह्ममात्रत्वात्
पादाभावाद्गतिर्नास्ति हस्ताभावात् क्रिया च न ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.१४॥ var was ब्रह्ममात्रत्वात्
ब्रह्माभावाज्जगन्नास्ति तदभावे हरिर्न च ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.१५॥ var was ब्रह्ममात्रत्वात्
मृत्युर्नास्ति जराभावे लोकवेददुराधिकम् ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.१६॥ var was ब्रह्ममात्रत्वात्

धर्मो नास्ति शुचिर्नास्ति सत्यं नास्ति भयं न च ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.१७॥ var was ब्रह्ममात्रत्वात्
अक्षरोच्चारणं नास्ति अक्षरत्यजडं मम ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.१८॥ var was ब्रह्ममात्रत्वात्
गुरुरित्यपि नास्त्येव शिष्यो नास्तीति तत्त्वतः ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.१९॥ var was ब्रह्ममात्रत्वात्
एकाभावान्न द्वितीयं न द्वितीयान्न चैकता ।
सत्यत्वमस्ति चेत् किञ्चिदसत्यत्वं च संभवेत् ॥ ४.२०॥

असत्यत्वं यदि भवेत् सत्यत्वं च घटिष्यति ।
शुभं यद्यशुभं विद्धि अशुभं शुभमस्ति चेत् ॥ ४.२१॥

भयं यद्यभयं विद्धि अभयाद्भयमापतेत् ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.२२॥ var was ब्रह्ममात्रत्वात्
बद्धत्वमस्ति चेन्मोक्षो बन्धाभावे न मोक्षता ।
मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च ॥ ४.२३॥

त्वमित्यपि भवेच्चाहं त्वं नो चेदहमेव न ।
इदं यदि तदेवापि तदभावे इदं न च ॥ ४.२४॥

अस्ति चेदिति तन्नास्ति नास्ति चेदस्ति किंच न ।
कार्यं चेत् कारणं किञ्चित् कार्याभावे न कारणम् ॥ ४.२५॥

द्वैतं यदि तदाऽद्वैतं द्वैताभावेऽद्वयं च न ।
दृश्यं यदि दृगप्यस्ति दृश्याभावे दृगेव न ॥ ४.२६॥

अन्तर्यदि बहिः सत्यमन्ताभावे बहिर्न च ।
पूर्णत्वमस्ति चेत् किंचिदपूर्णत्वं प्रसज्यते ॥ ४.२७॥

किञ्चिदस्तीति चेच्चित्ते सर्वं भवति शीघ्रतः ।
यत्किंचित् किमपि क्वापि नास्ति चेन्न प्रसज्यति ॥ ४.२८॥

तस्मादेतत् क्वचिन्नास्ति त्वं नाहं वा इमे इदम् ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.२९॥ var was ब्रह्ममात्रत्वात्
नास्ति दृष्टान्तकं लोके नास्ति दार्ष्टान्तिकं क्वचित् ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४.३०॥ var was ब्रह्ममात्रत्वात्
परं ब्रह्माहमस्मीति स्मरणस्य मनो न हि ।
ब्रह्ममात्रं जगदिदं ब्रह्ममात्रत्वमप्य हि ॥ ४.३१॥

चिन्मात्रं केवलं चाहं नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ।
इत्यात्मनिर्णयं प्रोक्तं भवते सर्वसङ्ग्रहम् ॥ ४.३२॥ var was निर्णयः प्रोक्तः
सकृच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ ४.३३॥

निदाघः-var was ऋभुः-
भगवन् को भवान् को नु वद मे वदतां वर ।var was निदाघ
यच्छ्रुत्वा तत्क्षणान्मुच्येन्महासंसारसंकटात् ॥ ४.३४॥

ऋभुः-
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव परं सुखम् ।
अहमेवाहमेवाहमहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.३५॥

अहं चैतन्यमेवास्मि दिव्यज्ञानात्मको ह्यहम् ।
सर्वाक्षरविहीनोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.३६॥

अहमर्थविहीनोऽस्मि इदमर्थविवर्जितः ।
सर्वानर्थविमुक्तोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.३७॥

नित्यशुद्धोऽस्मि बुद्धोऽस्मि नित्योऽस्म्यत्यन्तनिर्मलः ।
नित्यानदस्वरूपोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.३८॥

नित्यपूर्णस्वरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दमस्म्यहम् ।
केवलाद्वैतरूपोऽहमहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.३९॥

अनिर्देश्यस्वरूपोऽस्मि आदिहीनोऽस्म्यनन्तकः ।
अप्राकृतस्वरूपोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.४०॥

स्वस्वसंकल्पहीनोऽहं सर्वाविद्याविवर्जितः ।
सर्वमस्मि तदेवास्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.४१॥

सर्वनामादिहीनोऽहं सर्वरूपविवर्जितः ।
सर्वसङ्गविहीनोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.४२॥

सर्ववाचां विधिश्चास्मि सर्ववेदावधिः परः ।
सर्वकालावधिश्चास्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.४३॥

सर्वरूपावधिश्चाहं सर्वनामावधिः सुखम् ।
सर्वकल्पावधिश्चास्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.४४॥

अहमेव सुखं नान्यदहमेव चिदव्ययः ।
अहमेवास्मि सर्वत्र अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.४५॥

केवलं ब्रह्ममात्रात्मा केवलं शुद्धचिद्धनः ।
केवलाखण्डोसारोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.४६॥

केवलं ज्ञानरूपोऽस्मि केवलाकाररूपवान् ।
केवलात्यन्तसारोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.४७॥

सत्स्वरूपोऽस्मि कैवल्यस्वरूपोऽस्म्यहमेव हि ।
अर्थानर्थविहीनोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.४८॥

अप्रमेयस्वरूपोऽस्मि अप्रतर्क्यस्वरूपवान् ।
अप्रगृह्यस्वरूपोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.४९॥

अरसस्युतरूपोऽस्मि अनुतापविवर्जितः ।
अनुस्यूतप्रकाशोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.५०॥

सर्वकर्मविहीनोऽहं सर्वभेदविवर्जितः ।
सर्वसन्देहहीनोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.५१॥

अहंभावविहीनोऽस्मि विहीनोऽस्मीति मे न च ।
सर्वदा ब्रह्मरूपोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.५२॥

ब्रह्म ब्रह्मादिहीनोऽस्मि केशवत्वादि न क्वचित् ।
शङ्करादिविहीनोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ४.५३॥

तूष्णीमेवावभासोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ।
किञ्चिन्नास्ति परो नास्ति किंचिदस्मि परोऽस्मि च ॥ ४.५४॥

न शरीरप्रकाशोऽस्मि जगद्भासकरो न च ।
चिद्घनोऽस्मि चिदंशोऽस्मि सत्स्वरूपोऽस्मि सर्वदा ॥ ४.५५॥

मुदा मुदितरूपोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ।
न बालोऽस्मि न वृद्धोऽस्मि न युवाऽस्मि परात् परः ॥ ४.५६॥

न च नानास्वरूपोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ।
इमं स्वानुभवं प्रोक्तं सर्वोपनिषदां परं रसम् ॥ ४.५७॥

यो वा को वा श‍ृणोतीदं ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ ४.५८॥

न स्थूलोऽप्यनणुर्न तेजमरुतामाकाशनीरक्ष्मा
भूतान्तर्गतकोशकाशहृदयाद्याकाशमात्राक्रमैः ।
उद्ग्रन्थश्रुतिशास्त्रसूत्रकरणैः किञ्चिज्ज्ञ सर्वज्ञता
बुद्ध्या मोहितमायया श्रुतिशतैर्भो जानते शङ्करम् ॥ ४.५९॥

॥ इति श्री शिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे
ऋभुनिदाघसंवादो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

---

५ ॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

निदाघः -
एवं स्थिते ऋभो को वै ब्रह्मभावाय कल्पते ।

तन्मे वद विशेषेण ज्ञानं शङ्करवाक्यजम् ॥ ५.१॥

ऋभुः -
त्वमेव ब्रह्म एवासि त्वमेव परमो गुरुः ।
त्वमेवाकाशरूपोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.२॥

त्वमेव सर्वभावोऽसि त्वमेवार्थस्त्वमव्ययः ।
त्वं सर्वहीनस्त्वं साक्षी साक्षिहीनोऽसि सर्वदा ॥ ५.३॥

कालस्त्वं सर्वहीनस्त्वं साक्षिहीनोऽसि सर्वदा ।
कालहीनोऽसि कालोऽसि सदा ब्रह्मासि चिद्घनः ।
सर्वतत्त्वस्वरूपोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.४॥

सत्योऽसि सिद्धोऽसि सनातनोऽसि
मुक्तोऽसि मोक्षोऽसि सदाऽमृतोऽसि ।
देवोऽसि शान्तोऽसि निरामयोऽसि
ब्रह्मासि पूर्णोऽसि परावरोऽसि ॥ ५.५॥

समोऽसि सच्चासि सनातनोऽसि
सत्यादिवाक्यैः प्रतिपादितोऽसि ।
सर्वाङ्गहीनोऽसि सदास्थितोऽसि
ब्रह्मासि पूर्णोऽसि परावरोऽसि ॥ ५.६॥ var was परापरोऽसि
सर्वप्रपञ्चभ्रमवर्जितोऽसि सर्वेषु भूतेषु सदोदितोऽसि ।
सर्वत्र संकल्पविवर्जितोऽसि ब्रह्मासि पूर्णोऽसि परावरोऽसि ॥ ५.७॥

सर्वत्र सन्तोषसुखासनोऽसि सर्वत्र विद्वेषविवर्जितोऽसि ।
सर्वत्र कार्यादिविवर्जितोऽसि ब्रह्मासि पूर्णोऽसि परावरोऽसि ॥ ५.८॥

चिदाकारस्वरूपोऽसि चिन्मात्रोऽसि निरङ्कुशः ।
आत्मन्येवावस्थितोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.९॥

आनन्दोऽसि परोऽसि त्वं सर्वशून्योऽसि निर्गुणः ।
एक एवाद्वितीयोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.१०॥

चिद्घनानन्दरूपोऽसि चिदानन्दोऽसि सर्वदा ।
परिपूर्णस्वरूपोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.११॥

तदसि त्वमसि ज्ञोऽसि सोऽसि जानासि वीक्ष्यसि ।
चिदसि ब्रह्मभूतोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.१२॥

अमृतोऽसि विभुश्चासि देवोऽसि त्वं महानसि ।
चञ्चलोष्ठकलङ्कोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.१३॥

सर्वोऽसि सर्वहीनोऽसि शान्तोऽसि परमो ह्यसि ।
कारणं त्वं प्रशान्तोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.१४॥

सत्तामात्रस्वरूपोऽसि सत्तासामान्यको ह्यसि ।
नित्यशुद्धस्वरूपोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.१५॥

ईषणमात्रविहीनोऽसि अणुमात्रविवर्जितः ।
अस्तित्ववर्जितोऽसि त्वं नास्तित्वादिविवर्जितः ॥ ५.१६॥

योऽसि सोऽसि महान्तोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.१७॥

लक्ष्यलक्षणहीनोऽसि चिन्मात्रोऽसि निरामयः ।
अखण्डैकरसो नित्यं त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.१८॥

सर्वाधारस्वरूपोऽसि सर्वतेजः स्वरूपकः ।
सर्वार्थभेदहीनोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.१९॥

ब्रह्मैव भेदशून्योऽसि विप्लुत्यादिविवर्जितः ।
शिवोऽसि भेदहीनोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.२०॥

प्रज्ञानवाक्यहीनोऽसि स्वस्वरूपं प्रपश्यसि ।
स्वस्वरूपस्थितोऽसि त्वं त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.२१॥

स्वस्वरूपावशेषोऽसि स्वस्वरूपो मतो ह्यसि ।
स्वानन्दसिन्धुमग्नोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.२२॥

स्वात्मराज्ये त्वमेवासि स्वयमात्मानमो ह्यसि ।
स्वयं पूर्णस्वरूपोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.२३॥

स्वस्मिन् सुखे स्वयं चासि स्वस्मात् किञ्चिन्न पश्यसि ।
स्वात्मन्याकाशवद्भासि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.२४॥

स्वस्वरूपान्न चलसि स्वस्वरूपान्न पश्यसि ।
स्वस्वरूपामृतोऽसि त्वं त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.२५॥

स्वस्वरूपेण भासि त्वं स्वस्वरूपेण जृंभसि ।
स्वस्वरूपादनन्योऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.२६॥

स्वयं स्वयं सदाऽसि त्वं स्वयं सर्वत्र पश्यसि ।
स्वस्मिन् स्वयं स्वयं भुङ्क्षे त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५.२७॥

सूतः -
तदा निधाघवचसा तुष्टो ऋभुरुवाच तम् ।
शिवप्रेमरसे पात्रं तं वीक्ष्याब्जजनन्दनः ॥ ५.२८॥

ऋभुः -
कैलासे शङ्करः पुत्रं कदाचिदुपदिष्टवान् ।
तदेव ते प्रवक्ष्यामि सावधानमनाः शृणु ॥ ५.२९॥

अयं प्रपञ्चो नास्त्येव नोत्पन्नो न स्वतः क्वचित् ।
चित्रप्रपञ्च इत्याहुर्नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.३०॥

न प्रपञ्चो न चित्तादि नाहंकारो न जीवकः ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.३१॥

मायकार्यादिकं नास्ति मायाकार्यभयं नहि ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.३२॥

कर्ता नास्ति क्रिया नास्ति करणं नास्ति पुत्रक ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.३३॥

एकं नास्ति द्वयं नास्ति मन्त्रतन्त्रादिकं च न ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.३४॥

श्रवणं मननं नास्ति निदिध्यासनविभ्रमः ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.३५॥

समाधिद्विविधं नास्ति मातृमानादि नास्ति हि ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.३६॥

अज्ञानं चापि नास्त्येव अविवेककथा न च ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.३७॥

अनुबन्धचतुष्कं च संबन्धत्रयमेव न ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.३८॥

भूतं भविष्यन्न क्वापि वर्तमानं न वै क्वचित् ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.३९॥

गङ्गा गया तथा सेतुव्रतं वा नान्यदस्ति हि ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.४०॥

न भूमिर्न जलं वह्निर्न वायुर्न च खं क्वचित् ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.४१॥

नैव देवा न दिक्पाला न पिता न गुरुः क्वचित् ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वदा ॥ ५.४२॥

न दूरं नान्तिकं नान्तं न मध्यं न क्वचित् स्थितिः ।

नाद्वैतद्वैतसत्यत्वमसत्यं वा इदं न च ॥ ५.४३॥

न मोक्षोऽस्ति न बन्धोऽस्ति न वार्तावसरोऽस्ति हि ।
क्वचिद्वा किञ्चिदेवं वा सदसद्वा सुखानि च ॥ ५.४४॥

द्वन्द्वं वा तीर्थधर्मादि आत्मानात्मेति न क्वचित् ।
न वृद्धिर्नोदयो मृन्युर्न गमागमविभ्रमः ॥ ५.४५॥

इह नास्ति परं नास्ति न गुरुर्न च शिष्यकः ।
सदसन्नास्ति भूर्नास्ति कार्यं नास्ति कृतं च न ॥ ५.४६॥

जातिर्नास्ति गतिर्नास्ति वर्णो नास्ति न लौकिकम् ।
शमादिषट्कं नास्त्येव नियमो वा यमोऽपि वा ॥ ५.४७॥

सर्वं मिथ्येति नास्त्येव ब्रह्म इत्येव नास्ति हि ।
चिदित्येव हि नास्त्येव चिदहं भाषणं न हि ॥ ५.४८॥

अहमित्येव नास्त्येव नित्योऽस्मीति च न क्वचित् ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्ति नास्त्येव सर्वथा ॥ ५.४९॥

वाचा यदुच्यते किञ्चिन्मनसा मनुते च यत् ।
बुध्या निश्चीयते यच्च चित्तेन ज्ञायते हि यत् ॥ ५.५०॥

योगेन युज्यते यच्च इन्द्रियाद्यैश्च यत् कृतम् ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिं च स्वप्नं वा न तुरीयकम् ॥ ५.५१॥

सर्वं नास्तीति विज्ञेयं यदुपाधिविनिश्चितम् ।
स्नानाच्छुद्धिर्न हि क्वापि ध्यानात् शुद्धिर्न हि क्वचित् ॥ ५.५२॥

गुणत्रयं नास्ति किञ्चिद्गुणत्रयमथापि वा ।
एकद्वित्वपदं नास्ति न बहुभ्रमविभ्रमः ॥ ५.५३॥

भ्रान्त्यभ्रान्ति च नास्त्येव किञ्चिन्नास्तीति निश्चिनु ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् न किञ्चिदवशिष्यते ॥ ५.५४॥

इदं श्रृणोति यः सम्यक् स ब्रह्म भवति स्वयम् ॥ ५.५५॥

ईश्वरः -
वाराश्यम्बुनि बुद्बुदा इव घनानन्दाम्बुधावप्युमा-
कान्तेऽनन्तजगद्गतं सुरनरं जातं च तिर्यङ् मुहुः ।
भूतं चापि भविष्यति प्रतिभवं मायामयं चोर्मिजं
सम्यङ् मामनुपश्यतामनुभवैर्नास्त्येव तेषां भवः ॥ ५.५६॥

हरं विज्ञातारं निखिलतनुकार्येषु करणं
न जानन्ते मोहाद्यमितकरणा अप्यतितराम् ।

उमानाथाकारं हृदयदहरान्तर्गतसरा
पयोजाते भास्वद्भवभुजगनाशाण्डजवरम् ॥ ५.५७॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
शिवेन कुमारोपदेशवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

---

६ ॥ षष्ठोऽध्यायः ॥

ईश्वरः -
व्रतानि मिथ्या भुवनानि मिथ्या
भावादि मिथ्या भवनानि मिथ्या ।
भयं च मिथ्या भरणादि मिथ्या
भुक्तं च मिथ्या बहुबन्धमिथ्या ॥ ६.१॥

वेदाश्च मिथ्या वचनानि मिथ्या
वाक्यानि मिथ्या विविधानि मिथ्या ।
वित्तानि मिथ्या वियदादि मिथ्या
विधुश्च मिथ्या विषयादि मिथ्या ॥ ६.२॥

गुरुश्च मिथ्या गुणदोषमिथ्या
गुह्यं च मिथ्या गणना च मिथ्या ।
गतिश्च मिथ्या गमनं च मिथ्या
सर्वं च मिथ्या गदितं च मिथ्या ॥ ६.३॥

वेदशास्त्रपुराणं च कार्यं कारणमीश्वरः ।
लोको भूतं जनं चैव सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ६.४॥

बन्धो मोक्षः सुखं दुःखं ध्यानं चित्तं सुरासुराः ।
गौणं मुख्यं परं चान्यत् सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ६.५॥

वाचा वदति यत्किञ्चित् सर्वं मिथ्या न संशयः ।
सङ्कल्पात् कल्प्यते यद्यत् मनसा चिन्त्यते च यत् ॥ ६.६॥

बुद्ध्या निश्चीयते किञ्चित् चित्तेन नीयते क्वचित् ।
प्रपञ्चे पञ्चते यद्यत् सर्वं मिथ्येति निश्चयः ॥ ६.७॥

श्रोत्रेण श्रूयते यद्यन्नेत्रेण च निरीक्ष्यते ।
नेत्रं श्रोत्रं गात्रमेव सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ६.८॥

इदमित्येव निर्दिष्टमिदमित्येव कल्पितम् ।
यद्यद्वस्तु परिज्ञातं सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ६.९॥

कोऽहं किन्तदिदं सोऽहं अन्यो वाचयते नहि ।
यद्यत् संभाव्यते लोके सर्वं मिथ्येति निश्चयः ॥ ६.१०॥

सर्वाभ्यास्यं सर्वगोप्यं सर्वकारणविभ्रमः ।
सर्वभूतेति वार्ता च मिथ्येति च विनिश्चयः ॥ ६.११॥

सर्वभेदप्रभेदो वा सर्वसंकल्पविभ्रमः ।
सर्वदोषप्रभेदश्च सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ६.१२॥

रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्मसृष्टेस्तु कारणम् ।
संहारे शिव इत्येवं सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ६.१३॥

स्नानं जपस्तपो होमः स्वाध्यायो देवपूजनम् ।
मन्त्रो गोत्रं च सत्सङ्गः सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ६.१४॥

सर्वं मिथ्या जगन्मिथ्या भूतं भव्यं भवत्तथा ।
नास्ति नास्ति विभावेन सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ६.१५॥

चित्तभेदो जगद्भेदः अविद्यायाश्च संभवः ।
अनेककोटिब्रह्माण्डाः सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ६.१६॥

लोकत्रयेषु सद्भावो गुणदोषादिजृंभणम् ।
सर्वदेशिकवार्तोक्तिः सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ६.१७॥

उत्कृष्टं च निकृष्टं च उत्तमं मध्यमं च तत् ।
ॐकारं चाप्यकारं च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ६.१८॥

यद्यज्जगति दृश्येत यद्यज्जगति वीक्ष्यते ।
यद्यज्जगति वर्तेत सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ६.१९॥

येन केनाक्षरेणोक्तं येन केनापि सङ्गतम् ।
येन केनापि नीतं तत् सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ६.२०॥

येन केनापि गदितं येन केनापि मोदितम् ।
येन केनापि च प्रोक्तं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ६.२१॥

येन केनापि यद्दत्तं येन केनापि यत् कृतम् ।
यत्र कुत्र जलस्नानं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ६.२२॥

यत्र यत्र शुभं कर्म यत्र यत्र च दुष्कृतम् ।
यद्यत् करोषि सत्येन सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ॥ ६.२३॥

इदं सर्वमहं सर्वं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
यत् किञ्चित् प्रतिभातं च सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ॥ ६.२४॥

ऋभुः -
पुनर्वक्ष्ये रहस्यानां रहस्यं परमाद्भुतम् ।
शङ्करेण कुमाराय प्रोक्तं कैलास पर्वते ॥ ६.२५॥

तन्मात्रं सर्वचिन्मात्रमखण्डैकरसं सदा ।
एकवर्जितचिन्मात्रं सर्वं चिन्मयमेव हि ॥ ६.२६॥

इदं च सर्वं चिन्मात्रं सर्वं चिन्मयमेव हि ।
आत्माभासं च चिन्मात्रं सर्वं चिन्मयमेव हि ॥ ६.२७॥

सर्वलोकं च चिन्मात्रं सर्वं चिन्मयमेव हि ।
त्वत्ता मत्ता च चिन्मात्रं चिन्मात्रान्नास्ति किञ्चन ॥ ६.२८॥

आकाशो भूर्जलं वायुरग्निर्ब्रह्मा हरिः शिवः ।
यत्किञ्चिदन्यत् किञ्चिच्च सर्वं चिन्मयमेव हि ॥ ६.२९॥

अखण्डैकरसं सर्वं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।
भूतं भव्यं च चिन्मात्रं सर्वं चिन्मयमेव हि ॥ ६.३०॥

द्रव्यं कालश्च चिन्मात्रं ज्ञानं चिन्मयमेव च ।
ज्ञेयं ज्ञानं च चिन्मात्रं सर्वं चिन्मयमेव हि ॥ ६.३१॥

संभाषणं च चिन्मात्रं वाक् च चिन्मात्रमेव हि ।
असच्च सच्च चिन्मात्रं सर्वं चिन्मयमेव हि ॥ ६.३२॥

आदिरन्तं च चिन्मात्रं अस्ति चेच्चिन्मयं सदा ।
ब्रह्मा यद्यपि चिन्मात्रं विष्णुश्चिन्मात्रमेव हि ॥ ६.३३॥

रुद्रोऽपि देवाश्चिन्मात्रं अस्ति नरतिर्यक्सुरासुरम् ।
गुरुशिष्यादि सन्मात्रं ज्ञानं चिन्मात्रमेव हि ॥ ६.३४॥

दृग्दृश्यं चापि चिन्मात्रं ज्ञाता ज्ञेयं ध्रुवाध्रुवम् ।
सर्वाश्चर्यं च चिन्मात्रं देहं चिन्मात्रमेव हि ॥ ६.३५॥

लिङ्गं चापि च चिन्मात्रं कारणं कार्यमेव च ।
मूर्तामूर्तं च चिन्मात्रं पापपुण्यमथापि च ॥ ६.३६॥

द्वैताद्वैतं च चिन्मात्रं वेदवेदान्तमेव च ।
दिशोऽपि विदिशश्चैव चिन्मात्रं तस्य पालकाः ॥ ६.३७॥

चिन्मात्रं व्यवहारादि भूतं भव्यं भवत्तथा ।
चिन्मात्रं नामरूपं च भूतानि भुवनानि च ॥ ६.३८॥

चिन्मात्रं प्राण एवेह चिन्मात्रं सर्वमिन्द्रियम् ।
चिन्मात्रं पञ्चकोशादि चिन्मात्रानन्दमुच्यते ॥ ६.३९॥

नित्यानित्यं च चिन्मात्रं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
चिन्मात्रं नास्ति नित्यं च चिन्मात्रं नास्ति सत्यकम् ॥ ६.४०॥

चिन्मात्रमपि वैराग्यं चिन्मात्रकमिदं किल ।
आधारादि हि चिन्मात्रं आधेयं च मुनीश्वर ॥ ६.४१॥

यच्च यावच्च चिन्मात्रं यच्च यावच्च दृश्यते ।
यच्च यावच्च दूरस्थं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥ ६.४२॥

यच्च यावच्च भूतानि यच्च यावच्च वक्ष्यते ।
यच्च यावच्च वेदोक्तं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥ ६.४३॥

चिन्मात्रं नास्ति बन्धं च चिन्मात्रं नास्ति मोक्षकम् ।
चिन्मात्रमेव सन्मात्रं सत्यं सत्यं शिवं स्पृशे ॥ ६.४४॥

सर्वं वेदत्रयप्रोक्तं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
शिवप्रोक्तं कुमाराय तदेतत् कथितं त्वयि ।
यः शृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ ६.४५॥

सूतः -
ईशावास्यादिमन्त्रैर्वरगगनतनोः क्षेत्रवासार्थवादैः
तल्लिङ्गागारमध्यस्थितसुमहदीशान लिङ्गेषु पूजा ।
अक्लेद्ये चाभिषेको ??? ??? ??? दिग्वाससे वासदानं
नो गन्धघ्राणहीने रूपदृश्याद्विहीने गन्धपुष्पार्पणानि ॥ ६.४६॥

स्वभासे दीपदानं ???   सर्वभक्षे महेशे
नैवेद्यं नित्यतृप्ते सकलभुवनगे प्रक्रमो वा नमस्या ।
कुर्यां केनापि भावैर्मम निगमशिरोभाव एव प्रमाणम् ॥ ६.४७॥

अविच्छिन्नैश्छिन्नैः परिकरवरैः पूजनधिया
भजन्त्यज्ञास्तद्ज्ञाः विधिविहितबुद्ध्यागतधियः ।var was तदज्ञाः
तथापीशं भावैर्भजति भजतामात्मपदवीं
ददातीशो विश्वं भ्रमयति गतज्ञांश्च कुरुते ॥ ६.४८॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
प्रपञ्चस्य सच्चिन्मयत्वकथनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

७ ॥ सप्तमोऽध्यायः ॥

ऋभुः -

अत्यद्भुतं प्रवक्ष्यामि सर्वलोकेषु दुर्लभम् ।
वेदशास्त्रमहासारं दुर्लभं दुर्लभं सदा ॥ ७.१॥

अखण्डैकरसो मन्त्रमखण्डैकरसं फलम् ।
अखण्डैकरसो जीव अखण्डैकरसा क्रिया ॥ ७.२॥

अखण्डैकरसा भूमिरखण्डैकरसं जलम् ।
अखण्डैकरसो गन्ध अखण्डैकरसं वियत् ॥ ७.३॥

अखण्डैकरसं शास्त्रं अखण्डैकरसं श्रुतिः ।
अखण्डैकरसं ब्रह्म अखण्डैकरसं व्रतम् ॥ ७.४॥

अखण्डैकरसो विष्णुरखण्डैकरसः शिवः ।
अखण्डैकरसो ब्रह्मा अखण्डैकरसाः सुराः ॥ ७.५॥

अखण्डैकरसं सर्वमखण्डैकरसः स्वयम् ।
अखण्डैकरसश्चात्मा अखण्डैकरसो गुरुः ॥ ७.६॥

अखण्डैकरसं वाच्यमखण्डैकरसं महः ।
अखण्डैकरसं देह अखण्डैकरसं मनः ॥ ७.७॥

अखण्डैकरसं चित्तं अखण्डैकरसं सुखम् ।
अखण्डैकरसा विद्या अखण्डैकरसोऽव्ययः ॥ ७.८॥

अखण्डैकरसं नित्यमखण्डैकरसः परः ।
अखण्डैकरसात् किञ्चिदखण्डैकरसादहम् ॥ ७.९॥

अखण्डैकरसं वास्ति अखण्डैकरसं न हि ।
अखण्डैकरसादन्यत् अखण्डैकरसात् परः ॥ ७.१०॥

अखण्डैकरसात् स्थूलं अखण्डैकरसं जनः ।
अखण्डैकरसं सूक्ष्ममखण्डैकरसं द्वयम् ॥ ७.११॥

अखण्डैकरसं नास्ति अखण्डैकरसं बलम् ।
अखण्डैकरसाद्विष्णुरखण्डैकरसादणुः ॥ ७.१२॥

अखण्डैकरसं नास्ति अखण्डैकरसाद्भवान् ।
अखण्डैकरसो ह्येव अखण्डैकरसादितम् ॥ ७.१३॥

अखण्डितरसाद् ज्ञानं अखण्डितरसाद् स्थितम् ।
अखण्डैकरसा लीला अखण्डैकरसः पिता ॥ ७.१४॥ var was लीना
अखण्डैकरसा भक्ता अखण्डैकरसः पतिः ।
अखण्डैकरसा माता अखण्डैकरसो विराट् ॥ ७.१५॥

अखण्डैकरसं गात्रं अखण्डैकरसं शिरः ।

अखण्डैकरसं घ्राणं अखण्डैकरसं बहिः ॥ ७.१६॥

अखण्डैकरसं पूर्णमखण्डैकरसामृतम् ।
अखण्डैकरसं श्रोत्रमखण्डैकरसं गृहम् ॥ ७.१७॥

अखण्डैकरसं गोप्यमखण्डैकरसः शिवः ।
अखण्डैकरसं नाम अखण्डैकरसो रविः ॥ ७.१८॥

अखण्डैकरसः सोमः अखण्डैकरसो गुरुः ।
अखण्डैकरसः साक्षी अखण्डैकरसः सुहृत् ॥ ७.१९॥

अखण्डैकरसो बन्धुरखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ।
अखण्डैकरसो राजा अखण्डैकरसं पुरम् ॥ ७.२०॥

अखण्डैकरसैश्वर्यं अखण्डैकरसं प्रभुः ।
अखण्डैकरसो मन्त्र अखण्डैकरसो जपः ॥ ७.२१॥

अखण्डैकरसं ध्यानमखण्डैकरसं पदम् ।
अखण्डैकरसं ग्राह्यमखण्डैकरसं महान् ॥ ७.२२॥

अखण्डैकरसं ज्योतिरखण्डैकरसं परम् ।
अखण्डैकरसं भोज्यमखण्डैकरसं हविः ॥ ७.२३॥

अखण्डैकरसो होमः अखण्डैकरसो जयः ।
अखण्डैकरसः स्वर्गः अखण्डैकरसः स्वयम् ॥ ७.२४॥

अखण्डैकरसाकारादन्यन्नास्ति नहि क्वचित् ।
शृणु भूयो महाश्चर्यं नित्यानुभवसम्पदम् ॥ ७.२५॥

दुर्लभं दुर्लभं लोके सर्वलोकेषु दुर्लभम् ।
अहमस्मि परं चास्मि प्रभास्मि प्रभवोऽस्म्यहम् ॥ ७.२६॥

सर्वरूपगुरुश्चास्मि सर्वरूपोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ।
अहमेवास्मि शुद्धोऽस्मि ऋद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम् ॥ ७.२७॥

अहमस्मि सदा ज्ञोऽस्मि सत्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् ।
विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि साम्योऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ॥ ७.२८॥

शुद्धोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ।
मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ॥ ७.२९॥

द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ।
भावाभावविहीनोऽस्मि भाषाहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ७.३०॥

शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनोऽस्मि मनोऽस्म्यहम् ।
तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि तुच्छभावोऽस्मि नास्म्यहम् ॥ ७.३१॥

सदा सर्वविहीनोऽस्मि सात्विकोऽस्मि सदास्म्यहम् ।
एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्या नास्ति नास्म्यहम् ॥ ७.३२॥

सदसद्भेदहीनोऽस्मि संकल्परहितोऽस्म्यहम् ।
नानात्मभेदहीनोऽस्मि यत् किञ्चिन्नास्ति सोऽस्म्यहम् ॥ ७.३३॥

नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम् ।
आश्रयाश्रयहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् ॥ ७.३४॥

बन्धमोक्षादिहीनोऽस्मि शुद्धब्रह्मादि सोऽस्म्यहम् ।
चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परोऽस्म्यहम् ॥ ७.३५॥

सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ।
आकारादिस्वरूपोऽस्मि उकारोऽस्मि मुदोऽस्म्यहम् ॥ ७.३६॥

ध्यानाध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ।
पूर्णात् पूर्णोऽस्मि पूर्णोऽस्मि सर्वपूर्णोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ७.३७॥

सर्वातीतस्वरूपोऽस्मि परं ब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् ।
लक्ष्यलक्षणहीनोऽस्मि लयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ७.३८॥

मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ।
अगत् सर्वं च द्रष्टास्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ ७.३९॥

प्रवृद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि प्रसन्नोऽस्मि परोऽस्म्यहम् ।
सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्महितोऽस्म्यहम् ॥ ७.४०॥

सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् ।
मुदा मुदितशून्योऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम् ॥ ७.४१॥

नित्यचिन्मात्ररूपोऽस्मि सदसच्चिन्मयोऽस्म्यहम् ।
यत् किञ्चिदपि हीनोऽस्मि स्वल्पमप्यति नाहितम् ॥ ७.४२॥

हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदयाद्यापकोऽस्म्यहम् ।
षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम् ॥ ७.४३॥

अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोऽस्म्यहम् ।
देशकालविहीनोऽस्मि दिगम्बरमुखोऽस्म्यहम् ॥ ७.४४॥

नास्ति हास्ति विमुक्तोऽस्मि नकाररहितोऽस्म्यहम् ।
सर्वचिन्मात्ररूपोऽस्मि सच्चिदानन्दमस्म्यहम् ॥ ७.४५॥

अखण्डाकाररूपोऽस्मि अखण्डाकारमस्म्यहम् ।
प्रपञ्चचित्तरूपोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् ॥ ७.४६॥

सर्वप्रकाररूपोऽस्मि सद्भावावर्जितोऽस्म्यहम् ।
कालत्रयविहीनोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ ७.४७॥

कायकायिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणप्रभवोऽस्म्यहम् ।
मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ॥ ७.४८॥

सत्यासत्यविहीनोऽस्मि सदा सन्मात्रमस्म्यहम् ।
गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनारहितोऽस्म्यहम् ॥ ७.४९॥

सर्वदा स्मररूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि सुहितोऽस्म्यहम् ।
एवं स्वानुभवं प्रोक्तं एतत् प्रकरणं महत् ॥ ७.५०॥

यः शृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
पिण्डाण्डसंभवजगद्गतखण्डनोद्य-
द्वेतण्डशुण्डनिभपीवरबाहुदण्ड ।
ब्रह्मोरुमुण्डकलिताण्डजवाहबाण
कोदण्डभूधरधरं भजतामखण्डम् ॥ ७.५१॥

विश्वात्मन्यद्वितीये भगवति गिरिजानायके काशरूपे
नीरूपे विश्वरूपे गतदुरितधियः प्राप्नुवन्त्यात्मभावम् ।
अन्ये भेदधियः श्रुतिप्रकथितैर्वर्णाश्रमोत्थश्रमैः
तान्ताः शान्तिविवर्जिता विषयिणो दुःखं भजन्त्यन्वहम् ॥ ७.५२॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
स्वात्मनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

---

८ ॥ अष्टमोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
वक्ष्ये प्रपञ्चशून्यत्वं शशशृङ्गेण संमितम् ।
दुर्लभं सर्वलोकेषु सावधानमनाः शृणु ॥ ८.१॥

इदं प्रपञ्चं यत् किञ्चिद्यः शृणोति च पश्यति ।
दृश्यरूपं च दृग्रूपं सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.२॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकारश्च तेजश्च सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.३॥

नाश जन्म च सत्यं च लोकं भुवनमण्डलम् ।
पुण्यं पापं जयो मोहः सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.४॥

कामक्रोधौ लोभमोहौ मदमोहौ रतिर्धृतिः ।
गुरुशिष्योपदेशादि सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.५॥

अहं त्वं जगदित्यादि आदिरन्तिममध्यमम् ।
भूतं भव्यं वर्तमानं सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.६॥

स्थूलदेहं सूक्ष्मदेहं कारणं कार्यमप्ययम् ।
दृश्यं च दर्शनं किञ्चित् सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.७॥

भोक्ता भोज्यं भोगरूपं लक्ष्यलक्षणमद्वयम् ।
शमो विचारः सन्तोषः सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.८॥

यमं च नियमं चैव प्राणायामादिभाषणम् ।
गमनं चलनं चित्तं सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.९॥

श्रोत्रं नेत्रं गात्रगोत्रं गुह्यं जाड्यं हरिः शिवः ।
आदिरन्तो मुमुक्षा च सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.१०॥

ज्ञानेन्द्रियं च तन्मात्रं कर्मेन्द्रियगणं च यत् ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.११॥

चतुर्विंशतितत्त्वं च साधनानां चतुष्टयम् ।
सजातीयं विजातीयं सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.१२॥

सर्वलोकं सर्वभूतं सर्वधर्मं सतत्वकम् ।
सर्वाविद्या सर्वविद्या सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.१३॥

सर्ववर्णः सर्वजातिः सर्वक्षेत्रं च तीर्थकम् ।
सर्ववेदं सर्वशास्त्रं सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.१४॥

सर्वबन्धं सर्वमोक्षं सर्वविज्ञानमीश्वरः ।
सर्वकालं सर्वबोध सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.१५॥

सर्वास्तित्वं सर्वकर्म सर्वसङ्गयुतिर्महान् ।
सर्वद्वैतमसद्भावं सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.१६॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तः सर्वशास्त्रार्थनिर्णयः ।
सर्वजीवत्वसद्भावं सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.१७॥

यद्यत् संवेद्यते किञ्चित् यद्यज्जगति दृश्यते ।
यद्यच्छृणोति गुरुणा सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.१८॥

यद्यद्ध्यायति चित्ते च यद्यत् संकल्प्यते क्वचित् ।
बुद्ध्या निश्चीयते यच्च सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.१९॥

यद्यद् वाचा व्याकरोति यद्वाचा चार्थभाषणम् ।
यद्यत् सर्वेन्द्रियैर्भाव्यं सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.२०॥

यद्यत् सन्त्यज्यते वस्तु यच्छृणोति च पश्यति ।
स्वकीयमन्यदीयं च सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.२१॥

सत्यत्वेन च यद्भाति वस्तुत्वेन रसेन च ।
यद्यत् सङ्कल्प्यते चित्ते सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.२२॥

यद्यदात्मेति निर्णीतं यद्यन्नित्यमितं वचः ।
यद्यद्विचार्यते चित्ते सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.२३॥

शिवः संहरते नित्यं विष्णुः पाति जगत्त्रयम् ।
स्रष्टा सृजति लोकान् वै सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.२४॥

जीव इत्यपि यद्यस्ति भाषयत्यपि भाषणम् ।
संसार इति या वार्ता सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.२५॥

यद्यदस्ति पुराणेषु यद्यद्वेदेषु निर्णयः ।
सर्वोपनिषदां भावं सर्वं शशविषाणवत् ॥ ८.२६॥

शशशृङ्गवदेवेदमुक्तं प्रकरणं तव ।
यः श्रृणोति रहस्यं वै ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ ८.२७॥

भूयः शृणु निदाघ त्वं सर्वं ब्रह्मेति निश्चयम् ।
सुदुर्लभमिदं नृणां देवानामपि सत्तम ॥ ८.२८॥

इदमित्यपि यद्रूपमहमित्यपि यत्पुनः ।
दृश्यते यत्तदेवेदं सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.२९॥

देहोऽयमिति सङ्कल्पस्तदेव भयमुच्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.३०॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तदन्तःकरणं स्मृतम् ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.३१॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पः स हि संसार उच्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.३२॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्बन्धनमिहोच्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.३३॥

देहोऽहमिति यद् ज्ञानं तदेव नरकं स्मृतम् ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.३४॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पो जगत् सर्वमितीर्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.३५॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पो हृदयग्रन्थिरीरितः ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.३६॥

देहत्रयेऽपि भावं यत् तद्देहज्ञानमुच्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.३७॥

देहोऽहमिति यद्भावं सदसद्भावमेव च ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.३८॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तत्प्रपञ्चमिहोच्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.३९॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तदेवाज्ञानमुच्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.४०॥

देहोऽहमिति या बुद्धिर्मलिना वासनोच्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.४१॥

देहोऽहमिति या बुद्धिः सत्यं जीवः स एव सः ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.४२॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पो महानरकमीरितम् ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.४३॥

देहोऽहमिति या बुद्धिर्मन एवेति निश्चितम् ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.४४॥

देहोऽहमिति या बुद्धिः परिच्छिन्नमितीर्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.४५॥

देहोऽहमिति यद् ज्ञानं सर्वं शोक इतीरितम् ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.४६॥

देहोऽहमिति यद् ज्ञानं संस्पर्शमिति कथ्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.४७॥

देहोऽहमिति या बुद्धिस्तदेव मरणं स्मृतम् ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.४८॥

देहोऽहमिति या बुद्धिस्तदेवाशोभनं स्मृतम् ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.४९॥

देहोऽहमिति या बुद्धिर्महापापमिति स्मृतम् ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.५० ॥

देहोऽहमिति या बुद्धिः तुष्टा सैव हि चोच्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.५१ ॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पः सर्वदोषमिति स्मृतम् ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.५२ ॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तदेव मलमुच्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.५३ ॥

देहोऽहमिति सङ्कल्पो महत्संशयमुच्यते ।
कालत्रयेऽपि तन्नास्ति सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ॥ ८.५४ ॥

यत्किञ्चित्स्मरणं दुःखं यत्किञ्चित् स्मरणं जगत् ।
यत्किञ्चित्स्मरणं कामो यत्किञ्चित्स्मरणं मलम् ॥ ८.५५ ॥

यत्किञ्चित्स्मरणं पापं यत्किञ्चित्स्मरणं मनः ।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं महारोगेति कथ्यते ॥ ८.५६ ॥

यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं महामोहेति कथ्यते ।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं तापत्रयमुदाहृतम् ॥ ८.५७ ॥

यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं कामक्रोधं च कथ्यते ।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं संबन्धो नेतरत् क्वचित् ॥ ८.५८ ॥

यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं सर्वदुःखेति नेतरत् ।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं जगत्सत्यत्वविभ्रमम् ॥ ८.५९ ॥

यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं महादोषं च नेतरत् ।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं कालत्रयमुदीरितम् ॥ ८.६० ॥

यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं नानारूपमुदीरितम् ।
यत्र यत्र च सङ्कल्पं तत्र तत्र महज्जगत् ॥ ८.६१ ॥

यत्र यत्र च सङ्कल्पं तदेवासत्यमेव हि ।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं तज्जगन्नास्ति संशयः ॥ ८.६२ ॥

यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पं तत्सर्वं नेति निश्चयः ।
मन एव जगत्सर्वं मन एव महारिपुः ॥ ८.६३ ॥

मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम् ।
मन एव महादुःखं मन एव जरादिकम् ॥ ८.६४ ॥

मन एव हि कालं च मन एव मलं सदा ।
मन एव हि सङ्कल्पो मन एव हि जीवकः ॥ ८.६५॥

मन एवाशुचिर्नित्यं मन एवेन्द्रजालकम् ।
मन एव सदा मिथ्या मनो वन्ध्याकुमारवत् ॥ ८.६६॥

मन एव सदा नास्ति मन एव जडं सदा ।
मन एव हि चित्तं च मनोऽहंकारमेव च ॥ ८.६७॥

मन एव महद्बन्धं मनोऽन्तःकरणं क्वचित् ।
मन एव हि भूमिश्च मन एव हि तोयकम् ॥ ८.६८॥

मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान् ।
मन एव हि चाकाशो मन एव हि शब्दकः ॥ ८.६९॥

मन एव स्पर्शरूपं मन एव हि रूपकम् ।
मन एव रसाकारं मनो गन्धः प्रकीर्तितः ॥ ८.७०॥

अन्नकोशं मनोरूपं प्राणकोशं मनोमयम् ।
मनोकोशं मनोरूपं विज्ञानं च मनोमयः ॥ ८.७१॥

मन एवानन्दकोशं मनो जाग्रदवस्थितम् ।
मन एव हि स्वप्नं च मन एव सुषुप्तिकम् ॥ ८.७२॥

मन एव हि देवादि मन एव यमादयः ।
मन एव हि यत्किञ्चिन्मन एव मनोमयः ॥ ८.७३॥

मनोमयमिदं विश्वं मनोमयमिदं पुरम् ।
मनोमयमिदं भूतं मनोमयमिदं द्वयम् ॥ ८.७४॥

मनोमयमियं जातिर्मनोमयमयं गुणः ।
मनोमयमिदं दृश्यं मनोमयमिदं जडम् ॥ ८.७५॥

मनोमयमिदं यद्यन्मनो जीव इति स्थितम् ।
सङ्कल्पमात्रमज्ञानं भेदः सङ्कल्प एव हि ॥ ८.७६॥

सङ्कल्पमात्रं विज्ञानं द्वन्द्वं सङ्कल्प एव हि ।
सङ्कल्पमात्रकालं च देशं सङ्कल्पमेव हि ॥ ८.७७॥

सङ्कल्पमात्रो देहश्च प्राणः सङ्कल्पमात्रकः ।
सङ्कल्पमात्रं मननं सङ्कल्पं श्रवणं सदा ॥ ८.७८॥

सङ्कल्पमात्रं नरकं सङ्कल्पं स्वर्ग इत्यपि ।
सङ्कल्पमेव चिन्मात्रं सङ्कल्पं चात्मचिन्तनम् ॥ ८.७९॥

सङ्कल्पं वा मनाक्तत्त्वं ब्रह्मसङ्कल्पमेव हि ।

सङ्कल्प एव यत्किञ्चित् तन्नास्त्येव कदाचन ॥ ८.८० ॥

नास्ति नास्त्येव सङ्कल्पं नास्ति नास्ति जगत्त्रयम् ।
नास्ति नास्ति गुरुर्नास्ति नास्ति शिष्योऽपि वस्तुतः ॥ ८.८१ ॥

नास्ति नास्ति शरीरं च नास्ति नास्ति मनः क्वचित् ।
नास्ति नास्त्येव किञ्चिद्वा नास्ति नास्त्यखिलं जगत् ॥ ८.८२ ॥

नास्ति नास्त्येव भूतं वा सर्वं नास्ति न संशयः ।
सर्वं नास्ति प्रकरणं मयोक्तं च निदाघ ते ।
यः श‍ृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ ८.८३ ॥

वेदान्तैरपि चन्द्रशेखरपदाम्भोजानुरागादरा-
दारोदारकुमारदारनिकरैः प्राणैर्वनैरुज्झितः ।
त्यागाद्यो मनसा सकृत् शिवपदध्यानेन यत्प्राप्यते
तन्नैवाप्यति शब्दतर्कनिवहैः शान्तं मनस्तद्भवेत् ॥ ८.८४ ॥

अशेषदृश्योज्झितदृङ्मयानां
सङ्कल्पवर्जेन सदास्थितानाम् ।
न जाग्रतः स्वप्नसुषुप्तिभावो
न जीवनं नो मरणं च चित्रम् ॥ ८.८५ ॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
प्रपञ्चशून्यत्व-सर्वनास्तित्वनिरूपणं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥

---

९ ॥ नवमोऽध्यायः ॥

निदाघः-
कुत्र वा भवता स्नानं क्रियते नितरां गुरो ।
स्नानमन्त्रं स्नानकालं तर्पणं च वदस्व मे ॥ ९.१ ॥

ऋभुः -
आत्मस्नानं महास्नानं नित्यस्नानं न चान्यतः ।
इदमेव महास्नानं अहं ब्रह्मास्मि निश्चयः ॥ ९.२ ॥

परब्रह्मस्वरूपोऽहं परमानन्दमस्म्यहम् ।
इदमेव महास्नानं अहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ९.३ ॥

केवलं ज्ञानरूपोऽहं केवलं परमोऽस्म्यहम् ।
केवलं शान्तरूपोऽहं केवलं निर्मलोऽस्म्यहम् ॥ ९.४ ॥

केवलं नित्यरूपोऽहं केवलं शाश्वतोऽस्म्यहम् ।

इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.५॥

केवलं सर्वरूपोऽहं अहंत्यक्तोऽहमस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.६॥

सर्वहीनस्वरूपोऽहं चिदाकाशोऽहमस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.७॥

केवलं तुर्यरूपोऽस्मि तुर्यातीतोऽस्मि केवलम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.८॥

सदा चैतन्यरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दमस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.९॥

केवलाकाररूपोऽस्मि शुद्धरूपोऽस्म्यहं सदा ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.१०॥

केवलं ज्ञानशुद्धोऽस्मि केवलोऽस्मि प्रियोऽस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.११॥

केवलं निर्विकल्पोऽस्मि स्वस्वरूपोऽहमस्मि ह ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.१२॥

सदा सत्सङ्गरूपोऽस्मि सर्वदा परमोऽस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.१३॥

सदा ह्येकस्वरूपोऽस्मि सदाऽनन्योऽस्म्यहं सुखम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.१४॥

अपरिच्छिन्नरूपोऽहम् अनन्तानन्दमस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.१५॥

सत्यानन्दस्वरूपोऽहं चित्परानन्दमस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.१६॥

अनन्तानन्दरूपोऽहमवाङ्मानसगोचरः ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.१७॥

ब्रह्मानदस्वरूपोऽहं सत्यानन्दोऽस्म्यहं सदा ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.१८॥

आत्ममात्रस्वरूपोऽस्मि आत्मानन्दमयोऽस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.१९॥

आत्मप्रकाशरूपोऽस्मि आत्मज्योतिरसोऽस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.२०॥

आदिमध्यान्तहीनोऽस्मि आकाशसदृशोऽस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.२१॥

नित्यसत्तास्वरूपोऽस्मि नित्यमुक्तोऽस्म्यहं सदा ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.२२॥

नित्यसम्पूर्णरूपोऽस्मि नित्यं निर्मनसोऽस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.२३॥

नित्यसत्तास्वरूपोऽस्मि नित्यमुक्तोऽस्म्यहं सदा ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.२४॥

नित्यशब्दस्वरूपोऽस्मि सर्वातीतोऽस्म्यहं सदा ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.२५॥

रूपातीतस्वरूपोऽस्मि व्योमरूपोऽस्म्यहं सदा ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.२६॥

भूतानन्दस्वरूपोऽस्मि भाषानन्दोऽस्म्यहं सदा ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.२७॥

सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिद्घनोऽस्म्यहम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.२८॥

देहभावविहीनोऽहं चित्तहीनोऽहमेव हि ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.२९॥

देहवृत्तिविहीनोऽहं मन्त्रैवाहमहं सदा ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.३०॥

सर्वदृश्यविहीनोऽस्मि दृश्यरूपोऽहमेव हि ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.३१॥

सर्वदा पूर्णरूपोऽस्मि नित्यतृप्तोऽस्म्यहं सदा ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.३२॥

इदं ब्रह्मैव सर्वस्य अहं चैतन्यमेव हि ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.३३॥

अहमेवाहमेवास्मि नान्यत् किञ्चिच्च विद्यते ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.३४॥

अहमेव महानात्मा अहमेव परायणम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.३५॥

अहमेव महाशून्यमित्येवं मन्त्रमुत्तमम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.३६॥

अहमेवान्यवद्भामि अहमेव शरीरवत् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.३७॥

अहं च शिष्यवद्भामि अहं लोकत्रयादिवत् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.३८॥

अहं कालत्रयातीतः अहं वेदैरुपासितः ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.३९॥

अहं शास्त्रेषु निर्णीत अहं चित्ते व्यवस्थितः ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.४०॥

मत्त्यक्तं नास्ति किञ्चिद्वा मत्त्यक्तं पृथिवी च या ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.४१॥

मयातिरिक्तं तोयं वा इत्येवं मन्त्रमुत्तमम् ।
इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ ९.४२॥

अहं ब्रह्मास्मि शुद्धोऽस्मि नित्यशुद्धोऽस्म्यहं सदा ।
निर्गुणोऽस्मि निरीहोऽस्मि इत्येवं मन्त्रमुत्तमम् ॥ ९.४३॥

हरिब्रह्मादिरूपोऽस्मि एतद्भेदोऽपि नास्म्यहम् ।
केवलं ब्रह्ममात्रोऽस्मि केवलोऽस्म्यजयोऽस्म्यहम् ॥ ९.४४॥

स्वयमेव स्वयंभास्यं स्वयमेव हि नान्यतः ।
स्वयमेवात्मनि स्वस्थः इत्येवं मन्त्रमुत्तमम् ॥ ९.४५॥

स्वयमेव स्वयं भुङ्क्ष्व स्वयमेव स्वयं रमे ।
स्वयमेव स्वयंज्योतिः स्वयमेव स्वयं रमे ॥ ९.४६॥

स्वस्यात्मनि स्वयं रंस्ये स्वात्मन्येवावलोकये ।
स्वात्मन्येव सुखेनासि इत्येवं मन्त्रमुत्तमम् ॥ ९.४७॥

स्वचैतन्ये स्वयं स्थास्ये स्वात्मराज्ये सुखं रमे ।
स्वात्मसिंहासने तिष्ठे इत्येवं मन्त्रमुत्तमम् ॥ ९.४८॥

स्वात्ममन्त्रं सदा पश्यन् स्वात्मज्ञानं सदाऽभ्यसन् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः स्वात्मपापं विनाशयेत् ॥ ९.४९॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रो द्वैतदोषं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रो भेददुःखं विनाशयेत् ॥ ९.५०॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रश्चिन्तारोगं विनाशयेत् ।

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रो बुद्धिव्याधिं विनाशयेत् ॥ ९.५१॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्र आधिव्याधिं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः सर्वलोकं विनाशयेत् ॥ ९.५२॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः कामदोषं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः क्रोधदोषं विनाशयेत् ॥ ९.५३॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रश्चिन्तादोषं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः सङ्कल्पं च विनाशयेत् ॥ ९.५४॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः इदं दुःखं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः अविवेकमलं दहेत् ॥ ९.५५॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः अज्ञानध्वंसमाचरेत् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः कोटिदोषं विनाशयेत् ॥ ९.५६॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः सर्वतन्त्रं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रो देहदोषं विनाशयेत् ॥ ९.५७॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः दृष्टादृष्टं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्र आत्मज्ञानप्रकाशकम् ॥ ९.५८॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्र आत्मलोकजयप्रदम् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्र असत्यादि विनाशकम् ॥ ९.५९॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः अन्यत् सर्वं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्र अप्रतर्क्यसुखप्रदम् ॥ ९.६०॥

अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रः अनात्मज्ञानमाहरेत् ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं मन्त्रो ज्ञानानन्दं प्रयच्छति ॥ ९.६१॥

सप्तकोटि महामन्त्रा जन्मकोटिशतप्रदाः ।
सर्वमन्त्रान् समुत्सृज्य जपमेनं समभ्यसेत् ॥ ९.६२॥

सद्यो मोक्षमवाप्नोति नात्र सन्देहमस्ति मे ।
मन्त्रप्रकरणे प्रोक्तं रहस्यं वेदकोटिषु ॥ ९.६३॥

यः शृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
नित्यानन्दमयः स एव परमानन्दोदयः शाश्वतो
यस्मान्नान्यदतोऽन्यदार्तमखिलं तज्जं जगत् सर्वदः ।
यो वाचा मनसा तथेन्द्रियगणैर्देहोऽपि वेद्यो न चे-
दच्छेद्यो भववैद्य ईश इति या सा धीः परं मुक्तये ॥ ९.६४॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे

अहंब्रह्मास्मिप्रकरणनिरूपणं नाम नवमोऽध्यायः ॥

१० ॥ दशमोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
नित्यतर्पणमाचक्ष्ये निदाघ श्रृणु मे वचः ।
वेदशास्त्रेषु सर्वेषु अत्यन्तं दुर्लभं नृणाम् ॥ १०.१॥

सदा प्रपञ्चं नास्त्येव इदमित्यपि नास्ति हि ।
ब्रह्ममात्रं सदापूर्णं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.२॥

सरूपमात्रं ब्रह्मैव सच्चिदानन्दमप्यहम् ।
आनन्दघन एवाहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.३॥

सर्वदा सर्वशून्योऽहं सदात्मानन्दवानहम् ।
नित्यानित्यस्वरूपोऽहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.४॥

अहमेव चिदाकाश आत्माकाशोऽस्मि नित्यदा ।
आत्मनाऽऽत्मनि तृप्तोऽहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.५॥

एकत्वसंख्याहीनोऽस्मि अरूपोऽस्म्यहमद्वयः ।
नित्यशुद्धस्वरूपोऽहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.६॥

आकाशादपि सूक्ष्मोऽहं अत्यन्ताभावकोऽस्म्यहम् ।
सर्वप्रकाशरूपोऽहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.७॥

परब्रह्मस्वरूपोऽहं परावरसुखोऽस्म्यहम् ।
सत्रामात्रस्वरूपोऽहं दृग्दृश्यादिविवर्जितः ॥ १०.८॥

यत् किञ्चिदप्यहं नास्ति तूष्णीं तूष्णीमिहास्म्यहम् ।
शुद्धमोक्षस्वरूपोऽहम् इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.९॥

सर्वानन्दस्वरूपोऽहं ज्ञानानन्दमहं सदा ।
विज्ञानमात्ररूपोऽहम् इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.१०॥

ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं नास्ति नान्यत्र ते शपे ।
तदेवाहं न सन्देहः इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.११॥

त्वमित्येतत् तदित्येतन्नास्ति नास्तीह किञ्चन ।
शुद्धचैतन्यमात्रोऽहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.१२॥

अत्यन्ताभावरूपोऽहमहमेव परात्परः ।
अहमेव सुखं नान्यत् इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.१३॥

इदं हेममयं किञ्चिन्नास्ति नास्त्येव ते शपे ।
निर्गुणानन्दरूपोऽहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.१४॥

साक्षिवस्तुविहीनत्वात् साक्षित्वं नास्ति मे सदा ।
केवलं ब्रह्मभावत्वात् इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.१५॥

अहमेवाविशेषोऽहमहमेव हि नामकम् ।
अहमेव विमोहं वै इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.१६॥

इन्द्रियाभावरूपोऽहं सर्वाभावस्वरूपकम् ।
बन्धमुक्तिविहीनोऽस्मि इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.१७॥

सर्वानन्दस्वरूपोऽहं सर्वानन्दघनोऽस्म्यहम् ।
नित्यचैतन्यमात्रोऽहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.१८॥

वाचामगोचरश्चाहं वाङ्मनो नास्ति किञ्चन ।
चिदानन्दमयश्चाहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.१९॥

सर्वत्र पूर्णरूपोऽहं सर्वत्र सुखमस्म्यहम् ।
सर्वत्राचिन्त्यरूपोऽहम् इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.२०॥

सर्वत्र तृप्तिरूपोऽहं सर्वानन्दमयोऽस्म्यहम् ।
सर्वशून्यस्वरूपोऽहम् इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.२१॥

सर्वदा मत्स्वरूपोऽहं परमानन्दवानहम् ।
एक एवाहमेवाहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.२२॥

मुक्तोऽहं मोक्षरूपोऽहं सर्वमौनपरोऽस्म्यहम् ।
सर्वनिर्वाणरूपोऽहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.२३॥

सर्वदा सत्स्वरूपोऽहं सर्वदा तुर्यवानहम् ।
तुर्यातीतस्वरूपोऽहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.२४॥

सत्यविज्ञानमात्रोऽहं सन्मात्रानन्दवानहम् ।
निर्विकल्पस्वरूपोऽहम् इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.२५॥

सर्वदा ह्यजरूपोऽहं निरीहोऽहं निरञ्जनः ।
ब्रह्मविज्ञानरूपोऽहं इत्येवं ब्रह्मतर्पणम् ॥ १०.२६॥

ब्रह्मतर्पणमेवोक्तं एतत्प्रकरणं मया ।
यः श्रृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ १०.२७॥

नित्यहोमं प्रवक्ष्यामि सर्ववेदेषु दुर्लभम् ।
सर्वशास्त्रार्थमद्वैतं सावधानमनाः श्रृणु ॥ १०.२८॥

अहं ब्रह्मास्मि शुद्धोऽस्मि नित्योऽस्मि प्रभुरस्म्यहम् ।
ॐकारार्थस्वरूपोऽस्मि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.२९॥

परमात्मस्वरूपोऽस्मि परानन्दपरोऽस्म्यहम् ।
चिदानन्दस्वरूपोऽस्मि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.३०॥

नित्यानन्दस्वरूपोऽस्मि निष्कलङ्कमयो ह्यहम् ।
चिदाकारस्वरूपोऽहं एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.३१॥

न हि किञ्चित् स्वरूपोऽस्मि नाहमस्मि न सोऽस्म्यहम् ।
निर्व्यापारस्वरूपोऽस्मि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.३२॥

निरंशोऽस्मि निराभासो न मनो नेन्द्रियोऽस्म्यहम् ।
न बुद्धिर्न विकल्पोऽहं एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.३३॥

न देहादिस्वारूपोऽस्मि त्रयादिपरिवर्जितः ।
न जाग्रत्स्वप्नरूपोऽस्मि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.३४॥

श्रवणं मननं नास्ति निदिध्यासनमेव हि ।
स्वगतं च न मे किञ्चिद् एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.३५॥

असत्यं हि मनःसत्ता असत्यं बुद्धिरूपकम् ।
अहङ्कारमसद्विद्धि कालत्रयमसत् सदा ॥ १०.३६॥

गुणत्रयमसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.३७॥

श्रुतं सर्वमसद्विद्धि वेदं सर्वमसत् सदा ।
सर्वतत्त्वमसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.३८॥

नानारूपमसद्विद्धि नानावर्णमसत् सदा ।
नानाजातिमसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.३९॥

शास्त्रज्ञानमसद्विद्धि वेदज्ञानं तपोऽप्यसत् ।
सर्वतीर्थमसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.४०॥

गुरुशिष्यमसद्विद्धि गुरोर्मन्त्रमसत् ततः ।
यद् दृश्यं तदसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.४१॥

सर्वान् भोगानसद्विद्धि यच्चिन्त्यं तदसत् सदा ।
यद् दृश्यं तदसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.४२॥

सर्वेन्द्रियमसद्विद्धि सर्वमन्त्रमसत् त्विति ।
सर्वप्राणानसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.४३॥

जीवं देहमसद्विद्धि परे ब्रह्मणि नैव हि ।

मयि सर्वमसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.४४॥

दृष्टं श्रुतमसद्विद्धि ओतं प्रोतमसन्मयि ।
कार्याकार्यमसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.४५॥

दृष्टप्राप्तिमसद्विद्धि सन्तोषमसदेव हि ।
सर्वकर्माण्यसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.४६॥

सर्वासर्वमसद्विद्धि पूर्णापूर्णमसत् परे ।
सुखं दुःखमसद्विद्धि एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.४७॥

यथाधर्ममसद्विद्धि पुण्यापुण्यमसत् सदा ।
लाभालाभमसद्विद्धि सदा देहमसत् सदा ॥ १०.४८॥

सदा जयमसद्विद्धि सदा गर्वमसत् सदा ।
मनोमयमसद्विद्धि संशयं निश्चयं तथा ॥ १०.४९॥

शब्दं सर्वमसद्विद्धि स्पर्शं सर्वमसत् सदा ।
रूपं सर्वमसद्विद्धि रसं सर्वमसत् सदा ॥ १०.५०॥

गन्धं सर्वमसद्विद्धि ज्ञानं सर्वमसत् सदा ।
भूतं भव्यमसद्विद्धि असत् प्रकृतिरुच्यते ॥ १०.५१॥

असदेव सदा सर्वमसदेव भवोद्भवम् ।
असदेव गुणं सर्वं एवं होमं सुदुर्लभम् ॥ १०.५२॥

शशश्रृङ्गवदेव त्वं शशश्रृङ्गवदस्म्यहम् ।
शशश्रृङ्गवदेवेदं शशश्रृङ्गवदन्तरम् ॥ १०.५३॥

इत्येवमात्महोमाख्यमुक्तं प्रकरणं मया ।
यः श्रृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ १०.५४॥

स्कन्दः -
यस्मिन् संच विचैति विश्वमखिलं द्योतन्ति सूर्येन्दवो
विद्युद्वह्निमरुद्गणाः सवरुणा भीता भजन्तीश्वरम् ।
भूतं चापि भवत्यदृश्यमखिलं शम्भोः सुखांशं जगत्
जातं चापि जनिष्यति प्रतिभवं देवासुरैर्निर्यपि ।
तन्नेहास्ति न किञ्चिदत्र भगवद्ध्यानान्न किञ्चित् प्रियम् ॥ १०.५५॥

यः प्राणापानभेदैर्मननधिया धारणापञ्चकाद्यैः
मध्ये विश्वजनस्य सन्नपि शिवो नो दृश्यते सूक्ष्मया ।
बुद्धयादध्यातयापि श्रुतिवचनशतैर्देशिकोक्त्यैकसूक्त्या
योगैर्भक्तिसमन्वितैः शिवतरो दृश्यो न चान्यत् तथा ॥ १०.५६॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे ब्रह्मतर्पणात्महोमाख्य प्रकरणद्वयवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥

---

११ ॥ एकादशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
ब्रह्मज्ञानं प्रवक्ष्यामि जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.१॥

अहं ब्रह्मवदेवेदमहमात्मा न संशयः ।
चैतन्यात्मेति यस्तिष्ठेत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२॥

चिदात्माहं परात्माहं निर्गुणोऽहं परात्परः ।
इत्येवं निश्चयो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३॥

देहत्रयातिरिक्तोऽहं ब्रह्म चैतन्यमस्म्यहम् ।
ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४॥

आनन्दघनरूपोऽस्मि परानन्दपरोऽस्म्यहम् ।
यश्चिदेवं परानन्दं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५॥

यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः ।
परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.६॥

यस्य किञ्चिदहं नास्ति चिन्मात्रेणावतिष्ठते ।
परानन्दो मुदानन्दः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.७॥

चैतन्यमात्रं यस्यान्तश्चिन्मात्रैकस्वरूपवान् ।
न स्मरत्यन्यकलनं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.८॥ var was कललं
सर्वत्र परिपूर्णात्मा सर्वत्र कलनात्मकः ।
सर्वत्र नित्यपूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.९॥

परमात्मपरा नित्यं परमात्मेति निश्चितः ।
आनन्दाकृतिरव्यक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.१०॥

शुद्धकैवल्यजीवात्मा सर्वसङ्गविवर्जितः ।
नित्यानन्दप्रसन्नात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.११॥

एकरूपः प्रशान्तात्मा अन्यचिन्ताविवर्जितः ।
किञ्चिदस्तित्वहीनो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.१२॥

न मे चित्तं न मे बुद्धिर्नाहङ्कारो न चेन्द्रियः ।
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.१३॥

न मे दोषो न मे देहो ने मे प्राणो न मे क्वचित् ।
दृढनिश्चयवान् योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.१४॥

न मे माया न मे कामो न मे क्रोधोऽपरोऽस्म्यहम् ।
न मे किञ्चिदिदं वाऽपि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.१५॥

न मे दोषो न मे लिङ्गं न मे बन्धः क्वचिज्जगत् ।
यस्तु नित्यं सदानन्दः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.१६॥

न मे श्रोत्रं न मे नासा न मे चक्षुर्न मे मनः ।
न मे जिह्वेति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.१७॥

न मे देहो न मे लिङ्गं न मे कारणमेव च ।
न मे तुर्यमिति स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.१८॥

इदं सर्वं न मे किञ्चिदयं सर्वं न मे क्वचित् ।
ब्रह्ममात्रेण यस्तिष्ठेत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.१९॥

न मे किञ्चिन्न मे कश्चिन्न मे कश्चित् क्वचिज्जगत् ।
अहमेवेति यस्तिष्ठेत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२०॥

न मे कालो न मे देशो न मे वस्तु न मे स्थितिः ।
न मे स्नानं न मे प्रासः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२१॥

न मे तीर्थं न मे सेवा न मे देवो न मे स्थलम् ।
न क्वचिद्भेदहीनोऽयं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२२॥

न मे बन्धं न मे जन्म न मे ज्ञानं न मे पदम् ।
न मे वाक्यमिति स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२३॥

न मे पुण्यं न मे पापं न मे कायं न मे शुभम् ।
न मे दृश्यमिति ज्ञानी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२४॥

न मे शब्दो न मे स्पर्शो न मे रूपं न मे रसः ।
न मे जीव इति ज्ञात्वा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२५॥

न मे सर्वं न मे किञ्चित् न मे जीवं न मे क्वचित् ।
न मे भावं न मे वस्तु स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२६॥

न मे मोक्ष्ये न मे द्वैतं न मे वेदो न मे विधिः ।
न मे दूरमिति स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२७॥

न मे गुरुर्न मे शिष्यो न मे बोधो न मे परः ।
न मे श्रेष्ठं क्वचिद्वस्तु स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२८॥

न मे ब्रह्मा न मे विष्णुर्न मे रुद्रो न मे रविः ।

न मे कर्म क्वचिद्वस्तु स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.२९॥

न मे पृथ्वी न मे तोयं न मे तेजो न मे वियत् ।
न मे कार्यमिति स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३०॥

न मे वार्ता न मे वाक्यं न मे गोत्रं न मे कुलम् ।
न मे विद्येति यः स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३१॥

न मे नादो न मे शब्दो न मे लक्ष्यं न मे भवः ।
न मे ध्यानमिति स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३२॥

न मे शीतं न मे चोष्णं न मे मोहो न मे जपः ।
न मे सन्ध्येति यः स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३३॥

न मे जपो न मे मन्त्रो न मे होमो न मे निशा ।
न मे सर्वमिति स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३४॥

न मे भयं न मे चान्नं न मे तृष्णा न मे क्षुधा ।
न मे चात्मेति यः स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३५॥

न मे पूर्वं न मे पश्चात् न मे चोर्ध्वं न मे दिशः ।
न चित्तमिति स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३६॥

न मे वक्तव्यमल्पं वा न मे श्रोतव्यमण्वपि ।
न मे मन्तव्यमीषद्वा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३७॥

न मे भोक्तव्यमीषद्वा न मे ध्यातव्यमण्वपि ।
न मे स्मर्तव्यमेवायं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३८॥

न मे भोगो न मे रोगो न मे योगो न मे लयः ।
न मे सर्वमिति स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.३९॥

न मेऽस्तित्वं न मे जातं न मे वृद्धं न मे क्षयः ।
अध्यारोपो न मे स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४०॥

अध्यारोप्यं न मे किञ्चिदपवादो न मे क्वचित् ।
न मे किञ्चिदहं यत्तु स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४१॥

न मे शुद्धिर्न मे शुभ्रो न मे चैकं न मे बहु ।
न मे भूतं न मे कार्यं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४२॥

न मे कोऽहं न मे चेदं न मे नान्यं न मे स्वयम् ।
न मे कश्चिन्न मे स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४३॥

न मे मांसं न मे रक्तं न मे मेदो न मे शकृत् ।
न मे कृपा न मेऽस्तीति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४४॥

न मे सर्वं न मे शुक्लं न मे नीलं न मे पृथक् ।
न मे स्वस्थः स्वयं यो वा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४५॥

न मे तापं न मे लोभो न मे गौण न मे यशः ।
ने मे तत्त्वमिति स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४६॥

न मे भ्रान्तिर्न मे ज्ञानं न मे गुह्यं न मे कुलम् ।
न मे किञ्चिदिति ध्यायन् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४७॥

न मे त्याज्यं न मे ग्राह्यं न मे हास्यं न मे लयः ।
न मे दैवमिति स्वस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४८॥

न मे व्रतं न मे ग्लानिः न मे शोच्यं न मे सुखम् ।
न मे न्यूनं क्वचिद्वस्तु स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.४९॥

न मे ज्ञाता न मे ज्ञानं न मे ज्ञेयं न मे स्वयम् ।
न मे सर्वमिति ज्ञानी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५०॥

न मे तुभ्यं न मे मह्यं न मे त्वत्तो न मे त्वहम् ।
न मे गुरुर्न मे यस्तु स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५१॥

न मे जडं न मे चैत्यं न मे ग्लानं न मे शुभम् ।
न मे न मेति यस्तिष्ठेत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५२॥

न मे गोत्रं न मे सूत्रं न मे पात्रं न मे कृपा ।
न मे किञ्चिदिति ध्यायी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५३॥

न मे चात्मा न मे नात्मा न मे स्वर्गं न मे फलम् ।
न मे दूष्यं क्वचिद्वस्तु स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५४॥

न मेऽभ्यासो न मे विद्या न मे शान्तिर्न मे दमः ।
न मे पुरमिति ज्ञानी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५५॥

न मे शल्यं न मे शङ्का न मे सुप्तिर्न मे मनः ।
न मे विकल्प इत्याप्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५६॥

न मे जरा न मे बाल्यं न मे यौवनमण्वपि ।
न मे मृतिर्न मे ध्वान्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५७॥

न मे लोकं न मे भोगं न मे सर्वमिति स्मृतः ।
न मे मौनमिति प्राप्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५८॥

अहं ब्रह्म ह्यहं ब्रह्म ह्यहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
चिदहं चिदहं चेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.५९॥

ब्रह्मैवाहं चिदेवाहं परैवाहं न संशयः ।
स्वयमेव स्वयं ज्योतिः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.६०॥

स्वयमेव स्वयं पश्येत् स्वयमेव स्वयं स्थितः ।
स्वात्मन्येव स्वयं भूतः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.६१॥

स्वात्मानन्दं स्वयं भुंक्ष्वे स्वात्मराज्ये स्वयं वसे ।
स्वात्मराज्ये स्वयं पश्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.६२॥

स्वयमेवाहमेकाग्रः स्वयमेव स्वयं प्रभुः ।
स्वस्वरूपः स्वयं पश्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११.६३॥

जीवन्मुक्तिप्रकरणं सर्ववेदेषु दुर्लभम् ।
यः श्रृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ ११.६४॥

ये वेदवादविधिकल्पितभेदबुद्ध्या
पुण्याभिसन्धितधिया परिकर्शयन्तः ।
देहं स्वकीयमतिदुःखपरं पराभि-
स्तेषां सुखाय न तु जातु तवेश पादात् ॥ ११.६५॥

कः सन्तरेत भवसागरमेतदुत्य-
त्तरङ्गसदृशं जनिमृत्युरूपम् ।
ईशार्चनाविधिसुबोधितभेदहीन-
ज्ञानोडुपेन प्रतरेद्भवभावयुक्तः ॥ ११.६६॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
जीवन्मुक्तप्रकरणं नाम एकादशोऽध्यायः ॥

१२ ॥ द्वादशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
देहमुक्तिप्रकरणं निदाघ श्रृणु दुर्लभम् ।
त्यक्तात्यक्तं न स्मरति विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.१॥

ब्रह्मरूपः प्रशान्तात्मा नान्यरूपः सदा सुखी ।
स्वस्थरूपो महामौनी विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२॥

सर्वात्मा सर्वभूतात्मा शान्तात्मा मुक्तिवर्जितः ।
एकात्मवर्जितः साक्षी विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३॥

लक्ष्यात्मा लालितात्माहं लीलात्मा स्वात्ममात्रकः ।
तूष्णीमात्मा स्वभावात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.४॥

शुभ्रात्मा स्वयमात्माहं सर्वात्मा स्वात्ममात्रकः ।
अजात्मा चामृतात्मा हि विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५॥

आनन्दात्मा प्रियः स्वात्मा मोक्षात्मा कोऽपि निर्णयः ।
इत्येवमिति निध्यायी विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.६॥

ब्रह्मैवाहं चिदेवाहं एकं वापि न चिन्त्यते ।
चिन्मात्रेणैव यस्तिष्ठेद्विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.७॥

निश्चयं च परित्यज्य अहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
आनन्दभूरिदेहस्तु विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.८॥

सर्वमस्तीति नास्तीति निश्चयं त्यज्य तिष्ठति ।
अहं ब्रह्मास्मि नान्योऽस्मि विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.९॥

किञ्चित् क्वचित् कदाचिच्च आत्मानं न स्मरत्यसौ ।
स्वस्वभावेन यस्तिष्ठेत् विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.१०॥

अहमात्मा परो ह्यात्मा चिदात्माहं न चिन्त्यते ।
स्थास्यामीत्यपि यो युक्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.११॥

तूष्णीमेव स्थितस्तूष्णीं सर्वं तूष्णीं न किञ्चन ।
अहमर्थपरित्यक्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.१२॥

परमात्मा गुणातीतः सर्वात्मापि न संमतः ।
सर्वभावान्महात्मा यो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.१३॥

कालभेदं देशभेदं वस्तुभेदं स्वभेदकम् ।
किञ्चिद्भेदं न यस्यास्ति विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.१४॥

अहं त्वं तदिदं सोऽयं किञ्चिद्वापि न विद्यते ।
अत्यन्तसुखमात्रोऽहं विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.१५॥

निर्गुणात्मा निरात्मा हि नित्यात्मा नित्यनिर्णयः ।
शून्यात्मा सूक्ष्मरूपो यो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.१६॥

विश्वात्मा विश्वहीनात्मा कालात्मा कालहेतुकः ।
देवात्मा देवहीनो यो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.१७॥

मात्रात्मा मेयहीनात्मा मूढात्माऽनात्मवर्जितः ।
केवलात्मा परात्मा च विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.१८॥

सर्वत्र जडहीनात्मा सर्वेषामन्तरात्मकः ।
सर्वेषामिति यस्तूक्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.१९॥

सर्वसङ्कल्पहीनेति सच्चिदानन्दमात्रकः ।
स्थास्यामीति न यस्यान्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२०॥

सर्वं नास्ति तदस्तीति चिन्मात्रोऽस्तीति सर्वदा ।
प्रबुद्धो नास्ति यस्यान्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२१॥

केवलं परमात्मा यः केवलं ज्ञानविग्रहः ।
सत्तामात्रस्वरूपो यो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२२॥

जीवेश्वरेति चैत्येति वेदशास्त्रे त्वहं त्विति ।
ब्रह्मैवेति न यस्यान्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२३॥

ब्रह्मैव सर्वमेवाहं नान्यत् किञ्चिज्जगद्भवेत् ।
इत्येवं निश्चयो भावः विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२४॥

इदं चैतन्यमेवेति अहं चैतन्यमेव हि ।
इति निश्चयशून्यो यो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२५॥

चैतन्यमात्रः संसिद्धः स्वात्मारामः सुखासनः ।
सुखमात्रान्तरङ्गो यो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२६॥

अपरिच्छिन्नरूपात्मा अणोरणुविनिर्मलः ।
तुर्यातीतः परानन्दो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२७॥

नामापि नास्ति सर्वात्मा न रूपो न च नास्तिकः ।
परब्रह्मस्वरूपात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२८॥

तुर्यातीतः स्वतोऽतीतः अतोऽतीतः स सन्मयः ।
अशुभाशुभशान्तात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.२९॥

बन्धमुक्तिप्रशान्तात्मा सर्वात्मा चान्तरात्मकः ।
प्रपञ्चात्मा परो ह्यात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३०॥

सर्वत्र परिपूर्णात्मा सर्वदा च परात्परः ।
अन्तरात्मा ह्यनन्तात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३१॥

अबोधबोधहीनात्मा अजडो जडवर्जितः ।
अतत्त्वातत्त्वसर्वात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३२॥

असमाधिसमाध्यन्तः अलक्ष्यालक्ष्यवर्जितः ।
अभूतो भूत एवात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३३॥

चिन्मयात्मा चिदाकाशश्चिदानन्दश्चिदंबरः ।
चिन्मात्ररूप एवात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३४॥

सच्चिदानन्दरूपात्मा सच्चिदानन्दविग्रहः ।

सच्चिदानन्दपूर्णात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३५॥

सदा ब्रह्ममयो नित्यं सदा स्वात्मनि निष्ठितः ।
सदाऽखण्डैकरूपात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३६॥

प्रज्ञानघन एवात्मा प्रज्ञानघनविग्रहः ।
नित्यज्ञानपरानन्दो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३७॥

यस्य देहः क्वचिन्नास्ति यस्य किञ्चित् स्मृतिश्च न ।
सदात्मा ह्यात्मनि स्वस्थो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३८॥

यस्य निर्वासनं चित्तं यस्य ब्रह्मात्मना स्थितिः ।
योगात्मा योगयुक्तात्मा विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.३९॥

चैतन्यमात्र एवेति त्यक्तं सर्वमतिर्न हि ।
गुणागुणविकारान्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.४०॥

कालदेशादि नास्त्यन्तो न ग्राह्यो नास्मृतिः परः ।
निश्चयं च परित्यक्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.४१॥

भूमानन्दापरानन्दो भोगानन्दविवर्जितः ।
साक्षी च साक्षिहीनश्च विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.४२॥

सोऽपि कोऽपि न सो कोऽपि किञ्चित् किञ्चिन्न किञ्चन ।
आत्मानात्मा चिदात्मा च चिदचिच्चाहमेव च ॥ १२.४३॥

यस्य प्रपञ्चश्चानात्मा ब्रह्माकारमपीह न ।
स्वस्वरूपः स्वयंज्योतिर्विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.४४॥

वाचामगोचरानन्दः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ।
अतीतातीतभावो यो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.४५॥

चित्तवृत्तेरतीतो यश्चित्तवृत्तिर्न भासकः ।
सर्ववृत्तिविहीनो यो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.४६॥

तस्मिन् काले विदेहो यो देहस्मरणवर्जितः ।
न स्थूलो न कृशो वापि विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.४७॥

ईषणमात्रस्थितो यो वै सदा सर्वविवर्जितः ।
ब्रह्ममात्रेण यस्तिष्ठेत् विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.४८॥

परं ब्रह्म परानन्दः परमात्मा परात्परः ।
परैरदृष्टबाह्यान्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.४९॥

शुद्धवेदान्तसारोऽयं शुद्धसत्त्वात्मनि स्थितः ।
तद्भेदमपि यस्त्यक्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५०॥

ब्रह्मामृतरसास्वादो ब्रह्मामृतरसायनम् ।
ब्रह्मामृतरसे मग्नो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५१॥

ब्रह्मामृतरसाधारो ब्रह्मामृतरसः स्वयम् ।
ब्रह्मामृतरसे तृप्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५२॥

ब्रह्मानन्दपरानन्दो ब्रह्मानन्दरसप्रभः ।
ब्रह्मानन्दपरंज्योतिर्विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५३॥

ब्रह्मानन्दरसानन्दो ब्रह्मामृतनिरन्तरम् ।
ब्रह्मानन्दः सदानन्दो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५४॥

ब्रह्मानन्दानुभावो यो ब्रह्मामृतशिवार्चनम् ।
ब्रह्मानन्दरसप्रीतो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५५॥

ब्रह्मानन्दरसोद्वाहो ब्रह्मामृतकुटुम्बकः ।
ब्रह्मानन्दजनैर्युक्तो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५६॥

ब्रह्मामृतवरे वासो ब्रह्मानन्दालये स्थितः ।
ब्रह्मामृतजपो यस्य विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५७॥

ब्रह्मानन्दशरीरान्तो ब्रह्मानन्देन्द्रियः क्वचित् ।
ब्रह्मामृतमयी विद्या विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५८॥

ब्रह्मानदमदोन्मत्तो ब्रह्मामृतरसंभरः ।
ब्रह्मात्मनि सदा स्वस्थो विदेहान्मुक्त एव सः ॥ १२.५९॥

देहमुक्तिप्रकरणं सर्ववेदेषु दुर्लभम् ।
मयोक्तं ते महायोगिन् विदेहः श्रवणाद्भवेत् ॥ १२.६०॥

स्कन्दः -
अनाथ नाथ ते पदं भजाम्युमासनाथ स-
न्निशीथनाथमौलिसंस्फुटल्ललाटसङ्गज-
स्फुलिङ्गदग्धमन्मथं प्रमाथनाथ पाहि माम् ॥ १२.६१॥

विभूतिभूषगात्र ते त्रिनेत्रमित्रतामियात्
मनःसरोरुहं क्षणं तथेक्षणेन मे सदा ।
प्रबन्धसंसृतिभ्रमद्भ्रमज्जनौघसन्ततौ
न वेद वेदमौलिरप्यपास्तदुःखसन्ततिम् ॥ १२.६२॥

॥इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
देहमुक्तिप्रकरणवर्णनं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

१३ ॥ त्रयोदशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
शृणुष्व दुर्लभं लोके सारात् सारतरं परम् ।
आत्मरूपमिदं सर्वमात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.१॥

सर्वमात्मास्ति परमा परमात्मा परात्मकः ।
नित्यानन्दस्वरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२॥

पूर्णरूपो महानात्मा पूतात्मा शाश्वतात्मकः ।
निर्विकारस्वरूपात्मा निर्मलात्मा निरात्मकः ॥ १३.३॥

शान्ताशान्तस्वरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ।
जीवात्मा परमात्मा हि चित्ताचित्तात्मचिन्मयः ।
एकात्मा एकरूपात्मा नैकात्मात्मविवर्जितः ॥ १३.४॥

मुक्तामुक्तस्वरूपात्मा मुक्तामुक्तविवर्जितः ।
मोक्षरूपस्वरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.५॥

द्वैताद्वैतस्वरूपात्मा द्वैताद्वैतविवर्जितः ।
सर्ववर्जितसर्वात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.६॥

मुदामुदस्वरूपात्मा मोक्षात्मा देवतात्मकः ।
सङ्कल्पहीनसारात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.७॥

निष्कलात्मा निर्मलात्मा बुद्ध्यात्मा पुरुषात्मकः ।
आनन्दात्मा ह्यजात्मा च ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.८॥

अगण्यात्मा गणात्मा च अमृतात्मामृतान्तरः ।
भूतभव्यभविष्यात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.९॥

अखिलात्माऽनुमन्यात्मा मानात्मा भावभावनः ।
तुर्यरूपप्रसन्नात्मा आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.१०॥

नित्यं प्रत्यक्षरूपात्मा नित्यप्रत्यक्षनिर्णयः ।
अन्यहीनस्वभावात्मा आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.११॥

असद्धीनस्वभावात्मा अन्यहीनः स्वयं प्रभुः ।
विद्याविद्यान्यशुद्धात्मा मानामानविहीनकः ॥ १३.१२॥

नित्यानित्यविहीनात्मा इहामुत्रफलान्तरः ।
शमादिषट्कशून्यात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.१३॥

मुमुक्षुत्वं च हीनात्मा शब्दात्मा दमनात्मकः ।

नित्योपरतरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.१४॥

सर्वकालतितिक्षात्मा समाधानात्मनि स्थितः ।
शुद्धात्मा स्वात्मनि स्वात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.१५॥

अन्नकोशविहीनात्मा प्राणकोशविवर्जितः ।
मनःकोशविहीनात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.१६॥

विज्ञानकोशहीनात्मा आनन्दादिविवर्जितः ।
पञ्चकोशविहीनात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.१७॥

निर्विकल्पस्वरूपात्मा सविकल्पविवर्जितः ।
शब्दानुविद्धहीनात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.१८॥ var was शब्दानुविध्यहीनात्मा
स्थूलदेहविहीनात्मा सूक्ष्मदेहविवर्जितः ।
कारणादिविहीनात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.१९॥

दृश्यानुविद्धशून्यात्मा ह्यादिमध्यान्तवर्जितः ।
शान्ता समाधिशून्यात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२०॥

प्रज्ञानवाक्यहीनात्मा अहं ब्रह्मास्मिवर्जितः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२१॥

अयमात्मेत्यभावात्मा सर्वात्मा वाक्यवर्जितः ।
ओंकारात्मा गुणात्मा च ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२२॥

जाग्रद्धीनस्वरूपात्मा स्वप्नावस्थाविवर्जितः ।
आनन्दरूपपूर्णात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२३॥

भूतात्मा च भविष्यात्मा ह्यक्षरात्मा चिदात्मकः ।
अनादिमध्यरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२४॥

सर्वसङ्कल्पहीनात्मा स्वच्छचिन्मात्रमक्षयः ।
ज्ञातृज्ञेयादिहीनात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२५॥

एकात्मा एकहीनात्मा द्वैताद्वैतविवर्जितः ।
स्वयमात्मा स्वभावात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२६॥

तुर्यात्मा नित्यमात्मा च यत्किञ्चिदिदमात्मकः ।
भानात्मा मानहीनात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२७॥ var was मानात्मा
वाचावधिरनेकात्मा वाच्यानन्दात्मनन्दकः ।
सर्वहीनात्मसर्वात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२८॥

आत्मानमेव वीक्षस्व आत्मानं भावय स्वकम् ।

स्वस्वात्मानं स्वयं भुंक्ष्व ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.२९॥

स्वात्मानमेव सन्तुष्य आत्मानं स्वयमेव हि ।
स्वस्वात्मानं स्वयं पश्येत् स्वमात्मानं स्वयं श्रुतम् ॥ १३.३०॥

स्वमात्मनि स्वयं तृप्तः स्वमात्मानं स्वयंभरः ।
स्वमात्मानं स्वयं भस्म ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.३१॥

स्वमात्मानं स्वयं मोदं स्वमात्मानं स्वयं प्रियम् ।
स्वमात्मानमेव मन्तव्यं ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.३२॥

आत्मानमेव श्रोतव्यं आत्मानं श्रवणं भव ।
आत्मानं कामयेन्नित्यम् आत्मानं नित्यमर्चय ॥ १३.३३॥

आत्मानं श्लाघयेन्नित्यमात्मानं परिपालय ।
आत्मानं कामयेन्नित्यम् आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.३४॥

आत्मैवेयमियं भूमिः आत्मैवेदमिदं जलम् ।
आत्मैवेदमिदं ज्योतिरात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.३५॥

आत्मैवायमयं वायुरात्मैवेदमिदम् वियत् ।
आत्मैवायमहङ्कारः आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.३६॥

आत्मैवेदमिदं चित्तं आत्मैवेदमिदं मनः ।
आत्मैवेयमियं बुद्धिरात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.३७॥

आत्मैवायमयं देहः आत्मैवायमयं गुणः ।
आत्मैवेदमिदं तत्त्वम् आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.३८॥

आत्मैवायमयं मन्त्रः आत्मैवायमयं जपः ।
आत्मैवायमयं लोकः आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.३९॥

आत्मैवायमयं शब्दः आत्मैवायमयं रसः ।
आत्मैवायमयं स्पर्शः आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.४०॥

आत्मैवायमयं गन्धः आत्मैवायमयं शमः ।
आत्मैवेदमिदं दुःखं आत्मैवेदमिदं सुखम् ॥ १३.४१॥

आत्मीयमेवेदं जगत् आत्मीयः स्वप्न एव हि ।
सुषुप्तं चाप्यथात्मीयं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.४२॥

आत्मैव कार्यमात्मैव प्रायो ह्यात्मैवमद्वयम् ।
आत्मीयमेवमद्वैतं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.४३॥

आत्मीयमेवायं कोऽपि आत्मैवेदमिदं क्वचित् ।
आत्मैवायमयं लोकः आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.४४॥

आत्मैवेदमिदं दृश्यं आत्मैवायमयं जनः ।
आत्मैवेदमिदं सर्वं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.४५॥

आत्मैवायमयं शंभुः आत्मैवेदमिदं जगत् ।
आत्मैवायमयं ब्रह्मा आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.४६॥

आत्मैवायमयं सूर्य आत्मैवेदमिदं जडम् ।
आत्मैवेदमिदं ध्यानम् आत्मैवेदमिदम् फलम् ॥ १३.४७॥

आत्मैवायमयं योगः सर्वमात्ममयं जगत् ।
सर्वमात्ममयं भूतं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.४८॥

सर्वमात्ममयं भावि सर्वमात्ममयं गुरुः ।
सर्वमात्ममयं शिष्य आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.४९॥

सर्वमात्ममयं देवः सर्वमात्ममयं फलम् ।
सर्वमात्ममयं लक्ष्यं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.५०॥

सर्वमात्ममयं तीर्थं सर्वमात्ममयं स्वयम् ।
सर्वमात्ममयं मोक्षं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.५१॥

सर्वमात्ममयं कामं सर्वमात्ममयं क्रिया ।
सर्वमात्ममयं क्रोधः आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.५२॥

सर्वमात्ममयं विद्या सर्वमात्ममयं दिशः ।
सर्वमात्ममयं लोभः आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.५३॥

सर्वमात्ममयं मोहः सर्वमात्ममयं भयम् ।
सर्वमात्ममयं चिन्ता आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.५४॥

सर्वमात्ममयं धैर्यं सर्वमात्ममयं ध्रुवम् ।
सर्वमात्ममयं सत्यं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.५५॥

सर्वमात्ममयं बोधं सर्वमात्ममयं दृढम् ।
सर्वमात्ममयं मेयं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.५६॥

सर्वमात्ममयं गुह्यं सर्वमात्ममयं शुभम् ।
सर्वमात्ममयं शुद्धं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.५७॥

सर्वमात्ममयं सर्वं सत्यमात्मा सदात्मकः ।
पूर्णमात्मा क्षयं चात्मा परमात्मा परात्परः ॥ १३.५८॥

इतोऽप्यात्मा ततोऽप्यात्मा ह्यात्मैवात्मा ततस्ततः ।
सर्वमात्ममयं सत्यं आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १३.५९॥

सर्वमात्मस्वरूपं हि दृश्यादृश्यं चराचरम् ।
सर्वमात्ममयं श्रुत्वा मुक्तिमाप्नोति मानवः ॥ १३.६०॥

स्वतन्त्रशक्तिर्भगवानुमाधवो
विचित्रकायात्मकजाग्रतस्य ।
सुकारणं कार्यपरंपराभिः
स एव मायाविततोऽव्ययात्मा ॥ १३.६१॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
सर्वमात्मप्रकरणं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

---

१४ ॥ चतुर्दशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
शृणुष्व सर्वं ब्रह्मैव सत्यं सत्यं शिवं शपे ।
निश्चयेनात्मयोगीन्द्र अन्यत् किञ्चिन्न किञ्चन ॥ १४.१॥

अणुमात्रमसद्रूपं अणुमात्रमिदं ध्रुवम् ।
अणुमात्रशरीरं च अन्यत् किञ्चिन्न किञ्चन ॥ १४.२॥

सर्वमात्मैव शुद्धात्मा सर्वं चिन्मात्रमद्वयम् ।
नित्यनिर्मलशुद्धात्मा अन्यत् किञ्चिन्न किञ्चन ॥ १४.३॥

अणुमात्रे विचिन्त्यात्मा सर्वं न ह्यणुमात्रकम् ।
अणुमात्रमसंकल्पो अन्यत् किञ्चिन्न किञ्चन ॥ १४.४॥

चैतन्यमात्रं सङ्कल्पं चैतन्यं परमं पदम् ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.५॥

चैतन्यमात्रमोंकारः चैतन्यं सकलं स्वयम् ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.६॥

आनन्दश्चाहमेवास्मि अहमेव चिदव्ययः ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.७॥

अहमेव हि गुप्तात्मा अहमेव निरन्तरम् ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.८॥

अहमेव परं ब्रह्म अहमेव गुरोर्गुरुः ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.९॥

अहमेवाखिलाधार अहमेव सुखात् सुखम् ।

आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.१०॥

अहमेव परं ज्योतिरहमेवाखिलात्मकः ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.११॥

अहमेव हि तृप्तात्मा अहमेव हि निर्गुणः ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.१२॥

अहमेव हि पूर्णात्मा अहमेव पुरातनः ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.१३॥

अहमेव हि शान्तात्मा अहमेव हि शाश्वतः ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.१४॥

अहमेव हि सर्वत्र अहमेव हि सुस्थिरः ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.१५॥

अहमेव हि जीवात्मा अहमेव परात्परः ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.१६॥

अहमेव हि वाक्यार्थो अहमेव हि शङ्करः ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.१७॥

अहमेव हि दुर्लक्ष्य अहमेव प्रकाशकः ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.१८॥

अहमेवाहमेवाहं अहमेव स्वयं स्वयम् ।
अहमेव परानन्दोऽहमेव हि चिन्मयः ॥ १४.१९॥

अहमेव हि शुद्धात्मा अहमेव हि सन्मयः ।
अहमेव हि शून्यात्मा अहमेव हि सर्वगः ॥ १४.२०॥

अहमेव हि वेदान्तः अहमेव हि चित्परः ॥ १४.२१॥

अहमेव हि चिन्मात्रं अहमेव हि चिन्मयः ।
अन्यन्न किञ्चित् चिद्रूपादहं बाह्यविवर्जितः ॥ १४.२२॥

अहं न किञ्चिद् ब्रह्मात्मा अहं नान्यदहं परम् ।
नित्यशुद्धविमुक्तोऽहं नित्यतृप्तो निरञ्जनः ॥ १४.२३॥

आनन्दं परमानन्दमन्यत् किञ्चिन्न किञ्चन ।
नास्ति किञ्चिन्नास्ति किञ्चित् नास्ति किञ्चित् परात्परात् ॥ १४.२४॥

आत्मैवेदं जगत् सर्वमात्मैवेदं मनोभवम् ।
आत्मैवेदं सुखं सर्वं आत्मैवेदमिदं जगत् ॥ १४.२५॥

ब्रह्मैव सर्वं चिन्मात्रं अहं ब्रह्मैव केवलम् ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.२६॥

दृश्यं सर्वं परं ब्रह्म दृश्यं नास्त्येव सर्वदा ।
ब्रह्मैव सर्वसङ्कल्पो ब्रह्मैव न परं क्वचित् ।
आनन्दं परमं मानं इदं दृश्यं न किञ्चन ॥ १४.२७॥

ब्रह्मैव ब्रह्म चिद्रूपं चिदेवं चिन्मयं जगत् ।
असदेव जगत्सर्वं असदेव प्रपञ्चकम् ॥ १४.२८॥

असदेवाहमेवास्मि असदेव त्वमेव हि ।
असदेव मनोवृत्तिरसदेव गुणागुणौ ॥ १४.२९॥

असदेव मही सर्वा असदेव जलं सदा ।
असदेव जगत्खानि असदेव च तेजकम् ॥ १४.३०॥

असदेव सदा वायुरसदेवेदमित्यपि ।
अहङ्कारमसद्बुद्धिर्ब्रह्मैव जगतां गणः ॥ १४.३१॥

असदेव सदा चित्तमात्मैवेदं न संशयः ।
असदेवासुराः सर्वे असदेवेदश्वराकृतिः ॥ १४.३२॥

असदेव सदा विश्वं असदेव सदा हरिः ।
असदेव सदा ब्रह्मा तत्सृष्टिरसदेव हि ॥ १४.३३॥

असदेव महादेवः असदेव गणेश्वरः ।
असदेव सदा चोमा असत् स्कन्दो गणेश्वराः ॥ १४.३४॥

असदेव सदा जीव असदेव हि देहकम् ।
असदेव सदा वेदा असद्देहान्तमेव च ॥ १४.३५॥

धर्मशास्त्रं पुराणं च असत्ये सत्यविभ्रमः ।
असदेव हि सर्वं च असदेव परंपरा ॥ १४.३६॥

असदेवेदमाद्यन्तमसदेव मुनीश्वराः ।
असदेव सदा लोका लोक्या अप्यसदेव हि ॥ १४.३७॥

असदेव सुखं दुःखं असदेव जयाजयौ ।
असदेव परं बन्धमसन्मुक्तिरपि ध्रुवम् ॥ १४.३८॥

असदेव मृतिर्जन्म असदेव जडाजडम् ।
असदेव जगत् सर्वमसदेवात्मभावना ॥ १४.३९॥

असदेव च रूपाणि असदेव पदं शुभम् ।
असदेव सदा चाहमसदेव त्वमेव हि ॥ १४.४०॥

असदेव हि सर्वत्र असदेव चलाचलम् ।
असच्च सकलं भूतमसत्यं सकलं फलम् ॥ १४.४१॥

असत्यमखिलं विश्वमसत्यमखिलो गुणः ।
असत्यमखिलं शेषमसत्यमखिलं जगत् ॥ १४.४२॥

असत्यमखिलं पापं असत्यं श्रवणत्रयम् ।
असत्यं च सजातीयविजातीयमसत् सदा ॥ १४.४३॥

असत्यमधिकाराश्च अनित्या विषयाः सदा ।
असदेव हि देवाद्या असदेव प्रयोजनम् ॥ १४.४४॥

असदेव शमं नित्यं असदेव शमोऽनिशम् ।
असदेव ससन्देहं असद्युद्धं सुरासुरम् ॥ १४.४५॥ var was असदेव च सन्देहं
असदेवेशभावं चासदेवोपास्यमेव हि ।
असच्च कालदेशादि असत् क्षेत्रादिभावनम् ॥ १४.४६॥

तज्जन्यधर्माधर्मौ च असदेव विनिर्णयः ।
असच्च सर्वकर्माणि असदस्वपरभ्रमः ॥ १४.४७॥

असच्च चित्तसद्भाव असच्च स्थूलदेहकम् ।
असच्च लिङ्गदेहं च सत्यं सत्यं शिवं शपे ॥ १४.४८॥

असत्यं स्वर्गनरकं असत्यं तद्भवं सुखम् ।
असच्च ग्राहकं सर्वं असत्यं ग्राह्यरूपकम् ॥ १४.४९॥

असत्यं सत्यवद्भावं असत्यं ते शिवे शपे । var was सत्यवद्भानं
असत्यं वर्तमानाख्यं असत्यं भूतरूपकम् ॥ १४.५०॥

असत्यं हि भविष्याख्यं सत्यं सत्यं शिवे शपे ।
असत् पूर्वमसन्मध्यमसदन्तमिदं जगत् ॥ १४.५१॥

असदेव सदा प्रायं असदेव न संशयः ।
असदेव सदा ज्ञानमज्ञानज्ञेयमेव च ॥ १४.५२॥

असत्यं सर्वदा विश्वमसत्यं सर्वदा जडम् ।
असत्यं सर्वदा दृश्यं भाति तौ रङ्गश्रृङ्गवत् ॥ १४.५३॥

असत्यं सर्वदा भावः असत्यं कोशसंभवम् ।
असत्यं सकलं मन्त्रं सत्यं सत्यं न संशयः ॥ १४.५४॥

आत्मनोऽन्यज्जगन्नास्ति नास्त्यनात्ममिदं सदा ।
आत्मनोऽन्यन्मृषैवेदं सत्यं सत्यं न संशयः ॥ १४.५५॥

आत्मनोऽन्यत्सुखं नास्ति आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ।
आत्मनोऽन्या गतिर्नास्ति स्थितमात्मनि सर्वदा ॥ १४.५६॥

आत्मनोऽन्यन्न हि क्वापि आत्मनोऽन्यत् तृणं न हि ।
आत्मनोऽन्यन्न किञ्चिच्च क्वचिदप्यात्मनो न हि ॥ १४.५७॥

आत्मानन्दप्रकरणमेतत्तेऽभिहितं मया ।
यः शृणोति सकृद्विद्वान् ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ १४.५८॥

सकृच्छ्रवणमात्रेण सद्योबन्धविमुक्तिदम् ।
एतद्ग्रन्थार्थमात्रं वै गृणन् सर्वैर्विमुच्यते ॥ १४.५९॥

सूतः -
पूर्णं सत्यं महेशं भज नियतहृदा योऽन्तरायैर्विहीनः
सो नित्यो निर्विकल्पो भवति भुवि सदा ब्रह्मभूतो ऋतात्मा ।
विच्छिन्नग्रन्थिरीशे शिवविमलपदे विद्यते भासतेऽन्तः
आरामोऽन्तर्भवति नियतं विश्वभूतो मृतश्च ॥ १४.६०॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
आत्मानन्दप्रकरणवर्णनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

१५ ॥ पञ्चदशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
महारहस्यं वक्ष्यामि गुह्यात् गुह्यतरं पुनः ।
अत्यन्तदुर्लभं लोके सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.१॥

ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्ममात्रमसन्न हि ।
ब्रह्ममात्रं श्रुतं सर्वं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.२॥

ब्रह्ममात्रं महायन्त्रं ब्रह्ममात्रं क्रियाफलम् ।
ब्रह्ममात्रं महावाक्यं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३॥

ब्रह्ममात्रं जगत्सर्वं ब्रह्ममात्रं जडाजडम् ।
ब्रह्ममात्रं परं देहं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४॥

ब्रह्ममात्रं गुणं प्रोक्तं ब्रह्ममात्रमहं महत् ।
ब्रह्ममात्रं परं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.५॥

ब्रह्ममात्रमिदं वस्तु ब्रह्ममात्रं स च पुमान् ।
ब्रह्ममात्रं च यत् किञ्चित् सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.६॥

ब्रह्ममात्रमनन्तात्मा ब्रह्ममात्रं परं सुखम् ।

ब्रह्ममात्रं परं ज्ञानं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.७॥

ब्रह्ममात्रं परं पारं ब्रह्ममात्रं पुरत्रयम् ।
ब्रह्ममात्रमनेकत्वं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.८॥

ब्रह्मैव केवलं गन्धं ब्रह्मैव परमं पदम् ।
ब्रह्मैव केवलं घ्राणं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.९॥

ब्रह्मैव केवलं स्पर्शं शब्दं ब्रह्मैव केवलम् ।
ब्रह्मैव केवलं रूपं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.१०॥

ब्रह्मैव केवलं लोकं रसो ब्रह्मैव केवलम् ।
ब्रह्मैव केवलं चित्तं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.११॥

तत्पदं च सदा ब्रह्म त्वं पदं ब्रह्म एव हि ।
असीत्येव पदं ब्रह्म ब्रह्मैक्यं केवलम् सदा ॥ १५.१२॥

ब्रह्मैव केवलं गुह्यं ब्रह्म बाह्यं च केवलम् ।
ब्रह्मैव केवलं नित्यं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.१३॥

ब्रह्मैव तज्जलानीति जगदाद्यन्तयोः स्थितिः ।
ब्रह्मैव जगदाद्यन्तं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.१४॥

ब्रह्मैव चास्ति नास्तीति ब्रह्मैवाहं न संशयः ।
ब्रह्मैव सर्वं यत् किञ्चित् सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.१५॥

ब्रह्मैव जाग्रत् सर्वं हि ब्रह्ममात्रमहं परम् ।
ब्रह्मैव सत्यमस्तित्वं ब्रह्मैव तुर्यमुच्यते ॥ १५.१६॥

ब्रह्मैव सत्ता ब्रह्मैव ब्रह्मैव गुरुभावनम् ।
ब्रह्मैव शिष्यसद्भावं मोक्षं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.१७॥

पूर्वापरं च ब्रह्मैव पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।
ब्रह्मैव केवलं साक्षात् सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.१८॥

ब्रह्म सच्चित्सुखं ब्रह्म पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।
ब्रह्मैव केवलं साक्षात् सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.१९॥

ब्रह्मैव केवलं सच्चित् सुखं ब्रह्मैव केवलम् ।
आनन्दं ब्रह्म सर्वत्र प्रियरूपमवस्थितम् ॥ १५.२०॥

शुभवासनया जीवं शिववद्भाति सर्वदा ।
पापवासनया जीवो नरकं भोज्यवत् स्थितम् ॥ १५.२१॥

ब्रह्मैवेन्द्रियवद्भानं ब्रह्मैव विषयादिवत् ।

ब्रह्मैव व्यवहारश्च सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.२२॥

ब्रह्मैव सर्वमानन्दं ब्रह्मैव ज्ञानविग्रहम् ।
ब्रह्मैव मायाकार्याख्यं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.२३॥

ब्रह्मैव यज्ञसन्धानं ब्रह्मैव हृदयाम्बरम् ।
ब्रह्मैव मोक्षसाराख्यं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.२४॥

ब्रह्मैव शुद्धाशुद्धं च सर्वं ब्रह्मैव कारणम् ।
ब्रह्मैव कार्यं भूलोकं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.२५॥

ब्रह्मैव नित्यतृप्तात्मा ब्रह्मैव सकलं दिनम् ।
ब्रह्मैव तूष्णीं भूतात्मा सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.२६॥

ब्रह्मैव वेदसारार्थः ब्रह्मैव ध्यानगोचरम् ।
ब्रह्मैव योगयोगाख्यं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.२७॥

नानारूपत्वाद् ब्रह्म उपाधित्वेन दृश्यते ।
मायामात्रमिति ज्ञात्वा वस्तुतो नास्ति तत्त्वतः ॥ १५.२८॥

ब्रह्मैव लोकवद्भाति ब्रह्मैव जनवत्तथा ।
ब्रह्मैव रूपवद्भाति वस्तुतो नास्ति किञ्चन ॥ १५.२९॥

ब्रह्मैव देवताकारं ब्रह्मैव मुनिमण्डलम् ।
ब्रह्मैव ध्यानरूपं च सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३०॥

ब्रह्मैव ज्ञानविज्ञानं ब्रह्मैव परमेश्वरः ।
ब्रह्मैव शुद्धबुद्धात्मा सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३१॥

ब्रह्मैव परमानदं ब्रह्मैव व्यापकं महत् ।
ब्रह्मैव परमार्थं च सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३२॥

ब्रह्मैव यज्ञरूपं च ब्रह्म हव्यं च केवलम् ।
ब्रह्मैव जीवभूतात्मा सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३३॥

ब्रह्मैव सकलं लोकं ब्रह्मैव गुरुशिष्यकम् ।
ब्रह्मैव सर्वसिद्धिं च सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३४॥

ब्रह्मैव सर्वमन्त्रं च ब्रह्मैव सकलं जपम् ।
ब्रह्मैव सर्वकार्यं च सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३५॥

ब्रह्मैव सर्वशान्तत्वं ब्रह्मैव हृदयान्तरम् ।
ब्रह्मैव सर्वकैवल्यं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३६॥

ब्रह्मैवाक्षरभावश्च ब्रह्मैवाक्षरलक्षणम् ।

ब्रह्मैव ब्रह्मरूपञ्च सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३७॥

ब्रह्मैव सत्यभवनं ब्रह्मैवाहं न संशयः ।
ब्रह्मैव तत्पदार्थञ्च सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३८॥

ब्रह्मैवाहंपदार्थञ्च ब्रह्मैव परमेश्वरः ।
ब्रह्मैव त्वंपदार्थञ्च सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.३९॥

ब्रह्मैव यद्यत् परमं ब्रह्मैवेति परायणम् ।
ब्रह्मैव कलनाभावं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४०॥

ब्रह्म सर्वं न सन्देहो ब्रह्मैव त्वं सदाशिवः ।
ब्रह्मैवेदं जगत् सर्वं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४१॥

ब्रह्मैव सर्वसुलभं ब्रह्मैवात्मा स्वयं स्वयम् ।
ब्रह्मैव सुखमात्रत्वात् सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४२॥

ब्रह्मैव सर्वं ब्रह्मैव ब्रह्मणोऽन्यदसत् सदा ।
ब्रह्मैव ब्रह्ममात्रात्मा सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४३॥

ब्रह्मैव सर्ववाक्यार्थः ब्रह्मैव परमं पदम् ।
ब्रह्मैव सत्यासत्यं च सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४४॥

ब्रह्मैवैकमनाद्यन्तं ब्रह्मैवैकं न संशयः ।
ब्रह्मैवैकं चिदानन्दः सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४५॥

ब्रह्मैवैकं सुखं नित्यं ब्रह्मैवैकं परायणम् ।
ब्रह्मैवैकं परं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४६॥

ब्रह्मैव चित् स्वयं स्वस्थं ब्रह्मैव गुणवर्जितम् ।
ब्रह्मैवात्यन्तिकं सर्वं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४७॥

ब्रह्मैव निर्मलं सर्वं ब्रह्मैव सुलभं सदा ।
ब्रह्मैव सत्यं सत्यानां सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४८॥

ब्रह्मैव सौख्यं सौख्यं च ब्रह्मैवाहं सुखात्मकम् ।
ब्रह्मैव सर्वदा प्रोक्तं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.४९॥

ब्रह्मैवमखिलं ब्रह्म ब्रह्मैकं सर्वसाक्षिकम् ।
ब्रह्मैव भूरिभवनं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.५०॥

ब्रह्मैव परिपूर्णात्मा ब्रह्मैवं सारमव्ययम् ।
ब्रह्मैव कारणं मूलं ब्रह्मैवैकं परायणम् ॥ १५.५१॥

ब्रह्मैव सर्वभूतात्मा ब्रह्मैव सुखविग्रहम् ।

ब्रह्मैव नित्यतृप्तात्मा सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.५२॥

ब्रह्मैवाद्वैतमात्रात्मा ब्रह्मैवाकाशवत् प्रभुः ।
ब्रह्मैव हृदयानन्दः सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.५३॥

ब्रह्मणोऽन्यत् परं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यज्जगन्न च ।
ब्रह्मणोऽन्यदहं नाहं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.५४॥

ब्रह्मैवान्यसुखं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत् फलं न हि ।
ब्रह्मणोऽन्यत् तृणं नास्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.५५॥

ब्रह्मणोऽन्यत् पदं मिथ्या ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
ब्रह्मणोऽन्यज्जगन्मिथ्या सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.५६॥

ब्रह्मणोऽन्यदहं मिथ्या ब्रह्ममात्रोहमेव हि ।
ब्रह्मणोऽन्यो गुरुर्नास्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.५७॥

ब्रह्मणोऽन्यदसत् कार्यं ब्रह्मणोऽन्यदसद्वपुः ।
ब्रह्मणोऽन्यन्मनो नास्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.५८॥

ब्रह्मणोऽन्यज्जगन्मिथ्या ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
ब्रह्मणोऽन्यन्न चाहन्ता सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १५.५९॥

ब्रह्मैव सर्वमित्येवं प्रोक्तं प्रकरणं मया ।
यः पठेत् श्रावयेत् सद्यो ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ १५.६०॥

अस्ति ब्रह्मेति वेदे इदमिदमखिलं वेद सो सद्भवेत् ।
सच्चासच्च जगत्तथा श्रुतिवचो ब्रह्मैव तज्जादिकम् ॥

यतो विद्यैवेदं परिलुठति मोहेन जगति ।
अतो विद्यापादो परिभवति ब्रह्मैव हि सदा ॥ १५.६१॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
ब्रह्मैव सर्वं प्रकरणनिरूपणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

---

१६ ॥ षोडशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
अत्यन्तं दुर्लभं वक्ष्ये वेदशास्त्रागमादिषु ।
शृण्वन्तु सावधानेन असदेव हि केवलम् ॥ १६.१॥

यत्किञ्चिद् दृश्यते लोके यत्किञ्चिद्भाषते सदा ।
यत्किञ्चिद् भुज्यते क्वापि तत्सर्वमसदेव हि ॥ १६.२॥

यद्यत् किञ्चिज्जपं वापि स्नानं वा जलमेव वा ।
आत्मनोऽन्यत् परं यद्यत् असत् सर्वं न संशयः ॥ १६.३॥

चित्तकार्यं बुद्धिकार्यं मायाकार्यं तथैव हि ।
आत्मनोऽन्यत् परं किञ्चित् तत्सर्वमसदेव हि ॥ १६.४॥

अहन्तायाः परं रूपं इदंत्वं सत्यमित्यपि ।
आत्मनोऽन्यत् परं किञ्चित् तत्सर्वमसदेव हि ॥ १६.५॥

नानात्वमेव रूपत्वं व्यवहारः क्वचित् क्वचित् ।
आत्मीय एव सर्वत्र तत्सर्वमसदेव हि ॥ १६.६॥

तत्त्वभेदं जगद्भेदं सर्वभेदमसत्यकम् ।
इच्छाभेदं जगद्भेदं तत्सर्वमसदेव हि ॥ १६.७॥

द्वैतभेदं चित्रभेदं जाग्रद्भेदं मनोमयम् ।
अहंभेदमिदंभेदमसदेव हि केवलम् ॥ १६.८॥

स्वप्नभेदं सुप्तिभेदं तुर्यभेदमभेदकम् ।
कर्तृभेदं कार्यभेदं गुणभेदं रसात्मकम् ।
लिङ्गभेदमिदंभेदमसदेव हि केवलम् ॥ १६.९॥

आत्मभेदमसद्भेदं सद्भेदमसदण्वपि ।
अत्यन्ताभावसद्भेदम् असदेव हि केवलम् ॥ १६.१०॥

अस्तिभेदं नास्तिभेदमभेदं भेदविभ्रमः ।
भ्रान्तिभेदं भूतिभेदमसदेव हि केवलम् ॥ १६.११॥

पुनरन्यत्र सद्भेदमिदमन्यत्र वा भयम् ।
पुण्यभेदं पापभेदं असदेव हि केवलम् ॥ १६.१२॥

सङ्कल्पभेदं तद्भेदं सदा सर्वत्र भेदकम् ।
ज्ञानाज्ञानमयं सर्वं असदेव हि केवलम् ॥ १६.१३॥

ब्रह्मभेदं क्षत्रभेदं भूतभौतिकभेदकम् ।
इदंभेदमहंभेदं असदेव हि केवलम् ॥ १६.१४॥

वेदभेदं देवभेदं लोकानां भेदमीदृशम् ।
पञ्चाक्षरमसन्नित्यम् असदेव हि केवलम् ॥ १६.१५॥

ज्ञानेन्द्रियमसन्नित्यं कर्मेन्द्रियमसत्सदा ।
असदेव च शब्दाख्यं असत्यं तत्फलं तथा ॥ १६.१६॥

असत्यं पञ्चभूताख्यमसत्यं पञ्चदेवताः ।
असत्यं पञ्चकोशाख्यम् असदेव हि केवलम् ॥ १६.१७॥

असत्यं षड्विकारादि असत्यं षड्कमूर्मिणाम् ।
असत्यमरिषड्वर्गमसत्यं षड्तुस्तदा ॥ १६.१८॥ var was तथा
असत्यं द्वादशमासाः असत्यं वत्सरस्तथा ।
असत्यं षडवस्थाख्यं षड्कालमसदेव हि ॥ १६.१९॥

असत्यमेव षड्शास्त्रं असदेव हि केवलम् ।
असदेव सदा ज्ञानं असदेव हि केवलम् ॥ १६.२०॥

अनुक्तमुक्तं नोक्तं च असदेव हि केवलम् ।
असत्प्रकरणं प्रोक्तं सर्ववेदेषु दुर्लभम् ॥ १६.२१॥

भूयः शृणु त्वं योगीन्द्र साक्षान्मोक्षं ब्रवीम्यहम् ।
सन्मात्रमहमेवात्मा सच्चिदानन्द केवलम् ॥ १६.२२॥

सन्मयानन्दभूतात्मा चिन्मयानन्दसद्घनः ।
चिन्मयानन्दसन्दोहचिदानन्दो हि केवलम् ॥ १६.२३॥

चिन्मात्रज्योतिरान्दश्चिन्मात्रज्योतिविग्रहः ।
चिन्मात्रज्योतिरीशानः सर्वदानन्दकेवलम् ॥ १६.२४॥

चिन्मात्रज्योतिरखिलं चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् ।
चिन्मात्रं सर्वमेवाहं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥ १६.२५॥

चिन्मात्रमेव चित्तं च चिन्मात्रं मोक्ष एव च ।
चिन्मात्रमेव मननं चिन्मात्रं श्रवणं तथा ॥ १६.२६॥

चिन्मात्रमहमेवास्मि सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
चिन्मात्रं निर्गुणं ब्रह्म चिन्मात्रं सगुणं परम् ॥ १६.२७॥

चिन्मात्रमहमेव त्वं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
चिन्मात्रमेव हृदयं चिन्मात्रं चिन्मयं सदा ॥ १६.२८॥

चिदेव त्वं चिदेवाहं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
चिन्मात्रमेव शान्तत्वं चिन्मात्रं शान्तिलक्षणम् ॥ १६.२९॥

चिन्मात्रमेव विज्ञानं चिन्मात्रं ब्रह्म केवलम् ।
चिन्मात्रमेव संकल्पं चिन्मात्रं भुवनत्रयम् ॥ १६.३०॥

चिन्मात्रमेव सर्वत्र चिन्मात्रं व्यापको गुरुः ।
चिन्मात्रमेव शुद्धत्वं चिन्मात्रं ब्रह्म केवलम् ॥ १६.३१॥

चिन्मात्रमेव चैतन्यं चिन्मात्रं भास्करादिकम् ।
चिन्मात्रमेव सन्मात्रं चिन्मात्रं जगदेव हि ॥ १६.३२॥

चिन्मात्रमेव सत्कर्म चिन्मात्रं नित्यमङ्गलम् ।

चिन्मात्रमेव हि ब्रह्म चिन्मात्रं हरिरेव हि ॥ १६.३३॥

चिन्मात्रमेव मौनात्मा चिन्मात्रं सिद्धिरेव हि ।
चिन्मात्रमेव जनितं चिन्मात्रं सुखमेव हि ॥ १६.३४॥

चिन्मात्रमेव गगनं चिन्मात्रं पर्वतं जलम् ।
चिन्मात्रमेव नक्षत्रं चिन्मात्रं मेघमेव हि ॥ १६.३५॥

चिदेव देवताकारं चिदेव शिवपूजनम् ।
चिन्मात्रमेव काठिन्यं चिन्मात्रं शीतलं जलम् ॥ १६.३६॥

चिन्मात्रमेव मन्तव्यं चिन्मात्रं दृश्यभावनम् ।
चिन्मात्रमेव सकलं चिन्मात्रं भुवनं पिता ॥ १६.३७॥

चिन्मात्रमेव जननी चिन्मात्रान्नास्ति किञ्चन ।
चिन्मात्रमेव नयनं चिन्मात्रं श्रवणं सुखम् ॥ १६.३८॥

चिन्मात्रमेव करणं चिन्मात्रं कार्यमीश्वरम् ।
चिन्मात्रं चिन्मयं सत्यं चिन्मात्रं नास्ति नास्ति हि ॥ १६.३९॥

चिन्मात्रमेव वेदान्तं चिन्मात्रं ब्रह्म निश्चयम् ।
चिन्मात्रमेव सद्भावि चिन्मात्रं भाति नित्यशः ॥ १६.४०॥

चिदेव जगदाकारं चिदेव परमं पदम् ।
चिदेव हि चिदाकारं चिदेव हि चिदव्ययः ॥ १६.४१॥

चिदेव हि शिवाकारं चिदेव हि शिवविग्रहः ।
चिदाकारमिदं सर्वं चिदाकारं सुखासुखम् ॥ १६.४२॥

चिदेव हि जडाकारं चिदेव हि निरन्तरम् ।
चिदेवकलनाकारं जीवाकारं चिदेव हि ॥ १६.४३॥

चिदेव देवताकारं चिदेव शिवपूजनम् ।
चिदेव त्वं चिदेवाहं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥ १६.४४॥

चिदेव परमाकारं चिदेव हि निरामयम् ।
चिन्मात्रमेव सततं चिन्मात्रं हि परायणम् ॥ १६.४५॥

चिन्मात्रमेव वैराग्यं चिन्मात्रं निर्गुणं सदा ।
चिन्मात्रमेव सञ्चारं चिन्मात्रं मन्त्रतन्त्रकम् ॥ १६.४६॥

चिदाकारमिदं विश्वं चिदाकारं जगत्त्रयम् ।
चिदाकारमहङ्कारं चिदाकारं परात् परम् ॥ १६.४७॥

चिदाकारमिदं भेदं चिदाकारं तृणादिकम् ।
चिदाकारं चिदाकाशं चिदाकारमरूपकम् ॥ १६.४८॥

चिदाकारं महानन्दं चिदाकारं सुखात् सुखम् ।
चिदाकारं सुखं भोज्यं चिदाकारं परं गुरुम् ॥ १६.४९॥

चिदाकारमिदं विश्वं चिदाकारमिदं पुमान् ।
चिदाकारमजं शान्तं चिदाकारमनामयम् ॥ १६.५०॥

चिदाकारं परातीतं चिदाकारं चिदेव हि ।
चिदाकारं चिदाकाशं चिदाकाशं शिवायते ॥ १६.५१॥

चिदाकारं सदा चित्तं चिदाकारं सदाऽमृतम् ।
चिदाकारं चिदाकाशं तदा सर्वान्तरान्तरम् ॥ १६.५२॥

चिदाकारमिदं पूर्णं चिदाकारमिदं प्रियम् ।
चिदाकारमिदं सर्वं चिदाकारमहं सदा ॥ १६.५३॥

चिदाकारमिदं स्थानं चिदाकारं हृदम्बरम् ।
चिदाबोधं चिदाकारं चिदाकाशं ततं सदा ॥ १६.५४॥

चिदाकारं सदा पूर्णं चिदाकारं महत्फलम् ।
चिदाकारं परं तत्त्वं चिदाकारं परं भवान् ॥ १६.५५॥

चिदाकारं सदामोदं चिदाकारं सदा मृतम् ।
चिदाकारं परं ब्रह्म चिदहं चिदहं सदा ॥ १६.५६॥

चिदहं चिदहं चित्तं चित्तं स्वस्य न संशयः ।
चिदेव जगदाकारं चिदेव शिवशङ्करः ॥ १६.५७॥

चिदेव गगनाकारं चिदेव गणनायकम् ।
चिदेव भुवनाकारं चिदेव भवभावनम् ॥ १६.५८॥

चिदेव हृदयाकारं चिदेव हृदयेश्वरः ।
चिदेव अमृताकारं चिदेव चलनास्पदम् ॥ १६.५९॥

चिदेवाहं चिदेवाहं चिन्मयं चिन्मयं सदा ।
चिदेव सत्यविश्वासं चिदेव ब्रह्मभावनम् ॥ १६.६०॥

चिदेव परमं देवं चिदेव हृदयालयम् ।
चिदेव सकलाकारं चिदेव जनमण्डलम् ॥ १६.६१॥

चिदेव सर्वमानन्दं चिदेव प्रियभाषणम् ।
चिदेव त्वं चिदेवाहं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥ १६.६२॥

चिदेव परमं ध्यानं चिदेव परमर्हणम् ।
चिदेव त्वं चिदेवाहं सर्वं चिन्मयमेव हि ॥ १६.६३॥

चिदेव त्वं प्रकरणं सर्ववेदेषु दुर्लभम् ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्मैव भवति ध्रुवम् ॥ १६.६४॥

यस्याभिध्यानयोगाज्जनिमृतिविवशाः शाश्वतं वृत्तिभिर्यै
मायामोहैर्विहीना हृदुदरभयजं छिद्यते ग्रन्थिजातम् ।
विश्वं विश्वाधिकरसं भवति भवतो दर्शनादाप्तकामः
सो नित्यो निर्विकल्पो भवति भुवि सदा ब्रह्मभूतोऽन्तरात्मा ॥ १६.६५॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
चिदेवत्वंप्रकरणवर्णनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥

---

१७ ॥ सप्तदशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
निदाघ श्रृणु गुह्यं मे सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।
द्वैताद्वैतमिदं शून्यं शान्तं ब्रह्मैव सर्वदा ॥ १७.१॥

अहमेव परं ब्रह्म अहमेव परात् परम् ।
द्वैताद्वैतमिदं शून्यं शान्तं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १७.२॥

अहमेव हि शान्तात्मा अहमेव हि सर्वगः ।
अहमेव हि शुद्धात्मा अहमेव हि नित्यशः ॥ १७.३॥

अहमेव हि नानात्मा अहमेव हि निर्गुणः ।
अहमेव हि नित्यात्मा अहमेव हि कारणम् ॥ १७.४॥

अहमेव हि जगत् सर्वं इदं चैवाहमेव हि ।
अहमेव हि मोदात्मा अहमेव हि मुक्तिदः ॥ १७.५॥

अहमेव हि चैतन्यं अहमेव हि चिन्मयः ।
अहमेव हि चैतन्यमहं सर्वान्तरः सदा ॥ १७.६॥

अहमेव हि भूतात्मा भौतिकं त्वहमेव हि ।
अहमेव त्वमेवाहमहमेवाहमेव हि ॥ १७.७॥

जीवात्मा त्वहमेवाहमहमेव परेश्वरः ।
अहमेव विभुर्नित्यमहमेव स्वयं सदा ॥ १७.८॥

अहमेवाक्षरं साक्षात् अहमेव हि मे प्रियम् ।
अहमेव सदा ब्रह्म अहमेव सदाऽव्ययः ॥ १७.९॥

अहमेवाहमेवाग्रे अहमेवान्तरान्तरः ।
अहमेव चिदाकाशमहमेवावभासकः ॥ १७.१०॥

अहमेव सदा स्रष्टा अहमेव हि रक्षकः ।
अहमेव हि लीलात्मा अहमेव हि निश्चयः ॥ १७.११॥

अहमेव सदा साक्षी त्वमेव त्वं पुरातनः ।
त्वमेव हि परं ब्रह्म त्वमेव हि निरन्तरम् ॥ १७.१२॥

अहमेवाहमेवाहमहमेव त्वमेव हि ।
अहमेवाद्वयाकारः अहमेव विदेहकः ॥ १७.१३॥

अहमेव ममाधारः अहमेव सदात्मकः ।
अहमेवोपशान्तात्मा अहमेव तितिक्षकः ॥ १७.१४॥

अहमेव समाधानं श्रद्धा चाप्यहमेव हि ।
अहमेव महाव्योम अहमेव कलात्मकः ॥ १७.१५॥

अहमेव हि कामान्तः अहमेव सदान्तरः ।
अहमेव पुरस्ताच्च अहं पश्चादहं सदा ॥ १७.१६॥

अहमेव हि विश्वात्मा अहमेव हि केवलम् ।
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव परात्परः ॥ १७.१७॥

अहमेव चिदानन्दः अहमेव सुखासुखम् ।
अहमेव गुरुत्वं च अहमेवाच्युतः सदा ॥ १७.१८॥

अहमेव हि वेदान्तः अहमेव हि चिन्तनः ।
देहोऽहं शुद्धचैतन्यः अहं संशयवर्जितः ॥ १७.१९॥

अहमेव परं ज्योतिरहमेव परं पदम् ।
अहमेवाविनाश्यात्मा अहमेव पुरातनः ॥ १७.२०॥

अहं ब्रह्म न सन्देहः अहमेव हि निष्कलः ।
अहं तुर्यो न सन्देहः अहमात्मा न संशयः ॥ १७.२१॥

अहमित्यपि हीनोऽहमहं भावनवर्जितः ।
अहमेव हि भावान्ता अहमेव हि शोभनम् ॥ १७.२२॥

अहमेव क्षणातीतः अहमेव हि मङ्गलम् ।
अहमेवाच्युतानन्दः अहमेव निरन्तरम् ॥ १७.२३॥

अहमेवाप्रमेयात्मा अहं संकल्पवर्जितः ।
अहं बुद्धः परंधाम अहं बुद्धिविवर्जितः ॥ १७.२४॥

अहमेव सदा सत्यं अहमेव सदासुखम् ।
अहमेव सदा लभ्यं अहं सुलभकारणम् ॥ १७.२५॥

अहं सुलभविज्ञानं दुर्लभो ज्ञानिनां सदा ।

अहं चिन्मात्र एवात्मा अहमेव हि चिद्घनः ॥ १७.२६॥

अहमेव त्वमेवाहं ब्रह्मैवाहं न संशयः ।
अहमात्मा न सन्देहः सर्वव्यापी न संशयः ॥ १७.२७॥

अहमात्मा प्रियं सत्यं सत्यं सत्यं पुनः पुनः ।
अहमात्माऽजरो व्यापी अहमेवात्मनो गुरुः ॥ १७.२८॥

अहमेवामृतो मोक्षो अहमेव हि निश्चलः ।
अहमेव हि नित्यात्मा अहं मुक्तो न संशयः ॥ १७.२९॥

अहमेव सदा शुद्धः अहमेव हि निर्गुणः ।
अहं प्रपञ्चहीनोऽहं अहं देहविवर्जितः ॥ १७.३०॥

अहं कामविहीनात्मा अहं मायाविवर्जितः ।
अहं दोषप्रवृत्तात्मा अहं संसारवर्जितः ॥ १७.३१॥

अहं सङ्कल्परहितो विकल्परहितः शिवः ।
अहमेव हि तुर्यात्मा अहमेव हि निर्मलः ॥ १७.३२॥

अहमेव सदा ज्योतिरहमेव सदा प्रभुः ।
अहमेव सदा ब्रह्म अहमेव सदा परः ॥ १७.३३॥

अहमेव सदा ज्ञानमहमेव सदा मृदुः ।
अहमेव हि चित्तं च अहं मानविवर्जितः ॥ १७.३४॥

अहंकारश्च संसारमहङ्कारमसत्सदा ।
अहमेव हि चिन्मात्रं मत्तोऽन्यन्नास्ति नास्ति हि ॥ १७.३५॥

अहमेव हि मे सत्यं मत्तोऽन्यन्नास्ति किञ्चन ।
मत्तोऽन्यत्तत्पदं नास्ति मत्तोऽन्यत् त्वत्पदं नहि ॥ १७.३६॥

पुण्यमित्यपि न क्वापि पापमित्यपि नास्ति हि ।
इदं भेदमयं भेदं सदसद्भेदमित्यपि ॥ १७.३७॥

नास्ति नास्ति त्वया सत्यं सत्यं सत्यं पुनः पुनः ।
नास्ति नास्ति सदा नास्ति सर्वं नास्तीति निश्चयः ॥ १७.३८॥

इदमेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्म त्वमेव हि ।
कालो ब्रह्म कला ब्रह्म कार्यं ब्रह्म क्षणं तदा ॥ १७.३९॥

सर्वं ब्रह्माप्यहं ब्रह्म ब्रह्मास्मीति न संशयः ।
चित्तं ब्रह्म मनो ब्रह्म सत्यं ब्रह्म सदाऽस्म्यहम् ॥ १७.४०॥

निर्गुणं ब्रह्म नित्यं च निरन्तरमहं परः ।

आद्यन्तं ब्रह्म एवाहं आद्यन्तं च नहि क्वचित् ॥ १७.४१॥

अहमित्यपि वार्ताऽपि स्मरणं भाषणं न च ।
सर्वं ब्रह्मैव सन्देहस्त्वमित्यपि न हि क्वचित् ॥ १७.४२॥

वक्ता नास्ति न सन्देहः एषा गीता सुदुर्लभः ।
सद्यो मोक्षप्रदं ह्येतत् सद्यो मुक्तिं प्रयच्छति ॥ १७.४३॥

सद्य एव परं ब्रह्म पदं प्राप्नोति निश्चयः ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सद्यो मुक्तिं प्रयच्छति ॥ १७.४४॥

एतत्तु दुर्लभं लोके त्रैलोक्येऽपि च दुर्लभम् ।
अहं ब्रह्म न सन्देह इत्येवं भावयेत् दृढम् ।
ततः सर्वं परित्यज्य तूष्णीं तिष्ठ यथा सुखम् ॥ १७.४५॥

सूतः -
भुवनगगनमध्यध्यानयोगाङ्गसङ्गे
यमनियमविशेषैर्भस्मरागाङ्गसङ्गैः ।
सुखमुखभरिताशाः कोशपाशाद्विहीना
हृदि मुदितपराशाः शांभवाः शंभुवच्च ॥ १७.४६॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
सर्वसिद्धान्तसंग्रहप्रकरणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

१८ ॥ अष्टादशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
शृणु भूयः परं तत्त्वं सद्यो मोक्षप्रदायकम् ।
सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं शान्तं न संशयः ॥ १८.१॥

ब्रह्माक्षरमिदं सर्वं पराकारमिदं नहि ।
इदमित्यपि यद्दोषं वयमित्यपि भाषणम् ॥ १८.२॥

यत्किञ्चित्स्मरणं नास्ति यत्किञ्चिद् ध्यानमेव हि ।
यत्किञ्चिद् ज्ञानरूपं वा तत्सर्वं ब्रह्म एव हि ॥ १८.३॥

यत्किञ्चिद् ब्रह्मवाक्यं वा यत्किञ्चिद्वेदवाक्यकम् ।
यत्किञ्चिद्गुरुवाक्यं वा तत्सर्वं ब्रह्म एव हि ॥ १८.४॥

यत्किञ्चित्कल्मषं सत्यं यत्किञ्चित् प्रियभाषणम् ।
यत्किञ्चिन्मननं सत्ता तत्सर्वं ब्रह्म एव हि ॥ १८.५॥

यत्किञ्चित् श्रवणं नित्यं यत् किञ्चिद्ध्यानमश्नुते ।

यत्किञ्चिन्निश्चयं श्रद्धा तत्सर्वं ब्रह्म एव हि ॥ १८.६॥

यत्किञ्चिद् गुरूपदेशं यत्किञ्चिद्गुरुचिन्तनम् ।
यत्किञ्चिद्योगभेदं वा तत्सर्वं ब्रह्म एव हि ॥ १८.७॥

सर्वं त्यज्य गुरुं त्यज्य सर्वं सन्त्यज्य नित्यशः ।
तूष्णीमेवासनं ब्रह्म सुखमेव हि केवलम् ॥ १८.८॥

सर्वं त्यक्त्वा सुखं नित्यं सर्वत्यागं सुखं महत् ।
सर्वत्यागं परानन्दं सर्वत्यागं परं सुखम् ॥ १८.९॥

सर्वत्यागं मनस्त्यागः सर्वत्यागमहंकृतेः ।
सर्वत्यागं महायागः सर्वत्यागं सुखं परम् ॥ १८.१०॥

सर्वत्यागं महामोक्षं चित्तत्यागं तदेव हि ।
चित्तमेव जगन्नित्यं चित्तमेव हि संसृतिः ॥ १८.११॥

चित्तमेव महामाया चित्तमेव शरीरकम् ।
चित्तमेव भयं देहः चित्तमेव मनोमयम् ॥ १८.१२॥

चित्तमेव प्रपञ्चाख्यं चित्तमेव हि कल्मषम् ।
चित्तमेव जडं सर्वं चित्तमेवेन्द्रियादिकम् ॥ १८.१३॥

चित्तमेव सदा सत्यं चित्तमेव नहि क्वचित् ।
चित्तमेव महाशास्त्रं चित्तमेव मनःप्रदम् ॥ १८.१४॥

चित्तमेव सदा पापं चित्तमेव सदा मतम् ।
चित्तमेव हि सर्वाख्यं चित्तमेव सदा जहि ॥ १८.१५॥

चित्तं नास्तीति चिन्ता स्यात् आत्ममात्रं प्रकाशते ।
चित्तमस्तीति चिन्ता चेत् चित्तत्वं स्वयमेव हि ॥ १८.१६॥

स्वयमेव हि चित्ताख्यं स्वयं ब्रह्म न संशयः ।
चित्तमेव हि सर्वाख्यं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ॥ १८.१७॥

ब्रह्मैवाहं स्वयंज्योतिर्ब्रह्मैवाहं न संशयः ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहः सर्वं चिज्ज्योतिरेव हि ॥ १८.१८॥

अहं ब्रह्मैव नित्यात्मा पूर्णात् पूर्णतरं सदा ।
अहं पृथ्व्यादिसहितं अहमेव विलक्षणम् ॥ १८.१९॥

अहं सूक्ष्मशरीरान्तमहमेव पुरातनम् ।
अहमेव हि मानात्मा सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १८.२०॥

चिदाकारो ह्यहं पूर्णश्चिदाकारमिदं जगत् ।

चिदाकारं चिदाकाशं चिदाकाशमहं सदा ॥ १८.२१॥

चिदाकाशं त्वमेवासि चिदाकाशमहं सदा ।
चिदाकाशं चिदेवेदं चिदाकाशान्न किञ्चन ॥ १८.२२॥

चिदाकाशततं सर्वं चिदाकाशं प्रकाशकम् ।
चिदाकारं मनो रूपं चिदाकाशं हि चिद्घनम् ॥ १८.२३॥

चिदाकाशं परं ब्रह्म चिदाकाशं च चिन्मयः ।
चिदाकाशं शिवं साक्षाच्चिदाकाशमहं सदा ॥ १८.२४॥

सच्चिदानन्दरूपोऽहं सच्चिदानन्दशाश्वतः ।
सच्चिदानन्द सन्मात्रं सच्चिदानन्दभावनः ॥ १८.२५॥

सच्चिदानन्दपूर्णोऽहं सच्चिदानन्दकारणम् ।
सच्चिदानन्दसन्दोहः सच्चिदानन्द ईश्वरः ॥ १८.२६॥ var was हीनकः
सच्चिदानन्दनित्योऽहं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
सच्चिदानन्दमात्रोऽहं सच्चिदानन्दरूपकः ॥ १८.२७॥

आत्मैवेदमिदं सर्वमात्मैवाहं न संशयः ।
आत्मैवास्मि परं सत्यमात्मैव परमं पदम् ॥ १८.२८॥

आत्मैव जगदाकारं आत्मैव भुवनत्रयम् ।
आत्मैव जगतां श्रेष्ठः आत्मैव हि मनोमयः ॥ १८.२९॥

आत्मैव जगतां त्राता आत्मैव गुरुरात्मनः ।
आत्मैव बहुधा भाति आत्मैवैकं परात्मनः ॥ १८.३०॥

आत्मैव परमं ब्रह्म आत्मैवाहं न संशयः ।
आत्मैव परमं लोकं आत्मैव परमात्मनः ॥ १८.३१॥

आत्मैव जीवरूपात्मा आत्मैवेश्वरविग्रहः ।
आत्मैव हरिरानन्दः आत्मैव स्वयमात्मनः ॥ १८.३२॥

आत्मैवानन्दसन्दोह आत्मैवेदं सदा सुखम् ।
आत्मैव नित्यशुद्धात्मा आत्मैव जगतः परः ॥ १८.३३॥

आत्मैव पञ्चभूतात्मा आत्मैव ज्योतिरात्मनः ।
आत्मैव सर्वदा नान्यदात्मैव परमोऽव्ययः ॥ १८.३४॥

आत्मैव ह्यात्मभासात्मा आत्मैव विभुरव्ययः ।
आत्मैव ब्रह्मविज्ञानं आत्मैवाहं त्वमेव हि ॥ १८.३५॥

आत्मैव परमानन्द आत्मैवाहं जगन्मयः ।
आत्मैवाहं जगद्भानं आत्मैवाहं न किञ्चन ॥ १८.३६॥

आत्मैव ह्यात्मनः स्नानमात्मैव ह्यात्मनो जपः ।
आत्मैव ह्यात्मनो मोदमात्मैवात्मप्रियः सदा ॥ १८.३७॥

आत्मैव ह्यात्मनो नित्यो ह्यात्मैव गुणभासकः ।
आत्मैव तुर्यरूपात्मा आत्मातीतस्ततः परः ॥ १८.३८॥

आत्मैव नित्यपूर्णात्मा आत्मैवाहं न संशयः ।
आत्मैव त्वमहं चात्मा सर्वमात्मैव केवलम् ॥ १८.३९॥

नित्योऽहं नित्यपूर्णोऽहं नित्योऽहं सर्वदा सदा ।
आत्मैवाहं जगन्नान्यद् अमृतात्मा पुरातनः ॥ १८.४०॥

पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशः परात् परोऽहं परमेश्वरोऽहम् ।
भवप्रदोऽहं भवनाशनोऽहं सुखप्रदोऽहं सुखरूपमद्वयम् ॥ १८.४१॥

आनन्दोऽहमशेषोऽहममृतोहं न संशयः ।
अजोऽहमात्मरूपोऽहमन्यन्नास्ति सदा प्रियः ॥ १८.४२॥

ब्रह्मैवाहमिदं ब्रह्म सर्वं ब्रह्म सदाऽव्ययः ।
सदा सर्वपदं नास्ति सर्वमेव सदा न हि ॥ १८.४३॥

निर्गुणोऽहं निराधार अहं नास्तीति सर्वदा ।
अनर्थमूलं नास्त्येव मायाकार्यं न किञ्चन ॥ १८.४४॥

अविद्याविभवो नास्ति अहं ब्रह्म न संशयः ।
सर्वं ब्रह्म चिदाकाशं तदेवाहं न संशयः ॥ १८.४५॥

तदेवाहं स्वयं चाहं परं चाहं परेश्वरः ।
विद्याधरोऽहमेवात्र विद्याविद्ये न किञ्चन ॥ १८.४६॥

चिदहं चिदहं नित्यं तुर्योऽहं तुर्यकः परः ।
ब्रह्मैव सर्वं ब्रह्मैव सर्वं ब्रह्म सदाऽस्म्यहम् ॥ १८.४७॥

मत्तोऽन्यन्नापरं किञ्चिन्मत्तोऽन्यद्ब्रह्म च क्वचित् ।
मत्तोऽन्यत् परमं नास्ति मत्तोऽन्यच्चित्पदं नहि ॥ १८.४८॥

मत्तोऽन्यत् सत्पदं नास्ति मत्तोऽन्यच्चित्पदं न मे ।
मत्तोऽन्यत् भवनं नास्ति मत्तोऽन्यद् ब्रह्म एव न ॥ १८.४९॥

मत्तोऽन्यत् कारणं नास्ति मत्तोऽन्यत् किञ्चिदप्यणु ।
मत्तोऽन्यत् सत्त्वरूपं च मत्तोऽन्यत् शुद्धमेव न ॥ १८.५०॥

मत्तोऽन्यत् पावनं नास्ति मत्तोऽन्यत् तत्पदं न हि ।
मत्तोऽन्यत् धर्मरूपं वा मत्तोऽन्यदखिलं न च ॥ १८.५१॥

मत्तोऽन्यदसदेवात्र मत्तोऽन्यन्मिथ्या एव हि ।
मत्तोऽन्यद्भाति सर्वस्वं मत्तोऽन्यच्छशशृङ्गवत् ॥ १८.५२॥

मत्तोऽन्यद्भाति चेन्मिथ्या मत्तोऽन्यच्चेन्द्रजालकम् ।
मत्तोऽन्यत् संशयो नास्ति मत्तोऽन्यत् कार्यं कारणम् ॥ १८.५३॥

ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं सोऽहमस्मीति भावनम् ।
सर्वमुक्तं भगवता एवमेवेति निश्चिनु ॥ १८.५४॥

बहुनोक्तेन किं योगिन् निश्चयं कुरु सर्वदा ।
सकृन्निश्चयमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ १८.५५॥

वननगभुवनं यच्छङ्करान्नान्यदस्ति
जगदिदमसुराद्यं देवदेवः स एव ।
तनुमनगमनाद्यैः कोशकाशावकाशे
स खलु परशिवात्मा दृश्यते सूक्ष्मबुद्ध्या ॥ १८.५६॥

चक्षुःश्रोत्रमनोऽसवश्च हृदि खादुद्भासितध्यान्तरात्
तस्मिन्नेव विलीयते गतिपरं यद्वासना वासिनी ।
चित्तं चेतयते हृदिन्द्रियगणं वाचां मनोदूरगं
तं ब्रह्मामृतमेतदेव गिरिजाकान्तात्मना संज्ञितम् ॥ १८.५७॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे
ऋभुनिदाघसंवादे अष्टादशोऽध्यायः ॥

१९ ॥ एकोनविंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि त्रिषु लोकेषु दुर्लभम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण सदा मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ १९.१॥ var was युक्तिमाप्नुयात्
परमानन्दोऽहमेवात्मा सर्वदानन्दमेव हि ।
पूर्णानन्दस्वरूपोऽहं चिदानन्दमयं जगत् ॥ १९.२॥

सदानन्तमनन्तोऽहं बोधानन्दमिदं जगत् ।
बुद्धानन्दस्वरूपोऽहं नित्यानन्दमिदं मनः ॥ १९.३॥

केवलानन्दमात्रोऽहं केवलज्ञानवानहम् ।
इति भावय यत्नेन प्रपञ्चोपशमाय वै ॥ १९.४॥

सदा सत्यं परं ज्योतिः सदा सत्यादिलक्षणः ।
सदा सत्यादिहीनात्मा सदा ज्योतिः प्रियो ह्यहम् ॥ १९.५॥

नास्ति मिथ्याप्रपञ्चात्मा नास्ति मिथ्या मनोमयः ।
नास्ति मिथ्याभिधानात्मा नास्ति चित्तं दुरात्मवान् ॥ १९.६॥

नास्ति मूढतरो लोके नास्ति मूढतमो नरः ।
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव स्वयं सदा ॥ १९.७॥

इदं परं च नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ।
अहं ब्रह्मास्मि शुद्धोऽस्मि सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १९.८॥

जगत्सर्वं सदा नास्ति चित्तमेव जगन्मयम् ।
चित्तमेव प्रपञ्चाख्यं चित्तमेव शरीरकम् ॥ १९.९॥

चित्तमेव महादोषं चित्तमेव हि बालकः ।
चित्तमेव महात्माऽयं चित्तमेव महानसत् ॥ १९.१०॥

चित्तमेव हि मिथ्यात्मा चित्तं शशविषाणवत् ।
चित्तं नास्ति सदा सत्यं चित्तं वन्ध्याकुमारवत् ॥ १९.११॥

चित्तं शून्यं न सन्देहो ब्रह्मैव सकलं जगत् ।
अहमेव हि चैतन्यं अहमेव हि निर्गुणम् ॥ १९.१२॥

मन एव हि संसारं मन एव हि मण्डलम् ।
मन एव हि बन्धत्वं मन एव हि पातकम् ॥ १९.१३॥

मन एव महद्दुःखं मन एव शरीरकम् ।
मन एव प्रपञ्चाख्यं मन एव कलेवरम् ॥ १९.१४॥

मन एव महासत्त्वं मन एव चतुर्मुखः ।
मन एव हरिः साक्षात् मन एव शिवः स्मृतः ॥ १९.१५॥

मन एवेन्द्रजालाख्यं मनः सङ्कल्पमात्रकम् ।
मन एव महापापं मन एव दुरात्मवान् ॥ १९.१६॥

मन एव हि सर्वाख्यं मन एव महद्भयम् ।
मन एव परं ब्रह्म मन एव हि केवलम् ॥ १९.१७॥

मन एव चिदाकारं मन एव मनायते ।
चिदेव हि परं रूपं चिदेव हि परं पदम् ॥ १९.१८॥

परं ब्रह्माहमेवाद्य परं ब्रह्माहमेव हि ।
अहमेव हि तृप्तात्मा अहमानन्दविग्रहः ॥ १९.१९॥

अहं बुद्धिः प्रवृद्धात्मा नित्यं निश्चलनिर्मलः ।
अहमेव हि शान्तात्मा अहमाद्यन्तवर्जितः ॥ १९.२०॥

अहमेव प्रकाशात्मा अहं ब्रह्मैव केवलम् ।
अहं नित्यो न सन्देह अहं बुद्धिः प्रियः सदा ॥ १९.२१॥ var was बुद्धिप्रियः सदा
अहमेवाहमेवैकः अहमेवाखिलामृतः ।
अहमेव स्वयं सिद्धः अहमेवानुमोदकः ॥ १९.२२॥

अहमेव त्वमेवाहं सर्वात्मा सर्ववर्जितः ।
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव परात्परः ॥ १९.२३॥

अहङ्कारं न मे दुःखं न मे दोषं न मे सुखम् ।
न मे बुद्धिर्न मे चित्तं न मे देहो न मेन्द्रियम् ॥ १९.२४॥

न मे गोत्रं न मे नेत्रं न मे पात्रं न मे तृणम् ।
न मे जपो न मे मन्त्रो न मे लोको न मे सुहृत् ॥ १९.२५॥

न मे बन्धुर्न मे शत्रुर्न मे माता न मे पिता ।
न मे भोज्यं न मे भोक्ता न मे वृत्तिर्न मे कुलम् ॥ १९.२६॥

न मे जातिर्न मे वर्णः न मे श्रोत्रं न मे क्वचित् ।
न मे बाह्यं न मे बुद्धिः स्थानं वापि न मे वयः ॥ १९.२७॥

न मे तत्त्वं न मे लोको न मे शान्तिर्न मे कुलम् ।
न मे कोपो न मे कामः केवलं ब्रह्ममात्रतः ॥ १९.२८॥

केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् केवलं स्वयमेव हि ।
न मे रागो न मे लोभो न मे स्तोत्रं न मे स्मृतिः ॥ १९.२९॥

न मे मोहो न मे तृष्णा न मे स्नेहो न मे गुणः ।
न मे कोशं न मे बाल्यं न मे यौवनवार्धकम् ॥ १९.३०॥

सर्वं ब्रह्मैकरूपत्वादेकं ब्रह्मेति निश्चितम् ।
ब्रह्मणोऽन्यत् परं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ॥ १९.३१॥

ब्रह्मणोऽन्यदिदं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यदिदं न हि ।
आत्मनोऽन्यत् सदा नास्ति आत्मैवाहं न संशयः ॥ १९.३२॥

आत्मनोऽन्यत् सुखं नास्ति आत्मनोऽन्यदहं न च ।
ग्राह्यग्राहकहीनोऽहं त्यागत्याज्यविवर्जितः ॥ १९.३३॥

न त्याज्यं न च मे ग्राह्यं न बन्धो न च भुक्तिदम् । var was मुक्तिदम्
न मे लोकं न मे हीनं न श्रेष्ठं नापि दूषणम् ॥ १९.३४॥

न मे बलं न चण्डालो न मे विप्रादिवर्णकम् ।

न मे पानं न मे ह्रस्वं न मे क्षीणं न मे बलम् ॥ १९.३५॥

न मे शक्तिर्न मे भुक्तिर्न मे दैवं न मे पृथक् ।
अहं ब्रह्मैकमात्रत्वात् नित्यत्वान्यन्न किञ्चन ॥ १९.३६॥

न मतं न च मे मिथ्या न मे सत्यं वपुः क्वचित् ।
अहमित्यपि नास्त्येव ब्रह्म इत्यपि नाम वा ॥ १९.३७॥

यद्यद्यद्यत्प्रपञ्चोऽस्ति यद्यद्यद्यद्गुरोर्वचः ।
तत्सर्वं ब्रह्म एवाहं तत्सर्वं चिन्मयं मतम् ॥ १९.३८॥

चिन्मयं चिन्मयं ब्रह्म सन्मयं सन्मयं सदा ।
स्वयमेव स्वयं ब्रह्म स्वयमेव स्वयं परः ॥ १९.३९॥

स्वयमेव स्वयं मोक्षः स्वयमेव निरन्तरः ।
स्वयमेव हि विज्ञानं स्वयमेव हि नास्त्यकम् ॥ १९.४०॥

स्वयमेव सदासारः स्वयमेव स्वयं परः ।
स्वयमेव हि शून्यात्मा स्वयमेव मनोहरः ॥ १९.४१॥

तूष्णीमेवासनं स्नानं तूष्णीमेवासनं जपः ।
तूष्णीमेवासनं पूजा तूष्णीमेवासनं परः ॥ १९.४२॥

विचार्य मनसा नित्यमहं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
अहं ब्रह्म न सन्देहः एवं तूष्णींस्थितिर्जपः ॥ १९.४३॥

सर्वं ब्रह्मैव नास्त्यन्यत् सर्वं ज्ञानमयं तपः ।
स्वयमेव हि नास्त्येव सर्वातीतस्वरूपवान् ॥ १९.४४॥

वाचातीतस्वरूपोऽहं वाचा जप्यमनर्थकम् ।
मानसः परमार्थोऽयं एतद्भेदमहं न मे ॥ १९.४५॥

कुणपं सर्वभूतादि कुणपं सर्वसङ्ग्रहम् ।
असत्यं सर्वदा लोकमसत्यं सकलं जगत् ॥ १९.४६॥

असत्यमन्यदस्तित्वमसत्यं नास्ति भाषणम् ।
असत्याकारमस्तित्वं ब्रह्ममात्रं सदा स्वयम् ॥ १९.४७॥

असत्यं वेदवेदाङ्गं असत्यं शास्त्रनिश्चयः ।
असत्यं श्रवणं ह्येतदसत्यं मननं च तत् ॥ १९.४८॥

असत्यं च निदिध्यासः सजातीयमसत्यकम् ।
विजातीयमसत् प्रोक्तं सत्यं सत्यं न संशयः ।
सर्वं ब्रह्म सदा ब्रह्म एकं ब्रह्म चिदव्ययम् ॥ १९.४९॥

चेतोविलासजनितं किल विश्वमेत-
द्विश्वाधिकस्य कृपया परिपूर्णभास्यात् ।
नास्त्यन्यतः श्रुतिशिरोत्थितवाक्यमोघ-
शास्त्रानुसारिकरणैर्भवते विमुक्त्यै ॥ १९.५०॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
ब्रह्मानन्दप्रकरणं नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥

२० ॥ विंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
शृणु केवलमत्यन्तं रहस्यं परमाद्भुतम् ।
इति गुह्यतरं सद्यो मोक्षप्रदमिदं सदा ॥ २०.१॥

सुलभं ब्रह्मविज्ञानं सुलभं शुभमुत्तमम् ।
सुलभं ब्रह्मनिष्ठानां सुलभं सर्वबोधकम् ॥ २०.२॥

सुलभं कृतकृत्यानां सुलभं स्वयमात्मनः ।
सुलभं कारणाभावं सुलभं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ २०.३॥

सुलभं चित्तहीनानां स्वयं तच्च स्वयं स्वयम् ।
स्वयं संसारहीनानां चित्तं संसारमुच्यते ॥ २०.४॥

सृष्ट्वेदं न संसारः ब्रह्मैवेदं मनो न च ।
ब्रह्मैवेदं भयं नास्ति ब्रह्मैवेदं न किञ्चन ॥ २०.५॥

ब्रह्मैवेदमसत् सर्वं ब्रह्मैवेदं परायणम् ।
ब्रह्मैवेदं शरीराणां ब्रह्मैवेदं तृणं न च ॥ २०.६॥

ब्रह्मैवास्मि न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवेदं जगन्न च ।
ब्रह्मैवेदं वियन्नास्ति ब्रह्मैवेदं क्रिया न च ॥ २०.७॥

ब्रह्मैवेदं महात्मानं ब्रह्मैवेदं प्रियं सदा ।
ब्रह्मैवेदं जगद्भ्रान्तो ब्रह्मैवाहं भयं न हि ॥ २०.८॥

ब्रह्मैवाहं सदाचित्तं ब्रह्मैवाहमिदं न हि ।
ब्रह्मैवाहं तु यन्मिथ्या ब्रह्मैवाहमियं भ्रमा ॥ २०.९॥

ब्रह्मैव सर्वसिद्धान्तो ब्रह्मैव मनसास्पदम् ।
ब्रह्मैव सर्वभवनं ब्रह्मैव मुनिमण्डलम् ॥ २०.१०॥

ब्रह्मैवाहं तु नास्त्यन्यद् ब्रह्मैव गुरुपूजनम् ।
ब्रह्मैव नान्यत् किञ्चित्तु ब्रह्मैव सकलं सदा ॥ २०.११॥

ब्रह्मैव त्रिगुणाकारं ब्रह्मैव हरिरूपकम् ।
ब्रह्मणोऽन्यत् पदं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत् क्षणं न मे ॥ २०.१२॥

ब्रह्मैवाहं नान्यवार्ता ब्रह्मैवाहं न च श्रुतम् ।
ब्रह्मैवाहं समं नास्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ २०.१३॥

ब्रह्मैवाहं न मे भोगो ब्रह्मैवाहं न मे पृथक् ।
ब्रह्मैवाहं सतं नास्ति ब्रह्मैव ब्रह्मरूपकः ॥ २०.१४॥

ब्रह्मैव सर्वदा भाति ब्रह्मैव सुखमुत्तमम् ।
ब्रह्मैव नानाकारत्वात् ब्रह्मैवाहं प्रियं महत् ॥ २०.१५॥

ब्रह्मैव ब्रह्मणः पूज्यं ब्रह्मैव ब्रह्मणो गुरुः ।
ब्रह्मैव ब्रह्ममाता तु ब्रह्मैवाहं पिता सुतः ॥ २०.१६॥

ब्रह्मैव ब्रह्म देवं च ब्रह्मैव ब्रह्म तज्जयः ।
ब्रह्मैव ध्यानरूपात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मणो गुणः ॥ २०.१७॥

आत्मैव सर्वनित्यात्मा आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ।
आत्मैव सततं ह्यात्मा आत्मैव गुरुरात्मनः ॥ २०.१८॥

आत्मज्योतिरहंभूतमात्मैवास्ति सदा स्वयम् ।
स्वयं तत्त्वमसि ब्रह्म स्वयं भामि प्रकाशकः ॥ २०.१९॥

स्वयं जीवत्वसंशान्तिः स्वयमीश्वररूपवान् ।
स्वयं ब्रह्म परं ब्रह्म स्वयं केवलमव्ययम् ॥ २०.२०॥

स्वयं नाशं च सिद्धान्तं स्वयमात्मा प्रकाशकः ।
स्वयं प्रकाशरूपात्मा स्वयमत्यन्तनिर्मलः ॥ २०.२१॥

स्वयमेव हि नित्यात्मा स्वयं शुद्धः प्रियाप्रियः ।
स्वयमेव स्वयं छन्दः स्वयं देहादिवर्जितः ॥ २०.२२॥

स्वयं दोषविहीनात्मा स्वयमाकाशवत् स्थितः ।
अयं चेदं च नास्त्येव अयं भेदविवर्जितः ॥ २०.२३॥

ब्रह्मैव चित्तवद्भाति ब्रह्मैव शिववत् सदा ।
ब्रह्मैव बुद्धिवद्भाति ब्रह्मैव शिववत् सदा ॥ २०.२४॥

ब्रह्मैव शशवद्भाति ब्रह्मैव स्थूलवत् स्वयम् ।
ब्रह्मैव सततं नान्यत् ब्रह्मैव गुरुरात्मनः ॥ २०.२५॥

आत्मज्योतिरहं भूतमहं नास्ति सदा स्वयम् ।
स्वयमेव परं ब्रह्म स्वयमेव चिदव्ययः ॥ २०.२६॥

स्वयमेव स्वयं ज्योतिः स्वयं सर्वत्र भासते ।
स्वयं ब्रह्म स्वयं देहः स्वयं पूर्णः परः पुमान् ॥ २०.२७॥

स्वयं तत्त्वमसि ब्रह्म स्वयं भाति प्रकाशकः ।
स्वयं जीवत्वसंशान्तः स्वयमीश्वररूपवान् ॥ २०.२८॥

स्वयमेव परं ब्रह्म स्वयं केवलमव्ययः ।
स्वयं राद्धान्तसिद्धान्तः स्वयमात्मा प्रकाशकः ॥ २०.२९॥

स्वयं प्रकाशरूपात्मा स्वयमत्यन्तनिर्मलः ।
स्वयमेव हि नित्यात्मा स्वयं शुद्धः प्रियाप्रियः ॥ २०.३०॥

स्वयमेव स्वयं स्वस्थः स्वयं देहविवर्जितः ।
स्वयं दोषविहीनात्मा स्वयमाकाशवत् स्थितः ॥ २०.३१॥

अखण्डः परिपूर्णोऽहमखण्डरसपूरणः ।
अखण्डानन्द एवाहमपरिच्छिन्नविग्रहः ॥ २०.३२॥

इति निश्चित्य पूर्णात्मा ब्रह्मैव न पृथक् स्वयम् ।
अहमेव हि नित्यात्मा अहमेव हि शाश्वतः ॥ २०.३३॥

अहमेव हि तद्ब्रह्म ब्रह्मैवाहं जगत्प्रभुः ।
ब्रह्मैवाहं निराभासो ब्रह्मैवाहं निरामयः ॥ २०.३४॥

ब्रह्मैवाहं चिदाकाशो ब्रह्मैवाहं निरन्तरः ।
ब्रह्मैवाहं महानन्दो ब्रह्मैवाहं सदात्मवान् ॥ २०.३५॥

ब्रह्मैवाहमनन्तात्मा ब्रह्मैवाहं सुखं परम् ।
ब्रह्मैवाहं महामौनी सर्ववृत्तान्तवर्जितः ॥ २०.३६॥

ब्रह्मैवाहमिदं मिथ्या ब्रह्मैवाहं जगन्न हि ।
ब्रह्मैवाहं न देहोऽस्मि ब्रह्मैवाहं महाद्वयः ॥ २०.३७॥

ब्रह्मैव चित्तवद्भाति ब्रह्मैव शिववत् सदा ।
ब्रह्मैव बुद्धिवद्भाति ब्रह्मैव फलवत् स्वयम् ॥ २०.३८॥

ब्रह्मैव मूर्तिवद्भाति तद्ब्रह्मासि न संशयः ।
ब्रह्मैव कालवद्भाति ब्रह्मैव सकलादिवत् ॥ २०.३९॥

ब्रह्मैव भूतिवद्भाति ब्रह्मैव जडवत् स्वयम् ।
ब्रह्मैवौंकारवत् सर्वं ब्रह्मैवौंकाररूपवत् ॥ २०.४०॥

ब्रह्मैव नादवद्ब्रह्म नास्ति भेदो न चाद्वयम् ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ॥ २०.४१॥

ब्रह्मैव सर्वमात्मैव ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
सर्वं मिथ्या जगन्मिथ्या दृश्यत्वाद्धटवत् सदा ॥ २०.४२॥

ब्रह्मैवाहं न सन्देहश्चिन्मात्रत्वादहं सदा ।
ब्रह्मैव शुद्धरूपत्वात् दृग्रूपत्वात् स्वयं महत् ॥ २०.४३॥

अहमेव परं ब्रह्म अहमेव परात् परः ।
अहमेव मनोतीत अहमेव जगत्परः ॥ २०.४४॥

अहमेव हि नित्यात्मा अहं मिथ्या स्वभावतः ।
आनन्दोऽहं निराधारो ब्रह्मैव न च किञ्चन ॥ २०.४५॥

नान्यत् किञ्चिदहं ब्रह्म नान्यत् किञ्चिच्चिदव्ययः ।
आत्मनोऽन्यत् परं तुच्छमात्मनोऽन्यदहं नहि ॥ २०.४६॥

आत्मनोऽन्यन्न मे देहः आत्मैवाहं न मे मलम् ।
आत्मन्येवात्मना चित्तमात्मैवाहं न तत् पृथक् ॥ २०.४७॥

आत्मैवाहमहं शून्यमात्मैवाहं सदा न मे ।
आत्मैवाहं गुणो नास्ति आत्मैव न पृथक् क्वचित् ॥ २०.४८॥

अत्यन्ताभाव एव त्वं अत्यन्ताभावमीदृशम् ।
अत्यन्ताभाव एवेदमत्यन्ताभावमण्वपि ॥ २०.४९॥

आत्मैवाहं परं ब्रह्म सर्वं मिथ्या जगत्त्रयम् ।
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव परो गुरुः ॥ २०.५०॥

जीवभावं सदासत्यं शिवसद्भावमीदृशम् ।
विष्णुवद्भावनाभ्रान्तिः सर्वं शशविषाणवत् ॥ २०.५१॥

अहमेव सदा पूर्णं अहमेव निरन्तरम् ।
नित्यतृप्तो निराकारो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ २०.५२॥

अहमेव परानन्द अहमेव क्षणान्तिकः ।
अहमेव त्वमेवाहं त्वं चाहं नास्ति नास्ति हि ॥ २०.५३॥

वाचामगोचरोऽहं वै वाङ्मनो नास्ति कल्पितम् ।
अहं ब्रह्मैव सर्वात्मा अहं ब्रह्मैव निर्मलः ॥ २०.५४॥

अहं ब्रह्मैव चिन्मात्रं अहं ब्रह्मैव नित्यशः ।
इदं च सर्वदा नास्ति अहमेव सदा स्थिरः ॥ २०.५५॥

इदं सुखमहं ब्रह्म इदं सुखमहं जडम् ।
इदं ब्रह्म न सन्देहः सत्यं सत्यं पुनः पुनः ॥ २०.५६॥

इत्यात्मवैभवं प्रोक्तं सर्वलोकेषु दुर्लभम् ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ २०.५७॥

शान्तिदान्तिपरमा भवतान्ताः
स्वान्तभान्तमनिशं शशिकान्तम् ।
अन्तकान्तकमहो कलयन्तः
वेदमौलिवचनैः किल शान्ताः ॥ २०.५८॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
आत्मवैभवप्रकरणं नाम विंशोऽध्यायः ॥

---

२१ ॥ एकविंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
महारहस्यं वक्ष्यामि वेदान्तेषु च गोपितम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ २१.१॥

सच्चिदानन्दमात्रोऽहं सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ।
तदेव ब्रह्म सम्पश्यत् ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ २१.२॥

अहं ब्रह्म इदं ब्रह्म नाना ब्रह्म न संशयः ।
सत्यं ब्रह्म सदा ब्रह्माप्यहं ब्रह्मैव केवलम् ॥ २१.३॥

गुरुर्ब्रह्म गुणो ब्रह्म सर्वं ब्रह्मपरोऽस्म्यहम् ।
नान्तं ब्रह्म अहं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मापरोऽस्म्यहम् ॥ २१.४॥

वेदवेद्यं परं ब्रह्म विद्या ब्रह्म विशेषतः ।
आत्मा ब्रह्म अहं ब्रह्म आद्यन्तं ब्रह्म सोऽस्म्यहम् ॥ २१.५॥

सत्यं ब्रह्म सदा ब्रह्म अन्यन्नास्ति सदा परम् ।
अहं ब्रह्म त्वहं नास्ति अहंकारपरं नहि ॥ २१.६॥

अहं ब्रह्म इदं नास्ति अयमात्मा महान् सदा ।
वेदान्तवेद्यो ब्रह्मात्मा अपरं शशश्रृङ्गवत् ॥ २१.७॥

भूतं नास्ति भविष्यं न ब्रह्मैव स्थिरतां गतः ।
चिन्मयोऽहं जडं तुच्छं चिन्मात्रं देहनाशनम् ॥ २१.८॥

चित्तं किञ्चित् क्वचिच्चापि चित्तं दूरोऽहमात्मकः । var was हरोऽहमात्मकः
सत्यं ज्ञानमनन्तं यन्नानृतं जडदुःखकम् ॥ २१.९॥

आत्मा सत्यमनन्तात्मा देहमेव न संशयः ।
वार्ताप्यसच्छ्रुतं तन्न अहमेव महोमहः ॥ २१.१०॥

एकसंख्याप्यसद्ब्रह्म सत्यमेव सदाऽप्यहम् ।
सर्वमेवमसत्यं च उत्पन्नत्वात् परात् सदा ॥ २१.११॥

सर्वावयवहीनोऽपि नित्यत्वात् परमो ह्यहम् ।
सर्वं दृश्यं न मे किञ्चित् चिन्मयत्वाद्वदाम्यहम् ॥ २१.१२॥

आग्रहं च न मे किञ्चित् चिन्मयत्वाद्वदाम्यहम् ।
इदमित्यपि निर्देशो न क्वचिन्न क्वचित् सदा ॥ २१.१३॥

निर्गुणब्रह्म एवाहं सुगुरोरुपदेशतः ।
विज्ञानं सगुणो ब्रह्म अहं विज्ञानविग्रहः ॥ २१.१४॥

निर्गुणोऽस्मि निरंशोऽस्मि भवोऽस्मि भरणोऽस्म्यहम् ।
देवोऽस्मि द्रव्यपूर्णोऽस्मि शुद्धोऽस्मि रहितोऽस्म्यहम् ॥ २१.१५॥

रसोऽस्मि रसहीनोऽस्मि तुर्योऽस्मि शुभभावनः ।
कामोऽस्मि कार्यहीनोऽस्मि नित्यनिर्मलविग्रहः ॥ २१.१६॥

आचारफलहीनोऽस्मि अहं ब्रह्मास्मि केवलम् ।
इदं सर्वं परं ब्रह्म अयमात्मा न विस्मयः ॥ २१.१७॥

पूर्णापूर्णस्वरूपात्मा नित्यं सर्वात्मविग्रहः ।
परमानन्दतत्त्वात्मा परिच्छिन्नं न हि क्वचित् ॥ २१.१८॥

एकात्मा निर्मलाकार अहमेवेति भावय ।
अहंभावनया युक्त अहंभावेन संयुतः ॥ २१.१९॥

शान्तं भावय सर्वात्मा शाम्यतत्त्वं मनोमलः ।
देहोऽहमिति सन्त्यज्य ब्रह्माहमिति निश्चिनु ॥ २१.२०॥

ब्रह्मैवाहं ब्रह्ममात्रं ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
इदं नाहमिदं नाहमिदं नाहं सदा स्मर ॥ २१.२१॥

अहं सोऽहमहं सोऽहमहं ब्रह्मेति भावय ।
चिदहं चिदहं ब्रह्म चिदहं चिदहं वद ॥ २१.२२॥

नेदं नेदं सदा नेदं न त्वं नाहं च भावय ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहः सर्वं वेदं न किञ्चन ॥ २१.२३॥

सर्वं शब्दार्थभवनं सर्वलोकभयं न च ।
सर्वतीर्थं न सत्यं हि सर्वदेवालयं न हि ॥ २१.२४॥

सर्वचैतन्यमात्रत्वात् सर्वं नाम सदा न हि ।
सर्वरूपं परित्यज्य सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ २१.२५॥

ब्रह्मैव सर्वं तत्सत्यं प्रपञ्चं प्रकृतिर्नहि ।

प्राकृतं स्मरणं त्यज्य ब्रह्मस्मरणमाहर ॥ २१.२६॥

ततस्तदपि सन्त्यज्य निजरूपे स्थिरो भव ।
स्थिररूपं परित्यज्य आत्ममात्रं भवत्यसौ ॥ २१.२७॥

त्यागत्वमपि सन्त्यज्य भेदमात्रं सदा त्यज ।
स्वयं निजं समावृत्य स्वयमेव स्वयं भज ॥ २१.२८॥

इदमित्यङ्गुलीदृष्टमिदमस्तमचेतनम् ।
इदं वाक्यं च वाक्येन वाचाऽपि परिवेदनम् ॥ २१.२९॥

सर्वभावं न सन्देहः सर्वं नास्ति न संशयः ।
सर्वं तुच्छं न सन्देहः सर्वं माया न संशयः ॥ २१.३०॥

त्वं ब्रह्माहं न सन्देहो ब्रह्मैवेदं न संशयः ।
सर्वं चित्तं न सन्देहः सर्वं ब्रह्म न संशयः ॥ २१.३१॥

ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या सर्वं मिथ्या परावरा ।
न देहं पञ्चभूतं वा न चित्तं भ्रान्तिमात्रकम् ॥ २१.३२॥

न च बुद्धीन्द्रियाभावो न मुक्तिर्ब्रह्ममात्रकम् ।
निमिषं च न शङ्कापि न सङ्कल्पं तदस्ति चेत् ॥ २१.३३॥

अहङ्कारमसद्विद्धि अभिमानं तदस्ति चेत् ।
न चित्तस्मरणं तच्चेन्न सन्देहो जरा यदि ॥ २१.३४॥

प्राणो???दीयते शास्ति घ्राणो यदिह गन्धकम् ।
चक्षुर्यदिह भूतस्य श्रोत्रं श्रवणभावनम् ॥ २१.३५॥

त्वगस्ति चेत् स्पर्शसत्ता जिह्वा चेद्रससङ्ग्रहः ।
जीवोऽस्ति चेज्जीवनं च पादश्चेत् पादचारणम् ॥ २१.३६॥

हस्तौ यदि क्रियासत्ता स्रष्टा चेत् सृष्टिसंभवः ।
रक्ष्यं चेद्रक्षको विष्णुर्भक्ष्यं चेद्भक्षकः शिवः ॥ २१.३७॥

सर्वं ब्रह्म न सन्देहः सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
पूज्यं चेत् पूजनं चास्ति भास्यं चेद्भासकः शिवः ॥ २१.३८॥

सर्वं मिथ्या न सन्देहः सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
अस्ति चेत् कारणं सत्यं कार्यं चैव भविष्यति ॥ २१.३९॥

नास्ति चेन्नास्ति हीनोऽहं ब्रह्मैवाहं परायणम् ।
अत्यन्तदुःखमेतद्धि अत्यन्तसुखमव्ययम् ॥ २१.४०॥

अत्यन्तं जन्ममात्रं च अत्यन्तं रणसंभवम् ।
अत्यन्तं मलिनं सर्वमत्यन्तं निर्मलं परम् ॥ २१.४१॥

अत्यन्तं कल्पनं दुष्टं अत्यन्तं निर्मलं त्वहम् ।
अत्यन्तं सर्वदा दोषमत्यन्तं सर्वदा गुणम् ॥ २१.४२॥

अत्यन्तं सर्वदा शुभ्रमत्यन्तं सर्वदा मलम् ।
अत्यन्तं सर्वदा चाहमत्यन्तं सर्वदा इदम् ॥ २१.४३॥

अत्यन्तं सर्वदा ब्रह्म अत्यन्तं सर्वदा जगत् ।
एतावदुक्तमभयमहं भेदं न किञ्चन ॥ २१.४४॥

सदसद्वापि नास्त्येव सदसद्वापि वाक्यकम् ।
नास्ति नास्ति न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ २१.४५॥

कारणं कार्यरूपं वा सर्वं नास्ति न संशयः ।
कर्ता भोक्ता क्रिया वापि न भोज्यं भोगतृप्तता ॥ २१.४६॥

सर्वं ब्रह्म न सन्देहः सर्व शब्दो न वास्तवम् ।
भूतं भविष्यं वार्तं तु कार्यं वा नास्ति सर्वदा ॥ २१.४७॥

सदसद्भेद्यभेदं वा न गुणा गुणभागिनः ।
निर्मलं वा मलं वापि नास्ति नास्ति न किञ्चन ॥ २१.४८॥

भाष्यं वा भाषणं वाऽपि नास्ति नास्ति न किञ्चन ।
प्रबलं दुर्बलं वापि अहं च त्वं च वा क्वचित् ॥ २१.४९॥

ग्राह्यं च ग्राहकं वापि उपेक्ष्यं नात्मनः क्वचित् ।
तीर्थं वा स्नानरूपं वा देवो वा देव पूजनम् ॥ २१.५०॥

जन्म वा मरणं हेतुर्नास्ति नास्ति न किञ्चन ।
सत्यं वा सत्यरूपं वा नास्ति नास्ति न किञ्चन ॥ २१.५१॥

मातरः पितरो वापि देहो वा नास्ति किञ्चन ।
दृग्रूपं दृश्यरूपं वा नास्ति नास्तीह किञ्चन ॥ २१.५२॥

मायाकार्यं च माया वा नास्ति नास्तीह किञ्चन ।
ज्ञानं वा ज्ञानभेदो वा नास्ति नास्तीह किञ्चन ॥ २१.५३॥

सर्वप्रपञ्चहेयत्वं प्रोक्तं प्रकरणं च ते ।
यः श्रृणोति सकृद्वापि आत्माकारं प्रपद्यते ॥ २१.५४॥

स्कन्दः -
माया सा त्रिगुणा गणाधिपगुरोरेणाङ्कचूडामणेः
पादाम्भोजसमर्चनेन विलयं यात्येव नास्त्यन्यथा ।
विद्या हृद्यतमा सुविद्युदिव सा भात्येव हृत्पङ्कजे

यस्यानल्पतपोभिरुग्रकरणाद्दक् तस्य मुक्तिः स्थिरा ॥ २१.५५॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
सर्वप्रपञ्चहेयत्वप्रकरणवर्णनं नाम एकविंशोऽध्यायः ॥

२२ ॥ द्वाविंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
वक्ष्ये ब्रह्ममयं सर्वं नास्ति सर्वं जगन्मृषा ।
अहं ब्रह्म न मे चिन्ता अहं ब्रह्म न मे जडम् ॥ २२.१॥

अहं ब्रह्म न मे दोषः अहं ब्रह्म न मे फलम् ।
अहं ब्रह्म न मे वार्ता अहं ब्रह्म न मे द्वयम् ॥ २२.२॥

अहं ब्रह्म न मे नित्यमहं ब्रह्म न मे गतिः ।
अहं ब्रह्म न मे माता अहं ब्रह्म न मे पिता ॥ २२.३॥

अहं ब्रह्म न मे सोऽयमहं वैश्वानरो न हि ।
अहं ब्रह्म चिदाकाशमहं ब्रह्म न संशयः ॥ २२.४॥

सर्वान्तरोऽहं पूर्णात्मा सर्वान्तरमनोऽन्तरः ।
अहमेव शरीरान्तरहमेव स्थिरः सदा ॥ २२.५॥

एवं विज्ञानवान् मुक्त एवं ज्ञानं सुदुर्लभम् ।
अनेकशतसाहस्रेष्वेक एव विवेकवान् ॥ २२.६॥

तस्य दर्शनमात्रेण पितरस्तृप्तिमागताः ।
ज्ञानिनो दर्शनं पुण्यं सर्वतीर्थावगाहनम् ॥ २२.७॥

ज्ञानिनः चार्चनेनैव जीवन्मुक्तो भवेन्नरः ।
ज्ञानिनो भोजने दाने सद्यो मुक्तो भवेन्नरः ॥ २२.८॥

अहं ब्रह्म न सन्देहः अहमेव गुरुः परः ।
अहं शान्तोऽस्मि शुद्धोऽस्मि अहमेव गुणान्तरः ॥ २२.९॥

गुणातीतो जनातीतः परातीतो मनः परः ।
परतः परतोऽतीतो बुद्ध्यातीतो रसात् परः ॥ २२.१०॥

भावातीतो मनातीतो वेदातीतो विदः परः ।
शरीरादेश्च परतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितः ॥ २२.११॥

अव्यक्तात् परतोऽतीत इत्येवं ज्ञाननिश्चयः ।
क्वचिदेतत्परित्यज्य सर्वं संत्यज्य मूकवत् ॥ २२.१२॥

तूष्णीं ब्रह्म परं ब्रह्म शाश्वतब्रह्मवान् स्वयम् ।
ज्ञानिनो महिमा किञ्चिदणुमात्रमपि स्फुटम् ॥ २२.१३॥

हरिणापि हरेणापि ब्रह्मणापि सुरैरपि ।
न शक्यते वर्णयितुं कल्पकोटिशतैरपि ॥ २२.१४॥

अहं ब्रह्मेति विज्ञानं त्रिषु लोकेषु दुर्लभम् ।
विवेकिनं महात्मानं ब्रह्ममात्रेणावस्थितम् ॥ २२.१५॥

द्रष्टुं च भाषितुं वापि दुर्लभं पादसेवनम् ।
कदाचित् पादतीर्थेन स्नातश्चेत् ब्रह्म एव सः ॥ २२.१६॥

सर्वं मिथ्या न सन्देहः सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
एतत् प्रकरणं प्रोक्तं सर्वसिद्धान्तसंग्रहः ॥ २२.१७॥

दुर्लभं यः पठेद्भक्त्या ब्रह्म सम्पद्यते नरः ।
वक्ष्ये ब्रह्ममयं सर्वं नान्यत् सर्वं जगन्मृषा ॥ २२.१८॥

ब्रह्मैव जगदाकारं ब्रह्मैव परमं पदम् ।
अहमेव परं ब्रह्म अहमित्यपि वर्जितः ॥ २२.१९॥

सर्ववर्जितचिन्मात्रं सर्ववर्जितचेतनः ।
सर्ववर्जितशान्तात्मा सर्वमङ्गलविग्रहः ॥ २२.२०॥

अहं ब्रह्म परं ब्रह्म असन्नेदं न मे न मे ।
न मे भूतं भविष्यच्च न मे वर्णं न संशयः ॥ २२.२१॥

ब्रह्मैवाहं न मे तुच्छं अहं ब्रह्म परं तपः ।
ब्रह्मरूपमिदं सर्वं ब्रह्मरूपमनामयम् ॥ २२.२२॥

ब्रह्मैव भाति भेदेन ब्रह्मैव न परः परः ।
आत्मैव द्वैतवद्भाति आत्मैव परमं पदम् ॥ २२.२३॥

ब्रह्मैवं भेदरहितं भेदमेव महद्भयम् ।
आत्मैवाहं निर्मलोऽहमात्मैव भुवनत्रयम् ॥ २२.२४॥

आत्मैव नान्यत् सर्वत्र सर्वं ब्रह्मैव नान्यकः ।
अहमेव सदा भामि ब्रह्मैवास्मि परोऽस्म्यहम् ॥ २२.२५॥

निर्मलोऽस्मि परं ब्रह्म कार्याकार्यविवर्जितः ।
सदा शुद्धैकरूपोऽस्मि सदा चैतन्यमात्रकः ॥ २२.२६॥

निश्चयोऽस्मि परं ब्रह्म सत्योऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।
अक्षरोऽस्मि परं ब्रह्म शिवोऽस्मि शिखरोऽस्म्यहम् ॥ २२.२७॥

समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि तत्परोऽस्मि चिदव्ययः ।
सदा ब्रह्म हि नित्योऽस्मि सदा चिन्मात्रलक्षणः ॥ २२.२८॥

सदाऽखण्डैकरूपोऽस्मि सदामानविवर्जितः ।
सदा शुद्धैकरूपोऽस्मि सदा चैतन्यमात्रकः ॥ २२.२९॥

सदा सन्मानरूपोऽस्मि सदा सत्ताप्रकाशकः ।
सदा सिद्धान्तरूपोऽस्मि सदा पावनमङ्गलः ॥ २२.३०॥

एवं निश्चितवान् मुक्तः एवं नित्यपरो वरः ।
एवं भावनया युक्तः परं ब्रह्मैव सर्वदा ॥ २२.३१॥

एवं ब्रह्मात्मवान् ज्ञानी ब्रह्माहमिति निश्चयः ।
स एव पुरुषो लोके ब्रह्माहमिति निश्चितः ॥ २२.३२॥

स एव पुरुषो ज्ञानी जीवन्मुक्तः स आत्मवान् ।
ब्रह्मैवाहं महानात्मा सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ २२.३३॥

नाहं जीवो न मे भेदो नाहं चिन्ता न मे मनः ।
नाहं मांसं न मेऽस्थीनि नाहंकारकलेवरः ॥ २२.३४॥

न प्रमाता न मेयं वा नाहं सर्वं परोऽस्म्यहम् ।
सर्वविज्ञानरूपोऽस्मि नाहं सर्वं कदाचन ॥ २२.३५॥

नाहं मृतो जन्मनान्यो न चिन्मात्रोऽस्मि नास्म्यहम् ।
न वाच्योऽहं न मुक्तोऽहं न बुद्धोऽहं कदाचन ॥ २२.३६॥

न शून्योऽहं न मूढोऽहं न सर्वोऽहं परोऽस्म्यहम् ।
सर्वदा ब्रह्ममात्रोऽहं न रसोऽहं सदाशिवः ॥ २२.३७॥

न घ्राणोऽहं न गन्धोऽहं न चिह्वोऽयं न मे प्रियः ।
नाहं जीवो रसो नाहं वरुणो न च गोलकः ॥ २२.३८॥

ब्रह्मैवाहं न सन्देहो नामरूपं न किञ्चन ।
न श्रोत्रोऽहं न शब्दोऽहं न दिशोऽहं न साक्षिकः ॥ २२.३९॥

नाहं न त्वं न च स्वर्गो नाहं वायुर्न साक्षिकः ।
पायुर्नाहं विसर्गो न न मृत्युर्न च साक्षिकः ॥ २२.४०॥

गुह्यं नाहं न चानन्दो न प्रजापतिदेवता ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहः सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ २२.४१॥

नाहं मनो न सङ्कल्पो न चन्द्रो न च साक्षिकः ।
नाहं बुद्धीन्द्रियो ब्रह्मा नाहं निश्चयरूपवान् ॥ २२.४२॥

नाहंकारमहं रुद्रो नाभिमानो न साक्षिकः ।
चित्तं नाहं वासुदेवो धारणा नायमीश्वरः ॥ २२.४३॥

नाहं विश्वो न जाग्रद्वा स्थूलदेहो न मे क्वचित् ।
न प्रातिभासिको जीवो न चाहं व्यावहारिकः ॥ २२.४४॥

न पारमार्थिको देवो नाहमन्नमयो जडः ।
न प्राणमयकोशोऽहं न मनोमयकोशवान् ॥ २२.४५॥

न विज्ञानमयः कोशो नानन्दमयकोशवान् ।
ब्रह्मैवाहं न सन्देहो नामरूपे न किञ्चन ॥ २२.४६॥

एतावदुक्त्वा सकलं नामरूपद्वयात्मकम् ।
सर्वं क्षणेन विस्मृत्य काष्ठलोष्टादिवत् त्यजेत् ॥ २२.४७॥

एतत्सर्वमसन्नित्यं सदा वन्ध्याकुमारवत् ।
शशश्रृङ्गवदेवेदं नरश्रृङ्गवदेव तत् ॥ २२.४८॥

आकाशपुष्पसदृशं यथा मरुमरीचिका ।
गन्धर्वनगरं यद्वदिन्द्रजालवदेव हि ॥ २२.४९॥

असत्यमेव सततं पञ्चरूपकमिष्यते ।
शिष्योपदेशकालो हि द्वैतं न परमार्थतः ॥ २२.५०॥

माता मृते रोदनाय द्रव्यं दत्वाऽऽह्वयेज्जनान् ।
तेषां रोदनमात्रं यत् केवलं द्रव्यपञ्चकम् ॥ २२.५१॥

तदद्वैतं मया प्रोक्तं सर्वं विस्मृत्य कुड्यवत् ।
अहं ब्रह्मेति निश्चित्य अहमेवेति भावय ॥ २२.५२॥

अहमेव सुखं चेति अहमेव न चापरः ।
अहं चिन्मात्रमेवेति ब्रह्मैवेति विनिश्चिनु ॥ २२.५३॥

अहं निर्मलशुद्धेति अहं जीवविलक्षणः ।
अहं ब्रह्मैव सर्वात्मा अहमित्यवभासकः ॥ २२.५४॥

अहमेव हि चिन्मात्रमहमेव हि निर्गुणः ।
सर्वान्तर्याम्यहं ब्रह्म चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥ २२.५५॥

नित्यमङ्गलरूपात्मा नित्यमोक्षमयः पुमान् ।
एवं निश्चित्य सततं स्वात्मानं स्वयमास्थितः ॥ २२.५६॥

ब्रह्मैवाहं न सन्देहो नामरूपे न किञ्चन ।
एतद्रूपप्रकरणं सर्ववेदेषु दुर्लभम् ।
यः श्रृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ २२.५७॥

तं वेदादिवचोभिरीडितमहायागैश्च भोगैर्व्रतै-
र्दानैश्चानशनैर्यमादिनियमैस्तं विद्विषन्ते द्विजाः ।
तस्यानङ्गरिपोरतीव सुमहाहृद्यं हि लिङ्गार्चनं
तेनैवाशु विनाश्य मोहमखिलं ज्ञानं ददातीश्वरः ॥ २२.५८॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
नामरूपनिषेधप्रकरणं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥

२३ ॥ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
निदाघ शृणु वक्ष्यामि सर्वलोकेषु दुर्लभम् ।
इदं ब्रह्म परं ब्रह्म सच्चिदानन्द एव हि ॥ २३.१॥

नानाविधजनं लोकं नाना कारणकार्यकम् ।
ब्रह्मैवान्यदसत् सर्वं सच्चिदानन्द एव हि ॥ २३.२॥

अहं ब्रह्म सदा ब्रह्म अस्मि ब्रह्माहमेव हि ।
कालो ब्रह्म क्षणो ब्रह्म अहं ब्रह्म न संशयः ॥ २३.३॥

वेदो ब्रह्म परं ब्रह्म सत्यं ब्रह्म परात् परः ।
हंसो ब्रह्म हरिर्ब्रह्म शिवो ब्रह्म चिदव्ययः ॥ २३.४॥

सर्वोपनिषदो ब्रह्म साम्यं ब्रह्म समोऽस्म्यहम् ।
अजो ब्रह्म रसो ब्रह्म वियद्ब्रह्म परात्परः ॥ २३.५॥

त्रुटिर्ब्रह्म मनो ब्रह्म व्यष्टिर्ब्रह्म सदामुदः ।
इदं ब्रह्म परं ब्रह्म तत्त्वं ब्रह्म सदा जपः ॥ २३.६॥

अकारो ब्रह्म एवाहमुकारोऽहं न संशयः ।
मकारब्रह्ममात्रोऽहं मन्त्रब्रह्ममनुः परम् ॥ २३.७॥

शिकारब्रह्ममात्रोऽहं वाकारं ब्रह्म केवलम् ।
यकारं ब्रह्म नित्यं च पञ्चाक्षरमहं परम् ॥ २३.८॥

रेचकं ब्रह्म सद्ब्रह्म पूरकं ब्रह्म सर्वतः ।
कुंभकं ब्रह्म सर्वोऽहं धारणं ब्रह्म सर्वतः ॥ २३.९॥

ब्रह्मैव नान्यत् तत्सर्वं सच्चिदानन्द एव हि ।
एवं च निश्चितो मुक्तः सद्य एव न संशयः ॥ २३.१०॥

केचिदेव महामूढाः द्वैतमेवं वदन्ति हि ।

न संभाष्याः सदानर्हा नमस्कारे न योग्यता ॥ २३.११॥

मूढा मूढतरास्तुच्छास्तथा मूढतमाः परे ।
एते न सन्ति मे नित्यं अहंविज्ञानमात्रतः ॥ २३.१२॥

सर्वं चिन्मात्ररूपत्वादानन्दत्वान्न मे भयम् ।
अहमित्यपि नास्त्येव परमित्यपि न क्वचित् ॥ २३.१३॥

ब्रह्मैव नान्यत् तत्सर्वं सच्चिदानन्द एव हि ।
कालातीतं सुखातीतं सर्वातीतमतीतकम् ॥ २३.१४॥

नित्यातीतमनित्यानाममितं ब्रह्म केवलम् ।
ब्रह्मैव नान्यद्यत्सर्वं सच्चिदानन्दमात्रकम् ॥ २३.१५॥

द्वैतसत्यत्वबुद्धिश्च द्वैतबुद्ध्या न तत् स्मर ।
सर्वं ब्रह्मैव नान्योऽस्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ २३.१६॥

बुद्ध्यातीतं मनोऽतीतं वेदातीतमतः परम् ।
आत्मातीतं जनातीतं जीवातीतं च निर्गुणम् ॥ २३.१७॥

काष्ठातीतं कलातीतं नाट्यातीतं परं सुखम् ।
ब्रह्ममात्रेण सम्पश्यन् ब्रह्ममात्रपरो भव ॥ २३.१८॥

ब्रह्ममात्रपरो नित्यं चिन्मात्रोऽहं न संशयः ।
ज्योतिरानन्दमात्रोऽहं निजानन्दात्ममात्रकः ॥ २३.१९॥

शून्यानन्दात्ममात्रोऽहं चिन्मात्रोऽहमिति स्मर ।
सत्तामात्रोऽहमेवात्र सदा कालगुणान्तरः ॥ २३.२०॥

नित्यसन्मात्ररूपोऽहं शुद्धानन्दात्ममात्रकम् ।
प्रपञ्चहीनरूपोऽहं सच्चिदानन्दमात्रकः ॥ २३.२१॥

निश्चयानन्दमात्रोऽहं केवलानन्दमात्रकः ।
परमानन्दमात्रोऽहं पूर्णानन्दोऽहमेव हि ॥ २३.२२॥

द्वैतस्यमात्रसिद्धोऽहं साम्राज्यपदलक्षणम् ।
इत्येवं निश्चयं कुर्वन् सदा त्रिषु यथासुखम् ॥ २३.२३॥

दृढनिश्चयरूपात्मा दृढनिश्चयसन्मयः ।
दृढनिश्चयशान्तात्मा दृढनिश्चयमानसः ॥ २३.२४॥

दृढनिश्चयपूर्णात्मा दृढनिश्चयनिर्मलः ।
दृढनिश्चयजीवात्मा दृढनिश्चयमङ्गलः ॥ २३.२५॥

दृढनिश्चयजीवात्मा संशयं नाशमेष्यति ।

दृढनिश्चयमेवात्र ब्रह्मज्ञानस्य लक्षणम् ॥ २३.२६॥

दृढनिश्चयमेवात्र वाक्यज्ञानस्य लक्षणम् ।
दृढनिश्चयमेवात्र कारणं मोक्षसम्पदः ॥ २३.२७॥

एवमेव सदा कार्यं ब्रह्मैवाहमिति स्थिरम् ।
ब्रह्मैवाहं न सन्देहः सच्चिदानन्द एव हि ॥ २३.२८॥

आत्मानन्दस्वरूपोऽहं नान्यदस्तीति भावय ।
ततस्तदपि सन्त्यज्य एक एव स्थिरो भव ॥ २३.२९॥

ततस्तदपि सन्त्यज्य निर्गुणो भव सर्वदा ।
निर्गुणत्वं च सन्त्यज्य वाचातीतो भवेत् ततः ॥ २३.३०॥

वाचातीतं च सन्त्यज्य चिन्मात्रत्वपरो भव ।
आत्मातीतं च सन्त्यज्य ब्रह्ममात्रपरो भव ॥ २३.३१॥

चिन्मात्रत्वं च सन्त्यज्य सर्वतूष्णींपरो भव ।
सर्वतूष्णीं च सन्त्यज्य महातूष्णींपरो भव ॥ २३.३२॥

महातूष्णीं च सन्त्यज्य चित्ततूष्णीं समाश्रय ।
चित्ततूष्णीं च सन्त्यज्य जीवतूष्णीं समाहर ॥ २३.३३॥

जीवतूष्णीं परित्यज्य जीवशून्यपरो भव ।
शून्यत्यागं परित्यज्य यथा तिष्ठ तथासि भो ॥ २३.३४॥

तिष्ठत्वमपि सन्त्यज्य अवाङ्मानसगोचरः ।
ततः परं न वक्तव्यं ततः पश्येन्न किञ्चन ॥ २३.३५॥

नो चेत् सर्वपरित्यागो ब्रह्मैवाहमितीरय ।
सदा स्मरन् सदा चिन्त्यं सदा भावय निर्गुणम् ॥ २३.३६॥

सदा तिष्ठस्व तत्त्वज्ञ सदा ज्ञानी सदा परः ।
सदानन्दः सदातीतः सदादोषविवर्जितः ॥ २३.३७॥

सदा शान्तः सदा तृप्तः सदा ज्योतिः सदा रसः ।
सदा नित्यः सदा शुद्धः सदा बुद्धः सदा लयः ॥ २३.३८॥

सदा ब्रह्म सदा मोदः सदानन्दः सदा परः ।
सदा स्वयं सदा शून्यः सदा मौनी सदा शिवः ॥ २३.३९॥

सदा सर्वं सदा मित्रः सदा स्नानं सदा जपः ।
सदा सर्वं च विस्मृत्य सदा मौनं परित्यज ॥ २३.४०॥

देहाभिमानं सन्त्यज्य चित्तसत्तां परित्यज ।

आत्मैवाहं स्वयं चाहं इत्येवं सर्वदा भव ॥ २३.४१॥

एवं स्थिते त्वं मुक्तोऽसि न तु कार्या विचारणा ।
ब्रह्मैव सर्वं यत्किञ्चित् सच्चिदानन्द एव हि ॥ २३.४२॥

अहं ब्रह्म इदं ब्रह्म त्वं ब्रह्मासि निरन्तरः ।
प्रज्ञानं ब्रह्म एवासि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ २३.४३॥

दृढनिश्चयमेव त्वं कुरु कल्याणमात्मनः ।
मनसो भूषणं ब्रह्म मनसो भूषणं परः ॥ २३.४४॥

मनसो भूषणं कर्ता ब्रह्मैवाहमवेक्षतः ।
ब्रह्मैव सच्चिदानदः सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ २३.४५॥

सच्चिदानन्दमखिलं सच्चिदानन्द एव हि ।
सच्चिदानन्दजीवात्मा सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ २३.४६॥

सच्चिदानन्दमद्वैतं सच्चिदानन्दशङ्करः ।
सच्चिदानन्दविज्ञानं सच्चिदानन्दभोजनः ॥ २३.४७॥

सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सच्चिदानन्दकारणः ।
सच्चिदानन्दलीलात्मा सच्चिदानन्दशेवधिः ॥ २३.४८॥

सच्चिदानन्दसर्वाङ्गः सच्चिदानन्दचन्दनः ।
सच्चिदानन्दसिद्धान्तः सच्चिदानन्दवेदकः ॥ २३.४९॥

सच्चिदानन्दशास्त्रार्थः सच्चिदानन्दवाचकः ।
सच्चिदानन्दहोमश्च सच्चिदानन्दराज्यकः ॥ २३.५०॥

सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सच्चिदानन्दपूर्णकः ।
सच्चिदानन्दसन्मात्रं मूढेषु पठितं च यत् ॥ २३.५१॥

शुद्धं मूढेषु यद्दत्तं सुबद्धं मार्गचारिणा ।
विषयासक्तचित्तेषु न संभाष्यं विवेकिना ॥ २३.५२॥

सकृच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
इच्छा चेद्यदि नारीणां मुखं ब्राह्मण एव हि ॥ २३.५३॥

सर्वं चैतन्यमात्रत्वात् स्त्रीभेदं च न विद्यते ।
वेदशास्त्रेण युक्तोऽपि ज्ञानाभावाद् द्विजोऽद्विजः ॥ २३.५४॥

ब्रह्मैव तन्तुना तेन बद्धास्ते मुक्तिचिन्तकाः ।
सर्वमुक्तं भगवता रहस्यं शङ्करेण हि ॥ २३.५५॥

सोमापीडपदांबुजार्चनफलैर्भुक्त्यै भवान् मानसं

नान्यद्योगपथा श्रुतिश्रवणतः किं कर्मभिर्भूयते ।
युक्त्या शिक्षितमानसानुभवतोऽप्यश्माप्यसङ्गो वचां
किं ग्राह्यं भवतीन्द्रियार्थरहितानन्दैकसान्द्रः शिवः ॥ २३.५६॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
रहस्योपदेशप्रकरणं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

---

२४ ॥ चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
पुनः पुनः परं वक्ष्ये आत्मनोऽन्यदसत् स्वतः ।
असतो वचनं नास्ति सतो नास्ति सदा स्थिते ॥ २४.१॥

ब्रह्माभ्यास परस्याहं वक्ष्ये निर्णयमात्मनः ।
तस्यापि सकृदेवाहं वक्ष्ये मङ्गलपूर्वकम् ॥ २४.२॥

सर्वं ब्रह्माहमेवास्मि चिन्मात्रो नास्ति किञ्चन ।
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव चिदात्मकम् ॥ २४.३॥

अहं ममेति नास्त्येव अहं ज्ञानीति नास्ति च ।
शुद्धोऽहं ब्रह्मरूपोऽहमानन्दोऽहमजो नरः ॥ २४.४॥ var was नजः
देवोऽहं दिव्यभानोऽहं तुर्योऽहं भवभाव्यहम् ।
अण्डजोऽहमशेषोऽहमन्तरादन्तरोऽस्म्यहम् ॥ २४.५॥

अमरोऽहमजस्रोऽहमत्यन्तपरमोऽस्म्यहम् ।
परापरस्वरूपोऽहं नित्यानित्यरसोऽस्म्यहम् ॥ २४.६॥

गुणागुणविहीनोऽहं तुर्यातुर्यरसोऽस्म्यहम् ।
शान्ताशान्तविहीनोऽहं ज्ञानाज्ञानरसोऽस्म्यहम् ॥ २४.७॥

कालाकालविहीनोऽहमात्मानात्मविवर्जितः ।
लब्धालब्धादिहीनोऽहं सर्वशून्योऽहमव्ययः ॥ २४.८॥

अहमेवाहमेवाहमनन्तरनिरन्तरम् ।
शाश्वतोऽहमलक्ष्योऽहमात्मा न परिपूर्णतः ॥ २४.९॥

इत्यादिशब्दमुक्तोऽहं इत्याद्यं च न चास्म्यहम् ।
इत्यादिवाक्यमुक्तोऽहं सर्ववर्जितदुर्जयः ॥ २४.१०॥

निरन्तरोऽहं भूतोऽहं भव्योऽहं भववर्जितः ।
लक्ष्यलक्षणहीनोऽहं कार्यहीनोऽहमाशुगः ॥ २४.११॥

व्योमादिरूपहीनोऽहं व्योमरूपोऽहमच्युतः ।

अन्तरान्तरभावोऽहमन्तरान्तरवर्जितः ॥ २४.१२॥

सर्वसिद्धान्तरूपोऽहं सर्वदोषविवर्जितः ।
न कदाचन मुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन ॥ २४.१३॥

एवमेव सदा कृत्वा ब्रह्मैवाहमिति स्मर ।
एतावदेव मात्रं तु मुक्तो भवतु निश्चयः ॥ २४.१४॥

चिन्मात्रोऽहं शिवोऽहं वै शुभमात्रमहं सदा ।
सदाकारोऽहं मुक्तोऽहं सदा वाचामगोचरः ॥ २४.१५॥

सर्वदा परिपूर्णोऽहं वेदोपाधिविवर्जितः ।
चित्तकार्यविहीनोऽहं चित्तमस्तीति मे न हि ॥ २४.१६॥

यत् किञ्चिदपि नास्त्येव नास्त्येव प्रियभाषणम् ।
आत्मप्रियमनात्मा हि इदं मे वस्तुतो न हि ॥ २४.१७॥

इदं दुःखमिदं सौख्यमिदं भाति अहं न हि ।
सर्ववर्जितरूपोऽहं सर्ववर्जितचेतनः ॥ २४.१८॥

अनिर्वाच्यमनिर्वाच्यं परं ब्रह्म रसोऽस्म्यहम् ।
अहं ब्रह्म न सन्देह अहमेव परात् परः ॥ २४.१९॥

अहं चैतन्यभूतात्मा देहो नास्ति कदाचन ।
लिङ्गदेहं च नास्त्येव कारणं देहमेव न ॥ २४.२०॥

अहं त्यक्त्वा परं चाहं अहं ब्रह्मस्वरूपतः ।
कामादिवर्जितोऽतीतः कालभेदपरात्परः ॥ २४.२१॥

ब्रह्मैवेदं न संवेद्यं नाहं भावं न वा नहि ।
सर्वसंशयसंशान्तो ब्रह्मैवाहमिति स्थितिः ॥ २४.२२॥

निश्चयं च न मे किञ्चित् चिन्ताभावात् सदाऽक्षरः ।
चिदहं चिदहं ब्रह्म चिदहं चिदहं सदा ॥ २४.२३॥

एवं भावनया युक्तस्त्यक्तशङ्कः सुखीभव ।
सर्वसङ्गं परित्यज्य आत्मैक्यैवं भवान्वहम् ॥ २४.२४॥

सङ्गं नाम प्रवक्ष्येऽहं ब्रह्माहमिति निश्चयः ।
सत्योऽहं परमात्माऽहं स्वयमेव स्वयं स्वयम् ॥ २४.२५॥

नाहं देहो न च प्राणो न द्वन्द्वो न च निर्मलः ।
एष एव हि सत्सङ्गः एष एव हि निर्मलः ॥ २४.२६॥

महत्सङ्गे महद्ब्रह्मभावनं परमं पदम् ।

अहं शान्तप्रभावोऽहं अहं ब्रह्म न संशयः ॥ २४.२७॥

अहं त्यक्तस्वरूपोऽहं अहं चिन्तादिवर्जितः ।
एष एव हि सत्सङ्गः एष नित्यं भवानहम् ॥ २४.२८॥

सर्वसङ्कल्पहीनोऽहं सर्ववृत्तिविवर्जितः ।
अमृतोऽहमजो नित्यं मृतिभीतिरतीतिकः ॥ २४.२९॥

सर्वकल्याणरूपोऽहं सर्वदा प्रियरूपवान् ।
समलाङ्गो मलातीतः सर्वदाहं सदानुगः ॥ २४.३०॥

अपरिच्छिन्नसन्मात्रं सत्यज्ञानस्वरूपवान् ।
नादान्तरोऽहं नादोऽहं नामरूपविवर्जितः ॥ २४.३१॥

अत्यन्ताभिन्नहीनोऽहमादिमध्यान्तवर्जितः ।
एवं नित्यं दृढाभ्यास एवं स्वानुभवेन च ॥ २४.३२॥

एवमेव हि नित्यात्मभावनेन सुखी भव ।
एवमात्मा सुखं प्राप्तः पुनर्जन्म न संभवेत् ॥ २४.३३॥

सद्यो मुक्तो भवेद्ब्रह्माकारेण परितिष्ठति ।
आत्माकारमिदं विश्वमात्माकारमहं महत् ॥ २४.३४॥

आत्मैव नान्यद्भूतं वा आत्मैव मन एव हि ।
आत्मैव चित्तवद्भाति आत्मैव स्मृतिवत् क्वचित् ॥ २४.३५॥

आत्मैव वृत्तिवद्भाति आत्मैव क्रोधवत् सदा । var was वृत्तिमद्भाति
आत्मैव श्रवणं तद्वदात्मैव मननं च तत् ॥ २४.३६॥

आत्मैवोपक्रमं नित्यमुपसंहारमात्मवत् ।
आत्मैवाभ्यां समं नित्यमात्मैवापूर्वताफलम् ॥ २४.३७॥

अर्थवादवदात्मा हि परमात्मोपपत्ति हि ।
इच्छा प्रारभ्यवद्ब्रह्म इच्छामारभ्यवत् परः ॥ २४.३८॥ var was प्रारब्धवद्
परेच्छारब्धवद्ब्रह्मा इच्छाशक्तिश्चिदेव हि ।
अनिच्छाशक्तिरात्मैव परेच्छाशक्तिरव्ययः ॥ २४.३९॥

परमात्मैवाधिकारो विषयं परमात्मनः ।
संबन्धं परमात्मैव प्रयोजनं परात्मकम् ॥ २४.४०॥

ब्रह्मैव परमं सङ्गं कर्मजं ब्रह्म सङ्गमम् ।
ब्रह्मैव भ्रान्तिजं भाति द्वन्द्वं ब्रह्मैव नान्यतः ॥ २४.४१॥

सर्वं ब्रह्मेति निश्चित्य सद्य एव विमोक्षदम् ।
सविकल्पसमाधिस्थं निर्विकल्पसमाधि हि ॥ २४.४२॥

शब्दानुविद्धं ब्रह्मैव ब्रह्म दृश्यानुविद्धकम् ।
ब्रह्मैवादिसमाधिश्च तन्मध्यमसमाधिकम् ॥ २४.४३॥

ब्रह्मैव निश्चयं शून्यं तदुक्तमसमाधिकम् ।
देहाभिमानरहितं तद्वैराग्यसमाधिकम् ॥ २४.४४॥

एतद्भावनया शान्तं जीवन्मुक्तसमाधिकः ।
अत्यन्तं सर्वशान्तत्वं देहो मुक्तसमाधिकम् ॥ २४.४५॥

एतदभ्यासिनां प्रोक्तं सर्वं चैतत्समन्वितम् ।
सर्वं विस्मृत्य विस्मृत्य त्यक्त्वा त्यक्त्वा पुनः पुनः ॥ २४.४६॥

सर्ववृत्तिं च शून्येन स्थास्यामीति विमुच्य हि ।
न स्थास्यामीति विस्मृत्य भास्यामीति च विस्मर ॥ २४.४७॥

चैतन्योऽहमिति त्यक्त्वा सन्मात्रोऽहमिति त्यज ।
त्यजनं च परित्यज्य भावनं च परित्यज ॥ २४.४८॥

सर्वं त्यक्त्वा मनः क्षिप्रं स्मरणं च परित्यज ।
स्मरणं किञ्चिदेवात्र महासंसारसागरम् ॥ २४.४९॥

स्मरणं किञ्चिदेवात्र महादुःखं भवेत् तदा ।
महादोषं भवं बन्धं चित्तजन्म शतं मनः ॥ २४.५०॥

प्रारब्धं हृदयग्रन्थि ब्रह्महत्यादि पातकम् ।
स्मरणं चैवमेवेह बन्धमोक्षस्य कारणम् ॥ २४.५१॥

अहं ब्रह्मप्रकरणं सर्वदुःखविनाशकम् ।
सर्वप्रपञ्चशमनं सद्यो मोक्षप्रदं सदा ।
एतच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ २४.५२॥

भक्त्या पद्मदलाक्षपूजितपदध्यानानुवृत्त्या मनः
स्वान्तानन्तपथप्रचारविधुरं मुक्त्यै भवेन्मानसम् ।
सङ्कल्पोज्झितमेतदल्पसुमहाशीलो दयाम्भोनिधौ
कश्चित् स्याच्छिवभक्तधुर्यसुमहाशान्तः शिवप्रेमतः ॥ २४.५३॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
अहं ब्रह्मप्रकरणनिरूपणं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

---

२५ ॥ पञ्चविंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -

वक्ष्ये प्रसिद्धमात्मानं सर्वलोकप्रकाशकम् ।
सर्वाकारं सदा सिद्धं सर्वत्र निबिडं महत् ॥ २५.१॥

तद्ब्रह्माहं न सन्देह इति निश्चित्य तिष्ठ भोः ।
चिदेवाहं चिदेवाहं चित्रं चेदहमेव हि ॥ २५.२॥

वाचावधिश्च देवोऽहं चिदेव मनसः परः ।
चिदेवाहं परं ब्रह्म चिदेव सकलं पदम् ॥ २५.३॥

स्थूलदेहं चिदेवेदं सूक्ष्मदेहं चिदेव हि ।
चिदेव करणं सोऽहं कायमेव चिदेव हि ॥ २५.४॥

अखण्डाकारवृत्तिश्च उत्तमाधममध्यमाः ।
देहहीनश्चिदेवाहं सूक्ष्मदेहश्चिदेव हि ॥ २५.५॥

चिदेव कारणं सोऽहं बुद्धिहीनश्चिदेव हि ।
भावहीनश्चिदेवाहं दोषहीनश्चिदेव हि ॥ २५.६॥

अस्तित्वं ब्रह्म नास्त्येव नास्ति ब्रह्मेति नास्ति हि ।
अस्ति नास्तीति नास्त्येव अहमेव चिदेव हि ॥ २५.७॥

सर्वं नास्त्येव नास्त्येव साकारं नास्ति नास्ति हि ।
यत्किञ्चिदपि नास्त्येव अहमेव चिदेव हि ॥ २५.८॥

अन्वयव्यतिरेकं च आदिमध्यान्तदूषणम् ।
सर्वं चिन्मात्ररूपत्वादहमेव चिदेव हि ॥ २५.९॥

सर्वापरं च सदसत् कार्यकारणकर्तृकम् ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.१०॥

अशुद्धं शुद्धमद्वैतं द्वैतमेकमनेककम् ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.११॥

असत्यसत्यमद्वन्द्वं द्वन्द्वं च परतः परम् ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.१२॥

भूतं भविष्यं वर्तं च मोहामोहौ समासमौ ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.१३॥

क्षणं लवं त्रुटिर्ब्रह्म त्वंपदं तत्पदं तथा ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.१४॥

त्वंपदं तत्पदं वापि ऐक्यं च ह्यहमेव हि ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.१५॥

आनन्दं परमानन्दं सर्वानन्दं निजं महत् ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.१६॥

अहं ब्रह्म इदं ब्रह्म कं ब्रह्म ह्यक्षरं परम् ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.१७॥

विष्णुरेव परं ब्रह्म शिवो ब्रह्माहमेव हि ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.१८॥

श्रोत्रं ब्रह्म परं ब्रह्म शब्दं ब्रह्म पदं शुभम् ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.१९॥

स्पर्शो ब्रह्म पदं त्वक्व त्वक्व ब्रह्म परस्परम् ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.२०॥

परं रूपं चक्षुभिः एव तत्रैव योज्यताम् ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.२१॥

ब्रह्मैव सर्वं सततं सच्चिदानन्दमात्रकम् ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.२२॥

चिन्मयानन्दमात्रोऽहं इदं विश्वमिदं सदा ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.२३॥

ब्रह्मैव सर्वं यत्किञ्चित् तद्ब्रह्माहं न संशयः ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.२४॥

वाचा यत् प्रोच्यते नाम मनसा मनुते तु यत् ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.२५॥

कारणे कल्पिते यद्यत् तूष्णीं वा स्थीयते सदा ।
शरीरेण तु यद् भुङ्क्ते इन्द्रियैर्यत्तु भाव्यते ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव हि केवलम् ॥ २५.२६॥

वेदे यत् कर्म वेदोक्तं शास्त्रं शास्त्रोक्तनिर्णयम् ।
गुरूपदेशसिद्धान्तं शुद्धाशुद्धविभासकम् ॥ २५.२७॥

कामादिकलनं ब्रह्म देवादि कलनं पृथक् ।
जीवयुक्तेति कलनं विदेहो मुक्तिकल्पनम् ॥ २५.२८॥

ब्रह्म इत्यपि सङ्कल्पं ब्रह्मविद्वरकल्पनम् ।
वरीयानिति सङ्कल्पं वरिष्ठ इति कल्पनम् ॥ २५.२९॥

ब्रह्माहमिति सङ्कल्पं चिदहं चेति कल्पनम् ।
महाविद्येति सङ्कल्पं महामायेति कल्पनम् ॥ २५.३०॥

महाशून्येति सङ्कल्पं महाचिन्तेति कल्पनम् ।
महालोकेति सङ्कल्पं महासत्येति कल्पनम् ॥ २५.३१॥

महारूपेति सङ्कल्पं महारूपं च कल्पनम् ।
सर्वसङ्कल्पकं चित्तं सर्वसङ्कल्पकं मनः ॥ २५.३२॥

सर्वं नास्त्येव नास्त्येव सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
सर्वं द्वैतं मनोरूपं सर्वं दुःखं मनोमयम् ॥ २५.३३॥

चिदेवाहं न सन्देहः चिदेवेदं जगत्त्रयम् ।
यत्किञ्चिद्भाषणं वापि यत्किञ्चिन्मनसो जपम् ।
यत्किञ्चिन्मानसं कर्म सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ २५.३४॥

सर्वं नास्तीति सन्मन्त्रं जीवब्रह्मस्वरूपकम् ।
ब्रह्मैव सर्वमित्येवं मन्त्रश्चैवोत्तमोत्तमम् ॥ २५.३५॥

अनुक्तमन्त्रं सन्मन्त्रं वृत्तिशून्यं परं महत् ।
सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पं तदेव परमं पदम् ॥ २५.३६॥

सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पं महादेवेति कीर्तनम् ।
सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पं शिवपूजासमं महत् ॥ २५.३७॥

सर्वं ब्रह्मेत्यनुभवः सर्वाकारो न संशयः ।
सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पं सर्वत्यागमितीरितम् ॥ २५.३८॥

सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पं भावाभावविनाशनम् ।
सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पं महादेवेति निश्चयः ॥ २५.३९॥

सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पं कालसत्ताविनिर्मुक्तः ।
सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पः देहसत्ता विमुक्तिकः ॥ २५.४०॥

सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पः सच्चिदानन्दरूपकः ।
सर्वोऽहं ब्रह्ममात्रैव सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ २५.४१॥

इदमित्येव यत्किञ्चित् तद्ब्रह्मैव न संशयः ।
भ्रान्तिश्च नरकं दुःखं स्वर्गभ्रान्तिरितीरिता ॥ २५.४२॥

ब्रह्मा विष्णुरिति भ्रान्तिर्भ्रान्तिश्च शिवरूपकम् ।
विराट् स्वराट् तथा सम्राट् सूत्रात्मा भ्रान्तिरेव च ॥ २५.४३॥

देवाश्च देवकार्याणि सूर्याचन्द्रमसोर्गतिः ।
मुनयो मनवः सिद्धा भ्रान्तिरेव न संशयः ॥ २५.४४॥

सर्वदेवासुरा भ्रान्तिस्तेषां युद्धादि जन्म च ।

विष्णोर्जन्मावताराणि चरितं शान्तिरेव हि ॥ २५.४५॥

ब्रह्मणः सृष्टिकृत्यानि रुद्रस्य चरितानि च ।
सर्वभ्रान्तिसमायुक्तं भ्रान्त्या लोकाश्चतुर्दश ॥ २५.४६॥

वर्णाश्रमविभागश्च भ्रान्तिरेव न संशयः ।
ब्रह्मविष्ण्वीशरुद्राणामुपासा भ्रान्तिरेव च ॥ २५.४७॥

तत्रापि यन्त्रमन्त्राभ्यां भ्रान्तिरेव न संशयः ।
वाचामगोचरं ब्रह्म सर्वं ब्रह्ममयं च हि ॥ २५.४८॥

सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहमेव चिदेव हि ।
एवं वद त्वं तिष्ठ त्वं सद्यो मुक्तो भविष्यसि ॥ २५.४९॥

एतावदुक्तं यत्किञ्चित् तन्नास्त्येव न संशयः ।
एवं यदान्तरं क्षिप्रं ब्रह्मैव दृढनिश्चयम् ॥ २५.५०॥

दृढनिश्चयमेवात्र प्रथमं कारणं भवेत् ।
निश्चयः खल्वयं पश्चात् स्वयमेव भविष्यति ॥ २५.५१॥

आर्तं यच्छिवपादतोऽन्यदितरं तज्जादिशब्दात्मकं
चेतोवृत्तिपरं पराप्रमुदितं षड्भावसिद्धं जगत् ।
भूताक्षादिमनोवचोभिरनघे सान्द्रे महेशे घने
सिन्धौ सैन्धवखण्डवज्जगदिदं लीयेत वृत्त्युज्झितम् ॥ २५.५२॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
ब्रह्मणस्सर्वरूपत्वनिरूपणप्रकरणं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥

---

२६ ॥ षड्विंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
वक्ष्ये सच्चित्परानन्दं स्वभावं सर्वदा सुखम् ।
सर्ववेदपुराणानां सारात् सारतरं स्वयम् ॥ २६.१॥

न भेदं च द्वयं द्वन्द्वं न भेदं भेदवर्जितम् ।
इदमेव परं ब्रह्म ज्ञानाश्रयमनामयम् ॥ २६.२॥

न क्वचिन्नात एवाहं नाक्षरं न परात्परम् ।
इदमेव परं ब्रह्म ज्ञानाश्रयमनामयम् ॥ २६.३॥

न बहिर्नान्तरं नाहं न सङ्कल्पो न विग्रहः ।
इदमेव परं ब्रह्म ज्ञानाश्रयमनामयम् ॥ २६.४॥

न सत्यं च परित्यज्य न वार्ता नार्थदूषणम् ।

इदमेव परं ब्रह्म ज्ञानाश्रयमनामयम् ॥ २६.५॥

न गुणो गुणिवाक्यं वा न मनोवृत्तिनिश्चयः ।
न जपं न परिच्छिन्नं न व्यापकमसत् फलम् ॥ २६.६॥

न गुरुर्न च शिष्यो वा न स्थिरं न शुभाशुभम् ।
नैकरूपं नान्यरूपं न मोक्षो न च बन्धकम् ॥ २६.७॥

अहं पदार्थस्तत्पदं वा नेन्द्रियं विषयादिकम् ।
न संशयं न तुच्छं वा न निश्चयं न वा कृतम् ॥ २६.८॥

न शान्तिरूपमद्वैतं न चोर्ध्वं न च नीचकम् ।
न लक्षणं न दुःखाङ्गं न सुखं न च चञ्चलम् ॥ २६.९॥

न शरीरं न लिङ्गं वा न कारणमकारणम् ।
न दुःखं नान्तिकं नाहं न गूढं न परं पदम् ॥ २६.१०॥

न सञ्चितं च नागामि न सत्यं च त्वमाहकम् ।
नाज्ञानं न च विज्ञानं न मूढो न च विज्ञवान् ॥ २६.११॥

न नीचं नरकं नान्तं न मुक्तिर्न च पावनम् ।
न तृष्णा न च विद्यात्वं नाहं तत्त्वं न देवता ॥ २६.१२॥

न शुभाशुभसङ्केतो न मृत्युर्न च जीवनम् ।
न तृप्तिर्न च भोज्यं वा न खण्डैकरसोऽद्वयम् ॥ २६.१३॥

न सङ्कल्पं न प्रपञ्चं न जागरणराजकम् ।
न किञ्चित्समतादोषो न तुर्यगणना भ्रमः ॥ २६.१४॥

न सर्वं समलं नेष्टं न नीतिर्न च पूजनम् ।
न प्रपञ्चं न बहुना नान्यभाषणसङ्गमः ॥ २६.१५॥

न सत्सङ्गमसत्सङ्गः न ब्रह्म न विचारणम् ।
नाभ्यासं न च वक्ता च न स्नानं न च तीर्थकम् ॥ २६.१६॥

न पुण्यं न च वा पापं न क्रिया दोषकारणम् ।
न चाध्यात्मं नाधिभूतं न दैवतमसम्भवम् ॥ २६.१७॥

न जन्ममरणे क्वापि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिकम् ।
न भूलोकं न पातालं न जयापजयाजयौ ॥ २६.१८॥

न हीनं न च वा भीतिर्न रतिर्न मृतिस्त्वरा ।
अचिन्त्यं नापराध्यात्मा निगमागमविभ्रमः ॥ २६.१९॥

न सात्त्विकं राजसं च न तामसगुणाधिकम् ।
न शैवं न च वेदान्तं न स्वाद्यं तन्न मानसम् ॥ २६.२०॥

न बन्धो न च मोक्षो वा न वाक्यं ऐक्यलक्षणम् ।
न स्त्रीरूपं न पुंभावः न षण्डो न स्थिरः पदम् ॥ २६.२१॥

न भूषणं न दूषणं न स्तोत्रं न स्तुतिर्न हि ।
न लौकिकं वैदिकं न शास्त्रं न च शासनम् ॥ २६.२२॥

न पानं न कृशं नेदं न मोदं न मदामदम् ।
न भावनमभावो वा न कुलं नामरूपकम् ॥ २६.२३॥

नोत्कृष्टं च निकृष्टं च न श्रेयोऽश्रेय एव हि ।
निर्मलत्वं मलोत्सर्गौ न जीवो न मनोदमः ॥ २६.२४॥

न शान्तिकलना नागं न शान्तिर्न शमो दमः ।
न क्रीडा न च भावाङ्गं न विकारं न दोषकम् ॥ २६.२५॥

न यत्किञ्चिन्न यत्राहं न मायाख्या न मायिका ।
यत्किञ्चिन्न च धर्मादि न धर्मपरिपीडनम् ॥ २६.२६॥

न यौवनं न बाल्यं वा न जरामरणादिकम् ।
न बन्धुर्न च वाऽबन्धुर्न मित्रं न च सोदरः ॥ २६.२७॥

नापि सर्वं न चाकिञ्चिन्न विरिञ्चो न केशवः ।
न शिवो नाष्टदिक्पालो न विश्वो न च तैजसः ॥ २६.२८॥

न प्राज्ञो हि न तुर्यो वा न ब्रह्मक्षत्रविड्वरः ।
इदमेव परं ब्रह्म ज्ञानामृतमनामयम् ॥ २६.२९॥

न पुनर्भावि पश्चाद्वा न पुनर्भवसंभवः ।
न कालकलना नाहं न संभाषणकारणम् ॥ २६.३०॥

न चोर्ध्वमन्तःकरणं न च चिन्मात्रभाषणम् ।
न ब्रह्माहमिति द्वैतं न चिन्मात्रमिति द्वयम् ॥ २६.३१॥

नान्नकोशं न च प्राणमनोमयमकोशकम् ।
न विज्ञानमयः कोशः न चानन्दमयः पृथक् ॥ २६.३२॥

न बोधरूपं बोध्यं वा बोधकं नात्र यद्भ्रमः ।
न बाध्यं बाधकं मिथ्या त्रिपुटीज्ञाननिर्णयः ॥ २६.३३॥

न प्रमाता प्रमाणं वा न प्रमेयं फलोदयम् ।
इदमेव परं ब्रह्म ज्ञानामृतमनोमयम् ॥ २६.३४॥

न गुह्यं न प्रकाशं वा न महत्वं न चाणुता ।
न प्रपञ्चो विद्यमानं न प्रपञ्चः कदाचन ॥ २६.३५॥

नान्तःकरणसंसारो न मनो जगतां भ्रमः ।
न चित्तरूपसंसारो बुद्धिपूर्वं प्रपञ्चकम् ॥ २६.३६॥

न जीवरूपसंसारो वासनारूपसंसृतिः ।
न लिङ्गभेदसंसारो नाज्ञानमयसंस्मृतिः ॥ २६.३७॥ var was संसृतिः
न वेदरूपसंसारो न शास्त्रागमसंसृतिः ।
नान्यदस्तीति संसारमन्यदस्तीति भेदकम् ॥ २६.३८॥

न भेदाभेदकलनं न दोषादोषकल्पनम् ।
न शान्ताशान्तसंसारं न गुणागुणसंसृतिः ॥ २६.३९॥

न स्त्रीलिङ्गं न पुंलिङ्गं न नपुंसकसंसृतिः ।
न स्थावरं न जङ्गमं च न दुःखं न सुखं क्वचित् ॥ २६.४०॥

न शिष्टाशिष्टरूपं वा न योग्यायोग्यनिश्चयः ।
न द्वैतवृत्तिरूपं वा साक्षिवृत्तित्वलक्षणम् ॥ २६.४१॥

अखण्डाकारवृत्तित्वमखण्डैकरसं सुखम् ।
देहोऽहमिति या वृत्तिर्ब्रह्माहमिति शब्दकम् ॥ २६.४२॥

अखण्डनिश्चया वृत्तिर्नाखण्डैकरसं महत् ।
न सर्ववृत्तिभवनं सर्ववृत्तिविनाशकम् ॥ २६.४३॥

सर्ववृत्त्यनुसन्धानं सर्ववृत्तिविमोचनम् ।
सर्ववृत्तिविनाशान्तं सर्ववृत्तिविशून्यकम् ॥ २६.४४॥

न सर्ववृत्तिसाहस्त्रं क्षणक्षणविनाशनम् ।
न सर्ववृत्तिसाक्षित्वं न च ब्रह्मात्मभावनम् ॥ २६.४५॥

न जगन्न मनो नान्तो न कार्यकलनं क्वचित् ।
न दूषणं भूषणं वा न निरङ्कुशलक्षणम् ॥ २६.४६॥

न च धर्मात्मनो लिङ्गं गुणशालित्वलक्षणम् ।
न समाधिकलिङ्गं वा न प्रारब्धं प्रबन्धकम् ॥ २६.४७॥

ब्रह्मवित्तं आत्मसत्यो न परः स्वप्नलक्षणम् ।
न च वर्यपरो रोधो वरिष्ठो नार्थतत्परः ॥ २६.४८॥

आत्मज्ञानविहीनो यो महापातकिरेव सः ।
एतावद् ज्ञानहीनो यो महारोगी स एव हि ॥ २६.४९॥

अहं ब्रह्म न सन्देह अखण्डैकरसात्मकः ।
ब्रह्मैव सर्वमेवेति निश्चयानुभवात्मकः ॥ २६.५०॥

सद्यो मुक्तो न सन्देहः सद्यः प्रज्ञानविग्रहः ।

स एव ज्ञानवान् लोके स एव परमेश्वरः ॥ २६.५१॥

इदमेव परं ब्रह्म ज्ञानामृतमनोमयम् ।
एतत्प्रकरणं यस्तु शृणुते ब्रह्म एव सः ॥ २६.५२॥

एकत्वं न बहुत्वमप्यणुमहत् कार्यं न वै कारणं
विश्वं विश्वपतित्वमप्यरसकं नो गन्धरूपं सदा ।
बद्धं मुक्तमनुत्तमोत्तममहानन्दैकमोदं सदा
भूमानन्दसदाशिवं जनिजरारोगाद्यसङ्गं महः ॥ २६.५३॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
ज्ञानामृतमनोमयप्रकरणवर्णनं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥

२७ ॥ सप्तविंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
वक्ष्ये प्रकरणं सत्यं ब्रह्मानन्दमनोमयम् ।
कार्यकारणनिर्मुक्तं नित्यानन्दमयं त्विदम् ॥ २७.१॥

अक्षयानन्द एवाहमात्मानन्दप्रकाशकम् ।
ज्ञानानन्दस्वरूपोऽहं लक्ष्यानन्दमयं सदा ॥ २७.२॥

विषयानन्दशून्योऽहं मिथ्यानन्दप्रकाशकः ।
वृत्तिशून्यसुखात्माहं वृत्तिशून्यसुखात्परम् ॥ २७.३॥

जडानन्दप्रकाशात्मा आत्मानन्दरसोऽस्म्यहम् ।
आत्मानन्दविहीनोऽहं नास्त्यानन्दात्मविग्रहः ॥ २७.४॥

कार्यानन्दविहीनोऽहं कार्यानन्दकलात्मकः ।
गुणानन्दविहीनोऽहं गुह्यानन्दस्वरूपवान् ॥ २७.५॥

गुप्तानन्दस्वरूपोऽहं कृत्यानन्दमहानहम् ।
ज्ञेयानन्दविहीनोऽहं गोप्यानन्दविवर्जितः ॥ २७.६॥

सदानन्दस्वरूपोऽहं मुदानन्दनिजात्मकः ।
लोकानन्दो महानन्दो लोकातीतमहानयम् ॥ २७.७॥

भेदानन्दश्चिदानन्दः सुखानन्दोऽहमद्वयः ।
क्रियानन्दोऽक्षयानन्दो वृत्त्यानन्दविवर्जितः ॥ २७.८॥

सर्वानन्दोऽक्षयानन्दश्चिदानन्दोऽहमव्ययः ।
सत्यानन्दः परानन्दः सद्योनन्दः परात्परः ॥ २७.९॥

वाक्यानन्दमहानन्दः शिवानन्दोऽहमद्वयः ।

शिवानन्दोत्तरानन्द आद्यानन्दविवर्जितः ॥ २७.१०॥

अमलात्मा परानन्दश्चिदानन्दोऽहमद्वयः ।
वृत्त्यानन्दपरानन्दो विद्यातीतो हि निर्मलः ॥ २७.११॥

कारणातीत आनन्दश्चिदानन्दोऽहमद्वयः ।
सर्वानन्दः परानन्दो ब्रह्मानन्दात्मभावनः ॥ २७.१२॥

जीवानन्दो लयानन्दश्चिदानन्दस्वरूपवान् ।
शुद्धानन्दस्वरूपात्मा बुद्ध्यानन्दो मनोमयः ॥ २७.१३॥

शब्दानन्दो महानन्दश्चिदानन्दोऽहमद्वयः ।
आनन्दानन्दशून्यात्मा भेदानन्दविशून्यकः ॥ २७.१४॥

द्वैतानन्दप्रभावात्मा चिदानन्दोऽहमद्वयः ।
एवमादिमहानन्द अहमेवेति भावय ॥ २७.१५॥

शान्तानन्दोऽहमेवेति चिदानन्दप्रभास्वरः ।
एकानन्दपरानन्द एक एव चिदव्ययः ॥ २७.१६॥

एक एव महानात्मा एकसंख्याविवर्जितः ।
एकतत्त्वमहानन्दस्तत्त्वभेदविवर्जितः ॥ २७.१७॥

विजितानन्दहीनोऽहं निर्जितानन्दहीनकः ।
हीनानन्दप्रशान्तोऽहं शान्तोऽहमिति शान्तकः ॥ २७.१८॥

ममतानन्दशान्तोऽहमहमादिप्रकाशकम् ।
सर्वदा देहशान्तोऽहं शान्तोऽहमिति वर्जितः ॥ २७.१९॥

ब्रह्मैवाहं न संसारी इत्येवमिति शान्तकः ।
अन्तरादन्तरोऽहं वै अन्तरादन्तरान्तरः ॥ २७.२०॥

एक एव महानन्द एक एवाहमक्षरः ।
एक एवाक्षरं ब्रह्म एक एवाक्षरोऽक्षरः ॥ २७.२१॥

एक एव महानात्मा एक एव मनोहरः ।
एक एवाद्वयोऽहं वै एक एव न चापरः ॥ २७.२२॥

एक एव न भूरादि एक एव न बुद्ध्यः ।
एक एव प्रशान्तोऽहं एक एव सुखात्मकः ॥ २७.२३॥

एक एव न कामात्मा एक एव न कोपकम् ।
एक एव न लोभात्मा एक एव न मोहकः ॥ २७.२४॥

एक एव मदो नाहं एक एव न मे रसः ।
एक एव न चित्तात्मा एक एव न चान्यकः ॥ २७.२५॥

एक एव न सत्तात्मा एक एव जरामरः ।
एक एव हि पूर्णात्मा एक एव हि निश्चलः ॥ २७.२६॥

एक एव महानन्द एक एवाहमेकवान् ।
देहोऽहमिति हीनोऽहं शान्तोऽहमिति शाश्वतः ॥ २७.२७॥

शिवोऽहमिति शान्तोऽहं आत्मैवाहमिति क्रमः ।
जीवोऽहमिति शान्तोऽहं नित्यशुद्धहृदन्तरः ॥ २७.२८॥

एवं भावय निःशङ्कं सद्यो मुक्तस्त्वमद्वये ।
एवमादि सुशब्दं वा नित्यं पठतु निश्चलः ॥ २७.२९॥

कालस्वभावो नियतैश्च भूतैः
जगद्विजायेत इति श्रुतीरितम् ।
तद्वै मृषा स्याज्जगतो जडत्वतः
इच्छाभवं चैतदथेस्वरस्य ॥ २७.३०॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
आनन्दरूपत्वनिरूपणप्रकरणं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥

---

२८ ॥ अष्टाविंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
ब्रह्मैवाहं चिदेवाहं निर्मलोऽहं निरन्तरः ।
शुद्धस्वरूप एवाहं नित्यरूपः परोऽस्म्यहम् ॥ २८.१॥

नित्यनिर्मलरूपोऽहं नित्यचैतन्यविग्रहः ।
आद्यन्तरूपहीनोऽहमाद्यन्तद्वैतहीनकः ॥ २८.२॥

अजस्रसुखरूपोऽहं अजस्रानन्दरूपवान् ।
अहमेवादिनिर्मुक्तः अहं कारणवर्जितः ॥ २८.३॥

अहमेव परं ब्रह्म अहमेवाहमेव हि ।
इत्येवं भावयन्नित्यं सुखमात्मनि निर्मलः ॥ २८.४॥

सुखं तिष्ठ सुखं तिष्ठ सुचिरं सुखमावह ।
सर्ववेदमनन्यस्त्वं सर्वदा नास्ति कल्पनम् ॥ २८.५॥

सर्वदा नास्ति चित्ताख्यं सर्वदा नास्ति संसृतिः ।
सर्वदा नास्ति नास्त्येव सर्वदा जगदेव न ॥ २८.६॥

जगत्प्रसङ्गो नास्त्येव देहवार्ता कुतस्ततः ।

ब्रह्मैव सर्वचिन्मात्रमहमेव हि केवलम् ॥ २८.७॥

चित्तमित्यपि नास्त्येव चित्तमस्ति हि नास्ति हि ।
अस्तित्वभावना निष्ठा जगदस्तित्ववाङ्मृषा ॥ २८.८॥

अस्तित्ववक्ता वार्ता हि जगदस्तीति भावना ।
स्वात्मनोऽन्यज्जगद्रक्षा देहोऽहमिति निश्चितः ॥ २८.९॥

महाचण्डाल एवासौ महाविप्रोऽपि निश्चयः ।
तस्मादिति जगन्नेति चित्तं वा बुद्धिरेव च ॥ २८.१०॥

नास्ति नास्तीति सहसा निश्चयं कुरु निर्मलः ।
दृश्यं नास्त्येव नास्त्येव नास्ति नास्तीति भावय ॥ २८.११॥

अहमेव परं ब्रह्म अहमेव हि निष्कलः ।
अहमेव न सन्देहः अहमेव सुखात् सुखम् ॥ २८.१२॥

अहमेव हि दिव्यात्मा अहमेव हि केवलः ।
वाचामगोचरोऽहं वै अहमेव न चापरः ॥ २८.१३॥

अहमेव हि सर्वात्मा अहमेव सदा प्रियः ।
अहमेव हि भावात्मा अहं वृत्तिविवर्जितः ॥ २८.१४॥

अहमेवापरिच्छिन्न अहमेव निरन्तरः ।
अहमेव हि निश्चिन्त अहमेव हि सद्गुरुः ॥ २८.१५॥

अहमेव सदा साक्षी अहमेवाहमेव हि ।
नाहं गुप्तो न वाऽगुप्तो न प्रकाशात्मकः सदा ॥ २८.१६॥

नाहं जडो न चिन्मात्रः क्वचित् किञ्चित् तदस्ति हि ।
नाहं प्राणो जडत्वं तदत्यन्तं सर्वदा भ्रमः ॥ २८.१७॥

अहमत्यन्तमानन्द अहमत्यन्तनिर्मलः ।
अहमत्यन्तवेदात्मा अहमत्यन्तशाङ्करः ॥ २८.१८॥

अहमित्यपि मे किञ्चिदहमित्यपि न स्मृतिः ।
सर्वहीनोऽहमेवाग्रे सर्वहीनः सुखाच्छुभात् ॥ २८.१९॥

परात् परतरं ब्रह्म परात् परतरः पुमान् ।
परात् परतरोऽहं वै सर्वस्यात् परतः परः ॥ २८.२०॥

सर्वदेहविहीनोऽहं सर्वकर्मविवर्जितः ।
सर्वमन्त्रः प्रशान्तात्मा सर्वान्तःकरणात् परः ॥ २८.२१॥

सर्वस्तोत्रविहीनोऽहं सर्वदेवप्रकाशकः ।
सर्वस्नानविहीनात्मा एकमग्नोऽहमद्वयः ॥ २८.२२॥

आत्मतीर्थे ह्यात्मजले आत्मानन्दमनोहरे ।
आत्मैवाहमिति ज्ञात्वा आत्मारामोवसाम्यहम् ॥ २८.२३॥

आत्मैव भोजनं ह्यात्मा तृप्तिरात्मसुखात्मकः ।
आत्मैव ह्यात्मनो ह्यात्मा आत्मैव परमो ह्यहम् ॥ २८.२४॥

अहमात्माऽहमात्माहमहमात्मा न लौकिकः ।
सर्वात्माहं सदात्माहं नित्यात्माहं गुणान्तरः ॥ २८.२५॥

एवं नित्यं भावयित्वा सदा भावय सिद्धये ।
सिद्धं तिष्ठति चिन्मात्रो निश्चयं मात्रमेव सा ।
निश्चयं च लयं याति स्वयमेव सुखी भव ॥ २८.२६॥

शाखादिभिश्च श्रुतयो ह्यनन्ता-
स्त्वामेकमेव भगवन् बहुधा वदन्ति ।
विष्ण्विन्द्रधातृरविसून्वनलानिलादि
भूतात्मनाथ गणनाथललाम शम्भो ॥ २८.२७॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
आत्मवैलक्षण्यप्रकरणं नाम अष्टाविंशोऽध्यायः ॥

---

२९ ॥ एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
अत्यन्तं तन्मयं वक्ष्ये दुर्लभं योगिनामपि ।
वेदशास्त्रेषु देवेषु रहस्यमतिदुर्लभम् ॥ २९.१॥

यः परं ब्रह्म सर्वात्मा सच्चिदानन्दविग्रहः ।
सर्वात्मा परमात्मा हि तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२॥

आत्मरूपमिदं सर्वमाद्यन्तरहितोऽजयः ।
कार्याकार्यमिदं नास्ति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३॥

यत्र द्वैतभयं नास्ति यत्राद्वैतप्रबोधनम् ।
शान्ताशान्तद्वयं नास्ति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४॥

यत्र सङ्कल्पकं नास्ति यत्र भ्रान्तिर्न विद्यते ।
तदेव हि मतिर्नास्ति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५॥

यत्र ब्रह्मणि नास्त्येव यत्र भावि विकल्पनम् ।
यत्र सर्वं जगन्नास्ति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.६॥

यत्र भावमभावं वा मनोभ्रान्ति विकल्पनम् ।
यत्र भ्रान्तेर्न वार्ता वा तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.७॥

यत्र नास्ति सुखं नास्ति देहोऽहमिति रूपकम् ।
सर्वसङ्कल्पनिर्मुक्तं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.८॥

यत्र ब्रह्म विना भावो यत्र दोषो न विद्यते ।
यत्र द्वन्द्वभयं नास्ति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.९॥

यत्र वाक्कायकार्यं वा यत्र कल्पो लयं गतः ।
यत्र प्रपञ्चं नोत्पन्नं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.१०॥

यत्र माया प्रकाशो न माया कार्यं न किञ्चन ।
यत्र दृश्यमदृश्यं वा तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.११॥

विद्वान् विद्यापि नास्त्येव यत्र पक्षविपक्षकौ ।
न यत्र दोषादोषौ वा तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.१२॥

यत्र विष्णुत्वभेदो न यत्र ब्रह्मा न विद्यते ।
यत्र शङ्करभेदो न तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.१३॥

न यत्र सदसद्भेदो न यत्र कलनापदम् ।
न यत्र जीवकलना तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.१४॥

न यत्र शङ्करध्यानं न यत्र परमं पदम् ।
न यत्र कलनाकारं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.१५॥

न यत्राणुर्महत्त्वं च यत्र सन्तोषकल्पनम् ।
यत्र प्रपञ्चमाभासं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.१६॥

न यत्र देहकलनं न यत्र हि कुतूहलम् ।
न यत्र चित्तकलनं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.१७॥

न यत्र बुद्धिविज्ञानं न यत्रात्मा मनोमयः ।
न यत्र कामकलनं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.१८॥

न यत्र मोक्षविश्रान्तिर्यत्र बन्धत्वविग्रहः ।
न यत्र शाश्वतं ज्ञानं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.१९॥

न यत्र कालकलनं यत्र दुःखत्वभावनम् ।
न यत्र देहकलनं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२०॥

न यत्र जीववैराग्यं यत्र शास्त्रविकल्पनम् ।
यत्राहमहमात्मत्वं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२१॥

न यत्र जीवन्मुक्तिर्वा यत्र देहविमोचनम् ।
यत्र सङ्कल्पितं कार्यं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२२॥

न यत्र भूतकलनं यत्रान्यत्वप्रभावनम् ।
न यत्र जीवभेदो वा तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२३॥

यत्रानन्दपदं ब्रह्म यत्रानन्दपदं सुखम् ।
यत्रानन्दगुणं नित्यं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२४॥

न यत्र वस्तुप्रभवं न यत्रापजयोजयः ।
न यत्र वाक्यकथनं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२५॥

न यत्रात्मविचाराङ्गं न यत्र श्रवणाकुलम् ।
न यत्र च महानन्दं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२६॥

न यत्र हि सजातीयं विजातीयं न यत्र हि ।
न यत्र स्वगतं भेदं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२७॥

न यत्र नरको घोरो न यत्र स्वर्गसम्पदः ।
न यत्र ब्रह्मलोको वा तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२८॥

न यत्र विष्णुसायुज्यं यत्र कैलासपर्वतः ।
ब्रह्माण्डमण्डलं यत्र तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.२९॥

न यत्र भूषणं यत्र दूषणं वा न विद्यते ।
न यत्र समता दोषं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३०॥

न यत्र मनसा भावो न यत्र सविकल्पनम् ।
न यत्रानुभवं दुःखं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३१॥

यत्र पापभयं नास्ति पञ्चपापादपि क्वचित् ।
न यत्र सङ्गदोषं वा तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३२॥

यत्र तापत्रयं नास्ति यत्र जीवत्रयं क्वचित् ।
यत्र विश्वविकल्पाख्यं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३३॥

न यत्र बोधमुत्पन्नं न यत्र जगतां भ्रमः ।
न यत्र करणाकारं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३४॥

न यत्र हि मनो राज्यं यत्रैव परमं सुखम् ।
यत्र वै शाश्वतं स्थानं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३५॥

यत्र वै कारणं शान्तं यत्रैव सकलं सुखम् ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३६॥

यद् ज्ञात्वा मुच्यते सर्वं यद् ज्ञात्वाऽन्यन्न विद्यते ।
यद् ज्ञात्वा नान्यविज्ञानं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३७॥

यत्रैव दोषं नोत्पन्नं यत्रैव स्थाननिश्चलः ।
यत्रैव जीवसङ्घातः तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३८॥

यत्रैव नित्यतृप्तात्मा यत्रैवानन्दनिश्चलम् ।
यत्रैव निश्चलं शान्तं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.३९॥

यत्रैव सर्वसौख्यं वा यत्रैव सन्निरूपणम् ।
यत्रैव निश्चयाकारं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४०॥

न यत्राहं न यत्र त्वं न यत्र त्वं स्वयं स्वयम् ।
यत्रैव निश्चयं शान्तं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४१॥

यत्रैव मोदते नित्यं यत्रैव सुखमेधते ।
यत्र दुःखभयं नास्ति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४२॥

यत्रैव चिन्मयाकारं यत्रैवानन्दसागरः ।
यत्रैव परमं साक्षात् तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४३॥

यत्रैव स्वयमेवात्र स्वयमेव तदेव हि ।
स्वस्वात्मनोक्तभेदोऽस्ति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४४॥

यत्रैव परमानन्दं स्वयमेव सुखं परम् ।
यत्रैवाभेदकलनं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४५॥

न यत्र चाणुमात्रं वा न यत्र मनसो मलम् ।
न यत्र च ददाम्येव तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४६॥

यत्र चित्तं मृतं देहं मनो मरणमात्मनः ।
यत्र स्मृतिर्लयं याति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४७॥

यत्रैवाहं मृतो नूनं यत्र कामो लयं गतः ।
यत्रैव परमानन्दं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४८॥

यत्र देवास्त्रयो लीनं यत्र देहादयो मृताः ।
न यत्र व्यवहारोऽस्ति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.४९॥

यत्र मग्नो निरायासो यत्र मग्नो न पश्यति ।
यत्र मग्नो न जन्मादिस्तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५०॥

यत्र मग्नो न चाभाति यत्र जाग्रन्न विद्यते ।
यत्रैव मोहमरणं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५१॥

यत्रैव कालमरणं यत्र योगो लयं गतः ।
यत्र सत्सङ्गतिर्निष्ठा तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५२॥

यत्रैव ब्रह्मणो रूपं यत्रैवानन्दमात्रकम् ।
यत्रैव परमानन्दं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५३॥

यत्र विश्वं क्वचिन्नास्ति यत्र नास्ति ततो जगत् ।
यत्रान्तःकरणं नास्ति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५४॥

यत्रैव सुखमात्रं च यत्रैवानन्दमात्रकम् ।
यत्रैव परमानन्दं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५५॥

यत्र सन्मात्रचैतन्यं यत्र चिन्मात्रमात्रकम् ।
यत्रानन्दमयं भाति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५६॥

यत्र साक्षात् परं ब्रह्म यत्र साक्षात् स्वयं परम् ।
यत्र शान्तं परं लक्ष्यं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५७॥

यत्र साक्षादखण्डार्थं यत्र साक्षात् परायणम् ।
यत्र नाशादिकं नास्ति तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५८॥

यत्र साक्षात् स्वयं मात्रं यत्र साक्षात्स्वयं जयम् ।
यत्र साक्षान्महानात्मा तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.५९॥

यत्र साक्षात् परं तत्त्वं यत्र साक्षात् स्वयं महत् ।
यत्र साक्षात्तु विज्ञानं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.६०॥

यत्र साक्षाद्गुणातीतं यत्र साक्षाद्धि निर्मलम् ।
यत्र साक्षात् सदाशुद्धं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.६१॥

यत्र साक्षान्महानात्मा यत्र साक्षात् सुखात् सुखम् ।
यत्रैव ज्ञानविज्ञानं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.६२॥

यत्रैव हि स्वयं ज्योतिर्यत्रैव स्वयमद्वयम् ।
यत्रैव परमानन्दं तन्मयो भव सर्वदा ॥ २९.६३॥

एवं तन्मयभावोक्तं एवं नित्यशनित्यशः ।
ब्रह्माहं सच्चिदानन्दं अखण्डोऽहं सदा सुखम् ॥ २९.६४॥

विज्ञानं ब्रह्ममात्रोऽहं स शान्तं परमोऽस्म्यहम् ।
चिदहं चित्तहीनोऽहं नाहं सोऽहं भवाम्यहम् ॥ २९.६५॥

तदहं चिदहं सोऽहं निर्मलोऽहमहं परम् ।
परोऽहं परमोऽहं वै सर्वं त्यज्य सुखीभव ॥ २९.६६॥

इदं सर्वं चित्तशेषं शुद्धत्वकमलीकृतम् ।
एवं सर्वं परित्यज्य विस्मृत्वा शुद्धकाष्ठवत् ॥ २९.६७॥

प्रेतवद्देहं संत्यज्य काष्ठवल्लोष्ठवत् सदा ।
स्मरणं च परित्यज्य ब्रह्ममात्रपरो भव ॥ २९.६८॥

एतत् प्रकरणं यस्तु श्र‍ृणोति सकृदस्ति वा ।
महापातकयुक्तोऽपि सर्वं त्यक्त्वा परं गतः ॥ २९.६९॥

अङ्गावबद्धाभिरुपासनाभि-
र्वदन्ति वेदाः किल त्वामसङ्गम् ।
समस्तहृत्कोशविशेषसङ्गं
भूमानमात्मानमखण्डरूपम् ॥ २९.७०॥

इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
तन्मयभावोपदेशप्रकरणं नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥

---

३० ॥ त्रिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
वक्ष्ये परं ब्रह्ममात्रं जगत्सन्त्यागपूर्वकम् ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्मभावं परं लभेत् ॥ ३०.१॥

ब्रह्म ब्रह्मपरं मात्रं निर्गुणं नित्यनिर्मलम् ।
शाश्वतं सममत्यन्तं ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते ॥ ३०.२॥

अहं सत्यः परानन्दः शुद्धो नित्यो निरञ्जनः ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.३॥

अखण्डैकरसैवास्मि परिपूर्णोऽस्मि सर्वदा ।
ब्रह्मैव सर्वं नान्योऽस्ति सर्वं ब्रह्म न संशयः ॥ ३०.४॥

सर्वदा केवलात्माहं सर्वं ब्रह्मेति नित्यशः ।
आनन्दरूपमेवाहं नान्यत् किञ्चिन्न शाश्वतम् ॥ ३०.५॥

शुद्धानन्दस्वरूपोऽहं शुद्धविज्ञानमात्मनः ।
एकाकारस्वरूपोऽहं नैकसत्ताविवर्जितः ॥ ३०.६॥

अन्तरज्ञानशुद्धोऽहमहमेव परायणम् ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.७॥

अनेकतत्त्वहीनोऽहं एकत्वं च न विद्यते ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.८॥

सर्वप्रकाररूपोऽस्मि सर्वं इत्यपि वर्जितः ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.९॥

निर्मलज्ञानरूपोऽहमहमेव न विद्यते ।
शुद्धब्रह्मस्वरूपोऽहं विशुद्धपदवर्जितः ॥ ३०.१०॥

नित्यानन्दस्वरूपोऽहं ज्ञानानन्दमहं सदा ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरोऽहं वै सूक्ष्म इत्यादिवर्जितः ॥ ३०.११॥

अखण्डानन्दमात्रोऽहं अखण्डानन्दविग्रहः ।
सदाऽमृतस्वरूपोऽहं सदा कैवल्यविग्रहः ॥ ३०.१२॥

ब्रह्मानन्दमिदं सर्वं नास्ति नास्ति कदाचन ।
जीवत्वधर्महीनोऽहमीश्वरत्वविवर्जितः ॥ ३०.१३॥

वेदशास्त्रस्वरूपोऽहं शास्त्रस्मरणकारणम् ।
जगत्कारणकार्यं च ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ ३०.१४॥

वाच्यवाचकभेदं च स्थूलसूक्ष्मशरीरकम् ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताद्यप्राज्ञतैजसविश्वकाः ॥ ३०.१५॥

सर्वशास्त्रस्वरूपोऽहं सर्वानन्दमहं सदा ।
अतीतनामरूपार्थ अतीतः सर्वकल्पनात् ॥ ३०.१६॥

द्वैताद्वैतं सुखं दुःखं लाभालाभौ जयाजयौ ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.१७॥

सात्त्विकं राजसं भेदं संशयं हृदयं फलम् ।
दृक् दृष्टं सर्वद्रष्टा च भूतभौतिकदैवतम् ॥ ३०.१८॥

सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ।
तुर्यरूपमहं साक्षात् ज्ञानरूपमहं सदा ॥ ३०.१९॥

अज्ञानं चैव नास्त्येव तत्कार्यं कुत्र विद्यते ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.२०॥

चित्तवृत्तिविलासं च बुद्धीनामपि नास्ति हि ।
देहसङ्कल्पहीनोऽहं बुद्धिसङ्कल्पकल्पना ॥ ३०.२१॥

सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ।
बुद्धिनिश्चयरूपोऽहं निश्चयं च गलत्यहो ॥ ३०.२२॥

अहंकारं बहुविधं देहोऽहमिति भावनम् ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.२३॥

ब्रह्माहमपि काणोऽहं बधिरोऽहं परोऽस्म्यहम् ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.२४॥

देहोऽहमिति तादात्म्यं देहस्य परमात्मनः ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.२५॥

सर्वोऽहमिति तादात्म्यं सर्वस्य परमात्मनः ।
इति भावय यत्नेन ब्रह्मैवाहमिति प्रभो ॥ ३०.२६॥

दृढनिश्चयमेवेदं सत्यं सत्यमहं परम् ।
दृढनिश्चयमेवात्र सद्गुरोर्वाक्यनिश्चयम् ॥ ३०.२७॥

दृढनिश्चयसाम्राज्ये तिष्ठ तिष्ठ सदा परः ।
अहमेव परं ब्रह्म आत्मानन्दप्रकाशकः ॥ ३०.२८॥

शिवपूजा शिवश्चाहं विष्णुर्विष्णुप्रपूजनम् ।
यद्यत् संवेद्यते किञ्चित् यद्यन्निश्चीयते क्वचित् ॥ ३०.२९॥

तदेव त्वं त्वमेवाहं इत्येवं नास्ति किञ्चन ।
इदं चित्तमिदं दृश्यं इत्येवमिति नास्ति हि ॥ ३०.३०॥

सदसद्भावशेषोऽपि तत्तद्भेदं न विद्यते ।
सुखरूपमिदं सर्वं सुखरूपमिदं न च ॥ ३०.३१॥

लक्षभेदं सकृद्भेदं सर्वभेदं न विद्यते ।
ब्रह्मानन्दो न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.३२॥

ब्रह्मभेदं तुर्यभेदं जीवभेदमभेदकम् ।
इदमेव हि नोत्पन्नं सर्वदा नास्ति किञ्चन ॥ ३०.३३॥

स देवमिति निर्देशो नास्ति नास्त्येव सर्वदा ।
अस्ति चेत् किल वक्तव्यं नास्ति चेत् कथमुच्यते ॥ ३०.३४॥

परं विशेषमेवेति नास्ति किञ्चित् सदा मयि ।
चञ्चलं मनश्चैव नास्ति नास्ति न संशयः ॥ ३०.३५॥

एवमेव सदा पूर्णो निरीहस्तिष्ठ शान्तधीः ।
सर्वं ब्रह्मास्मि पूर्णोऽस्मि एवं च न कदाचन ॥ ३०.३६॥

आनन्दोऽहं वरिष्ठोऽहं ब्रह्मास्मीत्यपि नास्ति हि ।
ब्रह्मानन्दमहानन्दमात्मानन्दमखण्डितम् ॥ ३०.३७॥

इदं परमहन्ता च सर्वदा नास्ति किञ्चन ।
इदं सर्वमिति ख्याति आनन्दं नेति नो भ्रमः ॥ ३०.३८॥

सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ।
लक्ष्यलक्षणभावं च दृश्यदर्शनदृश्यता ॥ ३०.३९॥

अत्यन्ताभावमेवेति सर्वदानुभवं महत् ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.४०॥

गुह्यं मन्त्रं गुणं शास्त्रं सत्यं श्रोत्रं कलेवरम् ।
मरणं जननं कार्यं कारणं पावनं शुभम् ॥ ३०.४१॥

कामक्रोधौ लोभमोहौ मदो मात्सर्यमेव हि ।
द्वैतदोषं भयं शोकं सर्वं नास्त्येव सर्वदा ॥ ३०.४२॥

इदं नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव सकलं सुखम् ।
इदं ब्रह्मेति मननमहं ब्रह्मेति चिन्तनम् ॥ ३०.४३॥

अहं ब्रह्मेति मननं त्वं ब्रह्मत्वविनाशनम् ।
सत्यत्वं ब्रह्मविज्ञानं असत्यत्वं न बाध्यते ॥ ३०.४४॥

एक एव परो ह्यात्मा एकत्वभ्रान्तिवर्जितः ।
सर्वं ब्रह्म सदा ब्रह्म तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.४५॥

जीवरूपा जीवभावा जीवशब्दत्रयं न हि ।
ईशरूपं चेशभावं ईशशब्दं च कल्पितम् ॥ ३०.४६॥

नाक्षरं न च सर्वं वा न पदं वाच्यवाचकम् ।
हृदयं मन्त्रतन्त्रं च चित्तं बुद्धिर्न किञ्चन ॥ ३०.४७॥

मूढो ज्ञानी विवेकी वा शुद्ध इत्यपि नास्ति हि ।
निश्चयं प्रणवं तारं आत्मायं गुरुशिष्यकम् ॥ ३०.४८॥

तूष्णीं तूष्णीं महातूष्णीं मौनं वा मौनभावनम् ।
प्रकाशनं प्रकाशं च आत्मानात्मविवेचनम् ॥ ३०.४९॥

ध्यानयोगं राजयोगं भोगमष्टाङ्गलक्षणम् ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३०.५०॥

अस्तित्वभाषणं चापि नास्तित्वस्य च भाषणम् ।
पञ्चाशद्वर्णरूपोऽहं चतुःषष्टिकलात्मकः ॥ ३०.५१॥

सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ।
ब्रह्मैवाहं प्रसन्नात्मा ब्रह्मैवाहं चिदव्ययः ॥ ३०.५२॥

शास्त्रज्ञानविदूरोऽहं वेदज्ञानविदूरकः ।
उक्तं सर्वं परं ब्रह्म नास्ति सन्देहलेशतः ॥ ३०.५३॥

सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्तद्ब्रह्माहं न संशयः ।
ब्रह्मैवाहं प्रसन्नात्मा ब्रह्मैवाहं चिदव्ययः ॥ ३०.५४॥

इत्येवं ब्रह्मतन्मात्रं तत्र तुभ्यं प्रियं ततः ।
यस्तु बुध्येत सततं सर्वं ब्रह्म न संशयः ।
नित्यं शृण्वन्ति ये मर्त्यास्ते चिन्मात्रमयामलाः ॥ ३०.५५॥

सन्देहसन्देहकरोऽर्यकास्वकैः
करादिसन्दोहजगद्विकारिभिः ।
यो वीतमोहं न करोति दुर्हृदं
विदेहमुक्तिं शिवदृक्प्रभावतः ॥ ३०.५६॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
ब्रह्मैकरूपत्वनिरूपणप्रकरणं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥

३१ ॥ एकत्रिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
वक्ष्ये रहस्यमत्यन्तं साक्षाद्ब्रह्मप्रकाशकम् ।
सर्वोपनिषदामर्थं सर्वलोकेषु दुर्लभम् ॥ ३१.१॥

प्रज्ञानं ब्रह्म निश्चित्य पदद्वयसमन्वितम् ।
महावाक्यं चतुर्वाक्यं ऋग्यजुःसामसंभवम् ॥ ३१.२॥

मम प्रज्ञैव ब्रह्माहं ज्ञानमात्रमिदं जगत् ।
ज्ञानमेव जगत् सर्वं ज्ञानादन्यन्न विद्यते ॥ ३१.३॥

ज्ञानस्यानन्तरं सर्वं दृश्यते ज्ञानरूपतः ।
ज्ञानस्य ब्रह्मणश्चापि ममेव पृथङ् न हि ॥ ३१.४॥

जीवः प्रज्ञानशब्दस्य ब्रह्मशब्दस्य चेश्वरः ।
ऐक्यमस्मीत्यखण्डार्थमखण्डैकरसं ततम् ॥ ३१.५॥

अखण्डाकारवृत्तिस्तु जीवन्मुक्तिरितीरितम् ।
अखण्डैकरसं वस्तु विदेहो मुक्तिरुच्यते ॥ ३१.६॥

ब्रह्मैवाहं न संसारी सच्चिदानन्दमस्म्यहम् ।
निर्गुणोऽहं निरंशोऽहं परमानन्दवानहम् ॥ ३१.७॥

नित्योऽहं निर्विकल्पोऽहं चिदहं चिदहं सदा ।
अखण्डाकारवृत्त्याख्यं चित्तं ब्रह्मात्मना स्थितम् ॥ ३१.८॥

लवणं तोयमात्रेण यथैकत्वमखण्डितम् ।
अखण्डैकरसं वक्ष्ये विदेहो मुक्तिलक्षणम् ॥ ३१.९॥

प्रज्ञापदं परित्यज्य ब्रह्मैव पदमेव हि ।
अहमस्मि महानस्मि सिद्धोऽस्मीति परित्यजन् ॥ ३१.१०॥

स्मरणं च परित्यज्य भावनं चित्तकर्तृकम् ।
सर्वमन्तः परित्यज्य सर्वशून्यं परिस्थितिः ॥ ३१.११॥

तूष्णीं स्थितिं च सन्त्यज्य ततो मौनविकल्पनम् ।
यत्तच्चित्तं विकल्पांशं मनसा कल्पितं जगत् ॥ ३१.१२॥

देहोऽहमित्यहङ्कारं द्वैतवृत्तिरितीरितम् ।
सर्वं साक्षिरहं ब्रह्म इत्येवं दृढनिश्चयम् ॥ ३१.१३॥

सर्वदाऽसंशयं ब्रह्म साक्षिवृत्तिरितीरितम् ।
द्वैतवृत्तिः साक्षवृत्तिरखण्डाकारवृत्तिकम् ॥ ३१.१४॥

अखण्डैकरसं चेति लोके वृत्तित्रयं भवेत् ।
प्रथमे निश्चिते द्वैते द्वितीये साक्षिसंशयः ॥ ३१.१५॥

तृतीये पदभागे हि दृढनिश्चयमीरितम् ।
एतत्त्रयार्थं संशोध्य तं परित्यज्य निश्चिनु ॥ ३१.१६॥

अखण्डैकरसाकारो नित्यं तन्मयतां व्रज ।
अभ्यासवाक्यमेतत्तु सदाऽभ्यासस्य कारणम् ॥ ३१.१७॥

मननस्य परं वाक्यं योऽयं चन्दनवृक्षवत् ।
युक्तिभिश्चिन्तनं वृत्तं पदत्रयमुदाहृतम् ॥ ३१.१८॥

अहं पदस्य जीवोऽर्थ ईशो ब्रह्मपदस्य हि ।
अस्मीति पदभागस्य अखण्डाकारवृत्तिकम् ॥ ३१.१९॥

पदत्रयं परित्यज्य विचार्य मनसा सह ।
अखण्डैकरसं प्राप्य विदेहो मुक्तिलक्षणम् ॥ ३१.२०॥

अहं ब्रह्मास्मि चिन्मात्रं सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अहं ब्रह्मास्मि वाक्यस्य श्रवणानन्तरं सदा ॥ ३१.२१॥

अहं ब्रह्मास्मि नित्योऽस्मि शान्तोऽस्मि परमोऽस्म्यहम् ।
निर्गुणोऽहं निरीहोऽहं निरंशोऽस्मि सदा स्मृतः ॥ ३१.२२॥ var was निर्यशोऽस्मि
आत्मैवास्मि न सन्देहः अखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ।
एवं निरन्तरं तज्ज्ञो भावयेत् परमात्मनि ॥ ३१.२३॥

यथा चानुभवं वाक्यं तस्मादनुभवेत् सदा ।
आरंभाच्च द्वितीयात्तु स्मृतमभ्यासवाक्यतः ॥ ३१.२४॥

तृतीयान्तत्त्वमस्येति वाक्यसामान्यनिर्णयम् ।
तत्पदं त्वंपदं त्वस्य पदत्रयमुदाहृतम् ॥ ३१.२५॥

तत्पदस्येश्वरो ह्यर्थो जीवोऽर्थस्त्वंपदस्य हि ।
ऐक्यस्यापि पदस्यार्थमखण्डैकरसं पदम् ॥ ३१.२६॥

द्वैतवृत्तिः साक्षवृत्तिरखण्डाकारवृत्तिकः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं तत्त्वमेवासि निश्चयः ॥ ३१.२७॥

त्वं ब्रह्मासि न सन्देहस्त्वमेवासि चिदव्ययः ।
त्वमेव सच्चिदानन्दस्त्वमेवाखण्डनिश्चयः ॥ ३१.२८॥

इत्येवमुक्तो गुरुणा स एव परमो गुरुः ।
अहं ब्रह्मेति निश्चित्य सच्छिष्यः परमात्मवान् ॥ ३१.२९॥

नान्यो गुरुर्नान्यशिष्यस्त्वं ब्रह्मासि गुरुः परः ।
सर्वमन्त्रोपदेष्टारो गुरवः स गुरुः परः ॥ ३१.३०॥

त्वं ब्रह्मासीति वक्तारं गुरुरेवेति निश्चिनु ।
तथा तत्त्वमसि ब्रह्म त्वमेवासि च सद्गुरुः ॥ ३१.३१॥

सद्गुरोर्वचने यस्तु निश्चयं तत्त्वनिश्चयम् ।
करोति सततं मुक्तेर्नात्र कार्या विचारणा ॥ ३१.३२॥

महावाक्यं गुरोर्वाक्यं तत्त्वमस्यादिवाक्यकम् ।
श्रृणोतु श्रवणं चित्तं नान्यत् श्रवणमुच्यते ॥ ३१.३३॥

सर्ववेदान्तवाक्यानामद्वैते ब्रह्मणि स्थितिः ।
इत्येवं च गुरोर्वक्रात् श्रुतं ब्रह्मेति तच्छ्रवः ॥ ३१.३४॥

गुरोर्नान्यो मन्त्रवादी एक एव हि सद्गुरुः ।
त्वं ब्रह्मासीति येनोक्तं एष एव हि सद्गुरुः ॥ ३१.३५॥

वेदान्तश्रवणं चैतन्नान्यच्छ्रवणमीरितम् ।
युक्तिभिश्चिन्तनं चैव मननं परिकथ्यते ॥ ३१.३६॥

एवं चन्दनवृक्षोऽपि श्रुतोऽपि परिशोध्यते ।
त्वं ब्रह्मासीति चोक्तोऽपि संशयं परिपश्यति ॥ ३१.३७॥

संशोध्य निश्चिनोत्येवमात्मानं परिशोध्यते ।
युक्तिर्नाम वदाम्यत्र देहोनाहं विनाशतः ॥ ३१.३८॥

स्थूलदेहं सूक्ष्मदेहं स्थूलसूक्ष्मं च कारणम् ।
त्रयं चथुर्थे नास्तीति सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥ ३१.३९॥

एतत्सर्वं जडत्वाच्च दृश्यत्वाद्धटवन्नहि ।
अहं चैतन्यमेवात्र दृग्रूपत्वाल्लयं न हि ॥ ३१.४०॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं यदात्मनः सहजा गुणाः ।
अन्ततं जडदुःखादि जगतः प्रथितो गुणः ॥ ३१.४१॥

तस्मादहं ब्रह्म एव इदं सर्वमसत्यकम् ।
एवं च मननं नित्यं करोति ब्रह्मवित्तमः ॥ ३१.४२॥

वक्ष्ये निदिध्यासनं च उभयत्यागलक्षणम् ।
त्वं ब्रह्मासीति श्रवणं मननं चाहमेव हि ॥ ३१.४३॥

एतत्त्यागं निदिध्यासं सजातीयत्वभावनम् ।
विजातीयपरित्यागं स्वगतत्वविभावनम् ॥ ३१.४४॥

सर्वत्यागं परित्यज्य तुरीयत्वं च वर्जनम् ।
ब्रह्मचिन्मात्रसारत्वं साक्षात्कारं प्रचक्षते ॥ ३१.४५॥

उपदेशे महावाक्यमस्तित्वमिति निर्णयः ।
तथैवानुभवं वाक्यमहं ब्रह्मास्मि निर्णयः ॥ ३१.४६॥

प्रज्ञानं ब्रह्मवाक्योत्थमभ्यासार्थमितीरितम् ।
अयमात्मेति वाक्योत्थदर्शनं वाक्यमीरितम् ॥ ३१.४७॥

अयमेकपदं चैक आत्मेति ब्रह्म च त्रयम् ।
अयंपदस्य जीवोऽर्थ आत्मनो ईश्वरः परः ॥ ३१.४८॥

तथा ब्रह्मपदस्यार्थ अखण्डाकारवृत्तिकम् ।
अखण्डैकरसं सर्वं पदत्रयलयं गतम् ॥ ३१.४९॥

अखण्डैकरसो ह्यात्मा नित्यशुद्धविमुक्तकः ।
तदेव सर्वमुद्भूतं भविष्यति न संशयः ॥ ३१.५०॥

अखण्डैकरसो देव अयमेकमुदीरितम् ।
आत्मेति पदमेकस्य ब्रह्मेति पदमेककम् ॥ ३१.५१॥

अयं पदस्य जीवोऽर्थ आत्मेतीश्वर ईरितः ।
अस्यार्थोऽस्मीत्यखण्डार्थमखण्डैकरसं पदम् ॥ ३१.५२॥

द्वैतवृत्तिः साक्षिवृत्तिरखण्डाकारवृत्तिकम् ।
अखण्डैकरसं पश्चात् सोऽहमस्मीति भावय ॥ ३१.५३॥

इत्येवं च चतुर्वाक्यतात्पर्यार्थं समीरितम् ।
उपाधिसहितं वाक्यं केवलं लक्ष्यमीरितम् ॥ ३१.५४॥

किञ्चिज्ज्ञत्वादि जीवस्य सर्व ज्ञत्वादि चेश्वरः ।
जीवोऽपरो सचैतन्यमीश्वरोऽहं परोक्षकः ॥ ३१.५५॥

सर्वशून्यमिति त्याज्यं ब्रह्मास्मीति विनिश्चयः ।
अहं ब्रह्म न सन्देहः सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ ३१.५६॥

अहमैक्यं परं गत्वा स्वस्वभावो भवोत्तम ।
एतत्सर्वं महामिथ्या नास्ति नास्ति न संशयः ॥ ३१.५७॥

सर्वं नास्ति न सन्देहः सर्वं ब्रह्म न संशयः ।
एकाकारमखण्डार्थं तदेवाहं न संशयः ।
ब्रह्मेदं वितताकारं तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥ ३१.५८॥

सूतः -
भवोद्भवमुखोद्भवं भवहराद्यहृद्यं भुवि
प्रकृष्टरसभावतः प्रथितबोधबुद्धं भव ।
भजन्ति भसिताङ्गका भरितमोदभारादरा
भुजङ्गवरभूषणं भुवनमध्यवृन्दावनम् ॥ ३१.५९॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
महावाक्यार्थनिरूपणप्रकरणं नाम एकत्रिंशोऽध्यायः ॥

---

३२ ॥ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
वक्ष्ये पुनरसत्त्यागं ब्रह्मनिश्चयमेव च ।
यस्य श्रवणमात्रेण सद्यो मुक्तो भवेन्नरः ॥ ३२.१॥

चित्तसत्ता मनःसत्ता ब्रह्मसत्ताऽन्यथा स्थिता ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२॥

देहसत्ता लिङ्गसत्ता भावसत्ताऽक्षरा स्थिता ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.३॥

दृश्यं च दर्शनं दृष्टा कर्ता कारयिता क्रिया । var was द्रष्टा
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.४॥

एकं द्वित्वं पृथग्भावं अस्ति नास्तीति निर्णयः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.५॥

शास्त्रभेदं वेदभेदं मुक्तीनां भेदभावनम् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.६॥

जातिभेदं वर्णभेदं शुद्धाशुद्धविनिर्णयः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.७॥

अखण्डाकारवृत्तिश्च अखण्डैकरसं परम् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.८॥

परापरविकल्पश्च पुण्यपापविकल्पनम् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.९॥

कल्पनाकल्पनाद्वैतं मनोकल्पनभावनम् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.१०॥

सिद्धं साध्यं साधनं च नाशनं ब्रह्मभावनम् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.११॥

आत्मज्ञानं मनोधर्मं मनोऽभावे कुतो भवेत् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.१२॥

अज्ञानं च मनोधर्मस्तदभावे च तत्कुतः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.१३॥

शमो दमो मनोधर्मस्तदभावे च तत्कुतः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.१४॥

बन्धमोक्षौ मनोधर्मौ तदभावे कुतो भवेत् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.१५॥

सर्वं मिथ्या जगन्मिथ्या देहो मिथ्या जडत्वतः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.१६॥

ब्रह्मलोकः सदा मिथ्या बुद्धिरूपं तदेव हि ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.१७॥

विष्णुलोकः सदा मिथ्या शिवमेव हि सर्वदा ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.१८॥

रुद्रलोकः सदा मिथ्या अहंकारस्वरूपतः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.१९॥

चन्द्रलोकः सदा मिथ्या मनोरूपविकल्पनम् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२०॥

दिशो लोकः सदा मिथ्या श्रोत्रशब्दसमन्वितः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२१॥

सूर्यलोकः सदा मिथ्या नेत्ररूपसमन्वितः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२२॥

वरुणस्य सदा लोको जिह्वारससमन्वितः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२३॥

त्वचो लोकः सदा मिथ्या वायोः स्पर्शसमन्वितः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२४॥

अश्विनोर्घ्राणलोकश्च गन्धद्वैतसमन्वितः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२५॥

अग्नेर्लोकः सदा मिथ्या वागेव वचनेन तत् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२६॥

इन्द्रलोकः सदा मिथ्या पाणिपादेन संयुतः ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२७॥

उपेन्द्रस्य महर्लोको गमनेन पदं युतम् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२८॥

मृत्युरेव सदा नास्ति पायुरेव विसर्गकम् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.२९॥

प्रजापतेर्महर्लोको गुह्यमानन्दसंयुतम् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.३०॥

सर्वं मिथ्या न सन्देहः सर्वमात्मेति निश्चितम् ।
तितिक्षोश्च समाधानं श्रद्धा चाचार्यभाषणे ॥ ३२.३१॥

मुमुक्षुत्वं च मोक्षश्च मोक्षार्थे मम जीवने ।
चतुःसाधनसम्पन्नः सोऽधिकारीति निश्चयः ॥ ३२.३२॥

जीवब्रह्मैक्यसद्भावं वियद्ब्रह्मेति निश्चयः ।
वेदान्तब्रह्मणो बोध्यं बोधकं बन्धमुच्यते ॥ ३२.३३॥

सर्वज्ञाननिर्वृत्तिश्चेदानन्दावाप्तिकं फलम् । var was निवृत्ति
इत्येवमादिभिः शब्दैः प्रोक्तं सर्वमसत् सदा ॥ ३२.३४॥

सर्वशब्दार्थरूपं च निश्चयं भावनं तथा ।
ब्रह्ममात्रं परं सत्यमन्यत् सर्वमसत् सदा ॥ ३२.३५॥

अनेकशब्दश्रवणमनेकार्थविचारणम् ।
सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३२.३६॥

नानुध्यायाद्ब्रह्मशब्दान् इत्युक्त्वा ह महानसि ।
ब्रह्मोपदेशकाले तु सर्वं चोक्तं न संशयः ॥ ३२.३७॥

ब्रह्मैवाहमिदं द्वैतं चित्तसत्ताविभावनम् ।
चिन्मात्रोऽहमिदं द्वैतं जीवब्रह्मेति भावनम् ॥ ३२.३८॥

अहं चिन्मात्रमन्त्रं वा कार्यकारणचिन्तनम् ।
अक्षयानन्दविज्ञानमखण्डैकरसाद्वयम् ॥ ३२.३९॥

परं ब्रह्म इदं ब्रह्म शान्तं ब्रह्म स्वयं जगत् ।
अन्तरिन्द्रियविज्ञानं बाह्येन्द्रियनिरोधनम् ॥ ३२.४०॥

सर्वोपदेशकालं च साम्यं शेषं महोदयम् ।
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ॥ ३२.४१॥

कारणं कार्यभेदं च शास्त्रमार्गैककल्पनम् ।
अहं ब्रह्म इदं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मेति शब्दतः ॥ ३२.४२॥

सत्यरूपं क्वचिन्नास्ति सत्यं नाम कदा नहि ।
संशयं च विपर्यासं सङ्कल्पः कारणं भ्रमः ॥ ३२.४३॥

आत्मनोऽन्यत् क्वचिन्नास्ति सर्वं मिथ्या न संशयः ।
महतां ह्युद्यते मन्त्री मेधाशुद्धिशुभाशुभम् ॥ ३२.४४॥

देशभेदं वस्तुभेदं न च चैतन्यभेदकम् ।
आत्मनोऽन्यत् पृथग्भावमात्मनोऽन्यन्निरूपणम् ॥ ३२.४५॥

आत्मनोऽन्यन्नामरूपमात्मनोऽन्यच्छुभाशुभम् ।
आत्मनोऽन्यद्वस्तुसत्ता आत्मनोऽन्यज्जगत्त्रयम् ॥ ३२.४६॥

आत्मनोऽन्यत् सुःखं दुःखमात्मनोऽन्यद्विचिन्तनम् ।
आत्मनोऽन्यत्प्रपञ्चं वा आत्मनोऽन्यज्जयाजयौ ॥ ३२.४७॥

आत्मनोऽन्यद्देवपूजा आत्मनोऽन्यच्छिवार्चनम् ।
आत्मनोऽन्यन्महाध्यानमात्मनोऽन्यत् कलाक्रमम् ॥ ३२.४८॥

सर्वं मिथ्या न सन्देहो ब्रह्म सर्वं न संशयः ।
सर्वमुक्तं भगवता निदिध्यासस्तु सर्वदा ॥ ३२.४९॥

सकृच्छ्रवणमात्रेण हृदयग्रन्थिरन्तिमम् ।
कर्मनाशं च मूढानां महतां मुक्तिरेव हि ॥ ३२.५०॥

अनेककोटिजननपातकं भस्मसाद्भवेत् ।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सर्वं विनश्यति ।
सद्यो मुक्तिर्न सन्देहो नास्ति मङ्गलमङ्गलम् ॥ ३२.५१॥

क्व भेदभावदर्शनं न चैव शोकमोहहृत्
प्रपश्यतां श्रुते शिखाविशेषमैक्यभावनात् ।
यतो भवेज्जगाद तं महेश येन जीवितं
यदन्तराऽविशत् सदा यथोर्णनाभतन्तुवत् ॥ ३२.५२॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
सर्वमिथ्यात्वनिरूपणप्रकरणं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

---

३३ ॥ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
वक्ष्ये परं ब्रह्ममात्रमनुत्पन्नमिदं जगत् ।
सत्पदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ॥ ३३.१॥

आत्मैवाहं परं ब्रह्म नान्यत् संसारदृष्टयः ।
सत्पदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ॥ ३३.२॥

सत्पदानन्दमात्रोऽहं चित्पदानन्दविग्रहम् ।
अहमेवाहमेवैकमहमेव परात् परः ॥ ३३.३॥

सच्चिदानदमेवैकमहं ब्रह्मैव केवलम् ।
अहमस्मि सदा भामि एवं रूपं कुतोऽप्यसत् ॥ ३३.४॥

त्वमित्येवं परं ब्रह्म चिन्मयानन्दरूपवान् ।
चिदाकारं चिदाकाशं चिदेव परमं सुखम् ॥ ३३.५॥

आत्मैवाहमसन्नाहं कूटस्थोऽहं गुरुः परः ।
कालं नास्ति जगन्नास्ति कल्मषत्वानुभावनम् ॥ ३३.६॥

अहमेव परं ब्रह्म अहमेव सदा शिवः ।
शुद्धचैतन्य एवाहं शुद्धसत्वानुभावनः ॥ ३३.७॥

अद्वयानन्दमात्रोऽहमव्ययोऽहं महानहम् ।
सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव निर्मलः ॥ ३३.८॥

सर्वं ब्रह्मैव नान्योऽस्ति सर्वं ब्रह्मैव चेतनः ।
सर्वप्रकाशरूपोऽहं सर्वप्रियमनो ह्यहम् ॥ ३३.९॥

एकान्तैकप्रकाशोऽहं सिद्धासिद्धविवर्जितः ।
सर्वान्तर्यामिरूपोऽहं सर्वसाक्षित्वलक्षणम् ॥ ३३.१०॥

शमो विचारसन्तोषरूपोऽहमिति निश्चयः ।
परमात्मा परं ज्योतिः परं परविवर्जितः ॥ ३३.११॥

परिपूर्णस्वरूपोऽहं परमात्माऽहमच्युतः ।
सर्ववेदस्वरूपोऽहं सर्वशास्त्रस्य निर्णयः ॥ ३३.१२॥

लोकानन्दस्वरूपोऽहं मुख्यानन्दस्य निर्णयः ।
सर्वं ब्रह्मैव भूर्नास्ति सर्वं ब्रह्मैव कारणम् ॥ ३३.१३॥

सर्वं ब्रह्मैव नाकार्यं सर्वं ब्रह्म स्वयं वरः ।
नित्याक्षरोऽहं नित्योऽहं सर्वकल्याणकारकम् ॥ ३३.१४॥

सत्यज्ञानप्रकाशोऽहं मुख्यविज्ञानविग्रहः ।
तुर्यातुर्यप्रकाशोऽहं सिद्धासिद्धादिवर्जितः ॥ ३३.१५॥

सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्म निरन्तरम् ।
सर्वं ब्रह्म चिदाकाशं नित्यब्रह्म निरञ्जनम् ॥ ३३.१६॥

सर्वं ब्रह्म गुणातीतं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
सर्वं ब्रह्मैव इत्येवं निश्चयं कुरु सर्वदा ॥ ३३.१७॥

ब्रह्मैव सर्वमित्येवं सर्वदा दृढनिश्चयः ।
सर्वं ब्रह्मैव इत्येवं निश्चयित्वा सुखी भव ॥ ३३.१८॥

सर्वं ब्रह्मैव सततं भावाभावौ चिदेव हि ।
द्वैताद्वैतविवादोऽयं नास्ति नास्ति न संशयः ॥ ३३.१९॥

सर्वविज्ञानमात्रोऽहं सर्वं ब्रह्मेति निश्चयः ।
गुह्याद्गुह्यतरं सोऽहं गुणातीतोऽहमद्वयः ॥ ३३.२०॥

अन्वयव्यतिरेकं च कार्याकार्यं विशोधय ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ॥ ३३.२१॥

ब्रह्मैव सर्वमेवेदं चिदाकाशमिदं जगत् ।
ब्रह्मैव परमानन्दं आकाशसदृशं विभु ॥ ३३.२२॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं सदा वाचामगोचरम् ।
ब्रह्मैव सर्वमेवेदमस्ति नास्तीति केचन ॥ ३३.२३॥

आनन्दभावना किञ्चित् सदसन्मात्र एव हि ।
ब्रह्मैव सर्वमेवेदं सदा सन्मात्रमेव हि ॥ ३३.२४॥

ब्रह्मैव सर्वमेवदं चिद्घनानन्दविग्रहम् ।
ब्रह्मैव सच्च सत्यं च सनातनमहं महत् ॥ ३३.२५॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं ओतप्रोतेव तिष्ठति ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं सर्वाकारं सनातनम् ॥ ३३.२६॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं परमानदमव्ययम् ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं मायातीतं निरञ्जनम् ॥ ३३.२७॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं सत्तामात्रं सुखात् सुखम् ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं चिन्मात्रैकस्वरूपकम् ॥ ३३.२८॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं सर्वभेदविवर्जितम् ।
सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव नानाकारमिव स्थितम् ॥ ३३.२९॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं कर्ता चावसरोऽस्ति हि ।
सच्चिदानदं ब्रह्मैव परं ज्योतिः स्वरूपकम् ॥ ३३.३०॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं नित्यनिश्चलमव्ययम् ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं वाचावधिरसावयम् ॥ ३३.३१॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं स्वयमेव स्वयं सदा ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं न करोति न तिष्ठति ॥ ३३.३२॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं न गच्छति न तिष्ठति ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ॥ ३३.३३॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं न शुक्लं न च कृष्णकम् ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं सर्वाधिष्ठानमव्ययम् ॥ ३३.३४॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं न तूष्णीं न विभाषणम् ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं सत्त्वं नाहं न किञ्चन ॥ ३३.३५॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं परात्परमनुद्भवम् ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं तत्त्वातीतं महोत्सवम् ॥ ३३.३६॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं परमाकाशमाततम् ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं सर्वदा गुरुरूपकम् ॥ ३३.३७॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं सदा निर्मलविग्रहम् ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं शुद्धचैतन्यमाततम् ॥ ३३.३८॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं स्वप्रकाशात्मरूपकम् ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं निश्चयं चात्मकारणम् ॥ ३३.३९॥

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं स्वयमेव प्रकाशते ।
ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं नानाकार इति स्थितम् ॥ ३३.४०॥

ब्रह्मैव सच्चिदाकारं भ्रान्ताधिष्ठानरूपकम् ।

ब्रह्मैव सच्चिदानन्दं सर्वं नास्ति न मे स्थितम् ॥ ३३.४१॥

वाचामगोचरं ब्रह्म सच्चिदानदविग्रहम् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहमनुत्पन्नमिदम् जगत् ॥ ३३.४२॥

ब्रह्मैवेदं सदा सत्यं नित्यमुक्तं निरञ्जनम् ।
सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव एकमेव सदा सुखम् ॥ ३३.४३॥

सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव पूर्णात् पूर्णतरं महत् ।
सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव सर्वव्यापकमीश्वरम् ॥ ३३.४४॥

सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव नामरूपप्रभास्वरम् ।
सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव अनन्तानन्दनिर्मलम् ॥ ३३.४५॥

सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव परमानन्ददायकम् ।
सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव सन्मात्रं सदसत्परम् ॥ ३३.४६॥

सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव सर्वेषां परमव्ययम् ।
सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव मोक्षरूपं शुभाशुभम् ॥ ३३.४७॥

सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव परिच्छिन्नं न हि क्वचित् ।
ब्रह्मैव सर्वमेवेदं शुद्धबुद्धमलेपकम् ॥ ३३.४८॥

सच्चिदानन्दरूपोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।
एतत् प्रकरणं सत्यं सद्योमुक्तिप्रदायकम् ॥ ३३.४९॥

सर्वदुःखक्षयकरं सर्वविज्ञानदायकम् ।
नित्यानन्दकरं सत्यं शान्तिदान्तिप्रदायकम् ॥ ३३.५०॥

यस्त्वन्तकान्तकमहेश्वरपादपद्म-
लोलम्बसप्रभहृदा परिशीलकश्च ।
वृन्दारवृन्दविनतामलदिव्यपादो
भावो भवोद्भवकृपावशतो भवेच्च ॥ ३३.५१॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
सच्चिदानन्दरूपताप्रकरणं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

३४ ॥ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
श‍ृणुष्व ब्रह्म विज्ञानमद्भुतं त्वतिदुर्लभम् ।
एकैकश्रवणेनैव कैवल्यं परमश्नुते ॥ ३४.१॥

सत्यं सत्यं जगन्नास्ति संकल्पकलनादिकम् ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्मविज्ञानं सर्वदा स्वयम् ॥ ३४.२॥

आनन्दमव्ययं शान्तमेकरूपमनामयम् ।
चित्तप्रपञ्चं नैवास्ति नास्ति कार्यं च तत्त्वतः ॥ ३४.३॥

प्रपञ्चभावना नास्ति दृश्यरूपं न किञ्चन ।
असत्यरूपं सङ्कल्पं तत्कार्यं च जगन्न हि ॥ ३४.४॥

सर्वमित्येव नास्त्येव कालमित्येवमीश्वरः ।
वन्ध्याकुमारे भीतिश्च तदधीनमिदं जगत् ॥ ३४.५॥

गन्धर्वनगरे शृङ्गे मदग्रे दृश्यते जगत् ।
मृगतृष्णाजलं पीत्वा तृप्तिश्चेदस्त्विदं जगत् ॥ ३४.६॥

नगे शृङ्गे न बाणेन नष्टं पुरुषमस्त्विदम् ।
गन्धर्वनगरे सत्ये जगद्भवतु सर्वदा ॥ ३४.७॥

गगने नीलमासिन्धौ जगत् सत्यं भविष्यति ।
शुक्तिकारजतं सत्यं भूषणं चिज्जगद्भवेत् ॥ ३४.८॥

रज्जुसर्पेण नष्टश्चेत् नरो भवति संसृतिः ।
जातिरूपेण बाणेन ज्वालाग्नौ नाशिते सति ॥ ३४.९॥

रंभास्तम्भेन काष्ठेन पाकसिद्धिर्जगद्भवेत् ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ॥ ३४.१०॥

सद्यः कुमारिकारूपैः पाके सिद्धे जगद्भवेत् ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ॥ ३४.११॥

मित्याटव्यां वायसान्नं अस्ति चेज्जगदुद्भवम् ।
मूलारोपणमन्त्रस्य प्रीतिश्चेद्भाषणं जगत् ॥ ३४.१२॥

मासात् पूर्वं मृतो मर्त्य आगतश्चेज्जगद् भवेत् ।
तक्रं क्षीरस्वरूपं चेत् किञ्चित् किञ्चिज्जगद्भवेत् ॥ ३४.१३॥

गोस्तनादुद्भवं क्षीरं पुनरारोहणं जगत् ।
भूरजस्याअब्दमुत्पन्नं जगद्भवतु सर्वदा ॥ ३४.१४॥

कूर्मरोम्णा गजे बद्धे जगदस्तु मदोत्कटे ।
मृणालतन्तुना मेरुश्चलितश्चेज्जगद् भवेत् ॥ ३४.१५॥

तरङ्गमालया सिन्धुः बद्धश्चेदस्त्विदं जगत् ।
ज्वालाग्निमण्डले पद्मं वृद्धं चेत् तज्जगद्भवेत् ॥ ३४.१६॥

महच्छैलेन्द्रनिलयं संभवश्चेदिदं भवेत् ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ॥ ३४.१७॥

मीन आगत्य पद्माक्षे स्थितश्चेदस्त्विदं जगत् ।
निगीर्णश्चेद्भृङ्गसूनुः मेरुपुच्छवदस्त्विदम् ॥ ३४.१८॥

मशकेनाशिते सिंहे हते भवतु कल्पनम् ।
अणुकोटरविस्तीर्णे त्रैलोक्ये चेज्जगद्भवेत् ॥ ३४.१९॥

स्वप्ने तिष्ठति यद्वस्तु जागरे चेज्जगद्भवेत् ।
नदीवेगो निश्चलश्चेत् जगद्भवतु सर्वदा ॥ ३४.२०॥

जात्यन्धै रत्नविषयः सुज्ञातश्चेज्जगद्भवेत् ।
चन्द्रसूर्यादिकं त्यक्त्वा राहुश्चेत् दृश्यते जगत् ॥ ३४.२१॥

भ्रष्टबीजेन उत्पन्ने वृद्धिश्चेच्चित्तसंभवः ।
महादरिद्रैराढ्यानां सुखे ज्ञाते जगद्भवेत् ॥ ३४.२२॥

दुग्धं दुग्धगतक्षीरं पुनरारोहणं पुनः ।
केवलं दर्पणे नास्ति प्रतिबिम्बं तदा जगत् ॥ ३४.२३॥

यथा शून्यगतं व्योम प्रतिबिम्बेन वै जगत् ।
अजकुक्षौ गजो नास्ति आत्मकुक्षौ जगन्न हि ॥ ३४.२४॥

यथा तान्त्रे समुत्पन्ने तथा ब्रह्ममयं जगत् ।
कार्पासकेऽग्निदग्धेन भस्म नास्ति तथा जगत् ॥ ३४.२५॥

परं ब्रह्म परं ज्योतिः परस्तात् परतः परः ।
सर्वदा भेदकलनं द्वैताद्वैतं न विद्यते ॥ ३४.२६॥

चित्तवृत्तिर्जगद्दुःखं अस्ति चेत् किल नाशनम् ।
मनःसंकल्पकं बन्ध अस्ति चेद्ब्रह्मभावना ॥ ३४.२७॥

अविद्या कार्यदेहादि अस्ति चेद्वैतभावनम् ।
चित्तमेव महारोगो व्याप्तश्चेद्ब्रह्मभेषजम् ॥ ३४.२८॥

अहं शत्रुर्यदि भवेदहं ब्रह्मैव भावनम् ।
देहोऽहमिति दुखं चेद्ब्रह्माहमिति निश्चिनु ॥ ३४.२९॥

संशयश्च पिशाचश्चेद्ब्रह्ममात्रेण नाशय ।
द्वैतभूताविष्टरेण अद्वैतं भस्म आश्रय ॥ ३४.३०॥

अनात्मत्वपिशाचश्चेदात्ममन्त्रेण बन्धय ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ॥ ३४.३१॥

चतुःषष्टिकदृष्टान्तैरेवं ब्रह्मैव साधितम् ।
यः शृणोति नरो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ३४.३२॥

कृतार्थ एव सततं नात्र कार्या विचारणा ॥ ३४.३३॥

मनोवचोविदूरगं त्वरूपगन्धवर्जितं
हृदर्भकोकसन्ततं विजानतां मुदे सदा ।
सदाप्रकाशदुज्वलप्रभाविकाससद्युति
प्रकाशदं महेश्वर त्वदीयपादपङ्कजम् ॥ ३४.३४॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
दृष्टान्तैर्ब्रह्मसाधनप्रकरणं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

---

३५ ॥ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
निदाघ शृणु गुह्यं मे सद्यो मुक्तिप्रदं नृणाम् ।
आत्मैव नान्यदेवेदं परमात्माहमक्षतः ॥ ३५.१॥

अहमेव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अहमस्मि महानस्मि शिवोऽस्मि परमोऽस्म्यहम् ॥ ३५.२॥

अदृश्यं परमं ब्रह्म नान्यदस्ति स्वभावतः ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहं ब्रह्मैव केवलम् ॥ ३५.३॥

शान्तं ब्रह्म परं चास्मि सर्वदा नित्यनिर्मलः ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव अहं ब्रह्मैव केवलम् ॥ ३५.४॥

सर्वसङ्कल्पमुक्तोऽस्मि सर्वसन्तोषवर्जितः ।
कालकर्मजगद्द्वैतद्रष्टृदर्शनविग्रहः ॥ ३५.५॥

आनन्दोऽस्मि सदानन्दकेवलो जगतां प्रियम् ।
समरूपोऽस्मि नित्योऽस्मि भूतभव्यमजो जयः ॥ ३५.६॥

चिन्मात्रोऽस्मि सदा भुक्तो जीवो बन्धो न विद्यते । var was मुक्तः
श्रवणं षड्विधं लिङ्गं नैवास्ति जगदीदृशम् ॥ ३५.७॥

चित्तसंसारहीनोऽस्मि चिन्मात्रत्वं जगत् सदा ।
चित्तमेव हितं देह अविचारः परो रिपुः ॥ ३५.८॥

अविचारो जगद्दुःखमविचारो महद्भयम् ।
सद्योऽस्मि सर्वदा तृप्तः परिपूर्णः परो महान् ॥ ३५.९॥

नित्यशुद्धोऽस्मि बुद्धोऽस्मि चिदाकाशोऽस्मि चेतनः ।
आत्मैव नान्यदेवेदं परमात्माऽहमक्षतः ॥ ३५.१०॥

सर्वदोषविहीनोऽस्मि सर्वत्र विततोऽस्म्यहम् ।
वाचातीतस्वरूपोऽस्मि परमात्माऽहमक्षतः ॥ ३५.११॥

चित्रातीतं परं द्वन्द्वं सन्तोषः समभावनम् ।
अन्तर्बहिरनाद्यन्तं सर्वभेदविनिर्णयम् ॥ ३५.१२॥

अहंकारं बलं सर्वं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
ब्रह्मेन्द्रोविष्णुर्वरुणो भावाभावविनिश्चयः ॥ ३५.१३॥

जीवसत्ता जगत्सत्ता मायासत्ता न किञ्चन ।
गुरुशिष्यादिभेदं च कार्याकार्यविनिश्चयः ॥ ३५.१४॥

त्वं ब्रह्मासीति वक्ता च अहं ब्रह्मास्मि संभवः ।
सर्ववेदान्तविज्ञानं सर्वाम्नायविचारणम् ॥ ३५.१५॥

इदं पदार्थसद्भावमहं रूपेण संभवम् ।
वेदवेदान्तसिद्धान्तजगद्भेदं न विद्यते ॥ ३५.१६॥

सर्वं ब्रह्म न सन्देहः सर्वमित्येव नास्ति हि ।
केवलं ब्रह्मशान्तात्मा अहमेव निरन्तरम् ॥ ३५.१७॥

शुभाशुभविभेदं च दोषादोषं च मे न हि ।
चित्तसत्ता जगत्सत्ता बुद्धिवृत्तिविजृम्भणम् ॥ ३५.१८॥

ब्रह्मैव सर्वदा नान्यत् सत्यं सत्यं निजं पदम् ।
आत्माकारमिदं द्वैतं मिथ्यैव न परः पुमान् ॥ ३५.१९॥

सच्चिदानन्दमात्रोऽहं सर्वं केवलमव्ययम् ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ॥ ३५.२०॥

मनो जगदहं भेदं चित्तवृत्तिजगद्भयम् ।
सर्वानन्दमहानन्दमात्मानन्दमनन्तकम् ॥ ३५.२१॥

अत्यन्तस्वल्पमल्पं वा प्रपञ्चं नास्ति किञ्चन ।
प्रपञ्चमिति शब्दो वा स्मरणं वा न विद्यते ॥ ३५.२२॥

अन्तरस्थप्रपञ्चं वा क्वचिन्नास्ति क्वचिद्बहिः ।
यत् किञ्चिदेवं तूष्णीं वा यच्च किञ्चित् सदा क्व वा ॥ ३५.२३॥

येन केन यदा किञ्चिद्यस्य कस्य न किञ्चन ।
शुद्धं मलिनरूपं वा ब्रह्मवाक्यमबोधकम् ॥ ३५.२४॥

ईदृषं तादृषं वेति न किञ्चित् वक्तुमर्हति ।

ब्रह्मैव सर्वं सततं ब्रह्मैव सकलं मनः ॥ ३५.२५॥

आनन्दं परमानदं नित्यानन्दं सदाऽद्वयम् ।
चिन्मात्रमेव सततं नास्ति नास्ति परोऽस्म्यहम् ॥ ३५.२६॥

प्रपञ्चं सर्वदा नास्ति प्रपञ्चं चित्रमेव च ।
चित्तमेव हि संसारं नान्यत् संसारमेव हि ॥ ३५.२७॥

मन एव हि संसारो देहोऽहमिति रूपकम् ।
सङ्कल्पमेव संसारं तन्नाशेऽसौ विनश्यति ॥ ३५.२८॥

सङ्कल्पमेव जननं तन्नाशेऽसौ विनश्यति ।
सङ्कल्पमेव दारिद्र्यं तन्नाशेऽसौ विनश्यति ॥ ३५.२९॥

सङ्कल्पमेव मननं तन्नाशेऽसौ विनश्यति ।
आत्मैव नान्यदेवेदं परमात्माऽहमक्षतः ॥ ३५.३०॥

नित्यमात्ममयं बोधमहमेव सदा महान् ।
आत्मैव नान्यदेवेदं परमात्माऽहमक्षतः ॥ ३५.३१॥

इत्येवं भावयेन्नित्यं क्षिप्रं मुक्तो भविष्यति ।
त्वमेव ब्रह्मरूपोऽसि त्वमेव ब्रह्मविग्रहः ॥ ३५.३२॥

एवं च परमानन्दं ध्यात्वा ध्यात्वा सुखीभव ।
सुखमात्रं जगत् सर्वं प्रियमात्रं प्रपञ्चकम् ॥ ३५.३३॥

जडमात्रमयं लोकं ब्रह्ममात्रमयं सदा ।
ब्रह्मैव नान्यदेवेदं परमात्माऽहमव्ययः ॥ ३५.३४॥

एक एव सदा एष एक एव निरन्तरम् ।
एक एव परं ब्रह्म एक एव चिदव्ययः ॥ ३५.३५॥

एक एव गुणातीत एक एव सुखावहः ।
एक एव महानात्मा एक एव निरन्तरम् ॥ ३५.३६॥

एक एव चिदाकार एक एवात्मनिर्णयः ।
ब्रह्मैव नान्यदेवेदं परमात्माऽहमक्षतः ॥ ३५.३७॥

परमात्माहमन्यन्न परमानन्दमन्दिरम् ।
इत्येवं भावयन्नित्यं सदा चिन्मय एव हि ॥ ३५.३८॥

सूतः -
विरिञ्चिवञ्चनाततप्रपञ्चपञ्चबाणभित्
सुकाञ्चनाद्रिधारिणं कुलुञ्चनां पतिं भजे ।
अकिञ्चनेऽपि सिञ्चके जलेन लिङ्गमस्तके

विमुञ्चति क्षणादघं न किञ्चिदत्र शिष्यते ॥ ३५.३९॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
ब्रह्मभावनोपदेशप्रकरणं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥

३६ ॥ षड्त्रिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
श‍ृणु वक्ष्यामि विप्रेन्द्र सर्वं ब्रह्मैव निर्णयम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण सद्यो मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ ३६.१॥

इदमेव सदा नास्ति ह्यहमेव हि केवलम् ।
आत्मैव सर्वदा नास्ति आत्मैव सुखलक्षणम् ॥ ३६.२॥

आत्मैव परमं तत्त्वमात्मैव जगतां गणः ।
आत्मैव गगनाकारमात्मैव च निरन्तरम् ॥ ३६.३॥

आत्मैव सत्यं ब्रह्मैव आत्मैव गुरुलक्षणम् ।
आत्मैव चिन्मयं नित्यमात्मैवाक्षरमव्ययम् ॥ ३६.४॥

आत्मैव सिद्धरूपं वा आत्मैवात्मा न संशयः ।
आत्मैवजगदाकारं आत्मैवात्मा स्वयं स्वयम् ॥ ३६.५॥

आत्मैव शान्तिकलनमात्मैव मनसा वियत् ।
आत्मैव सर्वं यत् किञ्चिदात्मैव परमं पदम् ॥ ३६.६॥

आत्मैव भुवनाकारमात्मैव प्रियमव्ययम् ।
आत्मैवान्यन्न च क्वापि आत्मैवान्यं मनोमयम् ॥ ३६.७॥

आत्मैव सर्वविज्ञानमात्मैव परमं धनम् ।
आत्मैव भूतरूपं वा आत्मैव भ्रमणं महत् ॥ ३६.८॥

आत्मैव नित्यशुद्धं वा आत्मैव गुरुरात्मनः ।
आत्मैव ह्यात्मनः शिष्य आत्मैव लयमात्मनि ॥ ३६.९॥

आत्मैव ह्यात्मनो ध्यानमात्मैव गतिरात्मनः ।
आत्मैव ह्यात्मनो होम आत्मैव ह्यात्मनो जपः ॥ ३६.१०॥

आत्मैव तृप्तिरात्मैव आत्मनोऽन्यन्न किञ्चन ।
आत्मैव ह्यात्मनो मूलमात्मैव ह्यात्मनो व्रतम् ॥ ३६.११॥

आत्मज्ञानं व्रतं नित्यमात्मज्ञानं परं सुखम् ।
आत्मज्ञानं परानन्दमात्मज्ञानं परायणम् ॥ ३६.१२॥

आत्मज्ञानं परं ब्रह्म आत्मज्ञानं महाव्रतम् ।
आत्मज्ञानं स्वयं वेद्यमात्मज्ञानं महाधनम् ॥ ३६.१३॥

आत्मज्ञानं परं ब्रह्म आत्मज्ञानं महत् सुखम् ।
आत्मज्ञानं महानात्मा आत्मज्ञानं जनास्पदम् ॥ ३६.१४॥

आत्मज्ञानं महातीर्थमात्मज्ञानं जयप्रदम् ।
आत्मज्ञानं परं ब्रह्म आत्मज्ञानं चराचरम् ॥ ३६.१५॥

आत्मज्ञानं परं शास्त्रमात्मज्ञानमनूपमम् ।
आत्मज्ञानं परो योग आत्मज्ञानं परा गतिः ॥ ३६.१६॥

आत्मज्ञानं परं ब्रह्म इत्येवं दृढनिश्चयः ।
आत्मज्ञानं मनोनाशः आत्मज्ञानं परो गुरुः ॥ ३६.१७॥

आत्मज्ञानं चित्तनाशः आत्मज्ञानं विमुक्तिदम् ।
आत्मज्ञानं भयनाशमात्मज्ञानं सुखावहम् ॥ ३६.१८॥

आत्मज्ञानं महातेज आत्मज्ञानं महाशुभम् ।
आत्मज्ञानं सतां रूपमात्मज्ञानं सतां प्रियम् ॥ ३६.१९॥

आत्मज्ञानं सतां मोक्षमात्मज्ञानं विवेकजम् ।
आत्मज्ञानं परो धर्म आत्मज्ञानं सदा जपः ॥ ३६.२०॥

आत्मज्ञानस्य सदृशमात्मविज्ञानमेव हि ।
आत्मज्ञानेन सदृशं न भूतं न भविष्यति ॥ ३६.२१॥

आत्मज्ञानं परो मन्त्र आत्मज्ञानं परं तपः ।
आत्मज्ञानं हरिः साक्षादात्मज्ञानं शिवः परः ॥ ३६.२२॥

आत्मज्ञानं परो धाता आत्मज्ञानं स्वसंमतम् ।
आत्मज्ञानं स्वयं पुण्यमात्मज्ञानं विशोधनम् ॥ ३६.२३॥

आत्मज्ञानं महातीर्थमात्मज्ञानं शमादिकम् ।
आत्मज्ञानं प्रियं मन्त्रमात्मज्ञानं स्वपावनम् ॥ ३६.२४॥

आत्मज्ञानं च किन्नाम अहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
अहं ब्रह्मेति विश्वासमात्मज्ञानं महोदयम् ॥ ३६.२५॥

अहं ब्रह्मास्मि नित्योऽस्मि सिद्धोऽस्मीति विभावनम् ।
आनन्दोऽहं परानन्दं शुद्धोऽहं नित्यमव्ययः ॥ ३६.२६॥

चिदाकाशस्वरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दशाश्वतम् ।
निर्विकारोऽस्मि शान्तोऽहं सर्वतोऽहं निरन्तरः ॥ ३६.२७॥

सर्वदा सुखरूपोऽस्मि सर्वदोषविवर्जितः ।

सर्वसङ्कल्पहीनोऽस्मि सर्वदा स्वयमस्म्यहम् ॥ ३६.२८॥

सर्वं ब्रह्मेत्यनुभवं विना शब्दं पठ स्वयम् ।
कोट्यश्वमेधे यत् पुण्यं क्षणात् तत्पुण्यमाप्नुयात् ॥ ३६.२९॥

अहं ब्रह्मेति निश्चित्य मेरुदानफलं लभेत् ।
ब्रह्मैवाहमिति स्थित्वा सर्वभूदानमप्यणु ॥ ३६.३०॥

ब्रह्मैवाहमिति स्थित्वा कोटिशो दानमप्यणु ।
ब्रह्मैवाहमिति स्थित्वा सर्वानन्दं तृणायते ॥ ३६.३१॥

ब्रह्मैव सर्वमित्येव भावितस्य फलं स्वयम् ।
ब्रह्मैवाहमिति स्थित्वा समानं ब्रह्म एव हि ॥ ३६.३२॥

तस्मात् स्वप्नेऽपि नित्यं च सर्वं सन्त्यज्य यत्नतः ।
अहं ब्रह्म न सन्देहः अहमेव गतिर्मम ॥ ३६.३३॥

अहमेव सदा नान्यदहमेव सदा गुरुः ।
अहमेव परो ह्यात्मा अहमेव न चापरः ॥ ३६.३४॥

अहमेव गुरुः शिष्यः अहमेवेति निश्चिनु ।
इदमित्येव निर्देशः परिच्छिन्नो जगन्न हि ॥ ३६.३५॥

न भूमिर्न जलं नाग्निर्न वायुर्न च खं तथा ।
सर्वं चैतन्यमात्रत्वात् नान्यत् किञ्चन विद्यते ॥ ३६.३६॥

इत्येवं भावनपरो देहमुक्तः सुखीभव ।
अहमात्मा इदं नास्ति सर्वं चैतन्यमात्रतः ॥ ३६.३७॥

अहमेव हि पूर्णात्मा आनन्दाब्धिरनामयः ।
इदमेव सदा नास्ति जडत्वादसदेव हि ।
इदं ब्रह्म सदा ब्रह्म इदं नेति सुखी भव ॥ ३६.३८॥

तुरङ्गशृङ्गसन्निभा श्रुतिपरोचना ???
विशेषकामवासना विनिश्चितात्मवृत्तितः ।
नराः सुरा मुनीश्वरा असङ्गसङ्गमप्युमा-
पतिं ??? न ते भजन्ति केचन ??? ॥ ३६.३९॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
ब्रह्मभावनोपदेशप्रकरणं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

३७ ॥ सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -

निदाघ श्रृणु वक्ष्यामि रहस्यं परमद्भुतम् ।
श्लोकैकश्रवणेनैव सद्यो मोक्षमवाप्नुयात् ॥ ३७.१॥

इदं दृष्टं परं ब्रह्म दृश्यवद्भाति चित्ततः ।
सर्वं चैतन्यमात्रत्वात् नान्यत् किञ्चिन्न विद्यते ॥ ३७.२॥

इदमेव हि नास्त्येव अयमित्यपि नास्ति हि ।
एक एवाप्यणुर्वापि नास्ति नास्ति न संशयः ॥ ३७.३॥

व्यवहारमिदं क्वापि वार्तामात्रमपि क्व वा ।
बन्धरूपं बन्धवार्ता बन्धकार्यं परं च वा ॥ ३७.४॥

सन्मात्रकार्यं सन्मात्रमहं ब्रह्मेति निश्चयम् ।
दुःखं सुखं वा बोधो वा साधकं साध्यनिर्णयः ॥ ३७.५॥

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति पृथङ् न हि ।
देहोऽहमिति मूर्तोऽहं ज्ञानविज्ञानवानहम् ॥ ३७.६॥

कार्यकारणरूपोऽहमन्तःकरणकार्यकम् ।
एकमित्येकमात्रं वा नास्ति नास्तीति भावय ॥ ३७.७॥

सर्वसङ्कल्पमात्रेति सर्वं ब्रह्मेति वा जगत् ।
तत्त्वज्ञानं परं ब्रह्म ओङ्कारार्थं सुखं जपम् ॥ ३७.८॥

द्वैताद्वैतं सदाद्वैतं तथा मानावमानकम् ।
सर्वं चैतन्यमात्रत्वात् नान्यत् किञ्चिन्न विद्यते ॥ ३७.९॥

आत्मानन्दमहं ब्रह्म प्रज्ञानं ब्रह्म एव हि ।
इदं रूपमहं रूपं प्रियाप्रियविचारणम् ॥ ३७.१०॥

यद्यत् संभाव्यते लोके यद्यत् साधनकल्पनम् ।
यद्यन्तरहितं ब्रह्मभावनं चित्तनिर्मितम् ॥ ३७.११॥

स्थूलदेहोऽहमेवात्र सूक्ष्मदेहोऽहमेव हि ।
बुद्धेर्भेदं मनोभेदं अहंकारं जडं च तत् ॥ ३७.१२॥

सर्वं चैतन्यमात्रत्वात् नान्यत् किञ्चिन्न विद्यते ।
श्रवणं मननं चैव साक्षात्कारविचारणम् ॥ ३७.१३॥

आत्मैवाहं परं चैव नाहं मोहमयं स्वयम् ।
ब्रह्मैव सर्वमेवेदं ब्रह्मैव परमं पदम् ॥ ३७.१४॥

ब्रह्मैव कारणं कार्यं ब्रह्मैव जगतां जयः ।
ब्रह्मैव सर्वं चैतन्यं ब्रह्मैव मनसायते ॥ ३७.१५॥

ब्रह्मैव जीववद्भाति ब्रह्मैव च हरीयते ।
ब्रह्मैव शिववद्भाति ब्रह्मैव प्रियमात्मनः ॥ ३७.१६॥

ब्रह्मैव शान्तिवद्भाति ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
नाहं न चायं नैवान्यन्नोत्पन्नं न परात् परम् ॥ ३७.१७॥

न चेदं न च शास्त्रार्थं न मीमांसं न चोद्भवम् ।
न लक्षणं न वेदादि नापि चित्तं न मे मनः ॥ ३७.१८॥

न मे नायं नेदमिदं न बुद्धिनिश्चयं सदा ।
कदाचिदपि नास्त्येव सत्यं सत्यं न किञ्चन ॥ ३७.१९॥

नैकमात्रं न चायं वा नान्तरं न बहिर्न हि ।
ईषणमात्रं च न द्वैतं न जन्यं न च दृश्यकम् ॥ ३७.२०॥

न भावनं न स्मरणं न विस्मरणमण्वपि ।
न कालदेशकलनं न सङ्कल्पं न वेदनम् ॥ ३७.२१॥

न विज्ञानं न देहान्यं न वेदोऽहं न संसृतिः ।
न मे दुःखं न मे मोक्षं न गतिर्न च दुर्गतिः ॥ ३७.२२॥

नात्मा नाहं न जीवोऽहं न कूटस्थो न जायते ।
न देहोऽहं न च श्रोत्रं न त्वगिन्द्रियदेवता ॥ ३७.२३॥

सर्वं चैतन्यमात्रत्वात् सर्वं नास्त्येव सर्वदा ।
अखण्डाकाररूपत्वात् सर्वं नास्त्येव सर्वदा ॥ ३७.२४॥

हुंकारस्यावकाशो वा हुंकारजननं च वा ।
नास्त्येव नास्ति नास्त्येव नास्ति नास्ति कदाचन ॥ ३७.२५॥

अन्यत् पदार्थमल्पं वा अन्यदेवान्यभाषणम् ।
आत्मनोऽन्यदसत्यं वा सत्यं वा भ्रान्तिरेव च ॥ ३७.२६॥

नास्त्येव नास्ति नास्त्येव नास्ति शब्दोऽपि नास्ति हि ।
सर्वं चैतन्यमात्रत्वात् सर्वं नास्त्येव सर्वदा ॥ ३७.२७॥

सर्वं ब्रह्म न सन्देहो ब्रह्मैवाहं न संशयः ।
वाक्यं च वाचकं सर्वं वक्ता च त्रिपुटीद्वयम् ॥ ३७.२८॥

ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयभेदं मातृमानमिति प्रियम् ।
यद्यच्छास्त्रेषु निर्णीतं यद्यद्वेदेषु निश्चितम् ॥ ३७.२९॥

परापरमतीतं च अतीतोऽहमवेदनम् ।
गुरुर्गुरूपदेशश्च गुरुं वक्ष्ये न कस्यचित् ॥ ३७.३०॥

गुरुरूपा गुरुश्रद्धा सदा नास्ति गुरुः स्वयम् ।

आत्मैव गुरुरात्मैव अन्याभावान्न संशयः ॥ ३७.३१॥

आत्मनः शुभमात्मैव अन्याभावान्न संशयः ।
आत्मनो मोहमात्मैव आत्मनोऽस्ति न किञ्चन ॥ ३७.३२॥

आत्मनः सुखमात्मैव अन्यन्नास्ति न संशयः ।
आत्मन्येवात्मनः शक्तिः आत्मन्येवात्मनः प्रियम् ॥ ३७.३३॥

आत्मन्येवात्मनः स्नानं आत्मन्येवात्मनो रतिः ।
आत्मज्ञानं परं श्रेयः आत्मज्ञानं सुदुर्लभम् ॥ ३७.३४॥

आत्मज्ञानं परं ब्रह्म आत्मज्ञानं सुखात् सुखम् ।
आत्मज्ञानात् परं नास्ति आत्मज्ञानात् स्मृतिर्न हि ॥ ३७.३५॥

ब्रह्मैवात्मा न सन्देह आत्मैव ब्रह्मणः स्वयम् ।
स्वयमेव हि सर्वत्र स्वयमेव हि चिन्मयः ॥ ३७.३६॥

स्वयमेव चिदाकाशः स्वयमेव निरन्तरम् ।
स्वयमेव च नानात्मा स्वयमेव च नापरः ॥ ३७.३७॥

स्वयमेव गुणातीतः स्वयमेव महत् सुखम् ।
स्वयमेव हि शान्तात्मा स्वयमेव हि निष्कलः ॥ ३७.३८॥

स्वयमेव चिदानन्दः स्वयमेव महत्प्रभुः ।
स्वयमेव सदा साक्षी स्वयमेव सदाशिवः ॥ ३७.३९॥

स्वयमेव हरिः साक्षात् स्वयमेव प्रजापतिः ।
स्वयमेव परं ब्रह्म ब्रह्म एव स्वयं सदा ॥ ३७.४०॥

सर्वं ब्रह्म स्वयं ब्रह्म स्वयं ब्रह्म न संशयः ।
दृढनिश्चयमेव त्वं सर्वथा कुरु सर्वदा ॥ ३७.४१॥

विचारयन् स्वयं ब्रह्म ब्रह्ममात्रं स्वयं भवेत् ।
एतदेव परं ब्रह्म अहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ३७.४२॥

एष एव परो मोक्ष अहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
एष एव कृतार्थो हि एष एव सुखं सदा ॥ ३७.४३॥

एतदेव सदा ज्ञानं स्वयं ब्रह्म स्वयं महत् ।
अहं ब्रह्म एतदेव सदा ज्ञानं स्वयं महत् ॥ ३७.४४॥

अहं ब्रह्म एतदेव स्वभावं सततं निजम् ।
अहं ब्रह्म एतदेव सदा नित्यं स्वयं सदा ॥ ३७.४५॥

अहं ब्रह्म एतदेव बन्धनाशं न संशयः ।
अहं ब्रह्म एतदेव सर्वसिद्धान्तनिश्चयम् ॥ ३७.४६॥

एष वेदान्तसिद्धान्त अहं ब्रह्म न संशयः ।
सर्वोपनिषदामर्थः सर्वानन्दमयं जगत् ॥ ३७.४७॥

महावाक्यस्य सिद्धान्त अहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
साक्षाच्छिवस्य सिद्धान्त अहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ३७.४८॥

नारायणस्य सिद्धान्त अहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
चतुर्मुखस्य सिद्धान्त अहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ३७.४९॥

ऋषीणां हृदयं ह्येतत् देवानामुपदेशकम् ।
सर्वदेशिकसिद्धान्त अहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ३७.५०॥

यच्च यावच्च भूतानां महोपदेश एव तत् ।
अहं ब्रह्म महामोक्षं परं चैतदहं स्वयम् ॥ ३७.५१॥

अहं चानुभवं चैतन्महागोप्यमिदं च तत् ।
अहं ब्रह्म एतदेव सदा ज्ञानं स्वयं महत् ॥ ३७.५२॥

महाप्रकाशमेवैतत् अहं ब्रह्म एव तत् ।
एतदेव महामन्त्रं एतदेव महाजपः ॥ ३७.५३॥

एतदेव महास्नानमहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
एतदेव महातीर्थमहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ३७.५४॥

एतदेव महागङ्गा अहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
एष एव परो धर्म अहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ३७.५५॥

एष एव महाकाश अहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
एतदेव हि विज्ञानमहं ब्रह्मास्मि केवलम् ।
सर्वसिद्धान्तमेवैतदहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ३७.५६॥

सव्यासव्यतयाद्यवज्ञहृदया गोपोदहार्यः स्त्रियः
पश्यन्त्यम्बुजमित्रमण्डलगतं शंभुं हिरण्यात्मकम् ।
सर्वत्र प्रसृतैः करैर्जगदिदं पुष्णाति मुष्णन् धनैः
घृष्टं चौषधिजालमम्बुनिकरैर्विश्वोत्थधूतं हरः ॥ ३७.५७॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
सर्वसिद्धान्तप्रकरणं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

३८ ॥ अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -

वक्ष्ये अत्यद्भुतं व्यक्तं सच्चिदानन्दमात्रकम् ।
सर्वप्रपञ्चशून्यत्वं सर्वमात्मेति निश्चितम् ॥ ३८.१॥

आत्मरूपप्रपञ्चं वा आत्मरूपप्रपञ्चकम् ।
सर्वप्रपञ्चं नास्त्येव सर्वं ब्रह्मेति निश्चितम् ॥ ३८.२॥

नित्यानुभवमानन्दं नित्यं ब्रह्मेति भावनम् ।
चित्तरूपप्रपञ्चं वा चित्तसंसारमेव वा ॥ ३८.३॥

इदमस्तीति सत्तात्वमहमस्तीति वा जगत् ।
स्वान्तःकरणदोषं वा स्वान्तःकरणकार्यकम् ॥ ३८.४॥

स्वस्य जीवभ्रमः कश्चित् स्वस्य नाशं स्वजन्मना ।
ईश्वरः कश्चिदस्तीति जीवोऽहमिति वै जगत् ॥ ३८.५॥

माया सत्ता महा सत्ता चित्तसत्ता जगन्मयम् ।
यद्यच्च दृश्यते शास्त्रैर्यद्यद्वेदे च भाषणम् ॥ ३८.६॥

एकमित्येव निर्देशं द्वैतमित्येव भाषणम् ।
शिवोऽस्मीति भ्रमः कश्चित् ब्रह्मास्मीति विभ्रमः ॥ ३८.७॥

विष्णुरस्मीति विभ्रान्तिर्जगदस्तीति विभ्रमः ।var was जगदस्मीति
ईषदस्तीति वा भेदं ईषदस्तीति वा द्वयम् ॥ ३८.८॥

सर्वमस्तीति नास्तीति सर्वं ब्रह्मेति निश्चयम् ।
आत्मध्यानप्रपञ्चं वा स्मरणादिप्रपञ्चकम् ॥ ३८.९॥

दुःखरूपप्रपञ्चं वा सुखरूपप्रपञ्चकम् ।
द्वैताद्वैतप्रपञ्चं वा सत्यासत्यप्रपञ्चकम् ॥ ३८.१०॥

जाग्रत्प्रपञ्चमेवापि तथा स्वप्नप्रपञ्चकम् ।
सुप्तिज्ञानप्रपञ्चं वा तुर्यज्ञानप्रपञ्चकम् ॥ ३८.११॥

वेदज्ञानप्रपञ्चं वा शास्त्रज्ञानप्रपञ्चकम् ।
पापबुद्धिप्रपञ्चं वा पुण्यभेदप्रपञ्चकम् ॥ ३८.१२॥

ज्ञानरूपप्रपञ्चं वा निर्गुणज्ञानप्रपञ्चकम् ।
गुणागुणप्रपञ्चं वा दोषादोषविनिर्णयम् ॥ ३८.१३॥

सत्यासत्यविचारं वा चराचरविचारणम् ।
एक आत्मेति सद्भावं मुख्य आत्मेति भावनम् ॥ ३८.१४॥

सर्वप्रपञ्चं नास्त्येव सर्वं ब्रह्मेति निश्चयम् ।
द्वैताद्वैतसमुद्भेदं नास्ति नास्तीति भाषणम् ॥ ३८.१५॥

असत्यं जगदेवेति सत्यं ब्रह्मेति निश्चयम् ।
कार्यरूपं कारणं च नानाभेदविजृम्भणम् ॥ ३८.१६॥

सर्वमन्त्रप्रदातारं दूरे दूरं तथा तथा ।
सर्वं सन्त्यज्य सततं स्वात्मन्येव स्थिरो भव ॥ ३८.१७॥

मौनभावं मौनकार्यं मौनयोगं मनःप्रियम् ।
पञ्चाक्षरोपदेष्टारं तथा चाष्टाक्षरप्रदम् ॥ ३८.१८॥

यद्यद्यद्वेदशास्त्रं यद्यद्वेदो गुरोऽपि वा ।
सर्वदा सर्वलोकेषु सर्वसङ्कल्पकल्पनम् ॥ ३८.१९॥

सर्ववाक्यप्रपञ्चं हि सर्वचित्तप्रपञ्चकम् ।
सर्वाकारविकल्पं च सर्वकारणकल्पनम् ॥ ३८.२०॥

सर्वदोषप्रपञ्चं च सुखदुःखप्रपञ्चकम् ।
सहादेयमुपादेयं ग्राह्यं त्याज्यं च भाषणम् ॥ ३८.२१॥

विचार्य जन्ममरणं वासनाचित्तरूपकम् ।
कामक्रोधं लोभमोहं सर्वडम्भं च हुंकृतिम् ॥ ३८.२२॥

त्रैलोक्यसंभवं द्वैतं ब्रह्मेन्द्रवरुणादिकम् ।
ज्ञानेन्द्रियं च शब्दादि दिग्वाय्वर्कादिदैवतम् ॥ ३८.२३॥

कर्मेन्द्रियादिसद्भावं विषयं देवतागणम् ।
अन्तःकरणवृत्तिं च विषयं चाधिदैवतम् ॥ ३८.२४॥

चित्तवृत्तिं विभेदं च बुद्धिवृत्तिनिरूपणम् ।
मायामात्रमिदं द्वैतं सदसत्तादिनिर्णयम् ॥ ३८.२५॥

किञ्चिद् द्वैतं बहुद्वैतं जीवद्वैतं सदा ह्यसत् ।
जगदुत्पत्तिमोहं च गुरुशिष्यत्वनिर्णयम् ॥ ३८.२६॥

गोपनं तत्पदार्थस्य त्वंपदार्थस्य मेलनम् ।
तथा चासिपदार्थस्य ऐक्यबुद्ध्यानुभावनम् ॥ ३८.२७॥

भेदेषु भेदाभेदं च नान्यत् किञ्चिच्च विद्यते ।
एतत् प्रपञ्चं नास्त्येव सर्वं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ३८.२८॥

सर्वं चैतन्यमात्रत्वात् केवलं ब्रह्म एव सः ।
आत्माकारमिदं सर्वमात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ ३८.२९॥

तुर्यातीतं ब्रह्मणोऽन्यत् सत्यासत्यं न विद्यते ।
सर्वं त्यक्त्वा तु सततं स्वात्मन्येव स्थिरो भव ॥ ३८.३०॥

चित्तं कालं वस्तुभेदं सङ्कल्पं भावनं स्वयम् ।
सर्वं संत्यज्य सततं सर्वं ब्रह्मैव भावय ॥ ३८.३१॥

यद्यद्भेदपरं शास्त्रं यद्यद् भेदपरं मनः ।
सर्वं संत्यज्य सततं स्वात्मन्येव स्थिरो भव ॥ ३८.३२॥

मनः कल्पितकल्पं वा आत्माकल्पनविभ्रमम् ।
अहंकारपरिच्छेदं देहोऽहं देहभावना ॥ ३८.३३॥

सर्वं संत्यज्य सततमात्मन्येव स्थिरो भव ।
प्रपञ्चस्य च सद्भावं प्रपञ्चोद्भवमन्यकम् ॥ ३८.३४॥

बन्धसद्भावकलनं मोक्षसद्भावभाषणम् ।
देवताभावसद्भावं देवपूजाविनिर्णयम् ॥ ३८.३५॥

पञ्चाक्षरेति यद्वैतमष्टाक्षरस्य दैवतम् ।
प्राणादिपञ्चकास्तित्वमुपप्राणादिपञ्चकम् ॥ ३८.३६॥

पृथिवीभूतभेदं च गुणा यत् कुण्ठनादिकम् ।
वेदान्तशास्त्रसिद्धान्तं शैवागमनमेव च ॥ ३८.३७॥

लौकिकं वास्तवं दोषं प्रवृत्तिं च निवृत्तिकम् ।
सर्वं संत्यज्य सततमात्मन्येव स्थिरो भव ॥ ३८.३८॥

आत्मज्ञानसुखं ब्रह्म अनात्मज्ञानदूषणम् ।
रेचकं पूरकं कुम्भं षडाधारविशोधनम् ॥ ३८.३९॥

द्वैतवृत्तिश्च देहोऽहं साक्षिवृत्तिश्चिदंशकम् ।
अखण्डाकारवृत्तिश्च अखण्डाकारसंमतम् ॥ ३८.४०॥

अनन्तानुभवं चापि अहं ब्रह्मेति निश्चयम् ।
उत्तमं मध्यमं चापि तथा चैवाधमाधमम् ॥ ३८.४१॥

दूषणं भूषणं चैव सर्ववस्तुविनिन्दनम् ।
अहं ब्रह्म इदं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मैव तत्त्वतः ॥ ३८.४२॥

अहं ब्रह्मास्मि मुग्धोऽस्मि वृद्धोऽस्मि सदसत्परः ।
वैश्वानरो विराट् स्थूलप्रपञ्चमिति भावनम् ॥ ३८.४३॥

आनन्दस्फारणेनाहं परापरविवर्जितः ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ ३८.४४॥

दृग्रूपं दृश्यरूपं च महासत्तास्वरूपकम् ।
कैवल्यं सर्वनिधनं सर्वभूतान्तरं गतम् ॥ ३८.४५॥

भूतभव्यं भविष्यच्च वर्तमानमसत् सदा ।
कालभावं देहभावं सत्यासत्यविनिर्णयम् ॥ ३८.४६॥

प्रज्ञानघन एवाहं शान्ताशान्तं निरञ्जनम् ।
प्रपञ्चवार्तास्मरणं द्वैताद्वैतविभावनम् ॥ ३८.४७॥

शिवागमसमाचारं वेदान्तश्रवणं पदम् ।
अहं ब्रह्मास्मि शुद्धोऽस्मि चिन्मात्रोऽस्मि सदाशिवः ॥ ३८.४८॥

सर्वं ब्रह्मेति सन्त्यज्य स्वात्मन्येव स्थिरो भव ।
अहं ब्रह्म न सन्देह इदं ब्रह्म न संशयः ॥ ३८.४९॥

स्थूलदेहं सूक्ष्मदेहं कारणं देहमेव च ।
एवं ज्ञातुं च सततं ब्रह्मैवेदं क्षणे क्षणे ॥ ३८.५०॥

शिवो ह्यात्मा शिवो जीवः शिवो ब्रह्म न संशयः ।
एतत् प्रकरणं यस्तु सकृद्वा सर्वदापि वा ॥ ३८.५१॥

पठेद्वा श्रृणुयाद्वापि स च मुक्तो न संशयः ।
निमिषं निमिषार्धं वा श्रुत्वैतब्रह्मभाग्भवेत् ॥ ३८.५२॥

लोकालोकजगत्स्थितिप्रविलयप्रोद्भावसत्तात्मिका
भीतिः शङ्करनामरूपमस्कृद्याकुर्वते केवलम् ।
सत्यासत्यनिरङ्कुशश्रुतिवचोवीचीभिरामृश्यते
यस्त्वेतत् सदितीव तत्त्ववचनैर्मीमांस्यतेऽयं शिवः ॥ ३८.५३॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
प्रपञ्चशून्यत्वप्रकरणं नाम अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥

३९ ॥ एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
परं ब्रह्म प्रवक्ष्यामि निर्विकल्पं निरामयम् ।
तदेवाहं न सन्देहः सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ ३९.१॥

चिन्मात्रममलं शान्तं सच्चिदानन्दविग्रहम् ।
आनन्दं परमानन्दं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ॥ ३९.२॥

गुणातीतं जनातीतमवस्थातीतमव्ययम् ।
एवं भावय चैतन्यमहं ब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ३९.३॥

सर्वातीतस्वरूपोऽस्मि सर्वशब्दार्थवर्जितः ।
सत्योऽहं सर्वहन्ताहं शुद्धोऽहं परमोऽस्म्यहम् ॥ ३९.४॥

अजोऽहं शान्तरूपोऽहं अशरीरोऽहमान्तरः ।
सर्वहीनोऽहमेवाहं स्वयमेव स्वयं महः ॥ ३९.५॥

आत्मैवाहं परात्माहं ब्रह्मैवाहं शिवोऽस्म्यहम् ।
चित्तहीनस्वरूपोऽहं बुद्धिहीनोऽहमस्म्यहम् ॥ ३९.६॥

व्यापकोऽहमहं साक्षी ब्रह्माहमिति निश्चयः ।
निष्प्रपञ्चगजारूढो निष्प्रपञ्चाश्ववाहनः ॥ ३९.७॥

निष्प्रपञ्चमहाराज्यो निष्प्रपञ्चायुधादिमान् ।
निष्प्रपञ्चमहावेदो निष्प्रपञ्चात्मभावनः ॥ ३९.८॥

निष्प्रपञ्चमहानिद्रो निष्प्रपञ्चस्वभावकः ।
निष्प्रपञ्चस्तु जीवात्मा निष्प्रपञ्चकलेवरः ॥ ३९.९॥

निष्प्रपञ्चपरीवारो निष्प्रपञ्चोत्सवो भवः ।
निष्प्रपञ्चस्तु कल्याणो निष्प्रपञ्चस्तु दर्पणः ॥ ३९.१०॥

निष्प्रपञ्चरथारूढो निष्प्रपञ्चविचारणम् ।
निष्प्रपञ्चगुहान्तस्थो निष्प्रपञ्चप्रदीपकम् ॥ ३९.११॥

निष्प्रपञ्चप्रपूर्णात्मा निष्प्रपञ्चोऽरिमर्दनः ।
चित्तमेव प्रपञ्चो हि चित्तमेव जगत्त्रयम् ॥ ३९.१२॥

चित्तमेव महामोहश्चित्तमेव हि संसृतिः ।
चित्तमेव महापापं चित्तमेव हि पुण्यकम् ॥ ३९.१३॥

चित्तमेव महाबन्धश्चित्तमेव विमोक्षदम् ।
ब्रह्मभावनया चित्तं नाशमेति न संशयः ॥ ३९.१४॥

ब्रह्मभावनया दुःखं नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया द्वैतं नाशमेति न संशयः ॥ ३९.१५॥

ब्रह्मभावनया कामः नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया क्रोधः नाशमेति न संशयः ॥ ३९.१६॥

ब्रह्मभावनया लोभः नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया ग्रन्थिः नाशमेति न संशयः ॥ ३९.१७॥

ब्रह्मभावनया सर्वं ब्रह्मभावनया मदः ।
ब्रह्मभावनया पूजा नाशमेति न संशयः ॥ ३९.१८॥

ब्रह्मभावनया ध्यानं नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया स्नानं नाशमेति न संशयः ॥ ३९.१९॥

ब्रह्मभावनया मन्त्रो नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया पापं नाशमेति न संशयः ॥ ३९.२०॥

ब्रह्मभावनया पुण्यं नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया दोषो नाशमेति न संशयः ॥ ३९.२१॥

ब्रह्मभावनया भ्रान्तिः नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया दृश्यं नाशमेति न संशयः ॥ ३९.२२॥

ब्रह्मभावनया सङ्गो नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया तेजो नाशमेति न संशयः ॥ ३९.२३॥

ब्रह्मभावनया प्रज्ञा नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया सत्ता नाशमेति न संशयः ॥ ३९.२४॥

ब्रह्मभावनया भीतिः नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया वेदः नाशमेति न संशयः ॥ ३९.२५॥

ब्रह्मभावनया शास्त्रं नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया निद्रा नाशमेति न संशयः ॥ ३९.२६॥

ब्रह्मभावनया कर्म नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया तुर्यं नाशमेति न संशयः ॥ ३९.२७॥

ब्रह्मभावनया द्वन्द्वं नाशमेति न संशयः ।
ब्रह्मभावनया पृच्छेदहं ब्रह्मेति निश्चयम् ॥ ३९.२८॥

निश्चयं चापि सन्त्यज्य स्वस्वरूपान्तरासनम् ।
अहं ब्रह्म परं ब्रह्म चिद्ब्रह्म ब्रह्ममात्रकम् ॥ ३९.२९॥

ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानमेव परं पदम् ।
दिवि ब्रह्म दिशो ब्रह्म मनो ब्रह्म अहं स्वयम् ॥ ३९.३०॥

किञ्चिद्ब्रह्म ब्रह्म तत्त्वं तत्त्वं ब्रह्म तदेव हि ।
अजो ब्रह्म शुभं ब्रह्म आदिब्रह्म ब्रवीमि तम् ॥ ३९.३१॥

अहं ब्रह्म हविर्ब्रह्म कार्यब्रह्म त्वहं सदा ।
नादो ब्रह्म नदं ब्रह्म तत्त्वं ब्रह्म च नित्यशः ॥ ३९.३२॥

एतद्ब्रह्म शिखा ब्रह्म तद्ब्रह्म ब्रह्म शाश्वतम् ।
निजं ब्रह्म स्वतो ब्रह्म नित्यं ब्रह्म त्वमेव हि ॥ ३९.३३॥

सुखं ब्रह्म प्रियं ब्रह्म मित्रं ब्रह्म सदामृतम् ।
गुह्यं ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म ऋतं ब्रह्म प्रकाशकम् ॥ ३९.३४॥

सत्यं ब्रह्म समं ब्रह्म सारं ब्रह्म निरञ्जनम् ।

एकं ब्रह्म हरिर्ब्रह्म शिवो ब्रह्म न संशयः ॥ ३९.३५॥

इदं ब्रह्म स्वयं ब्रह्म लोकं ब्रह्म सदा परः ।
आत्मब्रह्म परं ब्रह्म आत्मब्रह्म निरन्तरः ॥ ३९.३६॥

एकं ब्रह्म चिरं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मात्मकं जगत् ।
ब्रह्मैव ब्रह्म सद्ब्रह्म तत्परं ब्रह्म एव हि ॥ ३९.३७॥

चिद्ब्रह्म शाश्वतं ब्रह्म ज्ञेयं ब्रह्म न चापरः ।
अहमेव हि सद्ब्रह्म अहमेव हि निर्गुणम् ॥ ३९.३८॥

अहमेव हि नित्यात्मा एवं भावय सुव्रत ।
अहमेव हि शास्त्रार्थ इति निश्चित्य सर्वदा ॥ ३९.३९॥

आत्मैव नान्यद्भेदोऽस्ति सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।
आत्मैवाहमहं चात्मा अनात्मा नास्ति नास्ति हि ॥ ३९.४०॥

विश्वं वस्तुतया विभाति हृदये मूढात्मनां बोधतो-
ऽप्यज्ञानं न निवर्तते श्रुतिशिरोवार्तानुवृत्त्याऽपि च ।
विश्वेशस्य समर्चनेन सुमहालिङ्गार्चनाद्भस्मधृक्
रुद्राक्षामलधारणेन भगवद्ध्यानेन भात्यात्मवत् ॥ ३९.४१॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
सर्वलयप्रकरणं नाम एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

---

४० ॥ चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
सर्वसारात् सारतरं ततः सारतरान्तरम् ।
इदमन्तिमत्यन्तं श्रृणु प्रकरणं मुदा ॥ ४०.१॥

ब्रह्मैव सर्वमेवेदं ब्रह्मैवान्यन्न किञ्चन ।
निश्चयं दृढमाश्रित्य सर्वत्र सुखमास्व ह ॥ ४०.२॥

ब्रह्मैव सर्वभुवनं भुवनं नाम सन्त्यज ।
अहं ब्रह्मेति निश्चित्य अहं भावं परित्यज ॥ ४०.३॥

सर्वमेवं लयं याति स्वयमेव पतत्रिवत् ।
स्वयमेव लयं याति सुप्तहस्तस्थपद्मवत् ॥ ४०.४॥

न त्वं नाहं न प्रपञ्चः सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
न भूतं न च कार्यं च सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ ४०.५॥

न दैवं न च कार्याणि न देहं नेन्द्रियाणि च ।
न जाग्रन्न च वा स्वप्नो न सुषुप्तिर्न तुर्यकम् ॥ ४०.६॥

इदं प्रपञ्चं नास्त्येव सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
सर्वं मिथ्या सदा मिथ्या सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.७॥

सदा ब्रह्म विचारं च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
तथा द्वैतप्रतीतिश्च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.८॥

सदाहं भावरूपं च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
नित्यानित्यविवेकं च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.९॥

भावाभावप्रतीतिं च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
गुणदोषविभागं च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.१०॥

कालाकालविभागं च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
अहं जीवेत्यनुभवं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.११॥

अहं मुक्तोऽस्म्यनुभवं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
सर्वं ब्रह्मेति कलनं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.१२॥

सर्वं नास्तीति वार्ता च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
देवतान्तरसत्ताकं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.१३॥

देवतान्तरपूजा च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
देहोऽहमिति सङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.१४॥

ब्रह्माहमिति सङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
गुरुशिष्यादि सङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.१५॥

तुल्यातुल्यादि सङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
वेदशास्त्रादि सङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.१६॥

चित्तसत्तादि सङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
बुद्धिनिश्चयसङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.१७॥

मनोविकल्पसङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
अहंकारादि सङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.१८॥

पञ्चभूतादिसङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
शब्दादिसत्तासङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.१९॥

दृग्वार्तादिकसङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
कर्मेन्द्रियादिसङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.२०॥

वचनादानसङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
मुनीन्द्रोपेन्द्रसङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.२१॥

मनोबुद्ध्यादिसङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
सङ्कल्पाध्यास इत्यादि सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.२२॥

रुद्रक्षेत्रादि सङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
प्राणादिदशसङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.२३॥

माया विद्या देहजीवाः सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
स्थूलव्यष्टादिसङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.२४॥

सूक्ष्मव्यष्टिसमष्ट्यादि सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
व्यष्ट्यज्ञानादि सङ्कल्पं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.२५॥

विश्ववैश्वानरत्वं च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
तैजसप्राज्ञभेदं च सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.२६॥

वाच्यार्थं चापि लक्ष्यार्थं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
जहल्लक्षणयानैक्यं अजहल्लक्षणा ध्रुवम् ॥ ४०.२७॥

भागत्यागेन नित्यैक्यं सर्वं ब्रह्म उपाधिकम् ।
लक्ष्यं च निरुपाध्यैक्यं सर्वं ब्रह्मेति निश्चिनु ॥ ४०.२८॥

एवमाहुर्महात्मानः सर्वं ब्रह्मेति केवलम् ।
सर्वमन्तः परित्यज्य अहं ब्रह्मेति भावय ॥ ४०.२९॥

असङ्कलितकापिलैर्मधुहराक्षिपूज्याम्बुज-
प्रभाङ्घ्रिजनिमोत्तमो परिषिचेद्यदिन्दुप्रभम् ।
तं डिण्डीरनिभोत्तमोत्तम महाखण्डाज्यदध्ना परं
क्षीराद्यैरभिषिच्य मुक्तिपरमानन्दं लभे शाम्भवम् ॥ ४०.३०॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
चित्तवृत्तिनिरोधप्रकरणं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

४१ ॥ एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
अहं ब्रह्म न सन्देहः अहं ब्रह्म न संशयः ।
अहं ब्रह्मैव नित्यात्मा अहमेव परात्परः ॥ ४१.१॥

चिन्मात्रोऽहं न सन्देह इति निश्चित्य तं त्यज ।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यमात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ॥ ४१.२॥

शिवपादद्वयं स्पृष्ट्वा वदामीदं न किञ्चन ।
गुरुपादद्वयं स्पृष्ट्वा वदामीदं न किञ्चन ॥ ४१.३॥

जिह्वया परशुं तप्तं धारयामि न संशयः ।
वेदशास्त्रादिकं स्पृष्ट्वा वदामीदं विनिश्चितम् ॥ ४१.४॥

निश्चयात्मन् निश्चयस्त्वं निश्चयेन सुखी भव ।
चिन्मयस्त्वं चिन्मयत्वं चिन्मयानन्द एव हि ॥ ४१.५॥

ब्रह्मैव ब्रह्मभूतात्मा ब्रह्मैव त्वं न संशयः ।
सर्वमुक्तं भगवता योगिनामपि दुर्लभम् ॥ ४१.६॥

देवानां च ऋषीणां च अत्यन्तं दुर्लभं सदा ।
ऐश्वरं परमं ज्ञानमुपदिष्टं शिवेन हि ॥ ४१.७॥

एतत् ज्ञानं समानीतं कैलासाच्छङ्करान्तिकात् ।
देवानां दक्षिणामूर्तिर्दशसाहस्रवत्सरान् ॥ ४१.८॥

विघ्नेशो बहुसाहस्रं वत्सरं चोपदिष्टवान् ।
साक्षाच्छिवोऽपि पार्वत्यै वत्सरं चोपदिष्टवान् ॥ ४१.९॥

क्षीराब्धौ च महाविष्णुर्ब्रह्मणे चोपदिष्टवान् ।
कदाचित्ब्रह्मलोके तु मत्पितुश्चोक्तवानहम् ॥ ४१.१०॥

नारदादि ऋषीणां च उपदिष्टं महद्बहु ।
अयातयामं विस्तारं गृहीत्वाऽहमिहागतः ॥ ४१.११॥

न समं पादमेकं च तीर्थकोटिफलं लभेत् ।
न समं ग्रन्थमेतस्य भूमिदानफलं लभेत् ॥ ४१.१२॥

एकानुभवमात्रस्य न सर्वं सर्वदानकम् ।
श्लोकार्धश्रवणस्यापि न समं किञ्चिदेव हि ॥ ४१.१३॥

तात्पर्यश्रवणाभावे पठंस्तूष्णीं स मुच्यते ।
सर्वं सन्त्यज्य सततमेतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ॥ ४१.१४॥

सर्वमन्त्रं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ।
सर्वदेवांश्च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ॥ ४१.१५॥

सर्वस्नानं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ।
सर्वभावं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ॥ ४१.१६॥

सर्वहोमं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ।

सर्वदानं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ॥ ४१.१७॥

सर्वपूजां च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ।
सर्वगुह्यं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ॥ ४१.१८॥

सर्वसेवां च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ।
सर्वास्तित्वं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ॥ ४१.१९॥

सर्वपाठं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ।
सर्वाभ्यासं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ॥ ४१.२०॥

देशिकं च परित्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ।
गुरुं वापि परित्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ॥ ४१.२१॥

सर्वलोकं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ।
सर्वैश्वर्यं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ॥ ४१.२२॥

सर्वसङ्कल्पकं त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ।
सर्वपुण्यं च सन्त्यज्य एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ॥ ४१.२३॥

एतद्ग्रन्थं परं ब्रह्म एतद्ग्रन्थं समभ्यसेत् ।
अत्रैव सर्वविज्ञानं अत्रैव परमं पदम् ॥ ४१.२४॥

अत्रैव परमो मोक्ष अत्रैव परमं सुखम् ।
अत्रैव चित्तविश्रान्तिरत्रैव ग्रन्थिभेदनम् ॥ ४१.२५॥

अत्रैव जीवन्मुक्तिश्च अत्रैव सकलो जपः ।
एतद्ग्रन्थं पठंस्तूष्णीं सद्यो मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ ४१.२६॥

सर्वशास्त्रं च सन्त्यज्य एतन्मात्रं सदाभ्यसेत् ।
दिने दिने चैकवारं पठेच्चेन्मुक्त एव सः ॥ ४१.२७॥

जन्ममध्ये सकृद्वापि श्रुतं चेत् सोऽपि मुच्यते ।
सर्वशास्त्रस्य सिद्धान्तं सर्ववेदस्य संग्रहम् ॥ ४१.२८॥

सारात् सारतरं सारं सारात् सारतरं महत् ।
एतद्ग्रन्थस्य न समं त्रैलोक्येऽपि भविष्यति ॥ ४१.२९ ॥

न प्रसिद्धिं गते लोके न स्वर्गेऽपि च दुर्लभम् ।
ब्रह्मलोकेषु सर्वेषु शास्त्रेष्वपि च दुर्लभम् ॥ ४१.३०॥

एतद्ग्रन्थं कदाचित्तु चौर्यं कृत्वा पितामहः ।
क्षीराब्धौ च परित्यज्य सर्वे मुञ्चन्तु नो इति ॥ ४१.३१॥

ज्ञात्वा क्षीरसमुद्रस्य तीरे प्राप्तं गृहीतवान् ।

गृहीतं चाप्यसौ दृष्ट्वा शपथं च प्रदत्तवान् ॥ ४१.३२॥

तत् आरभ्य तल्लोकं त्यक्त्वाहमिममागतः ।
अत्यद्भुतमिदं ज्ञानं ग्रन्थं चैव महाद्भुतम् ॥ ४१.३३॥

तद् ज्ञो वक्ता च नास्त्येव ग्रन्थश्रोता च दुर्लभः ।
आत्मनिष्ठैकलभ्योऽसौ सद्गुरुर्नैष लभ्यते ॥ ४१.३४॥

ग्रन्थवन्तो न लभ्यन्ते तेन न ख्यातिरागता ।
भवते दर्शितं ह्येतद्गमिष्यामि यथागतम् ॥ ४१.३५॥

एतावदुक्तमात्रेण निदाघ ऋषिसत्तमः ।
पतित्वा पादयोस्तस्य आनन्दाश्रुपरिप्लुतः ॥ ४१.३६॥

उवाच वाक्यं सानन्दं साष्टाङ्गं प्रणिपत्य च ।

निदाघः -
अहो ब्रह्मन् कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि न संशयः ।
भवतां दर्शनेनैव मज्जन्म सफलं कृतम् ॥ ४१.३७॥

एकवाक्यस्य मनने मुक्तोऽहं नात्र संशयः ।
नमस्करोमि ते पादौ सोपचारं न वास्तवौ ॥ ४१.३८॥

तस्यापि नावकाशोऽस्ति अहमेव न वास्तवम् ।
त्वमेव नास्ति मे नास्ति ब्रह्मेति वचनं न च ॥ ४१.३९॥

ब्रह्मेति वचनं नास्ति ब्रह्मभावं न किञ्चन ।
एतद्ग्रन्थं न मे नास्ति सर्वं ब्रह्मेति विद्यते ॥ ४१.४०॥

सर्वं ब्रह्मेति वाक्यं न सर्वं ब्रह्मेति तं न हि ।
तदिति द्वैतभिन्नं तु त्वमिति द्वैतमप्यलम् ॥ ४१.४१॥

एवं किञ्चित् क्वचिन्नास्ति सर्वं शान्तं निरामयम् ।
एकमेव द्वयं नास्ति एकत्वमपि नास्ति हि ॥ ४१.४२॥

भिन्नद्वन्द्वं जगद्दोषं संसारद्वैतवृत्तिकम् ।
साक्षिवृत्तिप्रपञ्चं वा अखण्डाकारवृत्तिकम् ॥ ४१.४३॥

अखण्डैकरसो नास्ति गुरुर्वा शिष्य एव वा ।
भवद्दर्शनमात्रेण सर्वमेवं न संशयः ॥ ४१.४४॥

ब्रह्मज्योतिरहं प्राप्तो ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ।
नमस्ते सुगुरो ब्रह्मन् नमस्ते गुरुनन्दन ।
एवं कृत्य नमस्कारं तूष्णीमास्ते सुखी स्वयम् ॥ ४१.४५॥

किं चण्डभानुकरमण्डलदण्डितानि

काष्ठामुखेषु गलितानि नमस्ततीति ।
यादृक्क तादृगथ शङ्करलिङ्गसङ्ग-
भङ्गीनि पापकलशैलकुलानि सद्यः ।
श्रीमृत्युञ्जय रञ्जय त्रिभुवनाध्यक्ष प्रभो पाहि नः ॥ ४१.४६ ॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
ग्रन्थप्रशस्तिनिरूपणं नाम एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

४२ ॥ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
श्रुतं किञ्चिन्मया प्रोक्तं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ।
मनसा धारितं ब्रह्म चित्तं कीदृक् स्थितं वद ॥ ४२.१ ॥

निदाघः -
शृणु त्वं सुगुरो ब्रह्मंस्त्वत्प्रसादाद्वदाम्यहम् ।
ममाज्ञानं महादोषं महाज्ञाननिरोधकम् ॥ ४२.२ ॥

सदा कर्मणि विश्वासं प्रपञ्चे सत्यभावनम् ।
नष्टं सर्वं क्षणादेव त्वत्प्रसादान्महद्भयम् ॥ ४२.३ ॥

एतावन्तमिमं कालमज्ञानरिपुणा हृतम् ।
महद्भयं च नष्टं मे कर्मतत्त्वं च नाशितम् ॥ ४२.४ ॥

अज्ञानं मनसा पूर्वमिदानीं ब्रह्मतां गतम् ।
पुराहं चित्तवद्भूतः इदानीं सन्मयोऽभवम् ॥ ४२.५ ॥

पूर्वमज्ञानवद्भावं इदानीं सन्मयं गतम् ।
अज्ञानवत् स्थितोऽहं वै ब्रह्मैवाहं परं गतः ॥ ४२.६ ॥

पुराऽहं चित्तवद्भ्रान्तो ब्रह्मैवाहं परं गतः ।
सर्वो विगलितो दोषः सर्वो भेदो लयं गतः ॥ ४२.७ ॥

सर्वः प्रपञ्चो गलितश्चित्तमेव हि सर्वगम् ।
सर्वान्तःकरणं लीनं ब्रह्मसद्भावभावनात् ॥ ४२.८ ॥

अहमेव चिदाकाश अहमेव हि चिन्मयः ।
अहमेव हि पूर्णात्मा अहमेव हि निर्मलः ॥ ४२.९ ॥

अहमेवाहमेवेति भावनापि विनिर्गता ।
अहमेव चिदाकाशो ब्राह्मणत्वं न किञ्चन ॥ ४२.१० ॥

शूद्रोऽहं श्वपचोऽहं वै वर्णी चापि गृहस्थकः ।

वानप्रस्थो यतिरहमित्ययं चित्तविभ्रमः ॥ ४२.११॥

तत्तदाश्रमकर्माणि चित्तेन परिकल्पितम् ।
अहमेव हि लक्ष्यात्मा अहमेव हि पूर्णकः ॥ ४२.१२॥

अहमेवान्तरात्मा हि अहमेव परायणम् ।
अहमेव सदाधार अहमेव सुखात्मकः ॥ ४२.१३॥

त्वत्प्रसादादहं ब्रह्मा त्वत्प्रसादाज्जनार्दनः ।
त्वत्प्रसादाच्चिदाकाशः शिवोऽहं नात्र संशयः ॥ ४२.१४॥

त्वत्प्रसादादहं चिद्वै त्वत्प्रसादान्न मे जगत् ।
त्वत्प्रसादाद्विमुक्तोऽस्मि त्वत्प्रसादात् परं गतः ॥ ४२.१५॥

त्वत्प्रसादाद्व्यापकोऽहं त्वत्प्रसादान्निरङ्कुशः ।
त्वत्प्रसादेन तीर्णोऽहं त्वत्प्रसादान्महत्सुखम् ॥ ४२.१६॥

त्वत्प्रसादादहं ब्रह्म त्वत्प्रसादात् त्वमेव न ।
त्वत्प्रसादादिदं नास्ति त्वत्प्रसादान्न किञ्चन ॥ ४२.१७॥

त्वत्प्रसादान्न मे किञ्चित् त्वत्प्रसादान्न मे विपत् ।
त्वत्प्रसादान्न मे भेदस्त्वत्प्रसादान्न मे भयम् ॥ ४२.१८॥

त्वत्प्रसादान्नमे रोगस्त्वत्प्रसादान्न मे क्षतिः ।
यत्पादाम्बुजपूजया हरिरभूदर्च्यो यदंघ्र्यर्चना-
दर्च्योऽभूत् कमला विधिप्रभृतयो ह्यर्च्या यदाज्ञावशात् ।
तं कालान्तकमन्तकान्तकमुमाकान्तं मुहुः सन्ततं
सन्तः स्वान्तसरोजराजचरणाम्भोजं भजन्त्यादरात् ॥ ४२.१९॥

किं वा धर्मशतायुतार्जितमहासौख्यैकसीमायुतं
नाकं पातमहोग्रदुःखनिकरं देवेषु तुष्टिप्रदम् ।
तस्माच्छङ्करलिङ्गपूजनमुमाकान्तप्रियं मुक्तिदं
भूमानन्दघनैकमुक्तिपरमानन्दैकमोदं महः ॥ ४२.२०॥

ये शांभवाः शिवरताः शिवनाममात्र-
शब्दाक्षरज्ञहृदया भसितत्रिपुण्ड्राः ।
यां प्राप्नुवन्ति गतिमीशपदांबुजोद्यद्-
ध्यानानुरक्तहृदया न हि योगसांख्यैः ॥ ४२.२१॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
निदाघानुभववर्णनप्रकरणं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

४३ ॥ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

निदाघः -
न पश्यामि शरीरं वा लिङ्गं करणमेव वा ।
न पश्यामि मनो वापि न पश्यामि जडं ततः ॥ ४३.१॥

न पश्यामि चिदाकाशं न पश्यामि जगत् क्वचित् ।
न पश्यामि हरिं वापि न पश्यामि शिवं च वा ॥ ४३.२॥

आनन्दस्यान्तरे लग्नं तन्मयत्वान्न चोत्थितः ।
न पश्यामि सदा भेदं न जडं न जगत् क्वचित् ॥ ४३.३॥

न द्वैतं न सुखं दुःखं न गुरुर्न परापरम् ।
न गुणं वा न तुर्यं वा न बुद्धिर्न च संशयः ॥ ४३.४॥

न च कालं न च भयं न च शोकं शुभाशुभम् ।
न पश्यामि सन्दीनं न बन्धं न च संभवम् ॥ ४३.५॥

न देहेन्द्रियसद्भावो न च सद्वस्तु सन्मनः ।
न पश्यामि सदा स्थूलं न कृशं न च कुब्जकम् ॥ ४३.६॥

न भूमिर्न जलं नाग्निर्न मोहो न च मन्त्रकम् ।
न गुरुर्न च वाक्यं वा न दृढं न च सर्वकम् ॥ ४३.७॥

न जगच्छ्रवणं चैव निदिध्यासं न चापरः ।
आनन्दसागरे मग्नस्तन्मयत्वान्न चोत्थितः ॥ ४३.८॥

आनन्दोऽहमशेषोऽहमजोऽहममृतोस्म्यहम् ।
नित्योऽहमिति निश्चित्य सदा पूर्णोऽस्मि नित्यधीः ॥ ४३.९॥

पूर्णोऽहं पूर्णचित्तोऽहं पुण्योऽहं ज्ञानवानहम् ।
शुद्धोऽहं सर्वमुक्तोऽहं सर्वाकारोऽहमव्ययः ॥ ४३.१०॥

चिन्मात्रोऽहं स्वयं सोऽहं तत्त्वरूपोऽहमीश्वरः ।
परापरोऽहं तुर्योऽहं प्रसन्नोऽहं रसोऽस्म्यहम् ॥ ४३.११॥

ब्रह्माऽहं सर्वलक्ष्योऽहं सदा पूर्णोऽहमक्षरः ।
ममानुभवरूपं यत् सर्वमुक्तं च सद्गुरो ॥ ४३.१२॥

नमस्करोमि ते नाहं सर्वं च गुरुदक्षिणा ।
मद्देहं त्वत्पदे दत्तं त्वया भस्मीकृतं क्षणात् ॥ ४३.१३॥

ममात्मा च मया दत्तः स्वयमात्मनि पूरितः ।
त्वमेवाहमहं च त्वमहमेव त्वमेव हि ॥ ४३.१४॥

ऐक्यार्णवनिमग्नोऽस्मि ऐक्यज्ञानं त्वमेव हि ।
एकं चैतन्यमेवाहं त्वया गन्तुं न शक्यते ॥ ४३.१५॥

गन्तव्यदेशो नास्त्येव एकाकारं न चान्यतः ।
त्वया गन्तव्यदेशो न मया गन्तव्यमस्ति न ॥ ४३.१६॥

एकं कारणमेकं च एकमेव द्वयं न हि ।
त्वया वक्तव्यकं नास्ति मया श्रोतव्यमप्यलम् ॥ ४३.१७॥

त्वमेव सद्गुरुर्नासि अहं नास्मि सशिष्यकः ।
ब्रह्ममात्रमिदं सर्वमस्मिन्मानोऽस्मि तन्मयः ॥ ४३.१८॥

भेदाभेदं न पश्यामि कार्याकार्यं न किञ्चन ।
ममैव चेन्नमस्कारो निष्प्रयोजन एव हि ॥ ४३.१९॥

तवैव चेन्नमस्कारो भिन्नत्वान्न फलं भवेत् ।
तव चेन्मम चेद्भेदः फलाभावो न संशयः ॥ ४३.२०॥

नमस्कृतोऽहं युष्माकं भवानङ्गीति वक्ष्यति ।
ममैवापकरिष्यामि परिच्छिन्नो भवाम्यहम् ॥ ४३.२१॥

ममैव चेन्नमस्कारः फलं नास्ति स्वतः स्थिते ।
कस्यापि च नमस्कारः कदाचिदपि नास्ति हि ॥ ४३.२२॥

सदा चैतन्यमात्रत्वात् नाहं न त्वं न हि द्वयम् ।
न बन्धं न परो नान्ये नाहं नेदं न किञ्चन ॥ ४३.२३॥

न द्वयं नैकमद्वैतं निश्चितं न मनो न तत् ।
न बीजं न सुखं दुःखं नाशं निष्ठा न सत्सदा ॥ ४३.२४॥

नास्ति नास्ति न सन्देहः केवलात् परमात्मनि ।
न जीवो नेश्वरो नैको न चन्द्रो नाग्निलक्षणः ॥ ४३.२५॥

न वार्ता नेन्द्रियो नाहं न महत्त्वं गुणान्तरम् ।
न कालो न जगन्नान्यो न वा कारणमद्वयम् ॥ ४३.२६॥

नोन्नतोऽत्यन्तहीनोऽहं न मुक्तस्त्वत्प्रसादतः ।
सर्वं नास्त्येव नास्त्येव सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ ४३.२७॥

अहं ब्रह्म इदं ब्रह्म आत्म ब्रह्माहमेव हि ।
सर्वं ब्रह्म न सन्देहस्त्वत्प्रसादान्महेश्वरः ॥ ४३.२८॥

त्वमेव सद्गुरुर्ब्रह्म न हि सद्गुरुरन्यतः ।
आत्मैव सद्गुरुर्ब्रह्म शिष्यो ह्यात्मैव सद्गुरुः ॥ ४३.२९॥

गुरुः प्रकल्पते शिष्यो गुरुहीनो न शिष्यकः ।
शिष्ये सति गुरुः कल्प्यः शिष्याभावे गुरुर्न हि ॥ ४३.३०॥

गुरुशिष्यविहीनात्मा सर्वत्र स्वयमेव हि ।
चिन्मात्रात्मनि कल्प्योऽहं चिन्मात्रात्मा न चापरः ॥ ४३.३१॥

चिन्मात्रात्माहमेवैको नान्यत् किञ्चिन्न विद्यते ।
सर्वस्थितोऽहं सततं नान्यं पश्यामि सद्गुरोः ॥ ४३.३२॥

नान्यत् पश्यामि चित्तेन नान्यत् पश्यामि किञ्चन ।
सर्वाभावान्न पश्यामि सर्वं चेद् दृश्यतां पृथक् ॥ ४३.३३॥

एवं ब्रह्म प्रपश्यामि नान्यदस्तीति सर्वदा ।
अहो भेदं प्रकुपितं अहो माया न विद्यते ॥ ४३.३४॥

अहो सद्गुरुमाहात्म्यमहो ब्रह्मसुखं महत् ।
अहो विज्ञानमाहात्म्यमहो सज्जनवैभवः ॥ ४३.३५॥

अहो मोहविनाशश्च अहो पश्यामि सत्सुखम् ।
अहो चित्तं न पश्यामि अहो सर्वं न किञ्चन ॥ ४३.३६॥

अहमेव हि नान्यत्र अहमानन्द एव हि ।
ममान्तःकरणे यद्यन्निश्चितं भवदीरितम् ॥ ४३.३७॥

सर्वं ब्रह्म परं ब्रह्म न किञ्चिदन्यदैवतम् ।
एवं पश्यामि सततं नान्यत् पश्यामि सद्गुरो ॥ ४३.३८॥

एवं निश्चित्य तिष्ठामि स्वस्वरूपे ममात्मनि ॥ ४३.३९॥

अगाधवेदवाक्यतो न चाधिभेषजं भवे-
दुमाधवाङ्घ्रिपङ्कजस्मृतिः प्रबोधमोक्षदा ।
प्रबुद्धभेदवासनानिरुद्धहृत्तमोभिदे
महारुजाघवैद्यमीश्वरं हृदम्बुजे भजे ॥ ४३.४०॥

द्यतत्प्रदग्धकामदेह दुग्धसन्निभं प्रमुग्धसामि ।
सोमधारिणं श्रुतीड्यगद्यसंस्तुतं त्वभेद्यमेकशङ्करम् ॥ ४३.४१॥

वरः कङ्कः काको भवदुभयजातेषु नियतं
महाशङ्कातङ्कैर्विधिविहितशान्तेन मनसा ।
यदि स्वैरं ध्यायन्नगपतिसुतानायकपदं
स एवायं धुर्यो भवति मुनिजातेषु नियतम् ॥ ४३.४२॥

कः कालान्तकपादपद्मभजनादन्यद्धृदा कष्टदां

धर्माभासपरंपरां प्रथयते मूर्खो खरीं तौरगीम् ।
कर्तुं यत्नशतैरशक्यकरणैर्विन्देत दुःखादिकंvar was दुःखाधिकम्
तद्वत् सांबपदांबुजार्चनरतिं त्यक्त्वा वृथा दुःखभाक् ॥ ४३.४३॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
निदाघानुभववर्णनप्रकरणं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

४४ ॥ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

निदाघः -
शृणुश्व सद्गुरो ब्रह्मन् त्वत्प्रसादान्विनिश्चितम् ।
अहमेव हि तद्ब्रह्म अहमेव हि केवलम् ॥ ४४.१॥

अहमेव हि नित्यात्मा अहमेव सदाऽजरः ।
अहमेव हि शान्तात्मा अहमेव हि निष्कलः ॥ ४४.२॥

अहमेव हि निश्चिन्तः अहमेव सुखात्मकः ।
अहमेव गुरुस्त्वं हि अहं शिष्योऽस्मि केवलम् ॥ ४४.३॥

अहमानन्द एवात्मा अहमेव निरञ्जनः ।
अहं तुर्यातिगो ह्यात्मा अहमेव गुणोज्झितः ॥ ४४.४॥

अहं विदेह एवात्मा अहमेव हि शङ्करः ।
अहं वै परिपूर्णात्मा अहमेवेश्वरः परः ॥ ४४.५॥

अहमेव हि लक्ष्यात्मा अहमेव मनोमयः ।
अहमेव हि सर्वात्मा अहमेव सदाशिवः ॥ ४४.६॥

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा अहमिन्द्रस्त्वहं सुराः ।
अहं वै यक्षरक्षांसि पिशाचा गुह्यकास्तथा ॥ ४४.७॥

अहं समुद्राः सरित अहमेव हि पर्वताः ।
अहं वनानि भुवनं अहमेवेदमेव हि ॥ ४४.८॥

नित्यतृप्तो ह्यहं शुद्धबुद्धोऽहं प्रकृतेः परः ।
अहमेव हि सर्वत्र अहमेव हि सर्वगः ॥ ४४.९॥

अहमेव महानात्मा सर्वमङ्गलविग्रहः ।
अहमेव हि मुक्तोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमः शिवः ॥ ४४.१०॥

अहं भूमिरहं वायुरहं तेजो ह्यहं नभः ।
अहं जलमहं सूर्यश्चन्द्रमा भगणा ह्यहम् ॥ ४४.११॥

अहं लोका अलोकाश्च अहं लोक्या अहं सदा ।
अहमात्मा पारदृश्य अहं प्रज्ञानविग्रहः ॥ ४४.१२॥

अहं शून्यो अशून्योऽहं सर्वानन्दमयोऽस्म्यहम् ।
शुभाशुभफलातीतो ह्यहमेव हि केवलम् ॥ ४४.१३॥

अहमेव ऋतं सत्यमहं सच्चित्सुखात्मकः ।
अहमानन्द एवात्मा बहुधा चैकधा स्थितः ॥ ४४.१४॥

अहं भूतभविष्यं च वर्तमानमहं सदा ।
अहमेको द्विधाहं च बहुधा चाहमेव हि ॥ ४४.१५॥

अहमेव परं ब्रह्म अहमेव प्रजापतिः ।
स्वराट् सम्राड् जगद्योनिरहमेव हि सर्वदा ॥ ४४.१६॥

अहं विश्वस्तैजसश्च प्राज्ञोऽहं तुर्य एव हि ।
अहं प्राणो मनश्चाहमहमिद्रियवर्गकः ॥ ४४.१७॥

अहं विश्वं हि भुवनं गगनात्माहमेव हि ।
अनुपाधि उपाध्यं यत्तत्सर्वमहमेव हि ॥ ४४.१८॥

उपाधिरहितश्चाहं नित्यानन्दोऽहमेव हि ।
एवं निश्चयवानन्तः सर्वदा सुखमश्नुते ।
एवं यः शृणुयान्नित्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४.१९॥

नित्योऽहं निर्विकल्पो जनवनभुवने पावनोऽहं मनीषी
विश्वो विश्वातिगोऽहं प्रकृतिविनिकृतो एकधा संस्थितोऽहम् ।
नानाकारविनाशजन्मरहितस्वज्ञानकार्योज्झितैः
भूमानन्दघनोऽस्म्यहं परशिवः सत्यस्वरूपोऽस्म्यहम् ॥ ४४.२०॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
निदाघानुभववर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

४५ ॥ पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

निदाघः -
पुण्ये शिवरहस्येऽस्मिन्नितिहासे शिवोदिते ।
देव्यै शिवेन कथिते देव्या स्कन्दाय मोदतः ॥ ४५.१॥

तदेतस्मिन् हि षष्ठांशे षडास्यकमलोदिते ।
पारमेश्वरविज्ञानं श्रुतमेतन्महाघभित् ॥ ४५.२॥

महामायातमस्तोमविनिवारणभास्करम् ।

अस्याध्यायैककथनाद् विज्ञानं महदश्नुते ॥ ४५.३॥

श्लोकस्य श्रवणेनापि जीवन्मुक्तो न संशयः ।
एतद्ग्रन्थप्रवक्ता हि षण्मुखः शिव एव हि ॥ ४५.४॥

जैगीषव्यो महायोगी स एव श्रवणेऽर्हति ।
भस्मरुद्राक्षधृङ् नित्यं सदा ह्यत्याश्रमी मुनिः ॥ ४५.५॥

एतद्ग्रन्थप्रवक्ता हि स गुरुर्नात्र संशयः ।
एतद्ग्रन्थप्रवक्ता हि परं ब्रह्म न संशयः ॥ ४५.६॥

एतद्ग्रन्थप्रवक्ता हि शिव एव न चापरः ।
एतद्ग्रन्थप्रवक्ता हि साक्षाद्देवी न संशयः ॥ ४५.७॥

एतद्ग्रन्थप्रवक्ता हि गणेशो नात्र संशयः ।
एतद्ग्रन्थप्रवक्ता हि स्कन्दः स्कन्दिततारकः ॥ ४५.८॥

एतद्ग्रन्थप्रवक्ता हि नन्दिकेशो न संशयः ।
एतद्ग्रन्थप्रवक्ता हि दत्तात्रेयो मुनिः स्वयम् ॥ ४५.९॥

एतद्ग्रन्थप्रवक्ता हि दक्षिणामूर्तिरेव हि ।
एतद्ग्रन्थार्थकथने भावने मुनयः सुराः ॥ ४५.१०॥

न शक्ता मुनिशार्दूल त्वदृतेऽहं शिवं शपे ।
एतद्ग्रन्थार्थवक्तारं गुरुं सर्वात्मना यजेत् ॥ ४५.११॥

एतद्ग्रन्थप्रवक्ता तु शिवो विघ्नेश्वरः स्वयम् ।
पिता हि जन्मदो दाता गुरुर्जन्मविनाशकः ॥ ४५.१२॥

एतद्ग्रन्थं समभ्यस्य गुरोर्वाक्याद्विशेषतः ।
न दुह्येत गुरुं शिष्यो मनसा किञ्च कायतः ॥ ४५.१३॥

गुरुरेव शिवः साक्षात् गुरुरेव शिवः स्वयम् ।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥ ४५.१४॥

एतद्ग्रन्थपदाभ्यासे श्रद्धा वै कारणं परम् ।
अश्रद्धधानः पुरुषो नैतल्लेशमिहार्हति ॥ ४५.१५॥

श्रद्धैव परमं श्रेयो जीवब्रह्मैक्यकारणम् ।
अस्ति ब्रह्मेति च श्रुत्वा भावयन् सन्त एव हि ॥ ४५.१६॥

शिवप्रसादहीनो यो नैतद्ग्रन्थार्थविद्भवेत् ।
भावग्राह्योऽयमात्मायं पर एकः शिवो ध्रुवः ॥ ४५.१७॥

सर्वमन्यत् परित्यज्य ध्यायीतेशानमव्ययम् ।

शिवज्ञानमिदं शुद्धं द्वैताद्वैतविनाशनम् ॥ ४५.१८॥

अन्येषु च पुराणेषु इतिहासेषु न क्वचित् ।
एतादृशं शिवज्ञानं श्रुतिसारमहोदयम् ॥ ४५.१९॥

उक्तं साक्षाच्छिवेनैतद् योगसांख्यविवर्जितम् ।
भावनामात्रसुलभं भक्तिगम्यमनामयम् ॥ ४५.२०॥

महानन्दप्रदं साक्षात् प्रसादेनैव लभ्यते ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ४५.२१॥

एतद्ग्रन्थं गुरोः श्रुत्वा न पूजां कुरुते यदि ।
श्वानयोनिशतं प्राप्य चण्डालः कोटिजन्मसु ॥ ४५.२२॥

एतद्ग्रन्थस्य माहात्म्यं न यजन्तीश्वरं हृदा ।
स सूकरो भवत्येव सहस्रपरिवत्सरान् ॥ ४५.२३॥

एतद्ग्रन्थार्थवक्तारमभ्यसूयेत यो द्विजः ।
अनेकब्रह्मकल्पं च विष्ठायां जायते क्रिमिः ॥ ४५.२४॥

एतद्ग्रन्थार्थविद्ब्रह्मा स ब्रह्म भवति स्वयम् ।
किं पुनर्बहुनोक्तेन ज्ञानमेतद्विमुक्तिदम् ॥ ४५.२५॥

यस्त्वेतच्छृणुयाच्छिवोदिमहावेदान्तांबुधि (?)
वीचिजातपुण्यं नापेक्षत्यनिशं न चाब्दकल्पैः ।
शब्दानां निखिलो रसो हि स शिवः किं वा तुषाद्रि
परिखंडनतो भवेत् स्यात् तण्डुलोऽपि स मृषा भवमोहजालम् ॥ ४५.२६॥

तद्वत् सर्वमशास्त्रमित्येव हि सत्यं
द्वैतोत्थं परिहाय वाक्यजालम् ।
एवं त्वं त्वनिशं भजस्व नित्यं
शान्तोद्यखिलवाक् समूहभावना ॥ ४५.२७॥

सत्यत्वाभावभावितोऽनुरूपशीलः ।
सम्पश्यन् जगदिदमासमञ्जसं सदा हि ॥ ४५.२८॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
निदाघकृतगुरुस्तुतिवर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

४६ ॥ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

निदाघः -
एतद्ग्रन्थं सदा श्रुत्वा चित्तजाड्यमकुर्वतः ।

यावद्देहं सदा वित्तैः शुश्रूषेत् पूजयेद्गुरुम् ॥ ४६.१॥

तत्पूजयैव सततं अहं ब्रह्मेति निश्चिनु ।
नित्यं पूर्णोऽस्मि नित्योऽस्मि सर्वदा शान्तविग्रहः ॥ ४६.२॥

एतदेवात्मविज्ञानं अहं ब्रह्मेति निर्णयः ।
निरङ्कुशस्वरूपोऽस्मि अतिवर्णाश्रमी भव ॥ ४६.३॥

अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैः सर्वदा भस्मधारणम् ।
त्रियायुषैस्त्र्यंबकैश्च कुर्वन्ति च त्रिपुण्ड्रकम् ॥ ४६.४॥

त्रिपुण्ड्रधारिणामेव सर्वदा भस्मधारणम् ।
शिवप्रसादसम्पत्तिर्भविष्यति न संशयः ॥ ४६.५॥

शिवप्रसादादेतद्वै ज्ञानं सम्प्राप्यते ध्रुवम् ।
शिरोव्रतमिदं प्रोक्तं केवलं भस्मधारणम् ॥ ४६.६॥

भस्मधारणमात्रेण ज्ञानमेतद्भविष्यति ।
अहं वत्सरपर्यन्तं कृत्वा वै भस्मधारणम् ॥ ४६.७॥

त्वत्पादाब्जं प्रपन्नोऽस्मि त्वत्तो लब्धात्म निर्वृतिः ।
सर्वाधारस्वरूपोऽहं सच्चिदानन्दमात्रकम् ॥ ४६.८॥

ब्रह्मात्माहं सुलक्षण्यो ब्रह्मलक्षणपूर्वकम् ।
आनन्दानुभवं प्राप्तः सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ ४६.९॥

गुणरूपादिमुक्तोऽस्मि जीवन्मुक्तो न संशयः ।
मैत्र्यादिगुणसम्पन्नो ब्रह्मैवाहं परो महान् ॥ ४६.१०॥

समाधिमानहं नित्यं जीवन्मुक्तेषु सत्तमः ।
अहं ब्रह्मास्मि नित्योऽस्मि समाधिरिति कथ्यते ॥ ४६.११॥

प्रारब्धप्रतिबन्धश्च जीवन्मुक्तेषु विद्यते ।
प्रारब्धवशतो यद्यत् प्राप्यं भुङ्क्ते सुखं वस ॥ ४६.१२॥

दूषणं भूषणं चैव सदा सर्वत्र संभवेत् ।
स्वस्वनिश्चयतो बुद्ध्या मुक्तोऽहमिति मन्यते ॥ ४६.१३॥

अहमेव परं ब्रह्म अहमेव परा गतिः ।
एवं निश्चयवान् नित्यं जीवन्मुक्तेति कथ्यते ॥ ४६.१४॥

एतद्भेदं च सन्त्यज्य स्वरूपे तिष्ठति प्रभुः ।
इन्द्रियार्थविहीनोऽहमिन्द्रियार्थविवर्जितः ॥ ४६.१५॥

सर्वेन्द्रियगुणातीतः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ।

सर्वस्य प्रभुरेवाहं सर्वं मय्येव तिष्ठति ॥ ४६.१६॥

अहं चिन्मात्र एवास्मि सच्चिदानन्दविग्रहः ।
सर्वं भेदं सदा त्यक्त्वा ब्रह्मभेदमपि त्यजेत् ॥ ४६.१७॥

अजस्रं भावयन् नित्यं विदेहो मुक्त एव सः ।
अहं ब्रह्म परं ब्रह्म अहं ब्रह्म जगत्प्रभुः ॥ ४६.१८॥

अहमेव गुणातीतः अहमेव मनोमयः ।
अहं मय्यो मनोमेयः प्राणमेयः सदामयः ॥ ४६.१९॥

सदृङ्मयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः सभूतोमृतमेव हि ।
अहं सदानन्दधनोऽव्ययः सदा ।
स वेदमय्यो प्रणवोऽहमीशः ॥ ४६.२०॥

अपाणिपादो जवनो गृहीता
अपश्यः पश्याम्यात्मवत् सर्वमेव ।
यत्तद्भूतं यच्च भव्योऽहमात्मा
सर्वातीतो वर्तमानोऽहमेव ॥ ४६.२२॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
ज्ञानोपायभूतशिवव्रतनिरूपणं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

४७ ॥ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

ऋभुः -
निदाघ श्रृणु वक्ष्यामि दृढीकरणमस्तु ते ।
शिवप्रसादपर्यन्तमेवं भावय नित्यशः ॥ ४७.१॥

अहमेव परं ब्रह्म अहमेव सदाशिवः ।
अहमेव हि चिन्मात्रमहमेव हि निर्गुणः ॥ ४७.२॥

अहमेव हि चैतन्यमहमेव हि निष्कलः ।
अहमेव हि शून्यात्मा अहमेव हि शाश्वतः ॥ ४७.३॥

अहमेव हि सर्वात्मा अहमेव हि चिन्मयः ।
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव महेश्वरः ॥ ४७.४॥

अहमेव जगत्साक्षी अहमेव हि सद्गुरुः ।
अहमेव हि मुक्तात्मा अहमेव हि निर्मलः ॥ ४७.५॥

अहमेवाहमेवोक्तः अहमेव हि शङ्करः ।
अहमेव हि महाविष्णुरहमेव चतुर्मुखः ॥ ४७.६॥

अहमेव हि शुद्धात्मा ह्यहमेव ह्यहं सदा ।
अहमेव हि नित्यात्मा अहमेव हि मत्परः ॥ ४७.७॥

अहमेव मनोरूपं अहमेव हि शीतलः ।
अहमेवान्तर्यामी च अहमेव परेश्वरः ॥ ४७.८॥

एवमुक्तप्रकारेण भावयित्वा सदा स्वयम् ।
द्रव्योऽस्ति चेन्न कुर्यात्तु वंचकेन गुरुं परम् ॥ ४७.९॥

कुम्भीपाके सुघोरे तु तिष्ठत्येव हि कल्पकान् ।
श्रुत्वा निदाघश्चोत्थाय पुत्रदारान् प्रदत्तवान् ॥ ४७.१०॥

स्वशरीरं च पुत्रत्वे दत्वा सादरपूर्वकम् ।
धनधान्यं च वस्त्रादीन् दत्वाऽतिष्ठत् समीपतः ॥ ४७.११॥

गुरोस्तु दक्षिणां दत्वा निदाघस्तुष्टवानृभुम् ।
सन्तुष्टोऽस्मि महाभाग तव शुश्रूषया सदा ॥ ४७.१२॥

ब्रह्मविज्ञानमाप्तोऽसि सुकृतार्थो न संशयः ।
ब्रह्मरूपमिदं चेति निश्चयं कुरु सर्वदा ॥ ४७.१३॥

निश्चयादपरो मोक्षो नास्ति नास्तीति निश्चिनु ।
निश्चयं कारणं मोक्षो नान्यत् कारणमस्ति वै ॥ ४७.१४॥

सकलभुवनसारं सर्ववेदान्तसारं
समरसगुरुसारं सर्ववेदार्थसारम् ।
सकलभुवनसारं सच्चिदानन्दसारं
समरसजयसारं सर्वदा मोक्षसारम् ॥ ४७.१५॥

सकलजननमोक्षं सर्वदा तुर्यमोक्षं
सकलसुलभमोक्षं सर्वसाम्राज्यमोक्षम् ।
विषयरहितमोक्षं वित्तसंशोषमोक्षं
श्रवणमननमात्रादेतदत्यन्तमोक्षम् ॥ ४७.१६॥

तच्छुश्रूषा च भवतः तच्छ्रुत्वा च प्रपेदिरे ।
एवं सर्ववचः श्रुत्वा निदाघऋषिदर्शितम् ।
शुकादयो महान्तस्ते परं ब्रह्ममवाप्नुवन् ॥ ४७.१७॥

श्रुत्वा शिवज्ञानमिदं ऋभुस्तदा
निदाघमाहेत्थं मुनीन्द्रमध्ये ।
मुदा हि तेऽपि श्रुतिशब्दसारं

श्रुत्वा प्रणम्याहुरतीव हर्षात् ॥ ४७.१८॥

मुनयः -
पिता माता भ्राता गुरुरसि वयस्योऽथ हितकृत्
अविद्याब्धेः पारं गमयसि भवानेव शरणम् ।
बलेनास्मान् नीत्वा मम वचनबलेनैव सुगमं
पथं प्राप्त्यैवार्थैः शिववचनतोऽस्मान् सुखयसि ॥ ४७.१९॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
ऋभुकृतसंग्रहोपदेशवर्णनं नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

४८ ॥ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

स्कन्दः -
ज्ञानाङ्गसाधनं वक्ष्ये शृणु वक्ष्यामि ते हितम् ।
यत् कृत्वा ज्ञानमाप्नोति तत् प्रादात् परमेष्ठिनः ॥ ४८.१॥

जैगीषव्य शृणुष्वैतत् सावधानेन चेतसा ।
प्रथमं वेदसम्प्रोक्तं कर्माचरणमिष्यते ॥ ४८.२॥

उपनीतो द्विजो वापि वैश्यः क्षत्रिय एव वा ।
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मधृक् पूयते त्वघैः ॥ ४८.३॥

त्रियायुषैस्त्र्यम्बकैश्च त्रिपुण्ड्रं भस्मनाऽऽचरेत् ।
लिङ्गार्चनपरो नित्यं रुद्राक्षान् धारयन् क्रमैः ॥ ४८.४॥

कण्ठे बाह्वोर्वक्षसी च मालाभिः शिरसा तथा ।
त्रिपुण्ड्रवद्धारयेत रुद्राक्षान् क्रमशो मुने ॥ ४८.५॥

एकाननं द्विवक्त्रं वा त्रिवक्त्रं चतुरास्यकम् ।
पञ्चवक्त्रं च षट् सप्त तथाष्टदशकं नव ॥ ४८.६॥

एकादशं द्वादशं वा तथोर्ध्वं धारयेत् क्रमात् ।
भस्मधारणमात्रेण प्रसीदति महेश्वरः ॥ ४८.७॥

रुद्राक्षधारणादेव नरो रुद्रत्वमाप्नुयात् ।
भस्मरुद्राक्षधृङ्मर्त्यो ज्ञानाङ्गी भवति प्रियः ॥ ४८.८॥

रुद्राध्यायी भस्मनिष्ठः पञ्चाक्षरजपाधरः ।
भस्मोद्धूलितदेहोऽयं श्रीरुद्रं प्रजपन् द्विजः ॥ ४८.९॥

सर्वपापैर्विमुक्तश्च ज्ञाननिष्ठो भवेन्मुने ।
भस्मसंछन्नसर्वाङ्गो भस्मफालत्रिपुण्ड्रकः ॥ ४८.१०॥

वेदमौलिजवाक्येषु विचाराधिकृतो भवेत् ।
नान्यपुण्ड्रधरो विप्रो यतिर्वा विप्रसत्तम ॥ ४८.११॥

शमादिनियमोपेतः क्षमायुक्तोऽप्यसंस्कृतः ।
शिरोव्रतमिदं प्रोक्तं भस्मधारणमेव हि ॥ ४८.१२॥

शिरोव्रतं च विधिवद्यैश्चीर्णं मुनिसत्तम ।
तेषामेव ब्रह्मविद्यां वदेत गुरुरास्तिकः ॥ ४८.१३॥

शांभवा एव वेदेषु निष्ठा नष्टाशुभाः परम् ।
शिवप्रसादसम्पन्नो भस्मरुद्राक्षधारकः ॥ ४८.१४॥

रुद्राध्यायजपासक्तः पञ्चाक्षरपरायणः ।
स एव वेदवेदान्तश्रवणेऽधिकृतो भवेत् ॥ ४८.१५॥

नान्यपुण्ड्रधरो विप्रः कृत्वापि श्रवणं बहु ।
नैव लभ्येत तद्ज्ञानं प्रसादेन विनेशितुः ॥ ४८.१६॥

प्रसादजनकं शम्भोर्भस्मधारणमेव हि ।
शिवप्रसादहीनानां ज्ञानं नैवोपजायते ॥ ४८.१७॥

प्रसादे सति देवस्य विज्ञानस्फुरणं भवेत् ।
रुद्राध्यायजापिनां तु भस्मधारणपूर्वकम् ॥ ४८.१८॥

प्रसादो जायते शम्भोः पुनरावृत्तिवर्जितः ।
प्रसादे सति देवस्य वेदान्तस्फुरणं भवेत् ॥ ४८.१९॥

तस्यैवाकथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।
पञ्चाक्षरजपादेव पञ्चास्यध्यानपूर्वकम् ॥ ४८.२०॥

तस्यैव भवति ज्ञानं शिवप्रोक्तमिदं ध्रुवम् ।
सर्वं शिवात्मकं भाति जगदेतत् चराचरम् ॥ ४८.२१॥

स प्रसादो महेशस्य विज्ञेयः शांभवोत्तमैः ।
शिवलिङ्गार्चनादेव प्रसादः शांभवोत्तमे ॥ ४८.२२॥

नियमाद्बिल्वपत्रैश्च भस्मधारणपूर्वकम् ।
प्रसादो जायते शम्भोः साक्षाद्ज्ञानप्रकाशकः ॥ ४८.२३॥

शिवक्षेत्रनिवासेन ज्ञानं सम्यक् दृढं भवेत् ।
शिवक्षेत्रनिवासे तु भस्मधार्यधिकारवान् ॥ ४८.२४॥

नक्ताशनार्चनादेव प्रीयेत भगवान् भवः ।
प्रदोषपूजनं शंभोः प्रसादजनकं परम् ॥ ४८.२५॥

सोमवारे निशीथेषु पूजनं प्रियमीशितुः ।
भूतायां भूतनाथस्य पूजनं परमं प्रियम् ॥ ४८.२६॥

शिवशब्दोच्चारणं च प्रसादजनकं महत् ।
ज्ञानाङ्गसाधनेष्वेवं शिवभक्तार्चनं महत् ॥ ४८.२७॥

भक्तानामर्चनादेव शिवः प्रीतो भविष्यति ।
इत्येतत्तं समासेन ज्ञानाङ्गं कथितं मया ।
अकैतवेन भावेन श्रवणीयो महेश्वरः ॥ ४८.२८॥

सूतः -
यः कोऽपि प्रसभं प्रदोषसमये बिल्वीदलालङ्कृतं
लिङ्गं तुङ्गमपारपुण्यविभवैः पश्येदथार्चेत वा ।
प्राप्तं राज्यमवाप्य कामहृदयस्तुष्येदकामो यदि
मुक्तिद्वारमपावृतं स तु लभेत् शम्भोः कटाक्षाङ्कुरैः ॥ ४८.२९॥

अचलातुलराजकन्यकाकुचलीलामलबाहुजालमीशम् ।
भजतामनलाक्षिपादपद्मं भवलीलं न भवेत चित्तबालम् ॥ ४८.३०॥

भस्मत्रिपुण्ड्ररचिताङ्गकबाहुफाल-
रुद्राक्षजालकवचाः श्रुतिसूक्तिमालाः ।
वेदोरुरत्नपदकाङ्कितशम्भुनाम-
लोला हि शांभववराः परिशीलयन्ति ॥ ४८.३१॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे ऋभुनिदाघसंवादे
स्कन्दकृतशिवव्रतोपदेशवर्णनं नाम अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

४९ ॥ एकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥

स्कन्दः -
पुरा मगधदेशीयो ब्राह्मणो वेदपारगः ।
उचथ्यतनयो वाग्मी वेदार्थप्रवणे धृतः ॥ ४९.१॥

नाम्ना सुदर्शनो विप्रान् पाठयन् शास्त्रमुत्तमम् ।
वेदान्तपरया भक्त्या वर्णाश्रमरतः सदा ॥ ४९.२॥

मोक्षमिच्छेदपि सदा विप्रोऽपि च जनार्दनात् ।
विष्णुपूजापरो नित्यं विष्णुक्षेत्रेषु संवसन् ॥ ४९.३॥

गोपीचन्दनफालोसौ तुलस्यैवार्चयद्धरिम् ।
उवास नियतं विप्रो विष्णुध्यानपरायणः ॥ ४९.४॥

दशवर्षमिदं तस्य कृत्यं दृष्ट्वा जनार्दनः ।
मोक्षेच्छोराजुहावैनं पुरतोद्भूय तं द्विजम् ॥ ४९.५॥

विष्णुः -
औचथ्य मुनिशार्दूल तपस्यभिरतः सदा ।
वृणु कामं ददाम्येव विना ज्ञानं द्विजोत्तम ॥ ४९.६॥

सूतः -
इति विष्णोर्गिरं श्रुत्वा विप्रः किञ्चिद्भयान्वितः ।
प्रणिपत्याह तं विष्णुं स्तुवन्नारायणेति तम् ॥ ४९.७॥

सुदर्शनः -
विष्णो जिष्णो नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ।
त्वत्पादनलिनं प्राप्तो ज्ञानायानर्हणः किमु ॥ ४९.८॥

किमन्यैर्धर्मकामार्थैर्नश्वरैरिह शङ्खभृत् ।
इत्युक्तं तद्वचः श्रुत्वा विष्णु प्राह सुदर्शनम् ॥ ४९.९॥

विष्णुः -
सुदर्शन श्रृणुष्वैतन्मत्तो नान्यमना द्विज ।
वदामि ते हितं सत्यं मया प्राप्तं यथा तव ॥ ४९.१०॥

मदर्चनेन ध्यानेन मोक्षेच्छा जायते नृणाम् ।
मोक्षदाता महादेवो ज्ञानविज्ञानदायकः ॥ ४९.११॥

तदर्चनेन सम्प्राप्तं मया पूर्वं सुदर्शनम् ।
सहस्रारं दैत्यहन्तृ साक्षात् त्र्यक्षप्रपूजया ॥ ४९.१२॥

तमाराधय यत्नेन भस्मधारणपूर्वकम् ।
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैस्त्रियायुषत्रिपुण्ड्रकैः ॥ ४९.१३॥

रुद्राक्षधारको नित्यं रुद्रपञ्चाक्षरादरः ।
शिवलिङ्गं बिल्वपत्रैः पूजयन् ज्ञानवान् भव ॥ ४९.१४॥

वसन् क्षेत्रे महेशस्य स्नाहि तीर्थे च शाङ्करे ।
अहं ब्रह्मादयो देवाः पूजयैव पिनाकिनः ॥ ४९.१५॥

बलिनः शिवलिङ्गस्य पूजया विप्रसत्तम ।
यस्य फालतलं मेऽद्य त्रिपुण्ड्रपरिचिन्हितम् ॥ ४९.१६॥

ब्रह्मेन्द्रदेवमुनिभिस्त्रिपुण्ड्रं भस्मना धृतम् ।
पश्य वक्षसि बाह्वोर्मे रुद्राक्षाणां स्रजं शुभाम् ॥ ४९.१७॥

पञ्चाक्षरजपासक्तो रुद्राध्यायपरायणः ।
त्रिकालमर्चयामीशं बिल्वपत्रैरहं शिवम् ॥ ४९.१८॥

कमला विमला नित्यं कोमलैर्बिल्वपल्लवैः ।
पूजयत्यनिशं लिङ्गे तथा ब्रह्मादयः सुराः ॥ ४९.१९॥

मुनयो मनवोऽप्येवं तथान्ये द्विजसत्तमाः ।
नृपासुरास्तथा दैत्या बलिनः शिवपूजया ॥ ४९.२०॥

ज्ञानं मोक्षस्तथा भाग्यं लभ्यते शङ्करार्चनात् ।
तस्मात् त्वमपि भक्त्यैव समाराधय शङ्करम् ॥ ४९.२१॥

पशवो विष्णुविधयस्तथान्ये मुनयः सुराः ।
सर्वेषां पतिरीशानस्तत्प्रसादाद्विमुक्तिभाक् ॥ ४९.२२॥

प्रसादजनकं तस्य भस्मधारणमेव हि ।
प्रसादजनकं तस्य मुने रुद्राक्षधारणम् ॥ ४९.२३॥

प्रसादजनकस्तस्य रुद्राध्यायजपः सदा ।
प्रसादजनकस्तस्य पञ्चाक्षरजपो द्विज ॥ ४९.२४॥

प्रसादजनकं तस्य शिवलिङ्गैकपूजनम् ।
प्रसादे शांभवे जाते भुक्तिमुक्ती करे स्थिते ॥ ४९.२५॥

तस्य भक्त्यैव सर्वेषां मोचनं भवपाशतः ।
तस्य प्रीतिकरं साक्षाद्बिल्वैर्लिङ्गस्य पूजनम् ॥ ४९.२६॥

तस्य प्रीतिकरं साक्षाच्छिवक्षेत्रेषु वर्तनम् ।
तस्य प्रीतिकरं साक्षात् शिवतीर्थनिषेवणम् ॥ ४९.२७॥

तस्य प्रीतिकरं साक्षात् भस्मरुद्राक्षधारणम् ।
तस्य प्रीतिकरं साक्षात् प्रदोषे शिवपूजनम् ॥ ४९.२८॥

तस्य प्रीतिकरं साक्षाद् रुद्रपञ्चाक्षरावृतिः ।
तस्य प्रीतिकरं साक्षाच्छिवभक्तजनार्चनम् ॥ ४९.२९॥

तस्य प्रीतिकरं साक्षात् सोमे सायन्तनार्चनम् ।
तस्य प्रीतिकरं साक्षात् तन्निर्माल्यैकभोजनम् ॥ ४९.३०॥

तस्य प्रीतिकरं साक्षाद् अष्टमीष्वर्चनं निशि ।
तस्य प्रीतिकरं साक्षात् चतुर्दश्यर्चनं निशि ॥ ४९.३१॥

तस्य प्रीतिकरं साक्षात् तन्नाम्नां स्मृतिरेव हि ।
एतावानेन धर्मो हि शम्भोः प्रियकरो महान् ॥ ४९.३२॥

अन्यदभ्युदयं विप्र श्रुतिस्मृतिषु कीर्तितम् ।
धर्मो वर्णाश्रमप्रोक्तो मुनिभिः कथितो मुने ॥ ४९.३३॥

अविमुक्ते विशेषेण शिवो नित्यं प्रकाशते ।
तस्मात् काशीति तत् प्रोक्तं यतो हीशः प्रकाशते ॥ ४९.३४॥

तत्रैवामरणं तिष्ठेदिति जाबालिकी श्रुतिः ।
तत्र विश्वेश्वरे लिङ्गे नित्यं ब्रह्म प्रकाशते ॥ ४९.३५॥

तत्रान्नपूर्णा सर्वेषां भुक्त्यन्नं सम्प्रयच्छति ।
तत्रास्ति मणिकर्णाख्यं मणिकुण्डं विनिर्मितम् ॥ ४९.३६॥

ज्ञानोदयोऽपि तत्रास्ति सर्वेषां ज्ञानदायकः ।
तत्र याहि मया सार्धं तत्रैव वस वै मुने ॥ ४९.३७॥

तत्रान्ते मोक्षदं ज्ञानं ददातीश्वर एव हि ।
इत्युक्त्वा तेन विप्रेण ययौ काशीं हरिः स्वयम् ॥ ४९.३८॥

स्नात्वा तीर्थे चक्रसंज्ञे ज्ञानवाप्यां हरिर्द्विजः ।
तं द्विजं स्नापयामास भस्मनापादमस्तकम् ॥ ४९.३९॥

धृतत्रिपुण्ड्ररुद्राक्षं कृत्वा तं च सुदर्शनम् ।
पूजयच्चाथ विश्वेशं पूजयामास च द्विजान् ॥ ४९.४०॥

बिल्वैर्गन्धाक्षतैर्दीपैर्नैवेद्यैश्च मनोहरैः ।
तुष्टाव प्रणिपत्यैवं स द्विजो मधुसूदनः ॥ ४९.४१॥

सुदर्शनविष्णू -
भज भज भसितानलोज्वलाक्षं
भुजगाभोगभुजङ्गसङ्गहस्तम् ।
भवभीममहोग्ररुद्रमीड्यं
भवभर्जकतर्जकं महैनसाम् ॥ ४९.४२॥

वेदघोषभटकाटकावधृक् देहदाहदहनामल काल ।
जूटकोटिसुजटातटिद्युद्रागरञ्जितटिनीशशिमौले ॥ ४९.४३॥

शंबराङ्कवरभूष पाहि मामम्बरान्तरचरस्फुटवाह ।
वारिजाद्यघनघोष शङ्कर त्राहि वारिजभवेड्य महेश ॥ ४९.४४॥

मदगजवरकृत्तिवास शंभो
मधुमदनाक्षिसरोरुहार्च्यपाद ।
यममदमनान्धशिक्ष शंभो
पुरहर पाहि दयाकटाक्षसारैः ॥ ४९.४५॥

अपां पुष्पं मौलौ हिमभयहरः फालनयनः
जटाजूटे गङ्गाऽम्बुजविकसनः सव्यनयनः ।
गरं कण्ठे यस्य त्रिभुवनगुरोः शंबरहर
मतङ्गोद्यत्कृत्तेर्भवहरणपादाब्जभजनम् ॥ ४९.४६॥

श्रीबिल्वमूलशितिकण्ठमहेशलिङ्गं
बिल्वाम्बुजोत्तमवरैः परिपूज्य भक्त्या ।
स्तम्बेरमाङ्गवदनोत्तमसङ्गभङ्ग
राजद्विषाङ्गपरिसङ्गमहेशशाङ्गम् ॥ ४९.४७॥

यो गौरीरमणार्चनोद्यतमतिर्भूयो भवेच्छांभवो
भक्तो जन्मपरंपरासु तु भवेन्मुक्तोऽथ मुक्त्यङ्गना-
कान्तस्वान्तनितान्तशान्तहृदये कार्तान्तवार्तोज्झितः ।
विष्णुब्रह्मसुरेन्द्ररञ्जितमुमाकान्तांघ्रिपङ्केरुह-
ध्यानानन्दनिमग्नसर्वहृदयः किञ्चिन्न जानात्यपि ॥ ४९.४८॥

कामारातिपदाम्बुजार्चनरतः पापानुतापाधिक-
व्यापारप्रवणप्रकीर्णमनसा पुण्यैरगण्यैरपि ।
नो दूयेत विशेषसन्ततिमहासारानुकारादरा-
दाराग्राहकुमारमारसुशराद्याघातभीतैरपि ॥ ४९.४९॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे विष्णूचथ्यसंवादे
शिवस्य ज्ञानदातृत्वनिरूपणं नाम एकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥

---

५० ॥ पञ्चाशोऽध्यायः ॥

स्कन्दः -
विष्णुस्तवान्ते विप्रोऽसौ सुदर्शनसमाह्वयः ।
स्नात्वाऽथ मणिकर्ण्यां स भस्मरुद्राक्षभूषणः ॥ ५०.१॥

सञ्जपन् शतरुद्रीयं पञ्चाक्षरपरायणः ।
सम्पाद्य बिल्वपत्राणि कमलान्यमलान्यपि ॥ ५०.२॥

गन्धाक्षतैर्धूपदीपैर्नैवेद्यैर्विविधैरपि ।
विष्णूपदिष्टमार्गेण नित्यमन्तर्गृहस्य हि ॥ ५०.३॥

प्रदक्षिणं चकारासौ लिङ्गान्यभ्यर्चयंस्तथा ।
विश्वेश्वराविमुक्तेशौ वीरेशं च त्रिलोचनम् ॥ ५०.४॥

कृत्तिवासं वृद्धकाले केदारं शूलटङ्ककम् ।
रत्नेशं भारभूतेशं चन्द्रेशं सिद्धकेश्वरम् ॥ ५०.५॥

घण्टाकर्णेश्वरं चैव नारदेशं यमेश्वरम् ।
पुलस्तिपुलहेशं च विकर्णेशं फलेश्वरम् ॥ ५०.६॥

कद्रुद्रेशमखण्डेशं केतुमालिं गभस्तिकम् ।
यमुनेशं वर्णकेशं भद्रेशं ज्येष्ठशङ्करम् ॥ ५०.७॥

नन्दिकेशं च रामेशं करमर्देश्वरं तथा ।
आवर्देशं मतङ्गेशं वासुकीशं द्रुतीश्वरम् ॥ ५०.८॥

सूर्येशमर्यमेशं च तूणीशं गालवेश्वरम् ।
कण्वकात्यायनेशं च चन्द्रचूडेश्वरं तथा ॥ ५०.९॥

उदावर्तेश्वरं चैव तृणज्योतीश्वरं सदा ।
कङ्कणेशं तङ्कणेशं स्कन्देशं तारकेश्वरम् ॥ ५०.१०॥

जम्बुकेशं च ज्ञानेशं नन्दीशं गणपेश्वरम् ।
एतान्यन्तर्गृहे विप्रः पूजयन् परया मुदा ॥ ५०.११॥

ढुण्ढ्यादिगणपांश्चैव भैरवं चापि नित्यशः ।
अन्नपूर्णामन्नदात्रीं साक्षाल्लोकैकमातरम् ॥ ५०.१२॥

दण्डपाणिं क्षेत्रपालं सम्यगभ्यर्च्य तस्थिवान् ।
तीर्थान्यन्यान्यपि मुनिर्मणिकर्ण्यादि सत्तम ॥ ५०.१३॥

ज्ञानोदं सिद्धकूपं च वृद्धकूपं पिशाचकम् ।
ऋणमोचनतीर्थं च गर्गतीर्थं महत्तरम् ॥ ५०.१४॥

स्नात्वा सनियमं विप्रो नित्यं पञ्चनदे ह्रदे ।
किरणां धूतपापां च पञ्चगङ्गामपि द्विजः ॥ ५०.१५॥

गङ्गां मनोरमां तुङ्गां सर्वपापप्रणाशिनीम् ।
मुक्तिमण्टपमास्थाय स जपन् शतरुद्रियम् ॥ ५०.१६॥

अष्टोत्तरसहस्रं वै जपन् पञ्चाक्षरं द्विजः ।
पक्षे पक्षे तथा कुर्वन् पञ्चक्रोशप्रदक्षिणम् ॥ ५०.१७॥

अन्तर्गृहाद्बहिर्देशे चकारावसथं तदा ।
एवं संवसतस्तस्य कालो भूयानवर्तत ॥ ५०.१८॥

तत्र दृष्ट्वा तपोनिष्ठं सुदर्शनसमाह्वयम् ।
विष्णुस्तदा वै तं विप्रं समाहूय शिवार्चकम् ॥ ५०.१९॥

पुनः प्राह प्रसन्नेन चेतसा मुनिसत्तमम् ।

विष्णुः -
भोः सुदर्शनविप्रेन्द्र शिवार्चनपरायण ।
ज्ञानपात्रं भवानेव विश्वेशकृपयाऽधुना ॥ ५०.२०॥

त्वया तपांसि तप्तानि इष्टा यज्ञास्त्वयैव हि ।
अधीताश्च त्वया वेदाः काश्यां वासो यतस्तव ॥ ५०.२१॥

बहुभिर्जन्मभिर्येन कृतं क्षेत्रे महत्तपः ।
तस्यैव सिद्ध्यत्यमला काशीयं मुक्तिकाशिका ॥ ५०.२२॥

तव भाग्यस्य नान्तोऽस्ति मुने त्वं भाग्यवानसि ।
किञ्चैकं तव वक्ष्यामि हितमात्यन्तिकं शृणु ॥ ५०.२३॥

विश्वेशकृपया तेऽद्य मुक्तिरन्ते भविष्यति ।
रुद्राक्षनामपुण्यं यत् नाम्नां साहस्रमुत्तमम् ॥ ५०.२४॥

उपदेक्ष्यामि ते विप्र नामसाहस्रमीशितुः ।
तेनार्चयेशं विश्वेशं बिल्वपत्रैर्मनोहरैः ॥ ५०.२५॥

वर्षमेकं निराहारो विश्वेशं पूजयन् सदा ।
संवत्सरान्ते मुक्तस्त्वं भविष्यति न संशयः ॥ ५०.२६॥

त्वद्देहापगमे मन्त्रं पञ्चाक्षरमनुत्तमम् ।
ददाति देवो विश्वेशस्तेन मुक्तो भविष्यति ॥ ५०.२७॥

शैवेभ्यः सन्नजीवेभ्यो ददातीमं महामनुम् ।

स्कन्दः -
इति विष्णुवचः श्रुत्वा प्रणम्याह हरिं तदा ।
सुदर्शनो ययाचेत्थं नाम्नां साहस्रमुत्तमम् ॥ ५०.२८॥

भगवन् दैत्यवृन्दघ्न विष्णो जिष्णो नमोऽस्तु ते ।
सहस्रनाम्नां यद्दिव्यं विश्वेशस्याशु तद्वद ॥ ५०.२९॥

येन जप्तेन देवेशः पूजितो बिल्वपत्रकैः ।
ददाति मोक्षसाम्राज्यं देहान्ते तद्वदाशु मे ॥ ५०.३०॥

तदा विप्रवचः श्रुत्वा तस्मै चोपादिशत् स्वयम् ।
सहस्रनाम्नां देवस्य हिरण्यस्येत्यादि सत्तम ॥ ५०.३१॥

तेन सम्पूज्य विश्वेशं वर्षमेकमतन्द्रितः ।
कोमलारक्तबिल्वैश्च स्तोत्रेणानेन तुष्टुवे ॥ ५०.३२॥

सुदर्शनः -
आशीविषाङ्गपरिमण्डलकण्ठभाग-

राजत्सुसागरभवोग्रविषोरुशोभ ।
फालस्फुरज्ज्वलनदीप्तिविदीपिताशा-
शोकावकाश तपनाक्ष मृगाङ्कमौले ॥ ५०.३३॥

क्रुद्धोडुजायापतिधृतार्धशरीरशोभ
पाह्याशु शासितमखान्धकदक्षशत्रो ।
सुत्रामवज्रकरदण्डविखण्डितोरु-
पक्षाद्यघक्षितिधरोर्ध्वशयाव शंभो ॥ ५०.३४॥

उत्फुल्लहल्लकलसत्करवीरमाला-
भ्राजत्सुकन्धरशरीर पिनाकपाणे ।
चञ्चत्सुचन्द्रकलिकोत्तमचारुमौलिं
लिङ्गं कुलुञ्चपतिमम्बिकया समेतम् ॥ ५०.३५॥

छायाधवानुजलसच्छदनैः परिपूज्य भक्त्या
मुक्तेन स्वस्य च विराजितवंशकोट्या ।
सायं सङ्गवपुङ्गवोरुवहनं श्रीतुङ्गलिङ्गार्चकः
शाङ्गः पातकसङ्गभङ्गचतुरश्चासङ्गनित्यान्तरः ॥ ५०.३६॥

फालाक्षस्फुरदक्षिजस्फुरदुरुस्फूलिङ्गदग्धाङ्गका-
नङ्गोत्तुङ्गमतङ्गकृत्तिवसनं लिङ्गं भजे शाङ्करम् ।
अच्छाच्छागवहां सुरतामीक्षाशिनान्ते विभो
वृष्यं शाङ्करवाहनामनिरताः सोमं तथा वाजिनम् ॥ ५०.३७॥

त्यक्त्वा जन्मविनाशनं त्विति मुहुस्ते जिह्वया सत्तमाः
ये शंभोः सकृदेव नामनिरताः शाङ्गाः स्वतः पावनाः ॥ ५०.३८॥

मृगाङ्क मौलिमीश्वरं मृगेन्द्रशत्रुजत्वचम् ।
वसानमिन्दुसप्रभं मृगाद्यबालसत्करम् ।
भजे मृगेन्द्रसप्रभं ??? ??? ॥ ५०.३९॥

स्कन्दः -
एवं स्तुवन्तं विश्वेशं सुदर्शनमतन्द्रितम् ।
प्राहेत्थं शौरिमाभाष्य शंभोर्भक्तिविवर्धनम् ॥ ५०.४०॥

विष्णुः -
अत्रैवामरणं विप्र वस त्वं नियताशनः ।
नाम्नां सहस्रं प्रजपन् शतरुद्रीयमेव च ॥ ५०.४१॥

अन्तर्गृहात् बहिः स्थित्वा पूजयाशु महेश्वरम् ।
तवान्ते भूरिकरुणो मोक्षं दास्यत्यसंशयम् ॥ ५०.४२॥

स प्रणम्याह विश्वेशं दृष्ट्वा प्राह सुदर्शनम् ।
धन्यस्त्वं लिङ्गेऽप्यनुदिनगलितस्वान्तरङ्गाघसङ्घः
पुंसां वर्याद्यभक्त्या यमनियमवरैर्विश्ववन्द्यं प्रभाते ।
दत्वा बिल्ववरं सदंबुजदलं किञ्चिज्जलं वा मुहुः
प्राप्नोतीश्वरपादपङ्कजमुमानाथाद्य मुक्तिप्रदम् ॥ ५०.४३॥

को वा त्वत्सदृशो भवेदगपतिप्रेमैकलिङ्गार्चको
मुक्तानां प्रवरोर्ध्वकेशविलसच्छ्रीभक्तिबीजाङ्कुरैः ।
देवा वाप्यसुराः सुरा मुनिवरा भारा भुवः केवलं
वीरा वा करवीरपुष्पविलसन्मालाप्रदे नो समः ॥ ५०.४४॥

वने वा राज्ये वाप्यगपतिसुतानायकमहो
स्फुरल्लिङ्गार्चायां नियममतभावेन मनसा ।
हरं भक्त्या साध्य त्रिभुवनतृणाडम्बरवर-
प्ररूढैर्भाग्यैर्वा न हि खलु स सज्जेत भुवने ॥ ५०.४५॥

न दानैर्योगैर्वा विधिविहितवर्णाश्रमभरैः
अपारैर्वेदान्तप्रतिवचनवाक्यानुसरणैः ।
न मन्येऽहं स्वान्ते भवभजनभावेन मनसा
मुहुर्लिङ्गं शाङ्गं भजति परमानन्दकुहरः ॥ ५०.४६॥

शर्वं परवतनन्दिनीपतिमहानन्दाम्बुधेः पारगा
रागत्यागहृदा विरागपरमा भस्माङ्गरागादराः ।
मारापारशराभिघातरहिता धीरोरुधारारसैः
पारावारमहाघसंसृतिभरं तीर्णाः शिवाभ्यर्चनात् ॥ ५०.४७॥

मार्कण्डेयसुतं पुराऽन्तकभयाद्योऽरक्षदीशो हरः
तत्पादाम्बुजरागरञ्जितमना नाप्नोति किं वा फलम् ।
तं मृत्युञ्जयमञ्जसा प्रणमतामोजोजिमध्ये जयं
जेतारोतपराजयो जनिजरारोगैर्विमुक्तिं लभेत् ॥ ५०.४८॥

भूतायां भूतनाथं त्वघमतितिलकाकारभिल्लोत्थशल्यैः
धावन् भल्लूकपृष्ठे निशि किल सुमहद्व्याघ्रभीत्याऽरुरोह ।
बिल्वं नल्वप्रभं तच्छदघनमसकृत् पातयामास मूले
निद्रातन्द्रोज्झितोऽसौ मृगगणकलने मूललिङ्गेऽथ शाङ्गे ॥ ५०.४९॥

तेनाभूद्भगवान् गणोत्तमवरो मुक्ताघसङ्घस्तदा
चण्डांशोस्तनयेन पूजितपदः सारूप्यमापेशितुः ।
गङ्गाचन्द्रकलाकपर्दविलसत्फालस्फुलिङ्गोज्ज्वलद्
वालन्यङ्कुकराग्रसंगतमहाशूलाहि टंकोद्यतः ॥ ५०.५०॥

चैत्रे चित्रैः पातकैर्विप्रमुक्तो वैशाखे वै दुःखशाखाविमुक्तः ।
ज्येष्ठे श्रेष्ठो भवतेषाढमासि पुत्रप्राप्तिः श्रावणे श्रान्तिनाशः ॥ ५०.५१॥

भाद्रे भद्रो भवते चाश्विने वै अश्वप्राप्तिः कार्तिके कीर्तिलाभः ।
मार्गे मुक्तेर्मार्गमेतल्लभेत पुष्ये पुण्यं माघके चाघनाशः ॥ ५०.५२॥

फल्गु त्वंहो फाल्गुने मासि
नश्येदीशार्चातो बिल्वपत्रैश्चलिङ्गे ।
एवं तत्तन्मासि पूज्येशलिङ्गं
चित्रैः पापैर्विप्रमुक्तो द्विजेन्द्रः ॥ ५०.५३॥

दूर्वाङ्कुरैरभिनवैः शशिधामचूड-
लिङ्गार्चनेन परिशेषयदङ्कुराणि ।
संसारघोरतररूपकराणि सद्यः
मुक्त्यङ्कुराणि परिवर्धयतीह धन्यः ॥ ५०.५४॥

गोक्षीरेक्षुक्षौद्रखण्डाज्यदध्ना
सन्नारेलैः पानसाम्रादिसारैः ।
विश्वेशानं सत्सितारत्नतोयैः
गन्धोदैर्वा सिञ्च्य दोषैर्विमुक्तः ॥ ५०.५५॥

लिङ्गं चन्दनलेपसङ्गतमुमाकान्तस्य पश्यन्ति ये
ते संसारभुजङ्गभङ्गपतनानङ्गाङ्गसङ्गोज्झिताः ।
व्यङ्गं सर्वसमर्चनं भगवतः साङ्गं भवेच्छाङ्करं
शङ्गापाङ्गकृपाकटाक्षलहरी तस्मिंश्चिरं तिष्ठति ॥ ५०.५६॥

मुरलिसरलिरागैर्मर्दलैस्तालशङ्खैः
पटुपटहनिनादध्वान्तसन्धानघोषैः ।
दुन्दुभ्याघातवादैर्वरयुवतिमहानृत्तसंरंभरङ्गैः
दर्शोष्वादर्शदर्शो भगवति गिरिजानायके मुक्तिहेतुः ॥ ५०.५७॥

स्वच्छच्छत्रछवीनां विविधजितमहाच्छायया छन्नमैशं
शीर्षं विच्छिन्नपापो भवति भवहरः पूजकः शम्भुभक्त्या ।
चञ्चच्चन्द्राभकाण्डप्रविलसदमलस्वर्णरत्नाग्रभाभि-
र्दीप्यच्चामरकोटिभिः स्फुटपटघटितैश्चाकचक्यैः पताकैः ॥ ५०.५८॥

सम्पश्यारुणभूरुहोत्तमशिखासंलेढितारागणं
तारानाथकलाधरोरुसुमहालिङ्गौघसंसेवितम् ।
बिल्वानां कुलमेतदत्र सुमहापापौघसंहारकृत्
वाराणां निखिलप्रमोदजनकं शम्भोः प्रियं केवलम् ॥ ५०.५९॥

अन्नं पोत्रिमलायते धनरसं कौलेयमूत्रायते
संवेशो निगलायते मम सदानन्दो कन्दायते ।
शम्भो ते स्मरणान्तरायभरित प्राणः कृपाणायते ॥ ५०.६०॥

कः कल्पद्रुमुपेक्ष्य चित्तफलदं तूलादिदानक्षयं
बब्बूलं परिसेवते क्षुदधिको वातूलदानक्षमम् ।
तद्वच्छङ्करकिङ्करो विधिहरिब्रह्मेन्द्रचन्द्रानलान्
संवेद्यो विधिवञ्चितः कलिबलप्राचुर्यतो मूढधीः ॥ ५०.६१॥

सुवर्णाण्डोद्भूतस्तुतिगतिसमर्च्याण्डजवर-
प्रपादं त्वां कश्चिद् भजति भुवने भक्तिपरमः ।
महाचण्डोद्दण्डप्रकटितभुवं ताण्डवपरं
विभुं सन्तं नित्यं भज भगणनाथामलजटम् ॥ ५०.६२॥

अजगवकर विष्णुबाण शम्भो
दुरितहरान्तकनाश पाहि मामनाथम् ।
भवदभयपदाब्जवर्यमेत
मम चित्तसरस्तटान्नयातु चाद्य ॥ ५०.६३॥

इत्थं विष्णुश्च काश्यां प्रमथपतिमगात् पूज्य विश्वेश्वरं तं
क्षितिसुरवरवर्यं चानुशास्येत्थमिष्टम् ।
स च मुनिगणमध्ये प्राप्य मुक्तिं तथान्ते
प्रमथपतिपदाब्जे लीनहीनाङ्गसङ्गः ॥ ५०.६४॥

सूतः -
इत्थं श्रुत्वा मुनीन्द्रोऽसौ जैगीषव्योऽवदद्विभुम् ।
प्रणिपत्य प्रहृष्टात्मा षष्ठांशं वै षडास्यतः ॥ ५०.६५॥

जैगीषव्यः -
मारमारकजानन्दवसतेर्महिमा कथम् ।
नाम्नां सहस्रमेतच्च वद मे करुणानिधे ॥ ५०.६६॥

क्षेत्राणां चाप्यथान्यानां महिमां वद सद्गुरो ।
शूरतारकसंहर्तस्त्वत्तो नान्यो गुरुर्मम ॥ ५०.६७॥

तच्छ्रुत्वा तु मुनेर्वाक्यं स्कन्दः प्राहाथ तं मुनिम् ।

स्कन्दः -
आगामिन्यंशकेऽस्मिंस्तव हृदयमहानन्दसिन्धौ विधूत्थ-
प्राचुर्यप्रकटैः करोपममहासप्तमांशे विशेषे ।
नाम्नां चापि सहस्रकं भगवतः शम्भोः प्रियं केवलं

अस्यानन्दवनस्य चैव महिमा त्वं वै शृणुष्वादरात् ॥ ५०.६८॥

उग्रोंऽशः शशिशेखरेण कथितो वेदान्तसारात्मकः
षष्ठः षण्मुखसत्तमाय स ददौ तद्ब्रह्मणे सोऽप्यदात् ।
पुत्रायात्मभवाय तद्भवहरं श्रुत्वा भवेद् ज्ञानवित्
चोक्त्वा जन्मशतायुतार्जितमहापापैर्विमुक्तो भवेत् ॥ ५०.६९॥

श्रुत्वांशमेतद् भवतापपापहं शिवास्पदज्ञानदमुत्तमं महत् ।
ध्यानेन विज्ञानदमात्मदर्शनं ददाति शम्भोः पदभक्तिभावतः ॥ ५०.७०॥

सूतः -
अध्यायपादाध्ययनेऽपि विद्या बुद्ध्या हृदि ध्यायति बन्धमुक्त्यै ।
स्वाध्यायतान्ताय शमान्विताय दद्याद्यदद्यान्न विभेद्यमेतत् ॥ ५०.७१॥

इत्थं सूतवचोद्यतमहानन्दैकमोदप्रभा
भास्वद्भास्करसप्रभा मुनिवराः संतुष्टुवुस्तं तदा ।
वेदोद्यद्वचनाशिषा प्रहृषिताः सूतं जयेत्युच्चरन्
प्याहो जग्मुरतीव हर्षितहृदा विश्वेश्वरं वीक्षितुम् ॥ ५०.७२॥

॥ इति श्रीशिवरहस्ये शङ्कराख्ये षष्ठांशे सुदर्शनस्य
मुक्तिलाभवर्णनं अंशश्रवणफलनिरूपणं च नाम पञ्चाशोऽध्यायः ॥

॥ शङ्कराख्यः षष्ठांशः समाप्तः॥

॥ सर्वं श्रीरमणार्पणमस्तु ॥

Encoded by Anil Sharma anilandvijaya at gmail.com
Reproofread by Sunder Hattangadi sunderh at hotmail.com

.. Ribhu Gita from Shiva Rahasya ..
was typeset on August 2, 2016